प्रकाशक
यशपाल जैन बी० ए०, एल-एल० बी०
मंत्री—प्रेमी-अभिनंदन-ग्रंथ-समिति,
टीकमगढ़
(सी० आई०)

मूल्य
दस रुपया
अक्तूबर १९४६

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद
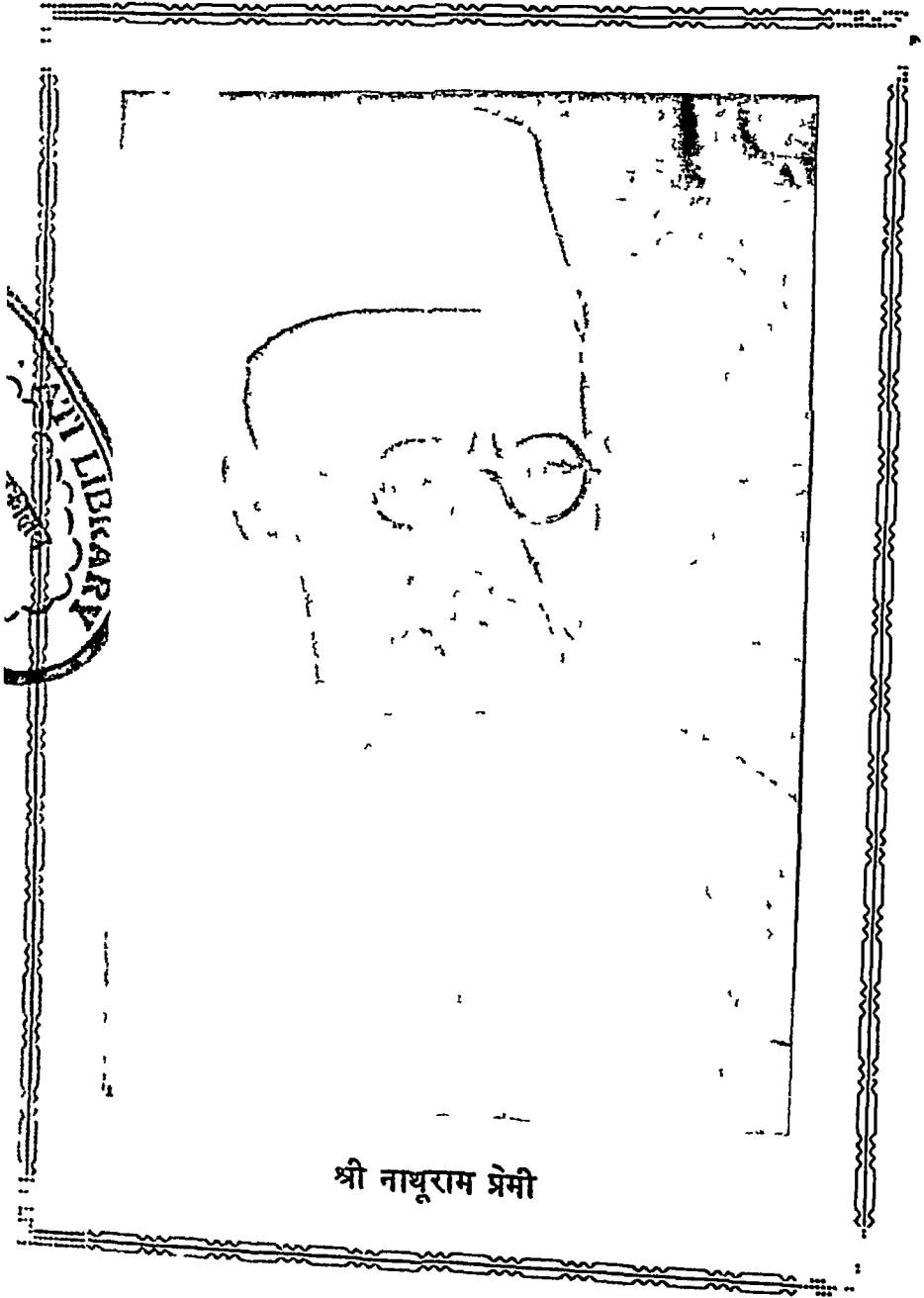
श्री नाथूराम प्रेमी

समर्पण

जिन्होने अपनी विद्वत्ता और सतत
साधना से हिन्दी की अपूर्व
सेवा की है, उन्ही
श्री नाथूराम जी
प्रेमी के कर-
कमलो
में

श्रद्धाजलि

[कलाकार—श्री सुधीर खास्तगीर

विषय-सूची

पृष्ठ

चित्र-सूची

---

*इस विभाग में स्फुट लेखो के अतिरिक्त कुछ ऐसे लेख भी दिये गये है, जो देर से प्राप्त होने के कारण उक्त विभागो में नहीं जा सके ।

आयोजना और उसका इतिहास

श्रद्धेय नाथूराम जी प्रेमी को अभिनदन-ग्रथ भेंट करने का विचार वास्तव में उस दिन उदय हुआ, जब आदरणीय प० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने श्री रामलोचनशरण विहारी की स्वर्ण-जयती के अवसर पर प्रकाशित और श्री शिवपूजनसहाय जी द्वारा सम्पादित 'जयती-स्मारक-ग्रथ' आगरे के 'साहित्य-भण्डार' मे देखा। लौट कर उन्होंने वह ग्रथ पटने से मँगाया और हमें दिखा कर कहा कि ऐसे ग्रथ के अधिकारी प्रेमी जी भी हैं, जिन्होने हिन्दी की इतनी ठोस सेवा की है और जो विज्ञापन से सदा बचते रहे हैं। इसके कुछ ही दिन बाद जैन-पत्रो मे समाचार छपा कि जैन-छात्र-सघ (काशी) की ओर से प्रेमी जी को एक अभिनदन-ग्रथ भेंट करने का निश्चय किया गया है। इस पर टीकमगढ के साहित्य-सेवियो की ओर से एक पत्र उक्त सघ को भेजा गया, जिसमे सघ से हम लोगो ने अनुरोध किया कि चूकि प्रेमी जी हिन्दी-जगत् की विभूति हैं, अत यह सम्मान उन्हें समस्त हिन्दी-जगत् की ओर से मिलना चाहिए। इस आशय का एक वक्तव्य हिन्दी के प्रमुख पत्रो मे प्रकाशित हुआ। छात्र-सघ ने हमारी बात को स्वीकार कर लिया।

अभिनदन के सबध मे हिन्दी के विद्वानो की सम्मति ली गई तो सभी ने उसका स्वागत करते हुए अपना सहयोग देने का वचन दिया। कतिपय विद्वानो और साहित्यकारो के उद्‌गार यहाँ दिये जा रहे है

मैथिलीशरण जी गुप्त . "श्री नाथूराम जी प्रेमी के अभिनदन का मैं हृदय से समर्थन करता हूँ। वे सर्वथा इसके योग्य है। ऐसे अवसर पर मैं उन्हें सप्रेम प्रणाम करता हूँ।"

प० सुन्दरलाल जी : "मेरा हार्दिक आशीर्वाद इस शुभकार्य मे आपके साथ है।"

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या . "श्री नाथूराम जी प्रेमी के अभिनदन के लिए जिस प्रबध-सग्रह-ग्रथ के तैयार करने की चेष्टा हो रही है, उसके साथ मेरी पूरी सहानुभूति है।"

पं० माखनलाल चतुर्वेदी : "श्रीयुत प्रेमी जी अभिनदन से भी अधिक आदर और स्मरण की वस्तु हैं। आपके इस आयोजन से मैं सहमत हूँ। आपने श्रेष्ठतर कार्य किया है।"

श्री सियारामशरण गुप्त : "श्री नाथूराम जी प्रेमी को अभिनदन-ग्रथ अर्पित करने का विचार स्वयं अभिनदनीय है। प्रेमी जी हिन्दी-भाषियो में सुरुचि और ज्ञान के अप्रतिम प्रकाशक हैं। उनका अध्यवसाय, उनकी कर्म-निष्ठा और उनका निरतर आत्मदान अत्यन्त व्यापक है। इसके लिए सारा हिन्दी-समाज उनका ऋणी है। मेरी विनम्र श्रद्धा उनके प्रति सादर समर्पित है।"

श्री जैनेंद्रकुमार : "श्रद्धेय प्रेमी जी को अभिनदन-ग्रथ भेट करने के विचार से मेरी हार्दिक सहमति है और मैं आपको इसके लिए बधाई देना चाहूँगा।"

श्री व्यौहार राजेन्द्रसिंह : "प्रेमी जी को अभिनदन-ग्रथ भेंट करने की बात सुन्दर है।"

डा० रामकुमार वर्मा . "श्रीमान् श्रद्धेय नाथूराम जी प्रेमी को अभिनदन-ग्रथ देने के निश्चय के साथ मेरी पूर्ण सहमति और सद्भावना है। प्रेमी जी ने हिन्दी की जो सेवा की है, वह स्थायी और स्तुत्य है।"

श्री देवीदत्त शुक्ल : "श्रीमान् प्रेमी जी का अवश्य अभिनदन होना चाहिए। प्रेमी जी के उपयुक्त ही अभिनदन का समारोह हो। प्रेमी जी के द्वारा हिन्दी के प्रकाशन मे एक नई क्राति हुई है। वे सुरुचि के ज्ञाता साहित्यिक भी है।"

श्री गुलाबराय : "हिन्दी के प्रति प्रेमी जी की जो सेवाएँ है, वे चिरस्मरणीय रहेंगी। उन्होने व्यक्ति रूप

ने जितना प्रकाशन-कार्य को आगे बढाया है, उतना कोई सस्था भी नहीं कर सकती थी। उन्हें अभिनदन-ग्रथ दिया जाना उपयुक्त ही है।"

श्री शातिप्रिय द्विवेदी : "मैं आपके अभिनदन-कार्य का अभिनदन करता हूँ, क्योंकि वह एक साहित्यिक साधक को अर्घ्यदान देने का अनुष्ठान है।"

उपर्युक्त विद्वानो और साहित्यकारो के अतिरिक्त अन्य साहित्य-सेवियो ने, जिनमे श्रद्धेय बाबूराव विष्णु पराडकर, रायकृष्णदास, डा० मोतीचद, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य पद्मनारायण, श्री कृष्णकिंकरसिंह प्रभृति के नाम उल्लेखयोग्य हैं, इस प्रस्ताव का हार्दिक समर्थन किया। जैन-विद्वानो मे आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार, मुनि जिनविजयजी, महात्मा भगवानदीन, प० सुखलाल जी, डा० हीरालाल जैन, प० बेचरदास जी० दोशी, प्रो० दलसुख मालवणिया, डा० ए० एन० उपाध्ये, प० कैलाशचद्र जी, प० फूलचद्र जी आदि ने भी इस आयोजना का पूर्ण स्वागत किया।

हिन्दी के कई पत्रो ने इस बारे में अपने विचार प्रकट किये। काशी के दैनिक 'ससार' ने लिखा "हिन्दी पर—हमारी मातृ-भाषा और राष्ट्र-भाषा पर—नाथूराम जी का जो उपकार-भार है, उसे हम कभी भी नहीं उतार सकेंगे। हमारा कर्तव्य है कि उनका अभिनदन करने की जो योजना की गई है, उसमे हम यथाशक्ति हाथ बटावे और ग्रथ के प्रकाशित हो जाने पर उसका प्रत्येक साक्षर घर मे प्रचार करे।"

शुभचिंतक (जबलपुर) "श्री नाथूराम जी प्रेमी हिन्दी-साहित्य के श्रेष्ठ लेखक और प्रकाशक है। उनका हिन्दी-सेवा स्तुत्य है। बगला का श्रेष्ठ साहित्य हिन्दी-भाषा-भाषियो को उनके प्रयत्नो से ही उपलब्ध हो सका है। इसके अतिरिक्त उनकी हिन्दी-सेवा भी अपना एक विशेष स्थान रखती है।"

जाग्रति (कलकत्ता) . "जिस माँ-भारती के लाल ने साहित्यिक कोष को भरने के लिए मौलिक ग्रथ दिये तथा उसके भण्डार को अन्य उन्नत भाषाओ के अनुवाद-ग्रथो से पूर्ण करने का प्रयत्न किया, उन श्री नाथूराम प्रेमी के अभिनदन-प्रस्ताव का कौन मुक्तकण्ठ से समर्थन न करेगा ? आज अगर हिन्दी मे उसके लेखको का सम्मान बढा है तो उनका श्रेय श्री प्रेमी जी द्वारा सचालित 'हिन्दी-ग्रथ-रत्नाकर-कार्यालय', बम्बई को है।"

एक ओर यह आयोजन चल रहा था, दूसरी ओर प्रेमी जी ने अपने २७ दिसम्बर १९४२ के पत्र मे चतुर्वेदी जी को लिखा

"काशी के छात्रों ने तो खैर लडकपन किया, पर यह आप लोगो ने क्या किया ? मैं तो लज्जा के मारे मरा जा रहा हूँ। भला मैं इस सम्मान के योग्य हूँ ? मैंने किया ही क्या है ? अपना व्यवसाय ही तो चलाया है। कोई परोपकार तो किया नहीं। आप लोगो की तो मुझ पर कृपा है, पर दूसरे क्या कहेंगे ? मेरी हाथ जोड कर प्रार्थना है कि मुझे इस सकट से बचाइए। यह समय भी उपयुक्त नहीं है।"

अनतर ४ फरवरी १९४४ के पत्र मे यशपाल जैन को लिखा

"एक जरूरी प्रार्थना यह है कि आप चौबे जी को समझा कर मुझे इस अभिनदन-ग्रथ की असह्य वेदना से मुक्त करा दें। उसके विचार से ही मैं अत्यन्त उद्विग्न हो उठता हूँ। मैं उसके योग्य कदापि नहीं हूँ। मुझे वह समस्त हिन्दी-ससार का अपमान मालूम होता है। मैं हाथ जोडता हूँ और गिडगिडाता हूँ, मुझे इस कष्ट से बचाइए।"

प्रेमी जी अत्यन्त सकोचशील है और सभा-सोसायटी तथा मान-सम्मान के आयोजनो से सदा दूर ही रहते हैं। अत इस आयोजन से उन्होने न केवल अपनी असहमति ही प्रकट की, अपितु उससे मुक्ति भी चाही, लेकिन उस समय तक योजना बहुत आगे बढ चुकी थी और हिन्दी तथा अन्य भाषाओ के विद्वानो का आग्रह था कि उसे अवश्य पूरा किया जाय।

इसके बाद चतुर्वेदी जी, भाई राजकुमार जी साहित्याचार्य तथा यशपाल जैन ने इस सबध मे कई स्थानो की यात्रा की और विद्वानो के परामर्श से निम्नलिखित कार्य-समिति का सगठन किया गया

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल	अध्यक्ष
प० बनारसीदास चतुर्वेदी	उपाध्यक्ष
श्री जैनेन्द्रकुमार	"
यशपाल जैन बी० ए०, एल-एल० बी०	मत्री
स० सि० धन्यकुमार जैन	सयुक्त मत्री
महात्मा भगवानदीन जी प० माखनलाल चतुर्वेदी प्रो० हीरालाल जैन श्रीमती सत्यवती मल्लिक डा० रामकुमार वर्मा प० कैलाशचद्र जैन सिद्धान्तशास्त्री	सदस्य

ग्रथ के निम्नलिखित अठारह विभाग रक्खे गये तथा उनके सम्पादन का भार विभागो के सामने उल्लिखित विद्वानो को उनकी अनुमति लेकर सौंपा गया

विभाग	सम्पादक
१. सस्मरण और जीवनी—	प० बनारसीदास चतुर्वेदी (सयोजक) श्री जैनेन्द्रकुमार
२. भारतीय सस्कृति—	डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या (सयोजक) श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन डा० वेनीप्रसाद
३. जैन-दर्शन—	प्रो० दलसुख मालवणिया (सयोजक) मुनि जिनविजयजी प० सुखलाल सघवी प० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
४. सस्कृत और प्राकृत-साहित्य—	डा० हीरालाल जैन (सयोजक) डा० जगदीशचन्द्र शास्त्री प० वेचरदास दोशी
५. भाषा-विज्ञान—	डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या (सयोजक) डा० मगलदेव शास्त्री आचार्य पद्मनारायण
६ कला—	श्री जयभगवान जैन डा० वेनीप्रसाद
७ पुरातत्व—	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल (सयोजक) डा० मोतीचन्द्र
८. हिन्दी-साहित्य (गद्य)—	आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी (सयोजक) श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी श्री रामचन्द्र वर्मा

९ हिन्दी-काव्य—	प० हरिशंकर शर्मा (संयोजक)
	श्री सियारामशरण गुप्त
	डा० रामकुमार वर्मा
१० जैन-साहित्य—	आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार (संयोजक)
	प० फूलचन्द्र जैन शास्त्री
	प० परमेष्ठीदास जैन
	प० जगन्मोहनलाल शास्त्री
११ बंगला-साहित्य—	आचार्य क्षितिमोहन सेन (संयोजक)
	श्री धन्यकुमार जैन
१२. गुजराती-साहित्य—	प० बेचरदास जी० दोशी
१३ मराठी-साहित्य—	प्रो० प्रभाकर माचवे
१४ अंग्रेज़ी—	प्रो० ए० एन० उपाध्ये
१५ साहित्य-प्रकाशन—	यशपाल जैन (संयोजक)
	श्री कृष्णलाल वर्मा
१६ बुन्देलखण्ड—	श्री शिवसहाय चतुर्वेदी (संयोजक)
	श्री व्यौहार राजेन्द्र सिंह
	श्री वृन्दावनलाल वर्मा
१७ समाज-सेवा—	श्री अजितप्रसाद जैन (संयोजक)
	महात्मा भगवानदीन
	बैरिस्टर जमनाप्रसाद जैन
१८ नारी-जगत्—	श्रीमती सत्यवती मल्लिक (संयोजिका)
	,, सुभद्राकुमारी चौहान
	,, कमला देवी चौधरी
	,, रमारानी जैन

इस विभाजन के पश्चात् कार्य-समिति के अध्यक्ष श्री वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने ग्रंथ के प्रत्येक विभाग के लिए एक उपयोगी योजना तैयार की, जिसे सब सम्पादकों की सेवा में भेजा गया। योजना इस प्रकार थी

"'संस्मरण और जीवनी' जितने संयत और संक्षिप्त ढंग से लिखी होगी, उतनी ही बढ़िया होगी। मैं इसके लिए तीस पृष्ठ पर्याप्त समझता हूँ। 'भारतीय संस्कृति-विभाग' में अन्य लेखों के अतिरिक्त एक लेख 'भारतीय संस्कृति का विदेशों में विस्तार' शीर्षक से रहे तो बहुत अच्छा है। इस विभाग में सौ पृष्ठ की सामग्री हो सकती है। 'जैन-दर्शन-विभाग' में जैन-दर्शन के ऐतिहासिक तिथि-क्रम पर एक लेख बहुत उपयुक्त होगा। 'संस्कृत और प्राकृत-साहित्य-विभाग' में अधिकांश अप्रकाशित या अज्ञात साहित्य का परिचय देना चाहिए। इस विभाग में तीन सौ पृष्ठ हों—सौ संस्कृत के लिए और दो सौ प्राकृत के लिए। गुप्त-काल से लेकर लगभग अकबर के समय तक जैन, बौद्ध और ब्राह्मण विद्वानों ने संस्कृत-साहित्य की जो प्रमुख सेवा की, उसका परिचय तीन लेखों में अवश्य रहना चाहिए, जिनमें ग्रंथों के नाम परिचय सहित, रचयिताओं के नाम और उनके समय का निर्देश होना चाहिए। संस्कृत-कथा-साहित्य, विशेषकर जैन-कहानी-साहित्य या तो इस विभाग में या जैन-साहित्य वाले विभाग में रखना चाहिए।

"प्राकृत-साहित्य को खास जगह देने की ज़रूरत है । उसके लिए दो सौ पृष्ठ दिये जायँ तो अच्छा है, क्योकि प्राकृत-साहित्य के विषय में हिन्दी-जगत् को अभी बहुत-कुछ परिचय देने की आवश्यकता है । भविसअत्त कहा, समराइच्च कहा, पाउमचर्य कहा सदृश प्राकृत-ग्रन्थो के परिचय देने वाले आधे दर्जन लेख रहे । बीस पृष्ठो में जैन-प्राकृत-साहित्य के प्रमुख ग्रथो की प्रकाशित और अप्रकाशित एक तालिका ऐतिहासिक तिथि-क्रम के अनुसार दे दी जाय तो बहुत लाभप्रद होगी ।

" '**भाषा-विज्ञान-विभाग**' में पाली, प्राकृत और अपभ्रश की परम्परा द्वारा हिन्दी भाषा का स्वरूप किस प्रकार विकसित हुआ है, इसी पर दो-तीन लेखो में ध्यान केन्द्रित किया जाय तो सामयिक उपयोग की वस्तु होगी । इस विभाग के लिए साठ पृष्ठ और '**कला-विभाग**' के लिए चालीस पृष्ठ पर्याप्त हैं । कला के अन्तर्गत अपभ्रश कालीन चित्रकला पर एक लेख और दूसरा शिल्प-साहित्य के विषय-परिचय के बारे में हो । मथुरा, देवगढ और आबू की शिल्प सामग्री के परिचयात्मक लेख भी हो सकते हैं । '**पुरातत्त्व-विभाग**' में पचास पृष्ठ और दो लेख रहेंगे ।

" '**हिन्दी-साहित्य**' (**गद्य**) और '**हिन्दी-काव्य**' के लिए सौ-सौ पृष्ठ पर्याप्त समझता हूँ । हिन्दी-साहित्य-विभाग में पुरानी हिन्दी के काल की साहित्यिक कृतियो और धार्मिक प्रवृत्तियो का परिचय विशद रूप से हो, जो श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी का मुख्य अध्ययन-विषय है और जिसके सम्बन्ध में हिन्दी-जगत् का ज्ञान अभी अधूरा है । जायसी पर भी एक लेख हो तो अच्छा है । 'हिन्दी-काव्य' के अन्तर्गत नवीन कृतियो के प्रकाशन की अपेक्षा प्राचीन हिन्दी, मैथिली, राजस्थानी आदि के काव्यो का प्रकाशन अच्छा होगा । विद्यापति और हिन्दी में रासो-साहित्य पर भी दो लेख रह सकते हैं ।

" '**जैन-साहित्य-विभाग**' के अन्तर्गत अपभ्रश साहित्य का भरपूर परिचय देना चाहिए । जैन-भडारो में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रथो के परिचय पर भी एक लेख रहना अच्छा होगा । श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने इस सम्बन्ध मे 'अनेकान्त' द्वारा उपयुक्त सूचियाँ प्रकाशित की हैं, किन्तु उनके मथे हुए सार से हिन्दी-जगत् को अधिक परिचित होने की आवश्यकता है ।

" '**बगला-साहित्य**', '**गुजराती-साहित्य**' और '**मराठी-साहित्य**' विभागो में प्रत्येक के लिए पचास पृष्ठ का औसत रखिए । इन निबन्धो में साहित्य का प्राचीन काल से अबतक का सक्षिप्त इतिहास और विकास, आधुनिक प्रवृत्तियाँ, साहित्य का काम करने वाली सस्थाओ का परिचय यदि हो तो हिन्दी के लिए काम की चीज़ होगी । '**साहित्य-प्रकाशन**' के विभाग मे भारतीय साहित्य और सस्कृति एव इतिहास का प्रकाशन करने वाली देशी-विदेशी प्रधान ग्रथ-मालाओ का परिचय देना उपयोगी होगा । भावी कार्य-क्रम की योजनाओ और कार्य के विस्तृत क्षेत्र पर भी लेख हो सकते हैं ।

" '**अग्रेज़ी-साहित्य**' तो बहुत बडी चीज़ है । उसको केवल एक दृष्टि से हम इस ग्रथ मे देखने का प्रयत्न करे, अर्थात् भारतवर्ष की भूमि, उस भूमि पर बसने वाले जन और उस जन की सस्कृति के सम्बन्ध में जो कार्य अग्रेज़ी के माध्यम से हुआ है, पच्चीस-तीस पृष्ठो मे उसका इस दृष्टि से परिचय कि हिन्दी में वैसा कार्य करने और उसका अनुवाद करने की ओर हमारी जनता का ध्यान आकर्षित हो ।

" '**बुन्देलखण्ड-प्रात-विभाग**' के लिए सौ पृष्ठ रक्खें । उनमे बुन्देलखण्ड की भूमि, उस भूमि से सम्बन्ध रखने वाली विविध पार्थिव सामग्री, बुन्देलखण्ड के निवासी एव उनकी सस्कृति से सम्बन्ध रखने वाला अत्यन्त रोचक अध्ययन हमें प्रस्तुत करना चाहिए, जिसमें इस प्रदेश के जनपदीय दृष्टिकोण से किये हुए अध्ययन का एक नमूना दिया जा सकता है । '**समाज-सेवा**' और '**नारी-जगत्**' विभागो के लिए पचास-पचास पृष्ठ काफी होगे । 'समाज-सेवा' के अन्तर्गत हमारे राष्ट्रीय और जातीय गुणो और त्रुटियो का सहानुभूतिपूर्ण विश्लेषण देना चाहिए । सामाजिक सगठन में जो प्राचीन परम्पराओ की अच्छाई है और हमारे जीवन का जो भाग विदेशी प्रभाव से अब तक अछूता बचा है उसको जनता के सम्मुख प्रशसात्मक शब्दो में रखना आवश्यक है । पश्चिमी देशो मे सामाजिक विज्ञान परिषदें

(इन्स्टीटयूट ऑव सोशल साइंसेज) जिस प्रकार का प्राणमय अध्ययन करती है उनका सूत्रपात् हमारे यहाँ भी होना आवश्यक है। एक-दो लेखो में उसकी कुछ दिशा सुझाई जा सके तो आगे के लिए अच्छा होगा।"

इसी रूप-रेखा के आधार पर हम ग्रथ की सामग्री का सग्रह कराना चाहते थे, लेकिन इसके लिए समय अपेक्षित था। दूसरे कई एक सम्पादको के पास समय की इतनी कमी थी कि इच्छा रखते हुए भी वे हमें विशेष सहयोग न दे सके। डा० वेनीप्रसाद जी ने हमें आश्वासन दिया था कि यदि हम उनके 'कला'-विभाग की सामग्री एकत्र कर दें तो वे उसका सम्पादन कर देंगे और एक लेख अपना भी दे देंगे, लेकिन काल की क्रूर गति को कौन जानता है! वे बीच में ही चले गये। इसी प्रकार प्रेमी जी के निकटतम बधु बाबू सूरजभानु जी वकील का देहावसान हो गया और वे भी हमें कुछ न भेज सके।

ग्रथ मे अठारह विभाग रक्खे गये थे और एक हजार पृष्ठ, लेकिन जब कागज के लिए हमने लिखा-पढी की तो युक्त-प्रात के पेपर-कन्ट्रोलर महोदय ने पहले तो स्वतत्र रूप से ग्रथ-प्रकाशन की अनुमति देने से ही इन्कार कर दिया, लेकिन बाद मे जब उनसे बहुत अनुरोध किया गया तो उन्होंने कृपा-पूर्वक अनुमति तो दे दी, पर कागज कुल सात सौ पृष्ठ का दिया। लाचार होकर हमें सामग्री कम कर देनी पडी और कई विभागो को मिला कर एक कर देना पडा। हमें इस बात का बडा ही खेद है कि बहुत सी रचनाओं को हम इस ग्रथ मे सम्मिलित नही कर सके और इनके लिए लेखको से क्षमाप्रार्थी हैं।

सवा वर्ष के परिश्रम से ग्रथ जैसा बन सका, पाठको के सामने है। वस्तुत देखा जाय तो प्रेमी जी तो इस ग्रथ की तैयारी में उपलक्ष मात्र हैं। उनके बारे में केवल ६२ पृष्ठ रक्खे गये हैं। शेष पृष्ठो मे विभिन्न विषयो की उपादेय सामग्री इकट्ठी की गई है। इसके सग्रह में हिन्दी के जिन साहित्यकारो ने सहयोग दिया है, उन्हे तथा अपने सम्पादक-मण्डल को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं। गुजराती, मराठी तथा बगला के विद्वान लेखको के तो हम विशेष रूप से आभारी हैं, जिन्होने इस आयोजन को अपना कर हमें अपना सक्रिय सहयोग प्रदान किया। कार्यसमिति के अध्यक्ष डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल ने कई दिन देकर पूरे ग्रथ की सामग्री को देखा, उसके सम्पादन मे हमें योग दिया और समय-समय पर उपयोगी सुझाव देते रहे, तदर्थ हम उनके कृतज्ञ हैं। समिति के अन्य पदाधिकारियो को भी हम धन्यवाद देते हैं।

ग्रथ को चित्रित करने के लिए सर्वश्री असितकुमार हलदार, कनु देसाई, रावल जी, रामगोपाल विजयवर्गीय, जे० एम० अहिवासी प्रभृति कलाकारो ने रगीन चित्र देना स्वीकार कर लिया था—अहिवासी जी तथा श्री सुधीर खास्तगीर ने तो रगीन चित्र भेज भी दिये—लेकिन पर्याप्त साधन न होने के कारण हम उनकी कृपा का लाभ न ले सके। श्री सुधीर खास्तगीर ने कई चित्र हमें इस ग्रथ के लिए दिये हैं, जिनके लिए हम उनके आभारी हैं। श्री रामचद्र जी वर्मा को भी हम धन्यवाद देते हैं, जिन्होने काशी नागरी प्रचारिणी सभा से लेखो के अत में देने के लिए कई ब्लॉक उधार दिलवा देने की कृपा की।

हम उन साधन-सम्पन्न बधुओं के भी अनुगृहीत है, जिनकी उदार सहायता के बिना ग्रथ का कार्य पूर्ण होना असभव था। बन्धुवर धन्यकुमार जी जैन ने स्वय एक हजार एक रुपये देने के अतिरिक्त धन-सग्रह मे हमें पर्याप्त सहायता दी और हर प्रकार से बराबर सहयोग देते रहे। लेकिन वे हमारे इतने नजदीक है कि धन्यवाद के रूप मे हम कुछ कह भी तो नही सकते।

प्रारभ से लेकर अत तक प्रेरणा, सुझाव और सहयोग देने वाले श्रद्धेय प० बनारसीदास जी चतुर्वेदी तो इस आयोजन से इतने अभिन्न हैं कि उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना सहज धृष्टता होगी।

इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस के प्रबधक श्री कृष्णप्रसाद जी दर तथा उनके कर्मचारियो का भी हम आभार स्वीकार करते हैं, जिनकी सहायता से ग्रथ की छपाई इतनी साफ और सुन्दर हो सकी।

इस जनपद की प्रकृति के भी हम ऋणी है, जिसके निकट साहचर्य में हमे इस अनुष्ठान के करने की स्फूर्ति और प्रेरणा मिली।

अत में हम भगवान से प्रार्थना करते है कि प्रेमी जी दीर्घायु हो और साधना-पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहने की शक्ति उन्हे प्राप्त होती रहे।

पचवटी
कुण्डेश्वर

—यशपाल जैन
मत्री

आभार

हम निम्नलिखित महानुभावो के आभारी है, जिनकी उदार सहायता से इस ग्रथ का कार्य सम्पन्न हुआ है

१	साहु शातिप्रसाद जी जैन	(डालमिया नगर)	१००१)
२.	स० सिं० धन्यकुमार जैन	(कटनी)	१००१)
३	रा० ब० लालचद जी सेठी	(उज्जैन)	१०००)
४	रा० ब० हीरालाल जी काशलीवाल	(इदौर)	१०००)
५	सेठ लक्ष्मीचन्द्र जी	(भेलसा)	१०००)
६	साहु श्रेयांसप्रसाद जी	(बबई)	५००)
७	श्री छोटेलाल जी जैन	(कलकत्ता)	३००)
८	स्व० विश्वम्भरदास जी गार्गीय	(झाँसी)	१०१)
९	श्री बालचन्द्र जी मलैया	(सागर)	१०१)
१०	वैद्य कन्हैयालाल जी	(कानपुर)	१०१)
११	श्री विजयसिंह नाहर	(कलकत्ता)	२५)

—मत्री

निवेदन

जो किसान खेत पर घोर परिश्रम करके अपने खून को पसीना बना कर अन्न उत्पन्न करते है, जो मजदूर लोकोपयोगी धधो मे अपना जीवन खपाते हुए भावी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए अपनी शक्ति तथा समय को अर्पित करते है, जो ग्रामीण अध्यापक मगज पच्ची करके पचासो छात्रो को अक्षर-ज्ञान कराते है, जो बढई अथवा लुहार जनता के नित्यप्रति काम आने वाली चीजे बनाते है, अथवा जो पत्रकार या लेखक नाना प्रकार के कष्टो को सहते हुए सर्वधासारण को सात्त्विक मानसिक भोजन देते है वे सभी अपने-अपने ढङ्ग पर वन्दनीय है, अभिनन्दनीय है। परिश्रमी लेखक, निष्पक्ष अन्वेषक और ईमानदार पुस्तक-प्रकाशक की हैसियत मे प्रेमी जी का सम्मान होना ही चाहिए।

इन अभिनन्दनो में दो बातो का ध्यान रखना आवश्यक है एक तो यह कि सम्मान-कार्य उस व्यक्ति की रुचि, दृष्टिकोण तथा लक्ष्य को ध्यान में रख कर किया जाय और दूसरी यह कि अभिनन्दन कार्य के पीछे एक निश्चित लोक-कल्याणकारी नीति हो। पाठक देखेंगे कि प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ में इन दोनो बातो का खयाल रक्खा गया है। प्रेमी जी के विषय में कुल जमा ६२ पृष्ठ है। शेष पृष्ठ अन्य आवश्यक विषयो को दे दिये गये है। सच तो यह है कि प्रेमी जी के बार-बार मना करने पर भी उनकी इच्छा के सर्वथा विरुद्ध इस आयोजना को जारी रक्खा गया है।

जनता की श्रद्धा से लाभ उठाये बिना इस गरीब मुल्क मे हम अपने जनोपयोगी कार्य नहीं चला सकते, फिर साहित्यिक अथवा सास्कृतिक यज्ञो का सचालन तो और भी कठिन है। दरअसल बात यह है कि प्रेमी जी के प्रति लोगो की जो श्रद्धा है उसका सदुपयोग हमने इस ग्रन्थ मे कर लिया है। दान-सूची तथा लेख-सूची से पाठको को पता लग जायगा कि प्रेमी जी के प्रति श्रद्धा रखने वालो की सख्या पर्याप्त है। यद्यपि जो पैसा इस यज्ञ में व्यय हुआ है वह सब जैन-समाज के प्रतिष्ठित सज्जनो का ही है—ग्रन्थ के शरीर के निर्माण का श्रेय उन्ही को है—तथापि ग्रन्थ की आत्मा का निर्माण सर्वथा निस्वार्थ भाव से प्रेरित विद्वानो ने ही किया है।

इस यज्ञ के प्रधान होता डाक्टर वासुदेवशरण जी अग्रवाल रहे है, जो अपनी उच्च सस्कृति, परिष्कृत रुचि तथा तटस्थ वृत्ति के लिये हिन्दी जगत् मे सुप्रसिद्ध है। ग्रन्थ का तीन-चौथाई से अधिक भाग उनकी निगाह से गुज़रा है और शेष सामग्री को उनके विश्वासपात्र व्यक्तियो ने देख लिया है। श्री अग्रवाल जी जनपदीय कार्य्य क्रम के प्रवर्तक है और इस विषय मे उनके अनुयायी बनने का सौभाग्य हमे कई वर्षों से प्राप्त रहा है। विचारो के जिस उच्च धरातल पर वे रहते है, वहाँ किसी भी प्रकार का अविवेक, पक्षपात अथवा निरर्थक वाद-विवाद पहुँच ही नही सकता। ग्रन्थ में यदि उपयोगी मसाले का चुनाव हो सका है तो उसका श्रेय मुख्यतया अग्रवाल जी को ही है।

यदि कागज़ की कमी न हो गई होती तो कम-से-कम चार सौ पृष्ठो की सामग्री इस ग्रन्थ मे और जा सकती थी। खास तौर पर बुन्देलखड के विषय मे और भी अधिक लेख तथा चित्र इत्यादि देने का हमारा विचार था।

इस ग्रन्थ के विषय में हमें जो अनुभूतियाँ हुई है उनके बल पर हम निम्नलिखित प्रस्ताव भावी अभिनन्दन ग्रन्थो के विषय मे उपस्थित करते है—

(१) अभिनन्दन ग्रन्थ मे इक्यावन फीसदी पृष्ठ वन्दनीय व्यक्ति के जनपद के विषय मे होने चाहिए, पैंतालीस फीसदी उसकी रुचि के विषयो पर और शेष चार फीसदी उसके व्यक्तित्व के बारे मे।

(२) विद्वत्तापूर्ण लेखो के साथ-साथ प्रसाद-गुणयुक्त सजीव और युगधर्म के अनुकूल रचनाएँ छापी जायँ। भावी सामाजिक व्यवस्था और सास्कृतिक तथा साहित्यिक आयोजनाओ को उचित स्थान दिया जाय।

(३) मानव जगत् ही नही, पशु-पक्षी, वन-वृक्ष, नदी-सरोवर, ग़रज़ यह कि चारो ओर की प्रकृति को ग्रन्थ में स्थान मिले। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक अभिनन्दन ग्रन्थ को हम विजली के सजीव तार की तरह स्पन्दनशील और जाग्रत वनाने के पक्ष में है। उदाहरण के लिए हम एक लेख सागर की दो देन—'प्रेमी' जी और जामनेर (नदी)—इस ग्रन्थ के लिए लिखना चाहते थे। जामनेर नदी का उद्गम सागर जिले मे ही है और उसके दो सुन्दर दृश्य इस ग्रन्थ में दिये भी गये है। पुरुष तथा प्रकृति का यह मिलन ही हमें आनन्द-प्रद तथा जन-कल्याणकारी प्रतीत होता है। हमें अपने विस्तृत देश का पुनर्निर्माण करना है और यह तभी सम्भव है जव हम छोटे-छोटे जनपदो का साहित्यिक तथा सास्कृतिक पुनर्निर्माण प्रारम्भ कर दें। जो महत्त्व आज इने-गिने शहरी व्यक्तियो को प्राप्त है वही हमें जानपद जनो को देना है और—प्रेमी जी निस्सन्देह एक जानपद जन है—ठेठ ग्रामीण व्यक्ति। साधारण जन-समाज से उठकर उन्होंने असाधारण कार्य कर दिखाया है। उनका अभिनन्दन करते हुए हम सामान्य जन (Common-man) का सम्मान कर रहे हैं। उन जैसे सैकडो-सहस्रो व्यक्ति प्रत्येक जनपद के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे उत्पन्न हो, अपने कर्तव्य का पालन करते हुए वे अपना सर्वोत्तम मातृभूमि के चरणो मे अर्पित करें और इस प्रकार विश्व-कल्याण के वहुमुखीन कार्यक्रम में सहायक हो, यही हमारी हार्दिक अभिलाषा है।

आम्रनिकुंज
कुण्डेश्वर

बनारसीदास चतुर्वेदी

: १ :

अभिनंदन

उपकृत

श्री सियारामशरण गुप्त

अपने इस कर से उस कर ने पाया हो जो दान,
दिया तुम्हारा था वह ऐसा, गया न जिस पर ध्यान !
पौ फटती धुंधली वेला में मग में पग ये मन्द,
गया न ध्यान कि गति में आई सुगति कहाँ स्वच्छन्द ।
अन्तरिक्ष में दूर कहीं से आया जो आलोक,
जान पडा भीतर-बाहर ज्यो निज का ही आनन्द !
किया स्वय अपने को हमने उसका श्रेय प्रदान,
दिया तुम्हारा था वह ऐसा, गया न जिस पर ध्यान !

× × ×

दिया प्रथम जिस प्रात पवन ने नव गति का उद्बोध,
हो कैसे जीवन में उसके उस ऋण का परिशोध ।
बसा हुआ है तन में, मन में उसका सुरभि-पराग,
फूंक गया वह धूम-पुज में धग्-धग् करती आग ।
अब इस दोपहरी में फिर-फिर देकर स्मृति-सस्पर्श,
रक्षित रक्खे है वह मेरे चलने का अनुराग !
उसका भार-वहन देता है हलकेपन का बोध,
ऋणी रहूँ चिरकाल, यही है उसका ऋण-परिशोध !

चिरगाँव]

आयोजन का स्वागत

सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री नाथूरामजी प्रेमी को एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। प्रेमीजी स्वय विद्वान् है और उन्होने उच्च कोटि के बहुत से ग्रन्थ प्रकाशित किये है। उन ग्रन्थो के द्वारा उन्होने हिन्दी-प्रकाशन-क्षेत्र मे उच्च आदर्श स्थापित किया है। मुझे मालूम हुआ है कि उनके प्रकाशन-गृह, 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर', का हिन्दी-जगत् में बडा सम्मान है।

मैं इस आयोजन की सफलता चाहता हूँ।

बनारस]

अभिनंदन

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन

श्री नाथूराम जी प्रेमी ने हिन्दी की स्मरणीय सेवा की है। उन्होने हिन्दी में ऊँचे स्तर के ग्रन्थ-प्रकाशन की कल्पना उस समय की जब इस ओर बहुत कम लोगो का ध्यान था। हिन्दी-साहित्य की वृद्धि मे और उसके प्रचार मे उनका जो भाग रहा है, उसके लिए वह हमारी कृतज्ञता के पात्र है। उनके सम्मानार्थ प्रेमी-अभिनदन-ग्रथ प्रकाशित करने की योजना का मैं हार्दिक स्वागत करता हूँ और उसकी सफलता चाहता हूँ।

इलाहाबाद]

सौमनस्य के दूत

श्री काका कालेलकर

श्री नाथूराम जी प्रेमी स्वय एक बडी सस्था है। उनकी की हुई हिन्दी की सेवा हिन्दी के उपासक कभी भी भूल नही सकेंगे। उनका किया हुआ सशोधन मारके का है। अनुवाद-ग्रथो में भी उन्होने अच्छी अभिरुचि बताई है। गुजराती, बँगला, मराठी और हिन्दी, इन प्रधान भाषाओ के वे सौमनस्य के दूत (Ambassador of goodwill and understanding) है। ऐसे व्यक्ति का अभिनदन अवश्य होना चाहिए था।

मदरास मे सन् १९३४ के करीब स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द जी के साथ वे आये थे। तब मैंने प्रेमीजी से प्रार्थना की थी कि प्रेमचन्द जी के ग्रन्थो मे अरबी-फारसी के जो शब्द आते है, उनका हिन्दी मे अर्थ देने वाला एक नागरी-कोष हमे दीजिए। बडी ही स्फूर्ति से उन्होने हमे देवनागरी उर्दू-हिन्दी-कोष तैयार करवा कर दिया। इस कोष ने राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी की उत्कृष्ट सेवा की है। इसके लिए हम प्रेमीजी के बहुत ही कृतज्ञ है। मुझे उम्मीद है कि प्रेमीजी से, इसी प्रकार, बहुत-कुछ सेवा हमें मिलेगी।

वर्धा]

प्रेमी जी : जीवन-परिचय

सवाई सिघई धन्यकुमार जैन

श्री नाथूरामजी प्रेमी के पूर्वज मालवा-प्रदेश मे नर्वदा-कछार की ओर के थे। वहाँ से चलकर वे दो श्रेणियो मे बँट गये। कुछ तो बुन्देलखण्ड की ओर चले आये और कुछ गढा-प्रान्त (त्रिपुरी) की ओर चले गये। अतएव स्वय प्रेमीजी के वशीय 'गढावाल' कहलाते थे। वे गढा-प्रान्त के निवासी थे और वहाँ से चलकर चेदि राज्य के सागर जिलान्तर्गत 'देवरी' नामक कस्बे मे रहने लगे। वही अगहन सुदी ६ सवत् १९३८ को प्रेमीजी का जन्म हुआ।

प्रेमीजी के पिता स्व० टूँडेलालजी तीन भाई थे और उनके दो बहने थी। पहली माँ से एक भाई और दूसरी से दो। दादी का व्यवहार इतना सरल और स्नेहशील था कि पारस्परिक भेद-भाव का कभी किसी को आभास तक नही हुआ। बाद में तीनो चाचियो में अनवन हो जाने के कारण सब अलग हो गये।

उन दिनो का उद्योग-धन्धा खेती-बारी और साहूकारी था, लेकिन पिताजी इतने सरल और सीधे थे कि साहूकारी मे जो कुछ लगाया, उसे वे कभी भी वसूल न कर सके। लहना-पावना सब डूब गया। खेती की सुरक्षा और प्रबन्ध के तरीको से अनभिज्ञ होने के कारण खेती भी चौपट हो गई। धीरे-धीरे गृहस्थी की हालत इतनी बिगड गई कि खाने-पीने तक का ठिकाना न रहा। बजी-भौंरी कर शाम को जब पिताजी दो-एक चौथिया[1] अनाज लेकर लौटते तो भोजन की समस्या हल होती। एक लम्बे अरसे तक यही सिलसिला चलता रहा। ऐसी सकटापन्न स्थिति मे प्रेमीजी ने देवरी की पाठशाला मे विद्यारम्भ किया।

विद्याभ्यास और जीविका—

प्रेमीजी की बुद्धि बडी कुशाग्र थी। पढने-लिखने मे इतने तेज थे कि अपनी कक्षा मे सदा प्रथम या द्वितीय रहते। गणित और हिन्दी मे उनकी विशेष रुचि थी। होशियार बालको पर मास्टर स्वभावत कृपालु रहते है। अत प्रेमीजी को भी अपने अध्यापको का कृपा-पात्र बनते देर न लगी।

छठी की परीक्षा मे उत्तीर्ण होने पर प्रेमीजी को पहली कक्षा पढाने के लिए डेढ रुपये मासिक की मानीटरी मिल गई। इस काम को करते हुए स्कूल के हैडमास्टर श्री नन्हूरामसिंह ने, जो बाद में नायब, फिर तहसीलदार और अन्त में ऐक्स्ट्रा असिस्टेंट कमिश्नर होकर खनियाधाना स्टेट के दीवान हो गये, प्रेमीजी को अपने घर पढाकर टीचर्स ट्रेनिंग की परीक्षा दो वर्ष में दिला दी। उसी समय स्कूल मे एक नायब का स्थान खाली हुआ। उन दिनो नायब मुदर्रिस को छ-सात रुपया मासिक वेतन मिलता था। प्रेमीजी ने जी-तोड प्रयत्न किया। हैडमास्टर ने भी सिफारिश की, लेकिन उन्हे सफलता न मिली और वह स्थान म्यूनिसपल मेम्बर के किसी स्नेहपात्र को मिल गया। इससे प्रेमीजी को बडी निराशा हुई। पर करते क्या? परिवार के बोझ को हल्का करने की लालसा मन-की-मन में ही रह गई। फिर भी वे प्रयत्नशील रहे।

इन्ही दिनो प्रेमीजी में कविता करने की धुन समाई। साहित्यिक सहयोगियो की एक मण्डली बनी और कविता-पाठ होने लगा। देवरी के प्रसिद्ध साहित्यकार स्व० सैयद अमीर अली 'मीर' उस मण्डली के प्रधान तथा मार्ग-दर्शक थे। प्रेमीजी को 'मीर' साहब बहुत चाहते थे। प्रेमीजी की रचनाएँ प० मनोहरलाल के सम्पादकत्व में कानपुर से प्रकाशित होने वाले 'रसिकमित्र', 'काव्यसुधाकर' तथा 'रसिकवाटिका' पत्रिका मे छपने लगी। 'प्रेमी' उपनाम तभी का है, परन्तु प्रेमीजी इस क्षेत्र मे बहुत आगे नही बढे।

---

[1] अनाज नापने का सवासेर का बर्तन।

उन्नति के लिए वे निरन्नर उद्योग करते रहे। अन्त मे उन्हे खुरई से आठ मील दूर खिमलासा नामक ग्राम म नायव मुर्दरिस की जगह मिल गई। गई-वीती हालत मे भी मोहवश माता-पिता इकलौते वेटे को अपने से अलग करने के लिए तैयार न थे, पर मीर साहव के समझाने-वुझाने पर वे राजी हो गये। यह सन् १८९८-९९ की वात है। उस समय प्रेमीजी की अवस्था सत्रह-अठारह वर्ष की थी।

पोस्टमास्टरी—

इसी समय स्कूल के हैडमास्टर के छुट्टी जाने पर स्थानापन्न का कार्य करते हुए प्रेमीजी को स्थानीय पोस्ट-ऑफिस की पोस्टमास्टरी भी कुछ दिन सँभालनी पडी।

इन दिनो प्रेमी जी का मासिक खर्च तीन रुपया था। शेष चार रुपये वे घर भेज देते थे।

कर्म-निष्ठ प्रेमी जी—

छ मास खिमलासा और छ मास ढाना मे रहने के वाद प्रेमीजी ने नागपुर के एग्रीकल्चर स्कूल मे वनस्पति-शास्त्र, रसायन-शास्त्र और कृषि-शास्त्र का अध्ययन किया। लेकिन घुटने मे वात का दर्द हो जाने के कारण परीक्षा दिये विना ही घर लौट आना पडा और तव दो-तीन महीने के वाद आपका तवादिला वडा तहसील मे कर दिया गया। वैसे भी वे आत्मिक विकास के साधन चाहते थे, जो यहाँ उपलब्ध न थे। अत वाहर जाकर किसी उपयुक्त स्थान मे कार्य करने का विचार करने लगे। भाग्य की वात कि वम्बई प्रान्तिक सभा मे एक क्लर्क की जगह खाली हुई। पच्चीस रुपय मासिक वेतन था। प्रेमीजी ने प० पन्नालालजी वाकलीवाल के पास आवेदन-पत्र भेज दिया। स्वीकृति आ गई, पर जेव मे वम्वई जाने के लिए रेल-किराया तक न था। जैसे-तैसे उनके परिचित सेठ खूवचन्दजी ने टीप लिखा कर दस रुपये उधार दिये।

इसी समय चाँदपुर के मालगुजार ने लगान न चुकने के कारण घर की कुडकी करवा ली। ऐसी विपम परिस्थिति में धैर्य धारण किये नये क्षेत्र में परीक्षण करने के लिए प्रेमीजी वम्वई को रवाना हुए।

क्लर्की का जीवन—

यह सन् १९०१ की वात है। तीन वर्ष तक प्रेमीजी ने इस पद पर काम किया। वम्वई प्रान्तिक सभा मे 'जैनमित्र' के सिवाय उपदेशकीय तथा तीर्थक्षेत्र-कमेटी का दफ्तर भी शामिल था। उन सवका काम भी प्रेमीजी को ही करना पडता था।

उन दिनो सभा का आफिस भोईवाडे मे था, जिसकी देखभाल प० पन्नालालजी काशलीवाल करते थे। वे विद्वान्, गम्भीर और समझदार व्यक्ति थे। श्री लल्लूभाई प्रेमानन्द एल० सी० ई० प्रान्तिक सभा के मन्त्री और चुन्नीलाल ज़वेरचन्द जौहरी तीर्थक्षेत्र कमेटी के मन्त्री थे।

इसी काल में हाथरस का एक नवयुवक कार्यालय मे आने-जाने लगा। वह वडा चलता-पुर्जा था। कुछ दिन वाद जव परिचय वढ गया तो एक रोज़ उसने सेठ माणिकचन्द्रजी से कहा कि प्रेमीजी तिजोरी मे रक्खे धन का अपने काम में अनुचित उपयोग करते है। वात कुछ ऐसे ढग से कही गई कि सेठजी प्रभावित हो गये और एक दिन चुपचाप पहुँचकर तलाशी लेने की वात निश्चित हो गई। निश्चय के अनुसार एक दिन लल्लूभाई प्रेमानन्द एल० सी० ई० और चुन्नीलाल जवेरचन्दजी कार्यालय पहुँचे। जव वे गुजराती मे कुछ कानाफूसी करते ऊपर की मजिल पर चढ रहे थे, प्रेमीजी नीचे पानी पी रहे थे। वे भाँप गये कि कुछ दाल में काला है। पानी पीकर ऊपर पहुँचे तो वे दोनो महानुभाव पूछ-ताछ कर रहे थे। प्रेमीजी के पहुँचते ही इन्होने रोजनामचा माँगकर देखा और तिजोरी खुलवाकर उस रोज की रोकडवाकी मिला देने को कहा। तिजोरी खोली गई तो रोकड मे दसवीस रुपये अधिक निकले। प्रश्न हुआ कि रोकड क्यो वढती है ? उत्तर मे प्रेमीजी ने अपनी निजी हिसाव की नोट-वुक उनके सामने फेंक दी। रोकड आना-पाई से ठीक मिल गई।

इतने अपमान के बाद प्रेमीजी के लिए वहाँ कार्य करना असम्भव था। उन्होने तिजोरी की चाबियाँ काशलीवाल जी के सामने रख दी और कहा, "मै कल से यहाँ काम नही करूँगा। एक बार जब अविश्वास हो गया तो फिर काम कैसे हो सकता है ?"

ग्रथ-सम्पादन—

(कार्यालय में क्लर्की करते हुए प्रेमीजी को 'जैनमित्र' के सम्पादन से लेकर पत्र डाक मे छोडने तक का काम करना पडता था।) पूज्यवर प० गोपालदासजी वरैया बैंक का काम छोडकर मोरेना विद्यालय मे चले गये थे। 'जैन-मित्र' के सम्पादक वही थे। सम्पादकीय लेख के लिए विषय-निर्देश कर देते थे, लेकिन लिखना सब प्रेमीजी को ही पडता था। इस कार्य-भार को वहन करते हुए प्रेमीजी ने 'ब्रह्मविलास' की भूमिका लिखी। यह ग्रन्थ उन दिनो छप रहा था। इसके अतिरिक्त प्रेमीजी ने 'दौलतपदसग्रह', 'जिनशतक' तथा 'बनारसीविलास' आदि का सम्पादन किया।

प्रेमीजी की प्रतिभा के विकास के साधन अब निरन्तर जुटने लगे। इतना काम करते हुए भी प्रेमीजी ने सस्कृत पढने का समय निकाला और जैन-मन्दिर की पाठशाला मे सुबह डेढ घटे सस्कृत का अभ्यास करने लगे। इसी समय उन्होने गुजराती और मराठी भी सीखी और प० बाकलीवालजी से बँगला का ज्ञान प्राप्त किया। वस्तुत बाकलीवालजी ने प्रेमीजी को बडा सहारा दिया। यही कारण है कि प्रेमीजी उन्हे गुरुतुल्य मानते थे और आज भी उनकी प्रशसा करते है।

सन् १९०४ या ५ मे एक घटना और घटी। शोलापुर के श्री नाथारगजी गाधी ने सबसे पहले ग्रन्थ-प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ कराया था और पचास हज़ार के दान से एक प्रकाशन-सस्था खोली थी। उस समय शास्त्रो, पुराणो तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थो के छापे जाने के विरोध मे ज़ोर से आन्दोलन चल रहा था। सेठ रामचन्द्रजी नाथा ने अपने प्रकाशित हुए 'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा', 'पचाध्यायी' आदि ग्रन्थो की कुछ प्रतियाँ भेज दी थी, जो 'जैन-मित्र'-कार्यालय की अलमारी मे रख दी गई थी। उन दिनो प्रत्येक जिनालय मे प्रकाशित ग्रन्थ रखने पर प्रतिबन्ध था। 'जैनमित्र' का दफ्तर भोईवाडे के जैनमन्दिर के ऊपरी भाग मे था। मन्दिर मे जो लोग पूजा करते थे, उनमे से अधिकाश का पेशा दलाली था और वे सेठो और मुनीमो के दर्शन करने आते ही तैयार किये हुए अर्घ्य-पात्र उनके हाथो मे थमा देते थे। प्रेमीजी ने उनकी इस चेष्टा पर एक व्यग्यपूर्ण लेख 'पुजारीस्तोत्र' नाम से लिखा, जो 'जैनमित्र' के मुख-पृष्ठ पर छपा। उसे पढकर पुजारी आग-बबूला हो गये और उनमे से मन्दिर के मुख्य पुजारी ने 'जैनमित्र' की वह प्रति रूढिवादी सेठो को दिखाई। अक मे श्रीमतो की भी आलोचना थी। इतना ही नही, पुजारी ने अलमारी मे रक्खे प्रकाशित ग्रन्थ भी सेठो को दिखाये। परिणाम यह हुआ कि सेठो ने अलमारी से निकालकर ग्रन्थो को तो सडक पर फेका ही, साथ ही आफिस का सामान भी बाहर फेक दिया।

सेठ माणिकचन्द्रजी प्रान्तिक सभा के अध्यक्ष थे। हीराबाग उस समय बनकर तैयार ही हुआ था। उन्होने तुरन्त सभा के कार्यालय का हीराबाग मे प्रबन्ध कर दिया, जहाँ वह आज तक चल रहा है।

स्वतत्र जीवन और अध्यवसाय—

प्रेमीजी ने अब स्वतन्त्र रूप से कुछ करने का निश्चय किया और प्रान्तिक सभा से त्याग-पत्र दे दिया। प० धन्नालालजी काशलीवाल ने बहुतेरा समझाया, पर वे अपने निश्चय पर दृढ रहे। जब श्री गोपालदासजी वरैया ने भी बहुत दबाव डाला तो प्रेमीजी ने सिर्फ 'जैन-मित्र' के सम्पादन कर देने का कार्य स्वीकार कर लिया।

सभा की नौकरी छोडते ही प्रेमीजी को अनुवाद का बहुत-सा काम मिल गया। (रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला के स्तम्भ मनसुखलाल रवजी भाई ने गुजराती की 'मोक्षमाला' नाम की पुस्तक का अनुवाद उनसे कराया। प्रेमीजी ने डेढ सौ पृष्ठ की पुस्तक का अनुवाद पन्द्रह-बीस दिन मे कर दिया और विशेषता यह कि गद्य का गद्य और पद्य का पद्य में अनुवाद किया। पारिश्रमिक के रूप मे सत्तर-अस्सी रुपये प्रेमीजी को मिले। आशा से यह रकम कही अधिक

थी। इससे हर्ष के साथ प्रेमीजी का साहस भी वढा। प्रेमी जी के स्वतन्त्र जीवन की सफलता के प्रथम अध्याय का श्रीगणेश यहाँ से ही हुआ। वह पाण्डुलिपि वाद मे खो गई।

प्रेमीजी 'जैनमित्र' का सम्पादन व प्रकाशन वडी लगन और तत्परता से करते रहे और वरैयाजी ने जो कुछ पारिश्रमिक दिया, उसे विना 'ननुनच' किये लेते रहे। पहले वर्ष मे सवा सौ, दूसरे मे डेढ सौ आदि।

१. स्व० हेमचद्र २. श्री नाथूराम प्रेमी ३ हेमचद्र की माता स्व० रमावाई
(सन् १९१३)

इसके वाद प्रेमीजी पर 'जैनहितैषी' के सम्पादन का दायित्व भी आ पडा, जिसे उन्होने ग्यारह-वारह वर्ष तक योग्यतापूर्वक वहन किया। 'जैनहितैषी' के सम्पादन-काल मे ही उन्होने माधवराव सप्रे ग्रन्थ-माला के द्वितीय पुष्प 'स्वाधीनता' को 'मुवई वैभव' प्रेस से छपवा कर प्रकाशित किया और उसी समय (सन् १९१२ मे) 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' की स्थापना की। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' सीरीज का 'स्वाधीनता' ही प्रथम ग्रन्थ वनाया गया। यह कार्यालय आज अपनी विकसित अवस्था में हिन्दी-जगत् के सम्मुख विद्यमान है।

प्रेमीजी ने अनेक मौलिक ग्रन्थो की रचना की है और प्राचीन जैन-साहित्य के अनुसन्धान का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। तीन-चार सस्कृत ग्रन्थो का उन्होने अनुवाद भी किया है। बंगला, गुजराती और मराठी के भी अनेक उपयोगी ग्रन्थो का हिन्दी रूपान्तर स्वय किया है और अपने सहयोगियो से करवाया है। कुल मिलाकर प्रेमीजी की तीस-बत्तीस पुस्तके है।

अपने यहाँ से पुस्तको के प्रकाशन मे प्रेमीजी वडे सजग रहे है और उनके चुनाव मे लोक-हित की दृष्टि को प्रधानता दी है। यही कारण है कि 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से एक भी हल्की चीज आज तक प्रकाशित नही हुई।

परिवार दुर्घटनाए—

(प्रेमीजी को बनाने मे बहुत-कुछ हाथ उनकी पत्नी का था। वे बडी ही कष्ट-सहिष्णु और सेवा-परायण थी। कष्ट-काल मे उन्होने सदैव प्रेमीजी को ढाढस बँधाया और समाज-सुधार के कार्यो मे उत्साहित किया। (२२ अक्तूबर १९३२ को उनका देहान्त हो गया।

प्रेमीजी ने अपनी आशाएँ अपने एकमात्र पुत्र हेमचन्द्र पर केन्द्रित की और बडे लाड-प्यार से उनका लालन-पालन किया। हेमचन्द्र विलक्षण बुद्धि के थे। अल्पायु मे ही उन्होने अनेक विषयो मे दक्षता प्राप्त कर ली थी और साहित्य का गहन अध्ययन किया था, लेकिन ३३ वर्ष की अवस्था मे १९४२ की मई मास की १६ तारीख को वे भी चले गये। अब प्रेमीजी के परिवार मे उनकी पुत्रवधू चम्पादेवीजी तथा दो नाती यशोधर और विद्याधर है।)

प्रेमी जी एक अनुपम देन—

प्रेमीजी का एक निजी व्यक्तित्व है। अपनी कार्य-क्षमता, श्रमशीलता और पाण्डित्य से हिंदी-जगत् को उन्होने जो कुछ भेट किया है उससे साहित्य की मर्यादा बढी है। प्रेमीजी जीवन के चौसठ वर्ष पार कर चुके है। इस सुदीर्घ काल मे उन्होने असाधारण सफलता प्राप्त की है। जाने कितने आघात उन्होने धैर्यपूर्वक सहन किये है और अनेक सकट-ग्रस्त बधुओ को ढाढस बँधाया है।

अध्ययनशीलता प्रेमीजी का व्यसन है। उचित उपायो द्वारा धनोपार्जन के साथ-साथ अपने बौद्धिक विकास मे सतत उद्यमशील रहना वे कभी नहीं भूले।

अनेक उदीयमान लेखको को पथ-प्रदर्शन द्वारा उन्होने साहित्य-क्षेत्र मे आगे बढाया है। उत्तम ग्रन्थ प्रकाशन, पुरस्कार-वितरण, लेखकों, अनुवादको और सम्पादको को उनकी रचनाओ पर पारिश्रमिक-दान, विद्यार्थियो को छात्र-वृत्ति, कठिनाइयो मे पडे बधुओ की सहायता द्वारा वे अपने धन का सदुपयोग करते रहते है। उनका द्वार छोटे-बडे सबके लिए हर घडी खुला रहता है।

कटनी]

र्ग-दर्शक प्रकाशक

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

प्रेमीजी हिन्दी के उन थोडे-से आरम्भिक प्रकाशको में है, जिनमे आदर्शवादिता, सहृदयता व व्यापारिकता का सुन्दर सामजस्य हुआ है। उन्होने जो कुछ साहित्य हिन्दी-ससार को दिया है, उसमे हिन्दी-पाठको की आत्मा पुष्ट ही हुई है और हिन्दी-प्रकाशको के लिए वह दिशा-दर्शक रहा है। अपनी सेवाओ के कारण वे हिन्दी-जगत् मे आदरणीय है और इस शुभ अवसर पर मै भी अपना सम्मान उनके प्रति प्रदर्शित करते हुए आनन्द व गौरव का अनुभव कर रहा हूँ।

अजमेर]

श्री नाथूराम जी प्रेमी

पं० बेचरदास जी० दोशी

प्रेमी जी बुन्देलखडी है, मैं काठियावाडी, उनकी भाषा हिन्दी है, मेरी गुजराती, वे जन्म से दिगम्बर जैन है, मैं श्वेताम्बर। इतना भेद होते हुए भी हम दोनो में विचार-प्रवाह की अधिक समानता है। अत 'समानशील व्यसनेषु सख्यम्' के अनुसार हमारे बीच अन्योन्य अजर्य मित्रता बनी हुई है। एक समय था जब मै कट्टर साम्प्रदायिक था, यहाँ तक कि श्वेताम्बर साहित्य के सिवाय इतर किसी भी साहित्य को पढना मेरे लिए पाप-सा था। बनारस मे कई साल रहा। तो भी जिस वृत्ति से श्वेताम्बर मन्दिर में जाता, उस वृत्ति से कभी भी दिगम्बर मन्दिर मे नही गया। कभी गया भी तो दिखावे की भावना से। हमारी पाठशाला की स्थापना के बाद दिगम्बर पाठशाला, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी की स्थापना हुई। उस समय बम्बई के श्रीमान् विद्याप्रेमी श्री माणिकचन्द सेठ काशी पधारे थे और काशी मे कम्पनी बाग के सामने दिगम्बर मन्दिर मे दिगम्बर पाठशाला का स्थापन-समारम्भ था। वहाँ भी हमारी सारी मडली गई थी, परन्तु दिगम्बर श्वेताम्बर दोनो सहोदर भाई है, इस वृत्ति से नही। केवल बाह्य उपचार और दिखावे का व्यवहार ही हमारे जाने का कारण था। काशी में मै न्याय, प्रधानत जैन न्याय, व्याकरण और साहित्य आदि पढ चुका था और प्राकृत अर्थात् मागधी, शौरसेनी भाषाओ का मेरा अध्ययन पूर्ण हो चुका था। बाद मे मैं यशोविजय-जैन-ग्रन्थमाला के सम्पादन-कार्य मे जुट गया। उस समय मैं कोई बीस-इक्कीस वर्ष का था। मागधी भाषा का ज्ञान होने के कारण मैं श्वेताम्बर मूल जैन-आगमो को स्वय पढने लगा, समझने लगा और कठस्थ भी करने लगा। जब मैंने आचाराग आदि अग ठीक तरह से पढे तब मेरे चित्त मे परम आह्लाद का अनुभव हुआ और मेरी सारी साम्प्रदायिक कट्टरता एकदम रफूचक्कर हो गई। यद्यपि मैं जैन साधुओ के सहवास में अधिक रहा हूँ, उनकी सेवा भी काफी की है, उनके बताये हुए अनेक-विध क्रियाकाडो मे रस भी लिया है, परन्तु स्वयमेव मूल जैन-आगम पढने पर और उनका मर्म समझने पर मेरी जड-क्रियाकाड में अरुचि एव साधुओ के प्रति अन्ध-भक्ति का लोप हो गया और स्वय शोध करने की तरफ लक्ष गया। साधुओ के प्रति व्यक्तिश नहीं, परन्तु समूह सस्था की तरफ मेरी अरुचि हो गई और मुझको स्पष्ट मालूम हुआ कि आगम वचन दूसरे प्रकार के है, पर अपने को आगमानुसारी मानने वाले सघ की प्रवृत्ति अन्य प्रकार की है। प्रचलित क्रियाकाडो का उद्देश्य ही विस्मृत-सा हो गया है। मेरे मन मे ये भाव उठने लगे कि लोगो के सामने आगम वचनो को रक्खा जाय और उनका अच्छी तरह अनुवाद करके प्रकाशित किया जाय, जिससे व्यर्थ के आडम्बर के चक्कर में फँसी हुई जनता वस्तु-तत्त्व का विचार कर सके। अब तक मुझको यह मालूम नहीं था कि हम श्रावक लोग आगमो को स्वय नही पढ सकते अथवा आगमो का अनुवाद भाषा मे करना पाप-सा है, क्योकि जब मैं पाठशाला मे आगमो का अध्ययन करता था तब किसी ने मुझको मना नही किया था। अत मैंने ठान लिया कि पाठशाला मे बाहर निकल कर आगमो के अनुवाद का कार्य ही सर्व-प्रथम करूँगा। इन दिनो पूज्य गाधी जी भारतवर्ष में आये हुए थे और सारे देश के वातावरण मे क्रान्ति की लहरे हिलोरे लेने लगी थी। जब मैंने आगमो के अनुवाद की प्रवृत्ति का श्रीगणेश किया तो जैन साधुओ ने उसका बडे ज़ोरो से विरोध किया। विरोध क्या किया, उस प्रवृत्ति को बन्द करने के लिए भयानक आन्दोलन इन साधुओ ने किये और मुझ पर तो घोर आक्षेपो की वृष्टि होने लगी। मेरे कुटुम्ब वाले और मेरी माता जी भी स्वय कहने लगी कि अनुवाद के काम की अपेक्षा आत्मघात करके मर जाना अच्छा है। व्यवहार के क्षेत्र में मेरा प्रथम ही प्रवेश था और मेरे सामने साधु-समाज और श्रावक-समाज का विरोध भी भयकर था। तब भी मै अपने निश्चय से टस-से-मस नही हुआ। मैंने आगमो के वचनो का जो आस्वाद लिया था उसका अनुभव आम जनता भी करे, यही मेरा एक निश्चय था। सेठ पुजाभाई हीराचन्द अहमदाबाद वालो ने मेरे निश्चय मे बल प्रदान किया। अत उनके सहारे मै आगमो के अनुवाद की प्रवृत्ति के लिए बम्बई आया। यहाँ उस समय श्री प्रेमीजी से सर्व-प्रथम परिचय उनकी हीराबाग वाली दुकान मे हुआ। उन्होने मुझको

वडा प्रोत्साहन दिया। उन दिनो वे 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' चलाते थे और हीरावाग के पास ही चन्दावाडी मे रहते थे। शायद 'माणिकचन्द-जैन-ग्रन्थमाला' के भी सचालक थे और 'परमश्रुत प्रभावक मडल' मे भी उनका सम्वन्ध था। इस प्रकार श्री प्रेमीजी से हमारी मित्रता करीव आज सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष से चली आई है और जव तक हमारी चेतना जागरूक है तव तक चलती रहेगी। केवल प्रेमीजी से ही नही, अपितु उनके कुटुम्व के साथ भी हमारे कुटुम्व की मित्रता वन गई है। प्रेमीजी कुटुम्व-वत्सल, मूक भाव से क्रान्ति के प्रेरक, सामाजिक कुरूढियो के भजक, स्वच्छ साहित्य के प्रचारक और प्रामाणिक व्यवसायी है। एक वार जव मै अपनी पत्नी के साथ पूने मे था तव प्रेमी जी भी वहाँ निवास के लिए आये थे। साथ मे उनकी पत्नी स्व० रमावहिन और उनका पुत्र स्व० हेमचन्द्र भी था। रमावहिन अत्यन्त नम्र, मर्यादाशील एव कुटुम्व-वत्सल गृहणी थी और हेमचन्द्र तो मनोहर मुग्ध सनयुग का वालक था। हम दो थे और प्रेमीजी का कवीला तीन व्यक्तियो का था। हम पाँचो जने 'भाडारकर प्राच्य मन्दिर' के पीछे

स्व० हेमचद्र (१९१२)

की पहाडियो पर नित्य प्रात काल घूमने जाते और अनेक प्रकार की वाते होती। अधिकतर सामाजिक कुरूढियो की और धार्मिक मिथ्यारूढियो की चर्चा चलती थी। स्व० हेमचन्द्र भी 'दद्दा दद्दा' कहकर मनोहर वालसुलभ वाते पूछा करता। किसी टेकरी पर चढने मे स्त्रियो को अपनी पोशाक के कारण वाधा आती तो दोनो यानी रमावहिन और मेरी पत्नी कच्छा लगाकर टेकरी पर चढ जाती। उस समय हम लोगो ने जो सुखानुभव किया, वह फिर कभी नही किया। प्रेमीजी साहित्य और इतिहास के कीट होने पर भी कितने कुटुम्व-वत्सल थे, उसका पता वहाँ टेकरी पर ही लगता था। उन दिनो प्रेमीजी 'जैन-हितैपी' चलाते थे। उसमें साहित्य, इतिहास इत्यादि के विपय में वडी आलोचना-प्रत्यालोचना रहती थी। 'जैन-हितैषी' के मुख-पृष्ठ पर एक चित्र आता था, जिसमे ध्वज-दड सहित एक देवकुलिका थी और उसके शिखर में रस्सी को फांसकर एक तरफ श्वेताम्वर खीच रहा है, दूसरी तरफ दिगम्वर। यह हाल जैन-समाज का आज तक भी वैसा ही वना हुआ है। इस चित्र से प्रेमीजी के अन्त स्थित क्रान्तिमय मानस

का पूरा पता चलता है। वैसे तो प्रेमीजी ने जोशीले व्याख्यान नही दिये और जोशीले लेख भी नही लिखे, परन्तु उन्होने मूक भाव से क्रान्ति की प्रेरणा की है। उसका दूसरा उदाहरण बाबू सूरजभानु वकील द्वारा सम्पादित-प्रकाशित 'सत्योदय' नामक मासिक है। सूरजभानु जी भी प्रेमीजी के असाधारण मित्र है[1]। कोई भी विचारक प्रेमीजी के ससर्ग मे आवे और उनसे प्रशान्त भाव से शास्त्रीय व सामाजिक रूढियो की चर्चा करे तो उनके क्रान्तिमय विचारो का पता उसे जरूर लगेगा। प्रेमीजी दृढ सकल्प से रूढियो का भजन करते रहे है। प्रेमीजी के प्रयत्न से ही शास्त्र छपवाने के विरोधी दिगम्बर-समाज में भी जैन-साहित्य का अच्छा मुद्रण-प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। 'माणिकचन्द्र-जैन-ग्रन्थमाला' मे अनेक अच्छे-अच्छे ग्रन्थ प्रेमीजी की देखभाल में सुसम्पादित होकर प्रकाशित हुए। अब तो यह कार्य इतना अग्रसर हुआ है कि जो ग्रन्थ आज तक मूडबिद्री मे केवल पूजे ही जाते थे और यात्रियो के केवल दर्शन विषय बने हुए थे, वे धवला इत्यादि ग्रन्थ भी भाषान्तर के साथ छप कर प्रकाश में आने लगे है। इतना ही नही, परन्तु कई पडित नये युग के रग मे रँगकर दिगम्बर श्वेताम्बर के ऐक्य की खोज मे लग रहे है और यहाँ तक विचार किया जाने लगा है कि दोनो सम्प्रदाय मे कोई विरोध नही है। मेरी समझ मे श्री प्रेमीजी और उनके मित्रो ने जो क्रान्ति के बीज बोये थे, वे उगे और उन्होने वृक्षो का रूप धारण कर लिया है। अभी फल कच्चे है, परन्तु जब पक जायँगे तब सारे जैन-समाज को अपूर्व प्रमोद होगा। प्रेमीजी ने जैन-साहित्य की तो सेवा की ही, परन्तु उन्होने विशाल और व्यापक दृष्टि रखकर सारे हिन्दी-साहित्य की सेवा के लिए तत्पर होकर अपना 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' के रूप में परिणत कर दिया और उसके द्वारा हिन्दी भाषा मे शुचि और स्वस्थ साहित्य प्रकाशित करना शुरू कर दिया। कहानी, इतिहास, वाचनमाला, विज्ञान, धर्म, समाज-व्यवस्था, अर्थशास्त्र, राजकारण आदि अनेक विषयो पर सुन्दर साहित्य उन्होने प्रकाशित किया और आज तक कर रहे है। यद्यपि व्यवसाय की दृष्टि से उन्होने सैकडो हिन्दी के ग्रन्थ प्रकाशित किये है तो भी ग्रन्थो को देखने से व्यवसाय की अपेक्षा उनकी साहित्य-सेवा की ही दृष्टि झलकती है। व्यवसायी लोग तो जनता की अधोभूमिका का लाभ लेकर शृगारमय वीभत्स साहित्य भी प्रकाशित कर गरीबो का धन हर ले जाते है, परन्तु प्रेमीजी के ग्रन्थ-रत्नाकर मे ऐसी कोई भी पुस्तक नही मिल सकती। इस प्रकार श्री प्रेमीजी हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र मे हीरा है तो हमारे जैन-साहित्य-क्षेत्र मे वे उज्ज्वल मणि के समान है। अपने इकलौते पुत्र श्री हेमचन्द्र के अवसान के कारण प्रेमीजी को भारी आघात हुआ है और इसी कारण उनकी देह अब अधिक जर्जरित हो गई है। अत अस्वास्थ्य के कारण अब वे अनुत्साहित से दीख पडते है, फिर भी महात्मा बनारसीदासजी[2] की तरह वे ठीक अन्तर्मुख है। इसी कारण अपनी साहित्य-सेवा की प्रवृत्ति से वे तनिक भी विचलित नही हुए है। भले ही उनका वेग मन्द हुआ हो, परन्तु प्रवृत्ति चलती ही रहती है। अभी उनकी 'जैन-साहित्य का इतिहास' तथा 'अर्धकथानक' पुस्तके प्रकाशित हुई है। वे उनकी अन्तर्मुखता की गवाही है।

अन्त में प्रेमीजी की एक अनुकरणीय बात कहकर इस लेख को समाप्त करूँगा। प्रेमीजी ने अपना सारा बोझ अपने ही कन्धे पर ढोते हुए समाज-सेवा, क्रान्तिप्रचार, रूढि-भजन, सुधार-प्रवृत्ति और साहित्य-सेवा आदि प्रशसनीय प्रवृत्तियाँ आज तक की है। इसी प्रकार हम लोग भी अपना बोझ समाज व राष्ट्र पर न डालकर स्वय उसे सँभालते हुए यथासाध्य कार्य में लगें तो अवश्य ही अच्छा कार्य कर सकेंगे। प्रेमीजी बाहर से सीधे-सादे और अन्तरग से गम्भीर चिन्तक है। आज तक उन्होंने जो काम किया है, स्थिरभाव से, स्थितप्रज्ञ की-सी वृत्ति से। क्रान्ति का उतावलापन या रूढिप्रियता का शोर-गुल उनमें नही है। 'काल कालस्य कारणम्' समझ कर जो बना, वह सचाई और ईमानदारी के साथ कर दिया, यही उनका स्वभाव है।

अहमदाबाद]

---

[1] खेद है कि अब श्री सूरजभानु जी का स्वर्गवास हो गया है।

[2] 'अर्धकथानक' आत्मचरित के लेखक, जिन्हें अपनी नौ सन्तानों का वियोग अपनी आँखो देखना पडा था।

'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' और उसके मालिक

स्व० हेमचन्द्र मोदी

[यह लेख वहुत ही सुन्दर और रोचक है। 'पिता-पुत्र' के सम्बन्ध के होते हुए भी लेखक ने कहीं अपने को सत्य से वहकने नही दिया है। इसमें सर्वत्र हेमचन्द्र जी की पैनी वुद्धि की छाप है। जान पडता है कि सत्य के राज-मार्ग पर चलने की उनकी एक आदत-सी वन गई थी। विशेष घटनाओ का उल्लेख करते हुए उनके पीछे जो सामान्य सत्य है उसकी ओर इस लेख में कई स्थानों पर वहुमूल्य सुझाव दिये गए हैं। हर्ष की वात है कि श्री नाथूराम जी का ऐसी सद्विवेकिनी शैली से लिखा हुआ चरित्र उपलब्ध हो सका। स्व० हेमचन्द्र के सिवा सम्भवत इस कार्य को कोई दूसरा इतने अच्छे ढग से पूरा न उतार सकता था। —वासुदेवशरण अग्रवाल]

वम्बई का 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' हिन्दी में एक ऐसी प्रकाशन-सस्था रही है, जिसने लोगो का वहुत-कुछ ध्यान आकर्षित किया है। इसके वारे में ज्यादा जानने के लिए लोग उत्सुक भी रहे हैं, पर इस विज्ञापनवाज़ी के ज़माने में न जाने क्यों इसके सचालक हमेशा आत्म-विज्ञापन की ओर इस तरह उपेक्षा दिखलाते रहे हैं कि लोगो की उत्सुकता खुराक के अभाव में अभिज्ञता के रूप मे नही पलट पाई। कोशिश करने पर लोग इसके वारे मे इसके नाम के अलावा इतना ही जान पाये हैं कि इसके मालिक श्री नाथूराम प्रेमी नामक कोई व्यक्ति विशेष है। हाँ, कोई आठ-दस साल पहले व्यक्तिगत चिट्ठियो मे सवाल-पर-सवाल पूछकर पूज्य प० वनारसीदासजी चतुर्वेदी कुछ जानकारी पा गये थे, जिसे उन्होंने 'विशाल भारत' मे छाप दिया था। पर इसके द्वारा लोगो की उत्सुकता वढी थी, घटी नही थी।

मैं पिताजी को न जाने कव से 'दादा' कहता आया हूँ और मेरी देखादेखी निकट परिचय मे आने वाले हिन्दी के वहुत से लेखक भी उन्हे 'दादा' कहने और पत्रो मे लिखने लगे हैं। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के साथ वे इस तरह सश्लिष्ट हैं कि जो लोग थोडे भी परिचय में आये है, वे दोनो में भेद नही कर पाते। इतना ही नही, मेरा कई साल का अनुभव है कि वे स्वय भी अपने आपको चेष्टा करने पर भी 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से अलग नही कर पाते। अपने कार्य से इतना अधिक एकात्म्य दुनिया में वहुत कम लोग अनुभव करते है। यह एकात्म्य यहाँ तक रहा है कि कभी-कभी मुझे यह भासने लगता है कि जिस पितृ-स्नेह का मैं हकदार था, उसका एक वहुत वडा हिस्सा इसने चुरा लिया है और मुझे याद है कि मेरी स्वर्गीया माँ भी अनेक वार इसमें अपनी मौत का दर्शन करती रही है, परन्तु मेरे निकट 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' कोई चीज़ नहीं है। मेरे निकट तो वस मेरे दादा है। मैं यहाँ अपने दादा का ही परिचय दूँगा, क्योकि मेरे लिए वे ही सव कुछ हैं। मेरे निकट 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' है तो केवल उनके एक प्रतीक के रूप में। मुझे विश्वास है कि पाठक भी जड 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' की अपेक्षा चेतन 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' को ही जानने के लिए ज्यादा उत्सुक होंगे।

पर इसका मतलव यह नही है कि दादा मुझे चाहते नही है या मेरी माता के प्रति उनका व्यवहार उचित नही था। सच पूछो तो दादा मेरी माँ को चाहते नही थे, उनकी भक्ति करते थे। जव वे किसी चीज़ के लिए कहती थी तव वह माँग उन्हे इतनी तुच्छ प्रतीत होती थी कि उनके ख्याल से उन जैसी देवी को शोभा न देती थी। उन्होंने इस वात का ख्याल नही किया कि एक देवी के शरीर मे भी मनुष्य का हृदय रह सकता है। उनकी मृत्यु के आठ साल वाद आज भी जव वे उनका स्मरण करते है तव उनका हृदय दुख से भर उठता है। आप कहेंगे, "यह तुमने अच्छा झगडा लगाया। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' मे तुम्हारी माँ का क्या सम्वन्ध ?" पर मेरा विश्वास है कि दादा ने जो

भी कुछ किया, 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' को आप जैसा कुछ देखते है, उसमें अगर यह कहा जाय कि दादा की अपेक्षा मेरी मां का अधिक हिस्सा है तो शायद कुछ ज्यादा अतिशयोक्ति न होगी। पुरुष कितना ही त्याग-वृत्ति का हो, सेवा-परायण और कर्तव्यनिष्ठ हो, पर अगर स्त्री अपने पति के व्रत को अपना व्रत नहीं बना लेती तो अवश्य ही उस पुरुष का पतन होता है। कार्लमार्क्स कितने ही सिद्धान्तवादी होते, पर उनकी पत्नी लोभी, विलासेच्छु होती तो वे कभी के पूंजीवादियो के मायाजाल में फँस जाते। बडे-बडे होनहार देश-भक्तो, त्यागियो और महापुरुषो का पतन उनकी पत्नी के अपातिव्रत्य के कारण ही हुआ है। अपने पति के व्रत को वे अपना व्रत न मान सकी।

जब कभी हम लोग फुर्सत के वक्त दादा के पास बैठते है तब वे अपने जीवन की स्मरणीय घटनाओ और बातो को कहते है। उनको सुनने और उन पर विचार करने पर हमें मालूम होता है कि उनके चरित्र और स्वभाव के किन गुणो ने उन्हें आगे बढाया और उस कार्य के करने के लिए प्रेरित किया और किन परिस्थितियो ने उसमें मदद पहुँचाई।

दादा की बातो मे सबसे पहली बात जो ऊपर तैर आती है वह अत्यन्त दरिद्रता की है। दादा के पिता अर्थात् मेरे आजे का नाम था टूंडे मोदी। हम लोग देवरी ज़िला सागर (मध्य प्रान्त) के रहने वाले परवार बनिये है। परवार लोग अपने मूल मे मेवाड के रहने वाले थे। पहले हथियार बाँधते थे, पर बाद मे और बहुत-सी क्षत्रिय जातियो की तरह व्यापार करने लगे और वैश्य कहलाने लगे। पुराने शिला-लेखो मे इस जाति का नाम 'पौरपट्ट' मिलता है और ये मेवाड के पुर या पौर कसबे के रहने वाले है और सारे बुन्देलखड मे बहुतायत से फैले हुए है। मगर हमारे आजे टूंडे मोदी महाजनो मे अपवाद-रूप थे। अपनी हार्दिक उदारता के सबब वे अपने आसामियो से कर्ज दिया हुआ रुपया कभी वसूल न कर सकते थे और किसी को कष्ट मे देखते थे तो पास मे रुपया रखकर देने से इन्कार न कर सकते थे। इस कारण वे अत्यन्त दरिद्रता के शिकार हो गये। देखने को हज़ारो रुपये की दस्तावेज़े थी, पर घर मे खाने को अन्न का दाना नही था। दादा सुनाते है कि बहुत दिनो तक घर का यह हाल था कि वे जब घोडे पर नमक, गुड वगैरह सामान लेकर देहात मे बेचने जाते थे और दिन भर मेहनत करके चार पैसे लाते थे तब कही जाकर दूसरे दिन के भोजन का इन्तज़ाम होता था। वे कर्ज़दार भी हो गये थे। एक बार की बात है कि घर में चूल्हे पर दाल-चावल पक कर तैयार हुए थे और सब खाने को बैठने ही वाले थे कि साहूकार कुडकी लेकर आया। उसने वसूली मे चूल्हे पर का पीतल का बर्तन भी माँग लिया। उससे कहा कि भाई, थोडी देर ठहर। हमे खाना खा लेने दे। फिर बर्तन ले जाना। पर उसने कुछ न सुना। बर्तन वही राख मे उडेल दिये। खाना सब नीचे राख मे मिल गया और वह बर्तन लेकर चलता बना। सारे कुटुम्ब को उस दिन फाका करना पडा।

ऐसी गरीबी में गाँव के मदरसे मे दादा पढे, ट्रेनिंग की परीक्षा पास की और मास्टरी की नौकरी कर ली। वे कई देहाती स्कूलो में मास्टर रहे। मास्टर होने के पहले कुछ दिन उन्होने डेढ रुपया महीने की मानीटरी की नौकरी की। मास्टरी में उन्हें छ रुपया महीना मिलता था। बाद में सात रुपया महीना मिलने लगा था। इसमें से वे अपना खर्च तीन रुपये मे चलाते थे और चार रुपया महीना घर भेजते थे। इन दिनो जो कम-खर्ची की आदत पड गई, वह दादा से अभी तक नही छूटती। एक तरफ तो उनमें इतनी उदारता है कि दूसरो के लिए हज़ारो रुपये दे देते है, पर अपने खर्च के लिए वे एक पैसा भी मुश्किल से निकाल पाते है। अन्य गुणो के साथ मिलकर इस आदत का असर 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के सचालन पर भी गहरा पडा है। किताबो की बिक्री का जो भी कुछ पैसा आता रहा, वह कुछ व्यक्तिगत खर्च निकाल कर नये प्रकाशनो मे ही लगता गया। बम्बई के जीवन का बहुत बडा हिस्सा उन्होने दस-बारह रुपये महीना किराये के मकानो में ही निकाल दिया है, जब कि उनकी हालत ऐसी थी कि खुशी से पचास रुपया महीना किराया खर्च कर सकते थे। इस आदत के कारण ही उन्हे कभी किसी अच्छे ग्रन्थ को छपाने के लिए, जिसकी कि वे आवश्यकता समझते हो, रुपयो का टोटा नही पडा और न कभी आज तक कर्ज़ में किसी का पैसा लेकर धन्धे में लगाया। कभी किसी प्रेस वाले का या कागज़ वाले का एक पैसा भी उधार नही रक्खा। यही आदत उन्हे सभी क़िस्म के व्यसनो से और लोभ से भी बचाये रही। सट्टेबाज मारवाडियो के बीच रहकर भी हमेशा वे सट्टे के प्रलोभन

से बचे रहे। उन्होंने कभी किसी ऐसी पुस्तक को नही छापा, जिसका उद्देश्य केवल पैसा कमाना हो और न लोभ मे पड कर कभी कोई ऐसा कार्य किया, जो नीति की दृष्टि से गिरा हुआ हो। कभी ऐसा मौका आता है तो वे कह देते है, "जरूरत पडने पर फिर मै एक बार छ रुपये महीने मे गुजारा कर लूँगा, पर कमाई के लिए यह पुस्तक न छापूँगा।"

यहाँ मुझे यह भी कहना चाहिए कि अल्पसन्तोषिता से एक बुराई भी पैदा हो गई है। वह यह कि अन्य पुस्तक-प्रकाशक अपनी पुस्तक बेचने के लिए जितनी कोशिश कर पाते है और कभी-कभी जितनी ज्यादा बेच लेते है उतनी हम नही कर पाते। बिक्री की दौड मे 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' सदा पीछे ही रहा है, पर इनमें बहुत से अति प्रयत्नशील प्रकाशक चार दिन चमक कर अस्त हो गये, पर 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' अपनी कछुए की चाल से चला ही जा रहा है।

करीब दो साल दादा मास्टरी करते रहे। इसी जमाने में देवरी मे स्वर्गीय अमीर अली 'मीर' के ससर्ग से दादा को कविता करने का शौक हुआ और उन्होंने 'प्रेमी' के उपनाम से बहुत-सी कविताएँ लिखी, जो उस जमाने मे समस्यापूर्ति के 'रसिक मित्र', 'काव्य-सुधाकर' आदि पत्रो मे छपा करती थी। पढने का भी शौक हुआ और आस-पास मे जो भी पुस्तकें हिन्दी की मिलती थी, सभी पढी। कोई दो साल मास्टरी की नौकरी करने के बाद सरकार ने उन्हें नागपुर कृषि-कालेज में पढने भेज दिया। उन दिनो उस कालेज में हिन्दी मे पढाने का प्रबन्ध किया गया था। पर नागपुर में वे अधिक दिन स्वस्थ न रह सके। बीमार पड गये और घर लौट जाना पडा। अपने विद्यार्थी-जीवन की सबसे अधिक स्मरणीय बात वे उस स्वावलम्बन की शिक्षा को समझते है, जो उस समय उन्हें मिली। उस जमाने में कालेजो के साथ आजकल की तरह बोर्डिंग नही थे। सब विद्यार्थियो को अपने हाथ से ही रोटी बनानी पडती थी। दादा को रोटी बनाने में आधा घटा लगता था। दादा बोर्डिंगो की प्रथा को बहुत बुरी प्रथा समझते है, जिससे उनमें विलासिता घर कर जाती है।

'मीर' साहब के ससर्ग मे जो उन्हें काव्य-साहित्य का शौक हुआ सो हमेशा ही बना रहा। साथ ही ज्ञान की पिपासा जाग्रत हो गई। खुद सुन्दर कविता करने लगे, पर इससे अधिक अपने अन्य कवियो की कविताओ का उत्तम सशोधन करने का बहुत अच्छा अभ्यास हो गया। आगे चलकर इस अभ्यास की ऐसी वृद्धि हुई कि कई अच्छे कवि अपनी कविता का सशोधन कराने में प्रसन्नता का अनुभव करते थे। दादा का कहना है कि उनको कविता प्रयत्नपूर्वक बनानी पडती है। वे स्वभावत कवि नही है। इसलिए उन्होने बाद मे कविता लिखना बन्द कर दिया। वे 'प्रेमी' उपनाम से कविता करते थे और इसी नाम से वे प्रसिद्ध हो गये। पर कविता के सशोधन और दोष-दर्शन मे जितनी कुशलता उन्हें हासिल है, उतनी कुछ इने-गिने लोगो को होगी। कही कोई शब्द बदलना हो, कही कोई काफिया ठीक न बैठता हो तो वे तुरन्त नया शब्द सुझा देते है और क़ाफिये को ठीक कर देते है।

इसी समय एक अखबार में विज्ञापन निकला कि 'बम्बई-प्रान्तिक-दिगम्बर-जैन-सभा' को एक क्लार्क की जरूरत है। दादा ने अपना आवेदन-पत्र इस जगह के लिए भेज दिया। उनका आवेदन मजूर हुआ और बम्बई आने के लिए सूचना आ गई। पर आप जानते है कि उनका आवेदन मजूर होने का मुख्य कारण क्या था? आवेदन-पत्र तो बहुतो ने भेजे थे, पर उनका आवेदन मजूर होने का मुख्य कारण उनकी हस्त-लिपि की सुन्दरता थी। आजकल लोग हस्त-लेख को सुन्दर बनाने पर बहुत कम ध्यान देते है। दादा के मोती सरीखे जमे हुए अक्षर आज भी बहुतो का मन हरण कर लेते है। दादा के अक्षर सुन्दर न होते तो उनका बम्बई आना न होता और न 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का उनके हाथो जन्म ही होता। बचपन मे उन्होने अपनी हस्तलिपि की सुन्दरता के लिए काफी प्रयत्न किया था और कस्बे के सरकारी स्कूल के सारे तख्ते उन्हीं के हाथ के लिखे थे। अकसर देखा जाता है कि जिन लडको के अक्षर अच्छे होते है, वे पढने में पिछडे होते है, पर दादा अपनी कक्षा मे हमेशा पहले दो लडको में रहे।

बम्बई में आकर उन्हें अपनी शक्तियो के विकास का भरपूर अवसर मिला। यहाँ आते ही उन्होने सस्कृत, बँगला, मराठी और गुजराती सीखना शुरू कर दिया। छ-सात घटे आफिस का काम करके बचत के समय में वे इन भाषाओं का अभ्यास करते थे। दफ्तर में एकमेवाद्वितीय थे। चिट्ठी-पत्री लिखना, रोकड सम्हालना और 'जैनमित्र'

नामक मासिक पत्र के सम्पादन से लेकर पत्रो को लिफाफो मे बन्द करना, टिकट चिपकाना, डाकखाने मे जाकर डाल आने तक का काम उनका था और मिलता था उनको इसके बदले मे सिर्फ पच्चीस रुपया माहवार। जिस काम को उन्होने अकेले किया, उसी के लिए बाद में कई आदमी रखने पडे।)

अपने नौकरी के जीवन की सबसे स्मरणीय बात जो दादा सुनाते है, वह यह कि जब कभी जितनी भी तनख्वाह उन्हें मिली, हमेशा उससे उन्हें बेहद सन्तोष रहा। उन्होने हमेशा यही समझा कि मुझे अपनी लियाकत से बहुत ज्यादा मिल रहा है। कभी तनख्वाह बढवाने के लिए कोई कोशिश नही की और न कभी किसी से इसकी शिकायत की, पर साथ ही अपनी योग्यता बढाने की सतत कोशिश करते रहे। एक सामाजिक नौकरी करते हुए भी कभी किसी सेठ-साहूकार की खुशामद नही की और हमेशा अपने स्वाभिमान की रक्षा करते रहे। स्वाभिमान पर चोट पहुँचते ही उन्होने नौकरी छोड दी। जिन सेठ साहब की देख-रेख में दादा काम करते थे, उनके कुछ लोगो ने कान भरे कि दादा रोकड के रुपयो मे से कुछ रुपये अपने व्यक्तिगत काम मे ले आते है। एक दिन सेठ साहब अचानक दफ्तर मे आ धमके और बोले कि तिजोरी खोलकर बताओ कि कितने रुपये है। दादा ने तिजोरी खोलकर रुपये-आने-पाई का पूरा-पूरा हिसाब तुरन्त दे दिया और फिर तिजोरी की चाबी उन्ही को देकर बाहर चले गये और कह गये कि आपको मेरा विश्वास नही रहा। इसलिए अब मै यह नौकरी न करूँगा। आप दूसरा आदमी रख लीजिए। बहुत आग्रह करने पर भी दादा ने नौकरी तो न की, पर 'जैनमित्र' की सम्पादकी का काम करते रहे।

उस समय बम्बई के जैनियो में प० पन्नालाल जी बाकलीवाल नामक एक त्यागी व्यक्ति थे। उन्होने आजन्म समाज-सेवा का, विशेष करके जैन-साहित्य की सेवा का, व्रत लिया था और आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा की थी। वे लोगो में 'गुरूजी' के नाम से प्रसिद्ध थे और अपने ज़माने मे जैन-समाज के इने-गिने विद्वानो में से थे। वे बहुत वर्ष बगाल के दुर्गापुर (रगपुर) नामक स्थान में अपने भाई की दुकान पर रहे थे और दादा ने उनसे बगाली भाषा सीख ली थी। दादा पर उनके चरित्र का, उनकी निस्पृहता का और समाज-सेवा की भावना का भी बडा गहरा असर हुआ और उनसे उनका सम्बन्ध प्रगाढ होता गया। उन्होने जैनियो मे शिक्षा के प्रसार के लिए और जैन-ग्रन्थो के प्रकाशन के लिए **'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय'** नामक एक प्रकाशन-सस्था की स्थापना की थी। इसमे **'जैन-हितैषी'** नाम का एक मासिक पत्र प्रकाशित होता था और बहुत-सी जैन-पुस्तके प्रकाशित हुई थी। दादा ने भी धीरे-धीरे उनके इस काम में हाथ बटाना शुरू किया। दादा की योग्यता और परिश्रम का गुरूजी पर बडा प्रभाव पडा और थोडे ही समय बाद वे सारा काम दादा को सौंपकर चले गये। पहले दादा को अपने परिश्रम के बदले में किताबो की बिक्री पर कुछ कमीशन मिलता था। कुछ दिनो बाद 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' मे दादा का आधा हिस्सा कर दिया गया। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' मे किताबो की शक्ल मे जो पूँजी थी, वह अधिकाश कर्ज़ की थी, जिसका ब्याज देना पडता था, पर जिनकी वह पूँजी थी वे ऐसे व्यक्ति नही थे, जो एकाएक कभी आकर अपने रुपये तलब करने लगे। बाद मे दादा ने और छगनमलजी ने यह सारा रुपया कमाकर चुकाया।

कुछ दिन बाद गुरूजी ने अपनी जगह पर अपने भतीजे श्री छगनमलजी बाकलीवाल को रख दिया। दादा और छगनमलजी दोनो मिलकर जैन-ग्रन्थो के प्रकाशन मे जुट गये। दुकान का प्रबन्ध-सम्बन्धी सारा काम छगनमल जी सम्हालते थे और ग्रन्थो का सम्पादन, सशोधन और 'जैन-हितैषी' के सम्पादन का काम दादा सम्हालते थे। इस समय करीब साठ-पैंसठ जैन-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ प्रकाशित किये। 'जैन-हितैषी' ने समाज मे सबसे ज्यादा प्रतिष्ठा प्राप्त की। उसका सम्पादन इतना अच्छा होता था कि उस ज़माने की 'सरस्वती' से ही उसका मुकाबिला किया जा सकता था। कोई भी जातीय पत्र उसका मुकाबिला न कर सकता था। गुरूजी का सारा कर्ज धीरे-धीरे अदा कर दिया गया और थोडा-सा खर्च जाकर जो बचने लगा सो प्रकाशन में ही लगने लगा।

इस ज़माने की सबसे ज्यादा स्मरणीय बात है स्वर्गीय सेठ माणिकचन्द्र पानाचन्द्र की सहायता। दिगम्बर-

जैन-समाज का जितना अधिक उपकार सेठ माणिकचन्द्र जी कर गये, उतना शायद ही किसी एक व्यक्ति ने किया हो। यह उपकार उन्होंने कोई धर्मादा संस्थाओं को बहुत-सा रुपया देकर किया हो, सो बात नहीं। उन्होंने जितनी संस्थाएँ क़ायम कीं उनका बहुत सुन्दर प्रबन्ध करके ही उन्होंने वह कार्य किया। जितना काम उन्होंने एक रुपये के खर्च में किया, उतना दूसरे धनवान् व्यक्ति सौ रुपया खर्च करके भी न कर पाये। इस सफलता का रहस्य उनमें कार्यकर्ताओं के चुनाव की जो ज़बरदस्त शक्ति थी, उसमें निहित है। साथ ही और लोग जहाँ दान में अपनी सारी सम्पत्ति का एक छोटा हिस्सा ही देते हैं वहाँ वे अपनी लगभग सारी सम्पत्ति दान में दे गये। बम्बई का हीराबाग, जिसमें कि शुरू से आज तक 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' का दफ्तर रहा है, उनके दिये दान की एक ऐसी ही संस्था है।

जैन-ग्रन्थों के प्रकाशन में वे इस रूप में सहायता देते थे कि जो भी कोई उत्तम ग्रन्थ कहीं से प्रकाशित होता था, उसकी दो-तीन सौ प्रतियाँ एक साथ तीन-चौथाई कीमत में खरीद लेते थे। प्रत्येक प्रकाशक के लिए यह बहुत काफी सहायता थी, जिससे छपाई का करीब सारा खर्च निकल आता था। दादा को भी इस तरह काफी सहायता मिली। पुस्तक-प्रकाशन में सहायता का यह ढंग इतना सुन्दर है कि दादा का कहना है कि अगर हिन्दी में उत्तम पुस्तकों के प्रकाशन को प्रोत्साहन देने के लिए यह ढंग अख्तियार किया जाय तो हिन्दी-साहित्य की बहुत कुछ कमी बात-की-बात में दूर हो सकती है। इसमें लेखक और प्रकाशक दोनों को उत्साह मिलता है। सिर्फ लेखकों को पुरस्कार देने की अथवा प्रकाशन के लिए नई प्रकाशन-संस्थाएँ खोलने की जो रीति है, उसमें खर्च के अनुपात से लाभ नहीं होता। हिन्दी में अधिकारी लेखकों का अभाव नहीं है, पर प्रकाशकों का ज़रूर अभाव है। जबतक बिकने की आशा न हो तबतक प्रकाशक अच्छी पुस्तकें निकालते सकुचाते हैं। पुस्तक अच्छी होगी तो लेखक ज़रूर पुरस्कार प्राप्त करेगा, पर प्रकाशक को उससे क्या लाभ होगा? यूरोप की तरह यहाँ तो पुरस्कार की बात सुनकर उस लेखक की पुस्तक लेने को तो दौड़ेंगे नहीं। ऐसी परिस्थिति में या तो लेखक को स्वयं ही प्रकाशक बनकर पुस्तक छपानी पड़ती है और यह वह तभी करता है जब कि उसे पुरस्कार प्राप्त करने का निश्चय होता है और या किसी प्रकाशक को किसी तरह राज़ी कर पाता है। पर प्रकाशक इस तरह राज़ी नहीं होते। वे हमेशा कुछ टेढ़े तरीके से लाभ उठाने की बात सोचते हैं और प्राय इस तरह कालेजों के प्रोफेसरों की और टेक्स्ट-बुक-कमेटी के मेम्बरों की ही किताबें छप पाती हैं। अन्य योग्य लेखक यों ही रह जाते हैं। नई सार्वजनिक प्रकाशन-संस्थाएँ खोलने पर प्रकाशन तो पीछे शुरू होता है, पर आफिस आदि का खर्च पहले ही होने लगता है और जितना खर्च वास्तविक कार्य के पीछे होना चाहिए, उससे ज्यादा खर्च ऊपर के आफिस आदि के ऊपर होता है और कहीं उसने पत्र निकाला और प्रेस किया तो समझिये कि वह बिना मौत ही मर गई। पुरानी प्रकाशन-संस्थाओं के होते हुए नई प्रकाशन संस्थाएँ पैदा करना दोनों को भूखा मारने के बराबर होता है और असंगठित रूप से नये-नये प्रकाशक रोज़ होने से न उनकी पुस्तकों की बिक्री का ठीक संगठन ही होता है और न पढ़ने वालों को पुस्तकें मिल पाती हैं।

स्वर्गीय सेठ माणिकचन्द्र जी के प्रति दादा का जो कृतज्ञता का भाव था, उससे प्रेरित होकर उनके स्वर्गवास के बाद उन्होंने '**माणिकचन्द्र-दिगम्बर-जैन-ग्रन्थ-माला**' नाम की संस्था खड़ी की, जिसका कार्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के लुप्तप्राय प्राचीन जैन-ग्रन्थ सुसम्पादित रूप में प्रकाशित करना है। इस समय तक इसमें सिर्फ बीस हज़ार का चन्दा हुआ है और चालीस ग्रन्थ निकल चुके हैं। दादा इस माला के प्रारम्भ से ही अवैतनिक मन्त्री रहे हैं और उसका कार्य इस बात का उदाहरण रूप रहा है कि किस प्रकार कम-से-कम रुपये में अधिक-से-अधिक और अच्छे-से-अच्छा काम किया जा सकता है, क्योंकि ग्रन्थों की कीमत लागत-मात्र रक्खी जाने के कारण और एक-मुश्त सौ रुपया देने वालों को सारे ग्रन्थ मुफ्त दिये जाने के कारण बिक्री के रूप में मूल रकम वसूल करने की आशा ही नहीं की जा सकती। बहुत से ग्रन्थों का सम्पादन दादा ने खुद ही किया है और बहुतों का दूसरों के साथ और शेष का अच्छे आदमियों को चुनकर करवाया है। पहले तो इस कार्य के योग्य विद्वानों का ही अभाव था। बाद में जब विद्वान् मिलने लगे तब रुपयों का अभाव हो गया। यहाँ इतना कहना ज़रूरी है कि अपने प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित करने की ओर

दिगम्बर-जैन-समाज का बहुत ही दुर्लक्ष्य है। बडी मुश्किल से उसके लिए रुपया मिलता है। प्राचीन जैन-इतिहास का अध्ययन और इन ग्रन्थो के सम्पादन मे दिलचस्पी के कारण दादा को सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भाषाओ का इतना काफी ज्ञान हो गया है कि इन भाषाओ के बडे-बडे विद्वान् उनकी धाक मानते है। ब्रज-भाषा का सुन्दर ज्ञान तो दादा को अपने कवि-जीवन मे ही है।

'जैन-हितैषी' का सम्पादन करते हुए और जैन-पुस्तको का प्रकाशन करते हुए दादा हमेशा बँगला, मराठी, गुजराती और हिन्दी की बाहरी पुस्तके बहुत-कुछ पढा करते थे। इन सब के साहित्य को पढकर उन्हे यह बात बहुत खटकती थी कि हिन्दी में अच्छे ग्रन्थो का अभाव है और ये भाषाएँ बराबर आगे बढ रही है। उस समय उनके पढने मे प० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी द्वारा अनुवादित जॉन स्टुअर्ट मिल का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'लिबर्टी' आया, जो 'स्वाधीनता' के नाम से स्वर्गीय प० माधव राव सप्रे की 'हिन्दी-ग्रन्थ-प्रकाशन-मडली' से प्रकाशित हुआ था। उसे पढकर दादा की इच्छा हुई कि इसकी सौ-दोसौ प्रतियाँ लेकर जैनियो मे प्रचार करे, ताकि उनकी कट्टरता कम हो और वे विचार-स्वातन्त्र्य का महत्त्व समझे। पर तलाश करने पर मालूम हुआ कि वह ग्रन्थ अप्राप्य है। तब इसके लिए उन्होने द्विवेदी जी को लिखा। उस समय तक दादा को गुमान भी नही था कि वे किसी दिन हिन्दी के भी प्रकाशक बनेगे। उन्होने तो अपने कार्यक्षेत्र को जैन-ग्रन्थो के प्रकाशन और जैन-समाज की सेवा तक ही सीमित रख छोडा था। द्विवेदीजी ने बताया कि गवर्नमेंट देशी भाषाओ मे इस तरह का साहित्य छापना इष्टकर नही समझती। इसलिए इसके प्रकाशन मे जोखम है। पर दादा राजनैतिक साहित्य खूब पढते थे और उन्हे बडा जोश था। उन्होने उसे छापने का बीडा उठा लिया। प्रेस-सम्बन्धी कठिनाइयाँ आई, पर वे हल हो गई और द्विवेदीजी के आशीर्वाद और उनकी 'स्वाधीनता' के प्रकाशन से ता० २४ सितम्बर १९१२ को 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-ग्रन्थमाला' का जन्म हुआ।

'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' सबसे पहली ग्रन्थमाला थी, जो हिन्दी मे प्रकाशित हुई। मराठी वगैरह भाषाओ मे उस समय कई ग्रन्थमालाएँ निकल रही थी। उन्ही के अनुकरण में इन्होने भी स्थायी ग्राहक की फीस आठ आना रक्खी, जो पोस्टेज बढ जाने के कारण बाद मे एक रुपया कर दी गई। यह ग्रन्थ-माला हिन्दी में सब तरह का साहित्य देने के उद्देश्य से निकाली गई थी। उस समय लोगो मे यह भावना थी कि हिन्दी मे जो भी नवीन साहित्य छपे, सब खरीदा जाय, क्योकि उस समय हिन्दी में नवीन साहित्य था ही कितना! उस समय लोगों में साहित्य को अवलम्बन देने का भाव भी था। इसलिए धीरे-धीरे माला के डेढ दो हजार ग्राहक आसानी से हो गये और हरेक पुस्तक का पहला सस्करण दो हजार का निकलने लगा। लगभग डेढ हजार तो पुस्तक निकलते ही चली जाती थी, बाकी धीरे-धीरे बिकती रहती थी। समालोचना का उन दिनो यह असर था कि 'सरस्वती' मे एक अच्छी समालोचना निकलते ही पुस्तक की सौ-डेढ-सौ प्रतियाँ तुरन्त ही बिक जाती थी और विज्ञापन का भी तत्काल असर होता था। महायुद्ध के जमाने में बारह आने पौण्ड का कागज खरीद कर भी ग्रन्थमाला बराबर चालू रक्खी गई। पर इस जमाने का लाभ दादा बहुत समय तक और पूरा न ले सके। कई सख्त और लम्बी बीमारियाँ उन्हे झेलनी पडी। साथ ही उन्हे जैन-समाज की और साहित्य की सेवा करने की धुन ज्यादा थी। ज्यादा वक्त ऐतिहासिक लेख लिखने और 'जैन-हितैषी' के सम्पादन में खर्च होता था। जितना परिश्रम और खर्च उन्होने 'जैन-हितैषी' के सम्पादन मे किया, उसमे आधे परिश्रम में हिन्दी का अच्छे-से-अच्छा मासिक पत्र चलाया जा सकता था और सम्पादक और लेखक के तौर पर बडा यश कमाया जा सकता था। सिवाय इसके विज्ञापन का एक बहुत सुन्दर साधन भी बन सकता था।

पर इस सब समाज के लिए की गई मेहनत का परिणाम क्या हुआ है? दादा तब उग्र और स्वतन्त्र मिजाज के व्यक्ति थे। किसी से भी दबना उनके स्वभाव के खिलाफ था और ऐसी व्यग और कटाक्ष भरी लेखनी थी कि जिसके खिलाफ लिखते थे उसकी शामत आ जाती थी। इसके सिवाय सेठ लोगो के वे हमेशा खिलाफ लिखते थे। पहले 'जैन-हितैषी' की ग्राहक-सख्या खूब बढी। इतनी बढी कि जैन-समाज मे किसी भी सामाजिक पत्र की कभी उतनी नही हुई। दादा के विचार अत्यन्त सुधारक थे और छापे का प्रचार, विजातीय विवाह वगैरह के कई आन्दोलन उसमे शुरू

किये, पर जब उन्होने विधवा-विवाह के प्रचार का आन्दोलन उसमें शुरू किया तो उसका चारो ओर से बहिष्कार प्रारम्भ हुआ। उसके विरुद्ध प्रचार करने के लिए कई उपदेशक रक्खे गये। इन सामाजिक लेखो के अलावा उसमे ऐतिहासिक लेख बहुत होते थे, जिनकी कीमत उस समय नही आँकी गई, पर उनके लिए आज उसके पुराने अको के लिए सैकडो देशी और विलायती सस्थाएँ दस गुनी कीमत देने को राजी है, लेकिन आज वे बिलकुल ही अप्राप्य है। विधवा-विवाह के प्रचार के लेख ही दादा ने नही लिखे, बल्कि अनेक विधवा-विवाहो में वे शामिल हुए और अपने भाई का भी विधवा-विवाह उन्होने कराया। परिणाम यह हुआ कि उन्हें कई जगह जाति से बहिष्कृत होना पडा तथा समाज में उनका सम्मान बिलकुल ही कम हो गया, पर इससे वे ज़रा भी विचलित नही हुए। आखिर समाज को ही उनसे हार माननी पडी। पर हाँ, बीमारी और घाटे के सबब उस समय पत्र बन्द कर देना पडा। सब मिलाकर वह पत्र ग्यारह वर्ष चला। उसका सारा खर्च और घाटा 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' खुद ही बर्दाश्त करता रहा। किसी से एक पैसे की सहायता नही ली।

स्थायी ग्राहक बनने का सिलसिला तभी तक रहा, जबतक कि डाक-व्यय की दर कम रही। पहले एक-दो रुपये तक की वीपियो को रजिस्टर कराने की ज़रूरत नही होती थी और इसलिए जहाँ भी किसी एकाध रुपये की पुस्तक का भी विज्ञापन ग्राहक देखता था या समालोचना पढता था कि तुरन्त कार्ड लिखकर आर्डर दे देता था और बहुत कम खर्च में उसे घर बैठे पुस्तक मिल जाती थी। उस ज़माने में इतने आर्डर आते थे कि उनकी पूर्ति करना मुश्किल था और छगनमल जी अन्य प्रकाशको की पुस्तके बेचने के लिए रखते नही थे। फिर भी साल मे करीब पाँच-छ हज़ार वीपियाँ जाती थी। यह बात 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के पुराने रजिस्टरो से बखूबी सिद्ध की जा सकती है कि जिस अनुपात में डाक-व्यय की दर बढती गई, ठीक उसी अनुपात में जाने वाली वीपियो की सख्या घटती गई। दादा का ख्याल है कि अगर हमे देश मे स्थायी साक्षरता और सस्कृति का विस्तार करना है तो सबसे पहले पुस्तको के लिए पोस्टेज की दर कम कराने का आन्दोलन करना चाहिए। कांग्रेस का ध्यान भी इस तरफ पूरी तरह से नही खीचा गया है। चिट्ठियो और कार्डों पर डाक-महसूल की दर भले ही कम न हो, पर किताबो पर ज़रूर ही कम हो जानी चाहिए। अगर यह नही होगा तो कोई भी आन्दोलन सफल नही हो सकता। चाहे समाजवाद हो, चाहे राष्ट्रवाद हो और चाहे गाधीवाद, जबतक उसका साहित्य सस्ते पोस्टेज के द्वारा घर-घर न पहुँच सकेगा तबतक किसी मे सफलता न होगी। किताबो की कीमत सस्ती रखकर कुछ दूरी तक साहित्य के प्रचार मे सहायता पहुँचाई जा सकती है, पर वह अधिक नही। एक रुपये की पुस्तक मँगाने पर अगर आठ-दस आने पोस्टेज में ही लग जावें तो पुस्तक के सस्तेपन से उसकी पूर्ति कैसे की जा सकती है ? ऐसी परिस्थिति मे तो सभी यह सोचेंगे कि पुस्तक फिर कभी मँगा ली जायगी और फिर कभी का समय नही आता। हाल मे ही 'मॉडर्न-रिव्यू' मे जब रामानन्द बाबू का पोस्टेज के बारे मे अमेरिका के प्रेसीडेंट रुज़वेल्ट की डिक्री पर नोट पढा तब मुझे इसका ख्याल हुआ कि अमेरिका जैसे धनवान देश में किताबो के लिए डाकखाने ने पोस्टेज का रेट फी पौण्ड तीन पैसा (२ सेंट) रख छोडा है तब हिन्दुस्तान का चार आने फी पौण्ड से ऊपर का रेट कितना ज़्यादा है। मेरे ख्याल से इसके लिए अगर एक बार सत्याग्रह-आन्दोलन भी छेडा जाय तो भी उचित ही है।

पोस्टेज के रेट बढने पर धीरे-धीरे हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीज़ के और उसके अनुकरण मे निकलने वाली अन्य मालाओ के ग्राहक टूट गये। बाद को सब ने बहुत कोशिश की, नियमो मे बहुत-सी ढील डाली गई, पर कोई स्थायी लाभ नही हुआ। इस तरह पुस्तक-बिक्री का पुराना सगठन नष्ट हो गया और नया पैदा भी नही होने पाया। साहित्यिक पुस्तको की बिक्री के लिए बडे-बडे शहरो में भी अबतक कोई उचित प्रबन्ध नही हो सका है और होना बडा मुश्किल है, क्योकि साहित्यिक पुस्तको की इतनी बिक्री अभी बहुत कम जगह है कि उससे किसी स्थानीय पुस्तक-विक्रेता का पेट भर सके। फिर कमीशन की नियमितता ने इसकी जो कुछ सम्भावना थी उसे भी नष्ट कर दिया है। स्कूली पुस्तकें बेचने वाले विक्रेता सब जगह है, धार्मिक और बाज़ारू पुस्तके बेचने वाले भी है, पर वे साहित्यिक पुस्तकें रखना पसन्द नही करते।

खैर, पोस्टेज की कमी के सवव से 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' को अपनी उन्नति मे जो सहारा मिला, उसे तो हम निमित्त कारण कह सकते हैं, भले ही वह निमित्त-कारण कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यो न हो। उसकी उन्नति के प्रमुख कारण दूसरे ही हैं। मेरी समझ मे नीचे लिखे कारण उसमे मुख्य हैं—

(१) ग्रन्थो का चुनाव—दादा अपने यहाँ से प्रकाशित होने वाले ग्रन्थो का चुनाव बडी मेहनत से करते हैं। प्रकाशनार्थ जितने ग्रन्थ हमारे यहाँ आते हैं, उनमे से सौ मे से पिचानवे तो वापिस लौटा दिये जाते हैं। फिर भी लोग बहुत ज्यादा अपनी पुस्तके दादा के पास भेजते हैं। हिन्दी मे अन्य प्रकाशको के यहाँ से प्रकाशित हो जाने वाली अनेक पुस्तके ऐसी होती है जो हमारे यहाँ से वापिस कर दी गई होती है। चुनाव के वक्त दादा तीन बातो पर ध्यान देते हैं—

(अ) प्रथम श्रेणी की पुस्तक हो, चाहे उसके विकने की आशा हो, चाहे न हो।

(आ) पुस्तक मध्यम श्रेणी की हो, मगर ज्यादा विकने की आशा हो।

(इ) लेखक प्रतिभाशाली हो तो उसे उत्साह देने के लिए।

अधम श्रेणी की किताब को, चाहे उसके कितने ही विकने की आशा हो, वे कभी नही प्रकाशित करते। अनुचित प्रलोभन देकर जो लोग अपनी पुस्तक प्रकाशित करवाना चाहते हैं, उनकी पुस्तक वे कभी नही छापते। एक दफे की बात मुझे याद है कि एक महाशय ने, जिनका हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के परीक्षा-विभाग से सम्बन्ध था, दादा को पत्र लिखा कि मैं अपना अमुक उपन्यास और कहानी-सग्रह आपको भेज रहा हूँ। इसे आप अपने यहाँ से प्रकाशित कर दीजिए। मैं भी आपके लिए काफी कोशिश कर रहा हूँ। आपकी तीन पुस्तके मैं मध्यमा के पाठ्यक्रम मे लगा रहा हूँ। कहना न होगा कि दादा ने उनका उपन्यास और कहानी-सग्रह वैरग ही वापिस भेज दिया। सम्मेलन का पाठ्यक्रम छपते-छपते उसमे से भी पाठ्यक्रम में लगी पुस्तको के नाम गायब हो गये। बाद मे कभी भी दादा की कोई पुस्तक नहीं ली।

(२) उत्तम सशोधन और सम्पादन—हिन्दी के बहुत से प्रसिद्ध लेखक अबतक भी शुद्ध भाषा नही लिखते। कुछ दिन हुए एक पुराने लेखक ने हमारे यहाँ एक पोथी छपने भेजी थी, जिसमे हिन्दी की प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओ और पुस्तको में की व्याकरण और रचना-सम्बन्धी हजारो गलतियाँ सगृहीत की गई थी, पर उस पोथी को दादा ने छापा नही। जो भी पुस्तके 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से प्रकाशित होती हैं, उनका सशोधन बडे परिश्रमपूर्वक किया जाता है और अन्तिम प्रूफ लेखक की सम्मति के लिए उसके पास भेज दिया जाता है। सशोधन मे इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि उससे लेखक की लेखन-शैली में फर्क न होने पावे। सशोधन में दादा ने स्वर्गीय प० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी के ढग को बुरी तरह अपना लिया है। जान स्टुअर्ट मिल को द्विवेदी जी ने जिस तरह सशोधित किया था उसे दादा ने अपने मानस-पटल पर रख छोडा है। अनुवाद-ग्रन्थो के प्रकाशित करने के पहले मूल से अक्षर-अक्षर दादा अपने हाथ से मिलाते हैं या मुझसे मिलवाते हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध अनुवादक भी ऐसी भद्दी गलतियाँ करते हैं कि क्या कहा जाय। एक ही अनुवादक की 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से निकली पुस्तक मे और अन्यत्र से निकली पुस्तक मे बहुत बार बडा अन्तर दीख पडेगा। यह सब मेहनत करके भी सम्पादक या सशोधक के रूप मे अपना नाम देने का दादा को शौक नही है।

(३) छपाई-सफाई—किताबो की छपाई-सफाई अच्छी हो, इस पर दादा का बडा ध्यान रहता है। उनका कहना है कि बम्बई में वे इसीलिए पडे रहे हैं कि यहाँ वे अपने मन की छपाई-सफाई करवा सकते हैं। एक दफे उन्होने घर का प्रेस करने का विचार किया था और विलायत को मशीनरी का आर्डर भी दे दिया। पर उसी समय दो ऐसी घटनाएँ हो गई, जिन्होने उनके मन पर बडा असर किया और तुरन्त ही उन्होने घाटा देकर प्रेस की मशीनें बिकवा दी। उस समय मराठी मे स्वर्गीय श्री काशीनाथ रघुनाथ मित्र का मासिक पत्र 'मनोरजन' बडा लोकप्रिय था और करीब पाँच-छ हजार खपता था। उसे वे पहले 'निर्णय-सागर' प्रेस में और बाद मे 'कर्नाटक-प्रेस' मे छपवाते थे। प्रेस मे काम की अधिकता के कारण कभी-कभी उनका पत्र लेट हो जाता था। कर्नाटक प्रेस के मालिक स्वर्गीय श्री गणपति राव कुलकर्णी ने खास उनके काम के लिए कर्ज लेकर एक बहुत बडी क़ीमत की मशीन मँगाई। इसी बीच में मित्र महाशय को खुद ही अपना प्रेस करने की सूझी और उन्होने प्रेस कर लिया। प्रेस कर लेने के बाद बाहर के

काम के लोभ के कारण और प्रेस पर ध्यान बँट जाने के कारण 'मनोरंजन' जहाँ पहले एकाध महीना लेट निकलता था वहाँ अब दो-दो महीने लेट निकलने लगा और कार्याधिक्य और चिन्ता के कारण उनकी मृत्यु हो गई। यहाँ कर्नाटक प्रेस की वह मशीन बेकार पड़ी रही और कर्ज की चिन्ता के मारे गणपति राव की मृत्यु हो गई। इन घटनाओं ने दादा पर बड़ा प्रभाव डाला। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अपनी जिन्दगी में मैं कभी प्रेस नहीं करूँगा। घर का प्रेस होने पर उसमें चाहे छपाई अच्छी हो या बुरी अपनी पुस्तकें छापनी ही पड़ती हैं। दूसरे उस पर ध्यान बँट जाने पर अपना संशोधन वगैरह का कार्य ढीला पड़ जाता है। तीसरे प्रेस को हमेशा काम देते रहने की चिन्ता के कारण अच्छी-बुरी सभी तरह की पुस्तकें प्रकाशित करनी पड़ती हैं और इस तरह यश में धब्बा लगता है। नियमित काम देने पर जो रेट किसी भी प्रेस से पाये जा सकते हैं वे हमेशा उससे कम होते हैं, जो रकम का व्याज बाद देने पर घरू प्रेस करने पर घर में पड़ सकते हैं।

(४) सद्व्यवहार—दादा का व्यवहार अपने लेखकों, अपने सहयोगी प्रकाशकों और मित्रों से अच्छा रहा है। इस व्यवहार की कुंजी रही है गम खाना। पर वे कभी किसी से दबे नहीं है, न कभी किसी की चापलूसी ही उन्होंने की है। प्रकाशकों को उन्होंने अपना प्रतिस्पर्धी नहीं समझा। अनेक बार ऐसा हुआ है कि कोई नई पुस्तक प्रकाशन के लिए आई है और उसी वक्त कोई प्रकाशक-मित्र उनके पास आये हैं। उन्होंने कहा है कि यह पुस्तक तो प्रकाशन के लिए मुझे दे दीजिए और उसी वक्त खुशी-खुशी दादा ने वह पुस्तक उन्हें दे दी। कभी कोई पुस्तक खुद न छपा सके तो दूसरे प्रकाशकों से प्रबन्ध कर दिया। इसी तरह सब शर्तें तै हो जाने पर लेखक का हक न रह जाने पर भी अगर कभी लेखक ने कोई उचित माँग की है तो उन्होंने उसे तुरन्त पूरा किया है। किसी भी लेखक की कोई पुस्तक उन्होंने दबाकर नहीं रक्खी। पढ़कर उसे तुरन्त वापिस कर दिया है। हमेशा उन्होंने सब से निर्लोभिता और उदारता का व्यवहार रक्खा है।

अन्त में अब मैं 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' की कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन कराना उचित समझता हूँ।

'हिंदी-ग्रन्थ-रत्नाकर' में हिन्दी के अधिकांश लेखकों की पहली चीजें निकली हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्द्र जी की सबसे पहली रचनाएँ 'नव निधि' और 'सप्तसरोज' करीब-करीब एक साथ या कुछ आगे-पीछे निकली थीं। जैनेन्द्र जी, चतुरसेन जी शास्त्री, सुदर्शन जी वगैरह की पहली रचनाएँ 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से ही निकलीं। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के नाम की इतनी प्रतिष्ठा है कि हमें अपनी पुस्तकें बेचने के लिए न आलोचकों की खुशामद करनी पड़ती है और न विशेष विज्ञापन ही करना पड़ता है। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का नाम ही उसके लिए उत्तम चीज़ का प्रत्यय होता है। लेखक की पहले से विशेष प्रसिद्धि हो, इसकी भी जरूरत नहीं होती। हमारे यहाँ आकर लेखक अपने आप प्रसिद्ध हो जाता है। आलोचनार्थ पुस्तकें भी हमारे यहाँ से बहुत कम भेजी जाती हैं। हिन्दी के बहुत से बड़े आदमी अपना हक समझते हैं कि आलोचना के बहाने उन्हें मुफ्त में किताबें मिला करें। ऐसे लोगों से दादा को बड़ी चिढ़ है। उन्हें वे शायद ही कभी किताब भेजते हैं। पत्रों के पास भी आलोचना के लिए किताबें कम ही भेजी जाती हैं। पहले जब आलोचनाओं का प्रभाव था और ईमानदार समालोचक थे तब जरूर दादा उनकी बड़ी फिक्र करते थे और आलोचनाओं की कतरनें रखते थे और सूचीपत्र में उनका उपयोग भी करते थे। अब केवल खास-खास व्यक्तियों को, जिन पर दादा की श्रद्धा है, आलोचना के लिए किताबें भेजी जाती हैं। इसकी जरूरत नहीं समझी जाती कि वह आलोचना किसी पत्र में छपे। उनका हस्तलिखित पत्र ही इसके लिए काफी होता है और जरूरत पड़ने पर उसका विज्ञापन में उपयोग कर लिया जाता है।

बम्बई]

मेरा सद्भाग्य

श्री जैनेन्द्रकुमार

प्रेमीजी का नाम बहुत छुटपन मे पुस्तको पर देखा था। उसी आधार पर सन् '२९ मे अपनी 'परख' उनके पास भेजने का साहस कर बैठा। साहस को समझाना मुश्किल है। मैं लेखक न था और इस कल्पना से ही जी सहम जाता था कि किताब छप सकती है। किताबो पर छपे लेखको के नाम अलौकिक लगते थे और प्रकाशको के बारेमे तरह-तरह की कथाएँ सुनी थी। तो भी प्रेमीजी के नाम पर मन में साहस बाँधकर मैंने लिखे कागजो का पुलिन्दा बम्बई भेज दिया।

जानता था कि कुछ न होगा। किताब तो छपेगी ही नही, उत्तर भी न आयेगा। एक नये प्रकाशक के पास यही कागज छ महीने पडे रहे थे। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' तो उन्हें पूछेगा ही क्यो? पर चौथे रोज़ पाण्डुलिपि की पहुँच आ गई। पत्र खुद प्रेमीजी के हाथ का था। लिखा था कि जल्दी पुस्तक देखकर लिखूंगा। चार-पाँच रोज बीतते-न-बीतते दूसरा पत्र आ गया कि पुस्तक को छापने को तैयार है और अमुक महीने मे प्रेस मे दे सकेंगे। बात उतनी ही लिखी गई, जितनी की गई और समय का अक्षरश पालन हुआ।

इस अनुभव ने मुझे बडा सहारा दिया। मैं जगत् को अविश्वास से देख रहा था। धारणा थी कि अपरिचित के लिए दुनिया एक बाजार है, जहाँ छल और सौदा है। अपने-अपने लाभ की सबको पडी है और एक का ख्याल दूसरे को नही है। लेखक और प्रकाशक के बीच में तो उस बाजार के सिवा कुछ है ही नही। लेकिन प्रेमीजी के प्रथम सम्पर्क ने मुझे इस नास्तिकता से उबार लिया। उनकी प्रामाणिकता से मैंने अपने जीवन मे यह गम्भीर लाभ प्राप्त किया।

इसके बाद से तो मैं उनका हो रहा। यह कभी नही सोचा कि अपनी किताब किसी और को भी जा सकती है। अपना लिखा उन्हें सौप कर खुद मैं निश्चिन्त रहा। लिखी सामग्री कब छपती है, कैसे छपती है, कैसी बिकती है और क्या लाभ लाती है, इधर मैंने ध्यान ही नही दिया। कभी इसमें शका नही हुई कि उनके हाथो मेरा हित उससे अधिक सुरक्षित है कि जितना मैं खुद रख सकता हूँ।

लोग है जो बाजार में नही है और नीतिनिष्ठ है। लेकिन दुकान लेकर यह अत्यन्त दुर्लभ है कि सामने की अज्ञानता का लाभ लेने से चूका जाय। व्यवसाय मे यह अन्याय नही है और कुशलता है। व्यवसाय किया ही द्रव्यो-पार्जन के लिए जाता है। कर्म-कौशल के तारतम्य से ही उसमें लाभ-हानि होती है। हानि वाला अपने को ही दोष दे सकता है और लाभ जो जितना कर लेता है, वह उसकी चतुराई है। व्यवसाय मे इस तरह मानो एक अटूट 'कर्म-सिद्धान्त' व्याप्त है। जो जितनी ऊँची कमाई करता है, कर्म की दृष्टि से वह उतना ही पात्र है। उसे अपने शुभ कर्मो का ही इस रूप मे फल-भोग मिलता है।

उसी बाजार मे दूसरे के हित का यथोचित मान करने वाली प्रामाणिकता एक तरह अकुशलता भी है। पर देखते है कि प्रेमीजी ने मानो उस अकुशलता को स्वेच्छा से स्वीकार किया है।

पहली पुस्तक 'परख' सन् '३० मे छप आई। मैं तब जेल में था। वहाँ प्रेमीजी की ओर से तरह-तरह की पुस्तकें मुझे भेजी जाती रही। परोक्ष के परिचय मे से ही इस भाँति उनका वात्सल्य और स्नेह प्रत्यक्ष होकर मुझे मिलने लगा। जेल के बाद कराची-काग्रेस से उसी स्नेह में खिचा मैं बम्बई जा पहुँचा। मेरे जेल रहते प्रेमीजी खुद मेरे घर हो आये थे। लेकिन मेरे लिए बम्बई में उनका यह प्रथम दर्शन था। पर साक्षात् के पहले ही रोज़ से उनके यहाँ तो मैंने अपने को घर में पाया। क्षण को भी न अनुभव किया कि महमान हूँ या पराया हूँ।

वहाँ उनके काम करने का ढग देखा। एक शब्द मे, अथ से इति तक, वह प्रामाणिक है। मालिक से अधिक वह श्रमिक है। पूरा-पूरा लाभ मालिक को आता है। इसलिए अचरज नही कि मालिक भी श्रम पूरा-पूरा करे। लेकिन नही, प्रेमीजी की बात और है। श्रम उनके स्वभाव मे है। मालिकी की अक्सर नीति होती है काम लेना। वडे व्यवसायी और उद्योगपति इस करने की जगह काम लेने की नीति से वडे वनते है। वे श्रम करते नही, कराते है और सवके श्रम के फायदे का अधिक भाग अपने लिए रखते है। व्यवस्थापक इस तरह अधिकाश श्रमिक नही होते, चतुर होते है। प्रेमीजी की-त्रुटि कहिए कि विशेपता कहिए, वे वडे व्यवसायी नही है और नही हो पाये। कारण, वे स्वय औरो से अधिक श्रम करने के आदी और अभ्यासी है।

पुस्तक उनके हाथो आकर सदोष नही रह सकती। भाषा देखेंगे, भाव देखेंगे, पक्चुएशन देखेगे और छपते समय भी छपाई और गैटप आदि का पूरा ध्यान रक्खेंगे। कही किसी ओर प्रमाद नही रह पायगा। अपनी पुस्तक के सम्वन्ध में इतनी सावधानी और सयत्नता रखने वाला प्रकाशक दूसरा मेरे देखने में नही आया।

वस, उनके लिए घर और दुकान। दुकान से शाम को घर और घर से सवेरे दुकान। इस स्वधर्म की मर्यादा से कोई तृष्णा उन्हें वाहर नही ला सकी। यही सद्गृहस्थ का आदर्श है। वेशक वह आदर्श आज की परिस्थिति की माँग में कुछ ओछा पडता जा रहा है, लेकिन अपनी जगह उसमें स्थिर मूल्य है और प्रेमीजी उस पर अत्यन्त सयत और अडिग भाव से कायम रहे है। घर-गिरिस्ती में अपने को वाँटकर रहना, शेष के प्रति सद्भाव रखना और न्यायोपार्जित द्रव्य के उपभोग का ही अपने को अधिकारी मानना, सद्गृहस्थ की यह मर्यादा है। प्रेमीजी का गुण-स्थान वही है और भावना से यद्यपि वे ऊँचे पहुँचते रहे, व्यवहार मे ठीक वही रहे। उससे नीचे मेरे अनुमान में कभी नही उतरे।

उनका आरम्भ जैन जिज्ञासु के रूप से हुआ, लेकिन साम्प्रदायिकता ने उन्हें नही छुआ। जैनत्व मे आत्मिक और मानसिक के अलावा ऐहिक लाभ लेने की उन्होने नही सोची। धर्म से ऐहिक लाभ उठाने की भावना से व्यक्ति साम्प्रदायिक वनता है। वह वृत्ति उनमें नही हुई, फलत हर प्रकार का प्रकाश वह स्वीकार करते गये। उनकी जिज्ञासा वन्द नही हुई, इससे विकास मन्द नही हुआ। सहानुभूति फैलती गइ और सत्साहित्य की पहचान उनकी सहज और सूक्ष्म होती चली गई।

उनकी यही आन्तरिक वृत्ति कारण थी कि विना कही पढे अपने व्यवसाय में रहते-सहते विविध विषयो का गम्भीर ज्ञान वह प्राप्त कर सके और निस्सन्देह एक से अधिक विषयो के ऊँची-से-ऊँची कोटि के विद्वानो के समकक्ष गिने जाने लगे। वह ज्ञान उनमें सचित न रहा, उन्हें सिद्ध हो गया। उसे उन्हें स्मरण न रखना पडा, वह आप ही समुपस्थित रहा। इसी में उनके स्वभाव की प्रामाणिकता आ मिली तो उनकी सम्मति विद्वानो के लिए लगभग निर्णीत तथ्य का मूल्य रखने लगी। कारण, इनके कथन में पक्ष न होता, न आवेश, न अतिरजन, न अत्युक्ति।

एक वात का मुझ पर गहरा प्रभाव पडा है। अपने को साधारण से भिन्न समझते मैंने उन्हें कभी नही देखा। कभी उन्होने अपने मे कोई विशिष्टता अनुभव नही की। इस सहज निरभिमानता को मैं अत्यन्त दुर्लभ और महान गुण मानता हूँ। मेरे मन तो यही ज्ञानी का-लक्षण है। जो अपने को महत्त्व नही देता, वही इस अवस्था में होता है कि शेप सवको महत्त्व दे सके। इस दृष्टि से प्रेमीजी को जव मैंने देखा है, विस्मित रह गया हूँ। उनकी इस खुली निरीह साधारणता के समक्ष मैंने सदा ही भीतर से अपने को नत मस्तक माना है और ऐसा मानकर एक कृतार्थता भी अनुभव की है। ऐसा अनुभव इस दुनिया में अधिक नही मिलता कि जहाँ सव अपने-अपने को गिनने के आदी और वाकी दूसरो को पार कर जाने के आकाक्षी है।

उनकी सहज धर्म-भीरुता के उदाहरण यत्रतत्र अनेक मिलेगे। एक सज्जन ने हिसाव में भूल से एक हज़ार की रकम ज्यादा भेज दी। वह जमा हो गई और हिसाव साल-पर-साल आगे आता गया। तीन-चार साल हो गये। दोनो तरफ खाता वेवाक समझा जाता था। एक अर्से वाद पाया गया कि कही से एक हज़ार की रकम वढती है। खोज-पडताल की गई। वहुत देखने पर पता चला कि अमुक के हिसाव मे वह रकम ज्यादा आ गई है। तुरन्त उन

सज्जन को लिखा गया कि वह कृपया अपना हिसाब देखे। साधारणत उन सज्जन ने लिख दिया कि हिसाब तो साफ है और बेबाक है, लेकिन प्रेमीजी की ओर से उन्हे सुझाया गया कि तीन-चार वर्ष पहले की हिसाब-बही देखे, हमारे पास एक हजार की रकम ज्यादा आ गई है। इस तरह अपनी ओर से बढी रकम को पूरे प्रयत्न मे जानने के बाद कि वह यथार्थ में किसकी है और मालूम होने पर तत्काल उसे उन्ही को लौटाये बिना प्रेमीजी ने चैन नही लिया। यह अप्रमत्त ईमानदारी साधना से हाथ आती है। पर प्रेमीजी का वह स्वभाव हो गई है।

उनका जीवन अन्दर से धार्मिक है। इसी से ऊपर से उतना धार्मिक नही भी दीखे। यह धर्म उनका श्वास है, स्वत्व नही। प्राप्त कर्त्तव्य मे दत्तचित्त होकर बाहरी तृष्णाओ और विपदाओ से अकुण्ठित रहे है। पत्नी गई, भर-उमर म पुत्र गया। प्रेमीजी जैसे सवेदनशील व्यक्ति के लिए यह वियोग किसी से कम दुस्सह नही था। इस विछोह की वेदना के नीचे उन्हे बीमारी भी भुगतनी हुई, लेकिन सदा ही अपने काम मे से वह धैर्य प्राप्त करते रहे। प्राप्त मे से जी को हटा कर अप्राप्त अथवा विगत पर उन्होने अपने को विशेष नही भरमाया। अन्त तक काम में जुटे रहे और भागने की चेष्टा नही की। मैंने उन्हें अभी इन्ही दिनो काम मे व्यस्त देखा है कि मानो श्रम उनका धर्म हो और धर्म उनका श्रम।

ऐसे श्रमशील और सत्परिणामी पुरुष के सम्पर्क को अपने जीवन मे मै अनुपम सद्भाग्य गिनता हूँ।

दिल्ली]

मेरी भाषा के निर्देशक

श्री किशोरीदास बाजपेयी

सन् १९२० या '२१ में जलियाँवाले बाग के सम्बन्ध में मैंने एक आख्यायिका लिखी थी। एक प्रकार का उपन्यास कहिए। उसे प्रकाशनार्थ "हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय" (बम्बई) को भेजा। उत्तर मे श्री नाथूराम जी प्रेमी ने लिखा—

"आपकी चीज़ अच्छी है, पर हम प्रकाशित न कर सकेंगे। हमारे यहाँ से स्थायी साहित्य ही प्रकाशित होता है। परन्तु आपकी भाषा मुझे बहुत अच्छी लगी। एक शास्त्री की ऐसी टकसाली सरल भाषा प्रशसनीय है। यदि आप कुछ जैन-ग्रन्थो के हिन्दी-अनुवाद कर दें तो मैं भेज दूँ। उन्हे 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' प्रकाशित करेगा। पहले 'प्रद्युम्न-चरित', 'अनिरुद्ध-चरित' तथा 'पार्श्वनाथ-चरित' का अनुवाद होगा। प्रति पृष्ठ एक रुपये के हिसाब से पारिश्रमिक दिया जायगा। इच्छा हो तो लिखें।

आपकी लिखी पुस्तक वापिस भेज रहा हूँ।"

इस पत्र से मैंने समझा कि लोग कैसी भाषा पसन्द करते है। इससे पहले मुझे इसका ज्ञान न था। जैसी प्रवृत्ति थी, लिखता था। इससे मैंने अपनी भाषा का स्वरूप सदा के लिए स्थिर कर लिया। इस प्रकार प्रेमीजी मेरी भाषा के दिशा-निर्देशक है।

प्रेमीजी ने तीन ग्रन्थ मेरे पास भेजे। पहले मैंने 'प्रद्युम्न-चरित' और 'अनिरुद्ध-चरित' देखे। वैष्णव-भावना थी और इनके कथानक की कल्पना मुझे पसन्द नही आई, विशेषत रुक्मिणी के पूर्वजन्म की कथा। अत अनुवाद करने की मेरी प्रवृत्ति न हुई। वह मेरी भावुकता ही थी, अन्यथा आर्थिक लाभ और साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में नामार्जन, कुछ कम प्रलोभन न था।

मैंने प्रेमीजी को लिख भेजा कि ग्रन्थो में कथानक-कल्पना मेरे लिए रुचिकर नही है। इसलिए अनुवाद मैं नहीं कर सकूँगा। इसके उत्तर में प्रेमीजी ने लिखा—

"आपने शायद ठीक नही समझा है। जैन-सिद्धान्त मे कर्म का महत्त्व बतलाने के लिए ही महापुरुषो के पूर्व-जन्मो का वैसा वर्णन और क्रम-विकास है। आप फिर सोचें। मेरी समझ मे तो आप अनुवाद कर डालें। अच्छा रहेगा।"

परन्तु फिर भी मेरी समझ मे न आया और मै अनुवाद करना स्वीकार न कर सका।

इस पत्र-व्यवहार से मेरे ऊपर प्रेमीजी की गहरी छाप पडी। मैंने उनके मानसिक महत्त्व को समझा। आगे चलकर मेरी दो पुस्तकें भी उन्होने प्रकाशित की, जिनमें से 'रस और अलकार' बम्बई सरकार ने सन् १९३१ मे ज़ब्त कर ली, क्योकि उसमें उदाहरण सब-के-सब राष्ट्रीय थे। पुस्तक तो ज़ब्त हो गई, लेकिन पारिश्रमिक मुझे पूरा मिल गया। इस विषय में प्रेमीजी आदर्श है। मुझे तो पेशगी पारिश्रमिक भी मिलता रहा है।

वास्तव में प्रेमीजी का जीवन ऐसी भावनाओ से परिपूर्ण है, जिनका चित्रण करना हर किसी के लिए सम्भव नही। मै प्रेमीजी को एक आदर्श साहित्य-सेवी और उच्च विचार का एक ऐसा व्यक्ति मानता हूँ, जिसके प्रति स्वत ही श्रद्धा का उद्रेक होता है।

कनखल]

पं० नाथूराम जी प्रेमी

श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

पडित प्रेमीजी एक सच्चे अन्वेषणकर्त्ता और साहित्य-सेवी है। जिन्हे उनके निकट सम्पर्क मे आने का अवसर मिला है, वे उनकी तृप्त न होने वाली ज्ञान-पिपासा तथा विद्या-वृद्धि के लिए हार्दिक सचाई मे तत्काल प्रभावित हुए होगे। अपने विचारो के प्रति उनमे हठधर्मी नही है और न नये ज्ञान का स्वागत करते हुए वे कही थमे है। उनका मस्तिष्क सदैव ताजा और चुस्त है। समस्त नवीन बातो का वे इच्छापूर्वक स्वागत करते है और एक खिलाडी की भाँति अपनी स्थिति की जाँच-पडताल करते रहते है। उनके वृद्ध शरीर मे युवा मस्तिष्क एव स्नेही हृदय निवास करता है और इन्हें क्रूर पारिवारिक दुर्घटनाओ तथा लम्बी-लम्बी बीमारियो के बाद भी उन्होने सुरक्षित रक्खा है। वे सच्चे कार्यकर्त्ताओ को और बढिया काम करने के लिए सदैव प्रोत्साहन देते है। उनका दृष्टिकोण व्यापक है और उनकी वृत्ति विश्व के प्रति मैत्री-भाव से परिपूर्ण है। उनका स्वभाव निश्चित रूप से मानवीय है। उनकी कृपा और आतिथ्य का द्वार उनके प्रेमियो तथा आलोचको के लिए भी हमेशा खुला रहता है। दोषो को वे घृणा की दृष्टि से देखते है, लेकिन दोषी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते है और उसके सुधार के निमित्त मन से प्रयत्न करते है। पुरातन और नवीन दोनो के प्रति वे सदैव विवेकपूर्ण सतुलन रखते है। नवीन अथवा पुरातन, दोनो में से किसी के प्रति भी उनमे कट्टरता नही है। वे नैतिकता एव उच्च मानवीय मूल्यो की कसौटी पर प्रत्येक चीज़ को कसकर देखते है। अपने शब्दो के प्रयोग मे वे बहुत नपे-तुले रहते है और जो कहते है, वही उनकी भावना भी होती है।

पडित जी दुर्लभ गुणो के मूर्तिमान स्वरूप है और यही कारण है कि वे अनेको अन्वेषको और साहित्य-सेवियो के सखा और मार्ग-दर्शक है।

कोल्हापुर]

जुग-जुग जियहु

[प्रेमीजी के बाल-बन्धु की शुभ कामना]

'प्रेमी' प्रभु-पद-पद्म के, नेमी तत्त्व-विचार।
जियहु-जियहु, जुग-जुग जियहु, सह 'श्रावक'-आचार ॥

देवरी]

—बुद्धिलाल 'श्रावक'

सैंतीस वर्ष

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

(१)

स्व० द्विवेदी जी से लेकर जैनेन्द्र तक हिन्दी-साहित्य की जो विकास-गाथा है, उसी में प्रेमीजी के भी साहित्य-जीवन की कथा है। गत सैंतीस वर्षों में देश में स्वाधीनता की जाग्रति के बाद लोगो ने अपनी यथार्थ स्थिति की समीक्षा की और उसी समीक्षा के बाद साम्यवाद को लेकर वर्त्तमान क्रान्ति-युग आया है। ये तीनो बाते स्वाधीनता, देश-दर्शन और साम्यवाद के क्रमश प्रकाशन से प्रकट हो जाती है। कल्पना के क्षेत्र मे 'प्रतिभा', 'नवनिधि', 'वातायन' और 'घृणामयी' में हिन्दी के कथा-साहित्य की पूर्ण कथा है। इनके आदर्श में भी समाज की वही भावनाएँ स्फुट हुई है। साहित्य के क्षेत्र में एक ओर सृजन का कार्य होता है और दूसरी ओर प्रचार का। सृजन-कार्य की महत्ता के विषय में किसी को भी सन्देह नही हो सकता, पर प्रचार का काम भी कम महत्त्व का नही है। जिन कलाकारो की सृष्टि देश और काल की सीमा को अतिक्रमण कर सदैव चिर नवीन बनी रहती है उनको भी प्रकाश मे लाने के लिए सुयोग्य प्रकाशको की आवश्यकता होती है। यदि लेखको के प्रयास स्तुत्य है तो प्रकाशको के भी कार्य अभिनन्दनीय है। इसमें सन्देह नही कि साहित्य के क्षेत्र मे एकमात्र लेखक या सम्पादक ही काम नही करते। साहित्य के निर्माण, प्रचार, उन्नति और वृद्धि में जो लोग सम्मिलित है उन सभी के कार्य प्रशसनीय है। हिन्दी की वर्तमान स्थिति में तो प्रकाशको के कार्य विशेष गौरवपूर्ण है। सच तो यह है कि यदि लेखक साहित्य का निर्माण करते है तो प्रकाशक ही लेखको का निर्माण करते है। साहित्य का सचालन-भार प्रकाशक पर ही रहता है और इसीलिए प्रकाशक का काम विशेष उत्तरदायित्वपूर्ण है।

यह तो स्पष्ट है कि पुस्तक-प्रकाशन भी अन्य व्यवसायो की तरह एक व्यवसाय है। व्यवसाय का पहला सिद्धान्त यही होता है कि कम-से-कम के द्वारा अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जाय। इसी में व्यवसाय की सफलता मानी जाती है। हिन्दी-साहित्य की अभी ऐसी स्थिति है कि उसमें साधारण योग्यता के लेखको को ही अधिक कार्य करना पडता है। जो उच्च कोटि के लेखक है, वे अपने पद-गौरव के कारण प्रकाशको से भले ही सम्मानित हो, पर उनकी साहित्य-सेवा अभी तक अगण्य ही है। इसी प्रकार एकमात्र अपनी कृति की लोक-प्रियता के ऊपर निर्भर रहने वाले साहित्य-सेवी दो ही चार है। हिन्दी के अधिकाश लेखको में यह क्षमता नही है कि वे स्वय कुछ कर सके। उन्हे प्रकाशको के आश्रय पर ही निर्भर होना पडता है। यही कारण है कि अधिकाश लेखक यह समझते है कि प्रकाशक उन्हें ठग रहे है, अधिक-से-अधिक काम करा कर कम-से-कम पारिश्रमिक दे रहे है। प्रकाशक यह समझते है कि लेखक उन्हें ठग रहे है, कम-से-कम काम कर अधिक-से-अधिक पारिश्रमिक ले रहे है। पाठक यह समझते है कि प्रकाशक और लेखक दोनों ही उन्हें ठग रहे है। रद्दी किताबो के लिए उनसे अधिक-से-अधिक मूल्य ले रहे है। आजकल पत्रो में लेखको के द्वारा प्रकाशन के सम्बन्ध मे जो एक असन्तोष की भावना प्रकट हो रही है, उसका मूल कारण यही है। हिन्दी में पाठको की सख्या परिमित होने के कारण साधारण ग्रन्थो का अधिक प्रचार नही होता। पाठ्य-पुस्तको के द्वारा प्रकाशको को जो लाभ होता है वह किसी भी उच्च कोटि की रचना प्रकाशित करने से नही होता। इसी कारण अधिकाश को अपने व्यवसाय की सफलता के लिए ऐसी नीति का भी अवलम्बन करना पडता है, जो विशेष गौरव-जनक नही। क्षुद्र भावो की ही प्रेरणा से हिन्दी-साहित्य में कभी-कभी जो दल बन जाते है उनसे केवल कटुता और वैमनस्य की ही वृद्धि होती है। ऐसी स्थिति मे हिन्दी की सर्वाङ्गपूर्ण उन्नति के लिए ऐसे प्रकाशको की बडी आवश्यकता

हैं, जो केवल व्यवसायी न हों, जो लेखको के मित्र हो, सहचर हो, पथ-प्रदर्शक हो और सच्चे सहायक हो। प्रेमी जी में यही सब बाते है। प्रेमीजी ने स्वय जो साहित्य की सेवा की है उसका मूल्य तो विज्ञ ही निर्दिष्ट करेंगे, पर अपने प्रकाशन-कार्य के द्वारा उन्होने साहित्य के क्षेत्र को जितना विस्तृत किया है, लेखको को प्रोत्साहित कर उनकी ठीक योग्यता के अनुसार उनके लिए साहित्य-सेवा में जितनी अधिक सुविधाएँ कर दी है और जितना अधिक मार्ग-पदर्शन कर दिया है, पाठको की जितनी अधिक रुचि परिष्कृत कर दी है और उनमें जितना अधिक सत्-साहित्य की ओर अनुराग उत्पन्न कर दिया है, वह मेरे जैसे पाठको और लेखको के लिए विशेष अभिनन्दनीय है। इसी दृष्टि से आज मैं यहाँ इन्ही के जीवन को लक्ष्य कर सैंतीस साल की साहित्य-गति पर विचार करना चाहता हूँ।

(२)

आधुनिक हिन्दी-साहित्य का अभी निर्माण हो रहा है। भारतेन्दु जी से लेकर आज तक हिन्दी-साहित्य की गति मे किसी भी प्रकार का अवरोध नही हुआ है। क्रमश उन्नति ही होती जा रही है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के निर्माताओ मे कितने ही विज्ञो के नाम लिये जा सकते है। उन सभी की सेवाएँ स्तुत्य है। तो भी यदि हम आधुनिक साहित्य की तुलना हिन्दी के प्राचीन साहित्य से करे तो हमें यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि प्राचीन साहित्य में जो स्थायी ग्रन्थ-रत्न है उनके समान ग्रन्थो की रचना आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे अभी अधिक नही हुई है। आधुनिक लेखको मे जिनकी रचनाएँ अधिक लोक-प्रिय है उनकी महत्ता को स्वीकार कर लेने पर भी यह दृढतापूर्वक नही कहा जा सकता कि उनकी रचनाओ में कितना स्थायित्व है। साहित्य के प्रारम्भिक काल में नवीनता की ओर अधिक आग्रह होने के कारण अधिकाश लोग किसी की भी नवीन कृति के सम्बन्ध मे उच्च धारणा बना लेते है। पर जब वही नवीन रचना कुछ समय के बाद अपनी नवीनता खो बैठती है तब उसके प्रति लोगो में आप-से-आप विरक्ति का-सा भाव आ जाता है। काव्य के क्षेत्र में पडित श्रीधर पाठक, पडित नाथूराम शकर शर्मा, पडित रामचरित उपाध्याय, सनेहीजी, आदि कवियो की रचनाएँ कुछ ही समय पहले पाठको के लिए केवल आदरणीय ही नही, स्पृहणीय भी थी, परन्तु अब यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी-काव्य के विकास में उनका एक विशेष स्थान होने के कारण वे अब आदरणीय ही है। आजकल मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, सियारामशरण गुप्त, निराला, पन्त, रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा, बच्चन, दिनकर आदि कवियो की रचनाएँ स्पृहणीय अवश्य है, पर नवीन काव्य-धारा के प्रवाह मे उनकी रचनाओ का गौरव कबतक बना रहेगा, यह निश्चय-पूर्वक नही कहा जा सकता। कवि-सम्मेलनो में नये कवियो की रचनाओ की ओर नवयुवको का जो आग्रह प्रकट होता है वह आग्रह उक्त लब्ध-प्रतिष्ठ कवियो की रचनाओ के प्रति नही देखा जाता। कुछ विज्ञ यह भी अनुभव करने लगे है कि अब हिन्दी में उत्तम एव साधना-सम्पन्न साहित्य-सृजन तथा निष्पक्ष और निर्भीक समालोचना की बडी अवहेलना होती है। इस कथन में चाहे जितना सत्य हो, इसमें सन्देह नही कि हिन्दी मे अभी परिष्कृत लोक-रुचि का निर्माण नही हुआ। यही कारण है कि लोग अभी उच्च कोटि के साहित्य की ओर अनुरक्त नही होते। साहित्य के क्षेत्र में जबतक उच्च आदर्श को लेकर ग्रन्थो का प्रकाशन नही होगा तबतक सर्व-साधारण की रुचि परिष्कृत नही होगी।

जिस लोक-शिक्षा के भाव से हिन्दी में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का सम्पादन किया था उसी लोक-शिक्षा के भाव से प्रेरित होकर प्रेमीजी ने 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का प्रकाशन किया था। साहित्य के क्षेत्र मे जो परिवर्तन 'सरस्वती' के द्वारा हुआ है, वही 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के द्वारा भी हुआ है। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के ग्रन्थो का सर्व-साधारण पर कितना प्रभाव पडा है, यह उसकी लोक-प्रियता से ही प्रकट हो जाता है। उस समय मै छात्र था। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' द्वारा सबसे पहले द्विवेदी जी की 'स्वाधीनता' का प्रकाशन हुआ। उसके बाद 'प्रतिभा' और फिर 'फूलो का गुच्छा' निकला। कितने ही लोग 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के स्थायी ग्राहक हो गये। १९१२ से लेकर १९१६ तक मेरे घर में भी 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के सभी ग्रन्थ आते रहे। १९१६ में मेरे

सौभाग्य से उसी ग्रन्थमाला में मेरा 'प्रायश्चित' नामक एक नाटक भी प्रकाशित हो गया। तभी मैं प्रेमीजी से विशेष परिचित हुआ। इसी समय जवलपुर मे अखिल भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ। वही पर मैंने प्रेमीजी को पहली वार देखा। मेरी वडी इच्छा थी कि मै 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' में काम करूँ। प्रेमीजी को मैंने कई वार लिखा और उन्होंने सभी समय मुझे वम्वई आने के लिए लिखा, परन्तु वम्वई मै गया कितने ही वर्षो के वाद। इस तरह अपनी छात्रावस्था से लेकर अभी तक प्रेमीजी के 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' से मेरा सम्वन्ध वना हुआ है। मेरे समान साधारण पाठको के हृदय में 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का क्या स्थान है, यही वतलाने के लिए मै यहाँ अपनी छात्रावस्था का वर्णन कर रहा हूँ।

(३)

छात्रावस्था में सभी को अपने भविष्य के लिए अध्ययन करना पडता है। यह अध्ययन काल सभी के लिए एक समान नही है। कोई चार-पांच वर्ष ही पढकर अपना छात्र-जीवन समाप्त कर डालते है, कोई आठ-दस सालतक पढते है और कोई पन्द्रह-सोलह वर्षो तक अध्ययन में लगे रहते है। जिसकी जैसी स्थिति होती है उसी के अनुसार उसका छात्र-जीवन निर्दिष्ट होता है। कुछ उच्च शिक्षा पा लेते है और अधिकाश उस शिक्षा से वचित रहते है। पर एक वार जीवन-क्षेत्र मे प्रविष्ट होते ही फिर सभी को उसी मे आजीवन सलग्न रहना पडता है।

एक विद्वान का कथन है कि छात्रावस्था में खूब परिश्रम के साथ हम जो कुछ पढते है, उसे भूल जाने के वाद ज्ञान का जो अश अवशिष्ट रह जाता है, उसी से हमारी मानसिक अवस्था की उन्नति होती है। इसमें सन्देह नही कि छात्रावस्था में हम लोगो को कितनी ही वातें याद करनी पडती है। उन वातो का जीवन मे क्या उपयोग होता है, यह तो हम लोग नहीं जानते। पर इसमें सन्देह नही कि छात्र-काल में उन्ही वातो के लिए अत्यधिक परिश्रम करना पडता है। सन् १६०२ मे लेकर १६१६ तक मुझे अपना छात्रजीवन व्यतीत करना पडा। वह समय मेरे लिए जैसे निर्माण-काल था, वैसे ही भारतवर्ष के लिए भी निर्माणकाल था। इन चौदह वर्षों के भीतर भारतवर्ष मे एक नये ही युग का निर्माण हो गया। क्या समाज, क्या साहित्य और क्या राजनीति, सभी क्षेत्रो मे विलक्षण परिवर्तन हुआ। एक के वाद एक भारत में जो घटनाएँ हुई है, उनसे देश उन्नति के पथ पर ही अग्रसर हुआ है। वह सुरेन्द्रनाथ, गोखले, तिलक और अरविन्द का समय था। वह रवीन्द्रनाथ का युग था। हिन्दी मे वह वालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक, और महावीर प्रसाद द्विवेदी जी का काल था। एक ओर जव भारतवर्ष में उन्नति की यह लहर वह रही थी तव मैं अपने ही छात्र-जीवन की समस्याओ को लेकर उलझा हुआ था। देश मे जव वगभग, स्वदेशी आन्दोलन और वायकाट की खूब चर्चा हो रही थी तव मै इलाहावाद के विश्वविद्यालय की परीक्षाओ के प्रश्न-पत्रो को लेकर व्यस्त था। मेरे लिए भूगोल, इतिहास, गणित, सस्कृत और अगरेजी ये भिन्न-भिन्न प्रश्न देश के राजनैतिक प्रश्नो से कही अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते थे। मुझे उनके लिए सतत् प्रयत्न करना पडता था। पर समाचार-पत्रो में भिन्न-भिन्न लेख पढने के लोभ को भी मै नही रोक सकता था। शिवशभु शर्मा के पत्र 'भारत-मित्र' में प्रकाशित होते थे। उन्हें मै खूब ध्यान से पढता था। जव 'हिन्दी-केसरी' का प्रकाशन हुआ तव हम लोगो के प्रान्त में भी एक धूम-सी मच गई। 'महात्मा तिलक के ये उपाय टिकाऊ नही है', 'देश की वात' आदि लेखो को मैंने भी पढा था। उसी समय सप्रेजी की ग्रन्थमाला में द्विवेदी जी की 'स्वाधीनता' निकली। पर अपने मस्तिष्क को मैंने इतिहास, रेखागणित, जामेट्री आदि विषयो से ही भर लिया था। उस समय अपनी परीक्षा के लिए जितनी वातें मुखाग्र याद करनी पडी उनमे से शायद एक भी वात मेरे मस्तिष्क में नही है। छात्रावस्था मे जिन पाठो को मैंने परिश्रम के साथ स्वायत्त किया था वे भी न जाने कहाँ विलीन हो गये है। यही नही, साहित्य के जिन प्रसिद्ध ग्रन्थो को उस समय मुझे परिश्रम से पढना पडा था उनसे अव न जाने क्यो विरक्ति-सी हो गई है। अव उन्हें फिर से पढने की इच्छा तक नही होती है।

सचमुच यह नही जान पडता कि हम लोगो के जीवन पर किन ग्रन्थो का सबसे अधिक प्रभाव पडता है। आज जब मै यह विचार करने बैठता हूँ कि मेरे जीवन पर किन ग्रन्थो का सबसे अधिक प्रभाव पडा है तो मुझे यही ज्ञात होता है कि उनमे एक भी मेरी पाठ्य पुस्तको मे नही है। आज जो सर्वथा अगण्य है, उन्ही 'चन्द्रकान्ता', 'परीक्षागुरु' और 'देवीसिंह' ने मेरी कल्पना-शक्ति को जितना उत्तेजित किया, उतना अन्य किसी उपन्यास ने नही किया। पर रचना की ओर मेरी प्रवृत्ति हुई 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' के ग्रन्थो से। इसमे सन्देह नही कि 'प्रतिभा', चौबे का चिट्ठा, वकिम निबन्धावली को मैंने पचास बार से अधिक पढा होगा। उनके कारण एक विशेष शैली को अपनाकर हिन्दी-साहित्य में लिखने की ओर मेरा ध्यान गया। कुछ समय पहले हिन्दी-साहित्य के एक प्रेमी सज्जन ने मुझसे पूछा कि हिन्दी के किन-किन उपन्यासो पर मेरा विशेष अनुराग है। इस प्रश्न का उत्तर देना मेरे लिए बडा कठिन हो गया है। बात यह है कि अवस्था की वृद्धि के साथ जैसे हम नये लोगो से परिचय नही बढाना चाहते, वैसे ही नये उपन्यासो से भी हमें अनुराग नही होता। जो लोग समीक्षक या आलोचक होते है उनकी बात दूसरी है। पर साधारण पाठको के लिए यह सम्भव नही है कि वे नवीन कलाकारो की नवीन कृतियो को पढे। अधिकाश पाठको के लिए विशेष लेखक इतने प्रिय हो जाते है कि वे अन्य लोगो की कृतियो को पढ ही नही सकते। मेरी भी यही स्थिति है। अपनी छात्रावस्था में जिन ग्रन्थो पर मेरा अनुराग हो गया था और जिन्हे मैंने बार-बार पढा है, उन चन्द्रकान्ता, परीक्षागुरु, और देवीसिंह को छोड कर प्राय सभी अनुवाद ग्रन्थ है और वे सभी प्राय 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' द्वारा प्रकाशित हुए है। 'प्रतिभा', 'फूलो का गुच्छा', 'आँख की किरकिरी', 'अन्नपूर्णा का मन्दिर', 'चौबे का चिट्ठा', 'वकिम निबन्धावली'—यही सब तो मेरे विशेष प्रिय ग्रन्थ बने है। इन्ही के कारण मै यह समझता हूँ कि प्रेमीजी के 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' से मेरा जीवन कितने ही वर्षो से सम्बद्ध हो गया है। प्रेमीजी के कारण साहित्य की ओर मेरी अनुराग-वृद्धि हुई और उन्ही के कारण मै हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे 'प्रायश्चित' नामक नाटक लेकर प्रविष्ट भी हुआ।

यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि किसी भी साहित्य का महत्त्व उसके मौलिक ग्रन्थो पर निर्भर है। पर हिन्दी-साहित्य के समान अनुन्नत साहित्य में तो अनुवाद की ही विशेष आवश्यकता है। हिन्दी-साहित्य मे अभी तक लब्ध-प्रतिष्ठ विज्ञो की रचना नही है। हिन्दी-साहित्य के सेवको मे अधिकाश अपनी विद्या और ज्ञान का अभिमान नही कर सकते। अनुवादो में सबसे बडा लाभ यह होता है कि उससे ज्ञान का प्रसार बडी सरलता से हो जाता है, उच्च आदर्शो का प्रचार सुगमता से होता है और भाषा आप-से-आप परिष्कृत होती है। अनुवाद का यह काम कष्ट-साध्य है। हिन्दी-साहित्य में अभी तक भावो को स्पष्ट रीति से सरलता-पूर्वक व्यक्त करने मे कठिनता होती है। 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' से जो अनुवाद-ग्रन्थ प्रकाशित हुए, उनके द्वारा भाषा की यथेष्ट उन्नति हुई है। कितने ही लेखको पर उसका स्थायी प्रभाव पडा है। आधुनिक नाटक, उपन्यास, आख्यायिका और निबन्ध तो अपना मूल उन्ही में पा सकते है। मैंने भी अनुवाद से ही अपना साहित्यिक जीवन आरम्भ किया है और मुझे प्रेमीजी और द्विवेदीजी के समान योग्य सम्पादको के कारण अपने काम में विफलता नही मिली।

(४)

कुछ समय तक मै बम्बई मे प्रेमीजी के साथ रह भी चुका हूँ। उस समय मुझे पाठ्य पुस्तके तैयार करनी पडी। मैंने तब यह देखा कि प्रेमीजी कितने मनोयोग से अपना काम करते है। प्रेमीजी खूब परिश्रम किया करते है। वे खूब ध्यान से लेखो को पढते है और खूब ध्यान से उन्हें छपवाते है। प्रूफ़ देखने मे वे और भी विशेष सावधान रहते है। उनकी सावधानता के कारण किसी भी प्रकार की भूल नही हो सकती। उन्होने पुस्तको के बाह्य रूप पर भी विशेष ध्यान दिया है। यही कारण है कि उनकी पुस्तको का विशेष आदर होता है और मेरे समान कितने ही लेखको की यही लालसा बनी रहती है कि उनकी रचनाएँ 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' द्वारा प्रकाशित हो।

विश्व के कर्मक्षेत्र मे मनुष्य अपने प्रयासो के द्वारा जो सफलता या विफलता प्राप्त करता है उसी के अनुसार लोग उसके जीवन में सार्थकता देखते हैं। ससार में कीर्ति अथवा अपकीर्ति, यश अथवा अपयश मनुष्य-मात्र के उन्ही प्रयासो का पुरस्कार है, जो ससार की ओर से उसे प्राप्त होता है। परन्तु अपने जीवन-सग्राम में उसे जो कष्ट झेलना पडता है, जो वेदना सहनी पडती है, जो दुर्वह भार उठाना पडता है उसकी तीव्रता का अनुभव केवल वही करता है। सरोवर के वक्ष स्थल पर खिले हुए कमलो के सौन्दर्य और सौरभ पर हम सभी मुग्ध होते हैं, पर उन कमलो के विकास के भीतर जो पक छिपा हुआ है, उस पर किसी की भी दृष्टि नही जाती है। शकरजी के विपपान की तरह सरोवर भी सारे पक को उदरस्थ कर देता है। अपने व्यवसाय की उन्नति और साहित्य-सेवा के मार्ग में प्रेमी जी ने भी कष्ट सहा है, विघ्नो और आपत्तियो को झेला है और यातनाओ का अनुभव किया है। उन्हें अपने यश-सौरभ के लिए जो प्रयास करना पडा है, उसमे उनके धैर्य, सहिष्णुता, परिश्रम-शीलता और निपुणता आदि गुणो की कठोर परीक्षा हुई है। पर वेदना के जिस तीव्र आघात को वे हृदय पर सह कर चुपचाप शान्त और गम्भीर होकर अपने कार्यो में निरत है, उसे केवल वही अनुभव कर सकते हैं।

खैरागढ]

प्रेमी जी

श्री रामचन्द्र वर्मा

मैंने पहले-पहल प्रेमीजी को उसी समय जाना था जब उन्होंने 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' का प्रकाशन आरम्भ किया था और इस माला में पहले पुष्प के रूप में आचार्य द्विवेदी जी की 'स्वाधीनता' प्रकाशित हुई थी। 'स्वाधीनता' ने हिन्दी-जगत् को मुग्ध कर लिया था। मैं भी उसी हिन्दी-जगत् के एक कोने में बैठा हुआ मन-ही-मन प्रेमीजी के उस प्रयत्न की प्रशंसा करता था और अपने मन में इस कामना का पोषण करता था कि हिन्दी में इस प्रकार की अनेक आदर्श पुस्तक-मालाएँ प्रकाशित हों।

जब ग्रन्थ-रत्नाकर से थोड़े ही समय में कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ सज-धज से और उत्कृष्ट रूप में प्रकाशित हुए तब हिन्दी के बहुत से लेखक उसमें अपने ग्रन्थ प्रकाशित करने के लिए उतावले होने लगे। उन्हीं में से मैं भी एक था, पर सोचता था कि ग्रन्थ-रत्नाकर से प्रकाशित होने के योग्य पुस्तक मैं लिख भी सकूँगा या नहीं? बहुत-कुछ सोच-विचार के बाद मैंने 'नम्रता और उसकी साधना के उपाय' नाम की एक छोटी पुस्तक लिखकर प्रेमीजी के पास भेजी। जल्दी ही प्रेमीजी की स्वीकृति आ गई और थोड़े ही समय में पुस्तक छप भी गई। ग्रन्थ-रत्नाकर से अपनी पुस्तक प्रकाशित होने का मुझे गर्व-सा हुआ। उससे भी बढ़कर हर्ष इस बात का हुआ कि प्रेमीजी सरीखे सुयोग्य और सज्जन व्यक्ति से मेरा परिचय हुआ।

यह परिचय वर्षों तक बराबर बढ़ता रहा, पर केवल पत्र-व्यवहार के रूप में। धीरे-धीरे उनसे प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करने की उत्सुकता मन में बढ़ने लगी। सोचता था कि कब अवसर मिले और कब प्रेमीजी से भेंट हो। संयोग से वह अवसर भी आ गया। जबलपुर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। वहीं मैंने सुना कि प्रेमीजी भी आये हैं। मैं उनसे मिलना चाहता था। अकस्मात् एक दिन सवेरे उन से भेंट हुई। वे नल पर से स्नान करके लौट रहे थे और मैं स्नान करने जा रहा था। एक मित्र ने बतलाया कि यही प्रेमीजी हैं। मैं आगे बढ़कर उनसे मिला। उन्हें अपना परिचय दिया, पर एक-दो बातें होकर रह गईं। वे अपने रास्ते चले गये और मैं अपने रास्ते।

मैं अत्यन्त दुखी और निराश हुआ। जिन प्रेमीजी को मैं अबतक बहुत ही सज्जन और सहृदय समझ रहा था, वे इस पहली भेंट के समय मुझे नितान्त रूखे और सौजन्य-विहीन जान पड़े। मैं मन में अप्रसन्न भी हुआ और रुष्ट भी। उसी रोष के कारण मैंने उनसे फिर मिलने का प्रयत्न भी न किया। इस प्रकार पहली भेंट नितान्त निराशापूर्ण हुई।

काशी लौटने पर चार-पाँच दिन बाद प्रेमीजी का पत्र मिला। उसमें फिर वही सौजन्य और वही सहृदयता भरी थी, जो पहले पत्रों में रहा करती थी। यद्यपि मैं सोच चुका था कि अब उनसे कोई विशेष सम्पर्क न रक्खूँगा, पर उस पत्र का उत्तर देना ही पड़ा। फिर वही पत्र-व्यवहार चलने लगा। पर मेरी समझ में न आया कि आखिर प्रेमीजी किस तरह के आदमी हैं।

समझ में आता भी कैसे? प्रेमीजी थे सतयुगी महापुरुष और मैं था किंचित् कलजुगी। उनके सौजन्य पर नम्रता और आत्म-गोपन के जो बड़े-बड़े आवरण चढ़े हुए थे, उन्हें भेदकर उनके अन्तःकरण में छिपी हुई महत्ता तक पहुँचना सहज नहीं था। इसके लिए कुछ अधिक घनिष्ट परिचय की आवश्यकता थी।

कुछ दिनों बाद वह अवसर भी आ गया। मुझे नागरी-प्रचारिणी-सभा के एक आवश्यक कार्य के लिए पहले जयपुर और फिर बम्बई जाना पड़ा। जयपुर से बम्बई जाने के पहले मैंने प्रेमीजी को अपने बम्बई पहुँचने की सूचना दे दी थी, पर वह सूचना थी केवल औपचारिक। मैं अपने मित्र स्व० श्री मदनगोपाल जी गाडोदिया के यहाँ ठहरना चाहता था। सोचा था कि प्रेमीजी से भी मिल लूँगा। पर बम्बई पहुँचने पर मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

स्टेशन पर न तो गाडोदिया जी दिखाई दिये और न उनका कोई आदमी। (उन्हें मेरा पत्र ही मेरे बम्बई पहुँचने के सात-आठ घंटे बाद मिला था।) हाँ, प्रेमीजी मुझे अवश्य इधर-उधर ढूँढते हुए दिखाई पडे। सवेरे छ बजे का समय। जाडे का दिन। आकाश में कुछ बादल और कुहरा-सा छाया हुआ। ऐसे समय में मैं स्वप्न में भी आशा नही करता था कि प्रेमीजी मुझे स्टेशन पर दिखाई देंगे। पर वे मुझे जिस तत्परता से ढूँढ रहे थे, उसी का मुझ पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा। उस दिन से आज तक मेरा और उनका भाइयो का-सा व्यवहार चला आता है।

प्रेमीजी जबरदस्ती मुझे अपने घर ले गये। रास्ते में ही जो बातें हुईं, उनसे मैंने समझ लिया कि जबलपुर में प्रेमीजी को पहचानने में मुझसे बडी भूल हुई थी। प्रेमीजी को मैं जितना सज्जन और सहृदय समझता था, उससे वे कहीं अधिक बढकर निकले। पछताते हुए मैंने अपनी भूल उन पर प्रकट की। सुनकर बोले, "वर्मा जी, मैं सीधा-सादा आदमी हूँ। आजकल की व्यवहार-चातुरी मुझमें नहीं है। इसलिए कोई कुछ समझ लेता है, कोई कुछ।" उन्हीं 'कोइयों' में मैं भी एक 'कोई' था। पर आज उस वर्ग से निकल कर और प्रेमीजी के अन्तस्तल तक पहुँचकर मैंने उसका पूरा-पूरा निरीक्षण किया। साथ ही यह प्रतिज्ञा की कि आगे से मैं किसी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में इतनी जल्दी कोई धारणा न बना लिया करूँगा। यह पहली शिक्षा थी, जो प्रेमीजी से पहली भेंट में मुझे प्राप्त हुई। पर मैं नही जानता था कि अभी मुझे इनसे और भी बहुत-सी बातें सीखने को मिलेंगी।

प्रेमीजी के घर पहुँचते ही मैं अवाक् रह गया। बहुत ही छोटा-सा अँधेरा घर। मैं समझता था कि प्रेमीजी ने प्रकाशन कार्य से पचीस-पचास हज़ार रुपये कमाये हैं। वे कुछ तो ठाठ-बाट से रहते होंगे, पर वहाँ ठाठ-बाट का नाम नही था। घर की सभी बातें बहुत ही साधारण थी। पर मैंने तुरन्त अपने आपको सँभाला। मैंने सोचा कि यहाँ भी प्रेमीजी का वही सीधापन अपना परिचय दे रहा है, जिसकी चर्चा उन्होने स्टेशन से आते समय की थी। और बात भी वही थी। यो प्रेमीजी मितव्ययी तो है ही, पर इससे भी बढकर वे सरल और नितान्त सात्विक वृत्ति के पुरुष हैं। वे अपनी आवश्यकताएँ बहुत ही कम करके इस सिद्धान्त का उज्ज्वल उदाहरण हमारे सामने रखते हैं कि जिसकी आवश्यकताएँ जितनी ही कम हो, वह ईश्वर के उतना ही समीप होता है।

प्रेमीजी का घर देखने में तो बहुत ही साधारण था, पर मुझे सुख मिला स्वर्ग का-सा। उनकी स्वर्गीय साध्वी पत्नी का नितान्त निश्छल और निष्कपट स्वागत-सत्कार बहुत अधिक प्रभाव डालता था। बालक हेमचन्द्र, जिसकी दुःखद स्मृति ने बहुतो के हृदय में स्थायी रूप से घर कर लिया है, उस समय दस-ग्यारह वर्ष का था। उसकी सरलता और सहृदयता तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार मानो प्रेमीजी के इन सब गुणो को भी मात करने वाला था। आठ ही दस घंटो में मुझे वहाँ घर से बढकर सुख और आनन्द मिलने लगा। पर उस सुख का मैं अधिक उपभोग न कर सका। सन्ध्या होते ही गाडोदिया जी मोटर लेकर आ पहुँचे और मुझे जबरदस्ती अपने निवास-स्थान पर (दादर) उठा ले गये। पर अपने प्राय एक मास के बम्बई प्रवास मे प्रेमीजी के आकर्षक प्रेम के कारण मेरा आधा समय हीराबाग़ में ही बीता।

इसके बाद कई बार बम्बई जाने का अवसर मिला है और हर बार मैं प्रेमीजी के यहाँ ही ठहरा हूँ। मैं ही क्यो, प्रेमीजी के प्राय सभी मित्र और अधिकाश हिन्दी-प्रेमी उन्ही के यहाँ ठहरते है। जो लोग कभी किसी कारण से दूसरी जगह जा ठहरते है, उन्हें भी प्रेमीजी विवश करके अपने यहाँ ले आते है। यह प्रेमीजी का स्वाभाविक गुण है। इस सोने में एक सुगन्ध भी आन मिलती थी। वह सुगन्ध थी उनके बाल-बच्चो का स्नेहपूर्ण और घर का-सा व्यवहार। पर हाय! हेमचन्द्र के चले जाने से वह सुगन्ध ही नही उड गई, बल्कि सोना भी गरम राख की बडी तह के नीचे दब गया!

× × ×

वहुत-से लोग प्रेमीजी को केवल प्रकाशक के रूप में जानते हैं। कुछ लोग उन्हे हिन्दी के लेखक के रूप मे भी जानते हैं। उन्हें इस तरह जानने वाले सभी लोग उनकी सत्यशीलता, सद्व्यवहार, सदाचार, नम्रता आदि गुणो से इतने अधिक परिचित हैं कि इस सम्बन्ध में विशेष कहना वाहुल्य-मात्र है। फिर भी वैयक्तिक तथा नैतिक क्षेत्र में प्रेमीजी में इतने अधिक गुण हैं कि उनका पूरा और ठीक वर्णन करना कठिन है। प्रेमीजी अपनी सैकडो-हज़ारो की हानि विलकुल चुपचाप सह लेगे, पर किसी से लडना-झगडना कभी पसन्द न करेंगे। यदि कोई उन्हे जवरदस्ती किसी तरह की लडाई में घसीटने में समर्थ भी हुआ तो वे सदा जल्दी-से-जल्दी पीछा छुडाने का ही प्रयत्न करेंगे और विशेषता यह कि अपने परम शत्रु के लिए भी किसी प्रकार के अमगल या अहित का स्वप्न मे भी विचार नही करते। उनके इस गुण का परिचय मुझे कई वार मिल चुका है। उनकी सज्जनता से चाहे कोई कितना ही अनुचित लाभ उठा ले, पर किसी के अपकार करने का विचार भी वे अपने मन मे नही ला सकते।

साधारणत प्रेमीजी के जीवन का यही सवसे वडा सार्वजनिक अग समझा जाता है, पर वस्तुत उनके जीवन का इससे भी एक वडा अग है, जिससे अपेक्षाकृत कम ही लोग परिचित है। प्रेमीजी उच्च श्रेणी के विचारशील विद्वान् है। विशेषत प्राकृत के वे अच्छे पडित हैं और अपना वहुत-सा समय अध्ययन और विद्या-विषयक अनुसन्धान मे लगाते है। उनमे यह कमी है कि वे अँगरेज़ी वहुत कम जानते है, पर अपनी इस कमी के कारण वे अपने कार्य-क्षेत्र में कभी किसी से पीछे नही रहते। जैन-इतिहास के वे अच्छे ज्ञाता है और इस विषय के लेख आदि प्राय लिखते रहते है। वे अनेक विषयो की नई खोजो के, जो प्राय अँगरेज़ी मे ही निकला करती है, विवरणो की सदा तलाश में रहते है और जव उन्हें इस तरह की किसी नई खोज का पता चलता है तव वे अपने किसी मित्र की सहायता से उसका वृत्त जानने का प्रयत्न करते हैं। उनका यह विद्या-प्रेम प्रशसनीय तो है ही, अनुकरणीय भी है।

प्रेमीजी में एक और वहुत वडा गुण है। वे कभी अपने आपको प्रकट नही करना चाहते—कभी प्रकाश मे नही आना चाहते। हाँ, यदि प्रकाश स्वय ही उन तक जा पहुँचे तो वात दूसरी है। वे काम करना जानते है, परन्तु चुपचाप। अनेक विषयो का वे प्राय अध्ययन और मनन करते रहते हैं और कभी कुछ लिखने के उद्देश्य से अनेक प्रकार की सामग्री भी एकत्र करते रहते है, पर जव उन्हें पता चलता है कि कोई सज्जन किसी विषय पर कुछ लिखने लगे है तव वे उनके उपयोग को अपनी सारी सामग्री अपनी स्वाभाविक उदारता से इस प्रकार चुपचाप उन्हे देते हैं कि किसी को कानोकान भी खवर नही होती।

प्रेमीजी के अनेक गुणो में ये भी वे थोडे-से गुण है, जिनके कारण वे वहुत ही सामान्य अवस्था से ऊपर उठते हुए इतने उच्च स्तर पर पहुँचे है।

वहुत ही दुःख की वात है कि ऐसे सुयोग्य और सज्जन विद्वान का पारिवारिक तथा शारीरिक जीवन प्राय कष्टो से और वह भी वहुत वडे कष्टो मे सदा भरा रहा। हो सकता है कि ये शारीरिक और पारिवारिक कष्ट ही उनके स्वर्ण-तुल्य जीवन को तपाकर निखारने वाली अग्नि के रूप मे विधाता की ओर से प्राप्त हुए हो। अपनी गति वही जाने।

बनारस]

स्मरणाध्य

आचार्य पं० सुखलाल सघवी

मेरे स्मरणग्रन्थ में प्रेमीजी का स्मरण एक अध्याय है, जो अति विस्तृत तो नही है, पर मेरे जीवन की दृष्टि मे महत्त्व का और सुखद अवश्य है। इस सारे अध्याय का नवनीत तीन वातो में है, जो प्रेमीजी के इतने लम्बे परिचय मे मैने देखी है और जिनका प्रभाव मेरे मानस पर गहरा पडा है। वे ये है—

(१) अथक विद्याव्यासग।

(२) सरलता और

(३) सर्वथा असाम्प्रदायिक और एकमात्र सत्यगवेषी दृष्टि।

प्रेमीजी का परिचय उनके 'जैनहितैषी'-गत लेखो के द्वारा शुरू हुआ। मै अपने मित्रो और विद्यार्थियो के साथ आगरे मे रहता था। तव साय-प्रात की प्रार्थना मे उनका निम्नलिखित पद्य रोज़ पढे जाने का क्रम था, जिसने हम सवको वहुत आकृष्ट किया था —

दयामय ऐसी मति हो जाय।
त्रिभुवन की कल्याण-कामना, दिन-दिन वढती जाय ॥१॥
औरों के सुख को सुख समझूँ, सुख का करूँ उपाय ॥
अपने दुख सब सहूँ किन्तु, परदुख नहिं देखा जाय ॥२॥
अधम अज्ञ अस्पृश्य अधर्मी, दुखी और असहाय ॥
सवके अवगाहन हित मम उर, सुरसरि सम वन जाय ॥३॥
भूला भटका उलटी मति का, जो है जन समुदाय ॥
उसे सुझाऊँ सच्चा सत्पथ, निज सर्वस्व लगाय ॥४॥
सत्य धर्म हो सत्य कर्म हो, सत्य ध्येय वन जाय ॥
सत्यान्वेषण में ही 'प्रेमी', जीवन यह लग जाय ॥५॥

प्रेमीजी के लेखो ने मुझको इतना आकृष्ट किया था कि मैं जहाँ-कही रहता, 'जैन-हितैषी' मिलने का आयोजन कर लेता और उसका प्रचार भी करता। मेरी ऐतिहासिक दृष्टि की पुष्टि मे प्रेमीजी के लेखो का थोडा हिस्सा अवश्य है। प्रेमीजी के नाम के साथ 'पण्डित' विशेषण छपा देखकर उस ज़माने मे मुझे आश्चर्य होता था कि एक तो ये पण्डित है और दूसरे जैन-परम्परा के। फिर इनके लेखों में इतनी तटस्थता और निर्भयता कहाँ से? क्योकि तवतक जितने भी मेरे परिचित जैन-मित्र और पण्डित रहे, जिनकी सख्या कम न थी, उनमें से एक-आध अपवाद छोडकर किसी को भी मैंने वैसा असाम्प्रदायिक और निर्भय नही पाया था। इसलिए मेरी ऐसी धारणा वन गई थी कि जैन पण्डित भी हो और निर्भय असाम्प्रदायिक हो, यह दुःसम्भव है। प्रेमीजी के लेखो ने मेरी धारणा को क्रमश गलत सावित किया। यही उनके प्रति आकर्षण का प्रथम कारण था।

१९१८ में मैं पूना में था। रात को अचानक प्रेमीजी सकुटुम्ब मुनि श्री जिनविजय जी के वासस्थान पर आये। मैंने उक्त पद्य की अन्तिम कडी वोल कर उनका स्वागत किया। उन्हें कहाँ मालूम था कि मेरे पद्य को कोई प्रार्थना मे भी पढता होगा। इस प्रसग ने परिचय की परोक्षता को प्रत्यक्ष रूप में वदल दिया और यही सूत्रपात दृढ़ भूमि वनता गया। उनके लेखो मे उनकी वहुश्रुतता और असाम्प्रदायिकता की छाप तो मन पर पडी ही थी। इस

प्रत्यक्ष परिचय ने मुझे उनकी अकृत्रिम सरलता की ओर आकृष्ट किया। इसीसे मै थोडे ही दिनो वाद जब वम्बई आया तो उनसे मिलने गया। वे चन्दावाडी में एक कमरा लेकर रहते थे। विविध चर्चा मे इतना डूवा कि आखिर को अपने डेरे पर जाकर जीमने का समय न देखकर प्रेमीजी से मैंने कहा कि मै और मेरे मित्र रमणिकलाल मोदी यही जीमेंगे। उन्होने हमें उतनी ही सरलता और अकृत्रिमता से जिमाया और परिचयसूत्र पक्का हुआ। फिर तो मेरे लिए वम्वई में आने का एक अर्थ यह भी हो गया कि प्रेमीजी से अवश्य मिलना और नई जानकारी पाना।

स्व० हेमचद्र (१९३२)

वम्वई मे मेरे चिर परिचित और निकट मित्र सेठ हरगोविन्ददास रामजी रहते है। प्रेमीजी के भी वे गाढ सखा वन गये थे। यहाँ तक कि उन दोनो का वासस्थान एक था या समीप-समीप। घाटकोपर, मुलुन्द जैसे उपनगरो में भी वे निकट रहते थे। अतएव मुझे प्रेमीजी की परिचय-वृद्धि का वडा सुयोग मिला। मै उनके घर का अग-सा वन गया। उनकी पत्नी रमावहन और उनका इकलौता प्राणप्रिय पुत्र हेमचन्द्र दोनो के सम्पूर्ण विश्वास का भागी मै वन गया। घाटकोपर की टेकरियो में घूमने जाता तो प्रेमीजी का कुटुम्ब प्राय साथ हो जाता। आहार सम्वन्धी मेरे प्रयोगो का कुछ असर उनके कुटुम्ब पर पडा तो तरुण हेमचन्द्र के नव प्रयोग में कभी मै भी सम्मिलित

हुआ। लहसुन डालकर उबाला दूध पीने से पेट पर अच्छा असर होता है। इस अनुभवसिद्ध आग्रहपूर्ण हेमचन्द्र की उक्ति को मानकर मैंने भी उनके तैयार भेजे वैसे दुग्धपान को आज़माया। कभी मैं घाटकोपर से शान्ताक्रूज जुहू तट तक पैदल चलकर जाता तो अन्य मित्रो के साथ हेमचन्द्र और चम्पा दोनो भी साथ चलते। दोनो की निर्दोषता और मुक्त हृदयता मुझे यह मानने को रोकती थी कि ये दोनो पति-पत्नी है। जब कभी प्रेमीजी शरीक हो तब तो हमारी गोष्ठी में दो दल अवश्य हो जाते और मेरा झुकाव नियम से प्रेमीजी के विरुद्ध हेमचन्द्र की ओर रहता। धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि विषयो में प्रेमीजी का (जो कभी स्कूल-कॉलेज में नही गये) दृष्टिबिन्दु मैने कभी गतानुगतिक नहीं देखा, जिसका कि विशेष विकास हेमचन्द्र ने अपने मे किया था। आगरा, अहमदाबाद, काशी आदि जहाँ-कही से मैं बम्बई आता तो प्रेमीजी से मिलना और पारम्परिक साहित्यिक एव ऐतिहासिक चर्चाएँ खुल करके करना मानो मेरा एक स्वभाव ही हो गया था। आगरे से प्रकाशित हुए मेरे हिन्दी ग्रन्थ तो उन्होने देखे ही थे, पर अहमदाबाद मे प्रकाशित जब मेरा 'सन्मतितर्क' का सस्करण प्रेमीजी ने देखा तो वे मुझे न्यायकुमुदचन्द्र का वैसा ही सस्करण निकालने का आग्रह करने लगे और तदर्थ उसकी एक पुरानी लिखित प्रति भी मुझे भेज दी, जो बहुत वर्षो तक मेरे पास रही और जिसका उपयोग 'सन्मतितर्क' के सस्करण मे किया गया है। सम्पादन मे सहकारी रूप से पण्डित की हमे आवश्यकता होती थी तो प्रेमीजी बार-बार मुझे कहते थे कि आप किसी होनहार दिगम्बर पण्डित को रखिए, जो काम सीख कर आगे वैसा ही दिगम्बर-साहित्य प्रकाशित करे। यह सूचना प० दरबारीलाल 'सत्यभक्त', जो उस समय इन्दौर मे थे, उनके साथ पत्र-व्यवहार मे परिणत हुई। प्रेमीजी माणिकचन्द जैन-ग्रन्थमाला का योग्यतापूर्वक सम्पादन करते ही थे, पर उनकी इच्छा यह थी कि न्यायकुमुदचन्द्र आदि जैसे ग्रन्थ 'सन्मतितर्क' के ढग पर सम्पादित हो। उनकी लगन प्रबल थी, पर समय-परिपाक न हुआ था। बीच मे वर्ष बीते, पर निकटता नही बीती। अतएव हम दोनो एक-दूसरे की सम्प्रदाय विषयक धारणा को ठीक-ठीक समझ पाये थे और हम दोनो के बीच कोई पन्थ-ग्रन्थि या सम्प्रदाय ग्रन्थि फटकती न थी।

एक बार प्रेमीजी ने कहा, "हमारी परम्परा में पण्डित बहुत है और उनमे कुछ अच्छे भी अवश्य है, पर मैं चाहता हूँ कि उनमें से किसी की भी पन्थ-ग्रन्थि ढीली हो।" मैंने कहा कि यही बात मैं श्वेताम्बर साधुओ के बारे में भी चाहता हूँ। श्रीयुत जुगलकिशोर जी मुख्तार एक पुराने लेखक और इतिहासरसिक है। प्रेमीजी का उनसे खासा परिचय था। प्रेमीजी की इच्छा थी कि श्री मुख्तार जी कभी सशोधन और इतिहास के उदात्त वातावरण मे रहे। आन्तरिक इच्छा सूचित करके प्रेमीजी ने श्रीयुत मुख्तार जी को अहमदाबाद भेजा। वे हमारे पास ठहरे और एक नया परिचय प्रारम्भ हुआ। गुजरात-विद्यापीठ के और खासकर तदन्तर्गत पुरातत्त्वमन्दिर के वातावरण और कार्यकर्ताओ का श्रीयुत मुख्तार जी के ऊपर अच्छा प्रभाव पडा, ऐसी मुझे उनके परिचय से प्रतीति हुई थी, जो कभी मैंने प्रेमीजी से प्रकट भी की थी। प्रेमीजी मुझसे कहते थे कि मुख्तार साहब की ग्रन्थि-शिथिलता का जवाब समय ही देगा। पर प्रेमीजी के कारण मुझको श्रीयुत मुख्तार जी का ही नही, बल्कि दूसरे अनेक विद्वानो एव सज्जनो का शुभग परिचय हुआ है, जो अविस्मरणीय है। प्रेमीजी के घर या दूकान पर बैठना मानो अनेक हिन्दी, मराठी, गुजराती और विशिष्ट विद्वानो का परिचय साधना था। प० दरबारीलाल जी 'सत्यभक्त' की मेरी मैत्री इसी गोष्ठी का अन्यतम फल है। मेरी मैत्री उन लोगो मे कभी स्थायी नही बनी, जो साम्प्रदायिक और निबिड-ग्रन्थि हो।

१९३१ के वर्षाकाल में पर्यूषण व्याख्यानमाला के प्रसग पर हमने प्रेमीजी और प० दरबारीलाल जी 'सत्यभक्त' को सकुटुम्ब अहमदाबाद बुलाया। उन्होने असाम्प्रदायिक और सामयिक विविध विषयो पर विद्वानो के व्याख्यान सुने, खुद भी व्याख्यान दिये। साथ ही उनकी इच्छा जाग्रत हुई कि ऐसा आयोजन बम्बई मे भी हो। बम्बई के युवको ने अगले साल से पर्यूषण व्याख्यानमाला का आयोजन भी किया। प्रेमीजी का सक्रिय सहयोग रहा। मेरे कहने पर उन्होने पुराने सुधारक वयोवृद्ध बाबू सूरजभानु जी वकील को बम्बई में बुलाया, जिनके लेख मैं वर्षो पहले पढ चुका था और जिनसे मिलने की चिराभिलाषा भी थी। उक्त बाबू जी १९३२ में बम्बई पधारे और व्याख्यान भी दिया। मेरी यह अभिलाषा एकमात्र प्रेमीजी के ही कारण सफल हुई।

उधर हेमचन्द्र की उम्र बढती जाती थी और प्रेमीजी की चिन्ता भी बढती जाती थी कि यह अनेक विषयों का धुनी प्रयोगवीर जोगी कारोबार कैसे सँभालेगा। पर मेरा निश्चित विश्वास था कि हेमचन्द्र विरल विभूति है। प्रेमीजी है तो जन्म से सी० पी० के और देहाती सकीर्ण सस्कार की परम्परा के, पर उनकी सामाजिक मान्यताएँ धार्मिक मान्यताओ की तरह वन्धनमुक्त वन गई थी। अतएव उनके घर में लाज-परदे का कोई वन्धन न था और आज भी नही है। हेमचन्द्र की पत्नी, जो उस समय किशोरी और तरुणी थी, वह उतनी ही स्वतन्त्रता से सबके साथ पेश आती, जितनी स्वतन्त्रता से रमावहन, हेमचन्द्र और प्रेमीजी खुद। प्रेमीजी पूरे सुधारक है। इसीसे उन्होने अपने भाई की पुन शादी विधवा से कराई और रूढिवादियो के खफा होने की परवाह नही की। प्रेमीजी के साथ चम्पा का व्यवहार देखकर कोई भी अनजान आदमी नही कह सकता कि यह उनकी पुत्रवधू है। उसे आभास यही होगा कि वह उनकी इकलौती और लाडिली पुत्री है। जब कभी जाओ, प्रेमीजी के निकट मुक्त वातावरण पाओगे। रूढिचुस्त और सुधारक दोनो इस वात में सहमत होगे कि प्रेमीजी खुद अजातशत्रु है।

प्रेमीजी गरीवी की हालत और मामूली नौकरी से ऊँचे उठकर इतना व्यापक और ऊँचा स्थान पाये हुए है कि आज उनको सारा हिन्दी ससार सम्मान की दृष्टि से देखता है। इसकी कुजी उनकी सच्चाई, **कार्यनिष्ठा और** वहुश्रुतता में है। यद्यपि वे अपने इकलौते सत्यहृदय युवक पुत्र के वियोग से दु खित रहते है, पर मैंने देखा है कि उनका आश्वासन एकमात्र विविध विषयक वाचन और कार्यप्रवणता है। वे कैसे ही वीमार क्यो न हो, वैद्य, डॉक्टर और मित्र कितनी ही मनाई क्यो न करें, पर उनके विस्तरे और सिरहाने के इर्द-गिर्द वाचन की कुछ-न-कुछ नई सामग्री मैंने अवश्य देखी है। प्रेमीजी के चाहने वालो में मामूली-से-मामूली आदमी भी रहता है और विशिष्ट-से-विशिष्ट विद्वान् का भी समावेश होता है। अभी-अभी मैं हरकिसनदास हॉस्पीटल में देखता था कि उनकी खटिया के इर्द-गिर्द उनके आरोग्य के इच्छुको का दल हर वक्त जमा है।

प्रेमीजी परिमितव्ययी और सादगीजीवी है, पर वे मेहमानो और स्नेहियो के लिए उतने ही उदार है। इसीसे उनके यहाँ जाने मे किसीको सकोच नहीं होता।

१९३३ की जुलाई की तीसरी तारीख को मैं जब हिन्दू यूनिवर्सिटी मे काम करने के लिए वम्वई से रवाना हुआ तव प्रेमीजी ने उस पुरानी लगन को ताजा करके मुझसे कहा कि काशी में तरुण प० महेन्द्रकुमार जी है। आप उनसे नई पद्धति के अनुसार न्यायकुमुदचन्द्र का सम्पादन अवश्य करवाएँ। प्रथम से ही परिचित प० कैलाशचन्द्र जी काशी मे थे ही। महेन्द्रकुमार जी नये मिले। दोनो से प्रेमीजी का विचार कहकर उस काम की पूर्वभूमिका का विचार मैंने कहा। दोनो तत्काल कृतनिश्चय हुए और हिन्दू यूनिवर्सिटी में आने लगे। चिन्तन-गोष्ठी जमी। समय आते ही प्रेमीजी की इच्छा के अनुसार उक्त दोनो पडितो ने न्यायकुमुदचन्द्र का सुसस्कृत सम्पादन करके उसे माणिकचन्द जैन-ग्रन्थमाला से प्रकाशित कराया। प० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य मेरे काम में भी सहयोगी वने और व्यापक अध्ययन चालू रक्खा। फलत उन्होने 'सिन्धी-जैन-सीरीज' मे स्वतन्त्र भाव से अकलक ग्रन्थत्रय का और सहकारी रूप से प्रमाण-मीमासा आदि ग्रन्थो का सम्पादन किया, जिससे प्रेमीजी की इच्छा अशत अवश्य पूर्ण हुई है, परन्तु मैंने देखा है कि प्रेमीजी उतने मात्र से सम्पूर्ण सन्तुष्ट नही। उनकी उत्कट अभिलाषाएँ कम-से-कम तीन है। एक तो वे अन्य सात्विक विद्वानो की तरह अपनी परम्परा के पण्डितो का धरातल इतना ऊँचा देखना चाहते है कि जिससे पण्डितगण सार्वजनिक प्रतिष्ठा लाभ कर सकें। दूसरी कामना उनकी सदा यह रहती है कि जैन-भण्डारो के—कम-से-कम दिगम्वर-भण्डारो के—उद्धार और रक्षण का कार्य सर्वथा नवयुगानुसारी हो और पण्डितो एव धनिको की शक्ति का सुमेल इस कार्य को सिद्ध करे। उनकी तीसरी अदम्य आकाक्षा यह देखी है कि फिरको की और खासकर जाति-पाँति की सकुचितता और चौकाबन्दी खत्म हो एव स्त्रियो की खासकर विधवाओ की स्थिति सुधरे। मैंने देखा है कि प्रेमीजी ने अपनी ओर से उक्त इच्छाओ की पूर्ति के लिए स्वय अथक प्रयत्न किया है और दूसरो को भी प्रेरित किया है। आज जो दिगम्वर परम्परा में नवयुगानुसारी कुछ प्रवृत्तियाँ देखी जाती है उनमे साक्षात् या परम्परा से

प्रेमीजी का थोडा-बहुत असर अवश्य है। पुराने विचार के जो लोग प्रेमीजी के विचार से सहमत नही, वे भी प्रेमीजी के सद्गुणो के प्रशसक अवश्य रहे है। यही उनकी जीवनगत असाधारण विशेषता है।

प्रेमीजी मे असाम्प्रदायिक व सत्यगवेषी दृष्टि न होती तो वे अन्य बातो के होते हुए भी जैन-जैनेतर जगत् मे ऐसा सम्मान्यस्थान कभी नही पाते। मैने तत्त्वार्थ और उमास्वाति के बारे मे ऐतिहासिक दृष्टि से जो कुछ लिखा है, प्रेमीजी की निर्भय गवेषक दृष्टि ने उसका केवल समर्थन ही नही किया, बल्कि साम्प्रदायिक विरोधो की परवाह बिना किये मेरी खोज को और भी आगे बढाया, जिसका फल सिंघी स्मृति ग्रथ भारतीय विद्या मे विस्तृत लेखरूप से उन्होने अभी प्रकट किया है। आजकल प्रेमीजी मेरा ध्यान एक विशिष्ट कार्य की ओर साग्रह खीच रहे है कि 'उपलब्ध जैन-आगमिक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्याकन तथा भारतीय संस्कृति और वाड्मय मे उसका स्थान' इस विषय पर साधिकार लिखना आवश्यक है। वे मुझे बार-बार कहते है कि अल्पश्रुत और साम्प्रदायिक लोगो की गलत धारणाओ को सुधारना नितान्त आवश्यक है।

कोई भी ऐतिहासिक बहुश्रुत विद्वान हो, प्रेमीजी उससे फायदा उठाने से नही चूकते। आचार्य श्री जिनविजय जी के साथ उनका चिर परिचय है। मै देखता आया हूँ कि वे उनके साथ विविध विषयो की ऐतिहासिक चर्चा करने का मौका कभी जाने नही देते।

अन्त मे मुझे इतना ही कहना है कि प्रेमीजी की सतयुगीन वृत्तियो ने साम्प्रदायिक कलियुगी वृत्तियो पर सरलता से थोडी-बहुत विजय अवश्य पाई है।

बम्बई]

प्रेमी जी के व्यक्तित्व की एक झलक

राय कृष्णदास

प्रेमीजी को मै निकट से नही के बराबर जानता हूँ। फिर भी उनके व्यक्तित्व को मै जितना जानता हूँ, सम्भवत उससे अधिक उनके अत्यन्त निकटवर्ती भी न जानते होगे। इसके पीछे एक घटना है, जिसकी स्मृति आज पच्चीस बरस बाद भी टटकी है।

प्रेमीजी जिस समय प्रकाशक के रूप मे हिन्दी-जगत् के सामने आये, उस समय वह परपट पडा हुआ था। आज की तरह न प्रकाशको की भरमार थी, न ग्रन्थो की। पाठक ग्रन्थो के लिए लालायित हो रहे थे, हिन्दी के शुभैषी उसके भण्डार को ग्रन्थ-रत्नो से भरा-पूरा देखना चाहते थे। ऐसी परिस्थिति में 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' एक वरदान के रूप में अवतरित हुआ। उसके प्रकाशित बँगला के अनुवाद ही तब पाठको के लिए सब कुछ थे। जमीन तैयार हो रही थी। उतने ही से हिन्दी वाले फूले न समाते थे। इसके पहले कई प्रकाशन-योजनाएँ चालू हुई थी और अकुरित हो-होकर मारी गई थी। अतएव प्रेमीजी का समारम्भ उनके लिए तो साहस और आत्म-विश्वास का काम था ही, वाचको के लिए भी वह धडकते हुए हृदय की एक बहुत बडी आशा थी।

जहाँ प्रकाशक और वाचक ऐसी परिस्थिति मे थे, वहाँ एक तीसरा वर्ग भी था, जो बडी सतृष्ण दृष्टि से प्रकाशनो की ओर देख रहा था। यह वर्ग था उन लेखको का, जो मासिक पत्रो तक तो किसी भाँति पहुँच पाते थे, किन्तु उसके आगे जिनकी रसाई न थी। वह आज का जमाना न था जब लेखको और पत्रो की भरमार तो है ही, सम्पादकीय अनुशासन भी ऐसा-ही-वैसा है। वह द्विवेदीयुग था, जब लेखको के लिए मासिक पत्र का द्वार बहुत ही अवरुद्ध और कटकाकीर्ण था। इसका यह तात्पर्य नही कि लेखक किसी प्रकार हतोत्साह किये जाते थे। बात बिलकुल उलटी थी। उस समय तो आचार्य द्विवेदी जी और उनके अनुकरण में अन्य सम्पादक लेखको के तैयार करने मे लगे हुए थे। फिर भी द्विवेदी जी ने लेखन का स्तर इतना ऊँचा कर रक्खा था कि सहसा किसी के लिए लेखक बन जाना सम्भव न था और न दूसरे पत्रकार ही अपने पत्र का स्तर गिराने का साहस कर सकते थे। वे यथासम्भव 'सरस्वती' को ही मानदण्ड बनाकर अपना पत्र चलाते थे। यही कारण था कि उन्ही लेखको की कुछ पूछ थी, जो अपना स्थान बना चुके थे अथवा जिनमें किसी विशेषता का अकुर था। ऐसे लेखको के लेख यद्यपि पाठको के ज्ञानवर्द्धन की अच्छी सामग्री होते तो भी उनमें स्थायी महत्त्व के इने-गिने ही होते थे। फिर भी उनके लेखक चाहते कि उनकी कृति पुस्तक रूप में निकल जाय। ऐसे ही एक महाशय ने' शास्त्र' पर एक लेखमाला 'इन्दु' में निकाली।

यहाँ 'इन्दु' का थोडा-सा परिचय दे देना अनुचित न होगा। प्रसाद जी सन् १९०८ के अन्त मे नई भावनाएँ लेकर हिन्दी-ससार में आये। उनका सुरती का पैतृक समृद्ध व्यापार भी था, जिसके कारण उनका कुल-नाम 'सुघनीसाव' पड गया था। सो अपनी नई भावनाओ को व्यक्त करने के लिए, साथ ही अपने पैतृक कारबार के विज्ञापन के लिए, उन्होने अपने भानजे स्व० अम्बिकाप्रसाद गुप्त से 'इदु' को सन् १९०९ के आरभ मे निकलवाया था। इस मासिक पत्र की एक अपनी हस्ती थी। प्रसाद जी की रचनाओ के सिवा उनसे प्रभावित और प्रोत्साहित कितने ही नये लेखक इसमें लिखा करते थे। यद्यपि इसकी छपाई-सफाई का दर्जा बहुत ही साधारण था, फिर भी लेखो के नाते यह एक नये उत्थान का सूचक था।

इसी 'इन्दु' में वे ' शास्त्र' वाले लेख धारावाहिक रूप में निकले थे। विषय नया था। अतएव उसकी ओर अनेक लोगो का ध्यान गया और पत्रो में कुछ चर्चा भी हुई। जब यह लेखमाला पूरी हो गई तब लेखक महाशय ने उसका स्वत्व प्रेमीजी को दे दिया और उन्होने उसे पुस्तकाकार निकाल दिया। उस समय के विचार से उसकी अच्छी

माँग हुई और एकाधिक सस्करण भी हुए। तब लेखक महाशय की नीयत में फितूर आया और उन्होने प्रेमीजी से और ऐंठने का बाँधनू बाँधा। प्रेमीजी थे सच्चे और खरे आदमी। उन्होने यह मामला पचायत में डाल दिया। सर्वश्री डा० भगवानदास, स्व० शिवप्रसाद गुप्त, श्रीप्रकाश, रामचन्द्र वर्मा और मैं, उसके सदस्य थे। पचायत ने कदम-कदम पर पाया कि लेखक महाशय ने जिस रूप में मामला खडा किया था, उसमें उनकी जबरदस्ती ही नही, बहुत बडी जघन्यता भी थी। सच बात तो यह है कि उन्होने जो हरकत की थी उसके लिए उलटे प्रेमीजी को हरजाना मिलना चाहिए था, किन्तु उन दिनो लेखक महाशय ने राष्ट्रीय बाना धारण कर लिया था। अतएव वे कुछ पचो की निगाह में 'कोई चीज' हो गये थे। निदान, 'दयापूर्ण' फैसला यह हुआ कि यद्यपि उन्होने काम तो अनुचित किया है फिर भी उन्हें प्रेमीजी अमुक रकम प्रदान करें। प्रेमीजी ने तत्काल बिना किसी ननुनच के इस 'न्याव' की तामील कर दी। लेखक महाशय को प्रेमीजी से लिखित क्षमा माँगने की आज्ञा भी हुई थी। सो मानों उक्त रकम उसी क्षमा-प्रार्थना की फीस चुकवाई गई थी। प्रेमीजी आरम्भ से ही निर्लिप्त रहे। वे तो घरमोघरम यहाँ तक तैयार थे कि कापी-राइट तथा छपी प्रतियाँ लेखक महाशय को यो ही दे दें। उन्होने न कभी लाछित करने वाले कर्म किये थे, न करना चाहते थे। यही उनका जीवन-व्रत है, जिस पर वे आज भी समारूढ है।

इस घटना मे मैंने दो बातें पाई। पहली तो प्रेमीजी के निखरे हुए व्यक्तित्व की एक झलक और दूसरे यह कि गोसाई जी की ये पक्तियाँ सवासोलह आने सच है—

"लखि सुबेष जग बचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ॥"

बनारस]
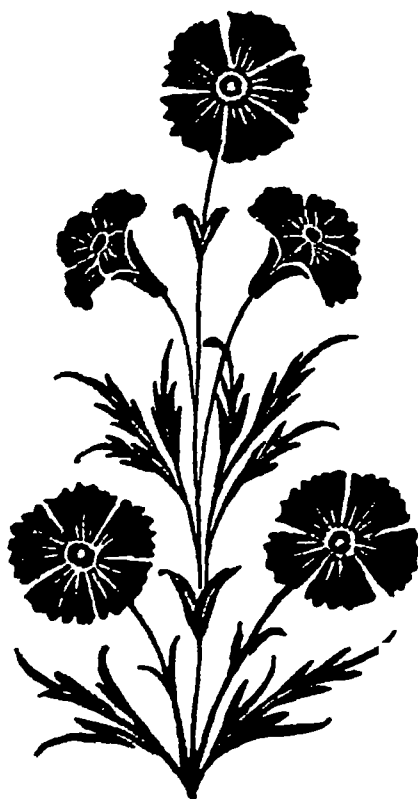
वे मधुर क्षण !

श्री नरेन्द्र जैन एम० ए०

श्रद्धेय प्रेमीजी का नाम तो बहुत दिनो से सुना था, लेकिन साक्षात्कार हुआ उस समय, जब मैं कॉलेज की अध्यापकी पाने की आशा में बम्बई गया। घर पर पहुँचा तो प्रेमीजी भोजन कर रहे थे। उन्हे देखकर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि दुर्दैव के प्रहारो से वे झुक अवश्य गये है, पर उसे चुनौती देने की क्षमता मानो अब भी उनमे शेष है। रुग्णा पुत्रवधू अस्पताल मे थी। इससे कुछ चिन्तित थे। मैंने उन्हे नारियल की तरह पाया। ऊपर से कठोर, पर अन्तर में कोमल।

प्रेमीजी की सहायता से नौकरी प्राप्त हो जाने पर फिर तो अनेकों बार उनसे भेंट और बातचीत करने का अवसर मिला और अब भी मिलता रहता है। जी नही लगता तो प्राय उनके पास चला जाता हूँ। उनके छोटे-से परिवार के कई मधुर चित्र मेरे सामने है। एक दिन जस्सू (पौत्र) अपनी किताबो का बस्ता ट्राम मे भूल आया। मैंने कहा कि चलो, छुट्टी हुई। लेकिन जस्सू बहुत सुस्त था। आँखो में आँसू झलकने लगे। दादा (प्रेमीजी) उसकी व्यथा को ताड गये। बोले, "बेटा, तू क्या फिकर करता है ! अरे, दुकान तो तेरी ही है। तेरे लिए एक-एक छोड दो-दो किताबे अभी मँगाये देता हूँ।" यह आश्वासन पाकर जस्सू उछलने लगा।

एक रोज़ बोले, "अरे बेटा चम्पा,[1] बच्चे बारिश मे भीगते जाते है। उनके लिए एक-एक बरसाती खरीद दे।"

चम्पा बोली, "दादा, इनके पास छतरी है तो। फिर बरसाती की क्या ज़रूरत है ?"

"लो भई बेटा पस्सू,[2] कही बारिश छतरी से भी रुकती है ! यह माँ कैसी बाते करती है ?" प्रेमीजी ने हँसते हुए कहा।

पस्सू खिलखिला पडा। बोला, "हाँ, दादा, देखो, माँ कितनी मक्खीचूस है।"

कहने की आवश्यकता नही कि शीघ्र ही दो बढिया बरसाती आ गई।

यो ही बैठे हुए एक दिन मैंने पूछा, "यह रेडियो कितने में खरीदा था ?"

बोले, "पता नही। सब वही (हेमचन्द्र) लाया था। हमने तो यह शास्त्र पढा ही नही।"

अपने व्यवसाय मे प्रेमीजी जितने सजग और कुशल है, घर-गृहस्थी की चीज़ो के बारे में उतने ही अनभिज्ञ। चीज़ों का मोल-तोल करना उनसे आता ही नही।

एक दिन जस्सू बिक्री के पाँच रुपये बारह आने हाथ मे खनखनाता उछलता हुआ आया।—"मेरा बटुआ कहाँ है ? बटुआ कहाँ है ?" उसने हल्ला मचा दिया।

प्रेमीजी बोले, "बडा दुकानदार बना है ! अरे, रोटी तो खा ले, बेटे ! मुझे क्यो सताता है ?"

पर जस्सू सुनने वाला आसामी नही।

प्रेमीजी फिर चिल्लाए, "बेटा चम्पा, इसके कान तो पकड। रोटी नही खाता।"

जस्सू अपनी धुन मे मस्त रहा और जब पैसे बटुए मे भर लिये तब रोटी खाने बैठा। थाली आते ही लगा चिल्लाने, "चावल लाओ, चावल !"

प्रेमीजी ने हँसते हुए कहा, "अरे, यह क्या होटल है ! वाह, बेटा वाह, मेरे घर को तो तूने होटल ही बना दिया !"

हम सब खिलखिला कर हँस पडे।

---

[1] पुत्रवधू। [2] पौत्र।

प्रेमीजी ने अपनी दुकान की किताबें पढनेकी छूट मुझे दे रक्खी है। एक दिन 'शाहजहाँ' (डी० एल० राय कृत) नाटक लेकर जोर-जोर से पढने लगा। प्रसग था कि जिहनखाँ दारा का सिर काटने आता है। दारा का बेटा सिपर पिता को नही छोडता और जल्लादो से कहता है कि तुम उन्हें नही मार सकते। दृश्य बडा ही करुण था। पढते-पढते मेरी आँखें गीली हो आई। निगाह ऊपर उठी तो देखता हूँ कि प्रेमीजी के टप्टप् आँसू गिर रहे है। वास्तव मे प्रेमीजी बहुत ही नरम दिल के है। ऐसे प्रसगो पर उन्हें अपने हेम की याद भी हो आती है।

१. चि० विद्याधर (पस्सू) २. चि० यशोधर (जस्सू)
३ चपाबाई (स्व० हेमचद्रके पुत्र और पत्नी।)

प्रेमीजी में विनोदप्रियता भी खूब है। अपनी हँसी आप ही उडाना, यह उनके स्वभाव की विशेषता है। बुन्देलखण्ड का एक ग्राम-गीत—"डुकरा तोको मोत कतऊँ नइयाँ"—बडे लहजे के साथ गाया करते है। कभी-कभी पस्सू मचल जाता है। कहता है, "दादा, हम तो वही कहानी सुनेंगे।"

जानते हुए भी दादा पूछते है, "कौन-सी कहानी भैया ?"

"अरे, वही—अल्ला मियाँ बडे सयाने। पहले ही काट लिये दो आने।"

हँसते-हँसते दादा पूरी कहानी सुना देते हैं। कभी जब पस्सू किसी से नाराज होकर रोने लगता है तो प्रेमीजी उसके कान मे वही अल्ला मियाँ वाला मन्त्र फूँक देते हैं और वह खिलखिलाने लगता है।

इस प्रकार की अनेको घटनाएँ उस घर में देखता हूँ। ये घटनाएँ छोटी अवश्य हैं, पर ऐसी घटनाओ से हमारे परिवारो मे मधुर रस का सचार होता है।

प्रेमीजी की आशा अपने इन्ही दोनो पोतो पर निर्भर है। वे योग्य हो जायँ तो उनके कन्धो पर सारा दायित्व सौंपकर चुपचाप दुनिया से विदा ले ले, यही उनकी अभिलाषा जान पडती है।

बम्बई]
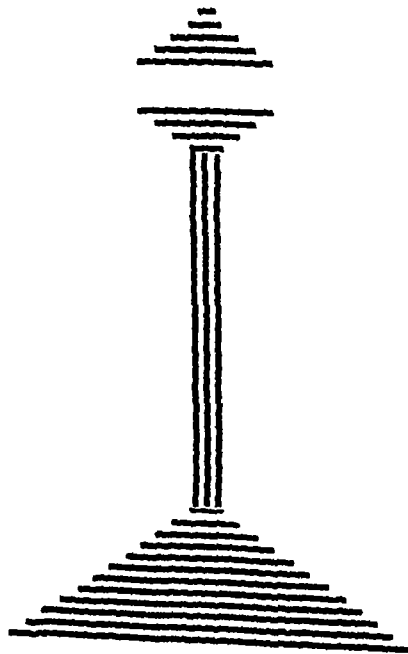
कुछ स्मृतियाँ

श्री शिवसहाय चतुर्वेदी

सन् १९०९ या १० की बात है। उस समय मैं केसली में मास्टर था। दिसम्बर की छुट्टी में घर आया था। अभी तक प्रेमीजी से मेरी घनिष्टता नही हुई थी। साधारण परिचय मात्र था। एक दिन सन्ध्या समय मैंने देखा कि बाजार की एक दहलान में प्रेमीजी को घेरे हुए बहुत से मास्टर बैठे है और कुछ लिख रहे है। कौतूहलवश मैं भी वहाँ जा पहुँचा। मालूम हुआ, प्रेमीजी बम्बई से आये है। कुछ दिन यहाँ रहेंगे। मास्टरो के आग्रह पर प्रति-दिन बँगला भाषा सिखाया करेंगे। इस समाचार ने मुझे हर्ष-विषाद के गम्भीर आवर्त में डाल दिया। हर्ष इस बात का कि एक नई भाषा सीखने का अवसर है। विषाद इसलिए कि मै इस अवसर से लाभ उठाने में असमर्थ था। मेरी छुट्टी समाप्त हो चुकी थी और मुझे दूसरे दिन प्रात काल केसली जाना था। मैंने अपनी अभिलाषा और कठिनाई प्रेमीजी को कह सुनाई। कठिनाई की इस विषम गुत्थी को एक सुदक्ष पुरुष की नाई उन्होने तत्काल सुलझा दिया। बँगला भाषा के 'साहित्य' नामक पत्र की एक फाइल उनके सामने रक्खी थी। उसे मेरी ओर बढाते हुए उन्होने कहा, "आप इसे ले जाइए। मै बँगला वर्णमाला की पहिचान कराये देता हूँ। बाकी अभ्यास मे आप स्वय सीख जावेंगे।" फाइल लेकर मै उसके पन्ने इधर-उधर पलटने लगा। मोटे-मोटे शीर्षक के अक्षरों में प्रेमीजी ने बतलाया कि देखो, यह अ है, यह ख और यह भ। इत्यादि। प्रेमीजी बतलाते गये और मै पेंसिल से उन पर हिन्दी में लिखता गया। दूसरे दिन मै केसली चला गया। थोडे ही दिन के अभ्यास से मै उस फाइल के लेख पढने लगा। अभ्यास से कुछ-कुछ मतलब भी समझ में आने लगा। जब किसी शब्द का अर्थ मालूम न पडता तब उस शब्द को घटो खोजता कि वह कहाँ और किस अर्थ में आया है। इस तरह उसके शब्दो, विभक्तियो आदि से परिचित होता गया। एक महीने पीछे मैंने प्रेमीजी को बँगला में एक पत्र लिखा। वे उस समय बम्बई पहुँच चुके थे। प्रेमीजी की दूकान के साझीदार श्री छगनमल जी बाकलीवाल को बहुत समय बगाल में रहने का अवसर मिला था। वे बँगला अच्छी तरह लिख और बोल सकते थे। उन्होने मेरे पत्र का उत्तर बँगला में दिया। मेरे परिश्रम की सराहना करते हुए उन्होने बँगला की तीन-चार गद्य-पद्य की पुस्तकें मेरे अभ्यास के लिए भेज दी। कुछ समय पीछे मैंने प्रेमीजी की दी हुई 'साहित्य' की फाइल में से 'कञ्चुका', 'जयमाला' आदि गल्पो का अनुवाद करके उनके पास भेजा। ये गल्पें 'जैन-हितैषी' मासिकपत्र मे प्रकाशित हुई और पश्चात् 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' से प्रकाशित 'फूलो का गुच्छा' नामक कहानी-सग्रह में भी सम्मिलित की गईं।

× × ×

मध्य-प्रदेश के तत्कालीन चीफ कमिश्नर बेन्जामन राबर्टसन दौरे पर देवरी आ रहे थे। यह सन् १९१८ की बात है। उनकी रसद के इन्तजाम के नाम पर तहसील के सिपाहियो ने देवरी तथा निकटवर्ती देहातो मे खूब लूट मचा रक्खी थी। लकडी, घास, खाट-पलग, बर्तन आदि अनेक वस्तुएँ सग्रह की जा रही थी। गाडी-बैल, भैंसे बेगार में दस-पन्द्रह दिन पहले से ही पकडे जा रहे थे। सिपाही लोगो के घर जा खडे होते और यदि उनके हाथ गरम न कर दिये जाते तो वे उनकी वस्तुएँ बलात् ले जाते थे। साहब बहादुर के चले जाने के पश्चात् रसद का बचा हुआ सामान नीलाम किया गया। स्थानीय हलवाइयो को खूब खोवा बेचा गया। उस समय सौभाग्य से प्रेमीजी देवरी आये हुए थे। गरीब लोगो की यह तबाही उनसे न देखी गई। उन्होंने इस विषय में **"देवरी में नादिरशाही, चीफ कमिश्नर का दौरा और प्रजा की तबाही"** शीर्षक एक लेख 'प्रताप' में भेज दिया। लेख छपते ही अफसरो में खलबली मच गई। तहसीलदार और छोटे साहब दौडे आये। तहक़ीक़ात की गई। लेख लिखने वाले पर मुकद्दमा चलाने की

धमकी भी दी गई। पर बात सच थी। बेचारे क्या करते? अन्त में उचित मावजा देकर लोगो को शान्त कर दिया। कुछ सिपाही बरखास्त कर दिये गये और प्रबन्धकर्ता तहसीलदार की बदली हो गई। देवरी के इतिहास में इस तरह के राजकर्मचारियों की ज्यादती का प्रतिरोध समाचार-पत्र द्वारा करने का यह पहला ही अवसर था।

प्रेमीजी विधवा-विवाह के समर्थक है। उन्होने जैन-समाज में इसके प्रचार के लिए समय-समय पर यथेष्ट आन्दोलन किया है। उनके लघु भ्राता सेठ नन्हेलाल जी की पत्नी का स्वर्गवास हो जाने पर उन्होने ६ दिसम्बर १९२८ को उनका विवाह हनोतिया ग्राम-निवासी एक बाईस वर्षीय परवार-विधवा के साथ करके अपने विधवा-विवाह-विषयक विचारो को अमली रूप दिया। उस समय विरोधियो ने विरोध करने में कुछ कसर नही रक्खी। जैन-जाति के मुखियो को विवाह में भाग लेने से रोका गया, सत्याग्रह करने तक की धमकी दी गई, पर प्रेमीजी के अदम्य उत्साह और कर्त्तव्यशीलता के कारण विरोधियो की कुछ दाल न गली। विवाह सागर में चकराघाट पर एक सुसज्जित मडप के नीचे किया गया था। चार-पाँच हजार आदमी एकत्र हुए थे। सागर के प्राय सभी वकील, जैन जाति के बहु-सख्यक मुखिया और सागर के बहुत से प्रतिष्ठित व्यक्ति इस विवाह मे सम्मिलित हुए थे। जैन-अजैन वीसो वक्ताओ के विधवा-विवाह के समर्थन में भाषण हुए।

विवाह के पश्चात् देवरी में प्रेमीजी ने १२ दिसम्बर को एक प्रीति-भोज दिया। उसी दिन स्थानीय म्यूनिसिपैलिटी के अध्यक्ष प० गोपालराव दामले बी० ए०, एल-एल० बी० की अध्यक्षता मे उक्त विधवा-विवाह का अभिनन्दन करने के लिए एक सार्वजनिक सभा की गई। सभा मे सैय्यद अमीरअली 'मीर', दशरथलाल श्रीवास्तव, शिवसहाय चतुर्वेदी, बुद्धिलाल श्रावक, व्रजभूषणलाल जी चतुर्वेदी और नाथूराम जी प्रेमी के भाषण हुए। सभापति महोदय ने ऐतिहासिक प्रमाणो के द्वारा विधवा-विवाह का समर्थन किया और सभा विसर्जित हुई।

कहने का तात्पर्य यह कि स्वर्गीय सैय्यद अमीरअली 'मीर' और श्री नाथूराम जी प्रेमी के सत्सग से देवरी-निवासियो में विद्याभिरुचि तथा अन्याय के प्रति विरोध करने का साहस उत्पन्न हुआ। प्रेमीजी के **'प्रजा की तबाही'** वाले लेख के पश्चात् स्थानीय अधिकारियो की स्वेच्छाचारिता और अन्याय के विरुद्ध बहुत से लेख लिखे गये, जिसके फलस्वरूप अन्याय की कमी हुई और अनेक युवको में कविता करने तथा साहित्यिक लेख लिखने की रुचि उत्पन्न हुई।

देवरी]

स्वावलम्बी प्रेमी जी

श्री लालचन्द्र बी० सेठी

लगभग सन् १९१२ की बात है, जब प्रथम बार बम्बई में श्री प्रेमीजी से मेरी भेंट हुई। उस समय 'जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' का कार्य-सचालन करते हुए उन्होने 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' का भी कार्य प्रारम्भ कर दिया था और उस समय तक 'स्वाधीनता' व 'फूलो का गुच्छा' ये दो पुस्तकें प्रकाशित भी हो चुकी थी। उन दिनो प्रेमीजी बडी योग्यता के साथ 'जैन-हितैषी' का सम्पादन कर रहे थे। मैं उसे बडी रुचि से पढता था। जितने समय तक प्रेमीजी ने इस पत्र का सम्पादन किया, बडी निर्भीकता और विचार-स्वातन्त्र्य के साथ किया। 'जैन-हितैषी' की फाइलो में उनके युग-सन्देश-वाहक तथा युक्तिपूर्ण लेख आज भी पढने योग्य हैं। प्रेमीजी की उन्नत विचारशीलता, चरित्र-निष्ठा और सुधारक मनोवृत्ति का परिचय हमें उनकी लेखनी से लिखे गये लेखो में बराबर मिलता है।

जैनियों में सर्व-प्रथम श्री प्रेमीजी ने ही जैन-इतिहास पर कलम उठाई। उन्होने अपने गम्भीर और विशाल अध्ययन के द्वारा जैन-आचार्यों का परिचय प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे वे उनका समय-निर्णय करने लगे और बाद को तो वे एक पूरे इतिहासज्ञ ही बन गये। आज समाज में जैन-इतिहास की जो इतनी विशद चर्चा दिखाई देती है, उसका प्रधान श्रेय प्रेमीजी को ही है।

'श्री माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला' का प्रारम्भ एक छोटी-सी पूंजी से हुआ था, पर प्रेमीजी ने अपनी कुशलता और अविश्रान्त परिश्रम से लगभग पैंतालीस अलभ्य और अनुपम ग्रन्थो का प्रकाशन कर उन्हें सर्वत्र सुलभ कर दिया है। आज से तीस वर्ष पूर्व सस्कृत-प्राकृत ग्रन्थो की हस्त-लिखित प्राचीन प्रतियों का प्राप्त करना, उनकी प्रेस-कापी कराना, छपाई की व्यवस्था करना, प्रूफ-सशोधन करना आदि कितना गुरुतर कार्य था, यह भुक्तभोगी लोगो से अविदित नही है। मगर अपनी सच्ची लगन और दृढ अध्यवसाय के द्वारा प्रेमीजी ने इस दिशा में एक आदर्श उपस्थित किया। उसीसे प्रेरणा पाकर आज अनेको ग्रन्थमालाएँ चालू हैं। 'माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला' के अवैतनिक मन्त्री होते हुए भी प्रेमीजी ने नि स्वार्थभाव और केवल प्राचीन ग्रन्थो के उद्धार को दृष्टि में रखकर इतने मितव्यय से इसका कार्य किया है कि जिसका दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है।

प्रेमीजी आत्म-प्रशसा और प्रसिद्धि से सदैव दूर रहे है, यहाँ तक कि मैंने उन्हें कभी किसी सभा-सोसाइटी में जाते या सभापति बनते और व्याख्यान देते हुए नही देखा। पर जो भी व्यक्ति निजी तौर पर उनसे मिला, उन्होने उससे बडी स्पष्टता और ठोस युक्तियो के साथ शान्तिपूर्वक अपने विचारो का प्रतिपादन किया। प्रेमीजी ने जिस बात या विचार को सच समझा, बिना किसी सकोच के स्पष्ट कहा और लिखा। व्यक्तिगत विरोध या बहिष्कार की उन्होने कभी कोई चिन्ता नहीं की और न उसके कारण उन्होने अपने विचारो को दबाया ही।

'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' से आज तक सवा सौ से भी ऊपर पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमे कई-एक पुस्तकें तो बिलकुल नवीन लेखको की हैं। प्रेमीजी ने नवीन लेखको को सदैव प्रोत्साहन दिया है। बहुत सी पुस्तको मे भाषा, भाव, अनुवाद आदि की दृष्टि से पर्याप्त सशोधन स्वय करते हुए भी उन्होने सारा श्रेय लेखक को ही दिया है। सशोधक या सम्पादक के रूप में अपना पूर्ण अधिकार होते हुए भी उन्होने कभी किसी पुस्तक पर अपना नाम नही दिया। यही कारण है कि उनके कार्यालय की निन्दा आज तक किसी लेखक से सुनने में नही आई, प्रत्युत स्व० श्री प्रेमचन्द्र जी, श्री बख्शी जी, श्री जैनेन्द्रकुमार जी आदि के द्वारा प्रेमीजी के खरे, पर प्रेममय निर्मल व्यवहार की प्रशसा ही सुनने को मिली है। प्रेमीजी के यहाँ से जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई है, वे सब छपाई, सफाई, सशुद्धि, कागज, रूप-रग आदि की दृष्टि से सर्वोत्तम रही है। शरत्-साहित्य-माला, मुशी-साहित्य, आदि जो सस्ती मालाएँ

प्रेमीजी ने प्रकाशित की हैं, वे हिन्दी के लिए ही नही, अपितु अन्य भाषाओ के लिए भी आदर्श हैं। उत्तम विचारो के प्रचार की दृष्टि से प्रेमीजी ने इन ग्रन्थ-मालाओ का प्रारम्भ किया था।

गत वर्षो में मुझे बम्बई अनेक बार जाना पडा है और मैं प्रत्येक प्रवास में प्रेमीजी से मिले बगैर नही रहा हूँ। मैंने उन्हें नये लेखको को सदैव सत्परामर्श देते और उत्साह के साथ उनका मार्ग-प्रदर्शन करते हुए देखा है। मैं जब-जब उनसे मिलने गया हूँ, वे अपना सब काम छोडकर बडे प्रेम के साथ मिले हैं। विविध विषयो पर घटो विचार-विनिमय होता रहा है। उनके विचार मुझे हिन्दी और अग्रेजी के बडे-बडे विचारक विद्वानो से भी उच्च प्रतीत हुए। उनके विचारो की दूरदर्शिता का इसीसे पता लग सकता है कि जिन बातो को उन्होने आज से पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व कहा या लिखा था, वे आज कार्यरूप में परिणत हो रही हैं। प्रेमीजी अपने विचारो के स्वय आदर्श हैं। यदि उन्होने कभी 'विधवा-विवाह' का समर्थन किया तो स्वय अपने छोटे भाई श्री नन्हेलाल का सर्वप्रथम उसी प्रकार विवाह कर दिखाया।

प्रेमीजी का ध्येय 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' का सचालन, नवीन साहित्य का अध्ययन और सर्जन, पुराने साहित्य की शोध, नवीन लेखको को प्रोत्साहन, आगन्तुको को सत्परामर्श देना एव स्वय सत्य का अन्वेषण करते रहना है। आज इस उत्तरावस्था में अपने एकमात्र पुत्र के चिर-वियोग जैसे वज्राघात के होने पर भी वे अपना अध्ययन बराबर करते रहते हैं और नित नई खोजो से जैन-आचार्यों का इतिहास प्रकाश में लाकर जैन-साहित्य का भडार भर रहे हैं।

विगत वर्षो में जब-जब प्रेमीजी से मिला तब-तब उनके सुपुत्र स्व० हेमचन्द्र से भी मिला हूँ। वह अपने पिता के समान अध्ययनशील, सरल और निश्छल था। विविध विषयो को पढने और लिखने की रुचि आदि अनेक ऐसे गुण थे, जो उसने अपने पिता से प्राप्त किये थे। यदि वह जीवित रहता तो नि सन्देह सुयोग्य पिता का सुयोग्य पुत्र निकलता, पर दैवगति के सामने किसकी चलती है!

प्रेमीजी स्वावलम्बी और अपने पैरो खडे होने वाले व्यक्ति हैं। उन्होने बहुत छोटी-सी पूँजी से पुस्तक-प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ किया था। आज उनके अदम्य उत्साह, सच्ची लगन, अनवरत परिश्रम और कर्तव्य-परायणता से उनके कार्यालय को सचमुच 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' कहलाने का गौरव प्राप्त है। मुझे आज लगातार उनसे मिलते हुए तीस वर्ष हो गए, मगर उन्होंने आज तक कभी किसी प्रकार के निजी स्वार्थ का प्रस्ताव नहीं रक्खा। यह विशेषता मैंने बहुत कम व्यक्तियो में पाई है। मेरी समझ से स्वावलम्बी होकर दूसरो की सेवा करना ही सच्ची समाजसेवा है।

ऐसे आदर्श साहित्य-सेवी और समाज-हितैषी व्यक्ति के सम्मान मे जो भी कृतज्ञता प्रकट की जाय, थोडी है।

उज्जैन]
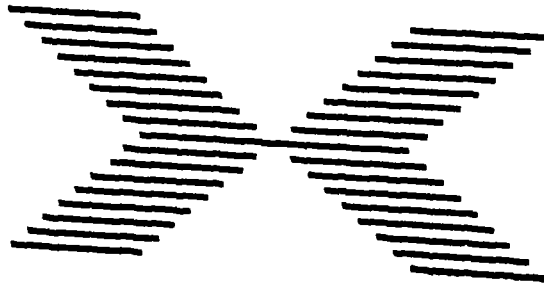
वि नू गौर आदर्श प्रकाशक

श्री भानुकुमार जैन

मेरी धारणा है कि जो प्रकाशक या पुस्तक-विक्रेता साहित्यिक नही है, वह सफल पब्लिशर अथवा बुकसेलर नही हो सकता। पुस्तक-व्यवसाय को मै राष्ट्र या समाज का विकास करने वाला धन्धा मानता हूँ। दुर्भाग्य से अब यह धन्धा अनैतिक हो गया है। येनकेन प्रकारेण पैसा कमाना ही इसका ध्येय रह गया है।

मुझे हर्ष है कि मेरी आँखो के सामने एक ऐसा व्यक्ति है, जो प्रकाशन के इस क्षुद्रतापूर्ण उद्देश्य को अपने आचरण में नही आने देता, जो खर्च करने में अत्यन्त सकोचशील है, पर रुपये का कैसा भी प्रलोभन उसे अपनी ईमानदारी से नही डिगा सकता। बडे-से-बडा व्यक्ति भी यदि उससे कहता है, "भाई, रुपये ले लो, लागत भी हमारी और बढिया-से-बढिया छपाई करो, पर हमारी किताब अपने यहाँ से प्रकाशित कर दो" तो वह उत्तर में चुपचाप पाण्डुलिपि लौटाकर विनयपूर्वक अपनी असमर्थता प्रकट कर देता है।

मैं नित अपनी आँखो देखता हूँ और दावे के साथ कहता हूँ कि प्रेमीजी की कमाई का एक-एक पैसा ईमानदारी का पैसा है। प्रकाशन में उनका वेजा स्वार्थ कभी नही रहा और अवसर-वादिता का आश्रय लेकर उन्होने कभी भी लाभ नही उठाया। वे रातदिन परिश्रम करते है। किसी भी महान् लेखक या अनुवादक की कृति क्यो न हो, स्वय जबतक शब्दश मूल से मिलाकर सशोधित, परिमार्जित और शुद्ध नही कर लेते तबतक कोई भी पाण्डुलिपि प्रेस में नही जाती। किसी रचना को स्वीकार भी तब करते है, जब वह उनकी अपनी कसौटी पर खरी उतर आती है। बडे नामो के प्रति उन्हें कोई आकर्षण नही है और पसन्द आ जाय तो साधारण लेखक की चीज़ भी स्वीकार करने मे उन्हें झिझक नही होती। हिन्दी के माने हुए आचार्यो और विद्वानो की रचनाएँ कसौटी पर खरी न उतरने के कारण उन्होने लौटा दी और उन ग्रन्थकारो के कोपभाजन बने। व्यक्तिगत रूप मे ऐसे आदमियो द्वारा प्रेमीजी की आलोचना सुनने में आ जाती है, पर ये महानुभाव यह नही सोचते कि प्रेमीजी के इस स्वस्थ और निष्पक्ष दृष्टिकोण के कारण ही हिन्दी की प्रकाशन-सस्थाओ में 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर' सर्वश्रेष्ठ प्रकाशन-सस्था मानी जाती है।

प्रेमीजी ने भर्ती के ग्रन्थ नही छापे। स्वय ही हर किताब के प्रूफ देखे है। पुस्तको की छपाई-सफाई में बाज़ार का ध्यान रखकर उन्होने आडम्बरयुक्त सजावट की बात कभी नही सोची।

यह तो हुआ उनका व्यावसायिक पहलू। अब एक दूसरा पहलू और देखे।

प्रेमीजी जैन विद्वान् है। 'जैन-साहित्य और इतिहास' में उनके वे खोज-सम्बन्धी लेख है, जिनके लिए आज से तीस वर्ष पूर्व उतनी सामग्री सुलभ नही थी, जितनी आज है। आज तो विद्वान् लोग भी प्रेमीजी के इन लेखो का सहारा लेते है। 'महाकवि स्वयम्भू' को प्रकाश मे लाने का श्रेय महापडित राहुल साकृत्यायन को दिया जाता है, लेकिन आज से पच्चीस वर्ष पूर्व दो लेख प्रेमीजी ने उसके बारे में 'जैन-हितैषी' में लिख दिये थे, जो उनकी 'जैन-साहित्य और इतिहास' पुस्तक में सकलित है। यदि प्रकाशन के कार्य में ही प्रेमीजी का समय न चला गया होता तो निश्चय ही वे स्वय अपनी बहुत-सी मूल्यवान रचनाओ से हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि कर सकते थे।

कौटुम्बिक दुखो से प्रेमीजी पिस गये है। इकलौता, निर्भीक, चरित्रवान और विद्वान् बेटा हेमचन्द्र चल बसा। उसके पहले प्रेमीजी की पत्नी की मृत्यु हो गई थी। इस पर श्वाँस जब-तब परेशान कर डालता है। अनवरत परिश्रम और अध्ययन ने भी प्रेमीजी के स्वास्थ्य को बहुत क्षति पहुँचाई है, पर उनके मनोबल, सतत्

जागरूकता के सकल्प और दो छोटे पोतों ने उन्हें जीवित रक्खा है और मानसिक दृढता से वे अस्वस्थता पर विजय पाये हुए हैं।

हमारी कामना है कि प्रेमीजी अभी बहुत दिनो तक अपने परिपक्व अनुभव तथा ज्ञान के द्वारा हमारा मार्ग-प्रदर्शन करते रहें।

बम्बई]

हार्दिक कामना

श्री मामा वरेरकर

बगीय और गुर्जर भाषा में से चुनिन्दा साहित्य हिन्दी भाषियो को सुलभ कर देने के कार्य मे जिन्होंने अपना सर्वस्व दे दिया तथा जिन्होंने अत्यत सुबोध हिन्दी भाषा मे चुने हुए साहित्य-ग्रथ अनुवादित कराकर सर्वसाधारण पाठक को सस्ते मूल्य में प्राप्य करा दिये और इस प्रकार स्वार्थत्यागपूर्ण पुस्तक-प्रकाशन-व्यवसाय चलाया, युद्ध से उत्पन्न भयानक परिस्थिति में भी जिन्होंने मराठी या अन्य प्रकाशको की भाति अपनी पुस्तको की कीमते बहुत अधिक नहीं बढाईं और अपने ग्राहको को ऐसी दशा में भी सतुष्ट रखने का प्रयत्न किया, और इस प्रकार हिंदी भाषा का वैभव तथा हिंदी भाषियो के साहित्यप्रेम को जिन्होंने उपयुक्त रीति से बढाया—ऐसे श्री नाथूराम 'प्रेमी' को दीर्घायुरारोग्य प्राप्त हो, ऐसी हृदय से कामना करता हू। मेरे मित्र स्व० शरच्चद्र चट्टोपाध्याय का साहित्य हिंदी में अनूदित कर उन्होंने बगला तथा हिंदी दोनो भाषाओ पर जो उपकार किया है, वह वाड्मय के इतिहास की दृष्टि से अमूल्य है। उसी भाति भाषा का अविकृत वाड्मय हिंदी भाषियो को सुपरिचित करा देने की ओर भी आगामी काल में उनका ध्यान आकृष्ट हो, ऐसी मैं आशा प्रदर्शित करता हू।

इतिहासकार 'प्रेमीजी'

प्रो० गो० खुशाल जैन एम्० ए०

पाश्चात्य विद्वानो का यह आरोप था कि भारतीय विद्वानो में ऐतिहासिक चेतना नही थी। अत उनकी कृतियो के आधार पर किसी वश, परम्परा, स्थान आदि का इतिहास तैयार नही किया जा सकता। इतना ही नहीं, उन लेखको के प्रामाणिक जीवन-चरित भी उनकी रचनाओ के आधार पर नही लिखे जा सकते। लेकिन विदेशी तथा भारतीय पुरातत्त्व-विशारदो की सतत् साधना से उद्भूत गम्भीर और सूक्ष्म शोधो ने उक्त कथन की निस्सारता को ही सिद्ध नहीं किया है, अपितु प्राचीन भारत का सर्वाङ्ग सुन्दर राजनैतिक एव सास्कृतिक इतिहास भी प्रस्तुत कर दिया है। भारत की प्राचीन सस्कृतियो में से अन्यतम जैन-सस्कृति के ऐतिहासिक अनुशीलन के लिए जिन विद्वानो ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उनमें प्रेमीजी का ऊँचा स्थान है।

प्रेमीजी के साहित्यिक जीवन का सूत्रपात कुछ आगे-पीछे 'जैनहितैषी' के सम्पादकत्व, 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' के मन्त्रित्व और 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय' के स्वामित्व के अनुगम से हुआ है। उनकी चिन्ता मौलिक, तलस्पर्शी और उदार है। अतएव वे 'जैनहितैषी' में उस समय की प्रथा के अनुसार चालू वस्तु देकर ही अपने सम्पादकीय दायित्व की इतिश्री नही कर सके। इस युग का प्रधान लक्षण युक्तिवाद उन्हें प्रत्येक परिणाम और मान्यता की गहराई में प्रवेश करने की प्रेरणा करता था। उन्होने जबलपुर में हुए सातवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन मे 'जैन-हिन्दी-साहित्य'[1] शीर्षक निबन्ध पढा था। यह निबन्ध उनकी शोधक वृत्ति का परिचय देने के लिए पर्याप्त है। इससे स्पष्ट है कि प्रेमीजी ने प्रारम्भ से ही अपने दृष्टिकोण को वैज्ञानिक तथा कालक्रमानुगत बनाने के लिए अथक परिश्रम किया तथा इस दिशा में लेखनी चलाने के पहले विविध शास्त्र-भडारो में बैठ कर बहुमूल्य सामग्री सकलित की। 'माणिकचन्द्र-ग्रन्थ-माला' के सचालन ने उनकी जिज्ञासा को और भी प्रखर कर दिया था। हस्त-लिखित ग्रन्थों को केवल छपवा कर निकाल देने में ही प्रेमीजी को कोई रस न था, गोकि जैनसमाज में प्रकाशन की यह पद्धति पहले थी ही नहीं, आज जो है। उनकी जागरूक चेतना उन आचार्यों के स्थान, पूर्वज, गुरु, काल, सहकर्मी, प्रशसक तथा रचनाओ को जानने के लिए व्याकुल हो उठी, जिनके प्रत्येक वचन में ससार की उलझी गुत्थियो को सुलझाने के उपाय है। इस मानसिक भूख को शान्त करने के लिए जब प्रेमीजी ने पुरातत्त्व की ओर दृष्टि फेरी होगी तो विविध साहित्य से परिपूर्ण नाना शास्त्र-भडारो, देवालयो, मूर्तियो, शिलालेखो, ताम्रपत्रो, पट्टावलियो, लोकोक्तियो आदि विशाल सामग्री को देख कर अवश्य ही कुछ क्षणों के लिए वे द्विविधा मे पड गये होगे। लेकिन कठिनाइयो से घबराना उनके स्वभाव के विरुद्ध है। अत' धैर्यपूर्वक सयत भाव से उस विपुल सामग्री का अध्ययन करके उन्होने आचार्यों का परिचय देने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

इसके बाद जैन-समाज में प्रकाशन का एक नया युग प्रारम्भ हुआ, जिसका श्रेय 'माणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला' को और उसके कर्णधार प्रेमीजी को ही है। मगलाचरण, गुरु तथा श्रेष्ठ पुरुषो के स्मरण और उदाहरण स्वरूप आये पुरुषो के उल्लेख तथा प्रशस्तियो के प्रामाणिक एव आलकारिक वर्णन में प्रेमीजी ने कमाल कर दिखाया। साहित्य समाजोद्भूत होते हुए भी उसकी जीवन-धारा का अक्षय स्रोत है। अतएव उसमें आये विविध सास्कृतिक विषय भी प्रेमीजी की पैनी दृष्टि से नही बच सके। फलस्वरूप उन्होने अनेक प्रकार की ऐतिहासिक रचनाएँ की, जिन्हें सुविधा के विचार से दो भागो में विभक्त किया जा सकता है—(अ) जैनसाहित्य का इतिहास तथा (आ) स्फुट जैन-सास्कृतिक इतिहास।

---

[1] 'जैन हितैषी' प्र० १२ पृ०, ५४१-५६८, प्र० १३ पृ० १०-३५

जैन साहित्य का इतिहास—जैनसाहित्य का भण्डार अत्यन्त समृद्ध है। अत यह देख कर आश्चर्य होता है कि प्रेमीजी ने (१) साहित्यकारो के इतिहास, (२) ग्रन्थो का विशेष अध्ययन तथा (३) कतिपय ग्रन्थो की व्यापक तुलना करने के लिए पर्याप्त समय कहाँ से निकाला होगा! इस पर भी विशेषता यह कि प्रेमीजी की लेखनी ने एक-दो विषय के विद्वानो के ही शब्द-चित्र नही खीचे है, अपितु धर्मशास्त्री, नैयायिक, वैयाकरण, समालोचक तथा स्रष्टा कवि, पुराण-निर्माता, टीकाकार, आयुर्वेदशास्त्री, तान्त्रिक आदि सभी के चरित्र उनकी शोध और लेखनी के सहारे मूर्तिमान हुए है।

साहित्यकारो का इतिहास—'कवि चरितावली' सर्व प्रथम विद्वद्रत्नमाला[1] के रूप में प्रकाश में आई थी। इसमें पुराणकार महाकवि जिनसेन गुणभद्र, धर्मशास्त्री आशाधर तथा अमितगति, सर्वशास्त्र चक्रवर्ती वादिराज, नाटककार मल्लिषेण तथा नैयायिको के दीक्षागुरु स्वामी समन्तभद्र के जीवन सकलित है। इन निबन्धो में प्रेमीजी ने प्रत्येक आचार्य की जन्मभूमि, विद्यास्थल तथा ग्रन्थ निर्माण क्षेत्र का वर्णन किया है, विविध स्रोतो के सहारे पूर्वजो का परिचय दिया है और उनका समय-निर्धारण किया है। साथ ही उनकी प्राप्य-अप्राप्य रचनाओ का भी परिचय दिया है। तत्पश्चात् यह धारा 'जैन-हितैषी' तथा अन्य शोधक पत्रो के लेखो तथा ग्रन्थमाला के ग्रन्थो की भूमिका के रूप मे प्रवाहित हुई। फलस्वरूप आचार्य वीरसेन[2], अमृतचन्द्र,[3] शिवार्य,[4] अमितगति,[5] आशाधर[6] आदि धर्मशास्त्रकार विद्वानो के इतिहास निर्मित हुए है। आचार्य वीरसेन की कृतियाँ जिस प्रकार महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार उनके सम्बन्ध की जो सामग्री प्रेमीजी ने सकलित की है, वह भी विशाल और बहुउपयोगी है। पडिताचार्य आशाधर जी के विषय में प्रेमीजी ने जो कुछ लिखा है, वह उनके पाडित्य पर ही प्रकाश नही डालता, अपितु अन्य लेखको के लिए उपयोगी सामग्री भी उपस्थित करता है। उन्होने अध्यात्म-रहस्य, योगशास्त्र, राजमिती विप्रलम्भ आदि सभी विषयो पर सफलतापूर्वक लेखनी चलाई थी।

स्वामी समन्तभद्र,[7] आचार्य प्रभाचन्द्र,[8] देवसेनसूरि,[9] अनन्तकीर्ति[10] आदि नैयायिक थे। प्रेमीजी के लेखो को देखने पर इनकी विद्वत्ता का मानचित्र सामने आ जाता है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने सभी विषयो पर लिखा है, किन्तु उनकी कीर्ति-पताका न्याय के ग्रन्थो पर ही लहराती है।

आचार्य जिनसेन, गुणभद्र,[11] चामुण्डराय[12] आदि अपने समय की अनुपम विभूतियाँ थी। इनका प्रभाव केवल साहित्यिक क्षेत्र में ही नही प्रतिफलित हुआ था, अपितु सर्वव्यापी था। आचार्य जिनसेन की पुराण-निर्माण शैली तो शतियो तक पुराण-निर्माताओ के लिए आदर्श थी। आचार्य पुष्पदन्त[13] तथा विमलसूरि[14] ने प्राकृत

---

[1] बम्बई, जैनमित्र कार्यालय, १९१२
[2] जैनहितैषी १९११
[3] जैनहितैषी १९२०
[4] अनेकान्त १९३१
[5] जैनहितैषी १९०८
[6] जैनहितैषी १९०९
[7] विद्वद्रत्नमाला पृ० १५९
[8] अनेकान्त १९४१
[9] जैनहितैषी १९२१
[10] जैनहितैषी १९१५
[11] जैनहितैषी १९११
[12] जैनसाहित्य सशोधक १९२३
[13] जैनहितैषी १९१६
[14] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० २७२

भाषा में पुराणो की रचना करके जन-साधारण के लिए धर्मकथा का मार्ग खोल दिया था। दिनोदिन प्रकाश मे आने वाली कृतियाँ इनके साहित्यिक क्षेत्र को विस्तृत ही करती जा रही है। इनके तथा स्वयभू, त्रिभुवन स्वयभू[1] प्रभृति प्राकृत कवियो के विषय में जो कुछ लिखा गया है उसमे पता चलता है कि प्रेमीजी ने अपभ्रश भाषाओ का कितना सूक्ष्म अध्ययन किया है। प्रेमीजी के उद्योग से ही कवि चतुर्मुख[2] की स्थिति स्पष्ट हो सकी है। अपभ्रश के अध्ययन-मार्ग के तो प्रेमीजी एक प्रकार मे प्रवर्तक ही है।

कविराज हरिचन्द्र,[3] वादभिसिंह,[4] धनजय,[5] महासेन,[6] जयकीर्ति,[7] वाग्भट[8] आदि कवि थे। इनकी रचनाएँ मस्कृत साहित्य की अमूल्य निधियाँ है। जहाँ धनजय का 'द्विसन्धान काव्य' समस्त कवियो को निरस्त्र कर देता है, वहाँ हरिचन्द्र का 'धर्मशर्माभ्युदय' सरलता से " सन्ति त्रयो गुण " को चरितार्थ करता है।

पूज्यपाद देवनन्दि[9] तथा मुनि शाकटायन[10] शब्दशास्त्री थे। मल्लिषेण[11] तथा वादिचन्द्र[12] नाटककार थ। टीकाकार श्रुतसागर[13], नीतिवाक्यामृत के रचयिता सोमदेवसूरि[14] तथा आध्यात्मरसवेत्ता आचार्य शुभचन्द्र[15] अपने ढग के निराले विद्वान थे। इनकी कृतियाँ अपने-अपने विषय की अनुपम रचनाएँ है। इन सब को प्रकाश मे लाने का श्रेय प्रेमीजी को ही है।

ग्रन्थ परिचय—कितने ही सस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थो का गम्भीर अध्ययन करके प्रेमीजी ने उनका महत्त्व प्रकट किया। इस प्रकार के अध्ययन को बदौलत ही 'आराधना' की अनेक टीकाएँ प्रकाशित हुई है। 'नीतिवाक्यामृत' का अनुशीलन केवल प्रेमीजी की उदार समालोचक वृत्ति का ही परिचायक नही है, अपितु ग्रन्थ की महत्ता को भी सुस्पष्ट कर देता है। उन्होने इसकी कौटिल्य के अर्थशास्त्र के साथ जो तुलना की है, वह तो अपने ढग की एक ही है। इसी प्रकार लोकविभाग तिलोयपण्णत्ति[16] तथा जम्बूद्वीप पण्णत्ति[16] के विश्लेषण जैनाचार्यो की तीक्ष्ण भौगोलिक अभिरुचि के परिचायक है।

प्रेमीजी की बहुमुखी साहित्यिक एव ऐतिहासिक प्रवृत्तियो का इस लेख में विस्तृत परिचय देना सम्भव नही। प्राप्य, अप्रकाशित तथा अप्राप्य[17] ग्रन्थो का परिचय देकर उन्होने साहित्य की महान सेवा की है। वे केवल सस्कृत तथा प्राकृत के कवियो को ही ख्याति में नही लाये है, कर्णाटक[18] आदि प्रान्तीय भाषाओ के कवियो को भी उन्होने प्रकाशित किया है। अतएव प्रेमीजी की कृतियो को स्व० विण्टरनित्ज के जैन-साहित्य के इतिहास[19] का पूरक ही नही, परिवर्द्धक भी कहना उचित ही होगा।

---

[1] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ३७०
[2] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४७२
[3] क्षत्रचूणामणि (भूमिका) १९१०
[4] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४६४
[5] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० १२३
[6] अनेकान्त १९३१
[7] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४८२
[8] जैनहितैषी १९२१
[9] जैनहितैषी १९१६
[10] विद्वद्रत्नमाला पृ० १५४
[11] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० २६७
[12] जैनहितैषी १९२१
[13] जैनसाहित्य सशोधक १९२३
[14] अनेकान्त १९४०
[15] जैनहितैषी १९१७
[16] जैनसाहित्य और इतिहास पृ० २५१
[17] हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर कलकत्ता वि० वि० १९३३
[18] कर्णाटक जैन कवि, बम्बई १९१४
[19] हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर वि० वि १९३३

स्फुट सास्कृतिक इतिहास की ओर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि प्रेमीजी ने सस्कृति के इनेगिने पगो का ही पोषण नही किया है, बल्कि तीर्थक्षेत्र, वश, गोत्र आदि के नामो का विकास तथा व्युत्पत्ति, आचारशास्त्र के नियमो का भाष्य विविध सस्कारो का विचार, दार्शनिक मान्यताओ का विश्लेषण आदि सभी विषयो का ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया है। "हमारे तीर्थक्षेत्र",[1] "दक्षिण के तीर्थक्षेत्र"[2] तथा "तीर्थो के झगडो पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार"[3] इन निबन्धो के द्वारा पौराणिक वर्णन, निर्वाणकाण्ड, शिलालेख, प्रतिष्ठाप्रशस्ति, तीर्थमाला आदि उपलब्ध सामग्री के आधार पर प्रेमीजी ने तीर्थों की तीर्थता का कारण, उनके भेद, मूल स्थान तथा प्राचीनता का विशद विवेचन किया है। इतना ही नही, ऐतिहासिक विकास की धारा का निरूपण करके यह भी सिद्ध कर दिया है कि उनके लिए झगडना सस्कृति-विरोधी ही नही है, सर्वथा निस्सार भी है।

सिंघई, सिंगई, सघवी, सघी[4], साधु, साहु[5], पतिपत्नी के समान नाम[6] आदि टिप्पणियाँ जितनी रोचक है उससे अधिक पथ-प्रदर्शक भी है। उनसे गोत्र आदि के शुद्ध जैनस्वरूप को समझने की प्रेरणा मिलती है। परिग्रह परिमाण के दास-दासियो का प्रखर परीक्षण,[7] जैनधर्म की अनीश्वरवादिता का पोषण[8] तथा यज्ञोपवीत और जैनधर्म[9] का सम्बन्ध-विचार प्रेमीजी की परिश्रमपूर्ण खोज के द्योतक है।

आचार्यो के समय, स्थान, प्रेरक, श्रोता, आदि के विवेचन के प्रसग मे प्रेमीजी ने अनेक राजाओ, शिलालेखो आदि का उल्लेख किया है। यथा—आचार्य जिनसेन के साथ भण्डिकुल भूषण महाराज इन्द्रायुध, राष्ट्रवशी श्री वल्लभ-गोविन्द द्वितीय, प्रतीहारवशी वत्सराज का विवेचन, मुनि शाकटायन के प्रकरण से महाराज अमोघवर्ष तथा शक राजाओ का निरूपण, पण्डिताचार्य आशाधर जी के सम्बन्ध में परमार विन्ध्य वर्मा, सुभट वर्मा, अर्जुन वर्मा, देवपाल तथा जयसिंह द्वितीय का उल्लेख, आचार्य सोमदेव के अनुसग से राष्ट्रकूट कृष्णराज तृतीय की सिंहल, चोल, चेर विजयो का वर्णन, श्रीचन्द्र के साथ परमार भोज, आचार्य प्रभाचन्द्र के साथ परमार जयसिंह, आदि का विवेचन। इन खोजो से केवल आचार्यो के समय तथा स्थान, आदि का ही निर्णय नही हुआ है, अपितु इन आचार्यो के निर्देशो के द्वारा इन वशो के इतिहास की अनेक मान्यताओ का पोषण, परिवर्तन और परिवर्द्धन भी हुआ है। इस प्रकार प्रेमीजी ने इतिहास की भी पर्याप्त सेवा की है। यापनीय साहित्य[10] के विषय में प्रेमीजी की खोजें अत्यन्त गम्भीर और प्रमाणो से परिपुष्ट हैं। यापनीय सघ के प्रारम्भ, भेद, आचार्य-शिष्य परम्परा आदि सभी अगो का प्रेमी जी ने विविध दृष्टियो से विवेचन किया है। इसके अनुसग से पचस्तूप, सेन आदि अनेक अन्वय भी प्रकाश में आ गये हैं।

---

[1] जैन सिद्धान्त भास्कर १९३९
[2] अनेकान्त १९४०
[3] जैन हितैषी १९२१
[4] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५४०
[5] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५४१
[6] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५४२
[7] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५४६
[8] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५६२
[9] जैन साहित्य और इतिहास पृ० ५२९
[10] इण्डियन एण्टीक्वायरी प्र० २७, १८९८, ६७-८१, ९२-१०४, १२२-१३६

स्पष्ट है कि प्रेमी जी की प्रवृत्ति इस क्षेत्र में सर्वतोमुखी है। इतना होने पर भी प्रेमीजी शुद्ध जिज्ञासु रहे हैं। उन्हें किसी भी मान्यता में पक्षपात नहीं है। किसी भी साधन का उपयोग करते समय उनकी दृष्टि वस्तु-स्थिति पर ही रहती है, अपने अभीष्ट परिणाम पर नही। उनके सभी निष्कर्ष तटस्थ रहते हैं। दृष्टि उदार है, इसीलिए जाति, धर्म, देश, आदि का विचार उनके अनुशीलन को किसी प्रकार भी प्रभावित नही करता। नवीन सामग्री के प्रकाश में वे अपने प्राचीन मन्तव्यो को सहज ही परिवर्तित कर देते हैं। यही कारण है कि 'जैन-साहित्य तथा इतिहास,'[1] में हम उनकी अधिकाश पूर्व प्रकाशित रचनाओ को सर्वथा नूतन तथा परिष्कृत रूप में पाते हैं। उनकी सरल, सुबोध और सरस शैली ने इतिहास जैसे शुष्क विषय को भी रोचक बना दिया है।

प्रेमीजी की इन कृतियो से जैन-सस्कृति पर तो प्रकाश पडा ही है, साथ ही हिन्दी-साहित्य भी उनसे समृद्ध हुआ है।

आरा]

[1] 'हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर-कार्यालय' द्वारा प्रकाशित १९४२
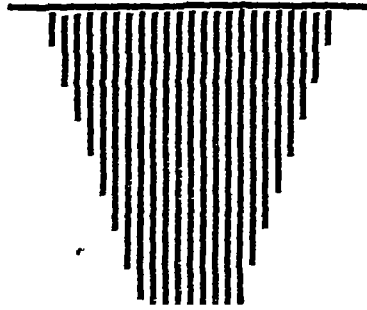
प्रेमीजी की देन

प० देवकीनन्दन

प्रेमीजी से मेरा बहुत पुराना परिचय है। मेरे विचार से उनके लेखो से जैन-जनता की मनोवृत्ति में जितना परिवर्तन हुआ है, उतना अन्य कारणो से नहीं। उन्होने किसी भी शिक्षा-प्रेमी को, चाहे वह सुधारक हो, अथवा स्थितिपालक, अपनी दृष्टि से शिक्षा देने का प्रयत्न नही छोडा। उनका मत मान्य होता है या नहीं, इसकी उन्होने अधिक चिन्ता नही की। अपने मत की पुष्टि सयत ढग से निरन्तर करते रहे है। इन वातो से निष्कर्ष निकलता है कि प्रेमीजी अपने विचारो में दृढ है और प्रभावशाली ढग से उनका प्रचार करते है। यह वात ध्यान देने योग्य है कि वे अपने विचारो का भापण द्वारा नही, बल्कि वैयक्तिक परिचय एव सम्पर्क द्वारा दूसरो पर प्रभाव डालते है। जैन-समाज मे शायद ही कोई ऐसा विद्वान हो, जिसने प्रेमीजी के समान अपनी स्वाभाविक जिज्ञासा एव प्रामाणिकता के द्वारा देश के विद्वानो मे इतना नाम कमाया हो।

सन् १९०७ में प्रेमीजी अपने पुस्तक-सम्वन्वी किसी मामले में काशी गये थे। मै भी वहां पहुँचा। उस समय स्याद्वाद महाविद्यालय के छात्रो के समक्ष भाषण देते हुए प्रेमीजी ने कहा था—केवल अग्रेजी पढ-लिखकर ही कोई सुधारक नही वन सकता। सच्चा सुधारक तो वही हो सकता है, जो सस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन करके अपने विचारो को पुष्ट करे। आज के ये पडित लोग कालान्तर में सुधारक वन जायँगे। प्रेमीजी के इस कथन को इतने वर्ष वाद आज मै स्वय अपनी आँखो सत्य होते देख रहा हूँ।

प्रेमीजी की सदा से यह भावना रही है कि विद्यालयो में प्राकृत और अपभ्रश का पठन-क्रम रक्खा जाय तथा इन भापाओं के व्याकरण एव कोष छपाये जायँ। इससे जिज्ञासुओ को जैनागमो का रहस्य समझने में वडी सहायता मिल सकती है। इस प्रयत्न मे प्रेमीजी को पूरी सफलता तो नही मिली, लेकिन साहित्य-प्रेमियो का ध्यान भाषा और विज्ञान के अध्ययन की ओर अवश्य आकृष्ट हुआ है।

प्रेमीजी ने अपने ज्ञान का अर्जन स्वय किया है। उनके जीवन की सबसे वडी खूवी यही है कि वे प्रारम्भ से ही स्वावलम्बी रहे हैं और सात्विक दृष्टि से विविध विषयो का अध्ययन करके लगन और परिश्रम के साथ उन्होने पाठको को स्वस्थ मानसिक भोजन प्रदान किया है।

कारजा]

आभार

मुनि जिनविजय

सुहृद्वर प्रेमीजी के साथ मेरा प्रथम परिचय सन् १९१२-१३ के लगभग पत्र-व्यवहार द्वारा हुआ। प्रेमीजी उस समय 'जैनहितैषी' नामक छोटे-से हिन्दी मासिक पत्र का सम्पादन करते थे, जिसमें जैन-इतिहास और साहित्य-विषयक लेख विशेष ढग से लिखे जाते थे। मेरे प्रारम्भिक अध्ययन की रुचि भी इन्ही विषयो में अधिक थी। जब से मुझे पता चला तब से मैंने प्रेमीजी द्वारा सम्पादित उस मासिक को नियमित रूप से पढना प्रारभ कर दिया और उसमें प्रेमीजी के साहित्य एव इतिहास-सम्बन्धी लेखो को मनन-पूर्वक पचाने का प्रयत्न करने लगा। ज्यो-ज्यो प्रेमीजी के लेख पढता था, मेरी उस विषय की जिज्ञासा बढती जाती थी। मै भी उस विषय मे कुछ लेखन और सशोधन करने का मनोरथ करने लगा, पर उस समय मेरी तद्विषयक अध्ययन-क्षमता बहुत ही स्वल्प थी और उसके बढाने की उत्कट अभिलाषा होने पर भी वैसी कोई साधन-सामग्री मुझे प्राप्य नही थी, लेकिन प्रेमीजी के लेख पढ कर जैन-साहित्य और इतिहास विषयक लेख हिन्दी में लिखने की योग्यता प्राप्त करना मेरे जीवन का ध्येय बन गया और मैंने यथाशक्ति एव यथा-साधन अपनी ज्ञान-साधना का लक्ष्य-बिन्दु उस दिशा में स्थिर कर लिया। कैसी अबोधावस्था में प्रेमीजी के लेखो ने मुझे प्रेरणा दी और किस प्रकार मै अपने जीवन-लक्ष्य के निकट पहुँचने की स्वल्प योग्यता प्राप्त कर सका, इसका स्मृति-चित्र मेरे मानस-पट पर, जब मै प्रेमीजी के बारे में अपने दीर्घकालीन स्मृति-चित्रो का सिंहावलोकन करने बैठता हूँ तो सबसे पहले उठ आता है। मेरे हृदय के विशिष्ट कोने मे मेरे जीवन के प्रारम्भ से ही प्रेमीजी ने कैसा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर रक्खा है, उसकी स्पष्ट कल्पना करने के लिए यहाँ कुछ निजी बातें अकित करना आवश्यक है।

मैं उन दिनो सर्वथा प्रथमाभ्यासी की दशा में था। न हिन्दी लिखना जानता था और न गुजराती। कारण कि मेरा अध्ययन किसी स्कूल या पाठशाला में नही हुआ था। मेवाड के एक छोटे-से गाँव में एक अपढ राजपूत-घर में मैंने जन्म पाया था और नौ-दस वर्ष की अवस्था में मुझे वहाँ से उठा कर एक जैन यति की शरण में रख दिया गया था। यति जी महाराज ने मुझे सर्व प्रथम **'ओ नमः सिद्धम्'** सिखाया और वर्णमाला का परिचय कराया। उस ज़माने में राजपूताने के ग्रामीण विद्यालयो मे सर्वत्र प्रचलित **'सिद्धो वर्णः'** से प्रारम्भ होने वाला वह सूत्रपाठ रटाया जाता था, जो कातन्त्र व्याकरण का प्रथम पादरूप है और सस्कृतानभिज्ञ शिक्षको की अज्ञानता के कारण इतना भ्रष्ट हो गया है कि उसका अर्थ न किसी शिक्षक की समझ में आता था और न किसी शिष्य की। फिर मुझे पट्टी-पहाडे पढ़ाये गये। बस इतने ही मे मेरी प्राइमरी शिक्षा पूरी हो गई। अनन्तर यति जी ने जैनधर्म के **'णमोकार मन्त्र'** आदि पढाना शुरू किये। साथ ही चाणक्य नीति के श्लोको का भी पाठ कराया। **'अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया। चक्षुरुन्मीलित येन'** इस सुप्रसिद्ध श्लोक मे जिसे प्रथम गुरु बतलाया गया है, मेरे प्रथम गुरु वे यति जी ही थे। बस उतना-सा चक्षुरुन्मीलन कर वे स्वर्ग सिधार गये और मैं आश्रयहीन होकर किसी अन्य गुरु की शोध में इधर-उधर भटकने लगा। भटकते-भटकते स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय के एक साधु से भेंट हो गई, जिनके पास मैंने दीक्षा ले ली। पाँच-सात वर्ष तक उनकी सेवा की और जो कुछ ज्ञान-लाभ करने का अवसर मिला, प्राप्त किया। लेकिन यह ज्ञान केवल सम्प्रदायोपयोगी और सर्वथा एकदेशीय था। अत मेरी ज्ञानपिपासा यत्किंचित भी शान्त न होकर और भी अधिक तीव्र हो उठी। अन्त में मैंने उस सम्प्रदाय का त्याग कर दिया और मूर्तिपूजक-सम्प्रदाय के एक प्रज्ञासपदधारक मुनि महाराज की सेवा में जा पहुँचा। इस सम्प्रदाय मे विद्याध्ययन का क्षेत्र अपेक्षाकृत कुछ विशाल था और उसके साधन भी कुछ अधिक रूप मे सुलभ होने से मैंने अपनी ज्ञानपिपासा को अधिकाधिक सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया।

अज्ञात को ज्ञात करने की मेरी उत्कट अभिलाषा ने मुझे इतिहास के विषय की ओर प्रेरित किया। जैन-धर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय के स्थानकवासी और मूर्तिपूजक पक्ष के पारस्परिक मतभेदो का वास्तविक मूल क्या है और उसके साथ ही जैन-शास्त्रो में भारतवर्ष आदि के पुरातन युग के विषय में जो वाते लिखी हुई है उनका वास्तविक स्वरूप क्या है, इसके जानने की मुझे स्वाभाविक ही वडी उत्कठा होने लगी। उसके समाधान के लिए कौन-सा साहित्य है और वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसका मुझे कोई ज्ञान नही था। जैन साधुओ की तद्विपयक कोई पुस्तक मिलती तो मै उसका विचारपूर्वक मनन करता रहता था। इस समय तक मै हिन्दी और गुजराती दोनो भाषाएँ ठीक-ठीक समझने लगा था, परन्तु अपने सम्प्रदाय के सिवाय इन भाषाओ में लिखी गई अन्य पुस्तकें पढने या देखने का कोई अवसर नही मिला था। एक दिन अकस्मात एक वहुत ही विद्वान समझे जाने वाले महामुनिराज के अत्यन्त प्रिय शिष्य के पास हिन्दी-गुजराती की उक्त प्रकार की पुस्तको का ढेर पडा देखा, जिनमे टॉड के राजस्थान का हिन्दी रूपान्तर भी था। उस पुस्तक को मैने आद्योपान्त पढा और पढने पर ऐसा प्रतीत हुआ मानो मैने कोई अद्भुत ज्ञान प्राप्त कर लिया हूँ। अपनी जाति के परमारवश तक का मुझे अवतक कुछ भी ज्ञान न था। टॉड का राजस्थान पढ़ कर मुझ में अपनी जाति के गौरव की अहन्ता जाग्रत होने लगी। इसी ग्रन्थ में जैन-समाज और जैन-धर्म के इतिहास के भी कुछ उल्लेख यत्र-तत्र पढने मे आये, जिससे जैन-जातियो और तीर्थों आदि के इतिहास की ओर भी मेरी जिज्ञासा वढने लगी।

इसके वाद से तो मै इतिहास की पुस्तको के प्राप्त करने की कोशिश में निरन्तर लीन रहने लगा। उक्त साधु महाराज के पास से 'सरस्वती' के कुछ अक प्राप्त करके पढे। उनमें सभी विषय के अच्छे-अच्छे विद्वानो द्वारा लिखे लेख थे। यद्यपि उन सव लेखो को मै नही समझ सका तथापि जो भी मेरी समझ में आये, उन्हें मैंने कई वार पढ़ा। कुछ समय पश्चात् मुझे पाटण आदि के पुरातन जैन-भडारो का समुद्धार करने वाले इतिहास-प्रेमी पूज्यपाद प्रवर्तक श्री कान्तिविजय जी महाराज की सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यहाँ मुझे पाटण के भडारो तथा 'सरस्वती' पत्रिका के अको को देखने का अवसर मिला। प्रेमीजी द्वारा सम्पादित 'जैनहितैषी' मैने सर्वप्रथम यही पर देखा। उसके सव अक, जो वहाँ सुलभ हो सके, वडे चाव से पढ़ गया। तव से 'सरस्वती' और 'जैनहितैषी' की हिन्दी को मैने अपनी भावी आदर्श भाषा के रूप में निश्चित किया। 'जैन-हितैषी' मे जैन-इतिहास और साहित्य विषयक छोटे-वडे लेख प्रेमी जी नियमित रूप से लिखा करते थे। उन्हें पढ-पढ़ कर मै भी वैसे ही लेख लिखने का प्रयत्न करने लगा। इस वीच प्रेमीजी का एक छोटा-सा लेख जैन शाकटायन व्याकरण पर लिखा हुआ मेरे पढने में आया। उन शाकटायनाचार्य के विषय में एक नवीन प्रमाण मुझे श्वेताम्वर ग्रन्थ में उपलब्ध हुआ था, जिसके आधार पर मैने एक छोटा-सा लेख तैयार किया। उस लेख को पहले तो 'जैनहितैषी' में छपने के लिए भेजने की इच्छा हुई, लेकिन विचार हुआ कि प्रेमीजी दिगम्बर सम्प्रदायानुयायी होने के कारण शायद मेरा लेख अपने पत्र मे छापना पसन्द न करें। प्रेमीजी से उस समय तक मेरा कोई विशेष परिचय न था। केवल इतना ही जानता था कि वे 'जैन-हितैषी' के सम्पादक है और हिन्दी के एक अच्छे लेखक माने जाते हैं। अत 'सरस्वती' मे प्रकाशनार्थ वह लेख मैने प० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के पास भेज दिया। कोई दस-वारह दिन वाद मुझे द्विवेदी जी के हाथ का लिखा एक पोस्टकार्ड मिला। लिखा था—

"श्रीमन्,

शाकटायनाचार्य पर का आपका लेख मिला। धन्यवाद। लेख अच्छा है। छापूगा।

विनीत

म० प्र० द्विवेदी"

'सरस्वती' के अगले अक मे वह लेख आ गया। उसके दो-एक महीने वाद प्रेमी जी का एक पोस्टकार्ड मिला, जिसमें लिखा था—

"मान्यवर मुनि महाराज,

'सरस्वती' मे शाकटायनाचार्य पर लिखा हुआ आपका लेख पढ कर मुझे वडी खुशी हुई। आपने वडे अच्छे प्रमाण खोज निकाले है। कभी 'जैनहितैषी' में भी कोई लेख भेजने की कृपा करेंगे तो बहुत अनुग्रहीत हूँगा ।"

बस इसी पोस्टकार्ड द्वारा प्रेमीजी से मेरे स्नेह-सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ। प्रेमीजी का यह कार्ड मेरे लिए बहुत ही प्रेरणादायक और उत्साहवर्धक सिद्ध हुआ। 'सरस्वती' मे प्रकाशित उस प्रथम लेख के छापने की स्वीकृति की सूचना देने वाला प० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी का पोस्टकार्ड प्राप्त कर जो मुझे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त हुआ था, उससे कही अधिक आनन्द मुझे प्रेमीजी के इस पोस्टकार्ड से मिला। उससे मुझे विशिष्ट स्फूर्ति मिली, क्योकि मेरा आदर्श प्रेमी जी की तरह जैन-इतिहास और साहित्य के बारे में लिखना था। मुझ में आत्मविश्वास पैदा हुआ।

इसके बाद प्रेमीजी के साथ मेरा पत्रव्यवहार प्रारम्भ हुआ। जैन-इतिहास और साहित्य के विषय में परस्पर विचारो का आदान-प्रदान होने लगा और दोनो के बीच काफी स्नेहभाव बढ़ गया।

सन् १९१९ की जून मे श्री कान्तिविजय जी महाराज के साथ पादभ्रमण करता हुआ मै भी बम्बई में चातुर्मास करने के निमित्त आया। जिस दिन गोडी जी के जैनमन्दिर के उपाश्रय में हमने प्रवेश किया उसी दिन दोपहर को दो बजे प्रेमीजी मुझसे मिलने आये और वही उनसे प्रथम बार साक्षात्कार हुआ।

उस बात को आज लगभग तीस वर्ष पूरे होने जा रहे है। इन तीस वर्षों में हम दोनो का पारस्परिक स्नेह सम्बन्ध दिन-प्रतिदिन बढता ही रहा है। प्रेमीजी मेरे निकट एक अत्यन्त आत्मीय जन जैसे बन गये है। इस सुदीर्घकालीन सम्बन्ध का सक्षिप्त परिचय देना भी यहाँ शक्य नही है। मेरे हृदय में प्रेमी जी का क्या स्थान है और मेरे जीवन के कार्य-क्षेत्र में उनका कौन-सा भाग है, यह सब इस लेख से स्वय स्पष्ट हो जाता है।

बम्बई]

सुधारक प्रेमीजी

श्री कृष्णलाल वर्मा

(१)

सन् १९१२ में जब दिल्ली में पचम जार्ज का राज्यारोहण-उत्सव हुआ था, लाखो की भीड इकट्ठी हुई थी। जैनियो के भी अनेक विद्वान् आये थे। प्रेमीजी भी पधारे और गुरुवर्य स्व० अर्जुनलाल जी सेठी के साथ मै भी गया। इसी अवसर पर जैन-विद्वानो के स्वागतार्थ पहाडीधीरज पर ला० जग्गीमल जी के मकान पर एक सभा हुई, जिसमे प्रेमीजी भी उपस्थित थे। उनसे प्रथम परिचय इसी सभा में हुआ। सभा की समाप्ति पर सब लोग बाहर आये। भोजन की उस दिन वही व्यवस्था की गई थी, लेकिन प्रेमीजी नही ठहरे। जाने लगे तो सेठी जी ने ला० जग्गीमल से कहा, "प्रेमीजी जा रहे है। उन्हें रोकिये।"

प्रेमीजी आगे बढ गये थे। लाला जी ने अपने गुमाश्ते को उन्हे बुलाने के लिए भेजा। गुमाश्ते ने पुकारा, "ओ, म्याँ पडिज्जी! ओ म्याँ पडिज्जी!" लेकिन प्रेमीजी नही रुके। उन्हे क्या पता था कि 'म्याँ पडिज्जी!' कह कर उन्ही को पुकारा जा रहा है। अन्त में गुमाश्ता दौड कर प्रेमीजी के सामने गया और बोला, "अजी साहब, आपको लाला जी बुला रहे हैं।'

प्रेमीजी लौट आये और 'म्याँ पडिज्जी' सम्बोधन पर खासी दिल्लगी रही।

× × ×

खास-खास जैनी भाइयो के लिए दिल्ली वालो ने एक स्थान पर भोजनशाला की व्यवस्था कर दी थी। पहले ही दिन बुन्देलखड के एक सिंघई को साथ लेकर भोजनशाला का पता लगा कर प्रेमीजी वहाँ पहुँचे तो देखते क्या है कि पाजामा पहने नगे बदन कई आदमी रसोई बना रहे है। उन्ही जैसे और भी आदमी काम में लगे थे। सिंघई जी को सन्देह हुआ। बोले, "अरे, यहाँ तो मुसलमान भरे हुए है। कही हम लोग भूल तो नही गये?"

प्रेमीजी ने कहा, "नही, ये अग्रवाल जैनी है।"

"जैनी!" सिंघई जी आश्चर्य से बोले, "ये कैसे जैनी है कि जिनके सिर पर चोटी भी नही है और बदन पर धोती के बजाय पाजामा पहने है!"

प्रेमीजी उन्हें मुश्किल से समझा सके।

(२)

सन् १९१३ की बात है। मै उस समय वर्द्धमान विद्यालय जयपुर में पढता था। एक दिन स्व० अर्जुनलाल जी सेठी के स्व० पुत्र प्रकाशचन्द्र जी का जन्मोत्सव मनाया गया। उस अवसर पर समाज-सुधारक और राष्ट्रीय क्रान्तिकारी लोग ही सम्मिलित हुए थे। उनके प्रगतिशील विचारो के आधार पर एक लेख तैयार करके मैने 'जैन हितैषी' मे छपने के लिए प्रेमीजी के पास भेज दिया। आशा तो न थी कि छप जायगा, लेकिन कुछ दिन बाद ही प्रेमीजी का पत्र मिला। लिखा था—

"लेख मिला। छप जायगा। लिखते समय भाषा का ध्यान रक्खा करो। इस तरह के लेख जब मौका मिले, अवश्य भेजो।"

इस पत्र में यह भी बताया गया था कि लेख लिखने में किन-किन बातो का ध्यान रखना चाहिए। पूरे दो पन्ने की चिट्ठी थी। उससे मुझे अपने विकास का मार्ग निश्चित करने मे बडी सहायता मिली और मुझमें आत्म-निर्भरता उत्पन्न हुई।

जब वह लेख छपा तब मैंने देखा कि मेरी भावना रूपी बेडौल मूर्ति को चतुर कारीगर ने छीलछाल कर सुडौल और सुन्दर बना दिया है और आश्चर्य यह कि मुझे ही उसका निर्माता बताया है।

(३)

प्रेमी जी विधवा-विवाह और अन्तर्जातीय विवाह के प्रचारक और पोषक रहे हैं। उन्होने सर्वप्रथम विधवा-विवाह का आन्दोलन अहमदाबाद-निवासी स्व० मणिलाल नभूभाई द्विवेदी के एक गुजराती लेख का अनुवाद प्रकाशित करके प्रारभ किया। मुद्दत तक पक्ष-विपक्ष में लेख निकलते रहे। इन लेखो से प्रभावित होकर और अपनी बिरादरी की कोई क्वारी लडकी शादी के लिए न मिलने के कारण स्व० प० उदयलाल जी काशलीवाल ने विधवा-विवाह करने का इरादा किया। उनके परमस्नेही वर्धा निवासी सेठ चिरजीलाल जी बडजात्या ने पहले तो क्वारी लडकी ही तलाश करने का प्रयत्न किया, लेकिन सफलता न मिली तो पडित जी ने एक विधवा से ही शादी कर ली। समारोह में श्वेताम्बर और दिगबर समाज के अनेक प्रतिष्ठित महानुभाव उपस्थित थे। प्रेमीजी ने भी पर्याप्त सहायता की। सस्कार-विधि सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक स्व० प० अर्जुनलाल जी सेठी ने कराई।

शादी तो हो गई, लेकिन तुरत ही भूलेश्वर (बबई) के दिगंबर जैनमदिर में खडेलवालो की पचायत हुई। विवाह में भाग लेने वाले सभी व्यक्तियो को आमन्त्रित किया गया था। स्व० सेठ सुखानन्द जी और प० धन्नालाल जी पचायत के मुखिया थे।

बहुत वाद-विवाद के बाद सेठ सुखानन्द जी ने पूछा, "अब हम लोगो के साथ आपका कैसा बर्ताव रहेगा ?"

सब चुप थे। जाति से अलग होने का साहस किसी में भी नही था। प्रेमीजी बोले, "हम गरीब आदमी धनिको के साथ कोई सबध नही रखना चाहते।"

सेठ जी ने कहा, "अगर आप लोग माफी माँग लें और प्रतिज्ञा करें कि भविष्य में कभी ऐसे काम में शामिल न होगे तो आप लोगो को माफ किया जा सकता है।"

इस पर प्रेमीजी से न रहा गया। बोले, "माफी ! माफी वे माँगते हैं, जो कुछ गुनाह करते है। हमने कोई गुनाह नही किया। विधवा-विवाह को मै समाज के लिए कल्याणकारी समझता हूँ। जैन समाज में एक तरफ हजारो बाल-विधवाएँ हैं और दूसरी तरफ हजारो गरीब युवक क्वारे फिर रहे है। उन्होने समाज के जीवन को कलुषित कर रक्खा है। आये दिन भ्रूण-हत्याए होती रहती है। इनसे छुटकारा पाने का सिर्फ एक ही इलाज है और वह है विधवा-विवाह।"

इतना कहकर प्रेमीजी वहाँ से चल दिये। कहना न होगा कि वे और उनके समर्थक पचायत से अलग कर दिये गये।

कुछ समय पश्चात् प्रेमी जी ने अपने छोटे भाई नन्हें लाल की शादी एक विधवा से की। इस बार परवारो की पचायतों ने उन्हें भाई-सहित जाति-च्युत कर दिया। कुछ लोगो ने प्रेमीजी को सलाह दी कि कह दीजिये कि नन्हें-लाल के साथ आपका खानपान का सबध नही है। लेकिन प्रेमीजी ने कहा, "यद्यपि मैं बबई में रहता हूँ और नन्हेंलाल अपने गाँव देवरी में, इससे साथ खानेपीने का प्रश्न ही नही उठता, तथापि मैं ऐसी कोई घोषणा नही कर सकता। घोषणा करने का मतलब यह है कि मै अपने सिद्धान्त पर कायम नही रह सकता हूँ। डरपोक हूँ और स्वय अपनी बात पर आचरण न कर समाज को गुमराह कर रहा हूँ।"

इतना ही नहीं, यह जाहिर करने के लिए कि उनका नन्हेंलाल के साथ पहले जैसा ही संबध है, प्रेमीजी लगभग एक मास देवरी जाकर रहे।

(४)

प्रेमी जी अंतर्जातीय विवाह का भी आन्दोलन करते थे। जिस प्रकार विधवा-विवाह संबंधी अपनी मान्यता को अमली जामा पहनाने का प्रश्न उनके सामने रहता था, उसी प्रकार अन्तर्जातीय विवाह संबंधी अपनी मान्यता को भी व्यावहारिक रूप देने के लिए वे उत्सुक थे। अत जब उनके पुत्र स्व० हेमचन्द्र के विवाह की बात आई तो उन्होंने इच्छा प्रकट की कि उसके लिए परवार-समाज से बाहर की लड़की देखी जाय। लेकिन प्रेमीजी के मित्रो का आग्रह हुआ कि शादी परवार लड़की से ही की जाय। इससे विधवा-विवाह के विरोधी लोगो को पता लग जायगा कि वे चाहे जितना विरोध करें, चाहे जितने प्रस्ताव पास करें, लेकिन समाज विधवा-विवाह करने वालो के साथ है।

प्रेमी जी बड़े असमंजस में पड़े। एक ओर तो अपने सिद्धातो की रक्षा का प्रश्न था और दूसरी ओर यह प्रमाणित करने का प्रलोभन कि समाज विधवा-विवाह के समर्थको के साथ है। बहुत सोचा-विचारी के बाद उन्होंने यही निश्चय किया कि परवार कन्या के साथ ही शादी की जाय और दमोह के चौधरी फूलचंद जी की लड़की के साथ सगाई पक्की कर दी।

जब यह समाचार बंबई पहुँचा तो प्रेमी जी के एक अत्यन्त श्रद्धापात्र पंडित जी ने परवार-समाज के एक नेता को लिखा कि आपको इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि प्रेमीजी के समधी को भी बिरादरी से अलग कर दिया जाय और शादी में परवार-समाज का एक बच्चा भी शामिल न हो। इस पर उन्होंने विशेष रूप से दौरा करके सागर, दमोह और कटनी आदि की पचायतो में प्रस्ताव पास कराए कि शादी में कोई भी सम्मिलित न हो, लेकिन इसका कोई भी परिणाम न निकला। समाज और बाहर के कई सौ प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मिलित हुए और विवाह बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ। विरोधी मुँह ताकते रह गये।

बम्बई]
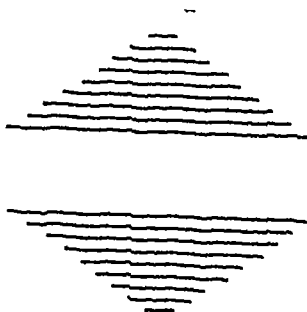
: २ :

भाषा-विज्ञान
और
हिन्दी-साहित्य

भारतीय आर्य-भाषा में बहुभाषिता

श्री सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या एम्० ए० (कलकत्ता), डी०-लिट्० (लदन)

नव्य भारतीय आर्यभाषा के शब्द निम्नाकित वर्गों मे से किसी एक के अतर्गत आते हैं—

(१) उत्तराधिकार-सूत्र से प्राप्त भारतीय आर्य (इदो-यूरोपीय) शब्द (शब्द, धातु तथा प्रत्यय), जो प्राकृतज या तद्भव रूप मे मिलते हैं।

(२) सस्कृत से उधार लिए हुए शब्द, जो तत्सम और अर्ध-तत्सम शब्द कहलाते है।

(३) भारतीय अनार्य शब्द, ठेठ देशी रूप, जो भारतीय आर्य-भाषा मे आद्य भारतीय आर्य-काल से लेकर नव्य भारतीय आर्य-भाषा के निर्माण-काल तक प्रचलित रहा। इस श्रेणी के अदर उन शब्दो का एक बडा समूह आता है, जिनकी उत्पत्ति वास्तव मे इदो-यूरोपीय नही है, और जिनके लिए उपयुक्त अनार्य (द्राविण तथा ऑस्ट्रिक) सबधो का पता लगाया गया है।

(४) विदेशी भाषाओ के शब्द, जो आद्य भारतीय आर्य-काल से (जिसका प्रारभ वैदिक शब्दो मे कुछ मैसोपोटैमियन शब्दो के मिलने से होता है) लेकर बाद तक प्रचलित मिलते है। इन शब्दो मे प्राचीन ईरानी, प्राचीन ग्रीक, मध्य ईरानी, एक या दो प्राचीन चीनी, नवीन ईरानी (अथवा आधुनिक फारसी, जिनमें तुर्की और अरबी भी है) पुर्तगाली, फ्रेंच, डच और अग्रेजी गिने जाते है।

(५) इनके अतिरिक्त कुछ अज्ञातमूलक शब्द है, जो न तो भारतीय आर्य-भाषा के है और न विदेशी है, किंतु जिनका सबध, जहाँ तक हमे ज्ञात है, भारत की अनार्य-भाषाओ के साथ भी निश्चय रूप से नही जोडा जा सकता।

ऊपर के पाँच वर्गों मे भारतीय आर्य-भाषा के सम्पूर्ण शब्द आ जाते है। नव्य भारतीय आर्य-भाषाओ के वे शब्द अपने या निजी है, जो वर्ग (१) के अन्तर्गत है, और भारतीय-उत्पत्ति-वाले उच्चकोटि के निजी सस्कृत-गर्भित शब्द द्वितीय वर्ग के अन्दर आते है। वर्ग (३), (४) और (५) के शब्द बाहरी बोलियो से लिये गये है, चाहे वे देशी हो या विदेशी। उत्तर भारत के अनार्यों ने आर्य-भाषाओ को उस समय से अपनाना प्रारम्भ कर दिया था, जब आर्य-भाषा-भाषी पजाव में बस कर अपने प्रभाव को फैला रहे थे और जब कि ब्राह्मण्य धर्म और सस्कृति की स्थिति पहली सहस्राब्दी ई० पू० के प्रथम भाग में गगा की उपत्यका में दृढ हो गई थी। यह हालत आज तक जारी रही है, जब कि उत्तर भारत में अनार्य-भाषा-भाषी धीरे-धीरे आर्य-भाषाओ को अपना रहे है और जिसके फलस्वरूप कुछ शताब्दी में अनार्य-भाषा के सभी रूपो का लोप हो जाना अवश्यम्भावी दीख पड रहा है। जब पूर्व वैदिक काल में आर्यों और अनार्यों का सम्मिलन प्रारम्भ हो गया था तब यह अपरिहार्य था कि अनेक अनार्य शब्द तथा अनार्यों के कुछ बोलचाल के रीति-रिवाज; यदि प्रत्यक्ष नही तो परोक्ष या गुप्त रूप से, आर्य-भाषाओ में मिल जायँ। आद्य तथा मध्य भारतीय आर्य-भाषाओ तथा नव्य भारतीय आर्य-भाषाओ मे अनार्य शब्दो की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई। उन विदेशी भाषा-भाषियो से, जो भारत में विजेता के रूप में आकर यही बस गये, यहाँ के निवासियो का मेलजोल होने के कारण पारस्परिक सास्कृतिक सम्पर्क बढा, और इसके परिणाम-स्वरूप भारतीय भाषाओ मे अनेक विदेशी शब्दो का प्रादुर्भाव हो गया।

जो शब्द भाषा मे किसी कमी की पूर्ति करता है, वह प्राकृतिक रूप से शीघ्र ही उस भाषा का अग बन जाता है। जहाँ पर दो भाषा-भाषियो का सम्पर्क घनिष्ठ हो जाता है, वहाँ उस सम्पर्क के प्रभाव से एक दूसरे की भाषा के कुछ शब्दो से परिचित हो जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार के भाषा-सम्बन्धी पारस्परिक प्रभाव के आरम्भ मे यह

आवश्यक या अपरिहार्य है कि एक भाषा का प्रयोग करने वाले के लिए दूसरी भाषा के शब्दो के सम्बन्ध में कुछ व्याख्या दी जाय जिससे वह उन शब्दो को भली प्रकार समझ सकें। मान लीजिये कि किसी देशी भाषा-भाषी को कोई ऐसा विदेशी शब्द समझाना है, जिसे केवल उस विदेशी शब्द के उच्चारण-मात्र से वह नही समझ सकता, तब यह आवश्यक हो जाता है कि उस विदेशी शब्द का अनुवाद देशी भाषा मे इस प्रकार दिया जाय कि देशी-भाषा-भाषी उसे समझ सके। इस प्रकार के **अनुवादमूलक-समास या समस्त पद** (Translation-compounds) सभी भाषाओ मे मिलते हैं, जो किसी जीवित भाषा के सम्पर्क में आकर उनसे प्रभावित हुई हैं।

उदाहरणार्थ अग्रेज़ी भाषा को लीजिए। प्राचीन मध्य-अग्रेज़ी-काल में, जब कि नार्मन-फ्रेंच तथा अग्रेज़ी इग्लैंड मे साथ-साथ बोली जाती थी, तत्कालीन लिखित साहित्य मे इस प्रकार की व्याख्याएँ मिलती है—जैसे कि लगभग १२२५ ईस्वी में लिखी हुई पुस्तक *Ancrene Riwle* में—*Cherité* thet is *luve;* in *desperaunce* that is in *unhope* and in *unbileave* forte beon iboruwen, understondeth thet two *manere temptaciuns*—two *kunne vondunges*—beoth, *pacience* thet is *tholemodnesse, lecherie* thet is *golnesse, ignoraunce* that is *unwisdom* and *unwitenesse*, इत्यादि (देखिए—Jespersen, 'Growth and Structure of the English Language,' Oxford, 1927, p 89)

जब इग्लैंड मे फ्रेंच का विशेष चलन था और उसके शब्द अधिकाश में अपनाये जा रहे थे, तब शायद उपर्युक्त रीति अधिक प्रचलित हो गई थी, जिससे बाहरी भाषाओ के उपयुक्त शब्दो को भाषा में चालू किया जा सके। मध्य-अग्रेज़ी काल के कवि (Chaucer) चॉसर ने ऐसे दर्जनो जुमले इस्तेमाल किये हैं, जिनमें कोई भाव फ्रेंच शब्द के द्वारा प्रकट किया गया है और फिर उसी की व्याख्या और अनुवाद एक अग्रेज़ी शब्द द्वारा किया गया है, या एक अग्रेज़ी शब्द की पुष्टि फ्रेंच शब्द के द्वारा करा दी गई है (देखिए, येस्परसेन, वही पृ० ९०), उदाहरणार्थ—he coude songes *make* and wel *endyte, faire* and *fetisly, swinken* with his handes and *laboure*, of studie took he most *cure* and most *hede; poynaunt* and *sharp; lord* and *sire* वैसे कैक्स्टन (Caxton) के ग्रथो में—*honour* and *worship, olde* and *auncyent, advenge* and *wreke, feblest* and *wekest, good* ne *proffyt, fowle* and *dishonestly, glasse* or *mirrour*, इत्यादि। अग्रेज़ी में फ्रेंच शब्द बिलकुल स्वाभाविक हो गये है, और अब इस बात की आवश्यकता नही है कि इन शब्दो को समझाने के लिए अग्रेज़ी में व्याख्या दी जाय।

भारतीय आर्य-भाषाओ में विदेशी शब्दो को किसी देशी या अन्य ज्ञात शब्द के द्वारा स्पष्ट करने की प्रथा मिलती है। इनमें अनेक समस्त-पद (Compounds) पाये जाते है, जिनमें दो शब्द होते है और दोनो प्राय एक ही अर्थ के सूचक होते है। नव्य भारतीय आर्य-भाषा के अनुवाद-मूलक शब्दो मे वे पद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते है, जिनमें एक शब्द विदेशी होता है, या एक ऐसा नया विदेशी शब्द होता है, जिसकी व्याख्या एक प्राचीन या प्रचलित शब्द के द्वारा दी होती है। इन **अनुवादमूलक समस्त-पदो** में प्राय बडी शक्ति होती है और कभी-कभी वे किसी बात को विशिष्ट रूप से प्रकट कर देते है। विदेशी या नये शब्द किसी अभिप्राय के नवीन दृष्टिकोण को सूचित करते हैं। यहाँ बँगला भाषा से कुछ उदाहरण दिये जाते है—

चा-खडी=चाक (ब्लैकबोर्ड पर लिखने के लिए)। यह अग्रेज़ी के उस **चौक्** या **चोक** शब्द का समस्त-पद है, जो पहले-पहल आमतौर पर लोगोकी समझ में नही आता था, और जिसका अग्रेज़ी में उच्चारण **चाक्** तीन या चार पीढियो पहले था। इसके साथ बँगला की खडी (खडिया) शब्द मिलाने से **चाक खडी** या **चाखडी** हो गया।

पाउँ-रुटी (=हिन्दी पाउँ-रोटी)=पुर्तगाली paõ, paon पाओ (=रोटी, उच्चारण पाउ)+ बगला रुटी, हिन्दुस्तानी रोटी (=चपाती) समास का पद अग्रेज़ी तन्दूर की रोटी या खमीर दी हुई रोटी के अभिप्राय में आता है, जो हिन्दुस्तान में प्रचलित **चपाती** से भिन्न है।

काज-घर=वटन का छेद। casa (उच्चारण काज़्अ)=मकान+बँगला में घर मकान। अत घर (वटन के लिए)।

सील-मोहर=किसी व्यक्ति की धातु की मोहर जिस पर उसका नाम या चिह्न अंकित रहता है, अंग्रेज़ी के सील+फारसी के मुहर के योग से बना है, और बगला में सिर्फ मोहर के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

फारसी तथा भारतीय शब्दो के योग मे मिले हुए शब्द काफी सख्या मे मिलते हैं। यहाँ बँगला से कुछ उदाहरण देना पर्याप्त होगा। (हिन्दुस्तानी तथा भारत की अन्य भाषाओ में ऐसे या इनसे मिलते-जुलते और कभी-कभी बिलकुल एक जैसे ही रूप अवश्य मिलेंगे)।

आशा-सोटा=गदा फ़ारसी-अरवी का शब्द असा+हिन्दुस्तानी सोटा सोटा=डडा या गदा।

खेल-तमाशा=खेल-कूद आदि हिन्दुस्तानी खेल+फारसी तमाशा।

शाक-सब्ज़ी=हरी तरकारी सस्कृत शब्द शाक=हरी तरकारी,जडी-बूटी+फारसी सब्ज़.=हरी भाजी।

लाज-शरम या लज्जा-सरम हिन्दुस्तानी लाज (आर्य-भाषा का प्राकृतज शब्द) और लज्जा (सस्कृत)+फारसी शर्म। दोनो शब्दो का एक ही अर्थ है।

धन-दौलत=सम्पत्ति हिन्दुस्तानी+फारसी (फारसी-अरबी)।

जन्तु-जानवर=भारतीय जंतु+फारसी जानवर।

राजा-बादशाह=राजा, शासक हिन्दुस्तानी राजा+फारसी बादशाह।

लोक-लश्कर=नौकर-चाकर हिन्दुस्तानी लोक (लोगो का समूह)+फारसी लश्कर (फौज, दल)।

हाट-बाज़ार=बाजार, मेला हिन्दुस्तानी हाट+फारसी बाज़ार। दोनो का एक ही अर्थ है।

झाडा-निशान=झडा, ध्वजा हिन्दुस्तानी झडा+फारसी निशान (=बगला का झाडा-निशान, हिन्दी झडी-निशान)।

हाडी-मुर्दफराश=झाडू लगानेवाले, मसान या गोरस्थान में शवो के सत्कार करने वाले हिन्दुस्तानी हाडी (महतरो का अछूत वर्ग)+फारसी मुर्दा-फरोश=मुर्दा ढोनेवाले।

लेप-काँथा=ढकने का वस्त्र, रजाई आदि लेप=फारसी लिहाफ+बँगला काँथा=सस्कृत कथा (पुराने कपडों की सिली हुई कथरी)।

आदाय-उसूल=क़र्ज़ या भाडे का उगाहना सस्कृत आदाय+फारसी-अरवी का वसूल।

काग़ज़-पत्र=काग़ज़ात फारसी काग़ज़+सस्कृत पत्र।

गोमस्ता-कर्मचारी=प्रतिभू या कर्मचारी फारसी गुमाश्ता+सस्कृत कर्मचारी।

निरीह-बेचारा=सीधा-सादा, गरीब व्यक्ति सस्कृत निरीह+फारसी बेचारा।

ऊपर के उदाहृत अनुवाद-मूलक समस्त-पदो के अतिरिक्त जिनमें विदेशी प्रभाव स्पष्ट है, कुछ और पद हैं जिनके दोनो भागो मे देशीपन मिलता है। उदाहरणार्थ—

पाहाड (पहाड) पर्वत=देशी पाहाड (उत्पत्ति का मूल अज्ञात)+सस्कृत पर्वत।

घर-बाडी=घर (मकान)+बाड़ी (∠गृह+वाटिका∠वृत—)।

गाछ-पाला=पौदे गाछ∠गच्छ+पाला∠पल्लव।

हाँडी-कुँडी=मिट्टी के बर्तन, हाँडी∠भाण्ड+कुण्ड।

ऐसे उदाहरण अन्य आधुनिक आर्य-भाषाओ से बहुश दिये जा सकते हैं। इनमे से कुछ द्वन्द्व समास सरीखे हैं, जिनमें सयोग या सम्मेलन का भाव होता है। उदाहरणार्थ—

कापड-चोपड=कपडे और डलियाँ कापड∠कर्पट=कपड़े, चीथडे+चोपड; मिलाओ जुपडी, चोपड़ी =डलिया।

सभवत पहले द्वन्द्वात्मक भावना वहाँ थी, किन्तु बहुत से स्थानो मे हम शब्दो को एकार्थी होने के कारण एक-दूसरे की व्याख्या करते हुए पाते हैं। जैसे बँगला बाक्स-पेंडा=बकसे और पिटारे, अग्रेजी box (जिसका उच्चारण एक शताब्दी पहले baks था)+वाला पेंट्रा, पेंड़ा ∠पेटक=हिन्दी पेटी।

कुछ बँगला के शब्दो में देशीपन साफ झलकता है। उदाहरण के लिए बँगला पोला-पान=बच्चे (पूर्वी बँगला की बोली में प्रयुक्त)—यहाँ पोला सस्कृत पोत-ल से है और पान आस्टिक शब्द प्रतीत होता है जो सथाली (कोल) में हॉपॉन रूप में मिलता है पान इस शब्द का सादा रूप है। इसी प्रकार बँगला छेले-पिले का भी अर्थ लडके-बच्चे है और इसकी उत्पत्ति प्राचीन बँगला छालिया-पिला से है। [छालिया या छावालिया=प्राचीन भारतीय आर्य शाव+—आल+—इक+—आक और पिला, जो इसी रूप में उडिया भाषा में प्रयुक्त होता है और जिसके माने है लडका, बच्चा या जानवर का बच्चा—इसका सबध द्राविड भाषा के साथ जोड दिया गया है (मिलाओ तामिल पिळ्ळै शब्द)]।

इस प्रकार नव्य भारतीय आर्य-भाषा मे हमे भाषा-सबधी सम्मिश्रण का पता चलता है, जो पश्चात् भाषाओं मे प्रयुक्त मिलता है। इस प्रकार के शब्दो—जैसे छेले-पिले, चाखडी, पाव-रोटी, राजा-बादशाह आदि के विश्लेषण से पता चलता है कि वे अपने समस्त-पद मूलक शब्द हैं और वे अपने रूप को कायम रखते हुए भी एक मामूली बात को ही सूचित करते हैं। यह भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार विभिन्न भाषाओं के शब्दो ने मिलकर नव्य भारतीय आर्य-भाषा के निर्माण मे योग दिया है। भारतीय प्राकृत तथा सस्कृत मे आये हुए शब्दो के प्रयोग के साथ-साथ हम यहाँ देशी या अनार्य भाषाओ के तथा फारसी, अरबी पुर्तगाली और अग्रेज़ी के भी शब्दो का धडल्ले से प्रयोग पाते हैं। इन शब्दो से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि नव्य भारतीय आर्य-काल मे भारतीय लोगो में बहुभाषिता प्रचलित हो गई थी।

जब हम मध्य-भारतीय आर्य तथा आद्य भारतीय आर्य-भाषाओं मे जिनका साहित्य अनेक प्रकार की प्राकृतो तथा सस्कृत में है, उपर्युक्त बात का पता लगाते है तो उनमे भी वही स्थिति पाई जाती है। इस समय थोडे ही प्राकृत और सस्कृत शब्दो की बाबत हमे मालूम है, जिनसे पता चलता है कि १५००, २००० या २५०० वर्ष पहले भी भारत मे न केवल भारतीय आर्य-भाषाएँ ही प्रचलित थीं, अपितु अनार्य-बोलियाँ तथा विदेशी बोलियाँ भी बोली जाती थीं, जो बहुत ही चालू हालत मे थी, और जिनका भारतीय आर्य-भाषा पर व्यापक प्रभाव पडा था। हम यहाँ कुछ ऐसे सस्कृत और प्राकृत शब्दो पर विचार करेंगे, जो वास्तव मे अनुवादमूलक समस्त-पद हैं।

(१) सस्कृत कार्षापण=पाली कहापन, प्राकृत कहावण, बँगला काहन 'एक प्रकार का बाँट', 'एक कार्ष की तोल का सिक्का'। यह शब्द दो शब्दो के योग से बना है—कार्ष तथा पण। पहले शब्द का मूल कर्ष है, जिसका अर्थ है एक नाप या तोल। मालूम होता है कि कर्ष शब्द हखामनी (Achaemenian) ईरान का है जिस देश का प्राचीन भारत की राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था पर काफी प्रभाव पडा था। पण शब्द को डा० प्रबोधचद्र बागची ने सख्यासूचक शब्द माना है, और इसकी उत्पत्ति ऑस्ट्रिक (कोल) भाषा से मानी है। इस प्रकार कार्षापण शब्द एक व्याख्यात्मक समास-पद है, जिसमे प्राचीन ईरानी भाषा तथा आर्य-भाषा-प्रभावित ऑस्ट्रिक का सम्मिलित रूप दृष्टिगोचर है।

(२) शालि-होत्र—यह दूसरा मनोरजक शब्द है, जो सस्कृत से मिलता है। 'यह शब्द प्राचीन काव्य में अश्व का द्योतक है,' ऐसा मानियर विलियम्स (Monier-Williams) ने अपने सस्कृत अभिधान मे लिखा है। पुराने ढग के विद्वानो ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि घोडे का शालि-होत्र नाम इस कारण है कि उसे शालि (धान) भोजन (होत्र) के लिए अर्पित किया जाता है। अश्व को शालि-होत्रिन् भी कहा जाता है। पालतू जानवरो की बीमारियो के सबध में एक ऋषि ने एक ग्रथ लिखा था, उस ऋषि का नाम भी शालिहोत्र मिलता है। इस अर्थ में यह शब्द भारतीय सेना मे अब भी चालू है, जिसमे घुडसवार सेना के घोडो का चिकित्सक सोलत्री कहलाता

है। हिन्दुस्तानी मे यह शब्द शारोतरी या सालोतरी लिखा जाता है। शालिहोत्र शब्द द्वन्द्व है, और इसके दोनो शब्द भिन्न-भिन्न वोलियो के होते हुए भी एक ही अर्थ के सूचक है। सस्कृत शब्द शालि का, जिसका अर्थ चावल है, मूल दूसरा है। यहाँ शालि-होत्र का शालि शब्द निस्सदेह वही है, जो हमें शालि-वाहन मे मिलता है। शालि का दूसरा पाठ सात (सातवाहन) में भी मिलता है। भा पृशेलुस्कि (Jean Przyluski) ने यह सिद्ध किया है[1] कि शालि या सात शब्द प्राचीन कोल (ऑस्ट्रिक) का शब्द है, जिसका प्रयोग घोडे के अर्थ मे होता है (सयाली भापा मे इसे साद्-ओम्, सादोम बोला जाता है)। प्राचीन भारत की चालू वोलियो मे साद या सादि (=घोडा) के प्रयुक्त होने का प्रमाण सस्कृत शब्द साद '(घोडे की पीठ पर) वैठना या चढना' मे मिलता है। इसके अन्य रूप सादि, सादिन्, सादित् (मिलाओ अश्व-सादि=घोडे पर चढने वाला) भी मिलते हैं। यही शब्द निस्सदेह शालि-वाहन, सात-वाहन तथा शालिहोत्र के साथ जुडा हुआ है। अत यह स्पष्ट है कि शालि शब्द, जिसका अर्थ अश्व है, मूलत ऑस्ट्रिक भाषा का शब्द है। होत्री, होत्र शब्द का अर्थ भी सभवत यही होगा। यह शायद एक ऐसा शब्द है, जिसे हम द्राविडो के साथ सबधित कर सकते हैं। घोडे के लिए इदो-यूरोपीय शब्द जो सस्कृत में मिलता है, वह अश्व ही है। बाद मे अश्व के लिए घोट शब्द भी प्रयुक्त होने लगा, जिसका मूल अज्ञात है।

भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त की पिशाच या दरद भापाओ मे एक या दो को छोडकर भारत मे अश्व शब्द का प्रयोग अन्यत्र नही पाया जाता। घोट तथा उससे निकले हुए अन्य शब्द, जो अश्व के लिए प्रयुक्त होते हैं भारतीय आर्य तथा द्राविड भापाओं में पाये जाते हैं। घोट शब्द मूलत प्राकृत का मालूम होता है। इसके प्राचीन रूप घुत्र और घोत्र थे। इन रूपो मे द्राविड भाषा के अश्व-वाचक शब्द काफी मिलते-जुलते हैं। उदाहरणार्थ, तामिल कुतिरै, कन्नड कुदुरे, तेलगु 'गुर्र-मु'। घुत्र, घोट तथा कुतिरै शब्दो का मूल अनिश्चित है, पर ये काफी प्राचीन शब्द है और इनका प्रचलन पश्चिम-एशिया के देशो मे बहुत अधिक है। घोडे के लिए प्राचीन मिस्री (Egyptian) भापा का एक शब्द, जो निस्सदेह एशिया (एशिया-माइनर या मैसोपोटैमिया) से आया है हतर (htr) है, जो घुत्र का एक दूसरा रूप प्रतीत होता है। गधे के लिए आधुनिक ग्रीक शब्द गदैरोस् (gadairos) तथा खच्चर के लिए तुर्की शब्द कातिर (Katyr) घुत्र-हतर शब्द मे ही सबधित जान पडते है। इस स्थान पर हम इस शब्द को भारत से वाहर का (एशिया-माइनर का ?) यानी अनार्य भापा का कह सकते हैं, जिसे सभवत द्राविड लोग यहाँ लाये। हो सकता है कि यह असली द्राविड शब्द है और यह भी विचारणीय है कि स्वय द्राविड शब्दो की मूल उत्पत्ति शायद भूमध्यसागर के आसपास या क्रीट द्वीप से हुई। शालिहोत्र शब्द के दूसरे पद में घोट का प्राचीन रूप घोत्र का विकार होत्र भी दिखाई पडता है। शालिहोत्र=अश्व=घोडे के लिए प्रयुक्त ऑस्ट्रिक शब्द साद+उसका समानार्थी द्राविड शब्द घोत्र। इस दशा मे अश्व-सादि शब्द आर्य तथा ऑस्ट्रिक भापाओ का सम्मिलित अनुवादमूलक समस्त-पद होगा।

(३) पिछले सस्कृत-साहित्य में पालकाप्य मुनि का नाम हाथियो को शिक्षित करने के सबध मे लिखे हुए एक ग्रथ के प्रणेता के रूप मे आता है। उसके सबध में कुछ कथाएँ भी मिलती है, जिनसे पता चलता है कि वे अग्रेजी औपन्यासिक रडियर्ड किपलिंग (Rudyard Kipling) द्वारा वर्णित एक प्रकार के माव्गली (Mowglie) थे, माव्गली ऐसा लडका था, जो कि वचपन से लक्कडवाघो के द्वारा पालित हुआ था, और पालकाप्य का भी हाथियो द्वारा पालन हुआ था, और वे हाथियो के वीच में रहा करते थे। पालकाप्य नाम की व्याख्या इस प्रकार दी गई है कि पाल वैयक्तिक नाम है और काप्य गोत्र का नाम है। काप्य की उत्पत्ति कपि से हुई है, जिसका सस्कृत में प्राय वदर के लिए प्रयोग होता है। परन्तु जान पडता है कि पालकाप्य एक अनुवादमूलक समस्त-पद है, जो विलकुल शालि-होत्र शब्द के ही समान बना है। पालकाप्य के दोनो शब्द दो भिन्न भाषाओ से लिये गये है और प्रत्येक शब्द हाथी के लिए

[1] देखिए JRAS, 1929, p 273

प्रयुक्त हुआ है, और जिस प्रकार शालिहोत्र शब्द वैयक्तिक नाम का सूचक है, उसी प्रकार पाल-काप्य सज्ञा एक ऐसे ऋषि की दी हुई है, जो हाथी के पालन आदि के सबध में अच्छे ज्ञानी और अधिकारी लेखक समझे जाते थे। इस प्रकार हम देखते है कि शालि-होत्र और पाल-काप्य जैसे साधारण शब्द भी किस प्रकार व्यक्ति-विशेष के सूचक शब्द बन सकते है। द्राविड भाषाओ में पाल शब्द हाथी और हाथी-दाँत का सूचक है। इनमे इस शब्द के अनेक रूप मिलते है।[1]

इस बारे मे एक बात और जान लेनी है कि पाल-काप्य ऋषि का एक अन्य नाम करेणु-भू (=हथिनी का पुत्र) भी मिलता है, जिससे पता चलता है कि ऋषि के नाम का कुछ सबध हाथियो से अवश्य है। काप्य शब्द की व्युत्पत्ति श्री प्रबोधचद्र बागची ने अपने लेख मे दी है और उन्होने यह साफ दिखा दिया है कि कपि शब्द हाथी का भी सूचक है, कम-से-कम हाथी के समानार्थक शब्द के रूप में उसका प्रयोग मिलता है। डा० बागची ने गज-पिप्पली शब्द के लिए करि-पिप्पली, इभ-कण, कपि-वल्ली तथा कपिल्लिका आदि अनेक समानवाची शब्द दिये है, जिनमें गज, करि, इभ तथा कपि शब्द निस्सदेह एक ही अर्थ के बोधक है। जगली कैथा का एक नाम कपित्थ (मिलाओ अश्वत्थ =पीपल) पाया जाता है। (इस फल को हाथी बडे शौक से खाते है और सस्कृत में एक लोकोक्ति है—गज-भुक्त कपित्थवत् (=एक ऐसे कपित्थ फल के समान, जिसे हाथी ने खाया हो। यह कहा जाता है कि जब हाथी कपित्थ फल को निगल लेता है तब उस फल का ऊपरी कडा गोला वैसे-का-वैसा ही बना रहता है और फल का गूदा हाथी के पेट में चला जाता है। इस प्रकार फल का ऊपरी ढक्कन ही बाहर रह जाता है।) क्या इस बात से हम यह कह सकते है कि कपित्थ का कपि शब्द भी हाथी का सूचक है? इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि कुछ पश्चिम एशियाई तथा आसपास के देशो की भाषाओ—उदाहरणार्थ हिब्रू तथा प्राचीन मिस्री (Egyptian)—मे एक समानवाची शब्द हाथी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिब्रू में हाथीदाँत के लिए शेन्-हब्बीम् (Shen-habbim) शब्द है। शेन का अर्थ 'दाँत' और हब्बीम का अर्थ 'हाथी' है यह शब्द हब्ब् बन जायगा। प्राचीन मिस्री भाषा में हाथी के लिए हब् या हब्ब् शब्द है। हिब्रू तथा मिस्री शब्दो—हब्ब् और हब् की तुलना कपि शब्द से की जा सकती है। कपि=हब् शब्द का मूल अज्ञात है। सभवत यह उसी प्रकार का है, जैसे घोट-घुत्र-कुतिरं-ह्तुर्-गदैरोस्-कातिर शब्द। मेरा यह अनुमान है कि पाल-काप्य द्राविड तथा भारत-बहिर्भूत और किसी अनार्य भाषा के दो पदो से मिलकर बना हुआ एक अनुवादमूलक समस्त-पद है, असगत न ठहरेगा।

(४) गोपथ ब्राह्मण मे दन्तवाल धौम्र नामक एक ऋषि का उल्लेख है, जो जन्मेजय के समकालीन थे। यह नाम दन्ताल धौम्य से भिन्न है, जो जैमिनीय ब्राह्मण मे जनक विदेह के समकालीन कहा गया है।[2] धौम्र अपत्य नाम है, पर दन्तवाल शब्द का, जो कि एक वैयक्तिक नाम है, क्या अर्थ हो सकता है? क्या यह दन्त-पाल के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो दूसरा दन्ताल नाम है? उसका अर्थ 'लबे या बडे दाँतो वाला' हो सकता है। पर बाल∠पाल प्रत्यय ('जो रखने वाला' या 'पालने वाला' के अर्थ को सूचित करता है) भारतीय आर्य-भाषा के इतिहास में अपभ्रश वाली स्थिति के पहले नही पाया जाता। अत वह बहुत प्राचीन नही है। मेरा अनुमान है कि दन्त-बाल शब्द दन्त-पाल के लिए ही प्रयुक्त हुआ है और आर्य तथा द्राविड भाषाओ में एक-एक पद मे मिल कर बना हुआ समस्त-पद है, जिसका अर्थ हाथी या हाथी का दाँत है। इसमें दन्त सस्कृत शब्द है, और पाल द्राविड।

(५) भारतीय इतिहास के शक-काल मे अनेक शक (तथा अन्य ईरानी) नाम और विरुद शको के द्वारा

---

[1] इस सबध में विशेष जानकारी के लिए देखिए—J Przyluski, *Notes Indiennes*, Journal Asiatique, 1925, pp 46-57 तथा श्री प्रबोधचद्र बागची का Indian Historical Quarterly, 1933, pp 258 में प्रबध।

[2] डा० हेमचद्रराय चौधुरी का मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होने मेरा ध्यान इन नामों की ओर आकर्षित किया है।

भारत में लाये गये। एक ऐसा ही नाम मुरुण्ड है, जिसका अर्थ शक-भाषा में राजा है। भारतीय शकों के अभिलेखों में मुरुण्ड-स्वामिनी शब्द मिलता है, जो उपर्युक्त समानार्थक समास-पद का एक उदाहरण है।

(६) इसी प्रकार कुछ अन्य शब्द भी विचारणीय हैं, परन्तु अभी तक उन शब्दों की उत्पत्ति तथा उनके तुलनात्मक विचार के संबंध में विद्वानों का ध्यान नहीं गया। प्राग्ज्योतिष के राजा वैद्यदेव (११वीं शती का उत्तर-भाग) के कमौली से मिले हुए ताम्र-पत्र में जउगल्ल नामक एक छोटी नदी का उल्लेख है। यह शब्द दो पदों से मिल कर बना है—जउ∠संस्कृत जतु='लाख या लाह'+गल्ल (बँगला का गाला), जिसका भी अर्थ लाख है (बँगला भाषा में भी जतु—जउ का जौ रूप मिलता है)। शायद गल्ल के माने पहले-पहल गलाई हुई लाख रहा हो, परन्तु ऊपर जो उदाहरण दिये जा चुके हैं, उनमें इस प्रकार शब्दों का गड्डमड्ड समझ में आ सकेगा।

(७) महावस्तु में इक्षु-गड नामक एक शब्द ईख या गन्ने के लिए प्रयुक्त हुआ है। नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं में इक्षु के रूप में ईख, आख, आउख, ऊख, ऊस मिलते हैं। गण्ड शब्द का नव्य भारतीय आर्य-भाषा (हिंदुस्तानी) में गन्ना या गँडेरी रूप है। इस प्रकार हम यहाँ भी दो समानार्थक शब्दों को जो प्राचीन भारत में प्रचलित दो भिन्न भाषाओं में से लिये गये हैं, सम्मिलित रूप में प्रयुक्त पाते हैं।

(८) इसी प्रकार महावस्तु में एक दूसरा शब्द गच्छ-पिण्ड है। यह एक विचित्र समास है और इसका अर्थ वृक्ष है। गच्छ शब्द बँगला में (तथा उससे संबंधित पूर्व भारत की भाषाओं में) गाछ='वृक्ष' के रूप में आता है। मूलत इस शब्द का अर्थ 'संवर्धन' है, जो एक पौदे के ऊँचे उठने या बढने का सूचक है (संस्कृत धातु √गम्-गच्छ से)। पिण्ड का अर्थ समूह या ढेर है। इस प्रकार गच्छ पिण्ड का अर्थ 'बढता हुआ ढेर' बहुत विचित्र मालूम पडेगा। परन्तु एक पौदे या वृक्ष जैसी मामूली वस्तु के लिए ऐसा टेढे अर्थ वाला शब्द क्यों प्रयुक्त किया गया? हमें याद रखना चाहिए कि पिण्ड शब्द का ही हिंदुस्तानी में प्रचलित रूप पेंड है, जो वृक्ष के लिए आता है। इस पेंड शब्द का मूल क्या है? नव्य भारतीय आर्य-भाषा द्वारा हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि गच्छ-पिण्ड का और कोई शाब्दिक अर्थ न होकर केवल 'वृक्ष-वृक्ष' है।

(९) गच्छ-पिण्ड तथा अन्य शब्दों के समान ही अपभ्रंश का शब्द अच्छ-भल्ल है, जो रीछ या भालू के लिए प्रयुक्त होता है। अच्छ शब्द आर्य या इंदो-यूरोपीय है। संस्कृत में ऋक्ष शब्द है (जिसका हिंदुस्तानी में प्राचीन अर्धतत्सम रूप रीछ है)। भल्ल नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं के भल्लक वाचक कुछ शब्दों का मूल रूप है, जिससे भालू (हिंदुस्तानी) तथा भालुक, भाल्लुक (बंगला) शब्द बने, जिन सबका अर्थ 'रीछ' है। कुछ लोगों ने भल्ल को आद्य भारतीय आर्य-भाषा के भद्र शब्द का रूप माना है। ऐसा मानने पर अच्छ-भल्ल का अर्थ अच्छा या सीधा 'भालू' होगा। वह भी असंभव नहीं, क्योंकि प्राय बुरे या भयंकर जानवरों का केवल नाम लेना प्रशस्त नहीं समझा जाता (इस प्रकार के जानवरों का नाम लेने से यह माना जाता है कि वह जानवर निकट आ जायगा)। इसी विचार के आधार पर शायद रीछ का नाम भल्ल='अच्छा या सीधा जानवर' रक्खा गया, और धीरे-धीरे यही नाम उस जानवर का हो गया। ऐसी ही बात रूसी भाषा में है, जिसमें रीछ को मेद्वेद् ('मधु खाने वाला', मिलाओ सं० मध्वद्) कहते हैं। इस बात का अनुसंधान कि भल्ल शब्द का संबंध भारतीय आर्य-भाषाओं के बाहर किसी भाषा में मिलता है या नहीं, शायद मनोरंजक सिद्ध होगा।

(१०) संस्कृत के शब्द कञ्चूल, कञ्चूलिका (=कंचुकी, जाकट) चोलिका शब्द से मिलाये जा सकते हैं, जिसका भी अर्थ वही है। ये शब्द भारत की आधुनिक प्रचलित भाषाओं में भी मिलते हैं। कञ्चूल या कञ्चुकी पहले पहल 'स्तनों के ऊपर बाँधे जाने वाले वस्त्र' के सूचक थे। चोलिका पट्ट का अर्थ 'मध्य भाग के लिए प्रयुक्त वस्त्र' है। कञ्चूल, कञ्चूलिका—कन्+चोलिका इन दो शब्दों से मिल कर बने हुए जान पडते हैं। कन् ऑस्ट्रिक शब्द है जिसका बँगला का रूप कानि='चीथडा' है (मिलाओ मलायन शब्द काइन्=(Kain) कपडा)। चोल शब्द चेल (=वस्त्र) से संबंधित हो सकता है। चेल शब्द की उत्पत्ति अज्ञात है।

(११) कायस्थ-प्रभु—महाराष्ट्र मे यह एक जाति का नाम है। कायस्थ प्राचीन काल में लेखको के वर्ग का नाम था, राष्ट्र के कुछ अन्य दीवानी अफसर भी इसी जाति के होते थे, परतु कायस्थ शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई, यह अज्ञात है। कुछ विद्वानो का मत है कि यह शब्द मूलत ईरानी है, प्राचीन फारसी मे राजा के लिए खषायथिय (Khshāyathiya) शब्द मिलता है। इससे प्राचीन प्राकृत का रूप खायथिय बना होगा, जिसमे कायत्थ बन सकता है, और उससे सस्कृत रूप कायस्थ हो गया होगा। एक केंद्रित शासन में छोटे अफसरों, क्लर्कों तथा मत्रियो आदि के लिए सम्मानार्थ प्रयुक्त कायस्थ शब्द सभवत उस काल की ओर सकेत करता है जब उत्तर-पश्चिम भारत मे ईरानी शासन की प्रभुता थी। अत महाराष्ट्र में प्रचलित कायस्थ-प्रभु शब्द मुरुड-स्वामिनी शब्द की तरह, (ऊपर न० ५), एक अनुवाद-मूलक समस्त-पद सिद्ध होगा।

(१२) सस्कृत का गौर शब्द एक प्रकार की भैस के लिए प्रयुक्त होता है। गौर का शाब्दिक अर्थ 'सफेद' है। किंतु भैस काली होती है, और उसके साथ इस विशेषण को सबद्ध करना असगत प्रतीत होता है। गवय, गवल तथा गोण अन्य सस्कृत नाम है, जो भैस और बैल के लिए प्रयुक्त होते है। इनकी उत्पत्ति गौ या गव् से हुई है। हो सकता है कि गौर एक अनुवादमूलक समस्त-पद है, जो आर्य-भाषा के गौ, गो तथा ऑस्ट्रिक (कोल) के उर (=जानवर) शब्दो से मिलकर बना है। सथाली और मुडारी भाषाओ मे उरि शब्द गाय और भैस के लिए प्रयुक्त होता है।

(१३) सस्कृत तुडि-चेल='एक प्रकार का वस्त्र'। ऐसे वस्त्र का उल्लेख बौद्ध ग्रथ 'दिव्यावदान' में मिलता है। चेल आर्य-भाषा का शब्द है, जिसका सबध चीर शब्द से है, जो उसी धातु से निकला है, जिससे हिंदी का चीरना और बँगला का चिरा। इस प्रकार चीर, चेल का अभिप्राय 'वस्त्र के टुकडे' से है। तुडि-चेल के पहले पद का मूल रूप द्राविड भाषाओ मे मिलता है (तामिल तुट्टु या तुड्डु, कन्नड तुडु, तेलगु तुट='टुकडा, कपडे का एक छोटा टुकडा, तौलिया')।

(१४) सस्कृत मुसार-गल्व='एक किस्म का मूगा, एक प्रकार का चमकीला कीमती पत्थर'। मैंने अन्यत्र मुसार शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे विस्तार से लिखा है। मेरे मत से यह शब्द प्राचीन चीनी भाषा से भारत में आया है, जिसमें कीमती या मामूली पत्थर के लिए म्वा-सार (mwa-sar) शब्द आता है। प्राचीन चीनी भाषा में इस शब्द का सबध फारसी और अरबी के बिस्सद और बुस्सद (bissad, bussad) (=मूंगा) शब्दो से जान पडता है।

[आधुनिक चीनी में इसका उच्चारण है मू-सा (mu-sa) प्राचीन चीनी मे इसका उच्चारण था म्वा-सार (mwa-sar) और ब्वा-साध् (bwa-sadh)]। दूसरा पद गल्व, जिसका रूप गल्ल भी मिलता है, मेरे विचार से पत्थर के लिए साधारणत प्रयुक्त द्राविड शब्द है। तामिल मे इसका रूप कल्, तेलगु मे कल्लु और ब्राहुई मे खल् मिलता है। सिंहली भाषा मे गल्ल शब्द आता है, जो प्राचीन द्राविड भाषा के गल या गल्ल से लिया गया है। इस प्रकार मुसार-गल्ल शब्द चीनी तथा द्राविड भाषाओ का सम्मिलित अनुवादमूलक रूप है, जिसे प्राचीन भारत मे पहले प्राकृतो में और फिर सस्कृत मे अपना लिया गया है।

यद्यपि स्पष्ट तथा भलीभाति प्रमाणित उदाहरणो की सख्या बहुत नही है, तो भी आद्य भारतीय आर्य (सस्कृत) तथा मध्य भारतीय आर्य (प्राकृत) भाषाओ के जिन थोडे से शब्दो का विवेचन ऊपर किया गया है, उससे हम इस उपपत्ति पर पहुँच सकते हैं कि **प्राचीन भारत में विभिन्न भाषाओ के बीच आदान-प्रदान जारी था।** अनार्य बोलियाँ भी प्रचलित थी और उनकी शक्ति दो सहस्र वर्ष पूर्व तथा उसके बाद तक बहुत प्रबल थी और भारतीय आर्य-भाषाओ के ब्राह्मण्य, जैन तथा बौद्ध धर्म-सबधी साहित्य मे उनका प्रभाव दृष्टिगोचर है। इस ओर अभी तक विद्वानो का ध्यान नही गया है। अनार्य भाषाओ से अनेक शब्दो और नामो का भारतीय आर्य-भाषाओ मे आना जारी था। पीछे जब कि असली अनार्य भाषाओ का लोप हो गया, तब साथ ही उनके महत्त्व का भी अत हुआ, सिवा इसके कि कही-कही भूले-भटके उनका अस्तित्व अब भी मिल जाता है। विदेशी भाषाएँ—ग्रीक, प्राचीन फारसी और अन्य अनेक

ईरानी भाषाएँ—लोग बडी सख्या मे वोलते थे और उनका प्रचलन वहुत विस्तृत था। इन भाषाओ से भी भारतीय आर्य-भाषाओ में शब्द लिए जा रहे थे। निस्सदेह ऐसे शब्दो की सख्या तत्कालीन प्रचलित प्रान्तीय भाषाओ में उन शब्दो से कही अधिक थी, जिन्हें हम वर्त्तमान परिस्थिति मे सस्कृत तथा साहित्यिक प्राकृतो मे पा रहे है। वास्तव में, प्राचीन भारत में प्रचलित भाषाओ के सवध में भी यही वात कही जा सकती है, जैसी इस समय है। केवल उस समय अनार्य-भाषाओ का क्षेत्र आजकल की अपेक्षा वहुत अधिक व्यापक था। जैसा कि आर्यावर्त में हम आज पाते है, सभवत प्राचीन काल मे भी जनता के अधिकाश भाग में अनार्य-भाषाओ (द्राविड तथा ऑस्ट्रिक) का प्रभाव आर्य-भाषाओ की अपेक्षा कही अधिक था। वस्तुत दो सहस्र वर्ष पूर्व तथा उससे भी पहले भारत में बहुभाषिता का प्रचलन लगभग उतना ही था, जितना कि वर्तमान भारत में है।

'बीच' की व्युत्पत्ति

श्री आर्येन्द्र शर्मा एम्० ए०, डी-फिल०

हिन्दी का 'बीच' शब्द "मध्य, केन्द्र, अन्तर, अवकाश, स्थान" आदि अर्थों में तथा अधिकरण कारक मे, 'मे' के स्थान पर, प्रयुक्त होता है। अन्य आधुनिक भारतीग आर्य भाषाओ मे भी यह शब्द, इन्ही अर्थो मे, वर्तमान है—पजाबी में 'विच्च', गुजराती मे 'वचे', 'विचे', 'वच्चे', नेपाली में 'विच', इत्यादि। व्रजभाषा तथा अवधी में भी 'विच' अथवा 'बीच' का प्रयोग बराबर मिलता है।

इन सब शब्दो का मूल प्राकृत (तथा अपभ्रश) का 'विच्च', (सप्तमी एक० में 'विच्चम्मि', 'विच्चि', 'विच्चे') शब्द है। हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरण[1] में दो स्थलो पर 'विच्च' शब्द का उल्लेख है—अध्याय ४, सूत्र ३५० तथा सूत्र ४२१। इनके अतिरिक्त, पाइयसद्दमहण्णवो[2] के अनुसार, पुष्पमाला प्रकरण ४२७, निशाविरामकुलक १६, कुमारपालचरित तथा भविसत्तकहा ५६ ११ में भी 'विच्च' शब्द मिलता है। पाइयसद्दमहण्णवो मे 'विच्च' के दो अर्थ दिये गये है, "बीच, मध्य" तथा "मार्ग, रास्ता"। दूसरे अर्थ ("मार्ग") के उदाहरणो के लिए पा० स० म० ने हेमचन्द्र के उपर्युक्त दोनो सूत्रो तथा कुमारपालचरित और भविसत्तकहा के स्थलो का निर्देश किया है। वास्तव मे पा० स० म० ने "मार्ग" अर्थ हेमचन्द्र के—

"विषण्णोक्तवर्त्मनो वुन्नवुत्तविच्चम्। ४ ४२१।

(अपभ्रश में सस्कृत के 'विषण्ण', 'उक्त' तथा 'वर्त्मन्' शब्दो के स्थान पर क्रमश 'वुन्न', 'वुत्त' तथा 'विच्च' शब्दो का आदेश होता है)।"

इस सूत्र के आधार पर दिया है। किन्तु, जैसा आल्सडोर्फ[3] ने सिद्ध किया है, इन सभी स्थलो पर प्रकरण, सन्दर्भ आदि की दृष्टि से 'विच्च' का अर्थ "मध्य" अथवा "अन्तर" ही हो सकता है, "मार्ग" नही। इसके अतिरिक्त हेमचन्द्र के स० 'वर्त्म'=प्रा० 'विच्च', इस समीकरण में ध्वनि-परिवर्तन-सम्बन्धी कठिनता भी स्पष्ट है। 'व-' के स्थान पर 'वि-' आदेश और -'म'- के लोप को किसी भी तरह नियमानुकूल नही कहा जा सकता। 'वर्त्म-' के '-र्त्-' के स्थान पर '-च्च्-' हो जाना भी सम्भव नही। नियम के अनुसार स० '-र्त्-' का प्राकृत में '-ट्ट-' होना चाहिए[4]। स्वय हेमचन्द्र ने अध्याय २, सूत्र ३० में यही नियम बता कर स० 'कैवर्त-'>प्रा० 'केवट्ट', स० 'वर्ति-'>प्रा० 'वट्टी' आदि उदाहरण दिये हैं। फिर पाली में स० 'वर्त्म-' का परिवर्तित रूप 'वटुम'- ("दीघनिकाय", भाग २, पृ० ८, तथा "सयुत्तनिकाय", भाग ४, पृ० ५२) पहले ही से वर्तमान है, जो, गाइगर ("पाली लितरातूर उद् श्प्राखे" § ५८ २) के अनुसार, 'वर्त्म-' से *'वट्ट्म-', *'वट्ट्म-' से *'वट्म-', और *'वट्म-' से स्वरभक्ति द्वारा 'वटुम-', इस प्रकार विकसित हुआ है। स्वय प्राकृत में भी स० 'वर्त्मन्-' से सम्बद्ध 'वट्ट-' (<*स० 'वर्त-', हिन्दी 'वाट')

---

[1] पिशेल् (Pischel) द्वारा सम्पादित, हाले (Halle), जर्मनी १८७७—८०।

[2] प० हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द शेठ द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, वि० स० १९७९—८५।

[3] 'अपभ्रश-श्टूडिएन', लाइप्त्सिश ((Apabhramsa-Studien, Leipzig), १९३७; पृष्ठ ७७—७८।

[4] पिशेल्, 'ग्रामाटिक् देर प्राकृत-श्प्राखेन्, श्ट्रासबुर्ग् (Pischel, 'Grammatik der Prākrit-Sprachen,' Strassburg), १९००, §२१८—आदि, गाइगर, 'पाली लितरातूर उद् श्प्राखे' (Geiger, 'Pali Literatur und Sprache')—अग्रेजी अनुवाद डा० बटकृष्ण घोष, कलकत्ता, १९४३, § ४२ और §६४।

शव्द उपलव्व है।[1] फलत प्रा० 'विच्च-' स० 'वर्त्म-' का परिवर्तित रूप नही हो सकता। यह व्युत्पत्ति असम्भव है।

पिशेल् ("ग्रामाटिक् देर् प्राकृत-श्प्राखेन्" § २०२) प्रा० 'विच्च-' की व्युत्पत्ति एक दूसरे प्रकार से करते हैं। इनके अनुसार 'विच्च-' का विकास प्रा० 'वच्चइ' (<स० 'व्रजति') "जाता है" से हुआ है। स्पष्ट है कि यह व्युत्पत्ति 'विच्च-' के "मार्ग" अर्थ के आधार पर ही सोची गई है। किन्तु, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'विच्च-' का अर्थ "मार्ग" नही हो सकता। अत 'विच्च-' का उद्भव 'वच्चइ' से होना भी नही माना जा सकता।[2] "जाना" और "मध्य, अन्तर, अवकाश" अर्थों में कुछ भी सम्वन्व नही वनता।

एक तीसरी व्युत्पत्ति "हिन्दी-शव्द-सागर" तथा डा० धीरेन्द्र वर्मा के "हिन्दी भापा का इतिहास" (इलाहावाद, १९३३, पृ० २४९) में वताई गई है। इनकी सम्मति में हिन्दी 'वीच' का सम्वन्व सस्कृत की 'विच्' ("पृथक् करना") धातु से है। दोनो ग्रन्थो मे केवल 'विच्' धातु का सकेत किया गया है, 'विच्' से 'वीच' का विकास, अर्थ और ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से, कैसे हुआ, इसकी विवेचना नहीं की गई। अनुमानत, 'वीच' (मध्य) किसी वस्तु को दो भागो में पृथक् करता है, इस आधार पर, अथवा, 'वीच' के दूसरे अर्थ "अन्तर, अवकाश" के आधार पर, इसका सम्वन्व 'विच्'="पृथक् करना" से जोडा गया है। किन्तु यह सम्वन्ध "खीचातानी" ही है। "मध्य" मे "पृथक् करने" का अर्थ असन्निहित है। पृथक् करना तो तीन या चार या अधिक भागो में भी हो सकता है। हाँ, "अन्तर, अवकाश" और "पृथक् करना" मे कुछ सम्वन्व वन सकता है, किन्तु 'वीच' का मुख्य, प्रारम्भिक अर्थ "मध्य" है, "अन्तर, अवकाश" अर्थ का विकास वाद मे हुआ है (देखिए, पृ० ६६)। इसके अतिरिक्त सस्कृत की 'विच्' धातु सामान्यतया किसी एक वस्तु का विभाग करने के अर्थ मे नही, अपितु दो सश्लिष्ट वस्तुओ (जैसे अन्न और भूसी) को एक-दूसरी से पृथक् करने (sift) के अर्थ मे प्रयुक्त होती है।[3] सस्कृत के 'विवेक', 'विवेचन' आदि शव्दो के प्रयोग ('नीर-क्षीर-विवेक', 'गुण-दोष-विवेचन' आदि) पर ध्यान देने से 'विच्' का तात्त्विक अर्थ स्पष्ट हो जाता है। 'वीच' में इस अर्थ की छाया अलभ्य है।

ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से, हिन्दी 'वीच' का विकास 'विच्' धातु से वने हुए किस सस्कृत-शव्द से हुआ, इसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है, किन्तु "हिन्दी-शव्द-सागर" अथवा "हिन्दी भापा का इतिहास" मे इस विषय में कुछ भी सकेत नही किया गया। प्रा० 'विच्च' का तो दोनो ग्रन्थो में निर्देश भी नही है। फिर भी केवल ध्वनि की दृष्टि से हि० 'वीच' का सम्वन्व स० 'विच्' से माना जा सकता है। किन्तु अर्थ-सम्वन्वी कठिनता के कारण अन्त मे इस व्युत्पत्ति को भी मान्य-कोटि में नही रक्खा जा सकता।

हिन्दी 'वीच' के पूर्वज प्रा० 'विच्च' की एक अन्य व्युत्पत्ति टर्नर ने ("नेपाली डिक्शनरी") नेपाली 'विच' (=वीच) शव्द की विवेचना मे दी है। इनकी सम्मति है कि प्रा० 'विच्च' का उद्गम स० *'वीच्य-' शव्द से होना सम्भव है। तुलना के लिए टर्नर ने स० के 'उरुव्यञ्च्-' ("सुविस्तृत, दूर तक फैला हुआ") तथा 'व्यचस्-' ("विस्तृत स्थान") शव्दो का निर्देश किया है। साथ ही उन्होने प्रा० 'विच्च' के अर्थ "मध्य" तथा "मार्ग" दोनो दिये हैं।

ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से स० *'वीच्य-' का प्रा० 'विच्च' हो जाने में कोई वाधा नही है।[4] स० 'वीच्य-'

---

[1] देखिये, "पाइयसद्दमहण्णवो" में 'वट्ट' नं० ४। हेमचन्द्र-कृत "देशीनाममाला" (पिशेल् द्वारा सम्पादित, वम्वई, १९३८, द्वितीय सस्करण) के अनुसार 'वट्टा' (="मार्ग") शव्द देशी है।

[2] दे० आल्सडोर्फ, "अपभ्रश-श्टूडिएन" पृ० ७९।

[3] देखिये मॉनियर विलियम्स कृत "सस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी" (ऑक्सफोर्ड, द्वितीय सस्करण, १८९९), पृ० ९५८।

[4] सं० स्पर्शव्यञ्जन + 'य' के स्थान पर प्राकृत में सामान्यतया स्पर्शव्यञ्जन + स्पर्शव्यञ्जन हो जाता है।

को टर्नर स्पष्ट ही 'वि+अच् (अञ्च्)' धातु अथवा 'व्यच्-' धातु से बनाते हैं, क्योकि तुलना के लिए उनका दिया हुआ 'उरुव्यञ्च्-' शब्द 'वि+अच् (अञ्च्)' धातु से और 'व्यचस्'- 'व्यच्' धातु से बना हुआ है।[1] इनमे से 'वि+अच् (अञ्च्)' से *'वीच्य-' का बनाना सरल है, क्योकि "निर्बल" रूपो में 'अच्-(अञ्च्)' का 'अ-' लुप्त हो जाता है, और उसके पूर्ववर्ती 'इ-' 'उ-' दीर्घ हो जाते हैं।[2] किन्तु 'व्यच्' धातु से *'वीच्य'- बनाने में कुछ कठिनता है। 'व्यच्' का दूसरा, "निर्बल", रूप 'विच्' मिलता है,[3] 'वीच्' नही, और 'विच्' से 'विच्य-' बन सकता है, 'वीच्य-' नही। हाँ, एक तरह से टर्नर की बात का समाधान भी हो सकता है। सस्कृत व्याकरण में 'व्यच्' एक स्वतन्त्र धातु है, किन्तु आधुनिक विद्वानो की सम्मति है कि यह धातु वास्तव में 'वि+अच् (अञ्च्)' का ही समस्त रूप है, पृथक् धातु नही।[4] 'व्यच्' का अर्थ है "अपने मे समेट लेना, घेर लेना, अपने में समा जाने देना, अपने अन्दर अवकाश या स्थान देना" तथा "धोखा देना, छलना"। 'अच्' अथवा 'अञ्च्'[5] का अर्थ है "जाना, चलना, मुडना, झुकना, रुझान होना" और 'वि+अच् (अञ्च्)' का अर्थ है "विविध दिशाओ में जाना, इधर-उधर हट जाना, विस्तार करना" तथा "इधर-उधर चलना, दोहरी चाल चलना, धोखा देना"। इस प्रकार 'व्यच्' और 'वि+अच् (अञ्च्)' के अर्थों मे पर्याप्त सादृश्य है। रूप में तो दोनो तुल्य है ही। अत इन दोनो को मूल मे एक मान लेने मे कोई बाधा नही। इतनी बात अवश्य है कि सस्कृत भाषा में वैदिक काल से ही 'व्यच्' का अपना पृथक् अस्तित्व बन गया ह। अस्तु। 'वि+अच् (अञ्च्)' अथवा 'व्यच्' धातु से स० *'वीच्य-' और स० *'वीच्य-' से प्रा० 'विच्च' की उत्पत्ति, ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से, किसी न किसी तरह सम्भव मानी जा सकती है।

किन्तु अर्थ की कठिनता टर्नर की व्युत्पत्ति में भी रह जाती है। प्रा० 'विच्च' का अर्थ "मार्ग" करना असगत है, यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। फिर "मार्ग" का 'व्यच्' अथवा 'वि+अच् (अञ्च्)' धातुओ के उपर्युक्त अर्थों से कोई सीधा सम्बन्ध भी नही बनता और न इन धातुओ के अर्थों से "मध्य" अर्थ की ही सगति बनती है। 'विच्च' के अन्य अर्थ "अन्तर, अवकाश" से 'व्यच्' और 'वि+अच् (अञ्च्)' के "विस्तार करना, अवकाश देना" अर्थों का सम्बन्ध अवश्य बन सकता है। (तुलना के लिए दिये गय 'उरुव्यञ्च्-' तथा 'व्यचस्' शब्दो से भी यही सकेत मिलता है)। किन्तु "अन्तर, अवकाश" 'विच्च' का मुख्य अर्थ नही है (दे० पृ० ६६)।

अन्त में एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि टर्नर ने प्रा० 'विच्च' के दो चकारो के कारण इसके पूर्वज सस्कृत शब्द को *'वीच्य-' कल्पित किया है, क्योकि सस्कृत के दीर्घस्वर+व्यञ्जनसयोग के स्थान पर प्राकृत मे ह्रस्वस्वर+व्यञ्जनसयोग, अथवा दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन हो जाता है,[6] जैसे स० 'मार्ग-'>प्रा० 'मग्ग-', स० 'दीर्घ'>प्रा० 'दीघ-' इत्यादि। किन्तु स० *'विच्य-' का भी प्रा० मे 'विच्च' ही बनेगा। फिर *'वीच्य-' की कल्पना करना सर्वथा अनावश्यक है। प्रत्युत 'व्यच्' धातु से *'विच्य-' बनाना ही सरल, नियमानुकूल है, *'वीच्य-' बनाने मे

---

[1] देखिये ग्रासमन्, "वुर्टर्-बुख् त्सुम् ऋग्वेद" (Woerter-buch zum Rig-Veda, लाइप्सिश, द्वितीय सस्करण, १९३६) में यही दोनों शब्द।

[2] विशेष विवरण नीचे, पृ० ६६ पर। स० का 'वीचि'–("छल, कपट, लहर, तरङ्ग") शब्द भी सम्भवत 'वि+अञ्च्' धातु से बना है। देखिये, मॉनियर विलियम्स में 'वीचि' शब्द।

[3] देखिये, व्हिट्ने, "एँ सस्कृत ग्रैमर", §६८२।

[4] देखिये, व्हिट्ने, "एँ सस्कृत ग्रैमर", §१०८७ (f), तथा मॉनियर विलियम्स, "इग्लिश-स० डिक्शनरी" में 'व्यच्' धातु।

[5] वास्तव में 'अच्' और 'अञ्च्' एक ही धातु हैं। 'अञ्च्' "प्रबल" रूप है और 'अच्' "निर्बल"। देखिये, नीचे पृ० ६६ तथा मॉनियर विलियम्स में यही दोनो धातुएँ।

[6] देखिये, पिशेल् "ग्रामाटिक् देर् प्राकृत-स्प्राखेन्" §§६२-६५, ७४-७६।

कठिनता है (देखिए पृष्ठ ६४)। और यदि प्रा० 'विच्च' के मूलभूत सस्कृत शब्द को 'व्यच्' धातु से न बनाकर, 'वि+अच् (अञ्च्)' धातु से बनाना आवश्यक माना जाय, तो भी *'वीच्य-' की कल्पना करना अनावश्यक है। प्रा० 'विच्च' का विकास स० *'वीच-' से भी हो सकता है, क्योकि सस्कृत के दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन के स्थान पर भी कभी-कभी प्राकृत में ह्रस्वस्वर+व्यञ्जनसयोग (द्वित्व) हो जाया करता है, जैसे स० 'नीड-'>प्रा० 'णिड्ड-', स० 'पूजा-'> प्रा० 'पुज्जा-'।[1] 'विच्च' के अर्थ "अन्तर, अवकाश" से 'वि+अच् (अञ्च्)' धातु के अर्थ का सम्बन्ध बनाने के लिए भी *'वीच्य-' की अपेक्षा *'वीच-' ही अधिक उपयुक्त है। सामान्यतया *'वीच्य-' का अर्थ होगा "विस्तार करने योग्य" और* 'वीच-' का "विस्तार"। साराश यह कि प्रा० 'विच्च'- के लिए *'विच्य-' ('व्यच्' धातु) अथवा *'वीच-' ('वि+अच्' धातु) की ही कल्पना करना अधिक सरल मार्ग है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि टर्नर की व्युत्पत्ति अब तक दी हुई सब व्युत्पत्तियो से अधिक सगत और भाषा-विज्ञान के नियमो के अनुकूल है, फिर भी इसे सर्वथा सन्तोष-जनक नही कहा जा सकता।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त चारो व्युत्पत्तियो मे से कोई भी उपादेय सिद्ध नही होती। नीचे की पक्तियो में एक नई व्युत्पत्ति[3] विद्वानो के विचार के लिए उपस्थित की जाती है। (किन्तु इन पक्तियो के लेखक को अपनी व्युत्पत्ति की 'मान्यता' के विषय में कोई आग्रह नही है। इस प्रकार की व्युत्पत्तियो के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है)।

सस्कृत में 'अच्' अथवा 'अञ्च्' ("जाना, मुडना, झुकना") धातु से बने हुए अनेक विशेषण-वाचक शब्द है, जिनमें 'अञ्च्' का अर्थ "—की ओर" अथवा "—की ओर आने (या जाने) वाला" होता है। उदाहरण के लिए 'अवराञ्च्-' ('अवर+अञ्च्') "नीचे की ओर" अथवा "नीचे की ओर जाने वाला", 'अन्वञ्च्-' ('अनु+अञ्च्') "किसी के पीछे जाने वाला, अनुगामी", 'उदञ्च्'- ('उत्+अञ्च्') "ऊपर (उत्तर) की ओर" अथवा "ऊपर की ओर जाने वाला", 'न्यञ्च्-' ('नि+अञ्च्') "नीचे की ओर" अथवा "नीचे की ओर जाने वाला", 'प्राञ्च्-' ('प्र+अञ्च्') "आगे की ओर (पूर्व)" अथवा "आगे की ओर जाने वाला", 'प्रत्यञ्च्-' ('प्रति+अञ्च्') "विरुद्ध दिशा, पीछे की ओर (पश्चिम)" अथवा "विरुद्ध दिशा की ओर जाने वाला", 'सम्यञ्च्' ('समि+अञ्च्', 'समि'='सम्')

---

[1] वास्तव में यह परिवर्तन "भ्रम-मूलक" है। बात यह है कि पाली तथा प्राकृत का यह एक सामान्य नियम है कि दीर्घस्वर के बाद केवल एक व्यञ्जन रह सकता है, व्यञ्जनसयोग नहीं; किन्तु ह्रस्व स्वर के बाद एक व्यञ्जन भी रह सकता है, और व्यञ्जनसयोग भी। फलत सस्कृत के दीर्घस्वर+व्यञ्जनसयोग के स्थान पर ह्रस्वस्वर+व्यञ्जनसयोग अथवा दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन हो जाता है। सस्कृत का दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन प्राकृत में भी दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन रह सकता है। किन्तु उपर्युक्त नियम की व्यापकता के कारण कभी-कभी इसका "दुरुपयोग" भी हो जाता है—सस्कृत के दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन को प्राकृत में ज्यो का त्यो रखा जा सकने पर भी, ह्रस्वस्वर+दो व्यञ्जन में परिवर्तित कर दिया जाता है।—फिर भी इस "दुरुपयोग" के आधार पर भी स० *'वीच'-को प्रा० 'विच्च'-में परिवर्तित करना सम्भव है ही। विशेषत इसलिये कि अर्थ की दृष्टि से *'वीच'-("विस्तार") अधिक उपयुक्त है।

[2] देखिये, आल्सडोर्फ, "अपभ्रंश-स्टूडिएन", पृ० ७९—"टर्नर की व्युत्पत्ति मुझे मान्य नहीं जँचती। किन्तु मैं इसके स्थान पर कोई अन्य अधिक उचित, व्युत्पत्ति रखने में भी असमर्थ हूँ"।

[3] यह व्युत्पत्ति यद्यपि टर्नर की व्युत्पत्ति से मिलती-जुलती है, और उसके आधार पर किसी को सूझ सकती है, फिर भी मैं इसे "नई" इसलिये कह सका हूँ कि मैंने टर्नर की व्युत्पत्ति देखने से कई मास पूर्व इसे सोचा था और "नोट्" करके पडा रहने दिया था। इस लेख के लिये मसाला इकट्ठा करते समय ही मुझे टर्नर की व्युत्पत्ति का पता चला। इसके अतिरिक्त, टर्नर की व्युत्पत्ति और इस व्युत्पत्ति में, ध्वनि-विकास की आशिक समानता होते हुए भी अर्थ-विकास का विवेचन बिलकुल भिन्न है।

"एक साथ" अथवा "एक साथ जाने वाला", 'विष्वञ्च्-' ('विषु+अञ्च्') "विभिन्न दिशाओ की ओर, सब ओर" अथवा "विभिन्न दिशाओ में जाने वाला", 'देवाञ्च्-' ('देव+अञ्च्') "देवताओ की ओर" अथवा "देवताओ की ओर जाने वाला"—इत्यादि।

इन शब्दो की विभिन्न विभक्ति आदिको में 'अञ्च्' के तीन रूप मिलते है—'-अञ्च्', '-अच्' और '-च्'। '-अञ्च्' को "प्रबल" रूप, '-अच्' को "मध्यम" रूप और '-च्' को "निर्बल" रूप कहा जाता है। "प्रबल" और "मध्यम" रूपो मे '-अञ्च्' अथवा '-अच्' का '-अ-' अपने पूर्ववर्ती स्वर मे सामान्य सन्धि-नियमो के अनुसार मिल जाता है, किन्तु "निर्बल" रूपो मे लुप्त हुआ '-अ-' अपने से पूर्ववर्ती 'इ-' 'उ-' को दीर्घ बना जाता है।[1] ऊपर दिये हुए शब्द "प्रबल" रूपो के है। "मध्यम" रूपो में यही शब्द 'अधराच्', 'अन्वच्', 'न्यच्', 'प्रत्यच्' आदि बन जाते है और "निर्बल" रूपो में 'अधराच्',[2] 'अनूच्', 'नीच्', 'प्रतीच्' आदि।

इन शब्दो में से अधिकाश के पूर्व-पद उपसर्ग ('प्र, परा, नि, प्रति' आदि) है, किन्तु कुछ के पूर्वपद विशेषण अथवा सज्ञाएँ भी है, जैसे 'अधराञ्च्-' और 'देवाञ्च्-' मे। सभी शब्द दिशा-वाचक अथवा आपेक्षिक-स्थिति-वाचक है, यह स्पष्ट ही है।

इन विद्यमान 'अञ्च्-' विशेषणो के आधार पर अन्य विशेषण भी कल्पित किये जा सकते है। प्रा० 'विच्च' ("मध्य") आपेक्षिक-स्थिति-वाचक शब्द है। इसकी व्युत्पत्ति के लिए एक नया 'अञ्च्-' विशेषण, 'द्वि+अञ्च्', कल्पित कर लेना शायद असगत न होगा। उपर्युक्त नियम के अनुसार 'द्वि+अञ्च्' का "निर्बल" रूप 'द्वीच्-' बनेगा जैसे 'नि+अञ्च्' का 'नीच्-' और 'प्रति+अञ्च्' का 'प्रतीच्-' बनता है। 'द्वीच्-' के 'द्वी-' अश की तुलना स० 'द्वीप-' शब्द से की जा सकती है। 'द्वीप-' 'द्वि+अप्' ("जल") से बना है। '-अञ्च्' की तरह '-अप्' के निर्बल रूपो में भी '-अ-' का लोप हो जाता है और उसके पूर्ववर्ती 'इ-', 'उ-' दीर्घ हो जाते है, जैसे 'अनूप-' ('अनु+अप्') और 'नीप-' ('नि+अप्') मे।[3] इस प्रकार 'नीच-' और 'द्वीप-' शब्दो के आधार पर 'द्वीच-' ('द्वि+अञ्च्+अ') शब्द की कल्पना कर लेने में कुछ भी बाधा नही है।

*'द्वीच-' का अर्थ होगा "दोनो ओर जाने वाला, दोनो ओर पहुँचने वाला", अर्थात् "दोनो ओर (दोनो भागो से) सम्बद्ध", अर्थात् "मध्य"। "मध्य" अर्थ से "दो के मध्य मे स्थान, दो के बीच का अन्तर" यह अर्थ, और इस अर्थ से "अन्तर, अवकाश" आदि अर्थ सहज ही विकसित हो सकते है। (किन्तु, ध्यान देने की बात है कि इसके विपरीत "अन्तर, अवकाश" अर्थों से "मध्य" अर्थ का विकास होना कठिन है। इसका प्रमाण स्वय 'मध्य' शब्द के अर्थ-विकास का इतिहास है। 'मध्य' के अर्थ वेद-ब्राह्मणादि ग्रन्थो में "बीच मे, बीच का, मध्यतम, केन्द्र" है। "दो के बीच का अन्तर, अवकाश" अर्थ पहले-पहल महाभारत मे मिलता है।[4]) "दो का मध्य" से "अनेक का मध्य, केन्द्र (बीचोबीच)" बन जाना भी स्वाभाविक ही है।

अर्थो के विषय मे *'द्वीच-' की तुलना उपर्युक्त 'अञ्च्-' विशेषण 'विष्वञ्च्-' और उससे सम्बद्ध 'विषुवत्-' शब्द से की जा सकती है। इन दोनो शब्दो के मूल में 'विषु-' शब्द है, जिसका अर्थ है "दोनो ओर, विविध ओर, सब ओर"।[5]

---

[1] देखिये, व्हिट्ने, "सस्कृत ग्रैमर" §§४०७-४१०।

[2] -'अञ्च्' के पूर्व वाला शब्द यदि अकारान्त हो तो "मध्यम" और "निर्बल" रूप एक से बनते है।

[3] देखिये, मॉनियर विलियम्स में यही शब्द।

[4] दे० मॉ० वि० में 'मध्य' शब्द।

[5] ग्रासमन् ("वुर्तरबुख़् त्सुम ऋग्वेद") के अनुसार 'विषु'-शब्द के मूल में 'वि'-उपसर्ग है, और मॉ० वि० के अनुसार 'विषु'-का सम्बन्ध 'विश्व'- ("सब") शब्द से है। किन्तु क्या यह सम्भव नहीं कि 'विषु-' का सम्बन्ध 'द्वि-' (>'वि-') शब्द से हो ? मॉ० वि० तो 'वि-' उपसर्ग को भी 'द्वि-' से उद्भूत मानने को तैयार है।

फलत 'विष्वञ्च्-' का अर्थ होता है "दोनो ओर, सब ओर, सर्वत्र" अथवा "दोनो ओर (सब ओर) जाने वाला, सर्वत्र व्याप्त"। इसी प्रकार 'विषुवत्-' शब्द के अर्थ है "दोनो ओर तुल्य भाग वाला, दो के मध्य म स्थित, सबके मध्य मे स्थित, केन्द्र", जो *'द्वीच-' के उपर्युक्त अर्थों से पूरी-पूरी समानता रखते हैं और उनकी युक्ति-युक्तता सिद्ध करते है। 'विषुवद्-रेखा-' "पृथ्वी की मध्यरेखा" और 'विषुवद्-दिन-' "वह दिन जब सूर्य मध्यरेखा पर आता है, और रात तथा दिन बराबर होते हैं" भी ध्यान देने योग्य है।

*साराश यह कि अर्थ की दृष्टि से * 'द्वीच-' को प्रा० 'विच्च' का पूर्वरूप मानना सभी तरह से सगत और न्याय्य है।*

ध्वनि की दृष्टि से भी म० * 'द्वीच-' का प्रा० 'विच्च' मे परिवर्तित हो जाना नियमानुकूल है। प्राकृत के अनेक शब्दो में सस्कृत के 'द्वि-' के स्थान पर 'वि-' अथवा 'बि-' और सस्कृत 'द्वा-' के स्थान पर 'वा-' अथवा 'बा-' हो गया है।[1] उदाहरण के लिए स० 'द्वि-' > प्रा० 'वि' ('बि') "दूसरा", स० 'द्विक-' > प्रा० 'विअ-' ('बिअ-') "युग्म, जोडा", स० 'द्वितीय-' > प्रा० 'विइज्ज-' ('बिइज्ज-') "दूसरा", स० 'द्वादश-' > प्रा० 'वारस-' 'बारस-', 'वारह-', 'बारह-', स० 'द्वाविंश-' > प्रा० 'वावीस-', 'बावीस-' "बाईस", स० 'द्वार-' > प्रा० 'वार-' ('बार-') "द्वार", स० 'द्वारका-' > प्रा० 'वारगा-' 'बारगा-' इत्यादि। फलत स० * 'द्वीच-' का भी प्रा० मे * 'वीच-' अथवा * 'बीच-' बन सकता है। इसके बाद 'नीड' > 'णिड्ड' की तरह (पृ० ६५ तथा टि० १) * 'वीच-' का 'विच्च-' बन जाना भी सर्वथा सम्भव है।

इस प्रकार अर्थ और रूप दोनो दृष्टियो से प्रा० 'विच्च' को स० * 'द्वीच-' से विकसित माना जा सकता है।

प्रा० 'विच्च' का विकास आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे कई रूपो में हुआ है—हिन्दी मे 'बीच', 'बिच', पजाबी में 'विच्च', गुजराती में 'विचे', 'वचे', 'वच्चे', नेपाली में 'बिच' इत्यादि। इनमें से 'विच्च' > 'बीच' तो, प्राकृत का ह्रस्वस्वर+व्यञ्जनसयोग > हिन्दी आदि मे दीर्घस्वर+एक व्यञ्जन, इस अत्यन्त व्यापक नियम के अनुसार, स्वाभाविक ही है।[2] पजाबी 'विच्च' भी, पजाबी भाषा की, प्राकृत के ह्रस्वस्वर+व्यञ्जनसयोग को अपरिवर्तित रखने की सामान्य प्रवृत्ति के अनुकूल है।[3] इसी प्रकार ब्रज०, अवधी और नेपाली के 'बिच' मे पूर्वस्वर को दीर्घ किये बिना एक 'च्-' का लोप भी असाधारण नही है।[4] गुजराती 'वच्चे' प्रा० 'विच्चे' (='विच्च' मे) का और 'वच' ('वच-मा'="बीच में") 'विच' का परिवर्तित रूप है।

'बीच' और 'मे' के अर्थ मे ब्रज० मे 'बिसे, बिसै, बिसैं, बिषे, बिषै, बिसे, बिसैं' और गुज० में 'विशे', 'विषे' का भी प्रयोग होता है।[5] इस शब्द का प्रारम्भिक रूप यदि 'बिषै' 'बिषे' है तब तो स्पष्ट ही इसका सम्बन्ध सस्कृत के 'विषय'

---

[1] पिशेल् §§ ४४३ आदि। प्राकृत में 'व' · 'ब' का विनिमय सुप्रसिद्ध है।

[2] तुलना के लिये, प्रा० 'कम्म' > हि० 'काम', प्रा० 'हत्थ' > हि० 'हाथ', प्रा० 'विस्स' > हि० 'बीस' इत्यादि। इस ध्वनि-परिवर्तन का परिणाम कभी-कभी यह होता है कि प्राकृत से विकसित हिन्दी आदि के शब्द उलट कर फिर उन संस्कृत शब्दो के सरूप हो जाते हैं, जिनसे प्राकृत शब्द विकसित हुए थे, जैसे स० 'पूजा-' > प्रा० 'पुज्जा' > हि० 'पूजा', स० 'एक-' > प्रा० 'ऍक्क' > हि० 'एक', स० 'तैल-' > प्रा० 'तिल्ल' > हि० 'तेल', स० 'नीच-' > प्रा० 'णिच्च' > हि० 'नीच' इत्यादि। इसी प्रकार का परिवर्तन 'बीच' में माना जा सकता है— स० * 'द्वीच-' > प्रा० * 'वीच-' > 'विच्च-' > हि० 'बीच', जो ठीक 'नीच-' > 'णिच्च' > 'नीच' के ही समान है।

[3] देखिये, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, "इडो-आर्यन् ऍड हिन्दी" (अहमदाबाद, १९४२), पृ० ११४,१७०।

[4] देखिये, सु० चाटुर्ज्या, "ऑरिजिन ऍंड डेवलप्मेंट ऑव् द बेंगाली लैग्वेज" (कलकत्ता, १९२६), पृ० १६०।

[5] किन्तु आश्चर्य है कि यह शब्द न तो "हिन्दी-शब्द-सागर" में और न डा० धीरेन्द्र वर्मा के "ब्रजभाषा व्याकरण" (इलाहाबाद, १९३७) में दिया गया है। प्रयोग के उदाहरण के लिये देखिये "सतसई-सप्तक" (श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित, इलाहाबाद, १९३१), पृ० २८८, दोहा १६।

शब्द से है। किन्तु यदि[1] 'विसे', 'विसैं' को प्रारम्भिक रूप और 'विशे' 'विषे' 'विषै' को 'विसे' का "पडिताऊ" रूप तथा 'विखे' 'विखै' को इस "पडिताऊ" रूप से परिवर्तित माना जाय, तो इस शब्द को भी प्रा० 'विच्च' से सम्बद्ध किया जा सकता है। क्योंकि 'च', 'छ' और 'स', 'श' के विनिमय के अनेक उदाहरण पाली, प्राकृत तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ में मिलते है।[2] पाली-प्राकृत मे स० 'च्च' तथा 'च्छ' के स्थान पर 'स' अथवा 'स्स' देखने मे आता है, जैसे स० 'पृच्छति' > प्रा० 'पुछइ', 'पुसइ' तथा 'पुसइ', स० 'चिकित्सा-' > प्रा० 'चिकिछा-' तथा 'तिकिसा-', स० 'उच्च-' > प्रा० 'उस्स' इत्यादि।[3] आधुनिक भाषाओ मे बगाली, मराठी, गुजराती तथा राजस्थानी के अनेक शब्दो मे 'च' के स्थान पर 'स' 'त्स' अथवा 'श' का उच्चारण प्रचलित है। उदाहरण के लिए स० 'चुक्र > ब० 'शुक्र' (सिरका),[4] स० 'चोर' > म० 'त्सोर', स० 'उच्च' > गु० 'उशो', हि० 'चक्की' > राज० 'सकी' आदि।[5] सिंहली भाषा के तो प्राय सभी शब्दो मे 'च' के स्थान पर 'स' हो गया है—स० 'चत्वार' > सि० 'सतर', स० 'पञ्च' > सि० 'पस' इत्यादि।[6] इसी प्रकार के विनिमय ने 'विचे' (="बीच मे") को 'विसे' बना दिया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। 'विसे' का 'विसे' 'विसै', 'विसै' आदि बन जाना साधारण बात है।

हैदराबाद]

---

[1] प्रारम्भिक रूप कौन सा है, इसका निर्णय तभी हो सकता है, जब इस शब्द के प्रयोग के समस्त उदाहरण प्रामाणिक हस्तलिखित प्रतियों से सगृहीत किये जायँ और उनकी विवेचना की जाय। इस सामग्री की अलभ्यता होते हुए प्रारम्भिक रूप का निर्णय करना मेरे वश के बाहर की बात है।

[2] विस्तृत विवेचना के लिए देखिये, सु० चाटुर्ज्या "बँगाली " पृ० ४६६-६७, पिशेल्, 'ग्रामा० प्रा० स्प्रा०" § ३२७ आदि।

[3] सु० चाटुर्ज्या, "बँगाली- ", पृ० ४६६।

[4] सु० चाटुर्ज्या, "बँगाली ", पृ० ५५१।

[5] दे० ग्रियर्सन का लेख, "जर्नल ऑव् द रॉयल एशियाटिक् सोसाइटी", १९१३, पृ० ३९१—।

[6] दे० गाइगर, "लितरातूर उद् श्प्राखे देर् सिंहालेजन" श्ट्रासबुर्ग् (Literatur und Sprache der Singhalesen, Strassburg), १९००, §§ १४ (६), २२ (१)।

अश्वों के कुछ विशिष्ट

(ई० पूर्व के १००० से १२०० तक)

श्री पी० के० गोडे एम्० ए०

हेमचन्द्र (१०८८ से ११७२) ने अपने अभिधानचिन्तामणि शब्द-कोश मे वर्णानुसार अश्वो के निम्नलिखित नामो का उल्लेख किया है—

क्रम	नाम	वर्ण	हेमचन्द्र की व्याख्या
१	कर्क	सित	करोति प्रमोद कर्क "कृगो वा" (उणा—२३) इति क (अमरकोष मे 'कर्क' का उल्लेख श्वेत अश्व के लिए आया है—"सित कर्क")
२	कोकाह (ज[1]—१)	,,	कोकवत् आहन्ति भुव कोकाह
३	खोङ्गाह (ज—२)	श्वेतपिङ्गल	खमुद्गाहते खोङ्गाह, पृषोदरादित्वात्, श्वेतश्चासौ पिङ्गलश्च श्वेतपिङ्गल
४	सेराह (ज—६) (स[2]—५)	पीयूषवर्ण	पीयूष अमृत दुग्ध वा तद्वद्वर्णोऽस्य पीयूषवर्ण तत्र सीरवदाहन्ति भुव सेराह
५	हरिया (ज—३)	पीत	हरिं वर्ण याति हरियः
६	खुङ्गाह (ज—२)	कृष्णवर्ण	खुरैर्गाहते खुङ्गाह.
७	क्रियाह	लोहित	क्रियां न जहाति
८	आनील (ज—८) (स—७)	नीलक	नील एव नीलक
९	त्रियूह (ज—९)	कपिल	त्रीन् यूथानि त्रियूह
१०	वोल्लाह (ज—२१)	कपिल और पाण्डु केशर वालधि	अय त्रियूह. एव व्योम्नि उल्लङ्घते वोल्लाह
११	उराह (ज—१४) (स—१३)	मनाक् पाण्डु और कृष्णजघ	उरसा आहन्ति उराह

[1] ज—जयदत्त। [2] स—सोमेश्वर।

क्रम	नाम	वर्ण	हेमचन्द्र की व्याख्या
१२	सूरूहक (देखिये सरुराहक) (ज–२१)	गर्दभाम	सुखेन रोहति सुरूहक
१३	वोरुखान (ज–१५)	पाटल	वैरिण खनति वोरुखान
१४	कुलाह (ज–१३)	मनाक्पीत कृष्ण स्यात् यदि जानुनि	कुलम् आजिहीते कुलाह
१५	उकनाह (ज–१६)	पीतरक्तच्छाय और कृष्णरक्तच्छाय	उच्चै नह्यते उकनाह । सएव उकनाह । कृष्णरक्तच्छाय सन् क्वचिदुच्यते ।
१६	शोण	कोकनदच्छवि	शोण. शोणवर्ण
१७	हरिक (ज–३)	पीतहरितच्छाय	हरिरेव हरिक
१८	हालक	,,	हलति क्ष्मा हालक
१९	पङ्गुल देखिये पिङ्गल (स–२०)	सितकाचाभ	पङ्गून् लाति पङ्गुल
२०	हलाह (ज–११) (स–१८)	चित्रित	चित्रितो कर्बूरवर्णो हलवदाहन्ति हलाह

हेमचन्द्र ने विभिन्न घोडो की उक्त सूची (भूमिकाण्ड, छन्द २०२ से २०९) को निम्नलिखित टिप्पणी देकर पूर्ण कर दिया है—

"खोङ्गाहादय शब्दा देशीप्राया । व्युत्पत्तिस्त्वेषा वर्णानुपूर्वी निश्चयार्थम्" (खोङ्गाह तथा दूसरे नाम प्राय देशी है । निश्चय अर्थ में उनकी व्युत्पत्ति घोडो के विभिन्न वर्णों के आधार पर की गई है ।) हेमचन्द्र के इस कथन से कि विभिन्न वर्णों के अश्वो के ये नाम 'देशीप्राया' है, पता चलता है कि हेमचन्द्र विश्वस्त नही थे कि ये निश्चित रूप से देशी शब्द ही है । फिर भी यह स्पष्ट है कि इन नामो का प्रचलन हेमचन्द्र के समय अर्थात् ग्यारहवी शताब्दी में था । अब हम देखें कि ये नाम या इनमें से कुछ हेमचन्द्र के समय में अथवा उसके निकटवर्ती वर्षों मे रचे गये अन्य सस्कृत ग्रन्थो में मिलते है या नही । वस्तुत चालुक्य वशी राजा सोमेश्वर द्वारा सन् ११३० ई० के लगभग (जबकि हेमचन्द्र करीब ४२ वर्ष के थे) रचित 'मानसोल्लास'[1] (अथवा 'अभिलषितार्थ चिन्तामणि') नामक विश्वकोश के पोलो-अध्याय में, जिसे 'वाजिवाह्यालीविनोद' कहा गया है, हमें कुछ नामो का उल्लेख मिलता है । इस अध्याय मे अधिकारी अफसर द्वारा लाये गये अनेक प्रकार के घोडों, उनकी नस्लो और वर्णों की परीक्षा करने के लिए राजा को परामर्श दिये गये है । राजा को घोडो की नस्ल का निर्णय जिन देशो से वे आये थे, उनके आधार पर करना था । विभिन्न देशो के नाम, जिनमें घोडो की उत्पत्ति हुई थी, सोमेश्वर ने दिये है । उन्होने घोडो के शरीर के विशिष्ट चिह्नो का भी उल्लेख किया है और वर्णों तथा जाति के आधार पर, जो कि सख्या में चार है, वर्गीकरण किया है । उन्होने

---

[1] गायकवाड ओरियटल सीरीज बडोदा में प्रकाशित, भाग २ (१९३९) पृ० २११—तथा भूमिका, पृ० ३४ ।

विभिन्न प्रकार के घोडो की विशेषताग्रो पर भी, जिनमें घोडो के शरीर की गठन भी सम्मिलित है, प्रकाश डाला है। यहाँ उन्होने 'पचकल्याण' तथा 'अष्टमङ्गल' घोडो का उल्लेख किया है। तदनन्तर घोडो की गति—अधिक, मध्यम और धीमी—का विभाजन किया है। दोषपूर्ण घोडो के चिह्न भी उन्होने दिये है। घोडो को सजा देने तथा शिक्षण योग्य बनाने के तरीको को भी बताया है। शिक्षण पूर्ण हो जाने पर ये घोडे राजा के काम आते थे। सर्वोत्तम अश्वो को सर्वोत्तम जीन तथा आभूषणो से सुसज्जित किया जाता था और राजा उन पर सवारी करते थे।

वर्णों के आधार पर घोडो के नाम देने के पूर्व सोमेश्वर लिखते है—

"श्वेतः कृष्णोऽरुणः पीत. शुद्धाश्चत्वार एव हि।
मिश्रास्त्वनेकधा वर्णास्तेषां भेद प्रवक्ष्यते ॥८२॥"

(अर्थात् सफेद, काले, लाल और पीले, ये ही चार विशुद्ध वर्ण है। उनके मिश्रण तो अनेक है। उनके भेदो को आगे बताया जायगा)।

विभिन्न वर्णो तथा जातियो के घोडो के सोमेश्वर द्वारा उल्लिखित नामो का नीचे दी हुई तालिका पर एक निगाह मे ही आभास हो जायगा—

न०	नाम	वर्ण	जाति	विवरण
१	कक(र्क) (ह—१)	श्वेत	विप्र	केशा वालाश्च रोमाणि वर्म चैव खुरास्तथा। श्वैतंरेतैर्भवेदश्व कका(र्का)ह्वो विप्रजातिज ॥८३॥
२	कत्तल	शुक्ल या श्वेत	,,	पूर्ववत्सर्वशुक्लाङ्गस्त्वचा कृष्णो भवेद्यदि। वर्णनाम्ना स विज्ञेय कत्तलोऽय तुरङ्गम ॥८४॥
३	काल	कृष्ण	शूद्र	लोमभि केशवालैश्च त्वचा कृष्णः खुरैरपि। काल इत्युच्यते वाजी शूद्रः शौर्याधिकस्तथा ॥८५॥
४	कपाह (कवाह) (ह—७)	रोहित	क्षत्रजाति	केशप्रभृति वालान्त सर्वाङ्गे रोहितो यदि। कयाह इति विख्यात क्षत्रजाति तुरङ्गम ॥८६॥
५	सेराह (ह—४)	काञ्चनाभ	वैश्य	केशैस्तनुरुहैर्वालै काञ्चनाभैस्तुरङ्गम। सेराह इति विख्यात वैश्यजाति समुद्भव ॥८७॥
६	चोर	सिल+लोहित	,,	सिललोहित रोमाणि सर्वाङ्गे मिश्रितानि च। मुखाङ्घ्रि वालकेशेषु लोहितश्चोर उच्यते ॥८८॥
७	नील (ह—८)	सितकृष्ण	,,	केशवालाङ्घ्रितुण्डे च मेचको रुरुसन्निभ। नील इत्युच्यते वाजी सितकृष्णे तनूरुहे ॥८९॥
८	क या(पा)ह	कृष्ण इत्यादि	,,	पाटलीपुष्पसका(शो)शानलकेषु सितेतर। कृष्णर्ग्रान्यकया(पा)होऽश्व· सङ्ग्रामे विजयप्रद ॥९०॥
९	मोह	मधूक वल्कल	,,	मधूकवल्कलच्छायो मोह इत्युच्यते हय।
१०	जम्व	पक्वजम्बूफल	,,	पक्वजम्बूफलच्छायो जम्ब इत्यभिधीयते ॥९१॥
११	हरित (ह—५) (ह—१७)	पीत+लोहित	,,	केशवालेषु पीतश्च लोहितो हरितो मत।
१२	सप्त(प्ति)रुन्दीर	उन्दुरवर्ण	,,	उन्दुरेण समच्छाय सप्त(प्ति)रुन्दीर उच्यते ॥९२॥
१३	उराह (ह—११)	मेचक+पीत+ लोहित	,,	केशकेसर पुच्छे च जानुनोऽधश्च मेचकः। सर्वाङ्गलोहितै पीतैरुराह. कथ्यते हय ॥९३॥

न०	नाम	वर्ण	जाति	विवरण
१४	गण्ठि(मण्ठ)वर्ण	शोण इत्यादि	वैश्य	शोप (शोण)स्तेप्वेव देशेपु सर्वाङ्गे किञ्चिदुज्वल । रक्तरेखाङ्कित पृष्ठे गण्ठि(मण्ठ)वर्णस्तुरङ्गम ॥९४॥
१५	पञ्चकल्याण	पाण्डुर	,,	येनकेनापि वर्णेन मुखे पुच्छे च (पादेपु) पाण्डुर । पञ्चकल्याण नामाय भापित सोमभूभुजा ॥९५॥
१६	अष्टमण्ठा(ङ्ग)ल	पाण्डुर	,,	केशेपु वदने पुच्छे वशे पादे च पाण्डुर । अष्ट मण्ठा(ङ्ग)ल नामा च सर्ववर्णेपु शस्यते ॥९६॥
१७	धौतपाद	श्वेत इत्यादि	,,	श्वेत सर्वेपु पादेपु पादयोर्वापि यो भवेत् । धौतपाद स विज्ञेय प्रशस्तो मुगपुण्ड्रक ॥९७॥
१८	हलाह (ह-२०)	श्वेत इत्यादि	,,	विशालै पट्टकै श्वेतै स्थाने स्थाने विराजित । येन केनापि वर्णेन हलाह इति कथ्यते ॥९८॥
१९	तरज	चित्रित	,,	चित्रित पार्श्वदेशे च श्वेतविन्दुकदम्वकै । यो वा को वा भवेद्वर्णस्तरञ्ज कथ्यते हय ॥९९॥
२०	पिङ्गल	सित+कृष्ण इत्यादि	,,	सितस्य विन्दव कृष्णा स्थूला सूक्ष्मा समन्तत । दृश्यन्ते वाजिनो यस्य पिङ्गल स निगद्यते ॥१००॥
२१	वहुलया मलिन	श्वेत+श्यामल	,,	श्वेतस्य सर्वगात्रेपु श्यामला मण्डला यदि । एके त वहुल प्राहुरपरे मलिन वुधा ॥१०१॥

सोमेश्वर की उक्त सूची की हेमचन्द्र की सूची से तुलना करने पर हमें पता चलता है कि निम्नलिखित नाम दोनों सूचियो में हैं—

(१) कर्क (२) सेराह (३) नील या नीलक (४) उराह (५) हलाह और सभवत (६) पिङ्गल या पङ्गुल।

यह केवल सयोग की वात नही है। यद्यपि सोमेश्वर दक्षिण में राज्य करते थे और हेमचन्द्र गुजरात मे रहते थे तथापि इन दोनो प्रान्तो में निरन्तर पारस्परिक सम्पर्क रहता था। हेमचन्द्र के आश्रयदाता महाराज कुमारपाल ने दो वार कोकन पर आक्रमण किया और शिलाहार वश का राजा मल्लिकार्जुन इन आक्रमणो[1] मे से एक में मारा गया। यह वहुत सम्भव है कि दक्षिण की कुछ अश्वविद्या गुजरात पहुँची होगी और गुजरात की दक्षिण मे, क्योकि निरन्तर युद्ध में रत राजाओ के लिए अश्वविद्या का वडा मूल्य था।

सोमेश्वर और हेमचन्द्र ने जिन नामो का ग्यारहवी शताब्दी में उल्लेख किया है, उनमे से कुछ विजयदत्त के पुत्र महासामन्त जयदत्त के द्वारा घोडो के विषय मे लिखे 'अश्ववैद्यक'[2] नामक निवन्ध मे भी पाये जाते है। निवन्ध के अन्त मे कुछ मादक द्रव्यो के नाम भी आते है और सम्पादक का कथन है कि उनका जयदत्त ने उल्लेख किया है। उन नामो में मुझे पृष्ठ ३ पर 'अहिफैन' या 'अफीम' का नाम मिलता है। यदि यह कथन सही है तो मुझे कहना पडता है कि यह निवन्ध मुसलमानो के भारत में आगमन के पश्चात् लिखा गया है, क्योकि आठवी शताब्दी में मुसलमानो

---

[1] एस० चित्राव शास्त्री (पूना) रचित 'मध्ययुगीनचरित्रकोश' १९३७, पृ० २४०। प्राकृत द्व्याश्रयकाव्य (सर्ग ६) के ४१ से ७० तक छद देखिये, जिनमें कुमारपाल के कोंकण पर कूच का वर्णन है।

[2] सम्पादक उमेशचन्द्र गुप्त, विब० इडिका, कलकत्ता, १८८६। तीसरे अध्याय के ९८-११० छन्दो में वर्णों के अनुसार घोडों की क़िस्मों का वर्णन है। (पृष्ठ ३८-४३)।

के आने¹ के पूर्व भारतीय साहित्य मे कही भी 'अफीम' का नाम नही था। सम्भवत यह निवन्ध सन् ८०० और १२०० के वीच लिखा गया था। नकुल द्वारा रचित 'अश्वचिकित्सित' नामक अश्व-सम्वन्धी निवन्ध में, जिसका सम्पादन सन् १८८७ मे विब्लिओथिका इडिका मे उल्लिखित जयदत्त के ग्रन्थ के सम्पादक ने किया था, हेमचन्द्र, सोमेश्वर और जयदत्त द्वारा वताये गये घोडो के नाम नही आते। फिर भी नकुल के ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में वर्णों के आधार पर घोडो का उल्लेख है, पर उनके नाम भिन्न है। वे नाम सस्कृत मे है, 'देशी प्राया' नही है, जैसा कि हेमचन्द्र ने लिखा है। नीचे की तालिका मे मै सविस्तर वर्णों के हिसाव से घोडो के कुछ विशेप नाम देता हूँ, जिनका उल्लेख जयदत्त ने अपने 'अश्ववैद्यक' मे किया है—

नं०	नाम	वर्ण	विवरण
१	कोकाह (ह–२)	श्वेत	श्वेत कोकाह इत्युक्त
२	खुङ्गाह (पिङ्गाह) (ह–३)	कृष्ण	कृष्ण खुङ्गाह उच्यते
३	हरित (ह–५–१७)	पीतक	पीतको हरित प्रोक्त
४	कषाय	रक्तक	कषायो रक्तक स्मृत
५	कयाह (स–८)	पक्वतालनिभ	पक्वतालनिभो वाजी कयाह परिकीर्तित ।
६	सेराह (ह-४) (स-५)	पीयूषवर्ण	पीयूषवर्ण सेराह
७	सुरूहक (ह–१२)	गर्दभाभ	गर्दभाभ सुरूहक
८	नील (ह-८) (स-७)	नीलक	नीलो नीलक श्यावाश्व
९	त्रियूह (ह–९)	कपिल	त्रियूह. कपिल स्मृत
१०	खिलाह (शिलह)	कपिल	खिलाह कपिलो वाजी पाण्डुकेशरवालधि ।
११	हलाह (ह-२०)(स-१८)	चित्रल	हलाह' चित्रलश्चैव
१२	खङ्गाह (खेङ्गाह)	श्वेतपीतक	खङ्गाह श्वेतपीतक
१३	कुलाह (ह–१४)	ईषत्पीत	ईषत्पीत कुलाहस्तुयोभवेत्कृष्णजानुक
१४	उराह (उरूह) (ह-११) (स-१३)	कृष्ण—पाण्डु इत्यादि	कृष्णाचास्ये भवेल्लेखा पृष्ठवशानुगामिनी । उराह कृष्णजानुस्तु मनाक्पाण्डु स्तु यो भवेत् ॥१०४॥
१५	वेरुहान (वीरूहण) (ह–१३)	पाटल	वेरुहानः स्मृतो वाजी पाटलो य प्रकीर्तित । रक्तपीतकषायोत्थवर्णजो यश्च दृश्यते ॥१०५॥
१६	उकनाह (दुकूलाह) (ह–१५)	देहज वर्ण	उकनाह स विख्यातो वर्णो वाहस्य देहज ।
१७	कोकुराह	मुखपुण्ड्रक के साथ	कोकाह पुण्ड्रकेणाश्व कोकुराह प्रकीर्तित
१८	खरराह	,,	खरराहश्च खङ्गाहो (पुण्ड्रकेण)
१९	हरिरोहक	,,	हरिको हरिरोहक (पुण्ड्रकेण)

¹ हेमचन्द्र के आश्रयदाता जयसिंह सिद्धराज (ई० १०९३-११४३) की राजधानी अणहिलपुर में अल इद्रिसी नामक भूगोल-विशेषज्ञ गया था। वह लिखता है—"शहर में बहुत से मुसलमान-व्यापारी है, जो यहाँ व्यापार करते हैं। राजा उनका खूब सत्कार करता है।". (देखिये आर० सी० पारीख कृत काव्यानुसार की भूमिका, पृष्ठ १९४, बम्वई, १९३८, । ह—हेमचन्द्र। स—सोमेश्वर।

न०	नाम	वर्ण	विवरण		
२०	मुराह	मूलपुण्ड्रक के साथ	कुलाह	मुराह	(पुण्ड्रकेण)
२१	मुरुगाहत्र मुन्द्क (ह–१२)	,,	वोल्लाह (ह–१०)	सरराहक	(पुण्ड्रकेण)
२२	वोल्गाह	,,	वीरराह	वोल्राह	(पुण्ड्रकेण)
२३	दुरूराह	,,	दुकुलाह	दुरूराह	(पुण्ड्रकेण)
२४	त्रियुराह	चित्रलाङ्ग	त्रियूह त्रियुराहश्च चित्रलाङ्गश्च यो भवेत् ।		

मैंने जयदत्त के 'अश्ववैद्यक' में से घोड़ो की नामावली की तालिका जितनी अच्छी तरह से उसे समझकर बना सकता था, बना दी है। यह नामावली उस नामावली से भिन्न है, जो शालिहोत्र ने घोड़ो-सम्बन्धी अपने निबन्ध में दी है और जिसका बार-बार जयदत्त ने उल्लेख किया है। जयदत्त के समय मे प्राचीन परिभाषा ग़लत साबित हो चुकी थी और इसी कारण जयदत्त ने अपने समय मे प्रचलित नामावली को ही लिया, क्योंकि इस प्रकार के उल्लेख की व्यावहारिक उपयोगिता थी। जयदत्त ने निम्नलिखित छन्दो में अपने इस ध्येय को व्यक्त किया है—

"खक्वाकादिभिर्वर्णै शालिहोत्रादिभि स्मृतै ।
पाटलाद्यैश्च लोकस्य व्यवहारो न साम्प्रतम् ॥६८॥
तस्मात्प्रसिद्धकान्वर्णान् वाजिना देहसम्भवान् ।
समासेन यथायोग्य कथयाम्यनुपूर्वश ॥६९॥

घोडो के वर्णो के आधार पर उनके नामो की तीनो सूचियो से पता चलता है कि जयदत्त और सोमेश्वर (११३०) की सूचियाँ हेमचन्द्र की अपेक्षा अधिक पूर्ण है। इन तीनों सूचियों में बहुत से नाम समान होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्यारहवीं और बारहवी शताब्दी में अश्व-विद्या का खूब प्रचलन था। इस अश्व-विद्या का निश्चित रूप से विदेशी अश्व-व्यापार से भी सम्बन्ध था, जो लगभग ८०० ई० पू० के बाद भारतीय बन्दरगाहो के साथ चल रहा था, जैसा मैंने अन्यत्र लिखा है।[1] हेमचन्द्र कहते है कि यह नामावली 'देशीप्राया' है। मेरा यह विश्वास है कि इन नामों मे से कुछ फारसी है और कुछ अरबी, और वे फ़ारसी, अरबी, तुर्की तथा अन्य घोड़ो की नस्लों के भारत में आने के साथ आयें, जैसा कि विस्तार से मार्को पोलो ने अपने यात्रा-विवरणो (१२९८ ई०) में लिखा है। घोड़ो के विदेशी आयात के सम्बन्ध मे मार्को पोलो के विवरण की पुष्टि डा० एस० के० ऐयगर के निम्नलिखित विवरण से हो जाती है, जो उन्होने 'कायल' नामक मलाबार के बन्दरगाह में १६०० ई० के लगभग प्रचलित अश्व-व्यापार के बारे में तैयार किया था—

दक्षिण मे मनार की खाडी मे तमरपर्णी के मुहाने पर कायल नामक एक बहुत ही सुरक्षित बन्दरगाह था, जो सुप्रसिद्ध 'कोरकोंड' (जिसे यूनानी भूगोल-लेखकों ने 'कोलखोड' कहा है) से दूर न था। १२९० ई० के लगभग कायल एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था और वहाँ पर 'किश' के एक अरबी सरदार मलिकुलइस्लाम जमालुद्दीन ने, जो बाद में 'फ़ार्स' का फार्मर जनरल हो गया था, एक एजेन्सी क़ायम की थी। 'वसफ' के कथनानुसार इस समय लगभग दस हज़ार घोड़े कायल और भारत के अन्य बन्दरगाहो में व्यापार के लिए बाहर से लाये गये थे, जिनमें १४०० घोडे स्वय जमालुद्दीन के घोड़ो की नस्ल के थे। हर एक घोडे का औसत मूल्य चमकते हुए सोने के बने हुए २२० दीनार था। उन घोडो का मूल्य भी जो रास्ते में मर गये थे पाड्य राजा को, जिसके लिए वे लाये गये थे, देना पडा था। मालूम होता है, जमालुद्दीन का एजेन्ट फ़क़ीरुद्दीन अब्दुर्रहमान मुहम्मदुतटयैबी का बेटा, जिसे मरजबान (मारग्रेव) के नाम से भी पुकारा

[1] भांडारकर ओरियटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की पत्रिका, भाग २६, पृ० ८९-१०५

गया है, जमालुद्दीन का भाई था। इस एजेन्ट का हेडक्वार्टर कायल मे था और 'फितान' और मालीफितान के अन्य वन्दरगाहो पर भी उसका नियन्त्रण था। इस वृत्तान्त से पता चलता है कि वह इस भू-प्रदेश में अरववासियो के भारत मे आयात-व्यापार का एजेन्ट-जनरल था। इस आधार पर यह निश्चित है कि इस प्रदेश का व्यापार उस समय वहुत वढा-चढा था। वसफ के शव्दो मे मलावार लम्वाई में कुलम से नीलपर (नीलौर) तक लगभग तीन-सौ परसग समुद्र के किनारे-किनारे फैला हुआ है और उस देश की भाषा में राजा 'देवर' कहलाता है, जिसका अर्थ है राज्य का मालिक। 'चिन' और 'मचिन' की विशिष्ट चीजे तथा हिन्द और सिन्ध की पैदावार से लदे हुए पर्वताकार जहाज (जिन्हें वे 'जक' कहते थे) वहाँ पानी की सतह पर इस प्रकार चले आते थे मानो उनके हवा के पख लगे हो। खास तौर पर फारस की खाडी के टापुओ की सम्पत्ति और ईराक और खुरासान तथा रूम और योरुप के वहुत-से भागो की सौन्दर्यपूर्ण तथा सजावट की चीजे 'मलावार' को ही पहुँचती है। मलावार की स्थिति ऐसी है कि उसे 'हिन्द की कुजी' कह सकते हैं।[1]

उपर्युक्त १२९० ई० के भारत के विदेशी व्यापार और विशेषकर अश्व-व्यापार के विशद वर्णन से वर्णानुसार, जैसा हेमचन्द्र, सोमेश्वर और जयदत्त ने उल्लेख किया है, घोडो के नामो की उत्पत्ति स्पष्ट हो जायगी। यह वात ध्यान-पूर्वक और दिलचस्पी के साथ देखने की है कि उन १०,००० घोडो में से, जो कायल मे वाहर से लाये गये थे, १४०० घोडे जमालुद्दीन के खुद के घोडो की नस्ल के थे। इस सम्वन्ध में मुझे यह कहना पडता है कि 'वोरुखान' घोडे का नाम, जिसका उल्लेख हेमचन्द्र ने किया है, 'वोरुखान' अश्वपालक के नाम पर ही रक्खा गया होगा। यदि वह अनुमान सत्य है तो हेमचन्द्र के "वैरिण खनति वोरुखान" नाम की व्याख्या उसकी अन्य घोडो के नाम की व्याख्या की तरह दिखा-वटी तथा काल्पनिक हो सकती है। हेमचन्द्र ने 'वोरुखान' घोडे का पाटल वर्ण वतलाया है। जयदत्त ने 'वेरुहान' या 'वीरुहण' घोडे का पाटल रग वतलाया है। मेरे विचार से 'वोरुखान' और 'वेरुहान' दोनो शव्द एक ही हैं। वे इस नाम के किसी अरवी अश्वपालक की ओर ही सकेत करते हैं, जैसा कि ऊपर कह चुका हूँ।

प्रस्तुत लेख में तीन अलग-अलग सस्कृत के समकालीन आधारो पर अश्वनामावली तैयार करने में मुझे कुछ सफलता मिली है।[2] इस विषय में दिलचस्पी रखने वाले विद्वानो से मेरा अनुरोध है कि वे इतर-सस्कृत ग्रन्थो के आधार पर इस वारे में प्रकाश डालने की कृपा करें। सम्भवत इतर-सस्कृत ग्रन्थो मे, झेनोफोन का ग्रीक निवन्ध तथा शालिहोत्र, जयदत्त एव नकुल के सस्कृत निवन्ध भी इस विषय पर प्रकाश डाल सकते हैं।

पूना]

---

[1] इलियट, ३, ३२; एस० के० ऐयगर, 'साउथ इडिया ऐंड हर मुहैमेडन इनवैडर्स', आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२१, पृ० ७०-७१

[2] हेमचन्द्र की सूची में प्रयुक्त वीस नामो में से पन्द्रह जयदत्त की सूची में पाये जाते हैं। इस प्रकार के सयोग से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कालक्रम के अनुसार हेमचन्द्र और जयदत्त एक दूसरे से वहुत दूर नहीं है, विशेषकर जव हमें इस वात का स्मरण होता है कि हेमचन्द्र ने इन नामों का उल्लेख अपने समय के प्रचलित नामों के आधार पर ही किया है। दूसरे, जयदत्त ने स्पष्ट लिखा है कि उसने केवल अपने समय के पहले के प्रचलित नामो को ही लिया है, क्योंकि शालिहोत्र तथा अन्य व्यक्तियो द्वारा लिखी गई अश्वनामावलियों में आये हुए नामों का प्रयोग उसके समय में वन्द हो गया था।

संस्कृत व्याकरण में लकार-वाची संज्ञाएँ

श्री क्षितीशचन्द्र चट्टोपाध्याय शास्त्री, एम० ए०

पाणिनि में जो लकारवाची सज्ञाएँ प्रसिद्ध है, उनके सम्बन्ध मे यह नही जान पडता कि क्यो 'लट्' आदि नामो से वर्तमान आदि कालो का ही ग्रहण किया जाय ? इस समय सस्कृत व्याकरण मे काल—(भूत, भविष्य, वर्तमान) और भावो—(आज्ञा, आशीर्वाद, क्रियातिपत्ति आदि) का भेद नही पाया जाता। परन्तु पाणिनि मे पूर्ववर्ती व्याकरणो मे सम्भवत इस प्रकार का भेद विद्यमान था और दस लकार स्पष्टत दो भागो मे विभक्त थे, एक काल का बोध कराने वाले, जैसे वर्तमान, परोक्ष आदि और दूसरे आज्ञा आदि भाव-वाची। कातन्त्र व्याकरण मे, जो अभी तक सुरक्षित है, कुछ पहली सज्ञाएँ बच गई है। 'काले' (३।१।१०) और 'तासाम् स्वसज्ञाभि कालविशेष।' 'प्रयोगतश्च' (३।१ १५–१६), इन सूत्रो के अधिकार मे यह कहा गया है कि काल विशेष की वाचक अपनी-अपनी सज्ञाओ का प्रयोग किया जाना चाहिए। सम्भवत 'काल' शब्द के 'ल' को अलग करके उसी के आधार पर स्वरो के क्रम से 'ट' और 'ड्' की 'इत्' सज्ञा जोड कर पाणिनि ने लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लड्, लिड्, लुड् और लृड्, इन सज्ञाओ की रचना की। आशीर्वादात्मक भाव के लिए कोई विशेष सज्ञा न बनाकर पाणिनि ने केवल 'लिडाशिषि' नियम से ही काम चलाया है। यह भी विदित होगा कि प्रधान लकारो के नामो में 'ट्' अक्षर का प्रयोग किया गया है और गौण प्रत्ययो के लिए 'ड्' का। जहाँ 'ट्' की 'इत्' सज्ञा है, उसका तात्पर्य यह है कि आगम उससे पहले रक्खा जायगा। इसी तरह से 'ड्' की 'इत्' सज्ञा यह बताती है कि आदेश अन्तिम अक्षर के स्थान मे होता है। इस दृष्टि से यह उपयुक्त ही है कि प्रधान प्रत्ययो के नाम-वाची लकारो के लिए 'ट्' अनुबन्ध का प्रयोग किया गया और 'ड्' अनुबन्ध अप्रधान या गौण प्रत्ययो वाले लकारो के लिए प्रयुक्त हुआ।

सबसे पहले पाणिनि ने भूत, भविष्यत्, वर्तमान-वाची सज्ञाओ का नामकरण किया और उन्हे लट्, लिट्, लुट् कहा। इन सज्ञाओ में अ, इ, उ, इन तीन स्वरो की सहायता ली गई है। उसके बाद लृट् आता है, जो कि सामान्य भविष्य काल की सज्ञा है। 'लृट्' सज्ञा 'लुट्' के बाद इसलिए रक्खी गई है, क्योकि उसमे 'स्य' इतना अधिक जोडा जाता है। इसके बाद पाणिनि ने ए और ओ, इन दो सन्ध्यक्षरो का प्रयोग करके 'लेट्' और 'लोट्' सज्ञाएँ बनाईं, जिनसे क्रियातिपत्ति और आज्ञा इन दो भावो का बोध होता है। क्योकि 'लेट्' लकार मे बहुत करके 'ति', 'तस्' आदि प्रत्यय यथावत् बने रहते है, इसलिए इस लकार को 'लोट्' से पहले रक्खा गया है, जिसमे कि प्रत्ययो में प्राय विकार हो जाता है। ड्कारान्त लकारो में लड् और लिड् उसी प्रकार एक दूसरे से आगे-पीछे रक्खे गये है, जैसे लुट् और लोट एक दूसरे से। लङ् (अनद्यतन भूत) के बाद आचार्य को लुङ् (सामान्य भूत) कहना चाहिए था, लेकिन पाणिनि ने अब की क्रम बदल कर काल और भाव-वाची सज्ञाओ को एक दूसरे के बाद बारी-बारी से रक्खा है। इसी कारण लड् के बाद लिड्, फिर लुङ् और उसके बाद लृङ् रक्खा गया है। चूँकि लृङ् लकार के रूपो में लड् और लृट्, इन दोनो का मेल देखा जाता है, इसलिए सूत्रकार ने लृड् को सबके अन्त मे रक्खा है।

पाणिनि का सूत्र है—'वर्तमाने लट्' (३।२।१२३), अर्थात् वर्तमान काल मे लट् लकार का प्रयोग होता है। इसी की अनुकृति करके कातन्त्र व्याकरण ने लट् के लिए 'वर्तमाना' सज्ञा का प्रयोग किया है। कात्यायन के वार्तिक से (३।३।२११) ज्ञात होता है कि वर्तमान काल के लिए पूर्वाचार्यों के अनुसार 'भवन्ती' सज्ञा थी। उससे भी पहले की सज्ञा 'कुर्वत्' या 'कुर्वती' जान पडती है, क्योकि ऐतरेय ब्राह्मण में कुर्वत्, करिष्यत् और कृतम् ये वर्तमान, भविष्य और भूतकाल की सज्ञाएँ है। बाद के शाखायन आरन्यक मे 'कृ' के स्थान पर 'भू' धातु को अपनाकर तीन कालो के लिए भवत्, भविष्यत् और भूतम्, ये सज्ञाएँ स्वीकृत हुईं। बोपदेव के व्याकरण में 'भवत्', 'भूत' और 'भव्य' सज्ञाओ

का प्रयोग हुआ है, जो प्राचीन परम्परा के अधिक निकट है। शाकटायन के व्याकरण में 'भवत्' के स्थान पर 'सत्' और 'भविष्यत्' के लिए 'वर्त्स्यत्' प्रयुक्त हुए हैं।

कातन्त्र में 'लिट्' के लिए 'परोक्षा' सज्ञा है, जो पाणिनि के सूत्र 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) से मिलती है। परोक्षा सज्ञा चतुरध्यायिका ग्रन्थ मे, जो अथर्ववेद का, प्रातिशाख्य है और कात्यायन के वार्तिको मे भी मिलती है (भाष्य १।२।१८ पर श्लोक वार्तिक)।

'लुट्' (अनद्यतन भविष्य) के लिए कातन्त्र व्याकरण में 'श्वस्तनी' सज्ञा है, जो पाणिनि सूत्र 'अनद्यतने लुट्' (३।३।१५) से मिलती है। इसी सूत्र पर कात्यायन के वार्तिक में भी यह सज्ञा आई है—'परिदेवने श्वस्तनी भविष्यन्त्या अर्थे।'

लृट् (सामान्य भविष्य) के लिए कातन्त्र में भविष्यती सज्ञा का प्रयोग हुआ है। यह सज्ञा कात्यायन के ऊपर लिखे हुए वार्तिक मे आ चुकी है और पाणिनि के 'भविष्यति गम्यादय' एव 'लृट् शेषे च' सूत्रो से मिलती है।

'लेट्' लकार का केवल वेद में प्रयोग होता है। अतएव पाणिनि के उत्तरकालीन व्याकरणो मे इसकी चर्चा नही है, किन्तु अथर्व प्रातिशाख्य में इसके लिए 'नैगमी' सज्ञा का प्रयोग हुआ है (२।३।२, चतुरध्यायिका)। 'नैगमी' सज्ञा 'निगम' (=वेद) से बनाई गई है।

'लोट्' (आज्ञा) का प्राचीन नाम कातन्त्र व्याकरण मे नही मिलता। वहाँ इसे 'पचमी' कहा गया है, क्योकि पाणिनि के लकारो मे इसका पाँचवाँ स्थान है, यदि 'लेट्' को उस सूची से निकाल दिया जाय। यह भी सम्भव है कि किसी समय प्रथमा, द्वितीया, तृतीया विभक्तियो की तरह लकारो के भी वैसे ही नाम थे। प्रयोगरत्नमाला में (जो कातन्त्र सम्मत है) 'लोट्' नाम का ही ग्रहण किया गया है और कातन्त्र के रचयिता शर्ववर्मन द्वारा प्रयुक्त 'पचमी' इस सज्ञा का बहिष्कार हुआ है। ऊपर लिखे हुए अथर्व प्रातिशाख्य में (२।१।११, २।३।२१) 'लोट्' के लिए 'प्रैषणी' (पाठान्तर 'प्रैपणी') सज्ञा का प्रयोग हुआ है, जो कि पाणिनि सूत्र ३।२।१६३ 'प्रैषाति सर्ग प्राप्त कालेषु कृत्याश्च' से मिलती है।

लङ् (अनद्यतन)-भूत के लिए कातन्त्र में 'ह्यस्तनी' सज्ञा का नाम आया है। यह नाम पाणिनि के 'अनद्यतने लङ्' (३।२।१११) से मिलता है और 'श्वस्तनी' सज्ञा का उल्टा है। क्रिया के सम्बन्ध में 'ह्यस्तन' शब्द का महाभाष्य में प्रयोग हुआ है, [अथ कालविशेषान् अभि समीक्ष्य यश्चाद्यतन पाको यश्च ह्यस्तनो यश्च श्वस्तन (महाभाष्य ३।१।६७)] किन्तु कालवाची 'ह्यस्तनी' सज्ञा का उल्लेख वार्तिक और भाष्य में नही मिलता। 'लिङ्' लकार के लिए भी प्राचीन नाम कातन्त्र में नही आता। वहाँ उसे सप्तमी कहा गया है, लेकिन प्रयोगरत्नमाला मे 'लिङ्' नाम का ही ग्रहण हुआ है।

'लुङ्' के लिए प्राचीन नाम 'अद्यतनी' था, जो कि कात्यायन के वार्तिको में कई वार आया है (२।४।३।२, ३।२।१०२।६, ६।४।११४।३)।

'लृङ्' के लिए कातन्त्र व्याकरण में 'क्रियातिपत्ति' सज्ञा का प्रयोग हुआ है, जो कि पाणिनीय सूत्र 'लिङ् क्रियातिपत्तौ' (३।३।१३९) से लिया गया है।

चन्द्रव्याकरण में भी पाणिनि के लकार-नामो का ग्रहण किया गया है।

कालान्तर के व्याकरणो पर साम्प्रदायिकता की छाप पडी और सीधी-सादी व्याकरण की सज्ञाओ को भी देवताओ के नामो के साथ जोड दिया गया। उदाहरण के लिए हरिनामामृत व्याकरण में दस समानाक्षरो के लिए विष्णु के दस अवतारो के नाम रक्खे गये हैं और दस लकारो के लिए भी अच्युत, अधोक्षज आदि सज्ञाएँ प्रयुक्त हुई हैं।

शाक्तो के एक व्याकरण में तो दस लकारो के लिए काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातगी और कमला, इन दस महाविद्याओ के नाम ले लिये गये हैं।

कलकत्ता]

'गो' शब्द के अर्थों का विकास

श्री मङ्गलदेव शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल (ऑक्सन)

अनेक शब्दो और उनके अर्थो का इतिहास कितना मनोरजक हो सकता है, इसी विषय को हम 'गो' शब्द के उदाहरण द्वारा दिखलाना चाहते है। इस दृष्टि से सस्कृत तथा तद्भव हिन्दी आदि भाषाओं में 'गो' शब्द से अधिक रोचक शब्द कदाचित् ही दूसरा होगा।

कोशो के अनुसार 'गो' शब्द के वैदिक तथा लौकिक सस्कृत में अनेक अर्थ है, यद्यपि उनमें से कई अर्थो के साहित्यिक उदाहरण कठिनता से मिलेंगे। प्रधानत हम वैदिक सस्कृत के अर्थो को लेकर ही विचार करेंगे, क्योंकि उनके उदाहरण स्पष्टत मिल जाते है। लौकिक सस्कृत के विशिष्ट अर्थो पर सक्षिप्त रीति से ही लेख के अन्त में विचार किया जावेगा।

निघण्टु-निरुक्त के अनुसार 'गो' शब्द के निम्नलिखित अर्थ है—

(१) गो=पृथिवी। जैसे "अभवत् पूर्व्या भूमना गौ" (ऋ० स० १०।३१।६)।

(२) गो=द्युलोक अथवा सूर्य। जैसे "उताद परुषे गवि" (ऋ० स० ६।५६।३) तथा "गवामसि गोपति" (ऋ० स० ७।९८।६)।

(३) गो=रश्मि या किरण। जैसे "यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास" (ऋ० स० १।१५४।६)।

(४) गो=वाक्, अथवा अन्तरिक्षस्थानीया वाग्देवता, अथवा स्तुतिरूपा वाक्। जैसे "अय स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता (ऋ० स० १।१६४।२९)।

(५) गो=गो-पशु। इसके उदाहरण की आवश्यकता नहीं है। गो-पशुवाची 'गो' शब्द का प्रयोग निरुक्तकार ने गौणरूप से गो-सम्बन्धी या गौ के किसी अवयव से बने हुए पदार्थो के लिए भी वैदिक भाषा मे दिखलाया है। इस कारण 'गो' का अर्थ सगति के अनुसार (क) गो-दुग्ध, (ख) गोचर्म जिस पर बैठकर सोम का रस निकाला जाता था, (ग) गौ की चर्बी, (घ) गौ की स्नायु या ताँत, (ङ) धनुष् की ज्या या डोरी, चाहे वह गौ या अन्य पशु की ताँत से बनी हो।

(६) गो=स्तोता। इस अर्थ का कोई वास्तविक उदाहरण नही दिया गया है।

इन विभिन्न अर्थों के विषय में मुख्य प्रश्न यह उठता है कि कि क्या ये सब अर्थ स्वतन्त्र और परस्पर असम्बद्ध है, या इनमें से एक को मौलिक अर्थ मानकर अन्य अर्थो का विकास गौणवृत्ति के द्वारा उसी से दिखलाया जा सकता है।

सामान्य रूप से ऐसे अनेकार्थक शब्दो के विषय मे यही माना जाता है कि उनके विभिन्न अर्थ स्वतन्त्र तथा परस्पर असम्बद्ध है। पातञ्जल-महाभाष्य (१।२।६४) में अनेकार्थक 'अक्ष', 'पाद', 'माष' शब्दो के उल्लेख के प्रकार से यही ध्वनि निकलती है। प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट ने भी अपने 'लघु-मजूषा' ग्रन्थ में इसी सिद्धान्त को लेकर विचार किया है, जैसे—"तादात्म्यमूलकस्य सम्बन्धत्वेऽर्थभेदात्तत्तादात्म्यापन्नशब्देषु भेदौचित्येनार्थभेदाच्छब्दभेद इत्युपपद्यते। समानाकारत्वमात्रेण तु एकोऽय शब्दो नानार्थ इति व्यवहार" (शक्तिप्रकरण)। टीकाकारो के अनुसार महाभाष्य में दिये गये अनेकार्थक 'अक्ष', 'पाद' जैसे शब्दो से ही यहाँ अभिप्राय है।

उक्त सिद्धान्त का—सब नाम आख्यातज या व्युत्पन्न है या नही—इस विचार से कोई आवश्यक घनिष्ठ सम्बन्ध नही है। पर जो लोग समस्त नामो को आख्यातज मानते है, उनके सामने भी 'गो' जैसे अनेकार्थक शब्दो के विषय में यह सिद्धान्त-भेद हो सकता है कि वे ऐसे शब्द को एक मौलिक अर्थ में आख्यातज मानकर भी उसके अन्य

अनेक अर्थों को उस मूल अर्थ से ही परम्परया विकसित स्वीकार करें, या उन सब अर्थों को स्वतन्त्र मानकर एक या अनेक मौलिक धात्वर्थों से ही उनका साक्षात् सम्बन्ध माने।

निरुक्त में यास्क आचार्य ने अनेकार्थक शब्दो के विषय में उपर्युक्त सिद्धान्तभेद स्पष्टतया कही प्रतिपादित नही किया है। यद्यपि उनका झुकाव अनेक अर्थों को स्वतन्त्र मानने की ओर अधिक दीखता है, तो भी उनके "पाद पद्यते। तन्निधानात्पदम्। पशुपादप्रकृति प्रभागपाद। प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि" (नि० २।७) जैसे कथनो से यह स्पष्ट है कि वे विभिन्न अर्थों के एक मौलिक अर्थ से विकास के सिद्धान्त को भी स्वीकार करते थे। उक्त उद्धरण का अभिप्राय यही है कि गत्यर्थक 'पद' धातु से बने हुए 'पाद' शब्द के मौलिक अर्थ पैर से ही गौणी वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थों का विकास हुआ है, जैसे (१) पाद(=पैर) जहाँ रक्खा जावे उस स्थान पर उसके चिह्न को या सामान्य रूप से स्थान मात्र को 'पद' कहते हैं, (२) पशु के पैर चार होते हैं, अत 'पाद' का अर्थ चौथा भाग हो गया, (३) वाक्य के अग या भाग होने से वाक्यगत शब्दो को भी 'पद' कहते हैं। यास्काचार्य के उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनको अनेकार्थक शब्दो के विषय में उपर्युक्त सिद्धान्त भी स्वीकृत है। ऐसा होने पर भी उन्होंने 'गो' शब्द के उपरिनिर्दिष्ट अर्थों को स्वतन्त्र रूप से ही दिखलाया है।

पर आधुनिक भाषा-विज्ञान में शब्दो की व्युत्पत्ति के विषय में यही सिद्धान्त माना जाता है कि अनेकार्थक व्युत्पन्न शब्दो के विभिन्न अर्थों का विकास किसी एक मौलिक अर्थ से ही मानना चाहिए। इसका अपवाद केवल उन थोडे-से शब्दो में माना जाता है, जिनका विकास विभिन्न स्रोतो से हुआ है और इसी कारण, वर्णानुपूर्वी के सादृश्य के रहने पर भी, वे विभिन्न अर्थों में वस्तुत स्वतन्त्र या निष्पन्न पृथक् शब्द ही माने जाने चाहिएँ।

यहाँ हम यही दिखलाना चाहते है कि 'गो' शब्द के अनेक अर्थों का विकास वास्तव में उसके मौलिक अर्थ गो-पशु से ही हुआ है। अनेकार्थक शब्दो का मौलिक अर्थ यथासम्भव ऐन्द्रियक या सन्निकट प्रत्यक्ष जगत् से सम्बन्ध रखने वाला होना चाहिए—इस सिद्धान्त के अनुसार 'गो' शब्द का मौलिक अर्थ गो-पशु ही मानना चाहिए। इस अर्थ की साहित्यिक तथा व्यावहारिक व्यापकता से भी यही सिद्ध होता है। यही नही, 'गो' शब्द के भारतयूरोपीय भाषाओं में जो रूपान्तर दीख पडते हैं उनका प्रयोग भी 'गो'-पशु के ही अर्थ मे होता है, जैसे अग्रेजी में Cow या लैटिन में bos 'गो' शब्द स्पष्टतया गत्यर्थक 'गम' या 'गा' धातु से बना है और इस धात्वर्थ की सगति भी गो-पशु में ठीक बैठ जाती है।

गौ=पृथिवी

निघण्टु में पृथिवीवाचक २१ शब्दो में 'गौ' सबसे प्रथम दिया है। यास्काचार्य इस पर अपनी व्याख्या में कहते है—"गौरिति पृथिव्या नामधेय यद्दूर गता भवति यच्चास्या भूतानि गच्छन्ति। गातेर्वौकारो नामकरण" (२।५)। अर्थात् पृथिवी को गौ इसलिए कहते है, क्योकि वह बडी दूर तक फैली चली गई है या क्योकि उस पर प्राणी चलते हैं, अर्थात् उनके मत से पृथिवी अर्थ को रखने वाला 'गो' शब्द 'गम' या 'गा' धातु से स्वतन्त्र रूप से बना है।

हमारे मत से पृथिवी के लिए 'गो' शब्द के प्रयोग का मुख्य कारण यही हो सकता है कि गौ के तुल्य पृथिवी से भी मनुष्य अपनी सब अन्नादिरूपी कामनाओ को दुहता है, अर्थात् उनकी प्राप्ति करता है। इस भाव के द्योतक अनेक प्रयोग भी वैदिक तथा लौकिक साहित्य में मिलते हैं। उदाहरणार्थ "दुदोह गा स यज्ञाय" (रघुवश १।२६)= अर्थात्, दिलीप ने यज्ञसम्पादन के निमित्त पृथिवी-रूपी गौ को दुहा। शतपथब्राह्मण (२।२।१।२१) में तो स्पष्टतया कहा है "धेनुरिव वा इय (=पृथिवी) मनुष्येभ्य सर्वान् कामान् दुहे"। अर्थात्, यह पृथिवी गौ की तरह मनुष्यो की समस्त कामनाओं को दुहती है। इसी परम्परागत विचार के कारण पुराणो में पृथिवी को प्राय गोरूपधरा दिखलाया गया है। शत० ब्राह्मण में 'धेनुरिव' (=गौ की तरह) इस कथन से तथा 'दुह' धातु के उक्त स्थलो में प्रयोग से हमारे मत की प्रामाणिकता स्पष्ट हो जाती है।

वर्षा द्वारा पृथिवी को गर्भवती करके अन्नादि को उत्पन्न करने वाले द्युलोक मे वृषभ (=बैल) की कल्पना के द्वारा भी, जो वैदिक मन्त्रो में प्राय पाई जाती है, पृथिवी में गौ की कल्पना को अवश्य ही और भी पुष्टि मिली होगी।

गौ=द्युलोक तथा आदित्य

निघण्टु के अनुसार 'गो' शब्द द्युलोक तथा आदित्य दोनो अर्थों मे भी प्रयुक्त होता है। निरुक्त में 'गो' शब्द की व्याख्या इस प्रसग में इस प्रकार की है—"गौरादित्यो भवति। गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौर्यत्पृथिव्या अधि दूर गता भवति, यच्चास्या ज्योतीषि गच्छन्ति" (२:१४)। अर्थात्, पृथिवी से रसो को ले जाने (या खीचने) के कारण अथवा अन्तरिक्ष मे चलने के कारण आदित्य को गौ कहते है और पृथिवी से दूर जाने के कारण या इसलिए कि नक्षत्रादि उसमे चलते है, द्युलोक को गौ कहते है।

टीकाकारो द्वारा उक्त दोनो अर्थों में दिये हुए 'गो' शब्द के उदाहरण असन्दिग्ध नही कहे जा सकते। तिस पर भी, यदि निघण्टुकार के अर्थों को मान लिया जावे तो उनकी व्याख्या, हमारी दृष्टि से, यही हो सकती है कि द्युलोक और आदित्य को गौ कहने का हेतु वृष्टि करने के कारण उनका वृषभ या वृषन् (=गौ) होना ही है। आदित्य और द्युलोक का साहचर्य होने से वृष्टि कर्म का सम्बन्ध दोनो से है। यास्काचार्य ने "अथैतान्यादित्यभवतीनि। अमौ लोक वर्षा" (७।११) इस प्रकार इसी साहचर्य को दिखलाया है। कालिदास के "दुदोह गा स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्" (रघुवश १।२६) इस पद्य में तो पृथिवी-रूपी गौ के समान द्यु-रूपी गौ की कल्पना भी स्पष्ट है। "आय गौ पृश्निरक्रमीत्" (ऋ० स० १०।१८९।१) इस मन्त्र में चित्र-विचित्र गौ (=पृथिवी या सूर्य) के लिए 'अक्रमीत्' में पैर उठाकर चलने के अर्थ मे आने वाली क्रम् धातु का प्रयोग भी यही सिद्ध करता है कि मन्त्रद्रष्टा की दृष्टि में सूर्य (या पृथिवी) के लिए 'गो' शब्द के प्रयोग का पारम्परिक आधार 'गो' पशु ही पर है।

गौ=रश्मि या किरण

रश्मि या किरण के अर्थ मे भी 'गो' शब्द का प्रयोग निघण्टु-निरुक्त के अनुसार होता है। इस अर्थ में निरुक्तकार ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"ता वा वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयास।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्ण परम पदमवभाति भूरि॥" (ऋ० १।१५४।६)

अर्थात्, हम लोग तुम दोनो (=यजमानदम्पती) के लिए उस स्थान (=द्युलोक) की प्राप्ति की कामना करते है जहाँ घूमने-फिरने वाली या गमनशील अनेक सीगो वाली गौयें (=किरणें) रहती है। और वहाँ महाशक्तिसम्पन्न वृषन् (वर्षा करने वाले विष्णु या सूर्य) का उत्कृष्ट स्थान अत्यन्त प्रकाशमान है।

यहाँ किरणो को गौ कहने के मूल में उनका गो-पशु के साथ कोई-न-कोई साम्य ही कारण है यह 'भूरिशृङ्गा' (=अनेक सींगो वाली) इस विशेषण से ही स्पष्ट है। उक्त साम्य का स्पष्टीकरण मन्त्र से ही हो जाता है। 'अयास' (=गमनशील) इसका यही अभिप्राय है कि जिस प्रकार गौएँ रात्रि मे गोष्ठ में अवरुद्ध रहती है और सूर्योदय के समय खोली जाने पर गोचर भूमि मे दौड जाती है, इसी तरह गो-रूपी किरणें रात्रि में सूर्य-मडल में रहकर सूर्योदय के समय रसाहरणार्थ पृथिवी पर फैल जाती है। यह कल्पना अनेकत्र मन्त्रो में देखी जाती है और यही निस्सन्देह गौओ के साथ किरणो के साम्य का मूलकारण है। इसी कल्पना के आधार पर वैष्णवो के 'गोलोक' की कल्पना की गई है।

गौ=वाक्

निघण्टु में ५७ शब्द वाणी-वाची दिये है। उनमें 'गौ' तथा 'धेनु' शब्द भी है। इस अर्थ में 'गो' शब्द का प्रयोग प्राय देखा जाता है। विद्युत् की कडक और बादलो की गरज में अपने को प्रकट करने वाली 'माध्यमिका वाक्'

या 'अन्तरिक्षस्थानीया देवता' के लिए भी 'गो' शब्द का प्रयोग वेद में प्राय देखने में आता है। इस अर्थ में 'गौ' का निर्वचन निघण्टु के टीकाकार देवराज यज्वन् ने "गच्छति यज्ञेष्वाहूता, गीयते स्तूयते वा" (=जो यज्ञो में आहूत होकर जाती है या जो गाई जाती है या जिसकी स्तुति की जाती है) इस प्रकार दिया है।

पर हमारी सम्मति मे तो वाणी (या माध्यमिका वाक्) के लिए भी 'गो' शब्द के प्रयोग के मूल में वही गो-पशु की कल्पना है। इस बात की पुष्टि अनेकानेक उदाहरणो से की जा सकती है, जैसे—"गौरमीमेदनु वत्सम् हिङ्कृणोत्. सृक्वाणम् अभिवावशाना मिमाति मायुम्" (ऋ० १।१६४।२८)। अर्थात् रसो को रश्मियो के द्वारा हरण करने वाले वत्सरूपी सूर्य के प्रति गौ (माध्यमिका वाक्) हुकार करती है और (गौ की तरह) शब्द करती है।

"उपह्वये सुदुघां धेनुम्" (ऋ० १।१६४।२६)।

अर्थात्, मै अच्छा दूध देने वाली माध्यमिका वाक् (रूपी गौ) को बुलाता हूँ।

"दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु" (ऋ० ८।१००।११)।

अर्थात्, दूध देने वाली सुस्तुता वाक् रूपी धेनु हमारे पास आवे।

इस प्रसग में यास्काचार्य का कहना है कि "वागर्थेषु विधीयते" (११।२७), अर्थात् नाना प्रकार के अर्थों को वाणी द्वारा ही प्रकट किया जाता है। "अधेन्वा चरति माययैष वाच शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्". (ऋ० १०।७१।५) इसकी व्याख्या में यास्काचार्य कहते हैं—'नास्मै कामान् दुग्धे वाग्दोह्यान् देवमनुष्यस्थानेषु यो वाच श्रुतवान् भवत्य-फलामपुष्पाम्" (१।२०), अर्थात् जो बिना समझे वाणी को सुनता है उसके लिए वाणी रूपी गौ लौकिक या पारलौकिक कामनाओ को नही दुहती। शतपथब्राह्मण (१४।८।९।१) में स्पष्टतया वाग्रूपी गौ के चार स्तनो का वर्णन किया है—"वाच धेनुमुपासीत तस्माश्चत्वार स्तना" इत्यादि।

ऊपर के उदाहरणो से स्पष्ट है कि अर्थरूपी दुग्ध के द्वारा नाना मनोरथो की पूर्ति करने के कारण ही वाणी मे गो-पशु की कल्पना मन्त्र-द्रष्टा ऋषियो ने की थी। यही बात महाकवि भवभूति ने "कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मी धेनु धीरा सूनृता वाचमाहु" (उत्तररामचरित) इन शब्दो में प्रकट की है।

माध्यमिका वाक् में गौ के साम्य की कल्पना का आधार एक और भी हो सकता है। प्राचीन वैदिक काल मे आदान-प्रदान का मुख्य साधन होने से गौ ही मुख्य धन समझा जाता था। इसलिए गौओ के लिए युद्धो का वर्णन और शत्रुओ द्वारा उनके अपहरण की कथाएँ वैदिक साहित्य तथा महाभारत में भी पाई जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मेघरूपी वृत्र के द्वारा अवरुद्ध की हुई जलरूपी गौओ की परिचायक होने से कदाचित् माध्यमिका वाक् का वर्णन भी गौ के रूप में वेद में किया गया है। जो कुछ हो, ऊपर दिये हुए उदाहरणो से, जिनमें वत्स (=गौ का बछडा), मायु (=गौ का विशेष शब्द), वावशाना (=गौ का शब्द) जैसे शब्दो के साथ माध्यमिका वाक् का 'गो' शब्द से वर्णन किया गया है, यह निसन्देह सिद्ध हो जाता है कि माध्यमिका वाक् में गोत्व का व्यवहार गो-पशु-मूलक ही है।

ऊपर हमने कहा है कि स्तुति के लिए भी 'गो' शब्द का प्रयोग होता है। इसका कारण स्पष्ट है। वैदिक मन्त्रो में जिस वाक् का वर्णन है वह प्राय स्तुतिरूप ही है। अत 'गौ' का अर्थ वाक् के साथ-साथ स्तुति भी देखा जाता है।

गौ=स्तोता

निघण्टु में स्तोतावाची १३ शब्दो में 'गौ' भी दिया है। इस अर्थ में इसकी व्युत्पत्ति निघण्टु के टीकाकार ने "गीयन्ते स्तूयन्तेऽनेन देवता" (=जिसके द्वारा देवताओ की स्तुति की जाती है) इस प्रकार दी है। पर इस अर्थ के जो उदाहरण टीकाकार ने दिये है वहाँ स्तोता का अर्थ आवश्यक नहीं दीखता। इसलिए इस अर्थ को उदाहरणो द्वारा सिद्ध करना कठिन है। तिस पर भी, यदि इस अर्थ को मान ही लिया जावे तो भी उसका कारण वही है जो गौ के स्तुति अर्थ का ऊपर हमने दिखलाया है।

लौकिक सस्कृत मे 'गो' शब्द

ऊपर हमने दिखलाया है कि वैदिक साहित्य मे 'गो' शब्द के जो विभिन्न अर्थ लिये जाते है उनका मौलिक आधार गो-पशु ही है। लौकिक सस्कृत के कोशो मे उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त 'गो' शब्द के और भी अनेक अर्थ दिये गये है। यहाँ हम केवल अमरकोश को ही लेते है। उसके अनुसार गौ के अर्थ निम्नलिखित है—

स्वर्गेपुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले ।
लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रिया पुसि गौ (३।३।२५)

अर्थात् 'गो' शब्द के अर्थ है—(१) स्वर्ग, (२) वाण, (३) पशु, (४) वाक्, (५) वज्र, (६) दिशा, (७) नेत्र, (८) किरण, (९) पृथ्वी, और (१०) जल।

इनमें से स्वर्ग (=वैदिक द्युलोक), वाक्, किरण और पृथ्वी अर्थ तो ऊपर आ ही चुके है। पशु से अभिप्राय प्राय गौ मे ही लिया जाता है। यदि इसका अभिप्राय पशुमात्र से है तब भी इसका आधार गो-भूयस्त्व पर ही होगा। वाण अर्थ का विकास उसी तरह गौणवृत्ति से हुआ होगा जिस तरह वाण की ज्या के लिए 'गो' शब्द का प्रयोग, यास्काचार्य के अनुसार, हम ऊपर दिखला चुके है। अशनिरूप इन्द्र का 'वज्र' मायु (=गौ का शब्द) करने वाली माध्यमिका वाक् का ही एक रूप है।

दिशा के अर्थ का गौ के साथ साक्षात् या असाक्षात् सम्बन्ध स्पष्ट नही है। हो सकता है कि इसका विकास किरण या द्यु या आदित्य इन अर्थों के द्वारा परम्परया हुआ हो। नेत्र अर्थ का आधार स्पष्टतया गौ जैसे गोचरभूमि मे जाती है उसी तरह नेत्रेन्द्रिय के स्वविषय की ओर जाने पर है। इन्द्रियो के विषयो को 'गोचर' कहने का मूल-कारण भी यही है। इसी आधार पर पिछले सस्कृत साहित्य में इन्द्रिय-मात्र के लिए 'गो' शब्द का व्यवहार हुआ है। उसी अर्थ को लेकर 'गोस्वामी' शब्द प्रचलित हुआ है। जल के अर्थ का मूल वादलरूपी वृत्र के द्वारा जल-रूपी गौओ के अवरोध की उपर्युक्त कल्पना ही प्रतीत होती है।

इसी प्रकार के कुछ और अर्थ भी 'गो' शब्द के पिछले काल के सस्कृत के कोशो में मिलते है। उनका विकास भी प्राय उपरि-निर्दिष्ट पद्धति से सहज ही दिखलाया जा सकता है। पर लौकिक सस्कृत के कोशो में दिये हुए अर्थो के विषय में सबसे मुख्य आपत्ति यह है कि उनका साहित्यिक प्रयोग दिखाना कठिन है। इसीलिए उन अर्थों का हमारी दृष्टि मे महत्त्व कम है।

'गो' शब्द के ऐतिहासिक महत्त्व को ठीक समझने के लिए उससे बने हुए अनेक शब्दो पर विचार करना भी आवश्यक है, पर विस्तार-भय से उसका इस लेख में समावेश करना सम्भव नही है।

काशी]
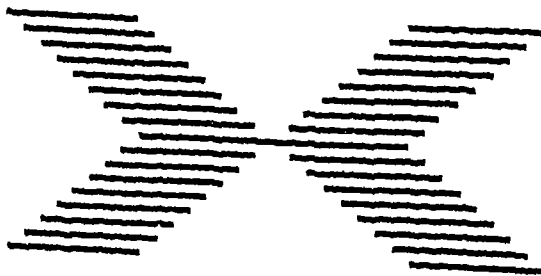
मरण से

श्री मैथिलीशरण गुप्त

झुका सकेगा मुझे कभी तू ? कर्त्ता का केतन हूँ मैं,
मरण, नित्य नव जीवन हूँ मैं, तू जड़ है, चेतन हूँ मैं।

मेरे पीछे लाख पड़ा रह, आगे आ न सकेगा तू,
रोया कर जी चाहे जितना, मुझ-सा गा न सकेगा तू।
छद्म रूप रखकर जा तो भी भव को भा न सकेगा तू,
सड़ा-गला भी कभी पेट भर पामर, पा न सकेगा तू।
रह रूखा-सूखा उजाड़ तू, हरा-भरा उपवन हूँ मैं;
मरण, नित्य नव जीवन हूँ मैं, तू जड़ है, चेतन हूँ मैं।

नये नये पट-परिवर्तन कर प्रकट नाटचशाला मेरी,
वंचित ही इस स्वर-लहरी के रस से रसनाएँ तेरी।
फणि, कोई मणि है तो वह तो चोरी की ही हथफेरी,
सरक वहीं तू जहाँ नरक-से कूड़े-घूड़े की ढेरी।
देख दूर से क्रूर रोग तू योग-सिद्ध जन-धन हूँ मैं,
मरण, नित्य नव जीवन हूँ मैं, तू जड़ है, चेतन हूँ मैं!

चिरगाँव]

हमारे पुराने साहित्य के इतिहास की सामग्री

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी-साहित्य का इतिहास केवल सयोग और सौभाग्यवश प्राप्त हुई पुस्तको के आधार पर नही लिखा जा सकता। हिन्दी का साहित्य सम्पूर्णत लोक-भाषा का साहित्य है। उसके लिए सयोग से मिली पुस्तके ही पर्याप्त नही है। पुस्तको मे लिखी बातो से हम समाज की किसी विशेष चिन्ताधारा का परिचय पा सकते है, पर उस विशेष चिन्ताधारा के विकास में जिन पार्श्ववर्ती विचारो और आचारो ने प्रभाव डाला था, वे, बहुत सम्भव है, पुस्तक रूप में कभी लिपिबद्ध हुए ही न हो और यदि लिपिबद्ध हुए भी हो तो सम्भवत प्राप्त न हो सके हो। कबीरदास का बीजक दीर्घकाल तक बुन्देलखड से झारखड और वहाँ से बिहार होते हुए धनौती के मठ मे पडा रहा और बहुत बाद मे प्रकाशित किया गया। उसकी रमैनियों से एक ऐसी धर्म-साधना का अनुमान होता है, जिसके प्रधान उपास्य निरजन या धर्मराज थे। उत्तरी उडीसा और झारखड में प्राप्त पुस्तको तथा स्थानीय जातियो की आधार-परम्परा के अध्ययन से यह अनुमान पुष्ट होता है। पश्चिमी बगाल और पूर्वी बिहार में धर्म ठाकुर की परपरा अब भी जारी है। इस जीवित सम्प्रदाय तथा उडीसा के अर्द्धविस्मृत सम्प्रदायो के अध्ययन से बीजक के द्वारा अनुमित धर्मसाधना का समर्थन होता है। इस प्रकार कबीरदास का बीजक इस समय यद्यपि अपने पुराने विशुद्ध रूप मे प्राप्त नही है—उसमे बाद के अनेक पद प्रक्षिप्त हुए है—तथापि वह एक जनसमुदाय की विचार-परम्परा के अध्ययन में सहायक है। कबीर का बीजक केवल अपना ही परिचय देकर समाप्त नही होता। वह उस से अधिक है। वह अपने इर्दगिर्द के मनुष्यो का इतिहास बताता है। मैने अपनी 'कबीरपथी साहित्य' नामक शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली पुस्तक मे इसकी विस्तार-पूर्वक चर्चा की है।

भारतीय समाज ठीक वैसा ही हमेशा नही रहा है, जैसा आज है। नये-नये जनसमूह इस विशाल देश में बराबर आते रहे है और अपने -अपने विचारो और आचारो का प्रभाव छोडते रहे है। आज की समाज-व्यवस्था कोई सनातन व्यवस्था नही है। आज जो जातियाँ समाज के निचले स्तर मे पडी हुई है। वे सदा वही रही है, ऐसा मानने का कोई कारण नही है। इसी प्रकार समाज के ऊपरी स्तर में रहने वाली जातियाँ भी नाना परिस्थितियो को पार करती हुई वहाँ पहुँची है। इस विराट जनसमुद्र का सामाजिक जीवन काफी स्थितिशील रहा है। फिर भी ऐसी धाराओ का नितान्त अभाव भी नही रहा है, जिन्होने समाज को ऊपर से नीचे तक आलोडित कर दिया है। ऐसा भी एक जमाना था, जब इस देश का एक बहुत बडा जनसमाज ब्राह्मणधर्म को नही मानता था। उसकी अपनी अलग पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाजव्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक-भावना थी। मुसलमानो के आने के पहले ये जातियाँ हिन्दू नही कही जाती थी। किसी विराट सामाजिक दबाव के फलस्वरूप एक बार समूचे जनसमाज को दो बडे-बडे कैम्पो मे विभक्त हो जाना पडा—हिन्दू और मुसलमान। गोरखनाथ के बारह सम्प्रदायो मे उनसे पूर्व काल के अनेक बौद्ध, जैन, शैव और शाक्त सम्प्रदाय सगठित हुए थे। उनमे कुछ ऐसे सम्प्रदाय, जो केन्द्र से अत्यन्त दूर पड गये थे, मुसलमान हो गये, कुछ हिन्दू। हिन्दी-साहित्य की पुस्तको से ही उस परम शक्तिशाली सामाजिक दबाव का अनुमान होता है। इतिहास मे इसका कोई और प्रमाण नही है, परन्तु परिणाम देखकर निस्सन्देह इस नतीजे पर पहुँचना पडता है कि मुसलमानो के आगमन के समय इस देश में प्रत्येक जनसमूह को किसी-न-किसी बडे कैम्प मे शरण लेनी पडी थी। उत्तरी पजाब से लेकर बगाल की ढाका कमिश्नरी तक के अर्द्धचन्द्राकृति भूभाग में बसी हुई जुलाहा जाति को देख कर रिजली ने (पीपुल्स ऑव इन्डिया, पृ० १२६) अनुमान किया था कि इन्होने कभी सामूहिक रूप में मुसलमानी धर्म स्वीकार किया था। हाल की खोजो से इस मत की पुष्टि हुई है। ये लोग ना-हिन्दू-ना-मुसलमान योगी सम्प्रदाय के शिष्य थे।

साहित्य का इतिहास पुस्तको, उनके लेखको और कवियो के उद्भव और विकास की कहानी नही है। वह वस्तुत अनादि काल-प्रवाह में निरन्तर प्रवहमान जीवित मानव-समाज की ही विकास-कथा है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार, कवि और काव्य, सम्प्रदाय और उनके आचार्य उस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नही है। मुख्य है मनुष्य। जो प्राणधारा नाना अनुकूल-प्रतिकूल अवस्थाओं से वहती हुई हमारे भीतर प्रवाहित हो रही है उसको समझने के लिए ही हम साहित्य का इतिहास पढते हैं।

सातवीं-आठवीं शताब्दी के वाद से लेकर तेरहवी-चौदहवी शताब्दी का लोकभाषा का जो साहित्य वनता रहा, वह अधिकाश उपेक्षित है। वहुत काल तक लोगो का ध्यान इधर गया ही नहीं था। केवल लोकसाहित्य ही क्यो, वह विशाल शास्त्रीय साहित्य भी उपेक्षित ही रहा है, जो उस युग की समस्त साहित्यिक और सास्कृतिक चेतना का उत्स था। काश्मीर के शैव साहित्य, वैष्णव सहिताओ का विपुल साहित्य, पाशुपत शैवो का इतस्ततो विक्षिप्त साहित्य, तन्त्रग्रन्थ, जैन और वौद्ध अपभ्रश ग्रन्थ अभी केवल शुरू किये गये हैं। श्रेडर ने जमकर परिश्रम न किया होता तो सहिताओ का वह विपुल साहित्य विद्वन्मडली के सामने उपस्थित ही नही होता, जिसने वाद में सारे भारतवर्ष के साहित्य को प्रभावित किया है। मेरा अनुमान है कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने के पहले निम्नलिखित साहित्यो की जाँच कर लेना वडा उपयोगी होगा। इनकी अच्छी जानकारी के विना हम न तो भक्ति-काल के साहित्य को समझ सकेंगे और न वीरगाथा या रीतिकाल को।—

१ जैन और वौद्ध अपभ्रश का साहित्य।
२ काश्मीर के शैवो और दक्षिण तथा पूर्व के तान्त्रिको का साहित्य।
३ उत्तर और उत्तर-पश्चिम के नाथो का साहित्य।
४ वैष्णव आगम।
५ पुराण।
६ निवन्धग्रन्थ।
७ पूर्व के प्रच्छन्न वौद्ध-वैष्णवो का साहित्य।
८ विविध लौकिक कथाओ का साहित्य।

जैन अपभ्रश का विपुल साहित्य अभी तक प्रकाशित नही हुआ है। जितना भी यह साहित्य प्रकाशित हुआ है, उतना हिन्दी के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जोइन्दु (योगीन्द्र) और रामसिंह के दोहो के पाठक स्वीकार करेंगे कि क्या वौद्ध, क्या जैन और क्या शैव (नाथ) सभी सम्प्रदायो में एक रूढिविरोधी और अन्तर्मुखी साधना का दाना दसवीं शताब्दी के वहुत पहले वॅंध चुका था। वौद्ध अपभ्रंश के ग्रन्थ भी इसी वात को सिद्ध करते हैं। योग-प्रवणता, अन्तर्मुखी साधना और परम प्राप्तव्य का शरीर के भीतर ही पाया जा सकना इत्यादि वाते उस देश-व्यापी साधना का केन्द्र थी। यही वातें आगे चलकर विविध निर्गुण सम्प्रदायो में अन्य भाव से स्थान पा गई। निर्गुण साहित्य तक ही यह साहित्य हमारी सहायता नही करेगा। काव्य के रूपो के विकास और तत्कालीन लोकचिन्ता का भी उससे परिचय मिलेगा। राहुल जी जैसे विद्वान तो स्वयम्भू की रामायण को हिन्दी का सवसे श्रेष्ठ काव्य मानते हैं। यद्यपि वह अपभ्रश का ही काव्य है, परन्तु महापुराण आदि ग्रन्थो को जिसने नही पढा, वह सचमुच ही एक महान् रसस्रोत से वंचित रह गया। रीतिकाल के अध्ययन में भी यह साहित्य सहायक सिद्ध होगा।

काश्मीर का शैव साहित्य अप्रत्यक्ष रूप से हिन्दी-साहित्य को प्रभावित करता है। यद्यपि श्री जगदीश वनर्जी और मुकुन्दराम शास्त्री आदि विद्वानो के प्रयत्न से वह प्रकाश में आया है, फिर भी उसकी ओर विद्वानो का जितना ध्यान जाना चाहिए उतना नही गया है। हिन्दी में पं० वलदेव उपाध्याय ने इसके और तन्त्रो के तत्त्ववाद का सक्षिप्त रूप में परिचय कराया है, पर इस विषय पर और भी पुस्तकें प्रकाशित होनी चाहिए। यह आश्चर्य की वात है कि

उत्तर का अद्वैत मत दक्षिण के परशुरामकल्पसूत्र के सिद्धान्तो से अत्यधिक मिलता है। साधना की अन्त प्रवाहित भावधारा ने देश और काल के व्यवधान को नही माना।

हिन्दी में गोरखपन्थी साहित्य बहुत थोडा मिलता है। मध्ययुग में मत्स्येन्द्रनाथ एक ऐसे युगसन्धिकाल के आचार्य है कि अनेक सम्प्रदाय उन्हें अपना सिद्ध आचार्य मानते है। हिन्दी की पुस्तको मे इनका नाम 'मछन्दर' आता है। परवर्ती सस्कृत ग्रन्थो मे इसका 'शुद्धीकृत' सस्कृत रूप ही मिलता है। वह रूप है 'मत्स्येन्द्र', परन्तु साधारण योगी मत्स्येन्द्र की अपेक्षा 'मच्छन्दर' नाम ही ज्यादा पसन्द करते हैं। श्री चन्द्रनाथ योगी जैसे शिक्षित और सुधारक योगियो को इन 'अशिक्षितो' की यह प्रवृत्ति अच्छी नही लगी है (योगिसम्प्रदायाविष्कृति, पृ० ४४८-९)। परन्तु हाल की शोधो से ऐसा लगता है कि 'मच्छन्दर' नाम काफी पुराना है और शायद यही सही नाम है। मत्स्येन्द्रनाथ (मच्छन्द) की लिखी हुई कई पुस्तकें नेपाल दरबार लाइब्रेरी मे सुरक्षित है। उनमे से एक का नाम है कौलज्ञान निर्णय। इसकी लिपि को देखकर स्वर्गीय महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री ने अनुमान किया था कि यह पुस्तक सन् ईसवी की नवी शताब्दी की लिखी हुई है (नेपाल सूचीपत्र द्वितीय भाग, पृ० १९)। हाल ही मे डा० प्रबोधचन्द्र बागची महोदय ने उस पुस्तक को मत्स्येन्द्रनाथ की अन्य पुस्तकों (अकुलवीरतन्त्र, कुलानन्द और ज्ञानकारिका) के साथ सम्पादित करके प्रकाशित किया है। इस पुस्तक की पुष्पिका में मच्छघ्न, मच्छन्द आदि नाम भी आते है। परन्तु लक्ष्य करने की बात यह है कि शैव दार्शनिको मे श्रेष्ठ आचार्य अभिनवगुप्त पाद ने भी मच्छन्द नाम का ही प्रयोग किया है और रूपकात्मक अर्थ समझाकर उसकी व्याख्या भी की है। उनके मत से आतानवितान वृत्यात्मक जाल को बताने के कारण मच्छन्द कहलाए (तन्त्रलोक, पृ० २५) और यन्त्रालोक के टीकाकार जयद्रथ ने भी इसी से मिलता-जुलता एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसके अनुसार मच्छ चपल चित्तवृत्तियो को कहते है। उन चपल वृत्तियो का छेदन किया था। इसीलिए वे मच्छन्द कहलाए। कबीरदास के सम्प्रदाय में आज भी मत्स्य, मच्छ आदि का साकेतिक अर्थ मन समझा जाता है (देखिए कबीर बीजक पर विचारदास की टीका, पृ० ४०)। यह परम्परा अभिनव गुप्त तक जाती है। उसके पहले भी नही रही होगी, ऐसा कहने का कोई कारण नही है। अधिकतर प्राचीन बौद्ध-सिद्धो के पदो से इस प्रकार के प्रमाण सग्रह किये जा सके है कि प्रज्ञा ही मत्स्य है (जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बगाल, जिल्द २६, १९३० ई०, न० १ टुची का प्रबन्ध)। इस प्रकार यह आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि मत्स्येन्द्रनाथ की जीवितावस्था में रूपक के अर्थ में उन्हें मच्छन्द कहा जाना नितान्त असगत नही है। इन छोटी-छोटी बातो से पता चलता है कि उन दिनो की ये धार्मिक साधनाएँ कितनी अन्त सम्बद्ध है।

यह अत्यन्त खेद का विषय है कि भक्ति-साहित्य का अध्ययन अब भी बहुत उथला ही हुआ है। सगुण और निर्गुणधारा के अध्ययन से ही मध्ययुग के मनुष्य को अच्छी तरह समझा जा सकता है। भगवत्-प्रेम मध्ययुग की सबसे जीवन्त प्रेरणा रही है। यह भगवत्प्रेम इन्द्रियग्राह्य विषय नही है और मन और बुद्धि के भी अतीत समझा गया है। इसका आस्वादन केवल आचरण द्वारा ही हो सकता है। तर्क वहाँ तक नही पहुँच सकता, परन्तु फिर भी इस तत्त्व को अनुमान के द्वारा समझने-समझाने का प्रयत्न किया गया है और उन आचरणो की तो विस्तृत सूची बनाई गई है, जिनके व्यवहार से इस अपूर्व भागवतरस का आस्वादन हो सकता है। आगमो मे से बहुत कम प्रकाशित हुए है। भागवत के व्याख्यापरक सग्रह-ग्रन्थ भी कम ही छपे है। तुलसीदास के 'रामचरितमानस' को आश्रय करके भक्ति-शास्त्र का जो विपुल साहित्य बना है, उसकी बहुत कम चर्चा हुई है। इन सब की चर्चा हुए बिना और इनको जाने बिना मध्ययुग के मनुष्य को ठीक-ठीक नही समझा जा सकता।

तान्त्रिक आचारो के बारे में हिन्दी-साहित्य के इतिहास की पुस्तकें एकदम मौन है, परन्तु नाथमार्ग का विद्यार्थी आसानी से उस विषय के साहित्य और आचारो की बहुलता लक्ष्य कर सकता है। बहुत कम लोग जानते है कि कबीर द्वारा प्रभावित अनेक निर्गुण सम्प्रदायो में अब भी वे साधनाएँ जी रही है जो पुराने तान्त्रिको के पचामृत, पचपवित्र और चतुश्चन्द्र की साधनाओ के अवशेष है। यहाँ प्रसग नही है। इसलिए इस बात को विस्तार से नही लिखा गया,

परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि हमारे इस साहित्य के माध्यम से मनुष्य को पढने के अनेक मार्गों पर अभी चलना बाकी है।

कबीरदास के बीजक में एक स्थान पर लिखा है कि "ब्राह्मन वैस्नव एकहि जाना" (१२वी ध्वनि)। इससे ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण और वैष्णव परस्पर-विरोधी मत है। मुझे पहले-पहल यह कुछ अजीब बात मालूम हुई। ज्यो-ज्यो मैं बीजक का अध्ययन करता गया, मेरा विश्वास दृढ होता गया कि बीजक के कुछ अश पूर्वी और दक्षिणी बिहार के धर्ममत से प्रभावित है। मेरा अनुमान था कि कोई ऐसा प्रच्छन्न बौद्ध वैष्णव सम्प्रदाय उन दिनो उस प्रदेश में अवश्य रहा होगा, जिसे ब्राह्मण लोग सम्मान की दृष्टि से नही देखते होगे। श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने उडीसा के पाँच वैष्णव कवियो की रचनाओ के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि ये वैष्णव कवि वस्तुत' माध्यमिक मत के बौद्ध थे और केवल ब्राह्मण प्रधान राज्य के भय से अपने को बौद्ध कहते रहे। मैंने अपनी नई पुस्तक 'कबीरपंथी साहित्य' में विस्तार-पूर्वक इस बात की जाँच की है। यहाँ प्रसग केवल यह है कि हिन्दी-साहित्य के ग्रन्थो का अध्ययन अनेक लुप्त और सुप्त मानव-चिन्ता-प्रवाह का परिचय दे सकता है। केवल पुस्तको की तिथि-तारीख तक ही साहित्य का इतिहास सीमाबद्ध नही किया जा सकता। मनुष्य-समाज बडी जटिल वस्तु है। साहित्य का अध्ययन उसकी अनेक गुत्थियो को सुलझा सकता है।

परन्तु इन सबसे अधिक आवश्यक है विभिन्न जातियो, सम्प्रदायो और साधारण जनता मे प्रचलित दन्तकथाएँ। इनसे हम इतिहास के अनेक भूले हुए घटना-प्रसगो का ही परिचय नही पायेंगे, मध्ययुग के साहित्य को समझने का साधन भी पा सकेंगे। झारखड और उडीसा तथा पूर्वी मध्यप्रान्त की अनेक लोक-प्रचलित दन्तकथाएँ उन अनेक गुत्थियो को सुलझा सकती है, जो कबीरपन्थ की बहुत गूढ और दुरूह बातें समझी जाती है। इस ओर बहुत अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। विभिन्न आँकडो और नृतत्त्वशास्त्रीय पुस्तको मे इतस्तस्तोविक्षिप्त बातो का सग्रह भी बहुत अच्छा नही हुआ है। ये सभी बातें हमारे साहित्य को समझने में सहायक है। इनके बिना हमारा साहित्यिक इतिहास अधूरा ही रहेग

शातिनिकेतन]

ब्रजभाषा का गद्य-साहित्य

[प्रारंभिक काल से सन् १८०० तक]

श्री प्रेमनारायण टण्डन एम्० ए०

वीरगाथाकाल में काव्यभाषा का ढाँचा प्राय शौरसेनी से विकसित पुरानी ब्रजभाषा का ही था। काव्यभाषा के रूप में इसका प्रचार बहुत समय पूर्व से था और चौदहवी शताब्दी के आरम्भ तक तो इतना बढ गया था कि जिन पश्चिमी प्रदेशो की बोलचाल की भाषा खडीबोली थी वहाँ भी कविता के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया जाता था। फारसी के प्रसिद्ध लेखक अमीर खुसरो (मृत्यु सन् १३२५) के, जिनका रचनाकाल सन् १२८३ के आसपास से आरम्भ होता है, गीत और दोहे इसी ब्रजभाषा में हैं। 'वासो', 'भयो', 'वाको', 'मोहि अचम्भो आवत', 'बसत है', 'देखत में', 'मेरो', 'सोवै', 'भयो है', 'डरावन लागै', 'डस-डस जाय', जैसे ब्रजभाषा-रूप उनकी कविता में बराबर मिलते हैं।

वीरगाथाकाल के प्राप्य ग्रन्थो मे कुछ गोरखपन्थी ग्रन्थो का सम्बन्ध, जिनके विषय प्राय हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि है, ब्रजभाषा गद्य से है। इनमें एक के रचयिता का नाम कुमुटिपाव है और शेष गोरखनाथ और उनके शिष्यो के रचे अथवा सकलित है। बाबा गोरखनाथ सस्कृत और हिन्दी के पडित और शैवमत के प्रवर्तक थे। कर्मकाड, उपासना और योग तीनो की कुछ बातें इनके पन्थ मे प्रचलित है। तन्त्रवाद से भी इन्हे रुचि थी और उसी के सहारे अद्भुत चमत्कारो द्वारा ये जनता को प्रभावित करते थे। गोरखपुर इनका मुख्य स्थान है। उसके आस-पास इनके अनुयायी पर्याप्त सख्या में बसे है। महाराष्ट्र में भी इनके मानने वाले पाये जाते है।

बाबा गोरखनाथ प्रसिद्ध सिद्ध थे। इनका जन्म नैपाल अथवा उसकी तराई मे हुआ था। अबतक इनका समय सन् १३५० माना जाता था। इनसाईक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में इनका समय ईसवी सन् की बारहवी शताब्दी माना गया है। परन्तु इधर की खोज के आधार पर डाक्टर पीताम्बरदत्त जी बडथ्वाल[1] तथा श्रीयुत राहुल साकृत्यायन[2] जी ने इनका समय सन् ६५० के लगभग सिद्ध किया है। कारण यह है कि इनके गुरु मछन्दरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) के पिता मीनपा[3] का समय सन् ८७० के आस-पास माना गया है। श्री राहुल साकृत्यायन जी के अनुसार भी इनके दादा गुरु जालन्धरपाद अथवा आदिनाथ का समय सन् ८६७ के पास ही आता है। इस हिसाब से मछन्दरनाथ का समय सन् ६५० और गोरखनाथ का सन् १०५० के आस-पास समझना चाहिए। इस अनुमान की पुष्टि एक और प्रमाण से होती है। नाथपन्थी महात्मा ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर) का काल सन् १२३० के आसपास माना जाता है। इन्होने अपने बडे भाई निवृत्तिनाथ से उपदेश ग्रहण किया था। इतिहासकारो ने इनका समय सन् ११७० के लगभग अनुमाना है।[4] निवृत्तिनाथ के गुरु गैनीनाथ थे जो बाबा गोरखनाथ के शिष्य थे। इस तरह गैनीनाथ का समय १११० और बाबाजी का १०५० के आसपास मान सकते है।

---

[1] नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन सस्करण भाग ११ में डाक्टर साहब का "हिन्दी कविता में योग प्रवाह" शीर्षक लेख।

[2] 'गगा' (पुरातत्वाक) भाग ३ अक १, श्री राहुल साकृत्यायन जी का "मन्त्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध" शीर्षक लेख।

[3] 'मिश्रबन्धुविनोद'—प्रथम भाग, पृ० १४०।

[4] 'मिश्रबन्धुविनोद'—प्रथम भाग, पृ० १४०

गोरखनाथ जी का समय जानने में जलन्धरनाथ, चौरगीनाथ, कणेरीपाव, चरपटनाथ, चुणकरनाथ आदि के जीवनकाल की तिथियो से सहायता मिल सकती है। प्रथम महाशय उनके गुरु मछन्दरनाथ के गुरुभाई थे, द्वितीय और चतुर्थ उन्ही के गुरुभाई थे, तृतीय सज्जन प्रथम अर्थात् जलन्धरनाथ के शिष्य थे और प्रथम चुणकरनाथ के समकालीन थे। इन पाँचो के समयो में लगभग ७५ वर्षों का अन्तर होना आवश्यक जान पडता है, परन्तु मिश्रबन्धुओ ने इन पाँचो का समय बाबा गोरखनाथ का पूर्व-प्रचलित-और मान्यकाल सवत् १३५० (सन् १४०७) मान लिया है।[1] वस्तुत ऐसा करना भ्रमोत्पादक है।

प्रसिद्ध है कि इनके गुरु मछन्दरनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ) अपने शिष्य को उपदेश देने के पश्चात् फिर सासारिक व्यवहार में लिप्त हो गये। उस समय गोरखनाथ ने उन्हें इस मायाजाल से छुडाया। इस किवदन्ती से यह आशय निकाला जा सकता है कि गुरु से दीक्षा लेने के पश्चात् गोरखनाथ के ज्ञानोपदेश अपने गुरु मछन्दरनाथ से भी महत्त्व के होते थे, उनका जनता में पर्याप्त सम्मान था और शिष्य की गुरु से अधिक प्रसिद्धि उन्ही के जीवनकाल मे हो चली थी। कुछ विद्वानो[2] का यह भी कहना है कि इन रचनाओ की जो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली है वे इतनी पुरानी नही है। अतएव यह सन्दिग्ध ही है कि ये कृतियाँ इन प्रतियो में अपने मूल रूप में पाई जाती है। परन्तु शुक्ल जी जैसे विद्वान् इन सब खोजो और विचारो की विवेचना करने के पश्चात् भी इनका समय निश्चित रूप से दसवी शताब्दी मानने को तैयार नही है।[3] जो हो, बाबा गोरखनाथ के नाम से प्रचलित ४८ ग्रन्थ अब तक खोज में प्राप्त हुए है। इनकी सूची किसी भी इतिहास-ग्रन्थ मे देखी जा सकती है। इन ग्रन्थो की भाषा और वर्णनशैली की विभिन्नता देखकर अनुमान होता है कि उक्त ग्रन्थो में कुछ ही गोरखनाथ के बनाये हुए हो सकते है। शेष की रचना, उनका सकलन अथवा सम्पादन उनके शिष्यो ने किया होगा। यह कार्य उनकी सम्मति से हो सकता है और उनकी मृत्यु के बाद भी किया जाना सम्भव है। कारण, अपने जीवनकाल मे ही इनको पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हो गई थी और ऐसी दशा में शिष्यो का उनके नाम पर ग्रन्थ सकलित, सम्पादित करना अथवा रचना स्वाभाविक ही हो गया होगा। इन ग्रन्थो में कुछ गद्य के है। उनकी भाषा[4] यह है—

(१) सो वह पुरुष सम्पूर्ण तीर्थ अस्नान करि चुकौ, अरु सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मननि को दै चुकौ, अरु सहस्र जज्ञ करि चुकौ, अरु देवता सर्व पूजि चुकौ, अरु पितरनि को सन्तुष्ट करि चुकौ, स्वर्गलोक प्राप्त करि चुकौ, जा मनुष्य के मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो।

(२) श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। है कैसे परमानन्द ? आनन्द स्वरूप है शरीर जिन्हि कौ। जिन्ही के नित्य गावै है सरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है। मै जु हौं गोरख सो मछन्दरनाथ को दडवत करत हौं। है कैसे वे मछन्दरनाथ ? आत्माजोति निश्चल है, अन्तहकरन जिन्हको अरु मूल द्वार तै छह चक्र जिन्हि नीकी तरह जानै। अरु जुगकाल कल्पइनि की रचनातत्व जिनि गायो। सुगन्ध को समुद्र तिन्हि कौ मेरी दंडवत। स्वामी तुम्हें तो सतगुरु अम्है तो सिष सबद एक पूछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोस।

बाबा गोरखनाथ के नाम से प्रचलित सभी ग्रन्थ ऐसी ब्रजभाषा में लिखे गये है जिसमें सम्पूर्ण, प्राप्त, सर्व, स्वर्गलोक, सन्तुष्ट, मात्र, मनुष्य, स्वरूप, नित्य, आत्मा, निश्चल, चक्र, कल्प, तत्त्व, सुगन्ध, आदि सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। गोरखनाथ ने अपने पन्थ के प्रचार के लिए भारत के पश्चिमी भाग—पजाब,

---

[1] 'मिश्रबंधु विनोद', प्रथम भाग, पृ० १६१-२

[2] 'हिन्दुस्तानी' भाग ५, अं० ३, पृ० २२९ में श्री नरोत्तम स्वामी एम० ए० का "हिन्दी का गद्यसाहित्य" शीर्षक लेख।

[3] हिन्दी साहित्य का इतिहास (संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण) स० १९९७, पृ० १७।

[4] 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' (द्वितीय सस्करण) स० १९९७, पृ० ६३०।

राजपूताना आदि प्रदेश—चुने थे। इसलिए उनकी व्रजभाषा मे 'अम्है', 'पूछिवा', कहिवा' 'करिवा', आदि राजस्थानी शब्द भी मिलते है। 'जा मनुष्य के मन छनमात्र ब्रह्म के विचार बैठो', जैसे वाक्याशो पर पूरबीपन की छाप भी स्पष्ट है। यद्यपि उक्त अवतरणो को देखकर शुक्ल जी को यह शका होती है कि यह किसी सस्कृत लेख का 'कथभूती' अनुवाद न हो, तथापि उन्होने निश्चयरूप से इसे स० १४०० के गद्य का नमूना माना है।[1]

हिन्दी में प्रचलित तद्भव रूप भी इन ग्रथो में वहुत अधिक मिलते है। कही-कही तो तद्भव रूपो की अधिकता देखकर अनुमान होने लगता है कि लेखक का ध्यान शब्दो के सस्कृत रूप की ओर अधिक नही है। जग्ग, अस्नान, छन, सर्व, पूजि चुकौ, पितरन आदि शब्द इसी रूप में इन ग्रन्थो मे मिलते है, सस्कृत के शुद्ध रूप मे नही।[2] वस्तुत इन शब्द-रूपो के अपनाये जाने का एक कारण है। प्राचीन हिन्दी कविता में कुछ तो तुक की आवश्यकता से और कुछ भाषा की सरसता तथा व्यवहार की स्वाभाविकता के कारण सस्कृत शब्दो के हिन्दी रूपो का व्यवहार आरम्भ से ही किया गया है। गद्य-रचनाओ मे भी लेखको ने यही प्रवृत्ति अपनाना उचित समझा। वावा गोरखनाथ ही नही, उनके पश्चात् विट्ठलनाथ, गोकुलनाथ, नाभादास, वनारसीदास आदि सभी प्राचीन गद्यलेखको मे यह प्रवृत्ति समान है।

गोरखनाथ की भाषा के उदाहरण-रूप में जो उक्त अवतरण हमारे साहित्य-इतिहासो मे उद्धृत रहते है, व्रजभाषा-विकास की दृष्टि से वे प्राय सभी यह समस्या उपस्थित करते है कि यदि गोरखनाथ का समय ग्यारहवी शताब्दी माना जाय तो यह गद्य उनका लिखा हुआ नही हो सकता और यदि यह गद्य उन्ही का है तो चौदहवी शताब्दी से तीन सौ वर्ष पहले ऐसी साफ व्रजभाषा प्रचलित नही मानी जा सकती। मिश्रवन्धुओ ने वावा गोरखनाथ को ही हिन्दी गद्य का प्रथम लेखक माना है,[3] परन्तु उन्होने इस समस्या पर विचार नही किया।[4] अन्य इतिहासकार भी प्रमाण के अभाव में अनुमान से काम चलाते है। श्री राहुल साकृत्यायन जी उनका समय ईसवी सन् की ग्यारहवी शताब्दी ही मानते है, परन्तु उनके गद्य के सम्वन्ध में स्पष्ट मत कदाचित उन्होने भी नही दिया है।[5]

मत-विशेष के प्रचारकार्य से सम्बन्ध रखने के कारण गोरखनाथ का गद्य उपदेशपूर्ण हो गया है। इसलिए उससे हम केवल साधारण क्रिया-रूपो और हिन्दी गद्य पर सस्कृत के प्रभाव-मात्र को जान सकते है। सिद्धान्तो के वर्णन की चेष्टा होने के कारण कही-कही उसमें साहित्यिक भाषा की-सी झलक मिलती है।

कुमुटिपाव के नाम पर मिला दूसरा ग्रन्थ भी हठयोग से सम्वन्ध रखता है। कुमुटिपाव सम्भवत चौरासी सिद्धि वाले कुमुरिपा है। इस ग्रन्थ में षट्चक्र और पच मुद्राओ का वर्णन है। इसका लिपिकाल सन् १८४० है और रचनाकाल ज्ञात नही है। इसकी भाषा के रूप को देखकर कहना पडता है कि यह ग्रन्थ चौदहवी शताब्दी के लगभग ही लिखा गया होगा और इस दृष्टि से इसकी भाषा का यह रूप विचारणीय है। नमूना[6] देखिए—

अजया जयन्ती महामुनि इति ब्रह्मचक्र जाप प्रभाव वोलीये। ब्रह्मचक्र ऊपर गुह्यचक्र सीस मडल स्थाने वसै। इकईस ब्रह्माड बोलीये। । परम सून्य स्थान ऊपर जे न विनसे न आवे न जाई योग योगेन्द्र हे समाई। सुनौ देवी पार्वती ईश्वर कथित महाज्ञान।

इस अवतरण में एक ओर जयन्ती, स्थाने, कथित, ज्ञान आदि रूप है और दूसरी ओर वोलीये, वसै, न विनसे,

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास (सशोधित और परिवर्द्धित सस्करण) स० १९९, पृ० ४७९

[2] मिश्रवन्धुविनोद, प्रथम भाग—भूमिका पृष्ठ ५३

[3] " " " पृष्ठ १५७

[4] " " " " १६१

[5] " " " " १६१

[6] काशी नागरी प्रचारिणी सभा का अडतालीसवाँ वार्षिक विवरण, स० १९९७, पृ० १०

न आवे न जाई, समाई, सुनी इत्यादि। इससे प्रकट होता है कि सिद्धो की रचनाओं मे सस्कृत के साथ लोकभाषा को भी स्थान मिलने लगा था।

वीरगाथाकाल के पश्चात् भक्तियुग में एक विशेष परिवर्तन यह हुआ कि साहित्य-केन्द्र राजस्थान न रहकर व्रज और काशी के आसपास हो गया। फलत राजस्थानी के साथ-साथ व्रजभाषा और अवधी को भी काव्य-भाषा होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और कुछ ही वर्षो में दोनो भाषाओं मे अनेक सुन्दर काव्य रचे गये। आगे चलकर धार्मिक उत्थान का आश्रय पा जाने के कारण व्रजभाषा का क्षेत्र अवधी से वहुत विस्तृत हो गया। काव्य की सर्वमान्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के साथ-साथ अनेक गद्य-ग्रन्थ भी उसमें रचे गये। भक्तिकाल मे लिखे हुए जितने गद्य-ग्रन्थ अब तक खोज मे प्राप्त हुए है, उनकी सख्या यद्यपि अधिक नही है, तथापि गद्य-रचना के क्रम का पता उनसे अवश्य चलता है।

सोलहवी शताब्दी के अन्तिम वर्षो में लिखी एक चिट्ठी कुछ वर्ष हुए खोज मे प्राप्त हुई थी जो राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोसाई हितहरिवश की लिखी बताई जाती है। वह चिट्ठी[1] इस प्रकार है—

श्रीमुख पत्री लिखति। श्री सकल गुण सम्पन्न रसरीति बहावनि चिरंजीव मेरे प्राननि के प्रान बीठलदास जोग्य लिखति श्री वृन्दावन रजोपसेवी श्री हरिवश जोरी सुमिरन बचनौ। जोरी सुमिरिन मत्त रहौ। जोरी जो है सुख वरखत है। तुम कुसल स्वरूप है। तिहारे हस्ताक्षर वारम्बार आवत हैं। सुख अमृत स्वरूप है। बाँचत आनन्द उमडि चलै है। मेरी बुद्धि की इतनी शक्ति नहीं कि कहि सकौं। पर तोहि जानत हौं। श्री स्वामिनी जू तुम पर बहुत प्रसन्न है। हम कहा आशीर्वाद दैहि। हम यही आशीर्वाद देत है कि तिहारो आयुस बढौ। और तिहारी सकल सम्पत्ति वढौ। और तिहारे मन को मनोर्थ पूरन होहु। हम नेत्रन सुख देखै। हमारी भेंट यही है। यहाँ की काहू वात की चिन्ता मति करौ। तेरी पहिचानि तै मोकौं श्री श्यामाजू बहुत सुष देतै है। तुम लिख्यो हो दिन दश में आवैगें। तेई आसा प्रान रहे हैं। श्री श्यामाजू वेगि लै आवै। चिरजीव कृष्णदास कौं जोरी सुमिरन बाँचनौ। गोविन्ददास सन्तदास की दडौत। गाँगू मेदा कौ कृष्ण सुमिरन बाँचनौ। कृष्णदास मोहनदास कौ कृष्ण सुमिरन। रगा की दडौत। वनमाली धर्मसाला कौ कृष्ण सुमिरन बाँचनौ।

यह चिट्ठी गोसाई श्री हरिवश जी ने अपने प्रिय शिष्य वीठलदास जी को लिखी थी। गोसाई जी का जन्म स० १५५९ है। शुक्ल जी ने इनका रचनाकाल स० १६०० से स० १६४० तक माना है।[2] परन्तु "साहित्य समालोचक" का कहना है कि यह चिट्ठी सवत् १५६५ में लिखी गई थी।[3] स्पष्ट है कि यदि यह चिट्ठी वास्तव में गोसाई जी की लिखी हुई है तो सवत् लिखने में अवश्य भूल हुई है। हम समझते है कि यह सन् १५३८ (स० १५९५) के आसपास लिखी गई होगी। इसका गद्य विलकुल स्पष्ट है और यदि यह चिट्ठी ठीक है तो उन विद्वानो को वडे आश्चर्य में डालने वाली सिद्ध होगी जो व्रजभाषा गद्य को विलकुल अस्पष्ट और अव्यवस्थित समझते हैं। इसमें सस्कृत शब्दो का प्रचुर प्रयोग हुआ है, यद्यपि तत्सम रूप उन्हें लिपिकार की कृपा से मिला जान पडता है।

सोलहवी शताब्दी के आरम्भ में महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य जी (सन् १४५८-१५३०) के पुत्र और उत्तराधिकारी गोसाईं विट्ठलनाथ (सन् १५१५-१५८५) का गद्य सामने आता है। इन्होने 'शृगाररस मडन' और 'राधाकृष्ण-विहार' नामक दो ग्रन्थ व्रजभाषा मे लिखे थे। इन दोनो की भाषा का नमूना देखिए—

---

[1] 'समालोचक' (त्रैमासिक) भाग १, अं० ४, पृ० ३२९ (अक्टूबर १९३५)

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास (सशोधित, परिवर्द्धित सस्करण) स० १९९७, पृ० २१९

[3] 'समालोचक' (अक्टूबर '२५) १-४-३१९

(१) जम के सिखर पर सञ्चायमान करत हैं, विविध वायु वहत हैं, हे निसर्ग स्नेहार्द सखी कूं सम्बोधन प्रिया जू नेत्र कमल कूं कछुक मुद्रित दृष्टि होय कै बारम्वार कछु सभी कहत भई, यह मेरो मन सहचरी एक छन ठाकुर को त्यजत भई। —'राधाकृष्ण विहार' से।[1]

(२) प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरन विषै सेवक को दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मन्द हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुज विषै शृगाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण भई। —'शृगाररसमडन' से[2]

यह गद्य गोरख-पन्थी ग्रन्थो के लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् का नमूना है। भाषा के परिमार्जन के लिए दो शताब्दियो का समय आज वहुत होता है, परन्तु सस्कृत की प्रधानता के उस युग में, जव 'भाषा' की कविता भी सम्मान की दृष्टि से नही देखी जाती थी, गद्य में लिखने का चलन अधिक नही था। अत दो सौ वर्ष वाद भी गद्य को उसी प्रकार अपरिमार्जित और अव्यवस्थित देखकर हमें आश्चर्य नही होना चाहिए।

ऊपर दिये हुए प्राय सभी अवतरणो में एक वात जो समान रूप से पाई जाती है वह है सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग। 'योगाभ्यास मुद्रा' के गद्य में सिद्धो की वाणी मे सस्कृत पदावली के मध्य हिन्दी भाषा का अकुर देखा जाता है। गोरखपन्थी ग्रन्थो में तो सस्कृत के तत्सम शब्द प्रयुक्त हुए ही है। वही वात गोसाई विट्ठलनाथ की भाषा में भी देखने को मिलती है, जहाँ विविध, निसर्ग, स्नेहार्द्र, सम्बोधन, मुद्रित दृष्टि, सहचरी, क्षण, चरण, प्रेमामृत, मन्दहास्य, समूह, निकुज, श्रेष्ठ रसना, पूर्ण आदि शब्दो का स्वतन्त्रता के साथ प्रयोग किया गया है। 'हरिऔध' जी की सम्मति[3] में, श्रीमद्भागवत का प्रचार और राधाकृष्णलीला का साहित्यक्षेत्र में विषय के रूप में प्रवेश करना ही इस सस्कृत शब्दावली की लोक-प्रियता तथा उसके फल-स्वरूप हिन्दी गद्य में उसके स्थान पाने का कारण जान पडता है। प्रान्तीय भाषाओ के प्रभाव भी उक्त अवतरणो में दिखाई पडते है। 'पै' के स्थान पर 'पर' और 'को', 'कौ' अथवा 'कौं' के स्थान पर 'कू' का प्रयोग ऐसे ही प्रभावो का परिणाम है।'

सत्रहवी शताब्दी के व्रजभाषा-गद्य-लेखको में सवसे पहला नाम हरिराय का आता है। इनका जीवनकाल स० १६०७ माना गया है। ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य एव सस्कृत तथा हिन्दी के अच्छे ज्ञाता वताये गये है। इनके कई ग्रन्थो का विवरण सभा की पिछली कई रिपोर्टों में आया है।[4] सन् १९३२-३४ के त्रैवार्षिक विवरण में इनके रचे ग्रन्थ—(१) कृष्णप्रेमामृत (२) पुष्टि दृढावन की वार्ता (लिपिकाल सन् १८५९) (३) पुष्टि प्रवाह-मर्यादा (४) सेवाविधि (लिपिकाल सन् १८०७) (५) वर्षोत्सव की भावना (६) वसन्त होरी की भावना (लिपिकाल सन् १८४५) (७) भाव-भावना। इन सात ग्रन्थो में अन्तिम गद्य का एक विशालकाय ग्रन्थ है, जिसमें राधाजी के चरण-चिह्नो की भावना, नित्य की सेवाविधि, वर्षोत्सव की भावनाएँ, डोल उत्सव की भावना, छप्पन भोग की रीति, हिंडोरादि की भावनाएँ, सातो स्वरूप की भावना एव भोग की सामग्री आदि वनाने की रीति दी गई है। नीचे 'भाव-भावना' में से इनके गद्य का उदाहरण दिया जाता है[5]—

सो पुष्टिमार्ग में जितनी क्रिया हैं, सो सव स्वामिनी जी के भावते है। तातें मगलाचरण गावें। प्रथम श्री स्वामिनी जी के चरण-कमल कों नमस्कार करत है। तिनकी उपमा देवे को मन दसो दिसा दोरचो। परन्तु

---

[1] हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (द्वितीय सस्करण) स० १९९७, पृ० ६३१

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास (सशोधित, परिवर्द्धित सस्करण) १९९७, पृ० ४७९

[3] हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (द्वि० सस्करण) स० १९९७, पृ० ६३१-३२

[4] देखिए—रि० १९०० ई० स० ३८, १९०९-११ ई० स० ११५, १९१७-१९ ई० स० ७४, १९२३-२५ ई० स० १९०, १९२९-३१ ई०, १९३२-३४ ई०

[5] प्राचीन हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थो की खोज का पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण (सन् १९३२-३४) पृ० ३७९।

कहूँ पायो नहीं। पाछे श्री स्वामिनी जी के चरण-कमल को आश्रय कियो है। तव उपमा देवे कूँ हृदय में स्फूर्ति भई। जैसे श्री ठाकार जी को अधरबिम्व आरक्त है रसरूप। तेसेई श्री स्वामिनी जी के चरण आरक्त हैं। सो नाते श्री चरण-कमल को नमस्कार करत है। तिन में अनवट विछुआ नूपुर आदि आभूषण है।

यह गद्य बिलकुल स्पष्ट और व्यवस्थित है। इससे पता लगता है कि सन् १५५३ के लगभग गद्य का प्रयोग ग्रन्थरचना के लिए वरावर किया जाता था। उक्त अवतरण में सस्कृत के तत्सम और तद्भव शव्दो का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। 'पुष्टिमार्ग मे जितनी क्रिया है', 'श्री स्वामिनी जी के चरण आरक्त हैं', 'नूपुर आदि-आभूषण हैं', इत्यादि प्रयोग राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोसाई श्री हितहरिवश जी की चिट्ठी में आये हुए, 'सुख अमृत स्वरूप हैं' 'तुम पर वहुत प्रसन्न हैं', 'हमारी भेट यहीं है' आदि से मिलते-जुलते हैं।

इसी समय के लगभग 'चौरासी वैष्णवो की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवो की वार्ता' का गद्य सामने आता है। अव तक ये ग्रन्थ गोस्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ के नाम पर, जिनका समय सन् १५६८ से १५६३ के आसपास है, प्रचलित थे। इधर अपने इतिहास के नये सस्करण में[1] शुक्ल जी ने अपना यह मत दिया है कि प्रथम 'वार्ता' गोकुलनाथ के किसी शिष्य की लिखी जान पडती है, क्योकि इसमें गोकुलनाथ का कई जगह वडे भक्तिभाव से उल्लेख है। इसमे वैष्णव भक्तो तथा आचार्य श्री वल्लभाचार्य जी की महिमा प्रकट करने वाली कथाएँ लिखी गई है। इसका रचनाकाल विक्रम की सत्रहवी शताव्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। 'दो सौ वैष्णवो की वार्ता' तो और भी पीछे औरगजेव के समय के लगभग लिखी गई जान पडती है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा का भी यही मत है कि ये दोनो 'वार्ताएँ' एक ही लेखक की रचनाएँ नही है।[2] इस सम्वन्ध मे हमे यह निवेदन करना है कि गोकुलनाथ जी का वडे भक्तिभाव से उल्लेख देखकर ही हम प्रथम 'वार्ता' को उनके किसी शिष्य की लिखी मानने के पक्ष मे नही है। सम्भव है, जिन स्थलो पर गोस्वामी जी की प्रशसा की गई है वे प्रक्षिप्त हो। गोकुलनाथ जी के समकालीन कवियो के काव्यो मे भी जब प्रक्षिप्त अश पाया जाता है—काव्यो मे कुछ जोडना गद्य की अपेक्षा स्वभावत कठिन है—तव गद्य में ऐसा होना असम्भव नही जान पडता है। जो हो, ये 'वार्ताएँ' सत्रहवी शताव्दी मे रची मानने के लिए प्राय सभी विद्वान तैयार है। इनकी भाषा का नमूना देखिए—

(१) चौरासी वैष्णवन की वार्ता—

(क) तब सूरदास जी अपने स्थल तें आयके श्री आचार्य महाप्रभून के दर्शन को आये। तब श्री आचार्य महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर आवौ बैठौ। तव सूरदास जी श्री आचार्य जी महाप्रभून के दर्शन करिके आगे आय बैठे तब श्री आचार्य महाप्रभून ने कही जो सूर कछु भगवद्यश वर्णन करौ। तब सूरदास ने कही जो आज्ञा।[3]

(ख) सो सूरदास जी के पद देशाधिपति ने सुने। सो सुनि कें यह बिचारी जो सूरदास जी काहू विधि सो मिले तो भलौ। सो भगवदिच्छा ते सूरदास जी मिले। सो सूरदास जी सो कह्यो देशाधिपति ने जो सूरदास जी, में सुन्यो है जो[4] तुमने बिनयपद वहुत कीये हैं। जो मोको परमेश्वर ने राज्य दीयो है सो सब गुनीजन मेरौ जस गावत है ताते तुमहूँ कछु गावौ। तव सूरदास जी ने देशाधिपति के आगें कीर्तन गायौ।[5]

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास (सशोधित और परिवर्द्धित सस्करण) स० १६६७, पृ० ४७६-८०

[2] देखिए 'हिन्दुस्तानी' अप्रैल १६३२, भाग २, स० २, पृ० १८३

[3] 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', पृ० २७४

[4] जो—कि। 'कि' का प्रयोग वहुत समय वाद होने लगा था। सम्भव है, वह फारसी से लिया गया हो। यद्यपि कई विद्वानों की राय इसके प्रतिकूल है। वे इसकी उत्पत्ति 'किम्' से मानते हैं। देखिए—फुटनोट—हिन्दुस्तानी (५-३) पृ० २५४

[5] चौरासी वैष्णवों की वार्ता, पृ० २७६

(२) दो सौ वावन वैष्णवन की वार्ता—

(क) नन्ददास जी तुलसीदास जी के छोटे भाई हते। सो विनकूं नाच-तमासा देखबे को तथा गान सुनबे को शोक वहुत हतो। सो वा देश में सूं एक सग द्वारका जात हतो। सो नन्ददास जी ऐसे विचार कें में श्री रणछोड जी के दर्शन कूं जाऊँ तो अच्छौ है। जव विसने तुलसीदास जी सूं पूंछी तब तुलसीदास जी श्री रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त हते।[१] जासूं विनने द्वारका जायवे की नाहीं कही।[१]

(ख) तव नन्ददास जी श्री गोकुल चले। तब तुलसीदास जी कूं सग सग आये। तव आयके नन्ददास जी ने श्री गुसाई जी के दर्शन करे। साष्टाग दडवत करी, और तुलसीदास जी ने दडवत करी नहीं। और नन्ददास जी कूं तुलसीदास जी ने कही के जैसे दर्शन तुमने वहाँ कराये वैसे ही यहाँ कराओ। तव नन्ददास जी ने श्री गुसाईं जी सो विनती करी ये मेरे भाई तुलसीदास हैं। श्री रामचन्द्र जी विना और कूं नहीं नमें है। तव श्री गुसाई जी ने कही तुलसीदास जी बैठो।[२]

इस भाषा के सम्वन्ध में दो वातें मुख्यत स्मरण रखनी चाहिएँ। पहली वात यह कि उक्त अवतरण जन-साधारण मे प्रचलित ऐसी भाषा के है, जिनमें भाव-व्यजना की सुन्दर शक्ति जान पडती है। इनके लेखक ने कही अपनी योग्यता अथवा किसी प्रकार का चमत्कार दिखाने का प्रयत्न नही किया है। सस्कृत के तत्सम, तद्भव तथा अन्य प्रचलित शब्द भी इसमें प्रयुक्त हुए हैं। इससे जान पडता है कि सस्कृत के प्रभाव से मुक्त एक काव्य-भाषा उस समय गद्य-भाषा का रूप धारण करने की ओर पैर वढा रही थी। तीसरे अवतरण मे प्रयुक्त 'तमासा', 'शोक' आदि शब्दो से ज्ञात होता है कि लेखक अरवी-फारसी के प्रचलित शब्दो को अपनाने के भी पक्ष में था। यही नही, मिश्रवन्धुओ की सम्मति में गुजराती-मारवाडी वोलियो का भी इनकी भाषा पर प्रभाव पडा है।[३]

दूसरी वात क्रियापदो के रूप से सम्वन्ध रखती है। वावा गोरखनाथ, गोसाई विट्ठलनाथ, हरिराय आदि गद्यलेखको की भाषा की क्रियाएँ तथा कुछ अन्य शब्द इस वात के समर्थक है कि उनकी रचनाएँ व्रजभाषा की ही हैं। इस गद्य का क्रमश विकास होता गया। 'वार्ताओ' के लेखक की भाषा मे यद्यपि क्रियापदो का रूप वहुत कुछ पूर्ववत् ही वना रहा, तथापि कुछ ऐसे क्रियारूपो का प्रयोग भी उन्होने किया जो नये तो नही कहे जा सकते, पर जिनका प्रयोग पूर्ववर्ती लेखको के गद्य में वहुत कम हुआ है। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित पक्तियो मे रेखाकित क्रियाओ की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं—

सो एक दिन नन्ददास जी के मन में ऐसी आई। जो जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा करी है। सो हमहूं श्रीमद्भागवत भाषा करें।[४]

इन पक्तियो में आई, करी है, करें तथा ऊपर के अवतरणो में प्रयुक्त आये, वैठे, सुने, मिले, चले, करे कराओ, कराये, आदि क्रियारूप प्राय वे ही है, जो वर्तमान खडीवोली में प्रयुक्त होते है। यही नही, 'वार्ताओ' की भाषा पूर्ववर्ती लेखको की भाषा से कुछ शुद्ध भी है। 'पूर्ण होत भई' की तरह पर 'त्यजत भई', 'कहत भई' आदि जो प्रयोग गोस्वामी विट्ठलनाथ आदि की भाषा में है उनके स्थान पर 'वार्ताओ' में हमें इनके व्रजभाषा के शुद्ध रूप मिलते है। इसके अतिरिक्त इनमें कारक चिह्नो का प्रयोग भी अपेक्षाकृत अधिक निश्चित रूप से हुआ है।

'वार्ताओ' में खटकने वाली एक वात है सर्वनाम का उचित प्रयोग न किया जाना। इसका फल यह हुआ कि सज्ञा शब्दो की भद्दी पुनरुक्ति हो गई है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इनका गद्य सजीव और स्वाभाविक है। साधा-

[१] दो सौ वावन वैष्णवन की वार्ता, पृ० २८
[२] दो सौ वावन वैष्णवन की वार्ता, पृ० ३५
[३] मिश्रवन्धुविनोद प्रथम भाग, पृ० २८५
[४] दो सौ वावन वैष्णवों की वार्ता, पृ० ३२

रण वर्णन की प्रवृत्ति होने से लेखकों ने भाषा को साहित्यिक और शुद्ध बनाने का कृत्रिम प्रयत्न नहीं किया। इन विशेषताओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि 'वार्ताएँ' गद्य की सुन्दर रचनाएँ हैं और इनकी भाषा विषयानुकूल और व्यवस्थित है।

यह तो हुई 'वार्ताओं' की बात। इनके अतिरिक्त स्वामी गोकुलनाथ के बनाये हुए छः ग्रन्थ—वनयात्रा, पुष्टिमार्ग के वचनामृत (लि० का० सन् १८४८), रहस्यभावना (लि० का० सन् १८५४), सर्वोत्तम स्तोत्र, सिद्धान्त-रहस्य, और वल्लभाष्टक—प्रकाश में आये हैं। ये सब ग्रन्थ व्रजभाषा में हैं और इनमें पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों तथा भक्ति विषय का प्रतिपादन किया गया है। यदि 'वार्ताओं' का रचयिता गोस्वामी गोकुलनाथ को भी मानें तब भी उक्त ग्रन्थों को देखकर डा० बड़थ्वाल उन्हें अनेक गद्य[1]-ग्रन्थों का निर्माता, उत्कृष्ट विद्वान और श्रेष्ठ लेखक स्वीकार करते हैं।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्य गद्य-लेखकों में नन्ददास, नाभादास, तुलसीदास, बनारसीदास, किशोरीदास और वैकुंठमणि शुक्ल के गद्यग्रन्थों का पता लगता है। ये ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से तो विशेष महत्त्व के नहीं हैं, तथापि व्रजभाषा—विकास की दृष्टि से इनका मूल्य अवश्य है। इससे हमें तत्कालीन गद्य-भाषा के रूप का कुछ परिचय अवश्य मिलता है और हमें यह कहने का अवसर भी मिलता है कि हमारे कवि कभी-कभी गद्य में भी लिखा करते थे।

अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास के लिखे 'नासिकेत पुराण भाषा' और 'विज्ञानार्थ प्रवेशिका' नामक ग्रन्थ मिलते हैं। इनका रचनाकाल सन् १५६८ के आसपास होना चाहिए, क्योंकि इनके 'अनेकार्थनाममंजरी' नामक ग्रन्थ का रचनाकाल सन् १५६७ है। उक्त दोनों ग्रन्थ व्रजभाषा गद्य में बताये जाते हैं। प्रथम ग्रन्थ उसी नाम की संस्कृत रचना का अनुवाद है और द्वितीय एक संस्कृत ग्रन्थ की व्रजभाषा-गद्य में टीका, जो मिश्रबन्धुओं ने छतरपुर में देखी थी।[2] इनके पश्चात् 'भक्तमाल' के प्रसिद्ध कवि नाभादास जी ने सन् १६०३ के आसपास 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक व्रजभाषा-गद्य में लिखी। उसमें भगवान राम की दिनचर्या का वर्णन है। इस पुस्तक की भाषा का नमूना[3] यह है—

तब श्री महाराजकुमार प्रथम वशिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भये। फिर ऊपर वृद्ध समाज तिनकों प्रनाम करत भये। फिर श्री राजाधिराज कों जोहारि करिकै श्री महेन्द्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भये।

नाभादास जी का यह गद्य गोस्वामी विट्ठलनाथ की भाषा से मिलता-जुलता है। 'करत भये', 'बैठत भये', आदि से मिलते-जुलते रूप हम उनकी भाषा में देख चुके हैं। सन् १६०० के लगभग प्रेमदास नामक एक और गद्य-लेखक के प्रादुर्भाव का पता इधर लगा है।[4] इन्होंने हितहरिवंश जी (जन्म सन् १५०२) के 'हितचौरासी' नामक ग्रंथ की टीका बड़े विस्तार से लगभग ५०० पृष्ठों में की थी। प्रेमदास का समय पूर्णतः निश्चित नहीं है। हितहरिवंश जी का रचनाकाल सन् १५४० से १५८० तक मान्य है। अतः प्रेमदास की टीका इसके बाद लिखी गई होगी। इसी समय के लगभग का गोस्वामी तुलसीदास जी का लिखा हुआ एक पंचनामा मिलता है। उसकी कुछ पंक्तियाँ[5] इस प्रकार हैं—

सं० १६६९ समये कुआर सुदी तेरसी वार शुभ दिने लिखीत पत्र-आनन्दराम तथा कन्हई के अंश विभाग पूर्व मु आगे जे आग्य दुनहु जने मांगा जे आग्य भै शे प्रमान माना दुनहु जने विदित तफसील अंश टोडरमल के माह जे विभाग पदु होत रा। । मौजे भदेनी मह अंश पाँच तेहि मँह अंश दुइ आनन्दराम तथा लहरतारा सगरेउ तथा पितुपुरा अंश टोडरमलुक तथा तमपुरा अंश टोडरमल की हील हुज्जती नास्ती।

---

[1] प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज का पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, पृ० ३६८

[2] मिश्रबन्धुविनोद प्रथम भाग, पृ० २२९

[3] हिन्दुस्तानी—५-३, पृ० २५५

[4] हिन्दी साहित्य का इतिहास—संशोधित संस्करण, पृ० २१९

[5] हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास—(द्वि० संस्करण) सं० १९९७, पृ० ६३५

इस पचनामे की भाषा व्रज नही, बोलचाल की अवधी है।[1] परन्तु इसमें प्रयुक्त 'माँगा', 'माना' आदि शब्द ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार तफसील, हुज्जती, आदि फारसी के शब्द सम्भवत इस बात की याद दिलाते है कि टोडरमल की कृपा से राजकाज की भाषा फारसी हो गई थी और इसके फलस्वरूप 'पचनामे' में ऐसे शब्दो का प्रयोग करना आवश्यक था। इस पचनामे की रचना सन् १६१२ में हुई थी। इसी समय के आसपास जौनपुर के बनारसीदास (जन्म सन् १५८६) नामक एक जैन मतावलम्बी कवि के लिखे हुए कुछ उपदेश ब्रजभाषा-गद्य मे मिलते है।[2] सन् १६१३ के लगभग इन्होंने एक पुस्तक लिखी थी। उसकी कुछ पक्तियाँ[3] देखिए—

सम्यग् दृष्टि कहा ? सो सुनो। सशय, विमोह, विभ्रम तीन भाव जामे नाहीं सो सम्यग् दृष्टी। सशय, विमोह, विभ्रम कहाँ ? ताको स्वरूप दृष्टान्त करि दिखाइयतु है सो सुनो।

वैकुठमणि (सन् १६२५ के लगभग वर्तमान) की दो छोटी-छोटी पुस्तके 'अगहनमाहात्म्य' और 'वैशाख-माहात्म्य' मिलती है। ये ओरछा के महाराज जसवन्तसिह की महारानी के लिए लिखी गई थी। यह बात द्वितीय पुस्तिका मे स्वय लेखक ने इस प्रकार लिखी है—

सब देवतन की कृपा तें बैकुठमनि सुकुल श्री महारानी श्री रानी चन्द्रावती के धरम पढिबे के अरथ यह जयरूप ग्रन्थ बैसाख-महात्म भाषा करत भये।

इस वाक्य से हमें इन ग्रन्थो की भाषा का नमूना मिल जाता है और यह भी ज्ञात होता है कि ये अनुवाद मात्र है। इनकी रचना का समय सन् १६२५ के आसपास समझना चाहिए।

वैकुठमणि के समकालीन विष्णुपुरी नामक लेखक ने सन् १६३३ मे 'भक्तिरत्नावली' नाम का एक ग्रन्थ व्रज-भाषा में अनुवादित किया। इस काल की अन्य रचनाओ से यह बडा है। 'भुवनदीपिका' नामक एक ग्रन्थ इनके किसी समकालीन लेखक का बनाया जान पडता है, क्योकि इसका रचनाकाल सन् १६१४ है।

वैकुठमणि के दोनो 'माहात्म्यो' के लगभग ८० वर्ष पश्चात् सन् १७०५ के आसपास 'नासिकेतोपाख्यान' नामक एक ग्रन्थ लिखा गया। इसकी भाषा का नमूना देखिए—

हे ऋषीश्वरों ! और सुनो, देख्यो है सो कहूँ। काले वर्ण महादुख के रूप जमकिकर देखे। सर्प, बीछू, रीछ, व्याघ्र, सिंह, बडे-बडे ग्रध देखे। पन्थ में पापकर्मी को जमदूत चलाइ के मुग्दर अरु लोह के दड कर मार देत हैं! आगे और जीवन को त्रास देत देखे हैं। सु मेरो रोम-रोम खरो होत है।

इसके पाँच-छ वर्ष बाद सन् १७१० मे आगरे के सुरति मिश्र[4] ने व्रजभाषा में 'वैतालपचीसी' लिखी। इसका कथानक सस्कृत के 'वैतालपचविंशति' से लिया गया था। इसके अतिरिक्त 'बिहारीसतसई' की 'अमरचन्द्रिका' नाम से कविप्रिया तथा रसिकप्रिया की उन्ही नामो से टीकाएँ भी मिश्र जी ने की। 'अमरचन्द्रिका' का रचनाकाल सन् १७३४ है और शेष दोनो का सन् १७४० के आसपास। इन टीकाओ से इतना तो स्पष्ट है ही कि कभी-कभी शास्त्रीय विषयो के निरूपण के लिए हमारे आचार्य गद्य का भी उपयोग किया करते थ। इस सम्बन्ध में स्व० शुक्ल जी का भी यही मत है।[5]

सन् १७९५ मे, लगभग ८५ वर्ष पश्चात्, हीरालाल ने जयपुर-नरेश सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से 'आईन अकबरी की भाषा वचनिका' तैयार की। इसकी भाषा का नमूना यह है—

---

[1] देखिए फुटनोट—हिन्दुस्तानी—५०-३-२५५
[4] इन्होंने स्वय लिखा है—सूरत मिश्र कनौजिया, नगर आगरे वास।
[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास—सशो० सस्करण, पृ० ३४०
[3] हिन्दी साहित्य का इतिहास—सशो० सस्करण, पृ० २६९
[5] हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास (द्वि० सस्करण) पृ० ६३६

अब शेख अबुल फजल ग्रन्थ को करता प्रभु को निमस्कार करिकैं अकबर बादस्याह की तारीफ लिखने को करुत करैं हैं। अरु कहैं हैं—या की बड़ाई अरु चेष्टा अरु चिमत्कार कहाँ तक लिखूँ। कही जात नाहीं। तातें याके पराकरम अरु भाँति भाँति के दसतूर व मनसूबा दुनिया में प्रगट भये, ताको सखेप लिखत हैं।

इन अवतरणो की भाषा बहुत कुछ व्यवस्थित होते हुए भी "वार्ताओ" की भाषा का सौ-डेढ-सौ वर्षों में विकसित रूप नही कहा जा सकता। इन्हे देखकर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा में यदा-कदा गद्य-ग्रन्थ लिख लिये जाते थे। परन्तु उक्त लेखको के पश्चात् ब्रजभाषा के गद्य का विकास नही हुआ। रीतिकाल के लेखको ने तो इसका प्रयोग काव्य-ग्रन्थो की केवल शाब्दी टीका करने के लिए किया, यहाँ तक कि एक भी स्वतन्त्र और प्रौढ ब्रजभाषा का ग्रथ इस समय नही लिखा गया। टीका और भाष्य इस समय के अवश्य मिलते है—एक बिहारी सतसई की ही कई टीकाएँ पाई जाती है, परन्तु भाषा-शैली के विकास की दृष्टि से इनका विशेष मूल्य नही है। कारण यह है कि इनकी भाषा प्राय अव्यावहारिक और अव्यवस्थित है तथा शैली अपरिमार्जित और पडिताऊ ढग की। 'रामचन्द्रिका' की सन् १८१५ के लगभग लिखी हुई टीका का एक उदाहरण देखिए—

राघव शर लाघव गति छत्र मुकुट यो हयो।
हंस सबल असु सहित मानहु उडि के गयो॥

टीका—सबल कहे अनेक रग मिश्रित है असु कहे किरण जाके ऐसे जे सूर्य है जिन सहित मानो कलिन्दागिरि-शृंग से हस समूह उडि गयो है। यहाँ जाहि विषे एक वचन है। हसन के सदृश स्वेत छत्र है और सूर्यानि के सदृश अनेक नभ-जटित मुकुट है।

'वार्ताओ' की भाषा से इस भाषा की तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि ब्रजभाषा के गद्य का विकास न होकर ह्रास होने लगा। यदि 'वार्ताओं' की भाषा में उसी प्रकार स्वतन्त्र रूप मे गद्य-ग्रन्थ-रचना होती रहती तो कदाचित् भाषा की व्यजना-शक्ति बढती जाती, परन्तु एक तो विषय की परतन्त्रता और दूसरे टीकाकारो की सकुचित मनोवृत्ति के कारण ऐसा न हो सका। 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'बिहारीसतसई', 'शृगारशतक' आदि अनेक ग्रन्थो की टीकाएँ इस युग में हुईं और सुरति मिश्र, किशोरदास तथा सरदार कवि आदि अनेक व्यक्तियो ने इस क्षेत्र में काम किया, परन्तु प्राय सभी की भाषा ऊपर दिये हुए नमूने की तरह अनगढ और अनियन्त्रित ही है, जिससे मूल पाठ टीकाओ में सरल और स्पष्ट न होकर दुर्बोध और अस्पष्ट हो गया है। टीकाओ का मूल्य कितना है, यह इस कथन से ठीक-ठीक ज्ञात हो जायगा कि मूल पढकर उसका अर्थ भले ही समझ लिया जाय, परन्तु इन टीकाओ का समझना एक कठिन समस्या है।

ब्रजभाषा-गद्य के विषय में जैसा अब तक हम देख चुके है, पर्याप्त सामग्री मिलती है। फिर भी हमारे इतिहास-लेखको को जो गद्य का कोई विकास-क्रम नही मिलता[1] उसका कारण यह है कि उन्होने ब्रजभाषा-गद्य के विकास का क्षेत्र समझने का प्रयत्न नही किया। वस्तुत ब्रजभाषा-गद्य का विकास दो साहित्यिक दलो ने स्वतन्त्र रूप से किया—(१) भक्त कवि और आचार्यो ने (२) रीतिकालीन आचार्यो ने। भक्ताचार्यो ने गद्य में ग्रन्थ लिखने पहले आरम्भ कर दिये थे, क्योकि एक तो उनका प्रादुर्भाव पहले हुआ और दूसरे जन-साधारण की भाषा अपनाने की आवश्यकता उन्हें अपेक्षाकृत अधिक थी। इन भक्तो का गद्य दो रूपो में विकसित हुआ। एक तो स्वान्त सुखाय ग्रन्थ रचना के लिए और दूसरे पडिताऊ ढग मे कथावार्ता के लिए। रीतिकालीन कवियो ने गद्य में ग्रन्थरचना बहुत देर मे प्रारम्भ की और दूसरे उन पर सस्कृत के पडिताऊ ढग का भी प्रभाव था। भक्तो के पडिताऊ ढग की भाषा से इनका गद्य बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० ४८२

हिन्दी गद्य की तीन धाराओ मे—दो भक्ताचार्यो की और एक रीत्याचार्यो की—केवल प्रथम का विकास कुछ क्रम से हुआ और इसके प्रमाण—स्वरूप ग्रन्थ मिलते भी है। इन सब की भाषा क्रमश विकसित और व्यवस्थित होती गई है। अन्य दोनो रूपो की—भक्ताचार्यों की पडिताऊ और रीत्याचार्यो की शास्त्रीय भाषा अव्यवस्थित और शिथिल है। सोलहवी, सत्रहवी और अठारहवी शताब्दी में ऐसी भाषा के ग्रन्थ भी मिलते है और प्रथम प्रकार की व्यवस्थित और विकसित भाषा के भी। यही देखकर हमारे इतिहास लेखक आश्चर्य में पड जाते है और कभी-कभी लिख मारते है कि हिन्दी गद्य का क्रमश विकास नही हुआ। वस्तुत तथ्य यह है कि प्रत्येक शताब्दी मे गद्यग्रन्थ रचे तो अवश्य गये, परन्तु उनके लेखको का लक्ष्य गद्य-साहित्य की उन्नति करना नही था। वे ग्रन्थ रचते थे और परोक्ष रूप से इस प्रकार गद्य की उन्नति होती गई।

लखनऊ]

गीत

श्री सोहनलाल द्विवेदी

करुणा की वर्षा हो अविरल !
सन्तापित प्राणों के ऊपर लहरे प्रतिपल शीतल अंचल !

मलयानिल लाये नव मरन्द,
विकसें मुरझाये सुमनवृन्द,
सरसिज में मधु हो, मधुकर के मानस में मादक प्रीति तरल !

कोकिल की सुन कातर पुकार
आये वसन्त ले मधुर भार,
कानन की सूखी डालों में, फूटें नवनव पल्लव कोमल !

काली रजनी का उठे छोर
लेकर प्रकाश नव हँसे भोर,
अवनी के आँगन में ऊषा, बरसाये मगल कुकुमजल !

करुणा की वर्षा हो अविरल !

विदकी]

फ़ोर्ट विलियम कॉलेज और विलियम प्राइस

श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय एम्० ए०, डी० फिल्०

प्राचीन काल से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विदेशो से रहा है। अँगरेजो से पहले यूनान, रोम तथा अन्य पश्चिमी राष्ट्रो के साथ इस व्यापार का पता चलता है। यह व्यापार फारस की खाडी, लालसागर और भारत के उत्तर-पश्चिम से मध्य-एशिया वाले मार्गों से होता था। व्यापारी लोग इन मार्गों द्वारा, विशेषत फारस की खाडी से होकर, भारतवर्ष आते थे और यहाँ से माल खरीद कर विदेश भेजते थे। इससे भारतीय व्यापारिक उन्नति के साथ-साथ विदेशी व्यापारी भी धनोपार्जन करते थे।

किन्तु पन्द्रहवी शताब्दी के लगभग मध्य से कुछ राजनैतिक कारणो से यूरोप के व्यापारियो को भारतवर्ष आने और व्यापार करने मे असुविधा होने लगी। उस समय निकटस्थ मुसलमानी राष्ट्रो का समुद्री व्यापार पर आधिपत्य स्थापित हो गया था। इसलिए यूरोप-निवासी भारतवर्ष के लिए एक नया समुद्री मार्ग खोजने के लिए अग्रसर हुए। यह कार्य पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य से ही शुरू हो गया था।

ईसा की अठारहवी शताब्दी तक स्पेन, पुर्तगाल, फ्रास, हॉलैंड, ब्रिटेन, स्वीडन, डेनमार्क, आस्ट्रिया आदि राष्ट्रो ने भारतवर्ष में अपनी-अपनी कम्पनियाँ खोली और कर्मचारी भेजे, परन्तु अँगरेजो की शक्ति और उनके प्रबल विरोध एव कूटनीति के कारण अन्य व्यापारिक सस्थाओ को कोई विशेष लाभ न हुआ और उन्होने अपना काम बन्द कर दिया।

अँगरेज भारतवर्ष में व्यापार करने आये थे। उससे उन्होने अपार धन-सचय भी किया। देश के शासक बन बैठने का उनका विचार नही था, किन्तु योरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के फल-स्वरूप ब्रिटेन के तत्कालीन राजनैतिक सचालको की वृहत्तर ब्रिटेन की आकाक्षा से प्रोत्साहन ग्रहण कर तथा साथ ही पतनोन्मुख मुग़ल साम्राज्य की नाज़ुक परिस्थिति से लाभ उठाकर उन्होने देश मे अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। प्रथमत वे अपनी व्यापारिक उन्नति में ही लगे रहे। १७५७ ई० मे प्लासी-युद्ध के फल-स्वरूप बगाल प्रान्त पर पूर्ण रूप से उनका अधिकार स्थापित हो गया। १७६४ ई० में बक्सर की लडाई के बाद उनकी सैनिक शक्ति और भी बढी। अवध और बिहार की दीवानी भी उनके हाथ में आ गई। इस प्रकार धीरे-धीरे उन्होने उत्तर भारत में अपने शासन की जड जमा ली। क्लाइव द्वारा स्थापित यह साम्राज्य देश के पूर्व-प्रतिष्ठित साम्राज्यो से अनेकाश में भिन्न था। १७८७ ई० के बाद भारतवर्ष मे स्थापित ब्रिटिश आधिपत्य के सचालन का भार उन लोगो को सौपा जाने लगा, जिन्हें इस देश के सम्बन्ध में कुछ भी अनुभव नही था और जो इगलैड के शासक-वर्ग के प्रतिनिधि थे। ये व्यक्ति वहाँ के मन्त्रि-मडल द्वारा नियुक्त किये जाते थे। स्वभावत वे अपने देश में प्रचलित राजनैतिक विचार लेकर यहाँ आते थे। उन्होने भारत में स्थापित ब्रिटिश साम्राज्य का भारतीय प्रथा के अनुसार नही, वरन् 'वृहत्तर ब्रिटेन' की भावना से प्रेरित होकर शासन करना आरम्भ किया। इस नीति का अनुसरण कर और भारतीय नरेशो के सन्धि-विग्रह में पडकर उन्होने भारतवर्ष में अँगरेजी साम्राज्य की नीव सुदृढ बना दी।

ऐसे व्यक्तियो में लॉर्ड वेलेजली का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। वे १७९८ ई० से १८०५ ई० तक गवर्नर-जनरल रहे। टीपू सुलतान, निज़ाम, फ्रासीसियो और मरहठो को पराजित करने में उन्होने पूरी शक्ति लगा दी। उनके समय में कम्पनी की शक्ति भारतीय राजनैतिक गगन में सूर्य के समान चमक उठी।

कम्पनी के राज्य में एक नवीन शासन-प्रणाली और राजनीति का बीज बोया गया। भारतीय शासन-व्यवस्था के इतिहास में यह एक युगान्तरकारी घटना थी।

कम्पनी की राजनैतिक सत्ता स्थापित करने मे तो वेलेज़ली तथा उनके पूर्ववर्ती शासको ने पूर्ण योग दिया था, किन्तु अभी तक कम्पनी के कर्मचारियो तथा उसके अपने शासन की ओर किसी ने ध्यान न दिया था। शुरू मे कम्पनी के कर्मचारियो की नियुक्ति डाइरेक्टरो के सम्बन्धियो में से होती थीं। इन कर्मचारियो की सचाई और ईमानदारी में उन्हें पूरा-पूरा भरोसा रहता था। कोई काम बिगड जाने पर कर्मचारियो को केवल जुर्माना भर देना पडता था। नियुक्ति के समय केवल उनके व्यापारिक ज्ञान की परीक्षा ली जाती थी। परन्तु कुछ समय के वाद डाइरेक्टरो की नीति वदल गई। अव वे चौदह-पन्द्रह वर्ष के उन युवको को भारत भेजने लगे जो हिसाव लगाने मे निपुण होते थे या अच्छी तरह पढ-लिख सकते थे। कर्मचारियो के भारतीय भाषाओ और आचार-विचार-सम्बन्धी ज्ञान की ओर भी उन्होने अधिक ध्यान न दिया। शिक्षा भी उनकी अपूर्ण रहती थी। कम्पनी के सचालको की यह नीति उस समय तक वनी रही जवतक कम्पनी प्रधान रूप से एक व्यापारिक सस्था मात्र थी। किन्तु इससे कर्मचारियो मे अनेक नैतिक और चारित्रिक दोष उत्पन्न हो गये, जिससे अँगरेज़ जाति की प्रतिष्ठा पर कलक का टीका लगने की आशका थी।

शासन-सूत्र ग्रहण करते समय वेलेज़ली ने कर्मचारियो की शिक्षा, योग्यता, सदाचरण और अनुशासन की देख-रेख के प्रवन्ध के अभाव को साम्राज्य के हित के लिए घातक समझा। कम्पनी की उत्तरोत्तर वढती हुई राजनैतिक शक्ति के अनुरूप वे उन्हें चतुर और कूटनीतिज्ञ शासक वनाना चाहते थे। उन्हे कर्मचारियो की वणिक् वृत्ति ब्रिटिश साम्राज्य की प्रतिष्ठा के सर्वथा विरुद्ध जँची। अतएव उन्होने उनके पाश्चात्य राजनीति एव ज्ञान-विज्ञान के साथ भारतीय इतिहास, रीति-रस्मो, कायदे-कानूनो और भाषाओ के ज्ञान की सगठित व्यवस्था के लिए १८०० ई० मे फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की।

अन्य विषयो की शिक्षा-व्यवस्था के साथ-साथ कॉलेज मे हिन्दुस्तानी भाषा तथा साहित्य के अध्ययन की आयोजना भी की गई। डॉ० जॉन वौर्थविक् गिलक्राइस्ट (१७५९-१८४१ ई०) हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उनकी अध्यक्षता मे अनेक मुशी और पडित रक्खे गये।

यद्यपि वेलेज़ली की कॉलेज-सम्वन्धी वृहत् योजना कोर्ट के डाइरेक्टरो द्वारा, गवर्नर-जनरल की आर्थिक और राजनैतिक नीति से मतभेद होने के कारण अस्वीकृत ठहरी और २७ जनवरी, १८०२ ई० के पत्र में कॉलेज तोड देने की आज्ञा के वाद केवल 'वगाल सेमिनरी' (१८०५ के लगभग प्रारम्भ से) का सचालन होता रहा, तो भी भारतीय साहित्य और भाषाओ के इतिहास में कॉलेज का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कॉलेज की स्थापना राजनैतिक ध्येय को लेकर अवश्य हुई थी, किन्तु घुणाक्षर न्याय से भाषा, साहित्य, शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, नवीन विषयो के अध्ययन के सूत्रपात आदि की दृष्टि से भारतवासियो का हित-साधन ही हुआ। भाषा और साहित्य के क्षेत्र में, प्रेस की सहायता से, ऐसा सगठित प्रयास पूर्व समय में कभी न हुआ था। कॉलेज के कारण ही देश के विभिन्न भागो के विद्वान् वहाँ एकत्रित हुए और कलकत्ता एक प्रधान साहित्यिक केन्द्र वना। प्राचीन साहित्य और भाषाओ के पठन-पाठन के साथ-साथ आधुनिक साहित्य और भाषाओ की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया गया। कॉलेज के पाठ्यक्रम का यह द्वितीय पक्ष ही विशेष महत्त्वपूर्ण है।

कॉलेज की स्थापना के पूर्व, अन्य अनेक यूरोपीय विद्वानो के अतिरिक्त, गिलक्राइस्ट भी हिन्दुस्तानी के पठन-पाठन में सलग्न थे। १७८३ ई० में वे ईस्ट इडिया कम्पनी के सरक्षण में सहायक सर्जन नियुक्त होकर भारतवर्ष आये थे। उस समय कम्पनी फारसी भाषा का प्रयोग करती थी, किन्तु गिलक्राइस्ट ने उसके स्थान पर हिन्दुस्तानी का चलन ही अधिक पाया। गवर्नर-जनरल की आज्ञा से तत्कालीन बनारस की जमीदारी में रहकर उन्होने हिन्दुस्तानी का अध्ययन भी किया और तत्पश्चात् अनेक ग्रन्थो की रचना की। कम्पनी के कर्मचारियो में उन्होने हिन्दुस्तानी का प्रचार किया। १७९८ ई० में जव वेलेज़ली कलकत्ता पहुँचे तो उन्होने गिलक्राइस्ट के परिश्रम की सराहना की और उनके अध्ययन से पूरा लाभ उठाना चाहा। उन्होने वैतनिक रूप से गिलक्राइस्ट तथा कुछ मुशियो को हिन्दुस्तानी और फारसी भाषाओ की शिक्षा के लिए रक्खा। इस सस्था का नाम 'ओरिएटल सेमिनरी' रक्खा गया। सरकारी

आज्ञा के अनुसार गिलक्राइस्ट यहाँ का मासिक कार्य-विवरण ('जर्नल') सरकार के पास भेजते थे। कॉलेज की स्थापना के समय उन्हें हिन्दुस्तानी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया।

हिन्दी-साहित्य के अब तक लिखे गये इतिहासो में लल्लूलाल और उनके 'प्रेमसागर' के नाते गिलक्राइस्ट का हिन्दी गद्य के उन्नायक के रूप में नाम लिया जाता रहा है, किन्तु यदि हम उनके भाषा-सम्बन्धी विचारो का अध्ययन करें तो उनकी वास्तविक स्थिति का पता चलते देर न लगेगी। उन्होने अपने भाषा-सम्बन्धी विचार 'ऑरिएटल सेमिनरी' के 'जर्नल' के प्रथम विवरण तथा अपने ग्रन्थो में प्रकट किये है।

गिलक्राइस्ट का हिन्दुस्तानी से उस भाषा से तात्पर्य था जिसके व्याकरण के सिद्धान्त, क्रिया-रूप आदि, तो हलहेड द्वारा कही जाने वाली विशुद्ध या मौलिक हिन्दुस्तानी ('प्योर ऑर ओरिजिनल हिन्दुस्तानी') और स्वय उनके द्वारा कही जाने वाली 'हिन्दवी' या 'व्रजभाषा' के आधार पर स्थित थे, लेकिन जिसमें अरबी-फारसी के सज्ञा-शब्दो की भरमार रहती थी। इस भाषा को केवल वे ही हिन्दू और मुसलमान बोलते थे जो शिक्षित थे और जिनका सम्बन्ध राज-दरबारो मे था, या जो सरकारी नौकर थे। लिखने में फारसी लिपि का प्रयोग किया जाता था। इसी हिन्दुस्तानी को उन्होने 'हिन्दी', 'उर्दू', 'उर्दुवी' और 'रेख्ता' भी कहा है। 'हिन्दी' के शब्दार्थ की दृष्टि से इस शब्द का प्रयोग उचित है। लल्लूलाल की भाषा 'हिन्दी' नहीं, 'हिन्दवी' थी। 'हिन्दी' के स्थान पर 'हिन्दुस्तानी' शब्द उन्होने इसलिए पसन्द किया कि 'हिन्दुवी', 'हिन्दुई' या 'हिन्दवी' और 'हिन्दी' शब्दो से, जो बहुत कुछ मिलते-जुलते है, कोई गडबडी पैदा न हो सके। यह 'हिन्दवी' भाषा केवल हिन्दुओ की भाषा थी। मुसलमानी आक्रमण से पहले यही भाषा देश में प्रचलित थी। गिलक्राइस्ट ने 'हिन्दवी' और 'हिन्दुस्तानी' का यह भेद कर तीन प्रचलित शैलियाँ निर्धारित की—(१) दरबारी या फ़ारसी शैली, (२) हिन्दुस्तानी शैली और (३) हिन्दवी शैली। पहली शैली दुरूह, अतएव अग्राह्य थी। तीसरी शैली गँवारू थी। इसलिए उनको दूसरी शैली पसन्द आई। इस शैली में दक्षता प्राप्त करने के लिए फारसी भाषा और लिपि का ज्ञान अनिवार्य था। मीर, दर्द, सौदा आदि कवियो ने यही शैली ग्रहण की थी। हिन्दुस्तानी मे पारिभाषिक शब्दावली भी इस प्रकार रक्खी गई, जैसे, 'इख्तिसार', 'इतिखाब', 'मफ़ूल', 'सिफ़त', 'हर्फ़ जर्फ़', 'जर्फ़ी जमान', 'जर्फ़ी मुकान' आदि। वाक्य-विन्यास भी बहुत-कुछ फारसी का ही अपनाया गया।

गिलक्राइस्ट के विचारो तथा अपने ग्रन्थो में दिये गये हिन्दुस्तानी भाषा के उदाहरणो[1] का अध्ययन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है कि हिन्दुस्तानी से गिलक्राइस्ट का तात्पर्य था—

हिन्दवी + अरबी + फारसी = हिन्दुस्तानी[2]

इसी भाषा को सुनीति बाबू ने 'मुसलमानी हिन्दी' अथवा 'उर्दू' कहा है। लिपियो में देवनागरी लिपि को गिलक्राइस्ट ने अवश्य प्रश्रय दिया, किन्तु इससे भाषा के रूप और उसकी सास्कृतिक पीठिका मे कोई अन्तर नही पडता। वस्तुत. उनके विचारो तथा व्यवहार में प्रयुक्त भाषा से उर्दू गद्य की उन्नति हुई, न कि हिन्दी गद्य की।[3] लल्लूलाल कृत 'प्रेमसागर', सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' तथा इन ग्रन्थो के अनुरूप भाषा के प्राप्त अन्य स्फुट उदाहरणो का मुख्य प्रयोजन सिविलियन विद्यार्थियो को हिन्दुस्तानी की आधारभूत भाषा ('हिन्दवी') से परिचित कराना था। 'प्रेमसागर', 'नासिकेतोपाख्यान' आदि रचनाओ ने हिन्दुस्तानी के ज्ञानोपार्जन में गारे-चूने का काम दिया। गिलक्राइस्ट के समय में तथा उनके बाद 'हिन्दुस्तानी' में प्रकाशित ग्रन्थो की सख्या ही अधिक है। हिन्दी (आधुनिक अर्थ मे) अथवा 'हिन्दवी' में रचे गये ग्रन्थो में 'प्रेमसागर', 'राजनीति' और 'नासिकेतोपाख्यान' का ही नाम लिया जा सकता है। 'नासिकेतोपाख्यान' तो कभी पाठ्य-क्रम में भी नही रक्खा गया। ये तथ्य भी हमारे कथन की पुष्टि करते है।

---

[1] देखिए, 'हिन्दुस्तानी', भाग १०, अंक ४, अक्टूबर १९४० में 'गिलक्राइस्ट और हिन्दी' शीर्षक लेख।

[2] गिलक्राइस्ट कृत 'दि ऑरिएंटल लिंग्विस्ट' (१८०२ स०) भूमिका, पृ० १

[3] एडवर्ड बालफर : 'दि इन्साइक्लोपीडिया ऑव इडिया' (१८८५ ई०), जिल्द १, पृ० १२०३

किन्तु कॉलेज की यह भाषा-सम्बन्धी व्यवस्था कुछ वर्षों के बाद न चल सकी। इस समय तक अँगरेजी राज्य का विस्तार पूर्ण रूप से हिन्दी प्रदेश तक हो चुका था। फलत कॉलेज की भाषा-सम्बन्धी नीति में भी परिवर्तन होना अनिवार्य था। शासन के सुचारु रूप से चलने के लिए अधिकारियो को इधर ध्यान देना ही पडा। कॉलेज के २५ जुलाई, १८१५ ई० के वार्षिकोत्सव के दिन ऑन० एन० बी० एडमॉन्सटन, ऐक्टिंग विज़िटर, ने अध्यापको तथा अन्य उपस्थित व्यक्तियो का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था।[1] तत्कालीन पश्चिम प्रदेश से आने वाले भारतीय सैनिक अधिकाश में व्रजभाषा अथवा हिन्दी (आधुनिक अर्थ मे) भाषा का प्रयोग करते थे। इसलिए १८१५ ई० के बाद कॉलेज मे व्रजभाषा की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा, किन्तु इससे व्रजभाषा अथवा हिन्दी गद्य के नये ग्रन्थो का निर्माण न हो सका और साथ ही कॉलेज मे हिन्दुस्तानी की प्रधानता बनी रही। यह व्यवस्था हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष जे० डब्ल्यू० टेलर के समय तक विद्यमान थी।

२३ मई, १८२३ ई० के सरकारी आज्ञापत्र के अनुसार टेलर ने कॉलेज के कार्य से अवकाश ग्रहण किया, क्योकि उस समय वे लेफ्टिनेंट कर्नल हो गये थे और सैनिक कार्य से उन्हे छुट्टी नही मिल पाती थी। इसलिए सपरिषद् गवर्नर जनरल ने उसी आज्ञापत्र के अनुसार कैप्टेन (बाद को मेजर) विलियम प्राइस को हिन्दुस्तानी विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया। विलियम प्राइस महोदय का सम्बन्ध नेटिव इन्फैंट्री के बीसवे रेजीमेंट से था। १८१५ ई० से (उस समय वे केवल लेफ्टिनेट थे) अब तक वे व्रजभाषा, बँगला और सस्कृत के सहायक अध्यापक और हिन्दुस्तानी, फारसी आदि भाषाओ के परीक्षक की हैसियत से कॉलेज मे कार्य कर रहे थे।

जहाँ तक हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) से सम्बन्ध है विलियम प्राइस का विशेष महत्त्व है, क्योकि इन्ही के समय में कॉलेज में हिन्दुस्तानी के स्थान पर हिन्दी का अध्ययन हुआ। कॉलेज के पत्रो मे 'हिन्दी' शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रयोग प्रधानत प्राइस के समय (१८२४-२५ ई० के लगभग) से ही मिलता है। हिन्दुस्तानी विभाग भी अब केवल हिन्दी विभाग अथवा हिन्दी-हिन्दुस्तानी विभाग और प्राइस, हिन्दी प्रोफेसर अथवा हिन्दी-हिन्दुस्तानी प्रोफेसर कहलाये जाने लगे थे।

विलियम प्राइस के अध्यक्ष होने के बाद ही २४ सितम्बर, १८२४ ई० को कॉलेज कौंसिल के मन्त्री रडेल ने सरकारी मन्त्री सी० लशिंगटन को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होने निम्नलिखित विचार प्रकट किये

"हिन्दुस्तानी, जिस रूप में कॉलेज में पढ़ाई जाती है और जिसे उर्दू, दिल्ली जबान आदि या दिल्ली-दरबार की भाषा के नामो से पुकारा जाता है, समस्त भारतवर्ष में उच्च श्रेणी के देशी लोगो, विशेष रूप से मुसलमानो, द्वारा बोलचाल की भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। लेकिन क्योंकि मुग़लो ने इसे जन्म दिया था, इसलिए इसकी मूल स्रोत अरबी, फारसी तथा अन्य उत्तर-पश्चिमी भाषाएँ है। अधिकाश हिन्दू अब भी उसे एक विदेशी भाषा समझते हैं।

"फारसी और अरबी से घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण यह स्पष्ट है कि प्राय प्रत्येक विद्यार्थी कॉलेज में विद्याध्ययन की अवधि कम करने की दृष्टि से फारसी और हिन्दुस्तानी भाषाएँ ले लेते हैं। फारसी के साधारण ज्ञान से वे शीघ्र ही हिन्दुस्तानी में आवश्यक दक्षता प्राप्त करने योग्य हो जाते हैं। किन्तु भारत की कम-से-कम तीन-चौथाई जनता के लिए उनकी अरबी-फारसी शब्दावली उतनी ही दुरूह सिद्ध होती है जितनी स्वय उनके लिए सस्कृत, जो समस्त हिन्दू बोलियों की जननी है।

"साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि सस्कृत का एक विद्वान् हिन्दुओं में प्रचलित विभिन्न बोलियो के प्रत्येक शब्द की उत्पत्ति मूल सस्कृत स्रोत से सिद्ध कर सकता है। बँगला और उडिया लिपियो के अतिरिक्त उनकी लिपि भी नागरी है। व्याकरण के सिद्धान्त (शब्दो के रूप आदि) भी बहुत-कुछ समान है। अन्य भाषाओ का अध्ययन करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा सस्कृत का साधारण ज्ञान-प्राप्त व्यक्ति इन भाषाओ पर अधिक अधिकार प्राप्त कर सकता है।

× × ×

[1] देखिए, 'एशियाटिक जर्नल', १८१६, में 'कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम' शीर्षक विवरण।

"हमारा विश्वास है कि वँगला और उडिया अपने मूल उद्गम के अधिक समीप है। किन्तु खडीबोली, ठेठ हिन्दी, हिन्दुई आदि विभिन्न नामो से प्रचलित 'व्रजभाखा' का सामान्यत· समस्त भारतवर्ष में प्रचार है—विशेष रूप से जयपुर, उदयपुर और कोटा की राजपूत जातियो में। इसके अतिरिक्त यह उस श्रेणी के सब हिन्दुओ की भाषा है जहाँ से हमारी तथा अन्य देशी सेनाओ के सैनिक आते है।"[1]

कॉलेज कौंसिल ने सपरिखद् गवर्नर-जनरल से प्रार्थना की कि हिन्दुस्तानी भाषा के स्थान पर फारसी के अतिरिक्त वँगला अथवा 'व्रजभाखा' (जिसे ठेठ हिन्दी और हिन्दुई भी कहा जाता था) के पठन-पाठन के लिए कॉलेज के विधान में आवश्यक परिवर्तन किये जायें। सरकारी मन्त्री लशिंगटन ने ३० सितम्वर, १८२४ ई० के पत्र द्वारा गवर्नर-जनरल की स्वीकृति भेज दी। इस पत्र के अनुसार कौंसिल ने कॉलेज के विधान का नवीन—सातवाँ —परिच्छेद गवर्नर-जनरल के सम्मुख प्रस्तुत किया और साथ ही हर्टफोर्ड मे विद्यार्थियो को नागरी लिपि और हिन्दी तथा वँगला की शिक्षा देने के सम्वन्ध में कोर्ट को पत्र लिखने की प्रार्थना की। २८ अक्तूवर, १८२४ ई० को गवर्नर-जनरल ने कॉलेज के नव-विधान पर अपनी स्वीकृति दे दी और कोर्ट को पत्र लिखने का वचन दिया।[2]

कॉलेज कौंसिल ने नव-विधान के साथ विलियम प्राइस का लिखा एक पत्र भी भेजा था, जिसमें उन्होने अपने भाषा-सम्वन्धी विचार प्रकट किये है। उनके और गिलक्राइस्ट के विचारो में स्पष्ट अन्तर है। विलियम प्राइस का कहना है

"उत्तरी प्रान्तों की भाषाओ को आपस में एक दूसरी से भिन्न समझी जाने और एक ही मूल रूप के विभिन्न रूप न समझे जाने के कारण उनके सम्वन्ध में वडी उलझन पैदा हो गई है। उन सब का विन्यास एक-सा है, यद्यपि उनमें कभी-कभी शव्द-वैभिन्य मिल जायगा।

"यदि यह मान लिया जाय कि गगा की घाटी के हिन्दुस्तान की वोलचाल की भाषा और सस्कृत के सम्बन्ध पर विचार करने का समय अव नहीं रहा, तो आधुनिक भाषाओं का स्वतन्त्र व्याकरण कव वना? आधुनिक भाषाओं के स्वतन्त्र व्याकरण के कारण सस्कृत और हिन्दी के विभिन्न रूपों के मुख्य-मुख्य भेद है। यद्यपि कुछ शव्दो के सन्तोष-जनक सस्कृत रूप ज्ञात नहीं किये जा सकते, तो भी ऐसे शव्दो की सख्या वहुत कम है। अधिक अध्ययन करने पर ऐसे शव्दो की संख्या और भी कम रह जायगी। इतना तो निस्सन्देह है, किन्तु सहायक क्रिया 'होना' संस्कृत धातु 'भू' से निकली है, यह मानना कठिन है।

"साथ ही ऐसे उदाहरण भी मिलते है कि क्रिया सस्कृत है, किन्तु सामान्य रूप को छोड कर उसकी विभक्तियाँ सस्कृत से नहीं मिलतीं। क्रियाओ के रूप और कारक-चिन्ह भी सामान्यत. बिलकुल अजीव है। वर्तमान काल और भूत-कृदन्त के साथ सहायक क्रिया का प्रयोग और पर-सर्ग लगा कर सज्ञाओं के काल वनाना सस्कृत भाषा के सिद्धान्तो के विरुद्ध है। मूल रूप चाहे जो कुछ रहा हो, अव एक स्वतन्त्र हिन्दी व्याकरण है जो एक ओर तो अपने प्रदेश की मूल भाषा के व्याकरण से भिन्न है और दूसरी ओर सस्कृत से निकली भाषाओ, जैसे, वँगला और मराठी, से भिन्न है। इसलिए उस भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती, जिसे हम सरलता-पूर्वक 'हिन्दी' नाम से पुकार सकते है, यद्यपि हिन्दुई—अपभ्रश हिन्दवी—शव्द अधिक उपयुक्त होता।

"विदेशी शव्दो के प्रचार ने हिन्दी का कुछ ऐसा रूप-परिवर्तन कर दिया है कि उसकी कुछ वोलियाँ एक-दूसरी से विलकुल भिन्न प्रतीत होती है। उर्दू के वडे-बड़े विद्वान् तो 'व्रजभाखा' का एक वाक्य भी नहीं पढ़ सकते। पण्डित या मुंशी और मुसलमान शहजादा या हिन्दू जमींदार के पारस्परिक सम्पर्क से बोलियाँ आपस में और घुल-मिल गई

---

[1] प्रोसीडिंग्ज ऑव दि कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम, १५ दिसम्वर, १८२४, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द ६, पृ० ४६६-४६७, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

[2] वही, पृ० ५०१-५०३

है। इस पर भी प्राचीन और सञ्चित प्रान्तीय प्रवृत्तियों आदि ने इन परिवर्तनो को और भी बढा कर हिन्दी भाषा को अनन्त रूप प्रदान किये है। किन्तु इन विभिन्न रूपो का व्याकरण अपरिवर्तित रहा है। हिन्दी प्रधानत रही एक ही भाषा है। क्लिष्ट से क्लिष्ट उर्दू और सरल से सरल भाषा का विन्यास लगभग एक-सा है। उर्दू और भाषा के क्रमश 'का', 'की' और 'कौ', 'के' 'की' सम्बन्ध कारक चिन्हों में कोई बहुत अधिक अन्तर नहीं है। भाषा का 'मैं मारयो जातु हूँ' उर्दू के 'मैं मारा जाता हूँ' के लगभग समान ही है।

"व्रजभाषा और उर्दू का जो थोडा-सा भेद अभी दिखाया गया है वह केवल प्रादेशिकता मात्र है। अन्य बोलियो में ऐसी अन्य प्रादेशिकताएँ हो सकती है। किन्तु वे अस्थिर है और उनका महत्त्व भी विशेष नहीं है। बोलियों का प्रयोग भी कम हुआ है। उनका प्रचार अवश्य अधिक होने से वे हिन्दी के ही निकट है, जैसा कि हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में है। यह बात खडीबोली के विषय में भी लागू होती है। खडीबोली ही, न कि 'व्रजभाखा', जैसा कि डॉ० गिलक्राइस्ट का कहना है, हिन्दुस्तानी का आधार है, उसी के अनुरूप हिन्दुस्तानी का व्याकरण है।

"अतएव प्रादेशिकता के अतिरिक्त अन्य समानान्तर विषयो की ओर विद्यार्थियो का ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है। कॉलेज में जो भाषाएँ पढाई जाती है उनके व्याकरण में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। हाँ, अन्य दृष्टि से कुछ परिवर्तन आवश्यक है।

"हिन्दी और हिन्दुस्तानी में सबसे बडा अन्तर शब्दो का है। हिन्दी के लगभग सभी शब्द सस्कृत के है। हिन्दुस्तानी के अधिकाश शब्द अरबी और फारसी के है। इस सम्बन्ध में डॉ० गिलक्राइस्ट कृत 'पॉलीग्लौट फैब्यूलिस्ट' से एक छोटा-सा उदाहरण लेकर हम सन्तोष कर सकते है—

"हिन्दुस्तानी—"एक बार, किसी शहर में, यूँ शुहरत हुई, कि उसके नजदीक के पहाड़ को जनने का दर्द उठा।"

"हिन्दी—"एक समय, किसी नगर में, चर्चा फैली, कि उसके पडौस के पहाड को जनने का दर्द उठा।"

"दोनो के शब्द कहाँ से लिये गये है, इस सम्बन्ध में बताने की कोई आवश्यकता नहीं है। दोनो के रूप को बिगाडे बिना अन्तर और भी अधिक हो सकता था।

"हिन्दी के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि वह नागरी अक्षरो में लिखी जानी चाहिए। सस्कृत-प्रधान रचना जब फारसी लिपि में लिखी जाती है तो शब्द कठिनता से बोधगम्य होते है। कॉलेज के पुस्तकालय में एक ऐसे हिन्दी काव्य, पद्मावत, की दो प्रतियाँ है जिनके पढ़ने में मेरा और भाषा मुशी का निरन्तर परिश्रम व्यर्थ गया है।

"नई लिपि और नये शब्द सीखने में विद्यार्थियो को कठिनाई होगी। किन्तु इससे उनके ज्ञान की वास्तविक वृद्धि होगी। उनका हिन्दुस्तानी ज्ञान थोडे परिवर्तन के साथ फारसी-ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इससे वे न तो भाषा और न देश के विचारों के साथ ही परिचित हो पाते है। हिन्दी के अध्ययन में भी इससे कोई सहायता नहीं मिलती। किन्तु हिन्दी के साथ-साथ फारसी-ज्ञान से विद्यार्थी हिन्दुस्तानी रचनाएँ सरलतापूर्वक पढ सकेंगे एव हिन्दुओ और उनके विचारो से परिचय प्राप्त करने में भी कोई कठिनाई न होगी।"[१]

विलियम प्राइस के विचारो तथा कॉलेज की पूर्ववर्ती भाषा-सम्बन्धी नीति में स्पष्ट अन्तर है। जहाँ तक हिन्दी-हिन्दुस्तानी के आधार से सम्बन्ध है, दोनो में कोई अन्तर नही है। किन्तु आगे चलकर दोनो ने दो भिन्न मार्गों का अवलम्बन ग्रहण किया। राजनैतिक कारणो से खडीबोली का प्रचार समस्त उत्तर भारत में हो चुका था। टीपू सुलतान इसे दक्षिण में भी ले गया था। अरबी-फारसी शिक्षित हिन्दू और मुसलमानो अथवा मुस्लिम राजदरबारो

---

[१] प्रोसीडिंग्ज ऑव दि कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम, १५ दिसम्बर, १८२४, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द ६, पृ० ५०३-५०६, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियो में फारसी-ज्ञान का प्रचार स्वय स्पष्ट है। इसलिए उनमे खडीबोली के अरबी-फारसी रूप का प्रचार होना कोई आश्चर्य-जनक विषय नही है। अँगरेज़ो का सर्वप्रथम सम्पर्क ऐसे ही व्यक्तियो से स्थापित हुआ था। अत हिन्दुस्तानी (उर्दू अथवा खडीवोली के अरबी-फारसी रूप) को प्रश्रय देना उनके लिए स्वाभाविक ही था। प्रारम्भ में हिन्दी-प्रदेश से उनका अधिक घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित न हो सका था, किन्तु ज्यो-ज्यो यह सम्बन्ध घनिष्ट होता गया त्यो-त्यो उन्हें भाषा-सम्बन्धी वस्तुस्थिति का पता भी चलता गया और एक समय ऐसा आया जव उन्हें वास्तविक परिस्थिति की दृष्टि से भाषा-नीति में परिवर्तन करना पडा। गवर्नर-जनरल और कॉलेज के विज़िटर राइट ऑन्‌रेबुल विलियम पिट, लॉर्ड ऐम्हर्स्ट, ने भी अपने १८२५ ई० के दीक्षान्त भाषण मे विलियम प्राइस के विचारो का पूर्ण समर्थन किया था। उनके विचारानुसार भी फारसी और उर्दू जनसाधारण के लिए उतनी ही विदेशी भाषाएँ थी जितनी अँगरेज़ी। इसलिए उन्होने पश्चिमी प्रान्तो की ओर जाने वाले सरकारी कर्मचारियो को हिन्दी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए साग्रह आदेश दिया था।[1]

इस नई भाषा-व्यवस्था के अनुसार कॉलेज के पुराने मुशियो से कार्य सिद्ध न हो सकता था। इन मुशियो के निकट हिन्दी और नागरी लिपि दोनो ही विदेशी वस्तुएँ थी। पहले कुछ सैनिक विद्यार्थी ऐसे अवश्य थे जो व्रजभाषा का अध्ययन करते थे। उनके लिए हिन्दू अध्यापक रक्खे भी गये थे, किन्तु नैपाल-युद्ध के छिडते ही उन विद्यार्थियो को सैनिक कार्य के कारण कॉलेज छोड देना पडा। फलस्वरूप अध्यापक भी इधर-उधर चले गये। अब कॉलेज के अधिकारियो को फिर हिन्दी-ज्ञान-प्राप्त अध्यापको की आवश्यकता हुई और साथ ही नवीन पाठ्य पुस्तको की भी। किन्तु इन दोनो विषयो के सम्वन्ध में विलियम प्राइस कोई नवीनता प्रदर्शित न कर सके। जो मुशी पहले से अध्यापन-कार्य कर रहे थे उन्ही से हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के ज्ञान की आशा की गई। इसके लिए उन्हें समय दिया गया और अन्त में परीक्षा ली गई। इस परीक्षा में लगभग सभी मुशी असफल रहे। जो सफल हुए उन्हें हिन्दी के अध्यापन-कार्य के लिए रख लिया गया। शेष को यह चेतावनी देकर कुछ और समय दिया गया कि यदि निश्चित समय में वे हिन्दी-परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सकेंगे तो उनके स्थान पर अन्य सुयोग्य व्यक्ति रख लिये जायँगे। भविष्य में हुआ भी ऐसा ही। अनेक पुराने मुशियो के स्थान पर नये अध्यापक रक्खे गये। पाठ्य पुस्तको के सम्बन्ध में उन्होने लल्लूलाल के ग्रन्थो तथा 'रामायण', विहारी कृत 'सतसई' आदि पर निर्भर रहना ही उचित समझा। हिन्दी गद्य में वे नये ग्रन्थो का निर्माण न कर सके और न करा सके।

तो भी विलियम प्राइस की अध्यक्षता में भाषा के स्वरूप में परिवर्तन अवश्य हुआ। गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में प्रयुक्त भाषा से तुलना करने पर यह भेद स्पष्ट ज्ञात हो जायगा। निम्नलिखित उद्धरण गिलक्राइस्ट कृत 'दि ऑरिएटल लिंग्विस्ट' के १८०२ ई० के सस्करण से लिया गया है—

> **बाद अज़ान क़ाज़ी मुफ्ती से पूछा, कहो अब इसकी क्या सज़ा है, उन्होंने अर्ज़ की, कि अगर इबरत के वास्ते ऐसा शख़्स क़त्ल किया जावे, तो दुरुस्त है। तब उसे क़त्ल किया और उसके बेटे को उसकी जगह सर्फ़राज़ फर्माया, शहर-शहर के हाकिम इस अदालत का आवाज़ सुनकर जहाँ के तहाँ सरी हिसाब हो गये "**

गिलक्राइस्ट के शिष्य विलियम वटर्वर्थ बेली ने कॉलेज के नियमानुसार होने वाले वार्षिक वाद-विवाद मे ६ फरवरी, १८०२ ई० को 'हिन्दुस्तानी' पर एक दावा पढा था, जिसकी भाषा इस प्रकार है

> **"अरव के सौदागरो की आमद ओ रफ्त से और मुसलमानों की अकसर यूरिश और हुकूमति क़ेआमी के बाइस अलफाज़ि अरबी और फारसी उसी पुरानी बोली में बहुत मिल गये और ऐक जबान नई बन गई जैसे कि बुनियादि क़दीम पर तामीरि नौ होवे।"**

---

[1] दे० 'एशियाटिक जर्नल', १८२६, में 'कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम' शीर्षक विवरण।

केवल लिपि नागरी है। किन्तु इससे हमारे कथन में कोई अन्तर नही पडता। इसके पश्चात्, जनवरी, १८१० में लल्लूलाल ने अपनी 'नक्लियात-इ-हिन्दी' नामक रचना के सम्बन्ध मे कॉलेज कौंसिल के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा था, जो फारसी भाषा और लिपि में है—

"खुदावन्दान नैमतदाम इक़बाल अहम

नक़्लियात-इ-हिन्दी तसनीफ फिदवी वज़बान रेख़्ता मतज़मन अकसर जरूब अल मिसाल व दोहा व लतायफ ओ नअ्रात नक्लियात मरकूमत उल सदर वर अवुर्दा व तर्जुमा करदा जॉन विलियम टेलर व कप्तान इब्राहम लौकेट साहेव वज़बान अँगरेज़ी अस्वुल हुकुम साहिब मुदर्रस जह ता साहवान-इ-मुतल्लमीन मुन्तदी मुन्तवह् मेकर्दद व नक्लियात मज़्कूरा तवकती हुर्द

ज्यादा आफताव दौलत तावाँ व

दरख़्शाँवाद

अरज़ी

फिदवी श्रीलाल कवि ,,"[1]

सम्भव है विलियम प्राइस से पूर्व लिखे गये हिन्दी के उदाहरण मिलें, किन्तु उनका वही महत्त्व और मूल्य होगा जो हिन्दुस्तानी की आयोजना तथा हिन्दुस्तानी के अनेकानेक प्रकाशित ग्रन्थो के वीच 'प्रेमसागर', 'राजनीति' और 'नासिकेतोपाख्यान' का था—अर्थात् हिन्दुस्तानी (उर्दू) की आधारभूत भाषा का ज्ञान कराने की दृष्टि से। हमारे पथ-प्रदर्शक तो प्रधानत गिलक्राइस्ट के भाषा-सम्बन्धी विचार होने चाहिए। अपने विचारो को ही उन्होने कार्यान्वित किया था।

अव विलियम प्राइस की अध्यक्षता में भाषा के जिस रूप का प्रयोग हुआ वह ध्यान देने योग्य है। १५ जनवरी, १८२५ ई० की वैठक में कॉलेज कौंसिल ने ग्रन्थ-प्रकाशन के सम्बन्ध में भेजे जाने वाले प्रार्थना-पत्रो के लिए कुछ नियम वनाये थे। कॉलेज कौंसिल की आज्ञा से ये नियम फारसी, हिन्दी, वँगला और अँगरेज़ी में सव के सूचनार्थ प्रकाशित हुए थे। हिन्दी मे नागरी लिपि का प्रयोग हुआ है। सूचना इस प्रकार है—

"इस्तहार यह दिया जाता है कि जो कोई पोथी छपाने के लिए कालिज कौनसल से सहाय चाहता हो वुह अपनी दरखास में यह लिखे १ कि पोथी में केत्ता पत्रा और पत्रे में कित्ती औ पाति कित्ती लवी २ कितनी पोथिया छापेगा औ कागद कैसा तिस लिए अक्षर और कागद का नमूना लावेगा ३ औ किस छापेखाना में छापेगा औ सव छप जाने में कित्ता खरच लगेगा ४ तयार हुए पर पोथी कित्ते दाम को वेंचेगा।"[2]

अव्यवस्थित वाक्य-सगठन होते हुए भी यह हिन्दी है। उन्नीसवी शताव्दी पूर्वार्द्ध के गद्य से यह गद्य अधिक भिन्न नही है। गिलक्राइस्टी भाषा में शव्दावली ही नही वरन् वाक्य-विन्यास भी विदेशी है। १८२५ ई० के उदाहरण में हम यह वात नही पाते। इसी प्रकार एक और उदाहरण प्राप्त है जो कॉलेज की परिवर्तित भाषा-नीति की ओर सकेत करता है। लल्लूलाल ने अपने ग्रन्थ 'नक्लियात-इ-हिन्दी' के लिए फारसी मे प्रार्थना-पत्र लिखा था। जुलाई, १८४१ ई० में गवर्नमेंट सस्कृत कॉलेज के पडित योगध्यान मिश्र 'प्रेमसागर' का एक नया सस्करण प्रकाशित करने के लिए सरकारी सहायता चाहते थे। उनका प्रार्थना-पत्र इस प्रकार है—

---

[1] प्रोसीडिंग्ज ऑव दि कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम, १ फरवरी, १८१०, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द २, पृ०, १८२, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

[2] प्रोसीडिंग्ज ऑव दि कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम, १५ जनवरी, १८२५, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द १०, पृ० ३१, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

"स्वस्ति श्रीयुत फोर्ट उलियम कालिज के नायक सकलगुणनिधान भागवान कपतान श्री मार्सल साहब के निकट मुज दीन की प्रार्थना

मैंने सुना कि कालिज में प्रेमसागर की अल्पता है इस कारण मैं छपवाने की इच्छा करता हु और मेरे यहां छापे का यन्त्र औ उत्तम अक्षर नये(?) ढाले प्रस्तुत है इसलिए मैं चाहता हू कि जो मुझे आपकी आज्ञा होय तो मैं वही पुस्तक उत्तम विलायती कागज पर अच्छी श्याही से आपकी अनुमति के अनुसार छपवा दूं परतु वह पुस्तक चार पेंची फरमें से अनुमान २६० दो सौ साठ पृष्ठ होगी जो ६) छः रुपैयो के लेखे २०० दो सौ पुस्तक आप लेवें तो छापे के व्यय का निर्वाह हो सके॥ ॥ ॥ इति किमधिक॥ ता० १ जुलाई स० १८४१। श्री योगध्यान मिश्र॥"[1]

यह लेख उन्नीसवी शताब्दी पूर्वार्द्ध के हिन्दी गद्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण समझा जा सकता है। विलियम प्राइस दिसम्बर, १८३१ ई० में पद-त्याग कर यूरोप चले गये थे। उनके बाद हिन्दी-हिन्दुस्तानी विभाग का अध्यक्ष भी कोई नही हुआ। अतएव योगध्यान मिश्र का लेख उनसे दस वर्ष बाद का और उनकी भाषा-नीति के निश्चित परिणाम का द्योतक है।

यद्यपि विलियम प्राइस हमे कोई नया गद्य-ग्रन्थ न दे सके तो भी उनके विचारो ने कॉलेज की भाषा-नीति में जो परिवर्तन किया वह गिलक्राइस्ट के विचारो की भ्रमात्मकता सिद्ध करने एव वर्तमान भाषा-सम्बन्धी गुत्थी के सुलझाने की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

२४ जनवरी, १८५४ के सरकारी आज्ञा-पत्र के अनुसार कॉलेज तोड दिया गया।

प्रयाग]

[1] प्रोसीडिंग्ज ऑव दि कॉलेज ऑव फोर्ट विलियम, १८ नवम्बर, १८३७—३० अक्तूबर, १८४१, होम डिपार्टमेंट, मिसलेनियस, जिल्द १६, पृ० ६०५, इम्पीरियल रेकॉर्ड्स डिपार्टमेंट, नई दिल्ली।

मानव और मैं

श्री उदयशंकर भट्ट

तिमिर में, प्रलय में, न तूफान में भी—कदम ये रुके हैं, न रुक पायँगे ही।

जगत् की सुबह से चला चल पड़ा मैं,
अड़ी चोटियाँ पर न पीछे मुड़ा मैं,
न मैं रुक सका बादलों की घटा में,
चला आ रहा हूँ, न पीछे हटा मैं।
अड़ी थीं शिलाएँ, खड़ी झाड़ियाँ थीं,
नदी थी तरंगित, उधर खाड़ियाँ थीं,
उफनती हुई पार करता सरित् को,
चमकती हुई प्यार करता तड़ित् को,
गगन चूमती औ' उछलती लहर को,
लिया बाँध दिन-रात को, पल-प्रहर को,
क़दम से क़दम बाँध कर साथ मेरे,
चली मृत्यु दिन-रात, साय-सबेरे।

प्रगति रोक दे जो भला कौन ऐसा?—अड़ें विघ्न उनको निगल जायँगे ही।

जिधर मैं चला, बन गई राह मेरी,
जहाँ हाथ रक्खा, वहीं चाह मेरी,
चला आ रहा आस दिल में छिपाये,
किरण ने उतर कर नये पथ बनाये,
इधर एक मेरा बहुत बन गया जब,
अँधेरा उषा में मिला हँस गया जब,
सभी सृष्टि के साज़ मैंने सजाये,
उदधि ने गरज जीत के गीत गाये,
लिए एक कर सृष्टि-संहार आया,
लिये दूसरे सृष्टि व्यापार आया,
सचाई मिली प्यार में मोड़ डाला,
अहंकार को शक्ति से जोड़ डाला,
सभी खूँद अभिशाप आगे चला मैं,
स्वयं गर्व की आग में हूँ जला मैं।

न फिर भी हटे पैर पीछे हमारे—चले थे, चले हैं, चले जायँगे ही।

लगी आज प्रासाद में आग मेरे,
विरोधी हुए आज अनुराग मेरे,

स्वय बन्धनो में बँधा मैं व्यथा के,
बदल भी गये रूप जीवन-कथा के,
चला मैं बुरे पन्थ पर, नेक पथ पर,
प्रयोगी बना किन्तु बैठा न 'अथ' पर,
चलूंगा भले ही बुरा मार्ग ही हो,
चलूंगा भले ही भला मार्ग ही हो,
मिलेगी बुराई उसे त्याग दूंगा,
मिलेगी भलाई उसे भाग लूंगा,
कहो मत कि ठहरूँ, ठहरना नहीं है,
चलूंगा उधर देर भी हो रही है,
उछलता, उमडता तथा तोडता मैं,
नई साँस ले, स्वर नये जोडता मैं।
कि हर भूल से है जुड़ा सत्य का पथ, रुकेंगे नहीं, लक्ष्य को पायेंगे ही।

न मैं चाहता मुक्ति को प्राप्त करना,
न मैं चाहता व्यक्ति-स्वातन्त्र्य हरना,
सभी विश्व मेरा, सभी प्राण मेरे;
चलूंगा सभी विश्व को साथ घेरे,
सभी स्वप्न है देखते एक मजिल,
सभी जागरण में निहित एक ही दिल,
जहाँ फूलता विश्व खिलता रहेगा,
लहर से जहाँ शशि मचलता रहेगा,
नरक भी जहाँ स्वर्ग बनकर खिलेगा,
प्रलय में जहाँ सृष्टि का स्वर मिलेगा,
जहाँ अन्त में 'अथ' नये प्राण भर कर,
प्रगति में प्रखर सत्य का ज्ञान भर कर,
वहाँ साँस निर्माण का स्वर सुनाती,
वहाँ भूल नवलक्ष्य का पथ दिखाती।
नियत के, प्रगति के क़दम दो बढ़ाकर, किसी दिन किसी लक्ष्य को पायेंगे ही।
तिमिर में, प्रलय में, न तूफान में भी—क़दम ये रुके है, न रुक पायेंगे ही' ॥

लाहौर]

हिन्दी-गद्य-निर्माण की द्वितीय अवस्था

['हिंदी-प्रदीप' के द्वारा]

श्री सत्येन्द्र एम्० ए०

१

प० बालकृष्ण भट्ट जी ने 'हिन्दी-प्रदीप' मे भारतेन्दु जी की एक पुस्तक की आलोचना करते हुए उनकी प्रशसा मे लिखा था, "आखिर उस रसिक-शिरोमणि की चन्द्रिका है, जिस चन्द्र के प्रकाश से इस नये ढग की हिन्दी ने प्रकाश पाया है।"[1] भारतेन्दु जी ने तो यह घोषित किया ही था कि अब से हिन्दी नये ढग में ढली, उस समय के अन्य विद्वान् साहित्य-सेवी भी इस मत को मानते थे। पर यहाँ एक भ्रम को दूर रखने की आवश्यकता है। कुछ महानुभाव इन कथनो का अर्थ यह लगा सकते है कि भारतेन्दु के समय से आधुनिक हिन्दी का आरम्भ हुआ। जैसे इशाअल्लाखाँ के इस कथन का कि 'हिन्दी छुट' किसी और भाषा का पुट भी न हो, यह अर्थ लगाया जाता है कि उन्होने एक नई भाषा गढी और इसलिए उर्दू पुरानी भाषा है और हिन्दी नई अथवा लल्लूजीलाल के एक कथन का यह अर्थ लगाया जाता है कि उन्होने उर्दू भाषा के शब्दो को निकाल कर उनके स्थान पर सस्कृत के शब्दो का समावेश किया, जब कि यथार्थता इनसे बिलकुल भिन्न थी। भारतेन्दु जी ने कोई नई भाषा नही बनाई थी। इसके एक नये ढग को अपना लिया था। वह नया ढग उनका बनाया हुआ नही था, न उसे सिखाने के लिए उन्होने कोई पाठशाला ही स्थापित की थी। भारतेन्दु जी ने कोई पाठयपुस्तक भी नही बनाई थी। उनकी शैली का फिर भी बोलबाला हुआ। यथार्थत भारतेन्दु जी ने जिस शैली को अपनाया, वह लोक-प्रचलित शैली थी। इस समय तक साहित्य मे इस शैली का विशेष सम्मान न था। पहले राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने भी इसी शैली को अपनाया था। उनका 'राजा भोज का सपना' इस शैली का ही प्रमाण है और इसी शैली को भारतेन्दु जी ने साहित्य के लिए ग्राह्य बनाने के लिए अपने पत्रो को माध्यम बनाया। इसी शैली को जब राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' छोडने लगे तभी से उनसे सघर्ष भी होना आरम्भ हुआ। भारतेन्दु की शैली को 'शुद्ध हिन्दी' नाम से विभूषित अवश्य किया गया, पर इस अर्थ वाला नाम उसे दिया नही जा सकता। इसमे सब प्रकार के शब्द व्यवहृत हुए है। किसी भी शब्द से उस शब्द की जाति के कारण घृणा नही की गई। इसमें किसी तअस्सुब से काम नही लिया गया। वह एक प्रचलित और बलवती भाषा थी। अब तक वह शिष्ट जनो द्वारा त्याज्य थी। उसे ही उन्होने युग की पुकार के आधार पर उसके योग्य स्थान पर लाकर बिठा दिया। राजा शिवप्रसाद का मत भिन्न था। वे जिस वर्ग में रहते थे, उस वर्ग को अधिकारी वर्ग और शिष्ट वर्ग कहा जायगा। उस वर्ग मे राजनैतिक दृष्टि से, व्यवस्था (Administration) की दृष्टि से और निजी सुरुचि और सस्कार की दृष्टि से भाषा-सम्बन्धी एक विशेष नफासत का भाव बद्धमूल था। जबतक साक्षरता के प्रसार का प्रश्न रहा, राजा साहब लोकभाषा के पक्ष में रहे, पर जैसे ही उसे साहित्य और उच्च क्षेत्र का माध्यम बनाने का प्रश्न उठा, वे पलायन करके अपने योग्य वर्ग—शोषक वर्ग—के साथी हो गये। वे उसी पुरानी परिपाटी में चले गये, जो लोक-भाषा को 'गँवारू' कहकर घृणा और उपहास करती थी। इस समय कांग्रेस आदि लोक-तन्त्र को पोषित करने वाली सस्थाएँ बन गई थीं। लोकभाषा का प्रश्न मूलत राजनैतिक प्रश्न था। उसे राजा जैसे महानुभाव अधिक प्रोत्साहन कैसे देते ? उस लोकरुचि के अनुकूल ढली हुई लोकभाषा को भारतेन्दु जी ने ऊपर उठाया। उसकी यथास्थान प्रतिष्ठा की। उनकी भाषा यथार्थ लोकभाषा

---

[1] 'हिन्दी प्रदीप' अगस्त, १८७६, पृ० १६

हिन्दी थी । उन्होने कोई नई भाषा गढी नही थी । उन्होने यह दिशा-दर्शन किया कि सभी ने उसे स्वीकार कर लिया। उस भाषा का सबसे अधिक स्वाभाविक रूप प० प्रतापनारायण मिश्र मे मिलता है, अथवा प० बालकृष्ण भट्ट मे । प० वालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' का सम्पादन १८७८ सन् से करना आरम्भ किया था। इस समय भारतेन्दु जी जीवित थे । सर सैयद अहमदखाँ और स्वामी दयानन्द भी जीवित थे । ये सभी महानुभाव प० वालकृष्ण भट्ट के साहित्य-सेवा-काल में इह-लीला समाप्त कर गये । युग पलट गया । १९०० सन् मे 'सरस्वती' का प्रकाशन हुआ । शीघ्र ही 'द्विवेदीयुग' का आरम्भ होना प्रारम्भ हुआ । प० वालकृष्ण भट्ट का 'हिन्दीप्रदीप' भारतेन्दु काल और द्विवेदी काल की शृखला के वीच की कडी है ।

: २ :

भाषा की दृष्टि से हमें स्पष्ट ही १८७८ या ७९ के अको की अपेक्षा १९०६-७-८ के अको मे वहुत अन्तर प्रतीत होता है ।

सितम्वर १८७८ के 'प्रदीप' मे हमें प्राय यह भाषा मिलती है—

१. "हम लोगो का मुँह बन्द करने वाला प्रेस ऐक्ट के मुक़ाबिले में जो लडाई लडी गई उसमें सुर्ख़रू हो फतहआबी का मुख देखना यद्यपि हमें मयस्सर न हुआ पर एतने से हमें शिकस्तह दिल न होना चाहिए हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि यह पहिला हमारा प्रयास सर्वथा निष्फल नहीं हुआ क्योकि इसमें अनेक कार्यसिद्धि के चिह्न देख पडते हैं" (पृ० २, अक १)

इसी काल में ऐसे भी वाक्य मिलेंगे—

२ "ऐसी उदार गवर्नमेण्ट जो अपने को प्रसिद्ध किये है कि हम न्याय का वाना बांधे है वही जब अन्याय करने पर कमर कस लिया"

इनके अध्ययन से कुछ वातें स्पष्ट प्रकट होती है । इस काल का लेखक विराम चिह्नो से अपरिचित है । उसकी रचनाओ मे एक साथ ही हिन्दी की दोनो शैलियो का सयोजन मिलता है । अवतरण का पूर्वार्द्ध जिस शैली मे है, उसका ही परार्द्ध दूसरी शैली में है। कुछ शव्दो का उच्चारण अद्भुत है। वाक्य मे व्याकरण का कोई स्थिर नियम काम मे नही लाया गया । मुहाविरो की ओर जहाँ आकर्पण है, वहाँ भाषा में ढिलाई मिलती है। जहाँ मुहाविरो की ओर आकर्षण नही, वहाँ चुस्ती है ।

अव १९०८ के फरवरी अक में से एक उद्धरण लीजिए । तीस वर्ष वाद का—

"अस्तु अव यहाँ पर विचार यह है कि वह अपने मन से कोई काम न कर गुजरे जब तक-सब की राय न ले ले और सवो का मन न टटोल ले । दूसरे उसमें शान्ति और गमख़ोरी की बडी जरूरत है । जिस काम के बनने पर उसका लक्ष्य है उस पर नजर भिडाये रहें दल में कुछ लोग ऐसे है जो उसके लक्ष्य के बडे विरोधी हैं, और वे हर तरह पर उस काम को बिगाडा चाहते है। अगुआ को ऐसी २ बात कहेंगे और खार दिलायेंगे कि वह उधर से मुँह मोड वैठे और क्रोध में आप सर्वथा निरस्त हो जाय ।" (पृ० ८)

ऊपर के उद्धरणो से तुलना करने पर अन्तर स्पष्ट हो जाता है । भाषा वह रूप ग्रहण करने लगी है, जिसमें विशेष सुरुचि और परिमार्जन का पुट लगा देने से वह 'द्विवेदी-काल' की वन जाय। यथार्थता इस समय से द्विवेदी-काल को आरम्भ होने के लिए केवल् दस-पन्द्रह वर्ष ही रह गये थे ।

'हिन्दी-प्रदीप' ही वह अकेला पत्र है, जो भारतेन्दु के समय से लेकर द्विवेदी-काल तक आया और जो आदि से अन्त तक एक व्यक्ति की रीति-नीति, शासन तथा सम्पादन मे चला । १९०८ में यह डेढ वर्ष के लिए बन्द हो गया था । पुन प्रकाशन पर भट्ट जी ने यह टिप्पणी दी थी—

"सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान सच्चिदानन्द परमात्मा को कोटिश धन्यवाद है कि विघ्न बाहुल्य को

पार कर प्रदीप दीपमालिका की दीपावली के साथ आज फिर जगमगा उठा प्यारे पाठक ! आपसे विछुर इस डेढ़ वर्ष की अपनी ऊँची-नीची दशा की कहानी सुनाय हम आपके प्रेमपरिप्लुत चित्त को नहीं दुखाया चाहते । बस इतने ही से आप हमारे निकृष्ट जीवनयात्रा की टटोल कर सकते हैं कि देशसेवा मातृभूमि तथा मातृभाषा का प्रेम बडी कठिन तपस्या है ।" (जिल्द ३१, स० १, पृ० १–२)

इसमें सन्देह नही कि इसकी यह दीर्घ आयु प० बालकृष्ण भट्ट की सम्पादन-कुशलता के कारण थी । साथ ही उनकी कष्ट-सहिष्णु और धीर-प्रवृत्ति भी इसमें सहायक थी, क्योकि ग्राहको की 'नादेहन्दगी' का रोना 'ब्राह्मण' पत्र की भाँति 'हिन्दी-प्रदीप' को भी रोना पडता रहा । फिर भी यह पत्र खूब चला, ऐसा कि जैसा उस काल का कोई दूसरा पत्र न चला ।

जब हम उन कारणो पर विचार करते है, जिनसे 'हिन्दी-प्रदीप' इतनी सेवा करने में सफल हो सका तो अन्य कारणो के साथ उसकी भाषा पर दृष्टि जाती है । उन्होने अपनी भाषा को उस समय के दो वर्गों के मध्य की भाषा रक्खा । एक नागरिक—शिष्ट—पढा-लिखा वर्ग था, दूसरा ग्रामीण—साधारण—जिसे पढे-लिखे होने का गर्व नही था, यो पढा-लिखा साधारणत वह भी था । शिष्ट वर्ग या तो सस्कृत का पडित था, या फारसी-उर्दू का कामिल । जैसा ऊपर दिये गये उदाहरणो से विदित होता है, इन्होने 'हिन्दी-प्रदीप' मे आवश्यकतानुसार दोनो वर्गों की भाषा-शैलियो को अपनाया । फिर भी इनकी तथा भारतेन्दु जी की भाषा मे कोई विशेष अन्तर नही था । ये उसी हिन्दी का उपयोग कर रहे थे, जिसे भारतेन्दु जी ने नये रूप में ढाला था और जिसका इन्हे पूरा ज्ञान था । इन्होने एक वार नही, कई वार 'हिन्दी' भाषा के सम्बन्ध मे और उसकी दशा के सम्बन्ध मे टिप्पणियाँ लिखी है । इस समस्त चैतन्य के अतिरिक्त भी वे कभी अनुदार नही हुए । उनकी भाषा यथार्थत सार्वजनीन भाषा विदित होती है, जिसमे किसी भी प्रकार के शब्दो के लिए हिचकिचाहट या सकोच नही । उन्होने अप्रैल, १८८२ के अक मे "पश्चिमोत्तर और अौध में हिन्दी की हीन दशा" शीर्षक से जो टिप्पणी दी उसकी भाषा और उसके अर्थ दोनो ही दृष्टि मे लाने योग्य है—

"इस बात को सब लोग मानते है कि हिन्दुस्तान में मुसल्मानो की अपेक्षा हिन्दू कहीं ज्यादा है और मुसल्मानों में थोडे से शहर के रहनेवाले पढे-लिखे को छोड बाक़ी सब मुसल्मान हिन्दी ही वोलते हैं वरन दिहातो में बहुत से मुसल्मान ऐसे मिलते है जो उर्दू-फारसी एक अक्षर नहीं जानते । तौ भी जनता कभी रोके रुक सकती है किसके-किसके गले में डाइरेक्टर साहब अँगुली देंगे कि तुम लोग अपनी मातृ-भाषा हिन्दी न बोलो । "

लेखक भली प्रकार जानता है कि हिन्दी का विरोध केवल शहर के ही पढे-लिखो के द्वारा है। उसकी भाषा इसी-लिए गाँवो की ओर झुकी हुई है और आवश्यकतानुसार उसने उर्दू-फारसी से भी शब्द लेने में कही सकोच नही किया।

इसमे सन्देह नही कि इनके समय की भाषा में बहुत परिवर्तन हो गया है । आज इनके समय के अनेको शब्द प्रयोग के बाहर हो गये है, मुहाविरे तो जैसे भाषा में से उठ ही गए है । इनकी भाषा की कसौटी और स्रोत साधारण जनता थी, विशेषत ग्रामीण ।

यहाँ हम कुछ ऐसे शब्द देते है और मुहाविरे भी, जो आज काम में नही आते, प्रयोग से वाहर हो गये है—

बाना-बाँधना, छीन-दीन, ऐकमत्य, यावत, वगैत, करमफुटी, गँजिया की गँजिया लुढ़क जाय, लेखा डेहुडा, बूडा आना, जथा बाँधकर, पेट सुतुही सा है, यहीं (मैं ही के लिए), खज्ज अखज्ज, छलकमियो, लोक लेते, गवडाकर, खपगो, शेर की भुगत, पत, कुकुरिहाव, आशय (निबन्ध के लिए), कचरभोग, सदुपदेशकी, ककेदराजी, झाँभट, एतनी, केतनी, जेतनी, हेलवाई ।

इन कुछ थोडे शब्दो का सकलन अनायास ही किया है, अन्यथा तो पूरा एक कोश छाँटा जा सकता है । ऐसे शब्दो को छाँटने की आवश्यकता भी है, पर अपना प्रकृत उद्देश्य कुछ और है । इन शब्दो पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण की बात तो दूर, शब्दो के उच्चारण का भी कोई आदर्श (Standard) नियम नही

स्थापित हो पाया था। सभी शब्द साधारण बोल-चाल के उच्चारण के अनुकरण पर लिखे गये हैं। उपरोक्त शब्दो में से मैं समझता हूँ कि सब नही तो अधिकाश ऐसे होगे, जो आज भी ग्रामीण वोलियो में प्रयोग में आते होगे। साहित्य ने उन्हें परिमार्जन की दृष्टि से और ग्राम्यत्व दोष से बचने के लिए त्याज्य ठहरा दिया है। भारतेन्दु युग में ऐसे शतश शब्द होगे, जो आज भूले जा चुके है।

'हिन्दी-प्रदीप' में, जैसा ऊपर कहा जा-चुका है, तीन शैलियाँ शब्दप्रयोग की दृष्टि से काम मे लाई गई थी और वे तीनो प्राय साथ मिलती चली जाती हैं। यो उनमें कोई नियम काम करता हुआ नही विदित होता, फिर भी जब वे साधारण टिप्पणियाँ लिखते हो तो वे ग्राम्यत्व की ओर झुकाव के साथ साधारण हिन्दी-सस्कृत-फारसी-उर्दू के शब्दो का प्रयोग करते चलते है। जब वे कोई विद्वत्ता की बात कहते होते हैं तो सस्कृत के शब्दो का प्रयोग बहुल हो उठता है और जब सरकारी व्यक्तियो की ओर दृष्टि डालकर कुछ लिखते है तो उर्दू-फारसी के शब्दो का पुट बढ जाता हैं। इससे भी विशेष नियम यह मिलता है कि जब लेखक मौज में आकर लिखता है तो शब्द की रगीनी पर उसकी दृष्टि रहती है और वह सभी ओर से विविध रग के शब्दो, मुहाविरो, कहावतो और उद्धरणो को लेकर अपने को सजा देता है। जब गम्भीर है तो सस्कृत और-अग्रेजी का पल्ला पकड लेता है।

: ३ :

'हिन्दी-प्रदीप' के मुखपृष्ठ पर यह सूचना रहती थी—

"विद्या, नाटक, समाचारावली, इतिहास, परिहास, साहित्य, दर्शन, राजसम्बन्धी इत्यादि के विषय में यो यह मासिक पत्रिका विविध विषय विभूपित थी। प्रत्येक अक मे समाचार और परिहास तो प्राय आवश्यक से ही थे। राज-सम्बन्धी आलोचना भी अवश्य ही रहती थी। नाटक के एक-दो अक भी रहते थे। कुछ काव्य भी रहता था। इसके अतिरिक्त कभी कोई विज्ञान की चर्चा, कभी आयुर्वेद या स्वास्थ्य विपयक, कभी धर्म या दर्शन-सम्बन्धी कभी इतिहास आदि सम्बन्धी निबन्ध रहते थे।

समाचारो के लिए एक या दो कालम रहते थे, इनमें समाचारो के साथ कभी-कभी सम्पादक मनोरजक टिप्पणी भी दे देता था। उदाहरणार्थ प्रयाग मे दिवाली खूब मनाई जा रही है। इस समाचार को उसने यो दिया है—

> "पुलिस इस्पेक्टर की कृपा से दिवाली यहाँ पन्दरहियो के पहिले से शुरू हो गई थी पर अब तो खूब ही गली-गली जुआ की धूम मची है, खैर लक्ष्मी तो रही न गई जो दीपमालिका कर महालक्ष्मी पूजनोत्सव हम लोग करते तो पूजनोत्साह कर लक्ष्मी की बहिन दरिद्रा ही का आवाहन सही। (पृ० १६, नवम्बर १८७८)

ये समाचार कभी-कभी दूसरी पत्रिकाओ से उद्धृत करके भी दे दिये जाते थे, साथ मे उसका उल्लेख भी रहता था। इन अन्य पत्रो मे भी यही 'प्रदीप' जैसी शैली थी। समाचार आलोचना से परिवेष्टित रहता था—

> "अँगरेजो के चरण-कमल जहाँ ही पधारेंगे वहाँ ही टैक्स की धूम मच जायगी। सइप्रेस अभी थोडे ही दिन इन्हें लिये हुआ पर टैक्स की असन्तोष ध्वनि सुन पडती है; टैक्स इनके जन्म का साथी है। वि० व०"

किन्तु आलोचना करने की ओर अभिरुचि इतनी विशेप थी कि इस प्रकार समाचारो का सग्रह देना नियमित रूप से नही चल सकता था। पत्रिका में अधिकाश निबन्ध किसी-न-किसी विशेष घटना को लक्ष्य करके ही लिखा जाता था। इस काल के प्राय सभी निबन्धो में समय की बडी प्रबल छाप रहती थी। इस प्रकार सम्पादक अथवा लेखक के विचारो से आवृत होकर छोटे-छोटे लेखो का रूप धारण किये हुए समाचार पत्रिका में यत्र-तत्र बिखरे मिलेंगे। शीर्षक देखकर आप जिसे कोई लेख या निबन्ध समझेंगे, उसमें आगे पढने पर आपको किसी घटना की आलोचना मिलेगी, अथवा किसी वर्तमान तात्कालिक प्रवृत्ति पर छींटे। आपने शीर्षक देखा 'Fear and Respect' "भय और समुचितादर"—सोचा इस निबन्ध में भय और आदर पर दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक विचार सामग्री उपलब्ध होगी। आरभ में कुछ ऐसी सामग्री मिली भी। आपने पढ़ा—

"भय और समुचित आदर ये दोनो एक दूसरे से पृथक् है। भय का अकुर दिल की कमजोरी से फवकता है, जब हम दूसरे के रोब में आय भारे डर के हाँ में हाँ मिलावें और जी से यही समझें कि हौआ है काट ही लेगा इससे इसकी भरपूर पूजा-सम्मान करते जायें तभी भला है तो यह समुचित आदर की हद्द के वाहर निकल जाना हुआ, " (मई १८८०, पृ० ४)

पर आगे बढकर सिकन्दर-पोरस का उल्लेख कर लेखक जा पहुँचा "साहवान अंगरेज़ और हमारे अमीर और रियासतदारों की मुलाक़ात" पर। पर क्या मजाल जो चुहल और साहित्य-स्पर्श छूट जाय। "घडी-घडी घडियाल पुकारै, कौन घडी धौं कैसी आवै", यह शीर्षक है। इसमे समय की परिवर्तन-शीलता पर कोई विशेष व्यापक निवन्ध नही, लार्ड लिटन के अनायास ही पदत्याग करने की घटना का मनोरजक वर्णन है—

"हमारे श्रीमान लार्ड लिटन कहाँ इस विचार में थे कि शिमला की शीतल वायु में चलकर स्वर्ग-सुख का अनुभव करेंगे और गवर्नरी के दो एक वर्ष जो वाक़ी रह गये हैं उनमें अपने दीक्षा-गुरु डिसरेली के वताये मन्त्र को सिद्ध कर जहाँ तक हो सकेगा दो एक और नये ऐक्ट पास कर निर्जीव हिन्दुस्तान की रही-सही कमर तोड-फोड तब विलायत जायँगे कहाँ एक वारगी लिवरल लोगो के विजय का ऐसा तार आ गिरा जिसने सब कुतार कर दिया " (मई १८८०, पृ० १६)

इस प्रकार एक शीर्षक है 'एक अनोखे ढग की तहरीर उक्लैदिस' यह एक परिहास है, जिसे आज कल 'पैरोडी' कहा जाता है। उक्लैदिस, ज्यामेट्री की पैरोडी पर सरकार की नौकरी-सम्वन्धी नीति का परिहास किया गया है। आज भी इससे मनोरजन हो सकता है—

"मिस्टर एडिटर रामराम प्रोफेसर उक्लैदिस के नगरदादा ने सातएँ सरग से यह अनोखे ढङ्ग की युक्लिद तुम्हारे पास भेजा है इसे अपने पत्र में स्थान दें आशा है ससार भर को इसके प्रचार से चिरवाधित कीजिएगा।

परिभाषा सूत्र

१ गवर्नमेंट को इख़तियार है कि सरकारी नौकरी की सीमा जहाँ तक चाहे वहाँ तक महदूद कर सकती है॥

२ उस सीमा का एक छोर जिसका नाम सिविलियन है जहाँ तक चाहो बढ भी जाय तो कुछ चिन्ता नहीं पर दूसरी सीमा सरकारी हिन्दुस्तानी नौकर वाली केवल २०० रुपये के भीतर रहे और उन्ही के वास्ते रिसर्वड की गई जो अनकवेनेण्टेड केरानी या यूरेशियन है॥

३ उस सीमाबद्ध रेखा पर किसी नुक़ते से कोई दायरा हिन्दुस्तानियो के लिए गवर्नमेण्ट सरवेंट का नहीं खींचा जा सकता

पहले अध्याय का ४९वाँ साध्य

एक ऐसी रेखा जिसका एक छोर सीमाबद्ध अर्थात् महदूद नहीं किया गया और दूसरे के लिए भाँत-भाँत की क़ैद है उस पर जो लम्ब खींचा जायगा वह सम विषम दो कोण पैदा करेगा॥ (मार्च १८८०, पृ० २३)

'हिन्दी-प्रदीप' की प्रधान प्रवृत्ति राजनीति की ओर अथवा राजकीय कार्यों की आलोचना की ओर थी। वह उस काल की जन-जाग्रति का प्रवल समर्थक था और सरकारी कामो की पर्याप्त उद्दड और तीखी समालोचना करता था। किन्तु उसकी शैली चटपटी और अन्योक्ति जैसी थी। किसी अन्य विषय की वातें करते-करते और साथ ही इधर-उधर के विविध वृत्त देकर उनके साथ ही उदाहरणार्थ अथवा प्रसगानुकूल राजकीय कृत्य का भी उल्लेख कर दिया जाता था।

इस काल का कवि भी अपने समय को नही भूले हुए था। अनेको कविताएँ तत्कालीन स्थिति की आलोचना करते हुए लिखी गई थी। एक होली यो है—

वरस यहो बीत चल्यो री कहो सबै काहू लख्यो री ॥
आवत प्रथम लख्यो रह्यो जैसो तैसोइ जातहु छोरी।
वरस कितेकन बीतत ऐसे कावुल युध न मिटो री।
भलो सुख लिटन दयो री ॥१॥
अबहिं सुनै अफगान शान्त सब सब कछु ठीक भयो री।
काल्हहिं उठि सुनियत लरिबे को फिरै सबै दल जोरी।
कियो इमि हानि न थोरी ॥२॥
फेरि पालियामेण्ट के दल को नव आह्वान उठ्यो री।
कनसर्वेटिव भये पद हीना लिबरल स्वत्व लह्यो री।
अनन्द सुनि सबन कियो री ॥३॥
पलटन दल मान्यो हम सबहू भारत ग्रह पलटो री।
आशालता डहडह होवै लगीं हिय अति हरख बढ़्यो री।
मनहुँ धन खोयो मिल्यो री ॥४॥
जिन ठान्यो कावुल युध, प्रेस अरु आर्मसैक्ट गढ्यो री।
तीनहिं वरस माँहि भारत को जिन दियो क्लेश करोरी।
ताप बढ़ावन लिटन लिटन सोई इतसो दूर वह्यो री।
ता सम नर फिर नहीं जगदीश्वर आवै भारत ओरी।
यहै सबै मिल विनयो री ॥५॥

इन सब उद्धरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक की समस्त स्फूर्ति समय के प्रवाह से प्राप्त होती थी। साधारणत वह प्रगति का ही पक्षपाती था। उसकी शैली में ताज़गी थी और एक प्रवाह था। साथ ही वह अनगढपन था, जो जीवन की स्वाभाविकता का पर्याय माना जाना चाहिए। चुहल और मनोरजकता भी इस साहित्य का अश थी। उसमें एक तो मौलिक कल्पना का प्रभूत प्रदर्शन मिलता है, विनोद के ऐसे-ऐसे विविध और नवीन रूप प्रस्तुत किये गये है कि वे पद-पद पर जीवन में अनुभूत यथार्थ परिहास की प्रतिकृतियाँ प्रतीत होती हैं। युग की सजीवता का इतना प्रभाव था कि प० बालकृष्ण भट्ट के पाडित्य पर भी उसने अपनी पूरी छाप जमा ली है।

उपरोक्त शैलियो के अतिरिक्त दो शैलियाँ और प्रमुख प्रतीत होती है। एक तो किसी विशेष वर्णन के लिए अलकार या रूपको का सहारा। उदाहरण के लिए "एक अनोखे पुत्र का भावी जन्म" में म्युनिसिपालिटी के गर्भिणी होने और 'हाउस टैक्स' नामक पुत्र को जन्म देने की भविष्यवाणी की गई है। साथ ही उसकी आलोचना भी है। इमी प्रकार एक चक्र बनाकर भारत के विविध अधिकारी का रूप-ज्ञान कराया गया है—

"भारतीय महा नवग्रह दशा चक्रम"

ग्रह	नाम ग्रह	आयुध
सूर्य	श्रीमान महामहिम लार्ड रिपन	न्याय सत्य दया प्रजाहित पर इल्वर्ट बिल के आन्दोलन में ऐंग्लो इडियन ग्रहण के समय सब गोठिल हो गए।
चन्द्रमा	मिस्टर ह्यूम	न्याय सत्य अपक्षपात

ग्रह	नाम ग्रह	आयुध
मङ्गल	महा अमगल की खान सकल गुणनिधान मेडराज	खुशामद स्वार्थ साधन
बुध	विविध राजनीति विभूषित परम निर्दूषित सैयद अहमदखाँ बहादुर	उर्दू की जड पुष्ट करने वाली उक्ति युक्ति काट छाँट
गुरु वा बृहस्पति	साक्षात् वाचस्पति स्वरूप—शिक्षा कमिशन के गुरुघटाल–हिन्दी के परम शत्रु–हटर साहब	चारो वेद अठारो पुराण सारा कोरान सारे साएन्स तथा अड बड सड
शुक्र	मनमानी व्यवस्था देने वाले काशी के पडितो में मुखिया जो कोई हो	अनर्गल विद्या
शनैश्चर	सर ग्रैंड डफ मद्रास के गवर्नर जो सेलम के निरपराधी रईसो पर जन्म भर के लिए आए और उन्हे काले पानी के सप्त द्वीप दिखाए	धीग धींगा
राहु	महामान्य रियर्स टाम्सन ल० ग० बगाल	अन्याय-अविद्या-जलन-कुढन
केतु	टाम्सन के सहयोगी महा ऐंग्लो इडियन	इल्बर्ट बिल में विरोध के हेतु पायोनियर इगलिश मैन आदि अँगरेजी अखबार

ऐसी रचनाएँ आज के कार्टूनो का काम करती प्रतीत होती है। दूसरी शैली है नाटकीय सवादशीलता। मौज में लिखे गये इन निबन्धो में लेखक जैसे दो व्यक्तियो की उपस्थिति की कल्पना कर लेता है। कही-कही इन दो व्यक्तियो में एक तो लेखक और दूसरा पाठक माना जा सकता है। कही-कही तो इन दोनो का पृथकत्व वह ऐसे शब्दो को देकर प्रकट कर देता है जैसे कि "आप कहेंगे", कही केवल वर्णनशैली से ही यह अन्तर प्रकट होता है। 'पञ्च के पञ्च सरपञ्च' मे ऐसी ही शैली मे दो कल्पितपात्र है।

"ओ अलबेले यहाँ अकेले बैठा क्या मक्खियाँ मार रहा है जरा मेले-ठेले की भी होश रक्खा कर, चल देख आवें मेला है झमेला है। शिवकोटी का मेला है कुछ नशापानी न किया हो तो ले यह एक बोतल रम आँख मीच ढाल जा, वाह गुरु क्यों न अब बन गया सब बहार नजर पडा बिना इसके कहाँ दिल लगी, देख सम्हला रह कहीं पाँव लडखडाकर कीचडो में न फिसल पडे।"

इन सबके साथ यह पत्रिका चुटकलो, अद्भुत शब्द सयोजनो, अनोखी व्याख्याओ, चुभती परिहासमयी परिभाषाओ, ज्ञान और चुहल के सक्षिप्त सवादो, गद्य-पद्य के चुटीले परिहासो-पैरोडियो से युक्त मिलेगी। क्रमश प्रकाशित होने वाले उपन्यास तथा नाटक भी प्राय नियमत रहते थे। इस प्रकार विनोद-हास्य-परिहास के क्षेत्र में तो इस युग के इन पत्रो से आज के पत्रकार भी कुछ सीख सकते है।

: ४ :

इस काल की सम्पादकीय नीति विशेषत 'हिन्दी-प्रदीप' की बहुत ही श्लाघ्य मानी जानी चाहिए। सम्पादक ने सम्पादकीय ईमानदारी से कही हाथ नही धोया। सत्य को डके की चोट पर कहा है, पर विपक्षी के प्रति भी घृणा का भाव प्रकट नही किया, दुख भलेही प्रकट किया हो। पत्रो में उस समय भारतीय महत्त्वाकाक्षाओ और प्रगति का विरोधी मुख्यत 'पायोनियर' था। एक बार नही, अनेक बार उसका उल्लेख हुआ है, पर कही उसमें रोष अथवा घृणा नही। केवल एक आलोचना दृष्टि अथवा साधारण तथ्य कथन मिलेगा। पुरुषो में जन-हित विरोधी राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' थे। इनका भी उल्लेख कई स्थानो पर कई प्रकार से हुआ है। यहाँ भी परिहास और फब्तियाँ तथा आलोचना तो मिलेंगी, पर मालिन्य अथवा द्वेष नही दीखेगा। 'किम्वदन्ती' शीर्षक से १८८३ जून के अक में यह टिप्पणी है—

"किम्वदन्ती है कि राजा शिवप्रसाद ने कौंसिल की मेम्बरी से इसतीफा दिया था पर लार्ड रिपन ने मंजूर नहीं किया; हम पूरा विश्वास करते हैं कि यह भी गुरुओं की गुरुआई है समाज में अपना गौरव बनाये रखने को खासकर बनारस के लोगों के बीच राजा ही ने शायद इस अफवाह को उड़ा दिया है नहीं तो लार्ड रिपन साहब को ऐसा क्या मीठा है कि राजा भागते फिरते और लार्ड रिपन इन्हें धाय २ के पकड़ते। ठौर २ पुतला जलाया गया इन मुलाहिजे से रिपन साहब क्या इन्हें नहीं छोड़ा चाहते या हाँ में हाँ मिलाने इन्हें बहुत अच्छा आता है इससे इन पर उक्त महोदय बहुत प्रसन्न हैं या कि घर २ और आदिमी २ में इनकी अकीर्ति की कालिमा छा रही इस अनुरोधन से इन्हें रखना ही उचित समझते हैं या कि जन्म पर्यन्त शरिस्ते तालीम रहकर सिवा मियाँगीरी के दूसरे काम के कभी डाँड़े नहीं गए इससे राजनीति का मर्म समझने वाला इस पश्चिमोत्तर और औध में दूसरा कोई पैदा ही नहीं हुआ इसलिए लाचार हो इन पर हमारे वायसराय साहब की इन पर बड़ा आग्रह है जो हो बात निरी बेबुनियाद अफवाह मालूम होती है।" (पृ० ५-६)

धार्मिक क्षेत्र में वे सुधारों के पक्षपाती थे, पर अकारण ही प्रत्येक प्रथा और आचरण का विरोध उन्हें सह्य नहीं था। यों उन्होंने जाति-पाँति का पक्ष लिया है और कितने ही स्थानों पर यह बताया है कि 'जाति-पाँति' स्वयं किसी उन्नति में बाधक नहीं, फिर भी साथ-साथ भोजन करने का पक्ष पोषित किया है। आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों से वे पूर्णरूपेण सहमत नहीं हो पाये, फिर भी बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह का विरोध किया है और स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की है। नई रोशनी को विष के रूप में उन्होंने माना है, पर इसलिए नहीं कि वे भारत की तमोवृत कुरीतियों को बनाये रखना चाहते थे। नई रोशनी की सबसे अधिक खटकने वाली बातें उन्हें एक तो भक्ष्य-अभक्ष्य का ध्यान रखना, दूसरे शब्दों में माँस-मदिरा का चस्का और दूसरी स्त्री-पुरुषों का स्वेच्छाचार, तीसरी नास्तिकता लगती थी। शोषक वर्ग और शासक वर्ग के प्रति नम्र रहते हुए भी कठोर आलोचना करते, उन पर फ़ब्तियाँ कसने में 'हिन्दी-प्रदीप' के पृष्ठ चूकते न थे। एक स्थान पर मारवाड़ी को खटमल कल्पित किया है। वल्लभ-सम्प्रदाय पर छींटा कसने में कभी कसर नहीं छोड़ी। मथुरिया चौबों को भी और तीरथ के पंडों को भी क्षमा नहीं किया गया। यद्यपि आस्तिकता और धर्म में विश्वास का पोषण उन्होंने बार-बार किया है, पर इनके प्रबल उद्गारों में वे स्थल हैं जहाँ उन्होंने धर्म-सम्प्रदायों और मजहबों को घोर अप्रगतिगामी बताया है। उन्होंने यद्यपि यह अनुभव किया था कि मुसलमान और सरकार हिन्दुओं पर सब प्रकार से अत्याचार कर रही है, इस सम्बन्ध में यथावसर सटिप्पण घटनाओं का भी उल्लेख करने में कभी कमी नहीं की, फिर भी 'हिन्दी-प्रदीप' प्रधानत हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रबल पोषक रहा है। "ह्वैहै वही जो राम रच राखा" में उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"आगरे में हिन्दू मुसलमानों की आपस में लड़ाई भी वही बात है नहीं तो क्या अब यह होना चाहिए कि सरीहन देख रहे हैं कि आपस की फूट ही ने एक तीसरे को हमारे मानमर्दन के लिए सात समुद्र पार से लाय हमारे ऊपर खड़ा कर दिया चाहिए अब भी साहुत से चल आपस में मेल रक्खें हम दोनों का जो इसी भूमि के उदर से जन्मे हैं एक प्रकार का समुदाय हो जाने से ताकतें और बढ़ें सो न होकर व्यर्थ को मजहबी झगड़ों के पीछे आपस ही में कटे मरते हैं यह ईश्वर की इच्छा नहीं तो क्या है? हमने बहुत दिनों तक इस बेहूदगी के पीछे सिर पचाया और अनेक यत्न किया कि अपने भाइयों को समझाय-बुझाय उन्हें राह लगाएँ आदि"

(नवम्बर १८८३, पृ० ५-६)

'हिन्दी-प्रदीप' के पृष्ठों को उलटने से विदित हो जाता है कि उसने सदा न्याय का पक्ष ग्रहण किया है और अनेकों सघर्षों में होकर वह गया है, पर अपनी सतुलित लेखनी को कहीं कलंकित नहीं होने दिया है। 'हिन्दी-प्रदीप' ने इस प्रकार हिन्दी-गद्य को भारतेन्दु से लेकर 'द्विवेदी-युग' तक पहुँचा दिया।

पृथ्वीराजरासो की विविध वाचनाएं

श्री मूलराज जैन एम० ए०, एल-एल० बी०

अब तक पृथ्वीराजरासो की निम्नलिखित प्रतियो[1] के अस्तित्व का पता लग सका है—

(१) बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी में आठ प्रतियाँ।
(२) बीकानेर बृहद्ज्ञान भडार में एक प्रति।
(३) बीकानेर के श्री अगरचन्द नाहटा की एक प्रति।
(४) पजाब युनिवर्सिटी लाइब्रेरी, लाहौर में चार प्रतियाँ।
(५) भडारकर ओरियटल रिसर्च इन्स्टिटयूट, पूना मे दो प्रतियाँ।
(६) रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई शाखा मे तीन प्रतियाँ।
(७) जोधपुर सुमेर लाइब्रेरी मे दो प्रतियाँ।
(८) उदयपुर विक्टोरिया हाल लाइब्रेरी मे एक प्रति।
(९) आगरा कालिज, आगरा मे चार भागो मे एक प्रति।
(१०) कलकत्ता निवासी स्वर्गीय पूर्णचन्द नाहर की एक प्रति।
(११) रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बगाल में कुछ प्रतियाँ।
(१२) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की कुछ प्रतियाँ।
(१३) किशनगढ स्टेट लाइब्रेरी की कुछ प्रतियाँ।
(१४) अलवर लाइब्रेरी की प्रतियाँ।
(१५) चन्द के वशधर नेनूराम की दो प्रतियाँ।
(१६) यूरोप के भिन्न-भिन्न पुस्तकालयो में कतिपय प्रतियाँ।

इन प्रतियो के निरीक्षण से ज्ञात होता है कि पृथ्वीराजरासो का पाठ हम तक मुख्यतया तीन वाचनाओ में पहुँचा है—(१) बृहद वाचना, (२) मध्यम वाचना और (३) लघु वाचना। बृहद्वाचना[2] मे ६४ से ६९ तक समय[3] और सोलह-सत्रह सहस्र पद्य है। इसका परिमाण एक लाख श्लोक माना गया है, किन्तु वास्तव मे है पैंतीस हज़ार श्लोक के लगभग। यही वह वाचना है, जिसे नागरी प्रचारिणीसभा, काशी ने सम्पूर्णतया और कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी आँव बगाल ने आशिक रूप में मुद्रित किया था। विद्वानो ने रासो-सम्बन्धी अपना ऊहापोह प्राय इसी वाचना के आधार पर किया है।

---

[1] इनमें से कुछ का विवरणात्मक परिचय छप चुका है। देखिए हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज की वार्षिक रिपोर्टें, टेसिटरी डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग आँव बार्डिक एड हिस्टौरिकल मैनस्क्रिप्ट्स, भाग २ (१), 'राजस्थानी' १९३९ में श्री अगरचन्द नाहटा का लेख; नागरी प्रचारिणी पत्रिका स० १९९६ में श्री दशरथ शर्मा का लेख आदि।

[2] बृहद्वाचना की प्रतियाँ यूरोप में तथा बम्बई, कलकत्ता, काशी, आगरा, बीकानेर आदि स्थानो में पर्याप्त सख्या में विद्यमान है।

[3] रासो में 'समय' शब्द का प्रयोग सर्ग, अध्याय या खड के अर्थ में हुआ है।

मध्यम वाचना[1] मे ४० से ४७ तक समय हैं और इसका परिमाण दस-बारह सहस्र श्लोक तक का है। इसके पहले दो समयो का सम्पादन महामहोपाध्याय प० मथुराप्रसाद दीक्षित ने लाहौर के ओरियंटल कालिज मेगज़ीन (हिन्दी विभाग)[2] में किया है। यह विद्वान् इसे असली रासो मानते हैं।

लघु वाचना[3] में १९ समय और दो सहस्र के लगभग पद्य हैं। इसका परिमाण केवल तीन हज़ार पाँच सौ श्लोक के क़रीब ही बैठता है। इसका पता टेसिटरी ने लगाया था, जिन्होंने सन् १९१३ में सर्वप्रथम रासो की दो वाचनाओं की सम्भावना की ओर संकेत किया था।[4] किन्तु विद्वानो ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। एक-दो प्रतियो में इन वाचनाओ में से दो या तीनो ही के पाठ का सम्मिश्रण भी दृष्टिगोचर होता है, जैसे पूना की प्रति न० १४५५। १८८७-९१ में।[5]

वाचनाओं का विषय-विश्लेषण—रासो की लघु वाचना[6] में निम्नलिखित घटनाएँ वर्णित हैं—

(१) दशावतार-वर्णन (कृष्णचरित विशेष विस्तृत है)।

(२) चौहान वंश का इतिहास और पृथ्वीराज का जन्म।

(३) पृथ्वीराज का धन प्राप्त करना और दिल्ली गोद जाना।

(४) संयोगिता का जन्म, विनय—मंगल पाठ, पृथ्वीराज द्वारा जयचन्द के यज्ञ का विध्वस तथा संयोगिता-अपहरण और दम्पति-विलास।

(५) पाटण के भोला भीम पर पृथ्वीराज की विजय।

(६) कैमास-वध।

(७) जैतखभ-आरोपण और वीर का ग़ोरी के हाथो पकड़ जाना।

(८) पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन ग़ोरी के युद्ध—

  (क) प्रथम युद्ध जब पृथ्वीराज भीम से लड रहा था।

  (ख) द्वितीय युद्ध जिसमें शहाबुद्दीन वीर के हाथो बन्दी हुआ।

  (ग) अन्तिम युद्ध जिसमें पृथ्वीराज स्वयं बन्दी हुआ।

(९) बाण-वेध।

मध्यम वाचना में लघु वाचना का सारा विषय कुछ विस्तृत रूप में मिलता है और इसके अतिरिक्त कई अन्य घटनाओ का वर्णन भी मिलता है, जैसे अग्निकुड से चौहान वंश की उत्पत्ति; पद्मावती, हंसावती, शशिव्रता, पडिहारनी आदि अनेक राजकुमारियो से पृथ्वीराज का विवाह, पृथ्वीराज के विविध युद्ध, पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन में अनेक बार युद्ध होना तथा हर बार शहाबुद्दीन का बन्दी होना, भीम द्वारा सोमेश्वर वध, आदि-आदि।

रासो की वृहद् वाचना में लघु वाचना का विषय विशेष विस्तार से मिलता है और इसके अतिरिक्त इसमें मध्यम वाचना की घटनाओं तथा ऐसी अनेक अन्य घटनाओ का समावेश भी है।

---

[1] मध्यम वाचना की प्रतियाँ बीकानेर, लाहौर, पूना तथा कलकत्ता में मिली हैं।

[2] फरवरी, मई, अगस्त सन् १९३५; फरवरी, मई सन् १९३८।

[3] लघु वाचना की तीन प्रतियाँ बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी में उपलब्ध हुई हैं। इनमें से एक की आधुनिक प्रतिलिपि लाहौर की पजाब युनिवर्सिटी लाइब्रेरी में भी है।

[4] टेसिटरी : उपर्युक्त, पोथी २४ का विवरण।

[5] यह सं० १८०५ की लिखित है और आरम्भ में इसका पाठ प्राय. लघु वाचना से मिलता है, किन्तु हाँसी युद्ध तथा कन्नौज खड वृहद् वाचना के आधार पर लिखित प्रतीत होते हैं।

[6] देखिए श्री दशरथ शर्मा का उपरोक्त लेख।

रासो के विषय-विश्लेषण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इसमे मुख्यतया दो ही घटनाओ का वर्णन है—एक तो पृथ्वीराज द्वारा सयोगिता-अपहरण का और दूसरे पृथ्वीराज तथा शहाबुद्दीन के अन्तिम युद्ध का। अन्य घटनाएँ तो गौण रूप से ही आई है। अत इनका वर्णन विस्तृत रूप से नही हुआ। लघु वाचना मे इन प्रधान घटनाओ का वर्णन कई-कई समयो मे हुआ है, किन्तु बृहद् वाचना मे केवल एक-एक ही समय मे हुआ है और उसमे भी प्रक्षेप आ गये है। समय पाकर सयोगिता-अपहरण की घटना इतनी लोकप्रिय हुई कि इसे एक विस्तृत स्वतन्त्र[1] ग्रन्थ का रूप मिल गया जो चन्दवरदाई की ही रचना मानी गई है। लघु वाचना में महोवा वाली घटना का उल्लेख मात्र ही है,[2] परन्तु बृहद् वाचना मे यह एक पूर्ण समय लेती है और फिर इसे कई खडो वाले ग्रन्थ[3] का आकार मिला, जिसके रचयिता के रूप मे चन्दवरदाई का ही नाम लिया जाता है। सम्भव है कि इसमें चन्द का एक भी शब्द न हो, क्योकि इसकी भाषा वहुत अर्वाचीन है।

वाचनाओं का काल-क्रम—इन वाचनाओ के काल-क्रम का निर्धारण इनकी प्रतियो के लिपिकाल के आधार पर हो सकता है। लघु वाचना की किसी भी प्रति में उसका लिपिकाल नही दिया, किन्तु उनमे से एक का अनुमान हो सकता है, क्योकि वह अकवर के समकालीन प्रसिद्ध मन्त्री कर्मचन्द के पुत्र भागचन्द के लिए लिखी गई थी।[4] कर्मचन्द का देहान्त स० १६५७ मे हुआ और वह स० १६४७ में वीकानेर छोड चुके थे। उनके पुत्र स० १६७६ में काम आये। इसलिए हमारी यह प्रति कम-से-कम स० १६७६ से पूर्व की है। श्री अगरचन्द नाहटा के कथनानुसार इस वाचना की दूसरी प्रति भी १७वी शताब्दी विक्रम की लिखित है और तीसरी दूसरी की प्रतिलिपि मात्र है।[5] मध्यम वाचना की कुछ प्रतियो का लिपिकाल मिलता है और कुछ का नही। जिनका मिलता है वे विक्रम की अठारहवी शताब्दी की या उसके आसपास की लिखित है, जैसे स० १७३८, १७३९, १७५८, १७६२ की लिखित प्रतियाँ विद्यमान है। जिनमें लिपिकाल नही मिलता, वे दो सौ वर्ष पुरानी प्रतीत होती है। बृहद् वाचना की प्रतियो का लिपिकाल प्राय १९ शताब्दी विक्रम में है, किन्तु एक का स० १७४७ भी है। इससे ज्ञात होता है कि लघु वाचना १७वी शताब्दी विक्रम में, मध्यम वाचना १८वी शताब्दी में और बृहद् वाचना १९वी शताब्दी में या क्रमश इनसे कुछ पूर्व विशेष प्रसिद्ध तथा प्रचलित हुई। कहते है कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा १७वी श० वि० की लिपिकालकृत बृहद्वाचना की प्रतियाँ

---

[1] इसकी प्रतियाँ बनारस तथा कलकत्ता में उपलब्ध है।

[2] देखिए रासो लघु वाचना समय ६, पद्य ५९

आरम्भी अजमेरि धुम्मि पवनी कमडि मडोवर।
भोरा रा मुर मुड दड दवनो अग्गी उविष्ट कर॥
रत्थ भ थिर थभ सीस अहर नि जल जुष्ट कालिजर।
क्रिप्पान वहु वान जान घनयो घर्नो पि गोरी धरा॥

यहाँ पर भी महोवा का उल्लेख नहीं, अपितु कालिजर का है।

[3] इसे 'परमालरासो' के नाम से नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है।

[4] इसकी अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है—

मन्त्रीश्वर मडन तिलक, वच्छा वश भर भाण।
करमचन्द सुत करम वड भागचन्द्र सब जाण॥१॥
तसु कारण लिखियो सही, पृथ्वीराज चरित्र।
पढता सुख सपति सकल, मन सुख होवै मित्र॥२॥ शुभ भवतु॥

[5] श्री अगरचन्द नाहटा का उपर्युक्त लेख, पृ० २२।

और नेनूराम[1] वाली स० १४५५ की प्रति इस नियम का अपवाद उपस्थित करती है, किन्तु कई विद्वानो के मतानुसार इनका लिपिकाल सदिग्ध है। अत जवतक प्राच्यलिपिशास्त्रवेत्ता इनका निरीक्षण करके लिपिकाल निर्धारित नही करते, इनको इतना प्राचीन मानना उचित नही।

निम्नोक्त वाते भी इसी अनुमान की पुष्टि करती है—

(१) विषय-क्रम—कई स्थलो मे लघु वाचना का विषय-क्रम मध्यम अथवा वृहद् वाचना की अपेक्षा अधिक समीचीन दिखाई देता है। मध्यम तथा वृहद् वाचना के प्रथम समय में पहले मगलाचरण और फिर पृथ्वीराज के जन्म का वर्णन है और द्वितीय समय मे दशावतार-वर्णन है, किन्तु लघुवाचना में मंगलाचरण तथा दशावतार-वर्णन प्रथम समय में है और पृथ्वीराज का जन्म दूसरे मे। होना भी ऐसा ही चाहिए, क्योकि दशावतार-वर्णन मगलाचरण का रूपान्तर है और मगलाचरण सदा ग्रन्थ के आरम्भ मे होता है। लघुवाचना के नायक पृथ्वीराज के जन्म-वृत्तान्त के पश्चात् ही तीसरे समय में नायिका सयोगिता के जन्म का वृत्तान्त आता है, परन्तु मध्यम तथा वृहद्वाचनाओ मे इन दोनो वृत्तान्तो के वीच कई समयो का अन्तर है। वृहद्वाचना मे कन्नौज-खड के आरम्भ मे पृथ्वीराज का सयोगिता के लिए तडपना और साल भर तक एक-एक ऋतु में भिन्न-भिन्न रानियो द्वारा सयोगिता की प्राप्ति मे वाधाएँ उपस्थित करना कवि को षड्ऋतु-वर्णन का अवसर देते है, किन्तु लघु तथा मध्यम वाचनाओ मे यही वर्णन पृथ्वीराज के सयोगिता को दिल्ली ले आने पर आता है। यह क्रम अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योकि यदि पृथ्वीराज को सयोगिता से सच्ची लगन थी तो वह कदापि एक वर्ष तक उसे प्राप्त किये बिना न रुकता।

(२) वढती अनैतिहासिकता—लघुवाचना की अपेक्षा मध्यम मे तथा मध्यम की अपेक्षा वृहत् मे अनैतिहासिक घटनाओ का आधिक्य दृष्टिगोचर होता है, जैसे लघु वाचना में पृथ्वीराज तथा शहाबुद्दीन के तीन युद्धो का वर्णन है, मध्यम में लगभग आठ का और वृहत् में वीस का। वास्तव में इनके वीच दो ही युद्ध हुए थे। इसी प्रकार भीम द्वारा सोमेश्वरवध, पृथ्वीराज द्वारा भीमवध, जयचन्द का मेवाड-अधिपति समरसी तथा गुजरात-नरेश के साथ युद्ध, अग्नि कुड से चौहान-वश की उत्पत्ति आदि अनैतिहासिक घटनाओ का वर्णन मध्यम अथवा वृहद् वाचनाओ में ही मिलता है, लघु में नही। यह सम्भव नही कि चन्दवरदाई ने स्वय अपनी रचना में ऐसी अनैतिहासिक घटनाओ का समावेश किया हो; क्योंकि वह पृथ्वीराज के समकालीन तथा सखा थे। यह अधिक सगत प्रतीत होता है कि चन्द के परवर्त्ती भाटो ने इतिहास-क्रम की ओर ध्यान न देते हुए पृथ्वीराज के यशोगान के निमित्त इन घटनाओ का समावेश पृथ्वीराज रासो में कर दिया।

(३) घटनाओ की सख्या में वृद्धि—इन वाचनाओ में समान घटनाओ की सख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। जैसे लघुवाचना में पृथ्वीराज के केवल दो विवाहो का—इञ्छिनि तथा सयोगिता के साथ—वर्णन है, मध्यम में पाँच का और वृहत् में चौदह का। इसी प्रकार पृथ्वीराज-शहाबुद्दीन-युद्धो की सख्या लघुवाचना में तीन, मध्यम मे लगभग आठ तथा वृहत् में वीस के लगभग है।

(४) वर्णन-विस्तार—इन वाचनाओ में वर्णन-विस्तार भी क्रमश वृद्धि पर है। और लघुवाचना की अपेक्षा मध्यम और मध्यम की अपेक्षा वृहत् मे दशावतार-वर्णन कन्नौज से लौटते समय का युद्ध-वर्णन तथा अन्तिम-युद्ध-वर्णन क्रमश अधिक विस्तृत है।

(५) भाषा—यदि भाषा की दृष्टि से रासो की विविध वाचनाओ की जाँच की जाये तो भी उनकी ऐसी ही परिस्थिति का ज्ञान होता है। जैसे लघु, मध्यम तथा वृहद् वाचनाओ मे भाषा के अर्वाचीन रूपो का प्रयोग क्रमश अधिक होता जाता है। ठीक यही वात रासो में विदेशी शब्दो के प्रयोग पर भी लागू होती है।

---

[1] श्री अगरचद नाहटा का उपर्युक्त लेख, पृ० ४५।

(६) पद्यसख्या—लघु वाचना के भिन्न-भिन्न समयो की पद्य-सख्या मे परस्पर भेद कम है, क्योंकि इनमें ३१ से १९९ तक पद्य है।[1] बृहद् वाचना मे तो यह भेद अत्यधिक हो जाता है। इसके समय की पद्यसख्या कम-से-कम १२ और अधिक-से-अधिक २५५३ है।[2] महाकाव्य के लक्षण[3] के अनुसार ऐसा नही होना चाहिए। अत सम्भव नहीं कि चन्दवरदाई ने स्वय ऐसा किया हो। यह उनके परवर्ती भाटो का ही प्रभाव प्रदर्शित करता है।

उपरोक्त विचार-धारा के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि पृथ्वीराजरासो का मूलरूप बहुत ही छोटा था, किन्तु कालान्तर में प्रक्षेप मिलने के कारण इसका कलेवर बढता गया। इन्ही प्रक्षेपो के आधार पर ओझा जी जैसे उच्चकोटि के विद्वानो ने रासो की प्रामाणिकता में सन्देह प्रकट किया है। रासो की उपलब्ध वाचनाओं में से लघु वाचना शेष दोनो की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक तथा प्राचीन है।

लाहौर]

---

[1] इस वाचना में कम-से-कम पद्य-सख्या अर्थात् ३१ चतुर्थ समय में है और अधिकाधिक अर्थात् १९९ प्रथम समय में है। शेष समयों का परिमाण इन दोनो सख्याओ के बीच है।

[2] बृहद् वाचना में लघुतम समय ६५वाँ है, जिसमें केवल १२ पद्य है तथा ६१वाँ (कनवज्ज समय) दीर्घतम है और इसमें २५५३ पद्य है।

[3] देखिए -

नातिस्वल्पा नातिदीर्घा सर्गा अष्टाधिका इह ॥

साहित्यदर्पण, परिच्छेद ६, श्लोक ३२०।

काफल-पाक्कू[1]

श्री चन्द्रकुँवर बर्त्वाल

[हिन्दी के इस अज्ञात पर अति श्रेष्ठ कवि के निम्नलिखित मुक्तक में पहली बार शेली की 'स्काईलार्क' का उल्लोस प्राप्त हुआ है।—वासुदेवशरण अग्रवाल]

(१)

हे मेरे प्रदेश के वासी!
छा जाती वसन्त जाने से जब सर्वत्र उदासी
झरते झर-झर कुसुम कभी, धरती बनती विधवा-सी
गन्ध-अन्ध अलि होकर म्लान
गाते प्रिय समाधि पर गान!
तट के अधरो से हट जातीं जब कृश हो सरिताएँ!
जब निर्मल उर में न खेलतीं चचल जल-मालाएँ!
हो जाते मीन नयन उदास
लहरें पुकारतीं प्यास प्यास!
गलने लगती सकरुण-स्वर से जब हिम-भरी हिमानी
जब शिखरो के प्राण पिघल कर वह जाते बन पानी!
बाक़ी रहते पाषाणखड
जिन पर तपता दिनकरप्रचड,
सूखे पत्रों की शय्या पर, रोती अति विकल बनानी!
छाया कहीं खोजती फिरती बन-बन में बन-रानी! १५
जिसके ऊपर कुम्हला किसलय
गिरते सुख-से हो करके क्षय
उसी समय मरु के अन्तर में सरस्वती-धारा-सी
ले कर तुम आते हो हे खग, हे नन्दन-बन-वासी!
प्लावित हो जाते उभय कूल!
धरती उठती सुख-सहित फूल!
पी इस मधुर कंठ का अमृत खिल उठती बन-रानी
लता-लता में होने लगती गुजित गई जवानी! २२
तुम शरच्चन्द्र से मधुर-किरण!
आलोक रूप, तुम अमृत-कण,
किसलय की झुरमुट में छिप कर सुधा-धार करते वर्षण!
सुनती वसुधा ग्वाल-बालिका-सी हो कर के प्रेम-मगन!

---

[1] काफल-पाक्कू एक पहाडी पक्षी का नाम है जो ग्रीष्म ऋतु में पर्वतप्रदेशों में आता है। उसकी बोली 'काफल-पाक्कू, काफल-पाक्कू' होने के कारण उसका यह नाम पडा है। काफल एक पहाडी जगली फल का नाम है। बोली से समझा जाता है कि यह पक्षी काफल के पकने की सूचना दे रहा है।

रख मृदुल हथेली पर आनन
सुख से मूँदें वे मलिन नयन
शैलो से उतरी आतीं नीरद-निवासिनी परियाँ
बजती मधुर स्वरों से जिनके चरणो की मजरियाँ ! २९
ग्रामो से आती मुग्धाएँ
कोकिल-कठी प्रिय ललिकाएँ
क्षण भर में तुम कर देते इस पृथिवी को नन्दन !
जहाँ अप्सराएँ करती हैं छाया में संचारण !
कानो में बजते हैं ककण
आँखों में करता रूप रमण !
फूले रहते हैं मदा फूल भौंरे करते निशि-दिन गुजन ! ३६

(२)

मेरे हिम-प्रदेश के वासी,
जन्म-भूमि तज, दूर देश में रहने लगा प्रवासी
मावन आया, दुख से मेरे, उमडी अतुल उदासी
बरसी झर-झर झर अश्रुधार !
शैलों पर छाया अन्धकार !
लख उत्तर की दिशा जल-भरे मेघ मनोहर उडते
पल-पल में चपला चमकाते, शैल-शैल पर रुकते ४३
पीछे को लखते बार-बार
बरसाते रह-रह बिन्दु-धार
मै घायल पर-हीन विहग-सा किसी विजन में मन मारे
किसी तरह रहता था रो-रो कर निज जीवन धारे
उर में उठतीं बातें अनेक
मै कह पाता था पर न एक
एक अँधेरी रात, बरसते थे जब मेघ गरजते
जाग उठा था मै शय्या पर दुख से रोते-रोते,— ५१
करता निज जननी का चिन्तन
निज मातृभूमि का प्रेम-स्मरण
उसी समय तम के भीतर से, मेरे घर के भीतर
आकर लगा गूँजने धीरे एक मधुर परिचित स्वर,—
'काफल-पाक्कू', 'काफल-पाक्कू'
स्वप्न न था वह, क्योंकि खोलकर वातायन मै बाहर—
देख रहा था, बार-बार सुनता वह ही परिचित स्वर ! ५८
उर में उठता था हर्ष-ज्वार
नयनों में थी आनन्द-धार

पोशित-भृत्तिका

[कलाकार—श्री सुधीर ख़ास्तगीर]

मै तो विवश यहाँ आया हूँ, पर यह कैसे आया ?
क्या मुझको मेरी जननी का है संदेश कुछ लाया ?
मुझसे कहने को आज रात
आया जो यह आशा-प्रभात
अथवा क्या वे शैल वह गये, जिनमें यह था रहता ?
उखड़ गये वे पादप प्यारे जिनमें यह था गाता ?
क्या उस वन में लग गई आग,
जो यह आया निज विपिन त्याग ?
हिम पर्वत का क्या सब तुषार
बन गया सलिल की तरल धार ?
रह गये शेष नंगे पहाड़
हिम-हीन दीन सूखे उजाड़
जो यह आया हिम-शैल त्याग ? ७३

(३)

हे मेरे प्रदेश के वासी !
एक बार फिर कंठ मिलाकर गाने का हूँ अभिलाषी।
अब कदम्ब की घन छाया में व्याकुल-कंठ प्रवासी।
होने पर भी जीवन समान
क्यों रहते हो तुम दूर प्राण ?
कितनी बार तुम्हें जीवन में मैंने पास बुलाया
किन्तु न जाने तुम को भी क्यों आना कभी न भाया !
तुम सदा जानते हो कुमार—
कितना करता मैं तुम्हें प्यार !
कल ही जब आई आँधी तुम तरु पर से डरकर बोले—
तुम्हें मार्ग देने को मैंने निज गवाक्ष-पट खोले। ८४
भीगे पत्रों में रख आनन
क्यों दुरा दिये तुमने लोचन ?
मेरा कुम्हलाया आनन लख, लखकर मेरे साश्रु नयन—
हँसकर आह ! कर गये तुम क्यों विषम विवशबन्दी जीवन ?
जीवन में मैंने प्रथम बार
जीवन भर को था किया प्यार
भूल गया मैं जननी के धीरे-धीरे प्रिय-चुंबन !
इन लहरों के साथ बह गया वह मेरा मृदु-जीवन ! ९२
तुमसे सुन्दर था बाल्य-काल—
यह भी होता है विहग-बाल !—
एक विपिन में रहकर भी तुम दूर रहे हे प्यारे !
अब यह हृदय-कुसुम फूलेगा किस स्पर्श सहारे ?

फैला ऊपर से वही गगन—
छूता सब को वह एक पवन—
फिर क्यो मुझे आह ! अकुलाहट, क्यो मुझको ही पीडा ?
क्यो मुझको उन्मन पागलपन ? तुमको इतनी व्रीडा ? १००
मै जितना आता पास-पास
तुम उड जाते हे श्वास-श्रास ?
कहाँ खो दिया तुमने अपना सरल हृदय हे सुन्दर ?
किस मानव ने तुम्हें दिखाया है सोने का पिंजर ? १०४
तुम दिन भर तरु के कानो में अपनी विरह व्यथा कहते
मुझे देखते ही सहसा क्यो रुक कर चुप हो जाते ?
मेरी मानवता मुझे शाप
मेरी मानवता मुझे पाप
तुम्हें कभी विश्वास न होगा ऐसी मानवता पर ?
मै न तुम्हें क्या कभी देख पाऊँगा निज हाथो पर ?
गायेंगे हम क्या फिर न कभी कठो में कठ मिलाकर
काफल की छाया के नीचे मै, तुम ऊँचे तरु पर
एक साथ कहते हो—"काफल-पाक्कू, काफल-पाक्कू" ११३
मैने पाया है अविश्वास ,
भय, घृणा और दारुणोपहास !
अव कैसे मानव मै तुमको, हे प्रिय, पास बुलाऊँ—
गुजन स्वर में हृदय चीरकर कैसे आज बताऊँ ?
होता भू पर मै झरा फूल
तज कर डाली के तीक्ष्ण शूल
तव तो तुम आँसू भर मेरी सुख समाधि पर गाते—
तव तो दल उस रोमिल-उर का मृदु स्पर्श तो पाते ? १२१
पर मै उन्मन रावण दानव !
मेरी तृष्णा वन जाती यदि
वन में कोमल पल्लवित डाल—
उस शय्या में रहकर निशि भर
गाते तव तो तुम विहग-वाल ?
हो पाते मेरे आँसू यदि—
मेघो के ये झरते लोचन—
धोते तव तो हे मेरे प्रिय,
मेरे आँसू तेरा आनन ?
क्यो रोता मै यो वार-वार—
क्यो होता मै प्रतिपल अधीर !
क्यो वहता अव तक अश्रु-नीर !
भगवन् ! मै होऊँ खग-कुमार ! १३४

विक्रम और बेताल-कथा में तथ्यान्वेषण

श्री सूर्यनारायण व्यास

विक्रम सवत् की द्वि-सहस्राब्दी के उत्साह ने शिक्षित समुदाय मे एक सास्कृतिक चेतना ही जाग्रत कर दी है। साहित्य के विभिन्न अगो पर इस अवसर पर जितना विक्रम के विषय में लिखा गया है, उतना शायद ही किसी समय लिखा गया हो। यदि यह सब साहित्य एक जगह एकत्रित किया जावे तो निस्सन्देह पाँच हज़ार से अधिक पृष्ठो की सामग्री हो जावेगी और उससे विक्रमादित्य-सम्बन्धी जिज्ञासा के समाधान में पर्याप्त सहायता मिलेगी। विक्रमादित्य-विषयक विविध कल्पनाएँ हज़ारो मील दूर बसने वाले विदेशी विमर्शको ने तो जब-तब की भी है, पर हमारे देश का मुख्यत महाराष्ट्र प्रान्त तथा कुछ अशो में गुजरात और बगाल ही इन शास्त्रीय चर्चाओ में रस लेते रहे है और विदेशियो की धारणाओ को भ्रान्त सिद्ध करते रहे है। डा० जायसवाल या मजूमदार प्रभृति महानुभाव भी इस दिशा में सजग रहे है। महाराष्ट्रीय और बगीय विद्वानो की इस विवेचनात्मक प्रवृत्ति का परिचय विद्वद्वर स्व० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी हिन्दी-भाषी-ससार को प्राय देते रहते थे, परन्तु इतर प्रान्तीय पडितो ने इस दिशा में कम ही अभिरुचि प्रकट की है। महाराष्ट्र की जागरूकता आज भी यथापूर्व है। विक्रम, कालिदास जैसी विश्व-वन्द्य विभूतियो के विषय में उनकी अध्ययन-शीलता नि सन्देह अभिनन्दनीय है। गुजरात और बगाल के ललित-साहित्य की आराधना में तत्पर रहते हुए भी वहाँ विक्रम और कालिदास के प्रति बडा अनुराग है। रवीन्द्रनाथ की विश्व-वन्दिता वाणी ने सहस्रो गीतोकी सृष्टि मे उज्जयिनी, विक्रम, कालिदास, शकुतला, उर्वशी, कादम्बरी, वासवदत्ता को भुलाया नही, बल्कि उनका इतना सरस वर्णन किया है कि पाठको का मन उस मधुरिमा में मस्त हुए बिना नही रहता। राजनीति और योग की सतत् साधना मे अरविन्द ने भी अपनी प्रतिभा का प्रसाद उक्त विषय पर प्रदान किया है, परन्तु विक्रम की द्वि-सहस्राब्दी के अवसर पर आज तो अजस्र धारा ही प्रवाहित हो रही है। विगत दो वर्षों के अन्दर जो साहित्य-सृजन हुआ है, उसमें अध्ययन और मौलिकता के मान से यद्यपि विषय-वस्तु की अधिकता नही है, तथापि अधिकाश विदेशी विमर्शको के विभिन्न मतो का सकलन और अपने शब्दो मे प्रकटीकरण उसमें अवश्य है। यह विचारको के लिए विभिन्न दृष्टिकोणो का समन्वय-साधक साहित्य है और यह हमारे लिए मार्ग प्रशस्त कर देने और विचारको को प्रेरणा देने का कार्य सुलभ कर सकता है। विक्रमादित्य-विषयक सहस्रश दन्तकथाएँ और लोकोक्तियाँ विभिन्न प्रान्तो में विविध भाषाओ में यत्र-तत्र फैली हुई है। उनका समीकरण किया जाय तो वह भी अवश्य अनेक तथ्यो को प्रकाश मे ला सकती है। प्राकृत, सस्कृत, जैन, पाली तथा कथा-ग्रन्थो में भी अनेक विचित्र और विस्मयकारी गाथाओ का सग्रह है। ये सभी केवल निराधार रचनाएँ है, ऐसा तो नही कहा जा सकता। कथा-गाथाओ मे तथ्यान्वेषण की प्रवृत्ति से हमने काम ही कब लिया है? इन कथा-किंवदन्तियो ने न जाने कितनी पुरातन परम्पराओ और सास्कृतिक सूत्रो का पोषण किया है।

विक्रमादित्य की शतश रोचक कथाओ का साहित्य जैन श्वेताम्बरीय ग्रन्थो में अत्यधिक भरा पडा है। उसका साम्प्रदायिक आवरण हटाकर वस्तु-विमर्शक दृष्टि से अन्वेषण किया जाय तो अनेक अभिनव तथ्यो का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है। सस्कृत-साहित्य की कथा-कृतियो में अभी तक हमने रोचकता की दृष्टि ही रक्खी है, अन्वेषण की प्रवृत्ति को प्रेरणा नही दी। 'सिंहासन द्वात्रिंशति' का हिन्दी रूपान्तर ही नही, सभी विश्वभाषाओ में अनुवाद होकर जगत् के सामने आ चुका है। यह 'सिंहासन-बत्तीसी' अपनी आकर्षक कथा के कारण ही जन-मन में प्रविष्ट हुई है, परन्तु बत्तीस पुतलियो वाले सिंहासन पर आसीन होने वाले 'विक्रम' की इस कथा में लोक-रजन के अतिरिक्त उसकी लोक-प्रियता का और भी कुछ कारण हो सकता है, यह सोचने का हमने प्रयत्न नही किया।

'वैताल-पचविंशति' की भी यही स्थिति है। यहाँ हम इसी पर विचार करेंगे कि इस अतिरोचक कथा-ग्रन्थ के मूल में क्या है।

'वेताल-पच-विंशति' संस्कृत-साहित्य का प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है। इसका देश-विदेश की अनेक भाषाओंमें अनुवाद हो गया है, जो इसकी रोचकता का प्रमाण है। यद्यपि कथा-कल्पनाएँ अपने निर्माण के पूर्व या समकालीन समाज-स्थिति और सर्वप्रिय प्रचलित विषयो और वातावरणो पर ही निर्मित होती हैं तथापि कथा-गाथा-ग्रन्थो का मूल्याकन ऐतिहासिक आधार पर अवलम्बित नहीं किया जाता। उक्त 'पचविंशति' को भी इसी परम्परा के कारण 'कथा' का महत्त्व ही मिलता आ रहा है। इससे अधिक उक्त पुस्तक की कथाओ को इतिहास की कसौटी पर कसा गया या नहीं इसका हमें पता नहीं। 'वेताल-पचविंशति' का इतर प्रान्तो में कितना अधिक प्रचार है, यह भी हमें ठीक मालूम नहीं, पर मालव-प्रदेश में तो इसे अत्यधिक लोक-प्रियता प्राप्त है। संस्कृत के बाद जन-भाषा में वह 'वेताल-पच्चीसी' के रूप में सर्वमान्य एव सर्वप्रिय स्थान पर प्रतिष्ठित है। 'वेताल' की इस दिलचस्प कथा-मालिका की विशेषता यह है कि हर एक कथा के पूरे होते-न-होते वेताल अपने स्थान पर वापिस लौट आता है और पाठक अथवा श्रोता के मन में एक अतृप्त लालसा बनी रहती है। वेताल की कथा में विक्रमादित्य का ही महत्त्व है। इस कथा की आरम्भिक परम्परा कब से और किन कारणो से हुई, यह बतलाना कठिन है। पर इतना स्पष्ट है कि यह अभिनव तो कदापि नहीं है। शताब्दियो पूर्व से इसका पर्याप्त प्रचार रहा है। ग्यारहवी शताब्दी में इस कथा का स्रोत थोडे फेर-फार के साथ 'कथा-सरित्सागर' में प्राप्त होता है, किन्तु 'कथा-सरित्सागर' में इसका अवतरण तो पैशाची भाषा की 'बृहत्कथा' से ही हुआ है, जो कि प्रथम शती की रचना थी। उसी का सक्षेप 'कथा-सरित्सागर' है। क्षेमकर कवि के पश्चात् चौदहवी शती में जन-श्रुति के सूत्र-बद्ध-कर्त्ता जैन विद्वान मेरुतुग सूरि ने अपनी 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में भी इसे आशिक रूप में स्थान दिया है। इस प्रकार कई शतियो की परम्परा को लेकर यह अपने तथ्य-रूप में व्यापक लोक-प्रियता लिये हुए अद्यावधि चिरजीवी है।

'वेताल-पचविंशति' में विक्रम के राज्यारोहण की कथा रोचक रूप से वर्णित हुई है। उज्जैन के राज-सिंहासन पर दीर्घ काल पर्यन्त कोई भी एक राजा स्थायी रूप से नही बैठ पाता था। प्राय रात को कोई शक्ति आकर उसे अपना भक्ष्य बना लेती थी। फलत प्रतिदिन एक-एक व्यक्ति चुन कर लाया जाता और वह अयोग्य सिद्ध होकर उस शक्ति का भक्ष्य बन जाया करता था। नगर-पुर-प्रान्त में ऐसा त्रास और आतक था कि कोई राजा बनने को तैयार ही नहीं होता था। इसी सिलसिले में एक दिन 'विक्रम' नामक एक निर्धन व्यक्ति की बारी आई। वह सिंहासन पर आकर बैठा और उसने अपने बौद्धिक चातुर्य और साहस से काम लिया। उसने विचार किया कि जो अज्ञात शक्ति शासक की बलि लेती है, उसे अन्य प्रकार से सन्तुष्ट कर लिया जाय और सतर्क रहकर उसका मुक़ाबला किया जाय। यह सोच विविध रस के पकवानो की योजना करके विक्रम खड्गहस्त हो एकान्त में छुप कर खड़ा हो गया। मध्य-निशा के निविडान्धकार में सहसा द्वार से धूम्र-पटलो और लपटो के प्रवेश के बाद यमदूत की भाँति एक भयानक पुरुष ने कक्ष में पदार्पण किया। आते ही क्षुधातुर हो उसने पकवानो पर हाथ डाला और तृप्ति की। आज की इस अभिनव योजना और बढिया स्वाद से उसे बडा सन्तोष हुआ। विश्रान्ति के बाद वेताल ने उस चतुर शासक को प्रकट हो जाने के लिए आमन्त्रित किया। अभय वचन लेकर विक्रम प्रत्यक्ष उपस्थित हो गया। वेताल ने अपना परिचय 'अग्नि-वेताल' के रूप में देकर आतिथ्य के उपलक्ष्य में विक्रम को उज्जैन का स्थायी नरेश घोषित कर दिया और अपने दैनिक आतिथ्य की उचित व्यवस्था का वचन ले लिया। तब से वेताल विक्रम का सहायक हो गया। यह कथा बहुत सुन्दरता से प्रतिपादित हुई है। सक्षेप में कथा का आशय यही है और विभिन्न कथाओ में विक्रम की परीक्षा की गई है, जिनमें वह श्रेष्ठ सिद्ध होता गया है। कुछ भी हो, मालव में इस कथा में सत्य की विश्वस्त धारणा है और उसके कुछ कारण भी हैं।

एक बात इस कथा से स्पष्ट हो जाती है कि विक्रमादित्य को वेताल जैसी महा शक्ति का सहयोग प्राप्त था

और उस वेताल की दृष्टि में, जिसने अनेक शासको का अस्तित्व नामशेष कर दिया था और एक दिन से अधिक उन्हें शासक नही रहने दिया था, विक्रम तुल गया था और आगे के लिए वह स्थायी शासक वना दिया गया। वेताल का सहयोग भी विक्रम को प्राप्त रहा। इस कथा में से 'रूपक' का आवरण हटा दिया जाय तो भी इतना स्पष्ट हो जाता है कि विक्रम के निकट वेताल की अद्वितीय शक्ति थी। उसी के कारण कोई सिंहासन पर स्थायी रूप से नही वैठ सकता था और यदि विक्रम वैठा तो उसी की कृपा से। इससे यह विदित होता है कि वेताल अवश्य ही उज्जैन के शासन का वडा ही उग्र और तेजस्वी नेता रहा होगा। यहाँ यह वात ध्यान देने योग्य है कि केवल शासन तक ही वेताल का आतक था। इससे अनुमान होता है कि वह शुद्ध राजनैतिक नेता था। यही कारण है कि उसकी कथाओ में कही भी प्रजा के उपद्रव की चर्चा नही है। इस सवसे हमारी मान्यता यही होती है कि वेताल आग की तरह तेजस्वी था। कोई आश्चर्य नही कि वह मानव-गणो मे से ही कोई प्रमुख हो। उसे व्यक्तिश शासक वनने का शौक नही था, किन्तु वह राजाओ का निर्माता (King-maker) और उनका सचालक वनना चाहता था। श्री विजय भट्ट जैसे विद्वान् ने अपने विक्रमादित्य चित्र-पट में वेताल को तेजस्वी और महान् देश-भक्त प्रवान अमात्य वनाकर उसके द्वारा जो कार्य सम्पादित
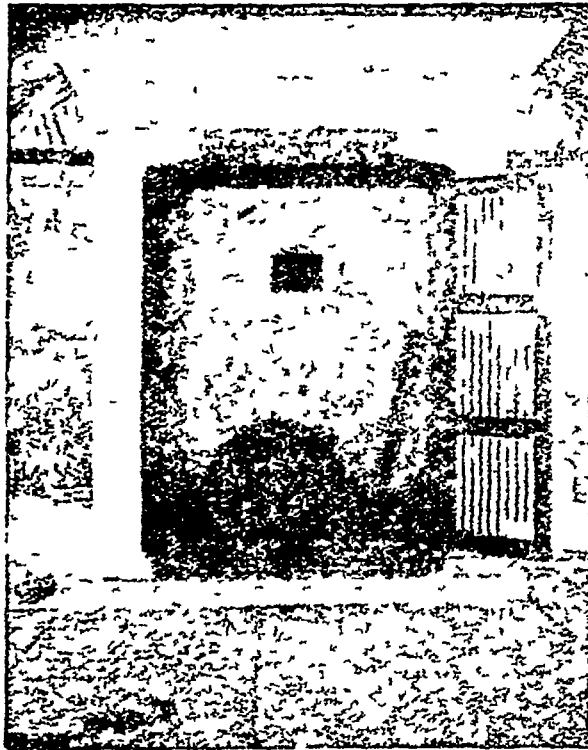
उज्जैन के वेताल-मंदिर का एक दृश्य

करवाया है, वह उचित ही प्रतीत होता है और उससे वेताल की वास्तविक स्थिति की प्रतिष्ठा होती है। वेताल को भूत-प्रेत आदि की श्रेणी में विठला देने का कार्य सम्भवत शक-काल में शक अथवा अन्य शासन के किसी आश्रित ने रूपक देकर किया होगा।

यह तो जगद्विश्रुत है कि सवत्-प्रवर्तक विक्रम का शासन उज्जैन पर रहा है। फिर चाहे वह कोई भी विक्रम हो, उसका सहायक वेताल भी था। क्षेमकर ने 'कथा-सरित्सागर' मे वेताल का नाम 'अग्निशिख' वतलाया है और मेरुतुग सूरि ने उसे 'अग्निवर्ण', कहा है। दोनो से एक ही वात प्रकट होती है, अर्थात् वेताल 'अग्नि' की तरह उग्र तेजस्वी व्यक्ति था। मालवी भाषा में इसी को 'आगिया (अग्नितुल्य) वेताल' कहकर सम्वोधित किया है। इतना ही नही,

उज्जैन में अग्नि वेताल का मन्दिर भी वना हुआ है। समस्त नगरवासी उस मन्दिर को इसी नाम से पुकारते है। वेताल की कथा के अनुरूप उसके भक्ष्य की शर्त की पूर्ति विक्रम की तरह आज भी न जाने कब से प्रति वर्ष नवरात्रि में राज्य की ओर से वलि-प्रदान के रूप में की जाती है। इस वलि प्रथा और मन्दिर को प्रत्यक्ष देखते हुए यह ज्ञात होता है कि उक्त 'वेताल-कथा' की पृष्ठ-भूमि में कोई तथ्य-घटना अवश्य है, जिसकी स्मृति-स्वरूप वेताल का यह मन्दिर पौराणिक अस्तित्व की साक्षी देता हुआ आज भी इस नगरी में खडा है। यदि वेताल की उक्त कथा केवल गल्प ही है तो इस मन्दिर और वलि-प्रथा की परम्परा और अवन्ती-पुराण, स्कन्द-पुराण की कथा की सगति का क्या अर्थ है? पुराणो को नवी शती की रचनाएँ ही स्वीकृत की जायँ तो भी यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि उस समय विक्रम और वेताल की कथा को इतनी अधिक लोक-प्रियता प्राप्त थी कि वे मन्दिर और पूजनीय स्थान की प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सके। उक्त ख्याति के वशीभूत होकर ही वेताल की इस समाधि का पौराणिक वर्णन सम्भव हुआ होगा।

एक वात और। विक्रम की नवरत्न-मालिका में एक वेताल भट्ट का वर्णन आया है। यह 'भट्ट' ब्राह्मण होना चाहिए। आश्चर्य नही कि वही वेताल, जो अप्रतिम सामर्थ्य रखता था, आगे विक्रम का सहायक हो जाने के कारण उसकी राज-सचालिका-सभा का एक विशिष्ट रत्न वन गया हो। ग्यारहवी सदी मे जिसे क्षेमकर और चौदहवी में जिसे मेरुतुग ने 'अग्निशिख' और 'अग्निवर्ण' वतलाया है, सभव है, यह वही वेताल-भट्ट हो। इतिहासान्वेपण-शील विद्वानों का ध्यान इस कथा और उज्जैन के वेताल मन्दिर के अस्तित्व की ओर तथ्यान्वेपक दृष्टि से आकर्पित होना आवश्यक है। यह अवन्ती का वेताल-स्मारक हमारा ध्यान सहसा आकृष्ट किये विना नही रहता।

मेरुतुग-वर्णित-प्रवन्ध में विक्रम के एक मित्र का नाम भट्ट मात्र वतलाया गया है। सम्भव है, भट्ट मात्र का नाम वेताल भट्ट ही हो और शाक्त-परम्परा के मानने वालो मे से होने के कारण वलि-प्रथा की परम्परा आजतक उसके साथ जुडी हुई हो। यह भी सम्भव है कि विक्रम ने उसकी देश-प्रेम की उग्र भावना के वशीभूत हो हिंसक प्रवृत्ति की सहज मान्यता दे दी हो। यही चीज उस ब्राह्मण-वर्चस्व काल में शायद वेताल को भूत-प्रेत की श्रेणी में रखने का कारण वन गई हो। कुछ भी हो, वेताल या वेताल भट्ट अथवा अग्निशिख या अग्निवर्ण केवल रोचक कथा का नायक ही नही, कल्पित पात्र ही नही, अवश्य ही विक्रम के साथ योजित होने वाली कोई अपूर्व ओजस्वी राजनैतिक शक्ति थी, जो अपने स्मृति-स्थल का उज्जैन में आज भी अस्तित्व धारण किये इतिहासान्वेपणशीलो को अपनी ओर आमन्त्रित कर रही है।

उज्जैन]
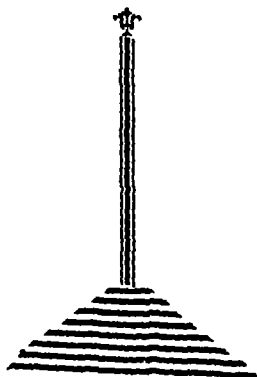
साध हैं गान मेरे !

श्री सुधीन्द्र एम्० ए०

विविध गीतो में निरन्तर गा रहा मैं आत्म-परिचय,
भर उन्हीं में स्वगत सुख-दुख, प्रणय-परिणय, जय-पराजय !
घोल देते विश्वजन हैं गान में अपनी व्यथाएँ,
गूँथ देते हैं उन्हीं में सुख-दुखों की निज कथाएँ,
गीत वनते विश्वजन के
ये सरल आख्यान मेरे !

लक्ष्य कुछ गोपन लिये सब चल रहे अपने पथो से,
एक ही पथ दीखता मुझको सभी के उन रथो से,
रूप सवकी पुतलियो में मैं स्वय का ही निरखता,
और अधरो पर सभी के प्रेम का पीयूष चखता,
वन गये हैं गान ही ये
आज अनुसन्धान मेरे !

श्वास जो दो वाहु से फैले कि लें निज प्रेय को भर,
बाँधने आये मुझे वे आज शत-शत पाश वनकर,
एक तुमको बाँधने को जो रचे ये रूप अगणित,
रह गया उनमें स्वयं मैं आज आठो याम परिमित,
वस गये इन वन्धनो में
आज मुक्ति-विधान मेरे !

देखने तुमको यहाँ मैंने मरण के द्वार खोले !
"डूव लो मुझ में प्रथम" यो प्रलय-पारावार वोले !
मरण जीवन-नाटय के हैं पट जिन्हें कि उठा रहे तुम
अमर अभिनेता वने मुझ में 'स्व'रूप रचा रहे तुम !
पा गये तुमको मुझी में
आज प्रणयी प्राण मेरे !
साधना हैं गान मेरे !

वनस्थली]

समालोचना और हिन्दी में उसका विकास

श्री विनयमोहन शर्मा एम० ए०

साहित्य के यथार्थ दर्शन का नाम समालोचना है। वह स्वय 'साहित्य' है, जो आलोचक की बुद्धि, सस्कृति और हृदय-वृत्ति से निर्मित होता है। बुद्धि में आलोचक की अध्ययन-सीमा, सस्कृति में उसका विषयग्राही दृष्टिकोण और हृदय-वृत्ति मे विषय के साथ समरस होने की ललक झलकती है। साहित्य की वर्तमान सर्वागीण अवस्था के साथ भूत-कालीन सस्कृति-सस्कार की शृखला जुडी रहती है। अत साहित्य को समझने के लिए समाज, धर्म, राजनीति और साहित्य की तत्कालीन अवस्था तथा 'रूढियो' से परिचित होना आवश्यक है। यद्यपि मानव-भावनाओ-विकारो में युग का हस्तक्षेप नही होता, परन्तु विचारो और परम्पराओ में परिवर्तन का क्रम सदा जारी रहता है। इन परिवर्तन-तत्वो के अध्ययन और विश्लेषण के अभाव में यह निर्णय देना कठिन होता है कि आलोच्य साहित्य अनुगामी है, अथवा पुरोगामी। अनुगामी से मेरा आशय उस साहित्य से है, जो समय के साथ है और भूत-कालीन साहित्य का ऋणी है। 'पुरोगामी' से भावी युग का सकेत करने वाले सजग प्रेरणामय साहित्य का अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार का साहित्य अनुकरण करता नही, कराता है।

साहित्य-समालोचना के दो भाग होते हैं, एक 'शास्त्र' और दूसरा 'परीक्षण'। 'शास्त्र' में आलोचना के सिद्धान्तो का निर्धारण और परीक्षण में 'साहित्य' का उन सिद्धान्तो के अनुसार या अन्य किसी प्रकार से मूल्याकन होता है। समय-समय पर मूल्याकन के माप-दड मे परिवर्तन होता रहता है। 'शास्त्र' में साहित्य के विभिन्न अगो—काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि—के रचनातन्त्र—नियमो—का वर्णन रहता है। ये नियम प्रतिभा-शाली महान् साहित्यकारो की कृतियो के सूक्ष्म परिशीलन के पश्चात् उनकी अभिव्यजनाओ आदि की अधिक समानता पर आधारित और निर्धारित होते है। 'परीक्षण' में साहित्य की परख होती है, जो साहित्य-शास्त्र के नियमो को मापदड मानकर की जाती है और इस मापदड की कुछ या सर्वथा उपेक्षा करके भी की जाती है। शास्त्रीय मापदड को कितने अश मे ग्रहण किया जाय और कितने अश में नही, इस प्रश्न को लेकर यूरोप में साहित्यालोचना की अनेक प्रणालियो का जन्म हुआ और होता जा रहा है। हिन्दी-साहित्य की आधुनिक परीक्षण-प्रणालियो पर पाश्चात्य प्रणालियो का प्रभाव-प्राधान्य होने से यहाँ उनकी चर्चा अप्रासगिक न होगी।

यूरोप में अरस्तू (Aristotle), होरेस (Horace) और बाइलू (Boileau) साहित्य-शास्त्र के आचार्य माने जाते हैं। "इन्होने साहित्य की व्याख्या की और महाकाव्य, ट्रेजेडी और दु खान्त नाटको के नियम बनाये।" वर्षों तक साहित्य जगत् में इनके नियमो ने साहित्य-सर्जन और उसकी समीक्षा में पथ-प्रदर्शक का काम किया, पर उनमें गीतिकाव्य और रोमाचकारी रचनाओ (Romantic works) के नियमो का अभाव था। अत समय की प्रगति में वे शास्त्र साहित्य के कलात्मक पक्ष का निर्देश करने में असमर्थ हो गये। नाटककारो—शेक्सपियर आदि ने—शास्त्रियो को धता बताना प्रारम्भ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप कुछ रूढिवादी आलोचको ने शेक्सपियर की शास्त्र-नियम-भगता की उपेक्षा तो नही की, पर यह कहकर क्षमा अवश्य कर दिया कि "वह झक्की—अव्यवस्थित प्रतिभावान् है।" रिनेसा के युग ने सोलहवी शताब्दी में अन्य रूढ़ियो के साथ समालोचना के शास्त्रीय बन्धनो को भी शिथिल कर डाला। उसके स्थान पर व्यक्तिगत रुचि को थोडा प्रश्रय दिया गया। परन्तु अठारहवी शताब्दी में इगलैंड मे 'क्लासिकल-युग' ने पुन अरस्तू और होरेस को जीवित कर दिया। ड्राइडन, एडीसन, जॉनसन आदि ने उनके शास्त्रीय नियमो की कसौटी पर साहित्य को कसना प्रारम्भ कर दिया। बॉसवेल ने जब एक बार डा० जानसन से एक पद्य पर अपनी राय देते हुए कहा, "मेरी समझ मे यह बहुत सुन्दर है।" तब डाक्टर ने झल्ला कर उत्तर दिया,

"महाशय, आपके समझने मात्र से यह पद्य सुन्दर नही बन जायगा।" उस समय व्यक्तिगत रुचि का साहित्यालोचन में कोई मूल्य ही नही माना जाता था। उन्नीसवी शताब्दी के अस्त होते-होते साहित्य में रोमांटिक युग ने आँखें खोली, जिसका नेतृत्व जर्मनी मे लेसिंग, इगलैंड में वर्ड्सवर्थ और फ्रास मे सेंट विउ (Beuve) ने ग्रहण किया। इस युग मे 'व्यक्तिगत रुचि' और 'इतिहास' को साहित्य-परीक्षण का आधार माना गया। इगलैंड में सर्व-प्रथम कॉलहिल ने राष्ट्र के इतिहास और साहित्य मे सम्बन्ध देखने की चेष्टा की। जर्मन दार्शनिक फिशे (Fichte) और हीगल ने इस सिद्धान्त को बडा महत्त्व दिया। "साहित्य से हम इतिहास का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और इतिहास से साहित्य प्रवाह की लहरें गिन सकते हैं।" यद्यपि अरस्तू-होरेस के बन्धन से मुक्ति मिल गई, पर 'व्यक्तिगत रुचियो' ने साहित्यालोचन मे इतनी विभिन्नता और अव्यवस्था उपस्थित कर दी कि एक आग्ल आलोचक के शब्दो मे "उन्नीसवी शताब्दी की आलोचना मे किसी तारतम्य को खोजना कठिन है।"

अशास्त्रीय परीक्षण के विभिन्न रूपो मे (१) **प्रभाववादी आलोचना** (Impressionist criticism), (२) **सौन्दर्यवादी** (Aesthetical) (३) **प्रशसावादी** (Appreciative) और (४) **मार्क्सवादी** (Marxian) आलोचनाए यूरुप के आधुनिक साहित्य-जगत् को अभिभूत करती रही है।

'प्रभाववादी आलोचना' मे आलोचक अनातोले फ्रास के शब्दो मे, "साहित्य के बीच विचरण करने वाली अपनी आत्मा के अनुभवो का वर्णन करता है।" इस प्रकार की आलोचना "मैं"—परक होती है। उसमें आलोचक का व्यक्ति प्रधान होकर बोलने लगता है। 'History of the People of Israel' की आलोचना मे आलोचक अनातोले फ्रास की आत्म-व्यजना का ही सुन्दर रूप मिलता है।

'प्रभाववादी आलोचना' में जहाँ आलोचक अपने को व्यक्त कर आत्मविभोर हो जाता है, वहाँ **'सौन्दर्यवादी आलोचना'** में वह साहित्य मे केवल 'सुन्दरम्' ही देखता है। यह सौन्दर्य शैली का हो सकता है और कल्पना का भी।

'प्रशसावादी आलोचना' मे शास्त्रीय, प्रभाववादी और सौन्दर्यवादी इन तीनो प्रकार की प्रणालियो का समावेश होता है। इस प्रकार की आलोचना में न साहित्य की व्याख्या होती है और न किन्ही नियमो का माप-तोल। उसमे हर स्रोत मे 'आनन्द-रस' को सचित किया जाता है। अपने इस आनन्द को अपनी ही कल्पना के सहारे आलोचक चित्रित करता है।*

इस प्रकार की आलोचना की एकागिता स्पष्ट है। इन दिनो पाश्चात्य देशो में आलोचना का एक प्रकार और प्रचलित है, जो **'मार्क्सवादी आलोचना'** के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें आलोचक कृति में देखता है कि 'क्या इसमें शोषक और शोषित' वर्गों का सघर्ष है? क्या शोषित वर्ग के प्रति लेखक की सहानुभूति है और क्या उसकी शोषक वर्ग पर विजय दिखाई गई है? यदि इनका उत्तर "हाँ" है तो वह साहित्य की 'श्रेष्ठ कृति' है। यदि "नही" तो उसका मूल्य 'शून्य' है। यह आलोचना जीवन और साहित्य को एक मानकर चलती है।

मोल्टन ने आधुनिक आलोचना के चार प्रकार प्रस्तुत किये है—

(१) **व्याख्यात्मक** (Inductive criticism) (२) **निर्णयात्मक** (Judicial method) (३) **दार्शनिक पद्धति**, जिसमें साहित्य की दार्शनिकता पर विचार किया जाता है और (४) **स्वच्छन्द आलोचना** (Free or subjective criticism)।

---

* "The criticism is primarily not to explain and not to judge or dogmatize, but to enjoy, to realise the manifold charm the work of art has gathered into itself from all sources, and to interpret this charm imaginatively to the men of his own day and generation" (Studies and Appreciation)

मोल्टन ने व्याख्यात्मक आलोचना को शेष तीन प्रकार की आलोचनाओ का आधार माना है। विंचेस्टर ने अपनी 'Some Principles of Literary criticism' में आलोचनाओ के विभिन्न भेदो की मीमासा न कर आलोचना के लिए तीन बातें आवश्यक बतलाई हैं। आपके मत से आलोचक को (१) साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि से अवगत हो जाना चाहिए, क्योकि कोई साहित्य अपने समय से सर्वथा अप्रभावित नही रह सकता। (२) साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन से भिज्ञ हो जाना चाहिए। इससे साहित्य को समझना आसान हो जाता है। पर इसी तत्त्व की ओर विशेष ध्यान देने से आलोचना का तोल विगड सकता है और (३) कृति की साहित्यिक विशेषताओ की उद्भावना की जानी चाहिए। विंचेस्टर ने अन्तिम तत्त्व पर ही विशेष ज़ोर दिया है। साहित्यिक विशेषताओ के अन्तर्गत कल्पना, भावना, भाषा आदि का विचार आता है। इस पद्धति को साहित्य की 'वैज्ञानिक परीक्षा' कहा जा सकता है, जिसमें शास्त्रीय नियमो के न रहते हुए भी कृति की परख 'नियम-रहित' नही है। नीचे वृक्ष द्वारा पाश्चात्य आलोचना की धाराओ का स्पष्टीकरण किया जाता है —
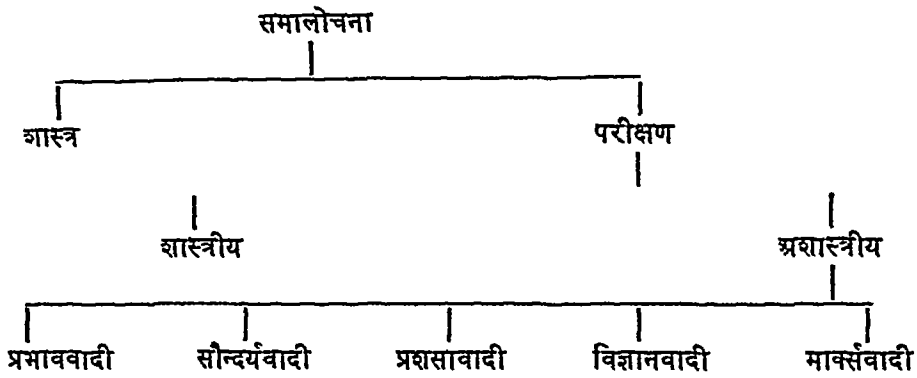
हिन्दी मे आलोचना के परीक्षण—अग के दर्शन होने के पूर्व शास्त्र-ग्रन्थो का निर्माण सस्कृत शास्त्र-ग्रन्थो के आधार पर प्रारम्भ हो गया था। सस्कृत में आलोचना-शास्त्र के पाँच स्कूल थे १—रस-सम्प्रदाय (स्कूल)— यह सम्प्रदाय बहुत पुराना है। भरत के नाटच-शास्त्र में इसकी चर्चा है। हमारे यहाँ आचार्यों ने साहित्य की आत्मा 'रस' में देखी थी। 'आनन्द' की परम अनुभूति का नाम ही 'रस' है। उसकी उत्पत्ति के विषय मे भरत का कहना है—

"विभावानुभावव्यभिचारि सयोगाद्रसनिष्पत्ति।"

रूपक में 'रस' की सृष्टि दर्शको या पाठक मे होती है या पात्र या नाटक (काव्य) में, इस प्रश्न को लेकर भरत के बाद में होने वाले आचार्यों मे काफी मतभेद रहा। पर अधिक मान्य मत यही है कि जब दर्शक या पाठक का मन पात्र या 'काव्य' के साथ 'समरस' हो जाता है—(जब साधारणीकरण की अवस्था उत्पन्न हो जाती है) तभी "रस" की निष्पत्ति होती है। रस की स्थिति वास्तव में दर्शक या पाठक के मन मे ही होती है। नाटक देखने-पढने से उसके मन के सोये हुए 'सस्कार' जाग उठते है और वह 'कृति' में अपना भान भूलकर आनन्द-विभोर हो जाता है।

(२) रस सम्प्रदाय के साथ-साथ अलकार सम्प्रदाय का भी जन्म हुआ प्रतीत होता है। भामह को इस स्कूल का प्रथम ज्ञात आचार्य कहा जाता है। उनके बाद दडी, रुद्रटक, और उद्भट का नाम आता है। इन आचार्यों ने "अलकाराएव काव्ये प्रधानमिति प्राच्याना मत" कह कर काव्य में अलकारो को ही सब कुछ माना है। उक्त आचार्यों ने शब्द और अर्थालकारो की बावन सख्या तक व्याख्या की है, पर यह सख्या क्रमश बढती गई।

(३) रीति-सम्प्रदाय में गुण (माधुर्य, ओज, और प्रसाद आदि) और रीति युक्त रचना को श्रेष्ठ माना गया है। आचार्य वामन ने गुणो की महत्ता में कहा है कि गुण-रहित काव्य मनोरजक नही हो सकता। गुण ही काव्य की शोभा है। वामन ने शब्द के दस और अर्थ के भी इतने ही गुण बतलाये हैं।

(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय—कुतक ने वक्रोक्ति को ही काव्य का भूषण माना है। इसके पूर्व भामह ने इसकी चर्चा की थी। कुतक ने वक्रोक्ति में ही रस, अलकार और रीति सम्प्रदायो को सम्मिलित करने की चेष्टा की। कुछ आचार्य वक्रोक्ति को अलकार के अन्तर्गत मान कर मौन हो जाते है।

(५) ध्वनि-सम्प्रदाय ने वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ को, जो 'व्यगार्थ' कहलाता है, महत्त्व दिया है। इसके प्रकट आचार्य आनन्द वर्धनाचार्य माने जाते है। इस सिद्धान्त ने सस्कृत-आलोचना साहित्य मे क्रान्ति मचा दी। ध्वनि में ही काव्य का सर्वस्व सुन पडने लगा। परिष्कृत भावक 'ध्वनि'-काव्य के ही ग्राहक होते है। अभिधापरक काव्य से उनमें रस की निष्पत्ति नही होती।

हिन्दी मे उक्त सम्प्रदायो में से 'रस' और 'अलकार'-सम्प्रदायो को ही अपनाया गया। आज यह कहना कठिन है कि हिन्दी मे रस और अलकार-शास्त्रो की रचना कब से हुई। केशवदास (स० १६१२) को(?) ही काव्य-शास्त्र का आदि आचार्य माना जा सकता है। उनके पश्चात् (२) जसवन्तसिंह (भाषा-भूषण) (३) भूषण त्रिपाठी (शिवराज भूषण) (४) मतिराम त्रिपाठी (ललित ललाम) (५) देव (भाव विलास) (६) गोविन्द (कर्णाभरण) (७) भिखारीदास (काव्य निर्णय) (८) दूलह (कठाभरण) (९) रामसिंह (अलकार दर्पण) (१०) गोकुल कवि (चेत चन्द्रिका) (११) पद्माकर (पद्माभरण) (१२) लछिराम (१३) बाबूराम बिस्थरिया (नव-रस) (१४) गुलाबराय (नव-रस) (१५) कन्हैयालाल पोद्दार (अलकार प्रकाश और काव्य कल्पद्रुम) (१६) अर्जुनदास केडिया (भारतीभूषण) (१७) लाला भगवानदीन (अलकार-मजूषा) (१८) जगन्नाथप्रसाद 'भानु' (छन्द प्रभाकर) (१९) श्यामसुन्दरदास (साहित्यालोचन) और (२०) जगन्नाथदास रत्नाकर (समालोचनादर्श) आदि ने इस दिशा में श्रम किया है। शास्त्र की रचना के साथ समालोचना-प्रणालियो का हमारे यहाँ पाश्चात्य देशो की भाँति शीघ्र प्रचार नही हुआ। सबसे पहले सक्षिप्त सम्मति-प्रदान की आशीर्वादात्मक प्रथा का जन्म हुआ। 'भक्तमाल' में (विक्रम की सोलहवी शताब्दी मे) "वाल्मीकि तुलसी भयो" जैसी सूत्रमय सम्मति मिल जाती है। साहित्य-कृति की अन्तरात्मा मे प्रविष्ट हो उसके विवेचन का समय बहुत बाद मे आता है। हरिश्चन्द्र-काल से कृति के गुण-दोष विवेचन की शास्त्रीय आलोचना का श्रीगणेश होता है। प० बद्रीनारायण चौधरी की 'आनन्द कादम्बिनी' मे 'सयोगता स्वयवर' की विस्तृत आलोचना ने हिन्दी मे एक क्रान्ति का सन्देश दिया। पर जैसा कि आलोचना के प्रारम्भिक दिनो मे स्वाभाविक था, आलोचको का ध्यान 'दोषो' पर ही अधिक जाता था। मिश्रबन्धु लिखते है, "सवत् १९५६ में 'सरस्वती' निकली। सवत् '५७ में इसी पत्रिका के लिए हमने हम्मीर-हठ और प० श्रीधर पाठक की रचनाओ पर समालोचनाएँ लिखीं और हिन्दी-काव्य-आलोचना मे साहित्य-प्रणाली के दोषो पर विचार किया। सवत् १९५८ मे उपर्युक्त लेखो में दोषारोपण करने वाले कुछ आलोचको के लेखो के उत्तर दिये गये। प० श्रीधर पाठक-सम्बन्धी लेख में दोषों के विशेष वर्णन हुए। हिन्दी काव्य-आलोचना के विषय में अखबारो मे एक वर्ष तक विवाद चलते रहे, जिसमे देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने भी कुछ लेख लिखे।" प० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी 'दोष-निरूपक आलोचना' को विशेष प्रश्रय दिया। इस काल तक 'शास्त्रीय आलोचना' से आगे हमारे आलोचक नही बढे। मिश्र-बन्धुओ ने जब 'हिन्दी-नव-रत्न' मे कवियो को बडा-छोटा सिद्ध करने का प्रयत्न किया तब प० पद्मसिंह शर्मा ने विद्वत्तापूर्ण ढग से 'बिहारी' की तुलना सस्कृत और उर्दू-फारसी के कवियो से कर हिन्दी मे तुलनात्मक आलोचना-प्रणाली को जन्म दिया। इस प्रणाली मे शास्त्रीय नियमो का सर्वथा बहिष्कार नही होता, पर उसमें आलोचक की व्यक्तिगत रुचि का प्राधान्य अवश्य हो जाता है। यूरुप में ऐसी तुलनात्मक आलोचना को महत्त्व नही दिया जाता, जिसमें लेखको-कवियो को 'घटिया-बढिया' सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है।

शर्मा जी की इस आलोचना-पद्धति का अनुकरण हिन्दी मे कुछ समय तक होता रहा, पर चूँकि इसमें बहु-भाषा-विज्ञता और साहित्य-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा होती है, इसलिए इस दिशा मे बहुत कम व्यक्ति सफल हो सके। पत्र-पत्रिकाओ की सख्या बढ जाने के कारण सक्षिप्त सूचना और लेख-रूप में आलोचनाएँ अधिक

छपने लगी, जिनमें न तो आलोचको का व्यक्तित्व ही प्रतिबिम्बित हो पाया और न कृति का यथार्थ दर्शन-विवेचन ही।

छायावाद-काल मे प्रभाववादी समालोचनाओ का बाहुल्य रहा है। पर साथ ही 'साहित्य' की आत्मा से एकता स्थापित करने की चेष्टा भी कम नही हुई। इस युग में शास्त्रीय आलोचना का महत्त्व बहुत घट गया। नियमो-बन्धनो के प्रति उसी प्रकार विद्रोह दीख पडा, जिस प्रकार यूरुप मे रोमांटिक युग में दीखा था। साहित्य के समान आलोचना भी निर्बन्ध होने लगी। कई बार साहित्य-कृति की अपेक्षा समालोचना में भाषा सौन्दर्य और कल्पना की सुकुमारता अधिक आकर्षक प्रतीत होती थी। छायावाद की अधिकाश रचनाओ को जिस प्रकार समझना कष्टकर होता था उसी प्रकार तत्कालीन कई आलोचनाएँ भाषा के आवरण मे छिप जाती है। इन छायावादी आलोचनाओ में सौन्दर्य-तत्त्व और (आलोचक का) रुचि-तत्त्व प्रमुख है। द्विवेदी-युग मे प० रामचन्द्र शुक्ल ने अग्रेजी आलोचना-पद्धति के अनुसार हिन्दी में ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर कतिपय कवियो की शास्त्रीय आलोचना (ग्रथ रूप में) प्रस्तुत कर मार्ग-दर्शन का कार्य किया।

छायावाद-काल की शुद्ध प्रभाववादिनी आलोचनाओ का अस्तित्व भी अधिक समय तक नही ठहर सका। सन् १९३४ के लगभग देश मे साम्यवादियो की लहर के फैलते ही साहित्य मे भी उसका अस्तित्व अनुभव होने लगा। प० सुमित्रानन्दन पन्त आदि ने मार्क्सवाद का अध्ययन किया और उसी के सिद्धान्तो की पोषक रचनाओ की सृष्टि की। आलोचना मे भी एक प्रणाली उठ खडी हुई, जो अपने मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण भर कर चलने लगी, परन्तु इसमें भारतीय राजनैतिक स्थिति के वैषम्य और उसके दुष्परिणामो के तत्त्वो का भी समावेश कर दिया गया। इस प्रकार की आलोचना 'प्रगतिवादी' आलोचना भी कहलाती है। इसमे शास्त्रीय नियमो की अवहेलना और सौन्दर्य-तत्त्व का बहिष्कार कर 'व्यक्तिगत रुचि' का स्वीकार पाया जाता है।

श्री हीरेन मुखर्जी के शब्दो मे प्रगतिशील आलोचना को सामान्यत दो बुराइयो के कारण क्षति उठानी पडती है। एक ओर तो नकली मार्क्सवादी का असयम, जो अपने उत्साह मे यह भूल जाता है कि लिखना एक शिल्प है, जिसकी अपनी लम्बी और अनूठी परम्परा है। और दूसरी ओर गरीबो और दीनो के दु खो के फोटो सदृश चित्रण की प्रशसा करते न थकने वाले और बाकी सारी चीज़ो को प्रतिगामी पुकारने वाले भावना-प्रधान व्यक्ति की कोरी भावुकता। यह लडकपन की बाते है, जिनसे साहित्य मे प्रगति के इच्छुक सभी लोगो को अपना पीछा छुडाना चाहिए।

आज हिन्दी का आलोचना-साहित्य समुन्नत नही दीखता। आलोचना के नाम पर जो निकलता है, उसका निन्यानवे प्रतिशत अश सच्ची परख से हीन होता है, साहित्यकार का अत्यधिक स्वीकार या तिरस्कार ही उसमे पाया जाता है। निर्भीकता और स्पष्टता उसमें बहुत कम मिलती है। इस अधकचरेपन मे न कोई आश्चर्य की बात है और न निराशा की ही। अभी 'साहित्य' के विभिन्न अग ही अपरिपक्व है। कुछ उग रहे है, कुछ खिलना चाहते है और कुछ महक रहे है। ऐसी दशा मे साहित्य की सम्यक् आलोचना का समय आज से सौ, दो सौ वर्ष बाद ही आ सकता है। इस समय प्राचीन साहित्य के परीक्षण की दिशा मे कार्य होना आवश्यक है, पर प्राचीन साहित्य के समझने, परखने के लिए विभिन्न दृष्टियो से गम्भीर अध्ययन की ज़रूरत है। इसके लिए हमारे आलोचक कब तैयार होगे ?

नागपुर]

अदृष्ट

ठाकुर गोपालशरण सिह

क्या तुम छिप सकते हो मन में ?
ललित लता के मृदु अञ्चल में,
विकसित नव-प्रसून के दल में,
प्रतिविम्बित हिमकण के जल में,
तुम्हें देखता हूँ मैं सन्तत
पिक-कूजित कुसुमित कानन में।
क्या तुम छिप सकते हो मन में ?

लिये सङ्ग में परम मनोहर,
तारावलि-रूपी रत्नाकर,
है नभ में छिप गया कलाधर,
किन्तु देखता हूँ मैं तुमको
चल-चपला मे ज्योतित घन में।
क्या तुम छिप सकते हो मन में ?

जल की ललनाओ के घर में,
गाते हुए सरस मृदु स्वर में,
तुम हो छिपे अतल सागर में,
मैं देखा करता हूँ तुम को
चञ्चल लहरो के नर्त्तन में।
क्या तुम छिप सकते हो मन में ?

जब मैं व्याकुल हो जाता हूँ,
कहीं नहीं तुम को पाता हूँ,
मिलनातुर हो घबराता हूँ,
तब तुम आकर भर देते हो
नव प्रकाश मेरे जीवन में।
क्या तुम छिप सकते हो मन में ?

नईगढ़ी]

हिन्दी कविता के कला-मण्डप

श्री सुधीन्द्र एम्० ए०

पिछली अर्धशताब्दी से हिन्दी कविता मे जो प्रगति हुई है वह निस्सन्देह उदीयमान भारत-राष्ट्र की वाणी हिन्दी के सर्वथा अनुरूप ही है। काव्य के अनेक उपकरणो पर समीक्षको और समालोचको ने यथावसर प्रकाश डाला है, किन्तु अभीतक किसी ने यह दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न नही किया है कि हिन्दी के छन्द ने इस युग मे कितनी समृद्धि और विभूति सचित की है। उसका मूल्याकन होना भी आवश्यक है।

इस अर्धशताब्दी मे हिन्दी कविता ने अपने विहार के लिए अत्यन्त मनोरम और भव्य कला-मडप सँवारे है। कविता की रसात्मकता मे छन्दो का योग कम नही है। छन्द की गति (लय) की मधुरिमा ऐसी मधुरिमा है, जो रसज्ञ के लिए भी 'गूंगे का गुड' ही रही है। हिन्दी के स्वनामधन्य कवि 'प्रसाद', पन्त, गुप्त, महादेवी तथा अन्य कविगणो की लेखनी से जो कविता प्रसूत हुई है, उसमे छन्द के इतने विविध प्रयोग हुए है कि उन्होने हिन्दी के 'छन्द प्रभाकर' को भी छोटा कर दिया है। कवि की दृष्टि 'प्रभाकर' की किरण से भी दूर पहुँची है और उसने छन्दो का एक नवीन छायालोक ही निर्मित कर दिया है।

छन्द की मदिर गति को स्वच्छन्द छन्द के कवि भी छोड नही सके, चाहे वे 'निराला' हो, चाहे सियारामशरण, या 'प्रसाद' या सोहनलाल द्विवेदी।

इन छन्दो की प्रकृति मे कई बातें विशेषत उल्लेखनीय है—

(१) (मात्रिक) छन्दो मे शास्त्रकारो ने लक्षण बताते समय उनके चरणान्त मे लघु गुरु आदि के क्रम का भी विधान कर दिया था, किन्तु कवि की प्रतिभा इस नियम में बद्ध न रह सकी और कला ने इन बन्धनो को सुघडता से दूर कर दिया। एक उदाहरण ले 'छन्दप्रभाकर'-कार 'हरिगीतिका' का लक्षण देते है—

१६ १२ । ऽ
श्रृंगार भूषण अन्त ल ग जन गाइए हरिगीतिका।

अर्थात् १६, १२ पर यति और अन्त मे लघुगुरु होना चाहिए, किन्तु कवि (मैथिलीशरण गुप्त) ने इस गति के नियम का भग करके भी इसकी सहज मधुरिमा को नष्ट नही होने दिया है, बढा ही दिया है—

मानस भवन में आर्यजन, जिसकी उतारें आरती। १४, १४,
भगवान् भारतवर्ष में, गूंजे हमारी भारती। १४, १४,
हे भद्रभावोद्भाविनी, हे भारती, हे भगवते! १४, १४,
सीतापते, सीतापते, गीतामते, गीतामते। १४, १४,
(भारतभारती)

इसी प्रकार वर्णिक छन्द सवैया मे भी लघु-गुरु के कठिन बन्धन का त्याग कर कवि ने छन्द का सौन्दर्य द्विगुणित ही किया है—

करने चले तग पतग जलाकर मिट्टी में मिट्टी मिला चुका हूँ।
तम तोम का काम तमाम किया दुनिया को प्रकाश में ला चुका हूँ।
नहीं चाह 'सनेही' सनेह की और सनेह में जी मै जला चुका हूँ।
बुझने का मुझे कुछ दुःख नहीं, पथ सैकडो को दिखला चुका हूँ।
—सनेही

आठ सगण (लघु-लघु-गुरु) के इस 'दुर्मिल' सवैया का गण विचार कीजिए। कवि ने कितनी स्वतन्त्रता ग्रहण की है, परन्तु सौष्ठव बढा ही है।

(२) पिंगलकार यह भी विधान करते है कि छन्द ४ चरणो का होता है, (जैसे वह कोई चतुष्पद 'जन्तु' हो।) परन्तु इस रूढि को भी कवियो ने कई बार गाँठ बाँधकर पौराणिको के लिए धर दिया। अब तो दो चरणो और तीन चरणो की रुचि प्राय देखी जाती है। कभी-कभी अन्त्यानुप्रास केवल पहले, दूसरे और चौथे चरण का ही मिलाते है।

जैसे—

(क) दो चरणो का अन्त्यानुप्रास—

तिमिर में बुझ खो रहे विद्युत भरे निश्वास मेरे
निःस्व होगे प्राण मेरे शून्य उर होगा सवेरे।

('दीपशिखा' महादेवी)

(ख) तीन चरणो का अन्त्यानुप्रास—

कुटी खोल भीतर जाता हूँ।
तो वैसा ही रह जाता हूँ।
तुझको यह कहते पाता हूँ!

('झकार' गुप्त जी)

(ग) प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ चरणो का अन्त्यानुप्रास—

रज में शूलों का मृदु चुम्बन,
नभ में मेघो का आमन्त्रण,
आज प्रलय का सिन्धु कर रहा—
मेरी कम्पन का अभिनन्दन!

('दीपशिखा' महादेवी)

(३) कवि-प्रतिभा ने दो छन्दो के सयोग से नये छन्द की रचना करने की स्वतन्त्रता का भी उपयोग किया है। सबसे पहले सम्भवत 'अष्टछाप' के कवि नन्ददास ने इस दिशा में पदनिक्षेप किया था। उन्होने 'रोला' और 'दोहा' के सम्मिश्रण और अन्त मे एक १० मात्रीय चरण और जोडकर छन्द को सवाया सुन्दर कर दिया। वर्ण-सकर होकर भी इस सन्तति ने अपने शील द्वारा हिन्दीभाषी जनता को इतना मुग्ध किया कि इस शताब्दी के कविवर सत्यनारायण ने भी वही मार्ग पकडा। एक उदाहरण लें—

नन्ददास—

जो मुख नाहिन हतो, कहो किन माखन खायो,
पायन विन गोसग कहो वन-वन को धायो,
आँखिन में अजन दयो गोवर्धन लयो हाथ,
नन्द जसोदा पूत है कुँवर कान्ह व्रजनाथ।
सखा सुन स्याम के।

('भँवर गीत')

सत्यनारायण 'कविरत्न'— जे तजि मातृभूमि सो ममता होत प्रवासी।
तिन्हें बिदेसी तग करत हैं बिपदा खासी।
नहि आये निर्दय दई, आये गौरव जाय।
सांप-छछूदर गति भई, मन हीं मन अकुलाय।
रहे सबके सबै।
('भ्रमर दूत')

'एक भारतीय आत्मा' ने भी 'पुष्प की अभिलाषा' कविता मे—'ताटक' और 'वीर' (अर्द्धांश) का सुन्दर सयोग करके नवीन षट्पदी प्रस्तुत की। ऐसी अनेक षट्पदियाँ लिखी गई है और लिखी जायेंगी। गीति-कारो ने तो इस परिपाटी को अपना ही लिया—

(१) आज इस यौवन के माधवी कुञ्ज में कोकिल बोल रहा!
मधु पीकर पागल हुआ, करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप।
लाज के बन्धन खोल रहा?
('चन्द्रगुप्त' 'प्रसाद')

(२) जड नीलम शृगो का वितान, मरकत की क्रूर शिला धरती,
घेरे पाषाणी परिधि तुझे क्या मृदु तन में कम्पन भरती?
यह जल न सके
यह गल न सके,
यह मिटकर पग भर चल न सके
तू माँग न इनसे पन्थदान!
('दीपशिखा' महादेवी)

'सूरसागर' के सन पदो मे जितने भी छन्द प्रयुक्त हुए है क्या उनका कभी लेखा-जोखा हुआ है? क्या हिन्दी के अभिनव शास्त्रकारो के सामने यह महान् कार्य नही पडा है? काव्य के पश्चात् पिंगल शास्त्र की सृष्टि होती है। हिन्दी का पिंगल अभी अपनी कविता से कितना पिछडा हुआ है! क्या उसके छन्दो का एक अद्यवत् वैज्ञानिक और शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत नही किया जा सकता? यह एक गम्भीर अनुसन्धान का महत्त्वपूर्ण विषय है।

छन्दो के अध्ययन करनेवाले को अवश्य ही कई नये छन्दो के दर्शन होगे और उनका नामकरण हुए विना आगे गति नही होगी। इस लेखक को भी यह करना पडा, जिसका परिणाम नीचे प्रस्तुत है।

करुणा १४ मात्राओ का छन्द—

लक्षण—सिद्धि राग यतिमय करुणा।

उदाहरण—करुणा कञ्जारण्य रवे!
गुण रत्नाकर आदि कवे!
कविता-पित! कृपा-वर दो,
भाव-राशि मुझमें भर दो!

('साकेत')

मधुमाला . १६ मात्राओं का छन्द।

लक्षण—वसु-वसु यति वर 'मधुमाला' गा।

(८, ८ पर विराम, अन्त में गुरु)

उदाहरण—मैं मधु-विक्रेता की प्यारी,
मधु के घट मुझ पर वलिहारी।

('मधुशाला' 'बच्चन')

कोकिल १६ मात्राओं का छन्द।

लक्षण—सिद्धि सिद्धि धर गा चल 'कोकिल'।

(८, ८ पर विराम अन्त में लघु)

उदाहरण—गा कोकिल भर स्वर में कम्पन,
झरें जाति-कुल वर्ण-पर्ण-घन,
अन्धनीड में रूढ़ रीति-छन,
व्यक्ति राष्ट्र-गत राग-द्वेष-रण।
झरें मरें विस्मृति में तत्क्षण!
गा कोकिल, बरसा पावक कण!

('युगान्त' पन्त)

'मधुकर' १६ मात्राओं का छन्द।

लक्षण—४ चौकल, अन्त में मगण

उदाहरण—मैं प्रेमी उच्चादर्शों का
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्षों का,

('गुंजन' पन्त)

'यशोवरा' २२ मात्राओं का छन्द।

लक्षण—सिद्धि सिद्धि रस यतिवर गाओ 'यशोवरा'।

(८,८, ६ पर यति, कुल २२ मात्राएँ, अन्त में 'गुरु')

उदाहरण—यह जीवन भी यशोधरा का अंग हुआ,
हाय, मरण भी आज न मेरे संग हुआ!
सखि वह था क्या, सभी स्वप्न जो भंग हुआ,
मेरा रस क्या हुआ और क्या रंग हुआ!

('यशोधरा' गुप्त)

(१४, १० मात्राओं पर यति वाले) २४ मात्राओं के 'रूपमाला' का दूसरा नाम 'गीति' रखना उचित होगा, क्योंकि उसमें 'हरिगीति', 'हरिगीतिका' और 'गीतिका' का अनुबन्ध बैठ सकेगा—

'गीति'—

"आज छाया है दृगों में विभो पुण्य प्रकाश—
उषा-आशा से रँगा है आज हृदयाकाश!"

'प्रियहरि' २३ मात्राओ का छन्द

लक्षण—सप्त स्वर निधि यति अलकृत मजु 'प्रियहरि' गा।

(७,७,६ पर यति, कुल २३ मात्राएँ, अन्त में गुरु)

उदाहरण—"विश्वव्यापी वेदना यह प्रिय-विरह की है,
अमित नभ में जो अगण्य स्वरूप रचती है!"

('गीताजलि'—अनुवाद)

'हरिगीति' २६ मात्राओ का छन्द

लक्षण—('गीति' के प्रारम्भ में एक गुरु)

गुरु गीति के प्रारम्भ में धर, गाइए 'हरिगीति'।

उदाहरण—"कुछ स्वर्ण सा, कुछ रजत सा, सित पीत असिताकाश।"

('हरिगीतिका' का अन्त्य 'गुरु' हटाने पर यही छन्द बनता है।)

मधुव्रत २८ मात्राओ का छन्द

लक्षण—आज विद्या[१४]-रत्न[१४] मधुव्रत अन्त में मधुमय लगा गा।

(१४, १४ पर यति, अन्त मे मगण, यगण, या लघु या लघुगुरु या गुरु गुरु)

उदाहरण—मैं उषा सी ज्योति-रेखा कुसुम विकसित प्रात रे मन!

—'प्रसाद'

मणिमाला २८ मात्राओ का छन्द

लक्षण—विद्या[१४], विद्या[१४] पर यतिधर गा युगल-सखी 'मणिमाला।

(१४, १४ पर यति, अन्त में गुरु गुरु)

उदाहरण—जग के उर्वर आँगन में बरसो ज्योतिर्मय जीवन!
बरसो लघु-लघु तृण तरु पर, हे चिर अव्यय, नित नूतन!
बरसो कुसुमों में मधु बन प्राणों में अमर प्रणयधन—
स्मिति-स्वप्न अधर पलको में, उर अगों में सुख यौवन

('गुजन' पत)

('आँसू' . 'प्रसाद' का छन्द यही है। यह १४ मात्रा वाले 'सखी' छन्द (कलभुवन[१४] सखी रचि माया) का दूना है।)

मधुमालाहार २८ मात्राओ का छन्द
(मधुमाला+हार)
मधुमाला (पीछे 'देखें')
हार १२ मात्राओ का एक चरण—

दिनमणि[१२] सा हार लगा[IS]।

उदाहरण—कोमल द्रुमदल निष्कम्प रहे, ठिठका-सा चन्द्र खडा
माधव सुमनों में गूँथ रहा, तारो की किरन अनी

(यद्यपि 'अन्त्यानुप्रास' नही है, परन्तु छन्द वही है)

('चन्द्रगुप्त' प्रसाद)

श्रृंगारताण्डव : २८ मात्राओं का छन्द

श्रृंगार और ताण्डव के योग से यह छन्द बनता है—

श्रृंगार . (पादाकुलक का एक भेद · आदि ३+२, अन्त ऽ=३)

सजत सब ग्वाल वधू श्रृंगार।[1]

ताण्डव : तरणि 'ताण्डव' में गोल

(१२ मात्राएँ, गुरुलघु अन्त में)

उदाहरण—तारिका सी तुम दिव्याकार, चन्द्रिका की झङ्कार,
प्रेम-पखो में उड़ अनिवार, अप्सरा-सी लघुभार
स्वर्ग से उतरीं क्या सोद्‌गार, प्रणय-हसिनि सुकुमार ?
हृदय-सर में करने अभिसार, रजत-रति, स्वर्ण-विहार !

('गुंजन')

माधवी २९ मात्राओं का छन्द

लक्षण—'कोकिल-धरणी मय कर प्रियवर गाओ मधुमय माधवी।'

कोकिल—(पीछे देखिए)

धरणी—वसुगति धरणी-चंडिका (१३ मात्राएँ) इसका दूसरा नाम 'चंडिका' भी है। दोनों के योग से 'माधवी' बनेगा।

उदाहरण—

गूँज रहा सारे अम्बर में तेरा तीखा गान है !
रंग-विरंगे आँसू-स्मितिमय आशा जिसकी तान है !
हम दोनों के वृहद् प्रदर्शन से द्युत व्योम-वितान है,
स्पंदित प्राण वायु को करती तेरी -मेरी तान है !

('गीतांजलि'—अनुवाद)

वैजयन्ती ३० मात्राओं का छन्द

लक्षण—श्रृंगार, विद्या यतिमयी हरिगीतिका—गा,वैजयन्ती।

(१६, १४ पर यति, हरिगीतिका+ऽ)

उदाहरण—"ब्रह्माण्ड में सब ओर जिसकी है फहरती वैजयन्ती।"

श्रृंगारगोपिका ३१ मात्राओं का छन्द (श्रृंगार+गोपी)

श्रृङ्गार . 'सजत सब ग्वालवधू श्रृंगार।'

गोपी कला तिथि, गा गा प्रिय गोपी

(१५ मात्राएँ अन्त में दो गुरु)

---

[1] छन्दप्रभाकर, पृ० ५३

उदाहरण—"आज इस यौवन के माधवी कुञ्ज में कोकिल बोल रहा।"

('चन्द्रगुप्त' 'प्रसाद')

वीरविलम्बित ३२ मात्राओं का छन्द

('वीर' में एक लघु बढा देने से यह छन्द बनता है)

लक्षण—"चौपाई युग मिला मनोहर, कविवर, वीर विलम्बित गाओ।"

उदाहरण—काँपे भूधर सागर काँपे, तारक-लोक खमण्डल काँपे,
यह विराट भूमण्डल काँपे, रविमण्डल आखण्डल काँपे,
परिवर्तन का क्रांति प्रलय का, गूँज उठे सब ओर घोर स्वर,
देख दृष्टि हुकार श्रवणकर अन्ध गन्ध वह मण्डल काँपे!

('प्रलयवीणा')

(यह छन्द 'उपचित्रा' या 'मधुकर' का भी दुगुना होता है।)

मुक्ताहार ३२ मात्राओं का छन्द

लक्षण—'सजा दो शोभामय 'शृंगार' उसे पहनाओ मुक्ताहार।'

('शृंगार' छन्द का दुगुना)

उदाहरण—हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरकहार।
जगे हम लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नष्ट अखिल संसृति हो उठी अशोक।

('स्कन्दगुप्त' 'प्रसाद')

इस प्रकार शत-सहस्र नये-नये छन्दों के नूपुर हिन्दी-भारती ने अपने अंग-प्रत्यंग में सजाये हैं, जिनके रुनुन-झुनुन से हिन्दी-प्रेमियों की श्रुतियाँ रसमग्न हो रही हैं।

वनस्थली]

जायसी का पक्षियों का ज्ञान

श्री सुरेशसिंह

"सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास" के रचयिता ने भले ही जायसी को छोड दिया हो, लेकिन जिसको साहित्य का थोडा भी ज्ञान है वह भली भाँति जानता है कि हमारे साहित्य-गगन मे जायसी आज भी ध्रुव की तरह अचल और अमन्द है।

सूर की ब्रजमाधुरी ने सारे देश को मधुमय अवश्य कर दिया और तुलसी ने अपनी भक्ति की मन्दाकिनी से समूचे राष्ट्र में चेतनता की एक लहर अवश्य दौडा दी, लेकिन इन दोनो भक्त महाकवियो के पूर्व ही जनता के इस कवि ने प्रेम का जो विशद वर्णन अपने 'पद्मावत' मे किया है वह हमारे साहित्य की एक निधि है। जनता की सच्ची अनुभूति, उसके रहन-सहन, आचार-विचार और उसकी वास्तविक स्थिति का जैसा सजीव चित्र जायसी ने खीचा है, वैसा चित्र खीचने में शायद ही किसी कवि को इतनी सफलता मिली हो।

व्रजभाषा अपने माधुर्य से देश के कोने-कोने में साँस के समान भले ही समाई रही हो, पर महाकाव्य रचे जाने का गौरव अवधी को ही मिला। 'रामचरितमानस' और 'पद्मावत' अवधी भाषा के दो महाकाव्य हैं, जो हमारे लिए आज भी पथ-प्रदर्शक का काम कर रहे हैं। वीरगाथा के महाकाव्य पृथ्वीराज रासो का समय बीत चुका था। देश विजेता के सम्मुख नतमस्तक खडा था। वह राजनैतिक दासता की शृंखला शिथिल होने से पहले ही मानसिक गुलामी की जंजीर में बँधने जा रहा था। देश की रक्षा करने वाले तलवार फेककर इस लोक की अपेक्षा परलोक की चिन्ता में पड गए थे। देश में एक प्रकार की अस्तव्यस्तता-सी फैली थी। ऐसे परिवर्तन के समय जायसी साहित्याकाश में एक प्रकाश पुंज के समान उदित हुए। उन्होंने अपनी प्रेमगाथा की लोरी सुनाकर देश को सुलाने का प्रयत्न किया, किन्तु देश में जो अशान्ति और क्षोभ के घने बादल घिरे थे वे राम-कृष्ण के प्रेम की शत-शत धाराओ से बरस पडे। सूर और तुलसी के भक्ति-प्रवाह के आगे कोई भी न ठहर सका और सारा देश राम-कृष्णमय हो उठा। उस प्रबल आँधी मे जायसी एकदम पीछे पड गये और यही कारण है कि आज हम उनकी अमर रचना के बारे मे बहुत कम जानते हैं।

यह सब होते हुए भी जायसी का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। उनका 'पद्मावत' उर्दू-फारसी की मसनवियों के ढंग का प्रेमगाथा काव्य भले ही हो, लेकिन यह तो मानना ही पडेगा कि उसका निर्वाह उन्होंने हिन्दी में बहुत सफलता से किया है। प्रेम की रीति-नीति और लोक-व्यवहार की ऐसी जानकारी इस कवि को थी कि जिस विषय पर उसने कलम उठाई है, उसे पूर्ण ही करके छोडा है।

क्या युद्धवर्णन, क्या नगरवर्णन और क्या प्राकृतिक सौन्दर्यवर्णन, सभी तो अपनी चरमसीमा तक पहुँच गये हैं। बादशाह-भोजखंड तो जायसी की बहुमुखी प्रतिभा की बानगी ही है। इसके अलावा उनका पशु-पक्षी वर्णन तो इतना स्वाभाविक हुआ है कि वहाँ तक हिन्दी का कोई भी कवि आज तक नहीं पहुँच सका। प्रत्येक विषय का इतना ज्ञान कैसे एक व्यक्ति को प्राप्त हो गया, कभी-कभी यह सोच कर आश्चर्यचकित हो जाना पडता है। फिर पक्षि-शास्त्र के अध्ययन का तो हमारे यहाँ कोई साधन भी नही था। हमारे कवि पक्षियो के काल्पनिक वर्णन में ही सदा से लगे रहे। उन्हें हस के क्षीरनीरविवेक, चक्रवाक के रात्रिवियोग, कोयल-पपीहे की विरहपुकार, चकोर का चन्द्र के वियोग में आग खाने के खेल और तोता-मैना की कहानी से ही अवकाश नही मिलता था, अन्य पक्षियो का वास्तविक वर्णन कैसे करते! किन्तु जायसी ने इस साहित्यिक परिपाटी का निर्वाह करते हुए पक्षियो का बहुत ही स्वाभाविक और सुन्दर वर्णन किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय का उनका कितना व्यापक अध्ययन था।

वस्तु-वर्णन-कौशल में भी जायसी भाषा के किसी कवि से पीछे नही रहे। कही-कही तो उन्होने सस्कृत कवियो तक मे टक्कर ली है। इसके लिए उन्होने कई ऐसे स्थलो को चुना है, जिनका विस्तृत वर्णन बहुत ही भावपूर्ण हुआ है। सिंघलद्वीप वर्णन में जहाँ बाग-बगीचो, नगर-हाट और सरोवरो का वर्णन है, वही पशुपक्षियो की चर्चा भी छूटने नही पाई है। सिंघलद्वीप-यात्रा-वर्णन में कवि ने अतिशयोक्तियो से बहुत काम लिया है और समुद्रवर्णन में तो उन्होने पौराणिक कथाओ को वास्तविकता से अधिक महत्त्व दे दिया है। समुद्र के जीव-जन्तु प्राय काल्पनिक आधार पर ही रक्खे गये है, जिससे जान पडता है कि जायसी का इस विषय पर निज का कुछ भी अनुभव नही था। इसी प्रकार विवाहवर्णन, युद्धवर्णन, षट्ऋतुवर्णन तथा रूपसौन्दर्यवर्णन में कवि ने काफी ऊँची उडान भरी है, लेकिन साथ-ही-साथ जहाँ कही भी पक्षियो का उल्लेख आया है, उसने इसी बात का प्रयत्न किया है कि उनकी काल्पनिक कथाओ की अपेक्षा उनका वास्तविक वर्णन ही अधिक रहे। देहात में रह कर पक्षियो का सूक्ष्म निरीक्षण करने के कारण जायसी ने पक्षियो के साहित्यिक नामो की अपेक्षा उनके लोकप्रसिद्ध नामो को ही रखना उचित समझा है।

वैसे तो हमारे साहित्य-उपवन में हस, पिक, चातक, शुक, सारिका, काक, कपोत, खजन, चकोर, चक्रवाक, वक, सारस, मयूर प्राय इन्ही थोडे से पक्षियो का वर्णन मिलता है, जिनका अलग-अलग काम हमारे साहित्यकारो ने बाँट रक्खा है। इनमें से कुछ नखशिख वर्णन में, कुछ विरहवर्णन मे और कुछ प्रकृतिवर्णन के सिलसिले में याद किये जाते है। कुछ के वास्तविक गुणो को छोड कर उनके बारे में ऐसी काल्पनिक कथाएँ गढ ली गई है, जो सुन्दर होने पर भी वास्तविकता से कोसो दूर है।

हस का मोती चुनना और नीरक्षीर को अलग कर देना, चकवा-चकई का रात्रिकाल में अलग हो जाना, चातक का स्वातिजल के सिवा कोई दूसरा पानी न पीना और चकोर का चन्द्रमा के धोखे में अगार खाने की कथा जहाँ कवियो ने कितनी ही बार दुहराई है वही पिक और चातक की मीठी बोली को विरहाग्नि प्रज्वलित करने वाली कहा है। शुक-सारिका जैसे पिंजडे मे बन्द रहने के लिए ही बनाये गये है। इनसे प्राय किस्से सुनाने का काम लिया गया है। कपोत से कठ की, शुक की चोच से नासिका की और खजन से नेत्रो की उपमा अक्सर दी जाती है। सारस का जोडा आजीवन अभिन्नता के पाश में बँधे रहने के लिए प्रयुक्त होता है। काक और वक प्राय तुलनात्मक वर्णन में इस्तेमाल होते है और मयूर को वर्षागमन की सूचना देने के लिए स्मरण किया जाता है। इन सब पक्षियो के अलावा हमारे कवियो ने अन्य पक्षियो की ओर या तो ध्यान ही नही दिया, या उन्हें इतना अवकाश ही नही था कि वे अपनी साहित्यवाटिका से बाहर निकल कर प्रकृति के विशाल नीलाकाश में दिन भर उडने वाली अन्य चिडियो की ओर भी दृष्टिपात करते। लेकिन जायसी दरबारी कवि न होकर जनता के कवि थे। उनका दृष्टिकोण उन राजसभा के कवियो से भिन्न था, जो हस को बिना देखे ही उसके वर्णन में नही हिचकते। जायसी ने पक्षियो का स्वय भलीभाँति निरीक्षण करके उनका स्वाभाविक और सजीव वर्णन किया है।

जायसी के 'पद्मावत' में लगभग साठ पक्षियो के नाम आते है, जो हमारे आसपास रहने वाले परिचित पक्षी है।

'पद्मावत' में वैसे तो अनेको स्थानों पर चिडियो का वर्णन आया है, लेकिन कई स्थल ऐसे है जहाँ जायसी को तरह-तरह के पक्षियो को एकत्र करने का अवसर मिला है। पहला स्थल तो सिंघलद्वीप वर्णन के अन्तर्गत है। सिंघलद्वीप मे जहाँ अनेको प्रकार के वृक्ष मौजूद है, भला पक्षियो की कमी कैसे रहती! तभी तो—

> बसहिं पखि बोलहिं बहु भाखा, करहिं हुलास देखि कै साखा।
> भोर होत बोलहिं चुहचूही[1], बोलहिं पाडुक[2] "एकै तू ही"।

---

[1] चुहचुही=भुजगा पक्षी। [2] पाडुक=पडकी, फ़ाख़ता।

सारौं[1] सुआ जो रहचह करहीं, कुरहिं परेवा औ करबरहीं।
"पीव पीव" कर लाग पपीहा, "तुही तुही" कर गडुरी[2] जीहा।
"कुहू कुहू" करि कोइलि राखा, औ भिंगराज बोल बहु भाखा।
"दही दही" करि महरि[3] पुकारा, हारिल बिनवै आपन हारा।
कुहकहिं मोर सुहावन लागा, होइ कुराहर बोलहिं कागा।
जावत पखी जगत के, भरि बैठे अमराउँ,
आपनि आपनि भाषा, लेहिं दई कर नाँउँ।

कैसा सुन्दर और स्वाभाविक वर्णन है! जगत के जितने भी पक्षी है, अमराई मे बैठे है और अपनी-अपनी बोली में ईश्वर का नाम ले रहे है। सब पक्षियो को एकत्र करने का कैसा उपयुक्त स्थान जायसी ने चुना है। आम की घनी अमराई इन पक्षियो से भर गई है और इनके चहचहाने से गूज रही है।

भोर होते ही चुहचुही बोलने लगती है। देहात के गीतो मे आजकल भी "भोर होत चुहचुहिया बोलै" अक्सर सुनने को मिलता है। जायसी भला फिर सब कुछ जान-बूझ कर उसके इस अधिकार को कैसे छीन लेते? पडकी या फाख्ता भी अपना "एकै तूही" से मिलता-जुलता शब्द रटने लगती है—सारौं (सारिका) और सुआ अपने रहचह (चहचहाने) से एक प्रकार का समाँ अलग ही बाँधे हुए है। कबूतर अपनी 'गुटरगू' कर रहे है तो पपीहा अपनी 'पी कहाँ' और गुडरी 'तुही तुही' की धुन लगाये हुए है—कोयल तो सिवा 'कूऊ कूऊ' के और कुछ जानती ही नही, लेकिन भृगराज तो बोली के लिए प्रसिद्ध है। वह अनेक प्रकार की बोलियाँ बोलता है। महरि 'दही दही' पुकारती है और मोर कुहकता है, पर हारिल कुछ बोलना नही जानता। इससे वह हार मान कर अपनी दीनता प्रदर्शित करता है। कैसा स्वाभाविक वर्णन है! सब-के-सब पेड पर रहने वाले पक्षी है, जो अपनी बोलियो के लिए प्रसिद्ध है। जहाँ तक हो सका है, कवि ने पक्षियो की अनुकृति को ध्यान में रक्खा है। पडकी का 'एकै तुही', पपीहा का 'पीव कहाँ'—गुडरी की 'तुहीं तुही', कोयल की 'कुहू कुहू' और महरि का 'दही दही' तो बहुत प्रसिद्ध है, लेकिन मोर का कुहकना भी कवि की पैनी दृष्टि से नही बच सका। ग्राम्यगीतो में मोर की बोली को "कुहकना" और कोयल की बोली को "पिहकना" आज भी कहते है। हारिल अपनी रगीन पोशाक के कारण छोडा नही जा सकता था। इससे कवि ने बडी खूबी से न बोलने की मजबूरी दिखा कर उसकी मौजूदगी का निवाह किया है।

थोडी दूर आगे चलने पर एक ताल मिलता है, जहाँ—

माथे कनक गागरी, आवहिं रूप अनूप,
जेहि के अस पनिहारी, सो रानी केहि रूप।

ऐसी सुन्दरियाँ उस ताल में पानी भरने आती है।

ताल तलाव बरनि नहिं जाहीं, सूझे वार पार किछु नाहीं।
फूले कुमुद सेत उजियारे, मानेहुँ उए गगन महँ तारे।
उतरहिं मेघ चढहिं लै पानी, चमकहिं मच्छ बीजु कै बानी।
पौरहिं पंखि[4] सुसगहि सगा, सेत, पीत, राते बहु रगा।
चकई चकवा केलि कराहीं, निसि के बिछोह दिनहि मिलि जाहीं।

---

[1] सारौं=सारिका, मैना।
[2] गडुरी=एक प्रकार का बटेर।
[3] महरि= पहाड़ी मुटरी।
[4] पखि=पक्षी।

कुररहिं सारस करहिं हुलासा, जीवन मरन सो एकहि पासा।
बोलहिं सोन[1], ढेक[2], बग[3], लेदी[4], रही अबोल मीन जलभेदी।
नग अमोल तेहि तालहि, दिनहिं बरहिं जस दीप।
जो मरजिया होइ तहँ, सो पावै-वह सीप॥

बडा विस्तृत ताल है, जिसका ओरछोर नही दीख पडता, जिसके नील जल मे स्वेत कमल ऐसे लगते है, मानो आकाश में नक्षत्र बिखर पडे है। बादल जब सरोवर से जल भर कर उठने लगते है तो उनमे मछलियो की चमक विद्युतरेखा-सी जान पडती है। तरह-तरह के सफेद, पीले और लाल पक्षी ताल में एक ही सग तैर रहे है। रात्रि-वियोग के पश्चात् दिन को मिलने पर चकई-चकवा जलक्रीडा में तल्लीन है। सारस अपने जोडे के साथ कर्कश बोली बोल कर आनन्दमग्न है। उनका जीवन और मरण इतना निकट रहता है कि उनको चिन्ता किस बात की ? सोन, ढेक, बग और लेदी तो अपनी-अपनी बोली बोलती है, लेकिन जल मे रहने वाली मछलियाँ बेचारी अबोल ही रह जाती है। उस ताल में कुछ अमूल्य रत्न भी है जो दिन में भी अपना प्रकाश फैलाये रहते है, लेकिन उसमे भी सीप वही ला सकता है, जो जान हथेली पर लिये फिरता हो।

जायसी ने ताल की चिडियो को उस अमराई से दूर इस सरोवर मे जमा किया है। इनमे चक्रवाक, बत, ढेक, सारस, बक और लेदी सभी तालाब में रहने वाली प्रसिद्ध चिडियाँ है—चक्रवाक का चकई-चकवा, बत या काज का सोन, आँजन बगला का ढेक और छोटी मुरगाबी का लेदी बहुत प्रचलित नाम है। जायसी ने इसी कारण इन्ही नामो को साहित्यिक नामो की अपेक्षा अधिक पसन्द किया है। सारस के लिए "जीवन मरन सो एकहि साथा" लिख करके कवि ने किस सुन्दर ढग से इस ओर सकेत किया है कि सारस का जोडा फूट जाने पर बचा हुआ दूसरा पक्षी अपनी जान दे देता है। सरोवर की अन्य वस्तुओ के वर्णन में अतिशयोक्ति से काम लेकर भी जायसी ने पक्षियो के वर्णन मे स्वाभाविकता से काम लिया है।

दूसरा स्थल जहाँ जायसी को पक्षियो के सग्रह का अवसर प्राप्त हुआ है 'नागमती का वियोगखड' है। तुलसीदास जी ने तो श्री राम से—

"हे खग, मृग, हे मधुकर स्रेनी,
कहुँ देखी सीता मृगनैनी।"

केवल इतना ही कहला कर छुट्टी ले ली है, लेकिन जायसी ने नागमती को एक वर्ष तक रुलाने के बाद भी उसकी विरह वेदना कम नही होने दी। तभी तो वह—

बरस दिवस धनि रोइ कै, हारि परी जिय झखि,
मानुस घर घर बूझि कै, बूझै निसरी पखि।

एक वर्ष तक रोने के पश्चात् जी से हार कर वह पक्षियो से राजा का पता पूछने निकली, क्योकि मनुष्यो के घर-घर पूछने पर भी उसे कोई लाभ न हुआ। नागमती के वियोग-खड का यह दो अर्थो वाला वर्णन भी कवित्वमय हुआ है। देखिये नागमती की कैसी दशा हो गई है—

भई पुछार लीन्ह बनवासू, बैरिनि सवति दीन्ह चिलवाँसू।
होइ खरवान बिरह तनु लागा, जौ पिउ आवै उडहि तौ कागा।
हारिल भई पथ मै सेवा, अब तहँ पठवौं कौन परेवा।

---

[1] सोन=सवन, काज, बत, कलहस।
[2] ढेक=आँजन बगला।
[3] बग=बगला।
[4] लेदी—एक छोटी बतख।

धौरी पडुक कहु पिउ नाऊँ, जौं चितरोख न दूसर ठाऊँ।
जाहि बया होइ पिउ कठलवा, करै मेराव सोइ गौरवा।
कोइल भई पुकारति रही, महरि पुकारै "लेइ लेइ दही"।
पेड तिलोरी औ जलहसा, हिरदय पैठि विरह कटनसा।
जेहि पखी के नियर ह्वै, कहै विरह कै बात।
सोई पखी जाइ जरि, तरिवर होय निपात॥
कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई, रकत आँसु घुंघची वन बोई।
मै करमुखी नैन तनराती, को सेराव, विरहा दुख ताती।
जहँ जहँ ठाढि होइ वनवासी, तहँ तहँ होइ घुंघुचि कै रासी।
बूंद बूंद महँ जानहु जीऊ, गुजा गूँजि करै "पिउ पीऊ"।
तेंहि दुख भरे परास निपाते, लोहू बूडि उठे ह्वै राते।
राते बिंव भीजि तेहि लोहू, परवर पाक फाट हिय गोहू।
देखौं जहाँ होइ सोइ राता, जहाँ सो रतन कहै को बाता।
नहिं पावस ओहि देसरा, नहिं हेवन्त वसन्त।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कन्त॥

कितना सजीव वर्णन है ! विरहाग्नि से पक्षियो के भस्म हो जाने मे अतिशयोक्ति अवश्य है, लेकिन "रकत आँसु घुंघची वन वोई" कैसी सुन्दर युक्ति वन पडी है। जायसी ने कोयल को बोली के लिए और कौए तथा हस को रग की तुलना के लिए नही याद किया है, वल्कि देहात में स्त्रियो को अपने प्रिय के आगमन के वारे में जो अन्धविश्वास है उसका स्वाभाविक वर्णन किया गया है। स्त्रियाँ कौएं को वैठा देख कर कहती हैं—"यदि मेरा प्रिय आने वाला हो तो उड जा।" अगर सयोग से कौआ उस जगह से जल्द ही उड गया तो उनके हृदय मे प्रिय के आने की आशा दृढ हो जाती है। कौए के लिए जायसी ने एक दूसरे स्थान पर और भी अनोखी उक्ति पेश की है—

भोर होइ जो लागै उठहि रोर कै काग।
मसि छूटै सब रैन कै कागहि केर अभाग॥

जब प्रभात होने लगता है तो कौआ इसी लिए काँव-काँव करता है कि रात्रि की सारी कालिमा तो छूट गई, लेकिन दुर्भाग्यवश उसकी स्याही पहले की तरह विद्यमान है।

तीसरा स्थल है वादशाह भोज खड, जहाँ पक्षियो का वर्णन मिलता है। राजा ने वादशाह को दावत दी है। सभी तरह के पकवान तैयार हो रहे हैं। वाग-वगीचे के पक्षियो का वर्णन अमराई में और जल के निकट रहने वाली चिडियो का वर्णन सरोवर के साथ हो ही चुका था। अत यहाँ जायसी ने सव प्रकार के शिकार के पक्षियो को एकत्र किया है।

पुछार=(१) पूछने वाली (२) मोर, मयूर। चिलवाँस=चिडिया फँसाने का एक फन्दा। खरवान=(१) तीक्ष्ण वाण (२) एक पक्षी, खरवानक। हारिल=(१) हारी हुई, थकी हुई (२) हारिल पक्षी, हरियल धौरी=(१) सफेद (२) धवर पक्षी, फाख़ता की एक जाति। पडुक=(१) पीला (२) पडकी। चितरोख=(१) चित्त में रोष (२) चितरोखा पक्षी, फाख़ता की एक जाति। जाहि वया=सन्देस लेकर जा और फिर आ (वया=(आ) फारसी), (२) वया पक्षी। कठलवा=(१) गले में लगाने वाला (२) कठलवा पक्षी, लवा की एक जाति। गौरवा=(१) गौरवपूर्ण, वडा (२) गौरवा, चटक पक्षी। कोइल=(१) कोयला (२) कोयल पक्षी। दही=(१) दधि (२) दग्ध, जली। तिलोरी=तेलिया मैना। कटनासा=(१) काटता और नष्ट करता है (२) नीलकठ, कटनास पक्षी। निपात=पत्रहीन। सेराव=ठढा करे। परास=पलाश।

तीतर बटई लवा न बाँचे, सारस कूज पुछार जो नाचे।
धरे परेवा पडुक हेरी, खेहा गुडरू उसर-बगेरी।
हारिल चरग चाह बँदि परे, बन कुक्कुट जलकुक्कुट धरे।
चकई चकवा और पिदारे, नकटा, लेदी, सोन, सलारे।
कठ परी जब छूरी, रकत ढुरा ह्वै आँसु,
कित आपन तन पोखा, भखा परावा माँसु।

ऊपर के उद्धरण मे जिन चिडियो के नाम आये है वे हमारे यहाँ के बहुत प्रसिद्ध शिकार के पक्षी है। चूकि भोज राजा की ओर से दिया गया है, इससे जायसी ने ग्रामकुक्कुट की जगह वन-कुक्कुट रक्खा है। "आँसु ढुरने" का माधुर्य वे ही समझ सकते है जिनका सम्बन्ध अभी देहात से नही छूटा है।

"रहिमन अँसुआ नयन ढरि, निज दुख प्रगट करेहि,

के "अँसुआ ढारि" से आँसु ढुरने मे कही ज्यादा मिठास है। आँसू वहने में वह वात कभी आ ही नही सकती।

इसके अलावा पद्मावत मे खजन, हस, कौडिया, चकोर, रायमुनी, सचान, भुजैला, महोख, खूमट, सारी (सारिका) और कोकिला आदि पक्षियो का स्थान-स्थान पर वहुत ही स्वाभाविक वर्णन है। सुआ तो पद्मावत का एक मुख्य पात्र ही है। जायसी ने सस्कृत कवियो के हस को सन्देशा ले जाने का काम नही सौपा। हस सुन्दर भले ही हो और उसकी उडान चाहे कितनी ही लम्वी होती हो, लेकिन वह उस सफलता से सन्देशा नही सुना सकता, जिस खूबी से यह काम मनुष्य की वोली की नकल करने वाला तोता कर सकता है। इसीसे जायसी ने हस की जगह तोते को चुना है और उसको उसके लोकप्रचलित नाम 'सुआ' अथवा 'परवत्ता' से ही याद किया है। पहाडी तोते के लिए आज भी देहात में 'परबत्ता' शब्द प्रचलित है।

फिर पद्मावत के हीरामन तोते का क्या कहना! उसके विना तो यह कथा ही अधूरी रह जाती। जायसी ने उसके लिए चार खड अलग कर दिये है—सुआखड, नागमती सुआसवादखड, राजा सुआसवादखड और पद्मावती सुआभेंटखड। इसके अतिरिक्त और कई जगहो पर भी हीरामन का वर्णन करने में जायसी नही चूके। नागमती सुआ को अपनी विरह दशा कैसे दीन शब्दो में सुनाती है—

चकई निस बिछुरै, दिन मिला, हौं दिन राति विरह कोकिला।
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी, कैसे जियै बिछोही पखी।
विरह सचान भएउ तन जाडा, जियत खाइ औ मुए न छाँडा।
रकत ढुरा माँसूगरा हाड भएउ सब सख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहि पख॥

यह तो हुआ पद्मावत में वर्णित पक्षियो का एक सक्षिप्त वर्णन मात्र। इस महाकवि की अमरकृति का रसास्वादन करने के लिए उसका कोई प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित होना आवश्यक है।

कालाकाकर]

—॥—

बटई=बटेर। कूज=कुज, क्रौंच, कुलग पक्षी। पुछार=मोर। परेवा=कबूतर। पडुक=पडकी फाखता। खेहा=तीतर की जाति का एक पक्षी। उसर-बगेरी=एक भार्दूल जाति का छोटा पक्षी। चरग=चरत, केग्मोर, सोहन चिडिया जाति का मोर से छोटा पक्षी। चाह=चाहा पक्षी। वनकुक्कुट=जगली मुरगी। जलकुक्कुट=जलमुरगी, टिकरी। पिदारे=पिद्दा। नकटा=एक प्रकार की बतख। लेदी=छोटी मुरगावी, एक छोटी वतख। सोन=सवन, बत, कलहस। सलारे=सिलरी, या सिलहरी, एक प्रकार की बतख।

उपेक्षित बाल-साहित्य

श्री खद्दरजी और दद्दाजी

हमारे भारतीय परिवारो मे जिस प्रकार बच्चे उपेक्षित रहते है, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य मे बाल-साहित्य उपेक्षित है। हमें यह लज्जापूर्वक स्वीकार करना पडता है कि हिन्दी मे बाल-साहित्य का जितना अभाव है, उतना शायद ही किसी प्रान्तीय भाषा मे हो। गुजराती का बाल-साहित्य तो इतना समृद्ध है कि देखकर जी आनन्दित हो उठता है। इस अभाव का एक कारण तो यह भी है कि बच्चो के अभिभावक इस ओर से अत्यन्त उदासीन है। उस रोज़ हम लोग दिल्ली के घटाघर के पास ताँगे की तलाश में खडे थे। इतने मे एक मोटर वहाँ आकर रुकी। उसमे चार-पाँच बच्चे थे और एक प्रौढ, जो उनके पिता प्रतीत होते थे। बच्चो ने हमारे हाथ मे बालको की कुछ पुस्तकें देखी। उनकी निगाह उन पर जम गई। पिता उन्हें फल और मिठाई खिलाना चाहते थे। बच्चे बाल-साहित्य के भूखे थे। पिता जी खाने का सामान लेने चले गये तो बच्चो ने मोटर से उतर कर हमे घेर लिया। बोले, "ये किताबें बेचते हो?" हम उत्तर दे कि तबतक उन्होने जेब से पैसे निकाल कर इकट्ठे कर लिये। उनका ध्यान पुस्तको पर केन्द्रित था, पर भयभीत नेत्रो मे वे बार-बार पिता जी की ओर देख लेते थे। हमने उन्हें पुस्तकें बिना पैसे लिये दे दी और वे तेज़ी से कार में जा बैठे। पिता जी आये और गाडी मे बैठ गये। बच्चो के हाथ में जब उन्होने पुस्तके देखी तो फटकार कर बोले, "इनमें क्या रक्खा है? क्या फल और मिठाई से भी ज्यादा तुम्हें ये किताबे पसन्द है?" पिताजी क्रोध प्रकट कर रहे थे और हम खडे-खडे सोच रहे थे कि जिस देश में बडे-बूढे आदमी बच्चो की मानसिक भूख को नही समझ सकते, उस देश के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना कैसे की जा सकती है?

दिल्ली के एक सेठ जी को हम लोग विदा करने स्टेशन गये थे। उन्होने रास्ते मे पढने के लिए रेलवे बुक-स्टॉल से कुछ पुस्तकें मँगवाई। बच्चो ने देखी तो उन्होने भी अपने मतलब की कुछ पुस्तको की माँग की। सेठ जी ने पुन नौकर भेजा। थोडी देर में वह लौटा तो खाली हाथ। सेठ जी ने पूछा, "क्यो, किताबें नही लाये?"

नौकर ने उत्तर दिया, "अग्रेज़ी में तो है, पर नागरी मे बच्चो की एक भी किताब नही मिली।"

गार्ड ने सीटी बजाई और गाडी चल दी। सेठ जी नमस्कार कर रहे थे। हम लोगो ने भी हाथ जोड दिये, लेकिन हमारी आँखें उन डबडबाये नेत्रो को देख रही थी, जिनमें बडे-बडे लेखको के लिए भारी रोष था कि वे मोटे-मोटे पोथे तो लिखते है, किन्तु कभी यह नही सोचते कि बडो की दुनिया के अतिरिक्त एक नन्ही दुनिया भी है, जिसमें मानसिक भूख से बच्चे दिनरात तडप रहे है। उस सात्विक क्रोध का, जो उन डबडबाई आँखो में था, क्या हम कभी प्रतिकार कर सकेंगे? शिक्षक बराबर इस कमी को महसूस करते है, पर वे किससे कहे? देश के प्रकाशक और लेखक बाल-साहित्य को आवश्यक ही नही समझते। उन्हें शिकायत है कि हिन्दी में पुस्तकें कम बिकती है, लेकिन कभी उन्होने इसके कारण पर भी ध्यान दिया है? बच्चो को छोटी आयु से ही पुस्तकें पढने को मिलें तो कोई वजह नही कि आगे चलकर उनकी किताब पढने की आदत छूट जाय। कठिनाई तो यह है कि बच्चो में पढने की आदत को पनपने देना तो दूर, उसे कुचल दिया जाता है। अत कल के बच्चे और आज के प्रौढ मे पुस्तको के प्रति अनुराग उत्पन्न हो तो कैसे? यह कहना तो व्यर्थ है कि हिन्दी जानने वालो की सख्या कम है। यदि लेखक तथा प्रकाशक बाल-साहित्य की ओर ध्यान देकर सुन्दर एव वैज्ञानिक बाल-साहित्य का निर्माण करे और बच्चो में उसके लिए रुचि पैदा कर दें तो हम देखेंगे कि यही बच्चे प्रौढ होकर भोजन और वस्त्र के समान पुस्तको पर भी खर्च करना आवश्यक समझेगे। तब निस्सन्देह बडी पुस्तकों का भी प्रचार धडल्ले के साथ होगा। हमारा निश्चित मत है कि जिस प्रकार बिना जड

को सीचे महज़ पत्तो पर पानी छिडक देने से वृक्ष हरा-भरा नही रह सकता, उसी प्रकार वाल-साहित्य के विना हमारा प्रौढ-साहित्य भी पनप नही सकता।

आज वाल-साहित्य के नाम पर जो कुछ निकल रहा है, उसे देखकर कष्ट होता है। छपाई और ऊपरी टीपटाप के अतिरिक्त उन पुस्तको मे सार कुछ भी नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि इन पुस्तको के अधिकाश लेखक वाल-मनोविज्ञान से अपरिचित है। कुछ ऐसे भी लेखक है, जिन्होने वाल-मनोविज्ञान का शास्त्रीय अध्ययन किया है, किन्तु वालको की दुनिया के निकट सम्पर्क में न रहने के कारण उसका व्यावहारिक ज्ञान उनमें नही है। यह निर्विवाद है कि विना व्यावहारिक ज्ञान के वाल-साहित्य का निर्माण नही किया जा सकता।

कुछ लोग ऐसे भी है, जो वच्चो के साथ काम करते है और व्यावहारिक वाल-मनोविज्ञान से भी परिचित है, लेकिन वाल-साहित्य मे प्रकाशको की रुचि न होने के कारण उन्हें निराश होना पडता है। यही कारण है कि हिन्दी में अवतक जो भी वाल-साहित्य लिखा गया है, उसमें निन्यानवे प्रतिशत अवैज्ञानिक, निकम्मा और वालक के अन्तरमन मे विपम ग्रन्थियाँ पैदा करने वाला सिद्ध हो रहा है। हमने अधिकाश वाल-साहित्य का विवेचनात्मक एव आलोचनात्मक रीति से अध्ययन किया है और उसे वाल-मनोविज्ञान की व्यावहारिक कसौटी पर खरे उतरते नही पाया है। यहाँ कुछ उदाहरण देना अप्रासगिक न होगा।

वच्चो की एक पुस्तक में हमने पढा था, "भोदूराम जी घर से थोडो दूर गये थे। एक स्त्री को जाते हुए आपने देखा, आप ठहरे रसिक, स्त्री पास से गुजरे और आप उसे न देखें, यह कैसे हो सकता था?" लेखक भारत के एक वडे प्रकाशक है। हम नही समझ पाते कि वच्चो के लिए इस प्रकार के शब्द उनकी कलम से कैसे निकले?

एक दूसरी पुस्तक मे, जो प्रयाग से प्रकाशित हुई है, लेखक लिखते है, "यह पिछले कर्मों का फल है। ब्राह्मण ने पिछले जन्म में वुरे कर्म किये थे। आज फाँसी मिलनी चाहिए थी। किन्तु इस जन्म में अच्छे कर्म करने के कारण सिर्फ काँटा लगा है।" हम समझते है कि कोई भी मनोविज्ञान का विद्यार्थी और समझदार शिक्षक इस प्रकार की पुस्तक वच्चो के हाथ में देकर उनके मन को पुनर्जन्म और भाग्य के भँवर मे नही फँसावेगा।

हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध विद्वान ने वच्चो के लिए एक पुस्तक लिखी है। उसमे वे लिखते है, "सव वस्तुओ के नष्ट हो जाने पर भी ईश्वर कायम रहता है। और मनुष्यों के पाप-पुण्य का न्याय करता है। ईश्वर का नाम वार-वार जपने और उसका उपकार मानने से वह खुश होता है।" हमारी धारणा है कि वच्चो के कोमल हृदय पर पाप-पुण्य की विपम रेखाएँ खीच कर इन लेखक महोदय ने देश के आधार-स्तम्भ वाल-समाज का वडा अपकार किया है। हम नही समझते कि वच्चो को ऐसे तत्व-दर्शन का शिक्षण देने की कोई आवश्यकता है।

स्पष्ट है कि आज वालको के लिए हिन्दी के वडे-वडे लेखको और प्रकाशको द्वारा इस प्रकार के अवैज्ञानिक और असामाजिक साहित्य का निर्माण किया जा रहा है और विवश होकर हमें यही कूडा-कचरा और विषैला साहित्य वच्चो के हाथ में देना पडता है। हमने देश के वडे-वडे राष्ट्रीय शिक्षालयो और पुस्तकालयो तक में वालको को ऐसा ही साहित्य पढते पाया है। यदि प्रौढ-साहित्य मे अश्लील और असामाजिक पुस्तकें प्रकाशित होती है तो वर्षों उन पर वाद-विवाद चलता है, लेकिन वाल-साहित्य इतना अनाथ है कि कोई कुछ भी लिखता रहे, किसी के कान पर जूँ तक नही रेंगती।

हमारा सुझाव है कि जिस प्रकार दादा गोर्की ने रूस में वहाँ के माता-पिता और शिक्षको को साथ लेकर वाल-साहित्य के निर्माण के लिए सगठित प्रयत्न किया था, उसी प्रकार हम लोग भी इस दिशा मे प्रयत्न करें। मैक्सिम गोर्की ने रूस के वच्चो की साहित्य-सम्वन्धी अभिरुचि को जानने के लिए वहाँ के वच्चो से कुछ प्रश्न पूछे थे। प्रश्नो के जो उत्तर आये, उन्ही के आधार पर वहाँ के साहित्यिको ने वाल-साहित्य तैयार किया। प्राय वच्चो ने जगल के पशु-पक्षी और सताये हुए वच्चो की करुण कहानी सुनना अधिक पसन्द किया। कुछ ने साहसिक यात्राओ और वैज्ञानिक

खोज-सम्बन्धी कहानियो तथा महापुरुषो के जीवन की घटनाग्रो के पढने में ग्रभिरुचि दिखाई। उस सब को ध्यान में रखकर पुस्तको की रचना की गई।

हम लोग भी गत दस वर्षों से इस दिशा में लगे हुए हैं। ग्रपने सूक्ष्म ग्रध्ययन से हम जिस परिणाम पर ग्राये है, वह सक्षेप में इस प्रकार है—

१ हमें ग्रवैज्ञानिक साहित्य बच्चो को नही देना चाहिए। न ऐसा साहित्य जिसमें विवादास्पद चीजें हो। जैसे पुनर्जन्म, ईश्वर, स्वर्ग, नर्क ग्रौर भूत-प्रेत की कहानियाँ। ऐसा साहित्य, जो बच्चों के मन में भय उत्पन्न करता है, बच्चो के स्वास्थ्य ग्रौर पाचन-क्रिया पर घातक प्रभाव डालता है। इसी के कारण बच्चे रात को बिस्तरे पर पेशाब कर देते है।

२ ऐसी ग्रवास्तविक कहानियो से बच्चो को दूर रखना चाहिए, जिन्हें पढकर सात वर्ष की उम्र के बाद भी वे काल्पनिक जगत् में विचरण करते रहे।

३ बच्चो को ऐसी कहानियाँ तथा साहित्य दिया जाय, जो सत्य के ग्राधार पर लिखा गया हो, भले ही उसमे वर्णित घटनाएँ कल्पित हो। ग्रर्थात् तर्क के द्वारा उसे बच्चो को समझाया जा सके। जैसे जादू के घोडे के स्थान पर हम एक ऐसे घोडे की कल्पना कर सकते है, जिसमे एक मशीन लगी हो। बटन दबाते ही घोडा ग्राकाश में उड सके। यहाँ जादू के घोडे ग्रौर कल के घोडे में यह ग्रन्तर है कि जादू का घोडा बच्चे को शेखचिल्ली बनावेगा, जब कि मशीन का घोडा उसे इस प्रकार का घोडा बनाने की प्रेरणा देगा।

४ ऐसी कविताएँ ग्रौर कहानियाँ तैयार की जायँ, जो बच्चे के मन में रहने वाले भय, चिन्ता एव कुसस्कार-जनित मिथ्या धारणाग्रो को दूर कर सकें।

५ ऐसी कहानियाँ लिखी जायँ, जिनमें दिखाया गया हो कि लोग जिन्हें भूत-प्रेत समझते थे, वह वास्तव में धोखा था। ग्रसत्य था।

६ ऐसी कहानियाँ बडी लाभदायक होती है, जो बच्चो को विकट परिस्थितियो से बचने की शिक्षा दे सकें।

७ जिन कहानियो से बच्चो को बडे-बडे कार्य करने की प्रेरणा मिले, उनकी रचना उपयोगी होती है।

८ ऐसी कहानियाँ लिखी जायँ, जिनमें उपेक्षित बच्चों का चरित्र-चित्रण किया गया हो। उन्हें मेवा-मिठाई, ग्रच्छे कपडे तथा ग्रन्य ग्रावश्यक वस्तुएँ, जो उन्हें वास्तविक जीवन में नहीं मिलती, किसी पात्र द्वारा दिलवाई गई हो। ऐसी कहानियो को पढकर उपेक्षित बालक बडे ग्रानन्द का ग्रनुभव करते है।

९ बच्चो को ऐसी कहानियाँ दी जायँ, जो उनमें से हीनता की भावना को दूर करके उनमें ग्रात्म-विश्वास पैदा करें। उनके चरित्र का निर्माण करें।

हमारी ग्रभिलाषा है कि देश के प्रकाशक, लेखक, बच्चो के माता-पिता तथा शिक्षक सामूहिक रूप से विचार करें कि हमारे देश के बच्चो के लिए किस प्रकार का साहित्य उपयोगी होगा।

एक ऐसे प्रगतिशील बाल-साहित्य-समालोचक सघ की स्थापना की जाय, जिसका उद्देश्य बाल-साहित्य के लेखकों का पथ-प्रदर्शन ग्रौर वे जो साहित्य तैयार करें, उसकी खरी ग्रालोचना करना हो। यह सघ बच्चो के हाथ में देने योग्य वैज्ञानिक साहित्य की सूची तैयार करे ग्रौर ग्रवैज्ञानिक साहित्य के विरुद्ध सगठित रूप से ग्रावाज़ उठाने की प्रेरणा दे।

इस पुनीत ग्रवसर पर हम साधन-सम्पन्न प्रकाशको, सुयोग्य लेखको, समझदार माता-पिता ग्रौर शिक्षको को इस दिशा में व्यवस्थित रूप से कदम उठाने के लिए ग्रामन्त्रित करते है। बच्चो पर देश की ग्राशा केन्द्रित होती है ग्रौर यदि हम ग्रपने देश के बच्चो को योग्य बना सके तो हमारी दशा बदलते देर न लगेगी।

नई दिल्ली]

मैं हूँ नित्य वर्तमान

श्री वीरेन्द्रकुमार जैन एम्० ए०

मै हूँ नित्य वर्तमान, चिरन्तन प्रवर्त्तमान् !
विगत का विषाद कैसा ? अनागत की शका कैसी ?
जब कि हूँ निश्चित सनातन मै वर्तमान !

स्मृति के तारो की दूरागत झकार,
क्षीण-सी टकराती चेतन के रुद्ध द्वार,
होते ही आत्मा-मुक्त, हो जाती हवा-सी वह
खिडकियों के आरपार।
चिद्रूप में है सब एक-मान, एक-तान।
छाया-चलचित्रो की जगती यह,
क्षण-क्षण नव-नवीन, क्षण-क्षण तिरोमान।
इस सबके अन्तर में, मै हूँ चिर वर्तमान !

खिडकी से झाँक रहा शरद के प्रभात का
यह नीला आसमान,
और इस नीलिमा में अथाह
पीपल की डाल पर पल्लव वे चिकने गोल
खेल रहे डोल-डोल,
नवीन मधु किरणो के झूलन पर
गाते वे अमर गान दिव्य मौन !
इसी नित-नवीन लीलामयता में
मै तो हूँ एक तान वर्तमान !

इस काल-सागर के तट पर खडा बालक-सा
खेल रहा हूँ इन चचला लहरो को भर-भर अँगुलियो में,
हवा में उछाल देता,
इन चन्द्र-सूर्य, ग्रह-नक्षत्रो पर वार देता।
इन तरग-फेनो को रग देता हूँ अपने ही सपनो से !
अपनी ही इस चित्रसारी में अपने को
नित्य मैं बना देता, मिटा देता।
मै तो हूँ वर्तमान, निरन्तर प्रवर्त्तमान !

इदौर]

हिंदुस्तान में छापेख़ाने का आरंभ

श्री अनन्त काकावा प्रियोळकर वी० ए०

[इस निवन्ध के विद्वान् लेखक प्राचीन साहित्य की खोज करने वालो में अपना मुख्य स्थान रखते है। अव तक इन्होंने अनेक ग्रन्थो का सम्पादन किया है। वम्बई यूनीवर्सिटी ने सन् १९३५ में इनके द्वारा सम्पादित रघुनाथ पडित विरचित 'दमयन्ती स्वयवर' नामक ग्रन्थ को मराठी में सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ मानकर उसके लिए 'तरखडकर प्राइज़', जो मराठी के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ के लिए दिया जाता है, इन्हें प्रदान किया था। समय-समय पर मराठी एव गुजराती की साहित्यिक सस्थाओ में इनके व्याख्यान होते रहते हैं। प्राचीन शोध-सम्वन्धी इनके लगभग सौ निवन्ध अव तक पुस्तक रूप में या मासिक पत्रो में प्रकाशित हो चुके हैं।—सम्पादक]

यह वात विलकुल सही है कि जैसे लेखन-कला के प्रचार से ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग सुलभ हुआ है, वैसे ही छापने की कला के प्रचार से यह मार्ग सहस्र गुना अधिक सुलभ और विस्तृत हो गया है। इसलिए छापेखाने का इतिहास जानना आवश्यक है।

मुद्रणकला—छापाखाने—की शोध सवसे पहले चीन में हुई थी। वहाँ सन् १९०० में एक छपी हुई पुस्तक मिली थी, जिसमें छापने की ता० ११ मई सन् ८६८ थी। यह छपाई व्लॉक-प्रिंटिंग मे हुई थी। मगर कहा जाता है कि अलग-अलग टाइप वनाने और उनसे छापने की कला का आविष्कार पी० शेग (P1 Sheng) ने ईस्वी सन् १०४१ से १०४९ के वीच किया था।

यूरुप के छापेखाने के सम्वन्ध मे कहा जाता है कि वहाँ छापने की कला की शोध और उसका विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ था। ईस्वी सन् १४४० के पूर्व चित्रादि लकडी के व्लॉक वनाकर छापे जाते थे। टाइप वनाकर उनसे छापने का कव से और कहाँ से आरम्भ हुआ, इस सम्वन्ध में विभिन्न मत है। जर्मनी, फ्रास, हॉलैंड और इटली इन देशो में से हरेक देश कहता है कि छपाई का आरम्भ हमारे यहाँ से हुआ था। मगर हमें इस वाद-विवाद में पडने की ज़रूरत नही है।

अधिकाश लोगो का मत है कि सुप्रसिद्ध जर्मन मुद्रक 'जोन गटेनवर्ग' (Johann Gutenberg) ने, जिसका समय १३९८ से १४६८ माना जाता है, टाइप वनाकर छापने की कला का विकास किया था। इससे यह सिद्ध होता है कि पन्द्रहवी सदी में जर्मनी में छपाई का श्रीगणेश हुआ।

छापने की कला का प्रवेश हिन्दुस्तान मे इसके सौ वरस वाद हुआ। यह वात जेसुइट लोगो के पत्र-व्यवहार से मालूम होती है।* २९ मार्च सन् १५५६ के दिन, जेसुइट मिशन की एक टुकडी अवीसीनिया जाने के लिए पुर्तगाल के वेले'नामक वन्दर से जहाज़ पर चढी। इसके साथ ही मुद्रणकला का जानकार जुआन द वुस्तामाति (Juan de Bustamante) अपने एक सहयोगी के साथ गोवा जाने वाले जहाज़ पर सवार हुआ। वह ६ सितम्वर सन् १५५६ के दिन गोवा पहुँचा। वह अपने साथ छपाई के आवश्यक साधन लेकर आया था। इसलिए उसने गोवा पहुँचते ही 'सेंटपाल' नामक कॉलेज में छापाखाना खडा कर छापने का काम शुरू कर दिया।

६ नवम्वर सन् १५५६ को पाट्रियार्क का लिखा हुआ एक पत्र मिला है। उसमें इस छापेखाने में 'तत्वज्ञान का निर्णय' (Conclusoes Philosophicas) नामक ग्रन्थ छपा था, इसका उल्लेख है। उसमें यह भी लिखा है कि सेंट ज़ेवियर कृत 'ईसाई धर्म के सिद्धान्त' (Doutrina Christa) नामक ग्रन्थ छापने का विचार

---

* Rerum Aethiopic Script, Vol X, pp 55-61

भी हो रहा था। यह ग्रन्थ सन् १५५७ में छपा था और प्रश्नोत्तर के रूप मे मुद्रित हुआ था। इस 'ईसाई धर्म के सिद्धान्त' पुस्तक का उल्लेख फ्रासिस द सौज नाम के पादरी ने अपने पोर्तुगीज़ भाषा के गन्थ 'ओरिएेति कोकिस्तादु-आ जेसुस क्रिस्तु' (Oriente Conquistado a Jesus Christo)† मे किया है। परन्तु ये दोनो ग्रन्थ अब नही मिलते। मगर गोवा के प्रथम आर्चबिशप दो गास्पार द लियाव ने 'कोपेदियु स्पिरितुआल द व्हिद क्रिस्ता'

IESV.

COMPENDIO
SPIRITVAL DA VIDA
Chriſtãa, tirado de mui-
tos autores pello primei-
ro ARCEBISPO de Goa,
e per elle prégado no pri
meiro anno a ſeus fregue-
ſes, pera gloria e hórra de
IESV CHRISTO noſſo
SALVADOR, e edi
ficaçam de ſuas
OVELHAS.

¶ Na ſeguinte folha ſe decrara o
conteudo neſte Tratado.

कोपेंदियु पुस्तक का टायटिल पृष्ठ (१५६०)

(Compendio Spiritual da vida Christa) नाम की पुस्तक लिखी थी। वह न्यूयार्क (अमेरिका) की पब्लिक लाइब्रेरी में मौजूद है। वह पुस्तक सेट पाल कॉलेज गोवा के इसी छापेखाने में सन् १५६० मे छपी थी।

इसी तरह इग्लैंड के ब्रिटिश म्यूज़ियम में 'कोलोक्वियुस् दुस सिंप्लिस् इ द्रॉगस्' (Coloquios dos simples e drogas) नामक पुस्तक है। यह भी इसी छापेखाने में सन् १५६३ मे छपी थी। इसका विषय वैद्यक-शास्त्र और लेखक गार्सिय द ऑर्त (Garcia de Orta) है।

सेंट पॉल कॉलेज गोवा के छापेखाने में जो पुस्तकें छपी थी, वे प्राय इटेलियन या पोर्तुगीज भाषा में थी। इसलिए भारतीय भाषाओ की दृष्टि से इस छापेखाने का खास महत्त्व नही है। इसका महत्त्व इसी में है कि यह हमको भारत में छापेखाने के आरम्भ का इतिहास बताता है।

कुछ समय बाद गोवा के रायतूर (Rachol) के सेंट इग्नेशस कॉलेज मे एक छापाखाना और आरम्भ हुआ, जिसमें भारतीय भाषाओं में पुस्तकें छपने लगी।

---

† Con I, Div I, para 23.

फादर थोमस स्टिफन (Father Thomas Stephens) नाम का अंग्रेज सबसे पहले हिन्दुस्तान में आया था। इसने 'ओवी'[1] (छन्द विशेष) में 'क्राइस्ट पुराण' नामक ग्रन्थ मराठी भाषा में लिखा। उसमें करीब ग्यारह हजार ओवियाँ हैं। वह ग्रन्थ सेंट इगनेशस कॉलेज के छापेखाने में सन् १६१६ ईस्वी में छपा। उसकी भाषा मराठी है, परन्तु अक्षर रोमन लिपि के हैं। उसकी सन् १६४९ में दूसरी और सन् १६५४ में तीसरी आवृत्ति प्रकाशित हुई, परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि इन तीन आवृत्तियों में से एक की भी प्रति कहीं नहीं मिलती। मैंने पोर्तुगाल फ्रांस, जर्मनी, रोम और इंग्लैंड में इसकी तलाश की, परन्तु कहीं नहीं मिली। हाँ, इस ग्रन्थ की रोमन, देवनागरी और कन्नडी लिपि में बहुत सी हस्त-लिखित प्रतियाँ मिलती हैं।

विएन (Wien) के 'नेशनल बाइब्लिओथिक' (National Bibliothek) नामक सरकारी संग्रहालय में इस ग्रन्थ की देवनागरी में हस्तलिखित प्रति है। इसी तरह लन्दन के 'दी स्कूल ऑव ओरिअण्टल स्टडीज़' (The school of Oriental Studies) के संग्रहालय में भी इसकी एक प्रति है। इस ग्रन्थ की चौथी आवृत्ति सन् १९०७ में मि० माल्डाना ने प्रकाशित की थी।

IESVS MARIA
ARTE DA
LINGOA CANARIM
COMPOSTA PELO PADRE
Thomaz esteuaõ da Companhia de
IESVS & acrecentada pello Padre
Diogo Ribeiro da mesma Cõpanhia
E nouamente reuista & emendada por
outros quatro Padres da mesma Com
panhia.
IHS
Com Licença da S. Inquisicam & Or
dinario
em Rachol no Collegio de S. Ignacio
da Companhia de IESV Anno de
1640.

कानारीं व्याकरण का टायटिल पृष्ठ (१६४०)

रायतूर के छापाखाने में सन् १६३४ में एक और ग्रन्थ मराठी भाषा में छपा था। इसका नाम है 'सेंट पिटर पुराण'। इसमें बारह हजार के करीब ओवियाँ हैं। इसकी एक प्रति गोवे के 'बिब्लिओतेक नासियोनाल' (Biblioteca

---

[1] महाराष्ट्र के प्रसिद्ध महात्मा ज्ञानेश्वर का धार्मिक ग्रन्थ इसी 'ओवी' छन्द में लिखा गया है। महाराष्ट्र में इनकी ओवियाँ इसी तरह प्रसिद्ध हैं, जिस तरह उत्तर भारत में सन्त कबीरदास की साखियाँ और महात्मा तुलसीदास की चौपाइयाँ।

Nacional) नाम के सरकारी सग्रहालय में है। इस ग्रन्थ के आरम्भ के पच्चीस पृष्ठ नष्ट हो गये है। इसलिए यह निश्चय करना बडा कठिन है कि इसका बनाने वाला कौन था। मगर इस ग्रन्थ की छपी हुई एक प्रति पुर्तगाल में मिली है। इसीसे यह निश्चित हुआ है कि इसका निर्माणकर्ता 'फादर एतिएन द ला क्रुवा' (Fr. Etienne de la Croix) था और यह सन् १६३४ में रायतूर के छापेखाने में छपी थी।

इसी छापेखाने में छपी हुई एक दूसरी किताब लिस्बन के ग्रन्थ-सग्रहालय में मिली है। यह गोवे की मराठी बोली का व्याकरण है। इसका नाम 'आर्ति द लिंग्व कानारी' (Arte de Lingua Canarim) है। इसको फादर स्टिफस ने बनाया है। इसका मुद्रण काल सन् १६४० है।[1]

लिस्बन के सग्रहालय में तीसरी किताब रायतूर के छापेखाने में छपी हुई और है। वह मराठी भाषा में है। उसका नाम 'ख्रिस्ती धर्म सिद्धान्त' (Doutrina Christa) और बनाने वाला स्टिफस है। इसका मुद्रण काल सन् १६२२ ईस्वी है।

इसी सग्रहालय में उक्त छापेखाने की छपी हुई चौथी किताब 'सेंट अटनी का पुराण' है। उसका लेखक 'फादर आन्तोनिय द सालदाज्य' (Fr Antonio de Saldanha) है। यह सन् १६५५ ईस्वी में छपी थी।

गोवे के सरकारी ग्रन्थ-सग्रहालय में सन् १६५८ ईस्वी की छपी हुई एक और पुस्तक है। उसको 'फादर मिंगेल द आलमेंद' (Fr Minguel de Almeida) ने बनाया है। इसका नाम है 'किसान का बाग' (Jardim dos Pastores)। इसकी भाषा कोकणी मराठी और लिपि रोमन है।

गोवे के सग्रहालय में सन् १६६० में रायतूर के छापेखाने मे छपी 'दैविक आत्मगत भाषण' (Soliloquios Divinos) नामक पुस्तक और है, जिसके कर्त्ता जुआव द पेंद्रोज (Joao de Pedroza) है। इसकी भाषा कोकणी मराठी और लिपि रोमन है।

पोर्तुगीज के धर्म-प्रचारक ईसाई लोगो का मलाबार में भी धर्म-प्रचार का प्रयत्न ज़ोरो से चल रहा था। फादर फासिस्क द सौज अपने उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थ में लिखता है कि जुवाव गोसालविस् (Joao Gonsalves) ने मलाबारी लिपि के टाइप बनाये थे। उसने कन्नडी लिपि के टाइप बनाने का भी इरादा किया था, परन्तु अक्षरो की विचित्र आकृति, उच्चारण निश्चित करने की कठिनाई और बोलने वाले लोगो की सख्या की कमी के कारण उसने यह इरादा छोड दिया। गोवे के अन्दर बोली जाने वाली मराठी को पोर्तुगीज़ 'कानारी' बोली कहते है। प्राचीन काल में मराठी भाषा कन्नडी लिपि में भी लिखी हुई मिलती है।

पहले छापेखाने को 'लिहित मडप' कहते थे। सन् १६५८ में छपी हुई 'किसान का बाग' नामक पुस्तक में लिखा है—"लिहित मडपीं ठासिला।" यह नाम सबसे पहले पोर्तुगीज़ लोगो ने छापेखाने को दिया था। इससे पहले छापने की मशीन का कोई देशी नाम नही था।

× × ×

हिन्दुस्तान में छापाखाना प्रारम्भ करने का दूसरा प्रयत्न डेनिश मिशनरियो ने किया। ९ जुलाई सन् १७०६ को 'बारथोलोमेव ज़िजेनबल्ग' (Bartholomew Ziegenbalg) नामक मिशनरी अपने साथी 'हेनरी फुश्चान' (Henry Plutschan) के साथ हिन्दुस्तान में आया। उस समय फ्रेडरिक चतुर्थ राज्य करता था। उसने तजावर के पास आकर ट्राक्वेबार (Tranquebar) में ईसाई धर्म-प्रचार करने का काम आरम्भ किया। शुरू-शुरू में उसे बडी कठिनाइयाँ झेलनी पडी, परन्तु पीछे उसको सफलता प्राप्त होने लगी। उसने 'तानावडी' नामक प्रसिद्ध तामिल कवि को ईसाई बनाया। इस कवि ने तामिल भाषा में महात्मा ईसा का पद्य में जीवनचरित लिखा।

---

[1] इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए लेखक की 'मराठी व्याकरणाची कुलकथा' नामक पुस्तक देखिए।

यह मिशन मार्टिन लूथर के अनुयायी प्रोटेस्टैंट लोगो का था। इसलिए डेन्मार्क की तरह जर्मनी व इग्लैंड के प्रोटेस्टैंट लोगो ने इस मिशन की सहायता की। वहाँ से 'जॉन फिन्के' (Jonas Fincke) नामक प्रेसमैन (Pressman) छापाखाना, टाइप और कुछ पोर्तुगीज भाषा में छपी हुई 'नये करार' की पुस्तको के साथ हिन्दुस्तान भेजा गया। मगर ब्रेज़िल के पास फ्रेंच लोगो ने उस जहाज़ पर हमला किया, जिसमें फिन्के आ रहा था। फिन्के युद्ध-वन्दी की तरह पकडा गया। कुछ समय के बाद वह छोड दिया गया। मगर दुर्भाग्य से वह रास्ते में ही ज्वर से पीडित होकर मर गया। छापाखाना हिन्दुस्तान में आया, परन्तु उसको चलाने वाला कोई न था।

कुछ दिन वाद मालूम हुआ कि ईस्ट इडिया कम्पनी की फौज में एक सिपाही है। वह मुद्रणकला की कुछ जानकारी रखता है। वह वुलाया गया और उसकी सहायता से छापाखाना खडा किया गया। इसमें कुछ धार्मिक पुस्तकें, प्रश्नोत्तर के रूप में और प्रार्थना के रूप में छापी गई। उनमें से एक भी पुस्तक अब नही मिलती।

इसी मिशन में 'फ्रेडरिक स्क्वार्ट्ज़' (Frederick Schwartz) नामक एक पादरी था। उसने प्रयत्न करके तजावर के राजा सरफौजी से उसकी राजधानी में एक छापाखाना कायम कराया। इस छापेखाने मे मराठी और सस्कृत भाषा मे पुस्तकें छापी गईं। ब्रिटिश म्यूज़ियम में मराठी भाषा मे छपी हुई 'ईसप-नीति' नाम की सचित्र पुस्तक है। इसका अनुवाद सरफौजी महाराज के मुख्य मन्त्री सखण्णा पडित ने किया था। इसकी एक प्रति सरफौजी महाराज ने 'सर अलेक्ज़ेंडर जॉनस्टोन' को, जव वे तजावर गये थे, भेंट में दी थी।[1]

इससे स्पष्ट है कि यह पुस्तक सन् १८१७ के पूर्व किसी समय तजावर के छापेखाने में छपी थी।

तजावर के 'सरस्वती महल' पुस्तकालय में इस छापेखाने में छपे हुए माघकाव्य, कारिकावली, व मुक्तावली नाम के सस्कृत ग्रन्थ मौजूद है।[2]

ये मूल ग्रन्थ न तो मैंने देखे है, न उनका कोई छाया-चित्र ही मेरे पास है। इसलिए उनके सम्बन्ध में विशेष रूप से कुछ नही कहा जा सकता, परन्तु इतना तो ज्ञात है ही कि छपाई ब्लॉक-प्रिंटिंग नही है, टाइप-प्रिंटिंग है। इस कथन का आधार यह है जिस 'ईसप नीति' का ऊपर जिक्र किया है, उस पर हाथ से लिखा है, "The present Raja of Tanjore procured a printing press from England, established it in his own palace and had a great many of the Brahmins, who held appointments near his person, instructed in printing with Marathi and Sanskrit types"[3]
(अर्थात्—तजावर के वर्तमान राजा ने इग्लैंड से एक प्रेस मँगवा कर अपने महल में खडा किया। उसके लिए कई आदमी (ब्राह्मण) रक्खे। उन्होने मराठी और सस्कृत टाइपो में छापना सिखाया।)

सम्भवत यह वह प्रति होगी जिसे सरफौजी महाराज ने 'सर एलेक्ज़ेंडर जॉनस्टोन' को भेट किया था और इसमें सर एलेक्ज़ेंडर ने स्वय या उसके अन्य किसी व्यक्ति ने उपर्युक्त वात लिख दी होगी। फिर उसे ब्रिटिश म्यूज़ियम को भेट कर दिया होगा।

सरफौजी महाराज की तरह ही पेशवाई के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ 'नाना फडनवीस' ने मुद्रण-कला की तरफ लक्ष किया था। उस समय लहिए ग्रन्थ लिखकर वेचते थे। गरीव ब्राह्मण ग्रन्थ नही खरीद सकते थे। इसलिए धनिक लोग ग्रन्थ खरीदते थे और ब्राह्मणो को दान में देते थे। जव 'नाना फडनवीस' ने अग्रेज़ी में छपे ग्रन्थ देखे तव उनके मन में भी नागरी अक्षर वनवा कर उनमें गीता छपवाने की इच्छा जाग्रत हुई। उन्होने नागरी ब्लॉक तैयार करने

---

[1] History of Modern Marathi Literature by *G C Bhate* 1939, p 65

[2] The journal of the Tanjore Saraswati Mahal Library, Vol I, No 2, 1939-40, p 17

[3] History of Modern Marathi Literature, p 65

को कारीगर नियुक्त किया, परन्तु यह काम अभी पूरा नही हुआ था कि दूसरे बाजीराव राजा हुए और 'नाना फडनवीस' को पूना छोडना पडा। कारीगर बिचारा निराश हुआ। मगर भाग्य से उसकी मीरज के गुणग्राही राजा श्रीमन्त गगाधर राव गोविन्द पटवर्धन से भेंट हो गई। उन्होने कारीगर को आश्रय दिया और गीता छापने का काम सन् १८०५ ईस्वी में पूरा हुआ। गीता की छपी हुई प्रति और जिन ब्लाको से वह छापी गई थी वे ब्लॉक अब भी मीरज रियासत के सग्रहालय में मौजूद है।[1] कारीगर अग्रेज़ी जैसा टाइप नही बना सका था। इसलिए उसने एक ताँबे के पत्र में अक्षर खोदे, फिर उस पत्रे को दूसरे ताँबे के पत्रे में उल्टा जडा। उन्हे लकडी के प्रेस में ठोका और फिर लाख की स्याही से छापा।

१६ अहंक्रतुरहंयज्ञःस्वधाहमहमौषधं
मंत्रोहमहमेवाज्यमहमग्निरहंहुतं १६
पिताहमस्यजगतोमाताधातापितामहः
वेद्यंपवित्रमोंकारऋक्सामयजुरेवच
१७ गतिर्भर्ताप्रभुःसाक्षीनिवासःशरणंसुहृत्
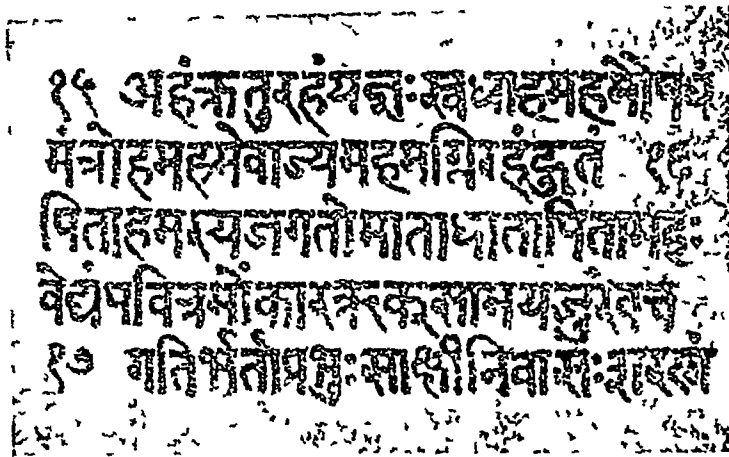
गीता—जिसके मुद्रण का आदेश नाना फडनवीस ने दिया था। (ब्लाक प्रिंटिंग—१८०५)

ई० स० १६७८ में ब्लॉक-प्रिंटिंग से छपा हुआ एक देवनागरी अक्षरो का लेख 'होरटस इडिकस, मलाबारीकस' (Hortus Indicus Malabaricus) नामक लेटिन भाषा की पुस्तक के एक खड मे है। यह लेख कोकण की मराठी बोली में, कुछ पडितो द्वारा लिखा हुआ प्रमाणपत्र है। यह ऐसा दिखाई देता है कि जैसे जिंक का ब्लॉक बनाकर छापा गया हो। ग्रन्थ रॉयल एशियाटिक सोसायटी बम्बई के सग्रहालय मे है।

उन्नीसवी सदी मे छपे हुए देशी भाषा के अनेक पुराने ग्रन्थ लियो-प्रेस में छपे हुए मिलते है। इससे अनेक लोग यह समझने लगे है कि लियोग्राफ-प्रिंटिंग टाइप-प्रिंटिंग की प्रथमावस्था है। मगर यह बात ठीक नही है। कारण, 'लियोग्राफी' (Lythography) की शोध तो सन् १७९६ में 'स्टीनफेलडर' (Stenefelder) ने, जब वह फोटोग्राफी के आविष्कार में लगा हुआ था, की थी। टाइप-प्रिंटिंग की छपाई तो पहले से ही प्रारम्भ हो गई थी। आरम्भ में टाइप-प्रिंटिंग की अपेक्षा लियो-प्रिंटिंग अधिक फैला। इसका मुख्य कारण यह है कि इसमें टाइप की कठिनता नही थी। गुजरात में लियो-प्रेसो का प्रचार अधिक हुआ था।

पोर्तुगीज या डेनिश मिशनरियो ने मुद्रणकला-प्रसार का प्रयत्न किया था। इनके सिवा एक दूसरे महानुभाव ने भी इसका प्रयत्न किया था।

भीमजी पारख नाम के एक गुजराती सज्जन ने सन् १६७० ईस्वी मे कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स से प्रार्थना की कि हमें ब्राह्मण-ग्रन्थ छापने है। इसलिए एक मुद्रक, छापाखाना और टाइप भिजवा दीजिए। तदनुसार 'हेनरी हिल'

---

[1] अधिक जानकारी के लिए रावबहादुर द० ब० पारसनीस और रा० सुन्दरराव वैद्य के 'नवयुग' (जून १९१५, पृ० ५६३ व जून १९१६, पृ० ६२८) में प्रकाशित लेख देखिये।

नामक एक अंग्रेज़ बम्बई भेजा गया। परन्तु उसके साथ टाइप फाउंडरी न थी। इसलिए वह यहाँ के (Banian type) बनिया टाइप[1] न बना सका। अत: कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स से फिर प्रार्थना की गई और उन्होंने एक टाइप फाउंडरी भिजवाई।

उपर्युक्त समाचार 'दी टाइम्स ऑव इंडिया' के ९ जनवरी सन् १९३४ के अंक में मि० आर० वी० पे मास्टर ने प्रकाशित किया था, परन्तु इस छापेखाने में कौन-कौन-सी पुस्तकें छपीं, इसका पता आजतक नहीं चला।

इसके बाद क़रीब सौ बरस तक मुद्रणकला के सम्बन्ध में हिन्दुस्तान में कोई प्रयत्न हुआ हो, ऐसा मालूम नहीं होता।

सन् १७७७ में रुस्तम जी कर्मा जी ने बाज़ार स्ट्रीट फोर्ट बम्बई में एक छापाखाना शुरू किया और उसमें सन् १७८० ईस्वी का बम्बई पंचांग (Bombay Almanac) छापा।[2]

लगभग इसी समय बंगाल में छापाखाना शुरू किया गया और उसमें मि० नेथेनिएल हालहेड (Mr Nathemel Halhed) का बंगाली व्याकरण छापा गया। यह बात उनके मृत्यु-लेख में दी गई है।[3]

533 THE following roots (according to rule 502) take अनी after the reduplicated consonant and such of them as contain a nasal may occasionally drop it in the *common*, as in the *proper* form

अस् Fall अनीअस्, अनीअस्ति or अनीअसीति, &c.
Or, अनीअस्, अनीअस्ति or अनीअसीति, &c.
ध्वस् Fall, दनीध्वस्, दनीध्वस्ति or दनीध्वसीति, &c.
भ्रंस् Fall, बनीभ्रस्, बनीभ्रस्ति or बनीभ्रसीति, &c.
पत् Move, fall, पनीपत्, पनीपत्ति or पनीपतीति, &c.
पद् Go, step, पनीपद्, पनीपत्ति or पनीपदीति, &c.
स्कन्द् Jump, leap, चनीस्कद्, चनीस्कत्ति or चनीस्कदीति, &c.
वञ्च् Deceive, वनीवच्, वनीवक्ति or वनीवचीति, &c.
Or, according to some, वनीवञ्च्, वनीवङ्क्ति or वनीवञ्चीति, &c.
कस् Go, move, चनीकस्, चनीकस्ति or चनीकसीति, &c.

534 दंश् Bite, and भञ्ज् Break, drop their nasals, and make दंदष्टि,

संस्कृत भाषा का व्याकरण (१८०८)

इस व्याकरण को छापने में जिस टाइप का उपयोग किया गया था, वह मि० चार्ल्स विल्किन्स (फिर वे 'सर' हो गये थे) के बनाये हुए मेट्रिसेज़ से तैयार किया गया था।[4] कहा जाता है कि देशी भाषा में छपी हुई यह सर्वप्रथम पुस्तक है।

विल्किंस ने *भगवद्गीता का भी इंग्लिश अनुवाद किया था। हिन्दुस्तान ही में दो कारीगरों की सहायता से* विल्किंस ने देवनागरी टाइप भी तैयार किया, परन्तु अचानक उसके कार्यालय में आग लग गई। इसलिए उसका

---

[1] सम्भवत: बनिया टाइप से अभिप्राय गुजराती टाइप से है।
[2] The Bombay Calendar and Almanac 1856.
[3] The Friend of India, 19th August 1838
[4] इसीलिए मि० विल्किंस को केक्सटन ऑव इंडिया (The Caxton of India) कहते हैं।

वह टाइप खराब हो गया और वह इस टाइप में यहाँ कोई पुस्तक न छाप सका। परन्तु वह 'पंच' और 'मेट्रिस' इग्लैंड ले गया। वहाँ उसने देवनागरी टाइप ढाला और उससे उसने अपनी पुस्तक 'संस्कृत भाषा का व्याकरण' (A Grammar of the Sanskrit Language) सन् १८०८ में लन्दन में छापी। यह किताब ईस्ट इंडिया कॉलेज, हॉर्टफ़ोर्ड (The East India College at Hertford) के संचालकों के उत्साह से प्रकाशित कराई गई थी। यह तैयार तो भारत में ही कर ली गई थी, मगर यहाँ छप नहीं सकी। इस बात का उल्लेख उन्होंने अपने व्याकरण की प्रस्तावना में किया है।

जिन दो सहायकों का मि० विल्किन्स ने अपनी प्रस्तावना में निर्देश किया है वे पंचानन और मनोहर थे। उन्हें टाइप बनाने की कला प्राप्त हुई थी। मगर उस कला का उपयोग वे स्वयं करने में असमर्थ थे। उनको विल्किंस के जैसे किसी नियोजक की आवश्यकता थी। सौभाग्य से उन्हें डा० विलियम केरी नाम का एक सद्‌गृहस्थ मिला। यदि उन्हें डा० केरी न मिला होता तो सम्भव था कि यह कला दोनों कारीगरों के साथ ही चली जाती और कई वर्ष तक हिन्दुस्तान में मुद्रणकला का प्रचार न होता।

डा० केरी मिशनरी था। वह सन् १७९३ में हिन्दुस्तान आया। उसका मुख्य उद्देश्य भारत में ईसाइयों के प्रसिद्ध धर्म ग्रन्थ 'शुभवर्तमान' का प्रचार करना था। उसको संस्कृत, बंगाली, मराठी इत्यादि देशी भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। फोर्ट विलियम कॉलेज, कलकत्ता में भी वह देशी भाषाएँ सिखाने का प्रोफेसर नियुक्त हुआ। जिस समय वह इस विचार में था कि किसी तरह देशी भाषाओं के टाइप ढाले जायँ और उसमें बाइबिल छापी जाय, उसी समय में उसकी पंचानन से मुलाक़ात हुई और सीरामपुर के छापेखाने का उद्योग शुरू हुआ। सन् १८०७ में प्रकाशित 'अनुवाद के संस्मरण' (A memoir relative to the translations) नामक पुस्तक में डॉ० केरी ने लिखा है—

The first Section of the Shree Bhagvutu.

ओँ नैमिषे ऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत
त एकदा तु मुनयः प्रातर्हुतहुताग्नयः
सत्कृतं सूतमासीनं पप्रच्छुरिदमादरात्

Om. Shounuku, and the other sages, in Nimishu, the

डा० केरी के संस्कृत भाषा का व्याकरण

हमने सीरामपुर में काम आरंभ किया। उसके कुछ ही दिन बाद, भगवान् की दया से हमें वह आदमी मिला जिसने मि० विल्किंस के साथ टाइप बनाने का काम किया था और जो इस काम में होशियार था। उसकी मदद से हमने एक टाइप फाउंडरी बनाई। यद्यपि वह अब मर गया है; परन्तु वह बहुत से दूसरे आदमियों को यह काम सिखा गया है और वे टाइप बनाने का काम किये जा रहे हैं। इतना ही नहीं, वे मेट्रिसेज़ भी बनाते हैं। वे इतनी

ठीक होती है कि यूरोपियन कारीगरों की बनावट से ममता करती है। इन्होंने हमारे लिए बंगाली के तीन-चार फाउट बनाये हैं। अब हमने उनको वर्तमान टाइप की साइज, $\frac{5}{8}$ जितनी कम करने के काम में लगाया है। उनके तैयार होने से वह $\frac{5}{8}$ जितना होगा। उससे काग़ज़ की बचत होगी और पुस्तक भी छोटी हो जायगी। मगर इस बात का पूरा ख़याल रखा जायगा कि अक्षर ऐसे बनें जो छपने पर साफ़-साफ़ पढे जा सकें।

हमने देवनागरी अक्षरो का भी एक फाउट बनाया है। इसके अक्षर हिन्दुस्तान में सबसे सुन्दर हैं। इसमें क़रीब १००० भिन्न-भिन्न अक्षरों का समूह है। इसको बनाने में केवल १५०० रुपया ख़र्च हुए हैं। इस ख़र्चे में टाइप ढालने की और दूसरी चीज़ों की कीमत शामिल नहीं है।

धर्म-पुस्तक (सुधरा हुआ टाइप)

डॉ० केरी ने संस्कृत व्याकरण प्रकाशित कराया। उसका देवनागरी टाइप मोटा और ऊबड़-खाबड़ है। सम्भवत यह उसका पहला प्रयत्न था। सुधारे हुए टाइपो का उपयोग उसने बाइबिल के हिन्दी अनुवाद में किया है, ऐसा इसकी छपाई से मालूम होता है।

यद्यपि विल्किंस ने देशी भाषाओ के टाइप बनाने का कार्य आरम्भ किया था, परन्तु टाइपो के सुधार और प्रचार का परिणाम तो डॉ० केरी का उद्योग ही है। नीचे उसके द्वारा प्रकाशित बाइबिलो के अनुवादो की सूची[1] प्रकाशन-सन् के साथ दी जाती है। उससे उसके महान् उद्योग की पाठक कल्पना कर सकेंगे—

---

[1] The Life of William Carey by George Smith, 1887, p 213

सन्	क़रार	भाषा	सन्	क़रार
१८०१	नया करार	वगाली	१८०२-६	जूना करार
१८११	,, ,,	उडिया	१८१६	,, ,,
१८२८	,, ,,	मागधी	×	×
१८१५-१६	,, ,,	आसामी	१६३२	जूना करार
१८२४	,, ,,	खासी	×	×
१८१४-२४	,, ,,	मणिपुरी	१८११-१८	जूना करार
१८०८	,, ,,	सस्कृत	×	×
१८०६-११	,, ,,	हिन्दी	१८१३-१८	जूना करार
१८२२-३२	,, ,,	व्रजभाषा	×	×
१८१५-२२	,, ,,	कन्नौजी	×	×
१८२०	नया करार	खोसाली (इसमें केवल मेथ्यु की वातचीत (Gospel) ही छपी है।)		
१८२२	,, ,,	उदयपुरी		
१८१५	,, ,,	जयपुरी		
१८२१	,, ,,	वघेली (Bhungeli)		
१८२१	,, ,,	मारवाडी		
१८२२	,, ,,	हाडोती		
१८२३	,, ,,	बीकानेरी		
१८२३	,, ,,	उज्जैनी (मालवी)		
१८२४	,, ,,	भाटी		
१८३२	,, ,,	पालपा		
१८२६	,, ,,	कुमायूँ		
१८३२	,, ,,	गढवाली		
१८२१	,, ,,	नेपाली		
१८२१	,, ,,	मराठी	१८२०	जूना करार
१८२०	,, ,,	गुजराती		
१८१६	,, ,,	कोकनी मराठी	१८२१	(Penta tench)
१८१५	नया करार	पजावी	१८२२	(Penta tench)
१८१६	,, ,,	मुल्तानी		
१८२५	,, ,,	सिन्धी (केवल मेथ्यु का वार्तालाप)		
१८२०	,, ,,	काश्मीरी (,, ,, ,,)		
१८२०	,, ,,	डोगरी (,, ,, ,,)		
१८१६	,, ,,	पश्तो		
१८१५	,, ,,	वलूची		
१८१८	,, ,,	तेलगू		
१८२२	,, ,,	कानडी		

डॉ० केरी ने केवल बाइबिल के अनुवाद ही प्रकाशित नही किये थे, बल्कि उसने भिन्न-भिन्न भाषाओं के व्याकरण कोश, लोक-कथा आदि-ग्रन्थ भी हिन्दुस्तान के विद्वानो की सहायता से छापे थे।

सीरामपुर प्रेस में बाइबिल के सिवाय नीचे लिखी मराठी पुस्तकें भी मुद्रित हुई हैं—

सन्	पुस्तक का नाम
१८०५	मराठी भाषा का व्याकरण
१८०७	मंगल समाचार
१८१०	मराठी-इंग्लिश कोश
१८१४	सिंहासन बत्तीसी
१८१५	हितोपदेश
१८१६	राघोजी भोसले की वंशावली
	प्रतापादित्य का चरित्र

प्रस्ताव ।—

[illegible]

हितोपदेश (१८१५)

मराठी भाषा मे पुस्तकें प्रकाशित कराने के काम में उसे नागपुर के वैजनाथ नामक पंडित की पूरी सहायता मिली थी।

मराठी भाषा देवनागरी अक्षरो में ही लिखी जाती है। इसलिए इसमें ही मराठी पुस्तकें छपी थी, परन्तु महाराष्ट्र मे लिखने के व्यवहार मे अधिक प्रचलित 'मोडी' अक्षरो के टाइप भी उसने बनवाये। इसका कारण उसने स्वयं बताया है —

"यद्यपि महाराष्ट्र के पढे-लिखे लोग देवनागरी अच्छी तरह जानते है तथापि व्यापारी लोगो में ये (मोडी) अक्षर अधिक प्रचलित है। ये देवनागरी से आकृति में छोटे और रूप में कुछ भिन्न है। सख्या इन अक्षरो की देवनागरी के समान ही है। हमने इस (मोडी) टाइप का एक फाउट बनवाया है और इसमें मराठी का 'नया करार' और मराठी कोश छपाना शुरू किया है। ये टाइप सुन्दर, स्पष्ट और मध्यम आकृति के है।"

(21)

बनिया गुजराती (पहला कॉलम) और मोडी मराठी
(दूसरा कॉलम) टाइप के नमूने

पचानन की मृत्यु के बाद उसके साथ काम करने वाला मनोहर लुहार उसकी जगह काम करने लगा। मनोहर एकनिष्ठ हिन्दू था। वह अपने आराध्य देव के सामने बैठकर ही टाइप बनाने का काम कर सकता था। अन्यत्र उससे काम नहीं होता था। इस बात का सन् १८३९ में रे० जेम्स ने उसकी स्थिति देखकर उल्लेख किया है।

सीरामपुर मे अपने प्रेस के लिए ही टाइप नही ढाले जाते थे, बल्कि दूसरे प्रेसो के लिए भी यही से टाइप ढालकर भेजे जाते थे। सन १८६० तक पूर्व में सीरामपुर की फाउडरी ही मुख्य थी।

विल्किंस और पचानन हिन्दुस्तान मे मुद्रण-कला के आद्य प्रवर्तक है और पूर्व मे उन्होने इसका आरभ किया था, परन्तु अन्य प्रान्तो में यह कला कब और कैसे फैली, खास करके भारतीय लोगो के हाथ में यह काम कब आया, इसकी जानकारी मनोरजक होगी। यद्यपि इसका पूर्ण इतिहास उपलब्ध नही है, तथापि जो जानकारी प्राप्य है, वह यहाँ दी जाती है।

बम्बई में सन् १८१७ ईस्वी में 'सेंट मेथ्यू का शुभ वर्तमान' नामक पुस्तक मराठी भाषा में छपी। इसका प्रकाशक अमेरिकन मिशन था। इसमे जो टाइप है, कहा जाता है, वह सीरामपुर की टाइप फाउडरी से लाया गया था। मगर सन् १८१६ मे सीरामपुर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'जूना करार' और सन् १८१७ मे अमेरिकन प्रेस द्वारा प्रकाशित 'सेंट मेथ्यु का शुभ वर्तमान' दोनो के टाइपो मे बहुत फर्क है। सम्भव है, इसके लिए खास तरह से अलग टाइप बनवाया गया हो।

वम्बई में टामस ग्रेहम ने सन् १८३६ मे रामजी व जीवनवल्लभ नाम के लुहार कारीगरो से देवनागरी टाइप वनवाया था और फिर धीरे-धीरे गुजराती टाइप भी। मगर इनका कोई नमूना आज सुलभ नही है। हाँ, कुरियर

जो पुरुष दुसऱ्याची अदेखायी करिननाही-
कोणाचीही ज्यास दया येते-आपण दुर्बळ असोन
समर्थाचा आव घालित नाही-कोणीही वाईट बो
लिला तथापि साहतो-असा पुरुष प्रशंसेस योग्य
होतो — जो उद्धटपणा करित नाही-आपला थो
रपणा पुढेंकरून दुसऱ्याचा तिरस्कार करित ना
ही-कोणास कठिण बोलत नाही-असा पुरुषाचें
सर्वलोक हितच करिताहेत

जो मागें पडलेलें वैर पुनः उत्पन्न करित ना

विदुर नीति (नागरी लिपि में मुद्रित प्रथम मराठी पुस्तक—१८२३)

प्रेस वम्बई में सन् १८२३ में देवनागरी अक्षरो में छपी हुई 'विदुरनीति' और सन् १८२४ में छपी हुई 'सिंहासनवत्तीसी'

नक्लियात

नक्ल १-१-१

ऐक वादशाह ने अपने वज़ीर से पूछा कि सब
मे विहतर मेरे हक्क में क्या है। अर्ज की कि
अद्ल करना और रऐयत का पालना।

ऐक शख्स ने ऐक को कहा कि तू तो आगे
मुहताज था - ऐसा क्या काम किया जो दौ-
लत मद होगया। जवाब दिया कि जो कोइ
अपने आका की खैरख्वाही करेगा - सो थोडे
दिनों में मालदार होगा

२-१-३

ऐक ने किसी से पूछा कि आगे तू बहुत गरीब

प्रथम हिन्दी पुस्तक, जो इग्लैड में नागरी लिपि में छपी

उपलब्ध है। ये टाइप विल्किस की फाउडरी के है। सम्भवत कुरियर प्रेस ने ये टाइप इग्लैड से मँगवाये होगे।

इस तरह देशी भाषाओं में पुस्तकें प्रकाशित होने के बाद यह स्वाभाविक था कि देश में समाचार-पत्रों का प्रकाशन भी आरम्भ हो और वह हुआ भी।

हिन्दुस्तान में सबसे पहला समाचार-पत्र अंग्रेजी में निकला। उसका नाम था 'बेंगाल-गैज़ेट' (Bengal Gazette)। इसका प्रथम अंक २९ जनवरी सन् १७८० के दिन निकला था। यह साप्ताहिक था। इसके सम्पादक मि० हिकी (Hickey) थे। यह पत्र प्रायः इसके सम्पादक के नाम से ही पहचाना जाता था।

इसके बाद बंगाल में 'बंगाल हरकरू' इत्यादि पत्र प्रकाशित हुए।

इसी तरह बम्बई में सन् १७९० में 'गैज़ेट' (Gazette) और सन् १७९१ में 'कोरियर' (Courier) प्रकाशित हुए।

इन्हीं इंग्लिश पत्रों को देखकर सन् १८१८ में बंगला भाषा में 'समाचारदर्पण', सन् १८२२ में गुजराती भाषा में 'मुम्बई समाचार' सन् १८२६ में हिन्दी भाषा में 'उदन्त मार्तंड', और सन् १८३२ में मराठी भाषा में 'दर्पण' पत्र प्रकाशित हुए।

सरकार ने जब शिक्षा का आरम्भ किया तब शिक्षोपयोगी, भाषा, गणित, इतिहास और भूगोल इत्यादि विषयों की पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगीं।

इस तरह छपी पुस्तकों और पत्रों का प्रचार देखकर पुराण-पन्थी चौंक उठे। उन्होंने छपी पुस्तकों और पत्रों का विरोध आरम्भ किया। इस विरोध का कारण सम्भवतः यह था कि इस छापे के आद्य प्रचारक मिशनरी थे। इस लिए उन्हें छपे काग़ज़ों में ईसाई-धर्म के प्रचार की बू आने लगी। श्रीयुत गोविन्द नारायण माडगाँवकर ने अपनी पुस्तक 'मुम्बई वर्णन', जो सन् १८६३ में प्रकाशित हुई थी, के पृ० २४८ पर लिखा है :

हमारे कुछ भोले व नैष्ठिक ब्राह्मण छपे काग़ज़ का स्पर्श करते डरते थे और आज भी (सन् १८६३ में भी) डरते हैं। बम्बई में और बम्बई से बाहर भी ऐसे बहुत से लोग हैं, जो छपी हुई पुस्तक को पढ़ना तो दूर रहा, छपे काग़ज़ का स्पर्श तक नहीं करते हैं।

लोगों की कल्पना थी कि स्याही में चरबी का प्रयोग किया जाता है, जो वर्जित है। इसलिए उस स्याही से छपी हुई पुस्तकें अमंगलकारी हैं।

छापना जब अनिवार्य समझा जाने लगा तब कुछ लोगों ने स्याही में घी का उपयोग करने की हिमायत की। गत शताब्दी के अन्त में पत्रों में 'तूपाचें (घी का) गुरुचरित्र' हैडिंग वाले विज्ञापन प्रकाशित होते थे, जिनसे यह बात प्रमाणित होती है कि लोग सचमुच ही चरबी की जगह स्याही में घी का उपयोग करते थे। "गुरुचरित्र" मराठी भाषा का एक धार्मिक ग्रन्थ है। उसका चरबी की स्याही में छपना गुनाह माना गया। इसीलिए वह घी की स्याही में छापा गया।

सुना जाता है कि जैन-लोगों में भी ऐसी ही भावना थी। कलकत्ते में करीब बीस बरस पहले पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल ने एक 'जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी' संस्था कायम की थी। उसने अपना एक प्रेस आरम्भ किया। उस प्रेस में कहीं भी चरबी या दूसरी ऐसी चीज़ों का उपयोग नहीं किया जाता था, जो जैन-दृष्टि से अशुद्ध मानी जाती हों। वे उन चीज़ों की जगह किसी वनस्पति से बनी चीज़ काम में लाते थे और ग्रन्थ छापते थे।

भारतियों के हृदयों में भी स्वतन्त्र रूप से छापाखाने चलाने की इच्छा का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। उनकी यह इच्छा पूरी भी हुई। सर्व-प्रथम गणपत कृष्णाजी ने छापाख़ाना आरम्भ किया। ये पहले एक अमेरिकन मिशनरी प्रेस में प्रेसमैन थे। वहीं इन्होंने मुद्रणालय से सम्बन्ध रखने वाली सारी बातें सीखी थीं। इनके सम्बन्ध में गो० ना० माडगाँवकर ने अपनी पुस्तक 'मुम्बई वर्णन' में लिखा है—

"अमेरिकन मिशनरियों ने सन् १८१३ में छापाखाना शुरू किया। लिथो प्रेस में ईसाई-धर्म से सम्बन्ध रखने वाली अनेक पुस्तकें छपीं। इन्हें देखकर परलोक-गत भंडारी जाति के 'गणपत कृष्णाजी' के मन में (सन्

१८४०) आया कि मैं भी इसी तरह का एक छापखाना आरभ कर हिन्दू-धर्म से सम्बन्ध रखने वाली तथा अन्य पुस्तकें छापूं, परन्तु न तो छापने के साधन उनके पास थे और न बम्बई में उस समय उसके साधन मिलते ही थे। इसलिए उन्होंने खुद अमेरिकन प्रेस देखकर उसके जैसा प्रेस बनाने का उद्योग आरम्भ किया। प्रारम्भ मे उन्होंने एक लकडी का साँचा तैयार किया और इधर-उधर से छापने लायक पत्थर के छोटे टुकडे जमा करके उन पर अक्षर कैसे उठते हैं यह जाँच की। मगर छापने को स्याही नही थी। इसलिए स्याही तैयार करने के काम मे लगे। अनेक तरह के एक्सपेरिमेंट (प्रयोग) के बाद वे स्याही बनाने में सफल हुए। उसके बाद उन्होंने लोहे का एक प्रेस बनवाया। फिर छापने का पत्थर खरीद कर छोटी-छोटी पुस्तकें छापने का काम आरम्भ किया। शके १७६३ (सन् १८४१) में उन्होंने स्वत लिखकर मराठी पचाग छापकर प्रकाशित किया। उसकी क़ीमत आठ आने रक्खी। यह साफ छपा हुआ था। ज्योतिष की अनेक बातें उसमें तुरन्त मिल जाती थी। यह देखकर ब्राह्मण लोग, यद्यपि छपी पुस्तको के विरोधी थे, लेकिन इस पचाग को खरीदने लगे और उसीसे सवत्सर प्रतिपदा (चैत्र सुदी १) के दिन वर्ष-फल पढकर लोगों को सुनाने लगे।

"इन्होंने अपने छापाखाने मे छपी हुई कुछ पुस्तके ले जा कर डॉ० विलसन, पादरी गेरेट और पादरी आलन को बताई। पुस्तकें देखकर उन लोगो ने गणपत कृष्णाजी की बुद्धि की प्रशसा की और उनका उत्साह बढाने के लिए उन्हें कुछ छापने का काम देने लगे। फिर तो धीरे-धीरे उनके छापेखाने की बहुत प्रसिद्धि हुई और उन्हें छपाई का बहुत काम मिलने लगा।

"शके १७६५ (सन् १८४३) में गणपत कृष्णाजी ने टाइप बनाने का उद्योग आरम्भ किया। साँचे तैयार करके अक्षर ढालने का कारखाना शुरू किया और सब तरह के टाइप तैयार करके टाइप का छापाखाना भी आरम्भ कर दिया और उसमे पुस्तकें छपने लगी।

"इस तरह गणपत कृष्णाजी ने दोनो छापेखानो मे हजारो गुजराती और मराठी की पुस्तकें छापी। इस छापाखाने में मराठी छापने का जैसा सुन्दर काम होता है, वैसा अन्यत्र नही होता।"

महाराष्ट्र में गणपत कृष्णाजी ने जैसा काम किया, वैसा उत्तर हिन्दुस्तान, बगाल, गुजरात आदि प्रातो के मुद्रको की विस्तृत जानकारी प्रकाशित होने से पाठको को बडा लाभ होगा।

बम्बई]

भारत में समाचार-पत्र और स्वाधीनता

श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

आजकल जिसे समाचार-पत्र कहते हैं, अँगरेजो के यहाँ आने के पहले उसका अस्तित्व नहीं था। पहला पत्र जो इस देश मे निकला, वह भी अँगरेजी मे और अँगरेज ने ही निकाला, क्योकि अँगरेज विचारस्वातन्त्र्य के पक्षपाती ही नही है, वे साधारणत अनाचार के विरोधी भी है। वे जानते है कि अनियन्त्रित राजसत्ता अनाचार की जननी है और अनाचार पर प्रकाश डालने के लिए समाचारपत्र की आवश्यकता है तथा जवतक अनाचार पर प्रकाश नही पडता तवतक अन्याय-अत्याचार का अन्धकार भी दूर नही होता। ऐसे विचारो की प्रेरणा से जेम्स ऑगस्ट हिकी ने १७८० में 'बेंगाल गैजेट' वा 'कैलकटा जेनरल ऐडवरटाइजर' नामक पत्र निकाला था। इन्होने अपने प्रकाशन-पत्र का उद्देश्य इस एक वाक्य मे ही वता दिया था—"I take a pleasure in enslaving my body in order to purchase freedom for my mind and soul" अर्थात्—"मुझे अपने मन और आत्मा के निमित्त स्वतन्त्रता मोल लेने के लिए अपने शरीर को दास बनाने मे आनन्द आता है।"

उस समय वारेन हेस्टिंग्ज बगाल के गवर्नर-जनरल थे और इतिहास के विद्यार्थी जानते है कि वे कैसे शासक थे। हिकी का गैजेट साप्ताहिक था और दो तावो पर निकलता था, जिसका प्रत्येक पृष्ठ आठ इच चौडा और वारह इच लम्वा होता था। जैसा उसके नाम से प्रकट है, वह समाचारपत्र की अपेक्षा विज्ञापन-पत्र अधिक था, परन्तु उसमे विज्ञापन ही नही रहते थे, विशिष्ट पुरुषो की प्राइवेट वातो पर टिप्पणियाँ भी रहती थी, जिनका मुख्य लक्ष्य वारेन हेस्टिंग्ज ही होता था। हिकी वडे साहसी थे। इसलिए उन्होने अपनी नीति के विषय में पत्र पर छाप रक्खा था

"A weekly political and commercial paper open to all parties and influenced by none" अर्थात्—"एक साप्ताहिक राजनैतिक और व्यापारिक पत्र, जो खुला तो सव पार्टियो के लिए है, पर प्रभावित किसी से नही है।" हम समझते है कि हिकी के दोनो सिद्धान्त आज भी समाचार-पत्रो के सम्पादको और सचालको के सामने रहने चाहिए। हमारी समझ से आज के प्रलोभन उस समय से अधिक है। हिकी ने अपने सिद्धान्तो की रक्षा में जेल काटी और घाटा भी उठाया।

कलकत्ते की देखादेखी मद्रास और वम्वई के यूरोपियनो ने भी पत्र निकाले, परन्तु पत्रो के सचालन और सम्पादन में मानसिक, शारीरिक तथा आर्थिक हानि उठाने वालो मे अग्रणी कलकत्ते के ही अँगरेज रहे। देशी भाषा का पहला पत्र भी अँगरेजो ने ही निकाला, पर ये व्यापारी न थे, वैपटिस्ट मिशनरी थे। सीरामपुर के वैपटिस्ट मिशनरी केरी और मार्शमैन ने ईसाई धर्म के प्रचारार्थ वँगला मे कई पत्र निकाले। १८१८ में मासिक 'दिग्दर्शन' और 'समाचार-दर्पण' नाम के पत्रो को जन्म इन मिशनरियो ने ही दिया। जोशुआ मार्शमैन 'समाचारदर्पण' के सम्पादक थे। इसी समय 'आत्मीय सभा' के सदस्य हरूचन्द्रराय और गङ्गाकिशोर भट्टाचार्य के सम्पादकत्व मे वँगला मे 'बगाल गैजेट' निकला। यह 'आत्मीय सभा' ब्राह्मसमाज का पूर्वरूप जान पडती है, क्योकि सम्पादकद्वय ब्राह्मसमाज के सस्थापक राजा राममोहन राय के मित्र थे।

इस समय मुसलमानी अमलदारी का अन्त हो चुका था और अँगरेजी शासन की जड जम रही थी। आज जैसा अँगरेजी का वोलवाला है, वैसा ही मुसलमानी राज में फारसी का था। लोग शासको से सम्पर्क रखने के लिए फारसी पढते थे, इसलिए फ़ारसी एक प्रकार से उस समय के शिक्षित-समाज की अखिल भारतीय भाषा थी। राजा राम-मोहन राय ने अपने विचारो का अखिल भारतीय प्रचार करने के अभिप्राय से फारसी मे 'मीरात-उल-अखबार' निकाला था। कलकत्ते में अँगरेजी, वँगला और फारसी के ही पत्र प्रकाशित नही होते थे, पहला हिन्दी पत्र भी यही से निकला

था। इसका नाम 'उदन्त मार्त्तण्ड' था। इसके सम्पादक और प्रकाशक युगुलकिशोर शुक्ल थे, जो सदर दीवानी अदालत में वकालत करते थे। यह साप्ताहिक पत्र था और इसकी पहली सख्या ३० मई १८२६ को प्रकाशित हुई थी। इसका मासिक चन्दा दो रुपये था। इसी समय कलकत्ते से 'जामे जहाँनुमा' नाम का जो फारसी पत्र निकलता था, उसे सरकार से सहायता मिलती थी। 'मार्तण्ड' के सम्पादक समझते थे कि उन्हें भी सहायता मिलेगी, पर जब न मिली और अपने बल पर वे पत्र न चला सके तो ४ दिसम्बर १८२७ को उसे बन्द कर दिया।

बम्बई और मद्रास प्रेसीडेन्सियो का महत्त्व यद्यपि बगाल के समान न था, तथापि इनमें भी स्वतन्त्र विचार के व्यापारी अँगरेज़ थे और इन्होंने समाचारपत्रो को जन्म दिया था। बम्बई से १७८९ मे 'बाम्बे हेरल्ड' और एक वर्ष बाद 'बाम्बे कोरियर' निकला, जिसका उत्तराधिकारी आज 'टाइम्स ऑव इडिया' है। 'कोरियर' के सचालक व्यवसायकुशल थे। इसलिए अँगरेज़ी में पत्र निकाल कर भी गुजराती भाषा-भाषी व्यापारियो को आकर्षित करने के लिए विज्ञापन गुजराती में निकालते थे। मद्रास में हम्फ्रीज़ ने १७९५ में 'मद्रास हेरल्ड' निकाला था। बम्बई मे गुजराती के पहले पत्र पारसियो ने प्रकाशित किये थे, पर इनका उद्देश्य पचागो की गणना का वाद-विवाद था। इसलिए ये बहुत दिन नही चले। अत 'मुम्बई वर्तमान' को ही गुजराती का पहला पत्र कहना चाहिए। यह १८३० में साप्ताहिक रूप से निकला था और साल भर बाद ही अर्द्ध-साप्ताहिक हो गया। १८३१ मे सनातनी पारसियो का मुखपत्र 'जामे जमशेद' निकला। देशी भाषा का इतना पुराना पत्र शायद कोई नही है। १८५१ में दादाभाई नवरोजी के सम्पादकत्व में 'रास्त गुफ्तार' निकला।

१८३१ तक उर्दू का कोई पत्र नही निकला था। गोलोकवासी बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारतमित्र' में लिखा था कि 'आबेहयात' मे मौ० मुहम्मदहुसैन आज़ाद का कथन है कि '१८३३ ईस्वी मे उर्दू का पहला अखबार दिल्ली में जारी हुआ' और आज़ाद साहब के अनुसार 'उनके पिता के कलम से निकला।' पर डा० कालीदास नाग ने समाचार-पत्रो के इतिहास का जो सग्रह प्रकाशित किया है, उसमें लिखा है कि १८३७ में सर सैयद अहमद खाँ के भाई मुहम्मदखाँ ने उर्दू में पहला अखबार निकाला, जिसका नाम 'सैयदुल अख़बार' था। १८३८ में 'देहली अख़बार' प्रकाशित हुआ और इसके बाद ही 'फवायदे नाज़रीन' और 'क़ुरान-उल-सआदीन' नाम के दो उर्दू अख़बार हिन्दुओ द्वारा सम्पादित और प्रकाशित होने लगे।

हिन्दी का दूसरा पत्र भी कलकत्ते से ही निकला। इसका नाम 'बङ्गदूत' था। यह बँगला, फारसी और हिन्दी तीन भाषाओ में प्रकाशित होता था। प्रथम अक ९ मई १८२९ को निकला था। इसके सम्पादक राजा राममोहन राय के मित्र और अनुयायी नीलरतन हलदार थे। यह राजा का ही पत्र था। इसके बहुत दिनो बाद तक हिन्दी का कोई पत्र कलकत्ते से नही निकला। हिन्दी का तीसरा पत्र 'बनारस अख़बार' समझा जाता है, जिसे राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने १८४४ मे जारी किया था। बनारस से और भी कई पत्र निकले थे, जिनमें एक 'सुधाकर' भी था, जिसके नाम पर प्रसिद्ध ज्योतिषी म० म० सुधाकर द्विवेदी का नामकरण हुआ था। इसे तारामोहन मित्र नामक बगाली सज्जन सम्पादित करते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कारण बनारस बहुत दिनो तक हिन्दी का केन्द्र रहा, क्योकि ये लिखते और लिखाते ही नही थे, लेखको को धन भी देते थे। दिल्ली, अलमोडा, लाहौर, कानपुर, मेरठ, अलीगढ, मिर्ज़ापुर, कलकत्ता आदि अनेक स्थानो से हिन्दी पत्र निकले। ये बहुधा हिन्दी का ही आन्दोलन करते थे और उदार भाव व्यक्त करते थे।

समाचारपत्रो के प्रतिबन्ध दूर करने में अँगरेज़ सम्पादको और सचालको ने जो त्याग और कष्ट-सहिष्णुता दिखाई है, उसके लिए समाचार-पत्र उनके सदा कृतज्ञ रहेगे। भारतवासियो ने जेलयातना पचास वर्ष पहले नही भोगी थी, पर अँगरेज़ सम्पादको ने जेल ही नही काटी, वे निर्वासित हुए और उनकी सम्पत्ति भी ज़ब्त हुई। फिर भी अपने आदर्श का उन्होने त्याग नही किया। पहले सम्पादक हिकी थे, जो जेल गये और जिनको सरकार की इच्छा के विरुद्ध पत्र-प्रकाशन के कारण घाटा भी सहना पडा। दूसरे विलियम डुआनी थे, जिन्होने अपने 'इडियन वर्ल्ड'

मे भडाफोड क्या किया, बैठी वरें उडाई। ये निर्वासित किये गये और इनकी तीस हजार की सम्पत्ति सरकार हडप गई। तीसरे सम्पादक मद्रास के हम्फ्रीज थे, जिन्होने सरकार से लाइसेन्स वा अधिकार-पत्र लिये विना ही पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ किया था। इनके लेखो से सरकार इतनी चिढ गई कि जहाज़ पर इन्हे इग्लैंड के लिए चढा दिया। पर ये रास्ते से ही निकल भागे। लार्ड हेस्टिंग्ज़ के पहले नियम था कि छपने के पहले लेखादि देख लिये जायें। पर इन्होने यह प्रि-सेन्सरशिप उठा दी। इस सुभीते के साथ ही एक वडा असुभीता यह हो गया कि १६८८ में 'विल ऑव राइट्स' द्वारा व्यक्तिस्वातन्त्र्य और भाषणस्वातन्त्र्य के जो अधिकार ब्रिटिश प्रजा को मिले थे, वे १८१८ के तीसरे रेगुलेशन द्वारा भारतीय प्रजा से छीन लिये गये, क्योकि इसके अनुसार कोई मनुष्य विना विचार के ही वर्षो कैद किया जाने लगा। यह रेगुलेशन आज भी व्यवहार में आता है और नौकरशाही के शस्त्रागार की शोभा वढा रहा है।

पत्रो की पार्टियाँ

जैसा ऊपर वताया गया है ईस्ट इडिया कम्पनी के कर्मचारियो की निरकुशता से मोर्चा लेने के लिए अँगरेज़ सम्पादक ही सामने आते रहे और उन्होने वडे साहस, निष्ठा और त्याग से यह काम किया। इस समय पत्रो की पार्टियाँ वन गई थी। एक पार्टी तो परम्परावादियो की थी और दूसरी सुधारको की। दूसरी के नेता राजा राममोहन राय थे। ये दोनो भारतवासियो की पार्टियाँ थी, परन्तु इनमें अँगरेज़ भी शामिल हो जाते थे। जो निरकुशता के समर्थक थे, वे परम्परावादियो की हाँ में हाँ मिलाते थे और जो उन्नतिशील विचारो के पक्षपाती थे, वे सुधारको के सहायक थे। ये ही समाचार-पत्रो की स्वतन्त्रता के लिए लडते थे। पहले महासमर मे हम लोगो ने देखा था कि सरकार ने मि० बी० जी० (वेनजामिन गाइ) हार्निमैन को भारत से निर्वासित कर दिया था। पर उन दिनो यूरोपियन सम्पादको का निर्वासन साधारण घटना थी। हम्फ्रीज़ और डुआनी के वाद वगाल सरकार ने सिल्क वकिघम को भी जहाज़ पर वैठाकर इग्लैंड रवाना कर दिया था। ये राजा राममोहन राय के मित्र और आदर्श पत्रकार थे।

सिल्क वकिघम के 'कैलकटा जर्नल' का प्रभाव घटाने के लिए विपक्ष ने १८२१ में 'जान वुल' निकाला। पर सव उदारपत्र इसके विरोधी हो गये और यह नीम सरकारी पत्र समझा जाने लगा। लार्ड हेस्टिंग्ज़ के जाते और जान ऐडम के अस्थायी गवर्नर जनरल वनते ही सिल्क वकिघम पर आफत आ गई। इन्होंने डा० ब्राइस की नियुक्ति का विरोध किया था। डा० ब्राइस स्काचचर्च के चैपलेन थे और स्टेशनरी क्लर्क नियुक्त हुए थे। वस, वकिघम जहाज़ पर चढाकर इग्लैंड भेज दिये गये। पर ब्राइस की नियुक्ति कोर्ट ऑव डाइरेक्टर्स को भी पसन्द न आई। इसलिए वकिघम ने सरकार और कम्पनी दोनो को पेनशन देने के लिए लाचार किया और फिर वही से 'ओरियंटल हेरल्ड' निकाल दिया। फिर भी ऐडम अपनी हरकतो से वाज़ नही आये और उन्होने पत्रो और प्रेसो पर नये प्रतिवन्ध लगायें, जिनके फलस्वरूप राजा राममोहन राय को अपना फारसी पत्र 'मीरात-उल-अख़वार' वन्द करना पडा।

वेनटिक की उदारता

लार्ड ऐम्हर्स्ट ने रेगुलेशनो का कडाई से पालन किया, पर १८२८ में लार्ड विलियम वेनटिक के आते ही हवा वदल गई। इन्होने खुल्लमखुल्ला कहा, **'मै समाचार पत्रों को मित्र मानता हूँ और सुशासन में सहायक समझता हूँ।"** जव राजा राममोहन को गवर्नर जनरल का यह रुख मालूम हुआ तव वे फिर पत्र-प्रकाशन मे प्रवृत्त हुए। १८२९ में उन्होंने 'वगाल हेरल्ड' निकाला और अपने मित्र **रावर्ट माटगोमरी मार्टिन** को उसका सम्पादक नियुक्त किया। ये वही माटगोमरी मार्टिन थे, जिन्होने हिसाव लगाकर वताया था कि भारत से कितना धन इग्लैंड गया है और अवतक खिचा चला जाता है। माटगोमरी मार्टिन के इस सिद्धान्त को ही दादाभाई नवरोजी ने अपनी 'Poverty and un-British Rule in India' में प्रमुख स्थान दिया था। राजा राममोहन और द्वारकानाथ ठाकुर (कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के पितामह) सतीप्रथा के भी विरुद्ध थे और जव लार्ड विलियम वेनटिक ने ब्रिटिश भारत से (क्योकि वे

बगाल के ही नही, ब्रिटिश भारत के भी गवर्नर जनरल नियुक्त हो चुके थे) सती प्रथा उठा दी तब सुधारवादी-पत्रो का वल वहुत वढ गया ।

समाचारपत्रो की स्वतत्रता

लार्ड विलियम वेनटिंक की उदारता के युग में भी प्रेसीडेन्सियो में कुछ मनमानी चलती ही थी। मद्रास सरकार ऐडम रेगुलेशन के ढर्ग पर प्रेस रेगुलेशन वनाने की सोच रही थी। उसने बगाल सरकार से इसकी प्रति भी माँगी थी। यद्यपि इसी समय लार्ड विलियम वेनटिंक भारत के गवर्नर-जनरल वना दिये गये थे, उससे प्रेसीडेन्सियो की स्वेच्छाचारिता मे लगाम लग गई थी, तथापि इनका कार्यकाल समाप्तप्राय था। इसलिए ६ फरवरी १८३५ को ऐडम रेगुलेशन रद्द करने के लिए जो मेमोरियल गवर्नर-जनरल को दिया गया था, उस पर विचार भी लार्ड विलियम के चले जाने के वाद हुआ। नये गवर्नर-जनरल के आने में देर थी। इसलिए उनकी कौन्सिल के सीनियर मेम्वर सर चार्ल्स मेटकाफ अस्थायी गवर्नर-जनरल बना दिये गये। जो मेमोरियल इन्हे दिया गया, उस पर विलियम ऐडम, द्वारकानाथ ठाकुर, रसिकलाल मलिक, ई० एम० गार्डन, रसमय दत्त, एल० एल० क्लार्क, सी० हाग, टी० एच० बर्किन यग, डेविड हेयर, टी० ई० एम० टर्टन-यग और जे० सदरलेंड के हस्ताक्षर थे। ३ अगस्त १८३५ को अपनी कौन्सिल के सर्वमतो से सर चार्ल्स ने ऐडम रेगुलेशन रद्द कर प्रेस को स्वतन्त्र कर दिया। इस विधान से बगाल का १८२३ का रेगुलेशन ही नही, वम्वई के १८२५ और मद्रास के १८२७ के रेगुलेशनो का भी सफाया हो गया। सर चार्ल्स ने इस सिद्धान्त पर प्रेस को स्वतन्त्र कर दिया कि सवको अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

पहला दैनिक पत्र

'बगाल हरकारा' सवसे पुराना दैनिक पत्र अँगरेज़ी मे निकला था। सैमुएल स्मिथ नाम के एक अँगरेज़ ने इसे ख़रीद कर उदार विचारो के प्रचार मे लगाया था। प्रिन्स द्वारकानाथ इसके सरक्षक थे और इसे आर्थिक सहायता दिया करते थे। 'वगाल-हरकारा' के साथ ही 'इडिया गैज़ेट' भी द्वारकानाथ के हाथ आ गया था और फिर ये दोनो आगे चलकर 'इडियन डेली न्यूज़' रूप से दैनिक मे परिणत हो गये थे। अन्त समय तक 'डेली न्यूज़' मे उदार विचार प्रकट किये जाते थे। इसके मालिक कलकत्ते के प्रसिद्ध वैरिस्टर मि० ग्रहम थे। अनुदार और अप्रगतिशील दो ही पत्र कलकत्ते में समाचार-पत्रो के स्वातन्त्र्य के समय थे—एक 'जान वुल' और दूसरी वगला की 'समाचार चन्द्रिका'। 'जान वुल' ने जे० एच० स्टोक्वेलर के हाथ मे पडकर अपना नाम 'इग्लिशमैन' धर लिया। किसी प्रकार कुछ वर्ष इसके वीते और अन्त में 'स्टेट्समैन' ने इसे ख़रीद कर वन्द कर दिया।

गैगिंग ऐक्ट (गलाघोटू कानून)

१८५७ के ग़दर के पहले भारत में वहुत से पत्र निकल चुके थे, पर इनका केन्द्र कलकत्ता ही था। १८५६ में लार्ड कैनिंग गवर्नर-जनरल होकर आये थे और इसके एक वर्ष के अन्दर ही गदर हो गया था। अँगरेज़ो के अनुदार पत्र सरकार को हिन्दुस्तानियो के विरुद्ध भडकाते थे। यही नही, ठढे दिमाग से काम करने वाले लार्ड कैनिंग पर ऐसे कटाक्ष करते थे, मानो गदर के नेता यही थे! हिन्दुस्तानी पत्र भारतवासियो की निर्दोषिता सिद्ध करते थे। कलकत्ते के 'हिन्दू पैट्रियट' के सम्पादक हरिश्चन्द्र मुकर्जी और वम्वई के गुजराती पत्रो के सम्पादक विशेषकर दादाभाई नवरोजी अपने 'रास्त गुफ्तार' द्वारा सयत भाषा में सव आक्षेपो के उत्तर देते थे। फिर भी असाधारण उत्तेजना का वह समय था। इसलिए लार्ड कैनिंग ने सारे भारत के पत्रो पर १३ जून १८५७ को ऐडम रेगुलेशन लगा दिया, जो Gagging Act (गलाघोटू कानून) कहलाया। कलकत्ते के 'दूरबीन', 'सुलतान-उल-अख़बार' और 'समाचार सुधावर्षण' पर मामले चले और 'फ्रेंड ऑव इडिया' को चेतावनी दी गई। इसने लिखा था कि आज भारत में आधा दर्जन भी यूरोपियन न होंगे, जो लार्ड कैनिंग के पक्ष मे हाथ उठावेंगे।

समाचारपत्रो की बाढ

'गलाघोटू कानून' एक निश्चित अवधि के लिए जारी किया गया था, क्योकि लार्ड कैनिंग समाचारपत्रो की स्वाधीनता छीनना नही चाहते थे। यह अवधि वीतने पर समाचारपत्रो की वाढ आ गई। वम्वई के वाम्वे स्टैंडर्ड, टेलिग्राफ और कोरियर तीनो मिलकर 'बाम्बे टाइम्स' और फिर १८ सितम्वर १८६१ को 'टाइम्स ऑव इडिया' नाम से निकले। १८५८ मे 'बाम्बे टाइम्स' के सम्पादक रावर्ट नाइट नियुक्त हुए, जो वाद को १८७५ में कलकत्ता-पाइकपाडे के राजा इन्द्रचन्द्र सिंह की सहायता और धन से प्रकाशित होने वाले 'स्टेट्समैन' के सम्पादक हुए थे। १८६७ मे मेटकाफ ऐक्ट के वदले नया ऐक्ट वना, जिसमें छापाखानो और अखवारो के नियन्त्रण तथा छपी पुस्तको की व्यवस्था की गई। १८६८ समाचारपत्रो के इतिहास में महत्त्वपूर्ण वर्ष हुआ, क्योकि इसी वर्ष वगाल के जेसर जिले से शिशिरकुमार घोष और मोतीलाल घोष ने वँगला में 'अमृत वाजार पत्रिका' नाम से साप्ताहिक पत्र निकाला, जो आज भारतीय पत्र-पत्रिकाओ में सर्वश्रेष्ठ नही तो विशिष्ट अवश्य ही कहा जायगा। १८७० में ब्राह्म समाज के नेता केशवचन्द्र सेन ने जनता के हितार्थ एक पैसे का अखवार 'सुलभ समाचार' निकाला।

हिन्दी पत्रो की वृद्धि

१८७१ से हिन्दी पत्रो में आशातीत वृद्धि हुई और ऐसे समय हुई, जव हिन्दी उपेक्षित भाषा थी। देश की भाषा रहनेपर भी वह दवी हुई थी, क्योकि सरकार ने उर्दू को हिन्दी प्रदेश की भाषा का पद दे दिया था। गढवाल प्रदेश युक्त प्रदेश मे सवसे पीछे अँगरेजी राज में शामिल हुआ, पर पत्र प्रकाशन में किसी से पीछे न रहा। अल्मोडे से १८७१ में 'अल्मोडा अखवार' और कलकत्ते से १८७२ मे 'विहारवन्धु' निकला। 'विहारवन्धु' पटना-जिले के विहार ग्राम निवासी मदनमोहन, साधोराम और केशवराम भट्ट ने कलकत्ते से प्रकाशित किया था। १८७० से १८८० तक लाहौर से कलकत्ते तक अनेको हिन्दी पत्र निकले। इन पत्रो मे आगे चलकर विशेष प्रसिद्ध 'भारतमित्र' हुआ, क्योंकि उस समय के प्रसिद्ध पुरुषो तक के लेख इसमें प्रकाशित होते थे। 'भारतमित्र' १८७८ मे पाक्षिक निकला था और वह थोडे ही दिनो वाद साप्ताहिक हो गया था। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दशक में वह दो वार दैनिक हुआ और एक साल से अधिक न रह सका। तीसरी वार १९११ में और चौथी वार १९१२ मे वह दैनिक हुआ। आगे चलकर उसका साप्ताहिक सस्करण बन्द हो गया और १९३४-३५ में भारत से 'भारतमित्र' का नामोनिशान मिट गया। परन्तु 'भारतमित्र' के दिखाये मार्ग पर अनेक दैनिक पत्र हिन्दी मे निकले, जिनमें कुछ तो आज भी प्रकाशित हो रहे हैं और कुछ काल-कवलित हो गये। फिर भी इसमें सन्देह नही कि यह युग दैनिक पत्रो का है, साप्ताहिको का नही।

वर्नाक्युलर प्रेस ऐक्ट

१८७६ में लार्ड लिटन वायसराय वनकर आये। इस समय वँगला मे कई साप्ताहिक पत्र निकल रहे थे, जिनमें 'अमृतबाजारपत्रिका' का प्रभाव वढ रहा था। यह सरकारी कर्मचारियो का भडाफोड किया करती थी। इसलिए इसका प्रभाव नष्ट करने के उद्देश्य से देशी भाषाओ के सभी पत्रो का दमन करने को लार्ड लिटन ने 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' वनाया। इस समय वम्वई प्रेसीडेन्सी से वासठ पत्र मराठी, गुजराती, फारसी और हिन्दुस्तानी में (पता नही यह हिन्दी थी या उर्दू), पश्चिमोत्तर प्रदेश वा वर्तमान युक्तप्रदेश से (अवध को छोडकर) साठ, मध्यप्रदेश से पचास, वगाल से पचास और मद्रास प्रेसीडेन्सी से उन्नीस पत्र निकलते थे। जो पत्र अँगरेजी मे निकलते थे, उन्हें तो लिटन ऐक्ट से कोई डर नही था। इसलिए कई नये अँगरेजी पत्र निकले, यथा २० सितम्वर १८७८ को मद्रास से 'हिन्दू', १८७९ में कलकत्ते से 'बँगाली' और १८९० में वम्वई से 'इडियन सोशल रिफार्मर' प्रकाशित हुआ। पहिले के जनक जी० सुब्रह्मण्य ऐयर, दूसरे के सुरेन्द्रनाथ वनर्जी और तीसरे के वैरामजी मलावारी थे। सुरेन्द्रनाथ सिविलियन थे, पर कोई कागज

भूल से दवा पडा रह गया था। इसलिए सिविल सर्विस से हटा दिये गये थे। ये अद्वितीय वक्ता थे और अपने भाषणो और लेखो से इन्होने देश की वडी सेवा की थी। एक वार कलकत्ता हाईकोर्ट में जस्टिस नौरिस ने हाईकोर्ट में शालग्राम शिला लाने की आज्ञा दी थी और काशी के पडित राममिश्र शास्त्री ने इसके समर्थन में व्यवस्था भी दे दी थी। परन्तु सुरेन्द्र वावू ने इसका विरोव किया और वदनाम अँगरेज जज जेफरीज से नौरिस की तुलना की। इस पर न्यायालय का अपमान करने के अपराध में इन्हे जेल भी जाना पडा। पर नौरिस की आज्ञा न चली।

'अमृतवाजारपत्रिका' का कुछ अश इन दिनो वँगला में और कुछ अँगरेजी में निकलता था और इसे वन्द करना ही लिटन का लक्ष्य था। परन्तु पत्रिका के सम्पादक शिशिरकुमार घोप ने सारी पत्रिका अँगरेज़ी में ही कर दी और तवसे उसका वँगला अश सदा के लिए हट गया। लार्ड लिटन के कान इस प्रकार जव शिशिर वावू ने काट लिये तव उनका मनोभाव कैसा हुआ होगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। १४ मार्च १८७८ को लिटन का जो ऐक्ट पास हुआ था, उसमें सरकार को यह अविकार दिया गया था कि वह देशी भाषा के किसी पत्र के मुद्रक और प्रकाशक से यह प्रतिज्ञा करा सकती है कि कोई ऐसा विपय न प्रकाशित किया जायगा, जिससे राजद्रोह फैल सकता हो। जो मुद्रक-प्रकाशक इसके विरुद्ध आचरण करता, उसे पहले तो चेतावनी दी जाती और वाद में उसका प्रेस छीन लिया जाता। इससे वचने को लोग अपने पत्र की कापी सेन्सर करने के लिए दे सकते थे। शिशिर वावू ने उसके वदले २१ मार्च १८७८ मे पत्रिका अँगरेज़ी में करदी और लार्ड लिटन अपना-सा मुँह लेकर रह गये। रिपन ने आकर इस ऐक्ट को रद्द किया। १८८१ मे पूने का 'केसरी' निकला, जो लो० तिलक के कारण भारत के देशभाषा के पत्रो में सवसे प्रसिद्ध हुआ।

वङ्ग-भङ्ग का प्रभाव

भारतीय पत्रो की सख्या दिन दूनी रात चौगुनी वढने लगी और १९०५ में वग-भग के आन्दोलन से तो वहुत अधिक हो गई। इस आन्दोलन के दो रूप थे, एक हिंसात्मक और दूसरा अहिंसात्मक। खुल्लमखुल्ला हिंसा का प्रचार करने वाला पत्र क्रान्तिवादियो ने 'युगान्तर' नाम से वँगला मे निकाला था। इसके दमन के लिए १९०८ में हिंसा को उत्तेजन देने के सम्वन्ध का (Incitement to Violence) ऐक्ट वना। इसके साथ ही अँगरेज़ी का दैनिक पत्र 'वन्देमातरम्' भी इसी कानून से वन्द किया गया, यद्यपि इसकी नीति हिंसावाद की नही थी। इतने से ही सरकार को सन्तोप न हुआ और उसने १९१० में 'प्रेस ऐक्ट' वनाया, जो इतना व्यापक था कि 'कामरेड' के मामले में कलकत्ता हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस सर लारेन्स जेनकिन्स ने कहा कि अच्छे-से-अच्छा साहित्य प्रेस-ऐक्ट के अनुसार दूषित ठहर सकता है। यह प्रेस-ऐक्ट १९१९ में रद्द कर दिया गया, पर १९१९ में पजाव मे जो घटनाएँ हुई, उन पर विचार करके सरकार ने १९२० से उसे फिर जारी कर दिया और आज भी वह देशी पत्रो की छाती पर मूँग दल रहा है। इसके पहले पीनल कोड वा ताज़ीरात हिन्द में दो धाराएँ और वढाई गई, एक १२४अ और दूसरी १५३अ। पहली के अनुसार राजद्रोह-प्रचार का अभियोग सम्पादको और लेखको पर लगने लगा और दूसरी के अनुसार जाति-द्वेष-प्रचार के मामले उन पर चलाये जाने लगे। १८९७ में लोकमान्य तिलक पर राजद्रोह-प्रचार का मामला चलाया गया था। उसमें वम्वई हाईकोर्ट के दौरा-जज स्ट्रेची ने उक्त धारा में 'disaffection' शब्द का अर्थ 'want of affection' किया था। ऐसी अवस्था मे उन्हें डेढ साल की सजा देना जस्टिस स्ट्रेची के लिए ठीक ही था। १९०८ में उन्हें छ वर्ष का दड वैसे ही अभियोग पर जस्टिस दावर ने दिया था, जो १८९७ वाले मामले में उनके वैरिस्टर थे। युद्धकाल में और विशेपकर गत महासमर में तो पत्रो की कोई स्वाधीनता ही नही थी और आज भी नही के वरावर ही है।

उन्नीसवी शताव्दी के उत्तरार्द्ध मे हिन्दी के जो पत्र जहाँ से और जिसके सम्पादकत्व मे निकले, उनका सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है। १८७१ में 'अलमोडा अख़वार', १८७२ मे 'विहारवन्धु', १८७४ में 'सदादर्श' (दिल्ली, सम्पादक लाला श्रीनिवासदास), १८७६ में 'भारतवन्धु' (अलीगढ, सम्पादक तोताराम वर्मा), १८७७ में 'मित्रविलास'

(लाहौर, प० मुकुन्दराम जी), 'हिन्दूबान्धव' (लाहौर, नवीनचन्द्र राय), १८७८ मे 'हिन्दीप्रदीप' (प्रयाग) अथवा उसके पहले 'शुभचिन्तक' (कानपुर), १८७८ 'भारतमित्र' (कलकत्ता), १८७९ 'सारसुधानिधि' (कलकत्ता), १८८० में 'उचितवक्ता' (कलकत्ता), १८८६ मे 'राजस्थान-समाचार' (अजमेर), 'प्रयाग समाचार' (प्रयाग), १८८४ में 'भारत जीवन' (काशी), १८९० में 'हिन्दीवङ्गवासी' (कलकत्ता) और १८९४ मे 'वेंकटेश्वर समाचार' बम्बई से निकला। मिर्ज़ापुर से उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' साप्ताहिक 'नागरी नीरद' और मासिक 'आनन्दकादम्बिनी' प्रकाशित करते थे। और भी कई पत्र १९०० तक निकले। कुछ चले और कुछ बन्द हो गये।

राज्यो से भी पत्र निकले जिनमे सर्वश्रेष्ठ पत्र उदयपुर का 'सज्जनकीर्त्तिसुधाकर' १८७४ मे निकला। पीछे चलकर चालीस वर्ष बाद इसमे प्रशसा योग्य कुछ नही रह गया था। उद्धृत लेख छपते थे और टाइप भी घिसा हुआ होता था। 'मारवाड गजट' जोधपुर से इससे आठ वर्ष पहले निकला था। १८८७ मे रीवाँ से 'भारतभ्राता' और १८९० में बूंदी से 'सर्वहित' निकला। राज्यो से ऐसे पत्र भी निकले, जो हिन्दी और उर्दू अथवा हिन्दी और अँगरेज़ी में निकलते थे। 'गवालियर गजट' और 'जयपुर गजट' दूसरी श्रेणी के थे। 'जयपुर गजट' तो १८७९ मे ही जारी हुआ था। जोधपुर का 'मारवाड गजट' और अजमेर का 'राजपूताना गजट' हिन्दी और उर्दू दोनो मे निकलते थे। आश्चर्य है कि जिन राज्यो में आज से साठ-सत्तर वर्ष पहले इन पत्रो का प्रकाश था, आज ग्वालियर को छोडकर जहाँ से 'जयाजी प्रताप' अँगरेज़ी और हिन्दी में निकलता है, उक्त सभी राज्यो मे अन्धकार है।

दैनिक पत्रो मे कालाकाँकर का 'हिन्दोस्थान' सबसे पहला है। इग्लैंड में १८८३ से १८८५ तक राजा रामपाल सिंह ने प्रकाशित किया था। पहले यह अँगरेज़ी और हिन्दी मे और बाद को उर्दू में भी छपता था अर्थात् तीन भाषाओ में निकलता था। १ नवम्बर १८८५ से कालाकाँकर से वह दैनिक हिन्दी मे निकलता था। इसके बाद बाबू सीताराम ने कानपुर से एक दैनिक पत्र हिन्दी मे निकाला था, जो शायद छ महीने चला था। 'राजस्थान-समाचार' जिसे मुशी समर्थराम ने अजमेर से निकाला था, शायद बोर युद्ध के समय पहले द्विदैनिक और बाद को दैनिक कर दिया था। इसका वार्षिक मूल्य दस रुपया था। यो तो 'भारतमित्र' एक बार १८९७ मे और दूसरी बार १८९८ में दैनिक हुआ, पर एक साल से अधिक वह दूसरी बार भी दैनिक न रहा। पर १९१२ से कोई बीस-पच्चीस वर्ष तक वह दैनिक रहा। आज तो हिन्दी में चार दैनिक कलकत्ते से, दो बम्बई से, चार दिल्ली से, दो लाहौर से, तीन कानपुर से, एक प्रयाग से, तीन काशी से और दो पटने से, इस प्रकार एक दर्जन से अधिक दैनिक, निकल रहे है।

१९१३ तक दैनिक पत्रो में ताज़ा खबरो की कोई व्यवस्था न थी। इस साल 'भारतमित्र' मे पहले-पहल तार लिये गये। इसके बाद 'कलकत्ता समाचार' निकला। इसमें भी ताज़ा तारो का प्रबन्ध था। आजकल कई दैनिक पत्रो में टेलिप्रिंटर भी लगे हुए है। ऊपर से देखने में हिन्दी-समाचार-पत्रो की बडी उन्नति हुई है। किसी को घाटे-टोटे की शिकायत नही है, परन्तु लिखा-पढी में शिथिलता आ गई है। दैनिकपत्रो की भाषा में कुछ त्रुटि तो रहती ही है, पर सच तो यह है कि भाषा को ओर सम्पादको का ध्यान भी नही है। और तो क्या, कभी-कभी अँगरेज़ी का उलथा भी बडा बेढगा होता है। मालिको को अर्थकष्ट होता तो वे इन त्रुटियो को दूर करते, पर उन्हे अर्थ की चिन्ता नही है। सम्पादको की शिक्षा का मुख्य कार्य भाषा और अनुवाद से प्रारम्भ होना चाहिए। इसके बिना सम्पादक की शिक्षा व्यर्थ हो जायगी। सम्पादको को यह न समझना चाहिए कि हम सर्वज्ञ है, पर उन्हे सर्वज्ञता प्राप्त करने के लिए निरन्तर परिश्रम करना चाहिए।

स्वाधीनता के अग्रदूत

भारतीय समाचारपत्र स्वाधीनता के अग्रदूत है। आज जिस पूर्ण स्वराज्य वा स्वाधीनता के लिए आन्दोलन हो रहा है, उसकी कल्पना पहले समाचारपत्र 'वन्देमातरम्' ने प्रकट की थी। मेरे आदरणीय मित्र स्वर्गीय बाबू विपिनचन्द्र पाल न अपने अगरेज़ी दैनिक 'वन्देमातरम्' द्वारा पूर्ण स्वाधीनता की आकाक्षा व्यक्त की थी। इसे ही बाबू अरविन्द

घोष ने अपने लेखो से पुष्ट किया था। उन्होने कहा कि हमें ऐसी स्वाधीनता चाहिए, जिसमें ब्रिटिश नियन्त्रण न हो। यह १६०५-६ की बात है, जब काग्रेस में स्वतन्त्रता, स्वाधीनता वा स्वराज्य जैसे किसी शब्द का प्रयोग नही हुआ था। १६०६ में दादाभाई नवरोजी ने काग्रेस के सभापति की हैसियत से पहले-पहल स्वराज की माँग पेश की। इसी समय से स्वराज काग्रेस का ध्येय हुआ। १६०७ मे स्वराज शब्द के प्रयोग पर बगाल सरकार को आपत्ति हुई तब कलकत्ता हाईकोर्ट के जस्टिस सारदाचरण मित्र और जस्टिस फ्लेचर ने निर्णय किया कि औपनिवेशिक शासन ही स्वराज है। इसलिए स्वराज का आन्दोलन करना राजद्रोह नही है। 'वन्देमातरम्' इस प्रकार के स्वराज्य का विरोधी था, क्योकि इसका कहना था कि औपनिवेशिक लोग तो अँगरेजो के भाईबन्द है, पर हमारा उनसे कोई नाता नही है। इसलिए हमें उनका स्वराज्य नही, पूर्ण स्वतन्त्रता चाहिए।

१६०६ में 'वन्देमातरम्' बन्द हो गया और पूर्ण स्वतन्त्रता का आन्दोलन भी रुक गया। काग्रेस पर १६१६ तक माडरेटो का प्राबल्य रहा और ये पूर्ण स्वतन्त्रता का नाम लेना भी पाप समझते थे। इसके बाद ही लोकमान्य तिलक पर राजद्रोह का मामला न चलाकर सरकार ने राजद्रोह प्रचार न करने के लिए उनसे ज़मानतें लेने का मामला चलाया। पर लोकमान्य ने यह सिद्ध किया कि शासन में परिवर्त्तन कराने के लिए हमें वर्त्तमान शासन की त्रुटियाँ दिखाना आवश्यक है और ऐसा करना राजद्रोह प्रचार करना नही है। बम्बई हाईकोर्ट ने यह सिद्धान्त स्वीकार किया और इस समय से शासन की त्रुटियाँ दिखाने का हमारा अधिकार स्वीकार किया गया।

१६२० से काग्रेस में पूर्ण स्वाधीनतावादी एक दल उत्पन्न हो रहा था। धीरे-धीरे यह बढने लगा और १६३० में काग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता वा स्वराज अपना ध्येय घोषित किया। महात्मा गान्धी भी इससे सहमत हुए। आज ब्रिटिश सरकार भी भारत का पूर्ण स्वाधीनता का अधिकार स्वीकार करती है, पर देती नही है। राजनैतिक आन्दोलन इधर कई वर्षो से काग्रेस चला रही है सही, परन्तु भारतीय सामाचार-पत्र ही उसके अग्रदूत रहे है और है। जहाँ समाचारपत्रो का प्राबल्य नही है, वही अनाचार, अत्याचार और अन्धकार है। इसलिए समाचार-पत्रो का बल बढाना प्रत्येक स्वाधीनताप्रेमी देशभक्त का कर्त्तव्य है। हमारे देश में एक भी ऐसा पत्र नही है, जिसकी एक लाख प्रतियाँ निकलती हो। यूरोप और अमेरिका मे ऐसे अनेको पत्र है जिनकी लाखो प्रतियाँ छपती है। हमारे देश में भी शहर-शहर और ज़िले-ज़िले में पत्र होने चाहिए। इससे हमारी स्वतन्त्रता बहुत निकट आ जायगी।

काशी]

गीत
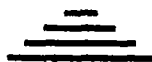
श्री गोकुलचन्द्र शर्मा एम्० ए०

कांपता रे, क्यो पुजारी ?

आरती में हाथ हिलते,
मन्त्र तेरे क्यों फिसलते ?
क्यो न मन के मुकुल खिलते ?
डर गया किस पाप से तू,
हो रहा है हृदय भारी।

भक्ति की यह रीति क्या है ?
प्रीति है, फिर भीति क्या है ?
नीति और अनीति क्या है ?
सौंप सब उसका उसी को
देख अपनी गैल न्यारी

हँस उठे मन्दिर, सुना तू,
राग अपना गुनगुना तू,
छोड बाना अचबुना तू,
धुन लगा दे आ रहे हैं,
मुस्कराते मन - विहारी।

अलीगढ़]

: २ :
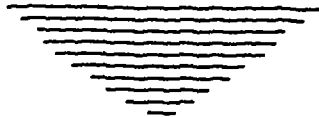
भारतीय संस्कृति, पुरातत्त्व और इतिहास

संस्कृति या सभ्यता ?

श्री किशोरलाल घ० मश्रूवाला

मेरी राय मे सारी दुनिया में दो ही तरह की मानव-संस्कृतियां (Cultures) हैं। एक को मैं भद्र-संस्कृति कहता हूँ और दूसरी को सन्त-संस्कृति।

भद्र-संस्कृति विभूति और ऐश्वर्य प्रधान है। वह दुनियावी ज्ञान-विज्ञान, अधिकार, पराक्रम, वैभव आदि मे श्रद्धा रखती है। स्वय को और अपने लोगों को दुनिया में महान-भूमा बनाना चाहती है। वह सब मनुष्यो का एक-सा अधिकार स्वीकार नहीं करती। उसमें ऊँच-नीच, अधिकारी-अनधिकारी आदि भेदो के लिए जगह है। आडम्बर का शौक है।

सन्त-संस्कृति गुण प्रधान है। उसकी ज्ञान मे श्रद्धा है, पर उससे भी अधिक सौजन्य और समदृष्टि मे है। भोग और सम्पत्ति मे मर्यादा और समानता पर और ऊँच-नीच के भाव को मिटाने पर उसका ज़ोर रहता है। आडम्बर को अच्छा नही समझती।

संस्कृति की ऐसी दो धाराएँ होने हुए भी वे दो बिलकुल भिन्न दिशाओं में एक दूसरी से अलग नहीं बहती। एक दूसरी की सीमा कभी-कभी परखना मुश्किल होता है।

लेकिन जगत् भर मे इन दो के अलावा कोई तीसरी संस्कृति नहीं है।

भारतीय संस्कृति, पाश्चात्य संस्कृति, इस्लामी-संस्कृति, इतना ही नही, बल्कि वैदिक संस्कृति, जैन-संस्कृति, गुजराती-संस्कृति, आन्ध्र-संस्कृति आदि अनेक संस्कृतियो का आज नाम लिया जाता है। इन्हें सभ्यता (Civilisation) कहे तो शायद अच्छा हो।

मेरी राय मे इन सब सभ्यताओं मे कोई स्थायी तत्त्व नहीं है। देश, काल, शिक्षा, अभ्यास आदि के कारण बने हुए ये आचार, विचार और स्वभाव के भेद हैं। वे इनके बदलने से बदल जाते हैं। इनमे कोई चीज ऐसी नही है, जिसे बदल देना असम्भव हो। वे कभी-कभी आनुवंशिक से दिखाई देते है, पर वास्तव मे वे आनुवंशिक है नही। देश, काल, शिक्षा, अभ्यास आदि जबतक एक-से रहते हैं तबतक कायम रहते हैं और एक देश या परिवार में उनका पीढियो तक एक-सा रहना सम्भव है। इसलिए आनुवंशिक-से मालूम होते है।

इन सभ्यताओं या मानी हुई संस्कृतियो के आचार, विचार और स्वभाव अच्छे, बुरे और अगुण, तीनो तरह के होते हैं। इनका कट्टर आग्रह या अभिमान रखना मै अच्छा नही समझता। ऐसी अलग-अलग सभ्यताएँ और विशिष्टताएँ टिकनी ही चाहिए, ऐसा मैं नहीं समझता। इनकी हर एक बात की हमें विवेक से तटस्थ होकर जाँच करनी चाहिए और मानव-हित के लिए जिन अंशो को फेंक देने की आवश्यकता हो, उन्हे हिम्मत से फेंक देना चाहिए। हम दूसरो से कुछ अलग ढग के दीख पड़ें, ऐसी कोई ज़रूरत मैं अनुभव नही करता।

जो कोई विशिष्टता हो, वह सारे मानव-हित में आवश्यक हो तो ही वह निभाने योग्य समझनी चाहिए। विशिष्ट दीखना ही सिद्धान्त है, ऐसा नही समझना चाहिए।

सन्त-संस्कृति सारी दुनिया मे एक-सी है। भद्र-संस्कृतियो मे ही बहुत रूप-रंग और झगडे हैं।

सेवाग्राम]

हमारी संस्कृति का अधिकरण

सत निहालसिंह

एक छोटी-सी मिट्टी की सिगडी, जो ऊँचाई में एक फुट भी न होगी, लाल मिट्टी से पुती विलकुल साफ-सुथरे फर्श के वीच में रक्खी थी। उसके ऊपर एक बेढगी लोहे की झझरी पर लम्बे और पतले हाथ के विने कोयले के टुकडे जमा थे।

एक छोटी-सी दुवली-पतली स्त्री अपनी आश्चर्य-जनक लुभावनी चितवन के साथ मिट्टी की भीतो वाले उस कमरे में प्रविष्ट हुई, जिसकी सादी छत को शहतूत की कडियाँ सँभाले हुए थी। एक तुर्की ढग का लाल पुराना कपडा 'वाग', जो उस स्त्री की कला-प्रवीणता के कारण अपना 'वाग' नाम सार्थक कर रहा था, उसके कन्धो पर सुनहले ऊँचे मुकुट पर से गिर रहा था। अपने छोटे हाथो में, जो उतने ही दृढ थे, जितने कि सुन्दर, वह एक छोटी डलिया लिये थी। जलते हुए कोयले, जिन्हें उसने खुले हुए आँगन के पीछे रसोईघर की अँगीठी से निकालकर वाहर रख दिया था, धीमे-धीमे चमक रहे थे।

सिगडी के पास बैठकर उसने डलिया नीचे रख दी और फुर्ती के साथ, जिसे उसने वहुत दिनो के अभ्यास से प्राप्त किया होगा, उसने सिगडी के कोयलो को इधर-उधर हटाकर वीच में थोडी जगह कर ली और वहाँ नये कोयलो को रख दिया। फिर झुककर अपने सुन्दर ओठो को खोलकर धीरे-धीरे आग को फूका। उसके फूले हुए गाल उन लाल सगमरमर के टुकडो-जैसे लगते थे, जिन्हें उसने कुछ समय पहले ही मुझे 'भला आदमी' होने के एवज में इनाम में दिया था।

"वस, अब ठीक तरह से आग जलेगी।" उसके पति ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा।

अपनी उस छोटी-सी पत्नी से वह पूरा दो फुट ऊँचा था। उसका तुन्दिल पेट पत्नी द्वारा दिन में दो वार डटकर वढिया भोजन मिलने का ही परिणाम था। वह दूसरी ओर सिगडी के सामने वैठा था। उसकी लवी तोद सिगडी को लगभग छू रही थी। घर में सदा दुधारी भैंस वनी रहती थी। पत्नी अपने हाथ से निकाले हुए ताजे वर्फ-से सफेद मक्खन से गेहूँ, मक्का या वाजरे की रोटियो को खूव तर कर देती थी। साथ ही दही, मट्ठा भी रहता था और मौसम में सरसो का साग।

अपने लम्वे-चौडे और फुर्तीले हाथो में यह भूरी दाढी वाला पुरुष एक लम्वी पीतल की फुंकनी लिये हुए था, जिस पर सुन्दर चित्रकारी अकित थी। जव वह अपनी प्यारी स्त्री को रसोईघर में भेज देता तो इसी फुंकनी से वह आग प्रज्वलित किये रहता था।

एक या दो गज दूर वैठकर आश्चर्यचकित आँखो से मै उसकी प्रत्येक कार्रवाई को देख रहा था। जव वह निश्चल हुआ और केवल फुंकनी की 'पफ-पफ' आवाज रह गई तो मैंने आँख उठाकर उत्सुकता से उसके अवयवो की ओर देखा। उसका सिर कुछ वडा था और उस पर घर की वुनी और रगी हुई एक छोटी-सी पगडी वँधी थी। माथा ऊँचा, चौडा और वृत्ताकार था। उस पर गहरे विचार के कारण लकीरें पडी हुई थी। भूरी, जटीली भौहें उन आँखो के ऊपर छाई हुई थी, जो किसी अदृश्य दीप्ति से जगमगा रही थी। उसके गालो का रग लाल था, मानो उन लाल गेहुँओ से प्राप्त हुआ हो, जिनके खाने का वह वहुत ही शौकीन था। ये गेहूँ उन खेतो में उगते थे, जो उसके कमरे से, जिसमें वह और मै दोनो बैठे थे, एक फर्लांग भी दूर नही थे।

× × × ×

थोडी देर में वह उठकर मेरे बैठने के स्थान से परली तरफ गया, जहाँ क्षण भर पहले मैं सिकुडकर बैठा था। अच्छी प्रकार से यह देखने के लिए कि अब वह क्या करने जा रहा है, मैं दरी के टुकडे से उठकर दूसरी ओर चला गया।

आगे जो कुछ मैंने देखा वह मेरी स्थान-परिवर्तन की तकलीफ के बदले में बहुत बडा आनद था। सफेद धातु की सडासी से उसने एक छोटा-सा पात्र उठाया और उसे आग पर रख दिया। यद्यपि मैं अभी बच्चा था तो भी मैंने यह भलीभाँति देख लिया कि उसने कितनी सावधानी के साथ यह काम किया, मानो वह कोई धार्मिक कृत्य हो, जिसके करने में बडी तत्परता की आवश्यकता हो। उसने पात्र को उस समय तक नही छोडा जब तक कि उसे पूरा विश्वास नही हो गया कि वह भली भाँति आग के बीच में स्थिर हो गया है।

उसका ऐसा करने का अभिप्राय क्या था? वह क्या करने जा रहा था?—आदि प्रश्न मेरे मस्तिष्क में भरने लगे। वे मेरे मुख से अवश्य निकल पडते, परन्तु बात यह थी कि उसने मुझे इस शर्त पर उस कमरे मे आने की आज्ञा दी थी कि मै अपनी ज़बान बन्द रक्खू। उस उमर तक जितने व्यक्तियो से मेरा पाला पडा था, वह उनमें सबसे अधिक कडे मिज़ाज का आदमी था। जिस बात पर दृढ हो जाता, उससे उसे प्रार्थनाएँ तो दूर, कोई रो-धोकर भी चाहे तो नही हटा सकता था। इसीलिए मुझे भी झख मारकर वह शर्त निभानी थी, जो मुझे उसके साथ करनी पडी थी—अर्थात् देखने को मैं सब कुछ देख सकता था, परन्तु आग के पास अपने स्थान पर बिलकुल चुप्पी साधकर बैठना आवश्यक था। "देखो, प्रश्न एक भी नही करना। समय आवेगा तो इसकी बाबत मैं स्वय ही तुम्हें सब कुछ बता दूगा।" यही उसका स्पष्ट निर्देश था, जिसको मैं अच्छा न समझते हुए भी आदर के साथ पालन करता था।

एक क्षण रुकने के बाद उसने यह भी कहा था—"देखो, तुम्हारे बाप ने मेरी ज़िन्दगी बर्बाद कर दी, लेकिन मैं उसे अपनी इस प्रयोगशाला के अन्दर घुसने तक नही दूगा, यह बताना तो दूर रहा कि मैं यहाँ काम क्या करता हू। मैं जानता हूँ कि वह इन बातो के जानने का बडा उत्सुक है। वह मेरे रहस्यो को जानना चाहता है, लेकिन मैं उसे बताऊँगा नही, कदापि नही!"

इस 'कदापि नही' में वह स्पष्टवादिता थी, जिसे मैंने उसे छोडकर अपने अन्य परिचित जनो में बहुत कम पाया था।

"पर तुम! तुम्हारी बात दूसरी है। तुम मेरे अपरिचित नही हो। तुम तो मेरे ही खून हो। इसलिए तुम्हें मैं सिखाऊँगा। लेकिन देखो, तुम्हें मेरी बातो का आदर करना चाहिए। धैर्य रक्खो—धैर्य।"

मुझे धैर्य ही रखना पडा—बहुत अधिक, अन्यथा खाक भी न सीख पाता। मेरा गुरु किसी प्रकार भी अपने रहस्यो को न बताता।

उस कमरे में इतनी द्रुतगति से क्रियाएँ हो रही थी कि वस्तुत किसी बात पर विचार करने का समय ही न था। कोयलो पर वह छोटा-सा पात्र भलीभाँति रक्खा ही गया था कि उसने एक भूरे रग की थैली को सावधानी के साथ खोलकर उसमें से कोई चीज़ निकाल कर पात्र में डालना शुरू किया। कुछ काले और लम्बे टुकडे उस छोटे बर्तन में गिरे। वे पिघलें कि उन्होने एक गहरे हरे रग के थैले को खोला, जो पहले से बडा नही था। उसमें से भी कोई वस्तु निकालकर पात्र में डाली। इसी प्रकार एक तीसरे थैले में से, जो उसके समीप ही दरी पर पडा था। यहाँ आकर क्रिया रुक गई। कम-से-कम मैंने ऐसा ही सोचा और देखा कि पिघला हुआ तरल पदार्थ उबलकर पात्र के ऊपर तक आ गया है।

मेरा यह विचार ठीक था, क्योकि अब उन्होने फुँकनी उठाकर बडे ही सधे हुए ढग से फूकना शुरू किया। कोयले अधिक तेजी से चमकने लगे और द्रव पदार्थ खौलने लगा।

तब आश्चर्यजनक फुर्ती के साथ उन्होने अपना हाथ एक थैले में डाला, जो पहले के तीनो थैलो से बडा था और उसमें से कोई सूखी जडी-बूटी निकालकर उसके छोटे-छोटे टुकडे किये। फिर उन टुकडो को अपनी बाईं हथेली पर रख दाहिनी हथेली से दबाकर रगडा और बारीक कर डाला।

उस पाउडर को बाईं हथेली पर रखकर उन्होने दाहिने हाथ मे फुंकनी उठाई और उसके द्वारा आग तेज़ की। जब द्रव में से नीले रग का धुवाँ निकलने लगा तब उन्होने धीरे से फुंकनी नीचे रख दी और बाएँ हाथ वाला पाउडर पात्र में छोड दिया।

उसके वर्णन में मुझे जितना समय लगे, उससे भी कम मे एक विचित्र घटना हुई। ज्योही पाउडर के टुकडे उस द्रव में घुले कि पात्र के पदार्थ का रग ही बदल गया। काला रग बिलकुल गायब हो गया। एक क्षण पहले जहाँ ऐसा काला पानी था, जैसा कि पतीली का धोवन होता है, वहाँ अब बर्फ मे भी सफेद नमक मौजूद था।

मैंने नमक विचार कर ही लिखा है। न जाने किस जादू के ज़ोर से उस उबलते द्रव की प्रत्येक बूद गायब हो गई और उसके स्थान पर एक प्रकार का पाउडर रह गया जो कि चाँदी की तरह चमक रहा था।

× × × ×

अपने कौतूहल को मै अधिक न रोक सका। मैंने अब मौन रहने की अपनी वह प्रतिज्ञा तोड ही दी, जिसके द्वारा मुझे उस पुरानी किंतु ज्ञानपूर्ण प्रयोगशाला मे प्रविष्ट होने तथा वहाँ काम देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। भावुकता से भरी हुई आवाज़ मे मैंने पूछा,

"नाना, यह क्या हो गया? सूखी लकडियाँ कहाँ चली गई? धातु के काले टुकडे क्या हुए? पात्र का सारा द्रव पीकर बदले में यह चमकीला पाउडर कौन छोड गया?"

"बच्चे, ठहरो", नाना ने इस बार अपनी कठोर स्पष्टवादिता के स्थान मे आश्चर्यजनक सहानुभूति दिखाते हुए कहा—"इस पात्र की वस्तु को हानि पहुँचने के पहले ही खाली न कर दू तब तक धैर्य रक्खो। अग्निदेव आज अपने अनुकूल है। उन्होने मेरे कर्म पर प्रसन्न होकर उसे सफलता से मडित किया है।"

हाथ के बने कडे और मटमैले कागज़ को फैलाकर उसने उस पर पात्र को औंधा दिया। फिर मुझसे कहा—"इस पाउडर में से थोडा-सा लो और उसे अपने अँगूठे और तर्जनी उँगली के बीच रखकर रगडो, जैसे कि मै रगड रहा हूँ।" यह कहकर उन्होने मुझे रगडने की क्रिया दिखाई।

मै बोला, "लेकिन नाना, इसे रगडने की क्या ज़रूरत है?" यह तो उस मैदा से भी अधिक महीन है, जिसे हमारे नगर (रावलपिंडी, पजाब) का हलवाई मिठाइयाँ बनाने में इस्तैमाल करता है।

"मै जानता हूँ कि इस पाउडर को अधिक महीन बनाने की इच्छा से रगडना व्यर्थ है", नाना ने कहा। उनके सेब-जैसे गुलाबी गाल सन्तोष से चमक रहे थे। "पहाडी नमक को इतना महीन पीसने वाली हाथ की मशीन आज तक ईजाद नही हुई। अग्निदेवता की शक्तियो को एक नाशवान् मानव कहाँ प्राप्त कर सकता है? यदि कोई ऐसी धृष्टता करे भी तो उसका प्रयास व्यर्थ ही होगा। मेरे प्यारे बच्चे, मेरी इस बात को गाँठ बाँध लो।"

"लेकिन नाना, अग्निदेवता इतना ही तो कर सकते थे कि उन विभिन्न आकार के छोटे-बडे टुकडो को, जिन्हें आपने पात्र मे रक्खा था, गला दें। उन्होने अवश्य ही द्रव को उबाल कर उसमें शब्द और धुवाँ उत्पन्न कर दिया। बस, इतना ही तो उन्होने किया।

"पात्र का पदार्थ बडा भद्दा दीखता रहा जब तक कि आपने उसमें वह जादू की जडी नही छोडी। तभी रूप और रग में परिवर्तन हुआ। सो यह तो मेरे नाना की ही करामात है कि यह अजीब बात पैदा हुई।"

"अग्नि की ही सहायता से ऐसा हुआ, मेरे बच्चे।" उन्होने कहा। उनकी आवाज़ मन्द पड रही थी। आँखो का दूसरा ही रग था। उनमें वह दीप्ति थी, जो ज्ञान द्वारा अर्जित सफलता से प्राप्त होती है।

"वे सुन्दर लकडी के टुकडे क्या थे, नाना?"

"तुम अभी बच्चे हो। अच्छा, तुम्हारी उमर क्या है? छ? नही लगभग सात। इस उमर के बच्चे पर विश्वास नही किया जा सकता कि वह किसी रहस्य को गुप्त रख सके। खैर, कोई बात नही। मै तुम्हें किसी दिन बता ही दूगा। मैंने जो कुछ सीखा है वह सब तुम जान लोगे। बिना कुछ छिपाये मै तुम्हें सब बता दूगा। लेकिन अभी नही, जब तुम बडे हो जाओगे और अपने ससार से विदा लेने से पहले ही।

× × × ×

मेरे नाना का जिस समय देहान्त हुआ, मै उनसे बहुत दूर था। उन्होने अपने पीछे कोई ऐसा लेख नही छोडा, जिससे मै यह जान पाता कि उन्होने किस प्रकार वह करामात दिखाई थी। और भी अनेक करामातें थी जिन्हें सीखने की मेरी बडी उत्कठा थी। यदि उन्होने मेरे शैशव की उन आँखो के लिए, जो उनका रहस्य देख सकी थी, कुछ लिखा भी होगा तो वह मुझे प्राप्त नही हो सका।

आधी शताब्दी से अधिक मेरे जीवन-काल में अनेक अवसर ऐसे आए जब मै इस बात पर विचार करता रहा कि क्या ससार में मै ही एक ऐसा अभागा व्यक्ति हू जो दुर्भाग्य से इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर सकने से वचित रह गया हो! मेरे नाना ने अपनी छोटी-सी प्रयोगशाला में रक्खी हुई सिगडी से सत्य का अनुभव किया। इस बात को सोचते-सोचते मेरे मस्तिष्क में आशा की एक किरण का उदय हुआ, जिसके द्वारा मुझे एक दूसरे पात्र का, जो नाना के पात्र से भी कही अधिक बडा और पुराना था, पता चला।

वास्तव में यह पात्र इतना विशाल था कि न तो मै उसका पेंदा ही देख सकता था और न उसका ऊपरी भाग। यहाँ तक कि उसके किनारे जो बाहर की ओर उठे हुए थे, मुझे दिखलाई नही पडते थे।

यह सब होते हुए भी मुझे उसका ज्ञान था। अपनी जाग्रत् अवस्था के प्रत्येक क्षण में मुझे उसका ध्यान रहता था। यहाँ तक कि स्वप्नावस्था मे भी मेरा विचार बरबस उसकी ओर आकृष्ट हो जाता था।

मुझे सचमुच यह प्रतीत होता था कि उक्त पात्र मेरे चारो ओर है। वस्तुत मेरा सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसी में था—मै उसीके अन्दर रहता और घूमता-फिरता था।

केवल मैं ही नही, मेरे साथी और कुटुम्बी भी। वे लडके भी जो कि किसी वास्तविक या काल्पनिक मनोमालिन्य के कारण मुझसे रूठे-हुए थे, इसी पात्र के अन्दर थे और वे लडके-लडकियाँ, स्त्री-पुरुष भी, जो मेरे लिए बिलकुल अपरिचित थे, इस पात्र की परिधि से बाहर न थे।

यह पात्र स्वय भारतमाता थी। अज्ञात काल से ससार के कोने-कोने से लोग आकर भारतभूमि पर चलते-फिरते और काम करते रहे। वे विभिन्न जातियो और विभिन्न धर्मो वाले थे। उनके रूप-रग, भाषाएँ और आचार-विचार भी एक दूसरे से भिन्न थे। उनमें से अधिकाश यहाँ खाली हाथ आये। लेकिन दिमाग़ उनका खाली नही था। प्रत्येक आगन्तुक का मस्तिष्क विचारो मे परिपूर्ण था और उसके हृदय में अपनी-अपनी जन्मभूमि में प्रचलित विचारो तथा सस्थाओ के प्रति विशेष श्रद्धा-भक्ति थी। ज्योही बाहरी लोग भारत-वासियो के सम्पर्क में आये और सबके भावो और विचार-परम्पराओ में आदान-प्रदान होकर सब लोग आपस में घुल-मिल गये तब उस सस्कृति का उद्भव हुआ, जिसे हम 'भारतीय सस्कृति' कहते हैं। यह सस्कृति इतनी विशिष्ट थी कि दूसरी सस्कृतियो से उसकी भिन्नता स्पष्ट दृष्टिगोचर हो सकती थी। इसमें इतनी जीवन-शक्ति थी कि उन प्रदेशो से भी, जो कि शताब्दियो से भारतभूमि से पृथक रहे हैं, वह नष्ट नही हो सकी।

देहरादून]

दादू और रहीम

आचार्य क्षितिमोहन सेन शास्त्री, एम्० ए०

भक्तो के बीच यह प्रसिद्ध है कि अकवर के विख्यात सहकारी अब्दुर रहीम खानखाना के साथ, जो कि एक महापडित, भक्त और कवि थे, दादू का परिचय हुआ था। रहीम जैसे विद्वान्, उत्साही और अनुरागी के लिए दादू सरीखे महापुरुष को देखने की इच्छा न होना ही आश्चर्य की वात है।

१५४४ ई० में दादू का जन्म हुआ था और १५५६ ई० मे रहीम का। इस हिसाव से रहीम, दादू से वारह वर्ष छोटे थे। कोई-कोई ऐसा भी कहते हैं कि रहीम का जन्म १५५३ ई० मे हुआ था। १५८६ ई० मे जव अकवर के साथ दादू का मिलन हुआ, उस समय नाना काज मे व्यस्त रहने के कारण रहीम, दादू से वातचीत न कर सके। सम्भवत अन्य सभी लोगो के भीडभडक्के मे इस महापुरुष को देखने की इच्छा भी रहीम की न रही हो। जो हो, इसके कुछ समय के उपरान्त ही दादू के एकान्त आश्रम में जाकर रहीम ने दादू का दर्शन किया और उनसे वातचीत की। भक्त लोगो का कहना है कि रहीम के कई-एक हिन्दी दोहो मे इस साक्षात्कार की छाप रह गई है।

दादू के निकट रहीम के जाने पर परब्रह्म के सम्वन्ध मे वातचीत चली। दादू ने कहा, "जो ज्ञान वुद्धि के लिए अगम्य है, उनकी वात वाक्य में कैसे प्रकट की जा सकती है? यदि कोई प्रेम और आनन्द से उनकी उपलब्धि भी करे तो उसे प्रकट करने के लिए उसके पास भाषा कहाँ है?" इसी प्रकार के भाव कवीर और दादू की वाणी मे अनेक स्थानो पर पाये जाते हैं।

मौन गहे ते वावरे वोलें खरे अयान। (साच अग, १०६)

अर्थात्—"जो मौन रहता है, वह पागल है, और जो वोलता है वह विलकुल अज्ञान है।" वही रहीम के दोहे में भी पाया जाता है—

रहिमन वात अगम्य की कहन सुनन की नाहिं।
जे जानत ते कहत नहिं कहत ते जानत नाहिं॥

अर्थात्—"हे रहीम, उस अगम्य की वात न कही जाती है और न सुनी जाती है। जो जानते हैं वे कहते नही और जो कहते है वे जानते नही।"

प्रसग के क्रम मे दादू ने कहा, "उनको विषय अर्थात् पर मानकर देखने से नही चलेगा, उनको अपना वनाकर देखना होगा। यदि मैं और वे एकात्म न हो, एक दूसरे से भिन्न रहें तो इस विश्व-ब्रह्माण्ड मे ऐसा कोई स्थान नही जो हमी दोनो जनो को अपने मे रख सके।" इसीलिए दादू ने कहा—"जहाँ भगवान् है, वहाँ हमारा (और कोई स्वतन्त्र) स्थान नही। जहाँ हम हैं वहाँ उनकी जगह नही। दादू कहते है कि वह मन्दिर सकीर्ण है, दो जन होने से ही वहाँ और स्थान नही रहता।"

जहाँ राम तहँ मैं नहीं, मैं तहँ नाहीं राम।
दादू महल बारीक है द्वै को नाहीं ठाम॥ (परचा अग, ४४)

"वह मन्दिर सूक्ष्म और सकीर्ण है।"

मिहीं महल बारीक है। (परचा अग, ४१) दादू कहते है—

"हे दादू, मेरे हृदय में हरि वास करते है, वहाँ और दूसरा कोई नही। वहाँ और दूसरे किसी के लिए स्थान ही नही है, दूसरे को वहाँ रक्खूँ तो कहाँ रक्खूँ?"

मेरे हृदय हरि बसै दूजा नाँहीं और।
कहो कहाँ धौं राखिये नहीं आन कौं ठौर ॥ (निहकर्मी पतिव्रता अग, २१)

रहीम के दोहों में भी हम देखते हैं—

रहिमन गली हैं साँकरी, दूजो ना ठहराँहि।
आपु अहैं तो हरि नहीं, हरि तो आपु नाँहि ॥

अर्थात्—"हे रहीम, सकीर्ण है वह मार्ग, दो जनो का खडा होना वहाँ असम्भव है। आपा रहने से हरि नही रहता और हरि रहने से आपा नहीं।"

उनके साथ इस प्रकार एकात्म होने से भजन, त्यजन सब एक हो जाता है। उनके साथ कोई भेद तो है नही। इसीलिए भजन करने पर भी और किसी दूसरे का भजन नहीं किया जाता। भजा जाय तो किसे और तजा जाय तो किसे? दादू ने इसी प्रश्न को और इसी सशय को अग-बन्धु सग्रह के विरह अग (२९४-२९७) मे व्यक्त किया है। उनकी अडाना रागिणी का ११८वाँ गान इस प्रसग में स्मरण किया जा सकता है—

भाई रे तब का कथिसि गियानाँ,
जब दूसर नाहीं आनाँ।

अर्थात्—"अरे भाई, जब कोई दूसरा है ही नही तो फिर क्या ज्ञान की बात छाँट रहा है!"

रहीम की वाणी में भी इस भाव का दोहा है—

भजौं तो काको भजौं, तजौं तो काको आन,
भजन तजन ते विलग हैं, तेहि रहीम तू जान।

अर्थात्—"हे रहीम, अगर भजना ही चाहते हो तो किसे भजोगे और तजना ही चाहते हो तो किसे तजोगे। भजन और तजन के जो अतीत हैं, तुम उनको ही जानो।"

ससार के साथ साधना का और विश्व के साथ व्यक्ति का कोई विरोध नही है। इस विश्व के समान ही हमारे भी जिस प्रकार आत्मा है उसी प्रकार देह भी है। इसीलिए दादू ने कहा है, "देह यदि ससार मे रहे और अन्तर यदि भगवान् के पास तो ऐसे भक्त को काल की ज्वाला, दुःख और त्रास कुछ भी व्याप नही सकते।"

देह रहै संसार में, जीव राम के पास।
दादू कुछ व्यापे नहीं, काल झाल दुख त्रास ॥ (विचार अग, २७)

और रहीम ने भी कहा है—

तन रहीम है कर्म बस, मन राखो ओहि ओर।
जल में उलटी नाव ज्यो, खैंचत गुन के जोर ॥

मन जब इस प्रकार भगवान् में भरपूर रहता है तब ससार उस पर कोई प्रभाव नही डाल सकता। उस समय सांसारिकता को हटाने के लिए किसी बनावटी आयोजन की ज़रूरत नही पडती। भगवद्भाव से भरे हुए चित्त में से सांसारिक वासना स्वय दूर हो जाती है

दादू मेरे हृदय हरि बसै दूजा नाहीं और।
कहो कहाँ धौं राखिए नहीं आन कौं ठौर ॥ (निहकर्मी पतिव्रता अग, २४)

अर्थात्—"दादू कहते हैं कि मेरे हृदय में एकमात्र हरि ही वास करते हैं और कोई दूसरा नही। और मैं भला किसको रक्खूँ यहाँ? दूसरे के लिए जगह कहाँ है!"

दूजा देखत जाइगा एक रहा भरिपूर। (निहकर्मी पतिव्रता अग, २४)

एक ही इस प्रकार परिपूर्ण होकर विराजमान है कि दूसरा उसे देखते ही हट जायगा।

ठीक दादू की तरह ही रहीम ने भी कहा है, "प्रियतम की छवि, प्रियतम की शोभा आँखो मे भरपूर होकर वसी है। दूसरे की छवि के प्रवेश करने की जगह कहाँ है ! हे रहीम, भरी हुई पान्थशाला को देखकर दूसरे पथिक स्वय ही लौट जाते है।"

प्रीतम छवि नैनन वसी, पर छवि कहाँ वसाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिरि जाय॥

ऐसी अवस्था मे कृत्रिम वेश और साज-सज्जा कुछ भी अच्छा नही लगता। जो जीवन भगवान से परिपूर्ण है, वह क्या कोई कृत्रिम साज-सज्जा सह सकता है ? दादू ने कहा है—

विरहिन को सिंगार न भावे .
विसरे अजन मजन चीरा, विरह व्यथा वहु व्यापै पीरा। (राग, गौडी २०)

और आगे चलकर दादू ने कहा है—

जिनके हृदय हरि वसै .
मैं वलिहारी जाऊँ। (साव अग, ६३)

रहीम ने इसीसे मिलता-जुलता दोहा कहा है, "जिन आँखो में अजन दिया है उनमे किरकिरा सुरमा नही दिया जा सकता। जिन आँखो मे श्री भगवान् का रूप देखा है, वलिहारी है उन आँखो की !"

अजन दियौ तो किरकिरी, सुरमा दियौ न जाय।
जिन आँखिन से हरि लख्यौ, रहिमन वलि वलि जाय॥

दादू ने कहा है, "ऐसी आँख सारे ससार में भगवान् की नित्य रास-लीला को देखती है। ऐसी आँख देखती है कि घट-घट मे वही लीला चल रही है। प्रत्येक घट महातीर्थ है। घट-घट मे गोपी है। घट-घट मे कृष्ण। घट-घट में राम की अमरपुरी है। प्रत्येक अन्तर मे गगा-यमुना वह रही है और प्रत्येक में सरस्वती का पवित्र जल स्पन्दित है। वहाँ प्रत्येक घट में कुजकेलि की नित्यलीला चल रही है, सखियो का नित्यरास खेला जा रहा है। विना वेणु के ही वहाँ वमी वज रही है और सहज ही सूर्य, चन्द्र और कमल विकसित हो रहे है। घट-घट मे पूर्ण ब्रह्म का पूर्ण प्रकाश विकीर्ण हो रहा है और दास दादू अपनी शोभा देख रहा है।

घटि घटि गोपी घटि घटि कान्ह।
घटि घटि राम अमर अस्थान॥
गगा यमुना अन्तरवेद।
सरसुति नीर वहै परसेद॥
कुज-केलि तहँ परम विलास।
सव सगी मिलि खेलै रास।
तहँ विनु वेन वाजै तूर।
विगसै कमल चन्द अरु सूर॥
पूरण ब्रह्म परम परकास।
तहँ निज देखै दादू दास॥

अवतार का तत्त्व समझाते हुए रहीम कहते है, "हे रहीम, यदि प्रेम का स्मरण निरन्तर एकतान भाव से होता रहे तो वही सर्वश्रेष्ठ है। खोये हुए प्रियतम को चित्त में फिर से पा लेना ही तो अवतार है।"

रहिमन सुधि सव तै भली, लागै जो इकतार।
विछुरै प्रीतम चित मिलै, यहै जान अवतार॥

बरावरी का न होने से प्रेम की लीला नही चल सकती। प्रेम के लिए भगवान् ने भक्त को अपने समान बना लिया है, यह मानो बिन्दु का सिन्धु के समान-हो जाना है। रहीम ने आश्चर्य के साथ कहा है कि इस अद्भुत प्रेम-लीला में हेरनहार अपने में ही हेरा जाता है (खो जाता है)।

बिन्दु भो सिन्धु समान, को अचरज कासों कहै।
हेरनहार हेरान, रहिमन अपने आप तें॥

दादू ने कहा है, "भीतर ही रीझो।—मनहि माँहि झूरना, (विरह अग, १८)

और वहाँ वाक्य की अपेक्षा ही कहाँ है। वहाँ मौन रहने में हानि ही क्या है? भला जिसने हृदय मे ही घर बना लिया है, उससे कहने को बच ही क्या रहा?"

जिहि रहीम तन मन लियौ, कियौ हिये बिच भौन।
तासो सुख दुख कहन को रही बात अब कौन॥

यह प्रेम के भाव में भगवान् और भक्त का जो अभेद है, उसका परिचय नाना भाव से कबीर, दादू आदि महापुरुषो की वाणी में पाया जाता है। यहाँ उनका विस्तार करना निष्प्रयोजन है।

दादू के साथ रहीम की बातचीत एक ही बार हुई थी, या कई बार दोनो का मिलना हुआ था, यह कहना कठिन है। लेकिन इन सब साधको के मत का प्रभाव उनकी कविता पर पडा है, यह बात स्पष्ट है।

लेकिन यह भी सच है कि दु ख का आघात पाये बिना मनुष्य भगवान् की ओर नही झुकता। इसीलिए रहीम ने बडे दु ख के साथ कहा है कि विषय-वासना में लिपटा हुआ मनुष्य राम को हृदय में नही धारण कर सकता। पशु तिनका तो बडे प्रेम से खाता है, लेकिन गुड उसे गुलिया कर खिलाया जाता है।

रहिमन राम न उर धरैं, रहत विषय लपटाय।
पशु खड खात मवाद सो, गुड गुलियाये खाय॥

अकबर जबतक जीवित थे, रहीम सुखपूर्वक थे। नाना प्रकार के दान और औदार्य से उनकी ख्याति देश भर में व्याप्त हो गई थी। बाद मे जब रहीम पर दु ख और दुर्दिन आया तो दादू परलोक सिधार चुके थे। इसीलिए उन दिनो रहीम को दादू जैसे महापुरुष के पास जाकर सान्त्वना पाने का अवसर नही मिला। उस अवस्था में रहीम, दादू के पुत्र गरीबदास के पास गये थे और उनसे अपने मन की व्यथा कही थी। गरीबदास बडे ही भगवद्प्रेमी थे। कहते है कि इनके ससर्ग में आने पर ही रहीम का चित्त भगवद्भक्ति से भर उठा था और उन्होने गद्गद होकर कहा था—

समय दसा कुल देखि कै,
सबै करत सन्मान।
रहिमन दीन अनाथ को,
तुम बिन को भगवान॥

गरीबदास के सम्पर्क में आने के बाद ही रहीम ने अनुभव किया था कि दु ख दुर्दशा होने से यदि प्रियतम का मिलना सुलभ होता है तो दु ख दुर्दशा ही अच्छी है। प्रिय से मिलाने वाली रात अकेले-अकेले कटने वाले दिन की अपेक्षा कही अच्छी है।

रहिमन रजनी ही भली, पिय सों होय मिलाप।
खरो दिवस किहि काम को, रहिबो आपुहि आप॥

इसी बात को एक और ढग से रहीम ने कहा है—

काह करौं बैकुठ लै, कल्प बृच्छ की छाँह।
रहिमन ढाक सुहावनो, जो गल पीतम बँह॥

उत्तर भारत के नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा में बंगाली प्रभाव

श्री सुकमार सेन एम० ए०, पी-एच० डी० (कलकत्ता)

यह वात बहुत समय से विचारग्रस्त रही है कि सभवत वगाल मे ही नाथ---योग सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई है। गोईचद या गोपीचद तथा उनकी माता मैनावती की पौराणिक कथा, जो कि इस मप्रदाय से सबंधित कथाओ में सबसे अधिक मनोरंजक है, वगाल से उठकर उत्तर तथा पश्चिम के कोनो तक फैल गई है। इस कथा का प्रसार आधुनिक नही है, क्योकि मलिक मुहम्मद जायसी के ग्रंथ पद्मावती' मे भी हमे इसका एक से अधिक वार उल्लेख मिलता है, परन्तु कथा का वगालीपन विलकुल गायव नही हो सका है।

वहुत पुराने काल से योगी या नाथ-सप्रदाय का गहरा सवध वगाल प्रान्त के विशेष लौकिक सप्रदाय से, जो कि धर्म-सप्रदाय कहलाता है, रहा है। यह एक अन्य प्रमाण है, जिसमे पुष्ट होता है कि नाथ-सप्रदाय की उत्पत्ति वगाल में ही हुई।

इस नाथ-सप्रदाय की दूसरी महत्त्वपूर्ण कथा, जिसमें इस वात का वर्णन है कि किस प्रकार योगी मत्स्येन्द्र-नाथ कदली नामक देश की स्त्रियों के मोह में फस गए, तथा अत में किस प्रकार उनका उद्धार उनके शिष्य गोरक्षनाथ ने किया, वगाल के वाहर इतनी अधिक प्रसिद्ध नही है, परन्तु कथा का सार अर्थात् किस प्रकार शिष्य से गुरु को ज्ञान की प्राप्ति हुई, उत्तर तथा पश्चिम भारत के योगियो के पारम्परिक उपदेशो में तथा उनके प्रश्नोत्तर सबंधी ग्रथो मे वारवार मिलता है। इन सवका सग्रह डा० पीताम्वरदत्त वडथ्वाल ने गोरख-वानी नामक एक अच्छे ग्रथ के रूप में सम्पादित किया है जो हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इस सुन्दर सग्रह मे न केवल वानियो के रूप तथा उनके मुहावरो पर, अपितु पूरे-पूरे वाक्याशो तथा अन्य तुलनात्मक वातो पर निस्सदेह वगाली प्रभाव प्रकट होता है।

गोरख-वानी के दोहो तथा पदो मे यदि सभी नही तो अधिकाश पहले-पहल वगला में लिखे गये थे, इसकी पुष्टि मे कितने ही शब्दो के भूतकालिक आदि रूप दिए जा सकते है, जिससे वगला भाषा का प्रभाव स्पष्ट होगा—

(क) भूतकालिक रूप—इल—(उदा०—पाइला, रहिला, जाइला, कहिला, विश्राइला, करिला, मरिली, तजिली, तजिला, राखिले, मुडाइले आदि)।

(ख) भविष्यत्-रूप—इब—(उदा०—खेलिवा, गाइवा, देखिवा, पाइवा, मुडाइवा आदि)।

(ग) कुछ मुहावरे—दिढ करि (मजवूती से, पृष्ठ ३), दया करि (पृष्ठ १८६), मस्तक मुडाइले (सिर मुडा लिया, पृष्ठ ४५)।

(घ) कुछ वाक्याश—कोटचा मधे गुरुदेवा गोटा एक बुझे (हे गुरुदेव, करोड में से कोई एक समझे, पृष्ठ १५१) आदि।

नीचे की समानताएँ भी ध्यान देने योग्य है।

(१) कुची ताली (ताला) सुषमन करै (पृष्ठ ४६), मिलाओ पुरानी वगला—सासु घरे, घालि, कोचा ताल (सास के घर को ताला और कुजी देना, चर्यापद ४)।

---

[1] जो भल होत राज औ भोगू। गोपिचन्द नहिं साधत जोगू॥ जोगीखड ५,
गोपिचन्द तुइ जीता जोगू—सिहलद्वीपखड १;
मानत भोग गोपिचन्द भोगी। लेइ अपसवा जलन्धर जोगी॥ नागमतीवियोगखड, १, इत्यादि।

(२) गगन शिखर आछै अम्बर पानी (पृष्ठ ६१), मिलाओ पुरानी बंगला—मइ अहारिल गअणत पनिआँ (मेरे द्वारा गगन का पानी पिया गया है, चर्यापद ३५)।

(३) ऊँचे ऊँचे परबत विषम के घाट। तिहाँ गोरखनाथ कै लिया से वाट॥ (पृष्ठ १३४), मिलाओ पुरानी बंगला—ऊँचाऊँचा पावत तहि वसइ शबरी बाली (ऊँचे-ऊँचे पर्वतों पर शबरी बालिका बसती है, चर्यापद २८)।

(४) गिनान चौ डालिला पालखु (पृष्ठ १४०); मिलाओ पुरानी बंगला—तिअ धाउ खाट पडिला (त्रिधातु की खाट पड़ी है, चर्यापद २८)।

(५) माया (=माअ, माता) मारिली, मावसी (मौसी), तजिली, तजिला कुटम्ब बन्धु। सहस्रदल कवल तहाँ गोरख मन सन्धू॥[1] (पृष्ठ १४१), मिलाओ पुरानी बंगला मारिअ शासु ननन्द घरे शाली। माअ मारिआ कान्ह भइअ कवाली॥ (सास, ननद और साली को तथा माता को मार कर कान्ह कापालिक हो गया, चर्यापद ११)।

(६) ग्यान गुरु नाउ[2] तूबा अम्हारै मनसा चेतनि डाडी (पृष्ठ १०६) मिलाओ पुरानी बंगला—सूज लाउ शशी लागेलो ताती, अणहा दाडी (सूर्य वीणा की लौकी वन गया, चद्रमा तग्त वना, और अनहद की डण्डी हो गई, चर्यापद १७)।

(७) गावडी के मुख में बाघला विआइला[3] (पृष्ठ १२७), मिलाओ पुरानी बंगला—बलद विआइल गविआ बाझे (बैल के तो बछडा उत्पन्न हुआ और बाझ गाय से, चर्यापद ३३), मध्यकालीन बंगला—व्याघ्रेर समुखे जेन समर्पिला गोरू (मानो व्याघ्र के सम्मुख एक गाय सौंपी गई, गोरक्ष-विजय पृष्ठ १२१)।

(८) नाचत गोरखनाथ घुघरी चै घातै (पृष्ठ ८७), बंगला से मिलाओ—नाचति जे गोर्खनाथ घुघरेर रोले (गोरखनाथ घुघुरुओं के रौले या शब्द पर नृत्य करते हैं, गोरक्ष-विजय पृष्ठ १८७)।

(९) दिवसइ बाघणी मन मोहइ, राति सरोवर सोषइ।
जाणि बुझि रे मुरिख लोया घरि घरि बाघणी पोषइ॥ (पृ० १३७)।

मिलाओ मध्यकालीन बँगला

अभागिया नरलोके किछुइ नाहि बुझे रे, घरे घरे पालेंन बाघिनी॥
दिवा हैले बाघिनी जगतमोहिनी रे, रात्रि हैले सबाग शोषे। (गोरक्ष-विजय पृ० १८७)

(१०) पुरिलै बकनालि (पृ० १५५), मिलाओ मध्यकालीन बँगला—बाँका नाले साधो गुरु (हे गुरुदेव, वक्रनाल अर्थात् सुषम्ना योग की साधना करिए, गोरक्ष-विजय पृ० १५)।

'गोरख-बानी' के कुछ छदो का वृत्त प्राय स्पष्टरूप से बंगला का छद पयार है। इन छदो की भाषा में भी बंगला प्रभाव दृष्टिगोचर है। ऊपर के उद्धरणो में कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं। अन्य उदाहरण नीचे दिए जाते हैं —

(क) एतै कछु कहिला[4] गरु सबै भेला भोलै।
सर्वरस खोइला[5] गुरु बाघनी कै कोलै[6]॥ (पृ० ८८),

मिलाओ—सर्वधन हाराइला कामिनीरे कोले (तुमने कामिनी की गोद में सब धन नष्ट कर दिया, गोरक्ष-विजय पृ० ६६)।

---

[1] इस पक्ति का पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'महसर कवल तहाँ गोरख वाला जहाँ मन मनसा सुर सन्धू' होगा।
[2] पाठातर—'दोउ'। [3] पाठभेद—'बिवाइला'। [4] पाठातर—कप्यिला।
[5] पाठातर—षोईला, निस्सदेह बंगला का 'खोयाइला'। [6] पाठातर—षोलै।

(ख) बदत गोरखनाथ, जाति मेरी तेली।
तेल गोटा पीडि लिया, खलि[1] दोइ[2] मेली ॥ (पृ० ११७)

(ग) कैसे बोलौं पडिता, देव कौने ठाईं।
निज तत निहारतां, अम्हे तुम्हे नाही ॥ (पृ० १३१)

(घ) बारह कला रवि पोलह कला ससी।
चारि कला गुरुदेव निरतर वसी ॥ (पृ० २४१)

वगाल के धर्मदेव-सम्प्रदाय की विचित्र सृष्टि-उत्पत्ति में यह कथन है कि मत्स्येन्द्रनाथ (मीननाथ) चार अन्य सिद्धो के सहित आदि देव या आदिनाथ के गडे हुए मृत शरीर में से उत्पन्न हुए थे। गोरख-बानी में कई जगह मच्छिन्द्र को आदिनाथ (निरजन या धर्म) तथा मनसा का पुत्र कहा गया है।[3] वगाली परम्परा में भी (जैसा कि धर्म-सम्प्रदाय की सृष्टि-उत्पत्ति में कथित है) केतका को (जो वाद में 'शिव की पुत्री' तथा 'सर्पो की देवी' कही गई है) आदिदेवी कहा गया है, तथा वह आदिदेव की पत्नी है।

बेहुला (विपुला), लखिन्दर (लक्ष्मीधर) तथा दैवी नेता (नित्या या नेत्रा) जो त्रिवेणी के घाट पर कपडे धोया करता था—इन सब की कथा का जन्म-स्थान वगाल ही है, जहाँ यह कथा पच्छिम में बनारस तथा सभवत उसके आगे के प्रदेश तक फैली। वगाल के योगियो ने इस कथा के कुछ अश को अपने गुप्त योग को प्रकट करने के स्वरूप में अपना लिया, तथा उनसे भारत के अन्य प्रदेशो के योगियो ने उसे ग्रहण किया। गोरख-बानी के दो या तीन पदो में इस आध्यात्मिक कथा की ओर सकेत पाया जाता है।

चाद गोटा खूटा करिलै, सुरिज करिलै पाटि।
अहनिसि धोबी धोवै, त्रिवेणी का घाटि ॥ (पृ० १५१)
चाद करिलै खूटा, सुरजि करिलै पाट।
नित उठि धोबी धोवै, त्रिवेणी के घाट ॥ (पृ० १५१)

कलकत्ता]

---

[1] पाठ-भेद—पाल। [2] पाठातर—दोवी। [3] उदाहरणार्थ, 'माता हमारो मनसा बोलिये पिता बोलिये निरजन निराकार' (पृ० २०२)।

हिन्दू-मुस्लिम-स आध्यात्मिक पहलू

पंडित सुन्दरलाल

आदमी की जिन्दगी के हर सवाल को कई तरह से और कई पहलुओ से देखा जा सकता है। जितने अलग-अलग पहलू इस जिन्दगी के है, या हो सकते है, उतने ही तरह के सब सवालो के हो सकते है। मोटे तौर पर इन्सान की जिन्दगी के तीन पहलू हमें दिखाई देते है। एक तारीखी या इतिहासी पहलू। दूसरा समाजी, कल्चरल यानी आए दिन की जिन्दगी और रहन-सहन का पहलू और तीसरा आध्यात्मिक या रूहानी पहलू। जिस सवाल की हम इस लेख में चर्चा करेंगे उस का एक और चौथा सियासी यानी राजकाजी पहलू भी एक खास पहलू है। इन सब पहलुओ, खासकर आध्यात्मिक पहलू को, सामने रखकर ही हम आजकल के हिन्दू-मुस्लिम-सवाल पर एक सरसरी निगाह डालना चाहते है।

यूँ तो यह सवाल उस ज़माने से चला आता है, जब से इस देश के अन्दर हिन्दू और मुसलमान दोनो धर्मो के मानने वाले साथ-साथ रहने लगे, पर बीसवी सदी ईस्वी के शुरू से इस सवाल का जो रूप बनता जा रहा है, वह एक दर्जे तक नया रूप है। 'प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' एक ऐसा ग्रन्थ है, जो मुमकिन है, हिन्दू-मुस्लिम सवाल के मौजूदा रूप के मिट जाने या हल हो जाने के बाद भी लोगो के हाथो में दिखाई दे और उन्हें अपनी और अपने देश की आगे की तरक्की का रास्ता दिखाता रहे। ऐसी सूरत में इस लेख के कुछ हिस्से का मोल सिर्फ इतिहासी मोल ही रह जायगा, लेकिन कुछ हिस्सा ऐसा भी होगा जो ज्यादा देर तक काम का साबित हो।

इस सवाल का इतिहासी पहलू एक लम्बी चीज़ है। थोडे से में उसका निचोड यह है। देश में कई अलग-अलग मजहबी ख्यालो के लोग रहते थे। उनकी मानताओ, मज़हबी उसूलो और रहन-सहन के तरीको मे काफी फरक था। कोई निराकार के पूजने वाले, कोई साकार के। कोई मूर्ति-पूजक, कोई मूर्ति-पूजा को पाप समझने वाले। कोई ईश्वर को जगत का कर्त्ता मानने वाले और कोई किसी भी कर्त्ता के होने से इन्कार करने वाले। कोई मास खाने को अपने धर्म का ज़रूरी हिस्सा मानने वाले और कोई उसे पाप समझने वाले। कोई देवी के सामने हवन में मदिरा चढ़ाने वाले और कोई मदिरा छूने तक को गुनाह समझने वाले। वग़ैरह-वग़ैरह। लेकिन ये सब लोग किसी तरह एक गिरोह मे गिन लिए जाते थे, जिसे हिन्दू कहा जाता था। थोडे से ईसाई और यहूदी भी देश के किसी-किसी कोने में थे, पर देश की आम जिन्दगी पर उनका असर नही के बराबर था। ऐसी हालत में एक नया मज़हब इस देश में आया, इस्लाम। इस नए धर्म के मानने वाले एक ईश्वर को मानते थे। जात-पात और छुआछूत, जो हिन्दू-धर्म का एक खास हिस्सा बन चुकी थी, उनमें बिल्कुल न थी। मूर्ति-पूजा को वे गुनाह समझते थे। वे एक निराकार के उपासक थे। उनमें मामूली आदमियो और ईश्वर के बीच किसी पुरोहित की ज़रूरत न थी। आदमी-आदमी सब बराबर। लेकिन उनके धर्म को जन्म देने वाले महापुरुष हज़रत मुहम्मद अरब में जन्मे थे, हिन्दुस्तान में नही। उनकी खास मज़हबी किताब क़ुरान अरबी में लिखी हुई थी, संस्कृत या किसी हिन्दुस्तानी ज़बान में नही।

हिन्दू-धर्म के साथ इस्लाम की थोडी-बहुत टक्कर होना कुदरती था। यह टक्कर कोई नई चीज़ नही थी। इस देश के इतिहास में इस से पहले पुराने द्राविड-धर्म और नए आर्य-धर्म में कई हज़ार बरस तक टक्कर रह चुकी थी। हज़ारो बरस तक वेदो के मानने वाले आर्य अपने वैदिक देवताओ जैसे मित्र, वरुण और इन्द्र की पूजा को मुख्य समझते थे। यहाँ के असली बाशिन्दे अपने पुराने देवताओ, शिव और चतुर्भुज विष्णु की पूजा को ही जारी रखना चाहते थे। बहसें हुई, गिरोह-के-गिरोह मिटा डाले गए। आखीर में कई हज़ार बरस की टक्करो के बाद जब दोनो धाराएँ गंगा और जमुना की तरह एक दूसरे में मिल गई तो आज यह पता लगाना भी मुश्किल है कि इस मिली-जुली जीवन-धारा का कौन सा कण आर्य है और कौन सा द्राविड। मित्र, वरुण और इन्द्र के मन्दिर हिन्दुस्तान भर में आज ढूँढे से भी मिलने मुश्किल है,

पर द्राविड जाति के शिव आज करोडो के देव देव महादेव वन कर लगभग हर मन्दिर के अन्दर मौजूद है। चतुर्भुज विष्णु इतने अपना लिए गए कि हिन्दुओ के सब अवतार विष्णु के अवतार गिने जाते हैं। यह उस महान समन्वय की सिर्फ एक छोटी-सी मिसाल है।

जिस तरह की टक्कर आर्यों और द्राविडो में रही, उसी तरह की थोडी-बहुत उसके बाद के ज़माने मे हिन्दुओ और जैनियो में और आठवी सदी ईस्वी तक शैवो और शाक्तो में, यहाँ तक कि राम के भक्तो और कृष्ण के उपासको में बराबर होती रही। इन टक्करो में एक दूसरे का वहिष्कार भी हुआ और लाठियाँ और तलवारे भी चली। आजतक–'हस्तिना पीड्यमानोऽपि न गच्छेत जैनमन्दिरम्' जैसे फिकरे देश के साहित्य से मिटे नही हैं। ये सब टक्करें एक कुदरती ढग से पैदा हुई और उतने ही कुदरती ढग से मिट गई। पुराने जमाने के ये सब सवाल आज इतिहास की एक कहानी रह गए हैं।

इस्लाम के आने के साथ देश में नई टक्करो का होना कुदरती था। टक्करें शुरू हुई। देश के अलग-अलग हिस्से मे और ज़िन्दगी के अलग-अलग पहलुओ में उन्होने अलग-अलग रूप लिये। फिर भी सात सौ-आठ सौ वरस तक देश के इस सिरे से उस सिरे तक सैकडो शहरो और हज़ारो गाँवो में हिन्दू और मुसलमान प्रेम के साथ मिलजुल कर रहते रहे। इस सारे समय में वाहर से आकर देश में वस जाने वाले मुसलमानो की तादाद कुछ हज़ार से ज़्यादा नही थी। वाकी सब लाखो और करोडो आदमी, जिन्होने इस्लाम धर्म को अपनाया, यही के रहने वाले और यही के हिन्दू माता-पिता की औलाद थे। हर गाँव और हर शहर में हिन्दू और मुसलमान एक ही ज़वान वोलते थे। एक-दूसरे के त्यौहारो और तकरीवो, व्याह-शादियो और रीति-रिवाजो में शरीक होते थे। एक-दूसरे को 'चाचा', 'ताया', 'मामा', 'भाई' वगैरह कहकर पुकारते थे। ज्यादातर मुसलमान घरानो में आजतक सैकडो हिन्दू-रस्में पालन की जाती है। जैसे दसूठन, सालगिरह, कनछेदन, नकछेदन, शादी में दरवाज़े का चार, तेल चढाना, हल्दी चढ़ाना, कलेवा वाँधना, कँगना वाँधना, मँडवा। ऐसे ही हिन्दुओ ने काफी रस्में मुसलमानो से ली। जैसे, घोडी चढ़ना, जामा, सेहॅरा, शहवाला। दोनो ने मिलकर इस देश की कारीगरी, चित्रकारी, उद्योग-धन्धे, कला-कौशल, तिजारत, सगीत वग़ैरह को अपूर्व उन्नति दी। मुग़लो की सल्तनत का ज़माना इन सब वातों में इस देश का सबसे ज्यादा तरक्की का ज़माना माना जाता है। सत्तरहवी सदी ईस्वी के आखीर और अठारहवी सदी के शुरू के सब विदेशी यात्री, जो समय-समय पर इस देश मे आये, इस वात में एक राय है कि उस ज़माने मे दुनिया का कोई देश धन-धान्य, सुख-समृद्धि, तिजारत और उद्योग-धन्धो मे हिन्दुस्तान का मुक़ाविला नही कर सकता था। राजाओ राजाओ में लडाइयाँ होती थी, पर जिस तरह कही-कही हिन्दू और मुसलमान लडे है, उसी तरह हिन्दू हिन्दू और मुसलमान मुसलमान भी आपस में लडे हैं। वाहर से हमला करने वाले मुसलमानो के खिलाफ देश के मुसलमान हुकमरानो का डटकर लडना और यहाँ के हिन्दू राजाओ का उनका साथ देना एक मामूली घटना थी। मुसलमान वादशाहो की फौज में हिन्दू सिपाही और हिन्दू सेनापति, और हिन्दू राजाओ की सेना में मुसलमान सिपाही और मुसलमान सेनापति, ऐसे ही हिन्दू राजाओ के मुसलमान प्रधान मन्त्री और मुसलमान वादशाहो के हिन्दू वज़ीरे-आज़म सात सौ वरस के भारतीय इतिहास में कदम-कदम पर देखने को मिलते हैं।

उस सारे ज़माने में हमें मुल्क के जीवन में तीन साफ अलग-अलग लहरें वहती हुई दिखाई देती है। एक इस्लाम के आने से पहले की ब्राह्मणो के प्रभुत्व, जात-पात और छूआछूत की तग हिन्दू लहर। दूसरी फिकह (कर्मकाड) का कट्टरता से पालन करने वाली तग इस्लामी लहर और तीसरी दोनों के मेल-जोल की वह प्रेम की लहर, जो दोनो की तग-ख्यालियो से ऊपर उठकर दोनो के गुणो को अपने अन्दर लिये हुए थी। रहन-सहन, खान-पान, चित्रकारी, मकानो का वनाना, धर्म और सस्कृति, सव में ये तीनो लहरें साफ दिखाई दे रही थी। इनमें धीरे-धीरे तग-ख्याली की दोनो लहरें सूखनी जाती थी और मेल-मिलाप की लहर वढती और फैलती जा रही थी। आशा होती थी कि देश में समन्वय की पुरानी परम्परा को कायम रखते हुए एक दिन यह प्रेम की लहर सारे मैदान को ढक लेगी और देश के अन्दर

उस नई सस्कृति, नये समाज और नई धार्मिक कल्पना को जन्म देगी, जो अलग-अलग सकीर्ण कल्पनाओ से बढकर और उनसे ऊँची होगी।

इन तीनो अलग-अलग लहरो की हम एक छोटी-सी मिसाल ईंट-पत्थरो की ठोस शकल में देना चाहते है। फन्ने तामीर यानी गृह-निर्माण-कला में अगर हमे एक तरफ इस्लाम से पहले के पुराने हिन्दू आदर्शो को देखना हो तो दक्षिण के मन्दिर है। कुर्सी के ऊपर कुर्सी, कगूरे के ऊपर कगूरा, ठोस पत्थर, आसमान से बात करते हुए कलश और मन्दिर के चारो तरफ की दीवारो की एक-एक इच जगह मूर्तियो से ढकी, ठीक उसी तरह जिस तरह हिन्दुस्तान के घने जगल। इन इमारतो का अपना एक गौरव है। दूसरी तरफ बाहर से आने वाले इस्लामी आदर्श का नमूना— अजमेर और दिल्ली की मसजिदें, साफ-सफाचट दीवारे, जिनमें सिवाय अल्लाह के कोई चीज़ दिखाई न दे, गोल सफेद गुम्बद और ऊँचे मीनार, अरब के बयाबान रेगिस्तान की याद दिलाने वाले। इनकी भी अपनी एक अलग शान है। तीसरे इन दोनो आदर्शो का मेल, इनकी एक दूसरे पर कलम, इनका प्रेमालिगन अगर देखना हो तो आगरे का ताज, जो दुनिया की सबसे सुन्दर इमारतो मे गिना जाता है और जो आज भी इस देश के सडे-गले जिस्म पर झूमर की तरह लटक रहा है। यही हाल हमें और सब कलाओ और विद्याओ में दिखाई देता है। मुगल सल्तनत के ज़माने में न जाने कितने नये पौधे, कितनी नई तरह के फल, नये फूल, नये-नये जानवर, नई तरह के कपडे इस मुल्क मे आये और न जाने कितने नये-नये खाने और नई-नई मिठाइयाँ जारी हुई। आजकल के दिल्ली या आगरे या मथुरा के किसी भी हलवाई की दुकान की मिठाइयाँ तथा ढाका और मुर्शिदाबाद के रेशमी और सूती कपडो के नाम हमे अपनी ईजाद के समय की याद दिला रहे है।

यह मेल-मिलाप की लहर हमारे रूहानी यानी आध्यात्मिक जीवन मे भी गहरी चली गई थी। कबीर, दादू, नानक, पल्टू, चैतन्य, तुकाराम, बाबा फरीद, बुल्लेशाह, मुईनुद्दीन चिश्ती और यारी साहब जैसे सैकडो हिन्दू और मुसलमान फकीर हिन्दू धर्म और इस्लाम, दोनो के ऊपरी कर्म-काण्डो से ऊपर उठकर हमे प्रेम-धर्म का सन्देश सुना रहे थे और देशभर में चारो ओर प्रेम के सोते बहा रहे थे। हिन्दू धर्म ने इस्लाम के सम्पर्क से अपने अन्दर अनेक सुधार की लहरें पैदा की। अनेक हिन्दू आचार्यों ने जात-पात और छुआछूत को तोडने और आदमी आदमी के बीच बराबरी क़ायम करने का उपदेश दिया। हिन्दू धर्म के सम्पर्क से इस्लाम का जरूरत से ज्यादा नुकीलापन या कटीलापन भी टूटा। मुसलमान फकीरो और महात्माओ के मज़ारो पर बसन्त के दिन बसन्ती चादरे चढाई जाने लगी। मुसलमान बादशाहो के दरबारो में होली, दिवाली, रक्षाबन्धन और दशहरा जगह-जगह उसी प्रेम, उसी जोश और उसी उमग से मनाया जाता था, जिस तरह हिन्दू दरबारो में। कोई सन्देह नही कि अगर थोडा-सा और समय मिल गया होता तो यह देश उस ज़माने के हिन्दू धर्म और इस्लाम के मेल से अपने अन्दर उसी तरह एक नया मिलाजुला और ज्यादा ऊँचा जीवन पैदा करके दिखला देता, जिस तरह इससे पहले की सब टक्करो के बाद दिखला चुका था, पर उस शुभ दिन के आने से ठीक पहले देश में एक तीसरी ताकत ने क़दम रक्खा।

इस नई विदेशी ताकत को अपना भला इसी मे दिखाई दिया कि देश की इन दोनो जमातो को एक दूसरे से मिलने से रोके। इन दोनो को फाडे रखने में ही उसे अपनी ज़िन्दगी दिखाई दी। सन् १७५७ से लेकर आजतक तरह-तरह की चालो, कूटनीतियो और सियासी तदबीरो के ज़रिये देश के हिन्दू और मुसलमानो को एक दूसरे से अलग रखने के पूरे जतन किये गये। रोग बीज रूप में शरीर के अन्दर मौजूद था ही। उसे सिर्फ भडकाने और बढाने की ज़रूरत थी। सरकारी नौकरियो में होड, म्यूनिसपैलिटियो और एसेम्बलियो के चुनाव, पृथक् निर्वाचन (Separate electorate), अलग-अलग यूनीवर्सिटियाँ, महासभा और लीग, अखड भारत और पाकिस्तान, इन सब ने देश की इस कठिन समस्या को उलझाने में हिस्सा लिया है। पर ये राजकाजी हथकडे हमें सिर्फ इसीलिए नुकसान पहुँचा सके, क्योकि फूट, अलह-दगी और दुई के बीज हमारे अन्दर मौजूद थे। बाहर के कीटाणु या जर्म्स उस समय तक रोग पैदा नही कर सकते,

जबतक कि जिस्म के अन्दर का समतोल न बिगड़ा हो, जबतक कि खून के अन्दर कोई-न-कोई इस तरह की कमजोरी कमी या बेशी पैदा न हो गई हो, जो उन कीटाणुओं को वहाँ टिकने और पनपने का मौका दे।

हमारी इस तरह की आवाजें, इस तरह के विचार जैसे 'हिन्दू जाति और हिन्दू संस्कृति को बचाये रखने की जरूरत है', 'इस्लाम और मुस्लिम कल्चर खतरे में है', 'हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए हिन्दू संगठन जरूरी है', 'इस्लाम की हिफ़ाजत के लिए मुसलमानों की अलग तनज़ीम लाज़िमी है', शुद्धि और तबलीग, बोलने-चालने और लिखने-पढ़ने की ज़बान को एक तरफ़ संस्कृत के और दूसरी तरफ़ फ़ारसी और अरबी के ज्यादा नज़दीक लाने की कोशिशें, राष्ट्रीय कान्फ्रेंसों और राष्ट्रीय संस्थाओं तक में हिन्दू रंग-ढंग और हिन्दू तौर-तरीक़ों को बरतने और चमकाने की लालसा—ये सब चीज़ें इस बात को साबित कर रही हैं कि हमने अभी तक ऊपरी रीति-रिवाजों के फ़रकों से उठकर एक मिली-जुली क़ौमी जिन्दगी बसर करने के उस सबक़ को पूरी तरह नहीं सीखा, जो क़ुदरत हमें इन दोनों धर्मों को एक जगह लाकर सिखाना चाहती थी।

रोग का इलाज भी साफ़ है। इस सारी भूल-भुलइयों में से हम चाहें तो अपना रास्ता साफ़ देख सकते हैं। रास्ता वही है, जो इससे पहले की टक्करों में से निकलने का रास्ता था। जबतक आदमी आदमी है, उसमें तरह-तरह के विचारों का पैदा होना, उसके तरह-तरह के विश्वास और तरह-तरह की मानताएँ होना क़ुदरती है। यह चीज़ वैसी ही क़ुदरती है, जैसी एक विशाल वन या सुन्दर उपवन के अन्दर तरह-तरह की वनस्पतियों और रंग-बिरंगे फूलों का उगना। हरेक का अपना सौन्दर्य। हरेक की अपनी उपयोगिता। जिनके आँखें हैं, उन्हें इस विचित्रता में ही, इस रंग-बिरंगे-पन में ही, क़ुदरत के बाग़ का असली सौन्दर्य दिखाई देता। इस विचित्रता में से ही मानव-विकास का रास्ता मिलता है। कोई देश उस समय तक सभ्य नहीं कहा जा सकता, जबतक कि उसके रहने वालों को अपने विचारों और विश्वासों में, अपनी पूजा और इबादत के तरीक़ों में पूरी आज़ादी हासिल न हो। हमारे देश के अन्दर भी तरह-तरह के विचारों का हज़ारों बरस से एक दूसरे के साथ रहना और आख़ीर में घुल-मिल जाना इस बात को साबित कर रहा है कि हम जिन्दगी के इस सुनहले उसूल को काफ़ी जानते और समझते रहे हैं। बहुत-सी बातों में हिन्दुओं और जैनियों, वैष्णवों और शाक्तों, सनातनधर्मियों और आर्यसमाजियों, वर्णाश्रमियों और ब्राह्मणों में जितना उसूली फ़रक़ है, आर्य-समाजियों और मुसलमानों या मामूली हिन्दुओं और मुसलमानों में उससे कहीं कम है। बात सिर्फ़ इतनी है, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कि हमारे इतिहास का यह आख़िरी समन्वय अभी पूरा नहीं हो पाया था कि बाहरी ताक़तों ने छेड़कर हमारी हालत को थोड़ा-सा जटिल कर दिया और कुछ देर के लिए देश में एक संकट पैदा हो गया।

हमें अब सिर्फ़ दो बातें समझनी हैं। एक यह कि मज़हबी रीति-रिवाजों या पूजा-पाठ के तरीक़ों के अलग-अलग होते हुए भी हमें देश में एक मिली-जुली समाजी जिन्दगी, मिला-जुला रहन-सहन, मिली-जुली ज़बान पैदा करनी है, बढ़ानी है और उसे क़ायम रखना है। रीति-रिवाज सब ऊपरी चीज़ें हैं। हर देश में वे बदलते रहे हैं और बदलते रहेंगे। जिस तरह शरीर का बदलना जब-तब ज़रूरी हो जाता है, उसी तरह इन ऊपरी रीति-रिवाजों का बदलते रहना भी समाजी जिन्दगी के लिए ज़रूरी होता है। हिन्दुओं की जन्मना जाति, जात-पाँत और छुआछूत, किसी भी दूसरे के छूने से किसी के भोजन और पानी का नापाक हो जाना, एक ऐसी सड़ी-गली और हानिकर रूढ़ि है, जिसका अन्त करना हमारे समाजी जीवन को क़ायम रखने के लिए ज़रूरी है। बुद्ध भगवान् के समय से लेकर बीच के ज़माने के सन्तों, कबीर और दादू तक सब हमें यही उपदेश देते चले आये हैं। ऐसे ही बोलचाल में या किताबों और अख़बार में 'आवश्यकता' की जगह 'ज़रूरत' या 'ज़रूरत' की जगह 'आवश्यकता' पर ज़ोर देना, 'नुमाइश' जैसे आमफ़हम शब्द को बदल कर 'प्रदर्शनी' करना, 'हवाई जहाज़' को 'वायुयान' या 'तैयारा' कहने की कोशिश करना एक बीमारी है, जो हमारी समाजी जिन्दगी को टुकड़े-टुकड़े कर रही है और हमारी आत्माओं को संकीर्ण बना रही है। एक सीधी-सादी, मिली-जुली, आमफ़हम बोली की जगह संस्कृत भरी हिन्दी या फ़ारसी-अरबी भरी उर्दू की तरफ़ जाने
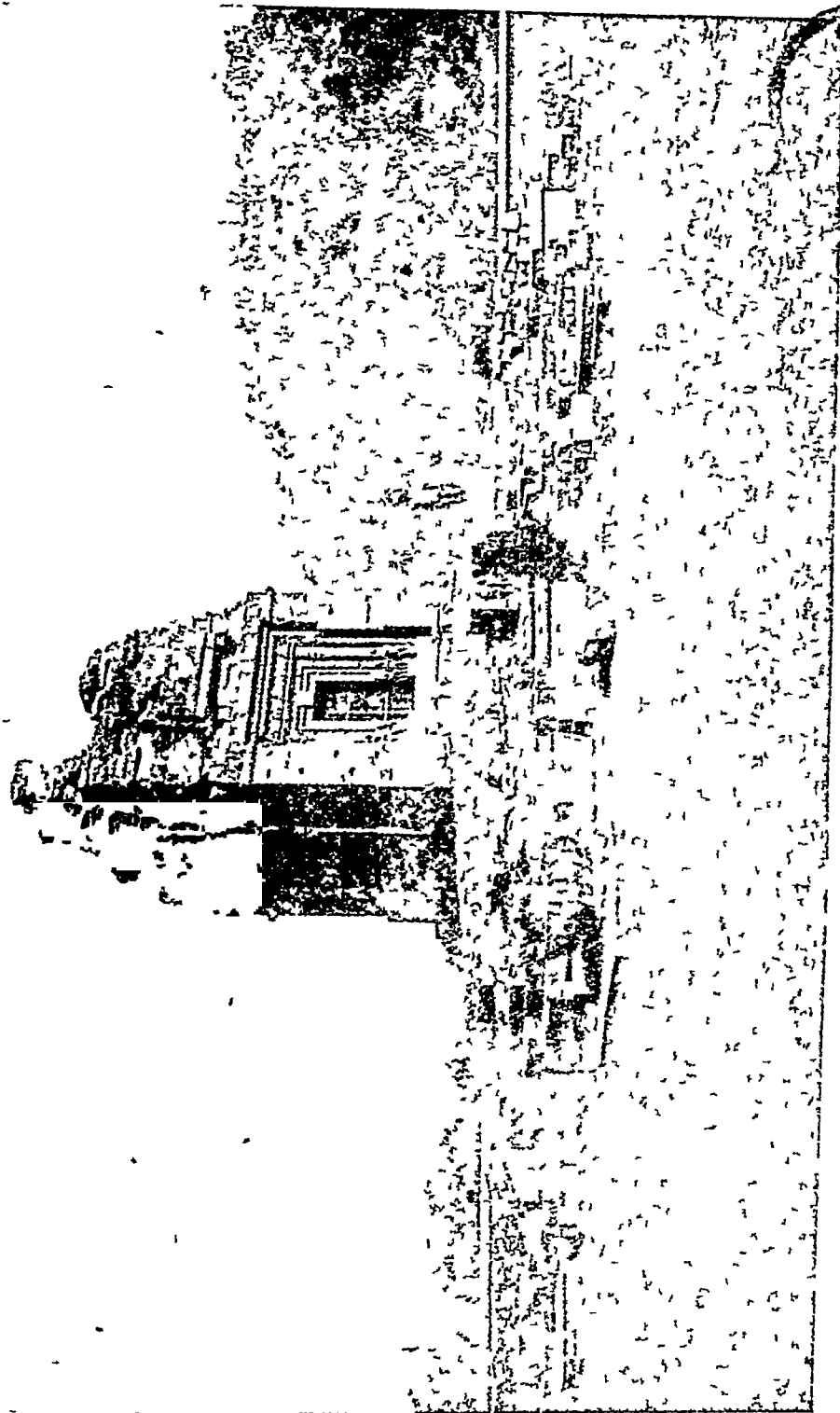
देवगढ का विष्णुमंदिर

की ख्वाहिश उन चीज़ों में से है, जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम-सवाल को पैदा किया और बढाया। हमें हिन्दी और उर्दू दोनों को हिन्दुस्तानी भाषा मानना होगा। दोनों से प्रेम करना होगा और दोनों के सच्चे संगम से एक राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी को रूप देना, बढाना और मालामाल करना होगा। इसी तरह अपनी राष्ट्रीय संस्थाओं, कांग्रेसों, कान्फ्रेंसों, स्कूलों, कालेजों वगैरह में हमें मिले-जुले तरीके और इस तरह के ढंग बरतने होंगे, जो सब धर्मों और मज़हबों के देशवासियों को एक-से प्यारे लगें। हम ऊपर लिख चुके हैं कि हम आज से चन्द पीढी तक इसी तरह की एक मिली-जुली समाजी ज़िन्दगी और मिली-जुली कल्चर की तरफ बढ रहे थे। हमें अपनी उस थोड़े दिन पहले की प्रवृत्ति को फिर से ताज़ा करना होगा।

दूसरी बात, जो हमें समझनी है, वह इससे भी ज्यादा गहरी है। और वह इस हिन्दू-मुस्लिम सवाल का आध्यात्मिक यानी रूहानी पहलू। दुनिया के अलग-अलग धर्मों के क़ायम करने वालों ने अगर किसी बात पर सबसे ज्यादा ज़ोर दिया है तो वह यही है कि सब इन्सान एक कौम हैं, हम सब मिलकर एक छोटा-सा कुटुम्ब हैं, सब एक जिस्म के अलग-अलग अंगों की तरह हैं। सब का एक ही ईश्वर या अल्लाह है। ईश्वर एक है और सब उसी के बन्दे हैं तो ज़ाहिर है कि सबका धर्म भी एक ही है। फिर ये अलग-अलग धर्मों के फरक क्यों? इन धर्मों के इतिहास और उनकी पाक किताबों को प्रेम के साथ देखने से साफ़ पता चलता है कि इन सब धर्मों और मत-मतान्तरों के मूल तत्त्व एक हैं। इनमें फरक़ सिर्फ या तो उन अटकली बातों में है, जिनमें आदमी का दिमाग़ आखिरी फैसले नहीं कर पाता, जैसे जीव और ब्रह्म का एक होना या दो होना, नरक और स्वर्ग की कल्पनाएँ वगैरह, और या ऊपरी रीति-रिवाजों और कर्म-काण्डों में हैं, जैसे पूरब की तरफ मुँह करके पूजा करना या पच्छिम की तरफ मुँह करके, संस्कृत में दुआ माँगना या अरबी में। ये सब फरक़ गौण हैं। हमें इनसे ऊपर उठकर और इनके भीतर से सब धर्मों की मौलिक एकता को साक्षात् करना होगा। इतना ही नहीं, हमें यह समझना होगा कि खुदा की नज़रों में दुनिया की कोई भाषा दूसरी भाषा से ज्यादा पवित्र नहीं है। कोई ऊपरी रीति-रिवाज दूसरे रीति-रिवाज से ज्यादा पाक नहीं है। आदमी, आदमी है। हमें सब धर्मों के कायम करने वाले महापुरुषों की इज्ज़त करनी होगी, उन सब को अपनाना और उन्हें मानव-समाज के सच्चे हितचिन्तक और मार्ग-प्रदर्शक मानना होगा, सब धर्म-पुस्तकों को प्रेम के साथ पढना और उनसे सबक हासिल करना होगा। इन धर्मों और किताबों के फरक सब देश और काल के फरक हैं। हमें इनसे ऊपर उठकर सब धर्मों के सार यानी उस मानव-धर्म, उस प्रेम-धर्म, उस मज़हबे-इश्क, उस मज़हबे-इन्सानियत को साक्षात् करना होगा, जो आजकल के सब मत-मतान्तरों की जगह भावी मानव-समाज का एकमात्र धर्म होगा, जिसकी बुनियादें सच्चाई, सदाचार और प्रेम पर होंगी और जो सब के अन्दर एक ईश्वर के दर्शन करते हुए आध्यात्मिक जीवन की उन गहराइयों तक पहुँचने और उन समस्याओं के हल करने की कोशिश करेगा, जिन तक पहुँचना और जिनका हल करना इस पृथ्वी पर मनुष्य के जीवन का अन्तिम और असली लक्ष्य है। यही वह कीमती सबक है, जो कुदरत हमें आजकल की इस छोटी सी हिन्दू-मुस्लिम समस्या के ज़रिये सिखाना चाहती है। हमारा देश इस समय इसी सच्चे मानवधर्म को पैदा करने की प्रसववेदना में से होकर निकल रहा है। सारा संसार शुभ दिन की बाट जोह रहा है।

इलाहाबाद]

प्राचीन आर्यों का जलयात्रा-प्रेम

श्री कृष्णदत्त बाजपेयी एम्० ए०

ससार के अन्य देशो से सम्बन्ध स्थापित करके उनको अपनी सस्कृति से प्रभावित करने के लिए भारतीय आर्यों ने बहुत प्राचीन काल से ही विदेश-यात्रा को उपादेय समझा था। इस सम्बन्ध से सास्कृतिक लाभ के साथ-साथ व्यापार द्वारा आर्थिक लाभ का महत्त्व भारतीयो को सुविदित था। इसीलिए उन्होने दूर-देशों को जाने के लिए जल-मार्गों को खोज निकाला और फिर अनेक प्रकार के निर्मित जहाज़ों और नौकाओं पर आरूढ होकर वे स्वदेश का गौरव बढाने के लिए विस्तृत समुद्रों में निकल पडे। अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमारे पूर्वज आर्यों ने मार्ग की कठिनाइयो की परवाह न की। उनके दृढ अध्यवसाय के कारण भारत शताब्दियों तक ससार के व्यापार का केन्द्र बना रहा और सुदूर पश्चिम तथा सुदूर पूर्व तक इस देश के नेतृत्व की धाक जमी रही।

आर्यों को नौका-निर्माण-कला तथा उनके जलयात्रा-प्रेम का परिचय हमारे सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद से प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में नौकाओं तथा समुद्र-यात्राओ के मनोरजक वर्णन अनेक स्थानों पर मिलते हैं। एक जगह ऋषि अपने इष्टदेव से प्रार्थना करते हैं—"हे देव, हमारे आनन्द और कल्याण के लिए हमको जहाज़ के द्वारा समुद्र-पार ले चलो" (ऋ०, १।९७।८)। विष्णु के साथ वसिष्ठ की समुद्र-यात्रा का वर्णन बडा रोचक है (७।८८।३-४)।
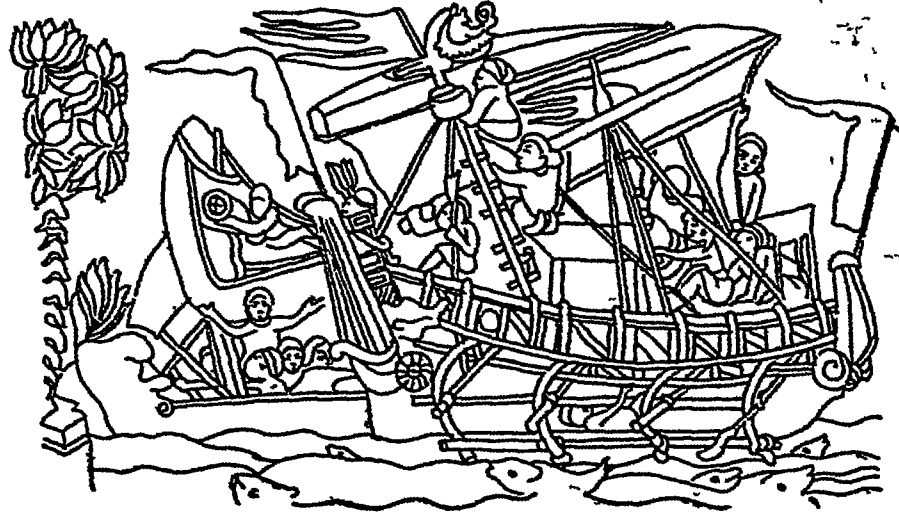
आर्यों की जलयात्रा

वरुण के लिए कहा गया है कि वे समुद्र का पूरा ज्ञान रखते हैं और उनके सिपाही समुद्र में चारो ओर फिरा करते हैं (१।२५।७)। कई स्थलों पर वरुण को जल का अधिपति कहा गया है। सम्भवत इसी आधार पर पौराणिक काल में वरुण के स्वरूप में जल-पूजन का महत्त्व हुआ और कालान्तर में जल (सागर, सरिता और सर) के समीप बसे हुए स्थानो को तीर्थों के रूप में बडा गौरव प्रदान किया गया।

ऋग्वेद में लम्बी यात्राओ में जाने वाले जहाजो के भी उल्लेख मिलते हैं। ऋषि तुग्र ने अपने लड़के भुज्यु को एक बहुत बडे जहाज़ में बैठाकर शत्रुओ से लडने को भेजा था (१।११६।३)। बहुत सम्भव है कि वैदिक काल में, ऐसे ही बडे जहाज़ों पर बैठकर विश् ('पणि') लोग पश्चिमी देशो तक जाते थे और वहाँ से व्यापार-विनिमय करते

थे। इस काल मे व्यापारिक यात्राओ के प्रचलित होने के प्रमाण वैदिक माहित्य मे पाये जाते हैं। ऐसे पणियो या व्यापारियो के उल्लेख मिलते हैं जो लोभवश अधिक धन-प्राप्ति के लिए अपने जहाज़ विदेशो को भेजते थे (ऋ० २।४८।३)। ऐसे लोगो की यह कहकर निन्दा की गई है कि 'ये धन के लालच से अपने जहाजो द्वारा सारे समुद्र को मथ डालते हैं' (१।५६।२)। ऐसा अनुमान होता है कि वैदिक काल में भारत का समुद्री व्यापार चाल्डिया, मिश्र तथा बेबीलोन से होता था, क्योकि पश्चिमी जगत् में मिश्र की सभ्यता तथा सुमेरी लोगो की सभ्यता इस काल में उन्नत थी। आर्य-व्यापारियो के लिए 'देवपणि' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि 'पणि' शब्द शायद द्राविड या अनार्य व्यापारियो का सूचक है।

पिछले वैदिक काल तथा महाकाव्य युग मे भी आर्यों के जलयात्रा-सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। रामायण में जहाजो के द्वारा दक्षिण तथा पूर्व के द्वीपो और देशो में जाने के वर्णन मिलते हैं। किष्किन्धा काड मे सुग्रीव बानरो को पूर्व के द्वीपो में जाने का आदेश देता है (रामा० ४।४०।२३-५)। यही कोषकार द्वीप(?), यवद्वीप (जावा) तथा सुवर्ण द्वीप (सुमात्रा) मे भी जाने को कहा गया है। आधुनिक लालसागर का प्राचीन नाम रामायण मे लोहित-सागर आया है। इसी ग्रन्थ में एक जहाजी बेडे के युद्ध का वर्णन है, जिसमे कई सौ छोटी-बडी नौकाएँ प्रत्येक पक्ष में थी (रामा० ४।८४।७८)। महाभारत मे भी जहाजो और नौकाओ के द्वारा जल-यात्रा के उल्लेख मिलते हैं।

बौद्ध ग्रन्थो मे जल-यात्राओ के अनेक मनोरजक वर्णन मिलते हैं। बावेरु जातक में भारत से बावेरु (बेबीलोन) को भारतीय व्यापारियो के जाने का कथन है। समुद्दवनिज जातक, जनक जातक और बलाहस्स जातक में व्यापारियो की दीर्घ यात्राओ के आकर्षक वर्णन मिलते हैं। दीघनिकाय (१।२२२) मे छ महीने की लम्बी समुद्रयात्रा का वर्णन है। इन यात्राओ मे माझी लोग एक विशेष प्रकार के समुद्री-पक्षी अपने साथ रखते थे, जो समुद्री-किनारो का पता अपने स्वामियो को देते थे। कुतुबनुमा का इस प्राचीन काल मे आविष्कार नही हुआ था और ये पक्षी ही कुतुबनुमा का काम देते थे। जातक ग्रन्थो से विदित होता है कि बौद्धकाल मे देश समृद्ध और धन-धान्यपूर्ण था। इसका श्रेय देशी तथा विदेशी व्यापार को था। नगरो मे सब प्रकार की वस्तुएँ—अन्न, वस्त्र, तेल, सुगन्धित द्रव्य, सोना, चाँदी, रत्न आदि—थी। नगरो मे व्यापारियो के सघ बन गये थे, जो 'निगम' कहलाते थे और उनके मुखिया 'सेट्ठी' (श्रेष्ठी) कहाते थे।

इस काल मे जहाजो के आकार और परिमाण के भी उल्लेख बौद्धग्रन्थो मे मिलते हैं। जनक जातक मे ऐसे जहाजो के वर्णन हैं, जिनमें सात-सात सौ यात्री बैठकर यात्रा के लिए गये थे। वि० पू० ४०० के लगभग सिंहलद्वीप से वहाँ का राजा विजय सात सौ यात्रियो को एक जहाज़ में बैठाकर बगाल के राजा सिंहबाहु के यहाँ गया। इन सख्याओ से जहाजो के आकार के बहुत बडे होने मे सन्देह नही। महावश, सुत्तपिटक, सयुक्तनिकाय, अगुत्तरनिकाय आदि ग्रन्थो मे भी बडे आकार वाले जहाजो तथा उन पर बैठकर यात्रार्थ जाने वाले वणिको के वर्णन मिलते हैं।

मौर्य-शुग काल (३२५ ई० पू०—१०० ई० पू०) मे भारत की जल-यात्रा बहुत बढी। इस काल में मिश्र के टालेमी शासको ने पूर्वी देशो—विशेषत भारत—से व्यापार बढाने के लिए स्वेज़ नहर खोली, जिससे भारत से पश्चिमी देशो का यातायात लाल सागर के मार्ग से होने लगा। इस युग मे भारत मे देशी जहाजो तथा नौकाओ का निर्माण बडी सख्या मे होता था। निअर्कस ने अपनी यात्रा के लिए उत्तरी पजाब की जातियो से नावे तैयार करवाई थी। टालेमी के कथनानुसार इन नौकाओ की सख्या दो हज़ार थी, जिन पर आठ सहस्र यात्री, सहस्रो घोडे तथा अन्य सामान लादकर इतनी दूर की यात्रा मे गये थे। मेगास्थनीज़ ने मौर्य-साम्राज्य के जहाज़-निर्माताओ के समूह का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र (२।२८) से भी विदित होता है कि व्यापार के लिए एक अलग महकमा था, जिसकी व्यवस्था अन्य मुख्य महकमो की तरह अच्छे ढग से होती थी।

शक सातवाहन तथा गुप्त-काल में भारत का विदेशो से व्यापार बहुत उन्नत हुआ। तत्कालीन साहित्य तथा विदेशी यात्रियो के वर्णन से भारतीयो के यात्रा-प्रेम, उनकी व्यापार-कुशलता तथा तज्जनित भारतीय समृद्धि का पता

चलता है। स्ट्रेबो नामक यूनानी यात्री ने अरब और फारस के किनारो से मिश्र को जाते हुए एक सौ बीस जहाज़ो के भारतीय बेडे को देखा था (स्ट्रेबो, २।५।१२)। प्लिनी ने सिन्धु और पत्तल से उत्तर-पश्चिम के देशो को जाते हुए वडे जहाज़ो के समूह को देखा। साँची और कन्हेरी तथा अजन्ता की गुफाओ मे अनेक वडे जहाज़ो के भित्ति-चित्र मिलते है। मदुरा के मन्दिर मे भी एक विशाल जहाज़ चित्रित है। कोरोमडल से मिले हुए यज्ञश्रीशातकर्णि के कुछ सिक्को पर दो मस्तूल वाले जहाज़ो के चित्र है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारद स्मृति तथा बृहत्सहिता आदि ग्रन्थो से अनेक प्रकार की जल-यात्राओ के वर्णन पाये जाते हैं। अजन्ता मे विहार-यात्राओ के लिए प्रयुक्त अनेक सुन्दर नौकाओ के भी चित्र हैं।

मध्यकाल में भारतीयो की जलयात्रा को देश की समृद्धि के कारण अधिक प्रोत्साहन मिला। इस युग में भारत और अरब के बीच व्यापारिक सम्बन्ध घनिष्ठ हुए। अल-इद्रिसी आदि अरबी यात्रियो के वर्णनो से भारत की व्यापारिक उन्नति तथा भारतीय बन्दरगाहो की वृद्धि का हाल ज्ञात होता है। दक्षिण-पूर्व के देशो और द्वीपो मे भारतीय उपनिवेश गुप्त काल के पहले ही स्थापित हो चुके थे। मध्यकाल मे श्रीक्षेत्र, कबुजराष्ट्र (कबोडिया), चम्पा (अनाम), स्वर्णद्वीप (सुमात्रा) तथा सुवर्णभूमि (बर्मा) आदि देशो से भारत के सास्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ हुए। चीन तथा जापान से भी ये सम्बन्ध दृढ हुए। तत्कालीन चीनी ग्रन्थो तथा ह्वेन्त्साग, इत्सिग, सुगयुन आदि चीनी यात्रियो के वर्णनो से विदित होता है कि भारत तथा चीन के पडितो तथा दोनो देशो के प्रणिधि-वर्ग का पारस्परिक आवागमन पूर्ववत् द्रुतगति से जारी रहा। भारत से चीन तक का सारा समुद्र-प्रदेश भारतीय उपनिवेशो तथा बन्दरगाहो से भरा पडा था। इत्सिग ने ऐसे दस भारतीय उपनिवेशो का वर्णन किया है, जहाँ सस्कृत के साथ साथ भारतीय रीति-रिवाजो का प्रचलन था। माघ-रचित 'शिशुपालवध' मे माल से लदे हुए जहाज़ो के विदेश जाने और पश्चिम से द्वारका की ओर आते हुए जहाज़ो के वर्णन है। राजतरगिणी तथा कथा-सरित्सागर आदि मे भी भारतीयो की समुद्री यात्राओ का पता चलता है। लगभग १००० ई० मे मालवे के परमार राजा भोज ने 'युक्तिकल्पतरु' नामक ग्रन्थ की रचना की। नौ-शास्त्र का यह ग्रन्थ अपने विषय का बेजोड और अनमोल है। इसमे भारतीय जहाज़ो और नौकाओ के अनेक रूपो के निर्माण और सचालन आदि का विशद वर्णन है। इससे प्रकट होता है कि भारतीय जहाज़ी-कला कितनी प्राचीन तथा उन्नतिशील रही है। विभिन्न प्रकार के जहाज़ो के लिए उपयुक्त लकडियो, जहाज़ो के स्वरूपो तथा निर्माण-सम्बन्धी विधियो के जो विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ-रत्न में हैं उनसे भारतीय मस्तिष्क के वैज्ञानिक विकास का पता चलता है, साथ ही भारतीयो के जल-यात्रा विषयक प्रेम का भी प्रमाण मिलता है।

मुसलमानो के राज्य-काल मे भी भारतीयो की यह रुचि वृद्धगत रही। मार्कोपोलो, ओडरिक (१३२१ ई०), इब्नबतूता (१३२५-४९ ई०), अब्दुर्रज्ज़ाक आदि ने जो यात्रा-वर्णन लिखे है, उनसे भारत की अतुल जहाजी शक्ति तथा व्यापार-प्रवीणता का पता चलता है। वह प्रवृत्ति मराठा काल (लग० १७२५-१८०० ई०) तक चलती रही, जिसके प्रमाण शिवाजी, कान्होजी अगिरा तथा शम्भूजी आदि के द्वारा नौ-शक्ति-सगठन मे मिलते हैं।

मध्यकाल के अन्त में लगभग ई० १२वी शताब्दी मे समाज का कुछ वर्ग समुद्र-यात्रा का विरोधी हो गया था। इसका प्रधान कारण इस काल में जाति-बन्धनो का कडा हो जाना था। पर वणिक् समाज तथा अन्य व्यापारी लोग इन नव-निर्मित स्मृतियो के जल-यात्रा-विरोधी वचनो से विचलित नही हुए। वे बाह्य देशो से बराबर आवागमन-सम्बन्ध बनाये रहे, क्योकि इससे उन्हे आर्थिक और सास्कृतिक लाभ थे और इन लोगो से भारतीय जनता शताब्दियो से परिचित थी। परन्तु सत्रहवी शताब्दी के अन्त मे निर्मित कुछ धर्मशास्त्र-निबन्ध ग्रन्थो मे समुद्रयात्रा को निन्दित कहा गया और जातीय प्रथा के सकुचित हो जाने से जनता बहुत बड़ी सख्या में समुद्रयात्रा से विमुख हो गई। इसका फल प्रत्यक्ष हुआ है और देश को विदेश-यात्रा के अनेक लाभो से वचित रहना पडा है। अब वह समय आ गया है कि भारतवासी अपने पूर्वजो का अनुकरण कर अन्य सभ्य देशो से ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी आदान-प्रदान कर अपने देश को उन्नत और समृद्ध बनावें।

लखनऊ]

श्यूआन्-चुआङ्[1] और उनके भारतीय मित्रों के बीच का पत्रव्यवहार

श्री प्रबोधचन्द्र बागची एम० ए०, डी० लिट्०

महान् चीनीयात्री श्यूआन्-चुआङ् भारत में सोलह वर्ष तक (६३०-६४५ ई०) रहा। उसका अधिकाश समय नालन्दा मे तत्कालीन आचार्य शीलभद्र के पास बौद्ध दर्शन का अध्ययन करने में बीता। सम्राट् हर्षवर्धन ने तीन बार उसे राजधानी मे आने का निमन्त्रण दिया, पर उसने स्वीकार नही किया। बाद मे जब हर्ष से भेट हुई तब उसने इसका कारण पूछा। श्यूआन्-चुआङ् ने उत्तर दिया कि वह इतनी दूर से बौद्धधर्म की जिज्ञासा और बौद्ध दर्शन के अध्ययन का ध्येय लेकर आया था और क्योकि उसका वह उद्देश्य तबतक पूरा नही हुआ था, इसलिए वह सम्राट् से मिलने न आ सका (बील, श्यूआन्-चुआङ् का जीवनचरित, पृ० १७३-१७४)। इससे नालन्दा मे अध्ययन के प्रति उसकी गहरी आसक्ति प्रकट होती है। अपने गुरु शीलभद्र और अपने सहपाठियो के, विशेषकर ज्ञानप्रभ के लिए जो शीलभद्र के प्रधान शिष्य थे, उसके मन मे ऐसा ही गहरा प्रेम था।

श्यूआन्-चुआङ् के भारतीय मित्रो के मन में भी उसके लिए वैसे ही भाव थे। नालन्दा से उसके विदा लेते समय जो घटना घटी उसमे इसका कुछ परिचय मिलता है। यह सुनकर कि वह चीन लौटने के लिए तैयार था, नालन्दा विहार के सब भिक्षु मिलकर उसके पास आये और यही रह जाने के लिए अनुरोध करने लगे। उन्होने कहा कि भारतवर्ष भगवान् बुद्ध की जन्मभूमि है, चीन इस तरह की तीर्थ-भूमि नही है। उन्होने बातचीत के सिलसिले मे यहाँ तक कह डाला कि बुद्ध का जन्म चीन मे कभी न हो सकता था, और इसलिए चीन के निवासियो में वह धर्म-भाव कहाँ सम्भव है! किन्तु श्यूआन्-चुआङ् ने उत्तर दिया कि बुद्ध का धर्म सारे ससार मे फैलने के लिए है, इसलिए चीन देश को बुद्ध के अनुग्रह मे वचित नही रक्खा जा सकता। जब सब युक्तियाँ व्यर्थ हुई तब उन्होने यह दुखद समाचार आचार्य शीलभद्र के पास पहुँचाया। तब शीलभद्र ने श्यूआन्-चुआङ् को बुलाकर कहा—"क्यो भद्र, तुमने ऐसा निश्चय किस कारण से किया है?" श्यूआन्-चुआङ् ने उत्तर दिया—"यह देश बुद्ध की जन्मभूमि है। इसके प्रति प्रेम न हो सकना असम्भव है। लेकिन यहाँ आने का मेरा उद्देश्य यही था कि अपने भाइयो के हित के लिए मै भगवान् के महान् धर्म की खोज करूँ मेरा यहाँ आना बहुत ही लाभ-दायक सिद्ध हुआ है। अब यहाँ से वापिस जाकर मेरी इच्छा है कि जो मैने पढा-सुना है, उसे दूसरो के हितार्थ बताऊँ और अनुवाद रूप मे लाऊँ, जिसके फलस्वरूप अन्य मनुष्य भी आपके प्रति उसी प्रकार कृतज्ञ हो सकें, जिस प्रकार मैं हुआ हूँ।" इस उत्तर से शीलभद्र को बडी प्रसन्नता हुई और उन्होने कहा—"ये उदात्त विचार तो बोधिसत्वो जैसे है। मेरा हृदय भी तुम्हारी सदाशाओ का समर्थन करता है।" तब उन्होने उसकी विदाई का सब प्रबन्ध करा दिया (बील—वही, पृ० १६९)। उस बिछुडने में दोनो पक्षो ने ही बडे दुख का अनुभव किया होगा।

चीन को लौट जाने के बाद भी उस यात्री का अपने भारतीय मित्रो के साथ वैसा ही घनिष्ट सम्बन्ध बना रहा। हुअइ-ली (Hui-li) ने जो श्यूआन्-चुआङ् का जीवनचरित लिखा है (मूल ची० पुस्तक, अध्याय ७) उसमें तीन ऐसे पत्र सुरक्षित है, जो मूल सस्कृत भाषा में थे और श्यूआन्-चुआङ् और उसके भारतीय मित्रो के बीच लिखे गये थे। उनमें से दो आशिक रूप से चीन के बौद्ध विश्वकोष फो-चु-लि-ताय्-थुङ्-चाय् नामक ग्रन्थ मे सन्निविष्ट है, जिनका शावान (Chavannes) ने फिरगी भाषा में अनुवाद किया था। (बोधगया के चीनी लेख, 'ल इस्क्रिप्सिओं शिनुआ

[1] अंग्रेजी और फ्रेंच हिज्जे के कारण जिस नाम को हम हिन्दी में प्राय युअन च्वाङ् या हुअन-साग लिखते है उसका शुद्ध चीनी उच्चारण 'श्यूआन्-चुआङ्' है।—अनुवादक (वासुदेवशरण अग्रवाल)

द बोधगया', १८९६)। यहाँ पर हम उन तीनो पत्रो का पूरा अनुवाद दे रहे है, क्योकि इनसे उस प्राचीन समय में भी भारतीय और विदेशी विद्वानो के पारस्परिक घनिष्ट सम्बन्धो पर पर्याप्त प्रकाश पडता है।

श्यूआन्-चुआड् के दो सस्कृत नाम थे। महायानी उसे 'महायानदेव' कहते थे और हीनयान के अनुयायी उसे 'मोक्षदेव' या 'मोक्षाचार्य' कहकर पुकारते थे। नीचे के पत्रो में यही दूसरा नाम प्रयुक्त हुआ है।

(१)

प्रज्ञादेव और ज्ञानप्रभ का श्यूआन्-चुआङ् के नाम पत्र

(श्यूआन्-चुआड् का जीवनचरित्र, नानकिङ् मस्करण, तृतीय, अध्याय ७, पृ० १५ अ-१५ आ)

सवत् ७१२ (६५५ ई०) के पचम महीने मे ग्रीष्म ऋतु के समय, आर्यभिक्षु ज्ञानप्रभ (चीनी नाम च-कुआड्), प्रज्ञादेव[1] (चीनी रूप हुअइ-थिआन्) तथा मध्य देश के महाबोधि विहार के दूसरे भिक्षुओ ने मोक्षाचार्य के पास एक पत्र भेजा। ज्ञानप्रभ हीनयान और महायान दोनो साहित्यो के तथा अन्य धर्मों के साहित्य जैसे चार वेद और पाँचो विद्याओ के भी प्रकाड् विद्वान् थे। महान् आचार्य शीलभद्र के सब शिष्यो मे ज्ञानप्रभ सबसे मुख्य थे। प्रज्ञादेव हीनयान बौद्ध धर्म के अठारह सम्प्रदायो के समस्त साहित्य से परिचित और उसमे निष्णात थे। अपनी विद्या और चरित्र-बल के कारण उन्हे सब का आदर प्राप्त था। भारत मे रहते हुए श्यूआन्-चुआड् को हीनयान के विद्वानो के खडन के विरुद्ध महायान के सिद्धान्तो का पक्ष लेना पडा था, किन्तु भद्रता से किये हुए उन शास्त्रार्थों के कारण उसके प्रति उनके मन मे जो आदर और प्रेम का भाव था, उसमें तनिक भी अन्तर नही पडा। इसलिए प्रज्ञादेव ने उसी विहार के भिक्षु धर्मवर्धन[2] (फा-चाड्) के हस्ते अपने रचे हुए एक स्तोत्र और धौतवस्त्र युगल के साथ एक पत्र श्यूआन्-चुआड् के पास भेजा। वह पत्र इस प्रकार था—

"स्थविर प्रज्ञादेव, जिसने महाबोधि मन्दिर मे भगवान् बुद्ध के वज्रासन के पास रहने वाले विद्वानो का सत्सग किया है, यह पत्र महाचीन के उन मोक्षाचार्य महोदय की सेवा मे भेजते है, जो सूत्र, विनय और शास्त्रो के सूक्ष्म ज्ञाता है। मेरी प्रार्थना है कि आप सदा रोग और दु खो से मुक्त रहें।

मै—भिक्षु प्रज्ञादेव—ने अब बुद्ध के महान् और दिव्य रूपान्तरो पर एक स्तोत्र (निकायस्तोत्र ?) तथा एक दूसरा ग्रन्थ 'सूत्रो और शास्त्रो का तुलनात्मक विचार' विषय पर बनाया है। उन्हे मैं भिक्षु फा-चाड् को आपके पास पहुँचाने के लिए दे रहा हूँ। मेरे साथ आचार्य आर्य भदन्त ज्ञानप्रभ, जो बहुश्रुत और गम्भीरवेत्ता है, आपका कुशल समाचार जानना चाहते है। यहाँ के उपासक आपके लिए अपना अभिवादन भेजते है। सब की ओर से एक धौतवस्त्र युगल आपकी सेवा में अर्पित करते है। कृपया इससे यह विचारे कि हम आपको भूले नही है। मार्ग लम्बा है। अतएव इस भेंट की अल्पता पर कृपया ध्यान न कर हमारी प्रार्थना है कि आप इसे स्वीकार करे। जो सूत्र और ग्रथ शास्त्र चाहिए कृपया उनकी एक सूची भिजवा दें। हम उनकी प्रतिलिपि करके आप के पास भेज देगे। प्रिय मोक्षाचार्य, हमारा इतना निवेदन है।"

(२)

श्यूआन्-चुआङ् का उत्तर ज्ञानप्रभ के नाम—

फा-चाड् (धर्मवर्धन) दूसरे मास में वसन्त-काल (यूङ्-हुअइ वर्ष में) विक्रम सवत् में वापिस गए। उसी वर्ष श्यूआन्-चुआङ् ने ज्ञानप्रभ के नाम नीचे लिखा पत्र धर्मवर्धन के हाथ भेजा—

[1] 'प्रज्ञादेव' नाम चीनी से उल्था किया गया है, पर इसके सही होने का निश्चय नहीं है। मूल चीनी शब्दों का अर्थ है—मतिदेव। किन्तु चीनी भाषा में 'हुअइ' पद के दो अर्थ है—मति और प्रज्ञा और दोनो में कभी-कभी गडबड हो जाता है। [2] चीनी फा-चाड् का अर्थ है 'धर्म-लम्बा'। इसका सस्कृत रूप धर्मवर्धन हो सकता है। एक चीनी मित्र की सम्मति में 'फा-चाड्' का मूल धर्मनायक भी सम्भव है। (अनुवादक की टिप्पणी)

"महान् थाङ् वंशी राजाओं के देश का निवासी भिक्षु ह्यूआन् चुआङ् मध्य देश में मगध के धर्माचार्य त्रिपिटकाचार्य भदन्त ज्ञानप्रभ की सेवा में नम्रता-पूर्वक लिखता है। मुझे लौटे हुए दश वर्ष से अधिक हो चुके। हमारे उभय देशों की सीमाएँ एक दूसरे से बहुत दूर हैं। मुझे आपका कुछ समाचार नहीं मिला। इसलिए मेरी चिन्ता बढ रही थी। अब भिक्षु फा चाङ् से पूछने पर ज्ञात हुआ कि आप सब कुशल में हैं। इस समाचार से मुझे जितना हर्ष हुआ, लेखनी उसका वर्णन नहीं कर सकती। वहाँ की जलवायु अब उष्ण होती जा रही होगी और मैं कह नहीं सकता कि आगे चल कर क्या हाल होगा।[1]

भारतवर्ष से हाल ही में लौटे हुए एक सन्देशहर से मुझे पता चला है कि पूज्य आचार्य शीलभद्र अब इस लोक में नहीं रहे। यह समाचार पाकर मुझे अपार दुःख हुआ। शोक है, इस दुःखमय भवसागर की वह नौका डूब गई, मनुष्यों और देवताओं का नेत्र मुंद गया। उनके न रहने के दुःख को किस प्रकार प्रकट करूँ? पुराकाल में जब भगवान बुद्ध ने अपना प्रकाश समेट लिया था, कश्यप ने उनके कार्य को जारी रक्खा और बढाया। शोणवास के इस संसार से विदा ही लेने पर उपगुप्त ने उनके सुन्दर धर्म के उपदेश का सिलसिला बनाए रक्खा। अब धर्म का एक सेनानी अपने सच्चे धाम को चला गया है, अतएव उनके बाद में रहे धर्माचार्यों को चाहिए कि अपने कर्त्तव्य का पालन करें। मेरी तो यही अभिलाषा है कि (धर्म के) पवित्र उपदेशों और सूक्ष्म विचारों की महोर्मियाँ चार समुद्रों की लहरों की तरह फैलती रहें और पवित्र ज्ञान पाँच पर्वतों के समान सदा स्थिर रहे।

जो सूत्र और शास्त्र मैं—ह्यूआन्-चुआङ्—अपने साथ लाया था उनमें से योगाचार—भूमि-शास्त्र का तथा अन्य ग्रन्थों का अनुवाद तीस जिल्दों में मैं समाप्त कर चुका हूँ। कोष और न्यायानुसार शास्त्र[2] का अनुवाद अभी पूरा नहीं हुआ है, पर इस साल वे अवश्य पूरे हो जाँएगे।

इस समय यहाँ थाङ् वंश के देवपुत्र सम्राट् अपने धर्माचरण और अनेक कल्याणों के द्वारा देश का शासन कर रहे हैं और प्रजा को सुख शान्ति दे रहे हैं। चक्रवर्ती के तुल्य अपनी भक्ति से और धर्मराज की भाँति वे धर्म के दूर-दूर तक प्रचार में सहायक हो रहे हैं। जिन सूत्रों और शास्त्रों का हमने अनुवाद किया है उन के लिए सम्राट् ने अपनी पवित्र लेखनी से एक भूमिका लिख देने का अनुग्रह किया है। उन के विषय में अधिकारियों को यह भी आदेश मिला कि वे इन ग्रन्थों का सब देशों में प्रचार करें। जिस समय इस आदेश पर पूरी तरह अमल होगा, हमारे पड़ोसी देशों में भी सब ग्रन्थ पहुँच जाँएगे। यद्यपि कल्प के अन्त होने के दिन निकट हैं, फिर भी धर्म का फैला हुआ प्रकाश अभी तक बड़ा मधुर और पूर्ण है। श्रावस्ती के जेतवन में जो धर्म का आविर्भाव हुआ था उस से यह प्रकाश बिल्कुल भिन्न नहीं है।

मैं नम्रता-पूर्वक आपको यह भी सूचित कर देना चाहता हूँ कि सिन्धु नद पार करते समय साथ लाए हुए धर्म-ग्रन्थों की एक गठरी उसमें गिर पड़ी थी। अब इस पत्र के साथ उनकी एक सूची नत्थी कर रहा हूँ। मेरी प्रार्थना है कि अवसर मिलते ही कृपया उन्हें भेज दीजिएगा। मेरी ओर से कुछ तुच्छ भेंट प्रेषित हैं। कृपया उन्हें स्वीकार करें। मार्ग इतना लम्बा है कि अधिक कुछ भेजना सम्भव ही नहीं है। कृपया इस से अवज्ञा न मानिएगा।

ह्यूआन्-चुआङ् का प्रणाम।"

---

[1] यहाँ भारतवर्ष की करारी गर्मी की ओर संकेत है।

[2] कोष का तात्पर्य वसुबन्धु के तीस अध्यायात्मक अभिधर्म कोषव्याख्या नामक ग्रन्थ (नन्जिओ का सूचीपत्र सं० १२६७) से है। इसका अनुवाद ६५१ ई० के पाँचवें महीने की १० तारीख को शुरू किया गया और सन् ६५४ के सातवें मास की २७ ता० को समाप्त हुआ। दूसरा ग्रन्थ संघभद्र विरचित 'न्यायानुसार शास्त्र' (नन्जिओ, सं० १२६५) है। इसका अनुवाद सन् ६५३ में पहले महीने की पहली तारीख को शुरू हुआ और सन् ६५४ में ७वें मास की १० ता० को समाप्त हुआ। यह पत्र सन् ६५४ के पाँचवें मास में लिखा गया था।

(३)

प्रज्ञादेव के नाम श्यूआन्-चुआङ का पत्र

"महान् थाङ् देश के भिक्षु श्यूआन्-चुआङ् महाबोधि विहार के धर्माचार्य, त्रिपिटकाचार्य, प्रज्ञादेव से सादर निवेदन करते हैं—बहुत समय व्यतीत हो गया। आपका कोई समाचार न मिला था, जिसके कारण मैं बहुत चिन्तित था। इस चिन्ता को दूर करने का कोई साधन भी न था। जब भिक्षु धर्म-वर्धन (फा-चाङ्) आप का पत्र ले कर पहुँचा तो मुझे मालूम हुआ कि आप सब कुशल से है। इस से मुझे बडा हर्ष हुआ। आप के भेजे हुए वस्त्र युगल और स्तोत्र-सग्रह मुझे मिल गए। यह ऐसा बडा सम्मान आप ने किया, जिस के मैं योग्य नही था। इसके कारण मैं लज्जित हूँ। ऋतु धीरे-धीरे गर्म हो रही है। मैं नही जानता कि कुछ दिन बाद यह कितनी गर्म हो जायगी और आप सब किस प्रकार रहेगे।

आप ने सैकडो सम्प्रदायो के शास्त्रो की धज्जियाँ उडा दी है और नवाग बुद्ध शासन के सूत्र ग्रन्थो की सत्यता प्रमाणित कर दी है। सत्यधर्म की ध्वजा को आपने ऊँचा उठा दिया है और सब को लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता दी है। आपने विजय की दुन्दुभि बजा कर विपक्षियो को परास्त कर दिया है। आपने ज्ञान के एकच्छत्र अधिकार से सब राजाओ को भी चुनौती दे डाली है। सचमुच आप इसके कारण महान् आनन्द का अनुभव करते होगे।

मैं—श्यूआन्-चुआङ्—अबुध हूँ। इस समय बुढापा आ रहा है और मेरी शक्ति घट रही है। मैं आपके गुणो का स्मरण करता हूँ और आपकी कृपा के लिए मेरे मन में बहुत सम्मान है। फिर, इन विचारो से मुझे और भी खेद हो रहा है। जब मैं भारत मे था, मेरी आपसे कान्यकुब्ज की सभा मे भेट हुई। उस समय अनेक राजाओ और धर्मानुयायियो के सामने सिद्धान्तो का निश्चय करने के लिए मैंने आपसे शास्त्रार्थ किया[1]। एक पक्ष महायान का पोषण कर रहा था और दूसरा पक्ष हीनयान (अ-पूर्ण धर्म) का समर्थन। शास्त्रार्थ के समय कभी वातावरण बडा उग्र हो जाता था और कभी शान्त। मेरा उद्देश्य केवल युक्ति और तर्क को ग्रहण करना था, किसी प्रकार का पक्षपात दिखाना नही। इसी कारण हम दोनो एक दूसरे के विरुद्ध थे। जब वह सभा समाप्त हुई, हमारा विरोध भी उसी के साथ समाप्त हो गया। अब सन्देशहर के हाथ आपने अपना पत्र और क्षमाप्रार्थना भेजी है। आप उस बात को मन मे क्यो रख रहे है? आप अगाध विद्वान् है, आपकी शैली स्पष्ट है, आपका निश्चय दृढ है और आपका चरित्र उच्च है। अनवतप्त सरोवर में उठने वाली लहरो की भी तुलना आपकी प्रवृत्तियो से नही की जा सकती। मणि की स्वच्छता भी आपकी बराबरी नही कर सकती। आप अपने शिष्यो के लिए उज्ज्वल आदर्श है। मैं चाहता हूँ कि धर्म के व्याख्यान में आपने भी महायान का आश्रय लिया होता। जब युक्ति अविकल होती है तो उसको प्रकट करने वाले शब्द भी अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त कर लेते है। महायान से बढकर अन्य कुछ नही है। मुझे खेद है कि आपकी श्रद्धा उसमें गहरी न हो सकी। आप धौली गाय को छोडकर बकरी और हिरन को ले रहे है और मणि के स्थान पर स्फटिक से सन्तुष्ट है। आप तो स्वय प्रकाश और उदात्त गुणो के आगार है। फिर महायान की उपेक्षा कैसे कर रहे है? मिट्टी के घट की तरह आपका शरीर नश्वर और अल्पस्थायी है। कृपया सम्यक् दृष्टि निष्पन्न कीजिए जिससे मृत्यु से पहले पछताना न पडे।

यह सन्देशहर अब भारत को लौटेगा। मैं यह सम्मति आपके प्रति अपने प्रेम को प्रकट करने के लिए ही दे रहा हूँ। आपके उपहार के प्रति निजी कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए मैं भी एक तुच्छ भेंट भेज रहा हूँ। आपके लिए मेरे मन में जो गहरा सम्मान है, उसे यह व्यक्त नही कर सकता। आशा है कि आप मेरा भाव समझते है। वापिसी यात्रा मे सिन्धु पार करते समय धर्मग्रन्थो की एक गठरी नदी मे गिर गई थी। उनकी एक सूची इस पत्र के साथ भेजता हूँ। प्रार्थना है कि उन्हें भेजने की कृपा करे। भिक्षु श्यूआन्-चुआङ् का प्रणाम।"

शातिनिकेतन]

---

[1] श्यूआन्-चुआङ् ने जिस क्षमाप्रार्थना का सकेत किया है वह प्रज्ञादेव के पत्र में उल्लिखित 'सूत्रों और शास्त्रो का तुलनात्मक अध्ययन' इस ग्रन्थ में रही होगी। श्यूआन्-चुआङ् की कुछ युक्तियो का उत्तर देने के लिए ही स्पष्टत इस ग्रन्थ की रचना हुई थी।

बिरि ँहुधा गीतम्

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल एम्० ए०, पी०-एच० डी०

भारत जैसे विशाल देश के लिए विचारजगत् का एक ही अमृतसूत्र हो सकता था और उसे यहाँ के विचारशील विद्वानो ने तत्त्व-मन्थन के मार्ग पर चलते हुए आरम्भ में ही ढूँढ निकाला। वह सूत्र इस प्रकार है—

एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

(ऋग्वेद १।१६४।४६)

'एक सत् तत्त्व का मननशील विप्र लोग बहुत प्रकार से वर्णन करते है।'

इस निचोड पर जितना ही विचार किया जाय उतनी ही अधिक श्रद्धा इसके मूलद्रष्टा के प्रति मन में जागती है। सचमुच वह व्यक्ति अपने मन के अपरिमित औदार्य के कारण भारतीय दार्शनिको के भूत और भावी सघ का एकमात्र सघपति होने के योग्य था। भारतीय देश में दार्शनिक चिन्तन की जो बहुमुखी धाराएँ बही है, जिन्होने युगयुगान्तर में स्वच्छन्दता से देश के मानस-क्षेत्र को सीचा है, उनका पहला स्रोत 'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के 'बहुधा' पद में प्रस्फुटित हुआ था। हमारे राष्ट्रीय मानस-भवन का जो बहिर्द्वारतोरण है उसके उतरगे पर हमें यह मन्त्र लिखा हुआ दिखाई पडता है। मन्त्र का 'बहुधा' पद उसकी प्राणशक्ति का भडार है, जिसके कारण हमारे चिन्तन की हलचल सघर्ष के बीच में होकर भी अपनी प्रगति बनाये रख सकी। अपने ही बोझ से जब कभी उसका मार्ग अवरुद्ध या कुठित होने लगा है तभी उस अवरोध पर विजय पाकर 'बहुधा' पद के प्राणवन्त वेग ने उसे आगे बढाने का रास्ता दिया।

'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' यह विचार-सूत्र न केवल हमारे विस्तृत देश की आवश्यकता की पूर्ति करता है, किन्तु विचार के जगत् में हमारे मनीषी जितना ऊँचा उठ सके थे उसके भी मानदड को प्रकट करता है।

इस विशाल देश में अनेको प्रकार के जन, विविध भाषा, अनमिल विचार, नाना भाँति की रहन-सहन, अनमिल धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाजो के कारण परस्पर रगड खाते हुए एक साथ बसते रहे है। किन्तु जिस प्रकार हिमालय में गगा नदी अपने उदर में पडे हुए खड-पत्थरो की कोर छाँटकर उन्हे गोल गगलोढो में बदल देती है, उसी से मिलती-जुलती समन्वय की प्रक्रिया हमारे देश के इतिहास में भी पाई जाती है। न जाने कैसी-कैसी खड-जातियाँ यहाँ आकर बसी, कैसे-कैसे अक्खड विचार इस देश मे फैले, किन्तु इतिहास की दुर्धर्ष टक्करो ने सब की कोर छाँट कर उन्हें एक राष्ट्रीय सस्कृति के प्रवाह मे डाल दिया। उनकी आपसी रगड से विभिन्न विचार भी घुल-मिलकर एक होते गये—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गगा के घण्ट में पिसी हुई बालू, जिसके कणो में भेद की अपेक्षा साम्य अधिक है।

सौभाग्य से हमारे इतिहास के सुनहले उष काल में ही समन्वय और सहिष्णुता के भाव सूर्य-रश्मियो की तरह हमारे ज्ञानाकाश में भर गये। राष्ट्रीय जन की प्राकृतिक विभिन्नता की ओर सकेत करते हुए 'पृथिवी सूक्त' का ऋषि कहता है—

जन बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माण पृथिवी यथौकसम्

(अथर्व, १२।१।४५)

अर्थात् "भिन्न-भिन्न भाषा वाले, नाना धर्मों वाले जन को यह पृथिवी अपनी-अपनी जगह पर धारण कर रही है, और सब के लिए दुधार गाय की भाँति धन की सहस्रो धाराएँ बहा रही है।" हमारे राष्ट्रीय जन को प्रकृति की ओर से ही 'बहुधापन' मिला है। पर मानवी मस्तिष्क ने उन भौतिक भेदो के भीतर पैठकर उनमें पिरोई हुई भावमयी एकता

को ढूंढ निकाला। राष्ट्र-संवर्धन के मार्ग में मनुष्य की यह विजय ही सच्ची विजय है। इसी का हमारे नित्य जीवन के लिए वास्तविक मूल्य है। मौलिक एकता और समन्वय पर बल देने वाले विचार अनेक रूपों मे हमारे साहित्य और इतिहास में प्रकट होते रहे हैं। अथर्ववेद (९।१।१३) में कहा है—

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्या
पृथङ् नरो बहुधा मीमांसमानाः।

अर्थात्—"इस विश्व का निर्माण करने वाली जो प्राणधारा है, उसकी बहुत प्रकार की अलग-अलग मीमांसा विचारशील लोग करते हैं, पर उनमें विरोध या विप्रतिपत्ति नहीं है। कारण कि वे सब मन्तव्य विचारों के विकल्प मात्र हैं, मूलगत शक्ति या तत्त्व एक ही है।"

उत्तरकालीन दर्शन इसी भेद को समन्वय प्रदान करने के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्न करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे भेद के विभ्रम से खिन्न होकर एकता की वाणी बार-बार प्रत्येक युग में ऊँचे स्वर से पुकार उठती है। अनेक देवताओं के जंजाल में जब बुद्धि को कर्तव्याकर्तव्य की थाह न लगी तो किसी तत्त्वदर्शी ने उस युग का समन्वय-प्रधान संगीत इस प्रकार प्रकट किया—

'आकाश से गिरा हुआ जल जैसे समुद्र की ओर बह जाता है, उसी प्रकार चाहे जिस देवता को प्रणाम करो सब का पर्यवसान केशव की भक्ति में है"—

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति॥

अवश्य ही इस श्लोक का केशव पद निजी इष्ट देवों का समन्वय करने वाले उसी एक महान् देव के लिए है, जिनके लिए प्रारम्भ मे ही कहा गया था—एकमेवाद्वितीयम्। वह एक ही है, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ नहीं है। वही एक आत्मा वह सुपर्ण या पक्षी है जिसे विद्वान् (विप्र) कवियों ने नाना नामों से कहा है—

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

शैव और वैष्णवों के पारस्परिक बखेड़ों ने इतिहास को काफी क्षुब्ध किया, परन्तु उस मन्थन के बीच मे भी युग की वाणी ने प्रकट होकर पुकारा—

एकात्मने नमस्तुभ्यं हरये च हराय च

अथवा कालिदास के शब्दों में—

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।

(कुमार० ७।४४)

"सच्ची बात तो यह है कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक ही मूर्ति के तीन रूप हो गये हैं। इन सब में छोटे-बड़े की कल्पना निस्सार है।"

परन्तु समन्वय की यह प्रवृत्ति हिन्दू धर्म के सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं रही। बौद्ध और जैन धर्मों के प्रांगण में भी इस भाव ने अपना पूरा प्रभाव फैलाया। सर्वप्रथम तो हमारे इतिहास के स्वर्ण-युग के सबसे उत्कृष्ट और मेधावी विद्वान् महाकवि कालिदास ने ही युगवाणी के रूप में यह घोषणा की—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥

(रघु० १०।२६)

"जैसे गंगा जी के सभी प्रवाह समुद्र में जा मिलते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों में कहे हुए सिद्धि प्राप्त कराने वाले अनेक मार्ग आप में ही जा पहुँचते हैं।"

भिन्न-भिन्न आगमो के प्रति समन्वय और सहिष्णुता का भाव—यही तो सस्कृत युग अथवा विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी का सबसे महान् रचनात्मक भाव है, जिसने राष्ट्रीय सस्कृति के वैचित्र्य को एकता के साँचे में ढाला। जैन-दर्शन के परम उद्भट ऋषि श्री सिद्धसेन दिवाकर ने अपने 'वेदवादद्वात्रिंशिका (बत्तीसी)' नामक ग्रन्थ मे उपनिषदो के सरस ज्ञान के प्रति भरपूर आस्था प्रकट की है। विक्रम की अष्टम शताब्दी के दिग्गज विद्वान् श्री हरिभद्र सूरि ने, जिनके पाडित्य का लोहा आज तक माना जाता है, स्पष्ट और निश्चित शब्दो में अपने निष्पक्षपात और ऋजुभाव को व्यक्त किया है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष. कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्य परिग्रह।

"महावीर की वाणी के प्रति मेरा पक्षपात नही और न कपिल आदि दार्शनिक ऋषियो के प्रति मेरे मन में वैर-भाव है। मेरा तो यही कहना है कि जिसका वचन युक्ति-पूर्वक हो उसे ही स्वीकार करो।"

परन्तु इस भाव का सबसे ऊँचा शिखर तो श्री हेमचन्द्राचार्य में मिलता है। हेमचन्द्र मध्यकालीन साहित्यिक सस्कृति के चमकते हुए हीरे है। विक्रम की बारहवी शताब्दी में जैसी तेज आँख उनको प्राप्त हुई, वैसी अन्य किसी को नही। वस्तुत वे हिन्दी युग के आदि आचार्य है। उनकी 'देशी नाममाला' सस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त ठेठ देशी भाषा या हिन्दी के शब्दो का विलक्षण सग्रह-ग्रन्थ है। यह बडे हर्ष और सौभाग्य की बात है कि हेमचन्द्र इस प्रकार का एक देशी शब्दसग्रह हमारे लिए तैयार कर गये। हिन्दी के पूर्व युग अथवा भाषाओ के सन्धिकाल में रचे जाने के कारण उसका महत्त्व अत्यधिक है। विचार के क्षेत्र में भी एक प्रकार से हेमचन्द्र आगे आने वाले युग के ऋषि थे। हेमचन्द्र की समन्वय बुद्धि मे हिन्दी के आठ सौ वर्षो का रहस्य ढूँढा जा सकता है। प्रसिद्ध है कि महाराज कुमारपाल के साथ जिस समय हेमचन्द्र सोमनाथ के मन्दिर मे गये, उनके मुख से यह अमर उद्गार निकल पडा—

भवबीजाकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥[1]

"ससार रूपी बीज के अकुर को हरा करने वाले राग-द्वेष आदिक विकार, जिसके मिट चुके है, मेरा प्रणाम उसके लिए है, फिर वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव या तीर्थंकर, इनमें से कोई क्यो न हो।" इस प्रकार की उदात्त वाणी धन्य है। जिन हृदयो में इस प्रकार की उदारता प्रकट हो वे धन्य है। इस प्रकार की भावना राष्ट्र के लिए अमृत बरसाती है।

नई दिल्ली]

---

[1] ऊपर लिखे हुए श्री हरिभद्र सूरि और हेमचन्द्राचार्य के वचनो के लिए हम श्री साराभाई मणिलाल नवाब के ऋणी है।

दो महान संस्कृतियों का समन्वय

श्री शान्तिप्रसाद वर्मा एम्० ए०

मुसलमानो के सम्पर्क में आने के पहले हिन्दू-सभ्यता विकास के एक ऊँचे शिखर तक पहुँच चुकी थी। धर्म और सस्कृति, कला और विज्ञान, साहित्य और सदाचार, सभी मे उसने एक अभूतपूर्व महानता प्राप्त कर ली थी। उधर अरब में इस्लाम की स्थापना के साथ-ही-साथ एक ऐसी सभ्यता का जन्म हुआ जो अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षो में ही एक के वाद एक नई सभ्यता के सम्पर्क मे आती गई और धीरे-धीरे कई मृतप्राय सस्कृतियो को पुनर्जीवित करती हुई और स्वय अपने मे नये-नये तत्त्वो का समावेश करती हुई स्पेन के पश्चिम से चीन के दक्षिण तक फैल गई। हिन्दुस्तान की ज़मीन पर इन दो महान् सस्कृतियो का सम्पर्क मुस्लिम राज्य की स्थापना के वहुत पहले से प्रारम्भ हो चुका था। इस सम्पर्क का सूत्रपात दक्षिण भारत मे हुआ। दक्षिण भारत से अरब-वासियो के व्यापारिक सम्वन्ध शताब्दियो पहले से चले आ रहे थे। उनके मुस्लिम-धर्म स्वीकार कर लेने से इन सम्वन्धो में किसी प्रकार की रुकावट नही पडी। दक्षिण भारत के हिन्दू-निवासी उसी प्रेम और आदर से अरब वालो का स्वागत करते रहे, जैसा वह पहले किया करते थे। मुसलमानो के लिए स्थान-स्थान पर मस्जिदें वना दी गई।[1] मलावार के कई राजाओ ने इस्लाम धर्म की दीक्षा ले ली थी।[2] दक्षिण के प्राय सभी राज्यो में मुसलमान उच्च पदो पर नियुक्त किये जाते थे।[3] मलिक काफूर ने जव दक्षिणभारत पर आक्रमण किया तो वीर वल्लाल की जिस सेना ने उसका मुकाविला किया था उसमें वीस हज़ार मुसलमान भी थे।[4] खलीफा उमर ने वहुत पहले यह फतवा दे दिया था कि हिन्दुस्तान ऐसा देश नही है जिसे जीतने की आवश्यकता हो, क्योकि यहाँ के निवासी विनम्र और सहिष्णु माने जाते थे और यह विश्वास किया जाता था कि वे मुसलमानो के धार्मिक कृत्यो मे किसी प्रकार की रुकावट नही डालेंगे।[5]

आने वाली शताब्दियो मे जव मुसलमानो ने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया तो उनका उद्देश्य इस देश में इस्लाम-धर्म का प्रचार करने का नहीं था। वे या तो लूटमार के उद्देश्य से आये थे, या मध्य एशिया की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियो ने उन्हें मजवूर कर दिया था कि वे यहाँ आकर आश्रय खोजें। मुहम्मद गज़नी का स्पष्ट उद्देश्य हमारे मन्दिरो और तीर्थ-स्थानो में एकत्रित की गई धन-राशि को लूट ले जाने का था। उससे वह ग़ज़नी की समृद्धि को वढाना चाहता था और साथ ही अपनी विजय से प्राप्त प्रतिष्ठा को वह मध्य एशिया मे अपनी राजनैतिक स्थिति को मज़वूत वनाने मे लगाना चाहता था।[6] मोहम्मद ग़ोरी और उसके साथियो के सामने यह आकाक्षा भी

---

[1] मसूदी ने, जो दसवीं शताव्दी के प्रारम्भ में दक्षिण भारत में आया था, मलावार के एक ही नगर में दस हज़ार मुसलमानो को वसे हुए पाया। अवूदुलफ मुहाल्हिल इब्न सईद व मार्को पोलो ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है। इब्न वतूता ने चौदहवीं शताव्दी में समस्त मलावार-प्रदेश को मुसलमानो से भरा हुआ पाया। उसने स्थान-स्थान पर उनकी वस्तियाँ व मस्जिदो के होने का ज़िक्र किया है। —इलियट और डॉसन, पहला भाग

[2] लोगन · मलावार, १ला भाग, पृ० २४५

[3] सुन्दर पाडच के शासन-काल में तक़ीउद्दीन को मन्त्रित्व का भार सौंपा गया और कई पीढियों तक यह पद उसी के कुटुम्व में रहा। —इलियट और डॉसन, तीसरा भाग

[4] इब्न वतूता ने इस घटना का ज़िक्र किया है।

[5] विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए—
Tarachand Influence of Islam on Indian Culture

[6] Habib Mahmud of Ghazni

नहीं थी। मध्य एशिया में उनके लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। यहाँ की उस समय की राजनैतिक दुरवस्था का लाभ उठाकर वे लोग यहाँ बस रहना चाहते थे। इन विजेताओं में न तो इस्लाम को समझने की शक्ति थी, न उसे फैलाने का जोश। स्वभावतः ही उनके साथ इस्लाम जिस रूप में हिन्दुस्तान में आया, वह उसके उस रूप से बहुत भिन्न था, जो दक्षिण भारत के रहने वालों ने अरब व्यापारियों के विश्वास में देखा था। इस्लाम का यह रूप हज़रत मुहम्मद साहिब के शिक्षण और प्रारम्भिक खलीफाओं के जीवन से बिलकुल भिन्न था—दोनों के बीच कई शताब्दियों का अन्तर था—शताब्दियाँ जिन्होंने इस्लाम के इतिहास में कई उतार-चढ़ाव देखे थे, उमय्यद-काल की प्रचंडता और अब्बासी-काल का वैभव, मध्य ईरान की धार्मिक कट्टरता और बर्बर मंगोलों की पाशविक रक्त-पिपासा।

यही कारण था कि उत्तरी-भारत में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ एक साथ, बिना किसी व्यवधान के, बहुत निकट सम्पर्क में न आ सकीं। हिन्दू, राजनैतिक संगठन की कमी के कारण मुसलमानों की विजय के पथ में तो कोई बड़ी रुकावटें खड़ी नहीं कर सके, पर उनकी बर्बरता और धार्मिक असहिष्णुता से खीझ कर उन्होंने अपने धार्मिक और सामाजिक जीवन के चारों ओर एक मज़बूत क़िलेबन्दी कर ली। मुसलमान देश को जीत सकते थे, पर उसके निवासियों के सामाजिक जीवन में उनका प्रवेश बिलकुल निषिद्ध था। वह हमारे खान-पान और विवाह-सम्बन्धों से बहिष्कृत थे। यह पहला मौक़ा था जब हिन्दू-समाज ने अपने चारों ओर निषेध की इतनी मज़बूत दीवारें खड़ी कर ली थीं। इनके पहले सदा ही बाहर वालों के लिए उनके द्वार खुले रहा करते थे। दूसरी ओर भी यह पहला ही अवसर था जब मुसलमानों ने किसी देश पर विजय प्राप्त की थी, पर वे उसके सामाजिक जीवन से इस प्रकार अलहदा फेंक दिये गये थे। कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों ने, जो बहुत कम दिन टिक सकीं, सामाजिक असहयोग की इस भावना को मज़बूत बनाया। मुसलमान बहुत थोड़ी संख्या में इस देश में आये थे। थोड़े ही दिनों में वह आँधी की तरह चारों ओर फैल गये थे और महासागर में दूर-दूर फैले हुए द्वीपों के समान उन्होंने अपने छोटे-छोटे राज्य खड़े कर लिये थे। जनता के संगठित तिरस्कार के सामने उनके लिए भी यह ज़रूरी हो गया कि वे मुस्लिम-समाज के सभी तत्त्वों और विवाह-सम्बन्धों से उन्हें बहिष्कृत करें। यह पहला मौका था जब हिन्दू-समाज ने अपने चारों ओर सामाजिक बहिष्कार की इतनी मज़बूत शृंखलाएँ गढ़ना आरम्भ की। इसके पहले सदा ही बाहर वालों के लिए उनके द्वार खुले रहा करते थे। दूसरी ओर भी, यह पहला ही अवसर था, जब मुसलमान किसी देश में घुस तो पड़े, पर उसके सामाजिक जीवन में लेश-मात्र भी प्रभाव न डाल सके। कुछ ऐतिहासिक परिस्थितियों ने इस सामाजिक भावना को दृढ़ बनाया। मुसलमान आँधी की तरह समस्त उत्तरी हिन्दुस्तान में फैल तो गये थे, पर संख्या की दृष्टि असहयोग की से उनकी स्थिति ऐसी ही थी जैसे कि एक महासागर में फैले हुए छोटे-छोटे द्वीपों की होती है। इसलिए हिन्दुओं के सामाजिक बहिष्कार के सामने, उनके लिए भी यह ज़रूरी हुआ कि वह अपना संगठन मज़बूत बनाएँ। इसी कारण हम मुस्लिम-समाज के कई तत्त्वों, शासक वर्ग, धार्मिक नेताओं और मुस्लिम मतानुयायियों को एक दूसरे के बहुत निकट सम्पर्क में आते हुए पाते हैं।

पर यह स्थिति अप्राकृतिक थी और अधिक दिनों तक टिक नहीं सकती थी। दो जीवित, जाग्रत, उन्नतिशील समाज इतना नज़दीक रहकर एक दूसरे के सम्पर्क से अपने को बचा नहीं सकते थे। इसी कारण हम देखते हैं कि ईल्तु-तमिश ने मुसलमानों के आन्तरिक संगठन की जिस नीति की नींव डाली थी और जिसके आधार पर ही वह उत्तरी भारत में मुस्लिम-साम्राज्य की स्थापना कर सका था, वह उसकी मृत्यु के बाद कुछ दिनों भी टिक न सकी। बलबन ने उसकी उपेक्षा की, अलाउद्दीन खिलजी ने धर्म और राजनीति के भेद को अधिक स्पष्ट किया और मुहम्मद तुग़लक ने एक विरोधी नीति को विकास की चरम-सीमा तक पहुँचा दिया। इस संकुचित नीति के टूट जाने का कारण स्पष्ट था। मुसलमान-विजेताओं के साथ-साथ, उनके पीछे-पीछे, कभी उनके आश्रय में और कभी स्वाधीन रूप से, मुसलमान धर्म-प्रचारकों की एक अनवरत शृंखला भी इस देश में दाखिल होती रही। आज जो हम अपने देश की आबादी का चतुर्थांश इस्लाम के अनुयायियों को पाते हैं, उसका कारण इन प्रचारकों का प्रयत्न है, न कि मुसलमान शासकों की

जबर्दस्ती ।* दसवी शताब्दी मे मसूर अल हल्लाज, ग्यारहवी मे बावा रीहान और उनके दर्वेशो का दल, शेख इस्माइल बुखारी और बारहवी में फरीदुद्दीन अत्तार और तजकिरत-उल-औलिया तेरहवी मे ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती और शेख जलालुद्दीन तबरेजी, सैयद जलालुद्दीन बुखारी और बावा फरीद, चौदहवी मे अब्दुल करीम अल्जीली—और इनके साथ और असख्य छोटे-मोटे प्रचारक—इन सबका एक ताँता-सा बन गया। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व और आकर्षक प्रचार ने असख्य हिन्दुओ को अपनी ओर आकर्षित किया। दोनो समाजो का आपसी सम्पर्क दृढ से दृढ़तर होता गया। व्यवधान की प्राचीरे एक-एक करके ढह चली।

सामाजिक सहयोग

यहाँ हमें इस बात को भी भुला नही देना है कि जो मुसलमान बाहर से इस देश में आये उनमे वे लोग नही थे, जिन्होने पैगम्बर मे अथवा प्रारम्भिक खलीफाओ के नेतृत्व मे इस्लाम का झडा दूर-दूर देशो मे गाडा था और जिनकी आत्मा एक महान् आदर्श से प्रज्वलित हो उठी थी, बल्कि वे लोग थे जिनके सामने कोई बडा आदर्श नही था, जो भिन्न-भिन्न फिरको में बँटे हुए थे और जिन्हें लूट-मार की भावना से प्रेरित कुछ स्वार्थी नेताओ ने भिन्न-भिन्न देशो से बटोर लिया था। विजय का मद उनमे था, पर वह कब तक टिक पाता ? धार्मिक प्रचारक केवल धर्म का सन्देश लाये थे। सामाजिक सगठन की विभिन्नता को सुरक्षित रखने पर उनका आग्रह नहीं था। उनके प्रभाव में जिन लाखो व्यक्तियो ने इस्लाम की दीक्षा ली, उन्हे उस समाज-व्यवस्था की तनिक भी जानकारी नहीं थी, जिसका निर्माण मुसलमानो ने हिन्दुस्तान के बाहर के देशो मे किया था। ऐसी परिस्थिति मे वही हुआ जो कि स्वाभाविक था। मुसलमान धर्म के द्वारा इस देश की सनातन परम्परा से अलहदा हो गये, पर उन्होंने न तो इस देश की समाज-व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट करने की चेष्टा की और न उसके मुकाबिले मे किसी अन्य समाज-व्यवस्था का निर्माण किया। हिन्दू-सस्थाएँ कायम रहीं और धीरे-धीरे मुसलमान उन्हे स्वीकृत करते गये। इस प्रकार ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की छत्रछाया मे एक नये समाज का निर्माण हुआ, जिसमे विभिन्न मतावलम्बी तो थे, पर जो एक ही समाज-व्यवस्था को मानते थे। शहरो मे सगठन की दिशा कुछ भिन्न थी, पर वहाँ भी हिन्दू और मुसलमान वाणिज्य और व्यापार के डोरो द्वारा एक दूसरे से बँधते गये। शासन-व्यवस्था मे भी हिन्दू पदाधिकारियो की सख्या बढने लगी। चारो ओर सहयोग, साहचर्य और सौहार्द्र की भावना ने जोर पकडा। जो बर्बर विजेता के रूप मे आये थे, वे हमारे सामाजिक जीवन के एक अग बन गये। केवल एक चीज व्यवधान बनकर उनके बीच में खडी रह गई थी। वह था उनका धार्मिक मतभेद, पर धर्म धीरे-धीरे व्यक्ति के विश्वास और आचार की वस्तु बन गया। हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के धार्मिक प्रचार और व्यवहार के प्रति सहिष्णु बन गये और सामाजिक धरातल पर उन्होने एक दूसरे के धार्मिक कृत्यो मे भी उदारता से भाग लेना आरम्भ कर दिया।

धार्मिक सहिष्णुता

सामाजिक सहयोग के साथ-साथ धार्मिक सहिष्णुता की भावना भी प्रबल होती चली। ऊपर से देखने से तो यह जान पडता है कि मूर्त्ति-पूजक हिन्दू-धर्म और मूर्त्ति-भजक इस्लाम मे कही तादात्म्य है ही नही, पर कई शताब्दियो पहले से बौद्ध धर्म और हिन्दू वेदान्त के प्रचारक मुस्लिम देशो में फैल गये थे और सूफी-मत के विकास पर उनका प्रभाव स्पष्ट ही पड रहा था, यद्यपि यह भी सच है कि सूफी सिद्धान्तो की बुनियाद हमे कुरान-शरीफ की कुछ आयतो में ही मिल जाती है। सूफी-मत के बाद के सिद्धान्तो पर हिन्दू-दर्शन का प्रभाव पडा। निर्वाण, साधना, भोग आदि ने ही फना, तरीका, मराक़बा का रूप ले लिया। दूसरी ओर इस्लाम के सिद्धान्तो का बहुत बडा प्रभाव हिन्दू-दर्शन पर भी पडा। सुधार की नई धारा का प्रारम्भ दक्षिण-भारत से ही हुआ था, जहाँ हिन्दू-दर्शन पहली बार इस्लाम

---

*T W. Arnold Preaching of Islam.

के सिद्धान्तों के सम्पर्क में आया था। दक्षिण-भारत में ही बौद्ध और जैन धर्मो के रूखे अध्यात्म की प्रतिक्रिया के रूप में शैव और वैष्णव पन्थों का प्रारम्भ हुआ। इनका आग्रह आरम्भ मे ही जीवन के उपासना-पक्ष पर था। उपासना के आधार के लिए सगुण-ब्रह्म की आवश्यकता पडी। यह कहना कठिन है कि सगुण-ब्रह्म की कल्पना के पीछे इस्लाम के नये सिद्धान्तो का प्रभाव कितना था, पर शकराचार्य के अध्यात्म-दर्शन पर इस्लाम का प्रभाव, जो उनकी जन्म-भूमि के आसपास पूरे जोर पर था, बिलकुल भी नही पडा, यह मानना भी आसान नही है। मध्य-काल का हिन्दू-दर्शन ज्यो-ज्यो विकास पाता गया, इस्लाम का प्रभाव उस पर अधिक स्पष्ट होता गया। शकराचार्य के अद्वैतवाद ने धीरे-धीरे रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत का रूप लिया, और तब वह वल्लभाचार्य के द्वैतवाद मे विकसित हुआ। द्वैतवाद की मनोरम कल्पना के पीछे से, सूफी-मत के अधिक सीधे सम्पर्क के परिणाम-स्वरूप, भक्ति की धारा का फूट निकलना तो सहज-स्वाभाविक ही था।

उत्तरी-भारत में तेरहवी, चौदहवी और पन्द्रहवी शताब्दियो मे जो सिद्धान्त फैले उन पर तो मुस्लिम प्रभाव बहुत सीधा ही पड रहा था। रामानन्द ने विष्णु की कल्पना को और भी सहज-सुलभ बनाकर राम का रूप दिया। उन्होंने भक्ति की दीक्षा चारो वर्णो को दी। कबीर ने तो रीति-रिवाज और जात-पाँत को उठा कर एक ओर रख दिया और राम और रहीम की एकता पर पूरा जोर दिया। उनके सिद्धान्तो पर तो मौलाना रूमी, शेख सादी और दूसरे सूफी कवियो और सन्तो का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। नानक और दादू की साखियो मे हिन्दू और मुसलमान धर्मो के सामजस्य के इस प्रयत्न को हम और भी बढा हुआ पाते है। नानक तो सूफी-रग में इतने रँग गये थे कि यह कहना कठिन हो जाता है कि हिन्दू-धर्म का उन पर कितना प्रभाव था। वैदिक और पौराणिक सिद्धान्तो की उन्हे कम ही जानकारी थी। दादू का भी यही हाल था। दो-तीन शताब्दियों तक देश भक्ति की उत्ताल तरगो मे एक नई प्रेरणा से स्पन्दित-विभोरित होकर डूबता-उतराता रहा। हिन्दुओ मे भक्ति-आन्दोलन अपने पूरे जोर पर था और मुसलमानो में सूफियो की नई-नई जमातें, चिश्ती, सुहरावर्दी, नक्शबन्दी आदि 'प्रेम की पीर' का प्रचार कर रही थीं। भावना के इस व्यापक प्रदेश मे हिन्दू और मुसलमानो का एक दूसरे के समीप से समीपतर आते जाना स्वाभाविक ही था। उसमे भी नीचे स्तर पर, जहाँ साधारण जनता के आचार-विचार, रीति-रिवाज, पीर-पूजा और मानता-मनौती का सम्बन्ध था, हिन्दू और मुसलमानो मे भेद करना असम्भव ही था। एक ही पीर या साधु की परस्तिश-गाह पर हिन्दू और मुसलमान सभी इकट्ठा होते थे।

राजनैतिक समझौता

हृदय की इस एकता के आधार पर राजनैतिक समझौते की भावना का विकास पाना भी सहज और स्वाभाविक ही था। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि भारतीय इतिहास के समस्त मुस्लिम-काल मे, केवल दो मुसलमान-शासक, फीरोज तुग़लक़ और औरगज़ेब, ऐसे हुए है जिन्होने अपने शासन-काल मे धार्मिक असहिष्णुता की नीति का पालन किया, और वह भी थोडे वर्षो के लिए और विशेष राजनैतिक परिस्थितियो के कारण। अन्य शासको ने, और इन दोनो शासको ने भी, अपने शासन-काल के शेष भाग मे धार्मिक मामलो में हस्तक्षेप न करने की नीति का ही पालन किया। कुछ ने इस्लाम का पक्ष लिया, पर हिन्दू-धर्म के साथ दुर्भावना नही रक्खी। अकबर के बहुत पहले कश्मीर का सुल्तान जैनुल-आबिदीन अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति के लिए प्रसिद्ध था। उसने जज़िया हटा दिया और सस्कृत के कई ग्रन्थो का फारसी में अनुवाद किया। बगाल में अलाउद्दीन हुसैन शाह की भी वही नीति रही। शेरशाह हिन्दू जनता में वक्फ बाँटा करता था। सम्राट् अकबर के शासन-काल में यह प्रवृत्ति अपनी चरमसीमा तक जा पहुँची। मुग़ल सम्राटो ने समस्त शासन का सगठन जिन सिद्धान्तो पर किया वे भारतीय पहले थे, सैरेसेनिक, ईरानी या मुस्लिम बाद मे। सस्थाओ मे थोडा हेर-फेर हुआ, पर मूलत वे वही रही जो सनातन काल से चली आ रही थी। धार्मिक सहिष्णुता की नीति ने भारतवर्ष के मुस्लिम शासन मे धर्म का स्थान ले लिया था।

धार्मिक सहिष्णुता की इस नीति का ही यह परिणाम था कि मुस्लिम-शासन इस देश में इतना अधिक लोकप्रिय हो गया कि मुगल-साम्राज्य के पतन के डेढ सौ बरस के बाद भी, १८५७ के ग़दर में, मुग़ल-वश के ही किसी उत्तराधिकारी को समस्त देश का शासक बनाने का प्रयत्न किया गया। बीच में भी लगातार इस प्रकार के प्रयत्न चलते रहे। उत्तर-भारत में १७७२ से १७९४ तक महादाजी सिन्धिया का आधिपत्य रहा, पर अपने शासन के लिए नैतिक बल प्राप्त कराने की दृष्टि ने उसके लिए यह आवश्यक हुआ कि वह मुग़ल-वश के शाह आलम को अग्रेजो की कैद से छुडा कर दिल्ली की गद्दी पर बिठाए और जब गुलाम क़ादिर के द्वारा शाह आलम की आँखें फोड दी गई तब भी तो महादाजी उसे शाहनशाहे आलम मानता रहा। सच तो यह है कि हिन्दू और मुसलमानो के नौ सौ वर्षो के सम्पर्क मे यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र मे काफ़ी सघर्ष रहा, पर उस सघर्ष ने कभी, धार्मिक अथवा सास्कृतिक आधार लेकर, साम्प्रदायिक सघर्ष का रूप नहीं लिया। चौदहवी और पन्द्रहवी शताब्दियो मे मध्य-भारत में, गुजरात, मेवाड और मालवा मे लगातार सघर्ष रहा, पर इसमे गुजरात के सुल्तान प्राय उतनी ही बार मेवाड के राणा के पक्ष मे, और मालवा के सुल्तान के खिलाफ लडे, जितनी बार वह मालवा के सुल्तान के पक्ष मे, मेवाड के राणा के ख़िलाफ़, लडे। बाबर और हुमायूँ ने, पठानो के खिलाफ, राजपूतो का साथ दिया। मुग़ल-साम्राज्य के पतन के बाद भी निज़ाम मराठा-साम्राज्य के अन्तर्गत था, न कि मैसूर के सुल्तान के साथ और राजपूतो की सहानुभूति मराठो के साथ कम और रुहेलो के साथ ज्यादा रही। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि बीसवी शताब्दी के पहले हिन्दू और मुसलमान कभी एक दूसरे के खिलाफ धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक मतभेद के आधार पर नही लडे थे।

सास्कृतिक समन्वय

राजनैतिक एकता का सहारा लेकर सास्कृतिक समन्वय की स्थापना हुई। इस प्रवृत्ति का आरम्भ तो एक सामान्य भाषा की उत्पत्ति के साथ ही हो चुका था। हिन्दी ब्रजभाषा और फारसी के सम्मिश्रण का परिणाम थी। उसका शब्दकोष, वाक्य-विन्यास, व्याकरण, सभी दोनो भाषाओ की सामान्य देन है। हिन्दू और मुसलमान दोनो ने इस भाषा को धनी बनाया। अमीर खुसरो हिन्दी भी उतनी ही धाराप्रवाह लिख सकता था जितना फारसी। अकबर ने उसे प्रोत्साहन दिया। खानखाना, रसखान और जायसी, हिन्दी-साहित्य के गौरव है। जायसी तो मध्य-कालीन हिंदी के तीन सर्वश्रेष्ठ लेखको में है और हृदय की सूक्ष्मतम भावनाओ की अभिव्यक्ति में कई स्थलो पर तुलसी और सूर से भी बाजी मार ले गये हैं। अन्य प्रान्तीय भाषाओ, मराठी, बँगला, गुजराती, सिन्धी आदि पर भी मुसलमानो का प्रभाव उतना ही पूर्ण पडा। मराठी तो बहमनी-वश के सरक्षण में ही साहित्यिकता की सतह तक उठ सकी। बँगला का विकास भी मुस्लिम-शासन की स्थापना के परिणाम-स्वरूप ही हुआ। दिनेशचन्द्र सेन का मत है कि "यदि हिन्दू शासक स्वाधीन बने रहते तो (सस्कृत के प्रति उनका अधिक ध्यान होने के कारण) बँगला को शाही दरबार तक पहुँचने का मौका कभी नहीं मिलता।"

सास्कृतिक समन्वय की यह प्रवृत्ति वास्तुकला और चित्र-कला के क्षेत्रो में अपनी चरम-सीमा तक पहुँची है। मुस्लिम वास्तुकला का सर्वोच्च विकास इसी देश में हुआ। काहिरा की मस्जिदो में भी फ़ैज पाशा के शब्दो में "कला की सम्पूर्ण मनोरमता नही है। सामंजस्य, अभिव्यक्ति, सजावट, सभी मे एक ऐसी अपूर्णता है, जो अधिकाश उत्तरी आलोचको का ध्यान बरबस अपनी ओर खीचती है।" ईरान की मुस्लिम कला में भी हम यही बात—भव्य सजावट और वैज्ञानिक कौशल का अभाव—पाते है। ताजमहल हिन्दुस्तान में मुस्लिम वास्तुकला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है, परन्तु वह ससार की अन्य इस्लामी इमारतो से बिलकुल भिन्न है। उसके निर्माण मे हिन्दू शिल्प-शास्त्रो के सिद्धान्तो का अधिक पालन किया गया है। बीच मे एक बडा गुम्बद और उसके आसपास चार छोटे-छोटे गुम्बद देखकर पचरत्न की कल्पना का स्मरण हो आता है। गुम्बदो की जडो में कमल की खुली हुई पखडियाँ है जो मानो गुम्बद को धारण किये हुए हैं। शिखर के समीप कमल की उल्टी पखडियाँ हैं। शिखर के ऊपर त्रिशूल है। हैवल ने
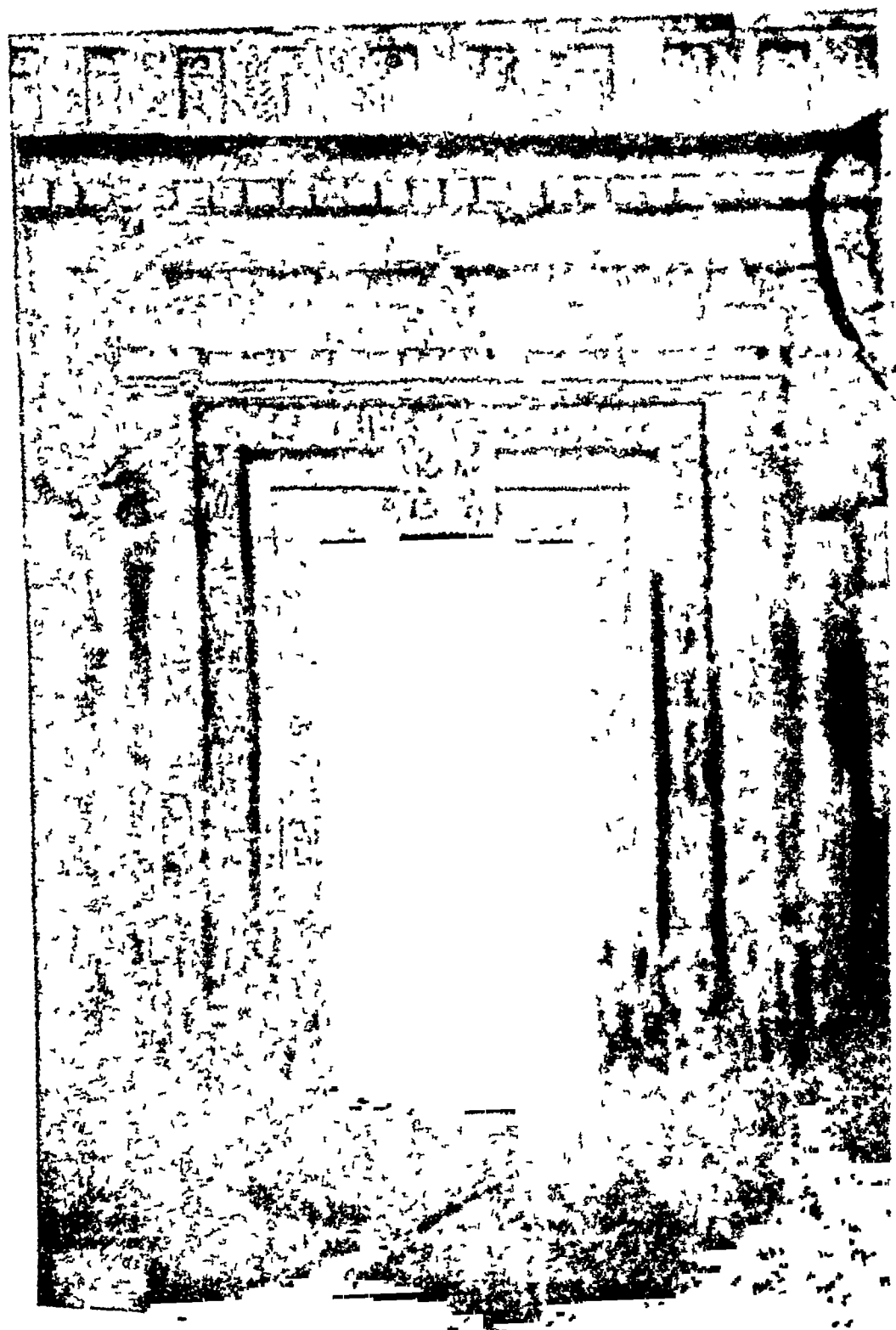
विष्णुमंदिर का प्रवेश-द्वार
(देवगढ़)

[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

ठीक ही लिखा है कि सैंटपाल का गिरजा और वेस्टमिन्स्टर एवे अंग्रेज़ी कला के उतने सच्चे नमूने नही है जितना ताज हिन्दुस्तानी कला का। लेकिन हैवल के इस मत से मै सहमत नही हूँ कि हिन्दुस्तान में मुस्लिम वास्तुकला इस कारण ही महान् हो सकी कि उसका विकास उन हिन्दू कारीगरो के हाथो हुआ जो हिन्दू-सस्कृति मे डूबे हुए थे। इस देश में आने के पहले ही मुसलमान इस क्षेत्र मे बहुत महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर चुके थे। मुस्लिम काल की भारतीय वास्तु-कला के पीछे इस्लामी प्रेरणा भी उतनी ही प्रबल है जितना हिन्दू प्रभाव। यह मुस्लिम प्रेरणा का ही परिणाम था कि उनके शासनकाल में वास्तुकला का इतना विकास हो सका। सर जॉन मार्शल का मत है कि पुरानी दिल्ली की कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद और ताज के पवित्र और भव्य मकबरे की कल्पना मुस्लिम प्रभाव के बिना नहीं की जा सकती। भारत की मुस्लिम-कला की महानता इसी मे है कि वह दो महान् सस्कृतियो के सम्मिश्रण का परिणाम है।

चित्रकला के क्षेत्र में भी हम यही बात पाते है। मुगल चित्रकारो के सामने एक ओर तो अजन्ता की पद्धति थी, दूसरी ओर समरकन्द और हिरात, इस्पहान और बग़दाद के चित्रकारो की कृतियाँ थीं। दोनो के समन्वय से मुग़ल-कला का जन्म हुआ। अजन्ता की कला मे एक विचित्र जीवन-शक्ति थी। समरकन्द और हिरात की कला में समन्वय, सन्तुलन और सामजस्य की भावना प्रमुख थी। दोनो के मिश्रण में जहाँ एक ओर दोनों की मूल-प्रेरणाओ को कुछ क्षति पहुँची, वहाँ रग का रूप और रेखा की सवेदनशीलता निखर उठी।* शाहजहाँ के प्रमुख चित्रकारो में हमें एक ओर तो कल्याणदास, अनूप चतर और मनोहर के नाम मिलते है और दूसरी ओर मुहम्मद नादिर समरकन्दी मीर हाशिम और मुहम्मद फक़ीरुल्ला खाँ के। हिन्दू और मुसलमान कलाकारो ने मिलकर मुगल-चित्रकला को जन्म दिया था। डॉ० कुमारस्वामी और कुछ अन्य लेखको ने मुग़ल और राजपूत कलाओ में कुछ मूलभूत भेद बताने की चेष्टा की है, पर गहराई मे देखा जाये तो राजपूत-कला, एक विभिन्न वातावरण मे, मुग़ल-कला के सिद्धान्तो के प्रयोग का ही उदाहरण है।

सत्रहवी शताब्दी मतभेद का प्रारभ

हिन्दू और मुस्लिम सस्कृतियो मे सहयोग और समन्वय की जो प्रवृत्ति शताब्दियो की सीमाओ को लाँघती हुई दृढ़तर होती जा रही थी, सत्रहवीं शताब्दी मे उसमे एक गहरी ठेस पहुँची। एक ओर तो कबीर, दादू और दूसरे सन्तों की वाणी द्वारा रूढ़िप्रियता और कट्टरता पर जो आक्रमण किया जा रहा था और दूसरी ओर भक्ति के आवेग में जो उच्छृङ्खलता फैलती जा रही थी, उसका प्रभाव सामाजिक सगठन पर अच्छा नही पड रहा था। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप समाज की मर्यादा पर ज़ोर देने वाले विचारक हमारे सामने आये। महाराष्ट्र के सन्तो का ज़ोर समाज की मर्यादाओं को तोड फेंकने पर नही था, परन्तु उसमें रहते हुए सुधार करते रहने पर था। तुलसीदास और उनका रामचरितमानस तो सामाजिक उच्छृङ्खलता की प्रतिक्रिया के मानो प्रतीक ही है। धर्म का आधार लेकर समाज में सुधार करने की जो प्रवृत्ति बढती जा रही थी, उसका राजनैतिक स्तर पर आ जाना सहज-स्वाभाविक इसलिए था कि मुस्लिम-शासन उन उदार प्रवृत्तियो के साथ, जिनका विरोध किया जा रहा था, इतना अधिक सम्बद्ध हो गया था कि उन्हें एक दूसरे से अलग नही किया जा सकता था। इसी कारण मराठो और बुन्देलो, राजपूतो और सिखों में जो नई धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थी, वे प्रबल होते ही मुगल-साम्राज्य से जा टकराई।

हिन्दू समाज में उत्तरोत्तर बढती हुई इन प्रवृत्तियो ने मुगल-साम्राज्य को एक अजीब उलझन में डाल दिया। अबतक उसे हिन्दुओ का पूरा सहयोग मिल रहा था, पर अब वे उससे न केवल कुछ खिंच से चले, अपितु उन्होने अपने स्वतन्त्र राज्यो की स्थापना करना आरम्भ किया। इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि मुग़ल-शासन में मुसलमानो का एक ऐसा दल उठ खडा हुआ जिसने उसे कट्टर मुसलमानो की सस्था बनाने का प्रयत्न किया। इस विचार-धारा का आरम्भ

---

*P Brown Indian Painting

तो जहाँगीर के शासन-काल में ही हो चुका था, पर शाहजहाँ के कमजोर शासन मे उसे अपना सगठन करने का अवसर मिल गया। शाहजहाँ के जीवन के अन्तिम वर्षों में उसके योग्य पुत्र औरगज़ेव ने इस दल का नेतृत्व अपने हाथो में लिया। औरगज़ेव कट्टर मुसलमान तो था ही, शासन के अनुभव और योग्यता मे भी अपने सव भाइयो से अधिक वढा-चढा था। गद्दी पर वैठने के वाद कुछ वर्षों तक औरगज़ेव ने हिन्दू स्वत्वो का विरोध न करते हुए इसलाम के सिद्धान्तो पर शासन का पुर्नानर्माण करने की चेष्टा की, पर विचारो का वेग और उसके ज़ोर मे घटनाओ का चक्र, इतनी तेज़ी से चल रहा था कि औरगज़ेव इस कठिन सिद्धान्त का अधिक दिनो तक पालन न कर सका। ज्यो-ज्यो मराठो और सिखो का सगठित विरोध अधिक तीव्र होता गया, औरगज़ेव को विवश होकर हिन्दू-विरोधी नीति का पालन करना पडा। जज़िया फिर से लगा दिया गया। हिन्दू-मन्दिर तोडे जाने लगे। परिस्थितियो ने मुस्लिम-शासन को फिर एक वार उसी स्थान पर लाकर खडा कर दिया था, जहाँ से उसका आरम्भ हुआ था। उसने फिर एक कट्टर मुसलमानो की सस्था का रूप ले लिया था।

इस सम्वन्ध में कई वातें घ्यान में रखना ज़रूरी है। मुस्लिम-शासन को भारतीय जीवन-धारा से अलहदा कर लेने का यह प्रयत्न वहुत थोडे मुसलमानो तक और केवल राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित था। वह एक गलत और अस्वाभाविक प्रयत्न था, इसमें तो शक ही नही। इसी कारण हम यह देखते है कि १७०७ ई० मे औरगज़ेव की मृत्यु होने के साथ ही इस प्रयत्न का भी अन्त हो गया। भारतीय जीवन की दो प्रमुख धाराएँ हिन्दू और मुसलमान, फिर एक दूसरे के साथ-साथ वह चली। औरगज़ेव के उत्तराधिकारियो के लिए हिन्दू-जनता का समर्थन प्राप्त कर लेना ज़रूरी हो गया। शासन को फिर उदारता की नीति वरतनी पडी। पर इस वीच हिन्दू और मुसलमान समाजो की विभिन्नता वहुत स्पष्ट हो गई थी। हिन्दी और उर्दू के अलहदा हो जाने से इस प्रवृत्ति को और भी सहारा मिला। इसी वीच कुछ कारण ऐसे हुए जिन के परिणाम-स्वरूप मुस्लिम-समाज पतन की ओर वढ चला। वाहर के मुस्लिम-जगत का सम्पर्क विल्कुल समाप्त हो चुका था। ईरान के सफवी राजवश के पतन के वाद ईरानी सभ्यता भी पतन की ओर वढ रही थी। इस कारण उस से प्रेरणा पाना भी सम्भव नही रह गया था। निम्न श्रेणियो के हिन्दुओ का अधिक सख्या में मुसलमान हो जाने का भी अच्छा असर नही पड रहा था। मुसलमानो में गरीवी और शिक्षा का अभाव दोनो वढ रहे थे। राजनैतिक सत्ता हाथो से जा रही थी। समव है कि मुग़ल साम्राज्य यदि अपने प्राचीन वल और वैभव को प्राप्त कर पाता तो दोनो सस्कृतियों के समन्वय की धारा एक वार फिर अपने प्रवल वेग से वह निकलती, पर राजनैतिक परिस्थितियाँ प्रतिकूल थी। जो तार एक वार टूटा वह फिर जुड न सका। पर यह सोचना कि धक्का वहुत गहरा अथवा साघातिक लगा, इतिहास की सचाई को ठुकराना है। समाज के अन्तराल में शताब्दियो में जिस समन्वय की जड जम चुकी थी, वह आसानी से उखाड कर फेंकी नही जा सकती थी। डा० वेनी प्रसाद के शब्दों में, "निकट भूतकाल के अनुभव भुलाए नही जा सके, हिन्दू-मुस्लिम-सस्कृति का जो ढाँचा पाँच शताब्दियो के ज्ञात अथवा अज्ञात सहयोग प्रयत्नो द्वारा वनाया गया था वह न सिर्फ क़ायम ही रहा, और मजवूत वना। वह कडी-से-कडी परीक्षा में खरा उतर चुका था और देश की पूँजी का अग वन चुका था।"*

अग्रेज़ी शासन का प्रभाव

पतन और अनिश्चय की उस सक्रमण-घडी मे अग्रेज़ इस देश में आए। वे अपने साथ एक नई सभ्यता लाए थे, हिन्दू-समाज जो पतनोन्मुख तो था, पर मुस्लिम-समाज जितना गिरा हुआ नही था, पश्चिम के नए विचारो के सम्पर्क से पुनर्जीवित हो उठा। इस काल के वगाल के हिन्दू युवको में हम पश्चिम के कला और विज्ञान, सभ्यता और सस्कृति से अधिक-से-अधिक सीख लेने की प्रवृत्ति को अपने पूरे वेग पर पाते है। ईसाई मिशनरियो द्वारा खोले गए स्कूल और छात्रा-

* Beni Prasad · Hindu Muslim Questions

वासों, कम्पनी के नौकरो के लिए खोले गए फोर्ट विलियम कॉलेज व शेलवर्न, डेरोज़ियो आदि विदेशी शिक्षको के सपर्कों के परिणाम-स्वरूप हिन्दू-समाज में जीवन और जाग्रति की एक नई चेतना लहर उठी। अग्रेज़ी तहज़ीव के प्रति मुसलमानो का दृष्टि-कोण बिल्कुल भिन्न था। उनमें कट्टरता की मात्रा बढी हुई थी। सैकडो वर्ष तक इस देश पर शासन करने के मद को वे भूले नही थे। उनके लिए गुलामी के नए तौक को स्वीकार कर लेना उतना आसान नही था। राज्य के बडे-बडे ओहदे उनके हाथ से चले ही गए थे। जो कला-कौशल उनके हाथ में थे, ईस्ट-इडिया कम्पनी की भारतीय उद्योग-धघो को खत्म कर देने की नीति से उन पर बडा धक्का लगा। अग्रेज़ी शासक भी उनके प्रति सशक ही थे। इन सब बातो का परिणाम यह हुआ कि काफी लम्बे अर्से तक मुसलमान अग्रेज़ी-सभ्यता से विमुख और अग्रेज़ी-शासन से खिचे रहे। इसी कारण हम देखते हैं कि एक ओर जहाँ हिन्दू-समाज मे ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज आदि धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियो ने जन्म लिया, जो पश्चिम की सभ्यता के अच्छे गुण ले लेने के पक्ष में थी, मुस्लिम-समाज में फरैज़ी और वहाबी आदि आन्दोलन, जो मूलत अग्रेज़ी शासन के खिलाफ थे, फैले। मुसलमानो का अग्रेज़ी-शासन के प्रति क्या रुख था, इसका अच्छा परिचय हमें मिर्ज़ा अबूतालिब की 'अग्रेज़ी अहद में हिन्दुस्तानी तमद्दुन की तारीख' में मिलता है। मुसलिम समाज में नई प्रवृत्तियो का सूत्रपात, हिन्दू-समाज के मुक़ाबिले में, बहुत देर से हुआ।

नवयुग और प्राचीन का पुनर्निर्माण

नवीन जीवन की जो चेतना भारतीय समाज मे, चाहे वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान, व्यापक होती जा रही थी, उसके दो पक्ष थे, जिन्हें कभी हम एक दूसरे से मिलते हुए, कभी साथ-साथ विकसित होते हुए और कभी विरोध में पाते हैं। आधुनिक भारत का नया जीवन कुछ तो पश्चिम के प्रभाव में विकसित हुआ है, कुछ उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप। धार्मिक विचारो में, साहित्य में, चित्रकला में, सभी जगह एक विचार-धारा ऐसी पाते है जो पश्चिम के रग में डूबी हुई है और दूसरी जो भारतीय परम्परा का सीधा विकास है। राम मोहन पर, उपनिषदो में उनका दृढ विश्वास होते हुए भी, पश्चिमी विचारो का गहरा प्रभाव स्पष्ट था। दूसरी ओर राधाकान्त देव और राम कोमल सेन कट्टर हिन्दू-सिद्धान्तो में विश्वास रखते थे। प्रेमचन्द ने आज की समस्याओ का विश्लेषण आज के ढग से किया है। जय शकर 'प्रसाद' की आँखों में प्राचीन के स्वप्न नाचा करते थे। बम्बई के चित्रकार पश्चिम से प्रेरणा प्राप्त करते है, बगाल की चित्रकला अजन्ता की भीतो से प्रेरणा प्राप्त करती है, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में, नवीनता का खुले हाथो स्वागत करने वाली और प्राचीनता के पुनर्निर्माण में व्यस्त ये दोनो प्रवृत्तियाँ एक साथ पाई जाती है, यद्यपि यह कहना गलत नही होगा कि हमारी राष्ट्रीयता की मुख्य आधार-भित्ति आज भी आधुनिकता की नीव पर उतनी स्थापित नहीं है, जितनी प्राचीनता के स्तम्भो पर।

हिन्दू-समाज में जिन अनेक धार्मिक और सामाजिक सुधार-प्रवृत्तियो ने जन्म लिया, उनके पीछे प्राचीनता के पुनर्निर्माण की यह भावना स्पष्ट ही है। राम मोहन राय द्वारा १८२८ ई० में स्थापित किए जानेवाले ब्रह्म-समाज में हम इस भावना को पाते हैं। दयानन्द सरस्वती द्वारा १८७५ ई० मे प्रस्थापित आर्य-समाज का तो वह मूल-आधार ही थी। आर्य-समाज वेदो को ब्रह्म-वाक्य मानकर चला था। स्वामी दयानन्द ने स्मृतियो और पुराणो को उस हद तक अमान्य ठहराया जहाँ उनमें वेदो का विरोध पाया जाता था। आर्य-समाज ने तो समस्त देश को एक बार आर्य-संस्कृति के झडे के तले ला खडा करने का महान् आयोजन किया था। उसमें से सभी विदेशी तत्वो को निकाल फेंकने का उनका निश्चय था। आर्य-समाज हिन्दुस्तान मे पश्चिमी संस्कृति के सघातक प्रभाव को हटाना तो चाहता ही था, वह उसे एक हज़ार बरस के गहरे मुसलिम प्रभाव से भी आज़ाद करा लेना चाहता था। ऑल्कॉट की थियोसिफिकल सोसाइटी ने इस भावना को और भी पुष्ट किया। उसकी दृष्टि में हर वस्तु और हर विचार जिसका विकास, इस देश में हुआ था, शुद्ध वैज्ञानिक और चिरन्तन सत्य था। यही भावना नए वेदान्त का समर्थन करने वाली संस्थाओ द्वारा एक ओर से और स नातन धर्म महामण्डल आदि रूढिवादी संस्थाओ द्वारा दूसरी ओर से, दृढ बनाई जाने लगी। सब जगह

प्राचीनता की ओर लौटने की पुकार थी—बीच के अँधेरे युग को चीरते हुए प्राचीनता के स्वप्नो को आत्मसात् कर लेने की ललक।

मुस्लिम-समाज मे भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति ज़ोर पर थी। इस्लाम में भी एक विभिन्न वातावरण के प्रभाव और एक विभिन्न नेतृत्व में इसी प्रकार के प्रतिक्रियावादी आन्दोलन उठ खडे हुए। इसका आधार भी प्राचीन की ओर लौटने—कुरान, पैगम्बर और हदीस को स्वीकार करने—पर था। इन 'कुरान की ओर लौटो' आन्दोलनो में, दिल्ली के शाह अब्दुल अज़ीज़ ने इस्लाम को उन अधविश्वासो और रूढियो से मुक्त करने का प्रयत्न किया जो उसने हिन्दू-समाज से ली थी और प्राचीन इस्लाम के उन सिद्धान्तो का प्रचार करने की चेष्टा की जो पैगम्बर द्वारा निर्धारित किए गए थे। बरेली के सैयद अहमद ने हिन्दुस्तान को 'दारुल हर्ब' करार दिया, जहाँ कि मुसलमानो को 'जिहाद' (पृथक धर्म-युद्ध) करते रहना आवश्यक था। इस प्रवृत्ति का नाम, 'तरीकए मोहम्मदिया' अथवा मुहम्मद के तरीके की ओर लौटना था। जौनपुर के शाह करामत अली इतने उग्र विचारो के नही थे, पर उन्होने भी असख्य मुसलमानो को शुद्ध इस्लामी जीवन की ओर लौटने में बडी सहायता पहुँचाई। फरीदपुर के, हाजी शरीयतुल्ला ने फरैदी-आन्दोलन को जन्म दिया, जो अर्द्ध-धार्मिक और अर्द्ध राजनैतिक था। उनके पुत्र दूधू मियाँ के नेतृत्व मे यह आन्दोलन बहुत प्रबल हो गया था। अहले-हदीस और मिर्ज़ा गुलाम अहमद कादियानी के अनुयायियो में भी यही प्रवृत्ति काम कर रही थी।

प्राचीन के पुर्ननिर्माण की यह प्रवृत्ति प्रत्येक देश के नवयुग का एक मुख्य अग है। यूरुप में भी पन्द्रहवी शताब्दी में नए जीवन की जिस चेतना ने अपनी उत्ताल तरगो के प्रबल आघातो से मध्य-काल के ध्वस-चिन्हो को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला उसके पीछे भी ईसा के पहिले की यूनानी सभ्यता के जीर्णोद्धार का प्रयत्न काम कर रहा था। हिन्दुस्तान मे भी इस प्रवृत्ति की उपस्थिति स्वाभाविक ही थी। जब कोई राष्ट्र निराशा के गढे में गिरा होता है, जब वर्तमान से उसका विश्वास उठ गया होता है तब प्राचीन महानता की स्मृति ही उसे भविष्य की नई आशाओ और नए स्वप्नो को जाग्रत करने में सहायक होती है। यह सच है कि ऐसी स्थिति मे कल्पना कभी-कभी इतनी प्रबल हो जाती है कि ऐतिहासिक सत्य उसके तूफानी सत्य पर नि सहाय-सा डूबने-उतराने लगता है। दूर के तो बादल भी सुहावने लगते है, विशेषकर उस समय जब उसके पीछे से डूबते हुए सूरज की किरणें फूट निकलती है। हिन्दू और मुसलमान दोनो समाजो के लिए तो प्राचीन मे विश्वास रखने का यथेष्ट कारण भी था। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में हिन्दू और मुसलमान दोनो समाजो पर नवयुग की चेतना का प्रभाव दो विभिन्न रूपो में पडा। हिन्दुओ की दृष्टि उस प्राचीन सस्कृति पर पडी जिसका विकास गगा और जमुना के किनारे, आर्य-ऋषियो द्वारा उन शताब्दियो में हुआ था जब भारतवर्ष मुस्लिम सपर्क से बिल्कुल अछूता था। दूसरी ओर मुसलमानो की दृष्टि उनकी अपनी प्राचीन सभ्यता की ओर गई, जिसका विकास अरब के मरुस्थल में, पैगम्बर और उनके साथी खलीफाओ द्वारा हुआ था, और जो अपनी चरम सीमा का स्पर्श, और उसे पार कर चुकी थी, हिन्दुस्तान के सपर्क मे आने के शताब्दियो पहिले। वे दोनो भूल गए—जैसे किसी दूर की वस्तु को देखने की तल्लीनता और तन्मयता में कभी-कभी पास की वस्तु को भूल जाते है—कि उन दोनो ने इस देश के सैकडो वर्षों के सामान्य जीवन में और साथ में प्राप्त किए गए सुख और दु ख के सहस्र-सहस्र अनुभवो मे एक महान् सामान्य सभ्यता का निर्माण किया था, सामान्य सामाजिक सस्थाओ और धर्म-सिद्धान्तो और कला और साहित्य की सामान्य पृष्ठ-भूमि पर जिसके लिए वे दोनो उतना ही गौरव अनुभव कर सकते थे, जितना किसी अन्य सभ्यता के सम्बन्ध में।

मेरठ]

कुछ जैन अनुश्रुतियां और पुरातत्त्व

श्री मोतीचन्द्र एम्० ए०, पी-एच० डी० (लदन)

भारतीय इतिहास के विद्यार्थियो को ऐतिहासिक अनुश्रुतियो का महत्त्व भली भाँति विदित है। ब्राह्मण, वौद्ध और जैन अनुश्रुतियो से इतिहास के ऐसे धुंधले पहलुओ पर भी प्रकाश पडता है, जिनका पता भी पुरातत्त्व की खुदाइयो से अभी तक नही चला है। अशोक के पूर्व और वाद भी गुप्त काल तक पौराणिक अनुश्रुतियाँ हमें भिन्न-भिन्न कुलो के राजाओ के नाम तथा उनके सम्वन्ध की और भी जानकारी की वातें वताती हैं। ई० की चौथी शताव्दी के वाद से लेकर हमे पुरातत्त्व की तरह-तरह की सामग्रियाँ इतिहास निर्माण के लिए मिलती हैं फिर भी रूखे इतिहास की कठोरता में सजीवता लाने के लिए हमे पुराणो तथा ऐतिहासिक काव्यो में वर्णित प्रासगिक गाथाओ का सहारा भी लेना पडता है। पुरातत्त्व ही एक ऐसी विद्या है जिसके सहारे हम भारतवर्ष के रीति-रिवाज, रहन-सहन, व्यापार तथा भारतीय जीवन के और पहलुओ का भी क्रमवद्ध इतिहास निर्माण कर सकते है, पर दुख के साथ कहना पडता है कि सिन्ध और पजाव की प्रागैतिहासिक खुदाई को छोडकर, वैज्ञानिक अन्वेषण की ओर भारतीय पुरातत्त्व ने अभी नाम-मात्र के लिए ही कदम उठाया है। ऐसी अवस्था में भी लाचार होकर हमें साहित्य की सहायता से ही समाज के इतिहास का ढाँचा खडा करना पडता है, यह ढाँचा चाहे सही हो या गलत, क्योकि अभी तक हम असदिग्ध रूप से अपने साहित्य के अमररत्नो का भी काल ठीक-ठीक निर्णय नही कर सके है।

ऐतिहासिक अनुश्रुतियो की खोज में पुराणो, काव्यो और नाटको की काफी छान-वीन की जा चुकी है। वौद्ध-साहित्य के त्रिपिटक, अट्टकथाओ, महावस और दीघवस तथा सस्कृत वौद्ध साहित्य की और भी वहुत सी कथाओ से भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है। क्या ही अच्छा होता कि हम जैन-साहित्य के वारे में भी यही वात कह सकते! कुछ विदेशी विद्वानो ने जिनमें वेवर, याकोवी, लॉयमान तथा शुर्वरिंग मुख्य है जैन-साहित्य का सर्वांगीण अध्ययन करने का प्रयत्न किया है, लेकिन जो कुछ भी काम अवतक हुआ है वह क्षेत्र की व्यापकता देखते हुए नही-सा है। विदेशी और भारतीय विद्वानो की कृपा से हम जैन-दर्शन और धर्म की रूप-रेखा से अवगत हो गये है, पर जैन-साहित्य में जो भारत के सास्कृतिक इतिहास का मसाला भरा पडा है उसकी ओर विरलो ही का ध्यान गया है। अगर हम ध्यान से देखे तो इस उदासीनता का कारण अच्छी तरह सम्पादित जैन-ग्रन्थो का अभाव है। न तो जैन आगमो में टिप्पणियाँ ही देख पडती है, न प्रस्तावनाएँ। अनुक्रमणिकाओ का तो सर्वथा अभाव रहता है। सम्प्रदाय विशेष के ग्रन्थ होने से सव को इनके मिलने मे भी वडी कठिनाई होती है, यहाँ तक कि वडे-वडे विश्वविद्यालयो के पुस्तकालयो में भी जैन-अग या छेद-सूत्र वडी कठिनता से ही प्राप्त होते है। इन कठिनाइयो के साथ-साथ भाषा का भी प्रश्न है। महाराष्ट्री प्राकृत जो जैन-ग्रन्थो की भाषा है अक्सर लोगो के समझ में नही आती और वहुत से स्थल ऐसे आते है जो विशेष अध्ययन के विना समझ ही में नही आते। इन सव कठिनाइयो को ध्यान में रखते हुए विद्वानो ने जैन-शास्त्रो को जवतक उनके उपादेय सस्करण न निकल चुकें अलग ही छोड दिया है। लेकिन वास्तव में ऐसा करना नही चाहिए। अशुद्ध टीकाओ, चूर्णियो और छेद-सूत्रो में भी हमे ऐसे मार्के की सामग्रियाँ मिलती है जो और कही उपलब्ध नही है। इन अनुश्रुतियो का महत्त्व, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, इसलिए और भी वढ जाता है कि वे पुरातत्त्व की वहुत सी खोजो पर प्रकाश डालकर उनकी ऐतिहासिक नीव को और भी मजवूत वनाती है।

यहाँ यह भी प्रश्न उठता है कि ऐतिहासिक अनुश्रुतियो और पुरातत्त्व की खोजो का पारस्परिक सम्वन्ध क्या है? पुरातत्त्व वैज्ञानिक आश्रयो पर अवलम्वित है और पुरातत्त्व का विद्यार्थी तवतक किसी सिद्धान्त पर नही पहुँचता जवतक वह खुदाई के प्रत्येक स्तर से निकली हुई वस्तुओ का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन न कर ले। अपने सिद्धान्तो

को और अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिए वह एक जगह से मिली सामग्रियो को ठीक उसी स्तर पर दूसरी जगहो से मिली सामग्रियो से तुलना करके तब किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँचता है। इसके विपरीत अनुश्रुतियाँ सैकडो पुश्तो से जबानी चली आती हैं और पेश्तर इसके कि वे लिख ली जावें, मौलिक आदान-प्रदान के कारण उनमे बहुत से फेर-फार और व्यर्थ की बातो का समावेश हो जाता है, जिनसे उनकी सचाई में काफी सन्देह की जगह रह जाती है। इन सब बातो से यह स्वाभाविक ही है कि पुरातत्त्व की वैज्ञानिक पद्धति मौखिक अनुश्रुतियो को सन्देह की दृष्टि से देखे और उनकी सत्यता को तभी माने जब खुदाइयो से या अभिलेखो से भी उनकी पुष्टि होती हो। विद्वानो ने पुरातत्त्व की अवहेलना और 'साहित्यिक पुरातत्त्व' पर विश्वास की काफ़ी ज़ोरदार समालोचना की है। लेकिन इस विवाद से यह न समझ लेना चाहिए कि अनुश्रुतियो में कुछ तत्त्व ही नही है। ठोस ऐतिहासिक सामग्रियो के अभाव मे केवल अनुश्रुतियाँ ही कुछ जटिल प्रश्नो को सुलझाने में समर्थ हो सकती है। लेकिन अनुश्रुतियो का मूल्य समझते हुए भी यह बात आवश्यक है कि उनका प्रयोग विज्ञान की तराजू पर तौल कर हो। अगर पुरातत्त्व से अनुश्रुतियो का सम्बन्ध है तो दोनो के सामजस्य से ही एक विशेष निर्णय पर पहुँचना चाहिए। अनुश्रुतियो के अध्ययन के लिए यह भी आवश्यक है कि एक ही तरह की भिन्न-भिन्न अनुश्रुतियो को पढकर उनकी जड तक पहुँचा जाये। ऐसा करने से स्वय ही विदित होने लगेगा कि कौन सी बातें पुरानी और असल है और कौन सी बाद में जोड दी गई है। जैन-शास्त्र की थोडी सी अनुश्रुतियो का अध्ययन करते हुए हमने इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खा है कि पुरातत्त्व से उन पर क्या प्रकाश पडता है। इस छान-बीन से हमें पता चला कि अनुश्रुतियो में किस तरह एक सत्य की रेखा निहित रहती है और किस तरह धीरे-धीरे कपोलकल्पनाएँ उसके चारो ओर इकट्ठी होकर सत्य को ढक देने की कोशिश करती रहती हैं। पुरातत्त्व के सहारे से यह सत्य पुन निखर उठता है। नीचे के पृष्ठो मे पुरातत्त्व के प्रकाश में कुछ जैन अनुश्रुतियो की जाँच-पडताल की गई है और यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार अनुश्रुतियाँ और पुरातत्त्व एक दूसरे के सहारे से इतिहास-निर्माण में हाथ बँटाते हैं।

(१)

जिन्हें उत्तर-भारत की बडी नदियो से परिचय है उन्हें यह भी मालूम होगा कि अनवरत वर्षा से इन नदियो में कैसे प्रलयकारी पूर आ सकते है। गरमी में जो नदियाँ सूखकर केवल नाला बन जाती है वे ही नदियाँ घनघोर बरसात के बाद बड़ी गरज-तरज के साथ उफनती हुई बस्तियो और खेतो को बहाने के लिए तैयार दिखलाई पडती हैं। हमारे होश मे ही ऐसी बहुत सी बाढे आ चुकी हैं जिनसे धन-जन का काफी नुकसान हुआ था। प्राचीन भारत में भी बहुत सी ऐसी बाढें आया करती थी, जिनमे से बहुत बडो की याद अनुश्रुतियो में बच गई है। प्राय अनुश्रुतियो में इन बाढ़ों का कारण ऋषि-मुनियो का श्राप या राजा का अत्याचार माना जाता है। इस प्रकार की एक बाढ का वर्णन, जिसने पाटलिपुत्र को तहस-नहस कर दिया 'तित्थोगाली पइण्णय' मे दिया हुआ है।[1] इस अनुश्रुति का सम्बन्ध पाटलिपुत्र की खुदाई से समझाने के लिए मुनि कल्याणविजय जी द्वारा तित्थोगाली के कुछ अवतरणो का अनुवाद नीचे दिया जाता है.

कल्की का जब जन्म होगा तब मथुरा में राम और कृष्ण के मन्दिर गिरेंगे और विष्णु के उत्थान के दिन (कार्तिक सुदी ११) वहाँ जन-सहारक घटना होगी।

इस जगत्-प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर में ही 'चतुर्मुख' नाम का राजा होगा। वह इतना अभिमानी होगा कि दूसरे राजाओ को तृण समान गिनेगा। नगरचर्या में निकला हुआ वह नन्दो के पाँच स्तूपो को देखेगा और उनके सम्बन्ध

---

[1] मुनि कल्याणविजय, वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना, पृ० ३७–४०, मूल, ४१–४५ जालोर सं० १९८७।

में पूछ-ताछ करेगा, तब उसे उत्तर में कहा जायेगा कि यहाँ पर बल, रूप, धन और यश से समृद्ध नन्द राजा बहुत समय तक राज कर गया है, उसी के बनवाये हुए ये स्तूप है। इनमें उसने सुवर्ण गाडा है, जिसे कोई दूसरा राजा ग्रहण नही कर सकता। यह सुन कल्की उन स्तूपो को खुदवायेगा और उनमें का तमाम सुवर्ण ग्रहण कर लेगा। इस द्रव्य-प्राप्ति से उसका लालच बढेगा और द्रव्य प्राप्ति की आशा से वह सारे नगर को खुदवा देगा। तब जमीन मे से एक पत्थर की गौ निकलेगी, जो 'लोणदेवी' कहलाएगी।

लोणदेवी आम रास्ते मे खडी रहेगी और भिक्षा निमित्त आते-जाते साधुओ को मार गिरावेगी, जिससे उनके भिक्षापात्र टूट जायँगे तथा हाथ-पैर और शिर भी फूटेंगे और उनका नगर में चलना-फिरना मुश्किल हो जायगा।

तब महत्तर (साधुओ के मुखिया) कहेंगे—श्रमणो, यह अनागत दोष की—जिसे भगवान् वर्द्धमानस्वामी ने अपने ज्ञान से पहले ही देखा था—अग्र सूचना है। साधुओ ! यह गौ वास्तव में अपनी हितचिन्तिका है। भावी सकट की सूचना करती है। इस वास्ते चलिए, जल्दी हम दूसरे देशो मे चले जायँ !

गौ के उपसर्ग से जिन्होने जिन-वचन सत्य होने की सम्भावना की वे पाटलिपुत्र को छोडकर अन्य देश को चले गये। पर बहुतेरे नही भी गये।

गगा-शोण के उपद्रव विषयक जिन-वचन को जिन्होने सुना वे वहाँ से अन्य देश को चले गये। पर बहुतेरे नही भी गये।

"भिक्षा यथेच्छ मिल रही है, फिर हमें भागने की क्या जरूरत है ?" यह कहते हुए कई साधू वहाँ से नही गये।

दूर गये भी पूर्वभविक कर्मो के तो निकट ही है। नियमित काल में फलने वाले कर्मों से कौन दूर भाग सकता है ? मनुष्य समझता है, मै भाग जाऊँ ताकि शान्ति प्राप्त हो, पर उसे मालूम नही कि उसके भी पहले कर्म वहाँ पहुँच कर उसकी राह देखते है।

वह दुर्मुख और अधर्म्यमुख राजा चतुर्मुख (कल्की) साधुओ को इकट्ठा करके उनसे कर माँगेगा और न देने पर श्रवण-सघ तथा अन्य मत के साधुओ को क़ैद करेगा। तब जो सोना-चाँदी आदि परिग्रह रखने वाले साधु होगे वे सब 'कर' देकर छूटेंगे। कल्की उन पाखडियो का जबरन् वेष छिनवा लेगा।

लोभग्रस्त होकर वह साधुओ को भी तग करेगा। तब साधुओ का मुखिया कहेगा—'हे राजन् ! हम अकिंचन हैं, हमारे पास क्या चीज है जो तुझे कर-स्वरूप दी जाय ?' इस पर भी कल्की उन्हें नही छोडेगा और श्रमणसघ कई दिनो तक वैसा ही रोका हुआ रहेगा। तब नगर-देवता आकर कहेगा—'अरे निर्दय राजन् ! तू श्रमणसघ को हैरान करके क्यो मरने की जल्दी तैयारी करता है ? जरा सबर कर। तेरी इस अनीति का आखिरी परिणाम तैयार है।' नगरदेवता की इस धमकी से कल्की घबरा जायगा और आर्द्र वस्त्र पहिन कर श्रमणसघ के पैरो में गिरकर कहेगा—'हे भगवन् ! कोप देख लिया। अब प्रसाद चाहता हूँ !' इस प्रकार कल्की का उत्पात मिट जाने पर भी अधिकतर साधु वहाँ रहना नही चाहेंगे, क्योकि उन्हें मालूम हो जायगा कि यहाँ पर निरन्तर घोर वृष्टि से जल प्रलय होने वाला है।

तब वहाँ नगर की नाश की सूचना करने वाले दिव्य, आन्तरिक्ष और भौम उत्पात शुरू होगे कि जिनसे साधु-साध्वियो को पीडा होगी। इन उत्पातो से और अतिशायी ज्ञान से यह जानकर कि—'सावत्सरिक पारणा के दिन भयकर उपद्रव होने वाला है ?'—साधु वहाँ से विहार कर चले जायँगे। पर उपकरण, मकानो और श्रावको का प्रतिबन्ध रखने वाले तथा भविष्य पर भरोसा रखने वाले साधु वहाँ से जा नही सकेंगे।

तब सत्रह रात-दिन तक निरन्तर वृष्टि होगी, जिससे गगा और शोण में बाढ आयेंगी। गगा की बाढ और शोण के दुर्धर वेग से यह रमणीय पाटलिपुत्र नगर चारो ओर से बह जायगा। साधु जो धीर होगे वे आलोचना प्राय-श्चित्त करते हुए और जो श्रावक तथा वसति के मोह में फँसे हुए होगे वे सकरुण दृष्टि से देखते हुए मकानो के साथ

ही गगा के प्रवाह मे वह जायँगे। जल मे वहते हुए वे कहेंगे—'हे स्वामि सनत्कुमार ! तू श्रमणसघ का शरण हो, यह वैयावृत्य करने का समय है।' इसी प्रकार साध्वियाँ भी सनत्कुमार की सहायता माँगती हुई मकानो के साथ वह जायँगी। इनमें कोई-कोई आचार्य और साधु-साध्वियाँ फलक आदि के सहारे तैरते हुए गगा के दूसरे तट पर उतर जायँगे। यही दशा नगरवासियो की भी होगी। जिनको नाव-फलक आदि की मदद मिलेगी वे वच जायँगे, वाकी मर जायँगे। राजा का खज़ाना पाडिवत आचार्य और कल्की राजा आदि किसी तरह वचेंगे, पर अधिकतर वह जायँगे। वहुत कम मनुष्य ही इस प्रलय से वचने पायेंगे।

इस प्रकार पाटलिपुत्र के वह जाने पर धन और कीर्ति का लोभी कल्की दूसरा नगर वसायेगा और वाग-वगीचे लगवा कर उसे देवनगर-तुल्य रमणीय वना देगा। फिर वहाँ देव-मन्दिर वनेंगे और साधुओ का विहार शुरू होगा। अनुकूल वृष्टि होगी और अनाज वगैरह इतना उपजेगा कि उसे खरीदने वाला नही मिलेगा। इस प्रकार पचास वर्ष सुभिक्ष से प्रजा अमन-चैन में रहेगी।

इसके वाद फिर कल्की उत्पात मचायेगा। पाखडियो के वेप छिनवा लेगा और श्रमणो पर अत्याचार करेगा। उस समय कल्पव्यवहारधारी तपस्वी युग प्रधान पाडिवत और दूसरे साधु दु ख की निवृत्ति के लिए छट्ठ अट्ठम का तप करेंगे। तव कुछ समय के वाद नगरदेवता कल्की से कहेगा—'अरे निर्दयी ! तू श्रमणसघ को तकलीफ देकर क्यो जल्दी मरने की तैयारी कर रहा है ? जरा सवर कर, तेरे पापो का घडा भर गया है।' नगरदेवता की इस धमकी की कुछ भी परवाह न करता हुआ वह साधुओ से भिक्षा का षष्ठाश वसूल करने के लिए उन्हें वाडे में कैद करेगा। साधुगण सहायतार्थ इन्द्र का ध्यान करेंगे। तव अम्वा और यक्ष कल्की को चेतायेंगे, पर वह किसी की भी नही सुनेगा। आखिर में सघ के कायोत्सर्ग ध्यान के प्रभाव से इन्द्र का आसन कँपेगा और वह ज्ञान से सघ का उपसर्ग देखकर जल्दी वहाँ आयेगा। धर्म की वृद्धिवाला और अधर्म का विरोधी वह दक्षिण लोकपति (इन्द्र) जिन-प्रवचन के विरोधी कल्की का तत्काल नाश करेगा।

उग्रकर्मा कल्की उग्र नीति से राज करके छियासी वर्ष की उमर में निर्वाण से दो हज़ार वर्ष वीतने पर इन्द्र के हाथ से मृत्यु पायेगा। तव इन्द्र कल्की के पुत्र दत्त को शिक्षा दे श्रमणसघ की पूजा करके अपने स्थान चला जायेगा।

इस अनुश्रुति की अच्छी तरह से जाँच-पडताल के वाद हम निम्नलिखित तथ्यो पर पहुँचते हैं। (१) पाटलिपुत्र में चतुर्मुख अथवा कल्की नाम का एक लालची राजा राज करता था। गडे धन की खोज में उसने नन्दो के पाँच स्तूप उखडवा डाले और नगर का एक भाग खुदवा डाला। जैन तथा जैनेतर साधुओ पर वह कर इत्यादि लगा कर वडा अत्याचार करता था। उसके अत्याचारो से तग आकर अधिकतर साधु देश छोड़कर चले गये। (२) उसके राजकाल मे एक वार सत्रह रात और दिन वरावर पानी वरसता रहा। गगा और सोन में भयकर वाढ़ आ गई, जिसके फलस्वरूप पाटलिपुत्र वह गया, केवल थोडे से लोग तख्तो और नावो के सहारे अपनी जान वचा सके। (३) राजा कल्की पाडिवत् आचार्य के साथ वच गया और वाद मे उसने एक सुन्दर नगर वसाया। कुछ दिनो तक कल्की चुप वैठा रहा, पर वाद में उसके अत्याचारो का वेग और भी वढा। जैन साधुओ को, जिनमें पाडिवत् आचार्य भी थे, उसने षष्टमाश कर वसूल करने के लिए वडे-वडे कष्ट दिये। (४) इन्द्र ने, जिसे यहाँ दक्षिणाधिपति कहा है, साधुओ की रक्षा के लिए छियासी वर्ष उमर वाले कल्की को नष्ट कर दिया। (५) चतुर्मुख के वाद उसका पुत्र दत्त गद्दी पर वैठा।

पहली वात पर विचार करने से यह भास होता है कि चतुर्मुख या कल्की नाम का एक अत्याचारी राजा तो था, परन्तु उसकी ऐतिहासिकता कितनी है, यह कहना कठिन है। जैन-सिद्धान्त के अनुसार कल्की और उपकल्की दुसमा में वरावर होते आये हैं, हज़ार वरस मे कल्की होता है और पाँच सौ वरस में उपकल्की (आवेग, मेसीयास ग्लाउवे इन इण्डियन उण्ड ईरान, पृ० १४०)। लेकिन इन कल्कियो और उपकल्कियो का सम्वन्ध ऐतिहासिक न होकर कलियुग

की कल्पना से सम्वन्ध रखता है। फिर भी जैन-साहित्य से यह पता लगता है कि वास्तव में कोई ऐसा अत्याचारी राजा था, जो अपनी करनी से कल्की वन गया। मुनि कल्यानविजय जी ने (वही, ३७-३८) चतुर्मुख कल्की के वारे में तमाम उद्धरण एकत्रित कर दिये हैं, जो यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

(१) तित्थोगाली—शक से १३२३ (वीरनिर्वाण १९२८) व्यतीत होगे तव कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) मे दुष्ट वुद्धि कल्की का जन्म होगा।

(२) काल सप्ततिका प्रकरण—वीरनिर्वाण से १९१२ वर्ष ५ मास वीतने पर पाटलिपुत्र नगर में चडाल के कुल मे चैत्र की अष्टमी के दिन श्रमणो का विरोधी जन्मेगा, जिसके तीन नाम होगे—१ कल्की, २ रुद्र और ३ चतुर्मुख।

(२) द्वीपमालाकल्प—'वीरनिर्वाण से १९१४ वर्ष व्यतीत होगे तव पाटलिपुत्र में म्लेच्छ कुल मे यश की स्त्री यशोदा की कुक्षि से चैत्र शु० ८ की रात मे कल्की का जन्म होगा।'

(४) दीपमालाकल्प (उपाध्याय क्षमाश्रमण)। 'मुझसे (वीरनिर्वाण से १७५ वर्ष वीतने पर) विक्रमादित्य नाम का राजा होगा। उसके वाद १२४ वर्ष के भीतर (नि० स० ५९९ में) पाटलिपुत्र नाम नगर में × × × चतुर्मुख (कल्की), का जन्म होगा।'

(५) तिलोयसार (दिगम्वराचार्य नेमिचन्द्र)।

वीरनिर्वाण से ६०५ वर्ष और ५ मास वीतने पर 'शक राजा' होगा और उसके वाद ३९४ वर्ष और सात मास में अर्थात् निर्वाण सवत् १००० में कल्की होगा।

उपरोक्त उद्धरणो में नेमिचन्द्र को छोडकर केवल श्वेताम्वर आचार्यो का कल्की के समय के वारे मे मत है। कल्की और उपकल्की वाला सिद्धान्त दिगम्वर सम्प्रदाय के ग्रन्थो में भी पाया जाता है (जदिवसह, तिलोय पण्णती, पृ० ३४३)। तिलोयपण्णत्ती को अनुश्रुति के अनुमार (वही, पृ० ३४२) इन्द्र-पुत्र कल्की की उमर ७७ वर्ष की थी और उसने ४२ वर्ष राज्य किया। वह जैन-साधुओ से कर लेता था। उसकी मृत्यु किसी असुरदेव के हाथो हुई। उसके पुत्र का नाम अतिञ्जय कहा गया है।

अव हम देख सकते हैं कि कल्की के समय के वारे में दो भिन्न मत है और जहाँ तक पता लगता है इन मतो की उत्पत्ति मध्यकाल में हुई होगी। दिगम्वर-मत कल्की से कलयुग का सम्वन्ध जोडने तथा १००० वर्ष पर कल्की की उत्पत्ति वाले सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए कल्की का समय वीरनिर्वाण से १००० वर्ष पर मानता है। इसके विपरीत श्वेताम्वर-मत इस समय को करीव-करीव दूना कर देता है। इन सवसे कल्की की वास्तविकता में सन्देह होने लगता है। केवल क्षमाश्रमण कल्की का समय वीरनिर्वाण ५९९ देते हैं, लेकिन इस समय का आधार कौन सी अनुश्रुति थी, इसका हमें पता नही है, पर आगे चलकर हम देखेंगे कि केवल यही एक ऐसा मत है, जो सचाई से वहुत पास तक पहुँच पाता है।

यहाँ यह जानने योग्य वात है कि तित्थोगाली की कल्की सम्वन्धी अनुश्रुति का प्रचार आचार्य हेमचन्द्र के समय तक अच्छी तरह हो चुका था, क्योंकि महावीरचरित के १३वें सर्ग में उन्होने कल्की-आख्यान करीव-करीव तित्थो-गाली के शब्दो में ही दिया है (इन्डियन एन्टिक्वेरी, १९१९, पृ० १२८-३०)। कल्की का जन्म म्लेच्छ कुल में वतलाया गया है और उसका जन्मकाल वीरनिर्वाण स० १९१४। आख्यान के और वहुत से अग जैसे धन के लिए नन्दो के स्तूपो की खुदाई, जैन-साधुओ पर अत्याचार तित्थोगाली और महावीर-चरित में ज्यो-के-त्यो हैं। वाढ का भी वर्णन है, पर सोन नदी का नाम नही आया है। सव कुछ साम्यता होते हुए भी महावीर-चरित के कल्की-आख्यान मे तित्थोगाली की-सी सजीवता नही है। महावीर-चरित में आचार्य पाडिवत् का भी नाम नही है। वाढ के वाद नगर का पुनर्निर्माण, वाद में जैन-साधुओ पर अत्याचार तथा अन्त में इन्द्र द्वारा कल्की का वध, ये सव घटनाएँ दोनो अनुश्रुतियो मे समान रूप मे वर्णित है। दोनो की तुलना करते हुए यह मानना पडता है कि तित्थोगाली वाली अनुश्रुति पुरानी

है और ऐसा मालूम पडता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने भी इसी का सहारा लेकर महावीर-चरित का कल्की-कथानक लिखा।

इन सब अनुश्रुतियो से पता चलता है कि कल्की महावीर के १००० या २००० वर्ष वाद हुआ। इस वात पर सब सहमत है कि कल्की पाटलिपुत्र का राजा था। कुछ इसे चाडाल कुल में पैदा हुआ और म्लेच्छ कुल का मानते है। लेकिन इनके ऐतिहासिक अस्तित्व पर किसी ने कुछ प्रकाश नही डाला है। इस अवस्था में पुरातत्त्व हमारी वडी मदद करता है। हमने देखा ही है कि तित्थोगाली मे पाटलिपुत्र की वाढ का कितना सजीव वर्णन है। प्रसन्नता की वात है कि पाटलिपुत्र की खुदाई से भी इन वडी वाढ का पता चलता है और इससे तित्थोगाली की अनुश्रुति की सत्यता का आधार और भी मजबूत हो जाता है।

डा० डी० वी० स्पूनर ने कुम्रहार (प्राचीन पाटलिपुत्र) की खुदाई मे मौर्य स्तर और राखो वाले स्तर के वीच कोरी मिट्टी का स्तर पाया। उस स्तर मे उन्हें ऐसी कोई वस्तु न मिली जिससे यह सावित हो सके कि उस स्तर मे कभी वस्ती थी। इस जमी हुई मिट्टी का कारण डा० स्पूनर वाढ वतलाते है। डा० स्पूनर के शब्दों मे "कोरी मिट्टी की आठ या नौ फुट मोटी तह जो वस्तियो के दो स्तरो में पड गई है इसका और कोई दूसरा कारण न मैं सोच सकता हूँ, न दे सकता हूँ। हमें इस वात का पता है कि ऐसी ही वाढें पटने के आस-पास आती रही है और वखरा के अशोक-कालीन स्तम्भ की जड में भी एक ऐसी ही कोरी मिट्टी की तह मिलती है।" डा० स्पूनर के मतानुसार पाटलिपुत्र की यह वाढ उस समय आई जव अशोक का प्रासाद खडा था, तथा वाढ की रेतीली मिट्टी ने न केवल महल के फर्श को ही नौ फुट ऊँची लदान् से ढाक लिया, वल्कि महल के स्तम्भो को भी क़रीव-करीव उनकी आधी ऊँचाई तक ढाक दिया, (आर्कियोलोजिक सर्वे ऑव इडिया, एनुअल रिपोर्ट, १९१२-१३, पृ० ६१-६२)।

डा० स्पूनर इस वात का पता न चला सके कि वाढ कितने दिनो तक चली, न उनको इस वात का ठीक-ठीक अन्दाजा लग सका कि वाढ आई कव? "यह वात सम्भव है कि हम आखिरी वात का अटकल लगा सके। हमने ऊपर देखा है कि राख वाली स्तर में या उसी के आसपास खुदाई से हमें ई० प्रथम शताब्दी के सिक्के और कुछ वस्तुएँ मिली हैं। ये प्राचीन चिह्न गुप्त-कालीन ईंट की दीवारो से तो जरूर ही पुराने है। अगर ई० सन् की पहली कुछ सदियो में वाढ न आई होती तो इन अवशेषो और सिक्को का यहाँ मिलना आश्चर्यजनक होता। इस अवस्था में उन्हे मौर्यकालीन फ़र्श पर या उसके कुछ ऊपर मिलना चाहिए था। अगर इमारत सिक्को के चलन-काल में वरावर व्यवहार मे थी तो वाढ सिक्को के काल और गुप्त-काल के बीच में आई थी। इन सव वातो से और जो सवूत हमारे पास हैं उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि वाढ ईसा की प्रथम शताब्दी मे या उससे दो एक सदी हट कर आई, तथा इस काल के सिक्के और वस्तुएँ जो गुप्तकाल की दीवार के नीचे मिले है इस वात के द्योतक है कि मौर्यकालीन महल का थोडा-वहुत व्यवहार वाढ हट जाने पर भी वरावर होता रहा। मिट्टी के स्तर का सिरा फर्श का काम देता रहा होगा। इमारत वहुत कुछ टूट-फूट गई होगी तथा उसकी भव्यता में भी वहुत कुछ फरक पड गया होगा, लेकिन इसका कोई कारण नही देख पडता कि वह वसने लायक न रही हो। अगर खम्भो की ऊँचाई वीस फुट थी (शायद वे इससे ऊँचे ही थे) तो रेतीली मिट्टी ने उन्हे क़रीव ग्यारह फुट छोड दिया होगा और यह कोई विलकुल साधारण ऊँचाई नही है। इसलिए यह सम्भव है कि वाढ के सैकडो वर्ष वाद तक भी मौर्यकालीन आस्थानमडप व्यवहार मे आता रहा" (वही, पृ० ६२)।

खुदाई से इस वात का भी पता चलता है कि रेतीली मिट्टी जमने के वाद पूरी इमारत जल गई, क्योकि गुप्तकालीन इमारतो के भग्नावशेष सीधी राख की तह पर खडे पाये गये, जिससे हम इस वात का अनुमान कर सकते है कि आग कदाचित् ई० स० चौथी या पाँचवी मे लगी हो। डा० स्पूनर की राय मे गुप्तकालीन दीवारें छठवी शताब्दी के वाद की नहीं हो सकती और इस वात की सम्भावना अधिक है कि वे इसके पहले की हो।

डा० स्पूनर की खुदाई-सम्बन्धी वक्तव्यो की विवेचना करने पर हम निम्नलिखित तथ्यो पर पहुँचते है (१) पाटलिपुत्र में उस समय बाढ आई जब अशोक का महल समूचा खडा था। बाढ से उस पर नौ फुट मिट्टी लद गई। (२) ई० स० की आरम्भिक शताब्दियो के सिक्के इत्यादि गुप्त स्तर और रेतीली मिट्टी के बीच में मिलने से डा० स्पूनर ने यह राय कायम की कि बाढ ई० प्रथम शताब्दी या एकाध सदी बाद आई होगी। (३) बाढ के बाद भी पुरानी इमारत कुछ-कुछ काम में लाई जाती थी। अन्तिम कथन का समर्थन तित्थोगाली द्वारा होता है, जिसमें कहा गया है कि बाढ के बाद चतुर्मुख ने एक नया नगर पुराने को छोडकर बसाया। अब हम देख सकते है कि तित्थोगाली ने पाटलिपुत्र की भीषण बाढ का, जो ई० पहली दूसरी शताब्दी में आई थी, कैसा उपादेय और विशद वर्णन जीवित रक्खा है।

तित्थोगाली के कल्की-प्रकरण के आरम्भ मे ही यह कहा गया है कि कल्की ने नन्दो के बनवाये पाँच जैन-स्तूपो को गडे धन की खोज में खुदवा डाला। युवान च्वाग इस कथा का समर्थन करते है।

युवान च्वाग को पाटलिपुत्र के पास छोटी पहाडी के दक्षिण-पश्चिम में पाँच स्तूपो के भग्नावशेष देख पडे। इनके पक्ख कई सौ कदमो के थे और इनके ऊपर बाद के लोगो ने छोटे-छोटे स्तूप बना दिये थे। इन स्तूपो के सम्बन्ध मे युवान च्वाग दो अनुश्रुतियो का उल्लेख करता है। एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अशोक द्वारा ८४००० स्तूप बनवाये जाने के बाद बुद्धचिह्न के पाँच भाग बच गये और अशोक ने इन पर पाँच स्तूप बनवाये। दूसरी अनुश्रुति, जिसको युवान च्वाग हीनयानियो की कहता है, इन पाँचो स्तूप में नदराजा की पाँच निधियाँ और सात रत्न गडे थे। बहुत दिनो बाद एक अबौद्ध राजा अपनी सेना के साथ आया और स्तूपो को खोदकर धन निकाल लेना चाहा। इतने मे भूकम्प आया, सूर्य बादलो से ढक गया और सिपाही मरकर गिर पडे। इसके बाद किसी ने उन स्तूपो को नही छूआ (वाटर्स, युवान च्वाग, २, पृ० ९६-९८)।

पाटलिपुत्र की खुदाई से सात लकडी के बने चबूतरे मौर्य स्तर से निकले है। इनमें हर एक की लम्बाई ३० फुट, चौडाई ५'४" और ऊँचाई ४½' है। सबकी बनावट भी प्राय एक सी है। इनके दोनो ओर लकडी के खूँटे, जिनके ठूठ बच गये है, लगे थे। चबूतरो के बीच मे भी कुछ लकडी के खम्भे देख पडते है, पर इनका चबूतरों से क्या सम्बन्ध था, कहा नही जा सकता (आ० स० रि०, वही, पृ० ७३)। स्पूनर का पहले ध्यान था कि शायद चबूतरे भारी खम्भो के सँभालने के लिए बने हो, पर डा० स्पूनर ने इस राय को स्वय ही ठीक नही माना। एक चबूतरे में बनावट कुछ ऐसी थी जिस पर डा० स्पूनर का ध्यान गया। दूसरे चबूतरो की तरह यह चबूतरा पुख्ता नही है और उसके बीच मे खडा अर्ध-चन्द्राकार कटाव है, जिससे चबूतरा दो विचित्र भागो में बँट जाता है। इस विभाजित चबूतरे के पश्चिम छोर पर और पास के चबूतरे के पूर्वी छोर पर ज़मीन की सतह पर एक ईंट की बनी हुई गोल खात है। इस तरह के नक़्शे का कुछ तात्पर्य तो ज़रूर था, पर उसका पता नही चलता। डा० स्पूनर की पहली सूझ यह थी कि चबूतरे शायद वेदियो का काम देते थे और बलिकर्म खात में होता था। पर इस सूझ को सहारा देने के लिए साहित्य से उन्हें कोई प्रमाण नही मिला और न बौद्धो के प्रभाव के कारण पाटलिपुत्र में बलिकर्म सम्भव ही था। इस अन्तिम कारण का स्वय उत्तर देते हुए उनका कहना है चबूतरे जो मौर्यकाल की सतह से कई फुट नीचे है शायद स्तम्भ मडित मौर्य आस्थान मडप से पुराने हो, लेकिन इस राय पर भी वे न जम सके (वही, पृ० ७५)। इन लकडी के चबूतरो का ठीक-ठीक तात्पर्य क्या था, यह कहना तो कठिन है, लेकिन यह सम्भव है कि इनका सम्बध नन्दो के स्तूपो से रहा हो। जो हो, इस बात का ठीक-ठीक निपटारा तबतक नही हो सकता जबतक कुम्रहार की खुदाई और भी न बढाई जावे।

तित्थोगाली में चतुर्मुख कल्की और पाडिवत् आचार्य की समकालीनता भी ऐतिहासिक दृष्टि से एक विशेष महत्त्व रखती है। हमें इस बात का पता नही कि पाडिवत् आचार्य कौन थे, पर इसमें कोई शक नही कि वे अपने काल के एक महान् जैन-आचार्य थे और हो सकता है कि पादलिप्ताचार्य, जिनके सम्बन्ध मे जैन-साहित्य में अनेक

किंवदन्तियाँ मिलती हैं, और तित्थोगाली के पाडिवत् एक ही रहे हो। अगर हमारा यह अनुमान सही है तो पादलिप्त के काल के सम्बन्ध में कुछ अनुश्रुतियाँ उपलब्ध होने से हम पाटलिपुत्र की बाढ का समय निश्चित कर सकते हैं।

'प्रभावक-चरित' में (गुजराती भाषान्तर, प्रस्तावना लेखक कल्याणविजय जी, भावनगर, स० १९८७), जिसे प्रभाचन्द्र सूरी ने स० १३३४ (ई० १२७७) में लिखा, बहुत से जैन-साधुओ की जीवनियाँ दी हुई हैं। सकलन परिपाटी के अनुसार प्राचीन जैन-आचार्यों की जीवनियो में बहुत सी बाद की किंवदन्तियो का भी समावेश हो गया है। लेकिन साथ-ही-साथ उनमें बहुत सी ऐसी ऐतिहासिक अनुश्रुतियो का सकलन भी है, जिनकी सचाई का पता हमें दूसरी जगहो से भी मिलता है।

'प्रभावक-चरित' में इसका उल्लेख मिलता है कि पादलिप्त के गुरु ने उन्हें मथुरा जैन-सघ की उन्नति के लिए भेजा। कुछ दिनो मथुरा ठहर कर वे पाटलिपुत्र गए, जहाँ राजा मुरुण्ड राज्य करता था। एक गुथी हुई डोरे की पेंचक को सुलझा कर तथा राजा की शिर पीडा शात करके पादलिप्ताचार्य ने पाटलिपुत्र मे तथा राज-दरबार में अपना प्रभाव जमा लिया (वही० पृ० ४८-४९)।

पादलिप्ताचार्य रुद्रदेव सूरी, श्रमणसिंह सूरि, आर्य खपट और महेन्द्र उपाध्याय के समसामयिक थे। पहले दो आचार्यों से पादलिप्त के सबन्ध का केवल इसी बात से पता लगता है कि जिस समय पादलिप्त मान्यखेट गए थे तो उस समय दोनो आचार्य वहाँ उपस्थित थे। खपट तथा महेन्द्र के साथ पादलिप्त की समकालीनता का वर्णन कुछ धुंधला सा है। खपट की जीवनी के अन्त में यह कहा गया है कि पादलिप्त ने खपटाचार्य से मन्त्रशास्त्र की शिक्षा पाई थी (वही प्रस्तावना, पृ० ३२-३३)। खपटाचार्य का समय विजयसिंह सूरि प्रबन्ध की एक गाथा के अनुसार वीर निर्वाण स० ४८४ या ४० ई० पू० है जो कल्याणविजय जी के मतानुसार खपट का मृत्यु काल होना चाहिए (वही, पृ० ३३)। चाहे जो हो, खपट की ऐतिहासिकता में कोई शक करने की जगह नही है, क्योकि प्राचीन जैन-साहित्य मे 'निषीथ चूर्णि' में उनका नाम बराबर आया है (वही, पृ० ३३)।

खपट के शिष्य महेन्द्र के बारे में एक कथा प्रचलित है, जिसमें कहा गया है कि महेन्द्र के समय पाटलिपुत्र का राजा दाहड सब मतो के साधुओ को तग करता था। वह बौद्ध भिक्षुओ को अनावृत्त करवा देता था, शैव साधुओ की जटाएँ मुंडवा देता था, वैष्णव साधुओ को मूर्ति-पूजा छोडने पर बाध्य करता था और जैन-साधुओ को सुरा-पान पर मजबूर करता था। राजा के व्यवहार से घबराकर जैन-सघ ने महेन्द्र की, जो उन दिनो भरुकच्छ में रहते थे, सहायता चाही। कहा जाता है कि महेन्द्र ने राजा को अपने वश में करके पाटलिपुत्र के ब्राह्मणो को जैन-दीक्षा दिलवा दी (वही, पृ० ५७-५९)।

मुनि कल्याणविजय जी का कहना है कि दाहड शायद शुग राजा देवभूति था और ब्राह्मण-धर्म का पक्षपाती होने के कारण उसने जैनो से ब्राह्मणो को नमस्कार करवाया और इसी बुनियाद पर वे खपट और महेन्द्र का नाम समय विक्रम की प्रथम शताब्दी या उसके कुछ और पहले निर्धारित करते हैं (वही, पृ० ३३)।

पादलिप्त का समय निर्धारित करते हुए कल्याणविजय जी उनके मुरुण्ड राजा के समकालीन होने पर जोर देते हैं। मुरुड राजा कल्याणविजय जी के अनुसार कुषाण थे और पादलिप्त के समकालीन मुरुड राजा कुषाणो के राजस्थानीय थे और इनका नाम पुराणो के अनुसार विनस्फणि (अशुद्ध विश्वस्फटिक 'स्फाणि स्फूर्ति' इत्यादि) था (वही, पृ० ३४)। इस आधार पर वे पादलिप्त का समय विक्रम की दूसरी शताब्दी का अन्त या तीसरी का आरम्भ मानते हैं। नागहस्ति पादलिप्त के गुरु थे और नन्दिनी पट्टावलि और युग प्रधान पट्टावलियो के अनुसार उनका समय विक्रम स० १५१ और २१९ के बीच में था। इस बात से भी मुनि कल्याणविजय पादलिप्त के समय के बारे में स्व-निर्धारित मत की पुष्टि मानते हैं (पृ० ३४)। श्री० एम० बी० झवेरी मुनि कल्याणविजय द्वारा निर्धारित पादलिप्त के समय को ठीक नही मानते (कपरेटिव एड क्रिटिकल स्टडी ऑव मन्त्र-शास्त्र, पृ० १७९ फुट नोट)। उनका कहना है कि आर्य-रक्षित के अनुयोग

द्वार मे पादलिप्त का सम्वोधन तरग वैक्कार से किया गया है। आर्य-रक्षित का निधन-काल वि० स० १२७ माना गया ह (११४ कल्याणविजय जी के अनुसार) और अगर यह वात सच है तो आर्य-रक्षित के वाद पादलिप्त का नाम उनके ग्रन्थ में से आ सकता है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है जैन-अनुश्रुतियाँ एक स्वर से पादलिप्त और मुरुण्डो की समकालीनता पर ज़ोर देती है। पादलिप्त का समय निर्धारित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम मुरुण्डो का इतिहास जानें। डा० वागची ने इडियन हिस्ट्री काग्रेस के प्राचीन इतिहास विभाग के सभापति की हैसियत से जो भाषण दिया था (दि प्रोसीडिंग्स ऑव दी इडियन हिस्ट्री काग्रेस, सिक्स्थ सेशन, १६४३) उससे मुरुण्डो के इतिहास पर काफी प्रकाश पडता है। डा० वागची स्टेन कोनो के इस विचार से सहमत नही है कि मुरुण्ड शक थे। वे पुराणो के इस मत का समर्थन करते है, जिसके अनुसार मुरुण्ड शको से भिन्न माने गए है (वही, ३६-४०)।

मुरुण्डो का पता समुद्रगुप्त के इलाहावाद के अभिलेख से चलता है। इस लेख में मुरुण्ड गुप्त भृत्य माने गए है। मुरुण्ड शब्द खोह के छठवी शताब्दी वाले ताम्रपत्र में भी आता है। इसमें कहा गया है कि उच्छकल्प के महाराज सर्वनाथ की माता मुरुण्ड देवी या मुरुण्ड स्वामिनी थी (वही, पृ० ४०)।

प्रो० सिलवेन लेवी की खोजो के अनुसार प्राचीन चीनी इतिहास में भी मुरुण्डो का नाम आता है। सन् २२२-२७७ के वीच एक दूत-मण्डल फुनान के राजा द्वारा भारतवर्ष भेजा गया। करीव ७००० ली की यात्रा समाप्त करके मडल इच्छित स्थान को पहुँचा। तत्कालीन भारतीय सम्राट ने यूनान के राजा को वहुत सी भेंट की वस्तुए भेजी, जिनमें यू-ची देश के चार घोडे भी थे। फूनान जाने वाले भारतीय दूत-मण्डल की मुलाकात चीनी दूत से फूनान दरवार में हुई। भारत के सम्वन्ध में पूछे जाने पर दूत-मण्डल ने वतलाया कि भारत के सम्राट की पदवी मिउ-लुन थी और उसकी राजधानी, जहाँ वह रहता था, दो शहर-पनाहो मे घिरी थी और शहर की खातो में पानी नदी की नहरो से आता था। यह वर्णन हमें पाटलिपुत्र की याद दिलाता है (वही, पृ० ४०)।

उपरोक्त वर्णन में आया हुआ मिउ-लुन चीनी भाषा में मुरुण्ड शब्द का रूपान्तर मात्र है।

वहुत से पक्के सवूतो के न होते हुए भी यह तो कहा ही जा सकता है कि कुषाण और गुप्त काल के वीच मुरुण्ड राज्य करते थे। टालेमी की भूगोल और चीनी इतिहास के आधारो से यह विदित होता है कि ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दी में मुरुण्ड पूर्वी भारत मे राज्य करते थे (वही पृ० ४१)।

इन सवूतो के आधार पर प्रो० वागची निम्न-लिखित निर्णय पर पहुँचते है "यह कहने मे कोई हिचक न होनी चाहिए कि मुरुण्ड तुखारो के साथ भारत आए और उन्होने पूर्वी भारत में पहले तुखारो के भृत्यो के रूप मे और वाद मे स्वतन्त्र रूप से राज्य-स्थापना की। यू-ची लोगो के साथ उनका सम्वन्ध उन चार यू-ची देश के घोडो से प्रकट होता है जो मुरुण्डो द्वारा फुनान के राजा को भेट दिए गए थे। जव हेमचन्द्र अभिधान-चिन्तामणि मे लम्पाको और मुरुण्डो को एक मानते है तो इससे यह न मान लेना चाहिए कि मुरुण्डो से हेमचन्द्र के समय मे भी लोग परिचित थे। हेमचन्द्र का आधार कोई प्राचीन स्रोत था जिसे यह विदित था कि मुरुण्ड लमघान होकर आए। भारतवर्ष पर चढाई करते हुए शको ने यह रास्ता नही पकडा था। शक पूर्वी भारत तक पहुँचे भी न थे और कोई भी पुराना ग्रन्थ पाटलिपुत्र के साथ शको का सम्वन्ध नही वतलाता। इन सव वातो पर ध्यान रखते हुए यह कहा जा सकता है कि मुरुण्ड कुषाणो की तरह तुखारो का एक कवीला था, जो कुषाणो के पतन और गुप्तो के अभ्युत्थान के इतिहास के वीच में खाली हिस्से की खानापूरी करता है। यह वात पुराणकारो को मालूम थी।"

"हम मुरुण्डो की स्थिति का तुखारो के साथ-साथ मध्य एशिया मे अध्ययन कर सकते है। ग्रीक और रोमन लेखक, जैसे स्त्रावो, प्लिनी और पेरिगेट एक फ्रिनोई नाम के कवीले का नाम लेते है, जो तुखारो के आस-पास रहता था। अगर प्लिनी की वात हमें स्वीकार है तो फ्रिनोइ या फ़ुनि अत्तकोरिस पर्वत के दक्षिण में रहते थे, तुखार या तोखरि फ्रिनोइ के दक्षिण में और कमिरि या कश्मीर तुखारो के दक्षिण मे। फ्रिनोइ का सस्कृत मे

मुरुण्ड रूपान्तर अच्छी तरह हो सकता है। पुराण वालो को मुरुण्ड शब्द लिखने मे कुछ हिचक सी लगती थी। उदाहरणार्थ 'वायु पुराण' जिसके पाठ काफी प्रामाणिक है, मुरुण्ड न लिख के पुरुण्ड या पुरण्ड लिखता है" (वही, पृ० ४१)।

'मत्स्य', 'वायु' और 'ब्रह्माड' पुराणो के आधार पर चौदह तुखार राजाओ के बाद, जिनका राज्य-काल १०७ या १०५ वर्षो तक सीमित था, १३ गुरुण्ड या मुरुण्ड राजाओ ने मत्स्य पुराण के अनुसार २०० बरस तक और वायु तथा ब्रह्माड के अनुसार ३५० बरस तक राज्य किया। लेकिन पार्जिटर के अनुसार ३५० वर्ष २०० वर्ष का अपवाद है, क्यो कि विष्णु और भागवत पुराणो मे मुरुण्डो का राज्य-काल ठीक-ठीक १९९ वर्ष दिया है (पार्जिटर, डायनेस्टीज़ ऑव कलि एज, पृ० ४४-४५, लन्डन १९१३)। अब पौराणिक काल-गणना के अनुसार तुखारो ने १०७ या १०५ वर्ष राज्य किया और अगर तुखार और कुषाण एक ही है तो कुषाणो का राज्य १८३ या १८५ ई० तक आता है। अगर इस गणना में हम मुरुण्ड राज्य-काल के भी २०० वर्ष जोड दें तो मुरुण्डो का अन्त करीब ३८५ ई० मे पडता है। समुद्रगुप्त द्वारा मुरुण्ड विजय भी इसी काल के आस-पास आकर पडता है।

अब एक कठिन प्रश्न यह उठता है कि मुरुण्ड राज्य-काल के किस भाग में पादलिप्त हुए, क्योकि मुरुण्डो का राज्य काल १८५ ई० से ३८५ ई० तक रहा और मुरुण्ड राजाओ मे किसी का नाम से सम्बोधन नही हुआ है। अनुयोगद्वार की अनुश्रुति के अनुसार, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है, पादलिप्त का समय ईस्वी पहली शताब्दी आता है जब मुरुण्ड स्वतन्त्र शासक न होकर कुषाणो के सेवक मात्र थे। पाटलिपुत्र के मुरुण्डो और पुरुषपुर के (पेशावर) कुषाण राजाओं में काफी घनिष्ठ सम्बन्ध था। बृहत्कल्प-सूत्रभाष्य (भा० ३, २२९१-९३) मे एक कथा है जिसमे बतलाया गया है कि मुरुण्ड राजद्वारा प्रेषित दूत पुरुषपुर के राजा से तीन दिनो तक न मिल सका, क्योकि जब वह राजा से मिलने निकलता था उसे कोई-न-कोई बौद्ध भिक्षु मिल जाता था और इसे अपशकुन मान कर वह आगे न बढ सकता था। अन्त मे बडे बन्दोबस्त के बाद दूत राजा से मिल पाया। इस घटना के प्रासगिक रूप से हम जैनो और बौद्धो के वैर-भाव का पता पाते हैं, जिसकी झलक हम चीनी भाषा में अनुवादित अश्वघोष के सूत्रालकार की उस कथा में पाते है, जिसमें कनिष्क धार्मिक होने के नाते एक स्तूप को प्रणाम करता है, लेकिन स्तूप वास्तव मे जैन था जो कनिष्क के प्रणाम करते ही टूट गया, क्यो कि उसे राजा के प्रणाम करने का उच्च अधिकार ही न प्राप्त था[1] (जी० के० नरीमान, लिटरेरी हिस्ट्री ऑव सस्कृत बुधिज़म, पृ० १९७, बम्बई १९२३)। अगर महेन्द्र और पादलिप्त की समसामयिकता भी ठीक मान लो जाय तो भी पादलिप्त का समय ई० पहली सदी ठहरता है। उस समय दाहड नाम का एक पापी राजा था जो किसी धर्म की परवाह नही करता था। महेन्द्र ने उसे दीक्षित किया। प्रभावक-चरित के दाहड मे और तित्थोगाली के कल्कि चतुर्मुख में बहुत समानता पाई जाती है और अगर ये दोनो एक ही है तो पादलिप्त का समय ई० की पहली शताब्दी हो सकती है जब शायद कुषाणो के धार्मिक पक्षपात से जैनो को अनेक कष्ट झेलने पडे हो। पर इस बारे में ठीक-ठीक नही कहा जा सकता, क्योकि मथुरा मे ककाली टीला के मिले जैन स्तूप के अभिलेखो से यह पता चलता है कि कनिष्क से लेकर वासुदेव के काल तक जैन स्वतत्रता के साथ अपने देवो और स्तूप की पूजा कर सकते थे।

मुनि कल्याणविजय जी ने मजबूत तर्को द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पादलिप्त ई० शताब्दी दूसरी या तीसरी मे हुए जब कुषाणो का महामात्र विश्वस्फाणि का विहार पर राज था। डा० जायसवाल (हिस्ट्री ऑव इडिया, पृ० ४२) के अनुसार पुराणो का विश्वस्फाणि, जिसे विश्व स्फाटि और विवस्फाटि भी कहा गया है, वनस्फर या वनस्पर था जिसका उल्लेख कनिष्ककालीन अभिलेखो मे आया है (एपि० इडि० ८, पृ० १७३)। कनिष्क के राज्य के तीसरे वर्ष के लेख में जिस विषय में बनारस था उसका वनस्फर क्षत्रप था और महाक्षत्रप था खरपल्लाण। वनस्फर बाद में ई० स० ९०-१२० के दर्मियान महाक्षत्रप हो गया होगा, ऐसा डा० जायसवाल का अनुमान है। वायु और ब्रह्माड पुराण तीसरी शताब्दी के राजकुलो का वर्णन करते हुए विश्वफाणि का निम्नलिखित शब्दो में उल्लेख करते है "मागधो का

राजा विश्वस्फाणि (भागवत, विश्वस्फूर्ति, वायु, विश्वस्फटिक) बहुत बडा वीर होगा। सब राजाओ का उन्मूलन करके वह निम्न जाति के लोगो को जैसे कैवर्तो, पचको (ब्रह्माड, मद्रक, विष्णु, यदु) पुलिन्दो और ब्राह्मणो को राजा बनाएगा। उन जातियो के लोगो को वह बहुत से देशो का शासक नियुक्त करेगा। युद्ध मे वह विष्णु के समान पराक्रमी होगा। (भागवत के अनुसार उसकी राजधानी प्रभावती होगी)। राजा विश्वस्फाणि का रूप षण्ढ की तरह होगा। क्षत्रियो का उन्मूलन करके वह दूसरी क्षत्रिय जाति बनाएगा। देव, पितृ और ब्राह्मणो को तुष्ट करता हुआ वह गगा के तीर जाकर तप करता हुआ शरीर छोड कर इन्द्रलोक को जाएगा (पार्जिटर वही, पृ० ७३)। विश्वस्फाणि का तित्थोगाली के कंलि से मेल खाता है। पुराणो के मतानुसार वह ब्राह्मणो का आदर करने वाला कहा गया है, लेकिन यह केवल पुराणो की ब्राह्मण-श्रेष्ठता स्वीकार कराने वाली कपोल-कल्पना मालूम होती है, क्योकि बनस्फर जाति नहीं मानता था और क्षत्रियो का तो वह कट्टर वैरी था। अगर जायसवाल की राय ठीक है तो बनस्फर का समय ई० सन् ८१-१२० तक था और अगर तित्थोगाली के कल्की और बनस्फर एक थे तो पाटलिपुत्र के बाढ का समय दूसरी शताब्दी के पहले चरण में रक्खा जा सकता है।

पुराण-साहित्य, जैन-साहित्य तथा चीनी-साहित्य से हमे बिहार पर विदेशी मुरुण्डो के अधिकार का पता चलता है, लेकिन बिहार में पुरातत्त्व की प्रगति सीमित रहने से उसके द्वारा मुरुण्डो के प्रश्न पर विशेष प्रकाश नही पड सका है। वैशाली की खुदाई से यह तो पता चलता है कि ईरानी सभ्यता का प्रभाव बिहार पर पड रहा था, पर इसके लाने वाले खास ईरानी थे या शक-तुखार, इस प्रश्न पर विशेष प्रकाश अभी तक नही पड सका है। वैशाली से चौथी या पाँचवी शताब्दी की एक मुद्रा मिली है, जिस पर ईरानी अग्निवेदी बनी हुई है तथा गुप्तब्राह्मी का लेख भी उस पर है। ऐसी मुद्राएँ सर जान मार्शल को भीटा की खुदाई से भी मिली थी। डा० स्पूनर का अनुमान है कि इन मुद्राओ से यह पता चलता है कि वे इक्की-दुक्की न होकर उस ईरानी प्रभाव की द्योतक है जिसका सम्बन्ध काबुल के किसी राजकुल से न होकर बिहार में स्वतन्त्र रूप से फले-फूले ईरानी प्रभाव से है। इस मुद्रा पर भगवत आदित्यस्य लेख होने से इस मुद्रा का सम्बन्ध किसी सूर्य के मन्दिर से हो सकता है और शायद यह मन्दिर भारत में बसे ईरानियो का हो, क्योकि अगर मन्दिर हिन्दुओ का होता तो मुद्रा पर ईरानी अग्निवेदी न होती। डा० स्पूनर का कहना है कि ईरानी प्रभाव और सूर्य-पूजा पटना और गया जिलो मे गुप्त काल से बहुत अधिक पुरानी थी और इसका सम्बन्ध काबुल के चौथी शताब्दी के कुषाणो से न होकर उन परदार मिट्टी की मूर्तियो से है, जिनका काल मौर्य या शुग है (एन० रि० आ० स० इ०, १९१३-१४, पृ० ११८-१२०)।

बसाढ के मिट्टी की मूर्तियो पर ईरानी प्रभाव जानने के लिए हमें उन मूर्तियो के बारे में भी कुछ जान लेना चाहिए। खुदाई मे दो मिट्टी के सर मिले है। उनमें एक वर्तुलाकार टोप पहने है और दूसरा चोगेदार टोपी। दोनो विदेशी मालूम पडते है। इन मूर्तियो का काल शुग या मौर्य माना गया है (वही, पृ० १०८)। डा० गॉर्डन इस काल से सहमत नहीं है (जर्नल ऑव दी इडियन सोसायटी ऑव ओरियटल आर्ट, ह्वा० ९, पृ० १६४)। उनका कहना है कि उनमें चक्करदार (radiate) शिरोवस्त्र वाला शिर गन्धार कला के सुवर्ण युग का द्योतक है और उसका काल ईसा पू० प्रथम शताब्दी है। दूसरा शिर साँचे में ढली हुई इडोसिदियन या इडोपार्थियन मूर्तियो से समता रखता है और इसका समय भी ई० पू० प्रथम शताब्दी है। डा० गॉर्डन इन शिरो को इसलिए मौर्य नही मानते कि इनका सम्बन्ध मौर्य कालीन मिट्टी की मूर्तियो से न होकर ई० पू० प्रथम शताब्दी की भारत में जगह-जगह पाई गई मृणन्मूर्तियो से है। बसाढ में खिलौनो की तख्तियाँ भी मिली है, जिनमे स्त्री-मूर्ति को पख लगा दिये गये है। डा० स्पूनर इन परो को बाबुल की देन मानते है और उनका विचार है पर्सिपोलिस की ईरानी कला से होता हुआ यह प्रभाव भारत में आया। ये मूर्तियाँ ईरान से सीधी न आकर बसाढ में ही बनी थी और इस बात से डाक्टर स्पूनर यह निष्कर्ष निकालते है कि मौर्य काल में भी ईरानी प्रभाव बिहार में विद्यमान था (आ० स० रि०, वही, पृ० ११६)। पर डा० गॉर्डन श्री कार्ड्रिगटन से सहमत होते हुए इन पख वाली स्त्री-मूर्तियो का समय साँचीकला के बाद वाला युग अर्थात् ई० पू० प्रथम शताब्दी

मानने हैं (गॉर्डन, वही, पृ० १५७)। इन मूर्तियो का समय तबतक ठीक निश्चित नही हो सकता जबतक खुदाई बिलकुल वैज्ञानिक ढग से न की जाय। लगता है कि बसाढ के स्तरो में कुछ उलट-पुलट हो जाने मे ऊपर-नीचे की वस्तुएँ बहुधा मिल गई है (स्पूनर, वही, पृ० ११४)। रही ईरानी प्रभाव की प्राचीनता की बात। मौर्यकाल में विशेषकर अशोककाल की कला में कुछ अलकरण ईरानीकला से लिये गये, लेकिन आया कि वह प्रभाव क्षणिक था या उसका विस्तार हुआ, इसका अभी हमें विशेष पता नही है। लेकिन ईरानी या यो कहिए पूर्व ईरानी भाषा बोलने वाले शक ई० पू० प्रथम शताब्दी मे मथुरा तक आ धमके, व्यापारी या यात्री के रूप मे नही, वरन् विजेता होकर। तब उनके साथ आई हुई ईरानीकला की भारतीयकला पर छाप पडना अवश्यम्भावी था और इसी के फलस्वरूप हम भारतीयकला में विदेशी वस्त्रो मे आच्छादित टोपी पहने हुए मध्य एशिया के लोगो के दर्शन करते है। कुषाण काल में एक ऐसे वर्ग की मृणन्मूर्तियो का प्रचलन हुआ जो केवल विदेशियो का प्रदर्शन मात्र करती है। डा० गॉर्डन ने बडे सूक्ष्म अध्ययन के बाद ऐसी मृणन्मूर्तियो का समय ई० पू० पहली शताब्दी से ई० सन् तीसरी शताब्दी तक रक्खा है। बसाढ के ईरानी प्रभाव से प्रभावित मृणन्मूर्तियाँ भी इसी समय की है और विहार पर मुरुण्ड-कुषाण राज्य की एक मात्र प्राचीन निशानी है। भविष्य के पुरातत्त्ववेत्ताओ का यह कर्तव्य होना चाहिए कि उन सबूतो को इकट्ठा करे, जिनसे पूर्व भारत का शको और कुषाणो मे सम्बन्ध प्रकट होता है। ऐसा करने मे इतिहास की बहुत सी भूली बातें हमारे सामने आ जायेंगी तथा जैन ऐतिहासिक अनुश्रुतियो के कुछ अबोध्य अशो पर भी प्रकाश पडेगा।

पाटलिपुत्र के बाढ-सम्बन्धी प्रमाणो की जाँच करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्षो पर पहुँचते है—(१) बाढ राजा कल्की के राज्यकाल में आई। वह सब धर्मो के साधुओ और भिक्षुओ को सताता था। (२) वह कौन सा ऐतिहासिक राजा था, इसके सम्बन्ध में ऐतिहासिको की एक राय नही है। उसका पुष्यमित्र होना, जैसी मुनि पुण्यविजय जी की राय है, सम्भव नही है, क्योकि पुरातत्त्व के प्रमाण के अनुसार बाढ ई० सन् की पहली या दूसरी शताब्दी में आई। शायद कल्की पुराणो का विश्वस्फर या कुषाण लेखो का वनस्फर रहा हो। (३) अगर तित्थोगाली के आचार्य पाडिवत् और चूर्णियो और भाष्यो के पादलिप्त एक ही है तब बाढ ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी मे आई, क्योकि यही पादलिप्त का समय माना जाता है। (४) पुराणो और चीनी-साहित्य के प्रमाणो के आधार पर मुरुण्ड, जो पादलिप्त के समकालीन थे, इसी काल मे हुए। (५) यह सम्भव है कि बाढ वाली घटना कुषाण राज्य के आरम्भ में घटी हो, क्योकि एक बाह्य सस्कृति का देश की प्राचीन सस्कृति से द्वन्द्व होने से धार्मिक असहिष्णुता और उसके फलस्वरूप प्राचीन धर्म के अनुयायियो पर अत्याचार होना कोई अनहोनी घटना नही है। तित्थोगाली के कल्कि का अत्याचार तथा पौराणिक विश्वस्फाणि, जो शायद कुषाण अभिलेखो का वनस्फर था, के अनार्य कर्म शायद ईसा की पहली शताब्दियो की राजनैतिक और सास्कृतिक उथल-पुथल के प्रतीक है। (६) पुरातत्त्व से अभी तक मुरुण्ड और कुषाणो का पूर्व भारत मे सम्बन्ध पर विशेष प्रकाश नही पडा है। फिर भी कुछ मृणन्मूर्तियो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शक सस्कृति का प्रभाव विहार में ई० पू० प्रथम शताब्दी में पड चुका था और बाद मे वह और बढा।

(२)

जैन-साहित्य में कुणाला या श्रावस्ती में भी एक बडी बाढ आने की अनुश्रुति है। आवश्यक-चूर्णि (पृ० ४६५, रतलाम, १६२८) मे इसकी कथा इस भाँति दी हुई है "कुणाला में कुरुण्ट और उत्कुरुण्ट नाम के दो आचार्य नगर की नालियो के मुहाने पर रहा करते थे। वर्षा-काल में नागरिको ने उन्हें वहाँ से निकाल भगाया। क्रोध में आकर कुरुण्ट ने श्राप दिया, "हे देव! कुणाला पर बरसो।" छूटते ही उत्कुरुण्ट ने कहा, "पन्द्रह दिन तक।" कुरुण्ट ने दुहराया, "रात और दिन।" इस तरह श्राप देकर दोनो नगर छोडकर चले गये। पन्द्रह दिनो तक घनघोर बरसात होती रही और इसके फलस्वरूप कुणाला नगरी और तमाम जनपद बह गये। कुणाला की बाढ के १३ बरस बाद महावीर स्वामी केवली हुए।" मुनि कल्याणविजय की गणना के अनुसार ४३ वर्ष की अवस्था मे महावीर केवली
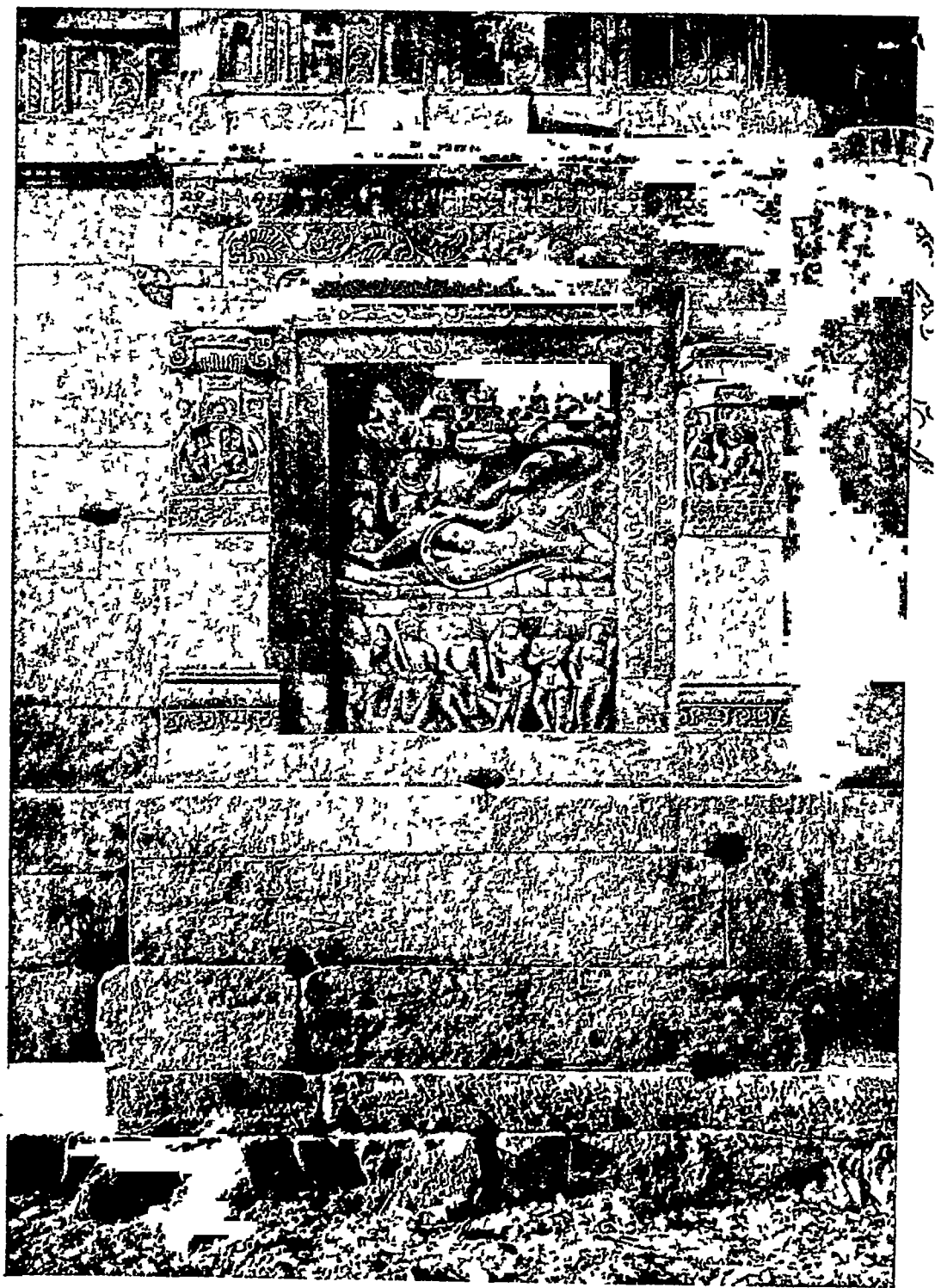
शेषशायी विष्णु

विष्णुमंदिर का दक्षिण दिशा का शिलापट्ट

[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

हुए और उस समय महात्मा वुद्ध ६५ वरस के थे (कल्याणविजय, वीरनिर्वाण सवत् और जैन कालगणना, पृ० ४३)। लका की अनुश्रुति के अनुसार वुद्ध का निर्वाण ८० वर्ष की अवस्था में ई० पू० ५४३-४४ में हुआ और इसलिए महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति ई० पू० ५५८-५९ में हुई। महावीर के केवलज्ञान के तेरह वरस पहले यानी ई० पू० ५७१-७२ में कुणाला की वाढ आई। श्रावस्ती की इस वाढ का ज़िक्र धम्मपद अट्ठकथा में भी आया है। कहते हैं कि अनाथ-पिण्डिक के अठारह करोड रुपये अचिरावती (आधुनिक राप्ती) के किनारे गडे हुए थे। नदी में एक वार वाढ आई और पूरा खज़ाना वह गया (वर्लिगेम, वुधिस्ट लीजेंड्स्, वा० २, पृ० २६८)। खेद की वात है कि प्राचीन श्रावस्ती (आधुनिक सहेट-महेट) की जाँच-पडताल ऊपर ही ऊपर हुई है, खाई खोद कर स्तरो की खोज भी अभी तक नही हुई है। यह जानने की हमें वडी उत्सुकता है कि पाटलिपुत्र की तरह यहाँ भी पुरातत्त्व एक प्राचीन अनुश्रुति का समर्थन करता है अथवा नही। अगर पुरातत्त्व से अनुश्रुति सही निकलती है तो हमें प्राग् मौर्यकाल की एक स्तर का ठीक-ठीक काल मिल जायगा और यह पुरातत्त्ववेत्ताओ के एक वडे काम की वात होगी।

(३)

जैनो का कार्यक्षेत्र विशेषकर विहार, युक्तप्रान्त, दक्षिण तथा गुजरात रहा है। जैन-साहित्य में पजाव का उल्लेख केवल प्रासगिक रूप से आया है। तक्षशिला, जिसका उल्लेख वौद्ध-साहित्य में काफी तौर से आया है, जैन-साहित्य में वहुत कम वार आई है। प्राचीन टीका साहित्य मे तक्षशिला को जैन धम्मचक्र भूमि कहा गया है (वृहत्-कल्पसूत्र, १७७४)। आवश्यक चूर्णि (पृ० १६२, आ० नि० ३२२) में कहा गया है कि ऋषभ देव वहाँ अक्सर चारिका किया करते थे। एक समय वाहुवलि को खवर लगी कि ऋषभ देव वहाँ आये हुए है। उनके दर्शनार्थ वे दूसरे दिन वहाँ पहुँचे, लेकिन ऋषभदेव वहाँ से चल चुके थे। वाहुवलि ने भगवान् के चरण-चिह्नो पर एक धर्मचक्र स्थापित कर दिया।

प्रभावकचरित में मानदेव सूरि की कथा के अन्तर्गत तक्षशिला का वर्णन आया है। कथा हम नीचे उद्धृत करते है, क्योकि उसके कुछ अशो से तक्षशिला की खुदाई की सत्यता पर प्रकाश पडता है

मानदेव सूरि ने युवावस्था मे मुनि प्रद्योतन सूरि से जैन-धर्म की दीक्षा ली। कुछ दिनो मे वे मूल सूत्रो मे निष्णात हो गये और उनके तप से प्रभावित होकर लोगो ने उन्हें आचार्य पद पर अधिष्ठित किया।

उसी समय धर्मक्षेत्र रूप और पाँच सौ चैत्यो मे युक्त तक्षशिला नगरी में भारी उपद्रव उठ खडा हुआ। भयकर रोगो से ग्रस्त होकर लोग अकाल मृत्यु पाने लगे और औषधियाँ रोग-शमन में सर्वदा असमर्थ रही। रोग का इतना वेग वढा कि नगर के वाहर हज़ारो चिताएँ लगने लगी और पुजारियो के अभाव से देव पूजा अटक गई।

श्रावको मे से थोडे वहुत जो वच गये थे इकट्ठा होकर अपने भाग्य को कोसने और देवी-देवताओ की स्वार्थ-परता की आलोचना करने लगे। उनकी यह अवस्था देखकर शासन देवी ने आकर कहा, "आप सन्ताप क्यो करते हैं? म्लेच्छो के प्रचड व्यन्तर ने सव देवी-देवताओ को दूर कर दिया है। ऐसी अवस्था में वतलाइए, हम क्या कर सकते हैं? आज से तीन वर्ष वाद तुरुष्को के हाथ नगर भग हो जावेगा, यह सव समझ कर आप जो चाहें करें, पर मै आपको एक उपाय वताती हूँ जिसे आप सावधान होकर सुनिए, जिससे सघ की रक्षा हो। इस उपद्रव के शान्त होते ही आप हमारी वात मानकर इस नगर को छोडकर दूसरी जगह चले जायँ।"

देवी की वात मानकर श्रावको ने अपनी रक्षा का उपाय पूछा। देवी ने नगर के मकानो को मानदेव के पदधोवन से पवित्र करने की राय दी। उसकी राय में उपद्रव शान्ति का एकमात्र यही उपाय था।

गुरु को वुलाने को वीरदत्त नाम का श्रावक भेजा गया। मानदेव के पास जया विजया नाम की दो देवियो को वैठे देख उसे आचार्य के चरित्र पर कुछ सन्देह हुआ और इसके लिए देवियो ने उसकी काफी लानत-मलामत की। आचार्य ने तक्षशिला जाने से इनकार किया, पर उपद्रव के शमन के लिए कुछ मन्त्र वतला दिये। वीरदत्त ने तक्षशिला वापस आकर लोगो को शान्तिस्तव वतलाया और उसके प्रभाव से कुछ ही दिनो में उपद्रव शान्त हो गया। उसके

वाद लोग अपनी इच्छा से नगर छोडकर दूसरी जगह चले गये । तीन वर्ष बीतने पर तुरुष्को ने इस महा नगरी को नष्ट कर दिया । वहाँ अब तक (१३वी शताब्दी तक) पाषाण तथा पीतल की मूर्तियाँ तहखानो में मिलती है (प्रभावक-चरित, भूमिकालेखक कल्याणविजय जी, पृ० १८४-१८७, भावनगर, १९३०) ।

मुनि कल्याणविजय जी के अनुसार पट्टावलियो में दो मानदेवो का वर्णन है । मानदेव प्रथम २०वे पट्टधर थे और मानदेव दूसरे २८वे पट्टधर थे जो आचार्य हरिभद्र के परम मित्र थे । पट्टावलियो के अनुसार मानदेव प्रथम वीरनिर्वाण सवत् की आठवी शताब्दी मे हुए । अचल गच्छ की वृहत् पट्टावली में मानदेव सूरी को २१वाँ पट्टधर माना गया है और उनका समय ७३१ वीरनिर्वाण सवत् (वि० स० २६१, ई० सन् २०४) दिया है । पट्टावलियो की राय से मानदेव ई० सन् की तीसरी शताब्दी में हुए । लेकिन इन मानदेव सूरी का या इनके अनुयायियो का भाष्यो और चूर्णियो में जिक्र तक नही है (वही, भूमिका, पृ० ७२) ।

तक्षशिला पर तुरुष्को के आक्रमण पर विचार करते हुए मुनि कल्याणविजय जी इस बात की ओर सकेत करते है कि यह घटना मानदेव के जीवन-काल में अर्थात् ई० सन् २०७ के पहले घटी होगी । उनका कहना है कि शायद ससानी राजा आर्देशर ने ही तक्षशिला का नाश किया होगा, पर इसके लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही है (वही, पृ० ७२-७३) । इस लडाई के पहले ही जैनसघ वहाँ से चल दिया और कल्याणविजय जी के मतानुसार ओसवाल जाति तक्षशिला इत्यादि पश्चिम पजाब के नगरो के जैनसघो से निकली हुई है । इस जाति की कई खासियतो को देखते हुए, जिनमें उनका और शाकद्वीपी ब्राह्मणो (सेवकों) का सम्बन्ध भी है, यह कहा जा सकता है कि ओसवालो के पूर्व पुरुष पश्चिम भारत से आये थे ।

तक्षशिला की चढाई का तीसरी शताब्दी के आरम्भ में होने का प्रमाण केवल इस घटना का मानदेव सूरि के समय मे होना ही है। अगर हम मानदेव सूरि की कथा की भली भाँति जाँच-पडताल करें तो उनका तक्षशिला से केवल इतना ही सम्बन्ध देख पडता है कि उन्होने महामारी के शमन के लिए एक शान्तिस्तव भेजा और यह कथा पीछे से भी गढ ली जा सकती है । प्रभावकचरित्र में अनेक स्थल ऐसे है जहाँ पुराना नया सब मिला दिया गया है । पादलिप्ताचार्य की जीवनी में उनकी मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजा कृष्ण प्रथम (सन् ८१४-८७६) से मुलाकात लिखी है (वही पृ० ३५) जो नितान्त असम्भव है । बात यह है कि मुनियों के चरित्र कोई ऐतिहासिक दृष्टिबिन्दु लेकर तो लिखे नही गये थे । इन परम्परागत चरित्रो के अधिकतर मौखिक होने के कारण अगर बाद के बडे-बडे राजाओ के नाम उसमे जुटते गये हो तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नही है। लगता ऐसा है कि बहुत सी ऐतिहासिक अनुश्रुतियाँ किसी शास्त्र विशेष से सम्बन्धित न होकर केवल मौखिक थी । कालान्तर में घटना का समय तो लोगो को भूल गया, पर घटना ज्यो-की-त्यो रही । मुनियों के चरित मे उनका किसी घटनाविशेष से सम्बन्ध दिखला कर उनके अलौकिक गुणो को प्रकाश में लाना था, इसलिए पुरानी अनुश्रुतियो को किसी बाद के आचार्य के नाम के साथ जोड देना कोई ऐसी अनहोनी बात नही है । यह सब कहने का तात्पर्य केवल यही है कि पुरातत्त्व की खुदाई से जो प्रमाण मिले है उनसे तक्षशिला कुषाणो द्वारा ईसा की पहली शताब्दी में नष्ट हुआ और अनुश्रुति इस घटना का समय ईसा की तीसरी शताब्दी मानती है । पुरातत्त्व के प्रमाण अकाट्य है, इसलिए इस घटना का वास्तविक काल ईसा की पहली शताब्दी का अन्त ही मानना ठीक होगा । हाँ, अगर हम कनिष्क के काल को ई० सन् १२७ या उसके पीछे मान लें, जैसा बहुत से विद्वानो ने माना है तो शायद अनुश्रुति की ही बात ठीक रहे, क्योकि अधिकतर पट्टावलियो ने मानदेव को २०वाँ पट्टधर माना है और उनका समय वीरनिर्वाण का आठवाँ सैका है, जो ईसा की दूसरी शताब्दी के अन्त में पडता है ।

अब हमे देखना चाहिए कि तक्षशिला की खुदाई से तक्षशिला नगर का कुषाणो द्वारा नाश होने के प्रश्न पर क्या प्रकाश पडता है, और साथ ही हमें इस बात की भी पडताल करनी चाहिए कि जैनो का तक्षशिला से तथाकथित सम्बन्ध ठीक है या कोरी कल्पना । इस जाँच के लिए हमें तक्षशिला के सिरकप नगर की खुदाई पर विशेष ध्यान देना होगा । सर जान मार्शल के कथनानुसार ई० पू० दूसरी शताब्दी के आरम्भिक वर्षो में इडोग्रीक राजाओ ने नगर

भीड के टीले से हटाकर सिरकप में बसाया और यह नगर बराबर ग्रीक-शक, पह्लव और कुषाण काल तक अर्थात् वेम कदफिस (ई० सन् की पहली शताब्दी के अन्त तक) तक बराबर बसा था (मार्शल, गाइड टु तक्षिला, पृ० ७८, तृतीय सस्करण)। शहरपनाह के अन्दर से जो भग्नावशेष मिले है उनमें ऊपर के दो स्तर तो पह्लव और आरम्भिक कुषाण काल के है (ईसा की पहली शताब्दी)। उनके नीचे तीसरे और चौथे स्तर शक-पह्लव काल के है और उनके भी नीचे पाँचवें और छठे स्तर ग्रीक काल के है (वही, पृ० ७९)। सरकप के राजमार्ग के आसपास कुछ छोटे-छोटे मन्दिर मिले है जिन्हें सर जान मार्शल ने जैन मन्दिर बतलाया है (वही, पृ० ८०)। ब्लाक 'जी' में, जो राजमार्ग के दाहिनी ओर स्थित है, बहुत से बडे मकानो के भग्नावशेष मिले है जिनकी खास विशेषता यह थी कि उनके साथ-साथ निजी छोटे मन्दिर भी बने होते थे। ये मन्दिर सडक की तरफ खुले होते थे जिसमें भक्तों को दर्शन में सुविधा होती थी। ब्लाक 'जी' के एक बडे मकान में, जो ईसा की पहली शताब्दी के मध्य में बना था, एक चैत्य पाया गया है जो सर जान मार्शल के अनुसार जैन-धर्म का है। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में सर जान का कहना है कि इन चैत्य-स्तूपों की बनावट मथुरा के अर्धचित्रो में अकित जैन-स्तूपों से बहुत मिलती-जुलती है (वही, पृ० ८७)। पुरातत्त्व की सहायता से अब हमें मालूम पडता है कि वास्तव में तक्षशिला के सम्बन्ध में जैन-अनुश्रुति ठीक है। एक समय तक्षशिला जैनों का भी एक बडा केन्द्र रहा होगा, इसमें सशय करने की अब गुजाइश नहीं।

ईसा के प्रथम शताब्दी के अन्त मे कुषाणो ने सिरकप पर धावा मारकर उसे तहस-नहस कर दिया और बाद में तक्षशिला का नया नगर सिरसुख मे बसाया। कुषाणो का इस ध्वसात्मक क्रिया का प्रमाण सिरकप की खुदाई मे मिला है। ब्लाक 'डी' मे प्रकठक (Apsidal temple) मन्दिर की पिछली दीवार से सटे हुए एक छोटे कमरे के फर्श मे सोने-चाँदी के बहुत से गहने और बरतन मिले है। सर जान मार्शल का कहना है कि बहुत सम्भव है कि सरकप का यह खजाना तथा और भी बहुत से खजाने, जो खुदाई में मिले है, कुषाणो के नगर पर धावा बोलने पर जल्दी से जमीन मे गाड दिये गये थे (वही, पृ० ९७)।

अब हमें पुन तक्षशिला वाली जैन-अनुश्रुति पर ध्यान देना चाहिए और देखना चाहिए कि उसमें जो दो-तीन बात कही गई है क्या वे इतिहास और पुरातत्त्व के प्रकाश में ठीक बैठती है ? पहली बात जो इस अनुश्रुति मे हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह है तुरुष्को द्वारा तक्षशिला का विध्वस। हमें मालूम है कि पश्चिमी तुरुष्को का राज्य सातवी शताब्दी मे तुखारिस्तान में आया जब तक्षशिला का नगर के रूप में पराभव हो चुका था, क्योंकि सातवी शताब्दी में ही जब युवान च्वाग ने उसे देखा तो अधिकतर बौद्धविहार नष्ट हो चुके थे और बहुत थोडे से महायान बौद्धभिक्षु वहाँ रहते थे (वाटर्स, युवान च्वाग, भाग १, पृ० २४०)। फिर ऐसी गडबड क्यो ? कारण साफ है। तुरुष्क आधिपत्य के समय के लेखको ने तुखार और तुरुष्क शब्दो को एक ही मान लिया है। डा० बागची के अनुसार तुखारो या कुषाणो का देश तोखारिस्तान सातवी शताब्दी में पश्चिमी तुर्कों के हाथ में चला गया। तब यह स्वाभाविक था कि बाद के सस्कृत लेखक तुखारो और तुरुष्कों में गडबड कर बैठें (दी प्रोसीडिंग्स ऑव दी इडियन हिस्टोरिकल काग्रेस, सिक्स्थ सेशन, पृ० ३९)। तेरहवी सदी के अन्त के लेखक प्रभावकचरित के कर्ता प्रभाचन्द्र सूरि का भी इस पुरानी भूल का शिकार हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

दूसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह कि जैन-मूर्तियो का तक्षशिला के भुईंघरो मे तेरहवी शताब्दी तक मिलना। यहाँ भुईंघरों का उल्लेख आने से हमारे सामने फौरन सिरकप के वास्तुशास्त्र की एक विशेषता आ खडी होती है, जिसका विवेचन सर जान मार्शल ने अच्छी तरह किया है। सिरकप के घरो की एक खास विशेषता यह है उनमें से कुछ में घर के एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने के रास्ते है, लेकिन उनमें ऐसे दरवाजों का पता मुश्किल से लगता है जिनमें होकर सडक से या चौक से आदमी भीतर जा सकें। इसका कारण यह है कि मकान ऊँचे अधिष्ठानो पर बनते थे और मकान के खड जो अब दिखलाई देते है या तो नीव का काम देते थे—और ऐसा होने पर वे मिट्टी से भर दिये जाते होंगे—या उनका तहखानो के ऐसा उपयोग होता होगा, जिनमें पहुँचने के लिए ऊपर के कमरों से सीढियाँ लगी होती

मेरु यात्रा कर ली है और अगर देवता सर्वसघ को ले जाने मे असमर्थ है तो वे भी नही जायेंगे। लज्जित होकर देवता ने तत्काल देवो सहित मेरु-मन्दिर वनाने की प्रतिज्ञा की, जहाँ साधु गणसघ के सहित पूजा कर सके। रातोरात देवता ने सुवर्ण का रत्नजटित स्तूप वनाया, जो देवमूर्तियो से और तोरण, माला, ध्वजा, और त्रिछत्र से अलकृत था और तीन मेखलाओ मे विभाजित था। प्रत्येक मेखला मे चारो ओर रत्नजटित देवमूर्तियाँ थी, जिनमें प्रधान मूर्ति सुपार्श्वनाथ की थी। प्रात काल जव नगरवासी जागे तो स्तूप देखकर आपस मे लडने लगे। कुछ ने मूर्ति को वासुकि-लाछन स्वयभूदेव को वतलाया, दूसरो ने शेषशायी नारायण से इसकी तुलना की। औरो ने इसे ब्रह्मा, धरणीन्द्र, सूर्य या चन्द्र वतलाया। वौद्धो ने इसे जैन-स्तूप न मानकर वुद्धमडल (वुद्धउण्ड) माना। वीच-वचाव करने वालो ने लोगो को लडने से रोका और कहा कि स्तूप देवनिर्मित है और वही देव सव की शकाओ का समाधान करेगा। वाद में प्रत्येक मत के अनुयायियो से अपने आराध्य देव के चित्रपट के साथ एक निश्चित समय इकट्ठे होने को कहा गया और यह वतलाया गया कि देव प्रेरित घटना से वही पट वच जायेगा जिस देव की स्तूप में मूर्ति है और वाकी तितर-वितर हो जावेंगे। सव मतो के अनुयायी अपने देवताओ के चित्रपटो के साथ नवमी को इकट्ठा होकर गायन-वादन करते हुए ठहर गये। आधी रात में वडे ज़ोरो का अन्धड वहने लगा, जिससे पट उड गये और लोगो ने चारो ओर भाग कर अपनी जान वचाई। केवल सुपार्श्व का चित्रपट जहाँ-का-तहाँ स्थित रहा। लोगो ने पटयात्रा निकाली। अभिषेक आरम्भ होने पर पहले अभिषेक करने के लिए लोगो में लडाई होने लगी। इस पर वृद्धो ने एक कुमारी कन्या द्वारा एक सन्दूक से नाम निकलवाने की वात कही और यह भी निश्चित किया कि गरीव हो या अमीर जिसका भी नाम पहले निकलेगा वही अभिषेक का अधिकारी होगा। यह घटना दशमी को घटी। एकादशी के दिन मूर्ति का दूध, दही, घी, केशर और चन्दन भरे हज़ारो घट से अभिषेक हुआ। अभिषेक में अलक्ष्य देवो ने भी भाग लिया। वाद मे हज़ारो ने अभिषेक करके मूर्ति की धूप-वस्त्र और अलकारो से पूजा की। साधुओ को वस्त्र, घृत और गुड की भिक्षा दी गई। द्वादशी को मूर्ति को माला पहनाई गई। इस प्रकार साधु धर्मरुचि और धर्मघोष मूर्ति की पूजा करते हुए चातुर्मास वहाँ विताकर अन्यत्र पारणा करके अपने कर्मो को छिन्न करते हुए मुक्ति को प्राप्त हुए और मथुरा उसी दिन से सिद्धक्षेत्र हो गई। साधुओ की मृत्यु से दुखी वह देवी अर्धपल्योपम जीवन विता कर मनुष्य योनि में पैदा हुई और एक पीढी के वाद दूसरी पीढी में जो भी देवियाँ उस स्थान पर आईं कुवेर नाम से सम्वोधित हुई। पार्श्वस्वामी के जन्म तक स्तूप अनावृत पडा रहा। इसी वीच मे मथुरा के राजा ने लालच मे आकर स्तूप को तोड देने की और उसका माल-मता खज़ाने मे दाखिल कर देने की आज्ञा दी। कुल्हाडे ले-लेकर आदमी उसे तोडने लगे, पर उसका कुछ न विगडा, प्रत्युत तोडने वालो को चोटें लगी। इस पर राजा ने स्तूप पर स्वय कुल्हाडा चलाया और कुल्हाडे ने हाथ से फिसल कर राजा का सिर काट दिया। इस पर देवी क्रुद्ध होकर स्वय प्रकट हुई और लोगो को पापी कहकर नष्ट कर देने की धमकी दी। धमकी से डर कर लोगो ने देवता की आरावना की और उसने नाश से वचने का उपाय जिन की आराधना वतलाई। उसी दिन से वृहत्-कल्पसूत्र के अनुसार मथुरा मे घर के आलो मे मगल चैत्य की स्थापना आरम्भ हुई। उस समय से प्रत्येक वर्ष सुपार्श्व के चित्रपट को रथयात्रा होती थी और केवल वही राजा जीवित रह सकता था जो गद्दी चढने पर विना भोजन किये हुए जिन की पूजा करता था। एक समय पार्श्वनाथ विहार करते हुए मथुरा पधारे और सघ को उपदेश देते हुए उन्होने दुषमा काल मे आने वाली कठिनाइयो और विपत्तियो को वताया। अर्हंत के चले जाने पर देवी कुवेर ने सघ को आमन्त्रित करके पार्श्वनाथ की दुषमा काल सम्वन्धी भविष्यवाणी वतलाई, जिसमे आने वाले राजा प्रजा सहित लालची वतलाये गये थे। देवी ने यह भी कहा कि उसका सर्वदा जीवित रह कर स्तूप की रक्षा करना असम्भव था, इसलिए उसने सघ से स्तूप को ईंटो से ढक देने की आज्ञा चाही। सघ के सदस्य वाहर से पार्श्वनाथ की पूजा कर सकते थे और सरक्षिका देवी स्तूप के भीतर थी। महावीर से १३०० वर्षों से भी अधिक समय वाद (करीव ७५० ई० सन्) वप्पभट्टि का जन्म हुआ। उन्होने तीर्थ का जीर्णोद्धार करवाया तथा पूजा की सुविधा के लिए अनेक उपवन, कूएँ और भडार वनवाए। गिरती हुई ईंटो को देखकर उसने जव स्तूप मरम्मत के लिए खोलना चाहा तो देवी ने स्वप्न मे उसे ऐसा

करने से रोका। देवी की वात मानकर उन्होंने स्तूप पर चौकोर पत्थरो का आवरण लगवा दिया। आज दिन तक देव उसमे सुरक्षित है। हज़ारों मूर्तियो, देवकुलो, विहारो और गन्धकुटियो से सुसज्जित यह जिन-भवन चिल्लणिका, अम्बा और क्षेत्रपालो की सरक्षता मे आज दिन भी विद्यमान है।

इस अनुश्रुति की व्यवहारभाष्य वाली अनुश्रुति से तुलना करने पर यह वात साफ हो जाती है कि व्यवहार भाष्य वाली अनुश्रुति विविधतीर्थकल्प की अनुश्रुति से कही अधिक पुरानी है। कुछ खास वातो मे दोनो में भेद भी है। व्यवहारभाष्य मे स्तूप का निर्माण साधुओ को उनकी अहमन्यता का दड देने के लिए हुआ था, लेकिन विविधतीर्थकल्प में उसकी रचना साधुओ को प्रसन्न करने के लिए दिखाई गई है। वाद की अनुश्रुति मे स्तूप के वारे मे भिन्न-भिन्न मतावलम्बियो की आपस की लडाई का विस्तृत वर्णन करके जैनो की अलौकिक शक्ति की मदद से जीत वतलाई गई है। व्यवहारसूत्र में इसका कोई उल्लेख नही है। उसमें तो केवल यही वतलाया गया है कि वौद्धो द्वारा जैन-स्तूप अधिकृत होने पर मदद के लिए दैवीशक्ति का आह्वान किया गया और राजा ने जैनो द्वारा प्रस्तावित एक सीधे-सादे उपाय को मानकर न्याय किया और स्तूप जैनो को लौटा दिया। विविधतीर्थकल्प मे मथुरा के राजा को लालची कहकर उसे स्तूप लूटने की इच्छा रखने वाला वतलाया है और अलौकिक शक्ति द्वारा उसके शिरोच्छेद की भी कथा कही है। प्राचीन अनुश्रुति में इन सव वातो का पता तक नहीं है। विविधतीर्थकल्प में जो वर्णन जैन-स्तूप का है, वह व्यवहार मे नही आता। आगे चलकर हम उसकी उपादेयता दिखलायेंगे।

दिगम्वर आचार्यों ने भी मथुरा के सम्वन्ध में कुछ अनुश्रुतियो का उल्लेख किया है। हरिषेणाचार्य रचित वृहत्कथाकोश मे, जिसका रचनाकाल ९३२ ई० है (देखिए, डा० उपाध्ये, वृहत्कथाकोश, पृ० १२१, वम्वई, १९४३), वैरकुमार की कथा में मथुरा के पचस्तूपों का वर्णन आया है। उनके निर्माण की कथा इस भाँति दी है एक समय मथुरा का राजा पूतिमुख एक वौद्ध आचार्य द्वारा पालित एक रूपवती कन्या को देखकर मोहित हो गया। राजा ने वहुत सी दान-दक्षिणा वौद्ध साधुओ को देकर उस सुन्दरी से विवाह करके उसे पटरानी वना दिया। फाल्गुन शुक्ल अष्टमी को उर्विल्ला रानी ने जैन रथ-यात्रा निकालनी चाही। इस पर ईर्ष्या से अभिभूत होकर वौद्ध पटरानी ने राजा को इस वात पर मना लिया कि वौद्धरथ के वाद जैनरथ निकले। इससे दुखी होकर रानी उर्विल्ला जैन मुनि सोमदत्त के पास पहुँची और जिन के अपमान की वात कह सुनाई। सोमदत्त वैरकुमार के पास पहुँचे और वैरकुमार उन्हें सान्त्वना देकर सीधे अमरावती पहुँचे। वहाँ दिवाकरादि देवो और विद्याधरो ने उनका स्वागत किया। यह पूछने पर कि सव कुशल तो है वैरकुमार ने वतलाया कि मथुरा में जिन-पूजा में किस तरह विघ्न हो गया है। यह सुनकर विद्याधर वडे ही कुपित होकर चल पडे। मथुरा में आकर सोमदत्त आदि मुनियो को उन्होने प्रणाम किया और मथुरान्त प्रदेश और पुर के आकाश में खेचरेश्वर भीषण रूप धारण कर छा गये तथा उन रथो को जिन पर वुद्ध की पूजा हो रही थी नष्ट कर डाला तथा उर्विल्ला का सोने का जडाऊ जैनरथ उन्होने वडे गाजे-वाजे के साथ पुर मे घुमाया तथा चाँदी के जडाऊदार पाँच स्तूप जिनवेश्म के सामने वनाये ('महारजतनिर्माणान् खचितान् मणिनायकैं पचस्तूपान् विधायाग्रे समुच्च-जिनवेश्मनाम्', वही, १२ १३२)। वाद धूप-दीप, पुष्प से नाच-गाकर जिन की पूजा करके विद्याधर स्वर्ग वापस चले गये (वृहत्कथाकोश, १२, १०१-१४३)। जाते हुए वे जिन-पूजा न करने वालो को नष्ट कर देने की धमकी भी देते गये।

सोमदेव सूरी के यशस्तिलक चम्पू मे भी, जिसका समय शक स० ८८१ है (ई० स० ९५९), यह अनुश्रुति प्राय वहुत मामूली हेर-फेर के साथ ज्यों-की-त्यो मिलती है (यशस्तिलक भाग २, पृ० ३१३-३१५, काव्यमाला, वम्वई, १९०३)। इसमें भास्करदेव का वज्रकुमार और देव सेना के साथ मथुरा आना लिखा है और जिनरथ को घुमाकर जिन-प्रतिविम्वाकित एक स्तूप के स्थापना का भी ज़िक्र है। सोमदेव के समय तक उस तीर्थ का नाम देव-निर्मित था ('अत एवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते', वही, पृ० ३१५)।

इन दिगम्वराचार्यो की मथुरा के जैन-स्तूप विषयक अनुश्रुतियो की जाँच-पडताल करने से पता चलता है कि

दोनो अनुश्रुतियाँ स्तूप के देवनिर्मित मानने में एक है। दोनो के अनुसार दिवाकरादि देवो की मदद से स्तूप बना। पर स्तूप एक था या पाँच इसके बारे में हरिषेण और सोमदेव की अनुश्रुतियो में भिन्नता है। हरिषेण स्तूपो की सख्या पाँच मानते है और सोमदेव केवल एक। जान पडता है कि सोमदेव प्राचीन श्वेताम्बर अनुश्रुति की ओर इशारा करते है और हरिषेण उसके बाद की किसी अनुश्रुति की ओर, जब स्तूप एक से पाँच हो गये थे। रायपसेणइय सुत्त में सूर्याभदेव द्वारा जो महावीर-वन्दना तथा स्तूप आदि का उल्लेख है शायद वही इन दोनो अनुश्रुतियो की पृष्ठ-भूमिका है। पचस्तूप कब बने इसका तो कोई वर्णन नही मिलता, पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सबसे पहले इसका पता पहाडपुर से मिले गुप्त सवत् के १५९ वर्ष (ई० स० ४७९) के एक ताम्रपत्र से मिलता है (एपि० इण्डि०, २०, पृ० ५९ से)। इसमें नगर के अधिकरणअधिष्ठान के पास एक ब्राह्मण और उसकी पत्नी द्वारा तीन दीनारो के जमा किये जाने का ज़िक्र है, जिनके द्वारा कुछ ज़मीन खरीद कर उसकी आमदनी से वट-गोहाली विहार की जैन प्रतिमाओ का पूजन हो सके। इस विहार का प्रबन्ध आचार्य गुहनन्दिन् के शिष्य-प्रशिष्य करते थे। आचार्य गुहनन्दिन् काशी के थे और पचस्तूपान्वय थे (वही, पृ० ६०)। ताम्रपत्र के सम्पादक के कथनानुसार गुहनन्दिन् दिगम्बर आचार्य थे। दिगम्बर जैन-सम्प्रदाय के तीन महान् आचार्य वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र मूल-सघ के पचस्तूप नामक अन्वय में हुए है, जो आगे चलकर सेनान्वय या सेनसघ के नाम से विख्यात हुआ। धवला, जयधवला और उत्तरपुराण के आधार पर प० नाथूराम जी प्रेमी का कहना है कि स्वामी वीरसेन और जिनसेन तो अपने वश को पचस्तूपान्वय लिखते है, पर गुणभद्रस्वामी ने उसे सेनान्वय लिखा है, और वीरसेन जिनसेन के बाद अन्य किसी भी आचार्य ने किसी ग्रन्थ मे पचस्तूपान्वय का उल्लेख नही किया है (प्रेमी, जैन-साहित्य और इतिहास, पृ० ४९७, बम्बई, १९४२)। स्वामी वीरसेन का स्वर्गवास प्रेमीजी के अनुसार श० स० ७४५ (सन् ८२३) के लगभग ८५ वर्ष की अवस्था में हुआ (वही, पृ० ५१२)। जिनसेन की मृत्यु उन्होने ९० वर्ष की अवस्था मे श० स० ७६५ (ई० स० ७६३) में मानी है। इन सब प्रमाणो से यह पता चलता है कि पचस्तूपकान्वयवश ईसा की पाँचवी शताब्दी मे विद्यमान था और इसका अन्त ईसा की नवी शताब्दी में हो गया और फिर इसका सेनान्वय नाम पडा। श्रुतावतार के अनुसार, जो पचस्तूपनिकाय से आये, उन मुनियो में किसी को सेन और किसी को भद्र नाम दिया गया और कुछ लोगो के मत से सेन नाम ही दिया गया। अब प्रश्न यह उठता है कि दिगम्बरो का पचस्तूपनिकाय कब से चला? इस प्रश्न के उत्तर के लिए काफी खोज की जरूरत है। मथुरा मे ककाली टीले की खुदाई से मिले बहुत से उत्कीर्ण लेखो से श्वेताम्बर जैन कुल, शाखाओ, गणो और आचार्यो के नाम मिलते है, पर उनमें पचस्तूपान्वय निकाय का कही वर्णन नही है। ई० पू० द्वितीय शताब्दी और उसके बाद, महाक्षत्रपो के राज्यकाल के मिले हुए अभिलेखो से यह सिद्ध हो जाता है कि कम-से-कम ई० पू० २०० तक तो मथुरा में जैनस्तूप बन चुका था (एपि० इडि० २, पृ० १९५-९६)। कुषाण काल के स० ५ से सवत् ९८ तक के तो बहुत से जैन-अभिलेख मिले है, जिनका समय शायद ई० सन् ८३ से लेकर ई० सन् १७६ तक हम मान सकते है (विसेंट स्मिथ जैनस्तूप ऑव मथुरा, पृ० ५), पर इन लेखो से न तो पचस्तूपनिकाय का ही पता चलता है न श्वेताम्बर दिगम्बरो के भेद का ही। स० ७९ मे एक लेख से तो यह भी पता चलता है कि वासुदेव के राज्यकाल तक इस स्तूप का नाम देवनिर्मित था (वही, पृ० १२)। डा० फुहरर का कहना है कि ककाली टीला पर बीच वाला मन्दिर तो श्वेताम्बरो का था, पर दूसरा मन्दिर दिगम्बरो का था, जो वही पर मिले एक लेख के अनुसार वि० स० १०८० या ई० सन् १०२३ तक दिगम्बरो के हाथ में था (वही, पृ० ६)। पर इस कथन में प्रमाणो का सर्वदा अभाव है, क्योकि तथाकथित दिगम्बर मन्दिर से मिले हुए अभिलेख और मूर्तियाँ तथाकथित श्वेताम्बर मन्दिर से मिले हुए मूर्तियो और अभिलेखो से सर्वथा अभिन्न है। इन सब प्रमाणो को देखते हुए तो यही कहना पड़ता है कि जहाँ तक मथुरा का सम्बन्ध है वहाँ तक तो ईसा की दूसरी शताब्दी तक श्वेताम्बरो दिगम्बरो का भेद नही मिलता। हम देख आये है कि दिगम्बर-मत मथुरा के स्तूप को पचस्तूप मानने में एक नही है, सोमदेव उसे देवनिर्मितस्तूप और हरिषेण पचस्तूप मानते है। वास्तव में मथुरा के पुराने स्तूप का नाम देवनिर्मित था। लगता है कि ईसा की दूसरी शताब्दी

के वाद जव जैनधर्म से दिगम्बर श्वेताम्बर शाखाएँ फूटी तो श्वेताम्बर देवनिर्मितस्तूप को ही मानते रहे, लेकिन दिगम्वरो ने मथुरा के किन्ही पाँच स्तूपो को अपना मानकर उनके नाम पर एक निकाय चला दिया और देवनिर्मित-स्तूप की प्राचीन अनुश्रुति को एक नया रग देकर एक देवनिर्मित स्तूप की जगह पांच स्तूप कर दिये। फिर भी सव दिगम्वरो ने इसे न माना, जैसा सोमदेव के यशस्तिलक से मालूम होता है।

अभी तक हम स्तूप सम्वन्धी अनुश्रुतियो की जाँच करते रहे है और उनसे यह पता चलता है कि स्तूप का नाम देवनिर्मित स्तूप था। वाद मे मतान्तर होने पर दिगम्वरो ने उसी स्तूप को या आस-पास के पाँच स्तूपो को पचस्तूप नाम दिया। व्यवहारभाष्य से यह भी पता चलता है कि स्तूप पर वौद्धो ने छ महीने दखल कर लिया था जो वाद मे राजा की न्यायप्रियता से जैनो को लौटा दिया गया। दिगम्वरो की स्तूप सम्वन्धी अनुश्रुतियो से यह ध्वनि निकलती है कि बौद्धो ने जिनपूजा में कुछ गडवड की और राजा भी उनके पक्ष में था। चैत्य की रक्षा इन अनुश्रुतियो के अनुसार देवताओ ने की।

स्तूप सम्वन्धी अनुश्रुतियो की भरपूर जाँच कर लेने के वाद अव हमें देखना चाहिए कि पुरातत्त्व मथुरा के जैनस्तूप पर क्या प्रकाश डालता है। कनिंघम, ग्राउस और फुहरर की खोजो से यह पता चल गया कि मथुरा के दक्खिन-पच्छिम कोने में स्थित ककाली टीला ही प्राचीन काल में मथुरा का जैनस्तूप था, क्योकि वहाँ से स्तूप का भग्नावशेष वहुत सी जैन-मूर्तियाँ, आयागपट्ट और उत्कीर्ण लेख पाये गये। सन् १८९०-९१ की खुदाई में डा० फुहरर को एक टूटी मूर्ति की वैठक पर एक लेख मिला, जिसमे इस वात का उल्लेख है कि श्राविका दिना ने कोट्टियगण और वैरशाखा के अनुयायी आचार्य वृद्धहस्ति की सलाह से अरहत् नन्द्यावर्त की प्रतिमा देवनिर्मित वोद्व स्तूप मे स० ७९ में स्थापित की (स्मिथ, वही, पृ० १२)। इस अभिलेख की विशेषता यह है कि पुरातत्त्व की दृष्टिकोण से देवनिर्मित स्तूप का नाम सवसे पहले इसी लेख में मिलता है और इससे मथुरा के देवनिर्मित जैनस्तूप वाली प्राचीन अनुश्रुति की सचाई की भी पुष्टि होती है। डा० स्मिथ के मतानुसार इस लेख से, जो शायद १५७ ई० के वाद का नही है, यह पता चलता है कि उस समय तक स्तूप इतना अधिक पुराना हो चुका था कि लोग उसके वनाने वाले का नाम भूलकर उसे देवनिर्मित कहन लगे थे। इस वात से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शायद स्तूप ईसा के कई सदियो पहले वना और शायद पुराने से पुराने वौद्धस्तूप के इतना पुराना वह रहा होगा (वही, पृ० १३)। इस स्तूप से श्री० ग्राउस को कई वौद्ध-मूर्तियाँ मिली (ग्राउस, मथुरा, पृ० ११६-११८, तृतीय सस्करण, १८८३) लेकिन ऐसा होना आश्चर्यजनक था, क्योकि ककाली टीला वास्तविक रूप से जैन-स्थान है और ऐसी जगह वौद्ध मूर्तियाँ कैसे आई यह किसी के समझ मे नही आता था, क्योकि बौद्धो और जैनो की धार्मिक प्रतिस्पर्धा वडे प्राचीन काल से चली आई है। डा० वुहलर ने फुहरर के पत्र का हवाला देते हुए लिखा है कि डा० फुहरर ने कंकाली टीला की खुदाई मे कई मतो के धार्मिक चिह्नो को पाया, जिनमे दो जैन मन्दिर और वौद्ध स्तूप थे (जी० वुहलर, वियेना जर्नल, ४, पृ० ३१३-१४)। लगता है कि डा० वुहलर किसी तरह ककाली टीले से मिले हुए ईंट के वडे स्तूप को वौद्ध स्तूप समझ गये, पर वास्तव मे वह जैन है। डा० फुहरर ने डा० वुहलर को जो पत्र लिखा था उसमें वौद्ध स्तूप का जिक्र नही है (वही, पृ० १६९)। डा० वुहलर कथित वौद्ध स्तूप पाये जाने के आधार पर इस सिद्धान्त को पहुँचे कि ककाली टीला के ऊपरी स्तरो से जैन और वौद्ध मूर्तियो का मिलना वहाँ वौद्ध स्तूप का होना सावित करता है। अभाग्यवश डा० फुहरर ने ककाली टीला की खुदाई इतनी अवैज्ञानिक ढग से की है कि यह कहना विलकुल असम्भव है कि वौद्ध मूर्तियाँ टीले के किस भाग से मिली और उनका किसी इमारत विशेष से सम्वन्व था या नही, लेकिन ककाली टीला से मिली हुई वौद्ध मूर्तियो की कम सख्या इस वात को वतलाती है कि कम-से-कम ककाली टीला पर वौद्ध प्रभाव थोडे ही दिनो के लिए था और उस थोडे से समय में या तो वौद्धों ने अपना कोई चैत्य वनवा लिया होगा या जवर्दस्ती किसी जैन चैत्य पर अपना अधिकार जमा कर उसमें वौद्ध मूर्तियाँ वैठा दी होगी। व्यवहारभाष्य की अनुश्रुति से इस भेद का पता साफ-साफ लग जाता है। अनुश्रुति में यह वात स्पष्ट है कि देवनिर्मित स्तूप वौद्धो के कब्जे में छ महीनो तक रहा और बौद्ध

मूर्तियो का वहाँ होना इस कब्जे को साबित करता है। यह घटना कब हुई यह कहना तो कठिन है, लेकिन बुद्ध की मूर्तियो का वहाँ से मिलना ही यह बात सिद्ध करता है कि ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी मे यह घटना घटी होगी, क्योकि इसके पहले बुद्ध की कल्पना बुद्ध से सम्बन्धित पवित्र चिह्नो मे की जाती थी, जैसा कि भरहुत और साँची के अर्धचित्रो से प्रकट है। इस समय की पुष्टि ककाली टीले से मिले हुए छ बौद्ध मूर्तियो के अधिष्ठानो पर अकित लेखो से भी होती है। ये लेख कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के राजत्व काल के है और बोधिसत्व अमोघसिद्धार्थ की मूर्ति ईसा की पहली शताब्दी की है (स्मिथ द्वारा उद्धृत फुहरर, वही, पृ० ३)। जैन स्तूप के पास कुछ गडबडी हुई थी, इसका पता डा० फुहरर के निम्नलिखित बात मे लगता है "एक खम्भा जिस पर शक काल का लेख उत्कीर्ण है एक प्राचीन जिनमूर्ति की पीठ काट कर बनाया गया है। एक दूसरी मूर्ति, जिस पर वैसा ही लेख है, एक अर्ध चित्रित पट को काट कर बनाया गया है जिसके पीछे एक प्राचीन लिपि में लेख है। इन बातो से इस बात की पुष्टि होती है कि शक राजत्व काल के जैन अपने प्राचीन मन्दिर की टूटी-फूटी मूर्तियो का व्यवहार नई मूर्तियो के बनाने मे करते थे। बहुत प्राचीन अक्षरो मे उत्कीर्ण लेख वाले तोरण के मिलने से यह पता चल जाता है कि ईसा पूर्व १५० में भी मथुरा में जैन मन्दिर था" (वही, पृ० ३)। अभाग्यवश अभिलेखो को देकर डा० फुहरर ने यह सिद्ध नही किया है कि वास्तव में पुरानी मूर्तियाँ बनाने वाले जैन थे, वे बौद्ध भी हो सकते है। फुहरर का यह विश्वास कि कुषाण काल के जैन अपनी पुरानी मूर्तियो को काट-छाँट कर नई मूर्तियाँ बनाते थे हमे ठीक नही जँचता, क्योकि स्थापना के बाद टूट-फूट जाने पर भी देव मूर्ति आदर की दृष्टि मे सारे भारत में देखी जाती है और उसका उपयोग दूसरे काल में करना धार्मिक दृष्टि से ठीक नही समझा जाता। जैन-मूर्तियो की तोड-फोड और पुनर्निर्माण का कारण बौद्धो का जैन स्तूप पर दखल हो सकता है।

बबई]

जैन-ग्रंथों में भौगोलि सामग्री और भारतवर्ष में जैन-धर्म प्रसार

श्री जगदीशचन्द्र जैन एम्० ए०, पी-एच० डी०

यह वताने की आवश्यकता नही कि भारतीय पुरातत्त्व की खोज में जैन-ग्रन्थो का, विशेषकर जैन-आगमो और उन पर लिखी हुई टीका-टिप्पणियो का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, यद्यपि सवसे कम अध्ययन शायद इन्ही ग्रन्थो का हुआ है। इन ग्रन्थो में पुरातत्त्व-सम्वन्धी, ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सामाजिक विपुल सामग्री भरी पडी है, जिससे भारत के प्राचीन इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझती है। प्रस्तुत लेख मे हम इन ग्रन्थो की भौगोलिक सामग्री के विषय में चर्चा करेंगे।

प्राचीन भारत मे इतिहास की तरह भूगोल भी एक बडी जटिल समस्या रही है। मालूम होता है कि यह समस्या पूर्व समय में काफी जटिलता धारण कर चुकी थी और यही कारण है कि जव भूगोल-विषयक शकाओ का यथोचित समाधान न हुआ तो अध्यात्म-शास्त्र की तरह भूगोल-शास्त्र भी धर्म का एक अग वन गया और एतद्विषयक ऊहापोह वन्द कर भूगोल को सदा के लिए एक कोठरी मे वन्द कर दिया गया। फल यह हुआ कि भूगोल-विषयक ज्ञान अधूरा रह गया और उसका विकास न हो सका। यह वात केवल जैन-शास्त्रकारों के विषय मे ही नही, वल्कि वौद्ध और ब्राह्मण-शास्त्रकारो के लिए भी लागू होती है।

जैन-मान्यता के अनुसार मध्य-लोक अनेक द्वीप और समुद्रो से परिपूर्ण है। सवसे पहला जम्वूद्वीप है, जो हिमवन्, महाहिमवन्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरिन्, इन छ पर्वतो के कारण भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावतइन सात क्षेत्रो में विभाजित है। उक्त छ पर्वतो से गगा-सिन्धु आदि चौदह नदियाँ निकलती हैं। जम्वूद्वीप को चारो ओर से घेरे हुए लवणसमुद्र है, तत्पश्चात् धातकीखड द्वीप, कालोदसमुद्र, पुष्करवर द्वीप आदि अनगिनत द्वीप और समुद्र हैं, जो एक दूसरे को वलय की तरह घेरे हुए है। सक्षेप में यही जैन-पौराणिक भूगोल है।

दुर्भाग्य से इस पौराणिक भूगोल का उस समय क्या आधार रहा होगा, यह जानने के हमारे पास इस समय कोई साधन नही है। परन्तु छानवीन करने पर इतना अवश्य मालूम होता है कि जिस भूगोल को हम पौराणिक अथवा काल्पनिक कहते है, वह सर्वथा काल्पनिक नही कहा जा सकता। उदाहरण के लिए जैन-भूगोल की नील पर्वत से निकल कर पूर्व समुद्र में गिरने वाली सीता नदी को लीजिए। चीनी लोग इस नदी को सि-तो (Si-to) कहते हैं, यद्यपि यह किसी समुद्र में नही मिलती तथा काशगर की रेती में जाकर विलुप्त हो जाती है। वहुत सम्भव है कि ये दोनो नदियाँ एक हो। वौद्ध-ग्रन्थो के अनुसार भारतवर्ष का ही दूसरा नाम जम्वूद्वीप है। इसी तरह वर्तमान हिमालय का दूसरा नाम हिमवत है जिसका उल्लेख पालि-ग्रन्थो में भी मिलता है। निषध पर्वत की पहचान हिन्दुकुश से की जाती है[1] तथा पूर्व विदेह, जिसे ब्रह्माण्डपुराण में भद्राश्व के नाम से कहा गया है, पूर्वीय तुर्किस्तान और उत्तर चीन का हिस्सा माना जाता है।[2] नायाधम्मकथा के उल्लेखो से मालूम होता है कि हिन्दमहासागर का ही दूसरा नाम लवणसमुद्र था।[3] तथा कुछ विद्वानो के अनुसार मध्य एशिया के एक हिस्से का नाम पुष्करद्वीप था।[4]

---

[1] ज्यॉग्रेफिकल डिक्शनरी, नन्दलाल डे, पृ० १४१

[2] स्टडीज इन इन्डियन ऐन्टिक्विटीज, रायचौधुरी, पृ० ७५-६

[3] देखिए अध्याय ८, ६ और १७

[4] ज्यॉग्रेफिकल डिक्शनरी, पृ० १६३

असल में वात यह हुई कि प्राचीन काल में आजकल की तरह यात्रा के साधन सुलभ न होने से लोगो का भूगोल-विषयक ज्ञान विकसित न हो सका। परन्तु इसके साथ ही श्रद्धालु भक्तों को यह भी समझाना जरूरी था कि हम भूगोल-विज्ञान में भी पीछे नही हैं। इसके अतिरिक्त विविध देश, पर्वत, नदी आदि के ठीक-ठीक मापने आदि के साधन भी प्राचीन काल मे इतने सुलभ न थे। इतना होने पर भी आँखो-देखे स्थानो के विषय में सम्भवत हमारे पूर्व पुरुषो का ज्ञान ठीक कहा जा सकता हो, परन्तु जहाँ अदृष्ट स्थानो का प्रश्न आया वहाँ तो उनकी कल्पनाओ ने खूब उड़ानें मारी, और सख्यात-असख्यात योजन आदि की कल्पनाएँ कर विषय को खूब सज्जित और अलकृत बनाया गया।

इतिहास वताता है कि अन्य विज्ञानो की तरह भूगोल-विज्ञान का भी शनै-शनै विकास हुआ। ज्यो-ज्यो भारत का अन्य देशो के साथ व्यापार-सम्बन्ध बढा और व्यापारी लोग वाणिज्य के लिए अन्य देशो में गये, उन्हें दूसरे देशो के रीति-रिवाज आदि जानने का अवसर मिला और उन्होने स्वदेश लौटकर उस ज्ञान का प्रचार किया। इसी प्रकार धर्मोपदेश के लिए जनपद-विहार करने वाले जैन-श्रमणो ने भी भूगोल-विषयक ज्ञान को बढाया। बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है कि देश-देशान्तर भ्रमण करने से साधुओं की दर्शन-शुद्धि होती है तथा महान् आचार्य आदि की सगति से वे अपने आपको धर्म में अधिक स्थिर और विद्या-मन्त्र आदि की प्राप्ति कर सकते है। धर्मोपदेश के लिए साधु को नाना देशो की भाषा में कुशल होना चाहिए, जिससे वह उन-उन देशो के लोगो को उनकी भाषा में उपदेश दे सके। जनपद-परीक्षा करते समय कहा गया है कि साधु इस बात की जानकारी प्राप्त करे कि कौन से देश में किस प्रकार से धान्य की उत्पत्ति होती है—कहाँ वर्षा से धान्य होते हैं, कहाँ नदी के पानी से होते हैं, कहाँ तालाब के पानी से होते है, कहाँ कुएँ के पानी से होते है, कहाँ नदी की बाढ से होते हैं और कहाँ धान्य नाव में रोपे जाते हैं। इसी प्रकार साधु को यह जानना आवश्यक है कि कौन से देश में वाणिज्य से आजीविका चलती है और कहाँ के लोग खेती पर जीवित रहते हैं तथा कहाँ लोग मास-भक्षण करते है और कहाँ पुष्प-फल आदि का बहुतायत से उपयोग होता है।[1]

जैन-ग्रन्थो से पता चलता है कि देश-विदेशो में जैन-श्रमणो का विहार क्रम-क्रम से बढा। महावीर का जन्म कुडग्राम अथवा कुडपुर (आधुनिक वसुकुड) में हुआ था और उनका कार्यक्षेत्र अधिकतर मगध (विहार) ही रहा है। एक वार महावीर साकेत (अयोध्या) में सुभूमिभाग उद्यान में विहार कर रहे थे। उस समय उन्होंने निम्नलिखित सूत्र कहा—"निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनी साकेत के पूर्व में अग-मगध तक विहार कर सकते हैं, दक्षिण में कौशाम्बी तक विहार कर सकते हैं, पश्चिम में स्थूणा (स्थानेश्वर) तक विहार कर सकते है तथा उत्तर में कुणाला तक विहार कर सकते हैं। इतने ही क्षेत्र आर्यक्षेत्र हैं, इसके आगे नही। इतने ही क्षेत्रो मे साधुओ के ज्ञान-दर्शन और चारित्र अक्षुण्ण रह सकते हैं।"[2] इस उल्लेख से स्पष्ट है कि प्रारम्भ में जैन-श्रमणो का विहार आधुनिक विहार और पूर्वीय और पश्चिमीय सयुक्तप्रान्त के कुछ भागो तक ही सीमित था, इसके बाहर उन्होने पाँव नही बढाया था।

परन्तु कुछ समय पश्चात् राजा सम्प्रति के समय में जैन-श्रमणसघ के इतिहास में एक अद्भुत क्रान्ति हुई और जैन-श्रमण मगध की सीमा छोडकर दूर-दूर तक विहार करने लगे। राजा सम्प्रति नेत्रहीन कुणाल का पुत्र था, जो चन्द्रगुप्त का प्रपौत्र, बिन्दुसार का पौत्र तथा अशोक का पुत्र था। कहते हैं कि जब राजा अशोक पाटलिपुत्र में राज्य करते थे और कुमार कुणाल उज्जयिनी के सूबेदार थे तो अशोक ने कुणाल को एक पत्र लिखा कि "कुमार अब आठ वर्ष के हो गये हैं, इसलिए वे शीघ्र विद्याध्ययन आरम्भ करें (शीघ्रमधीयता कुमार)।" सयोगवश कुणाल की सौतेली

---

[1] १-१२२६-१२३९

[2] बृहत्कल्पसूत्र १.५०

माँ उस समय वहीं बैठी हुई थी। उसने एक सलाई लेकर अपने थूक द्वारा 'अ' के ऊपर अनुस्वार लगा दिया और अब 'अधीयता' के स्थान पर 'अंधीयता' हो गया। पत्र कुणाल के पास पहुँचा। जब उसने खोलकर पढा तो उसमें लिखा था कि कुमार शीघ्र अन्धे हो जायँ (अंधीयतां कुमार)। मौर्यवंश की आज्ञा का उल्लंघन करना अशक्य था। अतएव कुणाल ने तपती हुई एक लोहे की सलाई द्वारा अपनी आँखें आँज लीं और सदा के लिए नेत्रहीन हो गया। कुछ समय पश्चात् कुणाल अज्ञातवेष में पाटलिपुत्र पहुँचा और राजसभा में जाकर यवनिका के भीतर गन्धर्व किया। राजा अशोक कुणाल का गन्धर्व देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने उसे वर माँगने को कहा। कुणाल ने 'काकिणी'[1] के बहाने राज्यश्री की याचना की और अपने पुत्र सम्प्रति को राजगद्दी पर बैठाया। सम्प्रति उज्जयिनी का बड़ा प्रभावशाली राजा हुआ। जैन-ग्रन्थो में सम्प्रति की बहुत महिमा गाई गई है। सम्प्रति आर्य-सुहस्तिन् तथा आर्य-महागिरि का समकालीन था। सम्प्रति के विषय में कहा है कि उसने नगर के चारो दरवाजो पर दानशालाएँ खुलवाई और श्रमणो को वस्त्र आदि देने की व्यवस्था की। उसने अपने रसोइयो को जैन-श्रमणों का भक्त और पान से सत्कार करने का आदेश दिया और प्रात्यन्तिक राजाओ को बुलाकर श्रमणसघ की भक्ति करने को कहा। अवन्तिपति सम्प्रति दड, भट और भोजिक आदि को साथ लेकर रथयात्रा में सम्मिलित होता था और रथ के आगे विविध पुष्प, फल, खाद्य, कौडियाँ और वस्त्र आदि चढाकर अपने को धन्य मानता था। सम्प्रति ने अपने योद्धाओ को शिक्षा देकर साधु के वेष में सीमान्त देशों में भेजा, जिससे इन देशों में जैन-श्रमणो को शुद्ध भक्तपान की प्राप्ति हो सके। इस प्रकार राजा सम्प्रति ने आन्ध्र, द्रविड, महाराष्ट्र और कुडुक्क (कुर्ग) आदि जैसे अनार्य देशो को जैन-श्रमणो के सुखपूर्वक विहार करने योग्य बनाया।[2] इसके अतिरिक्त सम्प्रति के समय से निम्नलिखित साढ़े पचीस देश आर्यदेश माने गये, अर्थात् इन देशों में जैनधर्म का प्रचार हुआ—

देश	राजधानी
१ मगध	राजगृह
२ अग	चम्पा
३ वग	ताम्रलिप्ति
४ कलिंग	कांचनपुर
५ काशी	वाराणसी
६ कोशल	साकेत
७ कुरु	गजपुर
८ कुशार्त्त	सोरिय (शौरिपुर)
९ पाचाल	कापिल्यपुर
१० जागल	अहिच्छत्रा
११ सौराष्ट्र	द्वारवती
१२ विदेह	मिथिला
१३ वत्स	कौशाम्बी
१४ शाडिल्य	नन्दिपुर
१५ मलय	भद्रिलपुर
१६ मत्स्य	वैराट

[1] एक रुपये के अस्सीवें भाग को 'काकिणी' कहते है; यह एक प्रकार का सिक्का था।

[2] बृहत्कल्पसूत्रभाष्य १.३२७५-३२८९

देश	राजधानी
१७ वरणा	अच्छा
१८ दशार्ण	मृत्तिकावती
१९ चेदि	शुक्तिमती
२० सिन्धु-सौवीर	वीतिभय
२१ शूरसेन	मथुरा
२२ भंगि	पावा
२३ वट्टा(?)	मासपुरी
२४ कुणाल	श्रावस्ति
२५ लाढ	कोटिवर्ष
२५½ केकयीअर्ध	श्वेतिका[1]

१ मगध (राजगृह)

मगध एक प्राचीन देश गिना जाता है। इसकी गणना सोलह जनपदों में की गई है। शेष जनपद हैं—अंग, वंग, मलय, मालव, अच्छ, वच्छ, कोच्छ, पाढ, लाढ, वज्जि, मोलि, कासी, कोसल, अवाह(?), और सम्भुत्तर(?)।[2] मगध महावीर और बुद्ध की धर्म-प्रवृत्तियों का मुख्य केन्द्र था। मगध, प्रभास और वरदाम इनकी गणना भारत के प्रधान तीर्थों में की गई है जो क्रम से पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में अवस्थित थे,[3] यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थों में मगध को पापभूमि बताया है। आधुनिक पटना और गया जिलों को प्राचीन मगध कहा जाता है।

मगध की राजधानी राजगृह (आधुनिक राजगिर) थी, जिसकी गणना चम्पा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ति, साकेत, काम्पिल्यपुर, कौशाम्बी, मिथिला और हस्तिनापुर इन प्राचीन राजधानियों के साथ की गई है।[4] राजगृह में महातपोपतीरप्रभव नामक गरम पानी के कुंड के होने का उल्लेख मिलता है। यह कुंड लम्बाई में पांच सौ धनुष था और वैभार पर्वत के पास बहता था।[5] राजगृह व्यापार का बड़ा भारी केन्द्र था और यहां दूर-दूर से लोग माल बेचने और खरीदने के लिए आते थे। राजगृह में महावीर भगवान् के चौदह वर्षावास व्यतीत करने का उल्लेख आता है।[6] प्रसिद्ध नालन्दा विश्वविद्यालय राजगृह के समीप था। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार पाण्डव, गिज्झकूट, वेभार, इसिगिलि तथा वेपुल्ल इन पांच पहाड़ियों से घिरे रहने के कारण राजगृह का दूसरा नाम गिरिव्रज था। इन पांच पहाड़ियों में वैभार और विपुलाचल पहाड़ियों का जैन-ग्रन्थों में विशेष महत्त्व बताया गया है और यहां से अनेक निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों ने तपश्चर्या कर मोक्ष-साधन किया है। मगध की राजधानी होने के कारण राजगृह का दूसरा नाम मगधपुर भी था। मगधाधिपति राजा श्रेणिक (भंभसार) राजगृह में राज्य करता था।

---

[1] बृहत्कल्पसूत्रभाष्य १ ३२६३ वृत्ति।

[2] भगवती १५

[3] ठाणांग ३ १४२; आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ १८६

[4] ठाणांग १० ७१७; निशीथ सूत्र ९ १९

[5] भगवती २ ५ पालि ग्रन्थों में इसका तपोदा के नाम से उल्लेख है (डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्स, मलालसेकर, देखिए 'तपोदा')।

[6] कल्पसूत्र ५ १२३

२ अग (चम्पा)

प्राचीन काल मे अग मगध देश के ही अन्तर्गत माना जाता था। अगलोक की गिनती सिंहल (सीलोन), वब्बर, चिलात लोक, जवणदीव, आरबक, रोमक, अलसन्द (एलेक्जेन्ड्रिया) तथा कच्छ इन देशो के साथ की गई है। कहा जाता है कि भरत-चक्रवर्त्ती ने दिग्विजय के समय इन देशो को जीतकर इन पर अपना अधिकार किया था।[1] भागलपुर तथा मुगेर जिलो को प्राचीन अग माना जाता है।

चम्पा (भागलपुर) अग देश की राजधानी थी, जिसकी गणना दस राजधानियो मे की गई है। प्राचीन भारत में चम्पा एक अत्यन्त सुन्दर और समृद्ध नगर था।[2] यह व्यापार का एक बहुत बडा केन्द्र था और यहाँ वणिक् लोग वडी दूर-दूर से माल खरीदने आते थे। चम्पा के व्यापारी अपना माल लेकर मिथिला, अहिच्छत्रा, पिहुड (चिकाकोल और कलिंगपट्टम का एक प्रदेश) आदि अनेक स्थानो में व्यापार के लिए जाते थे।[3] राजगृह की तरह महावीर ने चम्पा में भी अनेक चतुर्मास किये थे[4] और महावीर के अनेक शिष्यो ने यहाँ विहार किया था। सम्मेद-शिखर की तरह जैन-ग्रन्थो में चम्पा एक पवित्र तीर्थ माना गया है, जहाँ से अनेक निर्ग्रन्थ तथा निर्ग्रन्थिनियो ने मुक्ति पाई।[5] श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् कूणिक (अजातशत्रु) को राजगृह में रहना अच्छा न लगा और उसने चम्पा को अपनी राजधानी वनाया।[6] दधिवाहन चम्पा का दूसरा उल्लेखनीय राजा था। चेटक की कन्या पद्मावती इसकी रानी थी। एक वार कौशाम्बी के राजा शतानीक ने दधिवाहन पर चढाई की और दधिवाहन अपनी रानी और वसुमती नामक कन्या को छोडकर भाग गया। शतानीक का एक ऊँट-सवार वसुमती को कोशाम्बी ले आया और उसे वहाँ के एक समृद्ध व्यापारी के हाथ बेच दिया। आगे जाकर यही वसुमती चन्दनबाला के नाम से प्रसिद्ध हुई, जो महावीर की सर्वप्रथम शिष्या वनी और जो बहुत काल तक जैन-श्रमणियो की अग्रणी रही।[7]

अग-मगध का दूसरा प्रसिद्ध नगर था पाटलिपुत्र अथवा कुसुमपुत्र (पटना)। चम्पा में कूणिक का देहान्त हो जाने के पश्चात् उसके पुत्र उदायी को चम्पा में रहना अच्छा न लगा और उसने पाटलिपुत्र को मगध की राजधानी वनाया।[8] पाटलिपुत्र जैन-श्रमणो का केन्द्र था, जहाँ जैनसूत्रो का उद्धार करने के लिए जैन-साधुओ का प्रथम सम्मेलन हुआ था।[9]

३ वग (ताम्रलिप्ति)

वग (पूर्वीय बगाल) की गणना सोलह जनपदो में की गई है। वग एक वडा व्यापारिक केन्द्र समझा जाता था।

---

[1] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ५२ पृ० २१७; चूर्णि पृ० १९१
[2] औपपातिकसूत्र १
[3] नायाधम्मकहा ८, ६, १५; उत्तराध्ययनसूत्र २१.२
[4] कल्पसूत्र ५.१२३
[5] बृहत्कल्पभाष्य १.१२२७
[6] आवश्यकचूर्णि, २, पृ० १७१
[7] आवश्यक निर्युक्ति ५२० इत्यादि; कल्पसूत्र ५.१३५
[8] आवश्यक चूर्णि, २, पृ० १७९
[9] वही, पृ० १८७

ताम्रलिप्ति (तामलुक) एक व्यापारिक केन्द्र था और यह खासकर कपडे के लिए प्रसिद्ध था।[1] यहाँ जल-मार्ग और स्थलमार्ग दोनो प्रकार से माल आता-जाता था।[2] यहाँ मच्छरो का बहुत प्रकोप था।[3] तामलित्तिया नामक जैन-श्रमणो की एक प्रसिद्ध शाखा थी जिससे मालूम होता हैं कि ताम्रलिप्ति जैन-श्रमणो का केन्द्र रहा होगा।[4]

इसके अतिरिक्त, वगाल में पुंड्रवर्धन (राजशाही ज़िला) जैन-श्रमणो का केन्द्रस्थल रहा है। पुडवद्धणिया नामक जैन-श्रमणो की शाखा का उल्लेख कल्पसूत्र में आता है ।[5] चीनी यात्री हुइनत्साग ने पुड्रवर्धन में वहुत से दिगम्बर निर्ग्रन्थो के पाये जाने का उल्लेख किया हैं ।[6] वगाल का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान कोमला (कोमिला) था। खोमलिज्जिया नाम की शाखा का उल्लेख कल्पसूत्र में मिलता है।[7] इससे मालूम होता है कि यह स्थान प्राचीन समय में काफ़ी महत्त्व रखता था।

४ कलिग (कचनपुर)

कॉलिग (उडीसा)के राजा खारवेल ने अंग-मगध से जिन-प्रतिमा वापिस लाकर यहाँ स्थापित की थी। कलिग की राजधानी कचनपुर (भुवनेश्वर) थी । यह नगर एक व्यापारिक केन्द्र था और यहाँ के व्यापारी लका तक जाते थे।[8] कचनपुर जैन-साधुओं का विहार-स्थल था।[9]

इसके अतिरिक्त कलिग में पुरी (जगन्नाथपुरी) जैनो का खास केन्द्र था। यहाँ जीवन्तस्वामी प्रतिमा होने का उल्लेख जैन-ग्रन्थो में आता है।[10] श्रावको के यहाँ अनेक घर थे। वज्रस्वामी ने यहाँ उत्तरापथ से आकर माहेसरी (माहिष्मती) के लिए विहार किया था। उस समय यहाँ का राजा वौद्धधर्मानुयायी था। वौद्धो का यहाँ ज़ोर था।[11] पुरी व्यापार का एक वडा केन्द्र था, और यहाँ जलमार्ग से माल आता-जाता था।[12] कलिग का दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान तोसलि था। यहाँ महावीर ने विहार किया था। उन्हें यहाँ सात वार पकडा गया, परन्तु यहाँ के तोसलिक क्षत्रिय ने उन्हें छुडा दिया।[13] तोसलि में एक सुन्दर जिनप्रतिमा थी, जिसकी देखरेख तोसलिक नामक राजा किया करता था।[14] यहाँ के लोग फल-फूल के वहुत शौकीन थे।[15] यहाँ वर्षा के अभाव में नदी के पानी से खेती

---

[1] व्यवहारभाष्य ७.६

[2] बृहत्कल्पभाष्य १.१०९०

[3] सूत्रकृतांग टीका ३.१

[4] कल्पसूत्र ८, पृ० २२७ अ।

[5] वही।

[6] युवान च्वांग'स ट्रैवेल्स इन इन्डिया, वाटर्स, जिल्द २, पृ० १८४

[7] कल्पसूत्र ८, पृ० २३१

[8] वसुदेवहिंडी, पृ० १११.

[9] ओघनिर्युक्तिभाष्य ३०

[10] ओघनिर्युक्ति टीका. ११९

[11] आवश्यक निर्युक्ति ७७२; आवश्यक चूर्णि, पृ० ३९०

[12] निशीथ चूर्णि ५, पृ० ३४ (पुण्यविजय जी की प्रति)।

[13] आवश्यक निर्युक्ति ५१०

[14] व्यवहारभाष्य ६.११५ इत्यादि

[15] बृहत्कल्पभाष्य १.१२३९, विशेष चूर्णि ।

होती थी। कभी-कभी यहाँ अत्यधिक वर्षा के कारण फसल नष्ट हो जाती थी और जैन-साधुओं को ताड के फलो पर रहकर गुजर करनी पडती थी।[1] तोसलि में बडी-बडी भयानक भैंसें होती थी। कहते हैं कि एक बार इन्होने तोसलि आचार्य को मार डाला था।[2] डॉक्टर सिल्वेन लेवी कटक में धौलि नामक ग्राम को प्राचीन तोसलि मानते हैं।[3]

५ काशी (वाराणसी)

काशी व्यापार का एक बडा केन्द्र था। काशी और कोशल के अठारह गणराजा वैशाली के राजा चेटक की ओर से कूणिक के विरुद्ध लडे थे।[4] काशी के राजा शंख का उल्लेख जैन-ग्रन्थो में आता है, जो महावीर का समकालीन था और जिसने महावीर के समीप दीक्षा ग्रहण की थी। जैनदीक्षा ग्रहण करने वाले अन्य राजाओ मे वीरागक, वीरयश, सजय, एणेयक, श्वेत (सेय), शिव और उदायन[5] ये राजा मुख्यरूप से गिनाये गये हैं। दुर्भाग्यवश इन राजाओ के विषय में कोई विशेष जानकारी नही मिलती।

वाराणसी (बनारस) पार्श्वनाथ का जन्मस्थान था। महावीर और बुद्ध ने यहाँ अनेक बार विहार किया था। हेमचन्द्र के समय काशी और वाराणसी एक समझे जाते थे।

६ कोशल (साकेत)

कोशल अथवा कोशलपुर (अवध) जैन लोगो का एक प्राचीन स्थान था। जैसे वैशाली में जन्म होने के कारण महावीर को वैशालिक कहा जाता है, वैसे ही ऋषभनाथ को कौशलिक (कोसलिय) कहा जाता है। ऋषभनाथ ने कोशल में विहार किया था और इस देश की गणना भारत के मध्यदेशो में की जाती थी।[6] कोशल का प्राचीन नाम विनीता था। कहते हैं विनीता के निवासी नाना प्रकार की कलाओ में कुशल थे, इसलिए लोग विनीता को कुशला नाम से कहने लगे।[7] दशपुर तथा उज्जयिनी के समान कोशल देश जीवन्तस्वामीप्रतिमा के लिए प्रसिद्ध था।[8] कोशल के लोग सोवीर (एक प्रकार की मदिरा) और कूर (चावल) के बहुत शौकीन होते थे।[9] बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार श्रावस्ति और साकेत ये कोशल की दो राजधानियाँ थी तथा सरयू नदी बीच में आ जाने के कारण यह देश उत्तर कोशल और दक्षिण कोशल में विभक्त था।

साकेत में पार्श्वनाथ और महावीर ने अनेक बार विहार किया था। कहा जाता है कि यहाँ कोटिवर्ष के राजा चिलात को महावीर ने दीक्षा दी थी।[10] साकेत की पहचान उन्नाव ज़िले में साई नदी पर सुजानकोट के ध्वसावशेषो से की जाती है।

---

[1] बृहत्कल्पभाष्य १.१०६०

[2] चूर्णि, पृ० २४७

[3] प्री आर्यन एड ड्रविडियन इन इन्डिया, बागची, पृ० ६३-७२

[4] निरयावलि १

[5] स्थानांग ८.६२१

[6] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ३.७०

[7] टीका (मलयगिरि), पृ० २१४

[8] बृहत्कल्पभाष्य ५.५८२४

[9] पिंडनियुक्ति ६१९

[10] निर्युक्ति १३०५
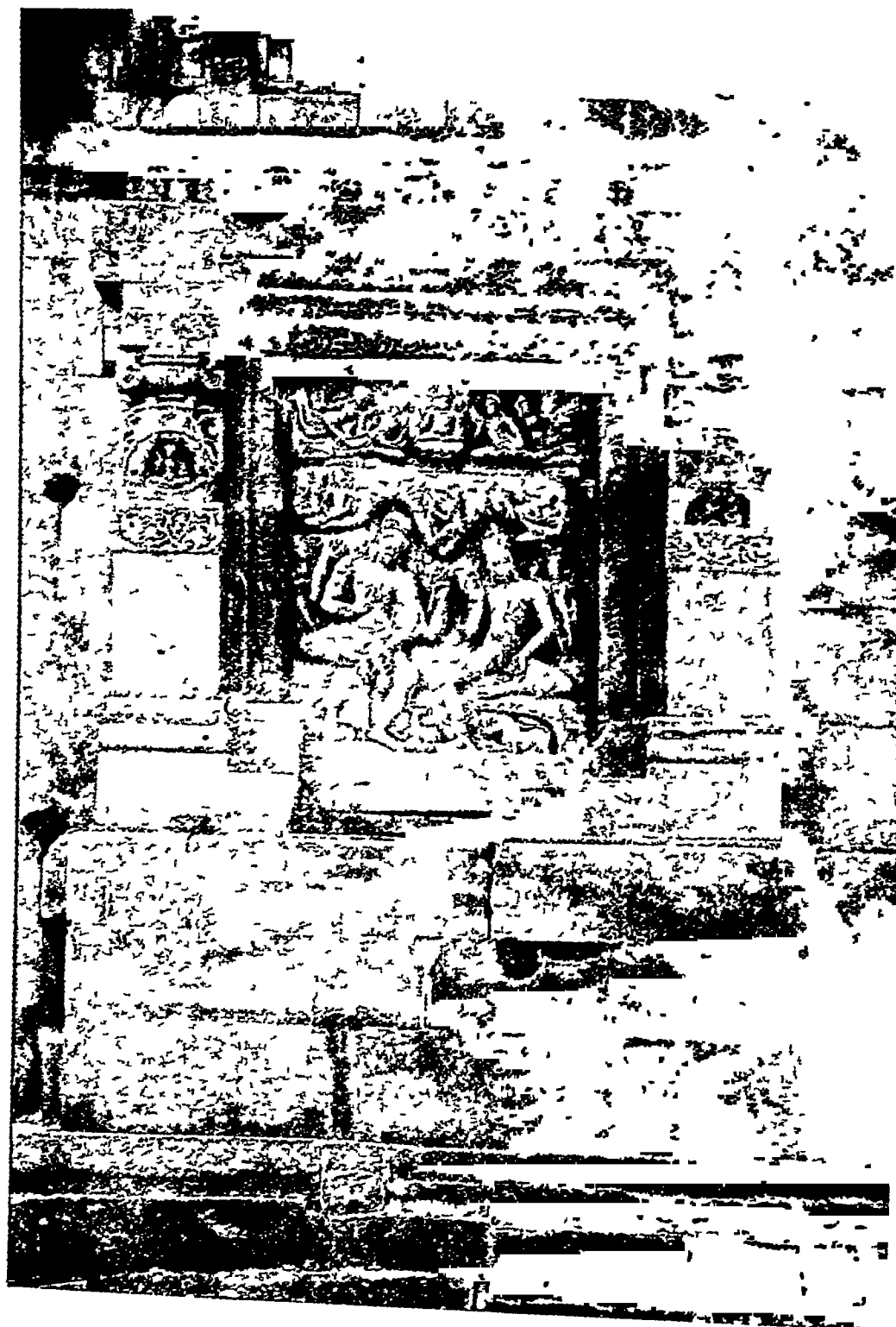
नर-नारायण तपश्चर्या

विष्णुमंदिर का पूर्व की ओर का शिलापट्ट

[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

७ कुरु (गजपुर)

कुरु (थानेश्वर) की राजधानी का नाम गजपुर अथवा हस्तिनापुर था। कहते है कि यहाँ के शिव राजा को महावीर ने दीक्षा दी थी।[1] गजपुर जैन लोगो का एक प्राचीन तीर्थ माना जाता है।

८ कुशार्त्त (शौरिपुर)

आनट्ठ (आनर्त), कुसट्ठ (कुशावर्त), सुरट्ठ (सौराष्ट्र) तथा सुक्करट्ठ (शुष्कराष्ट्र) ये चार प्रदेश पश्चिमी समुद्र के किनारे अवस्थित थे और वारवई (द्वारका) इनका सर्वश्रेष्ठ नगर था।[2] इससे मालूम होता है कि यह प्रदेश पश्चिम में सौराष्ट्र के आसपास कही होना चाहिए। परन्तु सोरिय अथवा शौरिपुर जमुना नदी के किनारे अवस्थित था तथा शौरि राजा ने अपना मथुरा का राज्य अपने लघु भ्राता सुवीर को देकर स्वय कुशावर्त देश में जाकर शौरिपुर नगर वसाया[3] और जरासन्ध के भय से शौरिपुर और मथुरा के यादव लोग अपने-अपने नगर छोडकर पश्चिम दिशा मे द्वारका मे जाकर रहे[4]—इन उल्लेखो से मालूम होता है कि कुशावर्त शूरसेन के आसपास का प्रदेश होना चाहिए। सम्भव है दो कुशावर्त रहे हो—एक पश्चिम में और दूसरा उत्तर में। जैन-ग्रन्थो के अनुसार शौरिपुर कृष्ण और नेमिनाथ की जन्मभूमि है।[5] प्राचीन तीर्थमाला के अनुसार आगरा ज़िले मे शकुरावाद स्टेशन के पास वटेसर नामक गाँव प्राचीन सौर्यपुर माना जाता है।[6]

९ पाचाल (कापिल्यपुर)

पाचाल (रुहेलखड) की राजधानी कापिल्यपुर (कपिल) थी, जो गगा के किनारे अवस्थित थी। प्राचीन काल में पाचाल उत्तर और दक्षिण भागो में विभक्त था। महाभारत के अनुसार उत्तर पाचाल की राजाधानी अहिच्छत्रा थी और दक्षिण की कापिल्य।

१० जागल (अहिच्छत्रा)

जागल या कुरुजागल की पहचान गगा और उत्तर पाचाल के वीच के प्रदेश से की जाती है। इसकी राजधानी अहिच्छत्रा (रामनगर) थी, जो चम्पा के उत्तर-पूर्व (?) (उत्तर-पश्चिम) में अवस्थित थी। चम्पा और अहिच्छत्रा में परस्पर व्यापारिक सम्वन्ध था।[7] अहिच्छत्रा एक पवित्र स्थान था, जिसकी गणना अष्टापद, उज्जयन्त (रेवतक), गजाग्रपुर, धर्मचक्र (तक्षशिला) तथा रथावर्त पर्वत के साथ की गई है।[8] विविधतीर्थकल्प के अनुसार अहिच्छत्रा का दूसरा नाम शखवती था।[9] यह नगरी प्रत्यग्ररथ[10] अथवा शिवपुर[11] नाम से भी प्रसिद्ध थी।

---

[1] भगवती ११ ६
[2] वसुदेवहिंडी, पृ० ७७
[3] कल्पसूत्र टीका ६, पृ० १७१
[4] वही पृ० १७६
[5] उत्तराध्ययन २२
[6] भाग १, भूमिका, पृ० ३८
[7] नायाधम्मकहा १५
[8] आचाराग निर्युक्ति ३३५
[9] वही, पृ० १४
[10] अभिधानचिन्तामणि ४.२६
[11] „ टीका ५.१२३

११ सुराष्ट्र (द्वारका)

सौराष्ट्र (काठियावाड) की गणना महाराष्ट्र, आन्ध्र और कुडुक्क (कुर्ग) देशो के साथ की गई है, जिन्हें सम्प्रति राजा ने जैन-श्रमणो के विहार योग्य बनाया।[1] कहते हैं कि कालकाचार्य यहाँ पारसकूल (पर्शिया) से छियानवें शाहो को लेकर आये और इस कारण यह देश छियानवे मडलो में विभाजित किया गया।[2] सुराष्ट्र व्यापार का एक बडा केन्द्रस्थल था और यहाँ दूर-दूर के व्यापारी माल खरीदने आते थे।[3]

द्वारका एक अत्यन्त सुन्दर और समृद्ध नगर गिना जाता था। इस नगर के उत्तर-पश्चिम मे प्रसिद्ध रैवतक (गिरनार) पर्वत अवस्थित था, जो दशार्ह राजाओ को अत्यन्त प्रिय था। यहाँ अरिष्टनेमि ने मुक्ति पाई थी।[4] कहते हैं कि यादवो के अत्यधिक मदिरापान से द्वारका का नाश हुआ।[5] द्वारका व्यापार का एक बडा केन्द्र था और व्यापारी लोग यहाँ नेपाल पट्टण से नाव द्वारा आते-जाते थे।[6] कुछ विद्वान् आधुनिक द्वारका को द्वारका न मानकर जूनागढ को प्राचीन द्वारका बताते हैं।[7]

१२ विदेह (मिथिला)

विदेह (तिरहुत) में महावीर का जन्म हुआ था। विदेह-निवासी होने के कारण महावीर की माता त्रिशला विदेहदत्ता (विदेहदिन्ना) कही जाती थीं[8] तथा रानी चेलना के पुत्र कूणिक को विदेहपुत्र कहा जाता था।[9] विदेह व्यापार का केन्द्र था।

मिथिला (जनकपुर) मे महावीर द्वारा छ चातुर्मास किये जाने का उल्लेख आता है।[10] मैथिलिया नाम की एक जैन-श्रमणो की प्राचीन शाखा थी।[11] यहाँ आर्य महागिरि का विहार हुआ था।[12] जिनप्रभ सूरि के समय मिथिला नगरी 'जगड' के नाम से प्रसिद्ध थी।[13] बौद्ध-ग्रन्थो के अनुसार वैशाली (बसाढ) विदेह की राजधानी थी और यह मध्यदेश का एक प्रधान नगर माना जाता था। वैशाली लिच्छवी लोगो का केन्द्र था। जैन-ग्रन्थो मे वैशाली का राजा चेटक एक बडा प्रभावशाली राजा हो गया है। वह गणराजाओ का मुखिया था और उसने अपनी सात कन्याओ को विभिन्न राज-घरानो में देकर उनसे सम्बन्ध स्थापित किया था। चेटक की कन्या प्रभावती वीतिभय के राजा उदायन के साथ, पद्मावती चम्पा के राजा दधिवाहन के साथ, मृगावती कौशाम्बी के राजा शतानीक के साथ,

---

[1] बृहत्कल्पभाष्य १-३२८९

[2] वही १ ६४३

[3] दशवैकालिक चूर्णि, पृ० ४०

[4] नायाधम्मकहा ५

[5] अन्तगडदसाओ ५

[6] निशीथ चूर्णि पीठिका (एनसाइक्लोस्टाइल की हुई प्रति), पृ० ६१

[7] इन्डियन हिस्टोरिकल क्वारटर्ली, १९३४, पृ० ५४१-५०

[8] कल्पसूत्र ५.१०९

[9] भगवतीसूत्र ७ ९

[10] कल्पसूत्र ५ १२३

[11] वही, पृ० २३१

[12] आवश्यक निर्युक्ति ७८२

[13] विविधतीर्थ, पृ० ३२

शिवा उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के साथ, ज्येष्ठा महावीर के बडे भाई नन्दिवर्धन के साथ और चेल्लना राजगृह के राजा श्रेणिक के साथ व्याही गई थी। चेटक की बहिन त्रिशला महावीर की माँ थी।[1] महावीर के वैशाली में बारह चातुर्मास किये जाने का उल्लेख कल्पसूत्र में आता है।[2] डॉक्टर हॉर्नले के अनुसार वाणियगाम वैशाली का दूसरा नाम है।[3]

१३ वत्स (कौशांबी)

वत्स को बौद्ध ग्रन्थो में वश के नाम से कहा गया है। प्रयाग के आसपास की भूमि को वत्स देश माना जाता है।

कौशाम्बी (कोसम) जमना के किनारे अवस्थित था। यहाँ महावीर, आर्य सुहस्तिन् और आर्य महागिरि[4] ने विहार किया था। कोसंबिया नामक एक जैन-श्रमणो की प्राचीन शाखा थी।[5] राजा शतानीक कौशाम्बी में राज्य करता था। एक बार उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने कौशाम्बी पर चढाई की। राजा शतानीक अतिसार से मर गया और रानी मृगावती ने प्रद्योत की सलाह से अपने पुत्र उदयन को राजगद्दी पर बैठाकर स्वय महावीर के पास जाकर जैनदीक्षा धारण की।[6]

१४ शाडिल्य (नन्दिपुर)

सडिब्भ अथवा शाडिल्य की राजधानी नन्दिपुर थी। नन्दिपुर का उल्लेख विपाकसूत्र मे मिलता है। कथाकोश के अनुसार सन्दर्भ देश में अवस्थित नन्दिपुर के राजा का नाम पद्मानन बताया गया है।[7] अवध में हरदोई जिले में सडीला नामक एक स्थान है, यह प्राचीन शाडिल्य हो सकता है।

१५ मलय (भद्दिलपुर)

मलय मगध के उत्तर में अवस्थित था और सम्भवत यहाँ कपडे बहुत अच्छे बनते थे।[8] मलय देश की पहचान पटना के दक्षिण और गया के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश मे की जाती है।[9] गया जिले में अवस्थित हरवारिया और दन्तारा गांवो के पास के प्रदेश को भद्रिलपुर माना जाता है।[10]

१६ मत्स्य (वैराट)

मत्स्य (अलवर) की राजधानी वैराट थी। देहली से दक्षिण-पश्चिम की ओर १०५ मील तथा जयपुर से ४१ मील उत्तर मे अवस्थित प्रदेश को वैराट माना जाता है।

---

[1] आवश्यक चूर्णि, २, पृ० १६४ इत्यादि

[2] वही पृ० ५.१२३

[3] उवासकदसा ओ, पृ० ३ नोट

[4] निशीथ चूर्णि, ५, पृ० ४३७

[5] कल्पसूत्र ८, पृ० २२९ अ।

[6] आवश्यक टीका (मलय०), पृ० १०२

[7] टॉनी (Tawney), पृ० १२४

[8] निशीथ चूर्णि ७, पृ० ४६७; अनुयोगद्वारसूत्र ३७

[9] श्रमण भगवान् महावीर, कल्याणविजय, पृ० ३८१

[10] वही, पृ० ३८०

[1] कल्पसूत्र ८, पृ० २३० अ। कल्पसूत्र में वारण के स्थान पर चारण पाठ है, परन्तु यह पाठ अशुद्ध है। देखिए, विएना ओरिएंटियल जरनल, भाग ३, १८८६, पृ० २३४, डॉ० बुहलर का लेख

[2] ज्याग्रफ़िकल कन्टैन्ट्स ऑव दी महामायूरी, डॉ० सिल्वेन लेवी, अनुवादक डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, जरनल ऑव दी यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, जिल्द १५, भाग २

[3] आवश्यक चूर्णि, पृ० ४७६

[4] आवश्यक चूर्णि. पृ० १५६

निशीथ चूर्णि ५. पृ० ३४ (पुण्यविजय जी की हस्तलिखित प्रति)

[5] आचारांग चूर्णि, पृ० २२६

[6] वीर निर्वाण और कालगणना, मुनिकल्याणविजय, पृ० ६०

[7] मरणसमाधि ४७०, ४७२. पृ० १२८; आवश्यक टीका (मलय), पृ० ३६५ अ

[8] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३६४, ४०२

[10] बृहत्कल्पभाष्य १.३२७७

[11] वही, ६.६१०३ इत्यादि

[12] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३६४, ४०३

[13] दशवैकालिक चूर्णि, पृ० ६६

आदि जैन-श्रमणो ने इस नगर में विहार किया था। उज्जयनी व्यापार का बडा केन्द्र था और बडे-बडे व्यापारी लोग यहाँ वाणिज्य के लिए आते थे।[१] आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार यह नगर विशाला, अवन्ति और पुष्प-करण्डिनी नाम से भी प्रख्यात था।[२] प्रद्योत और सम्प्रति उज्जयिनी के बडे प्रभावशाली राजा हो गये है।

१९ चेदि (शुक्तिमती)

चेदि (बुन्देलखड)की राजधानी शुक्तिमती थी। मध्यप्रान्त मे अवस्थित बाँदा ज़िले के पास का प्रदेश शुक्ति-मती माना जाता है। शुक्तिमती का उल्लेख महाभारत में आता है।

२० सिन्धुसौवीर (वीतिभय)

अभयदेव के अनुसार सौवीर देश (सिन्ध) सिन्धु नदी के पास होने के कारण सिन्धुसौवीर कहा जाने लगा।[३] सिन्धु देश में जैन-श्रमणो को विहार करना निषिद्ध कहा गया है। इस देश मे बहुत बाढ आने के कारण खतरा रहता था तथा यह चरिका, परिव्राजिका, कार्पाटिका, तच्चन्निका (बौद्धसाध्वी) तथा भागवी आदि अनेक पाखडी श्रमणियो का निवास-स्थान था। अतएव यह बताया गया है कि यदि दुष्काल, विरुद्ध-राज्यातिक्रम या अन्य किसी अपरिहार्य आपत्ति के कारण जैन-साधु को वहाँ जाना ही पडे तो यथाशीघ्र लौट आना चाहिए।[४] इसके अतिरिक्त इस देश में खान-पान की शुद्धता न थी। यहाँ मास-भक्षण का रिवाज था और उसे निन्दनीय न समझा जाता था। यहाँ के लोग शराब पीते थे और शराब पीने के बरतन से ही पानी पी लिया करते थे।[५] इस देश में फटे-पुराने वस्त्र पहन कर भिक्षा पाना कठिन था। उसके लिए साफ वस्त्रो की आवश्यकता होती थी।[६] जैनसूत्रो से ज्ञात होता है कि राजा सम्प्रति ने सर्वप्रथम इस देश को जैन-श्रमणो के विहार-योग्य बनाया। इसका मतलब यह है कि इसके पूर्व यह देश अनार्य माना जाता था। हमारी समझ से भगवान् महावीर का मगध देश से सिन्धुसौवीर देश में जाकर राजा उदायन को प्रतिबोध देने का जो उल्लेख है, उसका उक्त उल्लेख के साथ मेल न खाने से वह सगत नही मालूम होता। जैसा हम पहले कह आये है, महावीर ने साकेत के पूर्व में अग-मगध तक, दक्षिण में कौशाम्बी तक, पश्चिम में स्थूणा तक और उत्तर में कुणाला तक के प्रदेश को ही आर्यक्षेत्र माना है, फिर उनका सिन्धु-सौवीर जैसे अत्यन्त अनार्य और सुदूरवर्ती प्रदेश में जाना कैसे सम्भावित है? यद्यपि इन देशो के बाहर महावीर ने लाढ जैसे अनार्य देश मे विहार किया है, परन्तु उसका विस्तृत वर्णन जैनसूत्रो में मिलता है और वह प्रदेश विहार के पास बगाल मे ही था। बौद्धो के दिव्यावदान के अन्तर्गत उद्रायण-अवदान में राजा उद्रायण की जो कथा आती है, वह बहुत कुछ जैन-ग्रन्थो की कथा से मिलती-जुलती है। सम्भव है, जैन-ग्रन्थकारो ने उस कथा को अपनाकर जहाँ उदायन की दीक्षा की बात आई वहाँ उसे महावीर के हाथ से दीक्षा दिलवाकर कथा के अवशिष्ट भाग को पूरा किया हो। इसके अतिरिक्त, कल्पसूत्र मे महावीर ने जो बयालीस चातुर्मास व्यतीत किये, उनमें (छद्मस्थ अवस्था में) पहला चातुर्मास अस्थिकग्राम मे, तीन चम्पा और पृष्ठ-चम्पा में, आठ वैशाली और वाणियगाम में, (उपदेशक अवस्था में) चार वैशाली और वाणियगाम मे, चौदह राजगृह और नालन्दा में, छ

---

[१] चूर्णि २, पृ० १५४, निर्युक्ति १२७६

[२] अभिधानचिन्तामणि ४.४२

[३] भगवती टीका १३ ६

[४] बृहत्कल्पभाष्य १.२८८१; ४ ५४४१ इत्यादि

[५] वही १.१२३९

[६] निशीथ चूर्णि १५, पृ० १२१ (पुण्यविजय जी की प्रति)

मिथिला में, दो भद्दिय में, एक आलभिया में, एक पणियभूमि में, एक श्रावस्ती में और एक पावा मे व्यतीत किये है।[१] इस उल्लेख से स्पष्ट मालूम होता है कि महावीर का विहारक्षेत्र विहार, उत्तर-पश्चिमी वगाल और पूर्वीय युक्तप्रान्त का कुछ भाग ही रहा है। ऐसी हालत मे उनका सिन्धुसौवीर देश में जाकर उदायन को प्रतिवोध देना नही जँचता। यदि महावीर मगध से सिन्धुसौवीर गये और वहाँ से वापिस मगध लौटकर आये तो मगध और सिन्धुसौवीर के वीच में कही-न-कही उनके चतुर्मास करने का या विहार करने का तो उल्लेख अवश्य आता, परन्तु इनकी विहारस्थली में सिन्धुसौवीर के आसपास या मगध और सिन्धुसौवीर के मध्य के प्रदेशो का कही उल्लेख नही है। मालूम होता है कि जैसे वौद्ध-ग्रन्थकारो ने आगे चलकर बुद्ध की विहारस्थली मे पजाव आदि प्रदेश समाविष्ट कर लिये, वही वात समय वीतने पर जैन-लेखको ने महावीर के विषय में की। वस्तुत हमारी समझ से ये दोनो महापुरुष विहार, वगाल और सयुक्तप्रान्त के वाहर नही गये।

वीतिभय, जिसका दूसरा नाम कुभारपक्खेव (कुभारप्रक्षेप) भी है, सिन्धुसौवीर की राजधानी था। कहते है कि एक वार जैनदीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उदायन राजर्षि किसी कुम्हार के घर ठहरे हुए थे। उस समय उन्हे उनके भानजे ने विष दे दिया और उनका प्राणान्त हो गया। तत्पश्चात् वहाँ देवो ने धूल की घोर वृष्टि की, जिसके फलस्वरुप कुम्हार के घर को छोडकर समस्त नगर नष्ट हो गया। अतएव इस नगर का दूसरा नाम कुभारपक्खेव पडा।[२] कुभारपक्खेव सिणवल्लि में अवस्थित था। सिणवल्लि एक वडा विकट रेगिस्तान था, जहाँ व्यापारी अक्सर मार्ग-भ्रष्ट हो जाते थे और क्षुधा-तृषा से पीडित हो अनेको को अपने जीवन से हाथ धोना पडता था।[३] पजाव मे मुजफ्फरगढ जिले मे सनावन या सिनावत नामक एक स्थान है, जहाँ की जमीन ऊसर है। सम्भवत यही सिणवल्लि हो अथवा सिन्ध या पजाव का कोई अन्य रेतीला स्थान प्राचीन सिणवल्लि होना चाहिए। अभयदेव के अनुसार कुछ लोग विदर्भ देश को वीतिभय कहते हैं,[४] परन्तु यह ठीक नही।

२१ शूरसेन (मथुरा)

मथुरा के आसपास का प्रदेश शूरसेन कहा जाता था। मथुरा एक अत्यन्त प्राचीन नगरी मानी जाती है, जहाँ जैन-श्रमणो का वहुत प्रभाव था।[५] उत्तरापथ मे मथुरा एक महत्त्वपूर्ण नगर था, जिसके अन्तर्गत छियानवे ग्रामो मे लोग अपने घरो में और चौरायो (चच्चर=चत्वर) पर जिनमूर्त्ति की स्थापना करते थे।[६] मथुरा मे एक देव-निर्मित स्तूप था, जिसके लिए जैन और वौद्धो में झगडा हुआ था। कहा जाता है कि अन्त मे जैनो की जीत हुई और स्तूप पर उनका अधिकार हो गया।[७] मथुरा आर्यमगु[८] और आर्यरक्षित[९] आदि अनेक जैन-श्रमणो का विहार-

---

[१] कल्पसूत्र ५ १२३

[२] आवश्यक चूर्णि २, पृ० ३७

[३] वही, पृ० ३४, ५५३

[४] भगवती टीका १३ ६

[५] उत्तरा० चूर्णि, पृ० ८२

[६] वृहत्कल्पभाष्य १ १७७४ इत्यादि

[७] व्यवहारभाष्य ५ २७ इत्यादि। मथुरा के ककाली टीले की जो खुदाई हुई है, उसके शिलालेखो में गण, कुल, और शाखाओ का उल्लेख है। वह उल्लेख भद्रवाहु के कल्पसूत्र में ज्यो-का-त्यो मिल जाता है। इससे ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में मथुरा में जैनो का काफी जोर था (देखिए आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, भाग ३, प्लेट्स १३-१५, वुहलर, दी इन्डियन सेक्ट ऑव दी जैन्स पृ० ४२-६०, वियना ओरिन्टियल जरनल, जिल्द ३, पृ० २३३-२४०; जिल्द ४, पृ० ३१३-३३१)

[८] आवश्यक चूर्णि २, पृ० ८०

[९] आवश्यक चूर्णि, पृ० ४११

स्थल था। यहाँ अनेक पाखडी साधु रहते थे। अतएव मथुरा को पाखडिगर्भ कहा जाता था।[1] जैनसूत्रो का सस्करण करने के लिए मथुरा में अनेक जैन-श्रमणो का सघ उपस्थित हुआ था। यह सम्मेलन माथुरी वाचना के नाम से प्रसिद्ध है।[2] मथुरा भडीरयक्ष की यात्रा के लिए प्रसिद्ध था।[3] यह नगर व्यापार का बडा भारी केन्द्र था और विशेषकर वस्त्र के लिए प्रसिद्ध था।[4] यहाँ के लोग व्यापार पर ही जीवित रहते थे, खेती-बाडी पर नही।[5] यहाँ स्थलमार्ग से माल आता-जाता था।[6] मथुरा के दक्षिण-पश्चिम की ओर महोली नामक ग्राम को प्राचीन मथुरा बतलाया जाता है।

२२ भग (पापा)

सम्मेदशिखर के आसपास का प्रदेश, जिसमे हजारीबाग और मानभूम जिले गर्भित है, प्राचीन समय में भगदेश कहा जाता था।[7] इसकी राजधानी पापा थी, जो कुशीनारा के पास अवस्थित मल्लो की पापा नगरी से तथा बिहार के पास की महावीर की मोक्षभूमि मज्झिमपावा अथवा पावापुरी से भिन्न है।

२३ वट्टा (माषपुरी)

माषपुरी जैनश्रमणो की एक शाखा थी।[8] इस प्रदेश का ठीक-ठीक पता नही चलता।

२४ कुणाल (श्रावस्ती)

जैन-ग्रन्थो के अनुसार कुणाल नगरी अचिरावती नदी मे बाढ आ जाने के कारण नष्ट हो गई थी,[9] जिसकी पुष्टि बौद्ध-ग्रन्थो से होती है।[10] कहते है कि इस घटना के तेरह वर्ष पश्चात् महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त किया। श्रावस्ती में पार्श्वनाथ के अनुयायी केशिकुमार तथा महावीर के अनुयायी गौतम का सम्मेलन हुआ था, जिसमें पार्श्व और महावीर के सिद्धान्त-सम्बन्धी अनेक प्रश्नो पर चर्चा होने के पश्चात् दोनो धर्मप्रवर्त्तको के सिद्धान्तो में समन्वय किया गया था।[11] महावीर ने अनेक बार श्रावस्ती मे विहार किया। बुद्ध ने भी यहाँ बहुत-सा काल व्यतीत किया था। अचिरावती (राप्ती) नदी के किनारे सहेट-महेट नामक स्थान को प्राचीन श्रावस्ती माना जाता है, जिसका उल्लेख जिनप्रभ सूरि ने अपने विविधतीर्थकल्प में 'महेठि' नाम से किया है।[12]

२५ लाढ (कोडिवरिस)

लाढ अथवा राढ देश दो भागो में विभक्त था—एक वज्रभूमि (वीरभूमि), दूसरा शुभ्रभूमि (सिंहभूम)। महावीर ने इन दोनो प्रदेशो मे विहार किया, जहाँ उन्हें अनेक कष्ट सहन करने पडे थे। लाढ में बहुत अल्प गाँव थे,

---

[1] आचाराग चूर्णि, पृ० १६३
[2] नन्दि चूर्णि, पृ० ८
[3] चूर्णि, पृ० २८०
[4] आवश्यक टीका (हरिभद्र), पृ० ३०७
[5] बृहत्कल्पभाष्य १ १२३९
[6] चूर्णि, पृ० २८१
[7] श्रमण भगवान् महावीर, पृ० ३७९
[8] कल्पसूत्र ८, पृ० २३०
[9] चूर्णि, पृ० ६०१
[10] देखिए श्रावस्ती इन एनशिएन्ट लिटरेचर, [illegible] लॉ, पृ० ३१
[11] उत्तराध्ययनसूत्र २३ ३ इत्यादि
[12] पृ० ७०

अतएव यहाँ महावीर को वसति मिलना भी मुश्किल होता था।[1] वज्रभूमि के निवासी रूक्ष भोजन करने के कारण स्वभावत क्रोधी होते थे और वे महावीर को कुत्तो से कटवाते थे।[2] आधुनिक हुगली, हावडा, वाकुरा, वर्दवान और मिदनापुर के पूर्वीय भाग को प्राचीन लाढ देश वताया जाता है।

कोटिवर्ष जैन-श्रमणो की एक मुख्य शाखा वताई गई है।[3] इससे मालूम होता है कि वाद मे चलकर यह प्रदेश जैन-श्रमणो का केन्द्र वन गया था। यहाँ के राजा चिलात के महावीर द्वारा जैनदीक्षा लिये जाने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। कुछ विद्वान् दीनाजपुर जिले मे वरीगढ को प्राचीन कोटिवर्ष मानते है।[4]

२५½ केकयी अर्ध (श्वेतिका)

केकयी देश के आधे भाग को आर्यक्षेत्रो मे गिना गया है। इससे मालूम होता है कि समस्त केकयी मे जैनधर्म का प्रचार नही हुआ था। यह देश श्रावस्ती के उत्तर-पूर्व मे नैपाल की तराई मे अवस्थित था तथा इसे उत्तर के केकयी देश से भिन्न समझना चाहिए।

श्वेतिका से गगा नदी पार कर महावीर के सुरभिपुर पहुँचने का उल्लेख जैन-ग्रन्थो मे आता है।[5] वौद्धग्रन्थो में इसे सेतव्या नाम से कहा गया है। यह स्थान कोशल में था।[6]

जैन-श्रमणो का प्रवेश नेपाल मे भी हुआ था। इस प्रान्त में भद्रवाहु, स्थूलभद्र आदि जैन-साधुओ ने विहार किया था। नेपाल में रहकर स्थूलभद्र ने भद्रवाहु स्वामी से पूर्वो का ज्ञान प्राप्त किया था।[7] नेपाल में चोरो का भय नही था तथा यहाँ जैन-साधु कृत्स्न वस्त्र धारण कर रह सकते थे।[8] यह स्थान रूँएदार कम्वलो के लिए प्रसिद्ध था।[9]

इन साढे पचीस आर्यक्षेत्रो के अतिरिक्त, अन्य स्थलो मे भी जैन-श्रमण धर्मप्रचार के लिए पहुँचे थे। जैसा पहले कहा जा चुका है, राजा सम्प्रति ने दक्षिणापथ में जैनधर्म का प्रसार किया। जान पडता है कि इसके पूर्व जैनधर्म दक्षिण में नही पहुँचा था। यही कारण है कि उक्त साढे पच्चीस आर्यक्षेत्रो में दक्षिण का एक भी प्रदेश नही आया है। परन्तु जैसा जैन-ग्रन्थो से पता चलता है, कुछ समय वाद दक्षिणापथ जैन-श्रमणो का वडा भारी केन्द्र वन गया था और भिक्षा आदि की सुविधा होने से जैन-साधु इस प्रान्त में विहार करना प्रिय समझते थे।[10] इस प्रान्त में श्रावको के अनेक घर थे।[11] राजा सम्प्रति ने दक्षिणापथ को जीतकर उसके सीमात राजाओ को अपने वश मे किया था।[12] प्राचीन काल में अवन्ति नगरी दक्षिणापथ मे सम्मिलित की जाती थी। गगा के दक्षिण और गोदावरी के उत्तर का हिस्सा दक्षिणापथ कहा जाता है।

---

[1] आवश्यक निर्युक्ति ८४३, आचाराग सूत्र ६ ३
[2] आवश्यक निर्युक्ति ४९२, आचारागसूत्र ९ ३
[3] कल्पसूत्र ८, पृ० २२७ अ
[4] डी लहरे डर जैनास, शूब्रिड् पृ० ३६
[5] आवश्यक निर्युक्ति ४६९
[6] दीघनिकाय, २, पृ० ३२६
[7] आवश्यक चूर्णि २, पृ० १८७
[8] वृहत्कल्पभाष्य ३.३९१२
[9] वही ३ ३८२४
[10] वृहत्कल्पभाष्य १.२६९७
[11] निशीय चूर्णि १५, पृ० ९९६
[12] वृहत्कल्पभाष्य १ ३२७६

दक्षिण भारत के अन्य प्रदेशो में सबसे प्रथम आन्ध्र देश का नाम आता है, जहाँ जैन-श्रमणो ने पहुँच कर अपने धर्म का प्रचार किया था।[1] आन्ध्रदेश की राजधानी धनकटक (बेजवाडा) मानी जाती है। गोदावरी तथा कृष्णा नदी के बीच के प्रदेश को प्राचीन आन्ध्र देश मानते हैं। आन्ध्र के पश्चात् दमिल अथवा द्रविड देश का नाम आता है। इस देश में आरम्भ मे जैन-साधुओ को वसति मिलना बहुत दुर्लभ था। अतएव उन्हें लाचार होकर वृक्ष आदि के नीचे ठहरना पडता था।[2] काचीपुरी (काजीवरम) द्रविड का प्रसिद्ध नगर था, जहाँ का 'नेलक' सिक्का दूर-दूर तक चलता था। काची के दो नेलक कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) के एक-एक नेलक के बराबर होते थे।[3] कवेरीपट्टन द्रविड का एक बन्दरगाह था, जिसकी पहचान मलाबार तट या उत्तर सीलोन से की जाती है। तत्पश्चात् महाराष्ट्र और कुडुक्क देशो का नाम आता है। कुडुक्क आचार्य का व्यवहारभाष्य में[4] उल्लेख मिलता है। इससे पता लगता है कि शनै-शनै कुडुक्क (कुर्ग) जैन-श्रमणो का एक बडा केन्द्र बन गया था। महाराष्ट्र के अनेक रीति-रिवाजो का उल्लेख जैनसूत्रो मे मिलता है। इससे मालूम होता है कि जैन-श्रमणो ने इस प्रान्त मे खूब परिभ्रमण किया था। महाराष्ट्र मे नग्न जैन-साधु अपने लिंग में वेंटक (एक प्रकार की अँगूठी) पहनते थे।[5] महाराष्ट्र का प्रधान नगर प्रतिष्ठान या पोतनपुर (पैठन) गोदावरी के किनारे स्थित था। मालूम होता है कि प्राचीन समय मे यहाँ के राजाओ पर जैनश्रमणो का काफी प्रभाव था। पादलिप्त सूरि ने पइट्ठान के राजा की शिरोवेदना को दूर किया था।[6] कालकाचार्य ने भी इस नगर में विहार किया था। एक बार कालकाचार्य यहाँ उज्जयिनी से पधारे और राजा सातवाहन (शालिवाहन) के कहने पर पर्यूषण पर्व की तिथि पचमी से चतुर्थी कर दी, जिससे इस पर्व में जनता ने भाग लिया। उसी समय से महाराष्ट्र में समणपूय (श्रमणपूजा) नाम का उत्सव प्रचलित हुआ।[7]

उक्त स्थानो के सिवाय दक्षिण भारत में अन्य भी अनेक स्थान थे, जहाँ जैनधर्म का प्रचार हुआ था। उदाहरण के लिए कोकण जैन-श्रमणो का एक विशाल केन्द्र था। इस देश में अत्यधिक वृष्टि होने के कारण जैन-साधु छतरी रख सकते थे।[8] कोकण में मच्छरो का बडा प्रकोप था, जिसके कारण एक जैनसाधु को अपने प्राण खो देने पडे थे।[9] इस देश में बडी भयानक अटवी थी, जिसे पार करते समय जैन-श्रमण-सघ की रक्षा करने के लिए एक साधु को तीन शेर मारने पडे थे।[10] पश्चिमी घाट तथा समुद्र के बीच का स्थल प्राचीन कोकण माना जाता है। कोकण देश में सोप्पारय (सोपारा) व्यापार का बडा केन्द्र था और यहाँ बहुत से बडे-बडे व्यापारी रहते थे।[11] वज्रसेन,[12] आर्यसमुद्र तथा आर्यमगु[13] ने इस प्रदेश में विहार किया था। तत्पश्चात् गोल्ल देश का उल्लेख जैन-ग्रन्थो में अनेक

---

[1] बृहतकल्पभाष्य १ ३२८९
[2] वही ३ ३७४९
[3] वही ३.३८९२
[4] ४.२८३; १, पृ० १२१ अ।
[5] बृहत्कल्पभाष्य १ २६३७
[6] पिंड निर्युक्ति ४९७ इत्यादि
[7] निशीथचूर्णि १०, पृ० ६३२
[8] आचाराग चूर्णि, पृ० ३६६
[9] सूत्रकृताग टीका ३.१
[10] निशीथ चूर्णि पीठिका, पृ० ९०
[11] बृहत्कल्पभाष्य १ २५०६
[12] आवश्यक चूर्णि, पृ० ४०६
[13] व्यवहारभाष्य ६ २४० इत्यादि

स्थलो पर आता है। यहाँ अत्यधिक शीत होने के कारण जैन-साधुओ को वस्त्र धारण करने की अनुमति दी गई थी।[१] श्रवणबेलगोला के शिलालेखो में गोल्ल और गोल्लाचार्य का उल्लेख होने से सम्भवत यह देश दक्षिण मे ही होना चाहिए। गुन्टूर ज़िले मे गल्लरु नदी पर स्थित गोलि प्राचीन गोल्ल देश मालूम होता है। इसके पश्चात् दक्षिण में तगरा नगरी जैन दृष्टि से महत्त्व की है। यहाँ राढाचार्य ने विहार किया था। उनके शिष्य उज्जयिनी से उनसे मिलने यहाँ आये थे।[२] करकण्डूचरिय मे इस नगरी का इतिहास मिलता है। हैद्रावाद रियासत के उस्मानावाद ज़िले मे तेर नामक ग्राम को प्राचीन तगरा माना जाता है। तगरा आभीर देश की राजधानी थी।[३] इस देश में आर्य समित[४] और वज्रस्वामी ने[५] विहार किया था। यहाँ कण्हा (कन्हन) और वेण्णा (वेन) नदियो के बीच में ब्रह्मद्वीप नामक द्वीप था, ज्हाँ पाँचसौ तापस रहते थे। इन तापसो ने जैन-दीक्षा धारण की थी[६] और कल्पसूत्र मे जो वभदीविया शाखा का उल्लेख मिलता है,[७] वह सम्भवत इन्ही श्रमणो द्वारा आरम्भ हुई थी।

गुजरात और कच्छ मे प्राचीन काल मे जैनधर्म का वहुत कम प्रभाव मालूम होता है। भृगुकच्छ (भरोच) को लाट देश का सौन्दर्य माना जाता था। यहाँ आचार्य वज्रभूति का विहार हुआ था।[८] भृगुकच्छ व्यापार का केन्द्र था और यहाँ जल और स्थल दोनो मार्गो से माल आता-जाता था।[९] बाद मे चलकर वलभि (वाला) जैन-श्रमणो का केन्द्र वना और यहाँ देर्वाधगणि क्षमाश्रमण के अधिपतित्व में जैन-आगम-ग्रन्थो का अन्तिम सस्करण तैयार किया गया।[१०] उत्तर गुजरात मे आनन्दपुर (वडनगर) जैन-श्रमणो का केन्द्र था। यहाँ से जैन-श्रमण मथुरा तक विहार किया करते थे।[११] कच्छ मे भी जैन-साधुओ का प्रवेश हुआ था। यहाँ साधु गृहस्थ के साथ ठहर सकते थे।[१२]

इस प्रकार हम देखते है कि जैनधर्म का जन्म विहार प्रान्त हुआ और वही वह फूला-फला। विहार मे जैन-धर्म पटना, विहार, राजगिर, नालन्दा, गया, हज़ारीवाग, मानभूम, मुगेर, भागलपुर, दरभगा, मुज़फ्फरपुर, मोतीहारी तथा सीतामढी आदि स्थानो में होता हुआ नेपाल पहुँचा। तत्पश्चात् उडीसा में कटक, भुवनेश्वर, पुरी आदि प्रदेशो से होकर वगाल मे राजशाही, मुर्शिदावाद, वर्दवान, वाकुरा, हुगली,हावडा, दलभूम, मिदनापुर, तामलुक आदि उत्तर-पश्चिमी ज़िलो में फैलकर कोमिल्ला तक पहुँच गया। इधर पूर्वीय सयुक्तप्रान्त में वनारस, अलाहावाद से आरम्भ होकर अयोध्या, गोरखपुर, गोडा, हरदोई, रामपुर आदि ज़िलो में फैलता हुआ मेरठ, वुलन्दशहर, मथुरा, आगरा आदि सयुक्तप्रान्त के पश्चिमी ज़िलो मे होकर रुहेलखड मे फर्रुखावाद, कन्नौज आदि तक चला गया। उत्तर मे तक्षशिला आदि प्रदेशो में पहुँचा और सिन्ध मे फैला। राजपूताने मे जोधपुर, जयपुर, अलवर आदि प्रदेशो मे इसका प्रचार हुआ। तत्पश्चात् ग्वालियर, झाँसी तथा मध्य भारत मे भेलसा, मन्दसोर, उज्जैन आदि प्रदेशो में फैल गया। इसके बाद

---

[१] आचाराग चूर्णि, पृ० २७४
[२] उत्तराध्ययन टीका २, पृ० २५
[३] वृहत्कथाकोष, डॉ० उपाध्ये, १३८ ३९
[४] आवश्यक टीका (मलय), पृ० ५१४ अ।
[५] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३९७
[६] आवश्यक टीका (मलय) पृ० ५१४ अ।
[७] कल्पसूत्र ८, पृ० २३३
[८] व्यवहारभाष्य ३ ५८
[९] वृहत्कल्पभाष्य १.१०९०
[१०] ज्योतिष्करड टीका, पृ० ४१
[११] निशीथ चूर्णि, ५, पृ० ४३४
[१२] वृहत्कल्पभाष्य १.१२३९, विशेष चूर्णि।

गुजरात में भरोच, वडनगर, खभात, आदि स्थानो मे पहुँच कर काठियावाड मे भावनगर, जूनागढ आदि स्थानो में होता हुआ कच्छ तक चला गया। बरार मे एलिचपुर, महाराष्ट्र, कोकण तथा दक्षिण में हैद्राबाद, मद्रास में बेजवाडा, गुन्टूर, काजीवरम आदि प्रदेशो मे होकर कुर्ग और मलाबार तट तक पहुँच गया। इस तरह जैनधर्म का प्रसार लगभग समस्त हिन्दुस्तान में हुआ। परन्तु जहाँ तक मालूम हुआ है, जैनधर्म ने बौद्धधर्म की नाई हिन्दुस्तान से बाहर कदम नही रक्खा। इसका मुख्य कारण था खान-पान के नियमो की कडाई। महावीर का धर्म त्यागप्रधान होने से जैन-श्रमणो के आचार-विचार में काफी कठोरता रही और इसका परिणाम यह हुआ कि उनमे बहुत काल तक बौद्ध साधुओ की तरह शिथिलता नही आ पाई, जिसके फलस्वरूप जैनधर्म हिन्दुस्तान मे टिका रहा। राजा सम्प्रति के पश्चात् जैन-धर्मानुयायी इतना प्रभावशाली कोई राजा नही हुआ और इसलिए जिस प्रचड वेग के साथ जैनधर्म का प्रसार होना आरम्भ हुआ था, वह वेग अधिक काल तक कायम न रह सका। बारहवी शताब्दी में कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र आचार्य के युग मे गुजरात के राजा कुमारपाल के समय में एक बार फिर से जैनधर्म चमका, परन्तु फिर वह सदा के लिए सो गया। आजकल जैनधर्म अपने उद्भवस्थान विहार और बगाल से लुप्तप्राय हो चुका है। उसके अनुयायी विशेषकर गुजरात, काठियावाड, कच्छ, राजपूताना, सयुक्तप्रान्त तथा दक्षिण के कुछ भाग मे पाये जाते है।

अन्त मे यहाँ कुछ अनार्य देशो के विषय मे भी कह देना उचित होगा। जैन-ग्रन्थों मे अनार्य देशो की कई सूचियाँ आती हैं। दुर्भाग्य से ये सूचियाँ इतनी विकृत हो गई हैं कि आज उन स्थलो का पता लगाना अत्यन्त कठिन हो गया है। इन ग्रन्थो मे लगभग ७५ अनार्य देशो अथवा उन देशो मे रहने वाली जातियो का उल्लेख आता है।[1] उनमे से कुछ प्रदेश निम्नलिखित थे .

बाहल अथवा बाह्लीक देश की राजधानी तक्षशिला थी।[2] कहते हैं कि ऋषभनाथ बहलि, अडम्ब? (अम्बड) और इल्ला नामक अनार्य देशो में विहार करते हुए गजपुर (हस्तिनापुर) पहुँचे।[3] इस देश के घोडे बहुत अच्छे होते थे।[4] इस देश की पहचान बाल्ख से की जाती है, जो बैक्ट्रिया की राजधानी थी। चिलात (किरात) का दूसरा नाम आवाड था। ये लोग उत्तर में रहते थे और प्रासाद, शख, सवारी, दास, पशु, सोना, चाँदी से खूब सम्पन्न थे। चिलात बहुत शक्तिशाली थे और युद्ध की कला में अत्यन्त कुशल थे। कहते हैं, भरत चक्रवर्ती और चिलातो की सेना मे परस्पर सग्राम हुआ, जिसमे चिलात लोग हार गये।[5] जवण (यवन) एक बहुत सुन्दर देश माना गया है, जो विविध रत्न, मणि और सुवर्ण का खजाना था। भरत की दिग्विजय में इस देश का उल्लेख आता है।[6] कबोज देश के घोडे प्रसिद्ध होते थे।[7] काश्मीर के उत्तर में घालछा प्रदेश को प्राचीन कबोज माना जाता है।[8] पारस (पर्शिया) व्यापार का एक बडा केन्द्र था, जहाँ व्यापारी लोग दूर-दूर से व्यापार के लिए आते थे।[9] इस देश मे

---

[1] देखिए भगवती ३.२, प्रश्नव्याकरण, पृ० ४१; प्रज्ञापनासूत्र १ ६४, सूत्रकृताग टीका ५.१, पृ० १२२ अ, उत्तराध्ययन टीका १०, पृ० १६१ अ, प्रवचनसारोद्धार पृ० ४४५, नायाधम्मकहा १, पृ० २१, रायपसेणियसूत्र २१०, औपपातिकसूत्र ३३, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ४३, पृ० १८५; निशीथ चूर्णि ८, पृ० ५२३

[2] आवश्यक चूर्णि, पृ० १८०

[3] वही पृ० १६२

[4] आवश्यक निर्युक्ति ६७९

[5] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ५६, पृ० २३१

[6] आवश्यक चूर्णि, पृ० १९१

[7] रायपसेणियसूत्र १६०

[8] भारतभूमि और उसके निवासी, प० जयचन्द्र विद्यालकार, पृ० १६२

[9] आवश्यक चूर्णि, पृ० ४४८

कालकाचार्य ने विहार किया था, जैसा पहले कहा जा चुका है। इस देश के लोग भैंसो के सींगो की माला बनाते थे।[१] सीहल (सिलोन) में कोंकण देश की तरह समुद्र की लहरों से बाढ नही आती थी।[२] भरत की दिग्विजय में इस देश का उल्लेख आता है।[३] टकण मलेच्छ उत्तरापथ मे रहते थे और वे सोना, हाथीदाँत आदि कीमती वस्तुएँ लेकर दक्षिण देश में व्यापार के लिए जाया करते थे। ये लोग दक्षिण की भाषा नही समझते थे। अतएव माल की कीमत तय करने के लिए उन्हें अनेक इशारो से काम चलाना पडता था[४]। तगणो का उल्लेख महाभारत में आता है। आन्ध्र, द्रविड, कोंकण, महाराष्ट्र, केकय आदि अनार्य देशो के विषय में पहले कहा जा चुका है। इसके अतिरिक्त अवड (—अवष्ठ, पारजिटर के अनुसार अवष्ठ लोग अवाला और सतलज के बीच के प्रदेश में रहते थे),[५] आरवक (यह प्रदेश बलूचिस्तान के उत्तर मे अरविग्रोस नदी पर अवस्थित था),[६] आलसड (एलेक्जेन्ड्रिया),[७] बब्बर (बारवैरिकम या बारवैरिकन),[८] भडग (—भद्रक, यह जाति दिल्ली और मथुरा के मध्य में यमुना नदी के पश्चिम मे रहती थी[९] भुत्तुअ (भोटिय), चीन, चुचुक (डा० सिल्वेन लेवी के अनुसार यह प्रदेश गाजीपुर के पास अवस्थित था),[१०] गन्धार (पेशावर और रावलपिंडी के जिले),[११] हूण, काकविषय, कनक (ट्रावनकोर),[१२] खस (काश्मीर के नीचे वितस्ता घाटी की खाख जाति),[१३] खासिय (आसाम की आदिम जाति),[१४] मुड (छोटा नागपुर की एक जाति), मुरुड (डॉ० स्टाइन कोनोव के अनुसार मुरुड शक का एक प्रकार है जिसका अर्थ होता है स्वामी)।[१५] पक्कणिय (फरघना जो पामीर अथवा प्राचीन कबोज के उत्तर में था),[१६] रमढ (यह प्रदेश गज़नी (जागुड) और बखान के मध्य मे स्थित था),[१७] वोक्कण (वखान) आदि अनार्य देशो का उल्लेख जैन-ग्रथो में मिलता है। इन सब का गवेषणापूर्ण अध्ययन होने से भारत के प्राचीन इतिहास पर काफी प्रकाश पड सकता है।

बम्बई]

---

[१] निशीथ चूर्णि, ७, पृ० ४६४

[२] आचाराग टीका, ६ ३, पृ० २२३ अ।

[३] आवश्यक चूर्णि, पृ० १९१

[४] आवश्यक टीका (मलय), पृ० १४० अ।

[५] मार्कण्डेय पुराण, पार्जिटर, पृ० ३७९

[६] मैकक्रिन्डल्स दी इनवेजन ऑव इन्डिया, पृ० १६७

[७] इन्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, १९३६, पृ० १२१

[८] एन्शिएन्ट ज्यॉग्रफी ऑव इन्डिया, पृ० ६९३

[९] मार्कण्डेय पुराण, पार्जिटर, पृ० ३०९

[१०] मेमोरियल सिल्वन लेवी, १९३७, पृ० २४२-३

[११] ज्यॉग्रफिकल डिक्शनरी, डे, पृ० ६०

[१२] वही, पृ० ८८

[१३] राजतरगिणी, जिल्द २, स्टाइन, पृ० ४३०

[१४] देखिए इम्पीरियल गजेटियर "खासिय" शब्द।

[१५] ट्राइब्स ऑव एन्शिएन्ट इन्डिया, पृ० ९४ नोट

[१६] जरनल ऑव यू० पी० हिस्टोरिकल सोसायटी, जिल्द १६, भाग १, पृ० २८

[१७] वही, जिल्द १५, भाग २, पृ० ४९

हिंदू राजनीति में राष्ट्र की उत्पत्ति

श्री बटकृष्ण घोष एम्० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्

यह आश्चर्य की बात है कि हमारा प्राचीन साहित्य, जिसमे राष्ट्र की व्यवस्था के सम्बन्ध में अनेक लम्बे-चौडे वर्णन मिलते है, इस बातपर प्राय मौन है कि व्यवस्थित समाज की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। कौटिल्य ने भी, जिससे इस सम्बन्ध में बहुत-कुछ आशा थी, इसके बावत कुछ नही लिखा। यद्यपि कौटिल्य के समय मे, जैसा हम अभी देखेंगे, राष्ट्र की उत्पत्ति के विषय मे कुछ मत प्रचलित थे तथापि उसने अपने ग्रथ में किसी का उल्लेख नही किया, क्योकि वह उन बातो पर माथापच्ची करना ठीक नहीं समझता था, जो केवल अनुमान पर आश्रित हो। कौटिल्य ने मत्स्य-न्याय तक का कथन (अर्थ० १, ४) इस दृष्टि से नही किया कि वह उस प्राचीन समाज की दशा सूचित करता है, जब सृष्टि-प्रारम्भ के कुछ समय बाद वैसी परिस्थिति उत्पन्न ही गई थी। उसने मत्स्य-न्याय से यह भाव ग्रहण किया है कि किसी भी राष्ट्र की ऐसी भयावह और अरक्षित दशा हो सकती है, यदि उसकी शासन-विधि कठोर व्यवस्था मे नियमित न की जाय। कौटिल्य, रूसो (Rousseau) के विपरीत, एक यथार्थवादी राजनीतिज्ञ था। अत उसने केवल कल्पना पर आश्रित मतो को महत्त्व नहीं दिया। भारत के अगणित आदर्शवादी तत्त्ववेत्ताओ मे केवल एक व्यक्ति ऐसा मिला है, जिसने अप्रासगिक रूप मे राष्ट्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ बाते दी है, जिन्हें यदि रूसो जान पाता तो वह आनन्द-विभोर हो उठता। वह व्यक्ति वसुबन्धु है, जिसका समय ईसा की पाँचवी शताब्दी है।

सृष्टि सम्बन्धी एक पाडित्यपूर्ण व्याख्या के बीच मे वसुबन्धु[1] एकाएक यह प्रश्न उपस्थित करता है—"क्या सृष्टि-प्रारम्भ के समय मनुष्यो का कोई राजा था ?" इसका उत्तर वह नकार में देता है, क्योकि "सृष्टि के आरम्भ-काल में सभी जीव देव-रूप थे। फिर धीरे-धीरे लोभ और आलस्य के बढने से लोगो ने आराम की वस्तुएँ इकट्ठी करना सीख लिया और सम्मिलित वस्तुओ के भागहारियो ने अपनी क्षेत्र-सम्पत्ति की रक्षा के लिए एक रक्षक रखना शुरू कर दिया।" पौसिन ने जो नीचे का अस्पष्ट श्लोक उद्धृत किया है, उसका उपर्युक्त अर्थ ही सगत जान पडता है—

प्रागासन् रूपिवत् सत्वा रसरागात् तत शनैः।
आलस्यात्सग्रह कृत्वा भागादै क्षेत्रपोभृत.॥

अपने प्राचीन देवतुल्य शान्ति के मार्ग से हटने पर जीवो की अधोगति होने लगी। "तब शनै-शनै पृथिवी-रस की उत्पत्ति हुई, जो मधुस्वादुरस के समान कहा गया है। किसी जीव ने अपने स्वभाव-लौलुप्य के कारण इस रस को सूघा और फिर चखकर उसे खा लिया। इसके बाद अन्य जीवो ने भी ऐसा ही किया। मुख द्वारा उदर-पोषण का यह प्रारम्भिक रूप था। इस प्रकार के पोषण द्वारा कुछ काल बाद जीव-गण पार्थिव तथा शरीर से स्थूल हो गये और उनका प्रकाश-रूप नष्ट होने लगा। अन्त में तमस् का प्रसार हो गया, परन्तु कालान्तर में सूर्य और चन्द्र की उत्पत्ति हुई।"

एक भारतीय मिल्टन के मस्तिष्क पर हमारी पृथिवी पर जीवोत्पत्ति की इस उत्कृष्ट और मनोरजक कहानी को सुनकर कैसा प्रभाव पडता, यह विचारणीय है! किन्तु वसुबन्धु भी, जो एक शुष्क तत्त्वज्ञानी था, ठोस कल्पना के वरदान से बिलकुल वचित न था। आदि देव-रूप जीवों के प्रकाशमान् सुपार्थिव शरीरो का पापस्पर्श के कारण रुधिर और मास के शरीरो के रूप में परिणत होने का तात्त्विक विवेचन करने के बाद वसुबन्धु मानव-समाज की उत्पत्ति

---

[1] देखिए 'ला अभिधर्मकोष द वसुबन्धु', १९२६, पृ० २०२ तथा उसके आगे।

के सम्वन्ध मे एक ऐसे महत्त्वपूर्ण मत का वर्णन करता है, जो रूसो या यूगेल्स (Eugels) के लिए वडा गौरवयुक्त सिद्ध होता। वसुवन्धु ने आगे लिखा कि पार्थिव शरीर वाले वे प्राचीन जीव धीरे-धीरे पार्थिव गुणो से अधिक प्रभावित होने लगे, स्त्री-पुरुष के लिंग-भेद का भी सृजन होने लगा, जिससे काम-सम्वन्धी नियमो की उत्पत्ति हुई। जीवो मे सग्रह की भावना तथा भविष्य के लिए आवश्यक वस्तुओ को वटोर रखने का विचार भी घर करने लगा। पहले तो ऐसा होता था कि प्रात कालीन भोजन के लिए पर्याप्त अन्न सवेरे तथा सायकालीन के लिए उतना ही शाम को एकत्र किया जाता था, परन्तु सृष्टि के एक आलसी व्यक्ति ने भविष्य के लिए भी अन्न जुटाना प्रारम्भ कर दिया और उसका अनुकरण दूसरे भी करने लगे। इकट्ठे करने की इस भावना ने 'अपनेपन' अर्थात् स्वत्व के विचार को उत्पन्न कर दिया।

"स्वत्व या अधिकार की भावना से राष्ट्र की उत्पत्ति अवश्यम्भावी हो गई, क्योकि लोगो ने सारे क्षेत्रो को अपने वीच मे वाँट लिया और हर एक व्यक्ति एक-एक क्षेत्र का स्वामी बन बैठा। परन्तु इसके साथ-साथ लोगो ने दूसरे की भी सम्पत्ति को वलपूर्वक हथियाना शुरू कर दिया। इस प्रकार चोरी का आरम्भ हुआ। इस चोरी को रोकने के लिए लोगो ने मिलकर यह तै किया कि वे किसी मनुष्यविशेष को अपनी-अपनी आय का छठवाँ भाग इसलिए देंगे कि वह उनके क्षेत्रो की रक्षा करे। उन्होने इस पुरुषविशेष का नाम **क्षेत्रप** (क्षेत्रो की रक्षा करने वाला) रक्खा। क्षेत्रप होने के कारण उसे **क्षत्रिय** की उपाधि प्रदान की गई। एक वडे जनसमूह (महाजन) के द्वारा वह वहुत सम्मानित (सम्मत) होने लगा और लोगो का रजन करने के कारण उसकी सज्ञा **राज महासम्मत** हो गई। यही राजवशो की उत्पत्ति का मूलरूप था।"

इस प्रकार वसुवन्धु के मस्तिष्क मे एक विशाल कल्पना का उदय हुआ। किन्तु यह वात नही है कि केवल वसुवन्धु ने ही या सवसे पहले उसी ने राष्ट्र की उत्पत्ति के विषय में कल्पना की हो। इस सम्वन्ध मे शायद सवसे पहले 'महाभारत' (१२, ६७, १७—) मे कुछ विचार पाये जाते हैं, जिसमें कहा गया है कि आरम्भ मे जव कोई शासक नही था तव लोगो की दशा वहुत दयनीय थी, क्योकि आदिम अव्यवस्था के उस युग में प्रत्येक मनुष्य अपने समीप में रहने वाले कमजोर व्यक्ति को उसी प्रकार नष्ट करने की ताक में रहता था, जिस प्रकार पानी मे सवल और कमज़ोर मछलियो की दशा होती है **(परस्पर भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥१७॥)**। यह वात ध्यान देने की है कि 'महाभारत' मे उल्लिखित यह मत्स्यन्याय की दशा किसी आगे आने वाली स्थिति की ओर सकेत नही करती, जैसा कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में कहा है, किन्तु यह उस प्राचीन समाज को सूचित करती है, जिसमें मनुष्य-जाति को वास्तव मे कष्ट था। इसके पहले वाले श्लोक में इस प्रकार का कथन मिलता है कि "यदि पृथिवी पर दड देने वाला राजा न हो तो वलवान् लोग दुर्वलो को उसी प्रकार नष्ट कर दें जिस प्रकार जल में सवल मछलियाँ कमजोरो का भक्षण कर डालती है" **(जले मत्स्यानिवाभक्षयन् दुर्वल वलवत्तरा)**। यदि इस अन्तिम श्लोक का पाठ शुद्ध है और 'अभक्षयन्' शब्द को 'भक्ष' धातु के 'लुड्' लकार का रूप माना जाय तो हमको मत्स्यन्याय के सम्वन्ध में वही स्थिति माननी पडेगी, जो कौटिल्य ने दी है, अर्थात् वह राजनीतिज्ञ शास्त्रकारो की केवल एक ऐसी धारणा सिद्ध होगी कि मत्स्यन्याय की भयावह किन्तु हटाई जाने योग्य दशा भविष्य में किसी भी अनियन्त्रित राष्ट्र की हो सकती है, न कि ऐसी दशा किसी राष्ट्र के विकास में अनिवार्यत पहले रही थी।

अव यह प्रश्न उठता है कि आदिम मनुष्यो ने ऐसी अशान्त स्थिति से कैसे छुटकारा पाया? इसका उत्तर यह दिया गया है कि समाज को नियमित करने के लिए वे सव आपस में इकट्ठे हुए और उन्होने सव को कुछ नियम पालन करने के लिए वाध्य किया **(समेत्यतास्तत चक्रु समयान्)** और यह स्थिर किया कि "जो कोई किसी दूसरे को वाचिक या कायिक कष्ट देगा, दूसरे की स्त्री को छीनेगा या दूसरे के स्वत्व का अपहरण करेगा, उसे हम लोग दड देंगे" **(वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात् पारजायिक, य परस्वमथाऽदद्यात् त्याज्या नस्तादृशा इति, श्लो० १८-१९)**; किन्तु शीघ्र ही इस वात का अनुभव किया गया कि केवल नियम वनाने से ही समाज व्यवस्थित नही हो जाता। उन

नियमो को, जो सर्वसम्मति से स्वीकृत किये गये है, लागू करने के लिए एक शक्ति होनी चाहिए। यह विचार होने पर लोगो ने करुणामय ब्रह्मा के पास जाकर निवेदन किया—"हे भगवन्, एक शासक के अभाव के कारण हम लोग नाश को प्राप्त हो जायँगे। हमारे लिए एक शासक प्रदान करो (**अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वर दिश—श्लो० २०**), जिसके प्रति हम सब लोग अपना सम्मान प्रदर्शित करेंगे और जो हम लोगो का प्रतिपालन करेगा" (**य पूजयेम सम्भूय यश्च न प्रतिपालयेत्—श्लो० २१**)। इस प्रार्थना से द्रवित होकर ब्रह्मा ने मनु से कहा कि वे मर्त्य लोक का शासक होना स्वीकार कर ले, परन्तु मनु को मरणशील जीवो के प्रति कोई सहानुभूति नही थी और साथ ही उन्हें प्रसन्न या सन्तुष्ट रखना एक पहेली थी। उन्होने जवाब दिया—"मै पापकर्मों से बहुत डरता हूँ (और शासन-कर्म में पाप होना निश्चित है)। शासन की बागडोर अपने हाथो में लेना बहुत ही दुष्कर होता है" (**बिभेमि कर्मण पापाद्राज्य हि भृशदुस्तरम्**)। उन्होने यह भी कहा—"मनुष्य-वर्ग के ऊपर राज्य करना तो और भी कठिन है, क्योकि वे सदा मिथ्या-परायण होते है" (**विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा—श्लो० २२**)। इस पर मनु से प्रार्थना करते हुए लोगो ने उन्हे विश्वास दिलाया कि पाप से उनको बिलकुल न डरना चाहिए, क्योकि "पाप का भागी उन्ही लोगो को होना पडेगा, जो उसे करेंगे" (**कर्तृनेव गमिष्यति**)। परन्तु चतुराई से भरा हुआ लोगो का यह विश्वास दिलाना मनु पर असर न कर सका। इसलिए उनके चित्त को दिलासा देने के लिए मनुष्यो ने उन्हें लम्बे-चौडे अधिकार देने के वचन दिये, जिनमे हिन्दू राजाओ के उन सभी अधिकारो का मूल पाया जाता है, जिन्हे राजनीतिशास्त्र में उनकी शक्ति के अन्दर बताया गया है।[1] मनु से लोगो ने प्रतिज्ञा की कि उन्हे जानवरो और सुवर्ण की सम्पत्ति का पचासवाँ हिस्सा और अन्न का छठा हिस्सा दिया जायगा (**पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च, धान्यस्य दशम भागम्—श्लो० २३-२४**)। राजा के विशेषाधिकारो मे जो अन्तिम शर्त थी वह नीचे के (अशुद्ध) पाठ में कथित है **कन्या शुल्के चारुरूपा विवाहेषूद्यतासु च** (श्लो० २४)। नीलकठ ने यही पाठ माना है। उन्होने **विवादेषु ततासु च** पाठ भी दिया है, और उसे प्राच्यो का पाठ कहा है। तीसरा पाठ नीलकठ ने **विवादे द्यूततासु च** दिया है, जिसे हिलब्रेड ने इस अर्थ मे स्वीकार किया है कि यहाँ **विवादे** शब्द **विवादेषु** के लिए आया है (आल्टिडिश्चे पोलिटिक, पृ० १७३)। हिलब्रेड ने सारे वाक्य का अर्थ यह दिया है—'जब दासियो को खरीदने के लिए बाजार में ग्राहक लोग यह पुकार-पुकार कर एक दूसरे के ऊपर बोली बोलते है कि "मै इस लडकी को खरीदता हूँ, मै इस लडकी को खरीदता हूँ", तब राजा के भाग के लिये एक दासी कन्या अलग रख लेनी चाहिए।' परतु नीलकठ ने जो पाठ दिये है, उनमें से किसी का यह अर्थ नही निकलता और हिलब्रेड द्वारा दिया हुआ अर्थ किसी प्रकार युक्तिसगत नही माना जा सकता। उक्त श्लोक का अभिप्राय बहुत प्राचीन काल की रीति से है जब राजा लोगो के लिए भार्याओ तथा दासी कन्याओ के रखने के सम्बन्ध में विशेषाधिकार थे, किन्तु जिस समय 'महाभारत' अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हुआ, उस समय तक उपर्युक्त रीति बिलकुल बन्द हो गई थी। इतना भारतीय राज्यतन्त्र मे राष्ट्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है।

अब नैतिक दृष्टिकोण पर विचार करना है। प्लेटो का यह आदर्शवाद कि राष्ट्र का शासन स्वार्थ-रहित तत्त्वज्ञानियो के हाथ में होना चाहिए, भारतीय राजनीति में भी मिलता है। एक आदर्श भारतीय राज्यप्रणाली मे क्षत्रिय को यज्ञ से बचे हुए अन्न के भक्षण द्वारा जीवन-निर्वाह का आदेश है तथा राजा को शास्त्रार्थ के तत्त्व को जानना अनिवार्य कहा गया है (महाभारत १२-२१-१४—**क्षत्रियो यज्ञशिष्टाशी राजा शास्त्रार्थतत्त्ववित्**), परन्तु इससे अधिक महत्त्व की बात, जो भारतीय राजनीतिज्ञो के मस्तिष्क में थी, वह हॉब्स के मत की तरह अनवरुद्ध युद्ध-नीति थी। अग्रेजी तत्त्वज्ञान के इस बडे प्रचारक ने लिखा है (लेवियथन, १११), "सबसे पहले मै सारी मानव-जाति की

---

[1] देखिए मनुस्मृति, अ० १२, १३०-१३१। कौटिल्य (अर्थ०, प्रकरण ३३) ने भूमि-कर उपज का छठा अश बताया है (पिंडकर षड्भाग)। इतना ही बाद के ग्रन्थो में भी मिलता है। कालिदास के 'रघुवश' से ज्ञात होता है कि बन के मुनियो को भी अपने एकत्रित अन्न का छठा अश कर-स्वरूप देना पडता था।

इच्छा को वताऊँगा। यह इच्छा-शक्ति को अधिक वढाने के लिए निरतर अथकरूप से दूसरो के प्रति युद्ध करते रहना है, जिसका अन्त केवल मृत्यु मे होता है। इस लगातार युद्ध की इच्छा का सदा यह कारण नही होता कि मनुष्य प्राप्त सुख से कही अधिक सुख प्राप्त करने की कामना करता है या कि वह एक निश्चित शक्ति से सन्तोष-लाभ नही कर सकता। किन्तु इसका यह कारण है कि उसे विश्वास नही होता कि किसी निश्चित शक्ति या साधनो से उसका जीवन यथेच्छ सन्तोषमय हो सकता है। इस प्रकार उसे अपनी वर्तमान परिस्थिति से सन्तोष न होकर सदा अधिक-अधिक प्राप्ति की इच्छा वनी रहती है।" इस प्रकार के भाव वाले वाक्य किसी भी काल के सस्कृत-साहित्य में मिल सकते है। आदि-सृष्टि के मनुष्यो का चित्रण उस आदर्श तथा उच्च ढग पर किया हुआ नही मिलता, जैसा कि हम वसुवन्धु मे पाते है। प्राय उनका वर्णन प्राकृतिक रूप से दुष्ट मनुष्यो के रूप में किया गया है, जो सदैव एक-दूसरे का गला काटने के लिए तैयार रहते है, जो केवल दूसरे के द्वारा वदला लिये जाने के भय से ही दूसरे पर अत्याचार करने से रुक सकते है, (महाभारत, १२, १५, ६—**परस्परभयादेके पापात् पाप न कुर्वते**) या फिर दड के डर से ऐसा नही कर सकते (१२, १५, ७—**दण्डस्यैवभयादेके न खादन्ति परस्परम्**)।

इस सम्वन्ध में यह वात विचारणीय है कि यहाँ 'दड' शव्द कम-से-कम प्राचीन साहित्य में, उस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसमें 'लॉ' या 'कानून' शब्द होते है। वह केवल दड देने का सूचक नही है। महाभारत (१२, १५, १०) मे यह साफ-साफ लिखा है कि 'दड' का अर्थ 'मर्यादा' है। राजा इस दड (नियम, कानून) का स्वरूप कहा गया है, जैसा कि महाभारत मे मत्स्यन्याय सम्वन्धी वर्णन से प्रकट होता है, जिसमे दड तथा राजन् शब्द एक-दूसरे के द्योतक सिद्ध होते है (मिलाओ 'महाभारत' १२, १५, ३० और १२, ६७, १६)। यही वात महाभारत में आये हुए एक पाठ-भेद से, जिसका जिक्र ऊपर हो चुका है, सिद्ध होती है (**प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्**—महा०, १२, ६८, ८)।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिशास्त्र में राजा का प्रभुत्व उसके व्यक्तिगत रूप में न माना जाकर शासन-नियमो के सरक्षक के रूप मे स्वीकार किया गया है। क्रिश्चियन (यूरोपीय) राज्यतन्त्र के अनुसार प्रजा राजा की आज्ञाओ का पालन करने के लिए वाध्य है, क्योकि राजा ईश्वर के द्वारा अभिषिक्त होता है, परन्तु प्राचीन भारत के राजनीति-साहित्य मे कही पर भी ऐसा कथन नही पाया जाता, जिससे राजा का ऐसा प्रभुत्व सूचित हो। भारत की राजनीति धर्म-प्रधान थी। वह कभी राजा के अनियन्त्रित अधिकारो के अधीन नही हुई और कम-से-कम राजनैतिक नियम-व्यवस्था में राजा को कभी स्वेच्छाचारी या प्रजा-पीडन का अधिकारी नही घोषित किया गया। मेधातिथि जैसे एक वाद के राजनीतिज्ञ लेखक तक ने यह लिखा है कि धर्म के मामलो में राजा सर्वोच्च नही है (मनुस्मृति, ७, १३ पर टीका)। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय सामाजिक जीवन में धर्म का क्षेत्र वहुत व्यापक है। अत इस बात में कोई आश्चर्य न मानना चाहिए कि राजा को इस देश में वह ईश्वर-तुल्य पूज्य-भाव नही दिया गया, जो रोम में पाया जाता है। इतना ही नही, भारत के प्राचीन साहित्य में कुछ ऐसे भी कथन है, जिनमें प्रजा को इतना तक अधिकार दिया गया है कि वह कर्तव्यविमुख राजा को हटा सकती है। रामायण (३, ३३, १६) में यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि यदि राजा दुराचारी है तो उसके स्वजनो द्वारा ही उसका वध कर देना विहित है।

कलकत्ता]
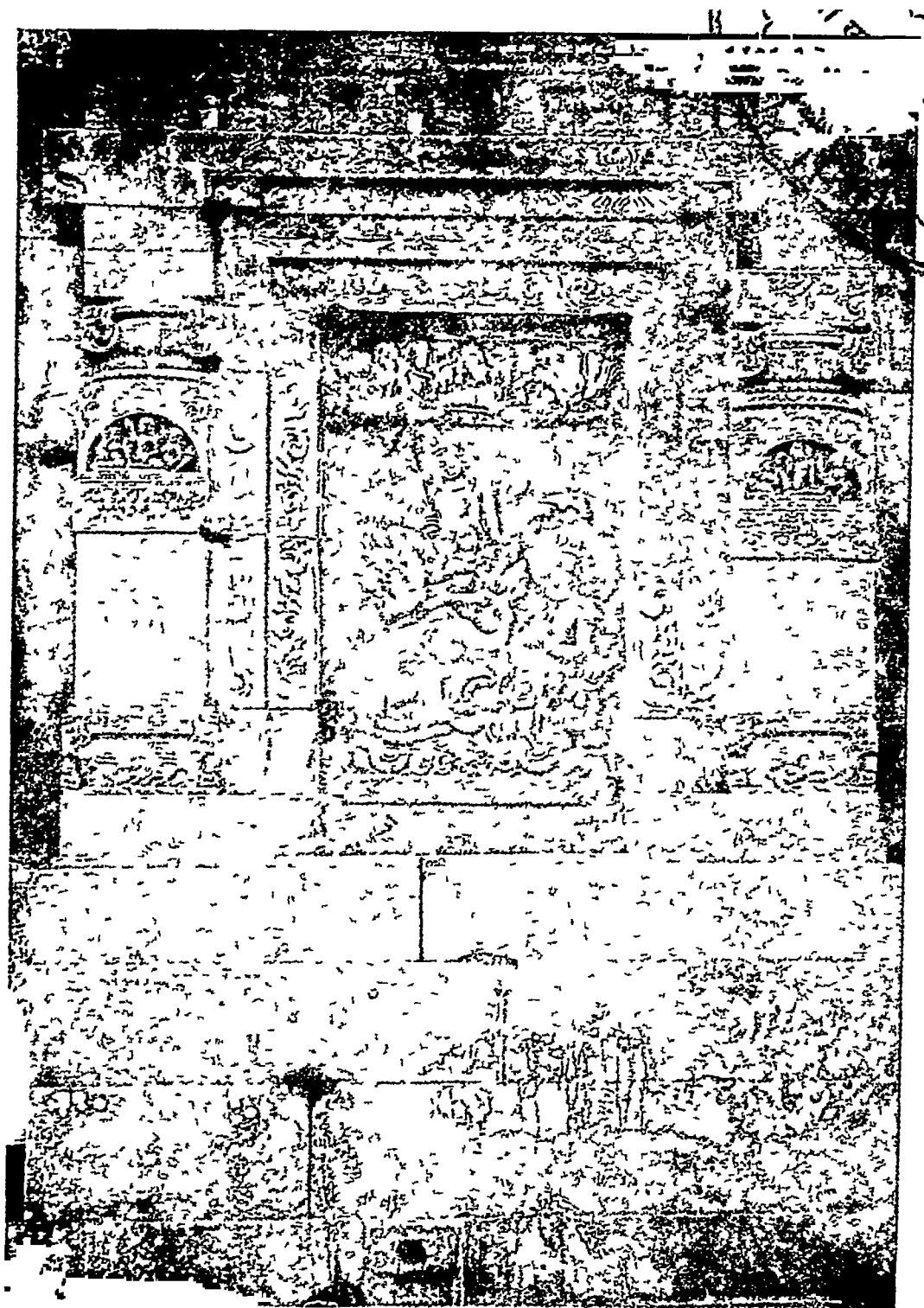
गजेन्द्र-मोक्ष

विष्णु मंदिर का उत्तर की ओर का शिलापट्ट

[पुरातत्त्व विभाग के सौजन्य से

इतिहास का शिक्षण

प्रो० रसिकलाल छोटालाल पारीक

शिक्षण क्रम मे किसी भी विषय पर विचार करते समय इस बात पर ध्यान रखना होता है कि वह विषय विद्यार्थी को क्या सिखलाता है और उसे किस तरह के मनोव्यापार मे अभ्यस्त बनाता है। सिखलाने से अधिक महत्त्व की बात यह है कि वह विद्यार्थी में किस प्रकार के सस्कारो को जन्म देता है। शिक्षण-शास्त्र के इस सिद्धान्त को इतिहास मे स्वीकार करने पर प्रश्न उठता है कि इतिहास में शिक्षणीय क्या है और उससे किस प्रकार के मानसिक सस्कारो का निर्माण होता है ?

विद्यार्थी बचपन मे ही कहानी सुनता है। अपने शिक्षण-क्रम मे भी उसे कथा-कहानी पढनी पडती है। उन्हे पढकर उनके कथानक की सत्यता में विद्यार्थी का विश्वास हो जाता है। यदि उसकी निमग्नता में व्याघात करने वाली कोई घटना आ जाती है तो वह अवश्य कुछ सोचने लग जाता है, अन्यथा यदि कथा की परी उसे प्रसन्न करने में सफल होती है तो फिर वह कैसे ही विकट और दुर्गम गढ मे क्यो न बद हो, उसका अस्तित्व स्वीकार करने मे विद्यार्थी को आपत्ति नही होती। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ तक भावना की अनुकूलता सुरक्षित रहती है वहाँ तक मन को विघ्न नही मालूम होता और कथानक की यथार्थता की जाँच-पडताल की अपेक्षा नही होती। साहित्य और कलाओ का शिक्षण विद्यार्थी मे ऐसी ही मनोवृत्ति उत्पन्न करता है। इस प्रकार के अभ्यस्त छात्रो को इतिहास की शिक्षा देने के लिए कथा-पद्धति का उपयोग किया जाता है। यहाँ सवाल होता है कि क्या यह पद्धति उपयुक्त है ? क्या इस पद्धति से विषय मनोरजक ढग मे उपस्थित किया जा सकता है और इतिहास की घटनाएँ सुगमता से हृदयगम कराई जा सकती है ? कुछ लोगो का कहना है कि हाँ, कथाओ के माध्यम द्वारा इतिहास का शिक्षण दिया जा सकता है। आखिर गणित की समस्या को भास्कराचार्य 'लीलावती' ग्रन्थ मे सुन्दर श्लोको में उपस्थित करते ही है। क्या इसमे गणित की शिक्षा नही मिलती ? इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि उन श्लोको की हरिणाक्षियो या वराननाओ मे लालायित हो कर विद्यार्थी गुत्थियों में भले ही फँस जाय, उनसे बाहर निकलने के लिए तो उसे गणित का ही अभ्यास करना पडेगा। यदि हम कथाओ के विषय में कह दे कि वे कथा नही, इतिहास है तो ऐसा कहने मात्र मे ही क्या वह इतिहास हो जायगा ? यदि शिक्षक कहता कि यह तो सत्य घटना है, कल्पित नही, तो क्या उसका इतना कह देना ही काफी है ? घटना की वास्तविकता और कल्पना का भेद करने वाली उसके पास कसौटी क्या है ? कल्पित कथा और इतिहास को व्यक्त करने वाली कथा का बाहरी रूप इतना समान होता है कि दोनो मे अतर करना कठिन हो जाता है। यह समानता इतनी अधिक होती है कि कथा-पद्धति से इतिहास की शिक्षा देने का परिणाम यह होता है कि बालक अपनी पसन्द की कल्पित कथा को भी सत्य घटना के रूप में समझने लगता है।

इतिहास के कथा-कहानी द्वारा शिक्षण देने की यह बडी ही विकट समस्या है। परम्परा मे इतिहास के साहित्य का अनुचर होने के कारण यह कठिनाई और भी बढ गई है। इस विषय में वाद-विवाद करते हुए किसी-किसी शिक्षक का यह भी मत है कि इतनी रूढिप्रियता रखने से क्या लाभ ? ऐतिहासिक कही जानेवाली घटनाओ में भी निश्चितता कहाँ होती है। कल्पना का व्यापार उनमें भी तो रहता ही है। ऐसी दशा में हम छात्रो की रुचि के लिए इतिहास की कथाओ में सिद्धराज और मीनलदेवी का वार्तालाप रक्खें तो उससे आपका क्या बिगडता है ? इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि इससे इतिहास बिगडता है। यह सच है कि इतिहास के रूप में वर्णित कथाओ की घटनाओ में अनिश्चितता होती है, उनमें कल्पना भी होती है, फिर भी इतिहास और कल्पित साहित्य दोनो भिन्न चीजें है। कारण कि वे दोनो भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियो के परिणाम है। साहित्य-सर्जक मनोवृत्ति और इतिहास-शोधक मनोवृत्ति दो भिन्न चीजें है। सक्षेप में, शिक्षक को इतिहास का सम्यक ज्ञान होना चाहिए। उसे यह मालूम होना

चाहिए कि साहित्य, गणित एव भौतिक ज्ञान आदि मे इतिहास में कितनी भिन्नता है और कितना साम्य। इस लेख मे मैं इतिहास का थोडा सा दिग्दर्शन शिक्षको के उपयोग के लिए करा देना उचित समझता हूँ।

अंग्रेजी शब्दकोष में 'हिस्ट्री' शब्द देखने मे मालूम होता है कि वह ग्रीक शब्द 'हिस्टोरिया' (Historia) का तद्भव है। उसका अर्थ है 'तलाश', 'खोज' (Inquiry)। अनुसधान (Research), खोज (Exploration) तथा सूचना (Information) पर्याय इनसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज मे दिये है।[1] बाद में शोध-खोज के परिणामो के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होने लगा है। इसमे थोडा भिन्न जर्मन शब्द 'गेशिष्टे' (Geschichte) है, जो 'गेशेहेन' (Gescherhen=to take place, to happen) धातु से बना है। उन्नीसवी शताब्दी में 'गेशिष्टे' शब्द 'मानव कृत वास्तविकताओका सग्रह और उनका विकास' (Collection of human facts and their evolution) के अर्थ में प्रयुक्त होता था। समान अर्थ में व्यवहृत होने पर भी 'हिस्ट्री' और 'गेशिष्टे' की ध्वनि मे बडा अतर है। 'हिस्ट्री' 'मन जिसे पैदा करे वह' इस बात पर जोर देती है जब कि गेशिष्टे का जोर घटना (event) पर होता है। जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि पाश्चात्य परम्परा के अनुसार हिस्ट्री व गेशिष्टे शब्द प्रमाण-व्यापार के द्योतक है, कल्पना-व्यापार के नही।

विज्ञान मे प्रमाण-वृत्ति की आवश्यकता होती है और इस दृष्टि से इतिहास भी विज्ञान की कोटि में आ जाता है। लेकिन विज्ञान के अनुसन्धान तथा इतिहास के अनुसन्धान मे बडा अन्तर है। भौतिक आदि विज्ञानो में अनुसन्धान-कर्ता पदार्थ को प्रत्यक्ष देखता है, उसके ऊपर प्रयोग करता है और अनेक तत्वो तथा तत्व-सबधो को खोज निकालता है। अर्थात् उसका ज्ञातव्य विषय उसके सामने रहता है, लेकिन इतिहासकार जिस विषय को जानना चाहता है वह उसके सामने नही होता। वह न तो उसका पृथक्करण कर सकता है और न उसके ऊपर प्रयोग ही कर सकता है। इतिहासकार का पदार्थ काल मे है, स्थल मे नही। फिर भी उसे स्थलकाल विशिष्ट पदार्थ का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ही होता है। उसके लिए स्थल मे तो केवल अवशेष मात्र ही है। अर्थात् पदार्थों का अन्तिम कालरूप उसके समक्ष वर्तमान मे विद्यमान होता है। इस अन्तिम काल रूप के आधार पर भूतकालीन स्थलकाल विशिष्ट रूपो का उसे अनुमान करना होता है। कहने का तात्पर्य यह कि इतिहास की वास्तविकता मानने में भी विशिष्ट तत्वदृष्टि अभिप्रेत है।

इतिहास का पदार्थ अनुमान से फलित करने का है। अत इतिहास विज्ञान की पहली क्रिया वर्तमान-कालीन पदार्थ स्थिति के द्वारा उसके भूतकालीन तत्वो की खोज करना है। इस दृष्टि से भू-स्तर विद्या आदि इतिहास के प्रकार है। पर यहाँ पर हम मनुष्य मे प्रादुर्भूत पदार्थों तक ही इतिहास सज्ञा को सीमित करते है। इसलिए वर्तमान कालीन पदार्थों को अवशेष रूप मान कर उन्हें भूत कालीन पदार्थों के चिह्न बनाने का वैज्ञानिक कौशल इतिहास सशोधक को सर्वप्रथम सुघटित करना होती है। वेर व फेव्रे के कथनानुसार "प्राचीन तथ्यो के केवल अवशेष स्मारक और कागज-पत्तर ही शेष रह जाते है। ये स्मारक, जिनसे इतिहासज्ञ को अपने विषय का ज्ञान प्राप्त करने मे सहायता मिलती है, सब प्रकार के होते है। इसी से कहा जाता है कि इतिहास के साधन विभिन्न प्रकार के होते है।"[1] कहने का मतलब यह कि विविध प्रकार के अवशेषो के आधार पर इतिहासकार का प्रथम कार्य वास्तविकता को निश्चित करना है। वर्तमान कालीन तथ्यो के अनुसार पदार्थ इतिहास की घटनाएँ बनती है। ऐसी घटनाओ का समूह सिद्ध होने के पश्चात् उन्हें कालक्रम की शृखला में रक्खा जाता है। अधिक उपयुक्त शब्दो मे कहा जाय तो काल-प्रवाह में घटनाओ मे एकरूपता आ जाने के बाद उसके आधार पर अन्य नियमो का अनुमान किया जाता है। ऐसे अनुमानो में से एक विशिष्ट प्रकार की तत्वदृष्टि फलित होती है। इसे इतिहासप्रदत्त तत्वदृष्टि कह सकते है। इस प्रकार की तत्वदृष्टि प्राप्त विश्व इतिहास लिखने के पूर्व प्रादेशिक इतिहास, भूगोल के प्रदेश काल के विभाग, वस्तुओ के अगो

---

[1] सातवा भाग पृष्ठ ३५७ [2] इनसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज ७वा भाग पृष्ठ ३५७।
[1] इनसाइक्लोपीडिया ऑव सोशल साइन्सेज भाग ७, पृष्ठ ३५८।

का इतिहास, यह सब निश्चित हो जाने चाहिए। इस कठिनाई के कारण कितने ही इतिहास-संशोधक इतिहास की मर्यादा भूतकाल के प्रवाह में घटनाओं को निर्णीत कर देने के लिए आगे रखते हैं।

इतने मात्र से इतिहास-विज्ञान की अनुमान-प्रक्रिया अन्यान्य विज्ञानों की प्रक्रिया से किस प्रकार भिन्न होती है, इसका अन्दाज नही हो पाता, पर काल-प्रवाह में वस्तुओं के परिवर्तन को यथार्थ रूप में देखने की मनोवृत्ति पैदा हो जाती है। इस प्रकार भूमिति के प्रमेयों मे जो अनुमान-प्रक्रिया घटित हो या भौतिक विज्ञानो के गणितबद्ध कार्य कारणादि सबंधों के ग्रहण में जो अनुमान-प्रक्रिया सस्कारित हो उससे भिन्न प्रकार की अनुमान-प्रक्रिया इतिहास की घटनाएँ निश्चित करने में—उसे प्रवाह-बद्ध करने मे—और उसके आधार पर व्यक्तियो तथा सस्थाओं की लाक्षणिकता का अनुमान करने में सस्कारित होती हैं।

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, इतिहास का विषय सिखलाते समय इस प्रकार की मनोवृत्ति विद्यार्थी में उत्पन्न हो यह उसकी घटनाओं के ज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्त्व की बात है। इस प्रकार शिक्षा पाये हुये विद्यार्थी में दुनिया को समझने की—वस्तु-तत्त्व को पहचानने की—शक्ति पैदा होती है। वस्तुतत्त्व को, जिसके अनेक पहलू है, पूर्णरूप से समझने के लिए अनेक दृष्टियाँ आवश्यक है। इतिहास-दृष्टि भी इनमे एक है और प्रगति को अपना लक्ष्य माननेवाले व्यक्तियों के लिए उसका शिक्षण अत्यन्त आवश्यक है।

इतिहास सिखलाने का उद्देश्य चरित्र-निर्माण और राष्ट्रीय अभिमान जाग्रत करना है, अथवा क्या ? ऐसे प्रश्नों पर विस्तारभय से इस लेख में विचार करना सभव नही है, पर इतना तो निश्चय है ही कि सत्य समझने से अथवा सत्य समझने की इच्छा से प्रेरित मनोव्यापार की शिक्षा से चरित्र स्वय ही बन जाता है और राष्ट्र-अभिमान अपने आप जाग्रत हो उठता है।

लेग्लाई और साइनोबो (Langlois and Seignobos) ने अपनी इतिहास शास्त्र प्रवेशिका के ३२० से ३२२ तक के पृष्ठों में इतिहास सीखने, सिखलाने तथा उसका सशोधन करने का मुख्य लाभ निम्नलिखित शब्दों मे बतलाया है

"इतिहास का मुख्य गुण यह है कि वह मानसिक सस्कार के निर्माण का एक साधन होता है। ऐसा भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। प्रथम तो यह कि ऐतिहासिक अनुसन्धानोकी पद्धति का अभ्यास चित्त को आरोग्य प्रदान करता है और चीजो पर सहज-विश्वास (Credulity) कर लेने की मानसिक वृत्ति को दूर कर देता है। दूसरे इतिहास नाना प्रकार के समाजो का दिग्दर्शन करा कर हमें इस बात के लिए तैयार करता है कि हम भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रथाओं को समझ सकें और उन्हें निभा सकें। इतिहास हमें यह भी दिखाता है कि समाज में प्राय परिवर्तन होते रहते है और परिवर्तन के भय को हमारे हृदय से दूर कर देता है। अन्तिम लाभ यह कि भूतकालीन विकासो के चिन्तन से हमें वह दृष्टि प्राप्त होती है, जिससे हम यह बात भलीभांति समझ सकते हैं कि स्वभाव-परिवर्तन तथा नवीन पीढियो के पुनरुत्थान से किस प्रकार प्राणिशास्त्र ही बदल जाता है। इससे हम जीव-विज्ञान के नियमो का सामाजिक विकास के नियमों के साथ तारतम्य बैठाने के प्रलोभन से बच जाते है। इतिहास से हमें यह भी पता चल जाता है कि सामाजिक विकास का कारण वही चीजें नही होती, जिनसे जीवो का विकास होता है।"

भृगु ऋषि अथर्ववेद में कहते हैं कालो अश्वो वहति सप्तरश्मि सहस्राक्षो अजरो भूरिरेता।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चित॰ तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥

अर्थात्—सहस्र नेत्रो वाला नित्य युवा, अति प्रकाशमान, सप्त प्रकार की लगामो (किरणों) वाला काल रूपी अश्व चलता ही रहता है और ज्ञानी कविजन उस पर सवार होते हैं। समूचा विश्व उस अश्व के लिए भ्रमण मार्ग है।

उछल-कूद करने, काल-अश्वके ऊपर सवार होने के लिए ज्ञानी कवि बनना पडता है। इतिहास का ज्ञान भी ऐसा ही कौशल प्रदान करता है।

अहमदाबाद]

देवगढ़ का गुप्तकालीन मंदिर

श्री माधवस्वरूप 'वत्स' एम० ए०

गुप्त-युग प्राचीन भारत का 'स्वर्ण-युग' कहा गया है। भारतके राजनैतिक, सास्कृतिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, कलात्मक तथा वास्तु-सबधी कार्यों पर गुप्त-युग ने एक अमिट छाप लगा दी है। प्रतापी मौर्य सम्राट् अशोक के राज्य-काल मे बौद्धधर्म की पताका फहरने लगी थी, परतु उसके बाद ही ब्राह्मण-धर्म की जाग्रति होने लगी और गुप्त-काल मे इस धर्म ने महान् उत्कर्ष प्राप्त किया। यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र मे गुप्त साम्राज्य की प्रभुता पाँचवी शती के बाद नही रही तथापि सास्कृतिक क्षेत्रो मे वह साम्राज्य के नष्ट होने के डेढ सौ वर्ष बाद तक बनी रही। इस युग की मूर्तिकला की भाति चित्र-कला में भी जो समन्वय तथा सयम की भावना, कारीगरी की पूर्णता तथा अग-प्रत्यगो का सुपुष्ट सयोजन देखने को मिलता है उससे बढिया अन्यत्र दुर्लभ है। अजता (अचित्य) और बाघ, बादामी तथा सित्तन्नवासल आदि के कलाकोष तथा सारे भारत भर मे बिखरी हुई इस युग की अनेकानेक मूर्तियाँ जो वास्तव मे आदर्श कला-प्रदर्शन के कारण बहुमूल्य है, कला-कोविदो की प्रशसा का पात्र बन चुकी है। वास्तुकला के क्षेत्र मे भी इस युग मे भारतीय मदिर-निर्माण की दो रीतियो का प्रादुर्भाव पाया जाता है—एक नागर रीति और दूसरी द्राविड। पहली का विस्तार उत्तर भारत मे शिखरो के रूप मे हुआ और दूसरी दक्षिण भारत मे विमानो के रूप में विकसित हुई। ये दोनो शैलियाँ दक्षिण मे ऐहोल के दुर्गा और लादखा के मदिरो मे साथ-साथ पाई जाती है। देवगढ तथा भीतरगाँव के मदिरो मे चौरस छत के ऊपर शिखर का निर्माण मिलता है, जैसा कि साँची, तिगवा, नचना, कुठारा तथा उत्तर भारत के अन्य मदिरो मे पाया जाता है। धीरे-धीरे मध्यकाल मे उक्त दोनो शैलियाँ क्रमश उत्तर तथा दक्षिण भारत की मदिर-निर्माण-कला का प्रतीक हो गई। पत्थर के बने हुए प्राचीन शिखर का नमूना उत्तर भारत मे केवल एक मिलता है और वह देवगढ (जिला झासी) का दशावतार मदिर है, जिसका समय छठी शताब्दी ई० का प्रारम्भ माना जा सकता है। यद्यपि इस मदिर के शिखर का ऊपरी भाग बहुत समय पहले नष्ट हो गया, तथापि हाल मे मुझे सौभाग्य से शिखर के अलकृत द्वार-स्तभ के बाहरी शीर्षमाल के ऊपर पत्थर की कुछ अनुकृतियाँ मिली, जिन्हे मैं इसी मदिर या इससे मिलते हुए किसी अन्य समकालीन मदिर के छाया-अश समझता हू। ऐसा मालूम-पडता है कि देवगढ का मदिर सीधी रेखाओ से निर्मित एडूक (पिरामिड) के समान था, जिसकी मेधियाँ क्रमश छोटी होती चली गई थी। मदिर की प्रत्येक दीवार के बीच मे जो बाहर निकला हुआ बडा हिस्सा था, जिसमें एक चौडा, गहरा खुदा हुआ आला दो खभो के बीच मे बनाया गया था, वह शिखर के ऊपर तक पहुँचता था और उस पर प्रधान अलकरण की वस्तु प्राचीन चैत्यो में उपलब्ध वातायन की रचना थी। मदिर के द्वार-स्तभ पर शिखर की प्रतिकृति बना हुई है। उससे यह भी पता चलता है कि कोनो मे तथा सिरे पर आमलक बनाये गये थे। अत देवगढ मे हमको गुप्त कालीन शिखर का एक विकसित रूप देखने को मिलता है, जो बाद में समय के अनुसार अधिक ऊँचा, पिरामिड की शक्ल का, अडाकार, अधिक विकसित तथा अलकृत होता गया। कुछ कारणो से, जिन्हे मैं यहाँ देना नही चाहता, कनिघम के इस कथन से मैं सहमत नही हूँ कि चूकि चबूतरे के ऊपर कुछ खभे पडे मिले थे, अत चबूतरे के चारो तरफ एक-एक स्तम्भयुक्त मडप रहा होगा, जो उन्ही खभो पर सधा था। राखालदास बनर्जी का भी यह मत कि सारे चबूतरे के ऊपर एक समतल छत थी, ठीक नही प्रतीत होता। जैसा कि कनिघम ने लिखा है, चबूतरे के ऊपर का उठा हुआ मदिर का हिस्सा नौ वर्गों मे विभक्त था और उनके बीचोबीच गर्भगृह स्थित था। अधिष्ठान की जो खुदाई रायबहादुर दयाराम सहानी ने करवाई है, उससे प्रत्येक कोने मे एक छोटे वर्गाकृति मदिर का पता चला है। इस प्रकार मदिर के मध्य भाग (गर्भगृह) को मिलाकर दशावतार मदिर उत्तर भारत मे प्रचलित पचरत्न शैली का सबसे प्राचीन

उदाहरण प्रदर्शित करता है। मदिर का जगती-पीठ मूर्तिखचित शिलापट्टो की कम-से-कम दो श्रेणियो से अलकृत था, जिनमे से छोटी कतार वडी वाली के ऊपर वनाई गई थी। वडे शिलापट्टो मे से दो अव भी अपने पुराने स्थान पर स्थित है। अव हम इस महत्त्वपूर्ण सुन्दर मदिर के विषय में कुछ जानकारी के लिए उसका अति सक्षिप्त वर्णन यहाँ देंगे।

ऊँचे चबूतरे तक पहुँचने के लिए सीढियो पर से जाना पडता है, जो हर वाजू के वीचोवीच सीढियाँ वनी हुई है। चबूतरे की लवाई हर तरफ ५५ फीट ६ इच है और उसके प्रत्येक कोने पर एक-एक छोटेछोटे मदिर है जो ११ फीट वर्गाकृति मे है। इन मदिरो के अव केवल चिह्न अवशिष्ट है। सीढियो के कारण पीठ की लवाई हर तरफ दो भागो में वॅट गई है। उनमे से भी हर एक भाग को लवान को वीचोवीच निकलते हुए पीठ से विभक्त किया गया है, जिन पर उत्कीर्ण शिलापट्ट आश्रित है। ये शिलापट्ट जगतीपीठ के अन्य पट्टो से कुछ वडे है और तीनो तरफ उत्कीर्ण है।

अधिष्ठान अव वहुत नष्ट हो चुका है, यद्यपि यह वात स्पष्ट है कि वह मदिर के दरवाजे की देहली की सतह तक उठा रहा होगा। यह सतह सीढियो के अत मे रक्खी हुई चन्द्रशिला से करीव तीन फीट ऊँचाई पर थी। उसके ऊपर चारदीवारी के किनारे की निचली दीवाल करीव दो फीट और ऊँची उठी रही होगी।

मदिर का गर्भगृह सादा और चौकोर (१८' ६"×१८' ६") है। इसका मुख पश्चिम की ओर है तथा उसमे एक वहुत वढिया उकेरा हुआ द्वार है। शेप तीनो तरफ एक-एक चौडा मूर्ति-खचित शिलापट्ट है, जो एक गहरे आले मे जडा है। इस आले या 'रथिका' के दोनो ओर दो निकलते हुए शाखास्तभ या वाजू है। मदिर-द्वार और रथिकाओ (niches) के उतरग (lintel) की ऊँचाई पर भारतुला (entablature) थी, जिस पर अत्यन्त सादा तोरणाकृति गवाक्षो (arched window pattern) का अलकरण वना हुआ था। इसमें भी ऊपर चारो ओर दौडता हुआ छज्जा था, जो चार कोनो मे निकली हुई वरनो पर टिका था। छज्जे से द्वार और रथिका-विम्बो की रक्षा होती थी और उनके दर्शन मे भी वाधा न पहुंचती थी। शिखर ने जो रूप ग्रहण किया, उसके विषय मे हम ऊपर लिख चुके है।

दरवाजे की चौखट (११' २"×१०' ६") के चार मूर्ति-खचित पहलू है, जो चौखट के चारो ओर वने हुए है। प्रत्येक पहलू पर नीचे एक खडी हुई मूर्ति है। सवसे भीतर के पहलू पर पहली मूर्ति एक प्रभामडल-युक्त पुरुष की है, जिसके दोनो ओर एक-एक स्त्री-मूर्ति है। चौखट के वाहरी किनारो पर एक खडा हुआ वडी तोद का वौना (कीचक) है, जो अपने दोनो हाथो मे एक चिपटा घडा (मगलघट) थामे हुए है। गुप्त-कला के अनुरूप वने हुए इस घट मे एक सुन्दर लतावलि निकलती हुई दिखाई गई है, जो पत्तियो और पुष्पो से युक्त है। उष्णीश की ऊँचाई तक पहुँचकर यह लता-वितान १० इच पीछे खिसकता हुआ दिखाया गया है, जिससे ठीक दाहिने गगा की मूर्ति और वाएँ यमुना की मूर्ति को यथोचित स्थान दिया जा सके। इन दोनो मूर्तियो के ऊपर छत्र है और दोनो अपने-अपने वाहनो पर आरूढ दिखाई गई है। नदी देवताओ का इस प्रकार सिरदल के किनारो पर चित्रण गुप्त-कालीन अन्य प्राचीन मदिरो मे भी मिलता है। सिरदल के मध्य मे विष्णु भगवान अनत के ऊपर वैठे दिखाये गये है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये वही देव है, जिनके लिए मदिर का निर्माण किया गया था। वाँए से दाहिनी ओर की परिक्रमा करते हुए हम उन मूर्तियुक्त शिलापट्टो के पास पहुँचते है, जिनके दृश्य भारतीय कला मे अपना विशिष्ट स्थान रखते है। उत्तर की ओर का पट्ट गजेन्द्रमोक्ष की व्यथा प्रदर्शित करता है। पूर्व की ओर वाला नर और नारायण की तपस्या का सूचक है तथा दक्षिण की ओर वाले पट्ट पर अनन्तशायी विष्णु विराजमान है।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, मदिर का अधिष्ठान दो कतारो में लगे हुए शिलापट्टो से अलकृत था, जिनमे रामायण और महाभारत के दृश्य अकित किये गये थे। दु ख की वात है कि मूर्तियो का वहुत थोडा अश वच पाया है। किंतु जो मूर्तियाँ इस समय उपलब्ध है, वे वडे मनोरजक अध्ययन का विषय है। वे वही के एक गोदाम में सुरक्षित है।

रामायण सबधी शिलापट्टो मे अहल्या-उद्धार, वन-गमन, अगस्त्याश्रम मे राम, लक्ष्मण और सीता का जाना, शूर्पणखा के नाक-कान काटना, वालि-सुग्रीव-युद्ध, लक्ष्मण के द्वारा सुग्रीव का अभिषेक, लक्ष्मण तथा सुग्रीव आदि का पुन सम्मिलन, लक्ष्मण को जीवित करने के लिए हनुमान का औषधि लेकर द्रुतगामी होना आदि है। महाभारत के कुछ दृश्यो मे से कृष्ण-जन्म, नद-यशोदा के द्वारा वलदेव और कृष्ण को खिलाना, तथा शकट-लीला आदि है। एक बिगडे हुए शिलापट्ट पर, जो अब भी अपने पुराने स्थान पर स्थित है, वामनावतार का दृश्य है। मदिर के अधिष्ठान पर विष्णु के अन्य कौन-कौन अवतार बने हुए थे, यह अब नही कहा जा सकता।

यह विशाल मदिर अब इतना अधिक नष्ट हो चुका है कि इसका काल्पनिक पूर्ण मान-चित्र बनाने के लिए काफी परिश्रम की आवश्यकता है। केवल ऐसे चित्र के द्वारा ही न केवल इस मदिर का खाका ही समझ मे आ सकता है, अपितु उसके प्राचीन सौदर्य का भी अनुमान हो सकता है। इस दिशा में कार्य करने की मेरी अपनी धारणा है। अत मै विद्वानो तथा अपने सहयोगियो से हार्दिक प्रार्थना करूँगा कि वे गुप्त-कला की अवशिष्ट कृतियो का, जो इस देश की अमूल्य रत्न-राशि है, अधिक मनोयोग के साथ अध्ययन, सरक्षण और प्रकाशन करें।

आगरा]

मथुरा जैन स्तूप और मूर्तियाँ

श्री मदनमोहन नागर एम्० ए०

भारतवर्ष के इतिहास मे मथुरा जिस प्रकार हिन्दू और बौद्ध धर्म के लिए अग्रणी रहा उसी प्रकार जैन धर्म और कला का भी अत्यन्त प्राचीन काल से प्रमुख स्थान था। ईसा से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व से ही यहाँ के स्वच्छन्द वातावरण में जैन धर्मानुयायी हिन्दू और बौद्धो के साथ प्रीतिपूर्वक अपने उच्च जीवन को विता रहे थे। बौद्धो के बुद्ध और बोधिसत्व तथा हिन्दुओ के ब्रह्मा, विष्णु आदि की तरह जैनो के तीर्थंकरो की भी मूर्तियो का सर्वप्रथम निर्माण मथुरा मे हुआ[1] और इस प्रकार इस पवित्र नगरी को ही भारतवर्ष के तीनो प्रधान धर्मों के देवी-देवताओ को मूर्तिमान् करने का श्रेय प्राप्त हुआ। यदि उत्तरी भारत में कोई भी ऐसा स्थान है, जहाँ प्राचीन जैन-कला तथा मूर्ति-विज्ञान का विशिष्ट तथा सम्यग् अध्ययन किया जा सकता है तो वह मथुरा ही है।

जैन धर्म की जो कुछ पुरातत्त्व सामग्री हमें मथुरा से प्राप्त हुई है वह अधिकाश ककाली टीले से है। यह टीला नगर से बाहर दो मील की दूरी पर आगरा-दिल्ली रोड पर बसा है। ककाली टीला मथुरा के बहुत ही धनी टीलो मे से है और प्राचीन काल में उत्तरी भारत में जैन धर्म और स्थापत्य कला का सबसे बडा केन्द्र था। इस टीले से कुछ हिन्दू और बौद्ध मूर्तियाँ भी मिली है, जिनसे सभवत यह ज्ञात होता है कि जैन धर्म की बढती देखकर हिन्दुओ और बौद्धो ने भी उनके समीप अपना केन्द्र बना लिया था। इस टीले की चोटी पर एक नक्काशीदार खभा है जिसे आजकल लोग ककाली देवी कर के पूजते है और जिसके कारण इस टीले का नाम 'ककाली' टीला पडा है। किन्तु वास्तव मे इस स्थान पर एक प्राचीन जैन स्तूप था जो 'बोद्ध स्तूप' के नाम से प्रसिद्ध था। यह स्तूप ईस्वी दूसरी शती मे इतना प्राचीन समझा जाने लगा था कि लोग इसके वास्तविक बनाने वालो को नितान्त भूल गये थे और इसे देवो का बनाया हुआ मानने लगे थे। इससे यह प्रतीत होता है कि 'बोद्ध स्तूप' बहुत ही प्राचीन स्तूप था, जिसका निर्माण कम-से-कम ईस्वी पूर्व पाँचवी-छठी शताब्दी में हुआ होगा। इस अनुमान की पुष्टि का दूसरा प्रमाण यह भी है कि तिब्बतीय विद्वान् तारानाथ ने लिखा है कि मौर्य काल की कला यक्ष-कला कहलाती थी और उससे पूर्व की कला देव-निर्मित कला। अत यह सिद्ध होता है कि ककाली टीले का जैन स्तूप कम-से-कम मौर्य काल से पहले अवश्य बना था। कहा जाता

---

[1] लेखक महाशय की यह धारणा कि हिन्दू और बौद्ध मूर्तियों के समान जैन तीर्थंकरों की मूर्तिया भी कुषाण काल में मथुरा में ही बनने शुरू हुई, कुछ युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती, क्योकि ईसा पूर्व की दूसरी सदी (१७३ बी० सी०-१६० बी० सी०) के उडीसा प्रान्त वाले सम्राट् खारवेल के हाथी गुम्फ शिलालेख के आधार पर डा० जायसवाल के मतानुसार यह साफ विदित है कि खारवेल के समय से भी पहले उदयगिरि पर जैन अर्हन्तो के मदिर बने हुए थे। सम्राट् खारवेल ने मगध साम्राज्य को परास्त कर आदि-जिन ऋषभदेव की उस मूर्ति को, जो तीन सौ वर्ष पहले मगध राज नन्दिवर्धन उदयगिरि से उठा कर ले गया था, ला कर पुन स्थापित किया था। इसके अतिरिक्त १४ फरवरी १९३७ को पटना जकशन स्टेशन से एक मील की दूरी पर लोहियापुर से पृथ्वी खोदते समय जो ढाई फुट ऊँचा नग्न मूर्तिखड मिला है और आजकल पटना अजायबघर में रक्खा हुआ है वह डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार उपलब्ध जैन-मूर्तियों में प्राचीनतम जैनमूर्ति है और ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व पुरानी है। डा० जाय सवाल का उपरोक्त मत २० फरवरी १९३७ वाले 'सर्चलाइट' में प्रकाशित और जैन ऐंटिक्वेरी, जून १९३७ में उद्धृत हुआ है। इन दोनो शिलालेख और पुरातत्त्व के उदाहरणो से स्पष्ट है कि जैन तीर्थंकरो की मूर्तिया कुषाण काल से कई सदी पहले भारत के विभिन्न भागो में मौजूद थीं।—सपादक।

है कि मथुरा का यह स्तूप प्रारभ मे स्वर्ण-जटित था और इसे 'कुवेरा' नाम की देवी ने सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की पुण्य स्मृति में वनवाया था। तत्पश्चात् तेईसवे तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ जी के समय मे इसका निर्माण ईंटो से हुआ। इसके वाद लगभग आठवी शताब्दी मे वप्पभट्टसूरि ने इसकी मरम्मत कराई थी। इस अनुश्रुति के आवार पर भी मथुरा के प्राचीन जैन स्तूप का निर्माण काल लगभग ईस्वी पूर्व की छठी शताब्दी ठहरता है। इस प्रकार भारतवर्ष के इतिहास मे यह स्तूप सवसे पुराना समझा जाता है। यह स्तूप कुषाण काल में वेदिकाओ, तोरणो आदि से अलकृत था और इसमे कोट्टिय गण की वज्री शाखा के वाचक आर्य वृद्धहस्ति की प्रेरणा से एक श्राविका ने अर्हन् की मूर्ति स्थापना की थी।

चित्र १—आयागपट्ट, जिस पर 'वौद्ध-स्तूप का नक्शा वना है (?)।

'वौद्ध-स्तूप' के समीप में दो वडे-वडे देव प्रासादो के भग्नावशेष भी मिले है। इनमें से एक मदिर में एक तोरण का खभा मिला है, जिसे महारक्षित आचार्य के शिष्य उत्तरदासक ने वनवाया था। इस पर के लेख के अक्षर भारहुत से पाये गये ई० पू० १५० के लगभग के धनभूति के तोरण के लेख के अक्षरो से पुराने है। अत विद्वानो के

मत मे इन मदिरो का समय ईस्वी पूर्व दूसरी शताब्दी का है। इन मदिरो मे ई० पू० दूसरी शताब्दी मे लेकर ईसा की बारहवीं शताब्दी तक के शिला-लेख और शिल्प के उदाहरण मिले हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि लगभग १४०० वर्ष तक जैन धर्म के अनुयायी यहाँ निरतर तरह-तरह के सुन्दर शिल्प की सृष्टि करते रहे। ककाली टीले मे अब तक प्राय सौ शिलालेख और डेढ हजार पत्थर की मूर्तियां मिली हैं। इनमे वेदिकाएँ, तोरण, आयागपट्ट, तीर्थंकर मूर्तियाँ, सर्वतोभद्रिका प्रतिमाएँ आदि प्रमुख हैं, जो अपनी उत्कृष्ट कारीगरी के कारण आज भी भारतीय कला के गौरव समझे जाते हैं।

बौद्ध स्तूपो की तरह मथुरा का जैन स्तूप भी चारो ओर एक प्रकार की वेष्टनि या चहारदीवारी मे सुसज्जित था, जिसके चार अग—स्तम्भ, सूची, आलबन और उष्णीप—थे। इन वेदिकाओ के स्तभो पर अनेको
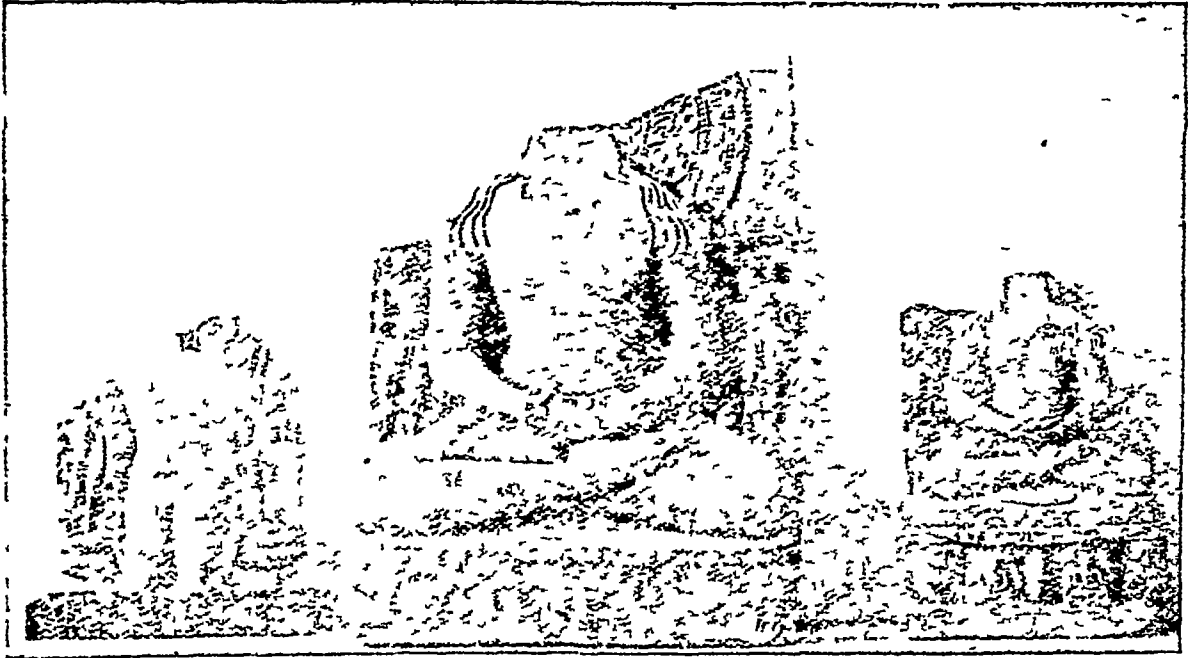
चित्र २—उत्तर गुप्तकालीन तीर्थंकर-मूर्तियाँ

सुभग गात्र वाली वनिताएँ अकित हैं, जो माथुरी कला की अनुपम देन हैं। इनकी सुन्दर पोशाको तथा भाति-भाति के रत्नजटित आभूषणो को देखकर दाँतो तले अगुली दबानी पडती है। अशोक, वकुल, आम्र और चपक के उद्यानो मे पुष्पचयन, शालभजिका आदि क्रीडाओ मे प्रसक्त अथवा कदुक, खड्ग आदि के खेलो में सलग्न अथवा स्नान और प्रसाधन मे लगी हुई कुलागनाओ को देखकर कौन बिना मुग्ध हुए रह सकता है? इन पर बने हुए भक्ति-भाव से पूजा के लिए फूल-मालाओ की भेट लाने वाले उपासको की शोभा निराली है। सुपर्ण और किन्नर आदि अर्द्ध देवो की पूजा के दृश्यो से इन वेदिकाओं की सुन्दरता तथा महिमा और भी भावगम्य हो गई है। ऐसी ही वेदिकाओं से सुसज्जित एक स्तूप का दृश्य हमें मथुरा के अजायबघर में प्रदर्शित एक आयागपट्ट (चित्र १) पर मिलता है। बीच मे एक गोलाकार स्तूप है, जिस पर पहुँचने के लिए सीढियाँ बनी हैं। स्तूप के चारो ओर वेदिकाएँ (Railings) हैं। चारो दिशाओ में तोरणो से सुसज्जित बहिर्द्वार (Gateways) बने हैं। इन बहिर्द्वारो के खभो को सभालने के लिए तुडियाएँ (Brackets) दी गई हैं, जिन पर चापभुग्नगात्रो वाली यक्षियाँ उत्कीर्ण हैं।

आयागपट्ट (Tablet of homage) पत्थर के उस चौकोर टुकडो को कहते हैं, जो अनेको प्रकार के मागलिक चिह्नो से अकित कर के किसी तीर्थंकर को चढाया गया हो। ककाली टीले से इस प्रकार के कई आयागपट्ट

पाये गये है, जो जैन-कला मे अपना विशेष स्थान रखते है। इन पर नॉद्यावर्त, कमल, वेलवूटे, अष्ट मागलिक चिह्न, वज्र, स्वस्तिक आदि अकित है और इनके वीच मे समाधिमुद्रा मे कोई तीर्थंकर विराजमान रहते है। जैन-मूर्ति-विज्ञान मे ये आयागपट्ट सवसे प्राचीन और प्रसिद्ध अवशेष माने गये है। कारण, इन पर हमे सर्व-प्रथम तीर्थंकरो की मूर्तियाँ मिलती है। इससे पहिले वौद्ध कला की भाति जैन-कला मे भी भगवान् की पूजा केवल चिह्नो द्वारा होती थी। अधिकाश आयागपट्टो पर तो चिह्न तथा मानुषीरूप दोनो का अनुपम सम्मिश्रण है।

चित्र ३—गुप्तकालीन तीर्थंकर-मूर्ति

ई० म० प्रथम शताब्दी मे जैन धर्म मे तीर्थंकरो की पृथक् मूर्तियो का वनना प्रारभ हुआ। ये मूर्तियाँ वडे सादे ढग से वनाई जाती थी। इनमे जिन-लोग या तो खड्गासन में खडे रहते थे या समाधिमुद्रा में वैठे। ये मूर्तियाँ दिगम्बर सप्रदाय की होने के कारण वस्त्र-विहीन है। इनमें केवल आदिनाथ, पार्श्वनाथ या सुपार्श्वनाथ, अजितनाथ और महावीर स्वामी का चित्रण ही मिलता है। मूर्ति-विज्ञान पूर्णरूप से विकसित न होने के कारण इस समय तक चौवीसो तीर्थंकरो के चिह्न, लाछन आदि ठीक-ठीक नियत नही हुए थे। इसलिए कुषाण काल की तीर्थंकर मूर्तियो में एक दूसरे का भेद नही किया जा सकता है। हाँ, आदिनाथ के वाल (चित्र २) तथा पार्श्व और सुपार्श्वनाथ के सर्प-फण हमें केवल इनको पहिचानने में सहायता देते है। जैन तीर्थंकरो की मूर्तियो के कलेजे पर के श्रीवत्स के कारण और सिर पर उष्णीष के अभाव के कारण हम इन्हे इस काल की वुद्ध-मूर्तियो से अलग आसानी से पहिचान सकते है। मथुरा के कलाविदो ने इसी समय से एक प्रकार की चौमुखी मूर्तियो को भी वनाना शुरू किया, जो सर्वतोभद्रिका प्रतिमा अर्थात्

वह शुभ मूर्ति जो चारो ओर से देखी जा सके, कहलाती थीं। इन मूर्तियो में चारो दिशाओ मे एक तीर्थंकर की मूर्ति बनी हुई है। इन चौमुखी मूर्तियों में आदिनाथ, महावीर, सुपार्श्वनाथ अवश्य होते हैं। इस प्रकार की मूर्तियाँ मथुरा मे कुषाण और गुप्त काल में बहुतायत से बनती थीं और उनके अनेको सुन्दर उदाहरण इस समय अजायबघर मे प्रदर्शित हैं। किन्तु सभ्यता और शान्ति की यह दशा बहुत दिनो तक न टिक सकी और ईस्वी ४७५ के लगभग से उत्तरी भारत पर हूणो के भयानक आक्रमण होने लगे। इन आक्रमणो से मथुरा की स्थापत्य कला को बडा धक्का लगा और वह फिर कभी इस पुराने चोटी के स्थान को प्राप्त नही कर सकी। अत ई० छठी शताब्दी के पश्चात् के जो नमूने हमें मिले हैं वे भोंडे और भद्दे हैं और उनमें पहिले की सी सजीवता नहीं है।

इसी काल से मथुरा में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का भी सिक्का जमा और बिना कपडेवाली मूर्तियो में कपडे दिखाये जाने लगे। श्वेताम्बरियों की ही कृपा से इन मूर्तियो में पहिले-पहल राजसिंहासन, यक्ष, यक्षिणी, त्रिछत्र, गजेंद्र आदि दर्शाये गये, जो उत्तर गुप्त काल और उसके बाद की जैन मूर्तियो के विशेष लक्षण हैं। इन्ही के साथ-साथ मध्य काल के माथुरी तक्षको ने यक्ष-यक्षिणियो और जैन मातृकाओ की भी पृथक् मूर्तियाँ बनाना प्रारभ किया। मथुरा अजायबघर में प्रदर्शित जैन यक्ष धरणेंद्र (न० १३६) की मूर्ति इसी काल की है। इनके हाथ मे एक चक्र है और सिर पर सापो के फण। ये सुपार्श्वनाथ की सेवा मे रहते हैं। ऋषभनाथ की यक्षिणी चक्रेश्वरी की भी एक सुन्दर मूर्ति मिली है। इसमें देवी गरुड पर सवार हैं और इसके आठो हाथो में चक्र हैं। गोद में बच्चो को लिये हुए और कल्प वृक्ष के नीचे बैठी हुई मातृकाओ की भी कई मूर्तियाँ हमें ककाली टीले से मिली हैं।

तीर्थंकर मूर्तियो के अतिरिक्त कुषाण काल की एक विशेषता थी भगवान नैमेष की पूजा। नैमेष, नैगमेष या हरिनैगमेष जैन पथ मे सतानोत्पत्ति के प्रमुख देवता थे। इनकी पुरुष और स्त्री दोनो विग्रहो में मूर्तियाँ मिली हैं। सभवत पुरुष विग्रह की मूर्तियाँ पुरुषो के पूजने के लिए थीं और स्त्री विग्रह की मूर्तियाँ स्त्रियो के लिए। मूर्तियो में नैगमेष का मुख बकरे का दिखाया गया है। गले में लम्बी मोती की माला भी है, जो इनका विशेष चिह्न है।

मथुरा मे प्राप्त जैन मूर्तियो पर के लेख ऐतिहासिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से बडे महत्त्व के हैं। इनमें पाये गये कुषाण राजाओ के नाम तथा तिथियो से हमे उनके क्रमिक इतिहास (Chronological history) तथा राज्य काल की अवधि का पता चलता है। यदि ये लेख न मिले होते तो कनिष्क, हुविष्क जैसे देवतुल्य प्रतापी सम्राटो का ज्ञान हमे केवल नाममात्र का ही रहता। इन लेखो से हमे विदित होता है कि इनकी दाता अधिकाश स्त्रियाँ थीं, जो बडे गर्व के साथ अपने पुण्य का भागधेय अपने माता, पिता, सास, ससुर, पुत्र, भाई, पुत्री आदि आत्मीयो को बनाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि आज की तरह उस समय भी धर्म की स्तभ स्त्रियाँ ही थी। इन स्त्रियो में बहुत सी विधवाएँ होती थी, जो इस शोकजनक अवस्था के कारण घर-गृहस्थी छोडकर सन्यास ले लेती थी और जैन-सघ में भिक्षुणी बन जाती थी। ऐसी ही एक स्त्री कुमारमित्रा थी, जिसने वैधव्य के दुःख से दुखी होकर सन्यास ले लिया था और जिसके पुत्र ने एक वर्धमान प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। लेख मे कुमारमित्रा को सशित, मोखित और बोधित (Whetted, polished and awakened) कहा गया है। इन लेखो मे जो गण, कुल, सघ,गोत्र, शाखा, सभोक आदि शब्द आये हैं इनसे उस समय के जैन समाज के विभिन्न धार्मिक दलो का पता चलता है। अभाग्यवश इन शब्दो का ठीक-ठीक अर्थ अब तक विद्वानो की समझ में नहीं आया, पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये दल भिन्न-भिन्न गुरुओ के अपने स्थापित किये हुए थे अथवा यह भी सभव है कि ये शब्द वैदिक काल के प्रवर, गोत्र, शाखा आदि के प्रतिरूप हो।[1] लेखो की भाषा मिली-जुली प्राकृत और सस्कृत है, जो भाषा-विज्ञान (Philology) की दृष्टि से बडे महत्त्व

---

[1] उक्त लेखों में जो सघ, गण, गच्छ, शाखा आदि शब्द आये हैं, उनका सकेत जैन श्रमणो के उन विभिन्न संघो की ओर है, जो ईसा पूर्व की पहली सदी के करीब जैन-श्रमणो में अपनी-अपनी आचार्य-परम्परा और पर्यटन-भूमि की विभिन्नता के कारण पैदा होने शुरू हो गये थे।—सपादक।

की है। कारण, यह प्राचीन सस्कृत और आजकल की हिन्दी, मराठी, बगला-गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओ के बीच एक कडी-सी है। इनकी भाषा मे सस्कृत के शब्दो के वे स्वरूप हैं, जिनके माध्यम से आजकल की उत्तर भारत की प्रान्तीय भाषाओ के मूल शब्द को हम ढूढ निकालते है। इन लेखो में से एक लेख से हमें पता चलता है कि मथुरा मे ईसवी पहली शताब्दी में नाचने और नाटक खेलने वालो के कुछ घर थे, जो इन कामो को पेशे के तौर पर करते थे। भगत, नाच, रास आदि प्राचीन परपरा से मथुरा में चले आ रहे हैं और इन पर अनुसधान करने वालो के लिए यह लेख अवश्य ही बडे महत्त्व का है।

लखनऊ]

महाराज मानसिंह और 'मान-कौतूहल'

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी एम्० ए०, एल्०-एल्० बी०

एक वार दिल्ली जो तोमरो के हाथ मे निकली तो फिर प्रयास करने के वाद भी कभी उनकी न हो सकी। यद्यपि चारण-भाट कहते ही रहे—

"फिर फिर दिल्ली तौरो की, तौर गये तव औरों की।"

परन्तु दिल्ली औरो की हो गई और तौरो को आश्रय मिला ग्वालियर के किले और उसके निकट के प्रदेश मे, जिसका आज भी 'तौंरघार' नाम प्रसिद्ध है। तोमरो का सूर्य एक वार दिल्ली मे अस्त होकर पुन चौदहवी शताब्दी के अन्त मे ग्वालियर-गढ पर उदय हुआ, जव वीरसिंहदेव तोमर ने तैमूर के हमले के वाद अपने आपको स्वतन्त्र महाराजा घोषित
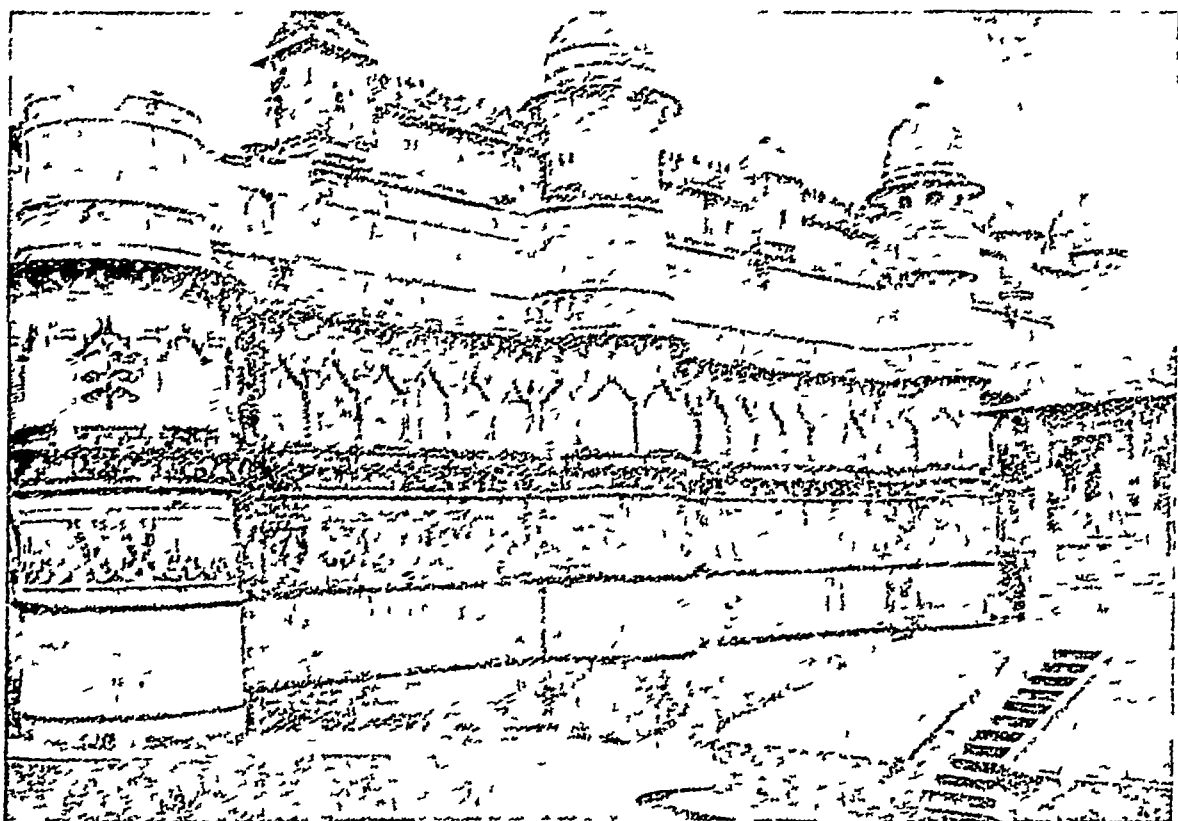
महाराज मानसिंह तोमर द्वारा निर्मित मानमदिर के भित्ति-चित्र और पत्थर की कारीगरी

कर ग्वालियर के तोमर-वश की स्थापना की। प्राय एक शताब्दी तक इस वश ने धर्म-भीरु, कला और साहित्य-प्रेमी नरेशो को उत्पन्न किया। गणपतिदेव, डूँगरेन्द्रदेव, कीर्तिसिह, कल्याणमल्ल ऐसे नाम है, जिन्हे ग्वालियर-किले का दर्शक अनेक पर्वताकार जैन-मूर्तियो की चरण-चौकियो तथा अन्य कला-कृतियो पर अकित देखता है।

तोमरो का राज्य अपनी पराकाष्ठा को महाराज मानसिंह तोमर के काल मे पहुँचा, परन्तु इस पूर्णचन्द्र के ग्रहण के लिए लोदी-वश रूपी राहु प्रवल हुआ। इन महाराज ने सन् १४८६ में गद्दी सँभाली और तभी इन पर

वहलोल लोदी ने आक्रमण कर दिया। वडी कठिनाई से महाराज अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सके, परन्तु वाद मे इनकी शक्ति वढती ही गई और सन् १४८६ ईसवी मे वहलोल की मत्यु के पश्चात् जव सिकन्दर लोदी गद्दी पर वैठा तो वह इनकी शक्ति से वहुत प्रभावित हुआ और इनको घोडा तथा वस्त्रो की भेंट भेजी। महाराज ने भी वदले में भेंट भेजी। कुछ समय पश्चात् फिर विद्वेष प्रारम्भ हुआ और सिकन्दर लोदी के सामने महाराज मानसिंह तोमर को अपनी शक्ति और ग्वालियर-गढ की अजेयता की अनेक वार मफल परीक्षा देनी पडी। सिकन्दर लोदी की मत्यु के बाद इब्राहीम लोदी गद्दी पर वैठा और उसने अपने साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति के साथ ग्वालियर के मान के विरुद्ध हल्ला वोल दिया। तीस हज़ार घोडे, तीन सौ हाथी और अगणित पैदल सैना मे गढ को घिरा छोड कर महाराज मानसिंह अपनी कीर्ति-कौमुदी की छटा छोड सन् १५१६ ईसवी में सुरधाम पधारे।
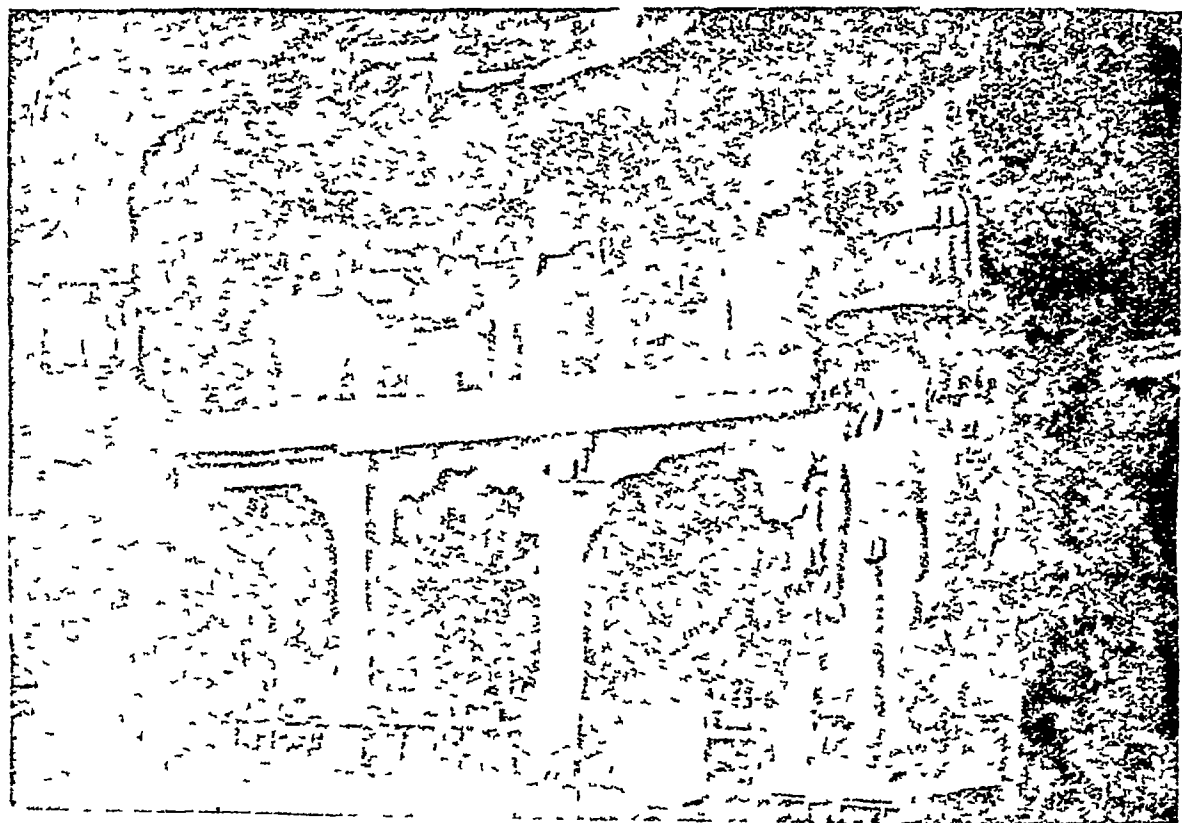
महाराज मानसिंह के पूर्वज डूँगरेन्द्रदेव द्वारा निर्मित ग्वालियर-गढ की तीर्थंकरो की विशाल मूर्तियाँ

अपने राज्य-काल में महाराज मानसिंह ने अनेक झीलो का निर्माण कराया। ग्वालियर की मोतीझील, जहाँ आज विशाल वाटर-वर्क्स है, इन्ही महाराज की वनवाई हुई है और जटवारे और तौंरघार में अनेको सिंचाई की झीलो के निर्माण का श्रेय भी इन्हीको है। इनके राज्य मे प्रजा सुखी और सन्तुष्ट थी। यही कारण है कि आज राजा मान का नाम इस प्रदेश मे 'वीर विकरमाजीत' के नाम के ममान ही समादृत है। ये महाराज कला के अत्यधिक प्रेमी थे। आज भी ग्वालियर-गढ का प्रत्येक दर्शक गूजरी महल और मानमन्दिर के निर्माना के वास्तु-कला-प्रेम की स्थायी छाप लेकर जाता है। गूजरी मृगनयना और उसके लिए राई ग्राम से जल का नल लगवाने की किवदन्ती ज्ञात होने पर उसके प्रेम का प्रमाण भी मिल जाता है। वे सगीत-कला के भी वहुत वडे प्रेमी थे, यह कम लोगो को ज्ञात है।

इनके द्वारा निर्मित सगीत की 'मानकौतूहल' नामक पुस्तक की सूचना हमे काशी के श्री चन्द्रवली पाडे ने दी थी। यह जानकारी होते ही हमने उसकी खोज प्रारम्भ की। 'मध्ययुगीन-चरित्र-कोष' ग्रन्थ मे यह उल्लेख प्राप्त

हुआ कि इसकी एक प्रति रामपुर के राजपुस्तकालय मे है।

कर्नल राजराजेन्द्र श्रीमन्त मालोजी राव नृसिंहराव शितोले के आग्रह से रामपुर राज्य के दीवान जनाव सैयद वी० एल० जैदी सी० आई० ई०, वार-एट-लॉ ने कृपा कर उसकी प्रतिलिपि भेजने का वचन दिया। बडी उत्सुकता मे उसकी वाट देख रहे थे कि एक दिन हमे फारसी भाषा की पाडुलिपि रामपुर राज्य से प्राप्त हो गई। यद्यपि मूल 'मानकौतूहल' न प्राप्त कर सकने के कारण हमे कुछ खेद हुआ, परन्तु हमे जो कुछ प्राप्त हुआ वह सास्कृतिक इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था। सम्राट् आलमगीर के काश्मीर के सूबेदार फकीरुल्ला का सन् १०७३ हिजरी (ई० सन् १६६६) मे किया गया 'मानकौतूहल' का फारसी-रूपान्तर हमे भेजा गया था।
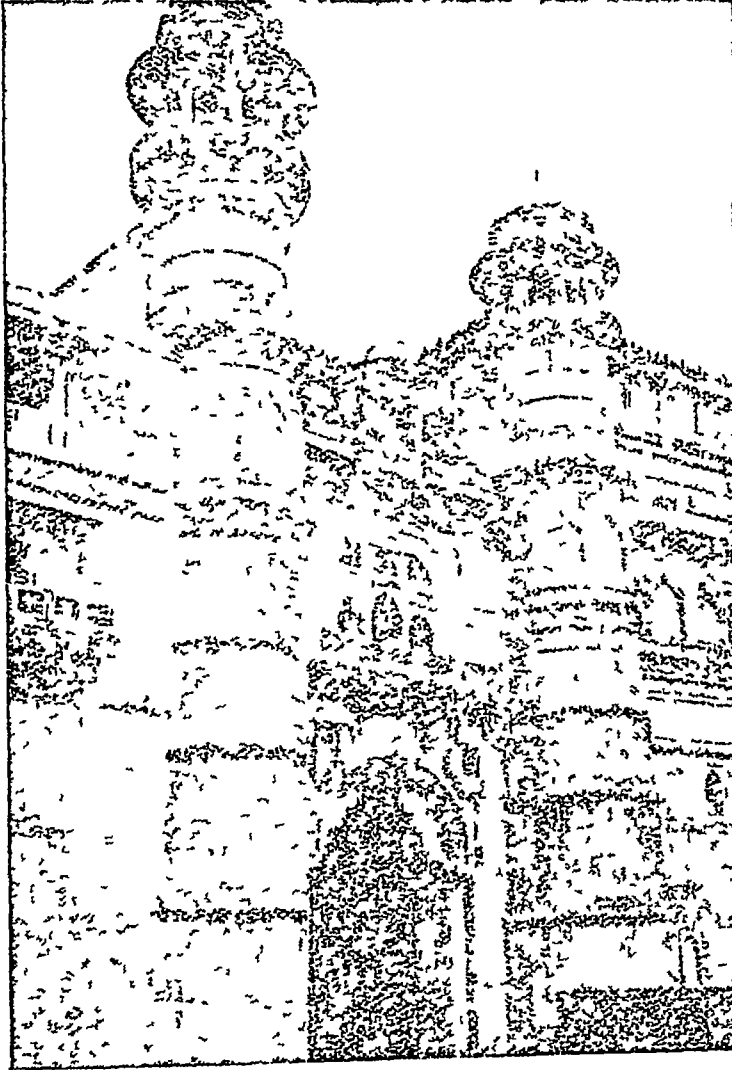
मानमदिर की विशाल हथिया पौर

उस समय हिन्दू और मुसलमानो का सास्कृतिक मेल कितना अधिक हो गया था, यह इस पुस्तक से स्पष्ट है। सगीत की अनेक पारिभाषिक वातो के साथ-साथ उस समय के सामाजिक एव राजनैतिक इतिहास पर भी इस पुस्तक से काफी प्रकाश पडता है। महाराज मानसिंह द्वारा ग्वालियर के गौरव मे जो वृद्धि हुई, वह न केवल वास्तु-कला तक ही सीमित समझी जायगी, अपितु उसे अव सप्रमाण सगीत के क्षेत्र मे भी स्वीकार करना पडेगा।

इस पुस्तक का साराश यहाँ प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा। इस पुस्तक में दस अध्याय हैं।

पहले अध्याय मे लेखक (अनुवादक) ने अपना नाम फकीरुल्ला दिया है और लिखा है कि सन् १०७३ हि० मे एक पुरानी किताव मेरे देखने मे आई, जिसका नाम 'मानकौतूहल' था। इस पुस्तक का कर्त्ता ग्वालियराधीश राजा मानसिंह को लिखा है। मानसिंह गान-विद्या में निपुण थे और प्रसिद्ध तो यह है कि ध्रुवपद का आविष्कार इसी राजा ने किया। एक वार सयोग से नायक वख्शू पाडवीय, जो तैलगाना देश मे कुरुक्षेत्र स्नान करने आया था, देव आहग (दैत्य के से स्वर वाला) नायक महमूद और नायक करण इस राजा की सभा में उपस्थित हुए। राजा ने इसे स्वर्ण-सयोग समझा। शिक्षार्थियो को सुलभ करने के लिए राजा ने इन गायनाचार्यों से वाद-विवाद करके रागरागनियो के लक्षणो पर पुस्तक लिखवाई। यह पुस्तक ऐसी वनी कि जिस पर भरोसा किया जा सकता है और इसलिए मैंने इसका अनुवाद फारसी मे किया।[1] यह पुस्तक 'भरत' मत को मानती है। अनुवाद के साथ-साथ कुछ आवश्यक वाते 'भरतसगीत', 'सगीत-दर्पण' और 'रत्नाकर' से चुनकर इसमे वढा दी गई है, ताकि सीखनेवालो को उन पुस्तको के देखने की आवश्यकता न पडे। इस पुस्तक का नाम मैंने 'रागदर्पण' रक्खा है, क्योकि एक छोटे-से दर्पण मे पहाड और जगल सवका दृश्य दिखाई दे जाता है। कुछ राग इसमे 'नृत्यनृत्यो' और 'चन्द्रावली' के मत मे भी लिखे है।
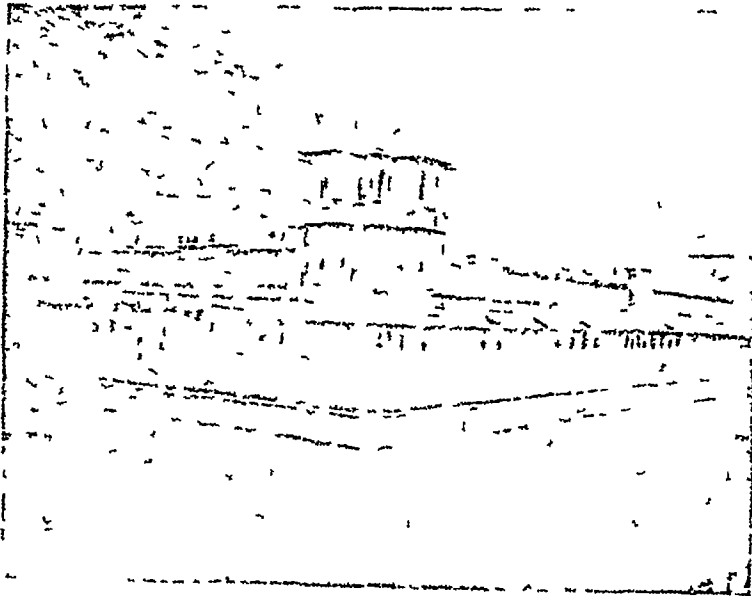
महाराज मानसिंह द्वारा गूजरी रानी 'मृगनयना' के लिए वनवाया गया 'गूजरी महल'

दूसरे अध्याय में राग-रागनियो का विवरण है और कुछ पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या की गई है। इस अध्याय मे यह भी ज्ञात होता है कि मालवा का प्रसिद्ध नवाव वाजवहादुर, अमीर खुशरो, शेख वहीउद्दीन, जकरिया मुल्तानी, सुल्तान हुसैन शर्की जौनपुरी गान-विद्या मे 'उस्ताद' का पद रखते थे। अनुवादक भी अपने को इस विद्या का 'आमिल' (निपुण) लिखता है।

तीसरे अध्याय म वताया गया है कि किस ऋतु में कौनसा राग, रागिनी या उनके पुत्र गाये जाते है और उनके वोलो में कौनसे अक्षर प्रारम्भ मे नही रखना चाहिए। साथ-ही ग्रामो का भी वर्णन है।

---

[1] इस पुस्तक के पदो की भाषा वह प्राचीन हिन्दी होगी, जिसे ग्वालियरी कहा जा सकता है। इसी 'ग्वालियरी' के अध्ययन के लिए इस पुस्तक की खोज हमने की थी, परन्तु वह अध्ययन तभी हो सकेगा, जब मूल 'मानकौतूहल' प्राप्त हो जायगा—लेखक।

चौथे अध्याय मे लिखा है कि शरीर के किस भाग मे से कौनसा स्वर उत्पन्न होता है और 'ध्रुवपद', 'विष्णुपद', 'ख्याल', 'माहरा' आदि के रूपो का भी वर्णन है। उनके रसो का भी विवेचन किया गया है।

पाँचवे अध्याय मे वाद्यो का उल्लेख है। तार, ताँत या खाल के योग मे बने वाजो के अतिरिक्त जलतरग का भी विस्तृत वर्णन है। इसके पश्चात् नायिका-भेद दिया गया है।

छठे अध्याय में गायको के ऐबो का चित्रण है।

सातवे अध्याय में गायको का गला आदि कैसा हो, इस पर प्रकाश डाला गया है।

आठवे अध्याय मे गायन के 'उस्ताद' की पहिचानें वतलाई गई है। भरत मत के अनुसार उस्ताद को सस्कृत का पडित होना चाहिए। कोष पर उसका अधिकार हो, शास्त्री हो, वुद्धि ऐसी कुशाग्र हो कि दूसरो से विवाद कर मके और नवीन चीज़ें पैदा कर सके।

नवे अध्याय मे वतलाया है कि गान-मडली किस प्रकार सयोजित की जाये। गान-मडली के तीन प्रकार वतलाये है, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। उत्तम गान-मडली वह है, जिसमे चार गायक उच्च श्रेणी के, आठ मध्यम श्रेणी के, वारह सुकठ स्त्रियाँ, चार वाँसुरी वाले और चार मृदग वाले हो। मध्यम सगीत-मडली में इसकी आधी सख्या रह जाती है। निकृष्ट मे एक गायक, तीन उसके सहायक, चार सुकठ स्त्रियाँ, दो वाँसुरी वाले तथा दो मृदग वजाने वाले हो। इस अध्याय मे यह भी लिखा है कि सम्राट् अकवर के काल में 'रागसागर' नामक एक पुस्तक लिखी गई थी। उसमे अनेक राग 'मानकौतूहल' के विरुद्ध लिखे गये और वे गलत है।

दसवे अध्याय में अनुवादक के समय के प्रसिद्ध गायको का उल्लेख है। शेख वहीउद्दीन, सुलतान हुसैन शर्की, डालू ढाडी, लालखाँ उर्फ समन्दरखाँ (जिसे तानसेन के पुत्र विलासखाँ की लडकी व्याही थी), जगन्नाथ, मिश्रीखाँ ढाडी, किशनसेन, तुलसीराम कलावन्त, भगवाना अन्वा आदि का हाल लिखा है। अन्त में कुछ आपवीती भी लिखी है। अनुवादक ने लिखा है कि सन् १०७१ मे सम्राट् किसी कारण से मुझसे अप्रसन्न हो गये और मैने 'गोशानशीनी' अख्तियार कर ली। सन् १०७६ में मुझे पुन बुलाया गया और सम्राट् अपने साथ काश्मीर ले गये। यदि पृथ्वी पर स्वर्ग हो सकता है तो काश्मीर ही है। सम्राट् ने मुझे काश्मीर की सूवेदारी प्रदान की। शासन वास्तव मे भक्ति का ही दूसरा नाम है और भक्ति का कोई दूसरा प्रकार इसको नही पहुँचता, क्योकि शासन जनता की सच्ची सेवा का नाम है। अनुवादक ने आगे लिखा है कि मुझे दो लडाइयाँ भी लडनी पडी। फिर रागो की फारसी नज़मो से तुलना करके समानता स्थापना का प्रयत्न है।

इस पुस्तक से मध्यकालीन भारतीय सगीत के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पडता है और आगे खोज के लिए सामग्री का सकेत भी मिलता है। इससे इस प्रदेश के सास्कृतिक इतिहास पर भी प्रकाश पडेगा, इस आशा से यह सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

ग्वालियर]

जैन और वैष्णवों के पारस्परिक मेल-मिलाप का एक शासन-पत्र

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

इतिहास से सिद्ध है कि मौर्य सम्राट् उदार-चेता महाराज अशोक ने सब सम्प्रदायो के बीच समन्वय और शान्ति की शिक्षा देने के लिए विशेष आज्ञाएँ जारी की थी, जो उनकी धर्म-लिपियो मे आज तक उत्कीर्ण है। अशोक के भाव विविध धर्मो वाले इस विशाल देश के लिए अमृत के समान हितकर है। अशोक से लगभग सोलह शताब्दी बाद विजयनगर साम्राज्य के प्रतापी सम्राट् श्री बुक्कराय प्रथम ने जैन और वैष्णवो में पारस्परिक मेल और शान्ति की स्थापना के लिए १३६८ ई० (शक वर्ष १२९०) में एक लेख खुदवाया। यह लेख दक्षिण के श्रवण बेलगोल स्थान के सबसे विशाल मदिर मे, जिसका नाम 'भडारी बस्ती' है, खुदा हुआ है।[1]

लेख के आरम्भ मे मगलाचरण का एक श्लोक है, जिसमे वैष्णवो के परम गुरु श्री रामानुजाचार्य की स्तुति है। लेख का साराश यह है कि जैन धर्मानुयायी लोगो ने श्री बुक्कराय से वैष्णवो की ओर से होने वाले अत्याचार की शिकायत की। इस पर बुक्कराय ने जैन और वैष्णव दोनो सम्प्रदायो के प्रभावशाली व्यक्तियो को एकत्र किया और जैन-भक्तो का हाथ वैष्णवो के हाथो में रखकर दोनो मे मेल कराया। साथ ही घोषणा की कि जैन और वैष्णव दोनो मत अभिन्न है और दोनो एक ही शरीर के अग है। पूरा लेख इस प्रकार है

मूल कन्नड़ लेख

स्वस्ति समस्त प्रशस्ति सहितम् ॥

पाषण्डसागरमहाबडवामुखाग्नि श्रीरङ्गराजचरणाम्बुजमूलदास ।

श्री विष्णुलोकमणिमण्टपमार्ग्गदायी रामानुजो विजयते यतिराजराज ॥

शक वर्ष १२९० नेय कीलक सवत्सरद भाद्रपद शु १० बृ स्वस्ति श्रीमन्महामण्डलेश्वर आरि राय विभाड भाषेगे तप्पुव रायर गण्ड श्रीवीर बुक्करायनु पृथ्वी राज्यव माडुव कालदल्लि जैनरिगू भक्तरिगू सवाजव आदल्लि आनेयगोन्दि होसपट्टण पेनुगुण्डे कल्लेहदपट्टणव ओलगाद समस्तनाड भव्य जनङ्गलु आ बुक्करायङ्गे भक्तरु माडुव अन्यायगलनू बिन्नह माडल आगि कोविल तिरुमले पेरुमाल कोविल तिरुनारायणपुरमुख्यवाद सकलआचार्य्यरू सकलसमयिगलू सकलसात्विकरु मोष्टिकरु तिरुपणि तिरुविडि तण्णीरवरु नाल्वत्तेण्टुजनङ्गलु सावन्तबोवक्कलु तिरिकुल जाम्बुव कुलवोलगाद हदिनेण्टु नाड श्रीवैष्णवर कैय्यलु महारायनु वैष्णवदर्शनक्केऊ जैनदर्शनक्केऊ भेदव इल्लव एन्दु रायनु वैष्णवर कैय्यलु जैनर कैविडिदु कोट्टु यी जैनदर्शनक्के पूर्व्वमरियादेयलु पञ्चमहावाद्यगलू कलशवु सलुवुद जैनदर्शनक्के भक्तर देसेयिन्द हानिवृद्धियादरू वैष्णवहानि वृद्धि आगि पालिसुवरु यी मर्य्यादेयलु यल्ला राज्यदोलग उल्लान्तह बस्तिगलिगे श्रीवैष्णवरु शासनव नट्टु पालिसुवरु चन्द्रार्क्क स्थायियागि वैष्णव समयो जैनदर्शनव रक्षिसिकोण्डु बहेउ वैष्णवरू जैनरू वोन्दु भेदवागि काणल आगदु श्रीतिरुमलेय तातय्यगलु समस्तराज्यद भव्यजनङ्गल अनुमतदिन्द बेलुगुलद तिर्त्थदल्लि वैष्णव अङ्ग रक्षेगोसुक समस्तराज्यदोलग उल्लन्तह जैनर बागिलु गट्टलेयागि मने मनेगे वर्षक्के

[1] देखिए एपिग्राफिया कर्नाटिका, भाग २, पृ० २६ (भडारी बस्ती मदिर का वर्णन), पृ० ६३ (लेख का अग्रेजी में साराश), पृ० १५६ (मूल कन्नड भाषा का लेख, सख्या ३४४), पृ० १४६ (लेख का अग्रेजी अनुवाद)।

१ हण कोट्टु आयेत्तिद होन्निङ्गे देवर अङ्गरक्षेगेय इप्पत्तालनू सन्तविट्टु मिक्क होन्निङ्गे जीर्ण्ण जिनालयङ्गलिगे सोधेयन इक्कुदु यी मरियादेयलु चन्द्रार्क्करुल्लन्न तप्पलीयदे वर्षवर्षक्के कोट्टु कीर्तियनू पुण्यवनू उपार्ज्जिसिकोम्बुदु यी माडिद कट्टलेयनु आवनू ओव्वनु मीऱ्ऱदवनु राजद्रोहि सघ सम्दायक्के द्रोहि तपस्विय आगलि ग्रामिणियागलि यी धर्म्मव केडसिदर आदडे गगेय तडियल्लि कपिलेयनू ब्राह्मणननू कोन्द पापदल्लि होहरु ॥

श्लो ॥ स्वदत्त परदत्तं वा यो हरेति वसुन्धराम् ।
षष्ठि वर्णसहस्राणि विष्टाया जायते क्रमि ॥

(बाद मे जोडा हुआ भाग)

कल्लेहद हव्विशेट्टिय सुपुत्र बुसुवि सेट्टि बुक्क रायरिगे बिन्नहमादि तिरुमलेय तातय्यङ्गल विजय गैसि तरन्दु जीर्णोद्धारव माडिसिदरु उभय समयवू कूडि बुसुवि सेट्टियरिगे सङ्घ-नायक पट्टव कट्टिदरु ॥

हिन्दी अनुवाद

स्वस्ति । समस्त प्रशस्त सहित ।

पाखड रूपी समुद्र को सुखाने के लिये महान् वडवानल, श्री रगनाथ देव के चरण-कमलो के सेवक और भगवान विष्णु के धाम मे निर्मित रत्न-जटित मडप तक पहुँचने का मार्ग बताने वाले, यतिराज राजश्री रामानुज की जय हो ।

शक वर्ष १२९० । कीलक सवत्सर भाद्रपद शुक्ल दशमी बृहस्पतिवार—श्री मन्महामडलेश्वर, शत्रु नाशन, वचनो का अतिक्रमण करने वाले राजाओ के दड-कर्त्ता, श्री बुक्कराय के शासन-काल मे जैन और भक्तो (वैष्णवो) मे विवाद उठने पर, आनेयगोन्दि, होसपट्टन, पेनुगुण्डे और कल्लेह पत्तन आदि समस्त नाडो के भव्य जन अर्थात् जैनो ने मिलकर महाराज बुक्कराय से भक्तो (वैष्णवो) के अन्याय के बारे में विनती की। इस पर महाराज ने जैनो का हाथ पकड कर श्री वैष्णवो के हाथो मे रख दिया, जिसमें कि कोविल (श्री रगम्), तिरुमले (तिरुपति), पेरुमाल कोविल (काचीपुर) और तिरुनारायणपुर (मेलकोटे) आदि अट्ठारह राष्ट्रो (नाड) के सकल आचार्य, सकल समयी, सकल सात्त्विक, मौष्टिक (मुट्ठी भर अन्न से निर्वाह करने वाले), श्री पूजनीय, पवित्र चरण और पवित्र अर्घ्य के पात्र, अडतालीस जन, सावन्त वोव, तिरुकुल और जाम्बव कुल सम्मिलित थे। साथ ही महाराज ने यह कहते हुये कि वैष्णव-दर्शन और जैन-दर्शन मे भेद नही है, इस प्रकार घोषणा की

यह जैन दर्शन पूर्व की भाति पच महा वाद्य और कलश का अधिकारी रहेगा। यदि भक्तो (वैष्णवो) के द्वारा जैन-दर्शन की हानि या वृद्धि की जायगी तो वैष्णव उसे अपने ही धर्म की हानि या वृद्धि समझेंगे। इस मर्यादा को स्थापित करने वाला एक शासन राष्ट्र की सब बस्तियो मे श्री वैष्णव लोग कृपया जारी करेगे। जब तक चन्द्र और सूर्य कायम है तब तक वैष्णव-समय जैन-दर्शन की रक्षा करता रहेगा। वैष्णव और जैन एक है। उन्हे अलग नही समझना चाहिए। तिरुमलै अर्थात् तिरुपति के तातय्य नामक सज्जन समस्त राज्य के भव्य जनो (जैन) की अनुमति

से प्रति वर्ष प्रत्येक जैन घर से एक हण के हिसाब से कर उगाह कर उस आय में से वेलुगुल तीर्थ के देव की रक्षा के लिये वीस अग-रक्षक नियुक्त करेंगे। ये अग-रक्षक वैष्णवो द्वारा अनुमोदित होंगे। शेष धन से जीर्ण जिन-मन्दिरो की लिपाई-पुताई और मरम्मत का काम किया जायगा। जब तक चन्द्र-सूर्य हैं, इसी मर्यादा के अनुसार वे लोग प्रति वर्ष देते रहेंगे और यश और पुण्य का उपार्जन करेंगे। जो इसका उल्लघन करेगा वह राज-द्रोही तथा सघ और समुदाय का द्रोही समझा जायगा। यदि कोई तपस्वी या ग्रामीण इस धर्म की हानि करेगा तो उसे गगा तट पर गो-वध और ब्राह्मण-वध के जैसा पाप लगेगा। कल्लेह स्थान के हर्व्विश्रेष्ठी के सुपुत्र वुसुविश्रेष्ठी ने वुक्कराय के यहा विनती की और तिरुमलय के तातय्य को बुलाकर पुन शासन का जीर्णोद्धार कराया। दोनो समयो (सम्प्रदायो) ने मिलकर वुसुविसेठ को 'सघनायक' की पदवी प्रदान की॥

नई दिल्ली]

: ४ :

जैन-दर्शन

जैन तत्त्वज्ञान

प० सुखलाल सघवी

व्याख्या

विश्व के वाह्य और आन्तरिक स्वरूप के सम्वन्ध मे तथा उसके सामान्य एव व्यापक नियमो के सम्वन्ध मे जो तात्त्विक दृष्टि से विचार किये जाते है उनका नाम तत्त्वज्ञान है। ऐसे विचार किसी एक ही देश, एक ही जाति या एक ही प्रजा मे उद्भूत होते है और क्रमश विकसित होते है, ऐसा नही है, परन्तु इस प्रकार का विचार करना यह मनुष्यत्व का विशिष्ट स्वरूप है। अतएव जल्दी या देरी मे प्रत्येक देश मे निवास करने वाली प्रत्येक प्रकार की मानव-प्रजा मे ये विचार अल्प या अधिक अश में उद्भूत होते है और वैसे विचार विभिन्न प्रजाओ के पारस्परिक ससर्ग के कारण और किसी समय विलकुल स्वतन्त्ररूप मे भी विशेष विकसित होते है तथा सामान्य भूमिका मे आगे वढ कर अनेक जुदे-जुदे प्रवाह रूप से फैलते है।

पहले से आज तक मनुष्य-जाति ने भूखड के ऊपर जो तात्त्विक विचार किये है वे सव आज उपस्थित नही है तथा उन सव विचारो का क्रमिक इतिहास भी पूर्णरूप से हमारे सामने नही है। फिर भी इस समय इस विषय में जो कुछ सामग्री हमारे सामने है और इस विषय मे जो कुछ थोडा-वहुत हम जानते है, उस से इतना तो निर्विवाद रूप से कह सकते है कि तत्त्वचिन्तन की भिन्न-भिन्न और परस्परविरोधी दिखाई देने वाली चाहे जितनी धाराएँ हो, फिर भी इन सव विचार-धाराओ का सामान्य स्वरूप एक है। और वह यह कि विश्व के वाह्य तथा आन्तरिक स्वरूप के सामान्य और व्यापक नियमो का रहस्य ढूढ निकालना।

तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का मूल

कोई एक मनुष्य पहले से ही पूर्ण नही होता, परन्तु वह वाल्य आदि विभिन्न अवस्थाओ मे से गुजरने के साथ ही अपने अनुभवो को वढा करके क्रमश पूर्णता की दिशा में आगे वढता है। यही वात मनुष्य जाति के विषय में भी है। मनुष्यजाति की भी वाल्य आदि क्रमिक अवस्थाएँ अपेक्षा विशेष से होती है। उसका जीवन व्यक्ति के जीवन की अपेक्षा वहुत अधिक लम्वा और विशाल होता है। अतएव उसकी वाल्य आदि अवस्थाओ का समय भी उतना ही अधिक लम्वा हो, यह स्वाभाविक है। मनुष्य जाति जव प्रकृति की गोद मे आई और उसने पहले वाह्य विश्व की ओर आँख खोली तव उसके सामने अद्भुत और चमत्कारी वस्तुएँ तथा घटनाएँ उपस्थित हुई। एक ओर सूर्य, चन्द्र और अगणित तारामडल और दूसरी ओर समुद्र, पर्वत, विशाल नदीप्रवाह, मेघ गर्जनाएँ और विद्युत्चमत्कारो ने उसका ध्यान आकर्षित किया। मनुष्य का मानस इन सव स्थूल पदार्थो के सूक्ष्म चिन्तन में प्रवृत्त हुआ और उसके हृदय मे इस सम्वन्ध मे अनेक प्रश्न उद्भूत हुए। जिस प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क मे वाह्य विश्व के गूढ तथा अतिसूक्ष्म स्वरूप के विषय मे और उसके सामान्य नियमो के विषय में विविध प्रश्न उत्पन्न हुए उसी प्रकार आन्तरिक विश्व के गूढ और अतिसूक्ष्म स्वरूप के विषय में भी उसके मन मे विविध प्रश्न उठे। इन प्रश्नो की उत्पत्ति ही तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का प्रथम सोपान है। ये प्रश्न चाहे जितने हो और कालक्रम मे उसमे से दूसरे मुख्य और उपप्रश्न भी चाहे जितने पैदा हो फिर भी उन सव प्रश्नो को सक्षेप में निम्नप्रकार से सकलित कर सकते है।

तात्त्विक प्रश्न

प्रत्यक्ष रूप मे सतत परिवर्तनशील यह वाह्य विश्व कब उत्पन्न हुआ होगा ? किसमे से उत्पन्न हुआ होगा ? स्वय उत्पन्न हुआ होगा या किसी ने उत्पन्न किया होगा ? और उत्पन्न नही हुआ हो तो क्या यह विश्व ऐसे ही था और है ? यदि उसके कारण हो तो वे स्वय परिवर्तनविहीन नित्य ही होने चाहिए या परिवर्तनशील होने चाहिए ? ये कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के होगे या समग्र वाह्य विश्व का कारण केवल एकरूप ही होगा ? इस विश्व की व्यवस्थित और नियमवद्ध जो सचालना और रचना दृष्टिगोचर होती है वह वुद्धिपूर्वक होनी चाहिए या यत्रवत् अनादि सिद्ध होनी चाहिए ? यदि वुद्धिपूर्वक विश्वव्यवस्था हो तो वह किसकी वुद्धि की आभारी है ? क्या वह वुद्धिमान् तत्त्व स्वय तटस्थ रह करके विश्व का नियमन करता है या वह स्वय ही विश्व रूप से परिणमता है या आभासित मात्र होता है ?

उपर्युक्त प्रणाली के अनुसार आन्तरिक विश्व के सम्वन्ध मे भी प्रश्न हुए कि जो यह वाह्य विश्व का उपभोग करता है या जो वाह्य विश्व के विषय मे और अपने विषय में विचार करता है वह तत्त्व क्या है ? क्या यह अहरूप से भासित होने वाला तत्त्व वाह्य विश्व जैसी ही प्रकृति वाला है या किसी भिन्न स्वभाव वाला है ? यह आन्तरिक तत्त्व अनादि है या वह भी कभी किसी अन्य कारण मे से उत्पन्न हुआ है ? अहरूप से भासित होने वाले अनेक तत्त्व वस्तुत भिन्न ही है ? या किसी एक मूल तत्त्व की निर्मितियाँ है ? ये सभी सजीव तत्त्व वस्तुत भिन्न ही है तो क्या वे परिवर्तनशील है ? या मात्र कूटस्थ है ? इन तत्त्वो का कभी अन्त आने वाला है या ये काल की दृष्टि मे अन्तरहित ही है ? इसी प्रकार ये सब देहमर्यादित तत्त्व वस्तुत देश की दृष्टि से व्यापक है या मर्यादित है ?

ये और इसके जैसे दूसरे वहुत से प्रश्न तत्त्वचिन्तन के प्रदेश में उपस्थित हुए। इन सब प्रश्नो का या इनमें से कुछ का उत्तर हम विभिन्न प्रजाओ के तात्त्विक चिन्तन के इतिहास में अनेक प्रकार से देखते है। ग्रीक विचारको ने वहुत प्राचीन काल से इन प्रश्नो की ओर दृष्टिपात करना प्रारम्भ किया। उनका चिन्तन अनेक प्रकार से विकसित हुआ, जिसका कि पाश्चात्य तत्त्वज्ञान में महत्त्वपूर्ण भाग है। आर्यावर्त के विचारको ने तो ग्रीक चिन्तको के पूर्व हजारो वर्ष पहले से इन प्रश्नो के उत्तर प्राप्त करने के लिए विविध प्रयत्न किये, जिनका इतिहास हमारे सामने स्पष्ट है।

उत्तरो का सक्षिप्त वर्गीकरण

आर्य विचारको के द्वारा एक-एक प्रश्न के सम्वन्ध मे दिये हुए भिन्न-भिन्न उत्तर और उनके विषय में भी मतभेद की शाखाएँ अपार है, परन्तु सामान्य रीति से हम सक्षेप मे उन उत्तरो का वर्गीकरण करें तो इस प्रकार कर सकते है। एक विचार प्रवाह ऐसा प्रारम्भ हुआ कि वह वाह्य विश्व को जन्य मानता था। परन्तु वह विश्व किसी कारण मे से विलकुल नया ही—पहले हो ही नही, वैसे उत्पन्न होने का निषेध करता था और यह कहता कि जिस प्रकार दूध मे मक्खन छिपा रहता है और कभी केवल आविर्भाव होता रहता है, उसी प्रकार यह सारा स्थूल विश्व किसी सूक्ष्म कारण में से केवल आविर्भाव होता रहता है और यह मूल कारण तो स्वत सिद्ध अनादि है।

दूसरा विचार प्रवाह यह मानता था कि यह वाह्य विश्व किसी एक कारण में से उत्पन्न नही हुआ है, परन्तु स्वभाव से ही विभिन्न ऐसे उसके अनेक कारण है और इन कारणो में भी विश्व दूध मे मक्खन की तरह छिपा नही रहता है, परन्तु भिन्न-भिन्न काष्ठ खडो के सयोग से एक गाडी नवीन ही तैयार होती है, उसी प्रकार उन भिन्न-भिन्न प्रकार के मूल कारणो के सश्लेषण-विश्लेषण में से यह वाह्य विश्व विलकुल नवीन ही उत्पन्न होता है। पहला परिणामवादी है और दूसरा कार्यवादी। ये दोनो विचारप्रवाह वाह्य विश्व के आविर्भाव या उत्पत्ति के सम्वन्ध मे मतभेद रखने वाले होने पर भी आन्तरिक विश्व के स्वरूप के सम्वन्ध मे सामान्यरूप से एकमत थे। दोनो यह मानते थे कि अह नाम का आत्म-तत्त्व अनादि है। वह न तो किसी का परिणाम है और न किसी कारण मे से उत्पन्न हुआ

है। जिस प्रकार वह आत्मतत्त्व अनादि है, उसी प्रकार देश और काल दोनो दृष्टियो से अनन्त भी है और वह आत्मतत्त्व देहभेद से भिन्न-भिन्न है, वास्तविक रीति से एक नही है।

तीसरा विचारप्रवाह ऐसा भी था कि जो बाह्य विश्व और आन्तरिक जीवजगत् दोनो को किसी एक अखड सत् तत्त्व का परिणाम मानता और मूल मे बाह्य या आन्तरिक जगत की प्रकृति अथवा कारण में किसी भी प्रकार का भेद नही मानता था।

जैन विचारप्रवाह का स्वरूप

ऊपर के तीनो विचारप्रवाहो को क्रमश हम यहाँ प्रकृतिवादी, परमाणुवादी और ब्रह्मवादी के नाम से पहचानेगे। इनमें से पहले के दो विचारप्रवाहो से विशेष मिलता-जुलता और फिर भी उनसे भिन्न ऐसा एक चौथा विचारप्रवाह भी साथ-साथ मे प्रवृत्त था। यह विचारप्रवाह था तो परमाणुवादी, परन्तु वह दूसरे विचार-प्रवाह की तरह बाह्य विश्व के कारणभूत परमाणुओ को मूल मे ही भिन्न-भिन्न प्रकार के मानने की तरफदारी नही करता था, परन्तु मूल में सभी परमाणु एक समान प्रकृति के है, यह मानता था और परमाणुवाद स्वीकार करने पर भी उसमें से केवल विश्व उत्पन्न होता है यह नही मानता था। वह प्रकृतिवादी की तरह परिणाम और आविर्भाव मानता था। इसलिए वह यह कहता था कि परमाणु पुज मे से बाह्य विश्व अपने आप परिणमता है। इस प्रकार इस चौथे विचार-प्रवाह का झुकाव परमाणुवाद की भूमिका के ऊपर प्रकृतिवाद के परिणाम की मान्यता की ओर था।

उसकी एक विशेषता यह भी थी कि वह समग्र बाह्य विश्व को आविर्भाव वाला न मान करके उसमें के कितने ही कार्यो को उत्पत्तिशील भी मानता था। वह यह कहता था कि बाह्य विश्व में कितनी ही वस्तुएँ ऐसी है, जो किसी पुरुष के प्रयत्न के सिवाय अपने परमाणुरूप कारणो मे से उत्पन्न होती है। वैसी वस्तुएँ तिल में से तैल की तरह अपने कारण में से केवल आविर्भूत होती है, परन्तु बिलकुल नवीन उत्पन्न नही होती है। जब कि बाह्य विश्व में बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी भी है कि जो अपने जड कारणो मे से उत्पन्न होती है, परन्तु अपनी उत्पत्ति में किसी पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा रखती है। जो वस्तुएँ पुरुष के प्रयत्न की सहायता से जन्म लेती है, वे वस्तुएँ अपने जड कारणो में तिल मे तैल की तरह छिपी हुई नही रहती है, परन्तु वे तो बिलकुल नवीन ही उत्पन्न होती है। जिस प्रकार कोई सुतार विभिन्न काष्ठखडो को एकत्रित करके उनसे एक घोडे का निर्माण करता है, तब वह घोडा काष्ठखडो में छिपा नही रहता है, जैसे कि तिल मे तैल होता है। परन्तु घोडा बनाने वाले सुतार की बुद्धि में वह कल्पनारूप से होता है और वह काष्ठ-खडो के द्वारा मूर्तरूप धारण करता है। यदि सुतार चाहता तो इन्ही काष्ठ-खडो से घोडा न बना कर गाय, गाडी अथवा दूसरी वैसी वस्तु बना सकता था। तिल मे से तैल निकालने की बात इससे बिलकुल भिन्न है। कोई तेली चाहे जितना विचार करे या इच्छा करे फिर भी वह तिल मे से घी या मक्खन तो नही निकाल सकता है। इस प्रकार चतुर्थ विचार-प्रवाह परमाणुवादी होने पर भी एक ओर परिणाम और आविर्भाव मानने के विषय में प्रकृतिवादी विचार-प्रवाह के साथ मिलता था और दूसरी ओर कार्य तथा उत्पत्ति के विषय मे परमाणुवादी दूसरे विचार-प्रवाह से मिलता था।

यह तो बाह्य विश्व के सम्बन्ध में चतुर्थ विचार-प्रवाह की मान्यता हुई, परन्तु आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में तो इसकी मान्यता ऊपर के तीनो विचारप्रवाहो की अपेक्षा भिन्न थी। वह मानता था कि देहभेद से आत्मा भिन्न है। परन्तु ये सब आत्माएँ देशदृष्टि मे व्यापक नही है तथा केवल कूटस्थ भी नही है। वह यह मानता था कि जिस प्रकार बाह्य विश्व परिवर्तनशील है उसी प्रकार आत्माएँ भी परिणामी होने से सतत परिवर्तनशील है और आत्मतत्त्व सकोच-विस्तारशील है, इसलिए वह देहप्रमाण है।

यह चतुर्थ विचारप्रवाह ही जैन तत्त्वज्ञान का प्राचीन मूल है। भगवान् महावीर से बहुत समय पहले से यह विचारप्रवाह चला आता था और वह अपने ढग से विकसित होता तथा स्थिर होता जाता था। आज इस चतुर्थ

विचारप्रवाह का जो स्पष्ट विकसित और स्थिर रूप हमको प्राचीन या अर्वाचीन उपलब्ध जैनशास्त्रो में दृष्टिगोचर होता है, वह अधिकाश मे भगवान् महावीर के चिन्तन का आभारी है। जैन मत की श्वेताम्बर और दिगम्बर दो मुख्य शाखाएँ हैं। दोनो का साहित्य भिन्न-भिन्न है, परन्तु जैन तत्त्वज्ञान का जो स्वरूप स्थिर हुआ है, वह दोनो शाखाओ मे थोडे-से फेरफार के सिवाय एक समान है। यहाँ एक बात खास तौर से अकित करने योग्य है और वह यह कि वैदिक तथा बौद्ध मत के छोटे-बडे अनेक फिरके हैं। उनमें से कितने ही तो एक दूसरे से बिलकुल विरोधी मन्तव्य भी रखने वाले हैं। इन सभी 'फिरको' के बीच मे विशेषता यह है कि जब वैदिक और बौद्ध मत के सभी 'फिरके' आचार विषयक मतभेद के अतिरिक्त तत्त्वचिन्तन के विषय मे भी कुछ मतभेद रखते है तब जैनमत के तमाम फिरके केवल आचारभेद के ऊपर अवलम्बित हैं। उनमे तत्त्वचिन्तन की दृष्टि से कोई मौलिक भेद हो तो वह अभी तक अकित नही है। मानवीय तत्त्वचिन्तन के समग्र इतिहास में यह एक ही दृष्टान्त ऐसा है कि इतने अधिक लम्बे समय का इतिहास रखने पर भी जिसके तत्त्वचिन्तन का प्रवाह मौलिकरूप से अखडित ही रहा हो।

पूर्वीय और पश्चिमीय तत्त्वज्ञान की प्रकृति की तुलना

तत्त्वज्ञान पूर्वीय हो या पश्चिमीय, सभी तत्त्वज्ञान के इतिहास मे हम देखते है कि तत्त्वज्ञान केवल जगत्, जीव और ईश्वर के स्वरूप-चिन्तन मे ही पूर्ण नही होता, परन्तु वह अपने प्रदेश मे चारित्र का प्रश्न भी हाथ मे लेता है। अल्प या अधिक अश मे, एक या दूसरी रीति से, प्रत्येक तत्त्वज्ञान अपने में जीवनशोधन की मीमासा का समावेश करता है। अलबत्ता पूर्वीय और पश्चिमीय तत्त्वज्ञान के विकास मे हम थोडी भिन्नता भी देखते है। ग्रीक तत्त्वचिन्तन की शुरुआत केवल विश्व के स्वरूप सम्बन्धी प्रश्नो मे से होती है और आगे जाने पर क्रिश्चियानिटी के साथ मे इसका सम्बन्ध होने पर इसमे जीवनशोधन का भी प्रश्न समाविष्ट होता है। और पीछे इस पश्चिमीय तत्त्वचिन्तन की एक शाखा मे जीवनशोधन की मीमासा महत्त्वपूर्ण भाग लेती है। अर्वाचीन समय तक भी रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय में हम तत्त्वचिन्तन को जीवनशोधन के विचार के साथ सकलित देखते है। परन्तु आर्य तत्त्वज्ञान के इतिहास में हम एक खास विशेषता देखते हैं। वह यह कि मानो आर्य तत्त्वज्ञान का प्रारम्भ ही जीवनशोधन के प्रश्न में से हुआ हो, ऐसा प्रतीत होता है। क्योकि आर्य तत्त्वज्ञान की वैदिक, बौद्ध और जैन इन तीन मुख्य शाखाओ मे एक समान रीति से विश्वचिन्तन के साथ ही जीवनशोधन का चिन्तन सकलित है। आर्यावर्त का कोई भी दर्शन ऐसा नही है, जो केवल विश्वचिन्तन करके सन्तोष धारण करता हो। परन्तु उससे विपरीत हम यह देखते है कि प्रत्येक मुख्य या उसका शाखारूप दर्शन जगत्, जीव और ईश्वर सम्बन्धी अपने विशिष्ट विचार दिखला कर अन्त में जीवनशोधन के प्रश्न को ही लेता है और जीवनशोधन की प्रक्रिया दिखला कर विश्रान्ति लेता है। इसलिए हम प्रत्येक आर्यदर्शन के मूल ग्रन्थ में प्रारम्भ मे मोक्ष का उद्देश और अन्त मे उसका ही उपसहार देखते है। इसी कारण से साख्यदर्शन जिस प्रकार अपना विशिष्ट योग रखता है और वह योगदर्शन से अभिन्न है, उसी प्रकार न्याय, वैशेषिक और वेदान्त दर्शन मे भी योग के मूल सिद्धान्त हैं। बौद्धदर्शन में भी उसकी विशिष्ट योगप्रक्रिया ने खास स्थान ले रक्खा है। इसी प्रकार जैनदर्शन भी योगप्रक्रिया के विषय में पूरे विचार रखता है।

जीवनशोधन के मौलिक प्रश्नो की एकता

इस प्रकार हमने देखा कि जैनदर्शन के मुख्य दो भाग है, एक तत्त्वचिन्तन का और दूसरा जीवनशोधन का। यहाँ एक बात खास तौर से अकित करने योग्य है और वह यह कि वैदिकदर्शन की कोई भी परम्परा लो या बौद्धदर्शन की कोई परम्परा लो और उसकी जैनदर्शन की परम्परा के साथ तुलना करो तो एक वस्तु स्पष्ट प्रतीत होगी कि इन सब परम्पराओ में जो भेद है वह दो बातो मे है। एक तो जगत्, जीव और ईश्वर के स्वरूपचिन्तन के सम्बन्ध मे और दूसरा आचार के स्थूल तथा बाह्य विधि-विधान और स्थूल रहन-सहन के सम्बन्ध में। परन्तु आर्यदर्शन की प्रत्येक

परम्परा में जीवनशोधन से सम्बन्ध रखने वाले मौलिक प्रश्न और उनके उत्तरों मे बिलकुल भी भेद नहीं है। कोई ईश्वर को माने या नही, कोई प्रकृतिवादी हो या कोई परमाणुवादी, कोई आत्मभेद स्वीकार करे या आत्मा का एकत्व स्वीकार करे, कोई आत्मा को व्यापक और नित्य माने या कोई उससे विपरीत माने, इसी प्रकार कोई यज्ञ-याग द्वारा भक्ति के ऊपर भार देता हो या कोई ब्रह्मसाक्षात्कार के ज्ञानमार्ग के ऊपर भार देता हो, कोई मध्यममार्ग स्वीकार करके अनगारधर्म और भिक्षाजीवन के ऊपर भार दे या कोई अधिक कठोर नियमो का अवलम्बन करके त्याग के ऊपर भार दे, परन्तु प्रत्येक परम्परा मे इतने प्रश्न एक समान हैं—दु ख है या नही ? यदि है तो उसका कारण क्या है ? उस कारण का नाश शक्य है ? यदि शक्य है तो वह किस प्रकार ? अन्तिम साध्य क्या होना चाहिए ? इन प्रश्नो के उत्तर भी प्रत्येक परम्परा मे एक ही हैं। चाहे शब्दभेद हो, सक्षेप या विस्तार हो, पर प्रत्येक का उत्तर यह है कि अविद्या और तृष्णा ये दु ख के कारण हैं। इनका नाश सम्भव है। विद्या से और तृष्णाछेद के द्वारा दु ख के कारणो का नाश होते ही दु ख अपने आप नष्ट हो जाता है। और यही जीवन का मुख्य साध्य है। आर्यदर्शनो की प्रत्येक परम्परा जीवनशोधन के मौलिक विचार के विषय मे और उसके नियमो के विषय में विलकुल एकमत है। इसलिए यहाँ जैनदर्शन के विषय में कुछ भी कहते समय मुख्यरूप से उसकी जीवनशोधन की मीमासा का ही सक्षेप में कथन करना अधिक प्रासगिक है।

जीवनशोधन की जैन-प्रक्रिया

जैनदर्शन कहता है कि आत्मा स्वाभाविक रीति से शुद्ध और सच्चिदानन्दरूप है। इसमे जो अशुद्धि, विकार या दु खरूपता दृष्टिगोचर होती है वह अज्ञान और मोह के अनादि प्रवाह के कारण से है। ज्ञान को कम करने और विलकुल नष्ट करने के लिए तथा मोह का विलय करने के लिए जैनदर्शन एक ओर विवेकशक्ति को विकसित करने के लिए कहता है और दूसरी ओर वह रागद्वेष के सस्कारो को नष्ट करने के लिए कहता है। जैनदर्शन आत्मा को तीन भूमिकाओ में विभाजित करता है। जब अज्ञान और मोह के प्रबल प्राबल्य के कारण आत्मा वास्तविक तत्त्व का विचार न कर सके तथा सत्य और स्थायी सुख की दिशा मे एक भी कदम उठाने की इच्छा न कर सके तब वह बहिरात्मा कहलाता है। यह जीव की प्रथम भूमिका हुई। यह भूमिका जब तक चलती रहती है तब तक पुनर्जन्म के चक्र के बन्द होने की कोई सम्भावना नही तथा लौकिक दृष्टि मे चाहे जितना विकास दिखाई देता हो फिर भी वास्तविक रीति से वह आत्मा अविकसित ही होता है।

जब विवेकशक्ति का प्रादुर्भाव होता है और जब रागद्वेष के सस्कारो का बल कम होने लगता है तब दूसरी भूमिका प्रारम्भ होती है। इसको जैनदर्शन अन्तरात्मा कहता है। यद्यपि इस भूमिका के समय देहधारण के लिए उपयोगी सभी सासारिक प्रवृत्ति अल्प या अधिक अश मे चलती रहती है, फिर भी विवेकशक्ति के विकास के प्रमाण में और रागद्वेष की मन्दता के प्रमाण मे यह प्रवृत्ति अनासक्ति वाली होती है। इस दूसरी भूमिका मे प्रवृत्ति होने पर भी उसमें अन्तर मे निवृत्ति का तत्त्व होता है। दूसरी भूमिका के कितने ही सोपानो का अतिक्रमण करने के बाद आत्मा परमात्मा की दशा को प्राप्त करता है। यह जीवनशोधन की अन्तिम और पूर्ण भूमिका है। जैनदर्शन कहता है कि इस भूमिका पर पहुँचने के बाद पुनर्जन्म का चक्र सदा के लिए विलकुल बन्द हो जाता है।

हम ऊपर के सक्षिप्त वर्णन से यह देख सकते हैं कि अविवेक (मिथ्यादृष्टि) और मोह (तृष्णा) ये दो ही ससार है अथवा ससार के कारण है। इसके विपरीत विवेक (सम्यग्दर्शन) और वीतरागत्व यही मोक्ष है अथवा मोक्ष का मार्ग है। यही जीवनशोधन की सक्षिप्त जैनमीमासा अनेक जैनग्रन्थो मे अनेक रीति से, सक्षेप या विस्तार से, विभिन्न परिभाषाओ में वर्णित है। और यही जीवनमीमासा वैदिक तथा बौद्धदर्शन में जगह-जगह अक्षरश दृष्टिगोचर होती है।

कुछ विशेष तुलना

ऊपर तत्त्वज्ञान की मौलिक जैन विचारसरणी और आध्यात्मिक विकासक्रम की जैन विचारसरणी का बहुत ही सक्षेप मे निर्देश किया है। इस सक्षिप्त लेख मे उसके अति विस्तार को स्थान नही, फिर भी इसी विचार को अधिक स्पष्ट करने के लिए यहाँ दूसरे भारतीय दर्शनो के विचारो के साथ तुलना करना योग्य है।

(क) जैनदर्शन जगत् को मायावादी की तरह केवल भास या केवल काल्पनिक नही मानता है परन्तु वह जगत् को सत्य मानता है। फिर भी जैनदर्शन-समत सत् चार्वाक की तरह केवल जड अर्थात् सहज चैतन्यरहित नही है। इसी प्रकार जैनदर्शन समत सत् तत्त्व शाकरवेदान्तानुसार केवल चैतन्य मात्र भी नही है, परन्तु जिस प्रकार साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमासा और बौद्धदर्शन सत् तत्त्व को बिलकुल स्वतन्त्र तथा परस्पर भिन्न ऐसे जड और चेतन दो भागो में विभाजित कर डालते है, उसी प्रकार जैनदर्शन भी सत् तत्त्व की अनादिसिद्ध जड तथा चेतन ऐसी दो प्रकृति स्वीकार करता है जो कि देश और काल के प्रवाह में साथ रहने पर भी मूल में बिलकुल स्वतन्त्र है। जिस प्रकार न्याय, वैशेषिक और योगदर्शन आदि यह स्वीकार करते है कि इस जगत का विशिष्ट कार्यस्वरूप चाहे जड और चेतन इन दो पदार्थो से बनता हो फिर भी इस कार्य के पीछे किसी अनादिसिद्ध, समर्थ, चेतनशक्ति का हाथ है, इस ईश्वरीय हाथ के सिवाय ऐसे अद्भुत कार्य का सम्भव नही हो सकता है। जैनदर्शन इस प्रकार से नही मानता है। वह प्राचीन साख्य, पूर्व मीमासा और बौद्ध आदि की तरह मानता है कि जड और चेतन ये दो सत् प्रवाह अपने आप किसी तृतीय विशिष्ट शक्ति के हस्तक्षेप के सिवाय ही चलते रहते है। इसलिए वह इस जगत् की उत्पत्ति या व्यवस्था के लिए ईश्वर जैसी स्वतन्त्र अनादिसिद्ध व्यक्ति स्वीकार नही करता है। यद्यपि जैनदर्शन न्याय, वैशेषिक बौद्ध आदि की तरह जड सत् तत्त्व को अनादिसिद्ध अनन्त व्यक्तिरूप स्वीकार करता है और साख्य की तरह एक व्यक्ति-रूप नही स्वीकार करता, फिर भी वह साख्य के प्रकृतिगामी सहज परिणामवाद को अनन्त परमाणु नामक जड सत् तत्त्वो में स्थान देता है।

इस प्रकार जैन मान्यतानुसार जगत् का परिवर्तन प्रवाह अपने आप ही चलता रहता है। फिर भी जैनदर्शन इतना तो स्पष्ट कहता है कि विश्व की जो-जो घटनाएँ किसी की बुद्धि और प्रयत्न की आभारी होती है उन घटनाओ के पीछे ईश्वर का नही, परन्तु उन घटनाओ के परिणाम मे भागीदार होने वाले ससारी जीव का हाथ रहता है, अर्थात् वैसी घटनाएँ जान में या अनजान मे किसी न किसी ससारी जीव की बुद्धि और प्रयत्न की आभारी होती है। इस सम्बन्ध मे प्राचीन साख्य और बौद्धदर्शन, जैनदर्शन जैसे ही विचार रखते है।

वेदान्तदर्शन की तरह जैनदर्शन सचेतन तत्त्व को एक या अखड नही मानता है, परन्तु साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक तथा बौद्ध आदि की तरह वह सचेतन तत्त्व को अनेक व्यक्तिरूप मानता है। फिर भी इन दर्शनो के साथ जैनदर्शन का थोडा मतभेद है। और वह यह है कि जैनदर्शन की मान्यतानुसार सचेतन तत्त्व बौद्ध मान्यता की तरह केवल परिवर्तनप्रवाह नही है तथा साख्य, न्याय आदि की तरह केवल कूटस्थ भी नही है। किन्तु जैनदर्शन कहता है कि मूल में सचेतन तत्त्व ध्रुव अर्थात् अनादि अनन्त होने पर भी वह देश काल का असर धारण किये बिना नही रह सकता। इसलिए जैन मतानुसार जीव भी जड की तरह परिणामी नित्य है। जैनदर्शन ईश्वर जैसी किसी व्यक्ति को बिलकुल स्वतन्त्ररूप से नही मानता है फिर भी वह ईश्वर के समग्र गुणो को जीवमात्र में स्वीकार करता है। इसलिए जैनदर्शनानुसार प्रत्येक जीव मे ईश्वरत्व की शक्ति है। चाहे वह शक्ति आवरण से दबी हुई हो, परन्तु यदि जीव योग्य दिशा मे प्रयत्न करे तो वह अपने में रही हुई ईश्वरीय शक्ति का पूर्णरूप से विकास करके स्वय ही ईश्वर बनता है। इस प्रकार जैन मान्यतानुसार ईश्वरतत्त्व को भिन्न स्थान नही होने पर भी वह ईश्वरत्व की मान्यता रखता है और उसकी उपासना भी स्वीकार करता है। जो-जो जीवात्माएँ कर्मवासनाओ से पूर्णरूप से मुक्त हुए है वे सभी समानभाव से ईश्वर है। उनका आदर्श सामने रख करके अपने में रही हुई पूर्ण शक्ति को प्रकट करना यह जैन

उपासना का ध्येय है। जिस प्रकार शांकर वेदान्त मानता है कि जीव स्वयं ही ब्रह्म है, उसी प्रकार जैनदर्शन कहता है कि जीव स्वयं ही ईश्वर या परमात्मा है। वेदान्तदर्शनानुसार जीव का ब्रह्मभाव अविद्या से आवृत है और अविद्या के दूर होते ही वह अनुभव में आता है, इसी प्रकार जैनदर्शनानुसार जीव का परमात्मभाव कर्म से आवृत है और इस आवरण के दूर होते ही वह पूर्णरूप से अनुभव में आता है। इस सम्बन्ध में वस्तुतः जैन और वेदान्त के बीच में व्यक्ति-बहुत्व के सिवाय कुछ भी भेद नहीं है।

(ख) जैनशास्त्र में जिन सात तत्त्वों का उल्लेख है उनमें से मूल जीव और अजीव इन दो तत्त्वों की ऊपर तुलना की है। अब वस्तुतः पाँच में से चार ही तत्त्व अवशिष्ट रहते हैं। ये चार तत्त्व जीवनशोधन से सम्बन्ध रखने वाले अर्थात् आध्यात्मिक विकासक्रम से सम्बन्ध रखने वाले हैं, जिनको चारित्रीय तत्त्व भी कह सकते हैं। बन्ध, आस्रव, संवर और मोक्ष ये चार तत्त्व हैं। ये तत्त्व बौद्धशास्त्रों में क्रमशः दुःख, दुःखहेतु, निर्वाणमार्ग और निर्वाण इन चार आर्यसत्यों के नाम से वर्णित हैं। सांख्य और योगशास्त्र में इनको ही हेय, हेयहेतु, हानोपाय और हान कह करके इनका चतुर्व्यूह रूप से वर्णन है। न्याय और वैशेषिकदर्शन में भी इसी वस्तु का संसार, मिथ्याज्ञान, तत्त्वज्ञान और अपवर्ग के नाम से वर्णन है। वेदान्तदर्शन में संसार, अविद्या, ब्रह्मभावना और ब्रह्मसाक्षात्कार के नाम से यही वस्तु दिखलाई गई है।

जैनदर्शन में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा की तीन संक्षिप्त भूमिकाओं का कुछ विस्तार से चौदह भूमिकाओं के रूप में भी वर्णन किया गया है, जो जैन परम्परा में गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध है। योगवाशिष्ठ जैसे वेदान्त के ग्रन्थों में भी सात अज्ञान की और सात ज्ञान की चौदह आत्मिक भूमिकाओं का वर्णन है। सांख्य योग-दर्शन की क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पाँच चित्तभूमिकाएँ भी इन्हीं चौदह भूमिकाओं का संक्षिप्त वर्गीकरण मात्र है। बौद्धदर्शन में भी इसी आध्यात्मिक विकासक्रम को पृथग्जन, सोतापन्न आदि रूप से पाँच भूमिकाओं में विभाजित करके वर्णन किया गया है। इस प्रकार जब हम सभी भारतीय दर्शनों में संसार से मोक्ष तक की स्थिति, उसके क्रम और उसके कारणों के विषय में एक मत और एक विचार पढ़ते हैं तब प्रश्न होता है कि जब सभी दर्शनों के विचारों में मौलिक एकता है तब पन्थ-पन्थ के बीच में कभी भी मेल नहीं हो ऐसा और इतना अधिक भेद क्यों दिखाई देता है ?

इसका उत्तर स्पष्ट है। पन्थों की भिन्नता में मुख्य दो वस्तुएँ कारण हैं। तत्त्वज्ञान की भिन्नता और बाह्य आचार-विचार की भिन्नता। कितने ही पन्थ तो ऐसे भी हैं कि जिनके बाह्य आचार-विचार में भिन्नता होने के अतिरिक्त तत्त्वज्ञान की विचारसरणी में भी अमुक भेद होता है। जैसे कि वेदान्त, बौद्ध और जैन आदि पन्थ। कितने ही पन्थ या उनकी शाखाएँ ऐसी भी होती हैं कि जिनकी तत्त्वज्ञान विषयक विचारसरणी में खास भेद नहीं होता है। उनका भेद मुख्य रूप से बाह्य आचार का अवलम्बन लेकर उपस्थित और पोषित होता है। उदाहरण के तौर पर जैनदर्शन की श्वेताम्बर, दिगम्बर और स्थानकवासी इन तीन शाखाओं को गिना सकते हैं।

आत्मा को कोई एक माने या कोई अनेक माने, कोई ईश्वर को माने या कोई नहीं माने—इत्यादि तात्त्विक विचारणा का भेद बुद्धि के तरतमभाव के ऊपर निर्भर है। इसी प्रकार बाह्य आचार और नियमों के भेद बुद्धि, रुचि तथा परिस्थिति के भेद में से उत्पन्न होते हैं। कोई काशी जाकर गंगा स्नान और विश्वनाथ के दर्शन में पवित्रता माने, कोई बुद्धगया और सारनाथ जाकर बुद्धदर्शन में कृतकृत्यता माने, कोई शत्रुंजय की यात्रा में सफलता माने, कोई मक्का और कोई जेरूसलेम जाकर धन्यता माने। इसी प्रकार कोई एकादशी के तप-उपवास को अति पवित्र गिने, दूसरा कोई अष्टमी और चतुर्दशी के व्रत को महत्त्व प्रदान करे, कोई तप के ऊपर बहुत भार नहीं देकर के दान के ऊपर भार दे, दूसरा कोई तप के ऊपर भी अधिक भार दे, इस प्रकार परम्परागत भिन्न-भिन्न संस्कारों का पोषण और रुचिभेद का मानसिक वातावरण अनिवार्य होने से बाह्याचार और प्रवृत्ति का भेद कभी मिटने वाला नहीं है। भेद की उत्पादक और पोषक इतनी अधिक वस्तुएँ होने पर भी सत्य ऐसा है कि वह वस्तुतः खंडित नहीं होता है।

इसीलिए हम ऊपर की आध्यात्मिक विकासक्रम से सम्बन्ध रखने वाली तुलना मे देखते है कि चाहे जिस रीति से, चाहे जिस भाषा मे और चाहे जिस रूप मे जीवन का सत्य एक समान ही सभी अनुभवी तत्त्वज्ञो के अनुभव मे प्रकट हुआ है।

प्रस्तुत वक्तव्य को पूर्ण करने के पहले जैनदर्शन की सर्वमान्य दो विशेषताओ का उल्लेख करना उचित है। अनेकान्त और अहिंसा इन दो मुद्दो की चर्चा पर ही सम्पूर्ण जैनसाहित्य का निर्माण है। जैन आचार और सम्प्रदाय की विशेषता इन दो विषयो से ही बताई जा सकती है। सत्य वस्तुत एक ही होता है, परन्तु मनुष्य की दृष्टि उसको एक रूप मे ग्रहण नही कर सकती है। इसलिए सत्यदर्शन के लिए मनुष्य को अपनी दृष्टिमर्यादा विकसित करनी चाहिए और उसमे सत्यग्रहण की सभी सभवनीय दृष्टियो को स्थान होना चाहिए। इस उदात्त और विशाल भावना मे से अनेकान्त विचारसरणी का जन्म हुआ है। इस विचारसरणी की योजना किसी वादविवाद में जय प्राप्त करने के लिए या वितडावाद की माठमारी—चक्रव्यूह या दावपेच खेलने के लिए और शब्दछल की शतरज खेलने के लिए नही हुई है, परन्तु इसकी योजना तो जीवनशोधन के एक भाग स्वरूप विवेकशक्ति को विकसित करने के लिए और सत्यदर्शन की दिशा में आगे बढने के लिए हुई है। इसलिए अनेकान्त विचारसरणी का सच्चा अर्थ यह है कि सत्यदर्शन को लक्ष्य में रख करके उसके सभी अशो और भागो को एक विशाल मानस वर्तुल मे योग्य रीति से स्थान देना।

जैसे जैसे मनुष्य की विवेकशक्ति बढती है वैसे वैसे उसकी दृष्टिमर्यादा बढने के कारण उसको अपने भीतर रही हुई सकुचितताओ और वासनाओ के दबावो के सामने होना पडता है। जब तक मनुष्य सकुचितताओ और वासनाओ के साथ विग्रह नही करता तब तक वह अपने जीवन में अनेकान्त को वास्तविक स्थान नही दे सकता है। इसलिए अनेकान्त विचार की रक्षा और वृद्धि के प्रश्न मे से ही अहिंसा का प्रश्न आता है। जैन अहिंसा केवल चुपचाप बैठे रहने मे या उद्योग-धन्धा छोड देने मे अथवा काष्ठ जैसी निश्चेष्ट स्थिति करने मे ही पूर्ण नही होती, परन्तु वह अहिंसा वास्तविक आत्मिक बल की अपेक्षा रखती है। कोई भी विकार उद्भूत हुआ, किसी वासना ने सिर ऊँचा किया अथवा कोई सकुचितता मन मे प्रज्वलित हो उठी वहाँ जैन अहिंसा यह कहती है कि तू इन विकारो, इन वासनाओ और इन सकुचितताओ से हनन को प्राप्त मत हो, पराभव प्राप्त न कर और इनकी सत्ता अगीकार न कर, तू इनका बल-पूर्वक सामना कर और इन विरोधी बलो को जीत। आध्यात्मिक जय प्राप्त करने के लिए यह प्रयत्न ही मुख्य जैन अहिंसा है। इसको फिर सयम कहो, तप कहो, ध्यान कहो या कोई भी वैसा आध्यात्मिक नाम प्रदान करो, परन्तु वह वस्तुत अहिंसा ही है। और जैनदर्शन यह कहता है कि अहिसा केवल आचार नही है, परन्तु वह शुद्ध विचार के परिपाक रूप मे अवतरित जीवनोत्कर्षक आचार है।

ऊपर वर्णन किये गये अहिंसा के सूक्ष्म और वास्तविक रूप मे से कोई भी बाह्याचार उत्पन्न हुआ हो अथवा उस सूक्ष्म रूप की पुष्टि के लिए किसी आचार का निर्माण हुआ हो तो उसका जैनतत्त्वज्ञान मे अहिंसा के रूप मे स्थान है। इसके विपरीत, ऊपर ऊपर से दिखाई देने वाले अहिंसामय आचार या व्यवहार के मूल मे यदि ऊपर के अहिंसा-तत्त्व का सम्बन्ध नही हो तो वह आचार और वह व्यवहार जैन दृष्टि से अहिंसा है या अहिंसा का पोषक है यह नही कह सकते है।

यहाँ जैनतत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले विचार में प्रमेय-चर्चा का जान बूझकर विस्तार नही किया है। इस विषय की जैन विचारसरणी का केवल सकेत किया है। आचार के विषय मे भी बाह्य नियमो और विधानो सम्बन्धी चर्चा जानबूझ कर छोड दी है, परन्तु आचार के मूलतत्त्वो की जीवनशोधन के रूप मे सहज चर्चा की है, जिनको कि जैन परिभाषा मे आस्रव, सवर आदि तत्त्व कहते है। आशा है कि यह सक्षिप्त वर्णन जैनदर्शन की विशेष जिज्ञासा उत्पन्न करने मे सहायक होगा।

बबई]

[गुजराती से अनूदित

जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन

श्री दलसुख मालवणिया

प्रस्तावना

भगवान् महावीर से लेकर अब तक के जैनदार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन करना यहाँ इष्ट है। समग्र साहित्य को विकासक्रम की दृष्टि से हम चार युगो में विभक्त कर सकते हैं—(१) आगमयुग, (२) अनेकान्त-स्थापनयुग, (३) प्रमाणशास्त्रव्यवस्था युग और (४) नवीनन्याययुग।

युगो के लक्षण युग के नाम से ही स्पष्ट हैं। फिर भी थोडा काल की दृष्टि से स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रथम युग की मर्यादा भगवान् महावीर के निर्वाण (वि० पूर्व ४७०) से लेकर क़रीब एक हज़ार वर्ष की है अर्थात् वि० पाँचवीं शताब्दी तक है। दूसरा पाँचवी से आठवी शताब्दी तक। तीसरा आठवी से सत्रहवी तक और चौथा अठारहवी से आधुनिक समय-पर्यन्त। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि पूर्व युग की विशेषताएँ उत्तर युग मे क़ायम रही हैं और उस युग का जो नया कार्य है उसी को ध्यान में रखकर उस युग का नामकरण हुआ है। पूर्व युग में उत्तर युग का बीज अवश्य है; परन्तु पल्लवन नही। पल्लवन की दृष्टि से ही युग का नामकरण हुआ है।

ग्रन्थकारो का क्रम प्राय शताब्दी को ध्यान में रखकर किया गया है। जहाँ तक हो सका है, यह प्रयत्न किया गया है कि उनका पौर्वापर्य मुख्य रूप से ध्यान मे रखकर ही उनकी कृतियो का वर्णन किया जाय। दशको का विचार रखकर वर्णन सम्भव नही। आगम-युग के साहित्य पर जो टीका-टिप्पणियाँ हुई हैं, उनका वर्णन सुभीते की दृष्टि से उसी युग के वर्णन के साथ कर दिया है, यद्यपि ये टीकाएँ उस युग की नहीं हैं।

समग्र साहित्य के अवलोकन से यह पता लगता है कि जैनदार्शनिक साहित्यगंगा इन पच्चीस शताब्दियो में सतत प्रवाहित रही है। प्रवाह कभी गम्भीर हुआ, कभी विस्तीर्ण हुआ, कभी मन्द हुआ, कभी तेज़ हुआ, किन्तु रुका कभी नही।

(१) आगमयुग

भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, वह आज श्रुतरूप में जैन-आगमो में सुरक्षित है। आचार्य भद्रबाहु ने श्रुत की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए एक सुन्दर रूपक का उपयोग किया है[1]—"तप-नियम-ज्ञानरूप वृक्ष के ऊपर आरूढ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान् भव्यजनो के हित के लिए ज्ञानकुसुम की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि-पट में उन सकल कुसुमो को झेलते हैं और प्रवचनमाला गूंथते हैं।" यही प्रवचन-माला आचार्य परम्परा से, कालक्रम से, हमें जैसी भी टूटी फूटी अवस्था मे प्राप्त हुई है, आज 'जैनागम' के नाम से प्रसिद्ध है।

जैन आगमिक साहित्य, जो अगोपागादि भेदो से विभक्त है, उसका अन्तिम सस्करण वलभी में वीरनिर्वाण से ९८० वर्ष के बाद और मतान्तर से ९९३ वर्ष के बाद हुआ। यही सस्करण आज उपलब्ध है। इसका मतलब यह नहीं है कि आगमो में जो कुछ बातें हैं वे प्राचीन समय की नहीं है। यत्र-तत्र थोडा-बहुत परिवर्तन और परिवर्धन

---

[1]आवश्यक निर्युक्ति गाथा—

"तवनियमनाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए॥"

है इस बात को मानते हुए भी शैली और विषय-वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि आगमो का अधिकाश ईस्वी सन् के पूर्व का होने मे सन्देह को कोई अवकाश नही।

जैनदार्शनिक साहित्य के विकास का मूलाधार ये ही प्राकृत भाषा-निवद्ध आगम रहे है। अतएव सक्षेप मे इनका वर्गीकरण नीचे दिया जाता है—

१ अग—

१—आचार, २—सूत्रकृत, ३—स्थान, ४—समवाय, ५—भगवती, ६—ज्ञातृधर्मकथा, ७—उपासकदशा, ८—अन्तकृद्दशा, ९—अनुत्तरोपपातिकदशा, १०—प्रश्नव्याकरण, ११—विपाक, १२—दृष्टिवाद (लुप्त है)।

२ उपाग—

१—औपपातिक, २—राजप्रश्नीय, ३—जीवाभिगम, ४—प्रज्ञापना, ५—सूर्यप्रज्ञप्ति, ६—जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, ७—चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८—कल्पिका, ९—कल्पावतसिका, १०—पुष्पिका, ११—पुष्पचूलिका, १२—वृष्णि-दशा।

३ मूल—

१—आवश्यक, २—दशवैकालिक, ३—उत्तराध्ययन, ४—पिंडनिर्युक्ति (४—किसीके मत से ओघ-निर्युक्ति)।

४ नन्दीसूत्र—

५ अनुयोगद्वारसूत्र—

६ छेदसूत्र—

१—निशीथ, २—महानिशीथ, ३—बृहत्कल्प, ४—व्यवहार, ५—दशाश्रुतस्कन्ध, ६—पचकल्प।

७ प्रकीर्णक—

१—चतु शरण, २—आतुरप्रत्याख्यान, ३—भक्तपरिज्ञा, ४—सस्तारक, ५—तन्दुलवैचारिक, ६—चन्द्रवेध्यक, ७—देवेन्द्रस्तव, ८—गणिविद्या, ९—महाप्रत्याख्यान, १०—वीरस्तव।

इन सूत्रो में से कुछ तो ऐसे है, जिनके कर्त्ता का नाम भी उपलब्ध होता है जैसे—दशवैकालिक शय्यभवकृत है, प्रज्ञापना श्यामाचार्य कृत है। दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार के कर्त्ता भद्रवाहु है।

इन सभी सूत्रो का सम्वन्ध दर्शन से नही है। कुछ तो ऐसे है, जो जैन आचार के साथ सम्वन्ध रखते है जैसे—आचाराग, दशवैकालिक आदि। कुछ उपदेशात्मक है जैसे उत्तराध्ययन, प्रकीर्णक, आदि। कुछ तत्कालीन भूगोल और खगोल आदि सम्वन्धी मान्यताओ का वर्णन करते है, जैसे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि। छेदसूत्रो का प्रधान विषय जैनसाधुओ के आचारसम्वन्धी औत्सर्गिक और आपवादिक नियमो का वर्णन व प्रायश्चित्तो का विधान करना है। कुछ ग्रन्थ ऐसे है, जिनमे जिनमार्ग के अनुयायियो का चरित्र दिया गया है जैसे उपासकदशा, अनुत्तरोपपातिकदशा आदि। कुछ मे कल्पित कथाएँ देकर उपदेश दिया गया है, जैसे ज्ञातृधर्मकथा आदि। विपाक मे शुभ और अशुभ कर्म का विपाक कथाओ द्वारा वताया गया है। भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर के साथ हुए सवादो का सग्रह है। वौद्ध सुत्तपिटक की तरह नाना विषय के प्रश्नोत्तर भगवती में सगृहीत है।

दर्शन के साथ सम्वन्ध रखने वालो में खास कर सूत्रकृत, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, भगवती, नन्दी, स्थानाग, समवाय और अनुयोग मुख्य है।

सूत्रकृत में तत्कालीन मन्तव्यो का निराकरण करके स्वमत की प्ररूपणा की गई है। भूतवादियो का निराकरण करके आत्मा का पृथग्-अस्तित्व वताया है। ब्रह्मवाद के स्थान में नानात्मवाद स्थिर किया है। जीव और

शरीर को पृथक् बताया है। कर्म और उसके फल की सत्ता स्थिर की है। जगदुत्पत्ति के विषय में नानावादो का निराकरण करके विश्व को किसी ईश्वर या ऐसी ही किसी व्यक्ति ने नहीं बनाया, वह तो अनादि अनन्त है, इस बात की स्थापना की गई है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निराकरण करके सुसस्कृत क्रियावाद की स्थापना की गई है।

प्रज्ञापना में जीव के विविध भावो को लेकर विस्तार से विचार किया गया है।

राजप्रश्नीय मे पार्श्वनाथ की परम्परा में हुए केशीश्रमण ने श्रावस्ती के राजा पएसी के प्रश्नों के उत्तर में नास्तिकवाद का निराकरण करके आत्मा और तत्सम्बन्धी अनेक बातों को दृष्टान्त और युक्तिपूर्वक समझाया है।

भगवतीसूत्र के अनेक प्रश्नोत्तरो मे नय, प्रमाण आदि अनेक दार्शनिक विचार बिखरे पडे है।

नन्दी जैनदृष्टि मे ज्ञान के स्वरूप और भेदों का विश्लेषण करने वाली एक सुन्दर कृति है।

स्थानाग और समवायाग की रचना बौद्धों के अगुत्तरनिकाय के ढग की है। इन दोनो म भी आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय, प्रमाण आदि विषयों की चर्चा आई है। भगवान् महावीर के शासन मे हुए निह्नवो का वर्णन स्थानाग मे है। ऐसे सात व्यक्ति बताए गए है जिन्होने कालक्रम मे भगवान् महावीर के सिद्धान्तो की भिन्न भिन्न बात को लेकर अपना मतभेद प्रकट किया है। ये ही निह्नव कहे गये है।

अनुयोग मे शब्दार्थ करने की प्रक्रिया का वर्णन मुख्य है, किन्तु प्रसग मे उसमे प्रमाण और नय का तथा तत्त्वो का निरूपण भी अच्छे ढग से हुआ है।

आगमो की टीकाएँ

इन आगमो की टीकाएँ प्राकृत और सस्कृत में हुई है। प्राकृत टीकाएँ निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि के नाम से लिखी गई है। निर्युक्ति और भाष्य पद्यमय है और चूर्णी गद्य मे। उपलब्ध निर्युक्तियाँ भद्रबाहु द्वितीय की रचना है। उनका समय विक्रम पाँचवी या छठी शताब्दी है। निर्युक्तियों मे भद्रबाहु ने कई प्रसग मे दार्शनिक चर्चाएँ बडे सुन्दर ढग से की है। खास कर बौद्धो तथा चार्वाको के विषय मे निर्युक्ति मे जहाँ कही अवसर मिला, उन्होने अवश्य लिखा है। आत्मा का अस्तित्व उन्होंने सिद्ध किया है। ज्ञान का सूक्ष्म निरूपण तथा अहिंसा का तात्त्विक विवेचन किया है। शब्द के अर्थ करने की पद्धति के तो वे निष्णात थे ही। प्रमाण, नय और निक्षेप के विषय में लिख कर भद्रबाहु ने जैनदर्शन की भूमिका पक्की की है।

किसी भी विषय की चर्चा का अपने समय तक का पूर्णरूप देखना हो तो भाष्य देखना चाहिए। भाष्यकारो में प्रसिद्ध सघदासगणी और जिनभद्र है। इनका समय सातवी शताब्दी है। जिनभद्र ने विशेषावश्यक भाष्य मे आगमिक पदार्थों का तर्कसगत विवेचन किया है। प्रमाण, नय, निक्षेप की सम्पूर्ण चर्चा तो उन्होने की ही है। इसके अलावा तत्त्वो का भी तात्त्विक युक्तिसगत विवेचन उन्होने किया है। ऐसा कहा जा सकता है कि दार्शनिक चर्चा का कोई ऐसा विषय नहीं है, जिस पर जिनभद्र ने अपनी कलम न चलाई हो। बृहत्कल्पभाष्य में सघदास गणी ने साधुओ के आहार-विहार आदि नियमो के उत्सर्ग अपवाद मार्ग की चर्चा दार्शनिक ढग से की है। इन्होने भी प्रसग से प्रमाण, नय और निक्षेप के विषय मे लिखा है।

करीब सातवी-आठवी शताब्दी की चूर्णियाँ मिलती है। चूर्णिकारो मे जिनदास महत्तर प्रसिद्ध है। इन्होने नन्दी की चूर्णी के अलावा और भी चूर्णियाँ लिखी है। चूर्णियो मे भाष्य के ही विषय को सक्षेप मे गद्य में लिखा गया है। जातक के ढग की प्राकृत कथाएँ इनकी विशेषता है।

जैन आगमो की सबसे प्राचीन सस्कृत टीका आ० हरिभद्र ने की है। उनका समय वि० ७५७ से ८५७ के बीच का है। हरिभद्र ने प्राकृत चूर्णियो का प्राय सस्कृत मे अनुवाद ही किया है और यत्र-तत्र अपना दार्शनिक ज्ञान का उपयोग करना भी उन्होने उचित समझा है। इसीलिए हम उनकी टीकाओ में सभी दर्शनो की पूर्व-पक्षरूप से

चर्चा पाते है। इतना ही नही, किन्तु जैन-तत्त्व को भी दार्शनिक ज्ञान के बल से सुनिश्चित रूप में स्थिर करने का प्रयत्न भी देखते है।

हरिभद्र के बाद शीलाक सूरि ने (दशवी शताब्दी) सस्कृत टीकाओ की रचना की। शीलाक के बाद प्रसिद्ध टीकाकार शाक्याचार्य हुए। उन्होने उत्तराध्ययन की बृहत्टीका लिखी है। इसके बाद प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेव हुए, जिन्होने नव अगो पर सस्कृत मे टीकाएँ रची। उनका जन्म १०७२ और स्वर्गवास विक्रम ११३५ हुआ है। इन दोनो टीकाकारो ने पूर्व टीकाओ का पूरा उपयोग किया ही है और अपनी ओर से नई दार्शनिक चर्चा भी की है।

यहाँ पर ऐसे ही टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र का भी नाम उल्लेख योग्य है। वे बारहवी शताब्दी के विद्वान थे। किन्तु आगमो की सस्कृत टीका करने वालो मे सर्वश्रेष्ठ स्थान तो मलयगिरि का ही है। प्राजल भाषा मे दार्शनिक चर्चा मे प्रचुर टीकाएँ यदि देखना हो तो मलयगिरि की टीकाएँ देखना चाहिए। उनकी टीका पढने मे शुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ पढने का आनन्द आता है। जैनशास्त्र के कर्म, आचार, भूगोल-खगोल आदि सभी विषयो मे उनकी कलम धाराप्रवाह से चलती है और विषय को इतना स्पष्ट करके रखती है कि फिर उस विषय मे दूसरा कुछ देखने की अपेक्षा नही रहती। जैसे वाचस्पति मिश्र ने जो भी दर्शन लिया तन्मय होकर उसे लिखा, उसी प्रकार मलयगिरि ने भी किया है। वे आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। अतएव उन्हें बारहवी शताब्दी का विद्वान समझना चाहिए।

सस्कृत-प्राकृत टीकाओ का परिमाण इतना बडा था और विषयो की चर्चा इतनी गहन-गहनतर हो गई थी कि बाद मे यह आवश्यक समझा गया कि आगमो की शब्दार्थ बताने वाली सक्षिप्त टीकाएँ की जायें। समय की गति ने सस्कृत और प्राकृत भाषाओ को बोलचाल की भाषा से हटाकर मात्र साहित्यिक भाषा बना दिया था। तब तत्कालीन अपभ्रश अर्थात् प्राचीन गुजराती भाषा में बालावबोधो की रचना हुई। इन्हे 'टबा' कहते है। ऐसे बालावबोधो की रचना करने वाले कई हुए है, किन्तु १८वी सदी मे हुए लोकागच्छ के धर्मसिह मुनि विशेष रूप से उल्लेख योग्य है। क्योकि इनकी दृष्टि प्राचीन टीकाओ के अर्थ को छोड कर कही-कही स्वसम्प्रदाय-समत अर्थ करने की रही है। उनका सम्प्रदाय मूर्तिपूजा के विरोध में उत्थित हुआ था।

दिगम्बरागम

उपर्युक्त आगम और उसकी टीकाएँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय को ही मान्य है। दिगम्बर सम्प्रदाय अगादि प्राचीन आगमो को लुप्त ही मानता है, किन्तु उनके आधार से और खासकर दृष्टिवाद के आधार से आचार्यो द्वारा ग्रथित कुछ ग्रन्थो को आगम रूप से वह स्वीकार करता है। ऐसे आगम ग्रन्थो मे षट्खडागम, कषायपाहुड और महाबन्ध है। इन तीनो का विषय जीव और कर्म से विशेष सम्बन्ध रखता है। दार्शनिक खडन-मडन मूल में नही, किन्तु बाद मे होने वाली उनकी बडी-बडी टीकाओ मे विशेषतया पाया जाता है।

षट्खडागम और कषायपाहुड मूल की रचना विक्रम की दूसरी शताब्दी मे हुई है और उन पर बृहत्काय टीका धवला-जयधवला की रचना वीरसेनाचार्य ने विक्रम की नवमी शताब्दी में की है।

महाबन्ध अभी अप्रसिद्ध है।

दिगम्बर आम्नाय मे कुन्दकुन्दाचार्य नाम के महान् प्रभावक आचार्य हुए है। उनका समय अभी विद्वानो में विवाद का विषय है। डा० ए० एन० उपाध्ये ने अनेक प्रमाणो से उनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी निश्चित किया है। मुनि श्री कल्याणविजयजी उन्हें पाँचवी-छठी शताब्दी से पूर्व नही मानते। उनके ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय मे आगम के समान ही प्रमाणित माने जाते है। प्रवचनसार, पचास्तिकाय, समयसार, अष्टपाहुड, नियमसार आदि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उन्होंने आत्मा का नैश्चयिक और व्यावहारिक दृष्टि से सुविवेचन किया है। सप्तभगी का निरूपण भी उन्होने किया है। उनके ग्रन्थो पर अमृतचन्द्र आदि प्रसिद्ध विद्वानो ने सस्कृत मे तथा अन्य विद्वानो ने हिन्दी में व्याख्याएँ की है।

तत्त्वार्थसूत्र और उस की टीकाएँ

आगमो में जैनप्रमेयो का वर्णन विप्रकीर्ण था। अतएव जैनतत्त्वज्ञान, आचार, भूगोल, खगोल, जीवविद्या, पदार्थविज्ञान इत्यादि नाना प्रकार के विषयो का सक्षेप में निरूपण करने वाले एक ग्रन्थ की आवश्यकता की पूर्ति आचार्य उमास्वाति ने की। उनका समय अभी अनिश्चित ही है, किन्तु उन्हे तीसरी-चौथी शताब्दी का विद्वान माना जा सकता है। अपने सम्प्रदाय के विषय में भी उन्होंने कुछ निर्देश नही किया, किन्तु अभी-अभी श्री नाथूराम जी प्रेमी ने एक लेख लिख कर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वे यापनीय थे। उनका यापनीय होना युक्तिसगत मालूम देता है। उनका 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो सम्प्रदाय मे मान्य हुआ है। इतना ही नही, बल्कि जब से वह बना है तब से अभी तक उनका आदर और महत्त्व दोनो सम्प्रदायो मे बराबर बना रहा है। यही कारण है कि छठी शताब्दी के दिगम्बराचार्य पूज्यपाद ने उस पर 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका की रचना की। आठवी-नवी शताब्दी मे तो इसकी टीका की होड-सी लगी है। अकलक और विद्यानन्द ने क्रमश 'राजवार्तिक' और 'श्लोकवार्तिक' की रचना की। सिद्धसेन और हरिभद्र ने क्रमश बृहत्काय और लघुकाय वृत्तियो की रचना की। पूर्वोक्त दो दिगम्बर है और अन्तिम दोनो श्वेताम्बर है। ये पाँचो कृतियाँ दार्शनिक ही है। जैनदर्शन सम्मत प्रत्येक प्रमेय का निरूपण अन्य दर्शन के उस-उस विषयक मन्तव्य का निराकरण करके ही किया गया है। यदि हम कहे कि अधिकाश जैनदार्शनिक साहित्य का विकास और वृद्धि एक तत्त्वार्थ को केन्द्र मे रख कर ही हुआ है तो अत्युक्ति नही होगी। दिग्नाग के प्रमाण समुच्चय के ऊपर धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक लिखा और जिस प्रकार उसी को केन्द्र मे रख कर समग्र बौद्धदर्शन विकसित और वृद्धिगत हुआ उसी प्रकार तत्त्वार्थ के आसपास जैनदार्शनिक साहित्य का विकास और वृद्धि हुई है। बारहवी शताब्दी मे मलयगिरि ने और चौदहवी शताब्दी मे किसी चिरन्तन मुनि ने भी टीकाएँ बनाई। आखिर मे अठारवी शताब्दी मे यशोविजयजी ने भी अपनी नव्य परिभाषा मे इसकी टीका करना उचित समझा और इस प्रकार पूर्व की सत्रहवी शताब्दी तक के दार्शनिक विकास का भी अन्तर्भाव इसमे हुआ। एक दूसरे यशोविजयगणी ने प्राचीन गुजराती मे इसका बालावबोध बना कर इस कृति को भाषा की दृष्टि से आधुनिक भी बना दिया। ये सभी श्वेताम्बर थे। दिगम्बरो मे भी श्रुतसागर (सोलहवी शताब्दी), विबुधसेन, योगीन्द्रदेव, योगदेव, लक्ष्मीदेव, अभयनन्दी सूरि आदि ने भी सस्कृत मे टीकाएँ बनाई है। और कुछ दिगम्बर विद्वानो ने प्राचीन हिन्दी मे लिख कर उसे आधुनिक बना दिया है।

अभी-अभी बीसवी शताब्दी मे भी उसी तत्त्वार्थ का अनुवाद भी कई विद्वानो ने किया है और विवेचन भी हिन्दी तथा गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओ में हुआ है।

ऐसी महत्त्वपूर्ण कृति का सक्षेप मे विषय-निर्देश करना आवश्यक है।

ज्ञानमीमासा

[1]"पहले अध्याय मे ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली मुख्य आठ बाते है और वे इस प्रकार है —१—नय और प्रमाणरूप से ज्ञान का विभाग। २—मति आदि आगम प्रसिद्ध पाँच ज्ञान और उनका प्रत्यक्ष-परोक्ष दो प्रमाणो मे विभाजन। ३—मतिज्ञान की उत्पत्ति के साधन, उनके भेद प्रभेद और उनकी उत्पत्ति के क्रमसूचक प्रकार। ४—जैन परम्परा मे प्रमाण माने जाने वाले आगम शास्त्र का श्रुतज्ञानरूप से वर्णन। ५—अवधि आदि तीन दिव्य प्रत्यक्ष और उनके भेद-प्रभेद तथा पारस्परिक अन्तर। ६—इन पाँचो ज्ञानो का तारतम्य बतलाते हुए उनका विषय-निर्देश और उनकी एक साथ सम्भवनीयता। ७—कितने ज्ञान भ्रमात्मक भी हो सकते है यह, और ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता के कारण। ८—नय के भेदप्रभेद।

---

[1] देखो प० सुखलाल जी कृत 'विवेचन' की प्रस्तावना पृ० ६७।

ज्ञेयमीमासा

"ज्ञेयमीमासा मे मुख्य सोलह बातें आती है जो इस प्रकार है—दूसरे अध्याय में—१—जीवतत्त्व का स्वरूप। २—ससारी जीव के भेद। ३—इन्द्रिय के भेद-प्रभेद, उनके नाम, उनके विषय और जीवराशि में इन्द्रियो का विभाजन। ४—मृत्यु और जन्म के बीच की स्थिति। ५—जन्मो के और उनके स्थानो के भेद तथा उनका जाति की दृष्टि से विभाग। ६—शरीर के भेद, उनके तारतम्य, उनके स्वामी और एक साथ उनका सम्भव। ७—जातियो का लिग-विभाग और न टूट सके ऐसे आयुष्य को भोगने वालो का निर्देश। तीसरे और चौथे अध्याय में—८—अधोलोक के विभाग, उसमें बसने वाले नारकजीव और उनकी दशा तथा जीवनमर्यादा वगैरह। ९—द्वीप, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र आदि द्वारा मध्यलोक का भौगोलिक वर्णन, तथा उसमें बसने वाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का जीवनकाल। १०—देवो की विविध जातियाँ, उनके परिवार, भोग, स्थान, समृद्धि, जीवनकाल और ज्योतिर्मंडल द्वारा खगोल का वर्णन। पाँचवें अध्याय मे—११—द्रव्य के भेद, उनका परस्पर साधर्म्य-वैधर्म्य, उनका स्थितिक्षेत्र और प्रत्येक का कार्य। १२—पुद्गल का स्वरूप, उनके भेद और उसकी उत्पत्ति के कारण। १३—सत् और नित्य का सहेतुक स्वरूप। १४—पौद्गलिकबन्ध की योग्यता और अयोग्यता। १५—द्रव्यसामान्य का लक्षण, काल को द्रव्य मानने वाला मतान्तर और उसकी दृष्टि से काल का स्वरूप। १६—गुण और परिणाम के लक्षण और परिणाम के भेद।

चारित्र मीमासा

"चारित्रमीमासा की मुख्य ग्यारह बातें है—छठे अध्याय मे—१—आस्रव का स्वरूप, उसके भेद और किस-किस आस्रवसेवन से कौन-कौन कर्म बँधते है उसका वर्णन है। सातवें अध्याय में—२—व्रत का स्वरूप व्रत लेने वाले अधिकारियो के भेद और व्रत की स्थिरता के मार्ग। ३—हिंसा आदि दोषो का स्वरूप। ४—व्रत में सम्भवित दोष। ५—दान का स्वरूप और उसके तारतम्य के हेतु। आठवे अध्याय मे—६—कर्मबन्धन के मूल हेतु और कर्मबन्धन के भेद। नववे अध्याय में—७—सवर और उसके विविध उपाय तथा उसके भेदप्रभेद। ८—निर्जरा और उसके उपाय। ९—जुदे-जुदे अधिकार वाले साधक और उनकी मर्यादा का तारतम्य। दसवे अध्याय में—१०—केवल ज्ञान के हेतु और मोक्ष का स्वरूप। ११—मुक्ति प्राप्त करने वाले आत्मा की किस रीति से कहाँ गति होती है उसका वर्णन।"

इस सक्षिप्त सूची से यह पता लग जायगा कि तत्कालीन ज्ञानविज्ञान की एक भी शाखा अछूती नही रही है। तत्त्वविद्या, आध्यात्मिकविद्या, तर्कशास्त्र, मानसशास्त्र, भूगोल-खगोल, भौतिक विज्ञान, रसायनविज्ञान, भूस्तरविद्या, जीवविद्या आदि सभी के विषय मे उमास्वाति ने तत्कालीन जैन मन्तव्य का सग्रह किया है। यही कारण है कि टीकाकारो ने अपनी दार्शनिक विचारधारा को वहाने के लिए इसी ग्रन्थ को चुना है और फलत यह एक जैनदर्शन का अमूल्य रत्न सिद्ध हुआ है।

इस प्रकार ज्ञानविज्ञान की सभी शाखाओ को लेकर तत्त्वार्थ और उसकी टीकाओ मे विवेचना होने से किसी एक दार्शनिक मुद्दे पर सक्षेप मे चर्चा का होना उसमे अनिवार्य है अतएव जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्त अनेकान्तवाद और उसीसे सम्बन्ध रखने वाले प्रमाण और नय का स्वतन्त्र विस्तृत विवेचन उसमे सम्भव न होने से जैन आचार्यों ने इन विषयो पर स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थ भी लिखना शुरू किया।

(२) अनेकान्त स्थापन युग

सिद्धसेन और समन्तभद्र

दार्शनिक क्षेत्र में जब से नागार्जुन ने पदार्पण किया है तब से सभी भारतीय दर्शनो में नव जागरण हुआ है। सभी दार्शनिको ने अपने-अपने दर्शन को तर्क के बल से सुसगत करने का प्रयत्न किया है। जो बातें केवल मान्यता

की थी उनका भी स्थिरीकरण युक्तियो के वल से होने लगा। पारस्परिक मतभेदो का खडन-मडन जव होता है तव सिद्धान्तो का और युक्तियो का आदान-प्रदान होना भी स्वाभाविक है। फल यही हुआ कि दार्शनिक प्रवाह इस सघर्ष में पड कर पुष्ट हुआ। प्रारम्भ मे तो जैनाचार्यों ने तटस्थरूप से इस सघर्ष को देखा ही है किन्तु परिस्थिति ने जव उन्हे वाधित किया, अपने अस्तित्व का ही खतरा जव उपस्थित हुआ, तव समय की पुकार ने ही सिद्धसेन और समन्तभद्र जैसे प्रमुख तार्किको को उपस्थित किया। इनका समय करीब पाँचवी-छठवी शताव्दी है। सिद्धसेन श्वेताम्वर और समन्तभद्र दिगम्वर थे।

जैनधर्म के अन्तिम प्रवर्तक भगवान् महावीर ने नयोका उपदेश दिया ही था। किसी भी तत्त्व का निरूपण करने के लिए किसी एक दृष्टि से नही, किन्तु शक्य सभी नय-दृष्टिविन्दुओ से उसका विचार करना सिखाया था। उन्होंने कई प्रसग में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार दृष्टियो से तत्त्व का विचार समकालीन दार्शनिक मतवादियो के सामने उपस्थित किया था। इस प्रकार अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की नीव उन्होंने डाल ही दी थी। किन्तु जव तक नागार्जुन के द्वारा सभी दार्शनिको के सामने अपने-अपने सिद्धान्त की सिद्धि तर्क के वल से करने के लिए आवाज़ नही उठी थी, जैन दार्शनिक भी सोये हुए थे। सभी दार्शनिको ने जव अपने-अपने सिद्धान्तो को पुष्ट कर लिया तव जैनदार्शनिक जागे। वस्तुत यही समय उनके लिए उपयुक्त भी था, क्योकि सभी दार्शनिक अपने-अपने सिद्धान्त की सत्यता और दूसरे के सिद्धान्त की असत्यता स्थापित करने पर तुले हुए होने से वे अभिनिवेश के कारण दूसरे के सिद्धान्त की खूवियाँ और अपनी कमज़ोरियाँ देख नही सकते थे। उन सभी की समालोचना करने वाले की अत्यन्त आवश्यकता ऐसे ही समय में हो सकती है। यही कार्य जैन-दार्शनिको ने किया।

शून्यवादियो ने कहा था कि तत्त्व न सत् है, न असत्, न उभयरूप है, न अनुभयरूप, अर्थात् वस्तु मे कोई विशेषण देकर उसका निर्वचन किया नही जा सकता। इसके विरुद्ध साख्यो ने और प्राचीन औपनिषदिक दार्शनिको ने सव को सत् रूप ही स्थिर किया। नैयायिक-वैशेपिको ने कुछ को सत् और कुछ को असत् ही सिद्ध किया। विज्ञानवादी वौद्धो ने तत्त्व को विज्ञानात्मक ही कहा और वाह्यार्थ का अपलाप किया। इसके विरुद्ध नैयायिक-वैशेषिको ने और मीमासको ने विज्ञानव्यतिरिक्त वाह्यार्थ को भी सिद्ध किया। वौद्धो ने सभी तत्त्वो को क्षणिक ही सिद्ध किया तव मीमासको ने शव्द और ऐसे ही दूसरे अनेक पदार्थों को अक्षणिक सिद्ध किया। नैयायिको ने शव्दादि जैसे अनेक को क्षणिक और आकाश आत्मादि जैसे अनेक को अक्षणिक सिद्ध किया। वौद्धो ने और मीमासको ने ईश्वरकर्तृत्व का निपेध किया और नैयायिको ने ईश्वरकर्तृत्व सिद्ध किया। मीमासकभिन्न सभी ने वेदापौरुषेयत्व का विरोध किया तव मीमासक ने उसीका समर्थन किया। इस प्रकार इस सघर्ष के परिणामस्वरूप नाना प्रकार के वादविवाद दार्शनिक क्षेत्र मे उपस्थित थे। इन सभी वादो को जैनदार्शनिको ने तटस्थ होकर देखा और फिर अपनी समालोचना शुरू की। उनके पास भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट नयवाद और द्रव्यादि चार दृष्टियाँ थी ही। उनके प्रकाश में जव उन्होने ये वाद देखे तव उन्हें अपने अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की स्थापना का अच्छा मौका मिला।

सिद्धसेन ने सन्मतितर्क में नयवाद का विवेचन किया है क्योकि अनेकान्तवाद का मूलाधार नयवाद ही है। उनका कहना है कि सभी नयो का समावेश दो मूलनयो मे—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक मे हो जाता है। दृष्टि यदि द्रव्य, अभेद, सामान्य, एकत्व की ओर होती है तो सर्वत्र अभेद दिखाई देता है और यदि पर्याय, भेद, विशेपगामी होती है तो सर्वत्र भेद ही भेद नज़र आता है। तत्त्वदर्शन किसी भी प्रकार का क्यो न हो वह आखिर मे जाकर इन दो दृष्टियो में से किसी एक मे ही सम्मिलित हो जायगा। या तो वह द्रव्यार्थिक दृष्टि से होगा या पर्यायार्थिक दृष्टि से होगा। अनेकान्तवाद इन दोनो दृष्टियो के समन्वय मे है न कि विरोध मे। सिद्धसेन का कहना है कि दार्शनिको मे परस्पर विरोध इसलिए है कि या तो वे द्रव्यार्थिक दृष्टि को ही सच मान कर चलते है या पर्यायार्थिक दृष्टि को ही। किन्तु यदि वे अपनी दृष्टि का राग छोड कर दूसरे की दृष्टि का विरोध न करके उस ओर उपेक्षाभाव धारण करें तव अपनी

दृष्टि में स्थिर रह कर भी उनका दर्शन सम्यग्दर्शन है, चाहे वह पूर्ण न भी हो। पूर्ण सम्यग्दर्शन तो सभी उपयुक्त दृष्टियो के स्वीकार से ही हो सकता है। किन्तु सभी दार्शनिक अपना दृष्टिराग छोड नही सकते। अतएव वे मिथ्या है और उन्ही की वात को लेकर चलने वाला अनेकान्तवाद मिथ्या न होकर सम्यक् हो जाता है। क्योकि अनेकान्तवाद सर्वदर्शनो का जो तथ्याश है, जो अश युक्तिसिद्ध है उसे स्वीकार करता है और तत्त्व के पूर्ण दर्शन में उस अश को भी यथास्थान सनिविष्ट करता है। सिद्धसेन का तो यहाँ तक कहना है कि किसी एक दृष्टि की मुख्यता यदि मानी जाय तो सर्वदर्शनो का प्रयोजन जो मोक्ष है वही नही घट सकेगा। अतएव दार्शनिको को अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए भी अनेकान्तवाद का आश्रयण करना चाहिए और दृष्टिमोह से दूर रहना चाहिए। महामूल्यवान् मुक्तामणियो को भी जव तक किसी एक सूत्र में वाँधा न जाय तव तक गले का हार नही वन सकता है। उनमें समन्वय की कमी है। अतएव उनका खास उपयोग भी नही। किन्तु वे ही मणियाँ जव सूत्रवद्ध हो जाती है, उनमें समन्वय हो जाता है तव उनका पार्थक्य होते हुए भी एक उपयुक्त चीज़ वन जाती है। इसी दृष्टान्त के वल से सिद्धसेन ने सभी दार्शनिको को अपनी-अपनी दृष्टि में समन्वय की भावना रखने का आदेश दिया है। और कहा है कि यदि ऐसा समन्वय हो तभी दर्शन सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है अन्यथा नही।

कार्यकारण के भेदाभेद को लेकर दार्शनिको में नाना विवाद चलते थे। कार्य और कारण का एकान्त भेद ही है, ऐसा न्याय-वैशेषिक मत है। सास्य का मत है कि कार्य कारणरूप ही है। अद्वैतवादियो का मत है कि ससार मे दृश्यमान कार्यकारणभाव मिथ्या है, किन्तु एक द्रव्य—अद्वैत ब्रह्म ही सत् है। इन सभी वादियो को सिद्धसेन ने एक ही वात कही है कि यदि वे परस्पर समन्वय न स्थापित कर सके तो उनका वाद मिथ्या ही होगा। वस्तुत अभेदगामी दृष्टि से विचार करने पर कार्य-कारण मे अभेद है, और भेदगामी दृष्टि से देखने पर भेद है, अतएव एकान्त को परित्याग करके कार्य-कारण में भेदाभेद मानना चाहिए।

भगवान् महावीर ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किसी वस्तु पर विचार करना सिखाया था, यह कहा जा चुका है। इसी को मूलाधार वना कर किसी भी वस्तु मे स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से सत् और परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से असत् इत्यादि सप्तभगो की योजनारूप स्याद्वाद का प्रतिपादन भी सिद्धसेन ने विशदरूप से किया है। सदसत् की सप्तभगी की तरह एकानेक, नित्यानित्य, भेदाभेद इत्यादि दार्शनिकवादो के विषय में भी द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि को मूलाधार वना कर स्याद्वाद दृष्टि का प्रयोग करने का सिद्धसेन ने सूचन किया है।

वौद्धो ने वस्तु को विशेषरूप ही माना, अद्वैतवादियो ने सामान्यरूप ही माना और वैशेषिको ने सामान्य और विशेष को स्वतन्त्र और आधारभूत वस्तु से अत्यन्त भिन्न ही माना। दार्शनिको के इस विवाद को भी सिद्धसेन ने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का झगडा ही कहा और वस्तु तत्त्व को सामान्य-विशेषात्मक सिद्ध करके समन्वय किया।

वौद्ध ने वस्तु को गुण रूप ही माना, गुणभिन्न कोई द्रव्य माना ही नही। नैयायिको ने द्रव्य और गुण का भेद ही माना। तव सिद्धसेन ने कहा कि एक ही वस्तु सम्वन्ध के भेद से नाना रूप धारण करती है अर्थात् जव वह चक्षुरिन्द्रिय का विषय होती है तव रूप कही जाती है और रसनेन्द्रिय का विषय होती है तव रस कही जाती है, जैसे कि एक ही पुरुष सम्वन्ध के भेद से पिता, मामा आदि व्यपदेशो को धारण करता है। इस प्रकार गुण और द्रव्य का अभेद सिद्ध करके भी एकान्ताभेद नही है ऐसा स्थिर करने के लिए फिर कहा कि वस्तु मे विशेषताएँ केवल परसम्वन्ध कृत है यह वात नही है। उसमे तत्तद्रूप से स्वपरिणति भी मानना आवश्यक है। इन परिणामो मे भेद विना माने व्यपदेशभेद भी सम्भव नही। अतएव द्रव्य और गुण का भेद ही या अभेद ही है, यह वात नही, किन्तु भेदाभेद है। यही उक्त वादो का समन्वय है।

सिद्धसेन तर्कवादी अवश्य थे, किन्तु इसका मतलव यह नही है कि तर्क को वे अप्रतिहतगति समझते थे।

तर्क की मर्यादा का पूरा ज्ञान उनको था। इमीलिए तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि अहेतुवाद के क्षेत्र में तर्क को दखल न देना चाहिए। आगमिक वातो मे केवल श्रद्धागम्य वातो में—श्रद्धा से ही काम लेना चाहिए और जो तर्क का विषय हो उमी मे तर्क करना चाहिए।

दूसरे दार्शनिको की त्रुटि दिखा कर ही सिद्धसेन सन्तुष्ट न हुए। उन्होने अपना घर भी ठीक किया। जैनो की उन आगमिक मान्यताओ के ऊपर भी उन्होने प्रहार किया है, जिनको उन्होने तर्क से असगत समझा। जैसे सर्वज्ञ के ज्ञान और दर्शन को भिन्न मानने की आगमिक परम्परा थी, उसके स्थान में उन्होने दोनो के अभेद की नई परम्परा कायम की। तर्क के वल पर उन्होंने मति और श्रुत के भेद को भी मिटाया। अवधि और मन पर्यय ज्ञान को एक वताया तथा दर्शन—श्रद्धा और ज्ञान का भी ऐक्य मिद्ध किया। जैन आगमो में नैगमादि सात नय प्रसिद्ध थे। उसके स्थान मे उन्होंने उनमे से नैगम का समावेश सग्रह-व्यवहार में कर दिया और मूल नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक मान कर उन्ही दो के अवान्तर भेद रूप से छ नयो की व्यवस्था कर दी। अवान्तर भेदो की व्यवस्था में भी उन्होने अपना स्वातन्त्र्य दिखाया है। इतना ही नही किन्तु उस समय के प्रमुख जैनसघ को युगधर्म की भी शिक्षा उन्होने यह कह कर दी है कि सिर्फ सूत्रपाठ याद करके तथा उस पर चिन्तन और मनन न करके मात्र वाह्य अनुष्ठान के वल पर अव शासन की रक्षा होना कठिन है। नयवाद के विषय मे गम्भीर चिन्तन-मनन करके अनुष्ठान किया जाय तव ही ज्ञान का फल विरति और मोक्ष मिल सकता है। और इस प्रकार शासनरक्षा भी हो सकती है।

सिद्धसेन की कृतियो में सन्मतितर्क, वत्तीसीयाँ और न्यायावतार हैं। सम्मतितर्क प्राकृत मे और शेष सस्कृत में है।

सिद्धसेन के विषय मे कुछ विस्तार अवश्य हो गया है, किन्तु वह आवश्यक है, क्योकि अनेकान्तवादरूपी महाप्रासाद के निर्माता प्रारम्भिक शिल्पियो मे उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है।

सिद्धसेन के समकक्ष विद्वान् समन्तभद्र है। उनको स्याद्वाद का प्रतिष्ठापक कहना चाहिए। अपने समय मे प्रसिद्ध सभी वादो की ऐकान्तिकता मे दोप दिखा कर उन सभी का समन्वय अनेकान्तवाद में किस प्रकार होता है, यह उन्होने खूवी के साथ विस्तार से वताया है। उन्होने स्वयभूस्तोत्र मे चौविसो तीर्थंकरो की स्तुति की है। वह स्तुति स्तोत्र साहित्य में अनोखा स्थान रखती है। वह आलकारिक एक स्तुतिकाव्य तो है ही, किन्तु उसकी विशेषता उसमे सन्निहित दार्शनिक तत्त्व मे है। प्रत्येक तीर्थंकर की स्तुति मे किसी न किसी दार्शनिकवाद का आलकारिक निर्देश अवश्य किया है। युक्त्यनुशासन भी एक स्तुति के रूप मे दार्शनिक कृति है। प्रचलित सभी वादो में दोप दिखा कर यह सिद्ध किया गया है कि भगवान् के उपदेशो मे उन दोपो का अभाव है। इतना ही नही, किन्तु भगवान् के उपदेश मे जो गुण है उन गुणो का सद्भाव अन्य किसी के उपदेश में नही। तथापि उनकी श्रेष्ठ कृति तो आप्तमीमासा ही है।

हम अर्हन्त की ही स्तुति क्यो करते है और दूसरो की क्यो नही करते? इस प्रश्न को लेकर उन्होने आप्त की मीमासा की है। आप्त कौन हो सकता है इस प्रश्न के उत्तर में उन्होने सर्वप्रथम तो महत्ता की सच्ची कसौटी क्या हो सकती है, इसका विचार किया है। जो लोग वाह्य आडम्वर या ऋद्धि देख कर किसी को महान् समझ कर अपना आप्त या पूज्य मान लेते है उन्हें शिक्षा देने के लिए उन्होने अरिहन्त को सम्वोधन करके कहा है—

> **देवागमनभोयानचामरादिविभूतय ।**
> **मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥**

देवो का आगमन, नभोयान और चामरादि विभूतियाँ तो मायावि पुरुपो में भी दिखाई देती है। अतएव इतने मात्र से तुम हमारे लिए महान् नही हो। फलितार्थ यह है कि श्रद्धाशील लोगो के लिए तो ये वातें महत्ता की कसौटी हो सकती है, किन्तु तार्किको के सामने यह कसौटी चल नही सकती। इसी प्रकार शारीरिक महोदय भी

महत्ता की कसौटी नही, क्योकि देवलोक के निवासियो में भी शारीरिक महोदय होते हुए भी वे महान् नही, क्योकि उनमें रागादि दोष है। तव प्रश्न हुआ कि क्या जो तीर्थंकर या धर्मप्रवर्तक कहे जाते है जैसे बुद्ध, कपिल, गौतम, कणाद, जैमिनी आदि —उन्हें महान् और आप्त माना जाय ? इसका उत्तर उन्होने दिया है कि ये तीर्थंकर कहे तो जाते है किन्तु सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध होने से वे सभी तो आप्त हो नही सकते। किसी एक को ही आप्त मानना होगा।[1] वह एक कौन है, जिसे आप्त माना जाय ? इसके उत्तर मे उन्होने कहा है कि जिसके मोहादि दोषो का अभाव हो गया है और जो सर्वज्ञ हो गया है वही आप्त हो सकता है। ऐसा निर्दोष और सर्वज्ञ व्यक्ति आप अर्थात् भगवान् वर्धमान आदि अर्हन्त ही है, क्योकि आपका उपदेश प्रमाण से अवाधित है।[2] दूसरे कपिलादि आप्त नही हो सकते क्योकि उनका जो उपदेश है, वह ऐकान्तिक होने से ही प्रत्यक्ष वाधित है। आप्त की मीमासा के लिए ऐसी पूर्वभूमिका वाँध करके आचार्य समन्तभद्र ने क्रमश सभी प्रकार के ऐकान्तिक वादो में प्रमाणवाधा दिखा कर समन्वय-वाद, अनेकान्तवाद जो कि भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट है उसी को प्रमाण से अवाधित सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। सिद्धसेन के समान समन्तभद्र का भी यही कहना है कि एकान्तवाद का आश्रयण करने पर कुशलाकुशल कर्म की व्यवस्था और परलोक ये वाते असगत हो जाती है।

समन्तभद्र ने आप्तमीमासा में दो विरोधी एकान्तवादो में क्रमश दोषो को दिखा कर यह वताने का सफल प्रयत्न किया है कि इन्ही दो विरोधी एकान्तवादो का समन्वय यदि स्याद्वाद के रूप मे किया जाता है, अर्थात् इन्ही दो विरोधी वादो को मूल में रख कर सप्तभगी की योजना की जाती है तो ये विरोधीवाद भी अविरुद्ध हो जाते है, निर्दोष हो जाते है। भगवान् के प्रवचन की यही विशेषता है।

सर्वप्रथम ऐसा समन्वय उन्होने भावैकान्त और अभावैकान्तवाद को लेकर किया है। अर्थात् सत् और असत् को लेकर सप्तभगी का समर्थन करके उन्होने सिद्ध किया है कि ये सदद्वैत और शून्यवाद तभी तक विरोधी है जव तक वे अलग-अलग है किन्तु जव वे अनेकान्तरूपी मुक्ताहार के एक अगरूप हो जाते है तव उनमें कोई विरोध नही। इसी प्रकार द्वैतवाद और अद्वैतवाद आदि का भी समन्वय कर लेने की सूचना उन्होने की है। सिद्धसेन ने नयो का सुन्दर विश्लेषण किया तो समन्तभद्र ने उन्ही नयो के आधार पर प्रत्येक वादो मे स्याद्वाद की सगति कैसे विठाना चाहिये इसे विस्तार से युक्तिपूर्वक सिद्ध किया है। प्रत्येक दो विरोधी वादो को लेकर सप्तभगो की योजना किस प्रकार करना चाहिए इसके स्पष्टीकरण मे ही समन्तभद्र की विशेषता है।

उक्त वादो के अलावा नित्यैकान्त और अनित्यैकान्त, कार्य कारण का भेदैकान्त और अभेदैकान्त, गुण-गुणी का भेदैकान्त और अभेदैकान्त, सामान्य-सामान्यवत् का भेदैकान्त और अभेदैकान्त, सापेक्षवाद और निरपेक्षवाद, हेतुवाद और अहेतुवाद, विज्ञप्तिमात्रवाद और वहिरगार्थतैकान्तवाद, दैववाद और पुरुषार्थवाद, पर को सुख देने से पुण्य हो, दु ख देने से पाप हो—ऐसा एकान्तवाद और स्व को दु ख देने से पुण्य हो, सुख देने से पाप हो ऐसा एकान्तवाद, अज्ञान से वन्ध हो ऐसा एकान्त और स्तोकज्ञान से मोक्ष ऐसा एकान्त, वाक्यार्थ के विषय मे विधिवाद और निषेधवाद—इन सभी वादो में युक्ति के वल से सक्षेप में दोष दिखा कर अनेकान्तवाद की निर्दोषता सिद्ध की है, प्रसग से प्रमाण, सुनय और दुर्नय, स्याद्वाद इत्यादि अनेक विषयो का लक्षण करके उत्तर काल के आचार्यों के लिए विस्तृत चर्चा का वीजवपन किया है।

---

[1] "तीर्थकृत्समयाना च परस्पर विरोधत ।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद् गुरु ॥"

[2] "स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्ट ते प्रसिद्धेन न वाध्यते ॥"

मल्लवादी और सिंहगणी

सिद्धसेन के समकालीन विद्वान् मल्लवादी हुए हैं। वे वादप्रवीण थे अतएव उनका नाम मल्लवादी था। उन्होंने सन्मतितर्क की टीका की है। तदुपरान्त नयचक्र नामक एक अद्भुत ग्रन्थ की रचना की। ये श्वेताम्बराचार्य थे। किन्तु अकलकादि दिगम्बर आचार्यों ने भी इनके नयचक्र का बहुमान किया है।

तत्कालीन सभी दार्शनिकवादो को सात नयो के अन्तर्गत बता करके उन्होंने एक वादचक्र की रचना की है। उस चक्र में उत्तर उत्तर वाद पूर्व पूर्व वाद का विरोध करके अपने-अपने पक्ष को सबल सिद्ध करता है।

ग्रन्थकार का तो उद्देश्य यह है कि ये सभी एकान्तवाद अपने आपको पूर्ववाद से प्रबल समझते हैं किन्तु अपने वाद से दूसरे उत्तरवाद के अस्तित्व का खयाल वे नहीं रखते। एक तटस्थ व्यक्ति ही इस चक्रान्तर्गत प्रत्येक वाद की आपेक्षिक सबलता या निर्बलता जान सकता है। और वह तभी जब उसे पूरा चक्र मालूम हो। इन वादो को पक्तिबद्ध न करके चक्रबद्ध करने का उद्देश्य यह है कि पक्ति मे तो किसी एक वाद को प्रथम स्थान देना पडता है और किसी एक को अन्तिम। उत्तरोत्तर खडन करने पर अन्तिम वाद को विजयी घोषित करना प्राप्त हो जाता है। किन्तु यदि इन वादो को चक्रबद्ध किया जाय तो वादो का अन्त भी नही और आदि भी नहीं। सुभीते के लिए किसी एक वाद की स्थापना प्रथम की जा सकती है और अन्त में किसी एक पक्ष को रक्खा जा सकता है, किन्तु चक्रबद्ध होने से उस अन्तिम के भी उत्तर मे प्रथमवाद ही ठहरता है और वही उस अन्तिम का खडन करता है और इस प्रकार एकान्त-वादियो का खडन-मडन का चक्र चलता है। अनेकान्तवाद ही इन सभी वादो का समन्वय कर सकता है। आचार्य ने इन सभी को चक्रबद्ध करके यही सूचित किया है कि अपनी-अपनी दृष्टि मे वे सभी वाद सच्चे हैं, किन्तु दूसरो की दृष्टि में मिथ्या ठहरते हैं। अतएव नयवाद का उपयोग करके इन सभी वादो का समन्वय करना चाहिए। और उनकी सच्चाई यदि है तो किस नय की दृष्टि से है उसे विचारना चाहिए। मल्लवादि ने प्रत्येक वाद को किसी न किसी नयान्तर्गत करके सभी वादो के स्रोत को अनेकान्तवाद रूपी महासमुद्र में मिलाया है, जहाँ जाकर उनका पृथगस्तित्व मिट जाता है और सभी वादो के समन्वयरूप एक महासमुद्र ही दिखाई देता है। नयचक्र की एक और भी विशेषता है और वह यह कि उसमे इतर दर्शनो मे भी किस प्रकार अनेकान्तवाद को अपनाया गया है उसे दिखाया है।

इस नयचक्र के ऊपर सिंह क्षमाश्रमण ने १८००० श्लोक प्रमाण बृहत्काय टीका की है। उनका समय सातवी शताब्दी से उत्तर में हो नही सकता क्योकि उन्होंने दिग्नाग और भर्तृहरि के तो कई उद्धरण दिये हैं किन्तु धर्मकीर्ति के ग्रन्थ का कोई उद्धरण नही। और न कुमारिल का ही उसमें कही नाम है। आश्चर्य है कि उसमें समन्तभद्र का भी कोई उद्धरण नही, किन्तु सिद्धसेन और उनके ग्रन्थो का उद्धरण बार-बार है। नयचक्रटीका गायकवाड़ सिरीज़ में छप रही है।

पात्रकेसरी

इसी युग में एक और तेजस्वी दिगम्बर विद्वान् **पात्रस्वामी**, जिनका दूसरा नाम **पात्रकेसरी** था, हुए। इन्होने 'त्रिलक्षण कदर्थन' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। इस युग में प्रमाणशास्त्र से सीधा सम्बन्ध रखने वाली दो कृतियाँ हुई एक सिद्धसेनकृत न्यायावतार और दूसरी यह त्रिलक्षणकदर्थन। इसमें दिग्नाग समर्थित हेतु के त्रिलक्षण का खडन किया गया है और जैनदृष्टि से अन्यथानुपपत्ति रूप एक ही हेतुलक्षण सिद्ध किया गया है। जैन न्यायशास्त्र मे हेतु का यही लक्षण न्यायावतार में और अन्यत्र मान्य है। यह ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

(३) प्रमाणशास्त्र व्यवस्थायुग

हरिभद्र और अकलक

असग-वसुवन्धु ने विज्ञानवाद की स्थापना की थी, किन्तु स्वतन्त्र बौद्ध दृष्टि से प्रमाणशास्त्र की रचना व स्थापना का कार्य तो दिग्नाग ने ही किया। अतएव वह बौद्ध तर्कशास्त्र का पिता माना जाता है। उन्होने तत्कालीन नैयायिक, वैशेषिक, साख्य, मीमासक आदि दर्शनो के प्रमेयो का तो खडन किया ही किन्तु साथ ही उनके प्रमाणलक्षणो का भी खडन किया। इसके उत्तर मे प्रशस्त उद्द्योतकर, कुमारिल, सिद्धसेन, मल्लवादी, सिंहगणी, पूज्यपाद, समन्तभद्र, ईश्वरसेन, अविद्धकर्ण आदि ने अपने अपने दर्शन और प्रमाणशास्त्र का समर्थन किया। तव दिग्नाग के टीकाकार और भारतीय दार्शनिको मे सूर्य के समान तेजस्वी ऐसे धर्मकीर्ति का पदार्पण हुआ। उन्होने उन पूर्वोक्त सभी दार्शनिको को उत्तर दिया और दिग्नाग के दर्शन की रक्षा की और नये प्रकाश में उसका परिष्कार भी किया। इस तरह बौद्ध दर्शन और खास कर बौद्धप्रमाणशास्त्र की भूमिका पक्की कर दी। इसके वाद एक ओर तो धर्मकीर्ति की शिष्यपरम्परा के दार्शनिक धर्मोत्तर, अर्चट, शान्तरक्षित, प्रज्ञाकर आदि हुए जिन्होने उत्तरोत्तर धर्मकीर्ति के पक्ष की रक्षा की और इस प्रकार बौद्ध प्रमाणशास्त्र को स्थिर किया। और दूसरी ओर प्रभाकर, उम्बेक, व्योमशिव, भाविविक्त, जयन्त, सुमति, पात्रस्वामी, मडन आदि बौद्धेतर दार्शनिक हुए, जिन्होने बौद्ध पक्ष का खडन किया और अपने दर्शन की रक्षा की।

चार शताब्दी तक चलने वाले इस सघर्ष के फल स्वरूप आठवी-नवी शताब्दी में जैनदार्शनिको में हरिभद्र और अकलक हुए। हरिभद्र ने अनेकान्तजयपताका के द्वारा बौद्ध और इतर सभी दार्शनिको के आक्षेपो का उत्तर दिया और उस दीर्घकालीन सघर्ष के मन्थन मे से अनेकान्तवादरूप नवनीत सभी के सामने रक्खा, किन्तु इस युग का अपूर्व फल तो प्रमाणशास्त्र ही है और उसे तो अकलक की ही देन समझना चाहिए। दिग्नाग से लेकर बौद्ध और बौद्धेतर प्रमाणशास्त्र मे जो सघर्ष चला उसके फलस्वरूप अकलक ने स्वतन्त्र जैन दृष्टि से अपने पूर्वाचार्यों की परम्परा को ख्याल में रख कर जैन प्रमाणशास्त्र का व्यवस्थित निर्माण और स्थापन किया। उनके प्रमाणसग्रह न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय आदि ग्रन्थ इसके ज्वलन्त उदाहरण है। अकलक के पहले न्यायावतार और त्रिलक्षणक-दर्थन न्यायशास्त्र के ग्रन्थ थे। हरिभद्र की तरह उन्होने भी अनेकान्तवाद का समर्थन विपक्षियो को उत्तर दे करके आप्तमीमासा की टीका अष्टशती मे तथा सिद्धिविनिश्चय मे किया है। और नयचक्र की तरह यह भी अनेक प्रसग में दिखाने का यत्न किया है कि दूसरे दार्शनिक भी प्रच्छन्नरूप मे अनेकान्तवाद को मानते ही है।

हरिभद्र ने स्वतन्त्ररूप से प्रमाणशास्त्र की रचना नही की किन्तु दिग्नागकृत (?) न्यायप्रवेश की टीका करके उन्होने यह सूचित तो किया ही है कि जैन आचार्यों की प्रवृत्ति न्यायशास्त्र की ओर होना चाहिए तथा ज्ञानक्षेत्र मे चौकाबाजी नही होना चाहिए। फल यह हुआ कि जैनदृष्टि से प्रमाणशास्त्र लिखा जाने लगा और जैनाचार्यों के द्वारा जैनेतर दार्शनिक या अन्य कृतियो पर टीका भी लिखी जाने लगी। इसके विषय मे आगे प्रसगात् अधिक कहा जायगा।

अकलकदेव ने प्रमाणशास्त्र की व्यवस्था इस युग मे की यह कहा जा चुका है। प्रमाणशास्त्र का मुख्य विषय प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति है। इसमे से प्रमाणो की व्यवस्था अकलक ने इस प्रकार की है—
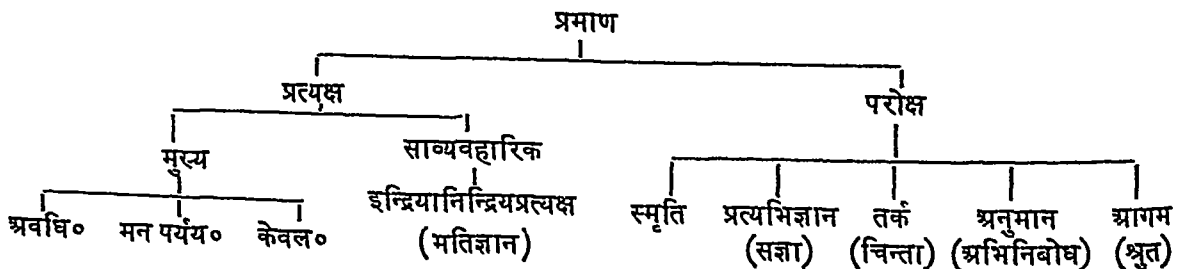
अकलक की इस व्यवस्था का मूलाधार आगम और तत्त्वार्थसूत्र है।

आगमो में मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान बताये गये हैं। इनमें से प्रथम के दो इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से ही उत्पन्न हो सकते हैं और अन्तिम तीनो की मात्र आत्मसापेक्ष ही उत्पत्ति है। उसमें इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नही। अतएव सर्वप्रथम प्राचीन काल में आगम में इन पाँचो ज्ञानो का वर्गीकरण निम्न प्रकार हुआ जिसका अनुसरण तत्त्वार्थ और पचास्तिकाय में भी हुआ देखा जाता है—
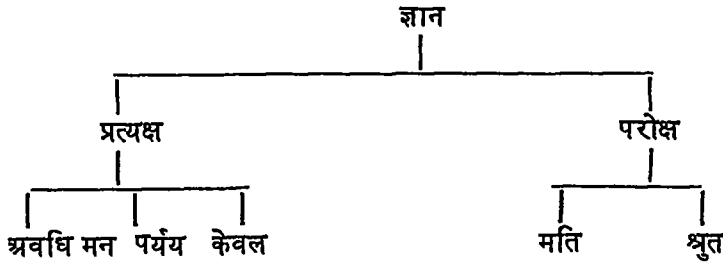
किन्तु बाद में इस विभागीकरण मे परिवर्तन भी करना पडा। उसका कारण लोकानुसरण ही मालूम पडता है, क्योकि लोक मे प्राय सभी दार्शनिक इन्द्रियो से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष ही मानते थे। अतएव जैनाचार्यों ने भी आगमकाल में ही ज्ञान के वर्गीकरण में थोडा परिवर्तन लोकानुकूल होने के लिए किया, इसका पता हमें नन्दी-सूत्र से चलता है—
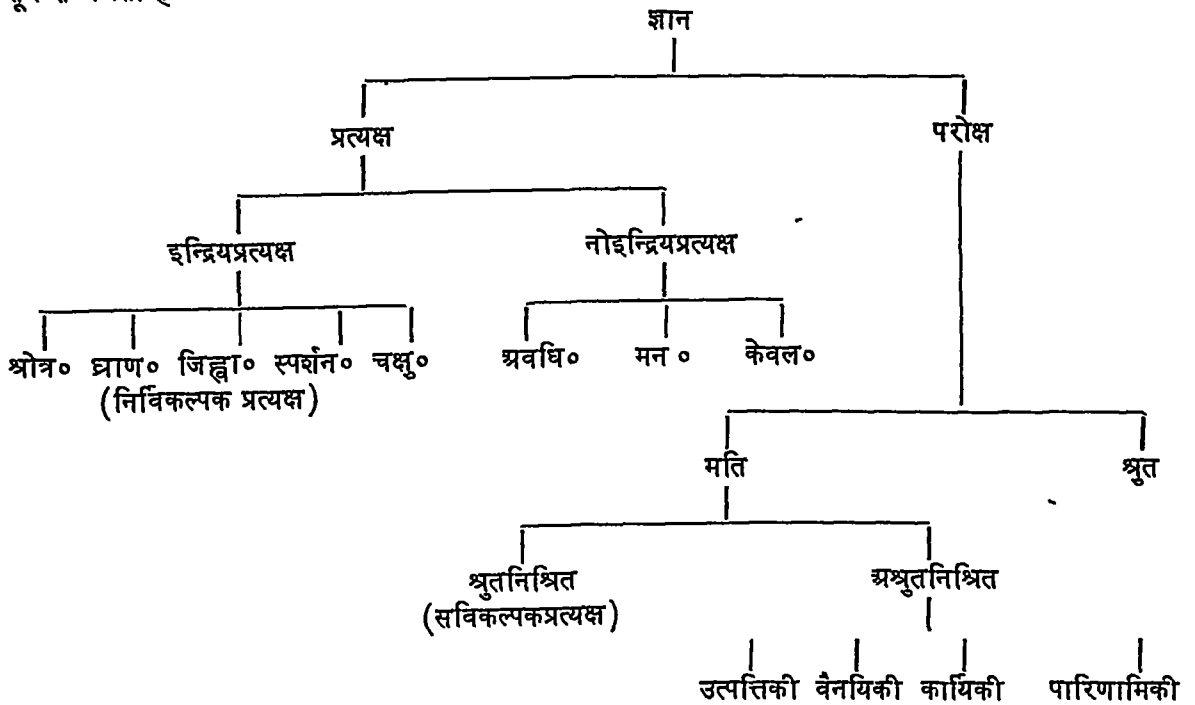
इससे स्पष्ट है कि नन्दीकार ने इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो में रक्खा। ज्ञान द्विरूप तो हो नही सकता अतएव जिनभद्र ने स्पष्टीकरण किया है कि इन्द्रिय ज्ञान को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान करके नन्दीकार ने उसे प्रत्यक्ष में भी गिना है वस्तुत वह परोक्ष ही है। नन्दीकार से पहले भी इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाणान्तर्गत करने की प्रथा चल पडी थी इसका पता नन्दीसूत्र से भी प्राचीन ऐसे अनुयोगद्वारसूत्र से चलता है—नन्दीकार ने तो उसीका अनुकरण मात्र किया है ऐसा जान पडता है। अनुयोग में प्रमाण विवेचन के प्रसग में निम्न प्रकार से वर्गीकरण है—
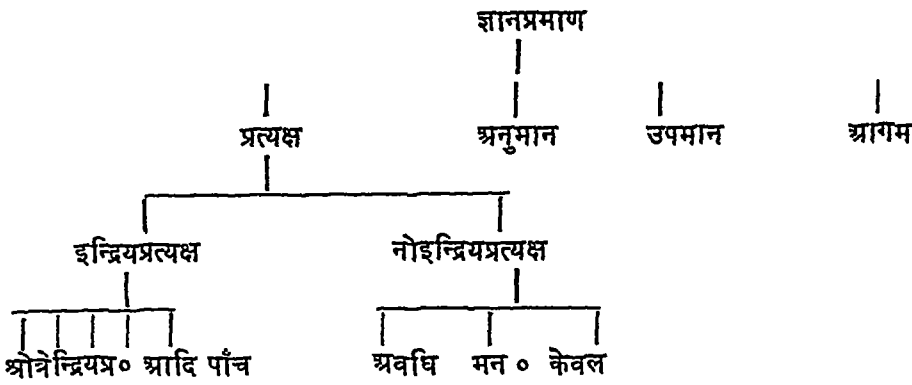
इससे स्पष्ट है कि अकलक ने प्रत्यक्ष का जो साव्यवहारिक भेद बताया है, वह आगमानुकूल ही है, वह उनकी नई सूझ नही। किन्तु स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम रूप परोक्ष के पाँच भेदो का मति, सज्ञा, चिन्ता, अभिनिवोध और श्रुत के साथ समीकरण ही उनकी मौलिक सूझ है। मति, सज्ञा आदि शब्दो को उमास्वाति ने एकार्थ बताया है और भद्रबाहु ने भी वैसा ही किया है। किन्तु जिनभद्र ने उन शब्दो को विकल्प से नानार्थक मान कर मत्यादि को ज्ञानविशेष भी सिद्ध किया है। कुछ ऐसी ही परम्परा के आधार पर अकलक ने ऐसा समीकरण उचित समझा होगा।

इस प्रकार समीकरण करके अकलक ने प्रमाण के भेदोपभेद की तथा प्रमाण के लक्षण, फल, प्रमाता और प्रमेय की व्यवस्था की, वही अभी तक मान्य हुई है। अपवाद सिर्फ है तो न्यायावतार और उसके टीकाकारो का है। न्यायावतार मे प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने गये थे अतएव उसके टीकाकार भी इन तीनो के ही पृथक् प्रामाण्य का समर्थन करते है।

हरिभद्र ने स्वतन्त्र प्रमाणशास्त्र का कोई ग्रन्थ नही बनाया, किन्तु शास्त्रवार्तासमुच्चय में तथा षड्दर्शन-समुच्चय में उन्होने तत्कालीन सभी दर्शनो के प्रमाणो के विषय मे भी विचार किया है। इसके अलावा षोडशक, अष्टक आदि ग्रन्थो मे भी दार्शनिक चर्चा उन्होने की है। लोकतत्त्वनिर्णय समन्वयदृष्टि से लिखी गई उनकी छोटी-सी कृति है। योगमार्ग के विषय में वैदिक और बौद्धवाङ्मय में जो कुछ लिखा गया था उसका जैनदृष्टि से समन्वय करना हरिभद्र की जैनशास्त्र को खास देन है। इस विषय के योगविन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगविंशिका, षोडशक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उन्होने प्राकृतभाषा मे भी धर्मसग्रहणी मे जैनदर्शन का प्रतिपादन किया है। उनकी आगमो के ऊपर लिखी गई दार्शनिक टीकाओ का उल्लेख हो चुका है। तत्त्वार्थटीका के विषय में भी लिखा जा चुका है। हरिभद्र की प्रकृति के अनुरूप उनका यह वचन सभी को उनके प्रति आदरशील बनाता है—

> "पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष. कपिलादिषु।
> युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्य. परिग्रह.॥"
>
> —लोकतत्त्वनिर्णय

विद्यानन्द

इसी काल मे विद्यानन्द हुए। यह युग यद्यपि प्रमाणशास्त्र का था, तथापि इस युग मे पूर्व भूमिका के ऊपर अनेकान्तवाद का विकास भी हुआ है। इस विकास में विद्यानन्दकृत अष्टसहस्री अपना खास स्थान रखती है। विद्यानन्द ने तत्कालीन सभी दार्शनिको के द्वारा अनेकान्तवाद के ऊपर किये गये आक्षेपो का तर्कसगत उत्तर दिया है। अष्टसहस्री कष्टसहस्री के नाम से विद्वानो में प्रसिद्ध है। विद्यानन्द की विशेषता यह है कि प्रत्येक वादी को उत्तर देने के लिए प्रतिवादी खडा कर देना। यदि प्रतिवादी उत्तर दे और तटस्थ व्यक्ति वादिप्रतिवादि दोनो की

निर्वलता को जब समझ जाय तब ही विद्यानन्द अनेकान्तवाद के पक्ष को समर्थित करता है इससे वाचक के मन पर अनेकान्तवाद का औचित्य पूर्णरूप से जँच जाता है।

विद्यानन्द ने इस युग के अनुरूप प्रमाणशास्त्र के विषय में भी लिखा है। इस विषय मे उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रमाणपरीक्षा है। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक मे भी उन्होने प्रमाणशास्त्रसे सम्वद्ध अनेक विषयो की चर्चा की है। इसके अलावा आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, युक्त्यनुशासनटीका आदि ग्रन्थ भी विद्यानन्द ने लिखे है। वस्तुत अकलक का भाष्यकार विद्यानन्द है।

अनन्तकीर्ति

इन्ही के समकालीन आचार्य अनन्तकीर्ति है। उन्होने सिद्धिविनिश्चय के आधार से सिद्धयन्त ग्रन्थो की रचना की है। सिद्धिविनिश्चय मे सर्वज्ञसिद्धि एक प्रकरण है। मालूम होता है उसीके आधार पर उन्होने लघुसर्वज्ञसिद्धि और वृहत्सर्वज्ञसिद्ध नामक दो प्रकरण ग्रन्थ वनाये। और सिद्धिविनिश्चय के जीवसिद्धिप्रकरण के आधार पर जीवसिद्धि नामक ग्रन्थ वनाया। जीवसिद्धि उपलब्ध नही। सिद्धिविनिश्चय के टीकाकार अनन्तवीर्य द्वारा उल्लिखित अनन्त कीर्ति यही हो तो कोई आश्चर्य की वात नही। वादिराज ने भी एक जीवसिद्धि के कर्ता अनन्तकीर्ति का उल्लेख किया है।

शाकटायन

इसी युग की एक और विशेषता पर भी विद्वानो का ध्यान दिलाना आवश्यक है। जैनदार्शनिक जव वादप्रवीण हुए तव जिस प्रकार उन्होने अन्य दार्शनिको के साथ वादविवाद में उतरना शुरू किया इसी प्रकार जैन-सम्प्रदाय गत मतभेदो को लेकर आपस मे भी वादविवाद शुरू कर दिया। परिणामस्वरूप इसी युग में यापनीय शाकटायन ने स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति नामक स्वतन्त्र प्रकरणो की रचना की जिनके आधार पर श्वेताम्वरो और दिगम्वरो के पारस्परिक खडन ने अधिक ज़ोर पकडा। शाकटायन अमोघवर्ष का समकालीन है क्योकि इन्ही की स्मृति में शाकटायन ने अपने व्याकरण की अमोघवृत्ति वनाई है। अमोघवर्ष का राज्यकाल वि० ८७१-९३४ है।

अनन्तवीर्य

अकलक के सिद्धिविनिश्चय की टीका अनन्तवीर्य ने लिख कर अनेक विद्वानो के लिए कटकाकीर्ण मार्ग को प्रशस्त किया है। प्रभाचन्द्र ने इनका स्मरण किया है। तथा शान्त्याचार्य ने भी इनका उल्लेख किया है। इनके विवरण के अभाव में अकलक के सक्षिप्त और सारगर्भ सूत्रवाक्य का अर्थ समझना ही दुस्तर हो जाता। जो कार्य अष्टशती की टीका अष्टसहस्री लिख कर विद्यानन्द ने किया वही कार्य सिद्धिविनिश्चय का विवरण लिख कर अनन्तवीर्य ने किया, इसी भूमिका के वल से आचार्य प्रभाचन्द्र का अकलक के ग्रन्थो मे प्रवेश हुआ और न्यायकुमुदचन्द्र जैसा सुप्रसन्न और गम्भीर ग्रन्थ अकलककृत लघीयस्त्र्य की टीकारूप से उपलब्ध हुआ।

माणिक्यनदी-सिद्धर्षि

अकलक ने जैनप्रमाणशास्त्र-जैनन्यायशास्त्र को पक्की स्वतन्त्रभूमिका पर स्थिर किया यह कहा जा चुका है। माणिक्यनन्दी ने दसवी शताब्दी में अकलक के वाङ्मय के आधार पर ही एक 'परीक्षामुख' नामक सूत्रग्रन्थ की रचना की। परीक्षामुख ग्रन्थ जैन न्यायशास्त्र के प्रवेश के लिए अत्यन्त उपयुक्त ग्रन्थ है, इतना ही नही किन्तु उसके वाद होनेवाले कई सूत्रात्मक या अन्य जैन प्रमाण ग्रन्थो के लिए आदर्शरूप भी सिद्ध हुआ है, यह नि सन्देह है।

सिद्धर्षि ने इसी युग मे न्यायावतार टीका लिख कर सक्षेप में प्रमाणशास्त्र का सरल और मर्मग्राही ग्रन्थ विद्वानो के सामने रखा है। किन्तु इसमें प्रमाणभेदो की व्यवस्था अकलक से भिन्न प्रकार की है। इसमे परोक्ष के मात्र अनुमान और आगम ये दो भेद ही माने गये है।

अभयदेव

अभयदेव ने सम्मतिटीका मे अनेकान्तवाद का विस्तार और विशदीकरण किया है क्योकि यही विषय मूल सम्मति मे है। उन्होने प्रत्येक विषय को लेकर लम्बे-लम्बे वादविवादो की योजना करके तत्कालीन दार्शनिक सभी वादो का सग्रह विस्तारपूर्वक किया है। योजना मे क्रम यह रक्खा है कि सर्वप्रथम निर्बलतम पक्ष उपस्थित करके उसके प्रतिवाद मे उत्तरोत्तर ऐसे पक्षो को स्थान दिया है, जो क्रमश निर्बलतर, निर्बल, सबल और सबलतर हो। अन्त में सबलतम अनेकान्तवाद के पक्ष को उपस्थित करके उन्होने उस वाद का स्पष्ट ही श्रेष्ठत्व सिद्ध किया है। सन्मतिटीका को तत्कालीन सभी दार्शनिक ग्रन्थो के दोहनरूप कहें तो उचित ही है। अनेकान्तवाद के अतिरिक्त तत्कालीन प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और फलविषयक प्रमाणशास्त्र की चर्चा को भी उन्होने उक्त क्रम से ही रख कर जैनदृष्टि से होनेवाले प्रमाणादि के विवेचन को उत्कृष्ट सिद्ध किया है। इस प्रकार इस युग की प्रमाणशास्त्र की प्रतिष्ठा मे भी उन्होने अपना हिस्सा अदा किया है।

अभयदेव का समय वि० १०५४ से पूर्व ही सिद्ध होता है क्योकि उनका शिष्य आचार्य धनेश्वर मुंज की सभा मे मान्य था और इसीके कारण धनेश्वर का गच्छ राजगच्छ कहलाया है। मुंज की मृत्यु वि० १०५४ के आस-पास हुई है।

प्रभाचन्द्र

किन्तु इस युग का प्रमाणशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तंड ही है इसमे तो सन्देह नही। इसके कर्ता प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक प्रभाचन्द्र है। प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र की रचना लघीयस्त्रय की टीकारूप से की है उसमे भी मुख्यरूप से प्रमाणशास्त्र की चर्चा है। परीक्षामुखग्रन्थ जिसकी टीका प्रमेयकमलमार्तंड है, लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय आदि अकलक की कृतियो का व्यवस्थित दोहन करके लिखा गया है। उसमे अकलकोक्त विप्रकीर्ण प्रमाणशास्त्रसम्बद्ध विषयो को क्रमबद्ध किया गया है। अतएव इसकी टीका मे भी व्यवस्था का होना स्वाभाविक है। न्यायकुमुदचन्द्र में यद्यपि प्रमाण शास्त्रसम्बद्ध सभी विषयो की सम्पूर्ण और विस्तृत चर्चा का यत्रतत्र समावेश प्रभाचन्द्र ने किया है और नाम से भी उन्होने इसे ही न्यायशास्त्र का मुख्यग्रन्थ होना सूचित किया है, फिर भी प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से क्रमबद्ध विषयपरिज्ञान प्रमेयकमलमार्तंड से ही हो सकता है, न्यायकुमुदचन्द्र से नही। अनेकान्तवाद का भी विवेचन पद-पद पर इन दोनो ग्रन्थो मे हुआ है।

शाकटायन के स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्तिप्रकरण के आधार से अभयदेव ने स्त्रीमोक्ष और केवलिकवलाहार सिद्ध करके श्वेताम्बरपक्ष को पुष्ट किया और प्रभाचन्द्र ने शाकटायन की प्रत्येक दलील का खडन करके केवलि-कवलाहार और स्त्रीमोक्ष का निषेध करके दिगम्बर पक्ष को पुष्ट किया। इस युग के अन्य श्वेताम्बरदिगम्बराचार्यो ने भी इन विषयो की चर्चा अपने ग्रन्थो में की है।

प्रभाचन्द्र मुंज के बाद होनेवाले धाराधीश भोज और जयसिंह का समकालीन है क्योकि अपने ग्रन्थो की प्रशस्तियो मे वह इन दोनो राजाओ का उल्लेख करता है। प० महेन्द्र कुमारजी ने प्रभाचन्द्र का समय वि० १०३७ से ११२२ अनुमानित किया है।

वादिराज

वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन विद्वान है। सम्भव है वादिराज कुछ बडे हो। वादिराज ने अकलक के न्यायविनिश्चय का विवरण किया है। किसी भी वाद की चर्चा मे कजूसी करना वादिराज का काम नही। सैंकडो ग्रन्थो के उद्धरण देकर वादिराज ने अपने ग्रन्थ को पुष्ट किया है। न्यायविनिश्चय मूल ग्रन्थ भी प्रमाणशास्त्र का

ग्रन्थ है। अतएव न्यायविनिश्चयविवरण भी प्रमाणशास्त्र का ही ग्रन्थ है। उसमे अनेकान्तवाद की पुष्टि भी पर्याप्त मात्रा में की गई है। प्रज्ञाकरकृत प्रमाणवार्तिकालकार का उपयोग और खडन दोनो इसमे मौजद हैं।

जिनेश्वर, चन्द्रप्रभ और अनन्तवीर्य

कुमारिल ने मीमासा श्लोकवार्तिक लिखा, धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक, अकलक ने राजवार्तिक और विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक लिखा। किन्तु श्वेताम्बराचार्यों मे से किसी ने वार्तिक की रचना की न थी। यद्यपि हरिभद्र ने गद्य और पद्य दोनो में लिखा था। अभयदेव ने तो सन्मति की इतनी वडी टीका लिखी कि वह वादमहार्णव के नाम से ख्यात हुई। किन्तु वार्तिक नामक कृति का अभाव ही था। इसीसे कोई नासमझ यह आक्षेप करते होंगे कि श्वेताम्बरो के पास अपना कोई वार्तिक नही। इसी आक्षेप के उत्तर मे जिनेश्वर ने वि० १०९५ के आसपासप्र मालक्ष्म नामक न्यायावतार के वार्तिक की रचना की। इसमे अन्य दर्शनो के प्रमाणभेद और लक्षणो का खडन करके न्यायावतार समत परोक्ष के दो भेद स्थिर किये गये हैं। यह कृति प्रमेयरत्नकोष जितनी सक्षिप्त नही और न वादमहार्णव जितनी वडी। किन्तु मध्यमपरिमाण की है। विद्यानन्द के श्लोकवार्तिक की तरह इसकी व्याख्या भी स्वोपज्ञ ही है।

वि० स० ११४९ मे पौर्णमिकगच्छ के व्यापक आचार्य चन्द्रप्रभसूरि ने प्रमेयरत्नकोष नामक एक सक्षिप्त ग्रन्थ लिखा है। विस्तीर्णसमुद्र के अवगाहन मे जो अशक्त हैं ऐसे मन्दबुद्धि अभ्यासी के लिए यह ग्रन्थ नौका का कार्य देने वाला है। इसमें कुछ वादो को सरल और सक्षिप्त रूप मे ग्रथित किया गया है।

चन्द्रप्रभसूरि के ही समकालीन आचार्य अनन्तवीर्य ने भी प्रमेयकमलमार्तंड के प्रखर प्रकाश से चकाचौंध हो जाने वाले अल्पशक्ति जिज्ञासु के हितार्थ सौम्यप्रभायुक्त छोटी-सी प्रमेयरत्नमाला का परीक्षामुख की टीका के रूप मे गुम्फन किया।

वादी देवसूरि

अपने समय तक प्रमाणशास्त्र और अनेकान्तवाद में जितना विकास हुआ था तथा अन्य दर्शन में जितनी दार्शनिक चर्चाएँ हुई थी उन सभी का सग्रह करके स्याद्वादरत्नाकर नामक वृहत्काय टीका वादी देवसूरि ने स्वोपज्ञ प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्रात्मक ग्रन्थ के ऊपर लिखी। इस ग्रन्थ को पढने मे न्यायमजरी के समान काव्य का रसास्वाद मिलता है। वादीदेव ने प्रभाचन्द्रकृत स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्ति की साम्प्रदायिक चर्चा का भी श्वेताम्बर दृष्टि से उत्तर दिया है। उनका प्रमाणनयतत्त्वालोक परीक्षामुख का अनुकरण तो है ही, किन्तु नय परिच्छेद और वाद परिच्छेद नामक दो प्रकरण जो परीक्षामुख मे नही थे, उनका इसमे सन्निवेश इसकी विशेषता भी है। स्याद्वादरत्नाकर मे प्रमेयकमलमार्तंडादि अन्य ग्रन्थगत वादो का शब्दत या अर्थत उद्धरण करके ही वादि देवसूरि सन्तुष्ट नही हुए हैं किन्तु प्रभाचन्द्रादि अन्य आचार्यों ने जिन दार्शनिको के पूर्वपक्षो का उत्तर नही दिया था, उनका भी समावेश करके उनको उत्तर दिया है और इस प्रकार अपने समय तक की चर्चा को सर्वाश मे सम्पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। इनका जन्म वि० ११४३ और मृत्यु १२२६ में हुई।

हेमचन्द्र

वादी देवसूरि के जन्म के दो वर्ष वाद ११४५ में सर्वशास्त्रविशारद आचार्य हेमचन्द्र का जन्म और वादि देवसूरि की मृत्यु के तीन वर्ष वाद उनकी मृत्यु हुई है (१२२९)। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने समय तक के विकसित प्रमाणशास्त्र की सारभूत वाते लेकर प्रमाणमीमासा की सूत्रवद्ध ग्रन्थ के रूप में रचना की है। और स्वय उसकी व्याख्या की है। हेमचन्द्र ने अपनी प्रतिभा के कारण कई जगह अपना विचारस्वातन्त्र्य भी दिखाया है। व्याख्या में भी उन्होने अति सक्षेप या अति विस्तार का त्याग करके मध्यममार्ग का अनुसरण किया है। जैनन्यायशास्त्र के

प्रवेश के लिए यह अतीव उपयुक्त ग्रन्थ है। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन का अनुकरण करके अयोगव्यवच्छेदिका और अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामक दो दार्शनिक द्वात्रिंशिकाएँ रची। उनमें से अन्ययोगव्यवच्छेदिका की टीका मल्लिषेणकृत स्याद्वादमंजरी अपनी प्रसन्न गम्भीर शैली के कारण तथा सर्वदर्शनसारसंग्रह के कारण प्रसिद्ध है।

शान्त्याचार्य

इस युग मे हेमचन्द्र के समकालीन और उत्तरकालीन कई आचार्यो ने प्रमाणशास्त्र के विषय मे लिखा है उसमे शान्त्याचार्य जो १२वी शताब्दी मे हुए अपना खास स्थान रखते है। उन्होने न्यायावतार का वार्तिक स्वोपज्ञ टीका के साथ रचा। और अकलक स्थापित प्रमाणभेदो का खडन करके न्यायावतार की परम्परा को फिर से स्थापित किया।

रत्नप्रभ

देवसूरि के ही शिष्य और स्याद्वादरत्नाकर के लेखन मे सहायक रत्नप्रभसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में प्रवेश की सुगमता की दृष्टि से अवतारिका बनाई। उसमे सक्षेप से दार्शनिक गहनवादो की चर्चा की गई है। इस दृष्टि से अवतारिका नाम सफल है, किन्तु भाषा की आडम्बरपूर्णता ने उसे रत्नाकर से भी कठिन बना दिया है। फिर भी वह अभ्यासियो के लिए काफी आकर्षण की वस्तु रही है। इसका अन्दाजा उसकी टीकोपटीका की रचना मे लगाना सहज है। इसी रत्नाकरावतारिका के बन जाने मे श्वेताम्बराम्नाय से स्याद्वादरत्नाकर का पठन-पाठन बन्द हो गया। फलत आज स्याद्वादरत्नाकर जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की सम्पूर्ण एक भी प्रति प्रयत्न करने पर भी अभी तक उपलब्ध नही हो सकी है।

सिह-व्याघ्रशिशु

वादीदेव के ही समकालीन आनन्दसूरि और अमरसूरि हुए जो अपनी बाल्यावस्था से ही वाद में प्रवीण थे और उन्होने कई वादियो को वाद मे पराजित किया था। इसीके कारण दोनो को सिद्धराज ने क्रमश 'व्याघ्रशिशुक' और 'सिंहशिशुक' की उपाधि दी थी। इनका कोई ग्रन्थ अभी उपलब्ध नही यद्यपि अमरचन्द्र का सिद्धान्तार्णव ग्रन्थ था। सतीशचन्द्र विद्याभूषण का अनुमान है कि गगेश ने सिंह-व्याघ्र व्याप्तिलक्षण नामकरण मे इन्ही दोनो का उल्लेख किया हो, यह सम्भव है।

रामचन्द्र आदि

आचार्य हेमचन्द्र के विद्वान शिष्यमडल मे से रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सयुक्तभाव से द्रव्यालकार नामक दार्शनिक कृति का निर्माण किया है, जो अभी अप्रकाशित है।

स० १२०७ मे उत्पादादिसिद्धि की रचना श्री चन्द्रसेन आचार्य ने की। इसमे वस्तु का उत्पादव्ययध्रौव्यरूप त्रिलक्षण का समर्थन कर अनेकान्तवाद की स्थापना की गई है।

१४वी शताब्दी के आरम्भ मे अभयतिलक ने न्यायालकार टिप्पण लिख कर हरिभद्र के समान उदारता का परिचय दिया। यह टिप्पण न्यायसूत्र की क्रमिक पाँचो टीका भाष्य, वार्तिक, तात्पर्य, परिशुद्धि और श्रीकठकृत न्यायालकार का टिप्पण है।

सोमतिलक की षड्दर्शन समुच्चय टीका वि० १३८९ मे बनी। किन्तु पन्द्रहवी शताब्दी मे होने वाले गुणरत्न ने जो षड्दर्शन की टीका लिखी वही उपादेय बनी है। इसी शताब्दी मे मेरुतुग ने भी षड्दर्शन निर्णय नामक ग्रन्थ लिखा। राजशेखर जो पन्द्रहवी के प्रारम्भ में हुए उन्होने षड्दर्शनसमुच्चय, स्याद्वादकलिका, रत्नाकरावतारिका पजिका इत्यादि ग्रन्थ लिखे। और ज्ञानचन्द्र ने रत्नाकरावतारिका पजिकाटिप्पण लिखा।

राजशेखर जैनदर्शन के ग्रन्थ लिख कर ही सन्तुष्ट नही हुए। उन्होने प्रशस्तपादभाष्य की टीका कदली के ऊपर भी पजिका लिख कर हरिभद्र और अभयतिलक के मार्ग का अनुसरण किया।

१८वी शताब्दी मे साधुविजय ने वादविजयप्रकरण और हेतुखडन ये दो ग्रन्थ लिखे।

इस प्रकार अकलक के द्वारा प्रमाणशास्त्र की प्रतिष्ठा होने पर इस क्षेत्र में जो जैनदार्शनिको की सतत साधना रही है इसका दिग्दर्शन पूर्ण होता है। और साथ ही नये युग का प्रारम्भ होता है।

भट्टारक धर्मभूषण ने 'न्यायदीपिका' इसी युग में लिखी है।

(४) नवीनन्याय युग

वि० तेरहवी सदी मे गगेश नामक प्रतिभासम्पन्न तार्किक महान् नैयायिक हुए। न्यायशास्त्र में नवीन न्याय का युग इन्ही मे प्रारम्भ होता है। इन्होने नवीन परिभाषा मे नूतनशैली मे तत्त्वचिन्तामणि नामक ग्रन्थ की रचना की। इसका मुख्य विषय प्रत्यक्षादि नैयायिक प्रसिद्ध चार प्रमाण हैं। चिन्तामणि के टीकाकारो ने इस नवीनन्याय के ग्रन्थ का उत्तरोत्तर इतना महत्त्व बढाया कि न्यायशास्त्र अब प्राचीन और नवीन इन दो विभागो मे विभक्त हो गया। इतना ही नही अन्य वेदान्ती, वैशेषिक, मीमासक आदि दार्शनिको ने भी अपने-अपने दर्शन को इस नवीन शैली का उपयोग करके परिष्कृत किया। स्थिति ने इतना पलटा खाया कि इस नवीन न्याय की शैली मे प्रवीण हुए विना कोई भी दार्शनिक सभी दर्शनो के इस विकास का पारगामी हो नही सकता। इतना होते हुए भी जैन दार्शनिको मे से किसी का ध्यान इस ओर वि० सत्रहवी शताब्दी के अन्त तक गया नही। वादी देवसूरि की मृत्यु के ३१ वर्ष बाद गगेश का जन्म वि० १२५७ मे हुआ और उन्होने शैली का परिवर्तन किया। किन्तु जैन दार्शनिको ने गगेश के बाद भी जो कुछ वादी देव सूरि ने किया था उसी के गीत गाये। फल यही हुआ कि जैनदर्शन इन पाँच शताब्दियो मे होने वाले दार्शनिक विकास से वचित ही रहा। इन पाँच शताब्दियो मे इस नवीन प्रकाश मे अन्य दार्शनिको ने तो अपने दर्शन का परिष्कार कर दिया किन्तु जैनदर्शन इस नवीन शैली को न अपनाने के कारण अपरिष्कृत ही रह गया।

यशोविजय

सत्रहवी शताब्दी के अन्त के साथ ही जैनसघ की इस घोर निद्रा का भी अन्त हुआ। स० १६९९ में अहमदाबाद के सघ ने प० यशोविजय मे उस प्रतिभा का दर्शन किया जिस से जैनदर्शन की इस क्षति की पूर्ति होना सम्भव था। शेठ धनजी सूरा की विनति मे प० यशोविजय को लेकर उनके गुरु आचार्य नयविजय ने विद्याधाम काशी की ओर विहार किया। वहाँ यशोविजयजी ने सभी दर्शनो का तथा अन्य शास्त्रो का पाण्डित्य प्राप्त करके न्याय-विशारद की पदवी प्राप्त की। और उन्होने अकेले ही जैनदर्शन की उक्त क्षति की पूर्ति की।

अनेकान्तव्यवस्था नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ नवीन न्यायशैली में लिखकर जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अनेकान्तवाद का परिष्कार किया। इसी प्रकार जैनतर्कभाषा और ज्ञानबिन्दु लिख कर जैनदर्शन की ज्ञानविषयक और प्रमाणविषयक परिभाषा को परिष्कृत किया। नयप्रदीप, नयरहस्य और नयामृततरगिणी नामक स्वोपज्ञ टीका के साथ नयोपदेश लिख कर नयवाद का परिष्कार किया। न्यायखडखाद्य और न्यायालोक में नवीनशैली मे ही नैयायिकादि दार्शनिको के सिद्धान्तो का खडन किया। इसके अलावा अनेकान्तवाद का उत्कृष्ट प्राचीन ग्रन्थ अष्ट-सहस्री का विवरण लिख कर तथा हरिभद्रकृत शास्त्रवार्तासमुच्चय की टीका स्याद्वादकल्पलता लिख कर इन दोनो ग्रन्थों को अद्यतन रूप दे दिया। भाषारहस्य, प्रमाणरहस्य, वादरहस्य आदि रहस्यान्त अनेक ग्रन्थ नवीन न्याय की परिभाषा मे लिख कर जैनदर्शन मे नये प्राण का सचार कर दिया।

यशोविजय ने एक सिर्फ दर्शन के विषय में ही लिखा हो यह बात नहीं। आगमिक अनेक गहन विषयों की सूक्ष्म चर्चा, अध्यात्मशास्त्र की चर्चा, योगशास्त्र, अलकार और आचारशास्त्र की चर्चा करने वाले भी अनेक पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना करके जैनवाङ्मय को उन्नत भूमिका के ऊपर स्थापित करके सर्वशास्त्रवैशारद्य का प्रदर्शन किया है।

जैनदर्शनशास्त्र या नवीनन्याय का यह युग यशोविजययुग कहा जा सकता है, क्योंकि अकेले यशोविजय के ही साहित्य से उस युग का दार्शनिक साहित्य भडार पुष्ट हुआ है। दूसरे विद्वानो ने कुछ छोटी-मोटी गिनती की पुस्तको की रचना दार्शनिकक्षेत्र मे की है सही किन्तु यशोविजय-साहित्य के सामने उन सभी का मूल्य नगण्य है।

यशस्वत्सागरादि

इस युग मे स० १७५७ मे विद्यमान यशस्वत्सागर ने सप्तपदार्थी, प्रामाण्यवादार्थ, वादार्थनिरूपण, स्याद्वादमुक्तावली जैसे दार्शनिक ग्रन्थो की रचना की।

दिगम्बर विद्वान् विमलदास ने 'सप्तभगी तरगिणी' नामक ग्रन्थ का प्रणयन नवीन न्याय की शैली में किया है।

यशोविजयस्थापित परम्परा का इस बीसवी सदी मे फिर से उद्धार हुआ है। आ० विजयनेमि का शिष्यगण नवीनन्याय का अध्ययन करके यशोविजय के साहित्य की टीकाओ का निर्माण करने लगा है।

काशी]

परम सांख्य

श्री जैनेंद्रकुमार

आदमी ने जब से अपने होने को अनुभव किया तभी से यह भी पाया कि उसके अतिरिक्त शेष भी है। उसकी अपेक्षा मे वह स्वय क्या है और क्यो है ? अथवा कि जगत् ही उसकी अपेक्षा में क्या है और क्यो है ? दोनो में क्या परस्परता और तरतमता है ?—द्वैत-बोध के साथ ये सब प्रश्न उसके मन मे उठने लगे।

प्रश्न में से प्रयत्न आया। आदमी मे सतत प्रयत्न रहा कि प्रश्न को अपने मे हल कर ले। पर हर उत्तर नया प्रश्न पैदा कर देता रहा और जीवन, अपनी सुलझन मे और उलझन मे, इसी तरह बढता रहा।

सत्य यदि है तो आकलन में नही जमेगा। ऐसे सत्य सात और जड हो जायगा। जिसका अन्त है, वह और कुछ हो, सत्य वह नही रहता।

पर मनुष्य अपने साथ क्या करे ? चेष्टा उससे छूट नही सकती। उसके चारो ओर होकर जो है, उससे निरपेक्ष बनकर वह जी नही सकता। प्रत्येक व्यापार उसे शेष के प्रति उन्मुख करता है। वह देखता है तो वर्ण, सुनता है तो शब्द, छूता है तो वस्तु। इस तरह हर क्षण के हर व्यापार मे वह अनुभव करता है कि कुछ है, जो वह नही है। वह अन्य है और अज्ञात है। प्राप्त है और अप्राप्त है। यदि सत्य है तो हर पल बन-मिट रहा है। यदि माया है तो हर क्षण प्रत्यक्ष है।

अपने साथ लगे इस शेष के प्रति मनुष्य की कामना और क्रीडा, उसकी जिज्ञासा और जिघासा, कभी भी मन्द नही हुई है। आदमी ने चाहा है कि वह सबको अपनी समझ में बिठा ले, या समझ से मिटा दे। किसी तरह सब मे, या सब से, वह मुक्त हो। उसके अपने आत्म के बाहर यह जो अनात्म है, इसकी स्वीकृति से, सत्ता से, परता से किसी तरह वह उत्तीर्ण हो जाये। या तो उसे बाँध कर वश में कर ले, या तर्क के ज़ोर से गायब कर दे, या नही तो फिर अपने को ही उसमे खो दे। अनात्म के मध्य आत्म अवरुद्ध है। या तो परत्व मिटे, या सब स्व-गत हो, या फिर स्वत्व ही मिट जाय।

अपने चारो ओर के नाना रूपाकार जगत् को मनुष्य ने चाहा कि पा ले, पकड ले, और ठहरा कर अपने में ले ले। सत्य को अपने से पर रहने दे कर वह चैन से नही जी सका। छटपटाता ही रहा कि उसे स्वकीय करे।

इस मुक्ति की या पूर्णता की अकुलाहट मे मनुष्य ने नाना धर्मो, साधनाओ और दर्शनो को जन्म दिया।

मुक्ति की ओर का प्रयत्न जब मनुष्य का सर्वांगीण और पूर्ण प्राणपण से हुआ तब दर्शन उत्पन्न नही हुआ। तब व्यक्तित्व को ही परिष्कार मिला। सीमाएँ मिट कर उसमे समष्टि की विराटता आई। दर्शन तब उससे स्वत फूटा। धर्मो के आदि स्रोत ऐसे ही पुरुष हुए। उन्होने दर्शन दिया नही। देने को उनके पास अपनी आत्मरूपता ही रही। परिणाम में वे एकसाथ सब दर्शनो के लिए सुगम और अगम बन गये।

दर्शन बनता और मिलता है तब जब प्राणो की विकलता की जगह बुद्धि की तीव्रता से प्रयत्न किया जाता है। स्पष्ट ही यह प्रयत्न अविकल न होकर एकागी होता है। इसमे व्यक्ति 'असल नही उसकी तस्वीर' ही पाता है। इस तरह वह स्वय (सत्य का) प्रकाश नही होता, या प्रकाश नही देता, बल्कि शब्दो अथवा तर्कों के सयोजन द्वारा उस प्रकाशनीय तत्त्व का वर्णन देता है।

अत दर्शनकार वे है जो सत्य जीते नही, जानते है। जीने द्वारा सत्य सिद्ध होता है। वैसा सत्य जीवन को भी सिद्धि देता है। पर जानने द्वारा सत्य सीमित होता है और ऐसा सत्य जीवन को भी सीमा देता है।

जीवन में से धर्म प्राप्त होता है। प्रयत्न मे से दर्शन।

यह दर्शन भी द्विविध। एक सीधा देखा गया। दूसरा अनुमाना गया। प्राच्य और पाश्चात्य दर्शनो में अधिकाश यह अन्तर है। पहले आदर्श की एकता से यथार्थ की अनेकता पर उतरते है। दूसरे तल की विविधता से आरम्भ करके तर्कश शिखर की एकता की ओर उठते है।

प्राच्य दर्शनो का आरम्भ इसीसे ऋषियो से होता है, जो जानने से अधिक सावते थे। यहाँ के दर्शनो की पूर्व-पीठिका है उपनिषद्, जो काव्य है। उनमें प्रतिपादन अथवा अकन नही है। उनमे केवल अभिव्यजन और गायन है।

हृदय द्वारा जव हम निखिल को पुकारते और पाते है तव शब्द अपनी सार्थकता का अतिक्रमण करके छद और लय का रूप ले उठते है। तव उनमें से वोध और अर्थ उतना नही प्राप्त होता, जितना चैतन्य और स्पन्दन प्राप्त होता है। वे वाहर का परिचय नही देते, भीतर एक स्फूर्ति भर देते है।

किन्तु सवुद्धि मानव उसे अखड रूप से अनुभूति में लेकर स्वय अभिभूत हो रहने से अधिक उसे शब्द में नाप-आक कर लेना चाहता है। ऐसे सत्य उसका स्वत्व वन जाता है। शब्द में नपतुल कर वह मानो सग्रहणीय और उपयोगी वनता है। उसे अको में फैला कर हम अपना हिसाव चला सकते है और विज्ञान वना सकते है।

शिशु ने ऊपर आसमान में देखा और वह विह्वल हो रहा। शास्त्री ने धरती पर नकशा खीचा और उसके सहारे आकाश को ग्रह-नक्षत्रो मे वाँट कर उसने अपने कावू कर लिया।

शब्दो का और अको का यह गणित हुआ आयुध जिससे वौद्धिक ने सत्य को कीलित करके वश मे कर लिया। असख्य को सख्या दे दी, अनन्त को परिमाण दे दिया, अछोर को आकार पहनाया और जो अनिर्वचनीय था शब्दो द्वारा उसी को धारणा में जड लिया।

उद्भट वौद्धिको का यह प्रयत्न तपस्वी साधको की साधना के साथ-साथ चलता रहा।

मेरा मानना है कि जैन धर्म से अधिक दर्शन है, और वह दर्शन परम साख्य और परम वौद्ध है। उसका आरम्भ श्रद्धा एव स्वीकृति से नही, पश्चिम के दर्शनो की भाँति तर्क से है। सम्पूर्ण सत्य को शब्द और अक मे विठा देने की स्पर्धा यदि किसी ने अटूट और अथक अध्यवसाय से की है तो वह जैन-दर्शन ने। वह दर्शन गणित की अभूतपूर्व विजय का स्मारक है।

जगत् अखड होकर अज्ञेय है। जैन-तत्त्व ने उसे खड-खड करके सम्पूर्णता के साथ ज्ञात वना दिया है।

"जगत् क्या है ?"

चेतन-अचेतन का समवाय।

"चेतन क्या है ?"

हम सव जीव।

"जीव क्या है ?"

जीव है आत्मा। असख्य जीव सव अलग-अलग आत्मा है।

"अचेतन क्या है ?"

मुख्यता से वह पुद्‌गल है।

"पुद्‌गल क्या है ?"

वह अणु रूप है।

"पुद्‌गल से शेष अजीवतत्त्व क्या है ?"

काल, आकाश आदि।

"काल क्या है ?"

वह भी अणु रूप है।

"आकाश क्या है ?"

अनन्त प्रदेशी है।

"आदि क्या ?"

"चलना ठहरना जो दीखता है, उसके कारण रूप तत्त्व इस आदि में आते है।"

इस तरह सम्पूर्ण सत्ता को, जो एक और इकट्ठी होकर हमारी चेतना को अभिभूत कर लेती है, अनन्त अनेकता मे बाँट कर मनुष्य की बुद्धि के मानो वशीभूत कर दिया गया है। आत्मा असख्य है, अणु असख्य और अनन्त है। उनकी अपनी सत्यता मानो सीमित और परिमित है। यह जो अपरिसीम सत्ता दिखाई देती है केवल-मात्र उस सीमित सत्यता का ही गुणानुगुणित रूप है।

जैन-दर्शन इस तरह शब्द और अक के सहारे उस भीति को और विस्मय को समाप्त कर देता है, जो व्यक्ति सीधी आँखो इस महाब्रह्माड को देख कर अपने भीतर अनुभव करता है। उसी महापुलक, विस्मय और भीति के नीचे मनुष्य ने जगत्-कर्त्ता, जगद्धर्त्ता, परमात्मा, परमेश्वर आदि रूपो की शरण ली है। जैन-दर्शन उसको मनुष्य के निकट अनावश्यक बना देना चाहता है। परमात्मत्व को इसलिए उसने असख्य जीवो मे बखेर कर उसका मानो आतक और महत्त्व हर लिया है। ब्रह्माड की महामहिमता को भी उसी प्रकार पुद्गल के अणुओ मे छितरा कर मानो मनुष्य की मुट्ठी मे कर देने का प्रयास किया है।

जैन-दर्शन की इस असीम स्पर्धा पर कोई कुछ भी कहे, पर गणित और तर्कशास्त्र के प्रति उसकी ईमानदारी अपूर्व है।

मूल मे सीधी मान्यताओ को लेकर उसी आधार पर तर्क-शुद्ध उस दर्शन की स्तूपाकार रचना खडी की गई।

मैं हूँ, यह सबुद्धि मनुष्य का आदि सत्य है। मैं क्या हूँ ? निश्चय हाथ-पाँव आदि अवयव नही हूँ, इस तरह शरीर नही हूँ। जरूर, कुछ इससे भिन्न हूँ। भिन्न न होऊँ तो शरीर को मेरा कहने वाला कौन रहे ? इसमे मैं हूँ आत्मा।

मेरे होने के साथ तुम भी हो। तुम अलग हो, मैं अलग हूँ। तुम भी आत्मा हो और तुम अलग आत्मा हो। इस तरह आत्मा अनेक है।

अब शरीर मैं नही हूँ। फिर भी शरीर तो है। और मैं आत्म हूँ। इससे शरीर अनात्म है। अनात्म अर्थात् अजीव, अर्थात् जड।

इस आत्म और अनात्म, जड और चेतन के भेद, जड की अणुता और आत्मा की अनेकता—इन प्राथमिक मान्यताओ के आधार पर जो और जितना कुछ होता हुआ दीखता है, उस सब को जैन-तत्त्व-शास्त्र ने खोलने की और कारण-कार्य की कडी में बिठाने की कोशिश की है। इस कोशिश पर युग-युगो मे कितनी मेधा-बुद्धि व्यय हुई है, इसका अनुमान नही किया जा सकता। वर्तमान में उपलब्ध जैन-साहित्य पर्वताकार है। कितना ही प्रकाश मे नही आया है। उससे कितने गुना नष्ट हो गया, कहना कठिन है। इस समूचे साहित्य मे उन्ही मूल मान्यताओ के आधार पर जीवन की और जगत् की पहेली की गूढ से गूढ उलझनो को सुलझाया गया और भाग्य आदि की तमाम अनर्क्यताओ को तर्क-सूत्र मे पिरोया गया है।

आत्म और अनात्म यदि सर्वथा दो है तो उनमें सबध किस प्रकार होने मे आया—इस प्रश्न को बेशक नही छूआ गया है। उस सम्बन्ध के बारे मे मान लेने को कह दिया गया है कि वह अनादि है। पर उसके बाद अनात्म, यानी पुद्गल, आत्म के साथ कैसे, क्यो, कब, किस प्रकार लगता है, किस प्रकार कर्म का आस्रव होता और बन्ध होता है, किस प्रकार कर्म-बन्ध फल उत्पन्न करता है, आदि-आदि की इतनी जटिल और सूक्ष्म विवेचना है कि बडे-से-बडे अध्यवसायी के छक्के छूट जा सकते है।

फिर उस कर्म-बन्ध की निर्जरा यानी क्षय किस प्रकार होगा, आस्रव (आने) का सवर (रुकना) कैसे होगा और अन्त में अनात्म से आत्म पूरी तरह शुद्ध होकर कैसे बुद्ध और मुक्त होगा, इसकी पूर्ण प्ररूपणा है।

इतना ही नही, जैन-शास्त्र आरम्भ करके रुकता अन्त से पहले नही। मुक्त होकर आत्मा लोक के किस भाग मे, किस रूप मे, किस विधि रहता है, इसका भी चित्र है।

सक्षेप में वह सब जो रहस्य है, इससे खीचता है, अज्ञात है, इससे डराता है, असीम है, इससे सहमाता है, अद्भुत है, इससे विस्मित करता है, अतर्क्य है, इससे निरुत्तर करता है—ऐसे सब को जैन-शास्त्र ने मानो शब्दो की और अको की सहायता से वशीभूत करके घर की साकल से बाँध लिया है। इसी अर्थ में मै इस दर्शन को परम बौद्ध और परम साख्य का रूप मानता हूँ। गणना-बुद्धि की उसमे पराकाष्ठा है। उस बुद्धि के अपूर्व अध्यवसाय और स्पर्धा और प्रागल्भ्य पर चित्त सहसा स्तब्ध हो जाता है।

दिल्ली]
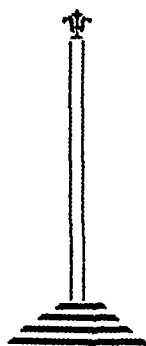
जैन दर्शन का इतिहास और विकास

पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

'दर्शन' शब्द का सीधा अर्थ देखना या साक्षात्कार करना होता है, पर यदि दर्शनशास्त्र के 'दर्शन' शब्द का अर्थ साक्षात्कार होता तो दर्शनो में परस्पर इतना मतभेद नही हो सकता था। प्रत्यक्ष तो मतभेदो का अत कर देता है। 'आत्मा नित्य है या अनित्य' इन दो पक्षो में से यदि किसी पक्ष का दर्शन साक्षात्कारात्मक होता तो आत्मा का नित्यत्व या अनित्यत्व सिद्ध करने के लिए साख्य और बौद्धो को दिमागी कसरत न करनी पडती। अत दर्शन-शास्त्र का दर्शन शब्द 'दृष्टिकोण' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ जान पडता है। बल्कि सत्य तो यह है कि पदार्थ के जिस अश का प्रत्यक्ष हो सकता है, उस अश की चर्चा दर्शनशास्त्रो में बहुत कम है। जिन आत्मा, परमात्मा, जगत् का पूर्ण रूप परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष नही हो सकता, उन्ही पदार्थों के विचार मे विभिन्न दर्शनो ने अपने-अपने दृष्टिकोण रक्खे है और उनके समर्थन में पर्याप्त कल्पनाओ का विकास किया है। विशेष बात तो यह है कि प्रत्येक दर्शन अपने-अपने आदि पुरुष को उनमें बताये गये अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप का द्रष्टा साक्षात्कर्ता-मानता है, और दर्शन शब्द के 'दृष्टिकोण, विचार की दिशा' इन अर्थों को गौण करके उसके साक्षात्कार अर्थ की आड में अपनी सत्यता की छाप लगाने का प्रयत्न करता है। दर्शन शब्द के अर्थ में यह घुटाला होने से एक ओर जहाँ तर्क बल से पदार्थ के स्वरूप की सिद्धि करने में तर्क का सार्वत्रिक प्रयोग किया जाता है तो 'तर्काप्रतिष्ठानात्' जैसे सूत्रो द्वारा उसकी अप्रतिष्ठा कर दी जाती है और वस्तु के स्वरूप को अनुभवगम्य या शास्त्रगम्य कह दिया जाता है। दूसरी ओर जब पदार्थ का उस रूप से अनुभव नही होता तब अधूरे तर्कों का आश्रय लिया जाता है। अत दर्शनशास्त्र की निर्णय-रेखाएँ उतनी स्पष्ट और सुनिर्णीत नही है, जितनी विज्ञान की। आचार्य हरिभद्र[1] तो अतीन्द्रिय पदार्थों में तर्कवाद की निरर्थकता ही एक प्रकार से बताते है। इस तरह दर्शनशास्त्र के 'दर्शन' शब्द के अर्थ की पेचीदगी ने भारतवर्ष के विचारको में जबर्दस्त बुद्धिभेद उत्पन्न किया था। एक ही वस्तु को एकवादी 'सत्' मानता था तो दूसरा 'असत्' तीसरा 'सदसत्' तो चौथा 'अनिर्वचनीय'। इन मतभेदो ने अपना विरोध विचार के क्षेत्र तक ही नही फैलाया था, किन्तु वह कार्यक्षेत्र मे भी पूरी तरह से जम गया था। एक-एक विचारदृष्टि ने दर्शन का रूप लेकर दूसरी विचारदृष्टि का खडन करके अहकार का दुर्दम मूर्तिरूप लेना प्रारभ कर दिया था। प्रत्येक दर्शन को जब धार्मिक रूप मिल गया तो उसके सर-क्षण और प्रचार के लिए बहुत से अवाछनीय कार्य करने पडे। प्रचार के नाम पर शास्त्रार्थ शुरू हुए। शास्त्रार्थों में परा-जित विरोधी को कोल्हू मे पेल डालना, तप्त तेल के कडाहो में डाल देना जैसी कठोर शर्तें लगाई जाने लगी। राजाश्रय पाकर इन शास्त्रार्थियो ने भारतीय जल्पकथा के इतिहास को भीषण हिंसाकाडो द्वारा रक्तरजित कर दिया था।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत के आध्यात्मिक क्षितिज पर भगवान् महावीर और बुद्ध दो महान् नक्षत्रों का उदय हुआ। इन्होने उस समय के धार्मिक वातावरण मे सर्वतोमुखी अद्भुत क्रान्ति की। उस समय धर्म के नियम-उपनियमो के विषय मे वेद और तदुपजीवी स्मृतियो का ही एक मात्र निर्बाध अधिकार था। उसमें पुरुष के अनुभव का कोई स्थान नही था और इसी आधार से धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के मेध, जिनमें अजमेध से नरमध तक

---

[1] "ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रिया।
कालेनैतावता तेषा कृत स्यादर्थनिर्णय ॥"

अर्थात् यदि तर्कवाद से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान किया जा सकता होता तो इतने काल में अनेको प्रखर तर्कवादी हुए उनके द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय कभी का हो गया होता। पर खुदा की बात जहाँ की तहाँ है।

शामिल थे, रक्तवती और चर्मण्वती जैसी सार्थक नामवाली नदियो की सृष्टि कर रहे थे। इन दो महापुरुषो ने धर्म के नाम पर होने वाली विडम्वना के विरुद्ध आवाज उठाई और स्पष्ट शब्दो मे घोषित किया, "धर्म का साक्षात्कार किया जा सकता है, वह अनुभव के आधार पर रचा जा सकता है।" उन्होने प्राणिमात्र को सुख, सन्तोष और शान्ति देनेवाली 'अहिंसा' की पुन प्रतिष्ठा की। 'वीतरागी और तत्त्वज्ञ व्यक्ति अनुभव से धर्म और उसके नियमोपनियम का यथार्थ ज्ञान कर सकता है', इस प्रकार की अनुभव-प्रतिष्ठा के वल से वेद-धर्म के नाम पर होने वाले क्रियाकाडो का तात्त्विक और व्यावहारिक विरोध हुआ। अहिंसक वातावरण से जगत् को शान्ति की सास लेने का क्षण मिला। महात्मा वुद्ध ने आत्मा आदि अनेक अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय मे प्रश्न किए जाने पर उन्हें अव्याकृत या अव्याकरणीय वताया। उन्होने सीधी सादी भाषा में जगत् को दु ख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्यो के स्वरूप का स्पष्ट निरूपण किया और दु खसन्तप्त जगत् को निराकुलता की ओर ले जाने का अतुल प्रयत्न किया। उन्होने जगत् को शून्य, क्षणिक, मायोपम, जलवुद्वुदोपम वता कर प्राणियो को विज्ञानरूप अन्तर्मुख होने की ओर प्रेरित किया। आगे जाकर इन्ही क्षणिक, शून्य आदि भावनात्मक शब्दो ने क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि वादो का रूप धारण किया।

भगवान् महावीर अहिंसा के उत्कट साधक थे। वे मातृहृदय वुद्ध की तरह मृदुमार्गी न होकर पितृचेतस्क दीर्घतपस्वी थे। अहिंसा के कायिक, वाचिक तथा मानसिक स्वरूपो को आत्मसात् करना तथा सघ में उसका ही जीवन्त-रूप लाना उनका जीवन-कार्य था। विषय-कषायज्वालाओ से झुलसे हुए इस जगत् को सर्वाङ्गीण अहिंसा द्वारा स्थायी शान्ति की ओर ले जाना उनका जीवन-व्रत था। कायिक अहिंसा के लिए जिस प्रकार व्यक्तिगत् सम्यक् प्रवृत्ति, अप्रमत्त आचरण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार वाचनिक अहिंसा के लिए वचन की अमुक शैली तथा मानसिक अहिंसा के लिए विचारसहिष्णुता एव पदार्थ के विराट्स्वरूप के यथार्थ ज्ञान की विशेष आवश्यकता होती है। भगवान् महावीर ने वस्तु के विराट्स्वरूप का अनुभव करके वताया कि अचेतन जगत् का प्रत्येक अणु तथा चेतन जगत् का हर-एक आत्मा अनन्त धर्मवाला है। उसके पूर्णरूप को पूर्णज्ञान ही जान सकता है। उसके अनन्तस्वरूप को हमारा क्षुद्र ज्ञानकण अशत ही स्पर्श कर सकता है। उस समय के प्रचलित सत्, असत्, अवक्तव्य, क्रिया, अक्रिया, नियति, यदृच्छा, काल आदि वादो का उन्होने अपने पूर्ण ज्ञान मे ठीक स्वरूप देखा और वस्तुस्थिति के आधार से विचार की उस मानस-अहिंसा-पोषिणी दिशा की ओर ध्यान दिलाया, जिससे वस्तु के यथार्थ ज्ञान के साथ ही साथ चित्त मे समता और विचार-सहिष्णुता जैसे अहिंसा के अकुरो का आरोपण हो सकता था। उन्होने आत्मा, परलोक आदि के विषय मे प्रश्न होने पर मौनावलम्वन नही किया और न उन्हे अव्याकरणीय वताया किन्तु उन पदार्थों के यथार्थस्वरूप का विवेचन किया। उन्होने अपनी पहिली देशना मे "उपन्नइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" (स्थानाग-स्थान १०) इस त्रिपदी का उच्चारण किया था। यह मातृकात्रिपदी कही जाती है। इसका तात्पर्य है कि जगत् का प्रत्येक चेतन अचेतन पदार्थ उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और स्थिर भी रहता है। मूल अस्तित्व स्थिर रहता है, अवस्थाओ मे उत्पाद और विनाशरूप परिवर्तन होता रहता है। सास्य और योग परपरा मे ऐसा परिणामवाद केवल अचेतन प्रकृतितत्त्व मे माना है। पुरुषतत्त्व इस परिणाम से सर्वथा अछूता कूटस्थ नित्य स्वीकार किया गया है।

भगवान् महावीर के उपदेशो का अतिम सग्रह देवर्धिगणिक्षमाश्रमण ने वि० स० ५१० में किया था। ये आगम उस समय की लोकभाषा अर्धमागधी में रचे हुए है। भगवान् महावीर और वुद्ध ने अपने उपदेश जनता की वोली में ही दिये थे। आगमो की रचनाशैली में तर्क के स्थल-स्थल पर दर्शन होते है। महावीर के मुख्य गणधर गौतम स्वामी भगवान् के हर एक उपदेशो में तर्क करते है, "से केणट्ठेण भन्ते, एवमुच्चइ" अर्थात्—'भगवन्, ऐसा क्यो कहते है?' इस तर्कगर्भ प्रश्न के उत्तर में महावीर अपने द्वारा उपदिष्ट मार्ग को सत्यता तथा प्रामाणिकता को युक्तियो से सिद्ध करते है।

इस तरह आगमो में जैनदर्शन के वीज विखरे हुए है। उनका सस्कृतभाषा में सर्वप्रथम सग्रह आ० उमास्वाति

ने तत्त्वार्थसूत्र में किया। तत्त्वार्थसूत्र के "प्रमाणनयैरधिगम[1]" "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्[2]" "अर्पितानर्पितसिद्धे[3]" "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्[4]" इत्यादि सूत्र ऐसे हैं जिनपर जैनदर्शन का महाप्रासाद खडा किया गया है। इनके समय की उत्तरावधि वि० म० ४०० तक हो सकती है। इनका 'तत्त्वार्थसूत्र' ग्रन्थ जैनमत की दिगम्बर श्वेतावर उभय शाखाओ को मान्य है। जैनदर्शन के विकास का कुछ विचार हम (१) उपाय या ज्ञापक तत्त्व (२) उपेय या ज्ञेयतत्त्व इन दो स्थूल भागो में विभाजित कर करते हैं।

ज्ञापक तत्त्व

(१) आगमिक परपरा मे मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवल ये पाँच ज्ञान मुख्यतया ज्ञेय के जानने के साधन माने गये हैं। 'उत्तराध्ययनसूत्र' (२८।२४) मे प्रमाण और नय को भी उपायतत्त्व बताया है। आगमिक काल मे ज्ञान की सत्यता और असत्यता बाह्य पदार्थो को ठीक प्रकार से जानने और न जानने के ऊपर निर्भर नही थी, किन्तु जो ज्ञान आत्मसशोधन और अन्तत मोक्षमार्गोपयोगी होते थे, वे सच्चे तथा जो मोक्षमार्गोपयोगी नही थे, वे झूठे कहे जाते थे। लौकिक दृष्टि से शतप्रतिशत सत्यज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी नही है तो वह झूठा और लौकिक दृष्टि से मिथ्या ज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी है तो वह सच्चा। इस तरह सत्यता और असत्यता की कसौटी बाह्यपदार्थों के आधीन न होकर उसकी मोक्षमार्गोपयोगिता के अधीन थी। इसीलिए सम्यक्दृष्टि के सभी ज्ञान सच्चे और मिथ्यादृष्टि के सभी ज्ञान झूठे कहलाते थे। वैशेषिक सूत्र मे विद्या और अविद्या शब्द के प्रयोग कुछ इसी भूमिका पर हैं।

इन पाँच ज्ञानो का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से विभाजन आगमकाल मे एक विभिन्न आधार पर ही था। वह आधार था आत्ममात्रसापेक्षत्व। अर्थात् जो ज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष था वह प्रत्यक्ष तथा जिनमे इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित होती थी वे परोक्ष। लोक में जिन इन्द्रियजन्य ज्ञानो को प्रत्यक्ष कहते थे, वे ज्ञान आगमिक परपरा मे परोक्ष थे। आगमो मे प्रमाण नय निक्षेप आदि साधन बताए तो गए हैं, पर उनकी विभाजक रेखाएँ इस काल में उतनी स्पष्ट नहीं थी, जितनी कि आगे जाकर हुई।

कुन्दकुन्द और उमास्वाति—उमास्वाति के 'तत्त्वार्थसूत्र' और कुन्दकुन्द के 'प्रवचनसार' मे 'स्थानागसूत्र' (२।१।७१) की तरह ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष विभाग स्पष्ट हैं। इनके युग मे ज्ञान की सत्यासत्यता का आधार तथा लौकिक प्रत्यक्ष को परोक्ष कहने की परम्परा जैसी-की-तैसी चालू रही। कुन्दकुन्द के 'प्रवचनसार' और 'पचास्तिकाय' ग्रथ तर्कगर्भ आगमिक शैली के सुन्दर नमूने हैं। इनके युग की भी उत्तरावधि चौथी शताब्दी तक मानी जा सकती है।

समन्तभद्र-सिद्धसेन—जब बौद्धदर्शन मे नागार्जुन, वसुबन्धु, असग तथा बौद्धन्याय के पिता दिडनाग का युग आ गया और दर्शनशास्त्रियो में बौद्धदार्शनिको के प्रबल तर्क-प्रहारो से बैचैनी पैदा हो रही थी, वह एक तरह से दर्शनशास्त्र के तार्किक अश या परपक्षखडन अश का प्रारभकाल था। उस समय जैनपरम्परा मे सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समन्तभद्र का उदय हुआ। इनके सामने आगमिक परिभाषाओ और शब्दो को तर्कशास्त्र के चौखटे में बैठाने का महत्त्वपूर्ण कार्य था। इस युग मे जो धर्म सस्था प्रतिवादियो के आक्षेपो का निराकरण कर स्वदर्शन प्रभावना नही कर सकती थी उसका अस्तित्व ही खतरे मे था। अत परचक्र से रक्षा के लिए अपना दुर्ग स्वत सवृत करने के महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रारभ इन दो आचार्यों ने किया।

दिड्नाग ने बौद्धन्याय मे प्रवेश पाने के लिए 'न्यायप्रवेश' ग्रथ तथा 'प्रमाणसमुच्चय' आदि प्रकरणो की रचना की। सिद्धसेन दिवाकर ने जैनन्याय का अवतार स्वरूप 'न्यायावतार' ग्रथ तथा 'सन्मतितर्क' और 'द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशतिका' की रचना की। इन्होने 'न्यायावतार' में प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद करके परोक्ष का वर्णन अनुमान और आगम इन दो विभागो मे किया। अर्थात् इनके मत से साख्य परम्परा की तरह प्रत्यक्ष, अनुमान और

---

[1] त० सू० १।६ [2] त० सू० ५।३० [3] त० सू० ५।३२ [4] त० सू० ५।३८

आगम ये तीन प्रमाण फलित होते हैं। यह प्रमाणत्रित्ववाद सिद्धसेन दिवाकर से प्रारभ हुआ और यही तक सीमित रहा। उत्तरकालीन आचार्यो ने इसे नही अपनाया। इन्होंने न्यायावतार के प्रथम श्लोक मे ही ज्ञान की प्रमाणता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान मे 'मेयविनिश्चय' बताया है। अर्थात् जो ज्ञान पदार्थो का यथार्थ निश्चय करे वह प्रमाण, अन्य अप्रमाण।

स्वामी समन्तभद्र ने 'आप्तमीमासा' (का० ६७) मे 'बुद्धि और शब्द की प्रमाणता और अप्रमाणता बाह्यार्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से होती है, यह लिखा है। अर्थात् जिस बुद्धि के द्वारा प्रतिभासित पदार्थ ठीक उसी रूप में उपलब्ध हो जाय वह प्रमाण अन्य अप्रमाण। इस तरह सिद्धसेन और समन्तभद्र के युग मे ज्ञान की सत्यता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान मे मेयविनिश्चय या अर्थाप्त्यनाप्ति---अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति---बनी।

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण (वि० ७वी शताब्दी) ने लौकिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को जिसे अभी तक परोक्ष ही कहा जाता था और इससे एक प्रकार से लोक व्यवहार मे असमजसता आती थी, अपने 'विशेषावश्यकभाष्य (गा० ९५) मे सव्यवहारप्रत्यक्ष सज्ञा दी, अर्थात् आगमिक परिभाषा के अनुसार यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष ही है, पर लोकव्यवहार के निर्वाहार्थ इन्द्रियजन्य ज्ञान को सव्यवहारप्रत्यक्ष कह सकते हैं। इस तरह आगमिक तथा दर्शनान्तरीय एव लौकिक परम्परा का समन्वय किया गया।

भट्टारक अकलङ्कदेव ने (वि० ८वी), जो सचमुच ही जैन प्रमाणशास्त्र के सजीव प्रतिष्ठापक कहे जाते हैं अपने 'लघीयस्त्रय' (का० ३, १०) मे प्रथमत प्रमाण के दो भेद करके फिर प्रत्यक्ष के स्पष्टत मुख्यप्रत्यक्ष और सव्यवहार प्रत्यक्ष ये दो भेद किये हैं। और परोक्ष प्रमाण के भेदो में स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाँच को स्थान दिया। इस तरह प्रमाण शास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा यहाँ से प्रारभ होती है।

'अनुयोगद्वार' 'स्थानाग' और 'भगवतीसूत्र' मे प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, और आगम इन चार प्रमाणो का निर्देश है। यह परम्परा न्यायसूत्र की है। पर तत्त्वार्थाधिगमभाष्य मे इस परम्परा को 'नयवादान्तरेण' कहकर जैन परम्परा के रूप मे स्पष्ट स्वीकार नही किया है, और न उत्तरकालीन किसी जैनतर्कग्रथ मे इसका कुछ भी विवरण या निर्देश ही है। समस्त उत्तरकालीन जैनदार्शनिको ने अकलकदेव द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाणपद्धति को पल्लवित और पुष्पित करके जैनन्यायाराम को सुवासित किया है।

उपायतत्त्व

उपायतत्त्व में महत्त्वपूर्ण स्थान नय तथा स्याद्वाद का है। नय एक जैन पारिभाषिक शब्द है जो सापेक्ष दृष्टि का नामान्तर है। स्याद्वाद, भाषा का वह निर्दोष प्रकार है जिसके द्वारा वस्तु के परिपूर्ण या यथार्थरूप के अधिक से अधिक समीप पहुँचा जा सकता है। मै पहिले लिख आया हूँ कि भगवान् महावीर ने वस्तु के अनन्त धर्मात्मक विराट्रूप के दर्शन किये और उन्हे उस समय के प्रचलित सभी सद्वाद और असद्वाद या अनिर्वचनीय आदि वाद वस्तु के एक-एक अश को स्पर्श करने वाले प्रतीत हुए। यहाँ तक तो ठीक था, पर जब महावीर ने उन वादियो को अपने-अपने वाद की सत्यता को चौराहो पर उद्घोषण कर दूसरो का प्रतिक्षेप करते देखा तो उनका तत्त्वद्रष्टा अहिंसक हृदय इस अज्ञान एव हिंसा से अनुकपित हुआ। उन्होंने उन सब के लिए वस्तु के विराट्स्वरूप का निरूपण किया। कहा, देखो, वस्तु के अनन्तधर्म हैं, लोगो का ज्ञान स्वल्प है, वह वस्तु के एक अश को स्पर्श करता है, अपने दृष्टिकोण को ही सत्य मान कर या अपने ज्ञान पल्वल मे वस्तु के अनन्तरूप को समाया समझकर दूसरे वादी के दृष्टिकोण का प्रतिक्षेप करना मिथ्यात्व है। उसका भी दृष्टिकोण वस्तु के दूसरे अश को स्पर्श करता है। अत अपनी-अपनी दृष्टि में पूर्ण-सत्य का मिथ्या अहकार करके दूसरो के प्रति असत्यता का आरोप करके उनसे हिसक व्यवहार करना तत्त्वज्ञो का कार्य नही है। उसके स्वरूप का वर्णन करने वाली प्रत्येक दृष्टि नय है और वह अपने में उतनी ही सत्य है जितनी कि उसकी विरुद्ध दृष्टि। शर्त यह है कि कोई भी दृष्टि दूसरी दृष्टि का प्रतिक्षेप न करे उसके प्रति सापेक्ष भाव रक्खे।

यह नयदृष्टि विचार का निर्दोषप्रकार है तथा स्याद्वाद भाषा की समता का प्रतीक है। स्याद्वाद मे 'स्यात्' शब्द एक 'निश्चितदृष्टिकोण' का प्रतिपादन करता है अर्थात् अमुक निश्चित दृष्टिकोण से वस्तु सत् है अमुक निश्चित दृष्टिकोण से असत्। स्यात् को शायद का पर्यायवाची कहकर उसे ढुलमुल यकीनी की कक्षा मे डालना उसके ठीक स्वरूप के अज्ञान का फल है। मालूम होता है शकराचार्य जी ने भी स्यात् और शायद को पर्यायवाची समझकर उसमें सशय दूषण देने का विफल प्रयास किया है। भगवतीसूत्र मे हम "सिय अत्थि, सिय णत्थि, सिय अवत्तव्व' इन तीन भगो का निर्देश पाते है। अर्थात् वस्तु एक दृष्टिकोण से सत् है, दूसरे दृष्टिकोण से असत् तथा तीसरे दृष्टिकोण से अवक्तव्य। वस्तुत मनुष्य एक विराट् अखड अनन्त वस्तु को पहिले सद्रूप से वर्णन करने का प्रयत्न करता है और देखता है कि उसकी दूसरी बाजू अभी वर्णन में नही आई तब उसका असद्रूप से विवेचन करता है। पर जब वह देखता है कि सद् और असत् जैसे अनन्त विरोधी धर्मों की लहरे वस्तु के असीम समुद्र में लहरा रही है जिन्हें एक साथ वर्णन करना वचनो की शक्ति के बाहर है तो वह कह उठता है 'यतो वाचो निवर्तन्ते'। इस तरह वस्तु का परिपूर्णरूप अवक्तव्य है, उसका एक-एक रूप से आशिक वर्णन होता है। जैनदर्शन मे अवक्तव्य को भी एक दृष्टि माना है, जिस प्रकार वक्तव्य को।

आ० कुन्दकुन्द के पचास्तिकाय में सर्वप्रथम सत् असत् अवक्तव्य के सयोग से बनने वाले सात भगो का उल्लेख है। इसे सप्तभगीनय कहते है। स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमासा मे इसी सप्तभगी का अनेक दृष्टियो से विवेचन है। उसमें सत् असत्, एक अनेक, नित्य अनित्य, द्वैत अद्वैत, दैव पुरुषार्थ आदि अनेक दृष्टिकोणो का जैनदृष्टि से सुन्दर समन्वय किया है। सिद्धसेन के सन्मतितर्क मे अनेकान्त और नय का विशद वर्णन है। इन युगप्रधान आचार्यो ने उपलब्ध समस्त जैनेतर दृष्टियो का नय या स्याद्वाद दृष्टि से वस्तुस्पर्शी समन्वय किया। दैव और पुरुषार्थ का जो विवाद उस समय दृढमूल था, उसके विषय में स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमासा (७वाँ परिच्छेद) में हृदयग्राही सापेक्ष विवेचन किया है। उन्होने लिखा है कि कोई भी कार्य न केवल दैव से होता है और न केवल पुरुषार्थ से। दोनो रस्सियो से दधिमथन होता है। हाँ, जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के अभाव मे फलप्राप्ति हो, वहाँ दैव को प्रधान मानना चाहिए तथा पुरुषार्थ को गौण तथा जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से कार्यसिद्धि हो वहाँ पुरुषार्थ प्रधान तथा दैव गौण। किसी एक का निराकरण नही किया जा सकता इन मे गौण मुख्यभाव है। इस तरह सिद्धसेन और समन्तभद्र के युग में नय, सप्तभगी, अनेकान्त आदि जैनदर्शन के आधारभूत पदार्थों का सागोपाग विवेचन हुआ। इन्होने उस समय के प्रचलित सभी वादो का नयदृष्टि से जैन दर्शन में समन्वय किया। और सभी वादियो में परस्पर विचार सहिष्णुता और समता लाने का प्रयत्न किया। इसी युग मे न्यायभाष्य, योगभाष्य, शाबरभाष्य आदि भाष्य रचे गए है। यह युग भारतीय तर्कशास्त्र के विकास का प्रारभयुग था। इसमें सभी दर्शन अपनी अपनी तैयारियाँ कर रहे थे। अपने अपने तर्कशास्त्र रूपी शस्त्र पैना कर रहे थे। सबसे पहिला आक्रमण बौद्धो की ओर से हुआ जिसमे मुख्य सेनापति का कार्य आचार्य दिङनाग ने किया। इसी समय वैदिक दार्शनिक परम्परा मे न्यायवार्तिककार उद्योतकर, मीमासाश्लोकवार्तिककार कुमारिलभट्ट आदि हुए। इन्होने वैदिकदर्शन के सरक्षण मे पर्याप्त प्रयत्न किया। इसके बाद (वि० ६वी सदी) पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि तथा मल्लवादि ने नयचक्र नामक महान् आकर ग्रथ बनाए। नयचक्र में नय के विविधभगो द्वारा जैनेतर दृष्टियो के समन्वय का सफल प्रयत्न हुआ। यह ग्रथ आज मूलरूप मे उपलब्ध नही है। इसकी सिंहगणि क्षमाश्रमण की टीका मिलती है। इसी युग मे सुमति, श्रीदत्त, पात्रस्वामि आदि आचार्यों ने जैनन्याय के विविध अगो में स्वतन्त्र तथा व्याख्यारूप ग्रथो का निर्माण किया।

वि० ७वी ८वी सदी दर्शनशास्त्र के इतिहास में विप्लव का युग था। इस समय नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति का सपरिवार उदय हुआ। शास्त्रार्थों की धूम थी। धर्मकीर्ति तथा उनकी शिष्यमडली ने प्रबल तर्कबल से वैदिक दर्शनो पर प्रचड प्रहार किए। जैनदर्शन पर भी आक्षेप किए जाते थे। यद्यपि अनेक मुद्दो मे जैनदर्शन और बौद्धदर्शन समानतन्त्रीय थे पर क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि

ज्ञेय तत्त्व

जैनदर्शन में प्रमेयतत्त्व ६ हैं। १ जीव, २ पुद्गल, ३ धर्म, ४ अधर्म, ५ आकाश, ६ काल। जीव अनन्त हैं ज्ञानदर्शन सुख आदि उनके स्वभावभूत गुण हैं, यह मध्यम परिमाण वाला या शरीरपरिमाण वाला है, कर्त्ता है, भोक्ता है। रूप रस गंध स्पर्श वाले सभी पदार्थ पुद्गल हैं। ये पुद्गल अणुरूप हैं, अनन्त हैं। जीव पुद्गल को गति का माध्यम धर्मद्रव्य तथा स्थिति का माध्यम अधर्मद्रव्य होता है। ये लोकपरिमाण हैं, एक एक द्रव्य हैं, अमूर्तीक हैं। आकाश अनन्त है, अमूर्तीक है। काल अणुरूप असंख्यात द्रव्य हैं। श्वे० परम्परा में कुछ आचार्य कालद्रव्य को नहीं मानते। इस तरह प्रमेय तत्त्वों का प्रारंभ से ही एक जैसा निरूपण सभी दार्शनिक ग्रंथों में है। जैन लोग महावीर की आद्य उपदेश वाणी "उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" के अनुसार प्रत्येक द्रव्य में पर्याय-अवस्था की दृष्टि से उत्पाद और व्यय तथा द्रव्यमूल अस्तित्व की दृष्टि से ध्रौव्य स्वीकार करते हैं। जो भी सत् है वह परिवर्तनशील है, परिवर्तनशील होने पर भी वह अपनी मौलिकता नहीं खोता, अपना द्रव्यत्व कायम रखता है। जैसे एक पुद्गल मिट्टी के पिंड की हालत में घड़े की शकल में आया घड़ा फूटकर खपरियाँ बनी, खपरियाँ चूर्ण होकर खेत में जा पड़ी, उसके कुछ परमाणु गेहूँ बने। इस तरह अवस्थाओं में परिवर्तन होते हुए भी मूल अणुत्व का नाश नहीं हुआ। यही परिणाम जैनियों के प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप है। गीता का यह सिद्धान्त—"नाऽसतो विद्यते भावः नाभावो विद्यते सतः" अर्थात् असत् का उत्पाद नहीं और सत् का सर्वथा अभाव नहीं होता। इसी परिणामवाद को सूचित करता है। जगत् में कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं होता जितने द्रव्य हैं उनमें से एक अणु का भी सर्वथा विनाश नहीं होता। उनकी अवस्थाओं में परिवर्तन होते रहते हैं एक दूसरे के संयोग से विचित्र प्रकार के भौतिक अभौतिक परिवर्तन हमारी दृष्टि से छिपे नहीं हैं। इस तरह उत्पाद-व्यय ध्रौव्यवाद या परिणामवाद जैनतार्किकों को प्रारंभ से ही इष्ट रहा है और इसी का द्रव्यपर्यायवाद, गुणपर्यायवाद आदि नामों से प्रत्येक ग्रंथ में उत्कट समर्थन है। नयदृष्टि में पर्यायदृष्टि से बौद्धों के क्षणिकवाद का तथा द्रव्यदृष्टि से सांख्यों के कूटस्थनित्यवाद तक का समन्वय जैनाचार्यों ने किया है। यहाँ तक कि चार्वाक मत का भी संग्रह किया गया है। साराश यह कि जैनाचार्यों ने यद्यपि परपक्ष का खंडन किया है फिर भी उनमें समन्वय की अहिंसक उदारता बराबर जागृत रही, जो भारत के अन्य दार्शनिकों में कम देखी जाती है। इसी समन्वयशालिता के कारण उन्होंने नयदृष्टि या स्याद्वाद के द्वारा प्रत्येक मत का समन्वय कर अपनी विशाल दृष्टि तथा तटस्थता का परिचय दिया है।

मूलत जैन धर्म आचारप्रधान है, इसमें तत्त्वज्ञान का उपयोग भी आचारशुद्धि के लिए ही है। और यही कारण है कि तर्कशास्त्र जैसे शास्त्र का उपयोग भी जैनाचार्यों ने समन्वय और समता के स्थापन में किया। इसका अनेकान्तवाद या स्याद्वादमति सहिष्णुता की ही प्रेरणा देता है। दार्शनिक कटाकटी के युग में भी इस प्रकार की समता उदारता तथा एकता के लिए प्रयोजक समन्वय दृष्टि का कायम रखना अहिंसा के पुजारियों का ही कार्य रहा। इस स्याद्वाद के स्वरूप निरूपण तथा प्रयोग करने के प्रकारों का विवेचन करने के लिए भी जैनाचार्यों ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं। इस तरह दार्शनिकएकता स्थापित करने में जैन दर्शन का अद्भुत और स्थायी प्रयत्न रहा है। इस जैसी उदार सूक्तियाँ अन्यत्र कम मिलती हैं। यथा—

"भवबीजाङ्कुरजलदा रागाद्या क्षयमुपागता यस्य। ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥"

अर्थात् जिसके संसार को पुष्ट करने वाले रागादि दोष विनष्ट हो गए हैं चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन, उसे नमस्कार हो।

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥"

अर्थात् मुझे महावीर से राग नहीं है और न कपिल आदि से द्वेष, जिसके भी युक्तियुक्त वचन हों उनकी शरण जाना चाहिए। (लोक तत्त्वनिर्णय)

काशी]

स्याद्वाद और सप्तभंगी

पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

ससार मे समय-समय पर कुछ ऐसे महापुरुष जन्म लेते है, जो इस दृश्यमान जगत् के माया-जाल में न फँस कर उनके भीतर छिपे हुए सत्य का रहस्योद्घाटन करने के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर देते है। सत्य को जानना और जनता मे उसका प्रचार करना ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य होता है, किन्तु उनमे से बिरले ही पूर्ण सत्य तक पहुँचने मे समर्थ होते है। अधिकाश व्यक्ति सत्य के एक अश को ही पूर्ण सत्य समझ भ्रम मे पड कर अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार ससार में दो तरह के उपदेष्टा पाये जाते है—एक पूर्णदर्शी और दूसरे अपूर्णदर्शी या एकाश-दर्शी। पूर्णदर्शी के द्वारा प्रकाशित सत्य ही 'अनेकान्तवाद' के नाम से ख्यात होता है, क्योकि जो पूर्ण है वह अनेकान्त है और जो अनेकान्त है वही पूर्ण है—पूर्णता और अनेकान्तता का अभेद्य सबध है। इसके विपरीत, एकान्तदर्शी जिस सत्याश का प्रकाशन करता है वह एकान्त है, अत अपूर्ण है—सत्य होते हुए भी असत्य है। कारण, सत्य के एक अश का दर्शी मनुष्य तभी आशिक सत्यदर्शी कहा जा सकता है जब वह उसे आशिक सत्य के रूप में स्वीकार करे। यदि कोई मनुष्य वस्तु के एक अश को ही पूर्ण वस्तु सिद्ध करने की धृष्टता करता है तो न तो वह सत्यदर्शी है और न सत्यवादी ही कहा जा सकता है।

सत्य का जानना जितना कष्ट साध्य है, उसका प्रकाशित करना भी अधिक नही तो उतना ही कठिन अवश्य है। इस पर भी यदि वह सत्य अनेकान्त रूप हो—एक ही वस्तु मे अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि विरोधी कहे जाने वाले धर्मो को स्वीकार करता हो, भिन्न-भिन्न अशो का सुन्दर रूप में समन्वय करने में तत्पर हो तो वक्ता की कठिनाइयाँ और भी बढ जाती है। उक्त कठिनाइयो के होते हुए भी यदि सत्य को प्रकाशित करने के साधन पर्याप्त हो तो उनका सामना किसी तरह किया जा सकता है, किंतु साधन भी पर्याप्त नही है। कारण, शब्द एक समय में वस्तु के एक ही धर्म का आशिक व्याख्यान कर सकता है।

सत्य को प्रकाशित करने के एकमात्र साधन शब्द की इस अपरिहार्य कमजोरी को अनुभव करके पूर्णदर्शी महापुरुषो ने स्याद्वाद का आविष्कार किया।

शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है। इसलिए वक्ता वस्तु के अनेक धर्मो मे से किसी एक धर्म की मुख्यता से वचन प्रयोग करता है, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वह वस्तु सर्वथा उस एक धर्म स्वरूप ही है। अत यह कहना बेहतर होगा कि यहाँ पर विवक्षित धर्म की मुख्यता और शेष धर्मो की गौणता है। इसीलिए गौण धर्मों का द्योतक "स्यात्" शब्द समस्त वाक्यो के साथ गुप्त रूप से सम्बद्ध रहता है। 'स्यात्' शब्द का अभिप्राय "कथचित्" या 'किसी अपेक्षा से' है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के इस वाक्य से प्रकट है—"स्याद्वाद सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधि." (—आप्त मीमासा)

भगवान् महावीर ने अपने अनुपम वचनो के द्वारा पूर्ण सत्य का उपदेश किया और उनका उपदेश ससार में 'श्रुत' के नाम से ख्यात हुआ। भगवान् महावीर के उपदेश का प्रत्येक वाक्य 'स्यात्' 'कथचित' या 'किसी अपेक्षा' से होता था, क्योकि उसके बिना पूर्ण सत्य का प्रकाशन नही हो सकता। अत उनके उपदेश 'श्रुत' को आचार्य समन्तभद्र ने स्याद्वाद' के नाम से सबोधित किया है।

---

[1] "स्याद्वादकेवलज्ञाने वस्तुतत्त्वप्रकाशने।
भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतम भवेत्" ॥ —आप्तमीमासा

श्रुत[1] उपदेश या वाक्य तीन प्रकार का होता है, स्याद्वाद श्रुत, नयश्रुत, और मिथ्याश्रुत ।

स्याद्वादश्रुत[2]—एक धर्म के द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु का बोध कराने वाले वाक्य को कहते हैं। यह वाक्य अनेक धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करता है। इसलिए इसे सकलादेश[3] भी कहते हैं और अनेक धर्मात्मक वस्तु का ज्ञाता ही ऐसे वाक्य का प्रयोग कर सकता है। इसलिए उसे प्रमाणवाक्य[4] भी कहते हैं, क्योकि जैनदर्शन मे अनेक धर्मात्मक वस्तु का सच्चा ज्ञान ही प्रमाण[5] कहा जाता है।

नयश्रुत—अनेक धर्मात्मक वस्तु के एक धर्म का बोध कराने वाले वाक्य को कहते हैं। इसे विकलादेश[6] या नयवाक्य भी कहते हैं। ऐसे वाक्य के प्रयोग करने वाले वक्ता का ज्ञान 'नय' कहलाता है, क्योकि वस्तु के एकाश-ग्राही ज्ञान को नय कहते हैं।

मिथ्याश्रुत—वस्तु मे किसी एक धर्म को मान कर, अन्य प्रतिपक्षी धर्मों का निराकरण करनेवाले वाक्य को कहते हैं। ऐसे वाक्य के प्रयोग करने वाले वक्ता का ज्ञान 'दुर्नय' कहलाता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या ज्ञान एकाशग्राही और शब्द अनेक धर्मात्मक वस्तु का वाचक हो सकता है ? विचार करने पर दोनो ही बाते असगत जान पडती हैं—न तो ज्ञान एकाशग्राही हो सकता है और न एक शब्द एक समय मे अनेक धर्मात्मक वस्तु का वाचक।

प्रमाण और नय

प्र०—अनेक धर्मात्मक वस्तु के ज्ञान को 'प्रमाण' कहते हैं और एक धर्म के ग्रहण करनेवाले ज्ञान को 'नय' कहते हैं। तब आप ज्ञान का एकाशग्राही होना कैसे अस्वीकार करते है।

उ०—प्रमाण और नय की व्यवस्था सापेक्ष है। प्रमाण के दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ। मतिज्ञान स्वार्थ प्रमाण है। इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते है। यथार्थ में कोई भी इन्द्रिय-जन्य ज्ञान पूर्ण वस्तु को विषय नही कर सकता। चक्षू रूप के द्वारा वस्तु को जानती है, रसना रस के द्वारा और घ्राण गन्ध के द्वारा। फिर भी जैन दर्शन मे इन ज्ञानो को प्रमाण यानी अनेक धर्मात्मक वस्तु का ग्राही कहा जाता है। इसका कारण ज्ञाता की दृष्टि है। एक धर्म को जानते हुए भी ज्ञाता की दृष्टि, वस्तु के अन्य धर्मों की ओर से उदासीन नही हो जाती। कारण, बुद्धिमान ज्ञाता जानता है कि इन्द्रियो मे इतनी शक्ति नही है कि वे एक समय में वस्तु के अनेक धर्मों का प्रतिभासन करा सकें। यदि ज्ञाता इन्द्रियो की इस अशक्ति को ध्यान मे न रख कर इन्द्रिय वस्तु के जिस धर्म का बोध कराती है केवल उसी एक धर्म को पूर्ण वस्तु समझ लेता है तो उसका ज्ञान अप्रमाण कहा जाता है।

जब ज्ञाता शब्दो के द्वारा दूसरो पर अपने ज्ञान को प्रकट करने के लिए तत्पर होता है तब उसका वह शब्दोन्मुख अस्पष्ट[7] ज्ञान स्वार्थ[8] श्रुतप्रमाण कहा जाता है और ज्ञाता जो वचन बोलता है वे वचन परार्थश्रुत कहे जाते हैं। श्रुतप्रमाण के ही भेद नय[9] कहलाते हैं।

---

[1] "इह त्रिविध श्रुत-मिथ्याश्रुत, नयश्रुत, स्याद्वादश्रुतम्"—न्यायावतार टी०, पृ० ९३

[2] "सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते"।—न्यायावतार, कारि० ३०

[3] 'स्याद्वाद सकलादेश'—लघीयस्त्रय। [4] 'सकलादेश प्रमाणवाक्यम्'। —श्लोकवार्तिक पृ० १८१

[5] 'अर्थस्यानेकरूपस्य धी प्रमाण'।—अष्टशती। [6] 'विकलादेशो नयवाक्यम्'।—श्लो० वा०, पृ० १३७।

[7] "जैनदर्शन में इन्द्रियजन्यज्ञान को अस्पष्ट कहा जाता है।

[8] "प्राङ्नामयोजनाच्छेष श्रुत शब्दानुयोजनात्"। —लघीयस्त्रय

"न केवल नामयोजनात्पूर्वं यदस्पष्टज्ञानमुपजायते तदेव श्रुत, किन्तु शब्दानुयोजनाच्च यदुपजायते तदपि सगृहीत भवति"।—न्यायकुमुदचन्द्रोदय।

[9] "श्रुत स्वार्थं भवति परार्थं च, ज्ञानात्मक स्वार्थं वचनात्मक परार्थं, तद्भेदा नया"।—सर्वार्थसिद्धि

जिस प्रकार एक इन्द्रिय एक समय में वस्तु के अनेक धर्मों का बोध नहीं करा सकती, उसी प्रकार एक शब्द एक समय में वस्तु के अनेक धर्मों का बोध नहीं करा सकता। इसलिए वक्ता किसी एक धर्म का अवलंबन लेकर ही वचनव्यवहार करता है। यदि वक्ता एक धर्म के द्वारा पूर्ण वस्तु का बोध कराना चाहता है तो उसका वाक्य 'प्रमाण वाक्य' कहा जाता है। और यदि एक ही धर्म का बोध कराना चाहता है—शेष धर्मों से उसकी दृष्टि उदासीन है तो उसका वाक्य 'नयवाक्य' कहा जाता है।

प्रमाणवाक्य और नयवाक्य

जैसे प्रमाण और नय की व्यवस्था सापेक्ष है, ज्ञाता की दृष्टि पर निर्भर है, उसी तरह प्रमाणवाक्य और नयवाक्य की व्यवस्था भी सापेक्ष है—वक्ता की विवक्षा पर अवलम्बित है। इस अपेक्षावाद को यदि दूर कर दिया जाय तो प्रमाणवाक्य किसी भी हालत में नहीं बन सकता। प्रमाणवाक्य की कल्पना तो दूर की बात है। यथार्थ में प्रमाण का विषय वचन के अगोचर है, अवक्तव्य है। अथवा हम उसे अवक्तव्य भी नहीं कह सकते, क्योंकि अवक्तव्य भी वस्तु का एक धर्म है। अत यह कहना उचित होगा कि प्रमाण मूक है और उसका विषय स्वसवेद्य है। कैसे ? सुनिए—वस्तु, परस्पर विरोधी कहे जाने वाले अनेक धर्मों का अखड पिंड है जो प्रमाण का विषय है। ससार में एक भी ऐसा शब्द नहीं मिलता, जो उस अनेक धर्मों के पिंड को, जैसे ज्ञान एक समय में एक साथ जान लेता है उस तरह, एक समय में एक साथ प्रतिपादन कर सके। 'सत्' शब्द केवल अस्तित्व धर्म का ही प्रतिपादन करता है। 'द्रव्य' शब्द केवल द्रव्य की ओर ही सकेत करता है, पर्याय की ओर से उदासीन है। इसी लिए सत् और द्रव्य सग्रह नय के विषय कहे जाते हैं। इसी तरह घट पट आदि शब्द भी घटत्व और पटत्व की ओर ही सकेत करते हैं शेष धर्मों के प्रति मूक हैं। इसी से इन्हे व्यवहार नय का विषय कहा जाता है। अधिक क्या कहें—जितना भी शब्द व्यवहार है वह सब नय है। इसी से सिद्धसेन दिवाकर ने नयो के भेद बतलाते हुए कहा है[1]—"जितना वचन व्यवहार है और वह जिस जिस तरह से हो सकता है वह सब नयवाद है।" श्रुतज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञानो का स्वार्थ प्रमाण यानी मूक कहा जाना भी उक्त समस्या पर अच्छा प्रकाश डालता है। वचन व्यवहार, जो नयवाद है, श्रुत प्रमाण में ही होता है। इसी लिए नयो को श्रुत प्रमाण के भेद कहा जाता है।

आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमासा में केवल नय सप्तभगी का वर्णन किया है। प्रमाण सप्तभगी का वर्णन नहीं किया और अन्त में लिख दिया—[2]"एकत्व अनेकत्व आदि विकल्पो में भी, नय विशारद को उक्त सप्तभगी की योजना उचित रीति से कर लेनी चाहिए'। इसी तरह सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतितर्क के नयकाण्ड में नयसप्तभगी का ही वर्णन किया है। स्याद्वाद और सप्तभगीवाद की जो कुछ रूपरेखा वर्तमान में उपलब्ध है उसका श्रेय इन्हीं दोनो आचार्यों को प्राप्त है। अत उक्त दो महान् आचार्यों के द्वारा प्रमाण सप्तभगी का वर्णन न किया जाना रहस्य से खाली नहीं कहा जा सकता। किन्तु एक बात अवश्य है। दोनो आचार्यों के ग्रथो का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर प्रमाण सप्तभगी के बीजभूत[3] वाक्यो का कुछ आभास सा होता है। अकलकदेव सरीखे प्रमाण नय विशारद की दृष्टि से यह विशकलित वाक्याश कैसे छिप सकते थे ? हमारा मत है कि उपलब्ध दिगबर जैन साहित्य में प्रमाण सप्तभगी का सर्वप्रथम स्पष्ट निर्देश करने का श्रेय भट्टाकलक को ही प्राप्त है।

---

[1] "जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया ॥" ३—४७ सन्मतितर्क।

[2] "एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्। प्रक्रिया भङ्गिनीमेना नयैर्नयविशारद" ॥२३॥

[3] "तत्त्वज्ञान प्रमाण ते युगपत् सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञान स्याद्वादनयसस्कृतम्" ॥१०१॥—आप्तमीमासा
नयानामेकनिष्ठाना प्रवृत्ते श्रुतवर्त्मनि।
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥३०॥—न्यायावतार

प्रमाणवाक्य और नयवाक्य में मौलिक भेद

प्रमाण वाक्य और नय वाक्य के प्रयोग में ज्ञाता की विवक्षा के अतिरिक्त भी कोई मौलिक भेद है या नही ? इस प्रश्न के समाधान के लिए जैनाचार्यों के द्वारा दिए गये उदाहरणो पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालना आवश्यक है ।

दिगम्बराचार्यों में, अकलकदेव राजवार्तिक[1] में और विद्यानद श्लोकवार्तिक[2] मे 'प्रमाण सप्तभगी,' और 'नयसप्तभगी' का पृथक् पृथक् व्याख्यान करते है । किन्तु दोनो वाक्यो मे एक ही उदाहरण 'स्यादस्त्येवजीव' (किसी अपेक्षा से जीव सत्स्वरूप ही है) देते है ।

किन्तु लघीयस्त्रय के स्वोपज्ञ भाष्य[3] मे वे ही अकलक देव दोनो मे जुदे-जुदे उदाहरण देते है । प्रमाण वाक्य का उदाहरण—स्याज्जीव एव (स्यात् जीव ही है) और नय वाक्य का उदाहरण—स्यादस्त्येव जीव (स्यात् जीव सत् स्वरूप ही है) है । आचार्य प्रभाचन्द्र भी[4] दोनो वाक्यो मे एक ही उदाहरण देते है—"स्यादस्ति जीवादि वस्तु" (जीवादि वस्तु कथञ्चित् सत्स्वरूप है) ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पञ्चास्तिकाय तथा प्रवचनसार मे एक-एक गाथा देकर सात भग के नाम मात्र गिना दिये है । दोनो ग्रन्थो में भगो के क्रम में तो अन्तर है ही, इसके अतिरिक्त एक दूसरा भी अन्तर है । पञ्चास्तिकाय मे 'आदेसवसेण' लिखा हुआ है जब कि प्रवचनसार मे 'पज्जायण दु केणवि' पाठ दिया गया है । प्रवचनसार के पाठ से दोनो टीकाकारो ने एवकार (ही) का ग्रहण किया है । आचार्य अमृतचन्द्र उदाहरण देते हुए, पञ्चास्तिकाय की टीका मे 'स्यादस्ति द्रव्य' (स्यात्द्रव्य है) लिखते है और प्रवचनसार की टीका मे 'स्यादस्त्येव' (कथचित है ही) लिखते है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने दो ग्रन्थो मे भिन्न-भिन्न दृष्टियो से क्यो व्याख्यान किया, इस प्रश्न का समाधान अमृतचन्द्र ने नही किया । उनके बाद के द्वितीय टीकाकार जयसेन ने इस रहस्य को खोला है। वे लिखते है[5]—'स्यादस्ति' यह वाक्य सकल वस्तु का बोध कराता है, अत प्रमाण वाक्य है । और 'स्यादस्त्येव द्रव्य' यह वाक्य वस्तु के एक धर्म का वाचक है, अत नयवाक्य है । वे और भी लिखते है[6]—'पञ्चास्तिकाय' मे 'स्यादस्ति' आदि प्रमाण वाक्य से प्रमाण सप्तभगी का व्याख्यान किया । यहाँ 'स्यादस्त्येव' वाक्य में एवकार ग्रहण किया है वह नय सप्तभगी को बतलाने के लिए कहा गया है ।

सप्तभगीतरगिणी के कर्ता भी दोनो वाक्यों में एक ही उदाहरण देते है—'स्यास्त्येव घट' (घट कथचित् सत्स्वरूप ही है) । यह तो हुआ दिगम्बराचार्यों के मतो का उल्लेख, अब श्वेताम्बराचार्यों के मत भी सुनिए ।

अभयदेवसूरि लिखते है[7]—'स्यादस्ति' (कथचित् है) यह प्रमाणवाक्य है । 'अस्त्येव' (सत्स्वरूप ही है) यह दुर्नय है । 'अस्ति' (है) यह सुनय है, किन्तु व्यवहार मे प्रयोजक नही है । "स्यादस्त्येव" (कथचित् सत्स्वरूप ही है)यह सुनय वाक्य ही व्यवहार में कारण है ।

---

[1] देखो—राजवार्तिक, पृ० १८१ । [2] देखो—श्लोकवार्तिक, पृ० १३८ ।

[3] 'स्याज्जीव एव इत्युक्ते नैकान्तविषय स्याच्छब्द, स्यादस्त्येव जीव इत्युक्ते एकान्तविषय. स्याच्छब्द.' ।

[4] देखो—प्रमेयकमलमार्तंड, पृ० २०६ ।

[5] "स्यादस्तीति सकलवस्तुग्राहकत्वात् प्रमाणवाक्य, स्यादस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेकदेशग्राहकत्वान्नयवाक्यम्" ।
—पञ्चास्तिकायटीका, पृ० ३२ ।

[6] 'पूर्वं पञ्चास्तिकाये स्यादस्तीत्यादि प्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभगी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकारग्रहण तन्नयसप्तभगीज्ञापनार्थमिति भावार्थ' ।—प्रवचनसारटीका पृ० १६२ ।

[7] "स्यादस्ति" इत्यादि प्रमाण, "अस्त्येव" इत्यादि दुर्नय, "अस्ति" इत्यादिक सुनयो न तु सव्यवहाराङ्गम्, "स्यादस्त्येव" इत्यादिस्सुनय एव व्यवहारकारणम् ।—"सम्मतितर्क" टी०, पृ० ४४६ ।

वादिदेवसूरि[1] ने 'स्यादस्त्येव सर्वं' (सब वस्तु कथंचित् सत्स्वरूप ही है) एक ही उदाहरण दिया है। [2]मल्लिषेणसूरि ने भी वादिदेव का ही अनुसरण किया है। आचार्यों के उक्त मत दो भागो मे विभाजित किये जा सकते हैं—प्रथम, जो दोनो वाक्यों के प्रयोगो में कोई अन्तर नही मानते हैं, दूसरे, जो अन्तर मानते हैं। अन्तर मानने वालो मे लघीयस्त्रय के कर्ता अकलकदेव, जयसेन तथा अभयदेवसूरि का नाम उल्लेखनीय है। किन्तु इन अन्तर मानने वालो में भी परस्पर मे मतैक्य नही है। अकलकदेव प्रमाण वाक्य और नय वाक्य दोनो मे स्यात्कार और एवकार का प्रयोग आवश्यक समझते हैं। किन्तु जयसेन और अभयदेव स्यात्कार का प्रयोग तो आवश्यक समझते हैं, पर एवकार का प्रयोग केवल नयवाक्य मे ही मानते हैं। अकलकदेव के मत से यदि जीव, पुद्गल, धर्म अधर्म, घट, पट आदि वस्तु वाचक शब्दो के साथ स्यात्कार और एवकार का प्रयोग किया जाता है तो वह प्रमाण वाक्य है, और यदि अस्ति, नास्ति, एक, अनेक आदि धर्मवाचक शब्दो के साथ उनका प्रयोग किया जाता है तो वह नयवाक्य है। इसके विपरीत जयसेन और अभयदेव के मत से किसी भी शब्द के साथ, वह शब्द धर्मवाचक हो या धर्मिवाचक हो, यदि एवकार का प्रयोग किया गया है तो वह नयवाक्य है और यदि एवकार का प्रयोग नही किया गया केवल स्यात् शब्द का प्रयोग किया गया है तो वह प्रमाण वाक्य कहा जाता है।

उक्त दो मतो मे दो प्रश्न पैदा होते हैं—

१ प्रश्न—क्या धर्मिवाचक शब्द सकलादेशी और धर्मवाचक शब्द विकलादेशी होते हैं ?

२ प्रश्न—क्या प्रत्येक वाक्य के साथ एवकार का प्रयोग आवश्यक है ?

प्रश्नो पर विचार

विद्यानन्दि स्वामी ने प्रथम प्रश्न पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—'किसी धर्म के अवलम्बन बिना धर्मी का व्याख्यान नहीं हो सकता। जीव शब्द भी जीवत्वधर्म के द्वारा ही जीववस्तु का प्रतिपादन करता है।'[3] विद्यानन्दि के मत से समस्त शब्द किसी न किसी धर्म की अपेक्षा से ही व्यवहृत होते हैं। आश्चर्य है कि अकलकदेव भी राजवार्तिक मे इसी मत का समर्थन करते हैं।[4]

दूसरे प्रश्न पर अनेक आचार्यो ने प्रकाश डाला है। प्राय अधिकाश जैनाचार्य वाक्य के साथ एवकार का प्रयोग उतना ही आवश्यक समझते हैं जितना स्यात्कार का। अत यद्यपि भिन्न-भिन्न आचार्यो के मतो पर निर्भर रह कर न तो उक्त दोनों प्रश्नों का ही ठीक समाधान हो सकता है और न प्रमाणवाक्य और नयवाक्य का निश्चित स्वरूप ही निर्धारित होता है, फिर भी वस्तु विवेचन के लिए उस पर विचार करना आवश्यक है।

यह सत्य है कि प्रत्येक शब्द वस्तु के किसी न किसी धर्म को लेकर ही व्यवहृत होता है। किन्तु कुछ शब्द वस्तु के अर्थ में इतने रूढ हो जाते हैं कि उनसे किसी एक धर्म का बोध न होकर अनेक धर्मात्मक वस्तु का ही बोध होता है। जैसे, जीव शब्द जीवनगुण की अपेक्षा से व्यवहृत होता है, किन्तु जीव शब्द के सुनने से श्रोता को केवल जीवनगुण का बोध न होकर अनेक धर्मात्मक आत्मा का बोध होता है। इसी तरह पुद्गल, काल, आकाश आदि वस्तुवाचक शब्दो के विषय मे भी समझना चाहिए। ससार मे बोलचाल के व्यवहार मे आनेवाले पुस्तक, घट, वस्त्र, मकान आदि शब्द भी वस्तु का बोध कराते हैं। ऐसी दशा मे यदि अकलकदेव के मत के अनुसार धर्मिवाचक शब्दो को सकलादेशी और धर्मवाचक शब्दो को विकलादेशी कहा जाये तो कोई बाधा दृष्टिगोचर नही होती। किन्तु यहाँ पर भी हमें सर्वथा एकान्तवाद से काम नही लेना चाहिए, धर्मीवाचक शब्द सकलादेशी ही होते हैं और धर्मवाचक शब्द विकलादेशी ही होते हैं, ऐसा एकान्त मानने से सत्य का अपलाप होगा, कारण, वक्ता धर्मिवाचक शब्द के द्वारा

---

[1] देखो—प्रमाणनय तत्त्वालोक, परिच्छेद ४ सूत्र १५, तथा परि० ७ सू० ५३।

[2] देखो—स्याद्वादमजरी, पृ० १८६।

[3] देखो—श्लोकवार्तिक पृ० १३७, कारिका ५६।

[4] देखो—राजवार्तिक, पृ० १८१, वार्तिक १८।

वस्तु के एक धर्म का भी प्रतिपादन कर सकता है और कभी एक धर्म के द्वारा पूर्ण वस्तु का भी बोध करा सकता है, क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के आधीन है। जीव शब्द केवल जीवनगुण का भी बोध करा सकता है और 'अस्ति' शब्द अस्तित्व गुण विशिष्ट पूर्ण वस्तु का भी प्रतिपादन कर सकता है। अत "धर्मिवाचक शब्द सकलादेशी ही होते है और धर्मवाचक शब्द विकलादेशी ही होते है" यह कहना असगत जान पडता है। जैसा कि हम पहिले विद्यानन्दि का मत बतला आये है, दोनो शब्द दोनो का प्रतिपादन कर सकते है।

क्या प्रत्येक वाक्य के साथ एवकार का प्रयोग आवश्यक है ?

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न एवकार के विषय मे है। एवकार वादियो का मत है कि शब्द के साथ एवकार (हिन्दी में उसे "ही" कहते है) यदि न लगाया जाये तो सुनने वाले को निश्चित अर्थ का बोध नही होता। जैसे किसीने कहा—'घट लाओ'। सुनने वाले के चित्त मे यह विचार पैदा होता है कि घट पर कोई खास जोर नही दिया गया है, अत यदि घट के बदले लोटा ले जाऊँ तब भी काम चल सकता है। किन्तु यदि 'घट ही लाओ' कहा जाये तो श्रोता को अन्य कुछ सोचने की जगह नही रहती और वह तुरन्त घट ले आता है। अत निश्चित पदार्थ का बोध कराने के लिए प्रत्येक वाक्य में अवधारण होना आवश्यक है।

इस मत पर टीका टिप्पणी करने से पहले, प्रमाण वाक्य और नय वाक्य के विषय मे, हम पाठको को एक बात बतला देना आवश्यक समझते है। प्रमाण वाक्य मे वस्तु के सब धर्मों की मुख्यता रहती है और नयवाक्य मे जिस धर्म का नाम लिया जाता है केवल वही धर्म मुख्य होता है और शेष धर्म गौण समझे जाते है। दोनो वाक्यो के इस आन्तरिक भेद को, जिसे समस्त जैनाचार्य एक स्वर मे स्वीकार करते है, दृष्टि में रख कर 'प्रमाणवाक्य में एवकार का प्रयोग होना चाहिए या नही' इस प्रश्न को मीमासा करने मे सरलता होगी।

"स्यादस्त्ये व जीव" (स्यात् जीव सत् ही है) एवकारवादियो के मत से यह प्रमाणवाक्य है। अत इसमे सब धर्मो की मुख्यता रहनी चाहिए। किन्तु विचार करने मे इस वाक्य मे सब धर्मों की मुख्यता का सूक्ष्म-सा भी आभास नही मिलता। कारण, एवकार अर्थात् 'ही' जिस शब्द के साथ प्रयुक्त होता है केवल उसी धर्म पर जोर देता है और शेष धर्मो का निराकरण करता है। इसीसे सस्कृत में उसे अवधारणक और अन्य व्यवच्छेदक के नाम से पुकारा जाता है। जब वक्ता सत् पर जोर देता है तब केवल सत् धर्म को ही प्रधानता रह जाती है, शेष धर्मों की प्रधानता को एवकार निगल जाता है। इसीसे स्वामी विद्यानन्दि ने लिखा है[1]—'स्यात्कार के बिना अनेकान्त की सिद्धि नही हो सकती, जैसे एवकार के बिना यथार्थ एकान्त का अवधारण नहीं हो सकता।' एवकार को हटा कर यदि **'स्यादस्ति जीव'** कहा जाए तो किसी एक धर्म पर जोर न होने से सब धर्मों की प्रधानता सूचित होती है और इस दशा मे हम उसे प्रमाणवाक्य कह सकते है। शायद यहाँ पर आपत्ति की जाये कि एवकार के न होने से सुनने वाले को निश्चित धर्म का बोध नही होगा। अत श्रोता अस्तित्व धर्म के साथ नास्तित्व आदि धर्मो का भी ज्ञान करने में स्वतन्त्र होगा। यह आपत्ति हमें इष्ट ही है। प्रमाणवाक्य से श्रोता को वस्तु के किसी एक अश का भान नही होना चाहिए। यह कार्य तो नय वाक्य का है। अत प्रमाणवाक्य और नयवाक्य के लक्षण की रक्षा करते हुए, हम इसी निर्णय पर पहुँचते है कि दोनो वाक्यो का आन्तरिक भेद वक्ता की विवक्षा पर अवलम्बित है। और बाह्य भेद एवकार के होने न होने से जाना जा सकता है।

जो आचार्य प्रमाण वाक्य और नय वाक्य के प्रयोग में कोई अन्तर नही मानते है उनके मत से वस्तु के समस्त गुणो में काल, आत्मा, अर्थ, गुणिदेश, ससर्ग, सम्बन्ध, उपकार और शब्द की अपेक्षा अभेदविवक्षा मान कर एक धर्म को भी अनन्त धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादक कहा जाता है।

---

[1] **"न हि स्यात्कारप्रयोगमन्तरेणानेकान्तात्मकत्वसिद्धि, एवकारप्रयोगमन्तरेण सम्यगेकान्तावधारणसिद्धि-वत्" ।—युक्त्यनुशासन टीका पृ० १०५।**

यह तो हुआ वाक्यो का शास्त्रीय विवेचन। साधारण रीति से सम्पूर्ण द्वादशाग वाणी प्रमाणश्रुत और उसका प्रत्येक अग नयश्रुत है। या प्रत्येक अग प्रमाणश्रुत है और उस अग का प्रत्येक श्रुत स्कन्ध नयश्रुत है। या सम्पूर्ण ग्रन्थ प्रमाणश्रुत है और उसका प्रत्येक वाक्य नयश्रुत है। इसी तरह वक्ता एक वस्तु के विषय में जितना विचार रखता है वह पूर्ण विचार प्रमाण है और उस विचार का प्रत्येक अश नय है।

इस तरह प्रमाण और नय की व्यवस्था सापेक्ष समझनी चाहिए।

सप्तभगीवाद

वस्तु और उसके प्रत्येक धर्म की विधि, प्रतिषेध सापेक्ष होने के कारण, वस्तु और उसके धर्म का प्रतिपादन सात प्रकार से हो सकता है। वे सात प्रकार निम्नलिखित हैं—

१—स्यादस्ति	कथचित्	है।
२—स्यात् नास्ति	,,	नही है।
३—स्यादस्ति नास्ति	,,	है और नही है।
४—स्यादवक्तव्य	,,	अवाच्य है।
५—स्यादस्ति अवक्तव्य, च	,,	है और अवाच्य है।
६—स्यान्नास्ति अवक्तव्य, च	,,	नही है और अवाच्य है।
७—स्यादस्ति, नास्ति, अवक्तव्य, च	,,	है, नही है, और अवाच्य है।

इन सातो प्रकारो के समूह को सप्तभगी कहते है। इन सात वाक्यो का मूल विधि और प्रतिषेध है[1]। इसलिए आधुनिक विद्वान् इसे विधिप्रतिषेधमूलक पद्धति के नाम से भी पुकारते है।

उपलब्ध समस्त जैन वाङ्मय मे, आचार्य कुन्दकुन्द के पचास्तिकाय और प्रवचनसार मे सबसे प्रथम सात भगी का उल्लेख पाया जाता है। जैनेतर दर्शनो मे, वैदिक दर्शन में यद्यपि अनेकान्तवाद के समर्थक अनेक विचार मिलते है और इसीलिए सत्-असत्-उभय और अनिर्वचनीय भगो का आशय भिन्न-भिन्न वैदिक दर्शनो में देखा जाता है, फिर भी उक्त सात भगो में से किसी भी भग का सिलसिलेवार उल्लेख नही है। बौद्धदर्शन मे तो स्थान स्थान पर सत्, असत्, उभय और अनुभय का उल्लेख मिलता है जो चतुष्कोटि के नाम से ख्यात है। माध्यमिकदर्शन का प्रतिष्ठापक आर्य नागार्जुन उक्त चतुष्कोटि से शून्य[2] तत्त्व की व्यवस्थापना करता है।

जैनो की आगमिक पद्धति मे वचनयोग के भी चार ही भेद किये गये है—सत्य (सत्), असत्य (असत्), उभय और अनुभय। जैन आगमिक पद्धति मे तथा बौद्धदर्शन मे जिसे अनुभय के नाम से पुकारा गया है, जैन-दार्शनिक पद्धति में उसे ही अवक्तव्य या अवाच्य का रूप दिया गया है। अत सप्तभगी के मूल स्तम्भ उक्त चार भग ही है, जिन्हे जैनो की आगमिक पद्धति तथा जैनेतर दर्शनो में स्वीकार किया गया है। शेष तीन भग, जो उक्त चार भगो के मेल से तैयार किये गये है, शुद्ध जैन दार्शनिक मस्तिष्क की उपज है।

---

[1] विधिकल्पना (१) प्रतिषेधकल्पना (२) क्रमतो विधिप्रतिषेधकल्पना (३) सह विधिप्रतिषेधकल्पना (४) विधिकल्पना, सह विधिप्रतिषेधकल्पना (५) प्रतिषेधकल्पना, सह विधिप्रतिषेधकल्पना (६) क्रमाक्रमाभ्या विधिप्रतिषेधकल्पना (७) अष्टसहस्री, पृ० १२५।

[2] "न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व माध्यमिका विदु ॥"—माध्यमिककारिका

सप्तभगी के मूल-आधार चार भगो का स्पष्टीकरण

यह सप्त भगी सुनने वाले को कुछ व्यर्थ सी जचती है, किन्तु प्रतिदिन बोलचाल की भाषा में हम जो शब्द व्यवहार करते हैं, यह उसी का दार्शनिक विकास है। यहा हम गुरु शिष्य के प्रश्नोत्तर के रूप में उस पर प्रकाश डालने हैं।

गुरु—एक मनुष्य अपने सेवक को आज्ञा देता है—'घट लाओ' तो सेवक तुरन्त घट ले आता है और जब वस्त्र लाने की आज्ञा देता है तो वह वस्त्र उठा लाता है, यह आप व्यवहार में प्रति दिन देखते हैं, किन्तु क्या कभी आपने इस बात पर विचार किया है कि सुनने वाला घट शब्द सुन कर घट ही क्यो लाता है, और वस्त्र शब्द सुन कर वस्त्र ही क्यो लाता है ?

शिष्य—घट को घट कहते है और वस्त्र को वस्त्र कहते हैं, इसलिए जिस वस्तु का नाम लिया जाता है सेवक उसे ही ले आता है।

गु०—घट को ही घट क्यो कहते है ? वस्त्र को घट क्यो नही कहते ?

शि०—घट का काम घट ही दे सकता है, वस्त्र नही दे सकता।

गु०—घट का काम घट ही क्यो देता है ? वस्त्र क्यो नही देता ?

शि०—यह तो वस्तु का स्वभाव है। इसमें प्रश्न के लिए स्थान नही है।

गु०—क्या तुम्हारे कहने का यह आशय है कि घट मे जो स्वभाव है वह वस्त्र में नही है और वस्त्र मे जो स्वभाव है वह घट मे नही है ?

शि०—हाँ, प्रत्येक वस्तु अपना जुदा-जुदा स्वभाव रखती है।

गु०—ठीक है, किन्तु अब तुम यह बतलाओ कि क्या हम घट को असत् कह सकते है ?

शि०—हाँ, घडे के फूट जाने पर उसे असत् कहते ही है।

गु०—टूट-फूट जाने पर तो प्रत्येक वस्तु असत् कही जाती है। हमारा मतलब है कि क्या घट के मौजूद रहते हुए भी उसे असत् कहा जा सकता है ?

शि०—नही, कभी नही। जो "है", वह "नही" कैसे हो सकता है ?

गु०—किनारे के पास आकर फिर बहाव मे बहना चाहते हो। अभी तुम स्वय स्वीकार कर चुके हो कि प्रत्येक वस्तु का स्वभाव जुदा-जुदा होता है और वह स्वभाव अपनी ही वस्तु मे रहता है, दूसरी वस्तु में नही रहता।

शि०—हाँ, यह तो मै अब भी स्वीकार करता हूँ। क्योकि यदि ऐसा न माना जायेगा तो आग पानी हो जायगी और पानी आग हो जायेगा। कपडा मिट्टी हो जायेगा और मिट्टी कपडा बन जायेगी। कोई भी वस्तु अपने स्वभाव में स्थिर न रह सकेगी।

गु०—यदि हम तुम्हारी ही बात को इस तरह से कहें, कि प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव से है और पर स्वभाव से नही है, तो तुम्हें कोई आपत्ति तो नही है ?

शि०—नही, इसमे किसको आपत्ति हो सकती है ?

गु०—अब फिर तुमसे पहला प्रश्न किया जाता है, क्या मौजूद घट को असत् कह सकते है ?

शि०—(चुप)।

गु०—चुप क्यो हो ? क्या फिर भी भ्रम में पड गये ?

शि०—परस्वभाव की अपेक्षा से मौजूद घट को भी असत् कह सकते है।

गु०—अब रास्ते पर आए हो। जब हम किसी वस्तु को सत् कहते है तो हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि उस वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा से ही उसे सत् कहा जाता है। पर वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा से दुनिया की प्रत्येक

वस्तु असत् है। देवदत्त का पुत्र दुनिया भर के मनुष्यो का पुत्र नही और न देवदत्त ससार भर के पुत्रो का पिता है। यदि देवदत्त अपने को ससार भर के पुत्रो का पिता कहने लगे तो उस पर वह मार पडे जो जीवन भर भुलाये से भी न भूले। क्या इसमे हम यह नतीजा नही निकाल सकते है कि देवदत्त पिता है और नही भी है। अत ससार में जो कुछ 'है', वह किसी अपेक्षा मे नही भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु हो नही सकती। इसी अपेक्षा-वाद का सूचक "स्यात्" शब्द है जिसे जैन तत्त्वज्ञानी अपने वचन व्यवहार में प्रयुक्त करता है। उसी को दार्शनिक भाषा में "स्यात् सत्" और "स्यात् असत्" कहा जाता है।

हम ऊपर लिख आये है कि शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है, अत प्रत्येक वस्तु में दोनो धर्मों के रहने पर भी वक्ता अपने अपने दृष्टिकोण से उसका उल्लेख करते है। जैसे दो आदमी सामान खरीदने के लिए बाजार जाते है। वहाँ किसी वस्तु को एक अच्छी बतलाता है, दूसरा उसे बुरी बतलाता है। दोनो मे बात बढ जाती है। तब दुकानदार या कोई राहगीर उन्हें समझाते हुए कहता है, 'भई, क्यो झगडते हो? यह चीज़ अच्छी भी है और बुरी भी है। तुम्हारे लिए अच्छी है और इनके लिए बुरी है। अपनी अपनी निगाह ही तो है'। यह तीनो व्यक्ति तीन तरह का वचन व्यवहार करते है—पहला विधि करता है, दूसरा निषेध और तीसरा दोनो।

वस्तु के उक्त दोनो धर्मों को यदि कोई एक साथ कहने का प्रयत्न करे तो वह कभी भी नही कह सकता। क्योकि शब्द एक समय मे एक ही धर्म का कथन कर सकता है। ऐसी दशा मे वस्तु अवाच्य कही जाती है। उक्त चार वचन व्यवहारो को दार्शनिक भाषा मे 'स्यात् सत्', 'स्यात् असत्', 'स्यात् सदसत्' और 'स्यादवक्तव्य' कहते है। सप्तभगी के मूल यही चार भग है। इन्ही में से चतुर्थ भग के साथ क्रमश पहले, दूसरे और तीसरे भग को मिलाने से पाँचवाँ, छठा और सातवाँ भग बनता है। किन्तु लोक व्यवहार में मूल चार तरह के वचनो का ही व्यवहार देखा जाता है।

सप्तभगी का उपयोग

सप्तभगीवाद का विकास दार्शनिक क्षेत्र मे हुआ था, इसलिए उसका उपयोग भी वही हुआ हो तो कोई आश्चर्य नही है। उपलब्ध जैन वाङ्मय मे, दार्शनिकक्षेत्र मे सप्तभगीवाद को चरितार्थ करने का श्रेय स्वामी समन्त-भद्र को ही प्राप्त है। किन्तु उन्होने 'आप्तमीमासा' में अपने समय के सदैकान्तवादी साख्य, असदैकान्तवादी माध्यमिक, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक और अवाच्यैकान्तवादी बौद्ध के दुराग्रहवाद का निराकरण करके मूल चार भगो का ही उपयोग किया है। और शेष तीन भगो के उपयोग करने का सकेत मात्र कर[1] दिया है। 'आप्तमीमासा' पर 'अष्टशती' नामक भाष्य के रचयिता श्री अकलकदेव ने उस कमी को पूरा कर दिया है। उनके मत से, शकर का अनिर्वचनीयवाद सदवक्तव्य, बौद्धो का अन्यापोहवाद असदवक्तव्य, और योग का पदार्थवाद सदसद वक्तव्य कोटि मे सम्मिलित होता है।[2]

सात भगो मे सकलादेश और विकलादेश का भेद

सप्तभगीवाद के सकलादेशित्व और विकलादेशित्व की चर्चा हम 'प्रमाण वाक्य और नय वाक्य' मे कर आए है और यह भी लिख आये है कि इसमें श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो एक मत है, किन्तु श्वेताम्बर साहित्य मे एक ऐसे मत का उल्लेख मिलता है जो सात भगो में से सत्, असत् और अवक्तव्य इन तीनो भगो को सकलादेशी

---

[1] "शेषभगाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगत"।—आप्तमीमासा

[2] विशेष जानने के लिए देखो—अष्टसहस्री, पृ० १३९।

तथा शेष चार भंगों को विकलादेशी स्वीकार करता है। विशेषावश्यक भाष्यकार[1] इसी मत के पोषक जान पड़ते हैं। किन्तु उनका यह स्वतन्त्र मत है या उन्होंने अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य से लिया है, इस विषय में हम अभी कुछ नहीं कह सकते। सन्मति तर्क के टीकाकार अभयदेवसूरि[2] उक्त मत का उल्लेख 'इति केचित्' के नाम से करते हैं। वे लिखते हैं—'उक्त तीन भंग गौणता और प्रधानता से सकल धर्मात्मक एक वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, इसलिए सकलादेश हैं और शेष चार भंग भी यद्यपि सकल धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करते हैं फिर भी सांश वस्तु के बोधक होने से विकलादेश कहे जाते हैं ऐसा किन्हीं का मत है'।

मालूम नहीं, इस मत के अनुयायी प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगी को मानते थे या नहीं? दिगम्बराचार्यों में से किसी ने भी इस मत का उल्लेख तक नहीं किया है। किन्तु एक मत का उल्लेख अवश्य मिलता है जो उक्त मत से बिलकुल विपरीत है। विद्यानन्दि तथा सप्तभंगी तरंगिणी के कर्ता ने उसका निराकरण किया है। विद्यानन्दि लिखते हैं[3]—'कोई विद्वान अनेक धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादक वाक्य को सकलादेश और एक धर्मात्मक वस्तु के प्रतिपादक वाक्य को विकलादेश कहते हैं। किन्तु ऐसा मानने से प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगी नहीं बन सकती। कारण, तीन भंग—सत्, असत् और अवक्तव्य—वस्तु के एक धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं, अतः वे विकलादेश कहे जायेंगे, और शेष चार भंग अनेक धर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, इसलिए सकलादेश कहे जायेंगे। सात भंगों में से तीन को नयवाक्य और शेष चार को प्रमाण वाक्य मानना सिद्धान्त विरुद्ध है'।

भंगों के क्रम में भेद

सप्तभंगी के विषय में एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है, वह है भंगों के क्रम में मतभेद का होना। कुछ ग्रन्थकार[4] 'अवक्तव्य' को तीसरा और 'स्यात् सदसत्' को चतुर्थ भंग स्वीकार करते हैं और कुछ[5] 'स्यात् सदसत्' को तीसरा और अवक्तव्य को चतुर्थ भंग पढ़ते हैं। इस क्रम भेद में दोनों सम्प्रदायों के आचार्य सम्मिलित हैं। कुछ आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में दोनों पाठों को स्थान दिया है। अकलंकदेव राजवार्तिक में दो स्थलों पर सप्तभंगी का वर्णन करते हैं और दोनों पाठ देते हैं। उक्त दोनों क्रमों में से मूल क्रम कौन-सा है, यह बतलाने में हम असमर्थ हैं। कारण, सात भंगों का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य कुन्दकुन्द हैं और उन्होंने अपने दो ग्रन्थों में दोनों पाठों को स्थान दिया है। ग्यारहवीं शताब्दी तक के विद्वानों ने इस क्रम भेद के विषय में एक भी शब्द नहीं लिखा है। बारहवीं शताब्दी के एक श्वेताम्बर विद्वान ने इस ओर ध्यान दिया है। वे लिखते हैं[6]—"कोई-कोई इस (अवक्तव्य) भंग को तीसरे भंग के स्थान में पढ़ते हैं और तीसरे को इसके स्थान में। इस पाठ में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि वस्तु विवेचन में कोई अन्तर नहीं पड़ता।"

---

[1] "एते त्रय सकलादेशा। चत्वारोऽपि विकलादेशाः प्रोच्यते"। विशे० भा० गा० २२३२।

[2] सन्मतितर्क टी०, पृ० ४४५, पं० ३०।

[3] श्लोकवा०, पृ० १३७, पं० १३-१७

[4] सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम, अ० ५, सू० ३१, पृ० ४०६ पं० २०, तथा पृ० ४१० पं० २६। विशेषा० भा० गा० २२३२। प्रवचनसार पृ० १६१। तत्त्वार्थराजवा० पृ० १८१।

[5] प्रमाणनय तत्त्वालोक, परि० ४, सू० १७-१८। स्याद्वाद म० पृ० १८६। नयोपदेश पृ० १२। पञ्चास्तिकाय पृ० ३०। आप्तमी० का० १४। तत्त्वा० रा० पृ० २४, वा० ५। तत्त्वा० श्लो० पृ० १२८। सप्तभ० पृ० २। प्रमेय० मा० पृ० २०६। —लेखक

[6] "अयं च भंग कैश्चित्तृतीयभंगस्थाने पठ्यते, तृतीयश्चैतस्य स्थाने। नचैवमपि कश्चिद्दोष, अर्थविशेषस्याभावात्"।—रत्नाकरावता० परि० ४, सू० १८।

यथार्थ में विधि और प्रतिषेध को क्रम से और एक साथ कथन करने की अपेक्षा से तीसरे और चौथे भग की सृष्टि हुई है। अत पहले दोनो का एक साथ कथन करके बाद को क्रम से कथन किया जाये, या पहले क्रम से उल्लेख करके पीछे एक साथ किया जाये तो वस्तु विवेचन मे कोई अन्तर दृष्टिगोचर नही होता। किन्तु अवक्तव्य को चतुर्थ भग पढने का ही अधिक प्रचार पाया जाता है। सप्तभगीवाद के खडन मे लेखनी चलाने वाले शकराचार्य और रामानुज ने भी इसी पाठ को स्थान दिया है।

स्याद्वाद और उसके फलिताश सप्तभगीवाद के विषय मे जैनाचार्यों के मन्तव्यो का दिग्दर्शन कराकर हम इस निवन्ध को समाप्त करते हैं।

काशी]
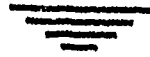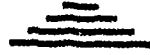
सर्वज्ञता के अतीत इतिहास की एक झलक

प० फूलचन्द्र जैन सिद्धान्तशास्त्री

तीर्थंकर सर्वज्ञ हो जाने पर ही मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, ऐसा नियम है, किन्तु मध्यकाल मे सर्वज्ञत्वके विषय में विवाद चल रहा है। अत मेरी इच्छा इसे समझने की रही है। यद्यपि दर्शन और न्याय के ग्रन्थो मे इसकी विस्तृत चर्चा मिलती है, तथापि इस विषय को समझने का मेरा दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न है। मेरी इच्छा रही है कि जैन व अन्य धर्मों मे सर्वज्ञता के विषय मे प्राचीन काल मे क्या माना जाता रहा है, इसका प्रामाणिक सकलन किया जाय। यह प्रयास उसीका फल है।

(१) जैन मान्यता और उसका कारण

जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि अनन्त गुणो का पिंड है। इसके ससारी और मुक्त ये दो भेद है। जो जन्म-मरण की बाधा से पीडित है वह ससारी और जिसके यह बाधा दूर हो गई है वह मुक्त है। मुक्त अवस्था में जीव की सब स्वाभाविक शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं, जो कि ससार-अवस्था मे कर्मो के कारण घातित रहती है। जीव के और सब गुणो मे ज्ञान मुख्य है। इसके पाँच भेद है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। यद्यपि प्रत्येक आत्मा में एक ही ज्ञान[1] है जिसे कि 'केवलज्ञान' कहते हैं, किन्तु आवरण करने वाले कर्मों के भेद से उसके पाँच भेद हो गये है। बात यह है कि आत्मा के मूल ज्ञान को केवलज्ञानावरण कर्म रोके हुए है। तो भी कुछ ऐसे अतिमन्द ज्ञानाश शेष रह जाते है जिन्हे केवलज्ञानावरण कर्म प्रकट होने से नही रोक सकता। मति-ज्ञानावरण आदि कर्म इन्ही ज्ञानाशो को आवृत करते है और इसलिए ज्ञान के पाँच भेद हो जाते है।

अन्य प्रकार से ज्ञान के दो भेद है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जिस ज्ञान की प्रवृत्ति मे आत्मा स्वय कारण है, उसे अन्य किसी बाह्य साधन की सहायता नही लेनी पडती उसे प्रत्यक्ष कहते है तथा जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है, उसे परोक्ष कहते है। यद्यपि ज्ञान मे स्वत जानने की शक्ति है, इसलिए मुख्य ज्ञान प्रत्यक्ष ही है, किन्तु ससारी अवस्था मे आवरण के कारण यह शक्ति पगु बनी रहती है। अत ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद हो जाते है।

परोक्षज्ञान के दो भेद है मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। मतिज्ञान का दूसरा नाम आभिनिबोधिकज्ञान भी है। जो अभिमुख और नियमित पदार्थों को जानता है उसे मतिज्ञान या आभिनिबोधिकज्ञान कहते है। जो पदार्थ इन्द्रिय और मन से ग्रहण करने योग्य हो वह अभिमुख अर्थ कहलाता है। यह ज्ञान नियम से ऐसे ही अर्थ को ग्रहण करता है। अत इसे आभिनिबोधिकज्ञान कहते है। सज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ता ये चारो आभिनिबोधिकज्ञान के पर्याय नाम है। आगमो मे इस ज्ञान के लिए 'आभि[2]निबोधिक' नाम मुख्य रूप से आया है। यद्यपि 'मति' इसका पर्याय-वाची है, फिर भी इस शब्द का मुख्य रूप से उपयोग पीछे से हुआ जान पडता है। सबसे पहले हम 'मतिज्ञान' शब्द का उपयोग आचार्य कुन्दकुन्द के 'नियमसार[3]' मे देखते है। तत्त्वार्थसूत्र[4] मे भी इसी शब्द का मुख्य रूप से उपयोग

---

[1] जीवो केवलणाणसहावो चेव। धवला आरा पत्र ८६६

[2] णाणावरणीयस्स कम्मस्स पच पयडीओ आभिणिबोहियणाणावरणीय—। धवला आरा पत्र ८६५।

[3] सण्णाण चउभेय मदिसुदओही ×× । गाथा १२

[4] मतिश्रुतावधि-×× । सूत्र ९

हुआ है। कुछ विद्वानो का मत है कि साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मतिज्ञान एक है, परन्तु उपर्युक्त लक्षण को देखते हुए उनका यह मत असमीचीन प्रतीत होता है। वास्तव मे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान का भेद है। मतिज्ञान के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ के निमित्त से जो अन्य पदार्थ का ज्ञान होता है, उसे **श्रुतज्ञान** कहते है। जैसे, धूम को देख कर जो अग्नि का ज्ञान होता है वह **श्रुतज्ञान** है। यह ज्ञान नियम से मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। इन्द्रियाँ वर्तमान अर्थ को ही ग्रहण करती है, किन्तु मन त्रैकालिक पदार्थों को ग्रहण करता है।

प्रत्यक्ष के तीन भेद है—**अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान**। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा लिये हुए विना किसी की सहायता के केवल मूर्तिक पदार्थों को जानता है, उसे **अवधिज्ञान** कहते है। इसके दो भेद है **भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय**। जो जन्म लेते ही प्रकट हो जाता है, वह **भवप्रत्यय अवधिज्ञान** है और जो व्रत नियम आदि के निमित्त से होता है उसे **गुणप्रत्यय अवधिज्ञान** कहते है। पहले जो परोक्ष ज्ञान के दो भेद वतलाये गये है, वे सव ससारी जीवो के होते है, किन्तु यह ज्ञान सज्ञी पचेन्द्रियो मे से कुछ के ही सम्भव है। जो दूसरे के मनोगत अर्थ को जानता है उसे **मन पर्ययज्ञान** कहते है। यह ज्ञान सयमी जीवो के ही हो सकता है, अन्य के नही। तया जो ज्ञान त्रिकालवर्ती सव पदार्थों को जानता है, उसे **केवलज्ञान** कहते है। यह ज्ञान करण, क्रम और व्यवधान से रहित है। जव यह आत्मा ज्ञान का आवरण करने वाले कर्मों का सर्वथा क्षय कर देता है तव इस ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर जीव सर्वज्ञ, अरहन्त, सयोगिकेवली, जिन और भगवान् आदि अनेक नामो से पुकारा जाता है। जैन-मतानुसार इस अवस्था के वाद ही जीव मोक्ष मार्ग के उपदेश का अधिकारी होता है। प्रकृति अनुयोगद्वार में लिखा है—

सइ भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुस्सलोगस्स आगदिं गदिं चयणोववाद वधमोक्ख इड्ढि ट्ठिदि जुदिं अणुभाग तक्क कल मण माणसिय भुत्त कद पडिसेविद आदिकम्म अरहकम्म सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावें सम्म सम जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति।

अर्थात्—"केवलज्ञान और केवलदर्शन के प्राप्त होने पर जिनदेव देवलोक, मनुष्यलोक और असुरलोक की गति और आगति का तथा चयन, उपपाद, वन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदि कर्म, अर्हकर्म, सव लोक, सव जीव और सव भाव इनको भले प्रकार एक साथ स्वय जानते और देखते हुए विहार करते है।"

स्थानागसूत्र के स्थान २ उद्देश्य १ में भी लिखा है—

'त समासओ चउव्विह पण्णत्त। त जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। तत्थ दव्वओ ण केवलणाणी सव्वदव्वाइ जाणइ पासइ। खित्तओ ण केवलणाणी सव्व खेत्त जाणइ पासइ। कालओ ण केवलणाणी सव्व काल जाणइ पासइ। भावओ ण केवलणाणी सव्वे भावे जाणइ पासइ।'

अर्थात्—"केवलज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सक्षेप से चार प्रकार का है। सो द्रव्य की अपेक्षा केवलज्ञानी सव द्रव्यो को जानता और देखता है। क्षेत्र की अपेक्षा केवलज्ञानी सव क्षेत्रो को जानता और देखता है। काल की अपेक्षा केवलज्ञानी सव कालो को जानता और देखता है तथा भाव की अपेक्षा केवलज्ञानी सव भावो को जानता और देखता है।"

यहाँ तक हमने ज्ञान, ज्ञान के भेद, उनका स्वरूप व स्वामी इन सवके विषय मे जैन मान्यता क्या है, इसका सक्षेप में सप्रमाण विचार किया। अव इस वात का विचार करते है कि जैन-परम्परा में केवलज्ञानी को सव पदार्थों का जानने और देखने वाला क्यो माना गया है? इसके लिए हमे विविध धर्मों और दर्शनो मे आत्मा के स्वरूप के विषय मे क्या लिखा है और उससे जैनधर्म की मान्यता का कहाँ तक मेल वैठता है, इसका विचार कर लेना आवश्यक है।

उपनिषदो मे आत्मा के चार स्तर[1] बतलाये है—शरीरचैतन्य, स्वप्नचैतन्य, सुषुप्तिचैतन्य और शुद्धचैतन्य। इनमे से प्रारम्भ के तीन चैतन्यों में आत्मा की उपलब्धि न होकर शुद्धचैतन्य में उसकी उपलब्धि बतलाई है, किन्तु वहाँ इस शुद्धचैतन्य का विशेष स्पष्टीकरण नही मिलता। उपनिषदो मे ब्रह्मतत्त्व की भी पर्यालोचना की गई है। वहाँ इसके दो रूप बतलाये है—सगुणब्रह्म और निर्गुणब्रह्म। सगुणब्रह्म का परिचय देते हुए लिखा है कि ब्रह्म[2] सत्य, ज्ञान तथा अनन्तरूप है तथा वह विज्ञान और आनन्दमय है। निर्गुणब्रह्म नेति पदवाच्य बतलाया है। नैयायिक और वैशेषिकों की मान्यता है कि आत्मा नित्य है और उसमें बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष आदि विशेष गुण निवास करते है। मुक्तावस्था मे उसके ये गुण नष्ट हो जाते है। साख्य आत्मा को सर्वथा नित्य और भोक्ता मानते है। बौद्ध आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को ही स्वीकार नही करते। वे उसे नामरूपात्मक मानते है। नामरूप मे वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान और रूप लिये जाते है। उनके मत मे आत्मा इन पाँचो का पुञ्जमात्र है। इस प्रकार हम देखते है कि ज्ञान और दर्शन आत्मा का स्वभाव है। इसे किसी ने स्वीकार नही किया, किन्तु जैन परम्परा ने प्रारम्भ से ही आत्मा को ज्ञायक माना है। उसका मत है कि ज्ञान और दर्शन आत्मा के अनपायी धर्म है—उनका कभी भी नाश नही होता। जैन-धर्म में जीव के दो प्रकार के गुण माने है—अनुजीवीगुण और प्रतिजीवीगुण। जिनसे जीव का जीवन कायम रहता है और जो उसे छोड कर अन्यत्र नही पाये जाते है, वे अनुजीवीगुण है। चेतना की चेतनता इन्ही गुणो मे है। जिनसे जीव का जीवन कायम नही है, किन्तु जो जीव को छोड कर अन्य द्रव्यो मे भी पाये जाते है वे प्रतिजीवीगुण है। इन अनुजीवी गुणो मे ज्ञान और दर्शन मुख्य है। यही कारण है कि प्रारम्भ से सभी शास्त्रकारो ने जीव को ज्ञान दर्शनस्वरूप मानने पर अधिक जोर दिया है। नियमसार[3] में बतलाया है कि जीव उपयोगमयी है। उपयोग के दो भेद है—ज्ञान और दर्शन। ज्ञान के भी दो भेद है—स्वभाव ज्ञान और विभावज्ञान। इन्द्रियातीत और असहाय ऐसे केवलज्ञान को स्वभावज्ञान कहते है और शेष मति आदि विभावज्ञान है। समयप्राभृत[4] मे बतलाया है कि जो साधु मोह का त्याग करके आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानता है वही साधु परमार्थ का जानकार है। कार्मिक ग्रन्थो मे कर्म के आठ भेद किये है, उनमें ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये दो स्वतन्त्र कर्म है। इससे भी जीव के ज्ञान-दर्शन स्वभाव की सिद्धि होती है।

इस प्रकार जब हम इस रहस्य को जान लेते है कि अन्य मत-मतान्तरो में जो आत्मा का स्वरूप स्वीकार किया गया है उनमे जैन धर्म की मान्यता अपनी एक विशेष मौलिकता को लिये हुए है तब हमें इस सत्य के समझने में देर नही लगती कि जैन परम्परा मे केवल ज्ञानी को सब पदार्थों का जानने और देखने वाला क्यो माना गया है? बन्धनमुक्त आत्मा की दो ही अवस्थाएँ हो सकती है। एक तो यह कि वह किसी को भी न जाने और न देखे और दूसरी यह कि वह सब को जाने और देखे। पहली अवस्था आत्मा को ज्ञान स्वभाव न मानने पर प्राप्त होती है। किन्तु तब यह प्रश्न होता है कि ससारी आत्मा के ज्ञान कैसे होता है? साख्य इसका यह उत्तर देते है कि बुद्धि स्वभावत अचेतन है और उसके निमित्त मे जो अध्यवसाय और सुखादिक उत्पन्न होते है वे भी अचेतन है, परन्तु बुद्धि के ससर्ग से पुरुष अपने को ज्ञानवान अनुभव करता है और बुद्धि अपने को चेतन अनुभव करती है तथा नैयायिक और वैशेषिक इस प्रश्न का यह उत्तर देते है कि यद्यपि ज्ञान का निवास आत्मा में ही है किन्तु जीव के मुक्त होने पर वह उससे अलग हो जाता है। ये दोनो ही उत्तर अपर्याप्त है। इनमे मूल प्रश्न का समाधान नही होता, क्योकि बुद्धि का अन्वय जिस प्रकार चेतन के साथ देखा जाता है, वैसा जड के साथ नही। दूसरी अवस्था आत्मा को ज्ञान स्वभाव

---

[1] भारतीय दर्शन पत्र ७५

[2] भारतीय दर्शन पत्र ८०

[3] गाथा १० व ११

[4] गाथा ३७

मानने पर प्राप्त होती है। चूकि जैन परम्परा में आत्मा को ज्ञान स्वभाव माना है, अत बन्धनमुक्त आत्मा सब पदार्थों का ज्ञाता और दृष्टा ही सिद्ध होता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब बन्धनमुक्त आत्मा सबको जानता और देखता है तब अविशुद्ध अवस्था मे उसे ऐसा मान लेने में क्या आपत्ति है? ऋषियो ने इसका यह समाधान किया है कि जीव मे अविशुद्धता विजातीय द्रव्य के सयोग से आती है और इसीलिए उसकी जानने की शक्ति भी पगु हो जाती है। कभी वह इन्द्रियो की सहायता से जानता है—बिना इन्द्रियो की सहायता के नही जानता। कभी वह स्थूल को जानता है—सूक्ष्म को नही जानता। आदि। किन्तु जब आवरण का अभाव हो जाता है और आत्मा की मूलशक्ति प्रकट हो जाती है तब वह वर्तमान को जानता है, भूत और भविष्यत को नही, स्थूल को जानता है सूक्ष्म को नही, अव्यवहित को जानता है व्यवहित को नही, स्व को जानता है पर को नही, यह नियम कैसे किया जा सकता है? अर्थात् नही किया जा सकता। यही कारण है कि जैन परम्परा मे केवल ज्ञानी को सबका जानने वाला और देखने वाला स्वीकार किया है।

(२) इतर धर्मो व दर्शनो मे सर्वज्ञता का स्वीकार

यहाँ तक हमने जैन मान्यता के अनुसार सर्वज्ञता और उसके कारण का विचार किया। अब हमे यह देखना है कि अन्य धर्मो या दर्शनो का सर्वज्ञता के विषय मे क्या अभिमत है?

बौद्धसाहित्य में 'धम्मपद' एक प्रकाशमान हीरा है, जिसका ससार के सभी विचारको ने आदर किया है। इसका सकलन बुद्ध भगवान के कुछ ही काल बाद हो गया था। इसमें कुल ४२३ गाथाऐ है, जो २६ वर्गों में विभक्त हैं। इसके १४वे वर्ग का नाम 'बुद्धवर्ग' है। इसकी पहली गाथा में बतलाया है कि "जिसकी[1] जीत हार मे परिणत नही हो सकती, जिसकी जीत को लोक में कोई नही पहुँच सकता, उस अपद अनन्तज्ञानी बुद्ध को तुम किस उपाय से अस्थिर कर सकोगे?" इससे स्पष्ट है कि बौद्धो ने दर्शन-युग के पहले ही सर्वज्ञता को स्वीकार किया है। धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञता की अपेक्षा जो मार्गज्ञता पर अधिक जोर दिया है, इसका कारण भिन्न है, जिसका हम यथावसर विचार करेंगे।

न्यायदर्शन में सर्वज्ञता के स्थान मे योगिज्ञान को स्वीकार किया है। वहाँ बतलाया है कि सूक्ष्म (परमाणु आदि) व्यवहित (दीवार आदि के द्वारा व्यवधान वाली) तथा विप्रकृष्ट (काल तथा देश उभयरूप से दूरस्थ) वस्तुओ का ग्रहण लोक प्रत्यक्ष के द्वारा कथमपि नही हो सकता, परन्तु ऐसी वस्तुओ का ज्ञान अवश्य होता है। अत इससे योगि-प्रत्यक्ष की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त न्यायदर्शन मे एक नित्य ईश्वर और माना है, जो नित्य सर्वज्ञ है। वैशेषिक दर्शन का मत न्यायदर्शन से मिलता हुआ है। हाँ, प्रारभ में वैशेषिक दर्शन ने नित्य ईश्वर की कल्पना पर जोर नही दिया।

योगदर्शन मे योगी चार[2] प्रकार के बतलाये हैं—प्रथमकल्पिक, मधुकल्पिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्त-भावनीय। ये योगी की क्रम से विकसित होने वाली चार अवस्थाऐं है। पहली अवस्था मे अष्टाग योग की साधना, दूसरी मे चित्तशुद्धि और तीसरी में भूतजयी तथा इन्द्रियजयी होना मुख्य है। इन तीन अवस्थाओ के बाद योगी लोग अस्मिता में प्रतिष्ठित होकर सर्वज्ञता को प्राप्त करते है। और तब जाकर अतिक्रान्त भावनीय दशा को क्रम से प्राप्त होते है। इतना ही नही, प्रत्युत इस दर्शन मे भी अनादि ईश्वर की कल्पना की गई है। यहाँ ईश्वर का अर्थ ऐश्वर्य और ज्ञान की पराकाष्ठा लिया गया है।

मीमासादर्शन में यद्यपि लौकिक ज्ञान के लिए ही आप्त पुरुष प्रमाण माना गया है, पर धर्म का कथन केवल अपौरुषेय वेद ही करते हैं। मीमासको के इस मत का क्या कारण है, इसका विचार तो हम आगे करेंगे, पर इतना

---

[1] 'यस्य जित' इत्यादि गाथा का वह अनुवाद जो भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने किया है।
[2] भारतीयदर्शन, पृष्ठ ३६७

सुनिश्चित है कि मीमामक भी सर्वज्ञता के सर्वथा विरोधी न थे, क्योकि मीमामको ने आगम के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान स्वीकार किया ही है। शवरऋषि अपने शावर भाष्य में लिखते है कि वेद के द्वारा भूत, भविष्यत, वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थो का ज्ञान किया जा सकता है।

गीताधर्म तो ईश्वर के अवतारवाद को प्रतिष्ठित करने और सजीवन देने के ही लिए लिखा गया है। अत उसके प्रत्येक वाक्य में सर्वज्ञता की झलक है, यह बात गीता के स्वाध्याय प्रेमियो से छिपी हुई नही है।

इस प्रकार जिन धर्मो या दर्शनो मे ज्ञान को आत्मा का स्वभाव नही माना है, उन्होने जब किसी-न-किसी रूप मे सर्वज्ञता को स्वीकार किया है तब जो जैन धर्म प्रारम्भ से ही केवल ज्ञान को आत्मा का स्वभाव मानता आया है, वह यदि सर्वज्ञता को स्वीकार करता है तो इसमे क्या आश्चर्य है। आश्चर्य तो तब होता जब वह आत्मा को ज्ञान स्वभाव मान कर भी सर्वज्ञता को नही स्वीकार करता। वास्तव मे सर्वज्ञता यह जैन सस्कृति की आत्मा है। हमें यहाँ यह न भूल जाना चाहिए कि जिस प्रकार वैदिक सस्कृति का मूल आधार वेद है, उसी प्रकार जैन या श्रमण सस्कृति का मूल आधार सर्वज्ञता है।

(३) सर्वज्ञता का विरोध क्यो ?

जब मीमासक लोग किसी भी पुरुष के वेदो के द्वारा सब पदार्थो का ज्ञान होना मानते है तब यह प्रश्न होता है कि उन्होने पुरुष की सर्वज्ञता का विरोध क्यो किया ? आगे हम इसी विषय पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

जैमिनि ने वेद से सूचित होने वाले अर्थ को धर्म[1] बतलाया है। इसलिए हमे पहले वेदो में किस विषय का विवेचन है, यह जान लेना जरूरी है। सामान्यत वेदो के विषय[2] को विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद इन पाँच भागो मे विभक्त किया जा सकता है। 'स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे' इस प्रकार के वचनो को विधि कहते है। अनुष्ठान के प्रयोजक वचनो को मत्र कहते है। अश्वमेध, गोमेध, आदि नाम नामधेय कहलाते है। अनुचित कामो मे विरत होने को निषेध कहते है। तथा स्तुतिपरक कथन को अर्थवाद कहते है। फिर भी वेद मे विधिवाक्यो की मुख्यता है। इस विषय-विभाग को देखने से हमे उस वैदिक धर्म की स्मृति हो आती है, जिससे उत्पीडित प्राणियो के कष्ट निवारणार्थ जैनधर्म को बहुत-कुछ प्रयत्न करना पडा। किन्तु इसमे वैदिको को सन्तोष न हुआ। उनकी सर्वदा यह इच्छा रही कि जैन धर्म (श्रमणधर्म) नाम शेष हो जाय और उसके स्थान मे वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा हो। जनता ज्ञान की उपासक न होकर यज्ञादि अनुष्ठानो मे ही अभिरुचि रक्खे। प्रारभ से ही श्रमणो ने अहिंसा को धर्म माना है, जब कि वैदिक लोग हिंसा और अहिंसा का विभाग न करके वेदविहित कर्मो को धर्म मानते आये है। वास्तव मे यही समस्त झगडे की जड है। मीमासको ने जो यह घोषणा की कि 'धर्म मे वेद ही प्रमाण है, धर्म जैसे अतीन्द्रिय अर्थ को पुरुष नही जान सकता।' इसका मुख्य कारण धर्म मे हिंसा का ही प्रवेश है। अब यदि मीमासक लोग पुरुष की स्वत सर्वज्ञता को स्वीकार कर लेते तो उनका यह सारा प्रयत्न धूलि में मिल जाता। यही कारण है कि मीमासको ने पुरुष की स्वत सर्वज्ञता का विरोध किया।

इस विरोध का एक पक्ष और भी है। जैसा कि हम पहले लिख आये है कि श्रमण धर्म का मूल आधार सर्वज्ञता है, किन्तु मीमासक लोग श्रमणधर्म का उच्चाटन करना चाहते थे। सर्वज्ञता के जीवित रहते वह सभव न था। इसलिए भी मीमासको ने सर्वज्ञता का विरोध किया। यह कोरी कल्पना नही है। मीमासको को छोडकर और किसी ने सर्वज्ञता का विरोध नही किया, इसी से यह सिद्ध है।

---

[1] चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म।

[2] भारतीयदर्शन, पृष्ठ ३०३।

(४) सर्वज्ञता का गौरवमय अतीत

अभी तक हमने यह वतलाया है कि जैन परम्परा में सर्वज्ञता को किस रूप मे स्वीकार किया गया है और इतर धर्मों या दर्शनो मे उसे कहाँ तक स्थान प्राप्त है। साथ ही, यह भी वतलाया कि मीमासक लोग सर्वज्ञता का क्यो निषेध करते हैं। अब भी यह बात विचारणीय है कि दर्शनयुग के पहले भी क्या सर्वज्ञता का यही स्वरूप माना जाता था अथवा धर्मज्ञता या आत्मज्ञता की क्रमिक परिभाषाओ ने सर्वज्ञता के वर्तमान रूप की सृष्टि की ?

शवर ऋषि अपने शावरभाष्य मे 'अथातो धर्म जिज्ञासा' सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि "धर्म के विषय में विद्वानो मे बडा विवाद है। किसी ने किसी को धर्म कहा है, किसी ने किसी को। सो विना विचारे धर्म मे प्रवृत्ति करने वाले मनुष्य को लाभ के स्थान मे हानि की ही अधिक सभावना है। अत धर्म का ज्ञान कराना आवश्यक है।"[1] यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि मीमासको के मत मे जब पुरुष धर्म जैसे सूक्ष्म तत्त्व को जान ही नही सकता तब वह धर्म का क्या ज्ञान कराएगा ? थोडी देर को हम इस प्रश्न के उत्तर का भार कुमारिल पर ही छोड दे तो भी शवर ऋषि के इस कथन से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि शवर ऋषि यह जानते थे कि जैमिनि के समय मे धर्म के विषय मे बडा वाद-विवाद हुआ था। जैमिनि को वैदिक धर्म की ही प्रतिष्ठा करनी थी। अत उन्होने 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म' कहकर वेद से सूचित होने वाले अर्थ को धर्म वतलाया।

यह तो सब कोई जानता है कि जिस प्रकार वैदिक धर्म का मूल आधार वेद माने गये हैं उस प्रकार अन्य धर्मों का मूल आधार उस धर्म के प्रवर्त्तक पुरुष माने गये हैं। वेदो को एक या एक से अधिक पुरुषो ने रचा होगा। अत वैदिक धर्म का प्रवर्त्तक पुरुष ही सिद्ध होता है, पर यहाँ इसका विचार मुख्य नही है। इससे निश्चित होता है कि जिस प्रकार वैदिक धर्म वेदो की प्रमाणता पर अवलम्बित है, उसी प्रकार अन्य धर्म उस धर्म के प्रवर्त्तक पुरुषो की प्रमाणता पर अवलम्बित है। पर प्रमाणता की कसौटी क्या ? कोई भी पुरुष चौपथ पर खडा होकर कह सकता है कि मै या यह पोथी प्रमाण है। इनके द्वारा वतलाये गये मार्ग पर चलो, इससे सबका कल्याण होगा। तो क्या जनता इतने कहने मात्र से उनका अनुसरण करने लगेगी ? यदि नहीं तो हमे फिर देखना चाहिए कि वह प्रमाणता कैसे प्राप्त होती है ?

शवर ऋषि आगे 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म' सूत्र का व्याख्यान करते हुए लिखते हैं कि "जो अर्थ[2] वेद से सूचित होता है, उस पर चलने से पुरुष का कल्याण होता है।" प्रश्न हुआ यह कैसे जाना ? इस पर शवर ऋषि कहते हैं कि भाई! देखो चूकि 'वेद' भूत, वर्तमान भविष्य, सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती सभी पदार्थों का ज्ञान कराने मे समर्थ है, पर इन्द्रियो से यह काम नहीं हो सकता।"[3] अत ज्ञात होता है कि वेद से सूचित होने वाला अर्थ ही पुरुष का कल्याणकारी है।

थोडा शवर ऋषि के इस कथन पर ध्यान दीजिये। कितने अच्छे ढग से वे उसी बात को कह रहे हैं, जिसे सर्वज्ञवादी कहते हैं। सर्वज्ञवादी भी तो यही कहते हैं कि "अमुक धर्म प्राणीमात्र का हितकारी है, क्योकि उसका वक्ता सूक्ष्मादि पदार्थों का ज्ञाता, अर्थात् सर्वज्ञ है।"

इतने विवेचन से कम-से-कम हमे इतना पता तो लग जाता है कि शवर ऋषि के समय मे धर्म में कल्याण-कारित्व सिद्धि के लिए सर्वार्थप्रतिपादनक्षमता या सर्वज्ञता का माना जाना आवश्यक था।

---

[1] 'धर्म प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविद। केचिदन्य धर्ममाहु केचिदन्यम्। सोऽयमविचार्य प्रवर्त्तमान कञ्चिदेवोपाददानो विहन्येत अनर्थं च ऋच्छेत् तस्माद्धर्मो जिज्ञासितव्य इति।' शावरभाष्य १ अ० १ सू० पृ० ३

[2] सोऽर्थ पुरुष नि श्रेयसेन संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे।

[3] चोदना हि भूत भवन्त भविष्यन्त सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टमित्येवञ्जातीयकमर्थ शक्नोत्यवगमयितु नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्।

साधारणतः शबर ऋषि का वास्तव्य काल ईसवी सन् २०० के लगभग माना जाता है। इसलिए इतना तो निश्चयपूर्वक ही कहा जा सकता है कि वेदों मे इस प्रकार की योग्यता ईसवी सन् २०० के लगभग मानी जाने लगी थी। पुरुष की सर्वज्ञता के निषेध के बीज भी तभी मे बोए गए, यह भी इससे फलित होता है। मालूम होता है कि शबर ऋषि ने यह युक्ति सर्वज्ञवादियों से ली होगी, किन्तु यह बात निश्चयपूर्वक तो तब कही जा सकती है जब यह बतलाया जा सके कि पुरुष की सर्वज्ञता की मान्यता इससे बहुत पुरानी है। अतः पहले इसी का विचार किया जाता है।

दिगम्बर परम्परा मे **षट्खण्डागम** और **कषायप्राभृत** मूलश्रुत के अंगभूत माने जाते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार तो अंगसाहित्य अब भी विद्यमान है। इस साहित्य के देखने से मालूम होता है कि जैन परम्परा में 'सव्वे **जाणइ**' सबकी मान्यता बहुत पुरानी है।

यतिवृषभ आचार्य जो स्पष्टतः ईसवी सन् पूर्व के हैं, कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्रों में लिखते हैं—

'तदो अणतकेवलणाणदसणवीरियजुत्तो जिणो केवली सव्वण्हो सव्वदरिसी भवदि सजोगिजिणो त्ति भण्णइ। असखेज्जगुणाए सेढीए पदेसग्ग णिज्जरेमाणो विहरदि त्ति।'

अर्थात्—"घाति चतुष्टय के क्षय होने पर अनन्त केवल ज्ञान, केवल दर्शन और वीर्य से युक्त हो कर केवली जिन सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं जिन्हें सयोगी जिन कहते हैं। ये सयोगी जिन असख्यात गुणित श्रेणीरूप से कर्म-प्रदेशों की निर्जरा करते हुए विहार करते हैं।"

पहले प्रकृति अनुयोगद्वार और स्थानाग सूत्र के जो उद्धरण दे आये हैं, उनमे भी इसी बात की पुष्टि होती है।

बौद्ध साहित्य में 'धम्मपद' सुत्तपिटक के अन्तर्गत ही है। इसके **अरहन्तवर्ग** मे बतलाया है—

'गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सव्वधि। सव्वगन्थप्पहीणस्स परिलाहो न विज्जति॥'

अर्थात्—"जिसका मार्ग समाप्त हो गया है, जो शोक रहित है, जो सर्वथा विमुक्त है, जो सर्वज्ञ है और जिसकी सभी ग्रन्थियां क्षीण हो गई, उसके लिये परिताप नही।"

इन प्रमाणों के आधार से सर्वज्ञ की '**सव्वे जाणइ**' वाली मान्यता बहुत प्राचीन है, ऐसा मान लेने मे किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता।

उपनिषदों के जो दो एक उल्लेख हमे प्राप्त हुए हैं, उनके देखने से मालूम होता है कि पहले ब्राह्मण लोग आत्मा की उत्क्रान्ति, परलोक और पुनर्जन्म आदि विद्याओं से परिचित न थे। उन्हें यह विद्या क्षत्रियों से प्राप्त हुई है। **छान्दोग्य उपनिषद्** में एक कथा आई है जिसमें उक्त कथन की पुष्टि होती है। कथा इस प्रकार है—

'किसी समय' अरुण के पुत्र श्वेतकेतु पांचालों की परिषद् में पहुँचे। वहाँ क्षत्रिय राजा प्रवाहण जैविलि ने उनसे जीव की उत्क्रान्ति, परलोकगति और जन्मान्तर के संबध में एक-के-बाद-एक पाँच प्रश्न किये, किन्तु श्वेतकेतु उन प्रश्नों में से एक का भी उत्तर न दे सके। इससे बहुत ही लज्जित हो कर श्वेतकेतु ने अपने पिता अरुण के पास जाकर उनके इन पाँचों प्रश्नों का उत्तर माँगा। पिता ने कहा इन्हे तो हम भी नहीं जानते। तब बाप और बेटा दोनों ही राजा जैविलि के पास गये। जाकर श्वेतकेतु के पिता ने राजा से कहा कि आपने मेरे लड़के से जो प्रश्न किये थे उनका उत्तर दीजिये। गौतम की प्रार्थना सुनकर राजा चिन्तित हुए। उन्होंने ऋषि से कुछ समय ठहरने के लिए कहा। फिर कहा—हे गौतम! आप हमसे जो विद्या सीखना चाहते हैं वह विद्या आपसे पहले किसी ब्राह्मण को नहीं प्राप्त हुई है।"

बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय में भी इसी प्रकार का एक उल्लेख आया है। यथा—

'इयं विद्या[2] इतः पूर्वं न कस्मिश्चित् ब्राह्मणे उवास। ता त्वह तुभ्य वक्ष्यामि।'

---

[1] कर्मवाद और जन्मान्तर, पृ० १८६

[2] कर्मवाद और जन्मान्तर, पृष्ठ १८८

पर्थात्—"यह विद्या इसके पहले किसी ब्राह्मण को नही मिली उसी का उपदेश मैं तुमको करता हूँ।"

उपनिषदो के इन उल्लेखो मे रहस्य मालूम होता है। इनसे मुझे इन्द्र और गौतम गणधर के सवाद का स्मरण हो आता है। मालूम होता है कि सारी अध्यात्म विद्या वैदिको को श्रमणो से प्राप्त हुई है। मीमासा के दो भेद है—पूर्व मीमासा और उत्तर मीमासा। पूर्व मीमासा मे यज्ञादि कर्मो की विधि और मन्त्र आदि का वर्णन है। इसलिए इसे कर्मकाण्ड कहते है। उत्तर मीमासा मे अध्यात्म विद्या का वर्णन है। इसलिए इसे ज्ञानकाण्ड कहते है। कर्मकाण्ड का सीधा सबध वेदो से है और ज्ञानकाण्ड का उपनिषदो से। उपनिषदो का सकलन वेदो के बहुत काल बाद हुआ है। वैदिको ने कर्मकाण्ड से अपना काम चलता न देखकर ही इस अध्यात्म विद्या को अपनाया। फिर भी शुद्ध मीमासा मे इसे महत्व का स्थान प्राप्त नही। ब्राह्मणधर्म मे यज्ञादि क्रियाकाण्डकी जो श्रेष्ठता है वह मोक्ष की नही। श्रमणधर्म और ब्राह्मणधर्म का अतर इसी से समझ मे आ जाता है। इस प्रकार हम देखते है कि ब्राह्मणो ने श्रमणो की अध्यात्म विद्या को अपनाया तो सही, किन्तु वे उसके सारे तत्वो को यथावत् रूप मे न अपना सके। उनके सामने वेदो की प्रतिष्ठा का सवाल खडा हो रहा। इसलिए उन्होने श्रमणो को महत्व देना उचित न समझा। बस यही एक प्रेरणा है, जिससे उन्होने पुरुष की सर्वज्ञता का निषेध किया। किन्तु जब हम उपनिषदो मे 'य आत्मवित् स सर्ववित्' इस प्रकार के वाक्य देखते है तो मालूम होता है कि सर्वज्ञ की 'सव्वे जाणइ' वाली मान्यता बहुत पुरानी है। इतना ही नही, बल्कि वह श्रमणधर्म की आत्मा है।

इतने विवेचन से यद्यपि हम इस निर्णय पर तो पहुँच जाते है कि दर्शन युग के पहले सर्वज्ञता का वही स्वरूप माना जाता था, जिसका दार्शनिको ने विस्तार से उहापोह किया है तथा इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि धर्मज्ञता या आत्मज्ञता की क्रमिक परिभाषाओ ने सर्वज्ञता के वर्तमान रूप की सृष्टि नही की। अब देखना यह है कि बौद्ध-गुरु धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञता की अपेक्षा धर्मज्ञता पर ही अधिक जोर क्यो दिया? जब वह सर्वज्ञता का विरोधी नही था और यह जानता था कि सर्वज्ञता के भीतर धर्मज्ञता का अन्तर्भाव हो ही जाता है तब उसे यह कहने का क्या कारण था कि "कोई ससार के सब पदार्थो का साक्षात्कार करता है कि नही, इससे हमे प्रयोजन नही? प्रकृत मे हमे यह देखना है कि उसने धर्म को जाना या नही। यदि उसने धर्म को जाना है तो हमारा काम चल जाता है।"[1] बात यह है कि पहले कुमारिल ने यह स्वीकार कर लिया है कि "यदि कोई धर्मातिरिक्त अन्य सब पदार्थो को जानता है तो इसका कौन निराकरण करता है। हमारा तो कहना केवल इतना ही है कि पुरुष धर्म का ज्ञाता नही हो सकता।"[2] धर्मकीर्ति ने कुमारिल के इसी कथन का उत्तर दिया है। कुमारिल के सामने जहाँ वेद की प्रतिष्ठा का प्रश्न रहा है वहाँ धर्मकीर्ति के सामने पुरुष की प्रतिष्ठा का प्रश्न रहा है। एक बार एक आदमी ने अपने एक साथी से कहा, "आपमे और तो सब गुण है, किन्तु आप झूठ बहुत बोलते हो।" तो इसका उसने उत्तर दिया, "मुझमे और गुण हो या न हो, किन्तु इतना सच है कि मै झूठ कभी नही बोलता।" बस इसी प्रकार का यह कुमारिल और धर्मकीर्ति का सवाद है। कुमारिल चाहता है कि किसी-न-किसी प्रकार सर्वज्ञवादियो के तीर्थंकर को अप्रमाण ठहराया जाय। इसके लिए वह प्रलोभन भी देता है। कहता है कि आपका पुरुष और सबको जानता है, इससे हमें क्या आपत्ति है। यहाँ कुमारिल पदार्थो के सूक्ष्म और स्थूल भेदो को भी भुला देता है। लेकिन धर्मकीर्ति कुमारिल के कहने की इस चतुराई को समझ लेता है इसलिए वह ऐसा उत्तर देता है, जिसका कोई प्रत्युत्तर ही नही हो सकता। धर्मकीर्ति के इस उत्तर के बाद उत्तर-प्रत्युत्तरो

---

[1] सर्वं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु।
कीटसख्यापरिज्ञान तस्य न क्वोपयुज्यते॥ प्रमाणवार्तिक २, ३३

[2] धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानस्तु पुरुष केन वार्यते॥
यह कारिका तत्त्वसग्रह पृष्ठ ८१७ में कुमारिल के नाम से उद्धृत है।

की दिशा ही बदल जाती है। यह है धर्मकीर्ति का मानस, जिससे उसने सर्वज्ञता की अपेक्षा धर्मज्ञता पर अधिक जोर दिया।

(५) आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि मे

इतने विवेचन के बाद भी भगवान कुन्दकुन्द ने केवल ज्ञान के विषय में क्या लिखा है, यह जानना आवश्यक है, क्योंकि उन्होंने प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए जो मार्ग सुनिश्चित किया है उससे सत्य तक पहुँचने मे बडी सहायता मिलती है। भगवान् कुन्दकुन्द की व्याख्यानशैली **व्यवहारनय और निश्चयनय** पर आश्रित है। अत पहले उन्ही के वचनो में इन दोनो नयो को समझ लेना जरूरी है। **'समयप्राभृत'** मे वे लिखते है—

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥१३॥

अर्थात्—"समय मे व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ बतलाया है। इनमें से भूतार्थ का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है।"

इससे व्यवहार और निश्चयनय के स्वरूप पर तो प्रकाश पड जाता है। तब भी भूतार्थ और अभूतार्थ का समझना शेष रहता है। उन्होंने अभूतार्थ और भूतार्थ की मर्यादा का स्वय निर्देश नही किया है, फिर भी उनकी व्याख्यान शैली से इसका पता लग जाता है। अत यहाँ इसका निर्देश कर देना ही आवश्यक प्रतीत होता है। उनकी व्याख्यानशैली मे निम्न बातो को अपनाया गया जान पडता है—

(१) जीव[1] और देह एक है यह **व्यवहारनय** है। जीव और देह एक नही, किन्तु पृथक्-पृथक् है, यह **निश्चयनय** है।

(२) वर्णादिक[2] जीव के है यह **व्यवहारनय** है। तथा ये जीव के नही है यह **निश्चयनय** है।

(३) रागादिक[3] जीव के है यह **व्यवहारनय** है। और ये जीव के नही है यह **निश्चयनय** है।

(४) क्षायिक[4] आदि भाव जीव के है यह **व्यवहारनय** है। किन्तु शुद्ध जीव के न क्षायिक भाव होते और न अन्य कोई यह **निश्चयनय** है।

(५) केवली भगवान् सबको जानते और देखते है,[5] यह **व्यहारनय** है, किन्तु अपने आपको जानते और देखते है, यह **निश्चयनय** है।

(६) शरीर[6] जीव का है ऐसा मानना **व्यवहार** है और शरीर जीव से भिन्न है ऐसा मानना **निश्चय** है।

इस प्रकार ऊपर जो हमने छ बातें उपस्थित की है उनसे व्यवहार और निश्चय की कथनी पर पर्याप्त प्रकाश पड जाता है। यहाँ इनसे भिन्न और भी उदाहरण उपस्थित किये जा सकते है, पर इससे लेख का कलेवर बढ जायगा और यह स्वतन्त्र विषय है।

इन सब उदाहरणो से एक ही बात फलित होती है कि जहाँ 'स्व' से भिन्न 'पर' का किसी भी प्रकार का सबध आ गया उसे आत्मा का मानना व्यवहार है। यद्यपि क्षायिक ज्ञान और केवलज्ञान मे कोई अन्तर नही है परन्तु केवलज्ञान को आत्मा का कहना **निश्चयनय** है और क्षायिकज्ञान को आत्मा का कहना **व्यवहारनय** है। यहाँ मै भेदाभेद को ध्यान में रखकर विचार नही कर रहा हूँ। इससे वस्तु के विवेचन करने मे और भी सूक्ष्मता आ जाती है, जो प्रकृत मे गौण है। यहाँ तो केवल देखना यह है कि भगवान् कुन्दकुन्द ने कितने अर्थों म व्यवहार और निश्चय का प्रयोग किया है।

---

[1] देखो समयप्राभत गाथा ३२
[2] देखो समयप्राभृत गाथा ६१
[3] देखो समयप्राभृत गाथा ५१
[4] देखो नियमसार गाथा ४१
[5] देखो नियमसार गाथा १५८
[6] देखो समयप्राभृत गाथा ५५

पहले उदाहरण मे एकत्व मे दो का सयोग व्यवहार का प्रयोजक है। दूसरे उदाहरण मे सवध के कारण जीव मे भिन्न द्रव्य के गुणो का आरोप व्यवहार का प्रयोजक है। तीसरे उदाहरण मे निमित्त की प्रधानता व्यवहार का प्रयोजक है। चौथे उदाहरण मे निमित्त की अपेक्षा नामकरण व्यवहार का प्रयोजक है। पाँचवे उदाहरण मे ज्ञायक से ज्ञेयो की भिन्नता व्यवहार का प्रयोजक है और छठ उदाहरण मे सवध व्यवहार का प्रयोजक है।

इनमे से पहला, दूसरा और छठा ये असद्भूत व्यवहार के उदाहरण है, क्योकि वास्तव मे जीव वैसा तो नही है। सयोग से जीव मे उन धर्मो का आरोप किया गया है। तीसरा, चौथा और पाँचवाँ ये सद्भूत व्यवहार के उदाहरण है, क्योकि यद्यपि ये सव अवस्थाएँ जीव की ही है। फिर भी इनके होने मे पर की अपेक्षा रहती है। इस-लिए ये व्यवहार कोटि मे चली जाती है।

निश्चयनय की अपेक्षा उनकी व्याख्यानशैली मुख्यत दो भागो मे वँट जाती है। एक मे ज्ञानादि गुणो द्वारा आत्मा का कथन किया गया है और दूसरी मे अन्य द्रव्यो के गुणो या सयोगी भावो के निषेध द्वारा आत्मा का कथन किया गया है। इनसे हमारी आँखो के सामने सगुण और निर्गुण ब्रह्म की कल्पना साकार रूप धारण करके आ उपस्थित होती है। व्यवहार और निश्चयनय के इस विवेचन से अभूतार्थत्व और भूतार्थत्व के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड जाता है। यहाँ 'भूत' शब्द उपलक्षण है। अत यह अर्थ हुआ कि वस्तु जिस रूप न थी, न है, और न रहेगी, तद्रूप उसको मानना अभूतार्थनय है तथा जो वस्तु जिस रूप थी, है और रहेगी तद्रूप उसको मानना भूतार्थनय है। प्रयोजन मूल वस्तु का ज्ञान कराना है। अत जिन धर्मो का उपादान जीव है, किन्तु जो अन्य निमित्तो की अपेक्षा से होते है, उन्हे भी भूतार्थनय जीव का स्वीकार नही करता। किन्तु इससे वे 'वर्णादिक जीव के है' इस कथनी की कोटि मे तो पहुँच नही जाते। कार्य उपादान रूप ही होता है। इसलिए उसे उपादान का ही मानना होगा। किन्तु भूतार्थनय निमित्त को तो देखता नही। उसकी दृष्टि मे तो कारण परमात्मा और कार्य परमात्मा एक ही वस्तु है। अत वह इन्हे जीव का स्वीकार नही करता। यह इसका मथितार्थ है।

तभी तो भगवान् कुन्दकुन्द नियमसार की गाथा ४७ और ४८ मे लिखते है, "जिस[1] प्रकार सिद्धात्मा जन्म, जरा और मरण से रहित है, आठ गुण सहित है, अशरीर है, अविनाशी है आदि उसी प्रकार ससार मे स्थित जीव भी जानने चाहिए।"

इस प्रकार भूतार्थ और अभूतार्थ का निर्णय कर लेने के वाद अव हम प्रकृत विषय केवलज्ञान पर आते है।

आचार्य कुन्दकुन्द 'प्रवचनसार' की गाथा ४७ मे लिखते है, "जो[2] त्रैकालिक विचित्र और विषम सव पदार्थो को एक साथ जानता है, वह क्षायिक ज्ञान है।' तदनन्तर इस तत्व का ऊहापोह करते हुए वे गाथा ४८ और ४९ मे लिखते है कि "जो त्रैका[3]लिक सव पदार्थो को नही जानता है वह पूरी तरह एक पदार्थ को भी नही जानता है और जो पूरी तरह से एक पदार्थ को नही जानता है वह सव पदार्थो को कैसे जान सकता है ?' उनका यह विवेचन 'आचाराग' के 'जो एक को जानता है वह सव को जानता है और जो सव को जानता है वह एक को जानता है।'"[4] इस कथन से मिलता हुआ है। इसमे तो सदेह नही कि इन दोनो सूत्रग्रथो के ये समर्थन वाक्य है, जिनके द्वारा सर्वज्ञत्व का ही समर्थन किया गया प्रतीत होता है। किन्तु जव हम नियमसार की गाथा १५८ पर दृष्टिपात करते है तव हमे वहाँ किसी दूसरी वस्तु के ही दर्शन होते है। वहाँ आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वज्ञत्व के समर्थन वाली दृष्टि वदल कर आत्मतत्त्व के

---

[1] जारसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होति । नियमसार गाथा ४७-४८।

[2] 'ज तक्कालियमिदर जाणदि जुगव समंतदो सव्व। अत्थं विचित्तविसम तं णाण खाइय भणिय।'

[3] जो ण विजाणदि जुगव अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे। णादु तस्स ण सक्क सपज्जय दव्वमेग वा ॥४८॥
'दव्व अणतपज्जयमेगमणताणि दव्वजादीणि। ण विजाणदि जदि जुगव किध सो सव्वाणि जाणादि ॥ ४९ ॥'

[4] जे एग जाणइ से सव्व जाणइ। जे सव्व जाणइ से एग जाणइ। आचारांग सूत्र १२३।

विश्लेषण मे लीन हो जाती है। तभी तो वे वहाँ लिखते है, "यद्यपि[1] व्यवहारनय की अपक्षा केवली सव को जानते और देखते है, किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा वे अपने को ही जानते और देखते है।" आत्मस्वरूप का कितना सुन्दर विश्लपण है। ज्ञायक भाव आत्मा का स्वभाव है, किन्तु वह आत्मनिष्ठ है। अत फलित हुआ कि निश्चयनय मे आत्मा 'स्व' को ही जानता और देखता है तथा व्यवहार द्विविधामय है। उसका अनेक के विना काम नही चलता। अत फलित हुआ कि व्यवहारनय से आत्मा सवको जानता और देखता है। वात यह है कि कार्यकारण व्यवहार, जिसकी लीक पर सारा समार चक्र प्रतिक्षण घूम रहा है, केवल स्वरूप के विश्लेपण करने तक सीमित नही है, क्योकि वह द्विविधामय है। हम देखते है कि जव दो या दो से अधिक परमाणुओ के मिलने से स्कन्ध वनता है और फिर उनसे मिट्टी आदि विविध तत्त्वो की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर उन्हें ज्ञान भेदरूप से ग्रहण करता है। तव इन सव को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? सत्य और मिथ्या ये शब्द सापेक्ष है। ऋषियो का प्रयोजन मूल वस्तु का ज्ञान कराना रहा है। अत उन्होने व्यवहार को मिथ्या आदि जो कुछ जी में आया सो कहा। वेदान्तियो ने तो इस द्विविधामय जगत के अस्तित्व को ही मिटा देना चाहा, पर क्या इसमे व्यवहार नाम शेप हुआ? यदि निश्चय सत्याधिष्ठित है तो वह अपनी अपेक्षा से ही। यदि व्यवहार की अपेक्षा से ही उसे वैसा मान लिया जाय तो वन्ध मोक्ष की चर्चा करना ही छोड देना चाहिए। कविवर प० वनारसीदास जी ने ऐसा किया था, पर अन्त मे उन्हे एकान्त निश्चय का त्याग करके व्यवहार की शरण मे आना पडा। आचार्य कुन्दकुन्द ने जो व्यवहार को अभूतार्थ कहा है वह व्यवहार की अपेक्षा नहीं, किन्तु निश्चय की अपेक्षा मे कहा है। व्यवहार अपने अर्थ में उतना ही सत्य है, जितना कि निश्चय। जिस प्रकार हम विविध पदार्थों को जानते है, किन्तु हमारा वह सव जानना झूठा नही है फिर भी वह ज्ञान ज्ञान स्वरूप ही रहता है। उसी प्रकार केवली भगवान् सव पदार्थों को जानते और देखते है, किन्तु उनका वह जानना असत्य नही है। फिर भी वह उनका ज्ञायकभाव आत्मनिष्ठ ही है। उपर्युक्त व्यवहार और निश्चय की कथनी का यही मथितार्थ है।

उपनिषद् मे जो **'य' आत्मवित् स सर्ववित्', 'य सर्ववित् स आत्मवित्'** इत्यादि वचन मिलते है उनका मेल अधिकतर प्रवचनसार के कथन से ही वैठता है। 'नियमसार' के कथन से नही, क्योकि 'नियमसार में पृथक् पृथक् दो दृष्टियाँ काम कर रही है जव कि प्रवचनसार मे दृष्टिभेद से कथन करने की मुख्यता न होकर सर्वज्ञत्व के समर्थन की मुख्यता है। उपनिषद् मे भी हमे यही वात दिखाई देती है। हाँ, उपनिषद्में 'एक' शब्द के स्थान मे 'आत्म' शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है पर इससे विवेचन करने की दृष्टि नही वदली है, जव कि 'नियमसार' में विवेचन करने की दृष्टि ही वदल गई है। इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रवचनसार, 'आचाराग सूत्र' और 'उपनिषद्' इनकी कथनी का प्रयोजन एक है और 'नियमसार' की कथनी का प्रयोजन इससे भिन्न है। 'प्रवचनसार' मे जहाँ सिद्धात के उद्घाटन करने की ओर झुकाव है, वहाँ 'नियमसार' में मुख्यत मूलभूत तत्त्व की मीमासा करते हुए फलितार्थरूप से उसका कार्यभाग स्वीकार किया गया है। यहाँ यह कार्यभाग ही अभूतार्थ है क्योकि वह जीव की अशेष ज्ञेयो के निमित्त से होने वाली दशा है और मीमासित तत्त्व ही भूतार्थ है, क्योकि जीव में ज्ञायकभाव अन्य निमित्तो से उत्पन्न नही होता किन्तु वह उसका स्वभाव है। तात्पर्य यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द कारण रूप से आत्मनिष्ठ ज्ञायकभाव और कार्य-रूप से सर्वज्ञता को स्वीकार करते है जिसका उन्होने अपने 'प्रवचनसार' आदि ग्रथो में वहुत ही सुन्दरता से विवेचन किया है।

काशी]

---

[1] 'जाणदि पस्सदि सव्व ववहारणएण केवली भगव। केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाण ॥१५८॥'

जैन-मान्यता में धर्म का आदि समय और उसकी मर्यादा

पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य

प्राय धर्म की सभी मान्यताओ मे अमर्यादित काल को मर्यादित अनन्त कल्पो के रूप मे विभक्त किया गया है, लेकिन किन्ही-किन्ही मान्यताओ में जहाँ इस दृष्यमान् जगत् की अस्तित्त्व स्वरूप सृष्टि और अभाव स्वरूप प्रलय को आधार मान कर एक कल्प की सीमा निर्धारित की गई है, वहाँ जैन मान्यता मे प्राणियो के दु ख के साधनो की क्रमिक हानि होते-होते सुख के साधनो की क्रमिक वृद्धिस्वरूप उत्सर्पण और प्राणियो के सुख के साधनो की क्रमिक हानि होते-होते दु ख के साधनो की क्रमिक वृद्धिस्वरूप अवसर्पण को आधार मान कर एक कल्प की सीमा निर्धारित की गई है।

तात्पर्य यह कि धर्म की किन्ही-किन्ही जैनेतर मान्यताओ के अनुसार उनके माने हुए कारणो द्वारा पहिले तो यह जगत् उत्पन्न होता है और पश्चात् यह विनष्ट हो जाता है। उत्पत्ति के अनन्तर जव तक जगत् का सद्भाव वना रहता है उतने काल का नाम सृष्टिकाल और विनष्ट हो जाने पर जव तक उसका अभाव वना रहता है उतने काल का नाम प्रलयकाल माना गया है। इस तरह से एक सृष्टिकाल और उसके अनन्तर होने वाले एक प्रलयकाल को मिलाकर इन मान्यताओ के अनुसार एक कल्पकाल हो जाता है। जैन मान्यता में इन मान्यताओ की तरह जगत् का उत्पाद और विनाश नही स्वीकार किया गया है। जैन मान्यता में जगत् तो अनादि और अनिधन है, परन्तु रात्रि के वारह वजे से अन्धकार का क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते दिन के वारह वजे तक प्रकाश की क्रमपूर्वक होने वाली वृद्धि के समान जैन मान्यता मे जितना[1] काल जगत् के प्राणियो के दु ख के साधनो का क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते सुख के साधनो की क्रम-पूर्वक होने वाली वृद्धिस्वरूप उत्सर्पण का वतलाया गया है उतने काल का नाम उत्सर्पिणी काल और दिन के वारह वजे से प्रकाश का क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते रात्रि के वारह वजे तक अन्धकार की क्रमपूर्वक होने वाली वृद्धि के समान वहाँ पर (जैन मान्यता मे) जितना काल[2] जगत् के प्राणियो के सुख के साधनो का क्रमपूर्वक ह्रास होते-होते दु ख के साधनो की क्रमपूर्वक होने वाली वृद्धिस्वरूप अवसर्पण का वतलाया गया है उतने काल का नाम अवसर्पिणी काल स्वीकार किया गया है। एक उत्सर्पिणी काल और उसके अनन्तर होने वाले एक अवसर्पिणी काल को मिला कर जैन मान्यता का एक कल्पकाल हो जाता है।[3] चूकि उक्त दूसरी मान्यताओ में सृष्टिकाल और प्रलयकाल की परपरा को पूर्वोक्त सृष्टि के वाद प्रलय और प्रलय के वाद सृष्टि के रूप में तथा जैन मान्यता में उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल की परपरा को पूर्वोक्त उत्सर्पण के वाद अवसर्पण और अवसर्पण के वाद उत्सर्पण के रूप मे अनादि और अनन्त

---

[1] यह काल जैन ग्रन्थों के आधार पर दश कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण है। कोटी (करोड) को कोटी (करोड) से गुणा कर देने पर कोटी कोटी का प्रमाण निकलता है और सागरोपम जैनमान्यता के असख्यात वर्ष प्रमाण काल विशेष की सज्ञा है।

[2] यह काल भी जैन ग्रन्थों में दश कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण ही वतलाया गया है।

[3] काल का वर्णन करते हुए आदि पुराण में लिखा है—

उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ द्वौ भेदौ तस्य कीर्तितौ।
उत्सर्पादवसर्पाच्च बलायुर्देहवर्ष्मणाम् ॥१४॥
कोटीकोट्यो दशैकस्य प्रमासागरसख्यया।
शेषस्याप्येवमेवेष्टा तावुभौ कल्प इष्यते ॥१५॥ (आदि पुराण पर्व ३)

स्वीकार किया गया है, इसलिए उभय मान्यताओ मे (जैन और उक्त जैनेतर मान्यताओ में) कल्पो की अनन्तता समान रूप से मान ली गई है ।

जैन मान्यता मे प्रत्येक कल्प के उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल को उत्सर्पण और अवसपण के खड करके निम्नलिखित छह-छह विभागो में विभक्त कर दिया गया है—(१) दु षम[1]-दु षमा (अत्यन्त दु खमय काल) (२) दु षमा[2] (साधारण दु खमय काल) ३—दु षम-सुषमा[3] (दु ख प्रधान सुखमय काल) ४—सुषम-दु षमा[4] (सुख-प्रधान दु खमय काल) ५—सुषमा[5] (साधारण सुखमय काल) और ६—सुषम-सुषमा[6] (अत्यन्त सुखमय काल)। ये छह[7] विभाग उत्सर्पिणी कालके तथा इनके ठीक विपरीत क्रम को लेकर अर्थात् १—सुषमा-सुषमा[8] (अत्यन्त सुखमय काल) २—सुषमा[9] (साधारण सुखमय काल) ३—सुषम-दु षमा[10] (सुखप्रधान दु खमय काल) ४—दु षमा-सुषमा[11] (दु ख प्रधान सुखमय काल) ५—दु षमा[12] (साधारण दु खमय काल) और ६—दु षम-दु षमा[13] (अत्यन्त दु खमय काल) ये छह[14] विभाग अवसर्पिणी काल के स्वीकार किये गये है ।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य की गति के दक्षिण से उत्तर और उत्तर से दक्षिण की ओर होने वाले परिवर्तन के आधार पर स्वीकृत वर्ष के उत्तरायण और दक्षिणायन विभाग गतिक्रम के अनुसार तीन-तीन ऋतुओ में विभक्त होकर सतत चालू रहते है उसी प्रकार एक दूसरे से विलकुल उलटे पूर्वोक्त उत्सर्पण और अवसर्पण के आधार

---

[1] इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण ।

[2] इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण ।

[3] व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण ।

[4] दो कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण ।

[5] तीन कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण ।

[6] चार कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण ।

[7] अवसर्पिणी काल के समाप्त हो जाने पर जब उत्सर्पिणी काल का प्रारम्भ होता है उस समय का यह वर्णन है—

तत्तो पविसदि रम्मो कालो उस्सप्पिणि त्ति विक्खादो ।
पढ़मो अइदुस्समओ दुइज्जओ दुस्समा णामा ॥ ॥१५५५ ॥
दुस्समसुसमो तदिओ चउत्थओ सुसमदुस्समो णाम ।
पचमओ तह सुसमो जणप्पिओ सुसमसुसमओ छट्ठो ॥१५५६॥

(तिलोयपण्णत्ती चौथा महा अधिकार)

[8] चार कोटीकोटी सागरोपम समय प्रमाण ।

[9] तीन कोटी कोटी सागरोपम समय प्रमाण ।

[10] दो कोटी कोटी सागरोपम समय प्रमाण ।

[11] व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोटी कोटी सागरोपम समय प्रमाण ।

[12] इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण ।

[13] इक्कीस हजार वर्ष प्रमाण ।

[14] द्विरुक्तसुषमाऽऽद्याऽऽसीत् द्वितीया सुषमा मता ।
सुषमा दु.षमान्ताऽन्या सुषमान्ता च दु षमा ॥१७॥
पञ्चमी दु षमा ज्ञेया समा षष्ठ्यतिदु षमा ।
भेदा इमेऽवसर्पिण्या उत्सर्पिण्या विपर्यया ॥१८॥ आदि पुराण पर्व ३

पर स्वीकृत कल्प के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी विभाग भी उत्सर्पणक्रम और अवसर्पणक्रम के अनुसार पूर्वोक्त छह-छह विभागो में विभक्त होकर अविच्छिन्न रूप से सतत चालू रहते है।[1] अथवा रात्रि के बारह बजे से दिन के बारह बजे तक अन्धकार की क्रम से हानि होते-होते क्रम से होने वाली प्रकाश की वृद्धि के आधार पर और दिन के बारह बजे से रात्रि के बारह बजे तक प्रकाश की क्रम से हानि होते-होते क्रम से होने वाली अन्धकार की वृद्धि के आधार पर जिस प्रकार चार-चार प्रहरो की व्यवस्था पाई जाती है उसी प्रकार उत्सर्पिणी काल और अवसर्पिणी काल में भी पूर्वोक्त छह-छह विभागो की व्यवस्था जैन मान्यता मे स्वीकृत की गई है।

जैन मान्यता के अनुसार प्रत्येक उत्सर्पिणी काल के तीसरे[2] और प्रत्येक अवसर्पिणी काल के चौथे[3] दु षमा-सुषमा नामक विभाग मे धर्म को प्रकाश में लाने वाले एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा इस प्रकार क्रम से नियमपूर्वक चौवीस तीर्थंकर (धर्मप्रवर्तक महापुरुष) उत्पन्न होते रहते है। इस समय जैन मान्यता के अनुसार कल्प का दूसरा विभाग अवसर्पिणी काल चालू है और उसके (अवसर्पिणी काल के) पाँचवे दु षमा नामक विभाग में से हम गुजर रहे है। आज से करीब ढाई हजार (२५००) वर्ष पहिले इस अवसर्पिणी काल का दु षमा-सुषमा नामक चतुर्थ विभाग समाप्त हुआ है। उस समय धर्म को प्रकाश में लाने वाले और इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर इस धरातल पर मौजूद थे तथा उनके भी पहले पूर्वपरपरा में तेईसवे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ से प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तक तेईस तीर्थंकर धर्म का प्रकाश कर चुके थे।

तात्पर्य यह है कि जैन मान्यता में उत्सर्पिणीकाल के चौथे, पाँचवें और छठे तथा अवसर्पिणी काल के पहिले, दूसरे और तीसरे विभागो के समुदाय को भोगयुग एव अवसर्पिणी काल के चौथे, पाँचवें और छठवे तथा उत्सर्पिणीकाल के पहिले, दूसरे और तीसरे विभागो के समुदाय को कर्मयुग बतलाया गया है[4]। भोगयुग का मतलब यह है कि इस युग में मनुष्य अपने जीवन का सचालन करने के लिए साधन सामग्री के सचय और सरक्षण की ओर ध्यान देना अनावश्यक ही नही, व्यर्थ और यहाँ तक कि मानवसमष्टि के जीवन निर्वाह के लिए अत्यन्त घातक समझता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन का सचालन निश्चिन्तता और सतोषपूर्वक सर्वत्र बिखरे हुए प्राकृतिक साधनो द्वारा बिना किसी भेद-भाव के समान रूप से किया करता है। उस समय मानव-जीवन के किसी भी क्षेत्र मे आजकल जैसी विषमता नही रहती है। उस काल मे कोई मनुष्य न तो अमीर और न गरीब ही रहता है और न ऊँच-नीच का भेद ही उस समय के मनुष्यो मे पाया जाता है। आहार-विहार तथा रहन-सहन की समानता के कारण उस काल के मनुष्यो मे न तो क्रोध, मान, माया और लोभ रूप मानसिक दुर्बलताएँ ही पाई जाती है और न हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार तथा पदार्थों का सचय रूप परिग्रह मे ही उनकी प्रवृत्ति होती है। लेकिन उत्सर्पिणी काल में जीवन सचालन की साधन-

---

[1] उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यौ कालौ सान्तर्भिदाविमौ।
स्थित्युत्सर्पादसर्पाभ्या लब्धान्वर्थाभिधानकौ ॥२०॥
कालचक्रपरिभ्रान्त्या षट्समापरिवर्तनै।
तावुभौ परिवर्तेते तामिस्रेतरपक्षवत् ॥२१॥ आदि पुराण पर्व ३

[2] उत्सर्पिणी काल के तीसरे दु षमसुषमा कालका वर्णन करते हुए यह कथन है—
तक्काले तित्थयरा चउवीस हवंति ॥१५७८॥
(तिलोयपण्णत्ती चौथा महाधिकार)

[3] भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थंकर इस अवसर्पिणीकाल के चौथे दुःषमसुषमा काल में ही हुए हैं।

[4] भोगयुग और कर्मयुग का विस्तृत वर्णन आदि पुराण के तीसरे पर्व में तथा तिलोयपण्णत्ती के चतुर्थ महाधिकार में किया गया है।

सामग्री मे उत्तरोत्तर वृद्धि होते-होते उसके पराकाष्ठा पर पहुँच जाने के वाद जव इस अवसर्पिणी काल मे उसका ह्रास होने लगा और वह ह्रास जव इस सीमा तक पहुँच गया कि मनुष्यो को अपने जीवन-सचालन में कमी का अनुभव होने लगा तो सवसे पहिले मनुष्यो मे साधन सामग्री के सग्रह करने का लोभ पैदा हुआ तथा उसका सवरण न कर सकने के कारण धीरे-धीरे माया, मान और क्रोध रूप दुर्वलताएँ भी उनके अन्त करण मे उदित हुई और इनके परिणाम-स्वरूप हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह इन पाँच पापो की ओर यथासभव उनका झुकाव होने लगा। अर्थात् सवसे पहिले जीवन-सचालन की साधन सामग्री के सचय करने में जव किन्ही-किन्ही मनुष्यो की प्रवृत्ति देखने मे आई[1] तो उस समय के विशेष विचारक व्यक्तियो ने इसे मानव-समष्टि के जीवन-सचालन के लिए जवरदस्त खतरा समझा। इसलिए इसके दूर करने के लिए उन्होने जनमत की सम्मतिपूर्वक उन लोगो के विरुद्ध 'हा[2]' नामक दण्ड कायम किया। अर्थात् उस समय जो लोग जीवन-सचालन की साधन-सामग्री के सचय करने मे प्रवृत्त होते थे उन्हें इस दड विधान के अनुसार "हमे खेद है कि तुमने मानव-समष्टि के हित के विरुद्ध यह अनुचित कार्य किया है।"—इस प्रकार दडित किया जाने लगा और उस समय का मानव-हृदय वहुत ही सरल होने के कारण उस पर इस दड-विधान का यद्यपि वहुत अशो मे असर भी हुआ लेकिन धीरे-धीरे ऐसे अपराधी लोगो की सख्या वढती ही गई। साथ ही उनमे कुछ धृष्टता भी आने लगी। तव इस दडविधान को निरुपयोगी समझ कर इससे कुछ कठोर 'मा[3]' नामक दड विधान तैयार किया गया। अर्थात् खेद प्रकाश करने मात्र से जव लोगो ने जीवन सचालन की साधन सामग्री का सचय करना नही छोडा तो उन्हें इस अनुचित प्रवृत्ति से शक्तिपूर्वक रोका जाने लगा। अन्त में जव इस दड विधान से भी ऐसे अपराधी लोगो की वाढ न घटी तो फिर 'धिक[4]' नाम का वहुत ही कठोर दड विधान लागू कर दिया गया। अर्थात् ऐसे लोगो को उस समय की सामाजिक श्रेणी से वहिष्कृत किया जाने लगा, लेकिन यह दड विधान भी जव असफल होने लगा, साथ ही इसके द्वारा ऊँच और नीच के भेद की कल्पना भी लोगो के हृदय में उदित हो गई तो इस विषम परिस्थिति मे राजा नाभि के पुत्र भगवान ऋषभदेव इस पृथ्वीतलपर अवतीर्ण हुए, इन्होने वहुत ही गभीर चिन्तन के वाद एक ओर तो कर्मयुग का प्रारभ[5] किया अर्थात् तत्कालीन मानव-समाज मे वर्णव्यवस्था कायम करके परस्पर

---

[1] सुरतरु लुद्धा जुगला अण्णोण्ण ते कुणति सवाद ॥
॥४५१॥
(तिलोयपण्णत्ती चौथा महाधिकार)

[2] सिक्ख कुणति ताण पडिसुदिपहुदी कुलकरा पच।
सिक्खणकम्मणिमित्त दड कुव्वति हाकार ॥४५२॥
(तिलोयपण्णत्ती चौथा महाधिकार)

[3] लोभेणाभिहदाण सीमकरपहुदिकुलकरा पच ॥
ताण सिक्खण हेदू हा-मा-कार कुणति दंडत्थ ॥४७४॥
(तिलोयपण्णत्ती चौथा महाधिकार)

[4] तत्राद्यै पञ्चभिर्नॄणा कुलभृद्भि कृतागसाम् ॥
हाकारलक्षणो दण्ड समवस्थापितस्तदा ॥२१४॥
हामाकारो च दण्डोऽन्यै पञ्चभि सप्रवर्तित ॥
पञ्चभिस्तु तत शेषैर्हा-मा-धिक्-कारलक्षण ॥२१५॥
(आदि पुराण पर्व ३)

[5] उत्पादितास्त्रयोवर्णास्तदा तेनादिवेधसा।
क्षत्रिया वणिज शूद्रा ॥१८३॥
(आदि पुराण पर्व १६)

सहयोग की भावना भरते हुए उसको जीवन-सचालन के लिए यथायोग्य असि[1], मषि, कृषि, सेवा, शिल्प और वाणिज्य आदि कार्यों के करने की प्रेरणा की तथा दूसरी ओर लोगो की अनुचित प्रवृत्ति को रोकने के लिए धार्मिक दड विधान चालू किया। अर्थात् मनुष्यो को स्वय ही अपनी-क्रोध, मान, माया और लोभ रूप-मानसिक दुर्बलताओ को नष्ट करने तथा हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह स्वरूप प्रवृत्ति को अधिक-से-अधिक कम करने का उपदेश दिया। जैन-मान्यता के अनुसार धर्मोत्पत्ति का आदि समय यही है।

धर्मोत्पत्ति के बारे में जैन-मान्यता के अनुसार किये गये इस विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि मानव-समाज मे व्यवस्था कायम करने के लिए यद्यपि सर्वप्रथम पहिले प्रजातत्र के रूप मे और बाद में राजतत्र के रूप मे शासनतत्र ही प्रकाश मे आया था, परन्तु इसमे अधूरेपन का अनुभव करके भगवान ऋषभदेव ने इसके साथ धर्मतत्र को भी जोड दिया था। इस तरह शासनतत्र और धर्मतत्र ये दोनो तब से एक दूसरे का बल पाकर फूलते-फलते हुए आज तक जीवित है।

यद्यपि भगवान ऋषभदेव ने तत्कालीन मानव-समाज के सम्मुख धर्म के ऐहिक और आध्यात्मिक दो पहलू उपस्थित किये थे और दूसरे (आध्यात्मिक) पहलू को पहिले ही से स्वय अपना कर[2] जनता के सामने महान् आदर्श उपस्थित किया था—आज भी हमे भारतवर्ष मे साधुवर्ग के रूप में धर्म के इस आध्यात्मिक पहलू की झाकी देखने को मिलती है—परन्तु आज मानव-जीवन जब धर्म के ऐहिक पहलू से ही शून्य है तो वहाँ पर उसके आध्यात्मिक पहलू का अकुरित होना असभव ही है। यही कारण है कि प्राय सभी धर्मग्रथो में आज के समय मे मुक्ति प्राप्ति की असभवता को स्वीकार किया गया है। इसलिए इस लेख में हम धर्म के ऐहिक पहलू पर ही विचार करेंगे।

धर्म के आध्यात्मिक पहलू का उद्देश्य जहाँ जन्म-मरण रूप ससार से मुक्ति पाकर अविनाशी अनन्तसुख प्राप्त करना है वहाँ उसके (धर्म के) ऐहिक पहलू का उद्देश्य अपने वर्तमान जीवन को सुखी बनाते हुए आध्यात्मिक पहलू की ओर अग्रसर होना है। यह तभी हो सकता है जब कि मानव-समाज मे सुख और शान्ति का साम्राज्य हो। कारण कि मनुष्य स्वभाव से समष्टिगत प्राणी है। इसलिए उसका जीवन मानव-समाज के साथ गुथा हुआ है। अर्थात् व्यक्ति तभी सुखी हो सकता है जब कि उसका कुटुम्ब सुखी हो, कुटुम्ब भी तब सुखी हो सकेगा जब कि उसके मुहल्ले में अमन-चैन हो। इसी क्रम से आगे भी मुहल्ले का अमन-चैन ग्राम के अमन-चैन पर, ग्राम का अमन-चैन प्रान्त के अमन-चैन पर और प्रान्त का अमन-चैन देश के अमन-चैन पर ही निर्भर है तथा आज तो प्रत्येक देश के ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय सबध स्थापित हो चुके है कि एक देश का अमन-चैन दूसरे देश के अमन-चैन पर निर्भर हो गया है। यही कारण है कि आज दुनिया के विशेषज्ञ विश्व-सघ की स्थापना की बात करने लगे है, लेकिन विश्वसघ तभी स्थापित एव सार्थक हो सकता है जब कि मानव अपनी क्रोध, मान, माया और लोभ रूप मानसिक दुर्बलताओ को नष्ट करना अपना

---

[1] (क) असिर्मषि कृषिर्विद्या वाणिज्य शिल्पमेव च।
कर्माणीमानि षोढा स्यु प्रजाजीवनहेतवे ॥ १७९ ॥
तत्र वृत्ति प्रजाना स भगवान् मतिकौशलात् ॥
उपादिशत् सरागो हि स तदासीज्जगद्गुरुः ॥१८०॥

(आदि पुराण पर्व १६)

(ख) प्रजापतिर्य. प्रथम जिजीविषू शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा.॥

(स्वयभू स्तोत्र)

[2] विहाय य सागरवारिवासस वधूमिवेमा वसुधावधूं सतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभु प्रवव्राज सहिष्णुरच्युत ॥

(स्वयभू स्तोत्र)

कर्तव्य समझ ले। साथ ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहता को अपने जीवन में समाविष्ट कर ले। इसके बिना न तो विश्वसंघ की स्थापना ही सकती है और न दुनिया में सुखशान्ति का साम्राज्य ही कायम हो सकता है। विश्ववंद्य महात्मा गांधी विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए इसी बात को आज विश्व के सामने रख रहे हैं, परन्तु यह विश्व का दुर्भाग्य है कि उसका लक्ष्य अभी इस ओर नहीं है।

इस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने जिस धर्म को आत्मकल्याण और विश्व में व्यवस्था कायम करने के लिए चुना था, वह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों से शून्य मानसिक पवित्रता तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहता विशिष्ट बाह्य प्रवृत्ति स्वरूप है। हम देखते हैं कि आज भी इसकी उपयोगिता नष्ट नहीं हुई है और भविष्य में तो मानव-समष्टि में मानवता के विकास का यही एक अद्वितीय चिह्न माना जायगा। भगवान ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर पर्यन्त सब तीर्थंकरों ने भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित इसी धर्म का प्रकाश एवं समुत्थान किया है। इनके अतिरिक्त आगे या पीछे जिन महापुरुषों ने धर्म के बारे में कुछ शोध की है वह भी इससे परे नहीं है। अर्थात् न केवल भारतवर्ष के, अपितु विश्व के किसी भी महापुरुष द्वारा जब कभी धर्म की आवाज बुलन्द की गई हो, उस धर्म की परिभाषा भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित धर्म की परिभाषा से भिन्न नहीं हो सकती है। इसका कारण यह है कि एक ही देश में रहने वाली भिन्न-भिन्न मानव समष्टियों की तो बात ही क्या, दुनिया के किसी भी कोने में रहने वाले मनुष्यों के जीवन संबंधी आवश्यकताओं में जब भेद नहीं किया जा सकता है तो उनके धर्म में भेद करना मानव समष्टि के साथ घोर अन्याय करना है। इसलिए धर्म के जैन, बौद्ध, वैदिक, इस्लाम, क्रिश्चियन इत्यादि जो भेद किये जाते हैं, ये सब किसी हालत में धर्म के भेद नहीं माने जा सकते हैं। धर्मरूप वस्तु तो इन सब के अन्दर एक रूप ही मिलेगी और हमें इनके अन्दर जो कुछ भेद दिखलाई देता है वह भेद या तो धर्म का प्रतिपादन करने या उसके प्राप्त करने के तरीकों का है या फिर वह अधर्म ही कहा जायगा।

इस तरह अपने जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने के उद्देश्य से मानव-समष्टि में सुख-शान्ति का वातावरण लाने के लिए प्रत्येक मनुष्य को जिस प्रकार अपनी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक दुर्बलताओं को कम करना तथा हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह स्वरूप प्रवृत्ति को रोकना आवश्यक है उसी प्रकार परस्पर सौहार्द, सहानुभूति और सहायता आदि बातें भी आवश्यक हैं। इसलिए इन सब बातों का समावेश भी धर्म के ही अन्दर किया गया है। इसके अतिरिक्त अपने जीवन को सुखी बनाने में शारीरिक स्वास्थ्य को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतः शारीरिक स्वास्थ्य संपादन के लिए जो नियम-उपनियम उपयोगी सिद्ध होते हैं उन्हें भी जैन-मान्यता के अनुसार धर्म की कोटि में रक्खा गया है। जैसे पानी छानकर पीना, रात्रि में भोजन नहीं करना, मद्य, मांस और मधु का सेवन नहीं करना, असावधानी से तैयार किया हुआ भोजन नहीं करना, भोजन में ताजा और सत्त्व आटा, चावल, साग-फल आदि का उपयोग करना, उपवास या एकाशन करना, उत्तम संगति करना आदि इन सब प्रवृत्तियों को धर्म रूप ही मान लिया गया है तथा ऐसी प्रवृत्तियों को अधर्म या पाप मान लिया गया है, जिनके द्वारा साक्षात् या परंपरा से हमारे शारीरिक स्वास्थ्य को हानि पहुँचने की संभावना हो या जो हमारे जीवन को लोकनिंद्य और कष्टमय बना रही हों। जुवा खेलना, शिकार खेलना और वेश्यागमन आदि प्रवृत्तियाँ इस अधर्म की ही कोटि में आ जाती हैं। जैन मान्यता के अनुसार अभक्ष्यभक्षण को भी अधर्म कहा गया है और अभक्ष्य की परिभाषा में उन चीजों को सम्मिलित किया गया है, जिनके खाने से हमें कोई लाभ न हो अथवा जिनके तैयार करने में या खाने में हिंसा का प्राधान्य हो अथवा जो प्रकृति विरुद्ध हों या लौकिक दृष्टि से अनुपसेव्य हों। जैन मान्यता के अनुसार अधिक खाना भी अधर्म है और अनिच्छापूर्वक कम खाना भी अधर्म है। तात्पर्य यह है कि मानव-जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति को जैन-मान्यता में धर्म और अधर्म की कसौटी पर कस दिया गया है। आज भले ही पचड़ा कहकर इन सब बातों के महत्व को कम करने की कोशिश की जाय, परन्तु इन सब बातों की उपयोगिता स्पष्ट है। पूज्य गांधी जी का भोजन में हाथ-चक्की से पिसे हुए ताजे आटे का और हाथ से कूटे गये चावल का उपयोग करने पर जोर देना तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रत्येक

प्रवृत्ति मे आवश्यकता, सादगी, स्वच्छता, सच्चाई आदि बातो पर ध्यान रखने का उपदेश देना इन बातो की उपयोगिता का ही दिग्दर्शक है ।

इस प्रकार जैन समाज जहाँ इस बात पर गर्व कर सकती है कि उसकी मान्यता मे मानव-जीवन की छोटी-से-छोटी और बडी-से-बडी प्रत्येक प्रवृत्ति को धर्म और अधर्म की मर्यादा मे बाँधकर विश्व को सुपथ पर चलने के लिए सुगमता पैदा की गई है, वहाँ उसके लिए यह बडे सताप की बात है कि इन सब बातो का जैन समाज के जीवन में प्राय अभाव सा हो गया है और दिन प्रतिदिन होता जा रहा है तथा जैन समाज की क्रोधादि कषायरूप परिणति और हिंसादि पापमय प्रवृत्ति आज शायद ही दूसरे समाजो की अपेक्षा कम हो । जो कुछ भी धार्मिक प्रवृत्ति आज जैन समाज मे मौजूद है वह इतनी अव्यवस्थित एव अज्ञानमूलक हो गई है कि उस प्रवृत्ति को धर्म का रूप देने मे सकोच होता है ।

जैन समाज मे पूर्वोक्त धर्म को अपने जीवन में न उतारने की यह एक बुराई तो वर्तमान है ही, इसके अतिरिक्त दूसरी बुराई जो जैन समाज में पाई जाती है, वह है खाने-पीने इत्यादि मे छुआ-छूत के भेद की । जैन समाज मे वह व्यक्ति अपने को सबसे अधिक धार्मिक समझता है, जो खाने-पीने आदि मे अधिक-से-अधिक छुआ-छूत का विचार रखता हो, परन्तु भगवान ऋषभदेव द्वारा स्थापित और शेष तीर्थकरो द्वारा पुनरुज्जीवित धर्म मे इस प्रकार के छुआछूत को कतई स्थान प्राप्त नही है । कारण कि धर्म मानव-मानव मे भेद करना नही सिखलाता है और यदि किसी धर्म से ऐसी शिक्षा मिलती हो तो उसके बराबर अधर्म दुनिया में दूसरा कोई नही हो सकता । हम गर्वपूर्वक कह सकते है कि जैन तीर्थकरो द्वारा प्रोक्त धर्म न केवल राष्ट्रधर्म ही हो सकता है, अपितु वह विश्वधर्म कहलाने के योग्य है । परन्तु छुआछूत के इस सकुचित दायरे मे पडकर वह एक व्यक्ति का भी धर्म कहलाने योग्य नही रह गया है, क्योकि यह भेद न केवल राष्ट्रीयता का ही विरोधी है, बल्कि मानवता का भी विरोधी है और जहाँ मानवता को स्थान नही, वहाँ धर्म को स्थान मिलना असभव ही है ।

यद्यपि ये सब दोष जैन समाज के समान अन्य धार्मिक समष्टियो मे भी पाये जाते है, परन्तु प्रस्तुत लेख केवल जैन मान्यता के अनुसार प्रतिपादित धर्म के बारे में लिखा गया है । इसलिए दूसरी धार्मिक समष्टियो की ओर विशेष ध्यान नही दिया गया है। हमे आश्चर्य होता है कि क्या जैन समष्टि और क्या दूसरी धार्मिक समष्टियाँ, सभी अपने द्वारा मान्य धर्म को ही राष्ट्रधर्म तथा विश्वधर्म कहने का साहस करती है, परन्तु उनका धर्म किस ढग से राष्ट्र का उत्थान एव विश्व का कल्याण करने मे सहायक हो सकता है और हमे इसके लिए अपनी वर्तमान दुष्प्रवृत्तियो के कितने बलिदान की जरूरत है, इसकी ओर किसी का भी लक्ष्य नही है ।

बीना]

: ५ :

संस्कृत, प्राकृत और जैन-साहित्य

सुमित्रा दशी

श्री बहादुरचद्र छावडा एम० ए०, पी-एच्० डी०

[मैलापुर, मदरास की सस्कृत एकेडेमी ने ८ अप्रैल १९४३ को वाल्मीकि-दिवस मनाया था और घोषणा की थी कि सुमित्रा पर पन्द्रह अथवा उससे कम पदो की सस्कृत की सर्वोत्तम मौलिक रचना पर पुरस्कार दिया जायगा। उसी के लिए श्री बहादुरचद्र जी छावडा ने 'सुमित्रा पचदशी' शीर्षक पन्द्रह श्लोक भेजे थे, जो पुरस्कार के योग्य निर्धारित हुए थे।—सपादक]

जयति सुमित्रा साध्वी पुत्रवतीना ललामभूता सा।
लक्ष्मण सदृश वीर जितेन्द्रिय या सुत सुषुवे ॥१॥

राम दशरथ विद्धि मा विद्धि ।
इत्यादि यादिशत्पुत्र सा सुमित्रा महीयते ॥२॥

यमौ सुमित्रा तनया वजीजनत्प्रशस्तवीर्यौ भुवि यौ मनस्विनौ।
निजाग्रजादेशवशवदौ स्वक कुल कुलीनौ प्रथयाम्बभूवतु ॥३॥

लक्ष्मणशत्रुघ्नौ तौ क्रमशो बाल्याद्धि रामभरताभ्याम्।
प्राय: सौमित्रगुणैरास्ता नखमासवत् स्यूतौ ॥४॥

रामाय लक्ष्मण दत्त्वा शत्रुघ्न भरताय च।
कौसल्यामिव कैकेयीं सुमित्रारञ्जयत्सती ॥५॥

कैकेयीं प्रति मत्सर न भेजे कौसल्या प्रति नाति ।
दुष्टादुष्टमचिन्वती सपत्न्यो' सौमित्रं समवर्धयत्सुमित्रा ॥६॥

हन्त सुमित्रा व्याञ्जीदुदारताया. परा काष्ठाम्।
परकीयेषु निजेभ्य. प्रकाशयन्ती गरीयसीं ममताम् ॥७॥

धन्यासि त्व सुमित्रे कृतमतिकठिन कर्म धर्म्यं त्वया वै
दास्ये सूनो. सपत्न्याश्चिरवनवसति यास्यतो राघवस्य।
ज्यायास यद्ययुङ्क्था प्रमुदितमनसा लक्ष्मण कुक्षिज स्व
यत्सोप्याज्ञा यथावत्तव खलु कृतवास्तेन भूयोसि धन्या ॥८॥

पिता राममेवादिशद्वानवास स्वतन्त्रोपि यल्लक्ष्मणस्तेन साकम्।
गतोभुङ्क्त दु'खानि भूयासि साधु सुमित्रोपदेशस्तु तत्राग्र्यहेतु ॥९॥

कथ बालोम्बाया सरसमुपदेशैर्गुणगण
कथ माता कीर्ति सुतगुणमहिम्ना च लभते।
सुमित्रा सौमित्री इदमुभयमच्छ विवृणुत'
सरस्यम्भोजौ वा प्रतिफलितशोभौ खलु मिथ ॥१०॥

रामेरण्य यातवत्यार्तिमग्ना कौसल्या यत्सर्वदासान्त्वयत्सा।
न्यक्कुर्वाणा स्व विषादं सुमित्रा निर्व्याज तत्सौभगिन्य सपत्न्याम् ॥११॥

पत्यू राजर्षित्वावृषिपत्न्यो पत्न्योपि।
किन्तु सुमित्रा तासामृषिपत्न्यासीद्विशेषेण ॥१२॥

अनसूया तपोनिष्ठा नम्रता समदर्शिता ।
एभिरार्यैर्गुणैरासीत् सुमित्रा सुतरामृधि. ॥१३॥
आत्मत्यागपुनीतलानलजना शीलार्जवोद्यत्तटा
सत्यस्नेहसहिष्णुतोत्पलचया भक्तिप्रवाहोद्धुरा ।
धृत्युत्साह विवेकवीचिरुचिरा धैर्योरुसत्त्वान्विता
सेयं मानवपावनी विजयते चित्रा सुमित्रा नदी ॥१४॥
वाल्मीकपूर्वपरिकीर्तितसच्चरित्राम् आश्रित्य लक्ष्मणयतेर्जननीं सुमित्राम् ।
गीर्वाणगीरभिनिवेशजुषा प्रशस्ति केनापि शावरवरेण कृतेयमस्ति ॥१५॥

उटकमण्ड (दक्षिण भारत)]
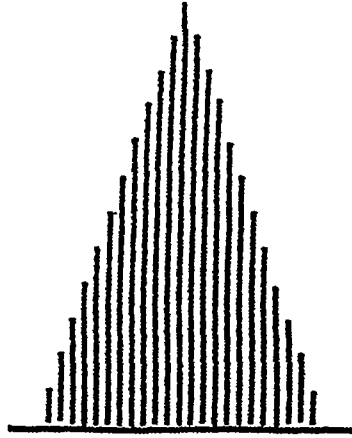
विक्रमसिंह रचित पारसी-संस्कृत कोष

श्री बनारसीदास जैन एम्० ए०, पी-एच्० डी०

जव भारतवर्ष मे मुसलमानो का राज्य स्थापित हो गया तो यहाँ के सरकारी दफ्तरो मे भारतीय भाषा के साथ-साथ फारसी का प्रयोग भी होने लगा। अत दफ्तरो मे काम करने वाले हिन्दू लोग फारसी से कुछ-कुछ परिचित हो गये होगे, लेकिन सम्राट् अकवर के मत्री राजा टोडरमल ने केवल फारसी को ही दफ्तरी भाषा वना दिया। अत अव सरकारी नौकरी पाने के लिए फारसी का ज्ञान अनिवार्य हो गया। इस कारण हिन्दुओ मे अव इसका प्रचार अधिक होने लगा। धीरे-धीरे उनकी प्रवृत्ति फारसी साहित्य मे हो गई और उन्होने अपनी विविध रचनाओ से इस साहित्य की उल्लेखनीय वृद्धि की।[1] मुसलमाना को भी यहाँ की प्रचलित भाषाएँ सीखनी पडी, क्योकि इनके विना सीखे जीवन का काम नही चल सकता था। इन्होने हिन्दी साहित्य की काफी वृद्धि की।[2] पजावी साहित्य की तो नीव ही इन्होने डाली। प्रारभ मे इन्होने सस्कृत को नही सीखा। सभव है कि पडितो ने इनको सस्कृत सिखाने से सकोच किया हो और इन्होने उसे सीखने से। लेकिन अकवर ने सस्कृत का वडा आदर किया। उसकी प्रेरणा से अवुल फजल, फैजी आदि ने सस्कृत सीखकर उसके अनेक ग्रथो का फारसी मे अनुवाद किया।[3] अकवर के दरवार मे जैन साधुओ का वडा सम्मान था। जैन साहित्य मे इस विषय पर प्रचुर सामग्री मिलती है।[4] सिद्धिचन्द्र तो महल मे जाकर जहाँगीर (कुँवर सलीम या शेखू वावा) के साथ फारसी सीखा करता था।[5] यद्यपि तत्कालीन देशी भाषाओ और साहित्य पर फारसी का पर्याप्त प्रभाव पडा, तथापि कतिपय सज्ञाओ के प्रयोग को छोडकर सस्कृत पर इसका कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता। अभी तक किसी भी फारसी ग्रथ का सस्कृत अनुवाद उपलब्ध नही हुआ। हाँ, ज्योतिष के ताजिक ग्रथो का मूल विदेशी जान पडता है, क्योकि उनकी वहुत सी परिभाषाएँ अरवी की है, जो सभवत हिंदुओ ने फारसी द्वारा सीखी हो।[6]

नानाविध-भाषा-ज्ञान जैनाचार्यो का एक प्रधान गुण रहा है। वे सस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, अपभ्रश और एक-दो देशी भाषाएँ जाना ही करते थे। अवसर मिलने पर विदेशी भाषा भी सीख लेते थे। जैनाचार्यो द्वारा

---

[1] देखिये—सैयद अब्दुल्ला कृत "अद्वियाते फारसी में हिन्दुओ का हिस्सा", देहली, सन् १६४२।

[2] देखिये—"हिन्दी के मुसलमान कवि"।

[3] 'पञ्चास्तिकाय' और 'कर्मकाण्ड' नामक दो जैन ग्रन्थो का भी मुशी विलाराम कृत फारसी अनुवाद मिलता है। सैयद अब्दुल्ला, पृ० १२५।

[4] विद्याविजय कृत "सूरीश्वर अने सम्राट्," भावनगर, स० १६७६।

[5] भूयो भूयस्त मित्याह प्रसन्नवदन प्रभु।
'त्वया मत्सूनुभि सार्द्धं स्थेयमत्रैव नित्यश'॥८६॥
अध्यैष्ट सर्वशास्त्राणि स्तोकैरेव दिनैस्तत।
शाहिना प्रेरितोऽत्यन्त सत्वर पारसीमपि॥६०॥
पठन्त (पठत ?) पारसी ग्रन्थास्तत्तनूजाङ्गजै समम्।
प्रात पूर्वदिनाभ्यस्त पुर श्रावयत प्रभो॥१०४॥

भानुचन्द्रगणिचरित, चतुर्थ प्रकाश। सिद्धिचन्द्र विरचित, मोहनलाल दलीचद देशाई द्वारा सपादित सिंघी जैन ग्रन्थमाला—१५।

[6] म्लेच्छेषु विस्तृत लग्न कलिकाल प्रभावत। प्रभुप्रसादमासाद्य जैने धर्मेवतार्यते॥६॥
हेमप्रभसूरि रचित 'त्रैलोक्यप्रकाश'। 'जैन सत्य प्रकाश' वर्ष ६, अक ६, पृ० ४०६।

विविध भाषाओं में रचे हुए अनेक स्तोत्र मिलते हैं। जिन प्रभरचित पारसी का ऋषभस्तोत्र प्रसिद्ध है।[1] इसी प्रकार मह० विक्रमसिंह विरचित 'पारसी भाषानुशासन' नाम का फारसी-संस्कृत कोष है। इसकी एक प्रति अम्बाला शहर के श्वेताम्बर भडार मे विद्यमान है। प्रस्तुत लेखक ने इस पर एक नोट प्रकाशित किया था,[2] जिसे पढकर गायकवाड ओरियटल इन्स्टिट्यूट, वडौदा के डाइरेक्टर महोदय ने इस प्रति को मगवा कर इसके फोटो बनवा लिये। इससे इस प्रति के महत्त्व का अनुमान लग सकता है। यहाँ उसी प्रति के आधार पर इस कोष का परिचय कराया जाता है।

अम्बाले के भडार की सूची मे इस प्रति का नवर २५८ (ख) है।[3] इसके आठ पत्र है, जो १०½ इच लबे और ४½ इच चौडे है। प्रत्येक पृष्ठ पर पद्रह पक्तियाँ है और प्रति पक्ति मे पचास के लगभग अक्षर है। इसके अक्षर साधारण श्वेताम्बर लिपि के है। यद्यपि इसमे लिपिकाल का निर्देश नही है, तथापि कागज और अक्षरो की आकृति से तीन सौ वर्ष पुरानी प्रतीत होती है। 'जैन ग्रथावली' और मोहनलाल दलीचद देसाई कृत 'जैन साहित्य नो सक्षिप्त इतिहास' मे इस कोष का उल्लेख नही, परन्तु प्रो० एच० डी० वेलकर ने अपने 'जिनरत्न समुच्चय' में इसी प्रति के आधार पर इस कोष का नाम निर्देश किया है।

प्रशस्ति के अनुसार कोष के रचयिता का नाम मह० विक्रमसिंह है, जो मदनपाल का पुत्र और ठक्कुर जागज का पौत्र था। यह जागज प्राग्वाट वश रूपी आकाश मे पूर्ण चन्द्र के समान था तथा धर्मात्मा और बुद्धिमान था। उसका बेटा मदनपाल अपनी सुजनता, नीति और नम्रता आदि गुणो के लिए प्रसिद्ध था। स्वय विक्रमसिंह आनन्दसूरि का अनन्य भक्त था। पारसी भाषा का शुद्ध प्रयोग सीखकर उसने इस कोष को रचा।[4] खेद है कि विक्रमसिंह ने कोष का रचना-काल और रचना-स्थान नही बतलाया। इसके अपने तथा पिता और पितामह के नाम का उल्लेख भी कही नही मिला और न आनन्दसूरि का नाम ही इस विषय मे कुछ सहायता कर सकता है, क्योकि इस नाम के कई आचार्य हो चुके है[5] और विक्रमसिंह ने अपने आनन्दसूरि की गुरु-परपरा नही बतलाई। हाँ,

---

[1] जैन साहित्य सशोधक, खड ३, पृ० २१-२६।

[2] वूल्नर कमेमोरेशन वॉल्युम्, लाहौर सन् १६४०, पृ० ११६-२२।

[3] कैटालॉग आव मैन्युस्क्रिप्ट्स् इन दि पजाब जैन भडार, लाहौर, सन् १६३६, न० १६४६।

[4] इति मह० विक्रमसिंह विरचिते पारसी भाषानुशासने सामान्यप्रकरण पञ्चम समाप्तम्।

प्राग्वाट वशगगनाङ्गण पूर्णचन्द्र
सद्धर्मबुद्धिरिह ठक्कुरजागजोस्ति।
तन्नन्दनो मदनपाल इति प्रसिद्ध
सौजन्य नीतिविनयादि गुणैकगेह. ॥१॥
आनन्द सूरिपद पद्मयुगैक भृङ्ग—
स्तत्सूनुरेष ननु विक्रमसिंह नामा।
आम्नाय शुद्धमवबुध्य स पारसीक—
भाषानुशासनमिद रचयाचकार ॥२॥

[5] (१) इस नाम के एक आचार्य स० २३० में हुए। पूरणचन्द्र नाहर—जैन लेख सग्रह, नं० ८७२, ८७३।

(२) जिनेश्वरसूरि के शिष्य। जैन ग्रन्थावली, पृ० १२६।

(३) नागेन्द्रगच्छीय शान्ति सूरि के शिष्य। पीटर्सन, रि० ३, परिशिष्ट पृ० १७।

(४) बृहद्गच्छ के। पीटर्सन, रि० ३, परिशिष्ट पृ० ८०।

(५) एक और आचार्य। पीटर्सन, रि० ३, परिशिष्ट पृ० ८७।

(६) अमरप्रभसूरि के गुरु (स० १३४४) पीटर्सन रि० ५, परिशिष्ट पृ० ११०।

कोष के प्रथम प्रकरण के श्लोक २६ से, जहाँ नगर शब्द का फारसी पर्याय देकर अणहिल्लपाटक (पाटण) का फारसी रूप 'निहरवल' दिया है,[1] यह अनुमान किया जा सकता है कि विक्रमसिंह पाटण का रहने वाला था, क्योंकि फारसी मे कई नगरो के विशेष नाम है—प्रयाग का अलाहाबाद, राजनगर का अहमदाबाद, परन्तु विक्रमसिंह ने पाटण को ही लिया है। कोषकर्ता की उपाधि मह० महतो (गुजराती=महेतो) भी इस बात की सूचक है कि वह गुजराती था।

यह कोष जैनो मे काफी प्रचलित रहा होगा। इसके दो पद्य जिनप्रभसूरि विरचित पारसी भाषा के ऋषभस्तव की टीका मे उद्धृत किये गये है।[2] यह टीका शायद लावण्यसमुद्र गणी की रचना है, जिसे उनके शिष्य उदयसमुद्र ने लिपिबद्ध किया। यदि ये उदयसमुद्र खरतर गच्छीय है तो इनका सत्ताकाल स० १७२८ के आसपास है।[3] अत इस कोष की रचना तीन सौ बरस से पहिले की होनी चाहिए।

इस कोष में अनुमानत १,००० फारसी शब्दो के संस्कृत पर्याय दिये है। कर्ता के कथनानुसार इसका परिमाण ३६० ग्रंथ (३२ अक्षर का श्लोक) है।[4] यह पाँच प्रकरणो मे विभक्त है—(१) जाति प्रकरण (२) द्रव्य प्रकरण, (३) गुण प्रकरण, (४) क्रिया प्रकरण और (५) सामान्य प्रकरण, जिन मे क्रम से १११, ६६, १५, ३१ और ३५ श्लोक है।

इस कोष मे सन्धि-नियमो का प्रयोग वैकल्पिक रूप मे किया गया है। कभी-कभी फारसी शब्द के साथ प्रथमा विभक्ति लगा कर सन्धि कर दी गई है। इसमे प्राय पहिले फारसी शब्द देकर फिर संस्कृत पर्याय दिया है, लेकिन कहीं-कहीं इस क्रम का व्यत्यय हो गया है। फारसी मे लिंग के कारण शब्दो में भेद नही पडता, और न इसमें तीन वचन ही होते है।[5] हम यह तो निर्णय नहीं कर सकते कि फारसी भाषा के इतिहास मे इसका कितना उपयोग है, लेकिन कई अन्य दृष्टियो से इस कोष का बडा महत्त्व है। जैसे—

---

[1] वसुन्धरा दुनीए स्यात् पत्तन सहरु स्मृतम्
ग्रामो दिहस्तथा देश उलातु परिकीर्तितिः ॥२५॥
तस्मिन् निहरवलो श्रीमदणहिल्लपाटकम्
लोक कसस्तया प्रोक्तो वुधखाना सुरालय ॥२६॥

[2] 'जैनसत्यप्रकाश', खड ६, अक ८, पृ० ३८८—९० ।

[3] मोहनलाल दलीचद देशाई कृत जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास, पैरा० ९७६ ।

[4] प्रत्यक्षरगणनात शतानि त्रीण्यनुष्टुभाम् ।
पष्टयधिकानि विज्ञेय प्रमाण तस्य निश्चितम् ॥३॥ (कोष-प्रशस्ति)

[5] शब्दस्य भेदाश्चत्वारो जातिद्रव्यगुणक्रिया ।
ततस्तदनुसारेण वच्मि किंचिद् यथामति ॥३॥
प्रायो दुरवबोधत्वात् सधिकार्यं कृत न हि ।
अन्यथा स्यादपभ्रंश कष्टं सस्कृतयोजितु ॥४॥
सस्कृतोक्ति क्वचित् पूर्वं तत स्यादनु पारसी ।
पारस्यपि क्वचित् पूर्वं सस्कृतोक्तिस्तत कृता ॥५॥
पुस्त्रीनपुसकत्वाद्यैर्लिङ्गैर्भेदो न दृश्यते ।
एक द्वि बहुरूपैश्च वचनैरत्र न निश्चितम् ॥६॥

१—फारसी-सस्कृत कोषो की सख्या अति अल्प है। इस समय इसके अतिरिक्त केवल चार कोष ज्ञात है।[1] अत एक नये कोष की उपलब्धि हर्ष का विषय है।

२—सस्कृत-प्राकृत मिश्रण का अद्भुत उदाहरण। इस कोष का मगलाचरण सस्कृत-प्राकृत मे रचा हुआ है, अर्थात् इसका प्रथम पाद सस्कृत मे, द्वितीय महाराष्ट्री मे, तृतीय शौरसेनी मे और चतुर्थ मागधी मे।[2]

एक ही पद्य मे विभिन्न भाषाओ का प्रयोग अन्य भाषाओ मे भी हुआ है। जैसे—हिन्दवी और फारसी का रेखता, जिसमे अमीर खुसरो ने रचना की। सस्कृत और द्राविडी भाषाओ (कण्णड, मलयालम आदि) का मिश्रण, जिसे 'मणि प्रवालम्' कहते है। इस शैली मे जैनाचार्यों ने अनेक स्तोत्र रचे है। भीमकुमार कथा तो सारी ही सस्कृत-महाराष्ट्री मिश्रण मे है।[3] लेकिन चारो पदो मे विभिन्न भाषाओ के उदाहरण बहुत थोडे है।

३—इस कोष का दूसरा पद्य फारसी भाषा और शार्दूल विक्रीडित छन्द मे है।[4] अम्बाला वाली प्रति के अन्तिम पृष्ठ पर इस पद्य की सस्कृत व्याख्या दी है, जो शायद किसी अन्य लेखक की कृति है। इस व्याख्या मे 'रहमाण' शब्द को सस्कृत प्रकृति प्रत्यय से सिद्ध करके इसका अर्थ 'वीतराग' किया है।[5] इसमे किसी कुरानकार

---

[1] (१) पारसी-नाममाला या —शब्दविलास। स० १४२२ में सलक्षमत्री द्वारा रचित। परिमाण ६०० ग्रन्थ। जैन ग्रन्थावली पृ० ३११।

(२) पारसी प्रकाश। अकबर के समय में कृष्णदास द्वारा रचित। इसने सस्कृत सूत्रो में पारसी व्याकरण भी रचा। ए० वेबर द्वारा सपादित, कोष १८८७, व्याकरण १८८६ (जर्मनी)।

(३) पारसी प्रकाश। स० १७०० में वेदाङ्गराय द्वारा रचित।

(४) पारसी विनोद। स० १७१६ में रघुनाथ-सूनु व्रजभूषण द्वारा रचित।

[2] यद्गौरद्युतिदेह सुन्दररदज्योत्स्नाजलौघे मुदा
दट्ठूणासण सेयपकयमिण नूण सर माणस।
एय चिंतिय झत्ति एस करदे न्हाणम्मि हसो मदि
सा पक्खालदु भालदी भयवदी जड्डाणुलित्त मण ॥१॥

अर्थ—जिस (भारती) की गौरवर्ण देह और सुन्दर दन्त (पक्ति) की ज्योत्स्ना रूपी जलसमूह में (उसके) आसन रूपी श्वेत कमल को देख कर और ऐसा विचार कर कि 'सचमुच यह मानसरोवर है', (उसका वाहन) हस स्नान करने की सोचता है, वह भगवती भारती (हमारे) जडता से लिप्त मन का प्रक्षालन करे।

[3] जैन सत्य प्रकाश—वर्ष ८, अक १२, पृ० ३६२-६४।

[4] दोस्ती ख्वाद तुरा न वासय कुया हामाचुनीं द्रोग् हसि,
चीजे आमद पेसि तो दिलुसुरा बूदी चुनीं कीम्वर।
त वाला रहमाण वासइ चिरा दोस्ती निसस्ती इरा,
अल्लाल्लाहि तुरा सलाम् वुजिरुक् रोजी मरा मे देहि ॥

अर्थ—हे स्वामिन्! 'तेरा किसी में अनुराग नहीं है,' यह सब झूठ है। जो कोई तेरे सामने भक्तिभाव से आता है, चाहे वह किंकर ही हो, हे वीतराग! तू उससे क्यो अनुराग करता है? इसलिए हे अल्लाह! तुझे नमस्कार हो। मुझे भी महती विभूति दे।

[5] रहमाण शब्दस्य कृता व्युत्पत्तिर्यथा—रह त्यागे इति चौरादिको विकल्पेनन्तो धातु। रहयति रागद्वेष कामक्रोधादिकान् परित्यजतीत्येव शक्त इति विग्रहे शक्तिवयस्ताच्छील्य इति शानड् आन्मोन्त आने इति मोन्त। रषृवर्णभ्योर्नोर्णेत्यादिना णत्वम् इति रहमाण। कोर्थ रागद्वेषविनिर्मुक्त श्रीमान् वीतरागो रहमाण। नान्य. कश्चित्, तस्य सम्बोधनम्।

का उद्धरण है जो सभवत फारसी का व्याकरण था। यह उद्धरण ऋषभस्तोत्र की टीका मे भी मिलता है।[1]

४—कोष के दूसरे पद्य की भाषा शुद्ध साहित्यिक फारसी नही है। इस कारण से इसका सन्तोषजनक समन्वय नही किया जा सकता। कई शब्द ऐसे है जिनका प्रयोग फारसी में नही मिलता। स्वाभाविक वात है कि फारसी को देवनागरी में लिखते समय और सस्कृत-छन्द मे इसकी रचना करते समय उसके शब्दो के असली रूप में कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य हो गया होगा, लेकिन वह इतना नही हो सकता कि उनके असली रूप का अनुमान भी न किया जा सके। सभव है कि कोष की भाषा फारसी का कोई रूपान्तर हो। इस वात का निर्णय तो कोष का सूक्ष्म रीति से निरीक्षण करने पर ही हो सकता है कि जिस प्रदेश और काल मे इसकी रचना हुई थी वहाँ उस समय किस प्रकार की फारसी प्रचलित थी।

५—कोष के रचयिता अथवा उसके लिपिकार ने फारसी उच्चारण की विशेषताओ को देवनागरी मे प्रकट करने का प्रयत्न किया है। फारसी के 'खे' को नागरी 'क' के ऊपर जिह्वामूलीय लिखकर और 'फे' को 'फ' के पूर्व उपध्मानीय लगाकर ज़ाहिर किया है। लेकिन कही-कही 'खे' के लिए 'क', 'ख' या 'प' भी लिखा है। इसी तरह 'फे' के लिए केवल 'फ' लिखा है। 'ज़े' के लिए 'ज' या 'य' आया है। कभी 'जीम' के लिए भी 'य' का प्रयोग हुआ है। 'ज्वाद' को 'द' से और 'से' को 'थ' से प्रकट किया है। कभी 'ते' के लिए भी 'थ' आया है।[2]

लाहौर]

[1] 'तुरा' 'मरा' इति सर्वत्र सबन्धे सप्रदाने च ज्ञातव्यम्। तथा च कुरानकार—

अज इत्यन्वयादान सवन्धसप्रदानेयो।
रा सर्वत्र प्रयुज्येतान्यत्र वाच्य सु रूपत ॥
आनि मानि अस्मदीय किंचित् कियच्चदिरीदृशम्।
चुनी हमचनीं तावृक् चदिन इयदेव च ॥
चीजे किमपि इत्यादि कुरानोक्त लक्षणम्।
सर्वत्र विज्ञेय सप्रदायाच्च ॥

जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ६, अक ८, पृ० ३८६।

[2] लेखक के एक सहाध्यापक मराको (अफ्रिका) के रहने वाले है। उनकी अपनी भाषा के 'ते' का उच्चारण हिन्दी 'थ' से मिलता है। वे अरवी शब्द 'तरतीब को 'थरथीब' कहते है।

पाणिनि के समय का संस्कृत-साहित्य

श्री बलदेव उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य

महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी मुख्यत व्याकरण का सर्वश्रेष्ठ ग्रथ है। उसका सबध प्रधानतया संस्कृत-भाषा तथा उसकी सूक्ष्मभाषा सबधी बारीकियो से है। संस्कृत-साहित्य का इतिहास इसका विषय न होते हुए भी भाषा की खूबियो को अच्छी तरह से दिखलाने मे विद्या के अन्य विभागो का स्थान-स्थान पर उल्लेख करना पडा है। वह इतने महत्व का है कि संस्कृत-साहित्य के अनेक अज्ञात ग्रथरत्नो का इससे परिचय मिल जाता है। प्राचीनकाल से लेकर पाणिनि के समय तक के साहित्य पर इसमे थोडा ही प्रकाश डाला गया है। इन ग्रथो के उल्लेख से पाणिनि के विशाल साहित्यिक ज्ञान पर आश्चर्य होता है। प्राचीन 'दृष्ट' श्रुतियो से लेकर ऋषि प्रणीत भिन्न-भिन्न विषयो पर अनेक ग्रथो तक का पता इनसे भलीभाति लग जाता है।

पाणिनि के समय मे केवल श्रुतियो का ही अध्ययन नही होता था, बल्कि ब्राह्मणग्रथो का पठनपाठन भी अच्छे ढग से प्रचलित था। उस समय संस्कृत-साहित्य विशाल होने के अतिरिक्त विभिन्न विषयो के ग्रथो से सुशोभित था। केवल एक ही विषय—धार्मिक साहित्य—का ही अभ्युदय न था, प्रत्युत अन्य ऐहलौकिक विषयो पर भी रचनाएँ थी। इससे तत्कालीन साहित्य का महत्त्व सहज मे ही समझा जा सकता है।

पाणिनि ने तत्कालीन साहित्य के जो विभाग किये है उसमे उनकी वैज्ञानिक बुद्धि का यथेष्ट परिचय मिलता है। यह विभागीकरण इतना वैज्ञानिक है कि यदि इसका प्रयोग साहित्य के इतिहास ग्रथो मे किया जाय तो उससे अनेक लाभ होने की सभावना है। पाणिनि की प्रखर प्रतिभा ने साहित्य के निम्नलिखित विभागो का निर्देश किया है—

(१) दृष्ट साहित्य—अर्थात् वे ग्रथ, जिन्हे 'अपौरुषेय' कहा जा सकता है। ये ईश्वर प्रदत्त है, किसी मनुष्य की रचनाएँ नही है। इन ग्रथो का ज्ञान पहिलेपहिल 'मत्रदृष्टा' 'ऋषियो' को हुआ था।

सूत्रो मे वैदिक नियमो के निर्देश से पाणिनि का वेदसबधी ज्ञान अत्यन्त विस्तृत प्रतीत होता है। यदि उनका वैदिक अध्ययन अत्यन्त गभीर न होता तो उन्हे इतने सूक्ष्म नियमो की कल्पना ही नही हो सकती थी।

पाणिनि ने दृष्ट साहित्य के उदाहरण मे तीनो वेदो का बिना नाम के (४, ३, १२६) साधारण रूप से उल्लेख किया है तथा अलग-अलग ऋग्वेद (६, ३, ५५, ५, ४, ७७ आदि), सामवेद (५, ४, ७७, ५, २, ५६) तथा यजुर्वेद (२ ४ ४, ५, ४, ७७, ६ १ ११७) का अध्वर्यु वेद के नाम से (४ २ ६०) उल्लेख किया गया है। एकश्रुति के विषय में लिखते हुए पाणिनि ने स्पष्ट ही लिखा है कि साम मे इस नियम का निषेध होता है (१ २ ३४), जिससे उनके सामगायन-सबधी सूक्ष्म ज्ञान का परिचय मिलता है।

ऋग्वेद की शाखा के विषय मे पाणिनि को शाकलशाखा (४ ३ १२८), उसके पदपाठ (६ १ ११५, ७ १ ५७) और क्रमपाठ (४ २ ६१) का ज्ञान भलीभाति था। उन्हे वेद के कई विभागो, सूक्त अध्याय तथा अनुवाक (५, २ ६०), का भी यथेष्ट परिचय था। वेदो के 'प्रगाथ' का उल्लेख (४ २ ५५) पाया जाता है। जहाँ दो ऋचाएँ ग्रथित होकर तीन बन जाती है वहाँ 'प्रगाथ' होता है ('यत्र द्वे ऋचौ प्रग्रथनेन तिस्र क्रियन्ते स प्रगाथनात् प्रकर्षगानाद्वा प्रगाथ इत्युच्यते' पूर्वसूत्र की काशिकावृत्ति)।

वेदो के कुछ खास भागो का भी स्पष्ट उल्लेख है। 'न्यूख' सोलह ओकारो का सम्मिलित नाम है, जिन्हे भिन्न-भिन्न श्रुतियो से उच्चारण करना पडता था (१, २ ३४ न्यूखा ओकारा षोडश तेषु केचिदुदात्ता केचिदनुदात्ता, काशिका)। 'सुब्रह्मण्या' नामक कतिपय मत्रो में भी एकश्रुति का निषेध किया गया है (१, २, ३७)।

मत्रद्रष्टा ऋषियो के नाम निर्देश भी यत्रतत्र पाये जाते हैं। साममत्र के द्रष्टा ऋषियो मे 'वामदेव' (४ २ ९) तथा 'कलि' का नाम पाया जाता है (४ २ ८)। इसी सूत्र के वार्तिक मे 'अग्नि' तथा 'उशनस्' के उल्लेख सामद्रष्टा ऋषि के रूप मे पाये जाते हैं।

बहुतो का कहना है कि 'अथर्व' केवल गण में ही पाया जाता है, सूत्र में नही। अतएव गोल्डस्टुकर ने पाणिनि को वेदत्रयी मे ही परिचित बतलाकर अथर्ववेद की रचना से पूर्ववर्ती बतलाया है, परन्तु हमारी सम्मति मे पाणिनि को इस वेद तथा इसके वशीकरण मत्रो का परिचय पूरी तरह से था। आथर्वणिकस्येक् लोपश्च (४ ३ १३३) मे पाणिनि ने 'आथर्वण' की व्युत्पत्ति बतलाई है।

उक्तसूत्र की काशिका में "आथर्वणिकस्यायम् आथर्वणो धर्म आम्नायो वा। चरणाद्धर्माम्नाययो" लिखा हुआ है, जिससे अथर्वण के द्रष्टा ऋषि तथा उनके खास आम्नाय अर्थात् अथर्वण वेद के नाम उल्लिखित हैं। इस सशयरहित उल्लेख से इस चतुर्थ वेद को पाणिनि के अनन्तर का मानना सर्वथा भूल है। एक अन्य सूत्र से अवशिष्ट सन्देह भी दूर हो जाता है। पाणिनि ने (४, ४ ९६ मे) पुरुषो के हृदय को वश में करने वाले मत्रो का उल्लेख किया है तथा उन्हें 'हृद्य' सज्ञा दी है। काशिका के अनुसार पाणिनि को वशीकरण मत्र से पूरा परिचय था। (ऋषिर्वेदो गृह्यते। हृदयस्य बन्धनमृषि हृद्य। परहृदय येन बद्धयते वशीक्रियते स वशीकरण मत्रो हृद्य इत्युच्यते)। ४ ३ ७२ मे न केवल 'पुरश्चरण' नामक क्रिया का उल्लेख है, अपितु उसके व्याख्यान ग्रथो अर्थात् उसकी टीका-टिप्पणी का भी परिचय पाया जाता है। जहाँ तक हमारा विचार है, वशीकरण मत्र तथा पुरश्चरण आदि मारणोच्चाटन क्रियाओ का वर्णन पहिले-पहल अथर्ववेद मे ही पाया जाता है। अतएव पाणिनि को इस वेद से अनभिज्ञ मानना भयकर ऐतिहासिक भूल के सिवाय और क्या कहा जा सकता है? पूर्वोक्त सूत्रो के प्रमाण पर पाणिनि केवल अथर्व से परिचित ही नही जान पडते, बल्कि अन्य वेदो की भाति उनका अथर्व सबधी ज्ञान तथा अध्ययन भी उन्नत कोटि का था।

इन पवित्र श्रुतियो के अतिरिक्त पाणिनि ने इनके मर्मज्ञो का भी उल्लेख किया है, जिन्हें यज्ञो मे भिन्न-भिन्न कार्य समर्पित किये जाते थे। जान पडता है कि पाणिनि के समय में ऐसे बहुत से नाना प्रकार के चरण तथा सम्प्रदाय विद्यमान थे, जो अपनी शाखा के अध्ययन तथा रक्षा मे दत्तचित्त थे। विभिन्न वैदिको का एक साथ पाणिनि ने वर्णन किया है। वे थे छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक तथा बह्वृच् (४।३।१२९) 'छन्दोग' विद्वान् तो यज्ञ के समय छन्दो को गाते थे। 'उक्थ' साम का ही एक विशेष प्रकार है, जो केवल लगातार सुना दिया जाता था। साम की भाति न तो यह स्वर में गाया जाता था और न यजुष् की तरह केवल धीरे से उच्चरित होता था। इस विशिष्ट साम को जानने वालो की सज्ञा 'औक्थिक' थी। 'याज्ञिक' विद्वानो का सबध यजुर्वेद से था और यज्ञ के काम कराने वाले वे ही होते थे। 'बहवृच' यज्ञ के समय ऋग्वेद की ऋचाएँ सुनाते थे। इससे स्पष्ट है कि उस समय इन वेदो के विभिन्न सम्प्रदायो तथा शाखाओ की उन्नति यथेष्ट थी।

(२) प्रोक्त—अर्थात् वह साहित्य, जो ऋषियो द्वारा पहिले-पहल कहा गया हो या वर्णित हो, परन्तु जो 'दृष्ट' न हो। (४ ३ १०१)।

(क) छन्दस् ग्रथ जो तित्तिरि, वरतन्तु, खण्डिक तथा उख से कहे गये हैं (४ ३ १०२), काश्यप तथा कौशिक ऋषि से प्रोक्त ग्रथ (४ ३ १०३), कलापि ऋषि तथा वैशम्पायन के 'अन्तेवासी' शिष्यो द्वारा प्रोक्त ग्रथ (४ ३ १०४)। काशिका मे कलापि के चार शिष्यो के (हरिद्रु, छगली, तुम्बुरु तथा उलप) तथा वैशम्पायन के नव शिष्यो के (आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्डय, श्यामायन, कठ तथा कलापी) नाम स्पष्टत उल्लिखित हैं। न केवल इन ऋषियो के शिष्यो द्वारा ही ग्रथो की रचना की गई थी, बल्कि इन आचार्यों के लिखे हुए ग्रथो का पता पाणिनि ने स्वय ही दिया है। बात ठीक भी है। जब इनके शिष्यो ने अनेक ग्रथो की रचना की तब इन आचार्यों ने अवश्य ही कुछ-न-कुछ लिखा होगा। कलापी (४ ३ १०८) तथा चरक (वैशम्पायन) (४ ३ १०७) (चरक इति वैशम्पायनस्य आख्या, इति काशिका) के प्रोक्त ग्रथ का उल्लेख है। इनके शिष्यो मे से कठ तथा छगली (४ ३ १०९)

द्वारा रचित ग्रथो का वर्णन पाणिनि ने स्वय किया है। शाकल द्वारा प्रोक्त ग्रथ का उल्लेख ४ ३ १०६ मे किया गया।

(ख) ब्राह्मण—यह ध्यान मे रखना चाहिए कि पाणिनि ने ब्राह्मणग्रथो को वैदिक सहिताओ की भाति 'दृष्ट' नही माना है, वल्कि उन्हें 'प्रोक्तग्रथो' की सूची मे अन्तर्भुक्त किया है। आजकल तो ब्राह्मण श्रुति के अन्तर्गत माने जाते है तथा वेद की भाति उनकी अपौरुषेयता भी प्रामाणिक मानी जाती है, परन्तु यह वर्णन साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मणग्रथो को पाणिनि ने 'छन्दस्' से भिन्न वतलाया है। पाणिनि ने ब्राह्मणो के विषय मे केवल इसी वात का उल्लेख किया है कि कुछ एक प्राचीन मुनियो द्वारा प्रोक्त थे। इसके अतिरिक्त किसी का व्यक्तिगत नाम नही दिया गया है (४ ३।१०५)। काशिका ने 'पुराणमुनियो से पाणिनि का आशय 'भल्लव' 'शाटचायन' तथा 'ऐतरेय' से वतलाया है। अवश्य ही पाणिनि ने तीस या चालीस अध्याय वाले ब्राह्मणो की सज्ञा 'त्रैश' तथा 'चत्वारिंश' दी है (५ १ ६२)। ब्राह्मणो के अनुकरण पर वनने वाले 'अनुब्राह्मण' ग्रथो का भी उल्लेख किया गया है (४।२।६३)। मत्रो की किसी प्रकार की अनुक्रमणिका का पता भी (४ ४ १२५-२७) लगता है, जो यज्ञो की सुविधाओ के लिए वनाई गई थी। उदाहरणार्थ जिनमें 'वयस्यान्' शब्द (४।४।१२७) तथा 'अश्विमान' शब्द पाये जाते है (४।४।१२६) उन मत्रो की एक पृथक् सूची थी। पूर्वोक्त वातो से तत्कालीन ब्राह्मण ग्रथो के विषय में वहुत कुछ जानकारी की वातो का पता चलता है। पाणिनि के समकालीन ग्रथकारो मे वार्तिककार तथा उसके आधार पर काशिकाकार ने 'याज्ञवल्क्य' का नामोल्लेख किया है।

(ग) उपनिषद्—यद्यपि पाणिनि ने ग्रथ के अर्थ मे 'उपनिषद्' शब्द का व्यवहार नही किया है, तथापि १ ४ ७९ से ज्ञात होता है कि उनका परिचय इन ग्रथो से अवश्य था। पूर्वोक्त सूत्र का अर्थ है कि जीविका तथा उपनिषद् शब्द को औपम्य (सादृश्य) के अर्थ मे गतिसज्ञा होती है। यदि ग्रथकार को शब्दो के मूल अर्थ का पता नही होता तो उसे उनके उपमासूचक अर्थ में व्यवहार करना उचित नही था। जीविका के मूल अर्थ को जाने विना 'जीविका के तुल्य' का अर्थ स्पष्ट नही होता। इससे मेरी सम्मति मे उक्त सूत्र मे 'उपनिषद्' शब्द को औपम्यार्थ—(रहस्यभूत के अर्थ) में प्रयुक्त होने से पाणिनि की इन दार्शनिक ग्रथो से अभिज्ञता का पूरा पता चलता है।

(घ) कल्पसूत्र—यज्ञ के अगभूत इन आवश्यक ग्रथो का उल्लेख केवल साधारणतया ही (४ ३ १०५) किया गया है। इनमे प्राचीन मुनियो से प्रोक्त कल्पग्रथो का ही हाल दिया गया है, यद्यपि ग्रथो के व्यक्तिगत नाम नही दिये गये है। काशिका ने 'पिङ्ग' तथा 'अरुणपराज' नामक प्राचीन कल्पग्रथो के रचयिताओं के नाम दिये है जिनके द्वारा रचित कल्पसूत्र क्रमश 'पैङ्गी' तथा 'अरुणपराजी' कहे जाते है। आधुनिक कल्प के कर्ता मुनियो मे 'अश्मरथ' का उल्लेख काशिकाकार ने किया है (सू० ४।३।१०५)।

(ङ) सूत्रग्रन्थ—पाणिनि के समय में सूत्रग्रथो की रचना का प्रचार खूब हो चला था। अनेक स्थानो पर सूत्रो का उल्लेख पाया जाता है। इनमें 'पाराशर्य' तथा 'कर्मन्द' के द्वारा प्रोक्त भिक्षु सूत्रो का नाम दिया गया है। 'भिक्षुसूत्र' सन्यासियो के आचार के द्योतक—उनके जीवन दिशा को वतलाने वाले तथा उनके ध्यान मनन को वतलाने वाले—ग्रथ थे। इन सूत्रो का नाम पाणिनि को छोड कर और कही नही मिलता। भामतीकार वाचस्पति मिश्र की सम्मति मे पूर्वोक्त 'पाराशर्य' भिक्षुसूत्र से वादरायण व्यास रचित 'ब्रह्मसूत्र' से आशय है।

उस काल में नाटककला की उत्पत्ति ही नही हुई थी वरन् विशेष उन्नति भी हो चुकी थी। नाटक करने वाले नट तथा उनके कार्य का उल्लेख स्पष्ट वतला रहा है कि जन साधारण मे इसका प्रचार खूब था। 'शिलालि' तथा 'कृशाश्व' द्वारा प्रोक्त नटसूत्रो के उल्लेख से भी नाटकीय कला की विशेष उन्नति तथा प्रचार का अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है (४ ३ ११०-१११)। सभवत भरत-नाट्यशास्त्र के वहुल प्रचार के कारण इन सूत्रो का लोप ही हो गया और आज तो वे अतीत काल के गर्भ मे सदा के लिए धँस गये है।

(३) उपज्ञात—(४ ३ ११५)—नये उपजवाले ग्रथो के लिए यह शब्द प्रयुक्त किया जाता था। जो ग्रन्थ विलकुल ही मौलिक हो, जिसकी विना किसी के उपदेश से रचना की गई हो (विनोपदेशेन ज्ञातमुपज्ञात स्वयमभि-

सम्वद्धमित्यर्थ —का०) तथा नवीनता लिये हो उन्हें उपज्ञा या 'उपज्ञात' कहते थे। पाणिनि ने उपज्ञात ग्रन्थो का नाम निर्देश नही किया है, परन्तु काशिकाकार ने ही काशकृत्स्न, आपशलि तथा पाणिनि के व्याकरण को इसके अन्तर्गत माना है। जिस प्रकार मान तथा तौल के नाप पहिले-पहल नन्द (राजा) ने चलाये थे[1] उसी प्रकार पाणिनि ने भी 'अकालक' व्याकरण की रचना की।[2] पाणिनि के पहिले काल सूचित करने के लिए 'भवन्ती' (लट्), परोक्षा (लिट्), ह्यस्तनी (लङ्), अद्यतनी (लुङ्) आदि नाम पाये जाते थे। पाणिनि ने सवसे पहिले इन्हें हटाकर लकार के वारहखडी के साथ 'ट' या 'ङ्' जोडकर अपनी मौलिक वुद्धि का परिचय दिया। इसीलिए पाणिनि का व्याकरण 'अकालक' कहा गया है। पाणिनि के फुफेरे भाई 'सग्रहकार' व्याडि ने भी दस लकारो के 'ङ्' 'ट्' के स्थान पर 'हुष्' जोडकर नई पद्धति चलाई थी। अतएव इस नवीनता के कारण काशिका ने व्याडयुपज्ञ हुष्करणम् (दुष्करणम् नही) लिखा है।

(४) कृत—(४ ३ ८७)—किसी ग्रन्थकार द्वारा वनाए गये ग्रन्थ के अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग पाणिनि ने किया है। इस विभाग में अनेक ग्रन्थो का नाम पाया जाता है—

(१) शिशुक्रन्दीय अर्थात् वच्चो के रोने के विषय मे लिखे गये ग्रन्थ।

(२) यमसभीय—यमराज की सभा विषयक रचना।

(३) इन्द्रजननीय—इन्द्र की उत्पत्ति के वारे में रचा ग्रन्थ ४।३।८८।

(४) श्लोक—(इसके कर्ता को 'श्लोककार' कहते थे) ३ २ २३।

(५) गाथा।

(६) सूत्र।

(७) पद।

(८) 'महाभारत' शब्द का निर्देश ६ २ ३८ मे किया गया है। सूत्रो मे जान पडता है कि पाणिनि को महाभारत युद्ध के प्रधान-प्रधान पात्रो से पूरा परिचय था। पाणिनि ने ८।३।९५ में ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर के नाम की व्युत्पत्ति वतलाई है और ४ ३ ९८ में न केवल वासुदेव और अर्जुन के ही नाम पाये जाते है वरन् इनकी भक्ति करने वाले लोगो की भी चर्चा पाई जाती है। अत पाणिनि 'महाभारत' को भलीभाति जानते थे।

(९) ऋतुओ के विषय में लिखे गये ग्रन्थ ४ २ ६३ में वसन्त विषयक ग्रन्थ के पढने वाले का नाम 'वासन्तिक' कहा गया है।

(४ ४ १०२) में 'कथन' तथा 'कथा' मे प्रवीण 'काथिक' लोगो का उल्लेख पाया जाता है, परन्तु सूत्र से यह नही जान पडता कि 'कथा' रचित ग्रन्थ थे वरन् यह केवल कहानियाँ थी, जो साधारणतया लोगो मे प्रसिद्ध रहती हैं। ४ ४ ११६ मे 'कृतग्रन्थ' का उल्लेख है। काशिका वृत्ति में वररुचि कृत श्लोक, हैकुपाद तथा भैकुराट ग्रन्थो के नाम दिये गये है। 'वाररुच काव्य' (४।३।१०१ का भाष्य) का नाम महाभाष्य में भी पाया जाता है। सुभाषितावलि आदि सूक्तिग्रन्थो में भी 'वररुचि' के नाम से श्लोक उद्धृत किये गये है। काशिका मे भी वररुचि के कवि होने की वात सत्य प्रमाणित होती है। राजशेखर ने वररुचि के काव्य का नाम कण्ठाभरण दिया है। वहुत सभव है कि महाभाष्य में उल्लिखित वाररुच काव्य यही हो —

यथार्थता कथ नाम्नि मा भूद् वररुचेरिह।
व्यधत्त कण्ठाभरण य सदारोहण प्रिय ॥

---

[1] नन्दोपक्रमाणि मानानि।

[2] पाणिनीयमकालक व्याकरणम्।—काशिका। तेन तत्प्रथमत प्रणीतम्। स स्वस्मिन् व्याकरणे कालाधिकार न कृतवान्—न्यास।

(५) व्याख्यानग्रन्थ—(४ ३ ६६) इन रचनाओ में ग्रन्थो की व्याख्या या टीका होती थी।

(क) सोमयाग तथा अनेक यज्ञो की व्याख्या (४ ३ ६८)।

(ख) ऋषि के द्वारा व्याख्यात अध्याय (४ ३ ६९) काशिकाकार ने वसिष्ठ तथा विश्वामित्र द्वारा व्याख्यात अध्यायो के नाम दिये हैं।

(ग) पौरोडाश तथा पुरोडाश विषयक व्याख्यान (४ ३ ७०)।

(घ) छन्दस् की व्याख्या जिन्हे 'छन्दस्य' तथा 'छान्दस' कहते थे (४ ३ ७१)।

(ङ) ब्राह्मण, प्रथम, अध्वर, ऋच्, पुरश्चरण, नाम तथा आख्यात के व्याख्यान ग्रन्थ (४ ३ ७२)।

(च) 'ऋगयन' नामक ग्रन्थ की व्याख्या जिसे 'आर्गयिन' कहा गया है (४ ३ ७३)। इस गण में काशिकाकार ने न्याय, उपनिषद्, शिक्षा आदि अनेक ग्रन्थो का उल्लेख किया है।

इन ग्रन्थो के नामोल्लेख के अतिरिक्त पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती व्याकरण रचयिताओ के नाम तथा मत स्थान स्थान पर उल्लिखित किये है। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे आपिशलि (६ १ ९२), काश्यप (१, २, २५), गार्ग्य (८ ३ २०), गालव (७ १ ७४), चाक्रवर्मण (६।१।१३०), भारद्वाज (७।२ ६७), शाकटायन (३ ४ १११) शाकल्य (१।१।१६), सेनक (५।४।११२), स्फोटायन (६।१।१२३)—इन दस वैयाकरणो की सम्मतियाँ उल्लिखित है। 'यास्कादिभ्यो गोत्रे' मे निरुक्तकार 'यास्क' का भी नाम दिया गया है। इनमे ऋग्वेद प्रतिशाख्य के रचयिता शाकल्य का नाम अति प्रसिद्ध है। अन्य ग्रन्थकारो के बारे में हमें कुछ भी ज्ञात नही है।

वार्तिककार कात्यायन ने भी 'पौष्करसादि' नामक व्याकरण के आचार्य का उल्लेख किया है (चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्)। पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य मे भारद्वाजीय (३ १ ८९), शौनग, कुणरवाडव, सौर्यभागवत तथा कुणि का उल्लेख किया है, परन्तु इन सबसे अधिक महत्त्व की बातो का पता काशिका मे लगता है। ४ २ ६५ के ऊपर काशिका वृत्ति से 'व्याघ्रपद' तथा 'काशकृत्स्न' नामक व्याकरण के आचार्यो का पता लगता है। व्याघ्रपद ने सूत्रों मे ही अपना ग्रन्थ लिखा था, जो दस अध्यायो का था। काशकृत्स्न का नाम (४ ३ ११५) की वृत्ति मे उपज्ञात के उदाहरण मे उल्लिखित है। इन्होने भी सूत्र में ही व्याकरणग्रन्थ रचा था, जो तीन अध्यायो मे समाप्त हुआ था। (पाणिनीयमष्टक' सूत्र तदधीते अष्टका पाणिनीया, दशका वैयाघ्रपदीया त्रिका काशकृत्स्ना)।[1]

छन्द शास्त्र की भी विशेष उन्नति का पता सूत्रो से लगता है। (३ ३ ३४) में 'विष्टार' शब्द की सिद्धि छन्द के नाम के अर्थ में की गई है। काशिकाकार ने स्पष्ट लिखा है कि सूत्र के छन्दोनाम मे मत्र—ब्राह्मण का अर्थ नही है, बल्कि गायत्री आदि विशेष छन्दो से है[2]। उन्होने विष्टार पक्ति तथा विष्टार बृहती का नाम उदाहरण के लिए दिया है।

अष्टाध्यायी तथा उसके व्याख्याग्रन्थो के अध्ययन करने से प्राचीन सस्कृत-साहित्य के विषय मे अनेक ज्ञातव्य बातें जानी जा सकती है। यहाँ केवल पाणिनि के द्वारा निर्दिष्ट साहित्य का सामान्य—परिचयमात्र दिया गया है।

काशी]

---

[1] इस उदाहरण में 'अष्टक सूत्रम्' से आशय आठ सूत्रों का नहीं है बल्कि 'आठ अध्यायो में रचे गये सूत्रो से है।' भट्टोजिदीक्षित द्वारा की गई 'अष्टौ अध्याया परिमाणमस्य तदष्टक पाणिने सूत्रम्' अष्टक शब्द की व्युत्पत्ति से उक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है। सख्याया सज्ञा सघसूत्राध्ययनेषु (५।१।५८) के अधिकार में सख्याया अतिशदन्ताया कन् (५।१।२२) से अष्ट शब्द से कन् प्रत्यय करने पर 'अष्टक' निष्पन्न हुआ है। अतएव काशिका के उदाहरण से यही जान पडता है कि व्याघ्रपद का सूत्रग्रन्थ दस अध्यायों में तथा 'काशकृत्स्न' का तीन अध्यायो में था। इनसे सूत्रो की सख्या समझना भूल है।

[2] वृत्तमत्र छन्दो गृह्यते, यत्र गायत्र्यादयो विशेषा। न मन्त्र-ब्राह्मणेनाम ग्रहणात्। काशिका।

प्रतिभा-मूर्ति सिद्धसेन दिवाकर

प० सुखलाल सघवी

भारतीय दर्शन अध्यात्मलक्षी है। पश्चिमीय दर्शनो की तरह वे मात्र वुद्धिप्रधान नही है। उनका उद्गम ही आत्मशुद्धि की दृष्टि मे हुआ है। वे आत्मतत्त्व को और उसकी शुद्धि को लक्ष्य में रखकर ही वाह्य जगत् का विचार करते है। इसलिए सभी आस्तिक भारतीय दर्शनो के मौलिक तत्त्व एक से है।

जैनदर्शन का स्रोत भगवान् महावीर और पार्श्वनाथ के पहले से ही किसी-न-किसी रूप मे चला आ रहा है, यह वस्तु इतिहास सिद्ध है। जैन दर्शन की दिशा चारित्र-प्रधान है, जो कि मूल आधार आत्मशुद्धि की दृष्टि से विशेष सगत है। उसमे ज्ञान, भक्ति आदि तत्त्वो का स्थान अवश्य है, पर वे सभी तत्त्व चारित्र-पर्यवसायी हो तभी जैनत्व के साथ सगत है। केवल जैन परम्परा मे ही नही, वल्कि वैदिक, वौद्ध आदि सभी परम्पराओ मे जव तक आध्यात्मिकता का प्राधान्य रहा या वस्तुत उनमें आध्यात्मिकता जीवित रही तव तक उन दर्शनो मे तर्क और वाद का स्थान होते हुए भी उसका प्राधान्य न रहा। इसलिए हम सव परम्पराओ के प्राचीन ग्रन्थो मे उतना तर्क और वाद-ताण्डव नही पाते है, जितना उत्तरकालीन ग्रन्थो म।

आध्यात्मिकता और त्याग की सर्वसाधारण मे निःसीम प्रतिष्ठा जम चुकी थी। अतएव आध्यात्मिक पुरुषो के आसपास सम्प्रदाय भी अपने आप जमने लगते थे। जहाँ सम्प्रदाय वने कि फिर उनमे मूलतत्त्व मे भेद न रहने पर भी छोटी-छोटी वातो में और अवान्तर प्रश्नो मे मतभेद और तज्जन्य अवान्तर विवादो का होते रहना स्वाभाविक है। जैसे-जैसे सम्प्रदायो की नीव गहरी होती गई और वे फैलने लगे, उनमे परस्पर सघर्ष भी वढता चला, जैसे अनेक छोटे-वडे राज्यो के वीच चढा-उतरी का सघर्ष होता रहता है। राजकीय सघर्षो ने लोकजीवन मे जितना क्षोभ उत्पन्न किया है, उतना ही क्षोभ, वल्कि उससे भी अधिक साम्प्रदायिक सघर्ष ने किया है। इस सघर्ष मे पडने के कारण सभी आध्यात्मिक दर्शन तर्कप्रधान वनने लगे। कोई आगे तो कोई पीछे, पर सभी दर्शनो मे तर्क और न्याय का वल वढना शुरू हुआ। प्राचीन समय मे आन्वीक्षिकी एक सर्वसाधारण खास विद्या थी, उसका आधार लेकर धीरे-धीरे सव सप्रदायो ने अपने दर्शन के अनुकूल आन्वीक्षिकी की रचना की। मूल आन्वीक्षिकी विद्या वैशेषिक दर्शन के साथ घुल मिल गई। पर उसके आधार मे कभी वौद्ध परम्परा ने तो कभी मीमासको ने, कभी साख्य ने तो कभी जैनो ने, कभी अद्वैत वेदान्त ने तो कभी अन्य वेदान्त परम्पराओ ने अपनी स्वतन्त्र आन्वीक्षिकी की रचना शुरू कर दी। इस प्रकार इस देश मे प्रत्येक प्रधान दर्शन के साथ एक या दूसरे रूप मे तर्कविद्या का सवध अनिवार्य हो गया।

जव प्राचीन आन्वीक्षिकी का विशेष वल देखा तव वौद्धो ने सभवत सर्वप्रथम अलग स्वानुकूल आन्वीक्षिकी का खाका तैयार करना शुरू किया, सभवत उसके वाद ही मीमासको ने। जैनसम्प्रदाय अपनी मूल प्रकृति के अनुसार अधिकतर सयम, त्याग, तपस्या आदि पर विशेष जोर देता आ रहा था, पर आसपास के वातावरण ने उसे भी तर्कविद्या की ओर झुकाया। जहाँ तक हम जान पाये है, उससे मालूम पडता है कि विक्रम की पाँचवी शताब्दी तक जैनदर्शन का स्वतन्त्र तर्कविद्या की ओर खास झुकाव न था। उसमे जैसे-जैसे सस्कृत भाषा का अध्ययन प्रवल होता गया वैसे-वैसे तर्क-विद्या का आकर्षण भी वढता गया। पाँचवी शताब्दी के पहले के जैन वाड्मय और इसके वाद के जैन वाड्मय मे हम स्पष्ट भेद देखते है। अव देखना यह है कि जैन वाड्मय के इस परिवर्तन का आदि सूत्रधार कौन है? और उसका स्थान भारतीय विद्वानो मे कैसा है?

आदि जैन तार्किक

जहाँ तक मै जानता हूँ, जैन परम्परा में तर्कविद्या का और तर्कप्रधान सस्कृत वाड्मय का आदि प्रणेता है सिद्धसेन दिवाकर। मैंने दिवाकर के जीवन और कार्यों के सम्बन्ध मे अन्यत्र[1] विस्तृत ऊहापोह किया है। यहाँ तो यथासभव सक्षेप में उनके व्यक्तित्व का सोदाहरण परिचय कराना है।

सिद्धसेन का सम्बन्ध उनके जीवन-कथानको के अनुसार उज्जैनी और उसके अधिपति विक्रम के साथ अवश्य रहा है, पर वह विक्रम कौन सा था, यह एक विचारणीय प्रश्न है। अभी तक के निश्चित प्रमाणो से जो सिद्धसेन का समय विक्रम की पचम शताब्दी का उत्तरार्ध और बहुत हुआ तो छठी का कुछ प्रारम्भिक अश जान पडता है, उसे देखते हुए अधिक सभव यह है कि उज्जैनी का वह राजा चन्द्रगुप्त द्वितीय या उसका पौत्र स्कन्दगुप्त होगा, जो कि विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

सभी नये-पुराने उल्लेख यही कहते हैं कि सिद्धसेन जन्म से ब्राह्मण थे। यह कथन बिलकुल सत्य जान पडता है, क्योकि उन्होने प्राकृत जैन वाड्मय को सस्कृत मे रूपान्तरित करने का जो विचार निर्भयता से सर्वप्रथम किया वह ब्राह्मण-सुलभ शक्ति और रुचि का ही द्योतक है। उन्होने उस युग में जैन दर्शन तथा दूसरे दर्शनो को लक्ष्य करके जो अत्यन्त चमत्कारपूर्ण सस्कृत पद्यबद्ध कृतियाँ दी है, वह भी जन्मसिद्ध ब्राह्मणत्व की ही द्योतक है। उनकी जो कुछ थोडी-बहुत कृतियाँ प्राप्त है, उनका एक-एक पद और वाक्य उनकी कवित्वविषयक, तर्कविषयक, और समग्र भारतीय-दर्शन विषयक तलस्पर्शी प्रतिभा को व्यक्त करता है।

आदि जैन कवि और आदि जैन स्तुतिकार

हम जब उनका कवित्व देखते है तब अश्वघोष, कालिदास आदि याद आ जाते है। ब्राह्मणधर्म मे प्रतिष्ठित आश्रम व्यवस्था के अनुगामी कालिदास ने विवाह भावना का औचित्य बतलाने के लिए विवाह-कालीन नगर-प्रवेश का प्रसङ्ग लेकर उस प्रसङ्ग से हर्षोत्सुक स्त्रियो के अवलोकन-कौतुक का जैसा मार्मिक शब्द-चित्र खीचा है वैसा चित्र अश्वघोष के काव्य मे और सिद्धसेन की स्तुति मे भी है। अन्तर केवल इतना ही है कि अश्वघोष और सिद्धसेन दोनो श्रमणधर्म में प्रतिष्ठित एकमात्र त्यागाश्रम के अनुगामी है। इसलिए उनका वह चित्र वैराग्य और गृहत्याग के साथ मेल खाता है। अत उसमे बुद्ध और महावीर के गृहत्याग से खिन्न और उदास स्त्रियो की शोकजनित चेष्टाओ का वर्णन है, न कि हर्षोत्सुक स्त्रियो की चेष्टाओ का। तुलना के लिए नीचे के पद्यो को देखिए—

"अपूर्वशोकोपनतक्लमानि नेत्रोदकक्लिन्नविशेषकाणि।
विविक्तशोभान्यबलाननानि विलापदाक्षिण्यपरायणानि॥
मुग्धोन्मुखाक्षाण्युपदिष्टवाक्यसदिग्धजल्पानि पुर सराणि।
बालानि मार्गाचरणक्रियाणि प्रलबवस्त्रान्तविकर्षणानि॥
अकृत्रिमस्नेहमयप्रदीर्घदीनेक्षणा साश्रुमुखाश्च पौरा।
ससारसात्म्यव्रजजनैकबन्धो न भावशुद्ध जगृहुर्मनस्ते॥"

(सिद्ध० ५–१०, ११, १२)

"अतिप्रहर्षादथ शोकमूर्छिता कुमारसदर्शनलोललोचना।
गृहाद्विनिश्चक्रमुराशया स्त्रिय शरत्पयोदादिव विद्युतश्चला॥

---

[1] देखिए भारतीय विद्या, बा० श्री बहादुरसिंहजी सिंघी स्मृतिग्रन्थ पृ० १५२-१५४। तथा सन्मतितर्कप्रकरण भाग ६।

विलम्बकेश्यो मलिनांशुकाम्बरा निरञ्जनैर्वाष्पहतेक्षणैर्मुखै ।
स्त्रियो न रेजुर्मृजया विना कृता दिवीव तारा रजनीक्षयारुणा ॥
अरक्तताम्रैश्चरणैरनूपुरैरकुण्डलैरार्जवकन्धरैर्मुखै ।
स्वभावपीनैर्जघनैरमेखलैरहारयोक्त्रैर्मुषितैरिव स्तनै ॥"
(अश्व० बुद्ध० सर्ग ८-२०, २१, २२)

"तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसदर्शनलालसानाम् ।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थ त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥५६॥
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन सभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥५९॥
तासा मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तरा सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षा सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥६३॥"
(कालि० कुमार०' सर्ग० ७)

सिद्धसेन ने गद्य मे कुछ लिखा हो तो पता नही है । उन्होने सस्कृत मे बत्तीस बत्तीसियाँ रची थी, जिनमे से इक्कीस अभी लभ्य है । उनका प्राकृत में रचा 'सम्मति प्रकरण' जैनदृष्टि और जैनमन्तव्यो को तर्कशैली से स्पष्ट करने तथा स्थापित करने वाला जैनवाङ्मय मे सर्व प्रथम ग्रन्थ है, जिसका आश्रय उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर दिगम्बर विद्वानो ने किया है ।

सस्कृत बत्तीसियो मे शुरू की पाँच और ग्यारहवी स्तुतिरूप है । प्रथम की पाँच में महावीर स्तुति है, जब कि ग्यारहवी मे किसी पराक्रमी और विजेता राजा की स्तुति है । ये स्तुतियाँ अश्वघोष-समकालीन बौद्ध-स्तुतिकार मातृचेट के 'अध्यर्धशतक' तथा पश्चाद्वर्ती आर्यदेव के चतु शतक की शैली की याद दिलाती है । सिद्धसेन ही जैन-परम्परा का आद्य सस्कृत स्तुतिकार है । आचार्य हेमचन्द्र ने जो कहा है "क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा" वह बिलकुल सही है । स्वामी समन्तभद्र की 'स्वयभूस्तोत्र' और 'युक्त्यनुशासन' नामक दो दार्शनिक स्तुतियाँ, सिद्धसेन की कृतियो का अनुकरण जान पडती है । हेमचन्द्र ने भी उन दोनो का अपनी दो बत्तीसियो के द्वारा अनुकरण किया है ।

बारहवी शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण मे उदाहरण रूप से लिखा है कि 'अनुसिद्धसेन कवय '। इसका भाव यदि यह हो कि जैन-परम्परा के सस्कृत कवियो मे सिद्धसेन का स्थान सर्वप्रथम है (समय की दृष्टि से और गुणवत्ता की दृष्टि मे अन्य सभी जैनकवियो का स्थान सिद्धसेन के बाद आता है) तो यह कथन आज तक के जैन-वाङ्मय की दृष्टि से अक्षरश सत्य है । उनकी स्तुति और कविता के कुछ नमूने देखिये ।

"स्वयभुव भूतसहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षरभावलिङ्गम् ।
अव्यक्तमव्याहतविश्वलोकमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् ॥
समन्तसर्वाक्षगुण निरक्ष स्वयप्रभ सर्वगतावभासम् ।
अतीतसख्यानमनन्तकल्पमचिन्त्यमाहात्म्यमलोकलोकम् ॥
कुहेतुतर्कोपरतप्रपञ्चसद्भावशुद्धाप्रतिवादवादम् ।
प्रणम्य सच्छासनवर्धमान स्तोष्ये यतीन्द्र जिनवर्धमानम् ॥"—सिद्ध० १, १-३

स्तुति का यह आरम्भ उपनिषद् की भाषा और परिभाषा में विरोधालकार गर्भित है ।

"एकान्तनिर्गुणभावन्तमुपेत्य सन्तो यत्नार्जितानपि गुणान् जहति क्षणेन ।
क्लीबादरस्त्वयि पुनर्व्यसनोल्बणानि भुक्ते चिर गुणफलानि हितापनष्ट ॥"—सिद्ध० २.२३

इसमे साख्य परिभाषा के द्वारा विरोधाभास गर्भित स्तुति है।

"क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वच,
स्वभावनियता प्रजा समयतन्त्रवृत्ता क्वचित्।
स्वय कृतभुज क्वचित् परकृतोपभोगा. पुन-
र्नवा विषदवाददोषमलिनोऽस्यहो विस्मय ॥" सिद्ध० ३ ८

इसमे श्वेताश्वतर उपनिषद् के भिन्न-भिन्न कारणवाद के समन्वय द्वारा वीर के लोकोत्तरत्व का सूचन है।

"कुलिशेन सहस्रलोचन सविता चाशुसहस्रलोचन ।
न विदारयितु यदीश्वरो जगतस्तद्भवता हत तम ॥" सिद्ध ४ ३

इसमे इन्द्र और सूर्य से उत्कृष्टत्व दिखा कर वीर के लोकोत्तरत्व का व्यजन किया है।

"न सदसु वदन्नशिक्षितो लभते वक्तृविशेषगौरवम्।
अनुपास्य गुरु त्वया पुनर्जगदाचार्यकमेव निर्जितम् ॥"सिद्ध०४ ७

इसमे व्यतिरेक के द्वारा स्तुति की है कि हे भगवन्! आप ने गुरु सेवा के विना किये भी जगत का आचार्य पद पाया है जो दूसरो के लिए सम्भव नही।

"उदधाविव सर्वसिन्धव समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टय ।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधि ॥" सिद्ध० ४.१५.

इसमे सरिता और समुद्र की उपमा के द्वारा भगवान् में सब दृष्टियो के अस्तित्व का कथन है जो अनेकान्तवाद की जड है।

"गतिमानथ चाक्रिय पुमान् कुरुते कर्म फलैर्न युज्यते।
फलभुक् च न चार्जनक्षमो विदितो यैर्विदितोऽसि तैर्मुने ॥" सिद्ध० ४ २६

इसमे विभावना-विशेषोक्ति के द्वारा आत्म-विषयक जैन-मन्तव्य प्रकट किया है।

किसी विजेता और पराक्रमी नृपति के गुणो की समग्र स्तुति लोकोत्तर कवित्व पूर्ण है। एक ही उदाहरण देखिए—

"एका दिश व्रजति यन्दतिमद्गत च तत्रस्थमेव च विभाति दिगन्तरेषु।
यात कथ दशदिगन्तविभक्तमूर्ति युज्येत वक्तुमुत वा न गत यशस्ते ॥ "सिद्ध० ११ ३

आद्य जैन वादी

दिवाकर आद्य जैनवादी है। वे वादविद्या के सम्पूर्ण विशारद जान पडते है, क्योकि एक ओर उन्होने सातवी वादोपनिषद् बत्तीसी मे वादकालीन सब नियमोपनियमो का वर्णन करके कैसे विजय पाना यह बतलाया है तो दूसरी ओर आठवी बत्तीसी मे वाद का पूरा परिहास भी किया है।

दिवाकर आध्यात्मिक-पथ के त्यागी पथिक थे और वादकथा के भी रसिक थे। इसलिए उन्हें अपने अनुभव मे जो आध्यात्मिकता और वाद-विवाद मे असगति दीख पडी, उसका मार्मिक चित्रण किया है। वे एक मास-पिण्ड मे लुब्ध और लडने वाले दो कुत्तो मे तो कभी मैत्री की सम्भावना कहते है, पर दो सहोदर वादियो में कभी सख्य सम्भव नही देखते। इस भाव का उनका चमत्कारी उद्गार देखिये —

"ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिषसगजातमत्सरयो ।
स्यात्सौख्यमपि शुनोर्भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्यात् ॥"८ १

वे स्पष्ट कहते हैं कि कल्याण का मार्ग अन्य है और वादी का मार्ग अन्य, क्योकि किसी मुनि ने वाग्युद्ध को शिव का उपाय नही कहा है।

"अन्यत एव श्रेयास्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषा ।
वाक्सरभ क्वचिदपि न जगाद मुनि शिवोपायम् ॥" ८ ७

आद्य जैन दार्शनिक व आद्य सर्वदर्शनसग्राहक

दिवाकर आद्य जैनदार्शनिक तो है ही, पर साथ ही वे आद्य सर्व भारतीय दर्शनो के सग्राहक भी हैं। सिद्धसेन के पहले किसी भी अन्य भारतीय विद्वान् ने सक्षेप में सभी भारतीय दर्शनो का वास्तविक निरूपण यदि किया हो तो उसका पता अभी तक इतिहास को नही है। एक बार सिद्धसेन के द्वारा सब दर्शनो के वर्णन की प्रथा प्रारम्भ हुई कि फिर आगे उसका अनुकरण किया जाने लगा। आठवी सदी के हरिभद्र ने 'षड्दर्शनसमुच्चय' लिखा, चौदहवी सदी के माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शन-सग्रह' लिखा, जो सिद्धसेन के द्वारा प्रारम्भ की हुई प्रथा का ही विकास है। जान पडता है, सिद्धसेन ने चार्वाक, मीमासक आदि प्रत्येक दर्शन का वर्णन किया होगा। परन्तु अभी जो बत्तीसियाँ लभ्य है, उनमे न्याय, वैशेषिक, साख्य, बौद्ध, आजीवक और जैनदर्शन की निरूपक बत्तीसियाँ ही है। जैनदर्शन का निरूपण तो एकाधिक बत्तीसियो में हुआ है। पर किसी भी जैन-जैनेतर विद्वान् को आश्चर्यचकित करने वाली सिद्धसेन की प्रतिभा का स्पष्ट दर्शन तब होता है जब हम उनकी पुरातनत्व समालोचना विषयक और वेदवाद विषयक दो बत्तीसियो को पढते है। मैं नही जानता कि भारत मे ऐसा कोई विद्वान् हुआ हो जिसने पुरातनत्व और नवीनत्व की इतनी क्रान्तिकारिणी तथा हृदयहारिणी एव तलस्पर्शिनी निर्भय समालोचना की हो। मैं ऐसे विद्वान् को भी नही जानता कि जिस अकेले ने एक बत्तीसी में प्राचीन सब उपनिषदो तथा गीता का सार वैदिक और औपनिषद भाषा मे ही शाब्दिक और आर्थिक अलकार युक्त चमत्कारिणी सरणी से वर्णित किया हो। जैनपरम्परा मे तो सिद्धसेन के पहले और पीछे आज तक ऐसा कोई विद्वान् हुआ ही नही है जो इतना गहरा उपनिषदो का अभ्यासी रहा हो और औपनिषद भाषा मे ही तत्त्व का वर्णन कर सके। पर जिस परम्परा में सदा एकमात्र उपनिषदो की तथा गीता की प्रतिष्ठा है, उस औपनिषद वैदिक परम्परा के विद्वान् भी यदि सिद्धसेन की उक्त बत्तीसी को देखेंगे तो उनकी प्रतिभा के कायल होकर यही कह उठेंगे कि आज तक यह ग्रन्थरत्न दृष्टिपथ में आने से क्यो रह गया। मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत बत्तीसी की ओर किसी भी तीक्ष्ण-प्रज्ञ वैदिक विद्वान् का ध्यान जाता तो वह उस पर कुछ-न-कुछ बिना लिखे न रहता। मेरा यह भी विश्वास है कि यदि कोई मूल उपनिषदो का साम्नाय अध्येता जैन विद्वान् होता तो भी उस पर कुछ-न-कुछ लिखता। जो कुछ हो, मैं यहाँ सिद्धसेन की प्रतिभा के निदर्शकरूप से उस पुरातनत्व समालोचना विषयक द्वात्रिशिका में से कुछ ही पद्य भावसहित देता हूँ और सविवेचन समूची वेदवादद्वात्रिशिका स्वतन्त्र रूप से अलग दूगा, जिसके प्रारम्भ में उसमें प्रवेश करने के लिए समुचित प्रास्ताविक वक्तव्य भी है।

कभी-कभी सम्प्रदायाभिनिवेश वश अपढ व्यक्ति भी, आज ही की तरह उस समय भी विद्वानो के सम्मुख चर्चा करने की धृष्टता करते होगे। इस स्थिति का मजाक करते हुए सिद्धसेन कहते है कि बिना ही पढे पण्डितमन्य व्यक्ति विद्वानो के सामने बोलने की इच्छा करता है फिर भी उसी क्षण वह नही फट पडता तो प्रश्न होता है कि क्या कोई देवता दुनिया पर शासन करने वाले हैं ? अर्थात् यदि कोई न्यायकारी देव होता तो ऐसे व्यक्ति को तत्क्षण ही सीधा क्यो नही करता ?

"यदशिक्षितपण्डितो जनो विदुषामिच्छति वक्तुमग्रत ?
न च तत्क्षणमेव शीर्यते जगत किं प्रभवन्ति देवता" (६ १)

विरोधी बढ जाने के भय से सच्ची बात भी कहने में बहुत से समालोचक हिचकिचाते है। इस भीरु मनोदशा

का जवाब देते हुए दिवाकर कहते हैं कि पुराने पुरुषो ने जो व्यवस्था स्थिर की है, क्या वह सोचने पर वैसी ही सिद्ध होगी ? अर्थात् सोचने पर उसमे भी त्रुटि दिखेगी तव केवल उन मृत पुरुखो की जमी प्रतिष्ठा के कारण हाँ मे हाँ मिलाने के लिए मेरा जन्म नही हुआ है। यदि विद्वेषी बढते हो तो बढे।

"पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तत्रैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति ।
तथेति वक्तु मृतरूढगौरवादहन्न जात प्रथयन्तु विद्विष. ॥" (६. २)

हमेशा पुरातन प्रेमी, परस्पर विरुद्ध अनेक व्यवहारो को देखते हुए भी अपने इष्ट किसी एक को यथार्थ और बाकी को अयथार्थ करार देते है। इस दशा से ऊब कर दिवाकर कहते है कि सिद्धान्त और व्यवहार अनेक प्रकार के है, वे परस्पर विरुद्ध भी देखे जाते है। फिर उनमे से किसी एक की सिद्धि का निर्णय जल्दी कैसे हो सकता है ? तथापि यही मर्यादा है, दूसरी नही, ऐसा एक तरफ निर्णय कर लेना यह तो पुरातन प्रेम से जड बने हुए व्यक्तियो को ही शोभा देता है, मुझ जैसे को नही—

"बहुप्रकारा स्थितय परस्पर विरोधयुक्ता कथमाशु निश्चय ।
विशेषसिद्धावियमेव नेति वा पुरातनप्रेमजडस्य युज्यते ॥" (६ ४)

जब कोई नई चीज आई तो चट से सनातन सस्कारी कह देते है कि, यह तो पुराना नही है। इसी तरह किसी पुरातन बात की कोई योग्य समीक्षा करे तव भी वे कह देते है कि यह तो बहुत पुराना है। इसकी टीका न कीजिये। इस अविवेकी मानस को देख कर मालविकाग्निमित्र में कालिदास को कहना पडा है कि—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्य नवमित्यवद्यम् ।
सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढ परप्रत्ययनेयबुद्धि ॥"

ठीक इसी तरह दिवाकर ने भी भाष्यरूप से कहा है कि यह जीवित वर्तमान व्यक्ति भी मरने पर आगे की पीढी की दृष्टि से पुराना होगा, तब वह भी पुरातनो की ही गिनती मे आ जायगा। जब इस तरह पुरातनता अनवस्थित है अर्थात् नवीन भी कभी पुरातन है और पुराने भी कभी नवीन रहे, तब फिर अमुक वचन पुरातन कथित है ऐसा मान कर परीक्षा बिना किये उस पर कौन विश्वास करेगा ?

"जनोऽयमन्यस्य मृत पुरातन पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु क पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥" (६ ५)

पुरातन प्रेम के कारण परीक्षा करने में आलसी बन कर कई लोग ज्यो-ज्यो सम्यग् निश्चय कर नही पाते है, त्यो-त्यो वे उलटे मानो सम्यग् निश्चय कर लिया हो इतने प्रसन्न होते है और कहते हैं कि पुराने गुरुजन मिथ्याभाषी थोडे हो सकते हैं ? मैं मन्दमति हूँ। उनका आशय नही समझता तो क्या हुआ ? ऐसा सोचने वालो को लक्ष्य में रख कर दिवाकर कहते हैं कि वैसे लोग आत्मनाश की ओर ही दौडते है—

"विनिश्चय नैति यथा यथालसस्तथा तथा निश्चितवत्प्रसीदति ।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ॥" (६. ६)

शास्त्र और पुराणो मे दैवी चमत्कारो और असम्बद्ध घटनाओ को देख कर जब कोई उनकी समीक्षा करता है तब अन्धश्रद्धालु कह देते है कि भाई ! हम ठहरे मनुष्य और शास्त्र तो देवरचित है। फिर उनमे हमारी गति ही क्या ? इस सर्व सम्प्रदाय-साधारण अनुभव को लक्ष्य में रख कर दिवाकर कहते है कि हम जैसे मनुष्यरूपधारियो न ही, मनुष्यो के ही चरित, मनुष्य अधिकारी के ही निमित्त ग्रथित किये है। वे परीक्षा में असमर्थ पुरुषो के लिए अपार और गहन भले ही हो, पर कोई हृदयवान् विद्वान् उन्हे अगाध मान कर कैसे मान लेगा ? यह तो परीक्षा-पूर्वक ही उनका स्वीकार-अस्वीकार करेगा—

"मनुष्यवृतानि मनुष्यलक्षणैर्मनुष्यहेतोर्नियतानि तै स्वयम् ।
अलब्धपाराण्यलसेषु कर्णवानगाधपाराणि कथ ग्रहीष्यति ॥" (६ ७)

हम सभी का यह अनुभव है कि कोई सुगम अद्यतन मानवकृति हुई तो उसे पुराणप्रेमी नही छूते जब कि वे ही किसी अस्त-व्यस्त और असबद्ध तथा समझ मे न आ सके, ऐसे विचार वाले शास्त्र के प्राचीनो के द्वारा कहे जाने के कारण प्रशसा करते नही अघाते । इस अनुभव के लिए दिवाकर इतना ही कहते है कि वह मात्र स्मृति मोह है, उसमें कोई विवेकपटुता नहीं—

"यदेव किंचिद्विषमप्रकल्पित पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताऽप्यद्य मनुष्यवाक्कृतिर्न पठ्यते यत्स्मृतिमोह एव स ॥" (६ ८)

हम अन्त मे इस परीक्षाप्रधान बत्तीसी का एक ही पद्य भावसहित देते है—

"न गौरवाक्रान्तमतिर्विगाहते किमत्र युक्तं किमयुक्तमर्थत ।
गुणावबोधप्रभवं हि गौरव कुलागनावृत्तमतोऽन्यथा भवेत् ॥" (६ २८)

भाव यह है कि लोग किसी-न-किसी प्रकार के बडप्पन के आवेग से, प्रस्तुत में क्या युक्त है और क्या अयुक्त है इसे तत्त्वत नहीं देखते । परन्तु सत्य बात तो यह है कि बडप्पन गुणदृष्टि मे ही है । इसके अतिरिक्त और जो बडप्पन है वह निरा कुलागना चरित है । कोई अगना मात्र अपने खानदान के नाम पर सद्वृत्त सिद्ध नही हो सकती ।

उपसहार में सिद्धसेन का एक पद्य उद्धृत करता हूँ, जिसमे उन्होने वार्प्टचपूर्ण वक्तृत्व या पाण्डित्य का उपहास किया है—

"दैवखात च वदनं आत्मायत्त च वाड्मयम् ।
श्रोतार सन्ति चोक्तस्य निर्लज्ज. को न पण्डित ॥" (२२. १)

साराश यह है कि मुख का गड्ढा तो दैव ने ही खोद रक्खा है । प्रयत्न यह अपने हाथ की बात है और सुनने वाले सर्वत्र सुलभ है । इसलिए वक्ता या पडित बनने के लिए यदि जरूरत है तो केवल निर्लज्जता की है । एक बार धृष्ट बन कर बोलिए फिर सब कुछ सरल है ।

बंबई]

सिद्धसेन दिवाकरकृत वेदवादद्वात्रिंशिका

प० सुखलाल सघवी

प्रास्ताविक

यहाँ जिस वत्तीसी का विवेचन करना इष्ट है, वह वत्तीसी अपने नाम के अनुसार वैदिक परम्परा के तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखती है। सिद्धसेन दिवाकर ने जैन-परम्परा के साथ खास सम्बन्ध रखने वाले विषयो के ऊपर जिन-जिन कृतियो की रचना की है सम्भावना यह है कि वे सव उन्होने जैन-दीक्षा स्वीकार करने के वाद ही लिखी होगी। क्योकि वे जन्म से और सस्कार से ब्राह्मण-परम्परा के थे इसलिए जैनसघ में प्रविष्ट होने के पहले जैन-परम्परा से सम्बन्ध रखने वाली गम्भीर और प्रभावक कृति निर्माण कर सके ऐसा ज्ञान तो शायद ही प्राप्त कर सकते। परन्तु उनकी जो-जो सस्कृत कृतियाँ जैनेतर विषयो के ऊपर या सर्वसामान्य विषयो के ऊपर है, उनकी रचना उन्होने जैन-दीक्षा स्वीकार करने के पहले भी की होगी ऐसा सम्भव है। चाहे जो हो, फिर भी ब्राह्मण-परम्परा के अनुसार सिद्धसेन का छोटी अवस्था से ही वेदो, उपनिषदो, गीता और पुराणो का वलवद् अध्ययन और परिशीलन था—इस वात की साक्षी तो प्रस्तुत वेदवादद्वात्रिंशिका ही अकेली दे सकती है। सिद्धसेन मे कवित्व और प्रतिभा के चाहे जैसे स्फुट वीज जन्मसिद्ध होते, परन्तु यदि उनका मानस वेद-वेदान्त आदि ब्राह्मण ग्रन्थो का अध्ययन और परिशीलनजन्य सस्कारो से परिपूर्ण न होता तो वे कभी वैदिक भाषा, वैदिक छन्द, वैदिक शैली और वैदिक रूपको तथा कल्पनाओ के द्वारा वेद तथा उपनिषद्गत मान्यता या तत्त्वज्ञान को इस एक ही वत्तीसी मे इतनी सफलता से ग्रथित नही कर सकते।

प्रस्तुत वत्तीसी का विवेचन करने के पहले यह जानना आवश्यक है कि इसमे सिद्धसेन ने सामान्यरूप से किस विषय का प्रतिपादन किया है। यद्यपि वत्तीसी के ऊपर कोई टीका या सक्षिप्त टिप्पणी भी नही है, इसलिए सिद्धसेन के विवक्षित अर्थ को जानने का साधन केवल मूल वत्तीसी ही है। परन्तु इस वत्तीसी की तुलना जव वेद के मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्भाग के साथ तथा गीता आदि इतर वैदिक माने जाने वाले ग्रन्थो के साथ करते है तव इसका सामान्य भाव क्या है, वह स्पष्ट हुए विना नही रहता।

प्रस्तुत वत्तीसी का हृदय समझने के लिए उपर्युक्त ग्रन्थो के साथ उसकी पुन -पुन तुलना और विचारणा करते समय मेरे मन पर ऐसी छाप पडी है कि सिद्धसेन ने प्रस्तुत वत्तीसी में मुख्यरूप से साख्य-योग के तत्त्वज्ञान का उपयोग करके ब्रह्म अथवा औपनिषद' पुरुष का वर्णन किया है। प्रस्तुत वत्तीसी का प्रत्येक पद, प्रत्येक पाद या तद्गत प्रत्येक

' ब्रह्म शब्द के अनेक अर्थों की तरह पुरुष शब्द के भी अनेक अर्थ है। उनमें से श्वेताश्वतर में प्रयुक्त 'त्रिविध ब्रह्ममेतत्' (१, १२) यह पद ध्यान में लेने जैसा है। प्रधानात्मक भोग्य ब्रह्म जीवात्मक भोक्तृ ब्रह्म और ईश्वररूप प्रेरक ब्रह्म—यह त्रिविधि ब्रह्म है। और यही त्रिविध ब्रह्म गीता (१५ १६, १७) का क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम यह त्रिविधि ब्रह्म है। उनमें से जो पुरुषोत्तमरूप अतिम ब्रह्म है, जिसको सेश्वर साख्य में पुरुष-विशेष कहा है उसका ही वत्तीसी में मुख्यरूप से वर्णन है। यह वस्तु ३१ वें पद्य के 'तेनेद पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' इस पाद से स्पष्ट सूचित होती है। यही पुरुष औपनिषद है। उपनिषद्काल के समग्र चिंतन के परिणामरूप से जो एक स्वतन्त्र चेतन तत्त्व सिद्ध हुआ है वही औपनिषद पुरुष है। इस तत्त्व के लिए औपनिषद विशेषण बृहदारण्यक (३. ९ २६) में दिया हुआ है वह यह सूचित करता है कि उपनिषद्के चिंतन के पहिले ऐसा चेतनतत्त्व सुनिश्चितरूप से सिद्ध नहीं हुआ था और इस तत्त्व की मान्यता उपनिषद् की ही आभारी है।

विचार देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धसेन के कविमानस मे कोई एक ही ग्रन्थ रममाण नही था, फिर भी यह प्रतीत होता है कि तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले जो प्राचीन उपनिषद् है और मन्त्र-ब्राह्मण में तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले जो प्रसिद्ध सूक्त है उन सब में से श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रभाव कविमानस के ऊपर अधिक प्रमाण में पडा है। यह सत्य है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् की रचना केवल पाशुपत सम्प्रदाय का अनुसरण करके हुई है जब कि बत्तीसी केवल पाशुपत सम्प्रदाय मे बद्ध न रह कर पौराणिक त्रिमूर्तिवाद का भी आश्रय लेती है।

साख्य के विकास की भूमिकाएँ

इस बत्तीसी में औपनिषद पुरुष का साख्य-योग तत्त्वज्ञान की प्रक्रिया और परिभाषा द्वारा पौराणिक त्रिमूर्ति रूप से वर्णन हुआ है। इसलिए बत्तीसी और उसका विवेचन सरलता से समझा जा सके तदर्थ प्रास्ताविक रूप में साख्य-योग तत्त्वज्ञान का विशिष्ट स्वरूप उसके विकासक्रम के अनुसार यहाँ दिखलाना आवश्यक है।

साख्य-परम्परा के प्रवाह से सम्बन्ध रखने वाले विचार के भिन्न-भिन्न स्तरो का सुनिश्चित कालक्रम दिखलाना किसी के लिए शक्य नही है। फिर भी मानवबुद्धि के विकास की भूमिकाओ के विचार से और भिन्न-भिन्न साहित्यिक प्रमाणो के ऊपर से हम उस परम्परा के तत्त्वज्ञान की भूमिकाओ का पौर्वापर्य ठीक-ठीक निश्चित कर सकते है। विशाल अर्थ मे साख्य परम्परा दूसरी किसी भी भारतीय तत्त्वज्ञान की परम्परा की अपेक्षा अधिक प्राचीन और व्यापक है। प्राचीनता तो इससे भी सिद्ध है कि उसके जितने स्तर प्राचीन भारतीय वाड्मय मे प्राप्त होते है उतने स्तर दूसरी किसी एक भी परम्परा के प्राप्त नही होते। उसकी व्यापकता का ख्याल तो इससे ही आ सकता है कि वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, पुराण, वैद्यक, काव्य-नाटक आदि सस्कृत वाड्मय तथा सन्त साहित्य और जैन-बौद्ध परम्परा के प्राचीन ग्रन्थ, इन सब में एक अथवा दूसरे रूप से अल्प या अधिक प्रमाण मे साख्य परिभाषा और साख्य तत्त्वज्ञान दृष्टिगोचर हुए बिना नही रहता। इतना ही नही, प्राचीन औपनिषद चिन्तन या दर्शन और बौद्ध दर्शन की भूमिका तथा वैष्णव-शैव आदि आगमावलम्बी परम्पराएँ और उत्तरकालीन वेदान्त की सभी परम्पराओ की मूल भूमिका साख्य परिभाषा, साख्य प्रक्रिया और साख्य विचार से ही बनी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि साख्यविचार के प्रथम स्तर का निर्माण भौतिक जगत् अथवा प्रकृति के स्थूल भाग का आश्रय लेकर हुआ होगा, जो एक अथवा दूसरे रूप से चार्वाक के नाम से अथवा भौतिकवाद के नाम से आज तक साहित्य में सुरक्षित रहा है। इस स्तर मे प्रकृति का चिन्तन सूक्ष्म या अव्यक्त रूप में प्रारम्भ नही हुआ था, परन्तु वह पृथ्वी, जल आदि स्थूल और व्यक्त रूप का अवलम्बन लेकर ही चलता था। पुरुष या आत्मा की कल्पना इस स्तर में विनश्वर स्थूल भूतो के मिश्रण जन्य एक प्रकार से आगे नही बढी थी। दूसरा स्तर इस स्थूल भूत के कारणविषयक चिन्तन में से उत्पन्न हुआ हो ऐसा प्रतीत होता है। स्थूल और व्यक्त दिखाई देने वाले तत्त्वो का कारण क्या है? उसका कुछ कारण तो होना ही चाहिए—इस प्रश्न के उत्तररूप से सूक्ष्म भौतिक तत्त्व की कल्पना अव्यक्त—प्रकृति-रूप मे स्थिर हुई और इस कल्पना के साथ ही पुरुष का अर्थ स्थूल और क्षर भौतिक परिणाम में बद्ध न रह करके वह अव्यक्त—प्रकृति पर्यन्त विस्तृत हुआ और जो व्यक्त जगत् का अव्यक्त या अदृश्य कारण है, वही पुरुषरूप मे माना जाने लगा। व्यक्त या स्थूल भौतिक जगत् क्षर, चर या विनश्वर है तो क्या उसके कारण अव्यक्त को भी वैसा ही मानना चाहिए? यदि वह भी वैसा ही क्षर हो तो पुन उसका मूल कारण दूसरा मानना पडेगा और इस प्रकार से तो किसी वस्तु का अन्त नही आवेगा। इस विचार मे से व्यक्त और क्षर जगत् के कारणरूप से माना गया अव्यक्त तत्त्व अक्षर, नित्य, अविनश्वर कल्पित हुआ। और यही पुरुष या आत्मा या जीव तत्त्व है ऐसी विचार सरणी

मे मे पुरुष तत्त्व भी क्षर मे से अक्षर बना। लो० तिलक जो व्याख्या करते है उसको मान्य रक्खे[1] तो ऊपर सूचित क्षरपुरुषवाद और अक्षरपुरुषवाद ये दोनो स्तर गीता के 'क्षर सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इस पद्य मे सूचित किये गये है। अव्यक्त प्रकृति यही अन्तिम तत्त्व पुरुष है और उससे आगे दूसरा कुछ भी नही है, ऐसी २४ तत्त्व वाली साख्यतत्त्वज्ञानकी दूसरी भूमिका महाभारत मे, उसके बाद की २५ और २६ तत्त्व वाली दो भूमिकाओ की तरह वर्णित प्राप्त होती है।[2] परन्तु इस २४ तत्त्व वाली भूमिका का साख्यदर्शन उसके सच्चे भाव में चरक नामक आयुर्वेदग्रन्थ मे विस्तृत वर्णित[3] है। उसमे अव्यक्त—प्रकृति का ही आत्मा, पुरुष, चेतन, परमात्मा, कर्ता, भोक्ता, ब्रह्म आदि रूप से वर्णन है। और उसका ही आश्रय लेकर पुनर्जन्म घटा करके निरात्मवाद का निरसन किया गया है। यह निरात्मवाद ही स्थूल और क्षर भूतराशिविशेष को पुरुष मानने वाली पहली भूमिका है। दूसरी भूमिका मे अविनश्वर प्रकृति तत्त्व के प्रविष्ट होते ही उसमें पुनर्जन्म की प्रक्रिया घटाई गई और उसके साथ ही पहली भूमिका के क्षरपुरुषवाद को नास्तिक कह करके निन्दा की गई। यह कहने की तो शायद ही जरूरत होगी कि व्यक्त क्षर तत्त्वमय पुरुष और अव्यक्त अक्षर प्रकृतिमय पुरुष इन दोनो मान्यताओ के समय पुरुष या आत्मा में अनुभव किये जाने वाले ज्ञान सुख-दुःख आदि गुण व्यक्त क्षर तत्त्व के तथा अव्यक्त-प्रकृति तत्त्व के ही है ऐसा माना जाता था और यह मान्यता भी साख्य विचार का आगे चाहे जितना विकास हुआ हो फिर भी वह उसके तत्त्वज्ञान मे स्पष्ट रूप से सुरक्षित है। साख्यतत्त्वज्ञान ने जब प्रकृति से पृथक् और स्वतन्त्र पुरुष का अस्तित्व स्वीकार किया तब भी वह अपनी इस प्राचीन मान्यता को तो पकडे ही रहा कि ज्ञान, सुख-दुःख, धर्माधर्म आदि गुण या धर्म ये पुरुष के गुण नही है परन्तु वे तो अव्यक्त या प्रकृति के कार्यप्रपच मे ही आ जाते है। क्योकि वे प्राकृत अन्तःकरण के ही धर्म है। अप्राकृत चेतनावाद की भूमिका का अवलम्बन लेकर विचार करने वाले दर्शनो में से जैन और न्याय-वैशेषिक दर्शन ने ज्ञान, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म आदि गुणो को प्राकृत भूमिका से बाहर निकाल करके अप्राकृत स्वतन्त्र चेतन तत्त्व में स्थान दिया। फिर भी अप्राकृत चेतनवाद की भूमिका का स्पर्श करके विचार करने वाले साख्यदर्शन ने तो उन गुणो को प्राकृत ही माना और अप्राकृत चेतन में उनके अस्तित्व का सर्वथा निषेध किया। इस मौलिक मतभेद का बीज मेरी कल्पनानुसार साख्य तत्त्वज्ञान की ऊपर वर्णित व्यक्त तत्त्वमय और अव्यक्त प्रकृतिमय पुरुष की-दो क्रमिक भूमिकाओ मे समाविष्ट है, क्योकि यदि जैन, न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन की तरह साख्यदर्शन मे अप्राकृत आत्मतत्त्व की भूमिका पहली ही होती तो उसमे भी ज्ञान, सुख-दुःखादि ये गुण आत्मा के ही माने जाते और उसी प्रकार से प्राकृत भाग से अप्राकृत आत्मा का विलक्षणत्व बताया जाता तथा उन गुणो को प्राकृत अन्तःकरण के मानने की आवश्यकता नही रहती।

अव्यक्त प्रकृति यही पुरुष या चेतन है ऐसा जब माना जाने लगा तब उस भूमिका के सामने भी प्रश्न हुआ कि चाहे व्यक्त की अपेक्षा अव्यक्त का स्थान ऊँचा हो, परन्तु अन्त मे तो वह भी व्यक्त का कारण होने से व्यक्त कोटि का अर्थात् भौतिक या जड ही है और यदि ऐसा हो तो पुरुष, आत्मा या चेतन भी भौतिक या जड ही सिद्ध होता है।

---

[1] मेरा अभिप्राय यह है कि लो० तिलक के द्वारा की हुई व्याख्या ठीक नहीं है। 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इसमें कूटस्थ अक्षररूप से साख्य समत जीवात्मा ही लेना चाहिए, न कि प्रकृति, क्योकि प्रकृति कूटस्थ नहीं मानी जाती है, और पुरुष ही कूटस्थ माना जाता है। प्रकृति का समावेश 'क्षर सर्वाणि भूतानि' इस क्षर भाग में होता है, क्योकि वह अक्षर होने पर भी कार्यरूप से क्षर भी है। ऐसा अर्थ करने पर गीता के प्रस्तुत (१५ १६, १७) त्रिविधि पुरुष वर्णन में सेश्वर साख्य की चारो भूमिकाओं का समावेश हो जाता है। जब कि तिलक की व्याख्या माननें पर जीवात्मा का सग्रह उस वर्णन में रह जाता है। गीताकार प्रकृति का सग्रह करे और जीवात्मा को छोड दे, यह नहीं बन सकता।

[2] History of Indian philosophy, p 217 महाभारत, शातिपर्व, अध्याय ३१८

[3] शारीरस्थानम्। प्रथम अध्याय।

इसलिए इस जड आत्मा मे चैतन्य का कैसे सम्भव है ? और यदि अव्यक्त प्रकृति मे चैतन्य का सम्भव माना जाता है तो उसके प्रपचरूप व्यक्त भूतो में भी चैतन्य मानना पडेगा। और यदि यह स्वीकार किया जाय तो अन्त मे भौतिक चेतनवाद ही फलित होता है। वैसी स्थिति में अव्यक्त प्रकृतिमय पुरुष की कल्पना व्यर्थ क्यो न गिनी जाय ? इस प्रश्न के स्पष्टीकरण की विचारणा में से स्वतन्त्र चेतनवाद की नवीन भूमिका साख्य तत्त्वज्ञान में आई हो ऐसा प्रतीत होता है। उसके बाद तो साख्य विचारको ने अव्यक्त प्रकृति से आगे बढ करके एक दूसरा तत्त्व स्वीकार किया, जो प्रकृति की तरह अव्यक्त तो माना गया, परन्तु उसे प्रकृति की अपेक्षा विकसित और विलक्षण माना गया। वह तत्त्व स्वतन्त्र और प्रकृति से पृथक् ऐसा चेतन तत्त्व है। यह साख्य तत्त्वज्ञान की तीसरी भूमिका है, जो आज तक साख्यदर्शन और तदनुसारी दूसरे सब दर्शनो में प्रधानरूप से रही है। इस भूमिका में यह कल्पना की गई है कि चेतना प्रकृति या उसके व्यक्त कार्यों में नही हो सकती है। वे सब तो जड और भौतिक कोटि के हे। चैतन्य उसके बाहर की वस्तु है। और वह जिस तत्त्व मे होता है वही चेतन, पुरुष या आत्मा हो सकता है। अव्यक्त प्रकृति और उसके व्यक्त कार्य चाहे जितने क्रियाशील और परिणामजनक हो, फिर भी उन सब को तटस्थ और अलिप्त भाव से मौन प्रेरणा देने वाला चेतन तत्त्व तो बिलकुल स्वतन्त्र और भिन्न ही है। और वही तत्त्व वास्तविक रूप मे पुरुष या आत्मा नाम के योग्य है। इस प्रकार कभी व्यक्त कभी अव्यक्त-प्रकृति और कभी उससे पर चेतन तत्त्व, इन तीन भूमिकाओ में पुरुष की कल्पना उत्तरोत्तर आगे बढती गई। साख्य तत्त्वज्ञान ने जब अव्यक्त-प्रकृति की कल्पना की थी तब उसने उसे परिणमनशील होने पर भी अज—अजन्मा, अनादि या नित्य माना था। परन्तु अब जब उसने पुरुष तत्त्व बिलकुल भिन्न स्वीकार किया तब उसको कैसा मानना, यह प्रश्न उद्भूत हुआ और उसके उत्तर रूप से यह माना जाने लगा कि स्वतन्त्र चेतन तत्त्व केवल प्रकृति के जैसा अजन्मा, अनादि या नित्य ही नही है परन्तु वह तो कूटस्थ भी है। अर्थात् जैसे वह उत्पन्न नही होता है वैसे उसमें से किसी का आविर्भाव भी नही होता है। प्रकृति नित्य होने पर भी प्रसवशील होने से अजा है, जब कि स्वतन्त्र कल्पित चेतन प्रसवधर्मी नही है, परन्तु तटस्थ रूप से प्रकृति के प्रसव का निमित्त या उसके प्रसव का साक्षी होने से वह सच्चे अर्थ मे पुरुष—प्रेरक और अज भी है। जब इस तीसरी भूमिका मे स्वतन्त्र पुरुष तत्त्व की कल्पना हुई तब मानसिक भूमिका के अनुसार प्रत्येक देह मे प्रत्येक भिन्न पुरुष ऐसा पुरुषबहुत्ववाद ही था। उस समय अद्वैत या एक पुरुष की कल्पना अवतीर्ण ही नही हुई थी।

दूसरी ओर अनेक झुडो मे विभक्त मनुष्य जाति मे अपने अपने वर्तुल को पसन्द हो ऐसी विभिन्न देव-देवियो की कल्पना ने गहरी जड जमा रक्खी थी। कोई भी तत्त्वज्ञ सरलता से इन देव-देवियो का स्थान् मिटा सके ऐसा नही था। इसलिए तत्त्वज्ञो के लिए भी अपने चिन्तनक्षेत्र मे इन देव देवियो का स्थान रखना अनिवार्य था। प्रत्येक झुड अपने ही इष्ट और मान्य देव या देवी को ही सर्वेसर्वा मानता था। जो झुड प्रभावशाली बनता था उसका इष्टदेव भी वैसा ही प्रभावशाली बनता था। परिवर्तन की यह क्रिया दीर्घकाल से चली आती थी और इसलिए तत्त्वज्ञ भी एक प्रकार से असमजस में पडता जाता था। तत्त्वज्ञ उस समय यह कहने का तो साहस नही कर सकता था कि कोई सर्वेसर्वा नही है। परन्तु तत्त्वज्ञ की प्रतिभा मे एक तत्त्व प्रकाशित होने का अवसर पक गया था। इसलिए किसी अप्रतिम प्रतिभाशील और साहसी-चिन्तक ने विचार प्रकट किया कि अनेक देव और देवियाँ हो तो वे परिमित शक्ति वाली ही हो सकती है जैसे कि उनके अनुयायीगण। और जो सर्वनियामक, सर्वशक्तिमान् नही होता है वह सच्चा या महान् देव तो नही हो सकता है। इसलिए सब का नियन्त्रण करने वाला ऐसा एक ही महान् देव या देवाधिप है कि जिसके नियमन के अनुसार ही सारा विश्वचक्र चलता है। इस महेश्वर की कल्पना साख्य तत्त्वज्ञान ने खुद उत्पन्न की हो या फिर उसने दूसरे के पास से ली हो परन्तु वह साख्य तत्त्वज्ञान की मुख्य चौथी और अन्तिम भूमिका है। ईश्वररूप से जो तत्त्व स्वीकार किया गया वह चेतनरूप ही हो यह तो स्वाभाविक था। परन्तु दूसरे चेतनो की अपेक्षा ईश्वर चेतन की विशेषता स्वीकार न की जाय तो वैसी मान्यता का कुछ अर्थ ही नही रहता। इसलिए साख्य चिन्तको ने ईश्वर को चेतन मानने पर भी उसके स्थान की कल्पना

दूसरे चेतनो की अपेक्षा ऊँची की। दूसरे चेतन कूटस्थ होने पर भी प्रकृति के पाश मे आते है और कभी उस पाश मे मुक्त भी होते है, परन्तु ईश्वर चेतन तो कभी इस पाश के स्पर्श का अनुभव करता ही नही है इसलिए उसके लिए उस पाश से युक्त होने का प्रसग भी नही रहता है। यह विशिष्ट पुरुष या ईश्वर ही गीता में[1] वर्णित पुरुषोत्तम और परब्रह्म है और वही योग सूत्र[2] मे प्रतिपादित पुरुष विशेष है। इस प्रकार साख्य तत्त्वज्ञान की चार भूमिकाएं फलित हुई। (१) व्यक्त क्षर पुरुष (२) अव्यक्त प्रकृत्यात्मक पुरुष (३) प्रकृतिभिन्न स्वतन्त्र पुरुष (४) स्वतन्त्र पुरुषो मे भी मूर्धन्य ऐसा एक पुरुषोत्तम ईश्वर, महेश्वर शिव या पशुपति।

जिसमे विशिष्ट पुरुषरूप से ईश्वर की मान्यता स्थिर हुई वह ऊपर वर्णित साख्यतत्त्वज्ञान की चतुर्थ भूमिका है। यही भूमिका साख्य-योग दर्शन के रूप मे पहले से आज तक दार्शनिक साहित्य में सुविदित है। निरीश्वर साख्य-दर्शन परस्पर भिन्न ऐसे प्रकृति और पुरुष सहित पच्चीस तत्त्व स्वीकार करता है। जब कि सेश्वर माना जाने वाला साख्य-योगदर्शन इसमे ईश्वर तत्त्व का प्रवेश करके छब्बीस तत्त्व स्वीकार करता है। सिद्धसेन ने इसी साख्य-योग-दर्शन की भूमिका का अवलम्बन लेकर के उसके ऊपर कवित्व के कलामय छींटे छिडक करके प्रस्तुत कृति की रचना की है। यह सत्य है कि सिद्धसेन ने प्रस्तुत बत्तीसी मे चौबीस, पच्चीस या छब्बीस मे से एक भी तत्त्वसख्या का निर्देश नही किया है। फिर भी यह बात इतनी सत्य है कि साख्य-योग के छब्बीस तत्त्वो का सक्षेप मे जिन चार विभागो मे वर्गीकरण होता है वे चार विभाग प्रस्तुत बत्तीसी में एक अथवा दूसरे रूप में गर्भित है, इसलिए वे स्पष्टरूप से सूचित होते है। वे चार विभाग इस प्रकार है—(१) व्यक्त—क्षर या दृश्य चराचर भौतिक विश्व, (२) अव्यक्त—अक्षर भौतिक मूल कारण सर्वान्तिम सूक्ष्म द्रव्य या प्रकृति, (३) कूटस्थ—अपरिणामी नित्य एव निर्गुण चेतन पुरुषगण, (४) पहले से ही सदा क्लेश-कर्मादि बन्धन के प्रभाव से विहीन ऐसा एक ईश्वर या विशिष्ट पुरुष।

प्राप्त व्याख्याओ की समीक्षा

आज तक के अध्ययन और चिंतन के परिणाम स्वरूप जो एक बात मेरे ध्यान मे सविशेष आती है उसका यहाँ निर्देश करना योग्य है, जिससे दूसरे अभ्यासी उसके ऊपर विचार कर सके और उस मुद्दे को परीक्षक की दृष्टि से कसौटी पर कस के देख सके। इस समय लगभग सभी तत्त्वचिंतक उपलब्ध व्याख्याओ के आधार से ऋग्वेद के तत्त्व-विषयक कुछ सूक्तो और वैसे ही अन्य वेद के सूक्तो तथा अति प्राचीन कहे जा सके ऐसे उपनिषदो के भागो को ब्रह्मपरक समझते है और उसके अनुसार ही अर्थ करते है। अर्थात् सभी चिंतक और व्याख्याकार चौबीस तत्त्ववाली साख्यदर्शन की भूमिका के बाद की अव्यक्त से भिन्न ऐसे चेतन और परब्रह्म मानने वाली भूमिका का अवलम्बन लेकर ही उन-उन सूक्तो और उपनिषदो का अर्थ घटाते है। परन्तु मुझे प्रतीत होता है कि यदि वे भाग अति प्राचीन है तो उनमे परब्रह्म का वर्णन नही है, लेकिन चौबीस तत्त्व वाली भूमिका मे अतिम तत्त्वरूप से स्वीकृत और उस समय अत्यन्त प्रतिष्ठा प्राप्त ऐसे मूल कारणरूप अव्यक्त का ही अनेक प्रकार से वर्णन है। ऋग्वेद मे सत् रूप से हिरण्यगर्भ रूप से, पुरुष रूप से या अनिर्वचनीय रूप से, इसी अव्यक्त की महिमा गाई गई है और उपनिषदो के प्राचीन स्तरो में भी असत्, सत्, ब्रह्म या पुरुष रूप से यही अव्यक्त गाया गया है। फिर भी व्याख्याकार और भाष्यकार इन सभी स्थलो मे परब्रह्म ऐसा अर्थ करते है उसका क्या कारण है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वे सब उपलब्ध व्याख्याएँ और भाष्य जब लिखे गए तब परब्रह्म की प्रतिष्ठा बिलकुल सुस्थापित हो चुकी थी। इसलिए व्याख्याकारो का अध्ययन तथा चिंतन सस्कार एक मात्र परब्रह्मलक्षी था। उस समय इतिहास और क्रम विकास को दृष्टि से व्याख्या लिखने

---

[1] "उत्तम पुरुषस्त्वन्य परमात्मेत्युदाहृत।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर ॥" —गीता १५, १७

[2] योगसूत्र १ २४।

की प्रथा ही नही थी। इसलिए व्याख्याकारो और भाष्यकारो ने प्रामाणिक रूप से उनको प्राप्त सस्कारो के अनुसार ही उन उन स्थलो की व्याख्या की। अव्यक्त—प्रकृतिपरक वाक्यो का परब्रह्मपरक अर्थ करने में भूल होने का खास कारण यह भी था कि प्रारम्भ में अव्यक्त को अतिम तत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठा देने वाले समय मे उसके लिए जिन-जिन अक्षर, स्वयभू, आत्मा, परमात्मा, चेतन, विभु, ब्रह्म आदि विशेषणो का प्रयोग किया जाता था उन्ही विशेषणो का प्रयोग अव्यक्त से भिन्न स्वीकृत चेतन या ईश्वर के लिए भी किया जाता था। इसलिए परब्रह्म की मान्यता के युग में हुए व्याख्याकार अव्यक्त की मान्यता वाले युग के वर्णनो का परब्रह्मपरक वर्णन करें यह बिलकुल स्वाभाविक था। परब्रह्म अथवा चेतनतत्त्व के स्वीकार वाली छब्बीस या पच्चीस तत्त्व मानने वाली भूमिकाएँ प्रथम प्रतिष्ठित हुई होगी, और अव्यक्त को अतिम तत्त्व मानने वाली चौबीस तत्त्व की भूमिका उसके बाद भारतीय दर्शनो में आई हो ऐसा नही कह सकते हैं। आगे जाकर जिसका अनात्मवाद या जडवाद के रूप से वर्णन किया गया है वह चौबीस तत्त्व की भूमिका पहले की ही है इस विषय मे शका के लिए कोई स्थान नही है। महाभारत और गीता में[1] इस भूमिका के अवशेष जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर होते हैं और मूल चरक मे तो इसका स्पष्टरूप से स्वीकार है। फिर भी यह हुआ है कि पिछले व्याख्याकारो ने मूल चरक के इस प्राचीन भाग को अपने सस्कार के अनुसार भिन्न आत्मपरक मान लिया और तदनुसार व्याख्या की है। इसलिए मूल और व्याख्या के बीच मे बहुत सी असगतियाँ भी दिखाई देती है। पृथक् चेतन और परब्रह्म की मान्यता के युग मे रचे गये और सकलित हुए उपनिषदो, महाभारत तथा गीता आदि मे इस अव्यक्त प्रकृति को ही अतिम तत्त्व मानने वाली भूमिका का एक मतान्तर के रूप में या पूर्वपक्ष के रूप से उल्लेख हुआ है। आगे जाकर केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत या शुद्धाद्वैत के साम्प्रदायिक विचार प्रकट होने लगे तब उन-उन पुरस्कर्ताओ ने जैसे उपनिषदो और गीता आदि का अपनी दृष्टि से ऐकान्तिक व्याख्यान किया, और इन ग्रन्थो में दूसरे कौन कौन से विरोधी मन्तव्य स्पष्ट है इसका विचार तक न किया वैसे ही परब्रह्म या पृथक् चेतनतत्त्व की स्थापना और प्रतिष्ठा होने के बाद के व्याख्याकारो ने प्राचीन अथवा चाहे जिस भाग को एकमात्र परब्रह्म या पृथक् चेतनपरक मान लिया। मैं यह मानता हूँ कि ऋग्वेद और उपनिषदो के कुछ भागो मे बहुत प्राचीन तत्त्वचिंतन समाविष्ट है जिस समय कि पृथक् चेतन और परब्रह्म की कल्पना उदय मे नही आई थी। इस दृष्टि से उन-उन प्राचीन भागो के ऊपर विचार करने पर विचारको के लिए मूल और पीछे की व्याख्या के बीच मे यत्र तत्र दृष्टिगोचर होने वाली असगतियाँ न रहेंगी यह मै मानता हूँ।

प्राचीन उपनिषदो और गीता मे अद्वैत—परब्रह्मगामी चिंतन की ओर स्पष्ट झुकाव है। परन्तु प्रारम्भ से लगाकर अत पर्यन्त उन उपनिषदो और गीता मे से मध्वाचार्य के ऐकान्तिक द्वैत मत को फलित करना यह जितने अश मे खीचतानी की अपेक्षा रखता है उतने ही अश मे उनमे से अयेति शकराचार्य के मायावाद या केवलाद्वैत को फलित करने का काम भी खीचातानी वाला है। यह मुद्दा प्राचीन उपनिषदो और गीता को मूल रूप से पढते समय तुरत दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए तत्त्वचितक श्री नर्मदाशकर मेहता उपनिषद्विचारणा मे और सर राधाकृष्णन् जैसे भी 'इडियन फिलोसोफी' मे इस बात की साक्षी देते है। प्राचीन उपनिषदो और गीता के बहुत से भाग विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत की ओर जायँ, ऐसे है। परन्तु श्वेताश्वतर स्पष्टरूप से द्वैतवादी है क्योकि उसमें प्रकृति, पुरुष और महेश्वर इस त्रिविध ब्रह्म का स्पष्टरूप से स्वीकार है। और इसी ईश्वर, महेश्वर या परमपुरुष की पशुपति रूप से वर्णना या स्तुति की गई है।

---

[1] उदाहरणार्थ गीता २ २८ 'अव्यक्तादीनि भूतानि' यह विचार अव्यक्तप्रकृति को ही चरम तत्त्व मानने वाली भूमिका का है, न कि पृथक् चेतन मानने वाली भूमिका का। इसी प्रकार छादोग्य का 'असदेवेदमग्र आसीत् तत् सदासीत् तत् समभवत्' (३ १९ १) इत्यादि भाग प्रकृतिचेतनाभेदवाद की साख्य तत्त्वज्ञान की भूमिका का सूचक है, न कि अतिरिक्त ब्रह्मवाद की मान्यता की भूमिका का सूचक। जब कि 'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्' (६ २.१) इत्यादि छान्दोग्य का भाग अतिरिक्त ब्रह्मवाद की मान्यता की भूमिका का सूचक है।

सिद्धसेन का झुकाव

सिद्धसेन मुख्यरूप से श्वेताश्वतर का उपजीवन करते हो ऐसा प्रतीत होता है, फिर भी श्वेताश्वतर की अपेक्षा सिद्धसेन की स्तुति मे अद्वैत या समन्वय की छाट कुछ अधिक है। यद्यपि वह भी प्रकृति, पुरुष और परम पुरुष इन तीनो को स्वीकार करते हो, ऐसा प्रतीत होता है। दोनो के बीच के इस अन्तर का कारण यह है कि एक तो सिद्धसेन के समय तक अनेक प्रकार के अद्वैत मत स्थिर हो गये थे और दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि सिद्धसेन ने श्वेताश्वत-रीय केवल पाशुपत सम्प्रदाय मे बद्ध नही रह करके उपनिषदो, गीता और पुराणो की समन्वय पद्धति का ही अनुसरण किया हो।

सिद्धसेन के वर्णन की एक खास विशेषता की ओर वाचकवृन्द का ध्यान पहले ही आकर्षित कर देना आवश्यक है। वह यह है कि पुरुषतत्त्व की अव्यक्त से भिन्न कल्पना होने के बाद किसी निपुण ससारानुभवी रसिक और तत्त्वज्ञ प्रतिभासम्पन्न कविने पच्चीस तत्त्ववाले साख्य की भूमिका मे अव्यक्त और पुरुष की भिन्न-भिन्न कल्पना होने के बाद मूल कारण अव्यक्त को प्रकृति और कूटस्थ चेतन तत्त्व को पुरुष नाम प्रदान किया और जीवसृष्टि के उत्पादक दो विजातीय (स्त्री-पुरुष) तत्त्वो के युगल का रूपक लेकर चराचर जगत् के उत्पादक दो विजातीय तत्त्वो को स्वीकार करके उस युगल का प्रकृति-पुरुष रूप से वर्णन किया, जब कि श्वेताश्वतर ऋषि ने इस प्रकृति-पुरुष स्वरूप दो तत्त्वो का विजातीयत्व कायम रख करके उस युगल का 'अजा' और 'अज' के रूपक से वर्णन किया। इस रूपक में खूबी यह है कि सतति के जन्म और सवर्धन क्रिया मे अनुभवसिद्ध पुरुष के तटस्थपने की छाया, साख्य विचार सरणी के अनुसार चेतन तत्त्व मे थी उसको, और मातृसुलभ सपूर्ण जन-सवर्धन की जवाबदारी और चिता की जो छाया प्रकृति मे थी, उसका क्रमश 'अज' और 'अजा' के रूपक में वर्णन किया। जब कि सिद्धसेन ने बत्तीसी मे केवल 'अज' का ही उल्लेख किया है और 'अजा' का उल्लेख छोड दिया है। इतना ही नही, परन्तु उसने ऋग्वेद और शुक्लयजुर्वेद तथा मनुस्मृति आदि की तरह गर्भ के आधान स्थान का निर्देश किये बिना ही अज—ईश्वर या चेतन—का गर्भ के जनक रूप से वर्णन किया है।

व्याख्यान पद्धति

किस पद्धति मे बत्तीसी का अर्थ किया जाय, यह एक समस्या थी। फिलहाल मैंने इसका जो निराकरण किया है उसका सूचन यहाँ करना योग्य है, जिससे अभ्यासी अथवा दूसरे व्याख्याकारो को उससे कुछ आगे बढने का ख्याल आवे और इसमे रह गई त्रुटियाँ क्रमश दूर हो। मेरी *व्याख्यान* पद्धति मुख्य रूप से तीन भागो में विभाजित हो जाती है (१) बत्तीसीगत पद, वाक्य, पाद, सारा का सारा पद्य, रूपक, कल्पना आदि वेदो, उपनिषदो और गीता में से जैसे के तैसे या कुछ परिवर्तन के साथ मिलें उनका सग्रह करके अर्थ और विवेचन मे उपयोग करना, (२) उन-उन सग्रहीत भागो के मूल द्वारा या टीकाओ द्वारा जो अर्थ होता हो और जो अधिक योग्य प्रतीत होता हो उसका प्रस्तुत विवेचन मे उपयोग करना, (३) वेद आदि प्राचीन ग्रन्थो मे से एकत्रित तुलनात्मक भाग और उसका अर्थ इन दोनो का विवेचन मे यथासभव तुलना रूप से उपयोग करने पर भी जहाँ सगति ठीक नही बैठी वहाँ स्वाधीन बुद्धि से अर्थ और विवेचन करना।

प्रस्तुत बत्तीसी अन्य बत्तीसियो के साथ विक्रम स० १९६५ में भावनगर से प्रकाशित हुई है। वही मुद्रित प्रति आज मेरे सामने है। इनमें अनेक स्थलो मे भ्रान्त पाठ है। प्रस्तुत बत्तीसी मे ऐसे अशुद्ध पाठो के स्थान में मुझको जो पाठ कल्पना से ठीक जँचे, उन्ही को उस-उस स्थान पर रख कर विवेचन मे गृहीत किया है और जो पाठभेद मुद्रित प्रति मे है वह उस स्थान मे पाद टिप्पण में मैने दिया है। मैने अपनी दृष्टि के अनुसार जिन-जिन पाठभेदो की कल्पना की है वे अन्तिम ही है यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। परन्तु भाषा, अर्थ, छन्द, और अन्य ग्रन्थो में प्राप्त

जब कि व्यावहारिक दृष्टि से वह आत्मा को कर्म के सम्बन्ध से शबल तथा नानारूपधारी मानती है। अद्वैत, परब्रह्म, और जीवभेद इन दोनो के सम्बन्ध का जो स्पष्टीकरण वेदान्त करता है वही स्पष्टीकरण जैनदृष्टि से प्रत्येक स्वतन्त्र चेतन के तात्त्विक और व्यावहारिक स्वरूप के सम्बन्ध के विषय मे है।

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ के मत्र २० में सेश्वर साख्य का बीज प्रतीत होता है। उसमें एक ही वृक्ष के ऊपर रहे हुए दो पक्षियो का रूपक करके विश्वगत जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन किया गया है। दो समान स्वभाव सहचारी मित्र जैसे पक्षी एक ही वृक्ष को आश्रय बना कर रहते हैं। उनमे से एक—जीवात्मा स्वादुफल (कर्मफल) वाले को चखता है, जब कि दूसरा पक्षी—परमात्मा ऐसे फल को बिना चखे ही प्रकाशित होता है। इसके बाद के दो अगले मत्रो मे भी वृक्ष और पक्षियो का रूपक विस्तृत करके सहज भगीभेद से पुन जीवात्माओ का वर्णन किया है। यह रूपक इतना अधिक सचोट और आकर्षक है कि उसकी रचना हुए हजारो वर्ष व्यतीत हो गये फिर भी वह चितकगण और सामान्य लोगो के विचारप्रदेश मे से हटने के बजाय तत्त्वज्ञान के विकास के साथ अर्थ से विकसित होता गया। अथर्ववेद काण्ड ९ सूक्त ९ मे ऋग्वेद के ये ही तीनो मत्र हैं। जब कि मुण्डक उपनिषद मु० ३ ख० १ में दो पक्षियो के रूपक का मत्र तो यही है, परन्तु उसके बाद दूसरे मत्र मे यह कहा गया है कि वृक्ष के एक होने पर भी उसमें लुब्ध पुरुष दीनता के कारण मोह को प्राप्त करके हर्ष-विषाद का अनुभव करता है। परन्तु वह लुब्ध पुरुष जब उसी वृक्ष पर रहे हुए दूसरे समर्थ-अलुब्ध और निर्मोह पुरुष का दर्शन करता है तब वह स्वय भी निर्मोह बनता है। एक ही वृक्ष पर आश्रित दो पक्षियो के रूपक द्वारा ऋग्वेद या अथर्ववेद मे जो अर्थ विवक्षित था उसको ही मुण्डककार ने दूसरे मत्रो मे स्पष्ट किया हो ऐसा प्रतीत होता है। क्योकि वह कहता है कि जो पुरुष वृक्ष में लुब्ध है वह मोह मे दुखी होता है, दूसरा पुरुष समर्थ होने से उसमे लुब्ध नही है। इसलिए लुब्ध को अलुब्ध के स्वरूप का दर्शन होते ही वह भी निर्मोह बनता है। श्वेताश्वतर ने (अ० ४) मुण्डक के इन दोनो मत्रो को लेकर जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन तो किया ही है, परन्तु इसके सिवाय भी उसने एक नवीन आकर्षक रूपक की योजना करके बद्ध और मुक्त ऐसे दो पुरुषो का वर्णन किया है। उसने अज-बकरे का रूपक करके कहा है कि एक अज—बद्ध जीव भोगाभिमुख प्रकृति रूप अजा के ऊपर प्रीति करने से दु खी होता है जब कि दूसरा अज—मुक्त जीव भोगपराङ्मुख अजा को छोड देता है। इस प्रकार ऋग्वेद से श्वेताश्वतर तक के रूपको द्वारा किया हुआ वर्णन इतना सूचित करता है कि प्रकृति, बद्धपुरुष, मुक्तपुरुष और परमात्मा ये चार तत्त्व विचारप्रदेश में स्थिर हो गये है जो कि सेश्वरसाख्य या साख्य-योग की भूमिका स्वरूप है।

सिद्धसेन ने प्रस्तुत पद्य मे पुराने रूपको का त्याग करके थोडे से परिवर्तन के साथ दूसरी रीति से इसी वस्तु का वर्णन किया है। वह बद्ध और मुक्त दो पुरुषो मे से केवल बद्धपुरुष का ही एक अज रूप से वर्णन करता है और मुक्त पुरुष का अज रूपक तथा परमात्मा का पक्षी रूपक छोड करके परमात्मा का सृष्टि और जीवात्मा के अध्यक्षरूप मे 'योऽस्याध्यक्ष अकल सर्वधान्य वेदातीत वेद वेद्यस वेद' यह कह करके वर्णन करता है। इसके इस कथन मे ऋग्वेद के नासदीयसूक्तगत मत्र ७ के 'योऽस्याध्यक्ष परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद' इस पद की ध्वनि गुजित होती है।

सिद्धसेन के पीछे लगभग हजार वर्ष के बाद हुए आनदघन नामक जैनसत ने हिंदी भाषा मे इस वैदिक और औपनिषद रूपक का बहुत खूबी से वर्णन किया है। वह कहता है[1] कि एक वृक्ष के ऊपर दो पक्षी बैठे हुए है। उनमे एक गुरु और दूसरा शिष्य है। शिष्य चुन चुन करके फल खाता है, पर गुरु तो सदा मस्त होने से हमेशा आत्मतुष्ट है। आनदघन ने इस रूपक के द्वारा जैनपरम्परासम्मत बद्ध और मुक्त जीव का वर्णन किया है जो साख्यपरम्परा-

---

[1] 'तरुवर एक पछी दोउ बैठे, एक गुरू एक चेला।
चेले ने जग चुण चुण खाया, गुरू निरतर खेला ॥पद० ९८॥

सम्मत बद्ध और मुक्त दो अज के वर्णन जैसा ही है अथवा वैदिक रूपक अनुसार जीवात्मा और परमात्मा के वर्णन जैसा ही है। गीता में 'मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम् (९-१०)। इस पद्य में परमात्मारूप से कृष्ण को अध्यक्ष कह करके चराचर सृष्टि की जन्मदात्री रूप से स्त्रीलिंग प्रकृति का निर्देश है। स्त्री ही गर्भ धारण करती है और पुरुष तो केवल निमित्त है—इस व्यावहारिक अनुभव को साख्य-परम्परा के अनुसार यथावत् व्यक्त करने के लिए गीताकार ने स्त्रीलिंग प्रकृति का प्रसवकर्त्री रूप मे वर्णन किया है और श्वेताश्वतर ने इसी प्रकृति का स्त्रीलिंगी अजा—बकरी रूप से वर्णन किया है (श्वे० अ० ४)। पर सिद्धसेन तो चराचर गर्भ के धारक रूप से पुरुष अज का वर्णन करता है, यह प्रत्यक्ष विरोध है। इसका परिहार दो प्रकार से सभव है एक तो यह कि सिद्धसेन 'गर्भधत्ते' इस शब्द के द्वारा गर्भ को आधान करने वाले पुरुष का ही वर्णन करता है नही कि उसको धारण करने वाली स्त्री का। दूसरा सिद्धसेन का आशय कदाचित् इस विरोधाभासी वर्णन के द्वारा साख्यपरम्परा से भिन्न होकर यह सूचित करना हो कि साख्य प्रकृति को कर्ता और पुरुष को अकर्ता होने पर भी भोक्ता मानता है, परन्तु वस्तुत कर्ता और भोक्ता भिन्न-भिन्न नही होते है। इसलिए पुरुष को ही भोक्ता की तरह कर्ता मानना चाहिए चाहे वह कर्तृत्व मे अन्य तत्त्व का सहकार ले। पुरुष मे सर्वथा अकर्तृत्व मानने वाली साख्य परम्परा के विरुद्ध न्याय-वैशेषिक, जैन आदि बहुत सी परम्पराएँ है। इतना ही नही परन्तु वेदान्त की प्रत्येक शाखा ब्रह्म का ही कर्तृत्व स्थापित करके साख्यसम्मत प्रकृति के तत्त्व को बिलकुल गौण बना देती है। इसी भाव को सिद्धसेन कहना चाहते हो यह भी सभव है। क्योकि सिद्धसेन ने आगे के पद्यो मे भी बहुत से स्थलो पर साख्य की प्राचीन प्रणालिकाओ से भिन्न रूप मे वर्णन किया है।

अज शब्द का रूढ अर्थ है बकरा और यौगिक अर्थ है अजन्मा। ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीन समय मे बकरो के झुड से अतिपरिचित और उनके बीच में रहने वाले ऋषि कवियो ने रूपकरूप से अज का प्रयोग किया होगा। पर धीरे-धीरे वह उपमेय देव, आत्मा, परमात्मा आदि मे व्यवहृत होने लगा और तब उसका अर्थ अजन्मा ऐसा यौगिक किया गया, जो कि उपनिषदो और गीता आदि मे सर्वत्र 'अजो नित्य शाश्वतोऽय पुराण' (गी० २-२०) इत्यादि उक्ति मे दृष्टिगोचर होता है।

प्रस्तुत पद्य का पूर्वार्ध पढते समय श्वेताश्वतर का 'नील पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष (४-४) इत्यादि पाद का स्मरण होता है।

स एवैतद्विश्वमधितिष्ठत्येकस्तमेवैत विश्वमधितिष्ठत्येकम्।
स एवैतद्वेद यदिहास्ति वेद्य तमेवैतद्वेद यदिहास्ति वेद्यम् ॥२॥

अर्थ—वही एक—परमात्मा इस विश्व का अधिष्ठान करता है। यह एक विश्व उसका—परमात्मा का अधिष्ठान करता है। वही—परमात्मा यहाँ जो कुछ वेद्य है उसको जानता है। यहाँ जो वेद्य है वह उसको—परमात्मा को ही जानता है।

भावार्थ—इस पद्य मे चराचर विश्व और परमात्मा इन दोनो के पारस्परिक अधिष्ठातृत्व का वर्णन है, जो वैदिक, औपनिषद और गीता आदि के वर्णन से भिन्न है। क्योकि 'तस्मिन्ना तस्युर्भुवनानि विश्वा' यह ऋग्वेद (१ १ ६४ १३) मे तथा 'य कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक' (१ ३), 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येक' (४ ११) इत्यादि श्वेताश्वतर मे और गीता मे 'प्रकृति स्वामविष्ठाय सभवाम्यात्ममायया' (गीता ४ ६) मात्र परमात्मा का ही विश्व के अधिष्ठान रूप से वर्णन किया गया है नही कि विश्व का भी परमात्मा के अधिष्ठान रूप से वर्णन है। प्राचीन शैली के विरुद्ध दिखाई देने वाली शैली का अवलम्बन लेने के पीछे सिद्धसेन का दृष्टिबिंदु यह प्रतीत होता है कि जो दो तत्त्व अनत है, उनमे से एक को ही दूसरे का आधार कैसे कहा जा सकता है? यदि एक को दूसरे का आधार माना जाय तो दूसरा पहले का आधार क्यो नही माना जाय? इसलिए दोनो को एक दूसरे का आधार मानना यही युक्तिसगत है।

यदि अगम्य तथा अमेय तत्त्वो का वर्णन शक्य हो तो वह अधिक ठीक तरह से विरोधाभास के द्वारा ही हो सकता है। ऐसी विरोधाभास शैली का आश्रय वैदिक ऋषियो से प्रारम्भ करके अत तक के सभी तत्त्वज्ञ कवियो ने लिया है। इसीलिए सिद्धसेन परमात्मा और विश्व दोनो का परस्पर के ज्ञाता और ज्ञेय रूप से वर्णन करता है। परमेश्वर विश्व को जानता है, यह सत्य है, परन्तु विश्व जो कि ज्ञेय माना जाता है और जिसमें जीवात्मा का भी समावेश होता है, वह परमात्मा को नही जाने तो दूसरा कौन जाने ? इसीलिए गीता मे अर्जुन—जीवात्मा कृष्ण—परमात्मा को कहता है कि ज्ञाता भी तू है और ज्ञेय ऐसा अतिम धाम भी तू ही है (गीता ११-३८)।

स एवैतद्भूवन सृजति विश्वरूप तमेवैतत्सृजति भुवन विश्वरूम्।
न चैवैन सृजति कश्चिन्नित्यजात न चासौसृजति भुवन नित्यजातम् ॥३॥

अर्थ—वही नानारूप परमात्मा इस विश्वका सर्जन करता है और यही नानारूप विश्व उसको—परमात्मा को सरजता है। और इस नित्यजात परमात्मा को कोई सरजता नहीं है तथा यह परमात्मा नित्यजात भुवन को सरजता नही है।

भावार्थ—इस पद्य मे नानारूप भुवन और परमात्मा का एक दूसरे के सर्जकरूप से वर्णन किया गया है। और भुवन तथा परमात्मा को नित्यजात—सदोत्पन्न कह करके कोई किसी का सर्जन नही करता है यह भी कहा है। इस प्रत्यक्ष विरोध का परिहार दृष्टिभेद से हो जाता है। जैन परम्परा मे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो दृष्टियाँ प्रसिद्ध है और वे सब तत्त्वो को लागू होती है। उसके अनुसार यह कह सकते है कि चेतन या अचेतन प्रत्येक तत्त्व अपने मूल स्वरूप मे शाश्वत और अनुत्पन्न है अतएव उनमें से कोई एक दूसरे का सर्जन नही करता है। जब यही प्रत्येक तत्त्व स्व-स्व-रूप से नित्य होने पर भी अवस्थाभेद का अनुभव करता है और वह अवस्थाभेद पारस्परिक सयोग सापेक्ष है इसलिए दोनो चेतन-अचेतन तत्त्व एक दूसरे का सर्जन भी करते है।

साख्य-योग या वेदान्त की दृष्टि से भी कवि का वर्णन असगत नही है। परमेश्वर नानारूप विश्व का सर्जन करता है। यह मन्तव्य तो श्वेताश्वतर की 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्' इस उक्ति मे स्पष्ट है।[१] और 'प्रभु लोक के कर्तृत्व आदि किसी का सर्जन नही करता है स्वभाव ही स्वयमेव प्रवृत्त होता है।' इस गीतावचन[२] मे परमात्मा का असर्जकत्व भी स्पष्ट है तथा नानारूप विश्व परमेश्वर का आभारी है अतएव वह जिस प्रकार उसका—विश्वका सर्जक कहा जाता है उसी प्रकार परमेश्वर के नानारूप भी प्राकृत या मायिक नानारूप विश्व के आभारी है अतएव विश्व को भी परमात्मा का सर्जक कहा जा सकता है। केवल प्रकृति ही नही परन्तु चेतन परमात्मा भी नित्यजात—सनातन है। इसलिए दोनो मे से कोई एक दूसरे का सर्जन नही करता है ऐसा कह सकते है। सर्जन-प्रसर्जन यह सब आपेक्षिक अथवा मायिक है यह कह कर कवि अत मे तत्त्व की अगम्यता का ही सूचन करता है।

एकायनशतात्मानमेक विश्वात्मानममृत जायमानम्।
यस्त न वेद किमृचा करिष्यति यस्त च[३] वेद किमृचा करिष्यति ॥४॥

अर्थ—एक आश्रयरूप एव शतात्मरूप तथा एक एव विश्वात्मरूप तथा अमृत एव जन्म लेनेवाले ऐसे उसको—परमात्मा को जो नही जानता है वह ऋचा से क्या करने वाला है और जो उस परमात्मा को जानता है वह भी ऋचा से क्या करने वाला है ?

---

[१] श्वेताश्वतर ४ ६।

[२] न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु।
न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥गीता ५. १४

[३] यस्त न वेद—मु०

व्यक्तियो को ही आवृत करती है जब कि अविद्या तो समग्र विश्व को आवृत करती है, क्योकि सम्पूर्ण जगत का प्रभव और प्रलय स्थान यही है। पर्वतीय गुफा में वेदो के लिए स्थान ही नहीं है जब कि यज्ञ समर्थक सभी वेद वासनापोषक होने के कारण अत मे अविद्या मे ही पर्यवसित होते है।

'भावोऽभावो नि स्वतत्त्व [सतत्त्वो] निरजनो[रजनो]य प्रकार।
गुणात्मको निर्गुणो निष्प्रभावो विश्वेश्वर सर्वमयो न सर्व ॥६॥

अर्थ—जो प्रकार भावरूप है और अभावरूप है, स्वतत्त्वरहित है और सतत्त्व है, निरञ्जन है और रञ्जन है, गुणात्मक है और निर्गुण है, प्रभावरहित है और विश्व का ईश्वर—प्रभु है, सर्वमय है और सर्व नहीं है।

भावार्थ—उपनिषदो मे "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत (ईशा० ५), 'अणोरणीयान्महतो महीयान्।' (कठ० १ अ० २ व० २० श्लो०) इत्यादि जिस प्रकार परमात्मा का विरोधाभासी वर्णन है। और गीता मे जिस प्रकार "सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। असक्त सर्वभृच्चैव निर्गुण गुणभोक्तृ च ॥' (१३ १४) इत्यादि विरोधाभासी वर्णन है उसी प्रकार कवि ने यहाँ परमात्मा का एक अलौकिक प्रकार सूचित करने के लिए वर्णन किया है जो अपेक्षा और दृष्टिभेद से युक्तिसगत है। भावरूप इसलिए है कि वह एक पारमार्थिक तत्त्व है, अभावरूप इसलिए है कि वह सर्व सासारिक भावो से पर है, नि स्वतत्त्व इसलिए है कि उसका स्वतत्त्व सर्वगम्य नही है और फिर भी वह वस्तुत स्वतत्त्व रखता है। वह मलमुक्त होने से निरञ्जन है और फिर भी वह तत्त्वज्ञो और ध्यानियो का रञ्जन भी करता है। वह सर्व स्वाभाविक गुणो की मूर्ति है, परन्तु प्राकृत गुणो से रहित है। वह भयप्रद प्रभाव से मुक्त है और इसीलिए विश्व का प्रभु है। वह सर्वव्यापी होने से सर्वमय है और फिर भी वह अकेला होने से बहुत्वगर्भित है सर्व नही है।

सृष्ट्वा सृष्ट्वा स्वयमेवोपभुक्ते सर्वश्चाय भूतसर्गो यतश्च।
न चास्यान्यत्कारण सर्गसिद्धौ न चात्मान सृजते नापि चान्यान् ॥७॥

अर्थ—जिससे यह सर्वभूत सृष्टि प्रवृत्त है वह स्वय ही सर्जन कर करके उसका उपभोग करता है। सृष्टि की रचना करने में इसका दूसरा कोई सहकारी कारण नहीं है और वह खुद को, दूसरे को, या अन्य को नहीं सरजता है।

भावार्थ—यहाँ पर कवि ने लौकिक कर्ता और भोक्ता की अपेक्षा विलक्षण रूप से परमात्मा का भूतसर्ग के कर्ता और उपभोक्ता के रूप से वर्णन किया है। कोई भी लौकिक कर्ता किसी वस्तु का सर्जन करता है तो उसको सहकारी कारण की अवश्य अपेक्षा रहती है जब कि कवि कहता है परमात्मा के लिए सर्गसिद्धि मे अन्य किसी कारण की अपेक्षा नही है। इससे आगे बढकर कवि कहता है कि दरअसल मे परमात्मा न तो अपना ही सर्जन करता है और न दूसरो का ही सर्जन करता है। यह सारा विरोधाभास अपेक्षाभेद से समावेय है। कवि के इस सारे पद्य मे श्वेताश्वतर का 'न तस्य कार्य करण च विद्यते' (६ ८) इत्यादि मन्त्र का सार भाष्यरूप से रम रहा है।

निरिन्द्रियश्चक्षुषा वेत्ति शब्दान् श्रोत्रेण रूप जिघ्रति जिह्वया च।
पादैर्ब्रवीति शिरसा याति तिष्ठन् सर्वेण सर्व कुरुते मन्यते च ॥८॥

अर्थ—जो निरिन्द्रिय होने पर भी नेत्र से शब्दों को जानता है, कान से रूप को जानता है और जीभ से सूघता है। पाँव से बोलता है, मस्तक से खड़ा रहने पर भी चलता है, सर्व से सर्व करता है और जानता है।

भावार्थ—यहाँ कवि परमात्मा को निरिन्द्रिय कहता है और फिर इन्द्रियो द्वारा उस उस विषय को वह जानता है ऐसा भी कहता है, यह एक विरोध है। उसमे विशेष विरोध तो इसके इस कथन मे है कि नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ कर्ण

---

[1] भावाभावो नि सतत्त्वो (वितत्त्वो) निरजनो रजनो य प्रकार—मु०।

आदि अन्य इन्द्रियों के नियत विषय शब्द आदि को जानती है और पाँव इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ भी वाक् आदि अन्य कर्मेन्द्रियों का कार्य करती हैं। परमात्मा मस्तक से खड़े रहने और चलने का पाँव का कार्य करता है। यह कह कर कवि अंत में वहाँ तक जाता है कि परमात्मा के लिए कोई अमुक साधन किसी अमुक कार्य के लिए ही नहीं है, परन्तु उसके लिए तो सर्व साधन सर्व कार्यकारी हैं। इस प्रकार के अत्यन्त विरुद्ध दिखाई देने वाले वर्णन का तात्पर्य इतना ही है कि परमात्मा का स्वरूप लौकिक वस्तुओं से निराला है और उसकी विभूति भी लौकिक विभूति से भिन्न है। योगशास्त्र के विभूतिपाद में जिन विभूतियों का वर्णन है वे विभूतियाँ योगी की होने पर भी अद्भुत हैं। गीता के ग्यारहवें अध्याय में कृष्ण ने अर्जुन को अपना घोर विश्वरूप बताया है यह भी योग की महिमा है। यहाँ तो कवि योगी से भी भिन्न परमात्मा की स्तुति करता है। इसीलिए उसने चमत्कारी विरुद्धाभास वर्णन द्वारा अलौकिकत्व सूचित किया है।

सिद्धसेन का प्रस्तुत वर्णन बहुत पुराकाल से चली आने वाली कविप्रथा के कितने ही सोपानों का अतिक्रमण करके आगे बढ़ा है। ऋग्वेद के कवि गण इन्द्र या अग्नि आदि देवों की स्तुति करते हैं तब सहस्राक्ष जैसे विशेषण का उपयोग करके अपने अपने इष्टदेव को हजार आँखवाले के रूप में महत्त्व अर्पित करते हैं। परन्तु पुरुषसूक्त का ऋषि पुरुष का वर्णन करते समय उसके साथ में केवल सहस्राक्ष विशेषण का प्रयोग करके ही संतुष्ट नहीं होता, वह तो पुरुष को सहस्रशीर्षा और सहस्रपाद भी कहता है। विश्वकर्मा सूक्त का प्रणेता हजार नेत्र, हजार पाँव, या हजार मस्तक से संतुष्ट नहीं होता, वह तो विश्वसृष्टा देव को 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वत स्पात्' (ऋ० १० ८१ ३) कहकर हजार या उससे भी किसी बड़ी संख्या की अवगणना करता है। ऋग्वेद के विशेषण विकास में कालक्रम की गन्ध आती है। उसके बाद यजुर्वेद और अथर्ववेद आदि ग्रन्थों में इसी ऋग्वेद के विशेषण यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। इन विशेषणों का कालक्रम सूचक विकास चाहे जितना हुआ हो या विस्तृत हुआ हो फिर भी वेदों की स्तुतियाँ सगुण भूमिका से आगे नहीं बढ़ी थीं ऐसा कह सकते हैं।

परन्तु धीरे-धीरे चिंतन सगुण रूप से आगे बढ़ करके निर्गुण चिंतन की ओर अग्रसर होते जाते थे। इसके लक्षण प्राचीन उपनिषदों और गीता में दृष्टिगोचर होते हैं। जब परब्रह्म की स्थापना हुई तब निर्गुण स्वरूप का चिंतन पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। फिर भी तत्त्वचिंतकों और कवियों ने पुरानी सगुण वर्णन की प्रथा को भी चालू रखी है। इसीलिए श्वेताश्वतर और गीताकार ने निर्गुण वर्णन करने पर भी 'सहस्रशीर्षा पुरुष सहस्राक्ष सहस्रपात्।' (श्वे० ३-१४) इत्यादि रूप में और 'सर्वत पाणिपाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' (श्वे० ३ १६) इत्यादि रूप में सगुण वर्णन भी किया है। छांदोग्य आदि के अशरीरत्व वर्णन का (छांदो ८-१२-१) अनुकरण करके मुण्डक परब्रह्म का यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु श्रोत्र तदपाणिपादम्।' (मु० १-६) आदि रूप में वर्णन करता है। जब कि श्वेताश्वतर उसका 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण' (श्वे० ३-१९) आदि रूप में विरोधाभासी सगुणस्वरूप वर्णन करता है।

सिद्धसेन भी प्रस्तुत स्तुति में परमात्मा का निर्गुण और सगुण स्वरूप से स्तव करता है। इस पद्य में तो इन उभय स्वरूपों के वर्णन के अतिरिक्त एक ऐसा प्रतिभाजनित चमत्कार दृष्टिगोचर होता है कि जो उसके पूर्व के वेद, उपनिषद् और गीता आदि में नहीं दिखाई देता है। यह चमत्कार केवल विरोधाभास ही नहीं है परन्तु विरोधाभास की पराकाष्ठा भी है। सिद्धसेन जहाँ तक परमात्मा को निरिन्द्रिय होने पर भी इन्द्रियों के कार्यकर्ता कहता है वहाँ तक तो वह मुण्डक और श्वेताश्वतर से आगे नहीं बढ़ता है, परन्तु जब वह यह कहता है कि निरिन्द्रिय परमात्मा इन्द्रियों के कार्य तो करता ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त भी वह कान का काम आँख से, आँख का काम कान से, नाक का जीभ से, वाणी का काम पाँव से और पाँव का काम मस्तक से करता है, किंबहुना उसके लिए कोई एक काम किसी एक साधन

---

[1] ऋग्वेद १. २३. ३।

के द्वारा ई। करन का बन्धन नही है, तब वह श्रोताओं के मन के ऊपर चमत्कारिक प्रभाव पैदा करके उसे परमात्मा की लोकोत्तर चमत्कारिता मे श्रद्धालु बना करके कविकृत्य सिद्ध करता है।

शब्दातीत कथ्यते वावदूकैर्ज्ञानातीतो ज्ञायते ज्ञानवद्भि[1]।
बन्धातीतो वध्यते क्लेशपाशैर्मोक्षातीतो मुच्यते निर्विकल्प ॥९॥

अर्थ—शब्द से अतीत होने पर भी वह वादियो के वाद का विषय बनता है, ज्ञान से अतीत होने पर भी वह ज्ञानियो के ज्ञान का विषय बनता है। बधन से अतीत होने पर भी क्लेश पाश से बधता है और मोक्षातीत होने पर भी निर्वकल्प होकर मुक्त होता है।

भावार्थ—तैत्तिरीय आदि उपनिषदो मे "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" (तै० २-९) जैसे वर्णन हे उनमे आत्मा का शब्दातीतत्व और मनोऽगम्यत्व रूप से प्रतिपादन किया गया है। दूसरी ओर ये ही उपनिषद् पुन आत्मा का निरूपण करते हैं और ज्ञानियो को आत्मज्ञान के लिए प्रोत्साहित करते है। जैसे कि 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' (वृ० २ ४ ५) इत्यादि। *आत्मब्रह्म को कूटस्थ मानकर बधमोक्ष से अतीत कहा गया है* और 'सोऽकामयत वहु स्या प्रजायेयेति।' (तै० २ ६) तथा 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।' (तै० २ ६) इत्यादि द्वारा आत्मब्रह्म को सृष्टिबद्ध भी कहा है। उपनिषदो और दूसरे सभी अध्यात्मशास्त्रो का कथन यही है कि निर्विकल्पसमाधि प्राप्त करने वाला आत्मा मुक्त होता है। ऐसे परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले उपदेशवाक्यो का अवलम्बन लेकर के कवि ने आत्मा की पारस्परिक विरुद्ध अवस्थाओ का आलकारिक भाषा मे वर्णन किया है, परन्तु उसका तात्पर्य तो यह है कि ये विविध वर्णन परस्पर असगत नही है किंतु दृष्टिभेद से प्रवृत्त हुए है। इसी वस्तु को जैन परिभाषा मे कहना हो तो इस प्रकार कह सकते है कि पारमार्थिक—कर्मनिरपेक्ष स्वाभाविक—दृष्टि से आत्मा न तो वाच्य है, न तर्क्य है, न बद्ध है और न मुक्त है परन्तु व्यावहारिक और कर्मसापेक्ष वैभाविक दृष्टि से आत्मा शब्दगम्य, ज्ञानध्यानगम्य, बद्ध और मुक्त भी है।

प्राचीन जैनश्रुत मे अति महत्त्व रखने वाले आचाराग सूत्र में आत्मा की स्वाभाविक स्थिति का जो वर्णन है वह उपनिषदो में वर्णित निर्गुणब्रह्म की याद दिलाता है। वह कहता है कि—"सव्वे सरा नियट्टन्ति, तक्का तत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गहिया, से न दीहे, न हस्से, न कीण्हे, न नीले न लोहिए, न सुरभिगन्धे न दुरभिगन्धे, न तित्ते, न कडए, न गरुए न लहए, न इत्थी न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उवमा न विज्जए।" (५ ६ १७०)।

नाय ब्रह्मा न कपर्दी न विष्णुर्ब्रह्मा चाय शकरश्चाच्युतश्च।
अस्मिन मढा प्रतिमा कल्पयन्ते[2] ज्ञातश्चाय न च भुयो नमोऽस्ति ॥१०॥

अर्थ—यह परमात्मा न ब्रह्मा है, न शकर है, और न विष्णु है, और फिर भी यह ब्रह्मा, शकर और विष्णु भी है। मूढ मनुष्य ही परमात्मा के विषय में विविध प्रकार की प्रतिमाओ की कल्पना करते है, जब यह आत्मा ज्ञात हो जाता है तब फिर नमस्कार करना शेष नहीं रहता है।

भावार्थ—लोक परम्परा और पौराणिक मान्यताओ मे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की त्रिमूर्ति पूजी तथा मानी जाती है और उपासक अपनी रुचि या सस्कार के अनुसार परमात्मा को ही ब्रह्मा, शकर या विष्णु रूप से भजता है। लोक और बहुत बार शास्त्र भी इस त्रिमूर्ति को परस्पर विरुद्ध मानते है तथा मनवाते है। इस वस्तुस्थिति को ध्यान मे लेकर के कवि परमात्मा का यथार्थ—निर्गुण वर्णन करने के लिए और लोक तथा शास्त्र में रूढ विरोधी भावना को निर्मूल करके उसके स्थान पर समन्वयदृष्टि से सगुण वर्णन करते समय कहता है कि परमात्मा न तो ब्रह्मा है, न शकर है और न विष्णु है फिर भी वह तीनो रूप है—कोई एक रूप तो नही है।

---

[1] ज्ञानविद्भि—मु०। [2] कल्पयन्तो—मु०।

लोग परमात्मा की उपासना करने के लिए अनेक प्रकार के प्रतीको की कल्पना करते है, अनेक नाम से अनेक प्रकार की मूर्तियो की रचना करते हैं और पीछे उसी मे डूब कर मूल ध्येय को भूल जाते है। ऐसे लोगो की ओर सकेत करके कवि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति।' (श्वे० ४-१६) श्वेताश्वतर के इस कथन का मानो भाष्य करके सच ही कहता है कि जो मूढ होते है वे ही परमात्मा की अनेक प्रतिमाओ की कल्पना करते है। वस्तुस्थिति तो यह है कि जिनको परमात्मा का स्वरूप अवगत होता है उनके लिए परमात्मा पुन अधिक नमस्कार करने के योग्य नही रहता है। वे स्वय परमात्मारूप बनते है और उनके ऊपर का तम नि शेष हो जाता है।

आपो वह्निर्मातरिश्वा हुताश सत्य मिथ्या वसुधा मेघयानम्।
ब्रह्मा कीट शकरस्तार्क्ष्यकेतु सर्व सर्वं सर्वथा सर्वतोऽयम् ॥११॥

अर्थ—परमात्मा ही पानी और वह्नि है, पवन और हुताशन है, सत्य और मिथ्या है, पृथ्वी और आकाश है, ब्रह्मा और कीटक है शकर और गरुडध्वज—विष्णु है। यह सर्व—परमात्मा प्रत्येक प्रकार से प्रत्येक स्थल पर सर्वरूप से है।

भावार्थ—कितने ही वैदिक मत्रो, उपनिषदो और गीता मे यह भावना सुप्रसिद्ध है कि एक ही परमात्मा नानारूप धारण करता है और नानारूप से विलसित होता है। यहाँ पर कवि ने इसी भावना को परस्पर विरुद्ध दिखाई देनेवाले आधिभौतिक और आधिदैविक द्वन्द्वो से अभिन्नरूप मे परमात्मा का वर्णन करके व्यक्त किया है। श्वेताश्वतर के 'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा। तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापति ॥' (४ २) इस मत्र की तुलना प्रस्तुत पद्य के साथ कर सकते है। तैत्तिरीय (२ ६) में ब्रह्म के नानारूप धारण करने का वर्णन है उसमे अनेक विरोधी द्वद्वो के साथ मे 'सत्य चानृत चाभवत्' इस वाक्य के द्वारा जिस सत्यानृत द्वद्व का उल्लेख है उसे ही कवि ने यहाँ सत्य-मृषा कहा है। शुक्ल यजुर्वेद (१६ ७७) के 'दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापति।' इस मत्र में प्रजापति ने सत्य और अनृत इन दो रूपो का व्याकरण किया था इस बात का प्राचीन प्रघात है।

यहाँ वह्नि और हुताश इन दो पदो के समानार्थक होने से पुनरुक्ति का भास होता है, परन्तु वस्तुत वैसा नही है। वह्नि से जिस अग्नि को समझना चाहिए वह जल विरोधी सामान्य अग्नि लेना चाहिए और हुताश पद से आहुति द्रव्य को ग्रहण करने वाले यज्ञीय विशिष्ट वह्नि को लेना चाहिए जिसको कि मातरिश्वा से विरोधी कहा गया है। मातरिश्वा का अर्थ वैदिक मत्रो मे मॉनसून किया है। चतुर्मास का तूफानी पवन या उससे सूचित होने वाला चतुर्मास यह हुताशन विरोधी इसलिए माना गया होगा कि सामान्य रूप से चतुर्मास में यज्ञप्रथा नही होती है।

स एवाय विभृता येन सत्त्वा शश्वद्दु खा दु खमेवापियन्ति।
स एवायमृषयो य विदित्वा व्यतीत्य नाकममृत स्वादयन्ति ॥१२॥

अर्थ—यह वही परमात्मा है जिसके द्वारा भरे हुए और व्याप्त प्राणी सतत दु खी होकर दु ख ही प्राप्त करते रहते है। यह वही परमात्मा है जिसको जान कर ऋषिगण स्वर्ग का अतिक्रमण करके अमृत का आस्वाद लेते है।

भावार्थ—सभी प्राणी परमात्मभाव से भरे हुए है तथा व्याप्त है। फिर भी वे निरन्तर दु खी रह करके दु ख ही प्राप्त करते रहते है। यह कथन विरुद्ध है, क्योकि प्राणी परमात्मरूप हो तो उनको दु ख का स्पर्श ही कैसे हो सकता है? इस विरोध का परिहार प्रसिद्ध है। तात्त्विक दृष्टि से सभी जीवात्मा परमात्मा रूप है परन्तु अपने सच्चे स्वरूप का भान नही होने से वे दु ख प्राप्त करते है। इसी वस्तु को कवि ने उत्तरार्ध में व्यतिरेक के द्वारा कही है कि जिन ऋषियो को आत्मज्ञान है वे अमृत ही बनते है। स्वर्ग का अतिक्रमण करके अमृत का आस्वादन करते है इस वर्णन में स्पष्ट विरोध है क्योकि स्वर्ग मे ही अमृत के अस्तित्व की मान्यता है तो फिर स्वर्ग को अतिक्रमण करने वाला उसका आस्वाद कैसे ले सकता है? इसका समाधान यह है कि स्वर्गीय अमृत वास्तविक अमृत नही है वास्तविक अमृत तो आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है जो स्वर्ग को अतिक्रमण करने वाले को ही प्राप्त होता है।

इस पद्य म सनिदिष्ट भाव श्वेताश्वतर के 'ततो यदुत्तरतर तदरूपमनामयम् । त एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दु खमेवापियन्ति ।' (३-१०) मन्त्र मे स्पष्ट है।

विद्याविद्ये यत्र नो सभवेते यन्नासन्न नो दवीयो न गम्यम् ।
यस्मिन्मृत्युर्नेहते नो तु काम [१] स सोऽक्षर परम ब्रह्म वेद्यम् ॥१३॥

अर्थ—जिसमें विद्या और अविद्या का सभव नहीं है, जो न समीप, न दूरतर और न गम्य है, जिसमें न तो मृत्यु प्रवृत्त होता है और न काम प्रवृत्त होता है वह और वही अक्षर—अविनाशी है और ज्ञेय ऐसा परब्रह्म है।

भावार्थ—कवि ने यहाँ परमात्मा के निर्गुण स्वरूप का वर्णन किया है। इसीलिए वह अविद्या अर्थात् कर्म-मार्ग और विद्या अर्थात् आत्मलक्षी शास्त्र इन दोनो के सभव से परमात्मा को पर कहता है। परमात्मा न तो दूर है और न आसन्न यह वर्णन ईशावास्य के 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके' (५) इस वर्णन की याद दिलाता है। प्रस्तुत पद्य मे श्वेताश्वतर के 'द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढ । क्षर त्वविद्या ह्यमृत तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्य ।' (५ १) इस मत्र का भाव रममाण हो रहा है।

ओतप्रोता पशवो येन सर्वे ओत प्रोत पशुभिश्चैष सर्वे ।
सर्वे चेमे पशवस्तस्य होम्य तेषा चायमीश्वर सवरेण्य ॥१४॥

अर्थ—जिसके द्वारा ये सब पशु—जीवात्माएँ ओतप्रोत है और यह स्वय सभी पशुओं—जीवात्माओ द्वारा ओत-प्रोत है। ये सभी पशु उसका हव्य है और इन सभी पशुओ के लिए यह वरने योग्य ईश्वर है।

भावार्थ—कवि यहाँ पाशुपत परम्परा का अनुसरण करके 'पशु' पद का जीवात्मा के अर्थ में प्रयोग करता है और उस जीवात्मापरमात्मा के सम्बन्ध को यहाँ आलकारिक रीति से व्यक्त करता है। कवि जीवात्मा और पर-मात्मा को एक दूसरे से ओतप्रोत कह करके उन दोनो के बीच मे अभेद सम्बन्ध दिखलाता है और वह अभेद विशिष्टा-द्वैत कोटि का हो ऐसा रूपक से प्रतीत होता है।

यज्ञ मे पशु होमे जाते थे इसलिए वे उद्दिष्ट देवता के होम्य—हव्य द्रव्य कहलाते थे और वह उद्दिष्ट देवता होम्य पशुओ का आराध्य माना जाता है। इस वस्तु को कवि ने जीवात्मा और परमात्मा के बीच का आध्यात्मिक सम्बन्ध स्पष्ट करते समय रूपक मे कहा है कि जीवात्माएँ परमात्मा के होम्य है अर्थात् परमात्मभाव को प्राप्त करने के ध्येय रखने वाले जीवात्माओ को अपने आपका—जीवभाव का वलिदान करना ही चाहिए।

तस्यैवैता रश्मय कामधेनोर्या पाप्मानमदुहान क्षरन्ति ।
येनाध्याता पच जना स्वपन्ति प्रोद्बुद्धास्ते स्व परिवर्तमाना ॥१५॥

अर्थ—जिसके द्वारा आध्यात—जिसके सकल्प के विषय बने हुए पचजन—निषाद और चार वर्ण मिल कर पाँच जन या पाँच इन्द्रियाँ सोती हैं और जिसके द्वारा उद्बोध प्राप्त करके वे पाँच जन स्वय अपने प्रति पुन प्रवृत्त होते हैं। उसी परमात्मा रूप कामधेनु की ये रश्मियाँ हैं जो अपने आप पाप को नहीं दूझती हुई झरती हैं।

भावार्थ—यहाँ कवि ने दो विरोधाभासो द्वारा चमत्कारिक रीति से परमात्मा की विभूति का वर्णन किया है। वह कहता है कि परमात्मा की अभिमुखता रूप आध्यान का स्पर्श होते ही मनुष्यमात्र तथा इन्द्रियाँ स्वप्नवश वनती है अर्थात् वे परमात्मस्पर्शरूप निद्रामत्र के प्रभाव से भान भूल कर निद्रावश वनती है और जव वे जगती है तब वे अपने कार्यप्रदेश के प्रति पुन फिरती है।

---

[१] नोतुकामा—मु०

यह स्पष्ट विरोध है, क्योकि परमात्मा का स्पर्श तो चाहे जिसको जागृत करता है इसके विपरीत वह मनुष्य को प्रवृत्तिक्षेत्र से दूर करके निद्रावश और भानरहित कैसे बनावेगा। यदि वह ऐसा करता है तो फिर परमात्मस्पर्श के स्थान पर उसको चोरो के द्वारा प्रयोजित निद्रामत्र का स्पर्श ही कहना चाहिएं ? इस प्रापञ्चिक विरोध का परिहार आध्यात्मिक दृष्टि के विचार मे है। आध्यात्मिक दृष्टि यह कहती है कि जब मनुष्य और उसकी इन्द्रियाँ अपने अपने प्रवृत्तिक्षेत्र में रममाण होते है तभी वह तात्त्विक दृष्टि से निद्रावश होते हैं। हृदय में परमात्मा का स्पदन होते ही मनुष्य और इन्द्रियो की यह दशा चली जाती है और वह प्रवृत्तिक्षेत्र के स्थूलरस की निद्रा छोड कर किसी नव जागरण का अनुभव करते है। ऐसे जागरण का ही परमात्मस्पर्शजनित निद्रारूप से यहाँ वर्णन किया गया है। और जब ऐसी निद्रा से मनुष्य और उसकी इन्द्रियाँ जागते है तब वे पीछे अपने अपने विषय की ओर झुक कर भोगाभिमुख बनते है।

उक्त निद्रा और जागरण समझने के लिए 'या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति सयमी' (गीता २ ६९) गीता का यह श्लोक और उसका आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा काव्यानुशासन मे किया हुआ विवरण (पृ० ७०) उपयोगी है।

कवि परमात्मा की कामधेनु के रूप से कल्पना करके और उसके चारो ओर फैली हुई विभूतियो को स्तन[1] का रूपक देकर कहता है कि वे स्वय झरती तो है, किन्तु अपने आप पाप को नही दूझती है। यहाँ यह विरोध है कि परमात्मा की विभूतियो को यदि स्वय झरने दिया जाय अर्थात् उनको स्वय अपना अपना काम करने दिया जाय तो वे सदैव भला करती है, परन्तु यदि उनको प्रयत्न से दुहना शुरू करो वा उन्हें प्रयत्न से निचोडना शुरू करो तो उसमें से पाप ही झरता है बुराई ही प्रकट होती है। यह स्पष्ट विरोध है। कामधेनु के स्तनो को हाथ से निचोओ या उनको दूध स्वय झरने दो तो भी उनमें से एक समान ही दूध झरता है। जब कि यहाँ पर तो प्रयत्न से निचोडने पर बुराई प्रकट होती है ऐसा कहा गया है।

इस विरोध का परिहार इस प्रकार हो सकता है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और अध्यात्मिक सभी परमात्मा की विभूतियो को जब मनुष्य अपने आहकारिक प्रयत्न से भोगदृष्टि से निचोता है अर्थात् उनके साहजिक प्रवाह को अपने लोभ से कुठित करता है तब वह विभूतियो में से कल्याण सिद्ध करने के बदले अकल्याण सिद्ध करता है। यदि कोई सूर्य के साहजिक प्रकाश प्रवाह को रोकने के लिए प्रयत्न करता है या बरसते मेघ को रोकता है तो उसमे उसका और दूसरो का अहित ही होने वाला है। कवि का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जगत् में जो-जो विभूतिरूप है उसमे से प्रयत्न के विना ही सबका कल्याण सिद्ध होता है। परन्तु यदि इन विभूतियो को निचोना शुरू करो तो उनमें से अकल्याण ही प्रकट होता है। कामधेनु के स्तन अपने आप दूध की वर्षा करते है परन्तु अधिक लालच से उनको निचोना शुरु करो तो उनमें से रुधिर ही झरता है। यही न्याय परमात्मा की सहज विभूतियो को भी लागू पडता है।

तमेवाश्वत्थमृषयो वामनन्ति हिरण्मय व्यस्तसहस्रशीर्षम् ।
मन शय शतशाखप्रशाख यस्मिन् बीज विश्वमोत प्रजानाम् ॥१६॥

अर्थ—जिसमें प्रजाओं का सपूर्ण बीज रहा हुआ है उसी का ऋषि लोग अश्वत्थ वृक्ष रूप से वर्णन करते है, उसी का विस्तृत हजार मस्तकधारी ब्रह्मारूप से वर्णन करते है और उसी का सैकडो शाखा और प्रशाखा वाले कामरूप से वर्णन करते हैं।

---

[1] मूल में रश्मि शब्द है उसका सीधा अर्थ स्तन नहीं है परन्तु यहाँ प्रसग देखकर किरण की समानता की कल्पना करके वह अर्थ किया गया है।

भावार्थ—सास्यपरम्परा के अनुसार सृष्टिमात्र या प्राणीवर्ग का जन्मबीज अव्यक्त प्रकृति में समाविष्ट है जब कि ब्रह्मवादी परम्परानुसार यह जननबीजशक्ति परब्रह्म परमेश्वर में निहित है। यहाँ कवि ईश्वरवादी परम्परा को लक्ष्य करके परमात्मा का ही समग्र प्राणीवर्ग की जननशक्ति के आधाररूप से निर्देश करता है। और साथ-साथ में वह कहता है कि ऋषि लोग इसी परमात्मा का वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता आदि में अश्वत्थ रूप से, हिरण्य-गर्भ रूप से तथा कामरूप से वर्णन करते है।

ऋग्वेद के सूक्त में (१ २४ ७) वरुण के वृक्ष का वर्णन है। अथर्ववेद में (५ ४ ३) अश्वत्थवृक्ष का वर्णन है, कठ में (६ १) और गीता में (१५ १) इसी अश्वत्थवृक्ष का 'ऊर्ध्वमूलमध शाख' इत्यादि रूप से सविशेष वर्णन है और गीता में तो कठ से भी अधिक 'अधश्चोर्ध्व प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवाला' (१५ २) इत्यादि रूप से वर्णन है। श्वेताश्वतर (६ ६) अश्वत्थ नाम नही दे करके केवल वृक्ष शब्द से इसका निर्देश करता है। ऋषियो ने दृश्यससार के विस्तार का ही इस वक्ष या अश्वत्थ के रूपक मे वर्णन किया है। कवि उस रूपक को उद्देश करके ही कहता है कि ऋषि लोग परमात्मा का ही अश्वत्थरूप से वर्णन करते है। यहाँ कवि ससार और परमात्मा का अभेद वर्णन करता है। जब ब्रह्म ही जगत का कारण माना गया तब ब्रह्मवादियो ने इस ब्रह्म का ही अश्वत्थरूप से वर्णन किया।

पुरुषसूक्त मे (१०-९०-१) सहस्रशीर्ष रूप से पुरुष का वर्णन है। वह पुरुष अर्थात् लोकपुरुष या ब्रह्मा, प्रजापति अथवा हिरण्यगर्भ। इसी ऋषिकृत वर्णन को लक्ष्य में रख कर कवि कहता है कि वही हिरण्यगर्भ परमात्मा है। प्राचीनकाल में प्रजा का मूल हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा मे माना जाता था। ब्रह्मवाद की प्रतिष्ठा के समय मे यह मूल परमात्मा मे माना गया। कवि इस प्राचीन और नवीन विचारधारा का एकीकरण करके कहता है कि हिरण्यगर्भ ही परमात्मा है।

काम-तृष्णा-सकल्प या वासना यही ससार का बीज है। उसमे से ही सृष्टि की छोटी बडी सैकडो शाखाएँ प्रवृत्त होती है। इस वस्तु का 'सोऽकामयत बहु स्या प्रजायेयेति' (तै० २-६) इत्यादि रूप से ऋषियो ने वर्णन किया है। उसको लक्ष्य करके कवि कहता है कि यह काम दूसरा और कोई नही है परन्तु परमात्मा ही है। 'कामोऽस्मि भरतर्षभ' (गी० ७-११) की तरह काम और परमात्मा का अभेद दिखलाने मे कवि का तात्पर्य इतना ही है कि सबके प्रभवरूप से जो जो माना जाता है वह परमात्मा ही है। इस प्रकार प्राचीन ऋषियो के द्वारा नाना रूप से गाई हुई महिमा परमात्मा की ही है, ऐसा कवि सूचित करता है।

स गीयते वीयते चाध्वरेषु मन्त्रान्तरात्मा ऋग्यजु सामशाख ।
अध शयो विततागो गुहाध्यक्ष स विश्वयोनि पुरुषो नैकवर्ण ॥१७॥

अर्थ—ऋग्, यजु और सामरूप शाखावाला ऐसा मत्रों का अन्तरात्मा-ही यज्ञो में गाया जाता है और स्तुतिपात्र बनता है। गुहा का अध्यक्ष अध शायी और विस्तृताग ऐसा वही अनेकवर्ण विश्वयोनि पुरुष है।

भावार्थ—यहाँ कर्मकाण्ड मे प्रयुक्त मन्त्रो और विधिओ के हार्दरूप में तथा ज्ञानकाण्ड के चिन्तन में सिद्ध हुए आध्यात्मिक तत्त्वरूप मे परमात्मा का एकीकरण किया गया है। यज्ञो में वैदिक मन्त्र विधिपूर्वक उच्चरित होते थे और विभिन्न देवो की स्तुति द्वारा प्रार्थना होती थी। स्तुति किये जाने वाले इन अनेक देवो मे से एक देव का विचार फलित होता गया तब ऐसा माना जाने लगा कि सभी मन्त्र फिर वे ऋग्वेद, यजुर्वेद या सामवेद रूप में विभक्त हुए हो और उनकी भिन्न-भिन्न शाखाएँ पडी हो फिर भी उनका परमार्थ या उनमें रहा हुआ अन्तर्गत सार तत्त्व तो एक ही है और वही अनेक यज्ञो में गाया जाता है तथा उसीकी विनय की जाती है।

कर्मकाण्ड के बाद की दूसरी भूमिका ज्ञानकाण्ड की है। उसमें तत्त्वचिंतक और सन्त मुख्यरूप से जगत् के मूलतत्त्व के पीछे पडे हुए थे। इसके परिणाम स्वरूप उनको एक ऐसा आध्यात्मिक तत्त्व प्राप्त हुआ जिसको उन्होने

विश्वयोनि के रूप मे माना तथा वर्णन किया। उन तत्त्वचिन्तक सन्तो ने इस तत्त्व का अनेक प्रकार के विरोधाभासी वर्णनो द्वारा अलौकिक प्रकार से वर्णन किया है। इन दोनो भूमिकाओ के फलितार्थ का एकीकरण करके कवि यहाँ कहता है कि यज्ञो में भिन्न-भिन्न शाखाओ के द्वारा गाया जाने वाला, स्तुति किया जाने वाला पुरुष और तत्त्वज्ञ सन्तो मे गुहाध्यक्ष तथा विश्वयोनि रूप में प्रसिद्ध पुरुष यह एक ही है।

कोई योगी पुरुष गुफावासी और गुहा-अध्यक्ष हो वह हाथ पाँव इत्यादि अग विस्तृत करके पडा रहता है, परन्तु वैसा पुरुष विश्वयोनि और अनेकवर्ण कैसे हो सकता है? यह एक प्रकार का विरोध है, पर उसका परिहार आध्यात्मिक दृष्टि मे है। आध्यात्मिक दृष्टि से परमात्मा ही मुख्य पुरुष है, वह दृश्य जगत् के नीचे उसके उस छोर पर रहने के कारण अध शायी भी है। और वह अपने शक्तिरूप अग प्रकृति के पट के ऊपर चारो ओर फैलने के कारण विततांङ्ग भी है। वह बुद्धिरूप गुफा मे स्फुरित होता है और हृदय गुफा का नियन्त्रण करता है इसलिए वह गुफा अध्यक्ष कहलाता है। और फिर भी वह विश्वयोनि तो है ही। वह पुरुष मूल मे अवर्ण या एकवर्ण होने पर भी विश्व मे अनेक रूप से विलसता है इसलिए वह अनेकवर्ण भी है।

प्रस्तुत पद्य के उत्तरार्ध के साथ मे श्वेताश्वतर के नीचे के दो मन्त्र तुलना करने योग्य है। "यच्च स्वभाव पचति विश्वयोनि पाच्याश्च सर्वान्परिणामयेद्य" (५ ५), "य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति" (४ १)।

तेनैवैतद्वितत ब्रह्मजाल दुराचर दृष्ट्युपसर्गपाशम्[1]।
अस्मिन्मग्ना मानवा[2] मानशल्यैर्विवेष्यन्ते पशवो जायमाना ॥१८॥

अर्थ—उसके द्वारा ही यह ब्रह्मजाल विस्तृत है जो कि दुष्प्रवेश है और दृष्टि को उपसर्ग करने वाला है। इस ब्रह्मजाल में मग्न पुरुष पशु बन करके मानरूपी शल्य से विधे जाते है।

भावार्थ—यहाँ कवि ने ब्रह्माण्ड की जालरूप से कल्पना करके उसको फैलाने वाले के रूप मे परमात्मा का निर्देश करके सूचित किया है कि ब्रह्मजाल को फैलाने वाला जो जाली, धीवर या पारधी है वह परमात्मा ही है। जाल और ब्रह्माण्ड का साम्य स्पष्ट है। जाल मे फँस जाने के बाद उसमें चलना, फिरना तथा उसमें से निकलना कठिन हो जाता है। ब्रह्माण्ड भी ऐसा ही है। जाल में फँसने वाले की दृष्टि बन्द हो जाती है उसे कुछ भी दिखाई नही देता है। ब्रह्माण्ड में पडे हुए की दशा भी ऐसी ही होती है। जाल मे लुब्ध हो करके फँसे हुए मृग इत्यादि पशु उसके कण्टको और बन्धनो से घिरे जाकर विद्ध होते है। ब्रह्माण्ड में भी आसक्त होकर गर्क हुए पुरुष पशु की तरह से लाचार बन करके मानापमान के शल्यो से विधे जाते है।

तुलना—प्रस्तुत पद्य मे जाली के रूप मे परमात्मा का जैसा वर्णन है वैसा श्वेताश्वतर मे भी है। जैसे कि "य एको जालवानीशत ईशनीभि सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभि।' (३ १) "एकैक जाल बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे सचरत्येष देव।' (५ ३)। परन्तु यहाँ कवि ने 'दुराचर दृष्ट्युपसर्गपाशम्।' जैसे विशेषणो से जाल का स्पष्टीकरण विशेष किया है। और इसमे फँसने वाले मनुष्य पशु की तरह से किस प्रकार जकडे जाते है उसका सूचन किया है। यहाँ ब्रह्म जाल सूत्र (दीघनिकाय) याद आता है जिसमें ६२ मिथ्यादृष्टियो के जाल का वर्णन है।

अयमेवान्तश्चरति देवतानामस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदु।
अयमुद्दण्ड प्राणभुक् प्रेतयानैरेष त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति ॥१९॥

अर्थ—यही देवताओ के अन्दर विचरण करता है, और सभी देव इसी के अन्दर रहे हुए है, यही दण्ड धारण करके प्रेतयानो से प्राणभोजी बनता है और यही तीन प्रकार से बद्ध होकर के वृषभरूप से बूम मारता है।

---

[1] पासम्—मु०   [2] माननामा(न) शल्यै—मु०

भावार्थ—मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद् आदि में जो चमत्कारी वर्णन है उनमे से कुछ ले करके यहाँ कवि उनको परमात्मा की स्तुति के रूप मे गूथता है। ऋग्वेद में 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा। द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा वद्धो वृषभो रोरवीति।' (४ ५८ ३) यह मन्त्र है। उसका सायण ने यास्क निरुक्तभाष्य का अनुसरण करके यज्ञाग्नि और सूर्यपरक व्याख्यान किया है। शाब्दिक पतजलि ने महाभाष्य में इस मन्त्र की शब्दपरक व्याख्या की है जब कि सिद्धसेन यहाँ उसका केवल एक पाद लेकर परमात्मा रूप से उसकी योजना करता है। उसका तात्पर्य यहाँ परमात्मा के सगुणरूप वर्णन का हो ऐसा प्रतीत होता है। परमात्मा है तो वृषभ अर्थात् उत्तम अथवा कल्याणगुणवर्षण करने वाला—स्वतन्त्र, परन्तु जब वह सत्त्व, रजस और तम इन तीन गुणो से बँधता है अथवा राग-द्वेष-मोह के बन्धन में पडता है तब वह नासिका, ग्रीवा और पाँव मे त्रिधा बँधे हुए साड की तरह से धूमाधूम मचा करके परेशान कर डालता है।

"यश्चायमादित्ये तेजोमयोऽमृतमय' (बृह० २ २ ५) इत्यादि रूप से उपनिषदो मे परमात्मा का वर्णन है। वैसे वर्णनो को लक्ष्य में रख करके कवि ने यहाँ परमात्मा का देवताओ के अन्तश्चारी के रूप मे वर्णन किया है। सभी देव परमात्मा मे रहे हुए है इस अर्थ का प्रस्तुत पद्य का द्वितीय पाद तो जैसा का तैसा श्वेताश्वतर में 'अस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदु।' (४ ८) है। प्राणियो को प्रेतलोक में ले जाने का काम दण्डधर यम के अधीन है ऐसा पौराणिक वर्णन है। यम प्रेतलोक में जाने वाले प्राणियो का शासन करता है इसलिए वह दण्डधर और भयानक गिना जाता है। वैसे यम के रूप मे भी परमात्मा का निर्देश करके कवि सूचित करता है कि परमात्मा पुण्यशाली के प्रति जितना कोमल है उतना ही पापियो के प्रति कठोर है।

अपा गर्भ सविता वह्निरेष हिरण्मयश्चान्तरात्मा देवयान ।
एतेन स्तभिता सुभगा द्यौर्नभश्च गुर्वी चोर्वी सप्तच भीमयादस ॥२०॥

अर्थ—चन्द्र, सूर्य, वह्नि, हिरण्मय, अन्तरात्मा और देवयान यही है। इसी के द्वारा सुन्दर स्वर्ग, आकाश, महती अथवा वजनदार पृथ्वी और सात समुद्र स्थित है।

भावार्थ—'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा। तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापति ॥" (४ २) इस मन्त्र मे श्वेताश्वतर ने ब्रह्म का जैसे अनेक देवो के रूप मे वर्णन किया है वैसे ही कवि ने यहाँ पूर्वार्ध में अनेक देवो के रूप में परमात्मा का वर्णन किया है और उसके बाद जिस प्रकार ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के "येन द्यौरुग्रा पृथ्वी च दृढा येन स्व स्तभित येन नाक। योऽन्तरिक्षे रजसो मिमान कस्मै देवाय हविषा विधेम।" (ऋ० १०-१२१-५, शु० य० ३२-६) इस मन्त्र में हिरण्यगर्भ प्रजापति का सबके आधारस्तम्भ के रूप में वर्णन है और जैसे बृहदारण्यक में "एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वै अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृतौ तिष्ठत" (३ ८ ९) इत्यादि द्वारा सूर्य, चन्द्र आदि की नियमित स्थिति के नियामक रूप में अक्षर परमात्मा का वर्णन है और जैसे मुण्डक मे "अत समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धव सर्वरूपा" (२ १ ९) समुद्र, पर्वत, नदी इत्यादि के नियमित कार्य के कारण के रूप में वर्णन है वैसे ही यहाँ उत्तरार्ध मे कवि ने स्वर्ग, आकाश, पृथ्वी और सात समुद्र की स्थिति परमात्मा के कारण है, ऐसा वर्णन किया है। जो शाब्दिक दृष्टि से ऋग्वेद के ऊपर निर्दिष्ट मन्त्र का प्रतिबिम्ब मात्र है।

पुराणो और लोको मे समुद्र की सात सख्या प्रसिद्ध है इसलिए सप्तद्वीप-समुद्रा वसुमती कहलाती है।

यहाँ पूर्वार्ध में तो सब कुछ परमात्मारूप है ऐसा कारण भेद वर्णन है जब कि उत्तरार्ध मे सारा जगत परमात्मा के कारण ही स्थित है ऐसा माहात्म्य वर्णन है। जिस लोक मे जाने के बाद पुनरावृत्ति नही होती है वह देवयान कहलाता है। पितृयान लोक इससे भिन्न है क्योकि वहाँ से पुनरावृत्ति होती है।

मन सोम सविता चक्षुरस्य घ्राण प्राणो 'मुखमस्याज्यपिव ।
दिश श्रोत्र नाभिरन्ध्रमब्दयान पादाविला सुरसा सर्वमाप ॥२१॥

अर्थ—चन्द्र इसका—परमात्मा का मुख है, सूर्य नेत्र है, प्राणवायु घ्राण—नासिका है, घृतपायी—अग्नि इसका मुख है, दिशाएँ श्रोत्र है, आकाश नाभि है, पृथ्वी पाँव है और सरस जल सब कुछ है ।

भावार्थ—ऋग्वेद जैसे प्राचीन ग्रन्थो मे लोकपुरुष का वर्णन करते समय ऋषि ने विवक्षित पुरुष के उन-उन अवयवो मे से आधिभौतिक और आधिदैविक विभूतियो की उत्पत्ति का वर्णन करके लोकपुरुष का महत्त्व गाया है।[2] जैसे कि मन से चन्द्र उत्पन्न हुआ, चक्षु से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि, प्राण से वायु, नाभि से अन्तरिक्ष, मस्तक से स्वर्ग और पाँव से पृथ्वी हुई इत्यादि (ऋ० १० ९० १३ १४) । शुक्लयजुर्वेद में इसी वर्णन का थोडा विकास हुआ है । आगे जाकर भिन्न-भिन्न उपनिषदो मे यह प्रक्रिया अनेक प्रकार से बतलाई गई है । उदाहरण के रूप मे बृहदारण्यक मे (१ १ १) मेध्य अश्व के सिर आदि अनेक अगो के रूप में उषा आदि प्राकृतिक वस्तुओ की कल्पना की गई है और फिर इसी उपनिषद् में विभिन्न स्थलो पर यही वस्तु भिन्न-भिन्न रूपको मे थोडे बहुत फेरफार के साथ आती[3] है । ऐतरेय मे (१ १ ४) मुख से वाणी की, वाणी से अग्नि और नासिका की, नासिका से प्राण की, प्राण से वायु और नेत्र की इत्यादि रूप से उत्पत्ति वर्णित है । आगे जाकर भागवत मे (२ १ २६-३९) तो इतना अधिक विकास हुआ है कि प्रकृतिगत छोटी बडी सख्याबद्ध वस्तुओ का प्रभुशरीर के अग प्रत्यग के रूप में वर्णन है । इस प्रथा का उपयोग करके कवि यहाँ आधिभौतिक या आधिदैविक वस्तुओ का परमात्मा के अग-प्रत्यग के रूप मे वर्णन करता है और इस प्रकार दृश्यमान समग्र जगत को परमात्मा का शरीर कह करके उसकी सर्वव्यापकता की महिमा गाता है ।

कवि ने चन्द्र, सूर्य, प्राण, अग्नि, दिशा, आकाश, पृथ्वी और पानी का परमात्मा के उन-उन अवयवो के रूप मे वर्णन किया है जो बराबर वेद और उपनिषदो की कल्पना का अनुकरण है । कवि सुरस पानी को सब कुछ कहता है यह रूपक कवि का अपना ही हो ऐसा प्रतीत होता है ।

विष्णुर्बीजमभोजगर्भ शम्भुश्चाय कारण लोकसृष्टौ ।
नैन देवा विद्रते नो मनुष्या देवाश्चैन विदुरितरेतराश्च ॥२२॥

अर्थ—यह परमात्मा विष्णु है और फिर भी लोक के सर्जन में ब्रह्मारूप बीज है । यह शकर है और फिर भी लोकसृष्टि का कारण है । इसको न तो देव जानते है और न मनुष्य जानते है और इसको अन्यान्य देव जानते भी है ।

भावार्थ—एक ही परमात्मा की ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर रूप त्रिमूर्ति प्रसिद्ध है, परन्तु उस त्रिमूर्ति की पौराणिक कल्पना क्रमश रजस्, सत्त्व और तमस् इन गुणो की प्रधानता की आभारी है । रजोगुण का अवलम्बन लेकर के सृष्टि की रचना करने वाला ब्रह्मा, सत्त्वगुण का अवलम्बन लेकर के उसका पालन करने वाला विष्णु और तमोगुण का अवलम्बन लेकर के उसका सहार करने वाला शकर है । इस प्रकार तीनो मूर्तियो का भिन्न-भिन्न कार्य-प्रदेश है । फिर भी कवि यहाँ इस त्रिमूर्ति का अभिन्नरूप मे वर्णन करता है जो पौराणिक कल्पना से विरुद्ध है । कवि परमात्मा का विष्णु और शकर कह करके ब्रह्मा की तरह सृष्टि के कारण के रूप मे वर्णन करता है । इस विरोध

---

[1] मुखमस्याद्यपिब दिश । श्रोत्रनाभिरन्ध्राभादयान पादाविला —मु०

[2] चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्ष शीर्ष्णो द्यौ समवर्तत ।
पद्भ्या भूमिर्दिश श्रोत्रात्तथा लोका अकल्पयन् ॥३१ १२ १३ शु० य०

[3] बृहदा० २ ५ १-१४।३. १।३ २ १३

का परिहार स्पष्ट है, वह यह कि त्रिमूर्ति के कार्यप्रदेश की कल्पना पुराणो मे चाहे भिन्न-भिन्न रूप से की गई हो फिर भी वस्तुत यह त्रिमूर्ति परमात्मा ही है और इसलिए तीनो मूर्तियाँ सृष्टि की कारण भी है।

इस प्रकार विरोधाभासी सगुण वर्णन करने के बाद कवि परमात्मा की अज्ञेयता सूचित करने के लिए कहता है कि उसे देवता या मनुष्य नही जानते है। और साथ ही ज्ञेयता सूचित करने के लिए कहता है कि अन्यान्य देव जानते है। परमात्मा या मूलतत्त्व को कोई जानता है या नही इस प्रश्न की चर्चा ऋग्वेद के समय से होती रही है। नासदीयसूक्त में कहा गया है कि देव[1] इसको जानते होगे। पर ऋषि कहता है कि देव तो पीछे हुए वे अपने पूर्ववर्ती मूलतत्त्व को किस प्रकार जान सकेंगे ? यह उत्तर आगे जाकर परमात्मा के ज्ञेय-अज्ञेय स्वरूप में परिणत हुआ उसीका कवि ने यहाँ वर्णन किया है।

अस्मिन्नुदेति सविता लोकचक्षुरस्मिन्नस्त गच्छति चाशुगर्भ ।
एषोऽजस्र वर्तते कालचक्रमेतेनाय जीवते जीवलोक ॥२३॥

अर्थ—इस परमात्मा में ही सूर्य जो कि नेत्र की तरह लोक को प्रकाशदायक होने से लोकचक्षु कहलाता है वह उदय होता है और इसी परमात्मा में वह सूर्य फिर अशुगर्भ—किरणो को अपने अदर गर्भ की तरह सकुचित करके अस्त होता है। यही परमात्मा सतत कालचक्र के रूप में प्रवृत्त होता है। और इसी के द्वारा यह जीवलोक जी रहा है।

भावार्थ—बृहदारण्यक (३ ८ ९) में याज्ञवल्क्य ने वाचक्नवी गार्गी को उत्तर देते हुए कहा है कि "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ" अर्थात् सूर्य-चन्द्र ये परमात्मा की महिमा से ही है और नियमित रूप से अपना-अपना काम करते है। इस कथन का मानो भाष्य करके ऋषि कठोपनिषद् में कहता है कि 'यतश्चोदेति सूर्योऽस्त यत्र च गच्छति।' (४ ९) इसी वस्तु को यहाँ पूर्वार्ध मे कह करके सिद्धसेन परमात्मा की महिमा गाता है। उत्तरार्ध में वह परमात्मा का निरन्तर फिरने वाले कालचक्र के रूप में वर्णन करता है। कालकारणवादी समग्र विश्व के कारण के रूप से काल को ही मानते थे। इस मत का उल्लेख अथर्ववेद के (काण्ड १९ सूक्त ५३-५४) कालसूक्त मे स्पष्ट है। कवि यहाँ परमात्मा को ही विश्व का कारण मानता है इसलिए वह परमात्मा और काल दोनो के अभेद की कल्पना करके कहता है कि जिस कालचक्र की निरन्तर प्रवर्तमान होने की मान्यता है वह कालचक्र वस्तुत परमात्मा ही है। काल को जो चक्र कहा गया है वह यह सूचित करने के लिए कि जैसे चक्र सदैव फिरता रहता है वैसे काल भी सदैव गति करता रहता है। काल के चक्र कहने में यह भी आशय है कि चन्द्र के छ या बारह आरो की तरह काल के भी छ ऋतु और बारह महीनारूप आरे है। जैनपरम्परा में भी कालचक्र की कल्पना है परन्तु उसमें ऋतु या मास के स्थान मे दूसरे ही प्रकार के छ और बारह विभागो की कल्पना करके उनको आरा कहा गया है। वे छ या बारह कालविभाग ब्रह्म के दिवस और रात की पौराणिक कल्पना से भी आगे बढ जाते है। चढती के क्रम को सूचित करने वाले छ आरे उत्सर्पिणी और ह्रास के क्रम को सूचित करने वाले छ आरे अवसर्पिणी कहलाते है। यह ऋतुचक्र और मासचक्र नियमित रूप से एक भी क्षण ठहरे विना पुन-पुन आता जाता रहता है। इसकी गति बराबर चक्र जैसी ही है, इसलिए काल के लिए चक्र की उपमा बराबर लागू होती है। अन्त मे कवि कहता है कि समग्र जीवलोक का जीवन परमात्मा का ही आभारी है। कवि का यह कथन कठ के "न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ।" (५ ५) इस विचार का प्रतिबिम्ब है।

---

[1] को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इय विसृष्टि ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव ॥६॥
इय विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष. परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

अस्मिन् प्राणा प्रतिवद्धा प्रजानाम् अस्मिन्नस्ता रथनाभाविवारा[1] ।
अस्मिन् प्रीते शीर्णमूला पतन्ति प्राणाशसा[2] फलमिव मुक्तवृन्तम् ॥२४॥

अर्थ—इस परमात्मा में ही प्रजा के प्राण प्रतिबद्ध हैं इसी में ही वे प्राण रथ की नाभि में आरे की तरह अर्पित हुए हैं। जब यह परमात्मा प्रसन्न होता है तभी प्राण की एषणा डठल से छुटे हुए फल की तरह शिथिलमूल बन करके खिर जाती है।

भावार्थ—शुक्लयजुर्वेद मे जैसे मन के विषय मे कहा गया है "यस्मिन्नृच साम यजूषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा । यस्मिश्चित्त सर्वमोत प्रजानाम् ॥" (३४ ५) वैसे ही कवि यहाँ परमात्मा को लक्ष्य में रख कर कहता है कि प्रजा के प्राण परमात्मा में ही वद्ध हैं और वे नाभि में आरे की तरह व्यवस्थित हैं अर्थात् प्राणीजीवन परमात्मा के साथ ही सकलित हैं उससे भिन्न नही हैं। फिर भी जव परमात्मा का अनुग्रह होता है तब यह प्राण धारण करने की वृत्ति, इसके मूल अविद्या के नष्ट होते ही अपने आप वन्द हो जाती है। इस कथन में विरोध भासित होता है, क्योकि यदि प्रजाप्राण परमात्मा के साथ मे ग्रथित हो तो वह परमात्मा के प्रसन्न होने से खिर कैसे जाता है ? परन्तु इसका परिहार इस प्रकार करना चाहिए कि प्राणियो की जिजीविषा अज्ञान के कारण है। जव तक प्राणी अपने परमात्मारूप को नही जानते हैं तभी तक वह जिजीविषा स्थिर रहती है और तभी तक परमात्मा मे प्राण सकलित रहते हैं। परमात्मास्वरूप का भान होते ही इस अज्ञान का मूल शिथिल होने से जिजीविषा अपने आप चली जाती है।

नाभि में आरो को जमाने की उपमा वेद[3]काल से प्रसिद्ध है और वह बृहदारण्यक, मुण्डक, कौषीतकी आदि उपनिषदो मे भी वहुत प्रचारित हुई है।[4]

मुण्डकोपनिषद् के 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' (२ २ ८) इस पद्य मे ज्ञानयाग की महिमा है जब कि यहाँ 'अस्मिन् प्रीते' इस उत्तरार्ध मे भक्तियोग का माहात्म्य है, जिस प्रकार 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य ।' (कठ २ २२) इत्यादि में है। पके फल की डठल से छुट जाने की उपमा भी वहुत प्राचीन है—"उर्वारुकमिव वन्धनात्"—शुक्ल यजुर्वेद ३ ६०। कालिदास ने भी इसका उपयोग किया है।

अस्मिन्नेकशत निहित मस्तकानामस्मिन् सर्वा भूतयश्चेतयश्च ।
महान्तमेन पुरुष[5] वेद वेद्य आदित्यवर्णं तमस परस्तात् ॥२५॥

अर्थ—इसमें सौ मस्तक रहे हुए हैं, इसमें सभी सम्पत्तियाँ और विपत्तियाँ हैं। अन्धकार से पर सूर्य जैसे प्रकाशमान वर्ण वाले इस ज्ञेय महान् पुरुष को मैं जानता हूँ।

भावार्थ—पुरुषसूक्त में (ऋ० १०-९०-१) पुरुष का वर्णन करते समय 'सहस्रशीर्षा' पद से हजार मस्तक का निर्देश है जिसका अनुकरण शुक्लयजुर्वेद (३१ १) तथा श्वेताश्वतर (३ १४) आदि में है। यहाँ तो कवि ने पुरुषरूप से वर्णन करते समय सो मस्तक का निर्देश किया है। सौ या हजार यह केवल सख्याभेद है। इसका तात्पर्य तो इतना ही है कि लोक पुरुषरूप परमात्मा के अनेक मुख हैं, जब कि मनुष्य पुरुष या किसी भी प्राणी पुरुष को केवल एक ही मुख होता है। परमात्मा की विशेषता यह है कि तमाम प्राणियो के मुख इसके ही मुख है। शुक्लयजुर्वेद में (२५ १३) मृत्यु और अमरत्व दोनो का परमात्मा की छाया के रूप मे वर्णन है। इसी तत्त्व को कवि यहाँ भिन्न प्रकार से कहता है कि सभी विभूतियाँ लोकपुरुषरूप परमात्मा में ही हैं। ऐसे परमात्मपुरुष का वर्णन 'वेदाहमेत पुरुष

---

[1] रथनाभा विचारा—मु०। [2] 'शसाफ'—मू०।
[3] शुक्ल यजुर्वेद ३४. ५।
[4] बृहदा० २. ५. १५। मुण्डक० २. २. ६। कौषी ३. ६।
[5] पुरुषवे०—मू०।

महान्तमादित्यवर्णं तमस परस्तात्। इत्यादि रूप से शुक्लयजुर्वेद (३१.१८) और श्वेताश्वतर (३ ८) में है। उसी को ही थोडे परिवर्तन के साथ कवि यहाँ ग्रथित करता है।

सारे पद्य का तात्पर्य परमात्मा की लोकोत्तरता सूचित करना है। सामान्य लौकिक पुरुष के एक मुख होता है, जब कि परमात्मपुरुष के अनेक मुख होते हैं। लौकिक पुरुष के पास सम्पत्ति या विपत्ति होती है, पर वह सब प्रकार की नहीं। जब कि परमात्म पुरुष मे सब प्रकार की सम्पत्ति विपत्तियो का समान हो जाता है। लौकिक पुरुष अज्ञानान्धकार से आवृत होता है जब कि परमात्म पुरुष इनसे पर है।

विद्वानज्ञश्चेतनोऽचेतनो वा स्रष्टा निरीह: स ह पुमानात्मतन्त्र.।
क्षराकार: सतत चाक्षरात्मा विशीर्यन्ते वाचो युक्तयोऽस्मिन् ॥२६॥

अर्थ—वह आत्मतन्त्र पुरुष विद्वान् है और अज्ञ है, चेतन है और अचेतन है, कर्ता है और अकर्ता है, परिवर्तिष्णु है और अपरिवर्तिष्णु है। ऐसे इस परमात्मा के विषय में सब वाणीविलास विराम ले लेते हैं।

भावार्थ—इस पद्य में अनेक परस्पर विरोधी विशेषणद्वन्द्वो के द्वारा परमात्मा का अनेकरूपत्व तथा लोकोत्तरत्व सूचित किया गया है। कवि अन्त में ऐसे विरोधी द्वन्द्वो के वर्णन से थक कर कहता है कि सत्य बात तो यह है कि कोई भी वाग्युक्ति परमात्मा का निरूपण करने मे असमर्थ है। विरोधी विशेषणो के द्वारा परमात्मा के सगुण स्वरूप का वर्णन करके कवि अन्त मे उसके निर्गुण स्वरूप की ओर ही झुकता है।

विशेषणगत विरोधाभास का परिहार अपेक्षा विशेष से हो जाता है। यहाँ परमात्मा सर्वात्मकरूप से विवक्षित है अतएव अज्ञानी-ज्ञानी, जड-चेतन, कर्ता-अकर्ता, विनश्वर-अविनश्वर जो कुछ है वह सब परमात्मरूप होने से उसमे सभी विरोधी विशेषण घट सकते हैं। विशिष्टाद्वैतवाद में परमात्मा का शरीर चिद्-अचिद् उभय रूप से कल्पित है, इसलिए उसमें जैसे परमात्मा चित् शरीर और अचित् शरीर कहा जा सकता है उसी तरह यहाँ भी कह सकते हैं। शुद्धाद्वैत के अविकृत परिणामवाद में जो कुछ जड चेतन जगत मे है वह सब परमात्मा का परिणामरूप माना जाता है इसलिए उस मत के अनुसार जड या चेतन जो कुछ है वह सब परमात्मारूप ही है। उन विचारो की छाया इस पद्य मे है। फिर भी कवि 'यतो वाचो निवर्तन्ते इस तैत्तिरीयोपनिषद् (२ ४) के वाक्य का अनुसरण करके अन्त मे परमात्मा के निर्गुण स्वरूप को सूचित करता है।

बुद्धिर्बोद्धा बोधनीयोऽन्तरात्मा बाह्यश्चाय स परात्मा दुरात्मा।
नासावेक नापृथग् नाभि[1] नोभौ सर्वं चैतत् पशवो य द्विषन्ति ॥२७॥

अर्थ—यह परमात्मा बुद्धि का बोद्धा और बुद्धि का विषय है। वह अन्दर है और बाह्य है, यह श्रेष्ठ आत्मा और कनिष्ठ आत्मा है, यह नहीं तो एक है और नहीं अनेक है और फिर भी वह उभयरूप नहीं है ऐसा भी नहीं है तथा यह सर्वरूप है जिसका कि पशु—जीवात्माएँ द्वेष करते हैं।

भावार्थ—साख्यतत्त्वज्ञान का अनुसरण करके आत्मा और परमात्मा को लागू हो ऐसे जो विरोधाभासी विचार वेद उपनिषद् और गीता आदि मे अनेक प्रकार से प्रकट हुए हैं उन्हीं विचारो मे से कुछ विचारो को कवि ने इस पद्य में विरोधाभासी विशेषण द्वन्द्वरूप से ग्रथित किये हैं और उनके द्वारा परमात्मा की लोकोत्तरता सूचित की है। साख्यदर्शन आत्मा-परमात्मा को बुद्धि-अन्त करण का साक्षी मान करके तथा बुद्धिगत बोध को छायावाला कल्पित करके कूटस्थ होने पर भी उसको बोद्धा कहता है, और साथ ही वह 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' (बृहदा० ४ ५ ६) इत्यादि शब्दो के द्वारा आत्मा को बुद्धिवृत्ति का विषय भी कहता है। इस विचार युगल को कवि ने बोद्धा और बोधनीय कह करके प्रकट किया है। 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत' (ईशा०

[1] नाभितोभौ—मु०।

५), 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यज' (मुण्ड० २ १ २) जैसे शब्दों में जो विचार उपनिषदों ने व्यक्त किये हैं उसको ही यहाँ कवि 'अन्तरात्मा' और बाह्य' शब्द से व्यक्त करता है। सर्वतत्त्वों मे आत्मा ही मुख्य तत्त्व है इसलिए वह पर या परम आत्मा के रूप में सुविदित है। परन्तु कवि यहाँ उसको दुरात्मा भी कहता है जो बिलकुल विरोधी बाजू है। इस परात्मा और दुरात्मा का विरोधाभास गीता के विभूतियोग अध्याय (१०) में स्पष्ट है। जब कृष्ण अपने को 'सिद्धाना कपिलो मुनि' (१०-२६), 'सर्पाणामस्मि वासुकि (१०-२८), 'अनन्तश्चास्मि नागानाम्' (१०-२९) इस प्रकार कहता है तब वह अपने में परात्मा और दुरात्मापने का द्वन्द्व घटा करके अन्त मे तो लोकोत्तरत्व ही सूचित करता है। कवि ने यहाँ यही मार्ग लिया है।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में मूलतत्त्व का स्वरूप बताता हुआ ऋषि कहता है कि वह न तो सत् है और न असत् और न सदसद् इत्यादि है। उसी प्रकार से यहाँ कवि आत्मा का स्वरूप बतला करके उसे एक मानना, पृथक् मानना या उभयरूप मानना इत्यादि विकल्पो का निषेध करता है और अन्त मे कहता है कि वह तो सर्वात्मक है।

कवि आत्मा का ऐसा विरुद्ध दिखाई देने वाला वर्णन करके अन्त मे कहता है कि परमात्मा का स्वरूप ही ऐसा है कि जो अज्ञान और क्लेश वासना से ग्रस्त मनुष्यों से नही समझा जा सकता। इसके विपरीत वे परमात्मा का ऐसा स्वरूप सुन करके उसके प्रति द्वेष रखते है। जीवात्मा का कवि पशु शब्द से वर्णन करता है, वह यह सूचित करने के लिए कि वस्तुत मनुष्य जाति भी अज्ञानपाश से बद्ध है इसलिए वह पशु जैसी दीन और पराधीन ही है और इसीलिए वह पशुपति—परमात्मा के स्वरूप मे चौंकती है।

सर्वात्मक सर्वगत परीतमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम्[1]।
बाल कुमारमजर च वृद्ध य एन विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२८॥

अर्थ—सर्वरूप और फिर भी सर्व में व्याप्त, आदि, मध्य और अत से रहित, पुण्य-पाप से रहित, बाल होने पर भी कुमार, वृद्धत्व रहित होने पर भी वृद्ध ऐसे इस परमात्मा को जो जानता है वह अमर होता है।

भावार्थ—यहाँ भी विरोधाभासी वर्णन है। परमात्मा सर्वव्यापक और सर्वरूप है इसलिए ऐसा वर्णन वस्तुत विरोधरहित ही है। कवि का मुख्य तात्पर्य तो यह है कि जो सर्वत्र परमात्मदर्शन करते है वे ही मृत्यु के उस पार जाते हैं।

इस पद्य का प्रथम पाद श्वेताश्वतर (३-२१) के 'सर्वात्मान सर्वगत विभूत्वात्।' इस वचन का प्रतिबिम्ब है। द्वितीय पाद मे 'अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम्' गीता (११-१९) की तथा 'य आत्मा अपहृतपाप्मा' छान्दोग्य (८ ७ १) की प्रतिध्वनि है। तृतीय पाद मे 'त्व स्त्री त्व पुमानसि त्व कुमार उत वा कुमारी त्व जीर्णो दण्डेन वञ्चसि' (४ ३) तथा 'वेदाहमेतमजर पुराणम् (३ २१) इस श्वेताश्वतर का सक्षेप है। चतुर्थ पाद भी श्वेताश्वतर की 'य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति' (३ १ तथा १०) वचन की अनुकृति मात्र है।

नास्मिन् ज्ञाते ब्रह्मणि ब्रह्मचर्यं नेज्या[2] जाप स्वस्तयो नो पवित्रम्।
नाह नान्यो नो महान्नो कनियान् नि सामान्यो जायते निर्विशेष ॥२९॥

अर्थ—इस ब्रह्म—परमात्मा का ज्ञान होने पर ब्रह्मचर्य, यज्ञ, जाप, स्वस्तिवाचन या पवित्र—दर्भ अथवा यज्ञोपवीत—यह कोई कर्त्तव्य नहीं रहता है। फिर तो आत्मा मै नहीं, अन्य नहीं, बडा नहीं, छोटा नहीं, ऐसा नि:सामान्य और निर्विशेष हो जाता है।

भावार्थ—प्राचीन काल से ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि आश्रमो की और तत्सम्बन्धी कर्तव्यपालन की प्रथा चलती आई है। ब्रह्मचर्य धारण करके पहले आश्रम मे शास्त्राध्ययन कराया जाता था, दूसरे गार्हस्थ्य आश्रम में अनेकविध यज्ञो के करने का बंधन था, त्यागाभिमुख वानप्रस्थ आश्रम मे जप, स्वस्तिवाचन तथा पवित्र गिने जाने वाले दर्भासन

---

[1] पुण्यपापौ—मु०। [2] नव्याजाप—मु०।

आदि के उपयोग की प्रथा थी। कवि यहाँ सन्यासाश्रम के ब्रह्मज्ञान की सर्वश्रेष्ठता और सर्वोच्च कर्तव्यता बतलाने के लिए कहता है कि जब ब्रह्मज्ञान होता है तो पहिले के तीनो आश्रमो के कर्तव्य और विधान स्वयमेव अनुपयोगी बन करके छूट जाते है। ब्रह्मज्ञान होने के बाद को आत्मदशा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि उस समय आत्मा में—प्रथम पुरुष या अन्य—तृतीय पुरुष नही रहता है, तथा उसमें महत्ता और कनिष्ठता का भाव भी नही रहता है, वह सामान्य और विशेष दोनो प्रकारो से पर हो जाता है। ब्रह्मज्ञान जनित आत्मस्थिति का यह वर्णन निर्गुण और द्वद्वातीत भूमिका सूचित करता है। ज्ञानप्रधान उपनिषदो में और ज्ञानयोगप्रधान गीता के वचनो में इसी प्रकार आत्मज्ञान का माहात्म्य वर्णित है।

नैन मत्वा शोचते नाभ्युपैति नाप्याशास्ते म्रियते जायते वा।
नास्मिल्लोके गृह्यते नो परस्मिन् लोकातीतो वर्तते लोक एव ॥३०॥

अर्थ—परमात्मा को जानने के बाद ज्ञाता न तो शोक करता है और न कुछ प्राप्त करता है, वह आशा का भी सेवन नहीं करता है, नहीं मरता है और नहीं जन्म लेता है, वह इस लोक या परलोक में पकडा नहीं जाता है। वह लोकातीत होने पर भी लोक में ही रहता है।

भावार्थ—कवि ने यहाँ जीवनमुक्त ब्रह्मज्ञानी की दशा का वर्णन किया है। वह ज्ञानी, लोगो के बीच मे रहता है फिर भी वह साधारण लोगो के शोक, हर्ष, आशा, जन्म, मृत्यु और ऐहिक-पारलौकिक बन्धन से पर होकर लोकातीत बन जाता है। ऐसी स्थिति प्राप्त करने के मुख्य साधन के रूप में यहाँ आत्मज्ञान का ही निर्देश किया है। गीता मे ऐसे जीवनमुक्त पुरुष की दशा का अनेक प्रकार से वर्णन है। कठ के 'मत्वा धीरो न शोचति' (४ ४) तथा 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (२ १८) इन शब्दो का तो प्रस्तुत पद्य मे पुनरवतार हुआ हो ऐसा भासित होता है।

यस्मात् पर नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक तेनेद पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥३१॥

अर्थ—जिससे पर या अपर कोई नहीं है; जिससे कोई छोटा या बडा नहीं है, जो अकेला द्युलोक में वृक्ष की तरह निश्चल स्थित है उस पुरुष से यह सब परिपूर्ण है।

भावार्थ—यहाँ लौकिक वस्तुओ से परमात्म पुरुष की विलक्षणता ही विरोधाभासी वर्णन द्वारा व्यक्त हुई है। ईशावास्य मे 'तद्दूरे तद्वन्तिके' (५) शब्द से और कठ मे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (२ २०) तथा छादोग्य मे 'एप म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् ज्यायान्' (३ १४ ३) शब्द से विधिमुख द्वारा जो भाव प्रतिपादित हुआ है वही भाव यहाँ कवि ने श्वेताश्वतर का (३ ९) सारा पद्य जैसा का तैसा लेकर के व्यतिरेक मुख से पूर्वार्ध में सूचित किया है। अतिम पाद 'येन सर्वमिद ततम्' (गीता ८ २२) की प्रतिध्वनि है।

नानाकल्प पश्यतो जीवलोक नित्यासक्ता व्याधयश्चाधयश्च।
यस्मिन्नेव सर्वत सर्वतत्त्वे दृष्टे देवे न पुनस्तापमेति ॥३२॥

अर्थ—जीवलोक का नानारूप से दर्शनकरने वाले को आधियाँ और व्याधियाँ सदैव लगी रहती है। परन्तु पूर्वोक्त प्रकार से सब ओर सर्वतत्त्वरूप जो देव है उसका दर्शन होते ही द्रष्टा फिर सताप को प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ—यहाँ कवि ने पहले के सभी पद्यो मे समूचे रूप से परमात्मा के अद्वैत स्वरूप का वर्णन किया है। इसलिए वह उपनिषदो और गीता की तरह द्वैत और अद्वैत ज्ञान की फलश्रुति रूप से भेदज्ञान से सताप और अभेदज्ञान से सताप का अभाव वर्णन करता है। छादोग्य के 'तरति शोकमात्मविद्' (७ १ ३) इस सक्षिप्त वाक्य मे आत्मज्ञान की फलश्रुति और अर्थापत्ति से भेदज्ञानजन्य सताप का सूचन है। उसी भाव का कवि ने यहाँ अधिक स्पष्टता से वर्णन किया है।

बबई]

[गुजराती से अनूदित

नयचंद्र और उनका ग्रंथ 'रंभामंजरी'

श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये एम्० ए०, डी० लिट्०

आत्म-परिचय सबधी कुछ श्लोको से, जो 'हम्मीर महाकाव्य'[1] (१४, ४६, ४६*१, ४६*३, ६४*४) तथा 'रभामजरी'[2] (१, १५–१८) दोनो ग्रथो में एक से पाये जाते है, प्रकट होता है कि ये दोनो ग्रथ एक ही नयचद्र की रचनाएँ है। इनमे लेखक ने अपने धार्मिक पूर्वजो का कुछ वर्णन किया है—'प्रसिद्ध कृष्णगच्छ में उत्पन्न जयसिंहसूरि ने शास्त्रार्थ में सारग नामक एक बडे प्रतिभाशाली कवि को परास्त किया, जो छ भाषाओ में रचना करने वालो मे से एक था, जो बडा प्रामाणिक (प्रमाण शास्त्र का ज्ञाता) था, और जिसने न्यायसारटीका, एक नवीन व्याकरण तथा कुमार नृपति सबधी एक काव्य की रचना की थी।' यह सारग कौन था, यह अनिश्चित है। जयसिंह के लिखे हुए तीनो ग्रथो में पहला भासर्वज्ञ के न्यायसार (९०० ई०) की टीका है और तीसरा ग्रथ कुमारपालचरित है, जो १० सर्गों मे है तथा जो स० १४२२ (१३६४-६५ ई०) मे समाप्त हुआ था।' जयसिंह का शिष्य प्रसन्नचद्र था, जो राजाओ से सम्मान पाता था। 'रभामजरी' का लेखक हमारा ग्रथकर्ता नयचद्र यद्यपि प्रसन्नचद्र का शिष्य था, तथापि वह अपने को काव्य-प्रतिभा में जयसिंह का ही सर्वथा उत्तराधिकारी लिखता है। उसने काव्य के क्षेत्र मे अपने परिश्रम का उल्लेख किया है और सरस्वती की अपने ऊपर विशेष कृपा का वर्णन किया है। उसने पहले के कवियो—कुक्कोक, श्रीहर्ष (नैषधीयकर्ता), वात्सायन, (वेणीकृपाण-) अमर अर्थात् अमरचद्र आदि का भी उल्लेख किया है। वह कविता मे अपने को द्वितीय अमरचद्र घोषित करता है। यह अमरचद्र[3] पद्मानद महाकाव्य का लेखक है। इसकी अनुकृति ने हम्मीर महाकाव्य भी वीराक है। और उसका समय लगभग तेरहवी शताब्दी का मध्यभाग है।

हम्मीरकाव्य मे ऐतिहासिक घटनाओ का मनोरजक वर्णन है। उसमे हम्मीर (तथा साथ ही उसके पूर्वजो) की वीरताओ का कथन है, जिसने अलाउद्दीन से डटकर लोहा लिया और १३०१ ई० मे समरभूमि पर अपने प्राण गवाँये। काव्यप्रकाश आदि ग्रथो मे कविता के जो लक्षण निर्धारित किये गये है वे सब नयचद्र को विदित थे। उसने लिखा है कि किस प्रकार अपने काव्य में उसने कथावस्तु के साथ रोचकता लाने की चेष्टा की। आलोचको को उसके वर्णन-दोषो पर ध्यान न देना चाहिए (जिनके लिए उसने क्षमायाचना कर ली है)। ये दोष कुछ ऐसे है, जिनसे कालिदास जैसे लेखक भी सर्वथा मुक्त नही हो सके। नयचद्र ने इस काव्य में शृंगार, वीर तथा अद्भुत रसो का समावेश करके

---

[1] कीर्तने का सस्करण बबई, १८७९।

[2] रामचन्द्र दीनानाथ द्वारा सपादित (बबई, १८८९) रभामजरी की एक सुन्दर सस्कृत टिप्पणियो के सहित हस्तलिखित प्रति भडारकर ओरियटल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना (१८८४-८६ की सख्या ३३५) में है। विशेष जानकारी के लिए पी० के० गोडे कृत पुस्तक सूची का चौदहवाँ भाग (नाटक, पूना, १९३७) पृ० २४६-७ देखिए। यह सस्करण सभवत. इसी प्रति पर आधारित है। इस नाटक पर कुछ विवेचना श्री चक्रवर्ती ने अपने एक निबध 'Characteristic Features of the Sattaka form of Drama' (इडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली भाग ७, पृ० १६९-७३) में की है।

[3] एच० डी० वेलकर द्वारा सपादित 'जिनरत्नकोष' पूना, १९४४।

[4] एम्० डी० देसाई—जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास, बबई, १९३३, पृ० ३७८-३८१, एम्० बी० झबेरी. Comparative and Critical study of Mantraśāstra, भूमिका, पृ० २२२-२३, अहमदाबाद, १९४४।

तोमर वीरम के दरवारियो को चुनौती दी है, जो यह कहते थे कि तत्कालीन कवियो मे किसी मे इतनी प्रतिभा न थी जो पहिले के कवियो जैसी उत्कृष्ट रचना कर सके। नयचद्र उद्घोषित करता है कि उसके काव्य में अमरचद्र का लालित्य तथा श्रीहर्ष की वक्रिमा, ये दोनो गुण है। नयचद्र के समय के सवध में यह कहा जा सकता है कि वह ई० १३६५ ई० १४७८ के बीच मे हुआ होगा। पहली तिथि उसके गुरु के शिक्षक जयसिंहसूरि रचित कुमारपालचरित की है तथा दूसरी तिथि पूना से प्राप्त रभामजरी की हस्तलिखित प्रति में दी हुई है। तोमर वीरम राजा की पहचान निश्चित होने से हम अधिक निकट तिथि पर पहुँच सकते है। हम्मीर काव्य के सपादक ने लिखा है—'तोमर वीरम राजा चाहे जो रहा हो, उसका समय अकवर से ७० वर्ष पहले प्रतीत होता है।' इसकी पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नही दिया गया है। ग्वालियर के तोमर राजाओ की वशावली[1] मे वीरम नाम का एक राजा है। उसके पोते डुगरेद्रदेव का समय १४४०-१४५३ ई० मिलता है। दो पीढियो के लिए ५० साल के लगभग मान लेने पर उतना घटाने से १४०० ई० वीरम का समय आता है। वि० स० १४६२ में वीरम इकवालखाँ से लडा था। इस वीरम का कुशराज मत्री था। उसी की विज्ञप्ति से पद्मनाभ कायस्थ ने यशोधर चरित्र की रचना की है (जैन-हितैपी, १५, २२३-२६)। अत हम नयचद्र का काल पन्द्रहवी शती के प्रारभ मे मान सकते हैं। जैसा कि नयचद्र की गुरु-शिष्य परपरा सूची से विदित होता है, वह जैन भिक्षु था, परन्तु उसके रचित मगलश्लोक, जो हम्मीरकाव्य मे है, जैन तथा हिन्दू दोनो धर्मों के देवताओ पर लागू हो सकते हैं। रभामजरी के नादीपाठ में विष्णु की स्तुति वाराह अवतार के रूप मे की गई है। नयचद्र कृत रभामजरी एक सट्टक है। यहाँ हम उसमें आये हुए विषयो की छानवीन करेंगे तथा कुछ उसकी वातो पर आलोचनात्मक प्रकाश डालेंगे।

१ नादीपाठ मे वाराह भगवान की प्रार्थना तथा युवतियो के हाव-भाव पूर्ण कटाक्षो के वर्णन द्वारा कामदेव की अभ्यर्थना करने के वाद सूत्रधार मदन भगवान की स्तुति करता है तथा ईश्वर और पार्वती का गुणगान करता है। फिर वह लवे-चौडे ढग से राजा जैत्रचद्र (या जयचद) उपनाम पगु का, जो मल्लदेव तथा चद्रलेखा से उत्पन्न हुआ था, कथन करता है कि उस जैत्रचद्र ने मदनवर्मन् के राज्य को छीना और वह यवनो को हराकर वनारस मे राज्यारूढ हुआ। इसके पश्चात् सूत्रधार नट से अपनी इच्छा प्रकट करता है कि ग्रीष्मऋतु की विश्वनाथ यात्रा के लिए एकत्रित भद्रजनो का एक प्रवन्ध नाटचद्वारा मनोरजन किया जाय। इसके लिए वह उस सरस कथानक को उपयुक्त वताता है, जिसमे राजा जैत्रचद्र नायक है, जो एक सट्टक प्रवध है और जिसका नाम रभामजरी है। यह सट्टक सूत्रधार के कथनानुसार राजशेखर की कर्पूरमजरी से भी एक प्रकार से श्रेष्ठतर है। इसका लेखक नयचद्र है, जो सरस्वती देवी की कृपा के कारण छ भाषाओ का सुयोग्य कवि है और जिसने अपनी काव्य-प्रतिभा की समानता अमरचद्र तथा श्रीहर्ष से की है। इस सट्टक मे राजा जैत्रचद्र, जो सात रानियो का पति है, रभा नामक आठवी रानी से विवाह करता है, जिससे वह अपना भूपति नाम सार्थक कर सके।

राजा जैत्रचद्र चारण-भाटो के द्वारा सस्कृत, प्राकृत तथा मराठी मे अपना यशोगान सुनता हुआ अपनी रानियो के सहित प्रवेश करता है। मजरित रसाल की डाल पर से एक कोयल उन सब का स्वागत करती है। राजा और रानी एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करते है और वसन्तऋतु के अनुकूल उनकी अभ्यर्थना वन्दीजन के द्वारा की जाती है। इतने में विदूषक और कर्पूरिका के वीच मे आक्रोश-युक्त विवाद खडा हो जाता है। कर्पूरिका इस पर हँसती है कि विदूषक को सारी विद्वत्ता उसके श्वशुर आदि से प्राप्त हुई है और यह कह कर उसकी काव्य-प्रतिभा की हँसी उडाती है। वे दोनो अपनी अपनी रचनाएँ राजसभा मे सुनाते हैं। कर्पूरिका विजय प्राप्त करती है। विदूषक शर्मिन्दा होकर महल से चला जाता है। रानी चन्द्रोदय का वर्णन करती है। राजा नारायणदास के आने के लिए

---

[1] सी० एम्० डफ दि क्रॉनॉलॉजी आव इडिया पृ० ३०६, वेस्टमिन्स्टर, १८९९, डी० आर० भडारकर ए लिस्ट ऑव इन्सक्रिप्शस ऑव नॉर्दर्न इडिया, पृ० ४०४।

चिंतित हो जाता है,जो रभा के सबध में कुछ समाचार लाने वाला था। इतने मे विदूषक नारायणदास को तथा उसके साथ वैवाहिकनेपथ्य में रभा को लेकर उपस्थित होना है।

राजा का 'जैत्रचद्र' नाम इस हेतु पड गया था कि उसके जन्मदिवस को ही उसके पितामह ने खर्पर सेना को परास्त किया था, जो दशार्ण देश मे आई थी।'

नारायणदास कुछ मधुर समाचार सुनाने आया है। पर्दे के पीछे से राजा सुनता है कि रभा किम्मीरवशी देवराज की पौत्री तथा लाटनरेश मदनवर्मा की पुत्री है और रूप मे पार्वती के समान सुन्दर है। उसकी सगाई हम नामक व्यक्ति के साथ हुई थी, परन्तु वह अपने मातुल शिव के द्वारा वहाँ से हटाई जाकर हाथ मे वैवाहिक ककण पहने हुए यहाँ ले आई गई है। यह सुन कर राजा रभा का, जो एक पालकी मे उपस्थित होती है, स्वागत करता है। वह उसके सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसके अगो का वखान करने लगता है। विदूषक तथा नारायणदास राजा को और अधिक रभा के प्रति आकर्षित करते हैं, यहाँ तक कि वह बहुत प्रेमासक्त हो जाता है। राजा का चारण उस घडी को शुभमुहूर्त बताता है और पुरोहित लोग वैवाहिक मत्रोच्चार करने लगते है। शीघ्र ही विदूषक इस बात को घोषित करता है कि राजा जैत्र तथा रभा का शास्त्रानुकूल परिणय-सबध सपन्न हो गया। उस समय आनन्दमगल होने लगते हैं। चारण प्रात काल होने की सूचना देता है। अन्य महिषियो के साथ रभा अत पुर भेज दी जाती है, और राजा अपने प्रात कालीन नित्यकर्म मे लग जाता है।

२ रभा से अलग हो जाने पर राजा उसके सौंदर्य का ध्यान करता हुआ उसके विरह मे व्याकुल हो जाता है। प्रतिहारी उद्यान के अनेक भाति के दृश्यो का वर्णन कर राजा के मन को बहलाने का प्रयत्न करता है, परन्तु राजा रभा के ही सबध में कुछ सुनने की उत्सुकता प्रकट करता है। कर्पूरिका राजा से निवेदन करती है कि अत पुर मे रभा बडे आनन्द मे है और वहाँ रानी राजीमती उसका विशेष ध्यान रखती है। कर्पूरिका इस बात का भी विश्वास दिलाती है कि राजा के प्रति रभा का गहरा प्रेम है। वह उसका प्रेमपत्र पढकर सुनाती है, जिसे रभा ने गुप्तरूपेण राजा के पास भेजा था। इसे सुनकर राजा अधिक काम-विह्वल हो उठता है। फिर विदूषक उसे अपना स्वप्न सुनाता है कि किस प्रकार विदूषक ने अपने को एक भ्रमर के रूप मे देखा, और उसके बाद वह भ्रमर से चदन बन गया, जिसका लेप रभा ने अपने कुचो के ऊपर लगाया और उन कुचो का राजा के द्वारा आलिंगन किये जाने पर वह किस प्रकार जाग पडा। विदूषक इस स्वप्न का मतलब यह निकालता है कि राजा शीघ्र ही रभा से भेंट कर सकेगा। राजा उससे उसी क्षण मिलने को आतुर हो उठता है। कर्पूरिका अशोक वृक्ष की एक डाल के सहारे खडी हो जाती है और रभा को खिडकी में से होकर नीचे उतार लेती है। राजा और रभा मिलन का आनद उठाते है। कुछ समय के बाद पटरानी के आ जाने से दोनो पृथक् हो जाते है।

३ प्रेमविह्वल पटरानी राजा का स्वागत करती है। यथेष्ट आमोद-प्रमोद के बाद राजा रानी से प्रार्थना करता है कि वह इसी प्रकार रभा से भी मिलना चाहता है। रानी अपनी स्वीकृति देकर शयनागार में चली जाती है। तदुपरान्त रभा प्रवेश करती है। राजा प्रेमपूर्वक उसका सत्कार करता है। शृगारपूर्ण काव्य-पक्तियो को आपस में गाते हुए दोनो अनेक भाति की काम-कलाओ का आनद प्राप्त करते है। रात शीघ्र ही व्यतीत हो जाती है और प्रात कालीन वदीगण का स्वर सुनाई देने लगता है। रभा अत पुर को भेज दी जाती है और राजा अपने प्रात कालीन कृत्यो के करने में लग जाता है।

नयचद्र नाटक मे एक से अधिक बार इस बात की ओर सकेत करता है कि जैत्र, जय या जयतचद्र का प्रबंध दिखाया जा रहा है, अत बहुत सभव है कि उसने इस कथानक को किसी प्रबंध में से लिया हो। किसी अज्ञात लेखक

' ज्ञातव्य पक्तियाँ इस प्रकार हैं: पत्त तम्मि दसण्णदेसु पवलं ज खप्पराण बल, जित्त भत्ति पियामहेण पहुणा जेत्त ति नाभं तओ। १, ४३।

का लिखा हुआ एक प्राचीन प्रवध[1] उपलब्ध हुआ है, जिसमें निम्नलिखित मार्के की वातें मिलती हैं—

'विजयचद्र का लडका राष्ट्रकूट जैत्रचद्र कान्यकुब्ज देश मे वनारस का राजा था। उसकी रानी का नाम कर्पूरदेवी था तथा उसने एक शालापति की पुत्री सुहागदेवी से भी विवाह किया था। वगाल के राजा लक्ष्मणसेन तथा कल्याणकटक के परमर्दि को जैत्रचद्र ने पददलित किया। कविचद ने उसकी वडी प्रशसा की थी। जव जैत्र ने सुहागदेवी के लडके को अपना राज्य देने से इन्कार कर दिया तब सुहागदेवी ने सुरत्राण सहाव्दीन से सहायता प्राप्त की। पृथ्वीराज ने सहाव्दीन का मुकाविला किया और योगिनीपुर में युद्ध हुआ। अपने शत्रु पृथ्वीराज की हार सुनकर जैत्रचद्र प्रसन्न हुआ, परन्तु उसके मत्री को सन्देह हो गया कि सहावदीन उसके राज्य पर भी हमला करेगा। अपनी दूसरी चढाई में सुरत्राण स० १२४८ चैत्र शु० १० को वनारस आ धमका और उसने जैत्रचद्र पर विजय प्राप्त की। जैत्र यमुना नदी में डूव कर मर गया और उसका वडा वेटा युद्ध मे काम आया। सुरत्राण ने पति को धोका देने के कारण सुहागदेवी के प्रति भी अपमानजनक व्यवहार किया और उसके लडके को तुरुष्क वना लिया।'

मेरुतुग[2] ने अपने 'प्रवध चितामणि' ग्रथ में लिखा है कि काशी का जयचद्र, जो एक साम्राज्य का अधीश्वर 'प्राज्यसाम्राज्यलक्ष्मी पालयन्' था, 'पगु' कहलाता था। उसने एक शालापति की पुत्री सूहवा से विवाह किया था। उससे उत्पन्न पुत्र को युवराज उत्तराधिकारी न मानने पर सूहवा ने म्लेच्छों अथवा तुरुष्कों को वाराणसी पर चढाई करने के लिए आमन्त्रित किया। जव नगरी को उन लोगो ने घेर लिया तव राजा ने सूहवा के पुत्र को अपने हाथी के ऊपर विठा दिया और स्वय यमुना की धारा में डूव गया।

राजशेखर[3] ने अपने प्रवधकोश नामक ग्रथ में श्रीहर्ष प्रवन्ध के अन्तर्गत गोविंदचद्र के पुत्र जयतचद्र के विषय मे इस प्रकार लिखा है कि वह वनारस का राजा था और 'पगुल' नाम से प्रसिद्ध था। उसने सूहवदेवी नामक एक कम तरुण और सुदरी विधवा से विवाह किया, जो पहले कुमारपाल के राज्य अणहिलपट्टन में रहने वाले शालापति की पत्नी थी। राजा जयतचद्र ने जव यह तय कर लिया कि राज्य का उत्तराधिकारी सूहवा के वेटे को न वनाकर कुमार मेघचद्र को वनाया जायगा तव सूहवादेवी क्रुद्ध हो उठी और उसने तक्षशिला से सुरत्राण को वनारस पर हमला करने के लिए आमन्त्रित किया। जयत युद्ध मे पूर्ण रूप से परास्त हो गया और उसका राज्य शत्रु ने छीन लिया।

जयचद्र के पिता का नाम क्या था, इस पर सव प्रवध एक मत नही है और न उनमे से कोई नयचद्र के ही कथन से सहमत है। आधुनिक इतिहास लेखकों[4] ने इन राजाओ का वशक्रम इस प्रकार रक्खा है—

गोविंदचद्र (ल० १११४–११५५ ई०)।

विजयचद्र (ल० ११५५–११७० ई०)।

जयचद्र (ल० ११७०–११९३ ई०)।

इस क्रम के अनुसार कहा जा सकता है कि या तो प्रवधकोश मे जय और विजयचद्र के नामो को एक मान कर गडवडी पैदा कर दी गई है या अधिक सभव है कि विजयचद्र का नाम भूल या प्रमादवश छोड दिया गया हो। रभामजरी से हमको यह भी मानना पडता है कि विजयचद्र का दूसरा नाम मल्लदेव था। उसकी सात रानियो तथा आठवी रभा की वावत, जिनका वर्णन नयचद्र ने किया है, प्रवधो में कोई उल्लेख नही मिलता। एक प्रवध मे एक रानी का नाम कर्पूरदेवी मिलता है, परन्तु रभामजरी मे कर्पूरिका एक दासी का नाम आता है। जैत्रचद्र वनारस का प्रतापी शासक था और उसकी उपाधि 'पगु' थी, ये दोनो वातें दोनो प्रवधग्रथो में मिलती है। पहले प्रवध मे उपाधि नही दी हुई है

---

[1] पुरातन प्रवध सग्रह, सपा० जिनविजय जी, सिंघी जैन ग्रथमाला, २, कलकत्ता, १९३६, पृ० ८८-९०

[2] जिनविजय जी द्वारा सिंघी ग्रथमाला में प्रकाशित, शातिनिकेतन, १९३३, पृ० ११३-११४

[3] जिनविजयजी द्वारा सिंघी ग्रथ० में प्रका०, शातिनिकेतन, १९३५, पृ० ५४-५८

[4] एच० सी० राय—दि डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑव नार्दर्न इन्डिया, भाग १, पृ० ५४८, कलकत्ता, १९३१

यद्यपि अन्य अनेक वाते ममानरूप से पाई जाती हैं। रभामजरी मे तथा दोनो प्रवधो मे 'पगु' उपाधि की व्याख्या करीव-करीव एक ही ढग से की गई है। अत यह वात स्पष्ट हो जाती ह कि नयचद्र का नायक वही है, जिसका नाम प्रवधो में जैत्रचद्र दिया हुआ है। किन्तु नयचद्र ने 'कर्पूरमजरी' के ढग पर अपने सट्टक को सुन्दर वनाने के लिए उसके कथानक मे कुछ अन्य वातें जोड दी है। रभामजरी का नायक, जैसा हम ऊपर सकेत कर चुके है, राजा जयचद ही है, जिसे गहडवाल वश का अतिम शासक कह सकते है, जिसने वनारस को अपना प्रधान निवास-स्थान वनाया था और जिसे मुहम्मद गोरी (शिहाबउद्दीन) ने परास्त किया था। इस वात का पता नही चलता कि लाट का मदनवर्मन्[1] कौन था। सभव है कि नयचद्र ने किसी चदेल राजा का, जिसका नाम मदनवर्मन् था, यहाँ उल्लेख किया है। नयचद्र का यह कथन कि जैत्रचद्र ने मदनवर्मन् के राज्य पर अपना अधिकार जमाया, शायद प्रवधो के उस वर्णन के आधार पर है जिसमें जयचद को मदनवर्मन् के उत्तराधिकारी परर्मादि को परास्त करने वाला कहा गया है।

नयचद्र राजशेखर की कर्पूरमजरी (क० म०) का उल्लेख करता है और इस वात का दावा करता है कि उसकी रभामजरी (र० म०) एक प्रकार मे कर्पूरमजरी से भी श्रेष्ठतर है। र० म० मे अनेक वातो में क० म० का अनुकरण दिखाई पडता है। वसत का दृश्य, जिसका वर्णन राजा, रानी तथा चारण लोग करते हैं, विदूषक तथा दासी का हास्य-कलह, जिसमें विदूषक अपने को परपराधिगत विद्वान लगाता है, तथा प्रकृति-वर्णन जिसके द्वारा द्वारपाल राजा के विरह-खिन्न चित्त को वहलाने का प्रयत्न करता है—ये सब वातें हमको क० म० के तादृश दृश्यो की याद दिलाती है। कुछ भाव भी दोनो सट्टको मे एक मे हैं, केवल कही-कही थोडा अतर है। दोनो मे विदूषक एक विलक्षण स्वप्न देखता है। अशोक, वकुल, तथा कुरवक वृक्षो के वर्णन दोनो मे राजा के कामोद्वेग को वढाने के लिए किये गये है। दोनो ग्रथो में प्रेम-पत्रो की लेखन-प्रणाली भी एक जैसी है। यहाँ तक कि दोनो मे कई जगह एक से ही वाक्यो का प्रयोग मिलता है (मिलाइये क० म० २, ११, और र० म० १, ४०, क० म० १, ३२-३४, तथा र० म० १, ४६)।

क० म० मे कथानक वहुत सक्षिप्त है, परन्तु र० म० मे तो नही सरीखा ही है। नयचद्र के प्राकृत छदो मे वह प्रवाह नही है, जो राजशेखर के छदो में है। सस्कृत भाषा पर नयचद्र का अच्छा अधिकार है और उनके सस्कृत के कुछ सुन्दर छद (३, ३-४) वास्तव मे उनकी काव्य-कुशलता को सूचित करते हैं। नाटक की दृष्टि मे र० म० को सफल नही कहा जा सकता। एक सभ्य-दर्शक-समुदाय के सामने रगमच पर किसी राजा के द्वारा अपनी दो रानियो के सहित एक के वाद दूसरी के साथ काम-क्रीडा का दृश्य दिखाना कहाँ तक सगत हो सकता है! प्रेमोल्लास के कथनो में गभीरता और सयम का विचार नही रक्खा गया। ये कथन सकेतमात्र होने की अपेक्षा भावो का खुल्लमखुल्ला प्रदर्शन करने वाले हैं। यह देख कर आश्चर्य होता है कि कही-कही नाट्यकार पात्रो के द्वारा कथनोपकथन आदि न करा कर रगमच के वाहर उन पात्रो के चरित्र की विवेचना करने लगता है (२, १८-२०, ३, ७, २१)।

पूना की हस्तलिखित प्रति में शायद और उमी के आधार पर रभामजरी की छपी हुई प्रति में उसे नाटिका लिखा गया है (समाप्ता रम्भामजरी नाम नाटिका)। नयचद्र ने र० म० को सट्ट या सट्टक कहा है (१, १९)। तीन यवनिकान्तरो में नाटक समाप्त हो जाता है, किन्तु राजा की यह महत्त्वाकाक्षा कि वह चक्रवर्ती सम्राट् होगा अत मे पूर्ण नही मिलती, यद्यपि पहले यवनिकान्तर में राजा और रभा का परिणय तथा दूसरे और तीसरे मे दोनो की प्रेम-क्रीडाओ का वर्णन पूर्ण मिलता है। अत या तो नाटक अधूरा रह गया है या नाटककार ने प्रारभ में सूत्रधार के मुख से कहलाये हुए इस कथन को कि राजा चक्रवर्ती होगा, यो ही छोड दिया है। नाटक का तीन यवनिकान्तरो के वाद एक दम से ठप हो जाना तथा भरत-वाक्य का न होना भी इसी वात को सूचित करते हैं कि नाटक अधूरा रह गया है।

---

[1] यह नाम 'विद्धशालभजिका' में प्रयुक्त लाट के राजा चद्रवर्मन की याद दिलाता है।

प्राकृत और संस्कृत पंचसंग्रह तथा उनका आधार

श्री हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री

वर्तमान जैन साहित्य मे 'पचसग्रह' नाम के तीन ग्रन्थ उपलब्ध है, जिनमें दो दिगम्बर ग्रथ है और एक श्वेताम्बर। श्वेताम्बर पचसग्रह चन्द्रर्षि महत्तर ने पूर्वाचार्यो द्वारा रचे गये शतक, सप्ततिका, कषायप्राभृत, सत्कर्मप्राभृत और कर्म-प्रकृति नामक पाँच ग्रन्थो के आधार पर प्राकृत गाथाओ मे रचा है और उसकी एक सस्कृत टीका भी स्वय रची है, जो कि मुक्तावाई ज्ञानमदिर डभोइ (गुजरात) से प्रकाशित हो चुकी है। दोनो दिगम्बर पचसग्रहो मे से सस्कृत पच-सग्रह अमितगति आचार्यकृत है और 'माणिकचद ग्रन्थमाला' मे प्रकाशित हो चुका है। प्राकृत पचसग्रह किसी अज्ञात आचार्य की रचना है और यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इन दोनो दिगम्बर पचसग्रहो के मिलान करने पर यह वात स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है कि प्राकृत पचसग्रह को सामने रखकर ही आचार्य अमितगति ने सस्कृत पचसग्रह की रचना की है। दोनो ही पचसग्रहो मे १ जीवसमास, २ प्रकृतिसमुत्कीर्तन, ३ कर्मवन्धस्तव, ४ शतक और ५ सप्ततिका नाम के पाँच प्रकरण है। प्रथम के तीन प्रकरणो मे अपने नामो के अनुरूप विषयो की चर्चा की गई है। चौथे और पाँचवें प्रकरणो के नाम दोनो ही पचसग्रहकारो ने किस दृष्टि से रखे है, यह वात सहसा ज्ञात नही होती—विशेषकर उस दशा में जव कि दोनो ही पचसग्रहो में उक्त प्रकरणो की पद्यसख्या क्रमश ३७५, ५१८ और ४५०, ५०२ है। आगे चल कर उनके नामकरण पर विशेष प्रकाश डाला जायगा।

(१) संस्कृत पंचसंग्रह का आधार क्या है?

सर्वप्रथम यहाँ कुछ ऐसे अवतरण दिये जाते है, जिनसे दोनो दिगम्बर पचसग्रहो का आधाराधेयपना निर्विवाद माना जा सके।

दिगम्बर प्राकृत और सस्कृत पंचसग्रह की तुलना

प्रथम जीव-समास प्रकरण में से—

१

छद्दव्व णव पयत्थे दव्वाइ चउव्विहेण जाणते।
वदित्ता अरहते जीवस्स परूवण वोच्छ ॥१॥ प्राकृतपचस०
ये षट् द्रव्याणि वुध्यन्ते द्रव्यक्षेत्रादिभेदत।
जिनेशास्तास्त्रिधा नत्वा करिष्ये जीवरूपणम् ॥३॥ सस्कृतपचस०

२

सिक्खा किरिओवएसा आलावगाही मणोवलवेण।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीओ असण्णी य ॥१७३॥ प्राकृतपच०
शिक्षालापोपदेशाना ग्राहको य समानस।
स सज्ञी कथितोऽसज्ञी हेयादेयाविवेचक ॥३१६॥ सस्कृतपच०

द्वितीय प्रकृति समुत्कीर्तन प्रकरण में से—

१

पयडिविवघणमुक्क पयडिसरूव विसेसदेसयर ।
पणविय वीरजिणिद पयडिसमुक्कित्तण वुच्छ ॥१॥प्राकृतपद्य०

यो ज्ञात्वा प्रकृतीर्देवो दग्धवान् ध्यानवह्निना ।
त प्रणम्य महावीर क्रियते प्रकृतिस्तव· ॥१॥सस्कृतपद्य०

२

साइयरं वेदा वि य हस्सादि चउक्क पच जाईम्रो ।
सठाण सघडण छ छक्क चउक्क ग्राणुपुव्वी य ॥११॥

गइचउ दो य सरीर गोय च य दोण्णि अगवगा य ।
दह जुयलाणि तसाई गयणगइदुग विसिट्ठपरिवत्ता ॥१२॥ प्राकृतपद्य०

द्वे वेद्ये गतयो हास्यचतुष्क द्वे नभोगती ।
षट्के सस्थान—सहत्योर्गोत्रे वैक्रियिकद्वयम् ॥४५॥

चतुष्कमानुपूर्वीणा दश युग्मानि जातय ।
ग्रौदारिकद्वय वेदा एता· सपरिवृत्तय ॥४६॥ सस्कृतपद्य०

तृतीय कर्मबन्धस्तव प्रकरण में से—

१

कचणरूप्पदव्वाण एयत्त जेम ग्रणुपवेसो त्ति ।
ग्रण्णोण्णपवेसाण तह वध जीवकम्माण ॥२॥ प्राकृतपद्य०

परस्परप्रदेशाना प्रवेशो जीवकर्मणो· ।
एकत्वकारको बंधो रुक्म-काचनयोरिव ॥६॥ सस्कृतपद्य०

२

छिज्जइ पढम बधो किं उदग्रो किंच दो वि जुगव किं ।
किं सोदएण वधो किं वा ग्रण्णोदएण उभएण ॥६६॥

सातरणिरतरो वा किं वा वधो हवेज्ज उभय वा ।
एव णवविहपण्ह कमसो वोच्छामि एय तु ॥६७॥ प्राकृतपद्य०

किं प्राक् विच्छिद्यते वन्धः किं पाक. किमुभौ समम् ।
किं स्वपाकेन वधोऽन्यपाकेनोभययापि किम् ॥७८॥

सान्तरोऽनंतर किं किं वंधो द्वेधा प्रवर्तते ।
इत्येव नवधा प्रश्नक्रमेणास्त्येतदुत्तरम् ॥७९॥ सस्कृतपद्य०

चतुर्थ शतक प्रकरण मे से—

१

सुणह इह जीवगुणसण्णिएसु ठाणेसु सारजुत्ताओ ।
वोच्छ कदिवइयाओ गाहाओ दिट्ठिवादाओ ॥३॥ प्राकृतपच०
दृष्टिवादादपोद्धृत्य वक्ष्यन्ते सारयोगिन. ।
श्लोका जीवगुणस्थानगोचरा कतिचिन्मया ॥२॥ सस्कृतपच०

२

तिरियगईए चोद्दस हवति सेसासु जाण दो दो दु ।
मग्गणठाणस्सेव णेयाणि समासठाणाणि ॥६॥ प्राकृतपच०
तिर्यग्गतावशेषाणि द्वे सज्ञिस्थे गतित्रये ।
जीवस्थानानि नेयानि सन्त्येव मार्गणास्वपि ॥५॥ सस्कृतपच०

३

उम्मग्गदेसओ सम्मग्गणासओ गूढहिययमाइल्लो ।
सढसीलो य ससल्लो तिरियाउ णिवधए जीवो ॥२०७॥ प्राकृतपच०
उन्मार्गदेशको मायी सशल्यो मार्गदूषक ।
आयुर्र्जति तैरश्च शठो मूढो दुराशय ॥७८॥ सस्कृतपच०

४

पयडी एत्थ सहावो तस्स अणासो ठिदी होज्ज ।
तस्स य रसोऽणुभाओ एत्तियमेत्तो पदेसो दु ॥५१०॥ प्राकृतपच०
स्वभाव प्रकृतिर्ज्ञेया स्वभावादच्युति स्थिति ।
अनुभागो रसस्तासा प्रदेशोंऽशावधारणम् ॥३६६॥ सस्कृतपच०

५

एसो वधसमासो पिंडक्खेवेण वण्णिओ किं चि ।
कम्मप्पवादसुयसायरस्स णिस्सदमेत्तो दु ॥५१६॥
वधविहाणसमासो रइओ अप्पसुयमदमदिणा हु ।
तं वध-मोक्खकुसला पूरेदूण परिकहेतु ॥५१७॥ प्राकृतपच०
कर्मप्रवादाम्बुधिबिन्दुकल्पश्चतुर्विधो वधविधि स्वशक्त्या ।
सक्षेपतो य कथितो मयाऽसौ विस्तारणीयो महनीयबोधै ॥३७३॥ सस्कृतपच०

पचम सप्ततिका प्रकरण मे से—

१

णमिऊण जिणिदाण वरकेवललद्धिसुक्खपत्ताण ।
वोच्छ सत्तरिभग उवइट्ठ वीरणाहेण ॥१॥

सिद्धपदेहिं महत्थ बधोदयसतपयडिठाणाणि ।
वोच्छ सुण सखेवेण णिस्सद दिट्ठिवादावो ॥२॥ प्राकृतपच०

नत्वाऽहमर्हतो भक्त्या घातिकल्मषघातिन ।
स्वशक्त्या सप्तर्ति वक्ष्ये बधभेदाववुद्धये ॥१॥
बन्धोदयसत्त्वाना सिद्धपदैर्दृष्टिवादपाथोधे ।
स्थानानि प्रकृतीनामुद्धृत्य समासतो वक्ष्ये ॥२॥ संस्कृतपंच०

२

इगिवीस पणुवीस सत्तावीसट्ठवीसमुगुतीस ।
एए उदयट्ठाणा देवगइसजुया पच ॥१८१॥
२१।२५।२७।२८।२९। प्राकृतपच०

अस्त्येकपचसप्ताष्टनवाग्रा विंशति· क्रमात् ।
नाम्नो दिवौकसा रीतावुदये स्यानपचकम् ॥२०९॥
२१।२५।२७।२८।२९। सस्कृतपच०

३

अह सुठिय सयलजयसिहर अरयणिरुवमसहावसिद्धिसुख ।
अणिहमव्वाबाह तिरयणसार अणुहवति ॥५००॥ प्राकृतपच०

रत्नत्रयफल प्राप्ता निर्बाध कर्मवर्जिताः ।
निर्विशति सुख सिद्धास्त्रिलोकशिखरस्थिता· ॥४७७॥ सस्कृतपच०

उपरिलिखित अवतरणो से यह बात तो पूर्ण रूप से निश्चित हो जाती है कि अमितगति के पचसग्रह का आधार प्राकृत पचसग्रह है । यद्यपि यहाँ यह आशका की जा सकती है कि सभव है कि सस्कृत पचसग्रह को सामने रखकर प्राकृत पचसग्रह की रचना की गई हो, तथापि इसके विरुद्ध कितने ही प्रमाण है, जिनमे प्राकृत पचसग्रह ही पूर्वकालीन सिद्ध होता है । उनमें से सबसे बडा प्रमाण धवला टीका मे इस ग्रथ की गाथाओ का 'उक्त च' के रूप मे पाया जाता है । इतना ही नही, एक स्थल[1] पर तो धवलाकार ने 'तह जीवसमासए वि उत्त' कह कर 'छप्पचणव विहाण' इत्यादि गाथा उद्धृत की है, जो कि स्पष्टत अपनी अन्य गाथाओ के समान प्राकृत पचसग्रह के जीवसमासनामक प्रथम प्रकरण की १५९वी गाथा है ।

(२) शतक और सप्ततिका नाम क्यों ?

सस्कृत पचसग्रह की रचना प्राकृत पंचसग्रह के आधार पर हुई है, इतना स्पष्टत ज्ञात हो जाने पर भी यह सन्देह तो अवशिष्ट रह ही जाता है कि पचसग्रह के चौथे प्रकरण का नाम शतक और पाँचवे का नाम सप्ततिका क्यो रक्खा गया? भारतीयसाहित्य मे पद्यसख्या के आधार पर ग्रन्थ के नाम रखने की प्राचीन परिपाटी अवश्य रही है मगर पचसग्रह के इन दोनो ही प्रकरणो की पद्यसख्या इतनी अधिक है कि सहसा वैसी कल्पना करने का विचार मन मे नही उठता ।

[1] देखो षट्खडागम, पुस्तक ४, पृष्ठ ३१५, उक्त पृष्ठ पर 'जीवसमासाए' पाठ अशुद्ध छपा है, 'जीवसमासए' पाठ ही वहा होना चाहिए ।—लेखक

पर प्राकृत पचसग्रह का गभीरता के साथ सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर कुछ गाथाएँ ऐसी अवश्य प्रतीत हुई, जो अर्थ का पिष्ट-पेषण या सामान्यत निरूपित वस्तु का विशेष निरूपण करने वाली थी। इन दोनो कारणो से हमने यह कल्पना की है कि सभव है कि इन दोनो प्रकरणो की मूल गाथाएँ क्रमश १०० और ७० रही हो, और इसी कारण उन प्रकरणो के क्रमश 'शतक' और 'सप्ततिका' नाम पडे हो। इस कल्पना को सामने रखकर जब हमने श्वेताम्बर सस्थाओ से मुद्रित 'सतक' और 'सत्तरी' नामके दो प्रकरणो से मिलान किया तो इस बात मे कोई सन्देह नही रह गया कि उक्त प्रकरणो की क्रमश १०० और ७० गाथाओ को आधार बनाकर रचे गये होने के कारण ही पचसग्रहकार ने कृतज्ञता प्रकाशनार्थ उन दोनो प्रकरणो के वे ही नाम रख दिये हैं।

यहाँ उक्त दोनो प्रकरणो मे से कुछ अवतरण दिये जाते हैं, जिनसे उक्त कल्पना असदिग्ध सिद्ध होती है। प्राकृत पचसग्रहकार ने उक्त दोनो प्रकरणो को ज्यो-का-त्यो अपना लिया है और दोनो ही प्रकरणो की समस्त गाथाओ पर भाष्यगाथाएँ रची हैं, जिसका विशद ज्ञान तो मूलग्रन्थ के प्रकाश मे आने पर ही हो सकेगा। यहाँ 'शतक' और 'सप्ततिका' प्रकरण की गाथाओ को **मूलगाथा** और पचसग्रहकार द्वारा रचित गाथाओ को **भाष्यगाथा** नाम देकर उल्लेख किया जाता है —

१ शतक प्रकरण मे से—

१

मूलगाथा—एयारसेसु ति त्ति य दोसु चउक्क च बारमेक्कम्मि।
जीवसमासस्सेदे उवओगविही मुणेयव्वा ॥२०॥

इस गाथा का पचसग्रह के इस प्रकरण मे २०वाँ स्थान है और शतक प्रकरण में ६वाँ। इसके अर्थ-स्पष्टीकरण के लिए प्राकृत पचसग्रहकार ने १९ भाष्यगाथाएँ रची है, जिनमे से प्रारम्भिक दो गाथाएँ यहाँ दी जाती है —

भाष्यगाथा—मइसुअ अण्णाणाइ अचक्खु एयारसेसु तिण्णेव।
चक्खूसहिया तेच्चिय चउरक्खे असण्णिपज्जत्ते ॥२१॥
मइ सुय ओहिदुगाइ सण्णि अपज्जत्तएसु उवओगा।
सव्वे वि सण्णिपुण्णे उवओगा जीवठाणेसु ॥२२॥

विषय के जानकार पाठक जान सकेंगे कि इन दो गाथाओ में मूलगाथा के 'एयारसेसु तित्तिय दोसु चउक्क च' इतने अश का ही अर्थ व्याख्यात हुआ है।

२

मूलगाथा—अविरय-अता दसय विरयाविरयतिया दु चत्तारि।
छच्चेव पमत्तता एया पुण अप्पमत्तता ॥३०९॥

भाष्यगाथा—विदियकसायचउक्क मणुयाऊ मणुयदुग य उराल।
तस्स य अगोवग सघयणाई अविरयस्स ॥३१०॥
तइयकसायचउक्क विरयाविरयम्मि बधवोच्छिण्णो।
साइयरमरइ सोय तह चेव य अथिरमसुह च ॥३११॥
अज्जसकित्ती य तहा पमत्तविरयम्हि बधवोच्छेदो।
देवाउय च एय पमत्त-इयरम्हि णायव्वो ॥३१२॥

इन तीन भाष्यगाथाओ मे से प्रथम भाष्यगाथा द्वारा मूलगाथा के प्रथम चरण का, दूसरी गाथा के पूर्वार्ध से द्वितीय चरण का, और उत्तरार्ध तथा तीसरी गाथा के पूर्वार्ध से तीसरे चरण का, तथा तीसरी गाथा के ही उत्तरार्द्ध से मूल गाथा के चौथे चरण का अर्थ-व्याख्यान किया गया है। इस प्रकार एक मूल गाथा का तीन भाष्यगाथाओ से अर्थ स्पष्ट किया गया है। इस तरह उक्त गाथाओ में मूल गाथाओ और भाष्यगाथाओ का भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है।

२ सत्तरी प्रकरण में से—

१

मूलगाथा—बावीसमेक्कवीस सत्तारस तेरसेव णव पच।
चउ तिय दुय च एय बधट्ठाणाणि मोहस्स ॥२५॥

भाष्यगाथा—मिच्छम्मि य बावीसा मिच्छा सोलह कसाय वेदो य।
हस्सा जुयलेक्कणिदा भएण विदिए दु मिच्छसदूणा ॥२६॥
पढमचउक्केणित्थीरहिया मिस्से अविरयसम्मे य।
विदिएणूणा देसे छट्ठे तइऊण सत्तमट्ठे य ॥२७॥
अरइ-सोएणूणा परम्मि पुवेय-सजलणा।
एगेगूणा एव दह ट्ठाणा मोहबधम्मि ॥२८॥

२

मूलगाथा—अट्ठसु पचसु एगे एय दुय दस य मोहबधगये।
तिय चउ णव उदयगदे तिय तिय पण्णरस सतम्मि ॥२६२॥

भाष्यगाथा—सत्त अपज्जत्तेसु य पज्जत्ते सुहुम तह य अट्ठसु य।
बावीस बधोदय सता पुण तिण्णि पढमिल्ला ॥२६३॥
पचसु पज्जत्तेसु पज्जत्तयसण्णिणामग वज्ज।
हेट्ठिम दो चउ तिण्णि य बधोदयसतठाणाणि ॥२६४॥
दस णव पण्णरसाई बधोदयसतपयडिठाणाणि।
सण्णिपज्जत्तयाण सपुण्णा हुत्ति बोहव्वा ॥२६५॥

विषय से परिचित पाठक भलीभाति जान सकेंगे कि एक-एक मूलगाथा के अर्थ को किस प्रकार तीन-तीन भाष्यगाथाओ द्वारा स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार यह मानने में कोई भी सदेह नही रह जाता है कि प्राकृत पचसग्रहकार ने मूल प्रकरणो के नाम को अक्षुण्ण रखने के लिए ही वही के वही नाम दे दिये है और ये दोनो प्रकरण-ग्रन्थ ही पचसग्रह के चौथे-पाँचवें सग्रह के आधार है।

(३) शेष अधिकारों के आधारों की छान-बीन

प्राकृत पचसग्रह के प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक द्वितीय प्रकरण का आधार स्पष्टत षट्खडागम की प्रकृति-समुत्कीर्तन नाम की चूलिका है, जो कि मुद्रित षट्खडागम के छठवें भाग में सन्निहित है। इस चूलिका के समस्त

सूत्रो को यहाँ ज्यो-का-त्यो उठाकर रख दिया गया है। केवल जहाँ-कही कहने मात्र को 'ज' या 'त' मे से कोई एक शब्द को छोड दिया गया है। इस विषय मे यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिन्हें इसमे लेशमात्र भी सदेह हो, वे मूल से मिलान करके देख सकते हैं।

प्राकृत पचसग्रह के प्रथम जीवसमास और तृतीय कर्मप्रकृतिस्तव नामक प्रकरणो का आधार क्या है, यह अभी तक स्पष्टत ज्ञात नही हो सका। सभव है कि ये दोनो प्रकरण प्राकृत पचसग्रह के कर्ता ने स्वतत्र ही रचे हो और यह भी सभव हो सकता है कि इन दोनो प्रकरणो की बहुत सी गाथाएँ आचार्य-परपरा से चली आ रही हो और प्राकृतपच-सग्रहकार ने उन्हे सुव्यवस्थित रूप से इस ग्रन्थ मे निबद्ध या सग्रह कर दिया हो, क्योकि 'पच सग्रह' इस नाम से उक्त बात की ध्वनि निकलती है। फिर भी इतना तो निर्विवाद कहा ही जा सकता है कि 'बधस्वामित्व' और 'बधविधान' ये दोनो खड षट्खडागम में आज भी उपलब्ध हैं और बहुत सभव है कि पचसग्रहकार ने इन दोनो के आधार पर इन दोनो प्रकरणो की स्वतत्र पद्य-रचना की हो। इन दोनो प्रकरणो का सीधा सबध किस-किस ग्रथ से रहा है, यह बात अद्यापि अन्वेषणीय ही है।

(४) प्राकृत पंचसंग्रह का कर्त्ता कौन ?

प्रस्तुत ग्रन्थ के आधार-सबधी इतनी छानबीन कर चुकने के बाद अब प्रश्न उठता है कि प्राकृत पचसग्रह का रचयिता या सग्रहकार कौन है ?

पर्याप्त अन्वेषण करने के बाद भी अभी तक उक्त ग्रन्थ के रचयिता के विषय में कुछ भी निर्णय नही किया जा सका, हालाकि दो-एक आचार्यों के अनुमान के लिए कुछ प्रमाण अवश्य मिले हैं, पर जब तक इस विषय के काफी स्पष्ट और पुष्ट प्रमाण नही मिल जाते तब तक उनके नाम का उल्लेख करना उचित नही।

(५) प्राकृत पंचसंग्रह का निर्माण-काल

यद्यपि जब तक ग्रन्थकार के नाम का निर्णय नही हो जाता है तब तक उसके रचना-काल का निर्णय करना भी कठिन कार्य ही है, तथापि एक बात तो सुनिश्चित ही है कि यह ग्रन्थ मूल 'शतक' प्रकरण के पीछे रचा गया है। मूल 'शतक' प्रकरण के रचयिता आचार्य **'शिवशर्म'** हैं, जैसा कि इस ग्रन्थ की चूर्णि बनानेवाले अज्ञात नामधेय आचार्य ने अपनी चूर्णि का प्रारभ करते हुए लिखा है—

'केण कय सतग पगरण ति ? सद्द-तर्क-न्यायप्रकरण-कर्मप्रकृतिसिद्धान्तविजाणएण अणेगवायसमालद्ध-विजएण शिवसम्मायरियणामधेज्जेण कय ति। किं परिमाण ? गाहापरिमाणेण सयमेत्त।'

आचार्य शिवशर्म का समय यद्यपि अद्यावधि सुनिश्चित नही हो सका है, तथापि विद्वानो ने विक्रम की पाँचवी शताब्दी मे होने का अनुमान किया है। इसलिए शिवशर्म आचार्य के पश्चात् और धवला टीका के कर्ता आचार्य वीरसेन के पूर्व किसी मध्यवर्ती काल मे प्राकृतपचसग्रह का निर्माण हुआ है, इतना अवश्य सुनिश्चित हो जाता है। धवला टीका की समाप्ति का काल शक स० ७३८ है।

चौरासी, (मथुरा)]
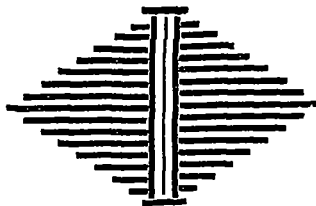
आचार्य श्री हरिभद्र सूरि और उनकी समरमयङ्का कहा

मुनि पुण्यविजय

जो इच्छइ भवविरह, भवविरह को न वधए सुयणो ।
समयसयसत्थकुसलो, समरमियङ्का कहा जस्स ॥

दाक्षिण्याङ्क आचार्य श्री उद्योतनसूरि महाराज ने अपनी प्राकृत कुवलयमाला कथा के प्रारम्भिक प्रस्तावना-ग्रन्थ में अनेक प्राचीन मान्य आचार्य और उनकी कृतियो का स्मरण किया है और इस प्रसग मे उन्होने आचार्य श्री हरिभद्रसूरि, (जिनको, विरह अक होने से विरहाक आचार्य माना जाता है) और उनकी समरमयङ्का कहा का भी स्मरण किया है। यही उल्लेख मैंने इस लेख के प्रारम्भ मे दिया।

इस उल्लेख को देखते हुए पता चलता है कि आचार्य श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने समरमयङ्का कहा नाम का कोई कथाग्रन्थ बनाया था। आचार्य श्री हरिभद्रसूरि की कृतिरूप प्राकृत कथाग्रन्थ समराइच्च कहा मिलता है, परन्तु समरमयङ्का कहा ग्रन्थ तो आज तक कही देखने या सुनने में नही आया है। अत यह गन्थ वास्तव मे कौन ग्रन्थ है, इस विषय की परीक्षा इस अतिलघु लेख मे करना है।

मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि आचार्य श्री उद्योतनसूरि जी ने समराइच्च कहा को ही समरमयङ्का कहा नाम से उल्लिखित किया है। प्रश्न यह उपस्थित होगा कि—समराइच्चकहा इस नाम मे समर+आइच्च शब्द है तब समरमियका नाम में समर+मियका शब्द है। आइच्च का अर्थ सूर्य है तब मियक—(स० मृगाङ्क) का अर्थ प्रचलित परिभाषा के रूप मे चन्द्र होता है। अत समराइच्च और समरमियक ये दो नाम एक रूप कैसे हो सकते हैं? और इसी प्रकार समराइच्चकहा एव समरमियका कहा ये दो ग्रन्थ एक कैसे हो सकेंगे? इस विवादास्पद प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—

जैन प्रतिष्ठाविधि के ग्रन्थो को देखने से पता चलता है कि एक जमाने मे चन्द्र की तरह आदित्य—सूर्य को भी शशाक, मृगाक आदि नाम से पहचानते थे। जैन प्रतिष्ठाविधान आदि के प्रसग मे नव ग्रहो का पूजन किया जाता है। इसमें नव ग्रहो के नाम से अलग-अलग मन्त्रोच्चार होता है। इन मन्त्रो में सूर्य का मन्त्र आता है वह इस प्रकार है—

"ॐ ह्रीँ शशाङ्क सूर्याय सहस्रकिरणाय नमो नम स्वाहा।"

इस प्राचीनतम मन्त्र मे सूर्य या आदित्य को 'शशाङ्क' विशेषण दिया गया है। इससे पता चलता है कि एक जमाने मे चन्द्र की तरह सूर्य को भी शशाङ्क, मृगाङ्क आदि नाम से पहचानते थे। अधिक सम्भव है कि इसी परिपाटी का अनुसरण करके ही आचार्य श्री उद्योतनसूरि ने अपने कुवलयमाला कहा ग्रन्थ की प्रस्तावना में समराइच्च कहा ग्रन्थ को ही समरमयङ्का कहा नाम से उल्लिखित किया है।

इस प्रकार मुझे पूर्ण विश्वास है कि समराइच्च कहा और समरमयङ्का कहा ये दोनो एक ही ग्रन्थ के नाम हैं।

अहमदाबाद]

'भगवती आराधना' के कर्त्ता शिवार्य

श्री ज्योतिप्रसाद जैन एम० ए०, एल-एल० बी०

आराधना, मूलाराधना अथवा भगवती आराधना नामक ग्रन्थ मुनियो के आचार का एक प्रसिद्ध लब्धप्रतिष्ठ प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ है। इसके मूल रचयिता आचार्य शिवार्य थे। अनेक प्राकृत एव सस्कृत टीकाएँ इस ग्रन्थ पर रची गई, जिनमे से कितनी ही आज भी उपलब्ध है। अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित 'भगवती आराधना' की श्रद्धेय प० नाथूराम जी प्रेमी कृत भूमिका तथा प्रेमी जी के तत्सम्बन्धी अन्य लेखो तथा 'आराधना और उसकी टीकाएँ',[1] 'यापनीय साहित्य की खोज'[2] इत्यादि मे उक्त ग्रन्थ के अन्त करण, उसकी विभिन्न टीकाओ एव टीकाकारो के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो जाती है, किन्तु मूल लेखक के विषय मे, जितना कि वे अपने ग्रन्थ में स्वय प्रकट करते है, उससे अधिक विशेष ज्ञान नही होता।

ग्रन्थ के अन्त में २१६१ से २१६६ पर्यन्त गाथाओ मे ग्रन्थकार आचार्य ने अपना जो निजी परिचय दिया है, वह इस प्रकार है—"आर्यजिननन्दिगणि, आर्यसर्वगुप्तगणि, आर्यमित्रनन्दिगणि के चरणो के निकट जल सूत्रो और और उनके अर्थ को अच्छी तरह समझ कर पूर्वाचार्यो द्वारा निबद्ध की हुई रचना के आधार से पाणितलभोजी शिवार्य ने यह आराधना स्वशक्त्यनुसार रची है। अपनी छद्मावस्था अथवा ज्ञान की अपूर्णता के कारण इसमे जो कुछ प्रवचन-विरुद्ध लिखा गया हो, उस पदार्थ को भली प्रकार समझने वाले प्रवचन वात्सल्य के भाव से शुद्ध करले। इस प्रकार भक्तिपूर्वक वर्णित भगवती आराधना सघ तथा शिवार्य को उत्तम समाधि प्रदान करे। इत्यादि।"

उपर्युक्त गाथाओ मे इतना ही स्पष्ट है कि 'भगवती आराधना' के कर्ता पाणितलभोजी—अत एक दिगम्बर जैनाचार्य—शिवार्य थे। उनके शिक्षागुरु आर्यजिननन्दिगणि, आर्यसर्वगुप्तगणि तथा आर्यमित्रनन्दिगणि थे। इनके दीक्षागुरु इन्ही तीन आचार्यो में से कोई एक थे अथवा अन्य कोई आचार्य थे, यह निश्चित नही है। ग्रन्थ का आधार तद्विषयक मूलसूत्र एव पूर्वाचार्यो द्वारा निबद्ध कतिपय रचनाएँ थी।

ग्रन्थ की अनेक प्राकृत-सस्कृत टीकाओ मे अपराजितसूरि कृत 'विजयोदया', दूसरी अमित गत्याचार्य कृत (११वी शताब्दी) तथा तीसरी प० आशाधर जी कृत (१३वी शताब्दी) विशेष प्रसिद्ध है। इनमें से अपराजित सूरि की विजयोदया टीका सबसे प्राचीन है। श्रद्धेय प्रेमी जी के अनुमानानुसार वह आठवी शताब्दी विक्रम के पूर्व की ही है, किन्तु अपराजितसूरिके सम्मुख भी इस ग्रन्थकी अन्य प्राकृत-सस्कृत टीकाएँ मौजूद थी और प्राकृत टीकाओ का समय छठी शताब्दी के लगभग समाप्त हो जाता है। अत ग्रन्थ की सर्व प्राचीन प्राकृत टीका कम-से-कम छठी शताब्दी की अवश्य रही होगी और इस प्रकार मूल ग्रन्थ का रचना काल भी ईस्वी सन् पाँचवी, छठी शताब्दी के पूर्व का ही होना चाहिए।

वास्तव में कुछ प्रमाण इस ओर सकेत करते है कि यह रचना सम्भवत ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी की होनी चाहिए।

यह ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय मे प्रारम्भ से ही बहुमान्य रहा है और इसकी प्राय सब उपलब्ध टीकाएँ दिगम्बराचार्यो द्वारा ही रची हुई है। लेखक का 'पाणितलभोजी' विशेषण भी उनका श्वेताम्बर साधु न होकर दिगम्बर मुनि होना ही सूचित करता है, परन्तु प्रचलित दिगम्बर मान्यताओ के कुछ विरोधी विचार भी उसमे

---

[1] जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २३ तथा अनेकान्त वर्ष १, पृ० १४५, २०६

[2] अनेकान्त वर्ष ३, पृ० ५६

मिलते है। वास्तव मे शिवार्य की विचारधारा न श्वेताम्बर ही थी और न पूर्णत दिगम्बर ही, वरन् वह एक तीसरे ही जैन-सम्प्रदाय—'यापनीय सघ'–की ही मान्यताओ के अनुकूल एव अधिक निकट प्रतीत होती है। पूज्य प्रेमी जी ने यह भलीभति सिद्ध कर दिया है कि 'आराधना' के प्रसिद्ध प्राचीन टीकाकार अपराजितसूरि यापनीय ही थे और सातवी शताब्दी ई० के वैयाकरण शाकटायन भी, जिन्होने शिवार्य के गुरु सर्वगुप्तका ससम्मान उल्लेख किया है, यापनीय थे।[1] ऐसी दशा में शिवार्य का स्वय का भी यापनीय सघ से सम्बन्ध होना कोई आश्चर्य की वात नही।

देवसेनाचार्य कृत 'दर्शनसार' के अनुसार यापनीय सघ की स्थापना विक्रम सवत् १४८ (सन् ९१ ई०) में श्री कलश नामक आचार्य ने की थी। इसके दस-ग्यारह वर्ष पूर्व सन् ७९ अथवा ८१ ई० मे, दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायो की अनुश्रुति के अनुसार, उक्त दोनो सम्प्रदायो के वीच का भेद पुष्ट हो चुका था और उनकी एक दूसरे से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हो चुकी थी। यापनीय सघ के प्राथमिक आचार्य इन दोनो ही सम्प्रदायो मे मान्य थे। अत इसमे कोई सन्देह नही रह जाता कि ईस्वी पूर्व की अन्तिम शताब्दियो मे, जहाँ एक ओर दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद चल रहे थे, वहाँ दूसरी ओर एक स्वतन्त्र विचारधारा इन दोनो के समन्वय में प्रयत्नशील थी, किन्तु जब प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में वह मतभेद स्थायी रूप से प्रकट हो गया और इस प्रकार समन्वय का प्रयत्न विफल हो गया तो वह तीसरी विचारधारा भी एक स्वतन्त्र आम्नाय के रूप में परिणत हो गई।

भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य, समन्वय मे प्रयत्नशील इस तीसरी विचारधारा के ही प्रतीक थे, किन्तु उनकी रचना में यद्यपि यापनीय सघ की मान्यताओ के वीज मौजूद है, फिर भी वह स्वय उक्त सघ की वि० स० १४८ में स्थापना के पूर्व ही हो गये प्रतीत होते है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आराधना मे ईस्वी सन् के प्रारम्भ के पश्चात् होने वाले किसी आचार्य का कोई उल्लेख नही है, किन्तु उसमें ग्रन्थकर्ता ने अपने उपरिवर्णित तीन गुरुओ के अतिरिक्त भद्रवाहु आचार्य का स्मरण किया है,[2] और इन भद्रवाहु के 'घोर अवमौदर्य से सक्लेश रहित उत्तम पद प्राप्ति' का ऐसा वर्णन है, जो शिवार्य और भद्रवाहु की सामयिक निकटता को सूचित करता प्रतीत होता है।

यह भद्रवाहु चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व मे होने वाले भद्रवाहु (प्रथम) श्रुतकेवलि तो हो ही नही सकते, क्योकि उनके सम्बन्ध मे ऐसी कोई वात उनके विषय में रचे गये चारित्र ग्रन्थो, अन्य साहित्य, उल्लेखो, शिलालेख आदि मे कही भी उपलब्ध नही होती। दूसरे चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व मे जैन ग्रन्थ-रचना के भी कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नही हुए है और इन भद्रवाहु के पश्चात् ही दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद का सर्वप्रथम वीजारोपण हुआ था। समन्वय का प्रयत्न इतना शीघ्र आरम्भ हुआ प्रतीत नही होता। दूसरे भद्रवाहु ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य मे हुए है। उनके पट्टकाल का प्रारम्भ वि० स० ४ (ई० पू० ५३) में हुआ था।[3] ये भगवान् महावीर के पश्चात् अङ्गपूर्वधारियो की परम्परा के अन्त के निकट हुए थे और स्वय आचाराङ्गधारी थे। अत ये ही वह भद्रवाहु थे, जिनका उल्लेख शिवार्य ने किया है।

साथ ही ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में होने वाले कुन्दकुन्दाचार्य ने एक शिवभूति[4] नामक आचार्य का तथा अन्यत्र एक शिवकुमार[5] नामक भावश्रमण का ससम्मान उल्लेख किया है। यह भी सम्भव है कि कुन्दकुन्दाचार्य के ये दोनो उल्लेख केवल पौराणिक उदाहरण ही हो, किन्तु इस (शिवभूति) नाम के एक आचार्य का कुन्दकुन्द के समकालीन होना और उनका दिगम्बर सम्प्रदाय (वोटिक सघ) से भी सम्बन्ध होना श्वेताम्बर ग्रन्थ मूलभाषा

---

[1] जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४०, ४१।

[2] भगवती आराधना गाथा १५४४। ओमोदारिए घोराए भद्दवाहूअसकिलिट्ठमदी।
घोराए विगिछाए पडिवण्णो उत्तम ठाण॥

[3] चक्रवर्ती—पञ्चास्तिकाय भूमिका।

[4] भावपाहुड—गाथा ५३। [5] भावपाहुड—गाथा ५१।

(गाथा १४८) तथा कल्प सूत्र स्थविरावली (गाथा २०) से भी सिद्ध होता है और प्रो० हीरालाल जी ने नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल न० ६ में प्रकाशित अपने 'शिवभूति और शिवार्य' शीर्षक लेख में भगवती आराधना के कर्ता शिवार्य तथा श्वेताम्वर ग्रन्थो मे उल्लिखित शिवभूति आचार्य को अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है। ८वी शताब्दी के जिनसेनाचार्य ने भगवती आराधना के कर्ता का शिवकोटि नाम से स्मरण किया है।

इन सब से यही निष्कर्ष निकलता है कि उक्त आचार्य का मूल नाम 'शिव' था, जिसके साथ भूति, कोटि, कुमार आदि शब्द उल्लेखकर्ताओ ने स्वरुचि अनुसार अथवा किसी भ्रमवश जोड दिये हैं और यह कि ये शिवार्य भद्रबाहु द्वितीय के पश्चात् तथा कुन्दकुन्दाचार्य से पूर्व, सन् ईस्वी के प्रारम्भ के लगभग हुए है।

ठीक इसी समय एक 'शिवदत्त' नामक आरातीय यति के होने का पता श्रुतावतार आदि ग्रन्थो से चलता है।[1] श्रुताङ्कधारियो की परम्परा भद्रबाहु (द्वितीय) तथा लोहाचार्य के साथ समाप्त हो जाती है। उसी समय तथा कुन्दकुन्दादि आचार्यों से पूर्व अर्हद्दत्त, विनयदत्त, श्रीदत्त तथा शिवदत्त—इन चार आरातीय यतियो का होना पाया जाता है। चौथी-पाँचवी शताब्दी के पूज्यपादाचार्य ने आरातीयो को सर्वज्ञ तीर्थङ्कर तथा श्रुतकेवलियो के समान ही प्रामाणिक वक्ता माना है[2] और उसी समय के कुछ पीछे लिखी गई आराधना की टीका विजयोदया के कर्ता अपराजित सूरि ने अपने गुरुओ तथा अपने आपको आरातीयसूरि चूडामणि कहा है।

इस प्रकार आराधना के कर्ता शिवार्य ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल के लगभग होने वाले आरातीय आचार्य शिवदत्त ही थे, इसमें विशेष सन्देह नही रह जाता।

शिवार्य ने अपने ग्रन्थ मे अपने गुरुओ—जिननन्दि, सर्वगुप्त, मित्रनन्दि—का जिस प्रकार 'आर्य' पहले तथा 'गणी' शब्द पीछे लगा कर उल्लेख किया है, वह बिलकुल वैसा ही है जैसा कि मथुरा के ककाली टीले से प्राप्त अव से दो हज़ार वर्ष पूर्व के अनेको जैन शिलालेखो में तत्कालीन विभिन्न जैनाचार्यों के नामो का हुआ है।[3] पीछे के जैन साहित्य अथवा अभिलेखो में इन शब्दो का इस प्रकार का आम प्रयोग नही मिलता।

दूसरे, शिवार्य के ग्रन्थ का आधार कथित 'मूलसूत्र' थे। यह मूलसूत्र, भगवान् महावीर से भद्रबाहु (द्वितीय) पर्यन्त चली आई श्रुत परम्परा मे आचाराङ्ग के अन्तर्गत विवक्षित-विषय-सवन्धी मूलसूत्र ही हो सकते है। शिवार्य के सम्मुख उक्त सूत्रो की अवस्थिति भी शिवार्य के उपरि निश्चित समय की ही पुष्टि करती है।

शिवार्य के सम्मुख उक्त सूत्रो के आधार से रची हुई कतिपय पूर्वाचार्यों कृत निवद्ध-रचनाएँ भी थी। पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व में ऐसी रचनाओ का होना कुछ असम्भव भी नही है। मथुरा ककाली टीले से ही एक खडितमूर्ति जैन सरस्वती की प्राप्त हुई है, जो लखनऊ के अजायवघर में सुरक्षित है।[4] यह सरस्वती की सबसे प्राचीन उपलब्ध मूर्ति है। डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल के मतानुसार जैनेतरो में सरस्वती की मूर्ति का निर्माण इसके बहुत पीछे प्रारम्भ हुआ। मूर्ति पर जो अभिलेख है उससे विदित होता है कि यह मूर्ति पहली शताब्दी ईस्वी पूर्व—क्षत्रप काल की है। इस मूर्ति के एक हाथ में डोरे से बँधी हुई एक ताडपत्रीय पुस्तक है, जो स्पष्ट सूचित करती है कि उस समय जैनो में पुस्तक रचना प्रारम्भ हो चुकी थी।

शिवार्य ने अपने गुरुत्रय के चरणो के निकट मूलसूत्रो का अर्थ समझने तथा उसके आधार से अपने ग्रन्थ को रचने की जो वात कही है वह भी विलकुल वैसी ही है जैसी कि तत्कालीन आचार्य पुष्पदन्त एव भूतवलि के धरसेनाचार्य के निकट तथा आचार्य नागहस्ति एव आर्यमक्षु के गुणधराचार्य के निकट, परम्परागत मूल जिनवाणी के अन्तर्गत

---

[1] इन्द्रनन्दि—श्रुतावतार।

[2] सर्वार्थसिद्धि—१-२०।

[3] एपिग्रेफिका इडिका—लुड्स द्वारा सम्पादित मथुरा से प्राप्त जैन-शिलालेख।

[4] स्मिथ—जैनस्तूप तथा मथुरा का अन्य पुरातत्त्व, पृ० ५६, प्लेट XCIX

अन्य विषयो का अध्ययन करके उनके आधार से कर्म प्रकृति प्राभृत तथा कषाय प्राभृत आदि प्रारम्भिक आगम ग्रन्थो के रचने की है।

'आराधना' की अतीव प्राचीनता का एक अन्य प्रवल प्रमाण उक्त ग्रन्थ के चालीसवें विज्जहना नामक अधिकार में वर्णित मुनि का मृत्यु सस्कार है। इसके अनुसार मृत मुनि का शव वन में किसी स्थान पर पशु-पक्षियो के भक्षणार्थ छोड दिया जाता था। ठीक ऐसा ही रिवाज सन् ३२६ ई० पूर्व मे सिकन्दर महान् तथा उसके यूनानी साथियो ने दक्षिणी-पश्चिमी सिन्ध की 'ओरातीय' जाति में प्रचलित देखा था।[1] यह 'ओरातीय' शब्द 'व्रात्य' शब्द का यूनानी रूप प्रतीत होता है। उस समय सिन्ध तथा पश्चिमोत्तर प्रदेशो में नाग, मल्ल आदि अनेक व्रात्य जातियो की वस्तियाँ तथा राज्य थे। अनेक जैन मुनि भी यूनानियो को उस प्रान्त मे मिले थे। यह अवैदिक प्रथा उन व्रात्य जातियो में प्रचलित थी और उसी व्रात्य सस्कृति का प्रतिनिधि एक प्राचीन जैनाचार्य उसका विधान करता है। वास्तव मे उपर्युक्त प्रथा अवैदिक ही नही, प्राग्वैदिक थी। तामिल भाषा के प्राचीन सगम साहित्य में भी उसके उल्लेख मिलते हैं। डा० आयङ्गर के मतानुसार आर्यों के भारत-प्रवेश के पूर्व से ही वह इस देश में प्रचलित थी।[2]

यह भी हो सकता है कि यूनानी वृत्तो में उल्लिखित 'ओरातीय' (Oreitai) शब्द का जैन अनुश्रुति मे वर्णित इन प्राचीन आचार्यों के 'आरातीय' विशेषण से ही कोई सम्बन्ध हो।

इस प्रकार भगवती आराधना और उसके कर्ता आचार्य शिवार्य की अतीव प्राचीनता में कोई सन्देह अवशेष नही रह जाता और ऐसा विश्वस्त अनुमान करने के प्रवल कारण है कि वह शिवार्य ईस्वी के प्रारम्भ के लगभग होने वाले आरातीय यति शिवदत्त ही थे।

लखनऊ]

[1] मेकक्रिन्डल—सिकन्दर का भारत आक्रमण —डिडरो—पृ० २९७।
[2] आयङ्गर—तामिल स्टडीज पृ० ३९।

श्रीदेवरचित 'स्याद्वादरत्नाकर' में अन्य ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के उल्लेख

श्री वी० राघवन् एम० ए०, पी-एच० डी०

श्वेताम्वर जैन सम्प्रदाय के प्रसिद्ध तर्कवेत्ता श्रीदेव या देवसूरि (१०८६-११६९ ई०) का 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार' नामक ग्रन्थ, जिसकी 'स्याद्वादरत्नाकर' टीका स्वय उन्होने लिखी है, जैन तर्कशास्त्र का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। श्रीदेव मुनिचन्द्रसूरि के शिष्य थे और उन्होने अणहिल्लपट्टन के राजा जयसिंहदेव के दरवार में सन् ११२४ ई० मे दिगम्वर सम्प्रदायी कुमुदचन्द्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। 'प्रभावकचरित्र' ग्रन्थ के एक अध्याय में श्रीदेव के उक्त ग्रन्थ का विषय दिया हुआ है। 'स्याद्वादरत्नाकर' एक विस्तृत भाष्य है, जिसमें दर्शनशास्त्र-सम्वन्धी अनेक ग्रन्थो तथा शास्त्रकारो के मनोरजक उल्लेख भरे पडे है। इनमे से कुछ उल्लेख वडे मूल्यवान है और दर्शनशास्त्र के विभिन्न अगो का इतिहास जानने वाले विद्यार्थियो के लिए वडे काम के है। इन उल्लेखो को इकट्ठा करके उनका अध्ययन करना वहुत उपयोगी होगा। यहाँ पर मै उन्हे वर्णक्रमानुसार रखता हूँ, जैसा कि वे उल्लेख मुझे आर्हतमत-प्रभाकर ग्रन्थमाला (न० ४) में पाँच भागो मे छपे हुए उक्त ग्रन्थ के सस्करण मे मिले है।

भाग १, पृ० २९ —**अम्वाप्रसाद सचिवप्रवर और उनके ग्रथ कल्पलता के सवध में, जिसकी 'कल्पपल्लव' नामक टीका उन्होने स्वय लिखी है, इस प्रकार कथन मिलता है—**

'यथा चात्र अमीषा मशानामनुवाद्यत्व पूर्वत्र च तत्तदशाना विधेयत्व तथा **श्रीमदम्वाप्रसादसचिवप्रवरेण कल्पलताया तत्सकेते कल्पपल्लवे च** प्रपञ्चितमस्तीति तत एवावसेयम्।

जैनग्रन्थावली (पृ० १२४) तथा प्रो० एच० डी० वेलकर द्वारा सम्पादित 'जिनरत्नकोष' (भा० १, पृ० २०६ अ) से अम्वाप्रसाद नामक व्यक्ति का पता चलता है, जिसने सटीक 'नवतत्त्वप्रकरण' ग्रन्थ की रचना की थी, परन्तु इन सूचियो में कल्पलता नामक ग्रन्थ तथा उस पर कल्पपल्लव नाम की टीका का कोई ज़िक्र नही मिलता।
पृ० १५७ दिङ्नाग और उनका ग्रन्थ अद्वैतसिद्धि—**अद्वैतसिद्धयादिषु** सस्तुतोऽसौ **दिङ्नागमुख्यैरपि** किं महद्भि ॥

दिङ्नाग द्वारा रचित अद्वैतसिद्धि का कोई पता अभी तक नही चला है।

भाग २, पृ० ३५०—**अनन्तवीर्य** —ये ग्यारहवी शताब्दी के मध्य के प्रसिद्ध जैन तर्कवेत्ता थे। इन्होने 'परीक्षामुखपञ्जिका', 'न्यायविनिश्चयवृत्ति' आदि ग्रन्थो की रचना की है।

भाग ४, पृ० ७४६, ८००—**'अनेकान्तजयपताका', हरिभद्रसूरिकृत**। यह ग्रन्थ यशोविजय जैनग्रन्थमाला मे लेखक की टीका के साथ छपा है तथा गायकवाड ओरियटल सीरीज (८८) मे श्रीदेव के गुरु मुनिचन्द्र की टीका के साथ प्रकाशित हुआ है।

न्यायवैशेषिक पर आत्रेय तथा आत्रेयभाष्य। भाग २, पृ० ३३२ प्रत्यक्ष के वर्णन में **आत्रेयभाष्य** का उल्लेख किया गया है —

यत्पुनरात्रेयभाष्यकार. आह—"यथा सामान्यस्य विशेषाणा च प्रदीपालोकेन सन्निकृष्टत्वेन दूरात्सामान्यमुपलभ्यते न विशेषा इति प्रदीपालोककारितौ सशयविपर्ययौ भवत, तथा सामान्यस्य विशेषाणां च चक्षुषा सन्निकृष्टत्वेऽपि दूरात्सामान्यमुपलभ्यते न विशेषा इति चाक्षुषौ सशयविपर्ययौ भवत। तत्र महाविषयत्वात्सामान्य दूरादप्युपलभ्यते, अल्पविषयत्वात्तु विशेषा न दूरादुपलभ्यन्त इति सशयविपर्ययोरुत्पत्ति" इति।

इस पर अपने उत्तर को सक्षेप मे देते ए श्रीदेव इस आत्रेय भाष्यकार को योग अर्थात् नैयायिक कहता है। भाग ४, पृ० ८४७—यहाँ 'द्रव्य' पर आत्रेय का विचार उद्धृत किया है—

यत्पुनरात्रेय प्रोचितवान्—"न क्रियात्वे प्रसङ्गात्। क्रियात्वमपि क्रियावद्भवति, क्रियाधारत्वात्। न च तद् द्रव्यमिति तद् व्यवच्छेदार्थं गुणवद् इति। न खल्वाधार एवाधेयेन तद्वान् भवति, आधेयमप्याधारेण तद् व्यपदिश्यते" इत्यादि।

अपनी आलोचना मे श्रीदेव, आत्रेय को 'वर्षीयान् विप्रपुङ्गव' कहता है और उसका दूसरा उद्धरण देता है—

तत्राय वर्षीयान् विप्रपुगवोऽनतरमेव स्वयमुक्त नाप्यनुसन्दधातीति किं ब्रूम। "कर्म उत्प्रेक्षणादि तद्यस्मिन् समवायेन वर्तते तत् क्रियावत्" इति हि तत्रादावनेन विवव्रे। न च तद् द्रव्यमिति तद्व्यवच्छेदार्थं क्रियावदिति। तदपि न सुसूत्रमात्रेयेणाभाणि।

पृष्ठ ८४८ मे पुन आत्रेय का उल्लेख है, और पृ० ८४९ मे उपसहार रूप मे आत्रेय का कथन वैशेषिक रूप में किया गया है।

पृ० ६१२ आत्रेयो व्याख्यातवान् 'नित्यमस्याश्रय पारतन्त्र्य द्रव्ये' इति द्रव्याश्रयी। दो प्रकार के द्रव्यो पर।

पृ० ६४५ मे कर्म के न्याय-दृष्टिकोण पर आत्रेय का मत दिया गया है—

लक्षणान्तर पुनरात्रेयो विवृणोति—एक द्रव्य मिति नाद्रव्य न चानेकद्रव्यमित्यर्थ। नास्य गुणा सन्ति स्वय च न गुणो भवतीत्यगुणम्। सयोगाश्च विभागाश्च सयोगविभागा, तेषु सयोगविभागेषु कारणमित्युत्पन्न कर्म स्वाश्रयमाश्रयान्तराद्विभज्य सयोजयतीति। तेषु च सयोगविभागेषु कर्तव्येषु कर्म कारणान्तर नापेक्षत इत्यनपेक्ष न पुन समवायिकारणमपि नापेक्षित इति। यद्वा सयोगविभागा कर्मासाधारण नापेक्षते इत्यनपेक्ष न पुन. साधारणमपि नापेक्षत इति। दिश खलु सयोगविशेषापेक्ष कर्म स्वाश्रयस्य सयोगविभागावारभते तथा च प्रेरकस्य या दिश प्रति प्रयत्नसमारम्भ तदभिमुख कर्म जायते तस्माच्च कर्मणस्तदभिमुखौ सयोगविभागौ भवत। अनेनादृष्टेश्वराद्यपेक्षस्य कर्मण सयोगविभागारम्भो व्याख्यात॥ इति।

पृ० ६४६, इसके बाद ही आत्रेय की पुस्तक का निम्न अश भी उद्धृत किया गया है—

यदाह स एव "सयोगविभागेषु अनपेक्ष कारणमित्येतावत् कर्मलक्षणमेकद्रव्यमगुणमित्यभिधान तु कर्मस्वरूपोपवर्णनार्थं न पुन कर्मलक्षणार्थम्" इति।

अन्त के उद्धरणो से हम पहले आये हुए उल्लेख को इस प्रकार शुद्ध कर सकते है—'यत्पुनरात्रेयो भाष्यकार आह'। यह बात हमारी समझ मे नही आती कि यह वैशेषिक ग्रन्थकार कौन था?

भाग १, पृ० १३३ इष्टसिद्धि विमुक्तात्मन् के इष्टसिद्धि ग्रन्थ (गा० ओ० से०) की १,१ कारिका उद्धृत की गई है।

भाग २, पृ० २८९, ३१८, ३२० आदि। उदयन तथा उनके ग्रन्थो—कुसुमाजलि तथा किरणावली—का उल्लेख प्राय किया गया है।

पुरदर तथा उद्भट, लोकायत सप्रदाय के लेखक—

भारतीय चार्वाकवाद पर लिखी हुई अपनी पुस्तक (प्रका० कलकत्ता, पृ० ४७) मे दक्षिणारजन शास्त्री ने लिखा है कि 'सम्मतितर्कप्रकरण' ग्रन्थ के भाष्य मे किसी पुरदर नामक लेखक के लोकायत सूत्र का उल्लेख किया गया है। शान्तिरक्षित के तत्त्वसग्रह ग्रन्थ (गा० ओ० से०, भाग १, पृ० ४३१) पर लिखी हुई कमलशील की टीका में पुरन्दर तथा उनके लोकायत ग्रन्थ का दूसरी बार उल्लेख मिलता है। यहाँ पर पुरन्दर के 'अनुमान' पर विचार की

ओर सकेत है तथा कमलशील की टीका से विदित होता है कि शान्तरक्षित की कारिका (न० १४८२) में पुरन्दर के पहले होने का प्रमाण विद्यमान है।

पुरन्दरस्त्वाह—'लोकप्रसिद्धमनुमान चार्वाकैरपि इष्यत एव। यत्तु कैश्चिल्लौकिक मार्गमतिक्रम्य अनुमान-मुच्यते तन्निषिध्यत इति। एतदाशक्य दूषयन्नाह लौकिकमित्यादि।

गायकवाड ओरिएटल सिरीज मे प्रकाशित 'तत्त्वसग्रह' की भूमिका (पृ० ८५) मे सम्पादक ने लिखा है—"सस्कृत साहित्य में हमको कही इस बात का पता नही मिलता कि पुरन्दर लोकायत था।"

किन्तु अब 'स्याद्वादरत्नाकर' ग्रन्थ से न केवल पुरदर का पता चलता है, अपितु यह भी मालूम हो गया है कि उसके द्वारा रचित लोकायत सूत्रो पर उद्भट नामक भाष्यकार ने एक टीका भी लिखी है। 'तत्त्वसग्रह' में पुरन्दर का उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि उस (पुरन्दर) का समय ७०० ई० से पहले का है। उसके लोकायत सूत्रो पर लिखे हुए उद्भट के भाष्य का नाम एक स्थान पर 'तत्त्ववृत्ति' तथा दूसरे स्थान पर 'तन्त्रवृत्ति' मिलता है।

यच्चोक्त तत्त्ववृत्तावुद्भटेन 'लक्षणकारिणा लाघविकत्वेनैव शब्दविरचनव्यवस्था, न चैतावता अनुमानस्य गौणता, यदि च साध्यैकदेशधर्मिधर्मत्व हेतो रूपं ब्रूयुस्ते, तदा न काचिल्लक्षणेऽपि गौणी वृत्ति' इति। यत्तु तेनैव परमलोकायत-मन्येन लोकव्यवहारैकपक्षपातिना लोकप्रसिद्ध धूमाद्यनुमानानि पुरस्कृत्य शास्त्रीय स्वर्गादिसाधकानु-मानानि निराचिकीर्षता " गौणत्वाद् अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभ " इति पौरन्दर सूत्र पूर्वाचार्य तिरस्कारेण व्याख्यानयता इदमभिहित 'हेतो स्वसाध्य नियम ग्रहणे प्रकारत्रयमिष्ट दर्शनाभ्यामवशिष्टाभ्या दर्शनेन विशिष्टानु-पलब्धिसहितेन भूयोदर्शनप्रवृत्या च लोकव्यवहारपतितया, तत्राद्येन ग्रहणोपायेन ये हेतोर्गमकत्वमिच्छन्ति तान् प्रतीद सूत्र लोकप्रसिद्धेष्वपि, हेतुषु व्यभिचारा दर्शनमस्ति तन्त्रसिद्धेष्वपि, तेन व्यभिचारादर्शन लक्षणगुणसाधर्म्यत तन्त्र-सिद्धहेतूना तथाभावो व्यवस्थाप्यत इति गौणत्वमनुमानस्य। अव्यभिचारावगमो हि लौकिकहेतूनामनुमेयावगमे निमित्त स नास्ति तन्त्रसिद्धेष्विति न तेभ्य परोक्षार्थावगमो न्याय्य, अत इदमुक्तम्—अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभ इति।

पृ० २७० **उक्त च तन्त्रवृत्तौ भट्टोद्भटेन 'सर्वश्च दूषणोपनिपातोऽप्रयोजकहेतुमाक्रामतीत्यप्रयोजक विषया विरुद्धानुमान विरोधविरुद्धा व्यभिचारिण' इति।**

भाग ४, पृ० ७६४—**यत्र तु भट्टोद्भट प्राचीकटत् 'न ह्यत्रकारणमेवकार्यात्मतामुपैति यत एकस्याकारणा-त्मन एककार्मरूपतोपगमे तदन्यरूपाभावात् तदन्यकार्यात्मनोपगतिर्न स्यात्। किन्तु अपूर्वमेव कस्यचिद्भावे प्राग-विद्यमान भवत्तत्कार्यम्। तत्र विषयेन्द्रियमनस्काराणामितरेतरोपादानाहितरूप भेदाना सन्निधौ विशिष्टश्वेतरक्षण-भावे प्रत्येक तद्भावाभावानुविधानादेकक्रियोपयोगो न विरुद्ध्यते। यत एकक्रियायामपि तस्य तद्भावाभावितैव निबन्धनम्, सा च अनेक क्रियायामपि समाना, इति।**

भाग ५, पृ० १०८३—पुरन्दर के सूत्रों में से एक मे उन तत्त्वो का कथन है, जिन्हें लोकायतिक मानते हैं—वे तत्त्व हैं—पृथिवी, आपस्, तेजस् और वायु। दूसरे सूत्र में कहा गया है कि व्यक्ति मे चैतन्य का उदय उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कुछ परमाणुओ में, जब वे आपस मे मिला कर एक किये जाते है मादक शक्ति का आविर्भाव हो जाता है। उद्भट ने पुरन्दर के सूत्रो पर लिखे हुए अपने भाष्य में कहा है कि वास्तव में लोकायतिको के तत्त्व केवल यही चार नही है और सूत्र में दी हुई सूची केवल सकेतात्मक है। उसने यह भी लिखा है कि 'इति' शब्द से उल्लिखित सूची का अन्त नही प्रकट होता, अपितु इसी भाँति के अन्य तत्त्वो का भी भान होता है और मदशक्ति के समान उत्पन्न विज्ञान एक अन्य तत्त्व है। उसी प्रकार शब्द, सुख आदि भी अन्य तत्त्वो में से है।

न च 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि' इति सूत्र व्याघात। सूत्रे इति शब्दस्य समाप्त्यर्थत्वेन अव्याख्यानात्। यदाचष्ट भट्टोद्भट—'इतिशब्द प्रदर्शनपर न समाप्तिवचन, चैतन्य-सुख-दुख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सस्काराणा तत्त्वान्तरत्वात्, पृथिव्यादि प्राक्प्रध्वसापेक्षान्योन्याभावानां चात्यन्तप्रकटत्वादुक्तविलक्षणात्वाच्च' इति।

ओचक या उम्बेक

भाग २, पृ० २७९—अभावप्रमाण पर एक कारिका का कथन यहाँ किया गया है साथ ही उस पर ओचक की टीका भी उद्धृत की गई है। जो कारिका दी गई है वह कुमारिल के श्लोकवार्तिक में आये हुए अभाववाद का पहला श्लोक है और जो ओचक के नाम से टिप्पणियाँ दी हुई हैं वे उम्बेक की हैं।

ओंचकस्त्वेव व्याख्यातवान् 'तत्र घटाख्ये वस्तुनि प्रत्यक्षादिसद्भावग्राहक नोपजायते तस्य नास्तिता भूप्रदेशाधिकरणाभावप्रमाणस्य प्रमेया इति।

यह वाक्य श्लोकवार्तिक (मद्रास यूनिवर्सिटी संस्करण, उम्बेक के भाष्य सहित) के पृ० ४०९ में मिलता है। स्याद्वादरत्नाकर में दिये हुए उद्धरण का पाठ अधिक शुद्ध जँचता है।

भाग १, पृ० १५७ कमलशील, बौद्धनैयायिक (८वीं श०) न्यायबिन्दु पर टीका का लेखक। उसकी पंजिका, जो शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह पर लिखी गई है, गायकवाड ओरियंटल सीरीज़ में तत्त्वसंग्रह के साथ प्रकाशित हुई है।

भट्टजयन्त का पल्लव

स्याद्वादरत्नाकर से 'न्यायमंजरी' ग्रन्थ के लेखक भट्टजयन्त नामक एक अज्ञात ग्रन्थकार का पता चला है। भाग १, पृ० ६४—तथा च समाचष्ट भट्टजयन्त पल्लवे—

तत्रासन्दिग्धनिर्बाध वस्तु बोधविधायिनी।
सामग्री चिदचिद्रूपा प्रमाणमभिधीयते॥
फलोत्पादाविनाभावि स्वभावाव्यभिचारि यत्।
तत्साधकतम युक्त साकल्यान्न पर च तत्॥
साकल्यात्सदसद्भावे निमित्त कर्तृकर्मणो।
गौणमुख्यत्वमित्येव न ताभ्या व्यभिचारिता॥
सहन्यमानहीनेन सहतेरनुपग्रहात्।
सामग्र्या पश्यतीत्येव व्यपदेशो न दृश्यते॥
लोचनालोकलिंगादे निर्देशो यस्तृतीयया।
स तद्रूप समारोपादुषया पत्रतीतिवत्॥
तदन्तर्गतकर्मादि कारकापेक्षया च सा।
करण कारकाणा हि धर्मोऽसौ न स्वरूपवत्॥
सामग्र्यन्त' प्रवेशेऽपि स्वरूप कर्तृकर्मणो।
फलवत्प्रतिभातीति न चतुष्ट्व विनक्ष्यति॥ इति॥

सम्पादक का कथन है कि ये श्लोक 'न्यायमंजरी' में नहीं मिलते और उनका अनुमान है कि 'पल्लव' से श्रीधर का अभिप्राय 'न्यायमंजरी' से ही है, परन्तु हम देखेंगे कि इस अनुमान की कोई पुष्टि नहीं होती कि 'पल्लव' से श्रीदेव का अभिप्राय 'न्यायमंजरी' से ही रहा हो।

भाग १, पृ० ३०२—यदजल्पि जयन्तेन पल्लवे—

स्वरूपादुद्भवत्कार्य सह कार्युपबृहितात्।
न हि कल्पयितु शक्त शक्तिमन्यामतीन्द्रियाम्॥

सर्वदा न च सर्वेषा सन्निधि. सहकारिणाम् ।
स्वरूपसन्निधानेऽपि न पदा कार्यसभव ॥
मन्त्रे सति विपादीना स्वकार्याकरण तु यत् ।
न शक्ति प्रतिवघात्तत् किन्तु हेत्वन्तरागमात् ॥
मन्त्राभावो हि तद्धेतु धर्मादि सहकारिवत् ।
मन्त्रभावस्ततस्तत्र हेत्वन्तरतया मत. ॥
तेषामम्लानरूपाणा ननु मन्त्रेण किं कृतम् ।
कार्योदासीनता मात्र शक्तौ चैष न य· सम ॥
न हि मन्त्रप्रयोगेण शक्तिस्तत्र विनाश्यते ।
मन्त्रवादिन्युदासीने पुनस्तत्कार्यदर्शनात् ॥ इति ॥

शक्ति के समालोचक जयन्त पर अपना विचार देते हुए अन्त मे श्रीदेव उदयन की तुलना में जयन्त को हाथी के मुकावले में कीटक जैसा कहता है—

यत्रास्या शक्ति ससिद्धौ मज्जत्युदयनद्विप ।
जयन्त हन्त का तत्र गणना त्वयि कीटके ॥

यहाँ ग्रन्थ के सम्पादक का कहना है कि ऊपर के श्लोक, जो जयन्त के 'पल्लव' मे उद्वृत किये गये हैं, 'न्याय-मजरी' (पृ० ४१, विजयनगर सस्करण) में मिलते हैं। इसी के आधार पर सम्पादक ने 'पल्लव' मे उद्धृत पहले कथन पर अपनी टीका में लिखा है कि श्रीदेव का 'पल्लव' कहने मे मतलव 'न्यायमजरी' से ही था। वास्तव में ऊपर के द्वितीय उद्धरण के श्लोको मे मे केवल पहला 'न्यायमजरी' मे मिलता है, न कि उसके वाद के अन्य पाँच श्लोक। अत 'पल्लव' जयन्त द्वारा लिखा हुआ एक भिन्न न्याय का ग्रन्थ है, जो पूर्णतया कारिकाओ के रूप मे लिखा गया है और दूसरे उद्धरण में आये हुए पहले श्लोक से मालूम पडता है कि कुछ छन्द 'पल्लव' तथा 'न्यायमजरी' दोनो ग्रन्थो में एक-जैसे ही हो सकते हैं।

पृ० ३३८ मे सात श्लोक 'जयन्त' के नाम के साथ उद्वृत किये गये हैं और ये सभी श्लोक 'न्यायमजरी' (पृ० २१५-१६) में मिलते हैं। यह एक मार्के की वात है कि यहाँ 'पल्लव' से उद्धरण देने की वात नही कही गई है। एक दूसरा ही ऐसा उद्धरण, जो 'जयन्त' के ग्रन्थ से पृष्ठ ५४३ पर दिया गया है, 'न्यायमजरी' (पृ० ११७) में भी मिलता है और यहाँ भी 'पल्लव' का उल्लेख नहीं मिलता।

भाग ४, पृ० ७८० में जयन्त तथा उसके 'पल्लव' का कथन जिस श्लोक मे किया गया है वह 'न्यायमजरी' में नहीं मिलता—

तदुक्त भट्टजयन्तेनापि पल्लवे—

किञ्चाविच्छिन्नदृष्टीना प्रलयोदयवर्जित ।
भावोऽस्खलित सत्ताक चकास्तीत्यामसाक्षिकम् ॥

गुणरत्न की षड्दर्शन समुच्चयवृत्ति (१४०६ ई०) मे जयन्त की 'नयकलिका' का उल्लेख हुआ है, परन्तु उसमें यह कथन कि नयकलिका भासर्वज्ञ के न्यायमार पर लिखी हुई टीका है, ठीक नहीं जान पडता। इसके अलावा सतीशचन्द्र विद्याभूषण के ग्रन्थ (History of Indian Logic) मे जयन्त की 'पल्लव' नामक किसी कृति का उल्लेख नही है।

भाग ३, पृ० ५७६—ज्ञानश्रीमित्र वौद्धनैयायिक (११वी शताब्दी का मध्यभाग)। यहाँ उसका एक पूरा श्लोक उद्धृत है। पृ० ७१२ में एक श्लोक उसके अपोहप्रकरण ग्रन्थ में से पूरा का पूरा दिया हुआ है। भाग ४,

पृ० ७७० पर उसके ग्रन्थ में से एक गद्यखड उद्धृत किया गया है। श्री राहुल साकृत्यायन ने तिब्बत मे प्राप्त सस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थो की सूची मे इस लेखक के १३ ग्रन्थो को गिनाया है—उदाहरणार्थ, कार्यकारणभावसिद्धि, क्षणभगाध्याय, व्याप्तिचर्चा, भेदाभेदपरीक्षा आदि (देखिए जर्नल ऑव विहार ऐड उडीसा रिसर्च सोसाइटी, जिल्द २८, भाग ४, पृ० १४३-४४)।

भाग ४, पृ० ७८७-८८—त्रिलोचन

तथा च त्रिलोचन प्रकीर्णके—

सर्वेषा नाशहेतूना वैकल्यप्रतिबन्धयो।
सर्वदासभवान्नाश सापेक्षोऽपि ध्रुवत्वभाक्॥

'एव च ध्रुवभावित्वस्य' आदि (एक लम्बा गद्यखड उद्धृत है)। यह त्रिलोचन वाचस्पति मिश्र का गुरु हो सकता है, जिसका उल्लेख उसने अपनी तात्पर्यटीका मे किया है। रत्नकीर्ति ने भी अपने अपोहसिद्धि तथा क्षणभग-सिद्धि ग्रन्थो मे त्रिलोचन का कथन किया है (हिस्ट्री ऑव इडियन लॉजिक, पृ० १३४)।

भाग ४, पृ० ७७४-७५ देवबल तथा धर्मोत्तर के एक ग्रन्थ पर उसकी टीका।

एतेन यदपि धर्मोत्तरविशेषव्याख्यानकौशलाभिमानी देवबल प्राह—'निर्भागेऽपि च कार्ये आवापोद्वापाभ्या विशेषहेतूना विभ्रमसिद्धिरिति छलनोद्यानामनवसा' इति।

इस बौद्ध लेखक का उल्लेख श्री एस० सी० वैद्य ने या श्री विद्याभूषण ने अपने न्याय के इतिहास मे नही किया।

भाग १, पृ० १७३ देवेन्द्र। इस बौद्ध लेखक का हवाला देते हुए लिखा है कि उसने एक ग्रन्थ पर जिसके लेखक का नाम अज्ञात है, टीका की है। उस ग्रन्थ से भी यहाँ उद्धरण दिये हुए है।

तदुक्त 'नीलादिश्चित्रविज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक्।
अशक्यदर्शनस्त हि पतत्यर्थे विवेचयन्॥'

अत्र देवेन्द्रव्याख्या 'चित्रज्ञाने हि यो नीलादि' आदि (एक लवा गद्याश)।

पृ० १८० पर एक अज्ञातलेखक की ऐसी ही कारिका दी हुई है और उस पर देवेन्द्र की टीका में से एक लम्बा उद्धरण दिया हुआ है

तदुक्त 'किं स्यात्सा चित्रतैकस्या न स्यात्तस्या मतावपि।
यदीद स्वयमर्थाना रोचते तत्र के वयम्॥

अथ देवेन्द्र व्याख्या—'यदि नामैकस्या मतौ आदि

यह देवेन्द्र नामक लेखक देवेन्द्रबोधि हो सकता है, जिसका समय सातवी श० ई० के मध्य का है और जिसने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक पर एक पजिका लिखी है (हिस्ट्री ऑव इडियन लॉजिक, पृ० ३१९)।

भाग १, पृ० २४, २५, २७, १७० आदि मे धर्मोत्तर का कथन प्राय किया गया है। इस बौद्धनैयायिक ने न्यायबिन्दुटीका, प्रमाणविनिश्चयटीका आदि रचनाएँ की है। धर्मोत्तर ८०० ई० में काश्मीर गया था जब वहाँ जयापीड शासक था (राजतरगिणी, भाग ४, पृ० ४९८)।

भाग ५, पृ० १०९९—नेमिचन्द्रगणि, स्वय ग्रन्थकार श्रीदेव का शिष्य।

तथा च अस्मद्विनेयस्य निरवद्यविद्यापद्मिनीप्रमोदनद्युमणेः नेमिचन्द्रगणे' अत्र व्यतिरेकप्रयोग' 'त्वत्प्रति वादि शरीर आदि।

नेमिचन्द्रगणि के किस ग्रथ का यहा हवाला दिया गया है, यह अज्ञात है।

भाग ८, पृ० ३७२। वाचस्पति मिश्र की न्यायकारिका मे उद्धरण दिया गया है। यह ग्रन्थ मीमासा पर लिखे हुए मडनमिश्र के विधिविवेक (पडितसस्करण) पर टीका है।

भाग १, पृ० २३ धर्मकीर्ति लिखित न्यायविनिश्चय।

पृ० २१ उपर्युक्त ग्रन्थ पर लिखी हुई टीका तथा वृत्ति नामक दो भाष्य।

भाग १, पृ० ४४ उमास्वाति जैन तथा उनका ग्रथ पचशती प्रकरण. यदवाचि पञ्चशती प्रकरण प्रणयन प्रवीणै उमास्वाति वाचकमुख्यै —

तानेवार्थान्द्विषत तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्ट न विद्यते किञ्चिदिष्टवा॥ इति।

भाग ४, पृ० ८७८ **पदार्थप्रवेशक ग्रथ**। जैसा कि सम्पादक ने लिखा है, यह प्रशस्तपादभाष्य है।

भाग ४, पृ० ८०२ **पद्मचन्द्रगणि**। यह सम्भवत श्रीदेव का प्रधान शिष्य है।

भाग ४, पृ० ८६५ **प्रकरणचतुर्दशीकार** तथा उनका ग्रन्थ **धर्मसारप्रकरण**।

प्रकरणचतुर्दशीकारोऽपि धर्मसारप्रकरणे प्राह—न ह्यङ्गनावदनच्छायानुसक्रामातिरेकेणादर्शके तत्प्रतिबिंब-संभव इत्यादि।

प्रो० वेलकर के 'जिनरत्नकोश' (भाग १, पृ० १९४ व) मे किमी सकलकीर्ति द्वारा लिखित धर्मसार ग्रन्थ का उल्लेख है।

भाग ३, पृ० ५९० **प्रज्ञाकर**। दशवी श० के मध्य का वौद्ध नैयायिक, जिमने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक पर अलकार नामक टीका लिखी है।

भाग २, पृ० ४६६। **प्रभाचद्र**, जैन तार्किक (८२५ ई०) जिसने तत्त्वार्थसूत्र पर एक टीका लिखी है। यहाँ दिया हुआ उद्धरण उसी टीका से है।

भाग २, पृ० ४७८ **प्रमेयकमलमार्तण्ड**। यह माणिक्यनन्दिन् के परीक्षामुखसूत्र पर लिखी हुई प्रभाचन्द्र की टीका है। यह उस समय लिखी गई थी जव भोज धारा मे राज्य कर रहे थे।

भाग २, पृ० ३२०, ३४५ प्रशस्तपादभाष्य—प्रशस्तपाद का पदार्थधर्मसग्रह (वैशेषिक ग्रन्थ)। भाग ४, पृ० ९२० पर लेखक का नाम प्रशस्तकर दिया हुआ है।

भाग १, पृ० ८९, भाग ३, पृ० ६४८-४९, ६५४ यहाँ भर्तृहरि का हवाला कही तो उमके नाम के सहित दिया हुआ है और कही उसका नाम नही दिया है।

भाग २, पृ० ३२२, भाग ४, पृ० ८५२ भूषण। यह भासर्वज्ञ का न्यायभूषण है, जिसका उल्लेख वहुत से अन्य ग्रन्थो मे भी आया है, परन्तु जो अभी तक प्राप्त नही हो सका। गुणरत्न की षड्वृत्तिदर्शन, राजशेखर सूरि के षड्दर्शनसमुच्चय तथा न्यायसार पर भट्ट राघव की टीका आदि जैन ग्रन्थो मे लिखा है कि भूषण, न्यायसार पर ग्रन्थकार द्वारा स्वय लिखी हुई टीका है।

भाग ३, पृ० ५९९ मुनिचन्द्रसूरि (मृत्यु ११२१ ई०)। श्रीदेव ने अपने ग्रन्थ मे अनेक स्थानो पर अपने गुरु मुनिचन्द्र का जिक्र किया है।

प्रथम अध्याय के अन्त में हरिभद्र रचित ललितविस्तार पर मुनिचन्द्र की टीका का कथन है। ललितविस्तार चैत्यवन्दनासूत्र (प्रका० देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फड मीरीज़) पर भाष्य है।

अध्याय दो के अन्त मे शिवशर्मन् के कर्मप्रकृतिप्राभृत पर मुनिचन्द्रसूरि द्वारा लिखी हुई टीका का जिक्र है।

पाँचवे अध्याय के अन्त मे श्रीदेव ने शास्त्रवार्तासमुच्चय पर मुनिचन्द्र की टीका का उल्लेख किया है। प्रो० वेलकर के 'जिनरत्नकोश' (भाग १) मे इस टीका का नाम नही है और न वह मुनिचन्द्रलिखित ३२ ग्रन्थो की

सूची मे मिलता है। यह सूची श्री एच० आर० कापडिया द्वारा लिखित हरिभद्र के अनेकान्तजयपताका (प्रका० गायक० ओरि० सी०, मुनिचन्द्र के भाष्य सहित) की भूमिका पृ० ३० म मिलती है। अध्याय ६ के अन्त में हरिभद्र के उपदेशपद पर लिखी हुई मुनिचन्द्र की टीका का हवाला दिया गया है।

भाग १, पृ० १६०—यहाँ पर राहुल नामक लेखक का उल्लेख मिलता है, जिसने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक पर टीका लिखी है।

भाग २, पृ० ३८६, ४६७, भाग ३, पृ० ५२१ विद्यानन्द, प्रसिद्ध जैन लेखक जिसने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थ लिखे है।

भाग २, पृ० २८६-७। विमलशिव। इस नैयायिक का पता एक लम्बे उद्धरण से चलता है। उसके विषय मे अन्यत्र कुछ पता नही चलता।

विमलशिव पुनरन्यथा प्राह—वह्न्यादिकन स्वैकसमवेतातीन्द्रियकार्यकृत्, चाक्षुषत्वे सति हेतुत्वात्, यदित्थ यथा गोत्व, तथा च विवादास्पद, तस्मात्तथा, आदि। यह उद्धरण योग अर्थात नैयायिको द्वारा शक्ति के मत-खडन के सबध मे आया है।

भाग २, पृ० २८६ विष्णुभट्ट। शक्ति-मत के ऊपर इस नैयायिक का कथन किया गया है—

विष्णुभट्टस्त्वाह—स्वरूपसहारिव्यतिरिक्ता शक्तिरस्तीतिवाक्यमनर्थक, सर्वप्रमाणैरनुपलभ्यमानार्थत्वात्, यदित्थ तत्तथा, यथा अगुल्यग्रे करिशत मास्ते इति वाक्य यथोक्तसाधन चैतत्, तस्माद्यथोक्तसाध्यम्।

पृ० २८८ पर पुन उसका मत उद्धृत है—तथा चाभिदधे विष्णुभट्टेन—'प्रतिबन्धक प्रागभावप्रध्वसभावयोश्च नीलपीताद्यनेक विधानामिव यथासभव कारणत्व विशेषत' इति।

भाग २, पृ० ३१८ व्योमशिव, वैशेषिक, प्रशस्तपादभाष्य पर व्योमवती टीका का लेखक। पृ० ४१६ तथा ४१८ पर उसके दो और उल्लेख मिलते हैं।

भाग २, पृ० ४३९। शकर नामक एक नैयायिक का मत यहाँ उद्धृत है तथा भाग ४, पृ० ८५२ में न्याय-भूषणकार के साथ उसका मत दिया हुआ है, तथा दोनो को उसी वाक्य का कर्ता माना गया है।

१ अस्त्येवास्य (ईश्वरस्य) शरीरमिति शवर।

२ यच्च शकरन्यायभूषण कारावचक्षते—यो हि भावो यावत्या सामग्र्या गृह्यते, तदभावोऽपि तावत्यैवेति आलोकग्रहणसामग्र्या गृह्यमाण तमस्तदभाव एव।

दूसरा उद्धरण उसी रूप मे रत्नप्रभ की प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार पर लिखी हुई टीका (पृ० ६८, यशोविजय-ग्रन्थमाला सस्करण) मे मिलता है।

शकरस्वामिन् नामक नैयायिक का मत शान्तरक्षित तथा कमलशील के द्वारा तत्त्वसग्रह तथा पजिका (गायक० ओरि० से०, पृ० ८१, २५०, ३७८) में तीन बार उद्धृत किया गया है।

भाग ४, पृ० ७८३ शकरनन्दन, बौद्ध लेखक, उसकी एक कारिका इस प्रकार दी है

कारणाद्भवतोऽर्थस्य नश्वरस्यैव भावत।
स्वभाव कृतकरवस्य भावस्य क्षणभगिता॥

पृ० ७८७ पर उसकी एक कारिका स्वय उसकी टीका सहित उद्धृत है एतेन शङ्कर नदनोक्तकारिका यावदुक्तमपास्तम्। यदपि शकरनदन एव व्याकरोति—

न हि स्वहेतुजो नाशो नाशिना नश्वरात्मता।
नाशायैषा भवन्तस्ते भूत्वैव न भवन्ति तत्॥

नाशिना नश्वरात्मतैव नाशार्थो न तु विनाशहेतुजो विनाशो नाशार्थ आदि॥

क्या यह शकरनन्द वही काश्मीरी ब्राह्मण शकरानन्द है, जिसने बौद्ध ग्रन्थ—प्रमाणवार्तिकटीका, अपोहसिद्ध आदि लिखे है?

भाग ४ पृ० ६५७ शर्करिका हमें यहाँ निम्नलिखित उद्धरण मिलता है—यत्तु 'प्रत्येक समवेतार्थ' इत्यादि कारिका व्याख्याया जयमिश्र शर्करिकाया प्राह—'गोमति धर्मिणी, कृत्स्नवस्तुविषयेति साध्यो धर्म कृत्स्नरूपत्वादिति हेतु । या या कृत्स्नरूपा सासा कृत्स्नवस्तुविषया, व्यक्तिवुद्धिवदिति दृष्टान्त' इति ।

यह कारिका कुमारिल के श्लोकवार्तिक (वनवाद, श्लोक ४६) मे से दी गई है। शर्करिका उस भाष्य का नाम है जो जयमिश्र ने श्लोकवार्तिक पर लिखा है और जो उम्वेक के भाष्य के आगे लिखा गया है। अत ऊपर के उद्धरण में पहली पक्ति का शुद्ध पाठ जयमिश्र शर्करिकाया प्राह—होना चाहिए। श्रीदेव के द्वारा जो अश दिया गया है वह शर्करिका के मद्रास युनिवर्सिटी सस्करण मे पृ० ६२ मे मिलता है। श्रीदेव द्वारा दिया हुआ यह उद्धरण महत्त्वपूर्ण है, क्योकि अब तक केवल यही बाह्य प्रमाण उपलब्ध हो सका है, जिससे जयमिश्र की शर्करिका का उल्लेख है।

भाग २, पृ० ४७५। **भदन्त शाकटायन** के केवल मुक्ति प्रकरण मे से यहाँ एक लम्बा अश उद्धृत है।

भाग १, पृ० ६१, ११२-१५। मीमासाकार **शालिकनाथ**, प्रकरणपचिका के लेखक, का कथन यहाँ किया गया है।

भाग २, पृ० २३६, भाग २, पृ० २८८, ३१८ आदि

श्रीधर कन्दली नामक न्यायग्रन्थ के लेखक, का यहाँ कई बार ज़िक्र है।

भाग ३, पृ० ६४६। **सग्रहकार**। व्याडि नामक वैयाकरण का यहाँ उल्लेख है, जिसके ग्रन्थ मे भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ वाक्यपदीय तथा उसकी वृत्ति म उद्धरण लिये है। जिस कारिका को यहाँ श्रीदेव ने यह कह कर उद्धृत किया है कि वह सग्रहकार की 'यथाद्यसग्या' आदि है, वह वाक्यपदीय (१, ८८) मे मिलती है।

पृ० ६४५ यदाह सग्रहकार—शब्दस्य ग्रहेण हेतु आदि। इसको भर्तृहरि ने अपनी वृत्ति मे सग्रहकार की लिखी हुई कहा है (पृ० ७८-६, चडीदेव शास्त्री द्वारा वाक्यपदीय का लाहौर सस्करण, भाग १)।

भाग १, पृ० ६२। **समतभद्र**। यह प्रसिद्ध जैननैयायिक है जिसने तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर गन्धहस्तिमहाभाष्य की रचना की है।

भाग २, पृ० ४६७ **सर्वार्थसिद्धि**। तत्त्वार्थसूत्र पर पूज्यपाद देवनन्दिन् कृत भाष्य। श्रीदेव ने इसका खडन किया है।

भाग १, पृ० ८६ **हरिभद्रसूरि कृत शास्त्रवार्तासमुच्चय** मे यहाँ उद्धरण दिया गया है। अध्याय ५ के अन्त मे श्रीदेव ने अपने गुरु मुनिचन्द्र का उल्लेख किया है, जिन्होंने हरिभद्रसूरि के उक्त ग्रन्थ पर एक टीका लिखी थी।

भाग २, पृ० २६२ हरिहर नामक नैयायिक का उल्लेख है—यत्तु हरिहर प्राह—न च दुर्बल उत्तेजकमन्त्र स्तम्भकमन्त्रस्य प्रतिपक्ष । तस्मिन् सत्यपि स्तम्भकमन्त्रस्य कार्यकरणदर्शनात्।

भाग १, पृ० १०३ मे ससारमोचको का उल्लेख है, जिन्हे सम्पादक ने ब्रह्माद्वैतवादी माना है। जयन्त की 'न्यायमजरी' में ससारमोचको का कथन बौद्धो के साथ किया गया है और उनके विषय मे लिखा है कि वे पापकर्मो तथा आगमो का प्रचार करते और प्राणिहिसा मे रत रहते है, तथा वे स्पर्श के योग्य नही है—

ये तु सौगत ससारमोचकागमा पापकाचारोपदेशिन व्यस्तेषु प्रामाण्यमार्योऽनुमोदते—

ससारमोचका पापा प्राणिहिंसापरायणा ।
मोहप्रवृत्ता रावेति न प्रमाण तदागम ॥

× × ×

ससारमोचक स्पृष्ट्वा शिष्टा. स्नान्ति सवासस ।

(पृ० २६५-६, विजयनगर सस्करण)

वेदान्तियो या ब्रह्मदर्शन के अनुयायिओ के प्रति जयन्त ने कठोर शब्दो का व्यवहार किया है, परन्तु ऊपर की आलोचना अद्वैतवादियो के प्रति प्रयुक्त नही जान पडती।

भाग १, पृ० १६०—परमब्रह्मवादी। यहाँ एक शार्दूलविक्रीडित छन्द उद्धृत किया गया है—

अथ परमब्रह्मवादिन आहु —

भावग्रामो घटादिर्बहिरिह घटते वस्तुवृत्या न कश्चित्।
तन्मिथ्यैव प्रपञ्च तमपि च मनुते तत्त्वभूत जनोऽयम्।
प्रौढाविद्या विलासप्रबलनरपते पारवश्य गतस्सन्।
आत्माद्वैत तु तत्त्व परमिह परमानन्दरूप तदस्तु ॥

भाग १, पृ० २७-२८ मे कुछ काव्यो तथा नाटको से उद्धरण दिये हुए है, किन्तु उनके रचयिताओ के नाम नही है

कृतककुपितै बाष्पाभोभि
आलोकमार्ग सहसा व्रजन्त्या (रघु०, ७, ६, कुमार० ७, ५७)
पौलस्त्य स्वयमेव याचत इति (बालरामायण, २, २०)
ताताज्जन्मवपुर्विलङ्घि तवियत्
द्वय गत सप्रति शोचनीयताम् (कुमार० ५, ८१)
तपस्विभिर्या सुचिरेण लभ्यते
कारणगुण्यनुवृत्या
सूर्याचन्द्रमसौ यत्र
आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी (बालरामायण, १, ३६)

भाग २, पृ० २७३ रावण-सम्बन्धी 'वक्तु सर्व यदाज्ञाम् ' छन्द उद्धृत है।

भाग २, पृ० २७३ पर एक छन्द दिया गया है, जिसमे श्रीसघ नामक किसी राजा का गुण-गान है।

मदरास]

[अनु०—श्री कृष्णदत्त बाजपेयी
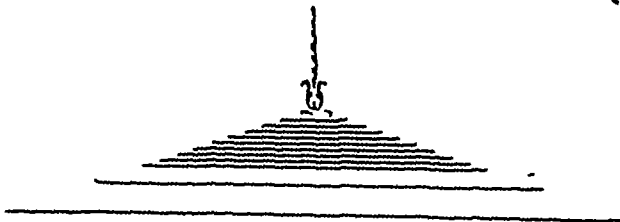
अपभ्रंश भाषा का 'जम्बूस्वामिचरित' और महाकवि वीर

प० परमानन्द जैन शास्त्री

भारतीय साहित्य में जैन-वाङ्मय अपनी विशेषता रखता है। जैनियो का साहित्य भारत की विभिन्न भाषाओ में देखा जाता है। सस्कृत, प्राकृत, अर्धमागधी, शौरसैनी, महाराष्ट्री, अपभ्रश, तामिल, तेलगू, कनडी, हिन्दी, मराठी, गुजराती और बँगला आदि भाषाओ में ऐसी कोई प्राचीन भाषा अवशिष्ट नही है, जिसमे जैन-साहित्य की सृष्टि न की गई हो। इतना ही नही, अपितु दर्शन, सिद्धान्त, व्याकरण, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, छन्द, अलकार, पुराण चरित तथा मन्त्र-तन्त्रादि सभी विषयो पर विपुल जैन-साहित्य उपलब्ध होता है। यद्यपि राज-विप्लवादि उपद्रवो के कारण जैनियो का बहुत-सा प्राचीन बहुमूल्य साहित्य नष्ट हो चुका है, तथापि जो कुछ किसी तरह बच गया है, उससे उसकी महानता एव विशालता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। जैनियो के पुराण और चरित-ग्रन्थो का अधिकतर निर्माण सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भाषा में हुआ है। यहाँ अपभ्रश भाषा के एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन चरित-ग्रन्थ और उसके लेखक का कुछ परिचय देना ही इस लेख का प्रमुख विषय है। यद्यपि इस भाषा का पूरा इतिहास अभी तक अनिश्चित है—इसके उत्थान-पतन, अभ्युदय और अस्त का कोई क्रमिक और प्रामाणिक इतिवृत्त अभी तक नही लिखा गया, जिसकी बडी आवश्यकता है—तो भी ईसा की छठी शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक इस भाषा में अनेक ग्रन्थो की रचनाएँ होती रही है, ऐसा उपलब्ध रचनाओ से ज्ञात होता है। जिस समय प्रस्तुत चरित-ग्रन्थ की रचना हुई, अपभ्रश भाषा का वह मध्याह्न काल था। उस समय यह भाषा केवल सब की बोल-चाल की ही भाषा नही बनी हुई थी, बल्कि महान् साहित्यिक विद्वानो की नव्यकृतियो का निर्माण भी इसी भाषा मे किया जाता था। उस समय तथा उससे पूर्व के रचे हुए इस भाषा के ग्रन्थो को देखने से यह स्पष्ट अनुभव होता है कि उस समय इस भाषा की ओर कवियो का विशेष अनुराग था और जनता उस प्रचलित भाषा मे अनेक ग्रन्थो का निर्माण कराना अपना कर्तव्य समझती थी। साहित्य-जगत में इसका महान् आदर था। भाषा मे सौष्ठवता, सरसता, अर्थगौरवता और पदलालित्य की कमी नहीं है। पद्धडिया, चौपई, दुवई, सग्गिणी, गाहा, घत्ता और त्रिभगी आदि छन्दो मे ग्रन्थो की रचना बडी ही प्रिय और मनोरजक मालूम होती है और पढते समय कवि के हृदयगत भावो का सजीव चित्र अकित होता जाता है। भाषा की प्राञ्जलता उसे बार-बार पढने के लिए प्रेरित एव आकर्षित करती है। यह भाषा ही उत्तरकाल में अपने अधिकतम विकसित रूप को प्रकट करती हुई हिन्दी, मराठी और गुजराती आदि भाषाओ की जननी हुई है—स्वयभू और पुष्पदन्तादि महाकवियो की कृतियो का रसास्वादन करने से इस भाषा की गम्भीरता सरसता, सरलता और अर्थ-प्रबोधकता का पद-पद पर अनुभव होता है।

ग्रन्थ परिचय

इस ग्रन्थ का नाम 'जम्बूस्वामिचरित' है। इसमें जैनियो के अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी के जीवन-चरित का अच्छा चित्रण किया गया है। यह ग्रन्थ उपलब्ध साहित्य मे अपभ्रश भाषा का सबसे प्राचीन चरित-ग्रन्थ है। अब तक इससे पुरातन कोई चरित-ग्रन्थ, जिसका स्वतन्त्र रूप मे निर्माण हुआ हो, देखने मे नही आया। हाँ, आचार्य गुणभद्र और महाकवि पुष्पदन्त के उत्तर पुराणो में जम्बूस्वामी के चरित पर सक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। श्वेताम्ब-रीय सम्प्रदाय में भी जम्बूस्वामी के जीवन परिचायक ग्रन्थ लिखे गये है। जैन-ग्रन्थावलि से मालूम होता है कि उक्त सम्प्रदाय में 'जम्बूपयन्ना' नाम का एक ग्रन्थ है, जो डेकन कालेज, पूना के भडार मे अब भी विद्यमान है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने परिशिष्ट पर्व में जम्बूस्वामी के चरित का सक्षिप्त चित्रण किया है और पन्द्रहवीं शताब्दी के विद्वान

जयशेखरसूरि ने ७२६ पद्यो में जम्बूस्वामी के चरित का निर्माण किया है। इनके सिवाय पद्मसुन्दर आदि विद्वानो ने भी जम्बूस्वामी के चरित पर प्रकाश डाला है। इनमें 'जम्बूपयन्ना' का काल अनिश्चित है और वह ग्रन्थ भी अभी तक प्रकाश मे नही आया है। इसके सिवाय शेष सब ग्रन्थ प्रस्तुत जम्बूस्वामीचरित से बाद की रचनाएँ है। उभय सम्प्रदाय के इन चरित ग्रन्थो मे वर्णित कथा मे परस्पर कुछ भेद जरूर पाया जाता है। उस पर यहाँ प्रकाश डालना उचित नही।

किसी ग्रन्थ की रचना किसी भी भाषा मे क्यो न की गई हो, परन्तु उस भाषा का प्रौढ विद्वान कवि अपनी आन्तरिक विशुद्धता, क्षयोपशम की विशेषता और कवित्वशक्ति से उस ग्रथ को इतना अधिक आकर्षक बना देता है कि पढने वाले व्यक्ति के हृदय मे उस ग्रन्थ और उसके निर्माता कवि के प्रति आदरभाव उत्पन्न हुए बिना नही रहता। ग्रन्थ को सरस और सालकार बनाने मे कवि की प्रतिभा और आन्तरिक चित्तशुद्धि ही प्रधान कारण है।

"जिन कवियों का सम्पूर्ण शब्दसन्दोहरूप चन्द्रमा मतिरूप स्फटिक मे प्रतिबिम्बित होता है उन कवियो मे भी ऊपर किसी ही कवि की बुद्धि क्या अदृष्ट अपूर्व अर्थ मे स्फुरित नही होती है ? जरूर होती है।"[1]

ग्रन्थकार ने अपने उक्त भाव की पुष्टि मे निम्न पद्य दिया है—

> स कोप्यतर्वेद्यो वचनपरिपाटीं गमयत, कवे कस्याप्यर्थ स्फुरति हृदि वाचामविषय ।
> सरस्वत्यप्यर्थान्निगदनविधौ यस्य विषमामनात्मीया चेष्टामनुभवति कष्ट च मनुते ॥

अर्थात्—काव्य के विषम अर्थ को कहने मे सरस्वती भी अनात्मीय चेष्टा का अनुभव करती है और कष्ट मानती है। किन्तु वचन की परिपाटी को जनाने वाले अन्तर्वेदी किसी कवि के हृदय मे ही किसी-किसी पद्य या वाक्य का वह अर्थ स्फुरायमान होता है, जो वचन का विषय नही है। लेकिन जिनकी भारती (वाणी) लोक में रसभाव का उद्भावन तो करती है परन्तु महान् प्रबन्ध के निर्माण में स्पष्ट रूप से विस्तृत नही होती, ग्रन्थकार की दृष्टि में, वे कवीन्द्र ही नही है।[2]

प्रस्तुत ग्रथ की भाषा बहुत ही प्राञ्जल, सुबोध, सरस और गम्भीर अर्थ की प्रतिपादक है और इसमे पुष्पदन्तादि महाकवियो के काव्य-ग्रन्थो की भाषा के समान ही प्रौढता और अर्थगौरव की छटा यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है।

जम्बूस्वामी अन्तिम केवली है, इसे दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदाय वाले निर्विवाद रूप से मानते है और भगवान महावीर के निर्वाण से जम्बूस्वामी के निर्वाण तक की परम्परा भी उभय सम्प्रदायो में प्राय एक-सी है, किन्तु उसके बाद दोनो में मतभेद पाया जाता है।[3] जम्बूस्वामी अपने समय के प्रसिद्ध ऐतिहासिक महापुरुष हुए है। वे काम के असाधारण विजेता थे। उनके लोकोत्तर जीवन की पावन झाँकी ही चरित्र-निष्ठा का एक महान्

---

[1] जाण समग्गसदोह स्सेंदुउ रमइ मइफडक्कमि।
ताण पि हु उवरिल्ला कस्स व बुद्धी न परिप्फुरई ॥५॥
—जबूस्वामीचरित सधि १

[2] मा होतु ते कइदा गरुयपवधे विजाण निव्वूढा।
रसभावमुग्गिरती वित्थरइ न भारई भुवणे ॥२॥
—जबूस्वा० स० १

[3] दिगम्बर परपरा में जबूस्वामी के पश्चात् विष्णु, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली माने जाते हैं, किन्तु श्वेताम्बरीय परपरा में प्रभव, शय्यभव, यशोभद्र, आर्यसभूतिविजय, और भद्रबाहु इन पाँच श्रुतकेवलियो का नामोल्लेख पाया जाता है। इनमें भद्रबाहु को छोडकर चार नाम एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है।

आदर्श रूप जगत् को प्रदान करती है। इनके पवित्रतम उपदेश को पाकर ही विद्युच्चर जैसा महान् चोर भी अपने चौरकर्मादि दुष्कर्मों का परित्याग कर अपने पाँच सौ योद्धाओ के साथ महान् तपस्वियो मे अग्रणीय तपस्वी हो जाता है और व्यतरादिकृत महान् उपसर्गो को ससघ साम्यभाव से सह कर सहिष्णुता का एक महान् आदर्श उपस्थित करता है।

उस समय मगध देश का शासक राजा श्रेणिक था, जिसे बिम्बसार भी कहते है। उसकी राजधानी 'रायगिह' (राजगृह) कहलाती थी, जिसे वर्तमान में लोग राजगिर के नाम से पुकारते है। ग्रन्थकर्त्ता ने मगध देश और राजगृह का वर्णन करते हुए और वहाँ के राजा श्रेणिक का परिचय देते हुए उसके प्रतापादि का जो सक्षिप्त वर्णन किया है, उसके तीन पद्य यहाँ दिये जाते है—

"चडभुअदडखडियपयडमडलियमडली वि सड्ढें ।
धाराखडणभीयव्व जयसिरी वसइ जस्स खग्गके ॥१॥
रे रे पलाह कायर मुहइ पेक्खइ न सगरे सामी ।
इय जस्स पयावघोसणाए विहडति वइरिणो दूरे ॥२॥
जस्स रक्खिय गोमडलस्स पुरुसुत्तमस्स पद्धाए ।
के के सवा न जाया समरे गयपहरणा रिउणो ॥३॥"

अर्थात्—"जिसके प्रचड भुजदड के द्वारा प्रचड माडलिक राजाओ का समूह खडित हो गया है, (जिसने अपनी भुजाओ के बल से माडलिक राजाओ को जीत लिया है) और धारा-खडन के भय से ही मानो जयश्री जिसके खड्गाङ्क में बसती है।

"राजा श्रेणिक सग्राम मे युद्ध से सत्रस्त कायर पुरुषो का मुख नही देखते, 'रे, रे कायर पुरुषो! भाग जाओ' —इस प्रकार जिसके प्रताप वर्णन से ही शत्रु दूर भाग जाते है। गोमडल (गायो का समूह) जिस तरह पुरुषोत्तम विष्णु के द्वारा रक्षित रहता है, उसी तरह यह पृथ्वीमडल भी पुरुषो मे उत्तम राजा श्रेणिक के द्वारा रक्षित रहता है। राजा श्रेणिक के समक्ष युद्ध में ऐसे कौन शत्रु-सुभट है, जो मृत्यु को प्राप्त नही हुए, अथवा जिन्होने केशव (विष्णु) के आगे आयुधरहित होकर आत्म-समर्पण नही किया।"

इस तरह ग्रन्थ का कथाभाग बहुत ही सुन्दर, सरस और मनोरजक है और कवि ने काव्योचित सभी गुणो का ध्यान रखते हुए उसे पठनीय बनाने का प्रयत्न किया है।

ग्रन्थ निर्माण में प्रेरक

इस ग्रन्थ की रचना मे जिनकी प्रेरणा को पाकर कवि प्रवृत्त हुआ है, उसका परिचय ग्रन्थकार ने निम्नरूप से दिया है—

मालवा में धक्कडवश[1] के तिलक महासूदन के पुत्र तक्खडु श्रेष्ठी रहते थे। यह ग्रन्थकार के पिता महाकवि देवदत्त के परम मित्र थे। इन्होने ही वीर कवि से जम्बूस्वामीचरित के सकलन करने की प्रेरणा की थी और तक्खडु

[1] यह वश ग्यारहवीं बारहवीं, और तेरहवीं शताब्दियो में खूब प्रसिद्ध रहा। इस वश में दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनो ही सम्प्रदायों की मान्यता वाले थे। दिगम्बर सम्प्रदाय के कई विद्वान् इसी वश में हुए है, जैसे भविसयत्तकहा के कर्ता कवि धनपाल और धर्मपरीक्षा के कर्ता हरिषेण। हरिषेण ने अपनी धर्मपरीक्षा वि०स० १०४४ में बनाई थी। अत यह धक्कड या धर्कट वश इससे भी प्राचीन जान पडता है। देलवाडा के वि० स० १२८७ के तेजपाल वा लेशिलालेख में धर्कट या धक्कड जाति का उल्लेख है—लेखक।

श्रेष्ठी के कनिष्ट भ्राता भरत ने उसे अधिक सक्षिप्त और अधिक विस्तृत रूप से न कह कर सामान्य कथावस्तु को ही कहने का आग्रह किया था और तक्खडु श्रेष्ठी ने भरत के कथन का समर्थन किया और इस तरह ग्रन्थकर्ता ने ग्रन्थ बनाने का उद्यम किया।

ग्रथकार

इस ग्रन्थ के कर्त्ता महाकवि वीर है, जो विनयशील विद्वान और कवि थे। इनकी चार स्त्रियाँ थी। जिनवती, पोमावती, लीलावती और जयादेवी और नेमिचन्द्र नाम का एक पुत्र भी था।[1] महाकवि वीर विद्वान और कवि होने के साथ-साथ गुणग्राही न्याय-प्रिय और समुदार व्यक्ति थे। उनकी गुण-ग्राहकता का स्पष्ट उल्लेख ग्रन्थ की चतुर्थ सन्धि के प्रारम्भ मे पाये जानेवाले निम्न पद्य से होता है—

अगुणा ण मुणति गुण गुणिणो न सहति परगुणे दट्ठु।
वल्लहगुणा वि गुणिणो विरला कइ वीर-सारिच्छा॥

अर्थात्—"अगुण अथवा निर्गुण पुरुष गुणो को नही जानता और गुणीजन दूसरे के गुणो को भी नही देखते, उन्हे सहन भी नही कर सकते, परन्तु वीर कवि के सदृश कवि विरले है, जो दूसरो के गुणो को समादर की दृष्टि से देखते है।"

कवि का वश और माता-पिता

कवि वीर के पिता गुडखेड देश के निवासी थे और इनका वश अथवा गोत्र 'लाड वागड' था। यह वश काष्ठा सघ की एक शाखा है[2]। इस वश में अनेक दिगम्बराचार्य और भट्टारक हुए है, जैसे जयसेन, गुणाकरसेन और महासेन[3] तथा स० ११४५ के दूबकुण्ड वाले शिलालेख मे उल्लिखित देवसेन आदि। इससे इस वश की प्रतिष्ठा का अनुमान किया जा सकता है। इनके पिता का नाम देवदत्त था। यह 'महाकवि' विशेषण से भूषित थे और सम्यक्त्वादि गुण से अलकृत। इनकी दो रचनाओ का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ मे किया गया है। एक 'वरागचरित', जिसका इन्होने पद्धडिया छन्द मे उद्धार किया था। दूसरी 'अम्बादेवीरास', जो इनकी स्वतन्त्र कृति मालूम होती है। ये दोनो कृतियाँ अभी तक अप्राप्य है। सम्भव है, किसी भडार में हो और वे प्रयत्न करने पर मिल जायँ। इनकी माता का नाम 'सन्तु' अथवा 'सन्तुव' था, जो शीलगुण से अलकृत थी। इनके तीन लघु सहोदर और थे, जो बडे ही बुद्धिमान् थे और जिनके नाम 'सीहल्ल', 'लक्खणक' और 'जसई' थे, जैसा कि प्रशस्ति के निम्न पद्यो से प्रकट है—

---

[1] जाया जस्स मणिट्ठा जिणवइ पोमावइ पुणो बीया।
लीलावइत्ति तईया पच्छिम भज्जा जयादेवी॥८॥
पढम कलत्त गरुहो सताण कमत्त विडवि पारोहो।
विणयगुणमणिणिहाणो तणओ तह णेमिचंदो त्ति॥

—जबूस्वामिचरितप्रशस्ति।

[2] काष्ठा सघो भुविख्यातो जानन्ति नृसुरासुरा:।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुता क्षितौ॥
श्रीनन्दितटसज्ञश्च माथुरो वागडाभिध।
लाडवाग इत्येते विख्याता क्षिति मण्डले॥

—पट्टावलि भ० सुरेन्द्रकीर्ति।

[3] देखो, महासेन प्रद्युम्नचरित प्रशस्ति, कारजा प्रति।

जस्स कइ-देवयत्तो जणयो सच्चरियलद्धमाहप्पो ।
सुहसीलसुद्धवसो जणणी सिरिसतुआ भणिया ॥६॥
जस्स य पसण्णवयणा लहुणो सुमइ ससहोयरा तिण्णि ।
सीहल्ल लक्खणका जसइ णामे त्ति विक्खाया ॥७॥

चूंकि कविवर वीर का बहुत सा समय राज्यकार्य, धर्म, अर्थ और काम की गोष्ठी में व्यतीत होता था, इसलिये इन्हें इस जम्बूस्वामीचरित नामक ग्रन्थ के निर्माण करने में पूरा एक वर्ष का समय लग गया था।[1] कवि 'वीर' केवल कवि ही नही थे, बल्कि भक्तिरस के भी प्रेमी थे। इन्होने मेघवन[2] में पत्थर का एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था और उसी मेघवन पट्टण में वर्द्धमान जिन की विशाल प्रतिमा की प्रतिष्ठा भी की थी।[3] कवि ने प्रशस्ति में मन्दिर-निर्माण और प्रतिमा-प्रतिष्टा के सवतादि का कोई उल्लेख नही किया। फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि जम्बूस्वामि-चरित ग्रन्थ की रचना से पूर्व ही उक्त दोनो कार्य सम्पन्न हो चुके थे।

पूर्ववर्ती विद्वानों का उल्लेख

ग्रन्थ में कवि ने अपने से पूर्ववर्ती निम्न विद्वान कवियो का उल्लेख किया है शान्ति कवि,[4] जो कवि होते हुए भी वादीन्द्र थे और जयकवि,[5] जिनका पूरा नाम जयदेव मालूम होता है, जिनकी वाणी अदृष्ट अपूर्व अर्थ में स्फुरित होती है।

यह जयकवि वही मालूम होते है, जिनका उल्लेख जयकीर्ति ने अपने छन्दानुशासन मे किया है।[6]

इनके सिवाय स्वयभूदेव, पुष्पदन्त और देवदत्त का भी उल्लेख किया है।[7]

---

[1] बहुरायकज्जधम्मत्थकामगोट्ठीविहत्तसमयस्स ।
वीरस्स चरियकरणे इक्को संवच्छरो लग्गो ॥५॥—जंबूस्वामिचरित प्र० ।

[2] प्रयत्न करने पर भी 'मेघवन' का कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं हो सका ।

[3] सो जयउ कइ वीरो वीरजिणदस्स कारिय जेण ।
पाहाणमय भवण पियरुद्देसेण मेहवणे ॥
इत्थेव दिणे मेहवण पट्टणे वड्ढमाणजिणपडिमा ।
तेणावि महाकइणा वीरेण पयट्ठिया पवरा ॥—जबूस्वामिचरित प्र० ।

[4] सतिकई वाई विहू वण्णुक्करिसेसु फुरियविण्णाणो ।
रससिद्धिसचियत्थो विरलो वाई कई एक्को ॥३॥

[5] विजयतु जए कइणो जाण वाण अइट्ठपुव्यत्थे ।
उज्जोइय धरणियलो साहइ वट्टिव्व णिव्वडइ ॥४॥
—जबूस्वामीचरित प्रश० ।

[6] माण्डव्य-पिंगल-जनाश्रय-सेतवाख्य,
श्रीपूज्यपाद-जयदेव-बुधादिकानाम् ।
छदासि वीक्ष्य विविधानपि सत्प्रयोगान्
छदोनुशासनमिद जयकीर्तिनोक्तम् ॥—जैसलमेर भण्डारग्रन्थसूची ।

[7] सते सयभूएए वे एक्को कइ त्ति बिन्नि पुणु भणिया ।
जायम्मि पुप्फयते तिण्णि तहा देवयत्तम्मि ॥
—देखो जबूचरित, सधि ५ का आदिभाग ।

ग्रन्थ का रचनाकाल

भगवान महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम काल की उत्पत्ति होती है और विक्रम काल के १०७६ वर्ष व्यतीत होने पर माघ शुक्ला दसमी के दिन इस जम्बूस्वामीचरित्र का आचार्य-परम्परा से सुने हुए बहुलार्थक प्रशस्त पदो मे सकलित कर उद्धार किया गया, जैसा कि ग्रन्थ प्रशस्ति के निम्न पद्य से प्रकट है—

वरिसाण सयचउक्के सत्तरिजुत्ते जिणेंद वीरस्स।
णिव्वाणा उववण्णा विक्कमकालस्स उप्पत्ती ॥१॥
विक्कमणिवकालाओ छाहत्तरदससएसु वरिसाण।
माहम्मि सुद्धपक्खे दसमीदिवसम्मि सतम्मि ॥२॥
सुणिय आयरियपरंपराए वीरेण वीरणिद्दिट्ठ।
बहुलत्थ पसत्थपय पवरमिण चरियमुद्धरिय ॥३॥

इस प्रकार यह ग्रन्थ जीवन-परिचय के साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्तियो के उल्लेखो और उनके सामान्य परिचयो से परिपूर्ण है। इसमे भगवान महावीर और उनके समकालीन व्यक्तियो का परिचय उपलब्ध होता है, जो इतिहासज्ञो और अन्वेषण-कर्ताओ के लिए बड़ा ही उपयोगी होगा।

× × ×

यह ग्रन्थ-प्रति भट्टारक महेन्द्र कीर्ति अम्बेर या आमेर के शास्त्रभडार की है, जो पहले किसी समय जयपुर राज्य की राजधानी थी। इस प्रति की लेखक-प्रशस्ति के तीन ही पद्य समुपलब्ध हैं, क्योकि ७६वे पत्र से आगे का ७७वाँ पत्र उपलब्ध नही है। उन पद्यो में से प्रथम व द्वितीय पद्य मे प्रति-लिपि के स्थान का नाम-निर्देश करते हुए 'झुझुना' के उत्तुग जिन-मन्दिरो का भी उल्लेख किया है और तृतीय पद्य मे उसका लिपि-समय विक्रम सवत् १५१६ मगसिर शुक्ला त्रयोदशी बतलाया है, जिससे यह प्रति पाँच सौ वर्ष के लगभग पुरानी जान पडती है।[1]

सरसावा]

---

[1] मन्ये वय पुण्यपुरी बभाति, सा झुझणेति प्रकटीबभूव।
प्रोत्तुगनन्मडनचैत्यगेहा सोपानवद्दृश्यति नाकलोके ॥१॥
पुरस्सरारामजलप्रप्र, कूपा हर्म्याणि तत्रास्ति रतीव रम्या (?)।
दृश्यन्ति लोका घनपुण्यभाजो ददाति दानस्य विशालशाला ॥२॥
श्रीविक्रमार्केन गते शताब्दे, षडेकपचैकसुमार्ग्रशीर्षे।
त्रयोदशीया तिथिसर्वशुद्धा श्रीजबूस्वामीति च पुस्तकोऽय ॥३॥

षट्खंडागम, कम्मपयडी, सतक और सित्तरी प्रकरण

[क्या इनका एक ही उद्गम है ?]

प० हीरालाल जैन

जिस प्रकार पट्खडागम दिगम्बर सम्प्रदाय का आद्य परम मान्य सिद्धान्त ग्रन्थ माना जाता है, उसी प्रकार कम्मपयडी, सतक और सित्तरी प्रकरण नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे प्रामाणिक एव प्राचीन शास्त्र माने जाते हैं। सर्वसाधारण पट्खडागम को दिगम्बर ग्रन्थ और कम्मपयडी, सतक और सित्तरी को श्वेताम्बर ग्रन्थ समझते है, परन्तु जब उक्त चारो ग्रन्थो की उत्थानिकाओं को देखते है तो एक नये ही रहस्य का उद्घाटन होता है। इसलिए उक्त चारो ग्रन्थो की उत्थानिकाओ पर पाठको को दृष्टिपात करना आवश्यक है।

पट्खडागम की प्रसिद्ध धवला टीका मे उसकी उत्पत्ति का जो उद्गम बतलाया गया है वह इस प्रकार है—

एत्थ किमायारादो, एव पुच्छा सव्वेसिं। णो आयारादो, एव वारणा सव्वेसिं। दिट्ठिवादादो। (पट्ख० भाग १, पृ० १०८) तस्स पच अत्थाहियारा हवति, परियम्म-सुत्त-पढमाणियोग-पुव्वगय चूलिया चेदि। (पट्ख० भा० १, पृ० १०९) एत्थ किं परियम्मादो, किं सुत्तादो ? एव पुच्छा सव्वेसिं। णो परियम्मादो, णो सुत्तादो, एव वारणा सव्वेसिं। पुव्वगयादो। (तस्स) अत्थाहियारो चोद्दसविहो। त जहा—उत्पादपूर्व××× इत्यादि। (पट्ख० भा० १, पृ० ११४) एत्थ किमुप्पाय पुव्वादो, किमग्गेणियादो ? एव पुच्छा सव्वेसिं। णो उप्पायपुव्वादो, एव वारणा सव्वेसिं। अग्गेणियादो। ××× (तस्स) अत्थाधियारो चोद्दसविहो। त जहा-पुव्वते, अवरते, धुवे, अद्धुवे, चयणलद्धी××× इत्यादि। एत्थ किं पुव्वन्तादो, किं अवरन्तादो ? एव पुच्छा सव्वेसि कायव्वा। णो पुव्वत्तादो, णो अवरन्तादो, एव वारणा सव्वेसिं कायव्वा। **चयणलद्धीदो**। (पट्ख० भा० १, पृ० १२३) ××× (तस्स) अत्थाधियारो वीसदिविधो। एत्थ किं पढमपाहुडादो, किं विदियपाहुडादो ? एव पुच्छा सव्वेसिं णेयव्वा। णो पढमपाहुडादो, णो विदियापाहुडादो, एव वारणा सव्वेसिं णेयव्वा। **चउत्थपाहुडादो** ××× **कम्मपयडिपाहुडादो**। (पट्ख० भा० १, पृ० १२८) ××× तस्स अत्थाहियारो चउवीसदिविहो। त जहा— **कदी, वेदणाए, फासे, कम्मे, पयडीसु, बधणे, णिबधणे, पक्कमे, उवक्कमे, उदये, मोक्खे, सकमे, लेस्सा, लेस्सायम्मे, लेस्सा परिणामे, सादमसादे, दीहे, रहस्से, भवधारणीये, पोग्गलत्ता, णिधत्तमणिधत्तं, णिकाचिदमणिकाचिद, कम्मट्ठिदी, पच्छिमक्खधेत्ति**। अप्पाबहुग च सव्वत्थ। ××× एत्थ किं कदीदो, किं वेयणादो, एव पुच्छा सव्वत्थ कायव्वा। णो कदीदो, णो वेयणादो, एव वारणा सव्वेसिं णेयव्वा। **बधणादो**। ××× तस्स अत्थाधियारो **चउव्विहो**। त जहा—**बधो, बधगो, बधणिज्जो, बधविधाण** चेदि। एत्थ किं बधादो, एव पुच्छा सव्वेसि कायव्वा। णो बधादो णो बधणिज्जादो। बधगादो, बधविधाणादो च। ××× बधविधाण चउव्विह। त जहा—पयडिबधो, ट्ठिदि-बधो, अणुभागबधो, पदेसबधो चेदि। तत्थ जो सो पयडिबधो सो दुविहो, मूलपयडिबधो, उत्तरपयडिबधो चेदि। ××× इत्यादि (पट्ख० भा० १, पृ० १२५-१२६)

सतकप्रकरण की उत्थानिका मे चूर्णिकार ने उसकी उत्पत्ति का जो क्रम बतलाया है, वह उपर्युक्त शब्दो में ही इस प्रकार है—

××× **दिट्ठिवायादो** कहेमि। किं परिकम्म-सुत्त-पढमाणुओग-पुव्वगय-चूलिगासइयातो सव्वाओ दिट्ठि-वायाओ कहेसि ? न इत्युच्यते **पुव्वगयाओ**। किं उप्पायपुव्व अग्गेणिय जाव लोगविदुसाराओ त्ति एयाओ चोद्दस-विहाओ सव्वाओ पुव्वगयाओ कहेसि ? न इत्युच्यते, **अग्गेणियातो** वीयाओ पुव्वातो। किं अट्ठवत्थुपरिणामाओ

अग्गेणियपुव्वातो सव्वातो कहेमि ? न इत्युच्यते, पुव्वते, अवरते, धुवे, अधुवे चवणलद्धीणाम पचम वत्यू, ततो पचमातो वत्यूतो कहेमि। किं सव्वातो वीसइपाहुडपमाणमेत्तातो कहेसि, न इत्युच्यते, तम्म पचमस्स वत्युस्स चउत्थ पाहुड कम्मपगडी नामधेज्ज, ततो कहेमि। तस्स चउवीस अणुजोगदाराइ भवति। त जहा—

कइ[1] वेदणा[2] य फासे[3] कम्मे[4] पगडी[5] य वधण[6] णिवधे[7], ।
पक्कम[8] उवक्क[9]मुदए[10] मोक्खे[11]पुण सकमे[12] लेस्सा[13] ॥१॥
लेसाकम्मे[14] लेस्सापरिणामे[15] तह य सायमस्साते[16]।
दीहे हस्से[17] भवधारणीय[18] तह पोग्गला[19] अत्ता[20]॥२॥
णिहत्तमणिहत्त[21] च णिक्काइयमणिक्काइय[22] कम्मट्ठिती[23]।
पच्छिमखधे[24] अप्पाबहुग च सव्वत्थओ ॥३॥ त्ति।

किं सव्वतो चउवीसाणुओगदारमइयातो कहेसि ? न इत्युच्यते, तस्स छट्ठमणुओगदार वधण ति ततो कहेमि। तस्स चत्तारि भेदा। त जहा—बधो, बधगो, बधणीय बधविहाण ति। किं सव्वातो चउव्विहाणओगदारातो कहेसि ? न इत्युच्यते, बधविहाण ति चउत्थमणुओगदार, ततो कहेमि। तस्स चत्तारि विभागा। त जहा—पगइबधो ठिइबधो, अणुभागबधो पदेसबधो त्ति मूलुत्तरपगइभेयभिन्नो। × × × (शतकप्रकरणपत्र २)

अब जरा सित्तरी प्रकरण की उत्थानिका देखिए—

'सिद्धपद दिट्ठिवायस्स' त्ति परिकम्म १ सुत्त २ पढमाणुओग, ३ पुव्वगय ४ चूलियामय ५ पचविहमूलभेयस्स दिट्ठिवायस्स, तत्थ चोद्दसण्ह पुव्वाण बीयाओ अग्गेणियपुव्वाओ, तस्स वि पचमवत्थूउ, तस्स वि वीसपाहुडपरिमाणस्स कम्मपगडिणामधेज्ज चउत्थ पाहुड तओ नीणिय चउवीसाणुओगदारमइयमहण्णवस्सेव एगो विंदू, तओ वि इमे तिण्णि अत्थाहिगारा नीणिया, तम्हा 'सीसदो दिट्ठिवायस्स' त्ति भण्णइ। (सित्तरीचुण्णि पत्र २)

कम्मपयडीग्रन्थ तो उक्त विच्छिन्न हुए महाकम्मपयडिपाहुडका सक्षिप्त एव सगृहीत अग है, यह बात उसकी उत्थानिका मे चूर्णिकार स्पष्टरूप से लिख रहे हैं—

× × × दुस्समावलेण खीयमाणमेहाउ सद्धासवेगउज्जमारभ अज्जकालिय साहुजण अणुग्घेत्तुकामेण विच्छिन्नकम्मपयडिमहागथत्थसबोहणत्थ आरद्ध आइरिएण तग्गुणणामग कम्मपयडीसगहणी णाम पगरण।

(कम्मपयडीचूर्णि पत्र १)

इस प्रकार उक्त अवतरणो से यह भलीभाँति सिद्ध है कि षट्खडागम, कम्मपयडी, सतक और सित्तरी प्रकरण, इन चारो का मूल स्रोत या उद्गमस्थान एक महाकम्मपयडिपाहुड ही है।

प्रसन्नता के साथ आश्चर्य की बात तो यह है कि इनमे से षट्खडागम अपनी विशाल धवला टीका के साथ मूडबिद्री के एकमात्र दिगम्बर जैन सरस्वती भडार मे सुरक्षित रहा और शेष के तीनो ग्रन्थ एकमात्र श्वेताम्बर सरस्वती भडारो मे सुरक्षित रहे। क्या यह बात दोनो सम्प्रदायो की समान विरासत या बपौती की परिचायक नही है ?

षट्खडागम के कर्त्ता भगवान् पुष्पदन्त भूतवलि आचार्य है और वे विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी मे हुए है। कम्मपयडी और सतक के कर्त्ता शिवशर्मसूरि है और विद्वानो ने इनका समय विक्रम की पाचवी शताब्दी माना है। सित्तरी के कर्त्ता का अभी तक नाम अज्ञात है तथापि उसकी रचना का काल विक्रम की चौथी-छठी शताब्दी के मध्यवर्त्ती प्रतीत होता है।

कम्मपयडी और सतक के कर्त्ता शिवशर्मसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य माने जाते है, तथापि श्वेताम्बर आगमसूत्रो से तथा चन्द्रर्षिमहत्तर प्रणीत प्रसिद्ध पचसग्रह से कई एक सिद्धान्तो एव मन्तव्यो मे विरोध मिलता है। यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है और वह यह कि जहाँ पचसग्रह की कितनी ही मान्यताएँ श्वेताम्बर

आगमो से मिलती है वहाँ कम्मपयडी की तत्सम्वन्धी मान्यताएँ दिगम्वर आगमो मे मिलती है । उदाहरण के रूप मे यहाँ दो-एक मान्यताओ का उल्लेख कर देना अप्रासगिक न होगा।

(१) कम्मपयडीकार ने तीर्थंकर और आहारकद्विक की जघन्य स्थिति अन्त कोडाफोडी सागरोपम की वतलाई है, मगर श्वेताम्वर पचसग्रहकार तीर्थंकर प्रकृति की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष और आहारकद्विक की अन्तर्मुहूर्त्तमात्र ही मानते है।

(२) आयुकर्म की आवाधा वतलाते हुए कम्मपयडीकार अनपवर्त्त्यायुष्को की आवाधा छ मास कहते है मगर पचसग्रहकार पल्योपम का असख्यातवाँ भाग वतलाते है।

आश्चर्य नही जो कम्मपयडीकार और सित्तरीकार दोनो ही पट्खडागमकार की ही आम्नाय के हो और उनकी कुछ विशेष मान्यताओ को श्वेताम्वर आगमो मे प्रतिकूल देखकर ही चन्द्रर्षिमहत्तर ने कर्मप्रकृति, शतक, सप्ततिका नाम वाले नये प्रकरणो की रचना की हो।

कम्मपयडी की वर्तमान में तीन टीकाएँ उपलव्ध है, जिनमें सवमे प्राचीन अज्ञात आचार्य-विरचित चूर्णि है, जो कि सभी विवादस्थ मन्तव्यो मे मूलकार के समान दिगम्वर आगमो का अनुसरण करती है। इसी चूर्णि के आधार पर रची गई दूसरी सस्कृत टीका आचार्य मलयगिरि की और तीसरी उपाध्याय यशोविजय की है। ये दोनो ही स्पष्टत श्वेताम्वर आचार्य है और सभी विवाद-ग्रस्त विषयो पर श्वेताम्वर आगमो का अनुसरण करते है।

निष्कर्ष

इस प्रकार उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि पट्खडागम, कम्मपयडी, सतक और सित्तरी इन चारो ग्रन्थो का एक ही उद्गमस्थान है और वह है द्वादशाग श्रुतज्ञान के वारहवे अग दृष्टिवाद के द्वितीय अग्रायणी पूर्व का पचम च्यवनवस्तु-गत चतुर्थ महाकम्मपयडिपाहुड। यहाँ एक वात और भी ध्यान देने योग्य यह है कि पट्खडागम, कम्मपयडी आदि उक्त चारो ग्रन्थो के निर्माण काल तक जैनपरम्परा मे दृष्टिवाद का पठन-पाठन प्रचलित था, भले ही वह उसके एक देश मात्र का ही क्यो न रह गया हो। दूसरी वात यह सिद्ध होती है कि उक्त चारो ग्रन्थो की रचना श्वेताम्वर सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध आचारागादि आगमसूत्रो की सकलना के पूर्व हो चुकी थी, क्योकि उनकी सकलना के समय यह घोषित किया गया है कि अव दृष्टिवाद नष्ट या विच्छिन्न हो चुका है। अव केवल एक वात विचारणीय रह जाती है कि **उक्त चारो ग्रथों के रचयिता आचार्य भी क्या एक ही आचार्य-परम्परा के है ?**

उज्जैन]

अश है ही नही। असल में सग्रह और सकलन चाहे जब क्यो न किया जाय उसमें प्राचीन अशो का यथासम्भव सुरक्षित रक्खा जाना ही अधिक सगत जान पडता है। और फिर वल्लभी की सभा ने पाटलिपुत्र और मथुरा वाली सभा के सकलन का ही सस्कार या जीर्णोद्धार किया था, कुछ नया सकलन नही किया था।

दिगम्बरो के मत से भगवान् महावीर की दिव्यवाणी को अवधारण करके उनके प्रथम शिष्य इन्द्रभूति (गौतम) गणधर ने अग-पूर्व ग्रन्थो की रचना की[1]। फिर उन्हें अपने सधर्मा सुधर्मा (लोहार्य) को और सुधर्मा स्वामी ने जम्बूस्वामी को दिया। जम्बूस्वामी से अन्य मुनियो ने उनका अध्ययन किया। यह सब महावीर स्वामी के जीवन-काल में हुआ। इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। इन्हें पूर्वोक्त अग और पूर्वों का सम्पूर्ण ज्ञान था। महावीर-निर्वाण के ६२ वर्ष बाद तक जम्बूस्वामी का और उनके १०० वर्ष बाद तक भद्रबाहु का समय है। अर्थात् दिगम्बर शास्त्रो के अनुसार महावीर-निर्वाण के १६२ वर्ष बाद तक अग और पूर्वों का अस्तित्व रहा।

इसके बाद वे क्रमश लुप्त होते गये और वीर-निर्वाण ६८३ तक एक तरह से सर्वथा लुप्त हो गये। अन्तिम अगधारी लोहार्य (द्वितीय) बतलाये गये हैं, जिनको केवल एक आचाराग का ज्ञान था।

इसके बाद अग और पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता और उस एकदेश के भी अशो के ज्ञाता आचार्य हुए, जिनमें सौराष्ट्र के गिरिनगर के धरसेनाचार्य का नाम उल्लेखनीय है। उन्हे अग्रायणीपूर्व के पचमवस्तुगत महाकर्मप्राभृत का ज्ञान था। इन्होने अपने अन्तिम काल में आन्ध्रदेश से भूतबलि और पुष्पदन्त नामक शिष्यो को बुला कर पढाया और तब इन शिष्यो ने विक्रम की लगभग दूसरी शताब्दी मे षट्खडागम तथा कषायप्राभृत सिद्धान्तो की रचना की। ये सिद्धान्त-ग्रन्थ बडी विशाल टीकाओ के सहित अब तक सिर्फ कर्णाटक के मूडबिद्री नामक स्थान में सुरक्षित थे, अन्यत्र कहीं नहीं थे। कुछ ही समय हुआ इनमें से दो टीका-ग्रन्थ धवला और जय-धवला बाहर आये हैं और उनमें से एक वीरसेनाचार्यकृत धवला टीका का प्रकाशन आरम्भ हो गया है। इस टीका के निर्माण का समय शक सवत् ७३८ है।

ऐसा मालूम होता है कि श्वेताम्बर-मान्य अग-ग्रन्थ एक काल के लिखे हुए नही हैं। सम्भवत इनकी रचना महावीर-निर्वाण के अव्यवहित बाद से लेकर कुछ-न-कुछ देवर्द्धिगणि के काल तक होती रही होगी। इसका एक प्रमाण यह भी है कि आर्य सुधर्म, आर्य श्याम और भद्रबाहु आदि महावीर के परवर्ती अनेक आचार्य अगो और उपागो के रचयिता माने जाते हैं।

सम्पूर्ण जैनागम छ भागो में विभक्त है—(१) बारह अग, (२) बारह उवग या उपाग, (३) दस पइण्णा या प्रकीर्णक, (४) छ छेयसुत्त या छेदसूत्र, (५) दो सूत्र-ग्रन्थ, (६) चार मूल सुत्त या मूल सूत्र। ये सभी ग्रन्थ आर्ष या अर्ध-मागधी प्राकृत में लिखे हुए हैं। कुछ आचार्यों के मत से बारहवाँ अग दृष्टिवाद सस्कृत में था। बाक़ी जैनसाहित्य महाराष्ट्री प्राकृत, अपभ्रश और सस्कृत में है।

अंग और उपाग—

पहला अग आयारगसुत्त या आचाराङ्ग सूत्र है, जो दो विस्तृत श्रुत-स्कधो में जैन मुनियो के कर्तव्याकर्तव्य-आचार का निर्देश करता है। विद्वानो के मत से इसका प्रथम श्रुतस्कन्ध दूसरे से पुराना होना चाहिए। बौद्ध साहित्य में जिस प्रकार गद्य-पद्यमय रचनाएँ पाई जाती हैं, ठीक वैसी ही इसमें भी हैं। जैन और बौद्ध शास्त्रो में जो अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है, वह यह है कि जहाँ बौद्ध सघ के नियमो में बहुत-कुछ ढील दिखलाई पडती है, वहाँ जैन-सघ के नियमो और अनुशासनो में बडी कडाई की व्यवस्था है।

---

[1] तेनेन्द्रभूतिगणिना तद्दिव्यवचोऽवबुध्य तत्त्वेन।
ग्रन्थोऽङ्गपूर्व-नाम्ना प्रतिरचितो युगपदपराह्णे। ६६—श्रुतावतार

वारह अग ये हैं १ आयारग सुत्त (आचाराग सूत्र), २ सूयगडग (सूत्रकृताग), ३ ठाणाङ्ग (स्थनानाङ्ग), ४ समवायग (समवायाग), ५ भगवती वियाहपण्णत्ति (भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति), ६ नाया धम्मकहाओ (ज्ञातृधर्मकथा), ७ उवासगदसाओ (उपासकदशा), ८ अन्तगडदसाओ (अन्तकृद्दशा), ९ अणुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरोपपातिक-दशा), १० पण्हवागरणाइ (प्रश्नव्याकरणानि), ११ विवागसुय (विपाकश्रुत) और १२ दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद)।

वारह उपाग ये हैं १ उववाइय (औपपातिक), २ रायपसेणइज्ज (राजप्रश्नीय), ३ जीवाभिगम, ४ पन्नवणा (प्रज्ञापना), ५ सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति), ६ जम्बुद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति), ७ चन्द-पण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), ८ निरयावली (नरकावलिका), ९ कप्पावडसिआओ (कल्पावतसिका), १० पुप्फचूलिआओ (पुप्पचूलिका), ११वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)।

दस पइण्णा (प्रकीर्णक) ये हैं १ वीरभद्रलिखित चउसरण (चतु शरण), २ आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), ३ भत्तपरिण्णा (भक्तपरिज्ञा), ४ सथार (सस्तार), ५ तडुल-वेयालिय (तन्दुलवैचारिक) ६ चन्दाविज्झय (चन्द्रवेधक), ७ देविन्दत्थअ (देवेन्द्रस्तव), ८ गणिविज्जा (गणिविद्या), ९ महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान), १० वीरत्थअ (वीरस्तव)।

छ छेदसूत्र ये हैं १ निसीह (निशीथ), २ महानिसीह (महानिशीथ), ३ ववहार (व्यवहार), ४ आचार-दसाओ (आचारदशा), ५ कप्प (वृहत्कल्प), ६ पचकप्प (पचकल्प)। पचकल्प के वदले कोई-कोई जिनभद्र-रचित जीयकप्प या जीतकल्प को छठा सूत्र मानते है।

चार मूल सुत्त (मूलसूत्र) ये हैं १ उत्तराज्झाय (उत्तराध्याया) या उत्तरज्झयन (उत्तराध्ययन), २ आवस्सय (आवश्यक), ३ दसवेयालिय (शवैकालिक), ४ पिण्डनिज्जुत्ति (पिण्डनिर्युक्ति)। तृतीय और चतुर्थ मूलसूत्रो के स्थान पर कभी-कभी ओहनिज्जुत्ति (ओघनिर्युक्ति) और पक्खी सुत्त (पाक्षिक सूत्र) का नाम लिया जाता है।

दो और ग्रथ इस प्रकार है—१ नन्दीसुत्त (नन्दिसूत्र) और २ अणुयोगदार (अनुयोगद्वार)।

इस प्रकार इन ४५ ग्रन्थो को सिद्धान्त-ग्रन्थ माना जाता है, पर कही-कही इन ग्रन्थो के नामो में मतभेद भी पाया जाता है। मतभेद वाले ग्रन्थो को भी सिद्धान्त-ग्रन्थ मान लिया जाय तो उनकी सख्या सव मिला कर ५० के आसपास होती है। अगो में साधारणत जैन तत्त्ववाद, विरुद्धमत का खडन और जैन ऐतिहासिक कहानियाँ विवृत है। अनेको में आचार-व्रत आदि का वर्णन है। उपागो में से कई (नम्वर ५, ६, ७) वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उनमें ज्योतिष, भूगोल, खगोल आदि का वर्णन है। सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति (दोनो प्राय समान वर्णन वाले है) ससार के ज्योतिषिक साहित्य में अपना अद्वितीय सिद्धान्त उपस्थित करती है। इनके अनुसार आकाश में दिखने वाले ज्योतिष्क पिण्ड दो-दो है, अर्थात् दो सूर्य है, दो-दो नक्षत्र। वेदाग ज्योतिष की भाँति ये दोनो ग्रन्थ खीष्टपूर्व छठी शताव्दी के भारतीय ज्योतिष-विज्ञान के रेकर्ड है। सव मिला कर जैन सिद्धान्त-ग्रन्थो में बहुत ज्ञातव्य और महत्त्वपूर्ण सामग्री विखरी पडी है, पर वौद्धसाहित्य की भाँति इस साहित्य ने अव तक देश-विदेश के पडितो का ध्यान आकृष्ट नही किया है। कारण कुछ तो इनकी प्रतिपादन-शैली की शुष्कता है और कुछ उस वस्तु का अभाव, जिसे आधुनिक पडित Human Interest कहते है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपपण्णत्ति को उपाग माना है और दिगम्वरो ने दृष्टिवाद के पहले भेद परिकर्म में इनकी गणना की है। इसी तरह श्वेताम्वरो के अनुसार जो सामायिक, सस्तव, वन्दना और प्रतिक्रमण दूसरे मूलसूत्र आवश्यक के अश विशेष है उन्हें दिगम्वरो ने अग-वाह्य के चौदह भेदो मे गिनाया है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार और निशीथ नामक ग्रन्थ भी अगवाह्य वतलाये गये है। अगो के अतिरिक्त जो भी साहित्य है वह सव अगवाह्य है। अगप्रविष्ट और अगवाह्य भेद श्वेताम्वर सम्प्रदाय मे भी माने गये है और उपाग एक तरह से अगवाह्य ही है। दिगम्बर सम्प्रदाय में उपाग भेद का उल्लेख नही है।

परन्तु उक्त अग और अग वाह्य ग्रन्थो के दिगम्वर सम्प्रदाय में सिर्फ नाम ही नाम है । इन नामो का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है । उनका कहना है कि वे सव नष्ट हो चुके है ।

दिगम्वरो ने एक दूसरे ढग से भी समस्त जैनसाहित्य का वर्गीकरण करके उसे चार भागो में विभक्त किया है (१) प्रथमानुयोग जिसमें पुराण पुरुषो के चरित और कथाग्रन्थ है, जैसे पद्मपुराण, हरिवशपुराण, त्रिषष्टिलक्षण-महापुराण (आदिपुराण और उत्तरपुराण), (२) करणानुयोग जिसमें भूगोल-खगोल का, चारो गतियो का और काल-विभाग का वर्णन है, जैसे त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, जम्वूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्य-चन्द्र-प्रज्ञप्ति आदि। (३) द्रव्यानुयोग जिसमें जीव-अजीव आदि तत्त्वो का, पुण्य-पाप वन्व-मोक्ष का वर्णन हो, जैसे कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय, उमास्वाति का तत्त्वार्थाधिगम आदि। (४) चरणानुयोग जिसमें मुनियो और श्रावको के आचार का वर्णन हो, जैसे वट्टकेर का मूलाचार, आशाघर के सागार-अनगारधर्मामृत, समन्तभद्र का रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि । इन चार अनुयोगो को वेद भी कहा गया है ।

दिगम्वर-सम्प्रदाय के अनुसार वारह अगो के नाम वही है, जो ऊपर लिखे गये है । वारहवें अग दृष्टिवाद के पाँच भेद किये है—१ परिकर्म, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ पूर्वगत और ५ चूलिका । फिर पूर्वगत के चौदह भेद वतलाये है—१ उत्पादपूर्व, २ अग्रायणी, ३ वीर्यानुप्रवाद, ४ अस्तिनास्तिप्रवाद, ५ ज्ञानप्रवाद, ६ सत्यप्रवाद, ७ आत्मप्रवाद, ८ कर्मप्रवाद, ९ प्रत्याख्यान, १० विद्यानुप्रवाद, ११ कल्याण, १२ प्राणावाय, १३ क्रियाविशाल और १४ लोकविन्दुसार । इन वारहो अगो की रचना भगवान् के साक्षात शिष्य गणधरो द्वारा हुई वतलाई गई है । इनके अतिरिक्त जो साहित्य है वह अगवाह्य नाम से अभिहित किया गया है । उसके चौदह भेद है, जिन्हें प्रकीर्णक कहते है १ सामायिक, २ सस्तव, ३ वन्दना, ४ प्रतिक्रमण, ५ विनय, ६ कृतिकर्म, ७ दशवैकालिक, ८ उत्तराध्ययन, ९ कल्पव्यवहार, १० कल्पाकल्प, ११ महाकल्प, १२ पुण्डरीक, १३ महापुण्डरीक, १४ निशीथ । इन प्रकीर्णको के रचयिता आरातीय मुनि वतलाये गये है जो अग-पूर्वों के एकदेश के ज्ञाता थे ।

सिद्धान्तोत्तर साहित्य

देवर्धिगणि के सिद्धान्त-ग्रन्थ सकलन के पहले से ही जैन आचार्यों के ग्रन्थ लिखने का प्रमाण पाया जाता है । सिद्धान्त-ग्रन्थो में कुछ ग्रन्थ ऐसे है, जिन्हें निश्चित रुप से किसी आचार्य की कृति कहा जा सकता है । वाद में तो ऐसे ग्रन्थो की भरमार हो गई । साधारणत ये ग्रन्थ जैन प्राकृत में लिखे जाते रहे, पर सस्कृत भाषा ने भी सन् ईसवी के वाद प्रवेश पाया । कई जैन आचार्यों ने सस्कृत भाषा पर भी अधिकार कर लिया, फिर भी प्राकृत और अपभ्रश को त्यागा नही गया । सस्कृत को भी लोक-सुलभ बनाने की चेष्टा की गई। यह पहले ही वताया गया है कि भद्रवाहु महावीर स्वामी के निर्वाण की दूसरी शताब्दी में वर्तमान थे । कल्पसूत्र उन्ही का लिखा हुआ कहा जाता है । दिगम्वर लोग एक और भद्रवाहु की चर्चा करते है, जो सन् ईसवी से १२ वर्ष पहले हुए थे । यह कहना कठिन है कि कल्पसूत्र किस भद्रवाहु की रचना है । कुन्दकुन्द ने प्राकृत में ही ग्रन्थ लिखे है । इनके सिवाय उमास्वामी या उमास्वाति, वट्टकेर, सिद्धसेन दिवाकर, विमलसूरि, पालित्त, आदि आचार्य सन् ईसवी के कुछ आगे-पीछे उत्पन्न हुए, जिनमें से कई दोनो सम्प्रदायो में समान भाव से आदृत है । पाँचवी शताब्दी के वाद एक प्रसिद्ध दार्शनिक और वैयाकरण हुए, जिन्हें देवनन्दि (पूज्यपाद) कहते है । सातवी-आठवी शताब्दी भारतीय दर्शन के इतिहास में अपनी उज्ज्वल आभा छोड गई । प्रसिद्ध मीमासक कुमारिल भट्ट का जन्म इन्ही शताब्दियो में हुआ, जिन्होने वौद्धो और जैन आचार्यों (विशेषकर समन्तभद्र और अकलक) पर कटु आक्रमण किया तथा वदले में जैन आचार्यो (विशेप रूप से प्रभाचन्द्र और विद्यानन्द) द्वारा प्रत्याक्रमण पाया । इन्ही शताब्दियो में सुप्रसिद्ध आचार्य शकर स्वामी हुए, जिन्होने अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठा की । इस शताब्दी में सर्वाधिक प्रतिभाशाली जैन आचार्य हरिभद्र हुए, जो ब्राह्मणवश में उत्पन्न होकर समस्त ब्राह्मण शास्त्रो के अध्ययन के वाद जैन हुए थे । इनके लिखे हुए ८८ ग्रन्थ प्राप्त हुए है, जिनमें वहुत-से छप चुके है ।

बारहवीं शताब्दी में प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने दर्शन, व्याकरण और काव्य तीनो में समान भाव से कलम चलाई। इन नाना विषयो मे, नाना भाषाओ मे और नाना मतो में अगाध पाडित्य प्राप्त करने के कारण इन्हें शिष्यमडली 'कलिकालसर्वज्ञ' कहा करती थी। इस शताब्दी में और इसके बाद भी जैन-ग्रन्थो और टीकाओ की बाढ-सी आ गई। इन दिनो की लिखी हुई सिद्धान्त-ग्रन्थो की अनेक टीकाएँ बहुत ही महत्त्व-पूर्ण है। असल में यह युग ही टीकाओ का था। भारतीय मनीषा सर्वत्र टीका में व्यस्त थी।

विमलसूरि का पउमचरिय (पद्मचरित) नामक प्राकृत काव्य, जो शायद सन् ईसवी के आरम्भकाल में लिखा गया था, काफी मनोरजक है। इसमें राम की कथा है, जो हिन्दुओ की रामायण से बहुत भिन्न है। ग्रन्थ मे वाल्मीकि को मिथ्यावादी कहा गया है। इस पर से यह अनुमान करना असगत नही कि कवि ने वाल्मीकि रामायण को देखा था। दशरथ की तीन रानियो में कौशल्या के स्थान पर अपराजिता नाम है, जो पद्म या राम की माता थी। दशरथ के बडे भाई थे अनन्तरथ। ये जैन साधु हो गये थे, इसीलिये दशरथ को राज्य लेना पडा। जनक ने अपनी कन्या सीता को राम से ब्याहने का इसलिए विचार किया था कि राम (पद्म) ने म्लेच्छो के विरुद्ध जनक की सहायता की थी। परन्तु विद्याधर लोग झगड पडे कि सीता पहले से उनके राजकुमार चन्द्रगति की वाग्दत्ता थी। इसी झगडे को मिटाने के लिए धनुषवाली स्वयवर सभा हुई थी। अन्त में दशरथ जैन भिक्षु हो गये। भरत की भी यही इच्छा थी, पर राम और कैकेयी के आग्रह से वे तब तक के लिए राज्य सँभालने को प्रस्तुत हो गये जब तक पद्म (राम) न लौट आवे। आगे की कथा प्राय सब वही है। अन्त में राम को निर्वाण प्राप्त होता है। यहाँ राम सम्पूर्ण जैन वातावरण में पले है।

सन् ६७५ में रविषेण ने सस्कृत में जो पद्मचरित लिखा वह विमल के प्राकृत पउमचरिय का प्राय सस्कृत रूपान्तर या अनुवाद है। गुणभद्र भदन्त के उत्तरपुराण के ६८वें पर्व में और हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित के ७वें पर्व में भी यह कथा है। हेमचन्द्र की कृति को जैन-रामायण भी कहते हैं। रामायण की भाँति महाभारत की कथा भी जैन ग्रन्थो में बार-बार आई है। सबसे पुराना सघदास गणिका वसुदेवहिण्डि नामक विशाल ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है और सस्कृत में शायद पुन्नाट-सघ के आचार्य जिनसेन का ६६ सर्गी हरिवशपुराण है। सकलकीर्ति आदि और भी अनेक विद्वानो ने हरिवशपुराण लिखे हैं। इसी तरह १२०० ई० में मलधारि देवप्रभसूरि ने पाण्डव-चरित नामक एक काव्य लिखा था, जो महाभारत का सक्षिप्त रूप है। १६वी शताब्दी में शुभचन्द्र ने एक पाण्डव-पुराण, जिसे जैन महाभारत भी कहते है, लिखा था। अपभ्रश भाषा में तो महापुराण, हरिवशपुराण, पद्म-पुराण स्वयभू पुष्पदन्त आदि अनेक कवियो ने लिखे है।

जैनपुराणों के मूल प्रतिपाद्य विषय ६३ महापुरुषो के चरित्र हैं। इनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव हैं। इन चरित्रो के आधार पर लिखे गये ग्रन्थो को दिगम्बर लोग साधारणत 'पुराण' कहते हैं और श्वेताम्बर लोग 'चरित'। पुराणो में सबसे पुराना त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण (सक्षेप में महापुराण) है, जिसके आदिपुराण और उत्तरपुराण, ऐसे दो भाग है। आदिपुराण के अन्तिम पाँच अध्यायो को छोड कर बाकी के लेखक जिनसेन (पचस्तूपान्वयी) हैं तथा अन्तिम पाँच अध्याय और समूचा उत्तरपुराण उनके शिष्य गुणभद्र का लिखा हुआ। पुराणो की कथाएँ बहुधा राजा श्रेणिक (बिम्बिसार) के प्रश्न करने पर गौतम गणधर द्वारा कहलाई गई है। महापुराण का रचनाकाल शायद सन् ईसवी की नवीं शताब्दी है। इन पुराणो से मिलते हुए श्वेताम्बर चरितो में सब से प्रसिद्ध है हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, जिसे आचार्य ने स्वय महाकाव्य कहा है। इस अश की बहुत-सी कहानियाँ यूरोपियनों के मत से विश्व-साहित्य में स्थान पाने योग्य है। वीरनन्दि का चन्द्रप्रभचरित, वादिराज का पार्श्वनाथचरित, हरिचन्द्र का धर्मशर्माभ्युदय, धनजय का द्विसन्धान, वाग्भट का नेमिनिर्वाण, अभयदेव का जयन्त-विजय, मुनिचन्द्र का शान्तिनाथचरित, आदि उच्च कोटि के महाकाव्य है। ऐसे भी चरित है, जो ६३ पुराणपुरुषो के अतिरिक्त अन्य प्रद्युम्न, नागकुमार, वराग, यशोधर, जीवधर, जम्बूस्वामी, जिनदत्त, श्रीपाल आदि महात्माओ

के हैं और इनकी सख्या काफी अधिक है। पार्श्वनाथ के चरित को अवलम्बन करके लिखे गये काव्यो की भी सख्या कम नही है। वादिराज, असग, वादिचन्द्र, सकलकीर्ति, माणिक्यचन्द्र, भावदेव और उदयवीरगणि आदि अनेक दिगम्बर-श्वेताम्बर कवियो ने इस विषय पर खूब लेखनी चलाई है।

जैनो के साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अग प्रबन्ध है, जिन्हें ऐतिहासिक विवृतियाँ कह सकते है। चन्द्रप्रभसूरि का प्रभावकचरित, मेरुतुङ्ग का प्रबन्ध-चिन्तामणि (१३०६ ई०), राजशेखर का प्रबन्ध कोष (१३०८ ई०), जिनप्रभसूरि का तीर्थकल्प (१३२६-३१ ई०) आदि रचनाएँ नाना दृष्टियो से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इन प्रबन्धो ने इस बात को असिद्ध कर दिया है कि भारतीयो में ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव था। इसी प्रकार जैन मुनियो की लिखी कहानियो की पुस्तकें भी काफी मनोरजक है। पालित्त (पादलिप्त) सूरि की तरङ्गवती कथा काफी प्राचीन पुस्तक है। हरिभद्र का प्राकृत गद्यकाव्य समराइच्च-कहा एक धार्मिक कथा-ग्रन्थ है। इसी तरह की 'कुवलयमाला' कथा भी है, जिसके रचयिता दाक्षिण्य-चिह्न उद्योतन सूरि है (आठवी शताब्दी)। इसी के अनुकरण पर सिद्धर्षि ने सस्कृत में उपमितिभव-प्रपञ्चकथा लिखी थी (९०६ ई०)। धनपाल का अपभ्रश काव्य 'भविसयत्त-कहा' काफी प्रसिद्ध है। ऐसी और भी अनेक कथाएँ लिखी गई है। यद्यपि ये धर्म-कथाएँ कही जाती है, पर अधिकाश में काल्पनिक कहानियाँ है। चम्पू जाति के काव्य भी जैन साहित्य में बहुत अधिक है। सोमदेव का यशस्तिलक (९५९ ई०) काफी प्रसिद्धि पा चुका है। हरिचन्द्र का जीवन्धरचम्पू, अर्हद्दास का पुरुदेवचम्पू (१३वी सदी) आदि इसी जाति की रचनाएँ है। धनपाल की तिलक-मजरी (९७० ई०), ओडयदेव (वादीभसिंह) की गद्यचिन्तामणि कादम्बरी के ढङ्ग के गद्य-काव्य है (११वी सदी)। इनके अतिरिक्त कहानियो की और भी दर्जनो पुस्तकें है, जिनका मूल उद्देश्य जैनधर्म की महिमा वर्णन करना है। कथाओ के कई सग्रह भी है, जो कथाकोश कहलाते है। इनमें पुन्नाटसघ के आचार्य हरिषेण का कथाकोश सब से पुराना है (ई० स० ९३२)। प्रभाचन्द्र, नेमिदत्तब्रह्मचारी, रामचन्द्र मुमुक्षु आदि के कथाकोश अपेक्षाकृत नवीन है।

श्रीचन्द्र का एक कथाकोष अपभ्रश भाषा में भी है। ऐसे ही जिनेश्वर, देवभद्र, राजशेखर, हेमहस आदि के कथा-ग्रन्थ है। यह साहित्य इतना विशाल है कि इस क्षुद्रकाय परिचय में सबका नाम देना भी मुश्किल है। नाना दृष्टियो से, विशेषकर जन साधारण के जीवन के सम्बन्ध में, जानने के लिए इन ग्रन्थो का बहुत महत्त्व है।

जैन आचार्यो ने नाटक भी लिखे है जिनमें से अधिकाश असाम्प्रदायिक है। हेचन्द्राचार्य के शिष्य रामचन्द्र सूरि के कई नाटक है। नलविलास, सत्यहरिश्चन्द्र, कौमुदीमित्रानन्द, राघवाभ्युदय, निर्भय-भीम-व्यायोग आदि नाटक प्रसिद्ध है। कहते है, इन्होने १०० प्रकरण-ग्रन्थ लिखे थे। विजयपाल के द्रौपदीस्वयवर, हस्तिमल्ल के विक्रान्त-कौरव और सुभद्राहरण में भी महाभारतीय कथाओ को नाटक का रूप दिया गया है। हस्तिमल्ल ने रामायण की कथा का आश्रय लेकर मैथिली कल्याण और अजनापवनजय नामक दो और नाटक लिखे है। यशश्चन्द्र का मुद्रित कुमुदचन्द्र एक साम्प्रदायिक नाटक है, जिसमें कुमुदचन्द्र नामक दिगम्बर पडित का श्वेताम्बर पडित से पराजित होना वर्णन किया गया है (११२४ ई०)। वादिचन्द्रसूरि का ज्ञानसूर्योदय श्रीकृष्ण मिश्र के सुप्रसिद्ध 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक के ढग का एक तरह से उसके उत्तर रूप मे लिखा हुआ नाटक है। जयसिंह का हम्मीर-मद-मर्दन ऐतिहासिक नाटक है। सन् १२०३ ई० के आसपास यश पाल ने मोहराज-पराजय नामक रूपक लिखा था। मेघप्रभाचार्य का धर्माभ्युदय काफी मशहूर है।

काव्य नाटको के सिवा जैन कवियो ने हिन्दू और बौद्ध आचार्यों की भाँति एक बहुत बड़े स्तोत्र साहित्य की भी रचना की है। नीति-ग्रन्थो की भी जैन साहित्य में कमी नही है। राष्ट्रकूट अमोघवर्ष की प्रश्नोत्तर रत्नमाला को ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सभी अपनी सम्पत्ति मानते है। इसके सिवा प्राकृत और सस्कृत में जैन पंडितो के लिखे हुए विविध नीतिग्रन्थ बहुत अधिक है। दिगम्बर आचार्य अमितगति के सुभाषितरत्नसन्दोह, योगसार और धर्मपरीक्षा (१०९३ ई०) महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इन ग्रन्थो में सभी जैन-प्रिय विषय है वैराग्य, स्त्री-निन्दा, ब्राह्मण-निन्दा, त्याग

इत्यादि। हेमचन्द्र का योगशास्त्र और शुभचन्द्रका ज्ञानार्णव बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ हैं। और भी अनेक नीतिग्रन्थ हैं, जिनमें सोमप्रभ के कुमारपालप्रतिबोध, सूक्तिमुक्तावली और शृगारवैराग्यतरगिणी, चारित्रसुन्दर का शीलदूत (१४२० ई०), समयसुन्दर की गाथासहस्री (१६३० ई०) प्रसिद्ध हैं।

लेकिन जैन आचार्यों का सबसे महत्त्वपूर्ण अग है उनकी दार्शनिक सैद्धान्तिक उक्तियाँ। यह जानी हुई बात है कि इन पडितो ने न्यायशास्त्र को पूर्णता तक पहुँचाया है। कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र, कार्तिकेय स्वामी, उमास्वाति, देवनन्दि, अकलक, प्रभाचन्द्र, वादिराज, सोमदेव, आशाधर आदि दिगम्बर आचार्यों ने भारतीय चिन्ता-धारा को बहुत अधिक समृद्ध किया है। इसी प्रकार श्वेताम्बर आचार्यों मे हरिभद्र, मल्लवादी, वादि-देवसूरि, मल्लिषेण, अभयदेव, हेमचन्द्र, यशोविजय आदि ने जैनदर्शन पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं, जो निश्चित रूप से भारतीय पाण्डित्य की भूषण हैं। इन दार्शनिक ग्रन्थो के सिवाय जैन सम्प्रदाय के बाहर नाना क्षेत्रो में, जैसे काव्य नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोष, अलकार, गणित और राजनीति आदि विषयो पर भी जैन आचार्यों ने लिखा है। बौद्धो की अपेक्षा वे इस क्षेत्र में अधिक असाम्प्रदायिक है। फिर गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलगु, तामिल और विशेष रूप से कन्नडी, साहित्य में भी उनका दान अत्यधिक है। कन्नडी साहित्य पर तो ईसा की तेरहवी शताब्दी तक जैनो का एकाधिपत्य रहा है। कन्नडी के उपलब्ध साहित्य के लगभग दो-तिहाई ग्रन्थ जैन विद्वानो के रचे हुए हैं। इस प्रकार भारतीय चिन्ता की समृद्धि में यह सम्प्रदाय बहुत महत्त्वपूर्ण है।

शातिनिकेतन]
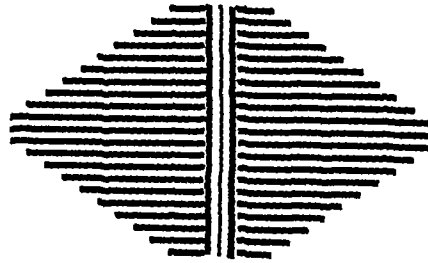
जैन साहित्य में प्राचीन ऐतिहासिक स ग्री

श्री कामताप्रसाद जैन

जैन साहित्य जितना ही विशाल है, उतना ही वह अज्ञात भी है। उसके अनेक बहुमूल्य रत्न आज भी किसी एकान्त भण्डार की शोभा बढा रहे हैं। बाहर की दुनिया की बात तो न्यारी है, स्वय जैनियो को ही यह पता नही कि उनके घर में कैसे-कैसे अनूठे रत्न हैं। उन रत्नो को प्रकाश में लाने का उद्योग यद्यपि अब होने लगा है, तथापि वह सन्तोषजनक नही है। उस पर, जो भी प्रकाशन होता है वह जैनो के खास समुदाय तक सीमित रहता है। जैनो ने ऐसा कोई प्रबन्ध नही किया है, जिससे उनका साहित्य अजैन विद्वानो को सुलभता से प्राप्त हो सके। यही कारण है कि जैन साहित्य के महत्त्व को आधुनिक साहित्यरथी नही आँक पाये हैं। इसमें दोष हमारा ही है। श्री नाथूराम जी 'प्रेमी' ने अपने व्यक्तिगत आदर्श से इस दोष को हल्का करने का उद्योग बहुत पहले किया था, परन्तु अकेले उनका यह कार्य न था। उनके आदर्श का अनुकरण जैनो को सामूहिक रूप में करना चाहिए। ऐसा करने से ही जैन साहित्य का वास्तविक स्वरूप बाह्य जगत को ज्ञात होगा।

जैन साहित्य पर एक विहगम दृष्टि डालने से ही उसका विशाल रूप स्पष्ट हो जाता है। उपलब्ध जैन साहित्य की मूल आधार-शिला जिनेन्द्र महावीर वर्द्धमान की, जिन्हें निर्ग्रन्थ ज्ञात्रिपुत्र भी कहते हैं, वाणी है। जिनेन्द्र महावीर के मुखारविन्द से जो वाणी निर्गत हुई, उसी की ग्रन्थबद्ध रचना गणधर इन्द्रभूति गौतम ने की थी। वह जिन-वाणी बारह अङ्ग-ग्रन्थो में रची गई थी। बारहवें दृष्टिवाद अग में चौदह पूर्व-ग्रन्थो का समावेश था। इसके अतिरिक्त अङ्गबाह्य प्रकीर्णक साहित्य भी था। किन्तु जैनो का यह प्राचीन साहित्य पुरातन परिपाटी के अनुसार मेधावी ऋषिवरो की स्मृति में सुरक्षित था। ज्यो-ज्यो ऋषिवरो की स्मृति क्षीण होती गई, जैनो का यह प्राचीन साहित्य लुप्त होता गया। कलिङ्ग चक्रवर्ती एल० खारवेल ने इस जैन वाङ्मय के उद्धार का उद्योग जैनयतिवरो का सम्मेलन बुलाकर किया था,[1] किन्तु उनका यह स्तुत्य प्रयास भी काल की करालगति को रोक न सका। अलबत्ता उस सम्मेलन में यदि अवशेष अङ्ग साहित्य लिपिबद्ध कर लिया जाता तो जैन साहित्य की अमूल्य निधि सर्वथा लुप्त न होती, किन्तु मालूम ऐसा होता है कि जैन अङ्ग-ग्रन्थो के विशाल रूप और उनके प्रति विनयभाव ने उस सम्मेलन में लिपिबद्ध करने का प्रश्न ही उपस्थित नही होने दिया। दिगम्बर जैन कहते हैं कि अङ्ग-गत अर्द्धमागधी भाषा का वह मूल साहित्य प्राय सर्वलुप्त हो गया। दृष्टिवाद अङ्ग के पूर्वगत-ग्रन्थ का कुछ अश ईस्वी प्रारभिक शताब्दी में श्रीधर सेनाचार्य को ज्ञात था। उन्होने देखा कि यदि वह शेषाश भी लिपिबद्ध नही किया जायगा तो जिनवाणी का सर्वथा अभाव हो जायगा। फलत उन्होने श्री पुष्पदन्त और श्री भूतबलि सदृश मेधावी ऋषियोको बुलाकर गिरिनार की चन्द्रगुफा में उसे लिपिबद्ध करा दिया। उन दोनो ऋषिवरो ने उस लिपिबद्ध श्रुतज्ञान को ज्येष्ठ शुक्ला पचमी के दिन सर्व सघ के समक्ष उपस्थित किया था। वह पवित्र दिन 'श्रुत पचमी' पर्व के नाम से प्रसिद्ध है और साहित्योद्धार का प्रेरक कारण बन रहा है।[2] यह तो दिगम्बर जैनो की मान्यता है, परन्तु श्वेताम्बर जैन ऐसा नही मानते। वह समग्र अर्द्धमागधी अङ्ग-साहित्य को सुसस्कृत रूप मे उपलब्ध बताते हैं। उनके यहाँ अङ्ग-ग्रन्थ है भी। श्वेताम्बर जैन 'आचाराङ्ग-सूत्र' के कुछ अश का एव पूर्वगत साहित्य का सर्वथा लोप हुआ बताते हैं। उनका यह अङ्ग-साहित्य ईस्वी छठी-सातवी शताब्दी मे

---

[1] जर्नल ऑव दी बिहार ऐंड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भा० १३; पृ० २३६

[2] धवला टीका (अमरावती) भा० १, भूमिका पृ० १३-३२

वल्लभी नगर में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा लिपिबद्ध किया गया था।[1] अतएव अर्द्धमागधी प्राकृत अङ्गसाहित्य का स्थान जैनो में विशिष्ट है। उसमें भ० महावीर के समय के धार्मिक जगत का विवरण देखने को मिलता है। यही नही, उस काल से पहले का इतिवृत भी उसमें सुरक्षित है। साथ ही ईस्वी प्रारभिक शताब्दी तक के राजाओ और आचार्यों का भी परिचय उससे उपलब्ध है। सम्राट् विक्रमादित्य के व्यक्तित्व और उनके जीवन पर उल्लेखनीय प्रकाश 'कालककथा' आदि अर्द्धमागधी जैन साहित्य ग्रन्थो से ही पडा है। भारतीय काल-गणना में भी इन ग्रन्थो मे सुरक्षित कालगणना मुख्य रूप में सहायक है।[2] प्राचीन भारतीय जीवन की झाकी इन जैनग्रन्थो में देखने को मिलती है, किन्तु पालीपिटक (बौद्ध) ग्रन्थो के आधार से जहाँ 'बौद्धकालीन भारत' (Buddhist India) लिखा गया है, वहाँ अभी तक उस अर्द्धमागधी जैनसाहित्य के आधार से 'जैन भारत' (Jainist India) लिखा जाना शेष है। श्री राधाकुमुद मुकर्जी सदृश विद्वान् इस प्रकार की पुस्तक लिखे जाने की आवश्यकता व्यक्त कर चुके है। उन्होने मुझे लिखा था कि मै ऐसी पुस्तक लिखू, परन्तु उसकी पूर्ति अभी तक नही हो सकी है। साराश यह कि अर्द्ध-मागधी जैन साहित्य प्राचीन भारत के इतिहास को जानने के लिए बहुमूल्य सामग्री से ओतप्रोत है। इसलिए डा० मुकर्जी जैन ग्रन्थो के आधार से भारतवर्ष का परिचय लिखने का परामर्श देते है। अर्द्धमागधी जैन साहित्य एव प्रकीर्णक जैन साहित्य के परिचय के लिए हाल ही मे पूना के प्रसिद्ध भाण्डारकर पुरातत्व-मन्दिर द्वारा प्रकाशित प्रो० वेलणकर द्वारा बीस वर्ष में सकलित 'जैनरत्नकोष' नामक ग्रन्थ द्रष्टव्य है। उसके आधार से अग्रेजी-विज्ञ पाठक उप-लब्ध जैनसाहित्य का पता पा सकेंगे।

पूर्वोक्त अर्द्धमागधी अङ्ग साहित्य के अतिरिक्त प्रकीर्णक जैन साहित्य भी अपार है और उसमें भी ऐति-हासिक सामग्री विखरी हुई पडी है। प्राकृत, अपभ्रश, सस्कृत, हिन्दी, गुजराती, तामिल, कन्नड आदि भाषाओ में भी जैनो ने ठोस साहित्य-रचना की है। इन भाषाओ के जैन साहित्य में भी उनके रचनाकाल के राज्य-समाज और धर्म-प्रवृत्ति का इतिहास सुरक्षित है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य के प्राकृत-भाषा-ग्रन्थ भारतीय अध्यात्म-विचार-सरणी के लिए अपूर्व निधि है। उन्होने तत्कालीन मत-मतान्तरो पर यत्र-तत्र प्रकाश डाला है। साथ ही उनसे पहले हुए कई आचार्यों का भी उल्लेख उन्होने किया है।

अपभ्रश-प्राकृत-साहित्य पर तो जैनो का ही पूर्णाधिकार है। जैन शास्त्र भडारो से अपभ्रश प्राकृत भाषा के अनेक ग्रन्थरत्न उपलब्ध हुए है। महाकवि पुष्पदन्त के 'महापुराण', 'यशोधरचरित' आदि काव्यग्रन्थो मे तत्कालीन सामन्त-शासन का सजीव चित्रण मौजूद है। उनमे कतिपय ऐसे ऐतिहासिक उल्लेख है, जिनका किसी अन्य स्रोत से पता नही चलता। राठौर राजाओ के ऐश्वर्य और जैन धर्म के प्रति सद्भावना का वर्णन उनमें निहित है। राठौर राजमन्त्रियो की दैनिक चर्या और दानशीलता का चरित्रचित्रण मत्रीप्रवर भरत और णण्ण के वर्णन में मिलता है।[3] मुनि कनकामर के 'करकडुचरिय' मे दक्षिणापथ के प्राचीन राजवश 'विद्याधर' के राजाओ और उनकी धार्मिक कृतियो का वर्णन लिखा हुआ है, जो भ० महावीर से पूर्वकालीन भारतीय इतिहास के लिए महत्त्व की चीज है।[4] अपभ्रश-प्राकृत में कई कथा-ग्रन्थ है, जिनमें ऐतिहासिक वार्ता विखरी पडी है। उसका सग्रह होना चाहिए। किन्तु अपभ्रश-प्राकृत के जैनसाहित्य का वास्तविक महत्त्व वर्तमान हिन्दी की उत्पत्ति का इतिहास शोधते हुए दीख पडता है। उसी में हिन्दी का प्राचीन रूप और विकास-क्रम देखने को मिलता है। हमने अन्यत्र कालक्रम से उद्धरण उपस्थित करके

---

[1] सक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २, खड २ पृ० ११६ व उत्तराध्ययन सूत्र (उपसला) भूमिका, पृ० १६

[2] जैन एटीक्वेरी, भा० ११ पृ० ४-८

[3] महापुराण (मा० ग्र० बम्बई) भूमिका, पृ० २८-३३ व यशोधर चरित्र (कारजा सीरीज) भूमिका, पृ० १६-२१।

[4] करकडुचरिय (कारजा सीरीज) भूमिका, पृ० १५-१८।

प्राचीन हिन्दी को क्रमवर्ती रूपान्तर का दिग्दर्शन कराया है।[1] अपभ्रंश प्राकृत के निम्नलिखित छन्दो को देखिये। इन्हें कौन हिन्दी-सा नही कहेगा—

'देखिवि रयणमजूस विड्डाणउ। भिणऊ कामसरेहि अयाणउ॥
ताल्लू विल्लि लग्ग मण सलइ। जिम सर सुवर्कइ मछऊ विलइ॥'

× × ×

'जिम सूर ण भूलइ हथियारू। जिणयत्तु तेम जलि णमोयारू॥'

× × ×

'तुम्ह कहहु मज्झु सिरिप्पालु पुत्तु। तउ लाख दामु दइहउं णिहत्तु॥
तेणि सुणि पहुत्तउ राय हरकारु। भीत्तरि गय पुछवि पडिहारू॥'

× × ×

'हमारउ णरइव कम्वणु चिज्जु। घोवी-चमार घर करहि भोजु॥
खर-कूकुर-सूस्हग-सहि मासु। हमि डोम भड कहिजहिय नासु॥'

इसी के अनुरूप हिन्दी के कितने ही 'महावरो' का प्रयोग अपभ्रंश साहित्यग्रथो में मिलता है, बल्कि कई छन्दो का निर्माण ही अपभ्रंश के आधार से हिन्दी में हुआ है।[2] अपभ्रंश, प्राकृत और प्राचीन हिन्दी का एक सयुक्त 'पिंगल' छन्दशास्त्र जैनकवि राजमल्ल ने सम्राट् अकवर के शासनकाल में रचकर हिन्दी का वडा उपकार किया है।[3] भापा-विज्ञान के अध्ययन के लिए जैन साहित्यिक रचनाएँ अमूल्य साघन हैं। साथ ही हिन्दी की 'नागरी लिपि' के विकास पर जैन-भडारो में सुरक्षित प्राचीन और अर्वाचीन हस्तलिखित ग्रन्थो से प्रकाश पडता है। अपने सग्रह के दो-तीन हस्तलिखित सग्रह ग्रन्थो में सुरक्षित 'मुडिया-लिपि' की रचनाओ के आधार से हम उस लिपि की उत्पत्ति और विकास का इतिहास प्रकट करने मे समर्थ हो सके।[4] ऐसे ही अन्य भाषाओ और लिपियो का भी पता हस्तलिखित जैनग्रन्थो से चलता है। भापा-विज्ञान के इतिहास के लिए उनका उपयोग महत्त्वपूर्ण है।

सुङ्ग और सातवाहन काल मे वैदिक धर्म को प्रोत्साहन मिला। परिणामत प्राकृतभाषा का, जो राज्य भाषा थी, महत्त्व कम हो चला। उसका स्थान सस्कृत भापा को मिला। महाकवि कालिदास ने अपनी रचनाएँ सस्कृत भापा में ही रची। जैनाचार्य उमास्वाति ने जनता की अभिरुचि को लक्ष्य करके जैन सिद्धान्त का सार 'गागर में सागर' के समान अपने प्रसिद्ध सूत्रग्रथ 'मोक्षशास्त्र' मे गर्भित किया। तव से जैनो का सस्कृत साहित्य आये दिन वृद्धिगत होता गया और आज उसकी विशालता और सार्वभौमिकता देखने की चीज है। किन्तु हमें तो उसमें भारतीय इतिहास के लिए उपयुक्त सामग्री का दिग्दर्शन करना अभीष्ट है। अत हम अपनी दृष्टि वही तक सीमित रक्खेंगे। जैनो के सस्कृत साहित्य की विशेपता यह है कि उसमें न्याय, दर्शन, सिद्धान्त, पुराण, भूगोल, गणित आदि सभी विषय इस खूबी से प्रतिपादित किये गये हैं कि यदि उनमें से प्रत्येक विषय का कोई इतिहास लिखने वैठे तो जैन साहित्य से सहायता लिए विना वह इतिहास अधूरा ही रहेगा। न्यायशास्त्र का अध्ययन जैनन्याय का ऋणी है, यह उस विषय के ग्रन्थो को उठाकर देखने से स्पष्ट हो जाता है। दर्शनशास्त्र के इतिहास को जानने के लिए भी जैन दार्शनिक ग्रन्थ महत्त्व की चीज हैं। आजीविक आदि मत-मतान्तरो का परिचय उनमें निहित है। जैन गणित की विशेषता भारतीय गणितशास्त्र

---

[1] देखिये, हमारा 'भारतीय ज्ञानपीठ काशी' द्वारा प्रकाशित होने वाला 'हिन्दी जैन-सहित्य का सक्षिप्त इतिहास' नामक ग्रंथ।

[2] 'अपभ्रशदर्पण'—जैन सिद्धान्त भास्कर भा० १२, पृ० ४३।

[3] 'अनेकान्त' वर्ष ४ किरण २, ४, ५।

[4] ओझा-अभिनंदन-ग्रन्थ (हिन्दी साहित्य सम्मेलन), पृ० २२ (विभाग ५)।

का इतिहास लिखते समय विद्वानो ने आँकी ही है।[1] भूगोल के अध्ययन के लिए और भारतीय भूगोल की ऐतिहासिक प्रगति को जानने के लिए जैन साहित्य अनूठा है। उसमें उपलब्ध दुनिया का और उससे भी कही अधिक विस्तृत लोक का वर्णन है।[2]

सस्कृत भाषा मे लिखे हुए जैन पुराण ग्रन्थ अति प्राचीन है। उनमे अपेक्षाकृत बहुत अधिक ऐतिहासिक सामग्री सीधी-सादी भाषा में सुरक्षित है। अलबत्ता कही-कही पर उसमें धार्मिक श्रद्धा की अभिव्यजना कर्मसिद्धान्त की अभिव्यक्ति के लिए देखने को मिलती है।

जैन पुराणो के साथ ही जैनकथाग्रथो के महत्त्व को नही भुलाया जा सकता, जिनमें बहुत सी छोटी-छोटी कथाएँ सगृहीत है। ऐसे कथाग्रथ प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश, हिन्दी, कन्नड आदि भाषाओ मे मिलते है। इनमें कोई-कोई कथा ऐतिहासिक तत्त्व को लिये हुए है। किसी में भेलसा (विदिशा) पर म्लेच्छो (शको) के ऐतिहासिक आक्रमण का उल्लेख है तो किसी में नन्द राजा और उनके मन्त्री शकटार आदि का वर्णन है।[3] किसी मे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त और उनके गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु का चरित्र-चित्रण किया गया है,[4] तो किसी अन्य में उज्जैन के गर्दभिल्ल और विक्रमादित्य का वर्णन है।[5] साराश यह कि जैनकथाग्रथो मे भी बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री बिखरी पडी है। महाकवि हरिषेण विरचित 'कथाकोष' विशेषरूप से द्रष्टव्य है।

जैन साहित्य में कुछ ऐसे काव्य एव चरित्रग्रन्थ भी है, जो विशुद्ध ऐतिहासिक है। उनमे ऐतिहासिक महापुरुषो का ही इतिहास ग्रथबद्ध किया गया है। इस प्रकार का पर्याप्त साहित्य श्वे० जैन समाज द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है।[6] 'ऐतिहासिक जैनकाव्यसग्रह', 'ऐतिहासिक रास सग्रह' आदि पुस्तकें उल्लेखनीय है। 'चित्रसेन-पद्मावती' काव्यग्रथ में हमें कलिंग-सम्राट् खारवेल के पूर्वजो का इतिवृत गुम्फित मिलता है, जिसका ऐतिहासिक दृष्टि से सूक्ष्म अध्ययन वाछनीय है। अन्तिम मध्यकालीन भारत की सामाजिक स्थिति का परिचय 'गुणमाला चौपई' अथवा 'ब्रह्मगुलाल चरित्र' आदि ग्रथो से मिलता है। 'गुणमाला चौपई' में, जिसकी एक प्रति आरा के प्रसिद्ध 'जैन सिद्धान्त भवन' में सुरक्षित है, गोरखपुर के राजा गजसिंह और सेठपुत्री गुणमाला की कथा वर्णित है। गोरखपुर तब इन्द्र की अलका-नगरी-सा प्रतीत होता था, जैसा कि कवि खेमचद के उल्लेख से स्पष्ट है

'पूरबदेस तिहा गोरखपुरी, जाणै इलिका आणि नै धरी।
बार जोयण नगरी विस्तार, गढ-मठ मदिर पोलि पगार ॥५॥

× × ×

नगर माँहि ते देहरा घणा, कोई जैन कोई शिव-तणां।
माँहि विराजै जिनवर देव, भविणय सारै नितप्रत सेव ॥१०॥

---

[1] प्रो० ए० सिंह और प्रो० वि० भू० दत्त कृत "हिस्ट्री ऑव इडियन मैथेमेटिक्स" देखिये। प्रो० सिंह ने 'धवला टीका' की भूमिका में लिखा है, "यथार्थत. गणित और ज्योतिष विद्या का ज्ञान जैन मुनियों की एक मुख्य साधना समझी जाती थी। महावीराचार्य का गणितसारसग्रह-ग्रंथ सामान्य रूप-रेखा में ब्रह्मगुप्त, श्रीधराचार्य भास्कर और हिन्दू गणितज्ञों के ग्रन्थों के समान होते हुए भी विशेष बातों में उनसे पूर्णत. भिन्न है। धवला में वर्णित अनेक प्रक्रियाएँ किसी भी अन्य ज्ञात ग्रथ में नहीं पाई जातीं।"

[2] हमारा 'भगवान पार्श्वनाथ' पृ० १५४-२००। [3] पूर्वोक्त कथाकोष, पृ० ३४९।

[4] हरिषेण कथाकोष (सिंघीग्रथमाला), पृ० ३१७।

[5] कालककथा—सजैइ०, भा० २, खंड २, पृ० ६२-६४।

[6] 'अनेकान्त', वर्ष ५, पृ० ३६५-३६७ एवं वर्ष ६, पृ० ६५-६७।

'पार्श्वचरित्र', 'महावीर चरित्र', 'भुजवलि चरित्र', 'जम्बूस्वामी चरित्र', 'कुमारपाल चरित्र', 'वस्तुपाल रास' इत्यादि अनेकानेक चरित्रग्रथ इतिहास के लिए महत्त्व की वस्तु है।

जैन सस्कृत साहित्य मे पुरातन प्रवन्ध-ग्रथ इतिहास की दृष्टि से विशेष मूल्यवान् है। ये प्रवन्ध-ग्रथ एक प्रकार के विशद निवन्ध है, जिनमें किसी ऐतिहासिक घटना अथवा विद्वान् या शासक का परिचय कराया गया है। श्री मेरुतुगाचार्य का 'प्रवन्ध चिन्तामणि' प्रवन्ध-ग्रथो में उल्लेखनीय है, जो 'सिंघी जैन ग्रथमाला' में छप भी चुका है। श्री राजशेखर का 'प्रवन्धकोष', श्री जिनविजय का 'पुरातन प्रवन्धसग्रह' एव 'उपदेशतरगिणी' आदि प्रववग्रथ भी प्रकाशित हो चुके है।[1]

किसी समय श्वेताम्वर जैन साधु सम्प्रदाय में 'विज्ञप्तिपत्र' लिखने-लिखाने का प्रचार विशेष रूप से था। आजकल सभवत इस प्रथा में शिथिलता आ गई है। "विज्ञप्ति पत्र कुडली के आकार के उस आमन्त्रणपत्र की सज्ञा है, जिसे स्थानीय जैन समाज भाद्रपद में पर्यूषण पर्व के अन्तिम दिन अपने दूरवर्ती आचार्य या गुरु के पास भेजता था। उसमें स्थानीय सघ के पुण्य-कार्यों के वर्णन के साथ गुरु के चरणो में यह प्रार्थना रहती थी कि वे अगला चातुर्मास उस स्थान पर आकर वितावे। विज्ञप्तियो का जन्म गुजरात में हुआ और जैनेतर समाज में इनका अभाव है। पहले विज्ञप्तिपत्र सामान्य प्रार्थनापूर्ण आमन्त्रण के रूप में लिखे जाते होगे, परन्तु काल पाकर उनका रूप अत्यन्त सस्कृत हो गया। उनमे चित्रकारी को भी भरपूर स्थान मिला। प्रेपण-स्थान का चित्रमय प्रदर्शन विज्ञप्तिपत्र में किया जाता था। सघ के सदस्यो का भी परिचय रहता और कभी-कभी इतिहास विपयक घटनाएँ भी आ जाती थीं।"[2] वस्तुत कला और इतिहास उभयदृष्टि से विज्ञप्तिपत्र महत्त्वपूर्ण है। इनमें से कुछ 'श्री आत्मानन्द जैन सभा अम्वाला' और डा० हीरानद शास्त्री द्वारा 'श्री प्रतापसिंह महाराज राज्याभिषेक ग्रन्थमाला वडौदा' से प्रकट भी किये जा चुके है। डा० हीरानद शास्त्री का सग्रह अग्रेजी में 'ऐंशियेंट विज्ञप्ति पत्राज' नाम से सचित्र प्रकाशित हुआ है। कुछ अप्रकाशित विज्ञप्तिपत्र श्री अगरचन्द्र नाहटा (वीकानेर) और प्रसिद्ध नाहर-सग्रह कलकत्ते में दर्शनीय है। दिगम्वर जैनो में यद्यपि विज्ञप्तिपत्र लिखने की प्रथा कभी नही रही मालूम होती, परन्तु उनमें विशेष जैनोत्सव, जैसे रथयात्रा आदि के अवसर पर निमत्रणपत्र अन्य स्थानो के जैन-सघो को भेजने का रिवाज अवश्य रहा है। इनमें से कुछ निमत्रणपत्र सचित्र भी होते थे। इन निमत्रणपत्रो की खोज शास्त्रभडारो में होनी चाहिए। हमें सौ-डेढ-सौ वर्षों से अधिक प्राचीन निमत्रणपत्र नही मिले है। इनमें सघ का स्थानीय परिचय और उत्सव की विशेपता का दिग्दर्शन सुन्दर काव्य-रचना में किया जाता था और अव भी किया जाता है। पहले यह निमत्रणपत्र हाथ से लिखकर भेजे जाते थे। उपरान्त जव छापे का प्रचार हुआ तव वे लियो और प्रेस में छपाकर भेजे जाने लगे। हमारे सग्रह में सवसे पुराना हस्तलिखित निमत्रणपत्र विक्रमसवत १८८० चैत्र वदी २ का है, जिसे मैनपुरी के जैनो ने कम्पिलातीर्थ में रथयात्रा निकालने के प्रसग में लिखा था। ऐसा ही एक निमत्रणपत्र स० १६५५ का है, जिसका प्रारभ निम्नलिखित श्लोक से होता है—

"श्री नाभेय जिन प्रणम्य शिरसा वद्य समस्तैर्जनैं।
लोकाना दुरिता पवृहण पवि वाचा सुघावर्पिण—
पत्रीमद्य लिखामि चारुरचनाविद्वन्मनोहारिणीं।
श्रुत्वैता विवुधाजना. स्वयमुदागच्छतु धर्मोत्सवे॥"

लियो की छपी हुई एक निमत्रण पत्रिका वि० स० १६५६ की हमारे सग्रह में है, जिससे प्रकट है कि उस वर्ष भोगाव में एक जिनविम्व प्रतिष्ठोत्सव श्री वनारसीदास जी ने कराया था, उसका प्रारभ निम्नलिखित रूप में हुआ है—

---

[1] 'अनेकान्त' वर्ष ५, अक १२ और वर्ष ६, अक २।

[2] 'अनेकान्त' वर्ष ५, पृ० ३६६-३६७।

"ओइम् ॥ श्लोक ॥ यच्चित्सागरमग्ना जीवाद्या भाव भूतयो—
विविधास्त भगवन्त' रागादूरं नत्वावि लिख्यते पत्रम् ॥
स्वस्ति श्री मदन-वरत भक्ति-भारावनत पुरन्दर वृन्द वन्दित सुन्दर वर सुर सुन्दरी विवाह मडपाय-भान-घन-घण्टा ध्वजाचमर सिंहासनादि परिमण्डित जिनेन्द्रचन्द्र मन्दिरसन्दर्भ पवित्रितधरातले वापी कूप तडाग सरित्सरोवर खातिका प्रकारादि परिकर परिवेष्टिते महाशुभस्थाने श्री　　इत्यादि ।"

अन्त निम्नाकित दोहो से किया गया है—

"पाप गलत शुभ-रमन-कर, जिन-वृष वृषभ मयक ।
नुति स्तुति करि दल क्षेम कर, मगल अत निशक ॥
जनपद गुड निवासिनी, कमल वासिनी जेम ।
महारानी विकटोरिया, जयो सयोग क्षेम ॥

तत्व ज्ञान निधि भूमि, शशि प्रतिपद भोर वैशाख ।
कृष्ण पक्ष में स्वक्षता, आय करो वृष साख ॥"

यह पत्र सुनहरी स्याही से लाल घोटे के कागज पर छपा हुआ है, जिस पर सुन्दर वोर्डर और ऊपर मदिर का चित्र बना हुआ है। प्रेस मे छपा हुआ एक निमत्रणपत्र स० १९६१ का तिरवा (जिला फर्रुखाबादमें कलसोत्सव एव रथयात्रा प्रसग का है। प्रारभिक श्लोक द्रष्टव्य है—

"न कोपो न लोभो न मानो न माया न हास्य न लास्य न गीत न कान्ता ।
न वायुस्य पुत्रानं शत्रुर्नमित्रो—स्तुनुर्वेवदेवं जिनेन्द्र नमामि ॥१॥
प्रणम्य वृषभदेव सर्वपाप प्रणासन । लिखामि पत्रिका रम्या सत्समाचार हेतवे ॥२॥"

यह पत्रिका स० १९६१ में तिरवा में जैनधर्म के बाहुल्य को प्रकट करती है, किन्तु आज वहाँ केवल एक जैन उस विशाल जैनमदिर की व्यवस्था के लिए शेप है, जिस पर कलस चढाये गये थे। श्री जैन मदिर अलीगज के सग्रह मे दिल्ली के रथोत्सव की सचित्र पत्रिका लिथो की छपी हुई है, जिसमें जूलुस का पूरा चित्रण है। यह वह पहली रथयात्रा थी, जो वैष्णवो के विरोध करने पर भी सरकारी देख-रेख मे दिल्ली में निकली थी। इस प्रकार की निमत्रण-पत्रिकाओ की यदि खोज हो तो इनसे भी प्राचीन और मूल्यवान पत्रिकाएँ मिल सकती है।

तीर्थमाला-ग्रथ भी इतिहास और भूगोल के लिए महत्त्व की चीजें है। प्राचीनकाल में जब यातायात के साधन नही थे तब सघपति किसी आचार्य के तत्वावधान में लबी-लबी तीर्थयात्राओ के लिए सघ निकाला करते थे। उन तीर्थ-यात्राओ के निकले हुए सघो का विवरण कतिपय विद्वानो ने लिखा है।[1] श्वेताम्बर जैन-समाज ऐसी तीर्थमालाओ का सग्रह कई स्थानो से प्रकाशित कर चुका है। फिर भी कई ग्रथ अप्रकाशित है। दिगम्बर जैनो के शास्त्रभडारो की शोध अभी हुई ही नही है और यह नही कहा जा सकता कि उनमें ऐसी कितनी तीर्थमालाएँ सुरक्षित है। अलीगज और मैनपुरी के शास्त्रभडारो में हमें तीन-चार तीर्थयात्रा विवरण मिले है। एक सघ श्री घनपतिराय जी रुइया ने मैनपुरी से शिखरजी के लिए निकाला था, उसका विवरण मिलता है।[2] दूसरा विवरण गिरनार जी की यात्रा का पानीपत के सघ का है। तीसरा विवरण कम्पिला तीर्थ की यात्रा का है, जो प्रकाशित किया जा चुका है।[3] किन्तु इन तीर्थयात्राओ के विवरण के अतिरिक्त जैन साहित्य में कुछ ऐसे भी ग्रन्थ है, जिनमें तीर्थों का परिचय और

[1] पूर्व प्रमाण द्रष्टव्य ।
[2] जैनसिद्धान्तभास्कर भा० ४, पृ० १४३-१४८ ।
[3] श्री कम्पिल रथयात्रा विवरण (मैनपुरी) पृ० १५-२४ ।

उनकी भौगोलिक स्थिति का उल्लेख है। श्री जिनप्रभसूरि का 'विविधतीर्थकल्प' इस विषय का उल्लेखनीय ग्रन्थ है। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में 'निर्वाणभक्ति' और 'निर्वाणकाण्ड' इस विषय की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। भारतीय भूगोल के अनुसधान में इन ग्रथो से विशेष सहायता मिल सकती है। साथ ही इनमें वर्णित तीर्थों का माहात्म्य इतिहास के लिए उपयोगी है। श्री प्रेमी जी ने दक्षिण के जैन तीर्थो पर अच्छा प्रकाश डाला है। कम्पिला, हस्तिनापुर आदि तीर्थों पर हमने ऐतिहासिक प्रकाश डाला है।

'पट्टावली' जैन साहित्य भी इतिहास के लिए उपयोगी है, क्योकि जैनसघ भारतवर्ष के प्रत्येक भाग में एक सगठित सस्था रह चुका है। जैनसघ के आचार्यों के यशस्वी कार्यों का विवरण भी उनमे गुम्फित होता है, जब कि गुरु-शिष्य परम्परा रूपमे उनका उल्लेख किया जाता है। भ० महावीर से लेकर आज तक जैनाचार्यों की शृखलावद्ध वश-परम्परा प्रत्येक सघ-गण और गच्छ की पट्टावली में सुरक्षित है। श्वेताम्वरीय समाज में पट्टावली साहित्य के कई सग्रह-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें उल्लेखनीय 'पट्टावलि समुच्चय'—'तपागच्छपट्टावली'—'खरतरगच्छपट्टावली'—सग्रह आदि हैं। दिगम्वर जैन समाज में भी इन पट्टावलियो का अभाव नही है, परन्तु खेद है कि उन्होने अपनी पट्टावलियो का कोई भी सग्रह प्रकाशित नही किया। वैसे इस सम्प्रदाय की कई पट्टावलियाँ 'इडियन एँटीक्वेरी',[१] जैन हितैषी[२] और 'जैनसिद्धान्तभास्कर'[३] नामक पत्रो में प्रकाशित हो चुकी हैं। सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और कन्नड, इन सभी भाषाओ में पट्टावलियाँ लिखी हुई मिलती हैं।

जैनग्रथो की प्रशस्तियाँ भी इतिहास के लिए महत्वपूर्ण हैं। प्रत्येक जैनग्रथ के आद्य मगलाचरण एव अतिम प्रशस्ति और पुष्पिका में पूर्वाचार्यो एव कवियो के नाम-स्मरण एव अन्य परिचय लिखे रहते हैं। श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दो में "प्रशस्तिसग्रह गुरु-शिष्य-परम्परा के इतिहास के उत्तम साधन हैं। इनमें ग्रथलेखन की प्रेरणा देने वाले जैनगुरु का उनके शिष्य का और ग्रन्थ का मूल्य देने वाले श्रावक श्रेष्ठी का सुन्दर विवरण पाया जाता है। तत्कालीन शासक और प्रतिलिपिकार के विषय में भी सूचनाएँ मिलती हैं। इतिहास के साथ भूगोल की सामग्री भी पाई जाती है। मध्यकालीन जैनाचार्यों के पारस्परिक विद्यासवध, गच्छ के साथ उनका सवध, कार्य-क्षेत्र का विस्तार, ज्ञान प्रसार के लिए उद्योग आदि विषयो पर इन प्रशस्ति और पुष्पिकाओ से पर्याप्त सामग्री मिल सकती है। श्रावको की जातियो के निकास और विकास पर भी रोचक प्रकाश पडता है।"[४] अभी तक श्वेताम्वर समाज की ओर से 'जैनपुस्तक प्रशस्ति सग्रह' प्रथम भाग एव एक अन्य सग्रह भी प्रकाशित हो चुका है। दिगम्वर समाज का एक सग्रह श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा से प्रकाशित हुआ है। किन्तु यह तो अभी कुछ भी नही हो पाया है। अभी अनेकानेक जैन प्रशस्तियो को सग्रह करके प्रकाशित करने की आवश्यकता है। जैन प्रशस्ति का महत्त्व आँकने के लिए यहाँ पर उसका एक उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा। भा० दि० जैन परिषद् के कार्यकर्त्ता श्री प० भैयालाल जी शास्त्री को प्रचार प्रसग में भौगाँव (जिला मैनपुरी) के वैद्य लालाराम जी से कई प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ मिले थे। उनमें एक 'कल्पसूत्र व्याख्यान' नामक ग्रथ है, जो अब हमारे सग्रह में है। इसकी प्रशस्ति का उपयोगी अश हम यहाँ उपस्थित करते हैं

"श्री शासनाधीश्वर वर्द्धमानो। गुणर नं तैरिति वर्द्धमान ॥
यदीयतीर्थं खखखाऽब्धनेत्र २१००० वर्षाणियावद्विजय प्रसिद्ध ॥१॥

---

[१] इडियन एंटी० भा० २०, पृ० ३४४-४८।
[२] जैनहितैषी, वर्ष ६।
[३] 'जैन सिद्धान्त भास्कर' भा० १, किरण २-३-४।
[४] अनेकान्त, भा० ५, पृ० ३६६ व भा० २१, पृ० ५४-८४।

"तदीय शिष्योगण भृच्चर्यत्वमः सुधर्मानामाऽस्य परपराया।
बभूव शाखा किल वज्रनाम्ना, चद्र कुल चद्र कलेव निर्मल ॥२॥
तद्गच्छेत्वभिधानत' खरतरे, ये. स्तभनाधीश्वरो।
तुमध्यात्प्रकटी कृत. पुनरपि स्नानोदका द्रुगगता॥
स्थानांगादि नवांगसूत्र निवृत्तिर्नव्या क्षता.। श्रीमतोऽभयदेवसूरिगुरवो जाता जगद्विश्रुता ॥ ३ ॥
यो योगिनीत्यो जगृहे वदी च, चरान् जाग्रदनेनेक विद्य।
पचापि पीरान् स्ववशी चकार युगप्रधानो जिनरत्नसूरि ॥४॥
पुनरपि यस्मिनगच्छे बभूव जिन कुशल नाम सूरिवर'। यस्य स्तूपनिवेशामुयश पुजाद्रवाभाति ॥५॥
तत्पट्टानुक्रमत' श्री जिनचन्द्रसूरि नामान। जाता जुगप्रधाना दिल्लीपति पातसाहि कृता ॥६॥
अकबर रजन पूर्वं द्वादश स्तवेषु सर्वदेशेषु स्फुटतरमारपटह. प्रवादितो यैश्च सूरिवरैं ॥७॥
यद्वारे किल कर्मचद सचिव. श्राद्धोऽभवद्दीप्तिमान्। येन श्री गुरुराज नदि महमिद्रव्य व्ययोर्निर्ममे।
कोटे' पादयुज. शराग्निशमये दुर्भिक्ष वेलाकुले। मन्त्राकार विधानतो बहुजना सजीविता येन च ॥८॥
यद्वारे मुनरत्न सोन जिसिवा श्राद्धौ जगद्विश्रुतौ। यात्या राणपुरस्य१ खतगिरेः२ श्री अर्बुदस्य स्फुट।
गौड़ी श्री शत्रुजयस्य च महान् सघोनद्य. कारितो। गच्छे लभनिका कृत्वा प्रतिपुर रुक्मार्थमेकपुन' ॥९॥
तेषा श्री जिनचन्द्राणा शिष्य. प्रथमतोऽभवत्। गणि' सकलचद्राख्यो रीहडान्वय भूषण ॥१०॥
तच्छिष्य समयसुन्दर सदुपाध्यायै विनिर्मित' व्यायै. कल्पलता नामाय ग्रथश्चक्रे प्रयत्नेन ॥११॥

× × . ×

लूणकर्णसरो ग्रामे प्रारभा कर्त्तुमादरात। वर्षमध्ये कृतापूर्णा मया चैषारिणीपुरे ॥१७॥
राज्ये श्री जिनराज सूरि सुगुरोर्बुध्याजितस्वर्गुरो यंभाग्य भुविलोक विस्मयकरसोभाग्यमत्युद्भुत।
कीर्तिस्तु प्रसरीसरीति जगति प्रौढ़ प्रतापोदया। दार्ज्ञात्युप्रतमा कृपातनुभृता दारिद्रय दु'खापहा ॥१८॥
श्री मद्भान बडे चपुडर गिरी, श्री मेडतायापुन'। श्री पल्ली नगरे च लौद्रनगरे प्रौढा प्रतिष्ठा कृता।
द्रव्यं भूरि तरव्ययीकृत महोश्राद्धै महत्युत्सवो। राजते जिनराजसूरि गुरुवस्ते साप्रत भूतले ॥२६॥
तद्गुरूणा प्रसादेन मया कल्पलता। कल्पसूत्रमिद यावत्तावन्नदतुसापिहि ॥२१॥ इति ॥"

इससे स्पष्ट है कि वज्रशाखा-चन्द्रकुल-खरतरगच्छी अभयदेवसूरि की परम्परा में श्री जिनरत्नसूरि आदि आचार्य हुए, जिनमें से जिनचन्द्रसूरि बादशाह अकबर द्वारा 'युगप्रधान' घोषित किये गये। उन्होने कई वादियो को परास्त करके अकबर का मनोरजन किया था। उनके उपदेश से कर्मचन्द्र सचिव ने धर्म-कार्य में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया और दुर्भिक्ष के समय दान देकर अनेक प्राणियो की रक्षा की। आचार्य रत्नसोम के निमित्त से राणपुर, रैवतगिरि (गिरिनार), आबूपर्वत, गौडी (पार्श्वनाथ) और शत्रुजय के यात्रासघ निकाले गये। इनमें श्री जिनचन्द्र सूरि के प्रतिशिष्य और सकलचन्द्र गणि के शिष्य उपाध्याय समयसुन्दर ने यह 'कल्पलता—कल्पसूत्र—व्याख्या' रची। लूनकर्ण(लूनी ?)ग्राम में इसे प्रारभ करके एक वर्ष में ही षारिणीपुर(?)में रचकर समाप्त किया। उपरात जिनराजसूरि की महिमा का उल्लेख है। विज्ञ पाठक इस एक उदाहरण से ही प्रशस्ति के महत्त्व को समझ सकते हैं।

प्रशस्ति के अनुरूप ही जिन मूर्तियो, यत्रो, और मदिरो के शिलालेख भी इतिहास के लिए बहुमूल्य सामग्री है। यों तो जिनमूर्तियाँ और मदिर ही भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकला के इतिहास के लिए विशेष अध्ययन की वस्तु है, परन्तु उनसे सबधित लेख तो अद्वितीय हैं। खेद है, अभी तक इन लेखो को सग्रह करने का कोई भी व्यवस्थित उद्योग नही हुआ है तो भी श्वेताम्बर समाज के प्रसिद्ध विद्वान स्व० श्री पूर्णचन्द्र जी नाहर, स्व० श्री विजयधर्मसूरि और मुनि

जिनविजय जी द्वारा कई मूर्तिलेख-सग्रह प्रकाशित हो चुके है। दिगम्बर जैन समाज में प्रो० हीरालाल जी द्वारा श्रवणवेलगोल तीर्थ के लेखो का वृहद् सग्रह 'जैन शिलालेखसग्रह' नाम से श्रीमाणिकचन्द्र ग्रथमाला वम्बई में प्रकाशित हो चुका है। एक मूर्तिलेख सग्रह वावू छोटेलाल जी ने कलकत्ता से निकाला था और एक मूर्तिलेख सग्रह हमने वर्धा से। हमारे द्वारा सम्पादित एक अन्य मूर्तिलेख सग्रह जैनसिद्धान्त भवन आरा से भी प्रकाशित हुआ है। किन्तु इस दिशा में अभी वहुत कार्य होना शेष है। श्रावको के विविध कुलो की वशावलियाँ भी उल्लेखनीय है।[1] हिन्दी जैन साहित्य मे भी ऐतिहासिक सामग्री का वाहुल्य है, जो एक दक्ष अन्वेषक की प्रतीक्षा कर रहा है। उसमे कविवर वनारसी दास जी का 'अर्द्धकथानक' चरित्रग्रथ भारतीय ही नही, विश्व साहित्य में अनूठा है।[2]

इस प्रकार जैन साहित्य मे इतिहास की अपूर्व सामग्री विखरी हुई पडी है। दक्षिण के जैन कन्नड और तामिल साहित्य मे भी अपार ऐतिहासिक मामग्री सुरक्षित है, किन्तु उसके अन्वेषण की आवश्यकता है। तामिल का 'शिलप्पाधिकारम्' काव्य और कन्नड का 'राजावलीकथे' नामक ग्रथ भारतीय इतिहास के लिए अनूठे ग्रथ-रत्न है। दक्षिण भारत के जैनशास्त्र भडारो का अवलोकन भारतीय ज्ञानपीठ के तत्वावधान में श्री प० के० भुजवली शास्त्री कर रहे है और हम आशा करते है कि शीघ्र ही दक्षिणवर्ती जैन साहित्य के अमूल्य रत्नो का परिचय विद्वज्जगत को उपलब्ध होगा। क्या ही अच्छा हो कि प्रेमीजी के प्रति कृतज्ञताज्ञापन स्वरूप जैनसाहित्यान्वेषण के लिए एक वृहद आयोजन किया जावे।

अलीगज]

[1] अनेकान्त, भा० ६, अक २ में प्रकाशित नाहटा जी का लेख।

[2] अर्द्धकथानक (बम्बई) की भूमिका देखिये।

जैन-साहित्य की हिन्दी-साहित्य को देन

श्री रामसिंह तोमर एम० ए०

प्रारभ में ही यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि जैन-प्राकृत और अपभ्रश साहित्य को ही आधार मान कर यहाँ विचार किया है। अभी तक जितना प्राकृत और अपभ्रश साहित्य प्रकाश में आया है, प्राय जैनो द्वारा ही लिखा हुआ मिला है।[1] इन जैन लेखको ने देश के कोने-कोने में बैठकर रचनाएँ की। जैन साहित्य का रचना-क्षेत्र बहुत विस्तृत था।

जैन साहित्य की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसे धार्मिक आवरण से छुटकारा कभी नही मिल सका। जैन कवियो या लेखको का कार्य बहुत ही कठिन था। धार्मिक दृष्टिकोण भुलाना उनके लिए मुश्किल था। यह प्रतिबन्ध होते हुए भी उचित अवसर आते ही जैन-कवि अपना काव्य-कौशल प्रकट किए बिना नही रहते और ऐसे स्थलो पर हमें एक अत्यन्त उच्चकोटि के सरल और सरस काव्य के दर्शन होते है, जिसकी समता हम अच्छे-से-अच्छे कवि की रचना से कर सकते है। काव्य के सामान्य तत्त्वो के अतिरिक्त इन कवियो के काव्य की विशेषता यह है कि लोकरुचि के अनुकूल बनाने के लिए इन कवियो ने अपने काव्य को सामाजिक जीवन के अधिक निकट लाने का प्रयत्न किया है। सरलता और सरसता को एक साथ प्रस्तुत करने का जैसा सफल प्रयास इन कवियो ने किया, वैसा अन्यत्र कम प्राप्त होगा। धार्मिक प्रतिबन्धो के होते हुए भी वर्णन का एक नमूना पुष्पदन्त के महापुराण से हम उद्धृत करते है। ऐसे वर्णन स्थल-स्थल पर मिलते है। तीर्थंकर का जन्म होने वाला है। जिस नगर में जन्म होगा, उसका वर्णन है—

> उत्तुगकोजखडियकसेरु पुक्खरचरदीवइ पुव्वमेरु।
> तहु पुव्वविदेहइ वहइ विमल णइ कीलमाणकारडजुयल।
> खरदडसडदलछइयणीर डिंडीरपिंडपडुरियतीर।
> दरिसियपयडसोंडाललील लोलतथूलकल्लोलमाल।
> जुज्झतचडुलकरिमयरणिलय परिभमियगहीरावत्तवलय।
> जलपक्खालियतउसाहिसाह णामेण सीय सीयल सगाह।
> दाहिणइ घणसछण्णसीम उवयठि ताहि सठिय सुसीम।
>
> —महापुराण पुष्पदन्त ४८. २ १—७

इस प्रकार के वर्णनो से इन कवियो ने अपनी कृतियो में एक विचित्र सौंदर्य लाने की चेष्टा की है और उसमें वे बहुत कुछ सफल भी हुए है।

समस्त सस्कृत साहित्य में एक प्रकार की एकरसता हम पाते है। महाकाव्य का या नाटक का नायक कोई महान व्यक्ति ही होता है, काव्य का विषय साधारण हो ही नही सकता। जैन प्राकृत-अपभ्रश साहित्य में हम पहिली बार देखते है कि काव्य का नायक साधारण श्रेणी का व्यक्ति भी हो सकता है। कोई भी धन-सम्पन्न श्रेष्ठि (वैश्य) काव्य का नायक हो सकता है। इन लेखको ने अपनी सुविधाओ के अनुकूल इन नायको के चरित्रो मे परिवर्तन अवश्य

---

[1] नाटकीय प्राकृत, सेतुबंध और गाथा सप्तशती गौडवहो अजैनों द्वारा लिखे गए है। अपभ्रश में अब्दुल रहमान कृत 'सदेश रासक', विद्यापति की कीर्तिलता दोहाकोष, विक्रमोर्वशीय के कुछ पद्य एव कुछ पद्य हेमचंन्द के व्याकरण में भी अजैनो द्वारा लिखे प्राप्त हुए है।

किये है। किसी-न-किसी प्रकार उनको धार्मिक घेरे में बन्द करने का प्रयत्न तो किया ही है, किंतु इसके अतिरिक्त अन्य परिस्थितियों का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक ढग पर किया है। जिस समाज से इन कथानायकों का सबध है, वह सबके अनुभव करने योग्य साधारण है। इसके साथ इन कवियों ने घरेलू जीवन से चुनकर प्रचलित और चिरपरिचित सुभाषितों, सरल व्यन्यात्मक देशी शब्दों, घरेलू वर्णनों एव इसी बीच में उपमानों का प्रयोग करके काव्य को बहुत सामान्य रूप प्रदान किया है। इन सबको लेकर लय और सगीत के अनुसार छन्दों में एक मधुर परिवर्तन करके काव्य में एक अपूर्व माधुर्य एव सजीवता की सृष्टि की है। अपभ्रश के अधिकाश छद ताल गेय है। सगीत के उल्लेख अपभ्रश ग्रथों में हमें स्थान-स्थान पर मिलते है और वह सगीत देवताओं, किन्नरो, अप्सराओं की दुन्दुभियों, वीणाओं आदि का नहीं है, जन-समाज का सगीत है। आनन्द और उल्लास में गाते हुए, नाचते हुए और अपने वाद्य यन्त्रों को बजाते हुए धरती के मनुष्यों का वह सगीत है, आकाश के देवताओं का नहीं। आकाश के देवता भी कभी-कभी पृथ्वी पर आते है, लेकिन वे केवल जिन (तीर्थंकर) से भेट, प्रणाम करने ही आते है। ये अपभ्रश काव्य गाये जाते थे।

जनता की भाषा मे रचना करके लोक-भाषा को काव्य का माध्यम बनाने का श्रेय प्रधानत इन्ही जैन-कवियों को है। किसी समय की लोकभाषा पाली-प्राकृते भी सस्कृत के सदृश 'सस्कृत' (Classical) हो चुकी थी। व्याकरण की सहायता से ही उनका अध्ययन सुलभ हो सकता था। सेतुबन्ध जैसे काव्यों का रसास्वादन करना पडितों के लिए भी सरल कार्य नहीं था। अत लोकभाषा साहित्य मे ही जनता का कल्याण हो सकता था। अपभ्रश कवियों की रचनाओं ने ही आगे चल कर हिन्दी-कवियों को भाषा में रचना करने के लिए मार्ग-प्रदर्शक का कार्य किया। भाषा के दृष्टिकोण से यह सबसे महत्त्वपूर्ण देन इन कवियों की हिन्दी-साहित्य को है। लोकभाषा के साथ-साथ अन्य सभी अपभ्रश काव्य के साधनों का प्रयोग भी भाषा कवियों ने किया।

अपभ्रश कवियों ने पहले-पहल लोकभाषा मे लिखकर बडे साहस का काम किया। प्राकृत और अपभ्रश का पडित-समाज मे आदर नहीं था। अपभ्रश नाम ही अनादर का द्योतक है। अपभ्रश नाम विद्वान् व्याकरण-लेखकों का दिया हुआ है। कहीं भी अपभ्रश-लेखकों ने यह नाम नहीं दिया। सेतुबन्ध जैसे पौराणिक नायक से सम्बन्धित उत्कृष्ट काव्य की जब निन्दा होती थी[1] तब अन्य प्राकृत और अपभ्रश के ग्रन्थों के प्रति उपेक्षा का हम अनुमान कर सकते है। इस उपेक्षा की झलक हमें अपभ्रश काव्यों की प्रारम्भिक भूमिकाओं में भाषा में लिखने की सफाई देने के लिए लिखे गए स्थलों में मिलती है। अपभ्रश का प्रत्येक काव्य एव हिन्दी के प्राचीन कवि भी इस बात से सशक प्रतीत होते है कि भाषा में लिखने के कारण उन्हें एक वर्ग का विरोध भी सहना पडेगा। प्रत्येक कवि भाषा मे लिखने के लिए अपनी उपयुक्तता प्रदर्शित करता दिखाई पडता है। इससे भी हमें यही ज्ञात होता है कि पडितवर्ग के भय से ही अपभ्रश कवि प्राय काव्य की श्रेष्ठता का मापदड अर्थगाम्भीर्य को बतलाता है। भाषा तो एक बाह्य आवरण मात्र है। अत भाषा में रचना का सूत्रपात जैन-कवियों द्वारा ही हुआ और आगे चल कर हिन्दी-कवियों ने भी भाषा मे साहसपूर्वक रचना करते समय इससे अवश्य लाभ उठाया।

---

[1] पुष्पदन्त महापुराण—

जो सुम्मइ कइवइ विहियसेउ।
तासु वि दुज्जणु किं परियहोउ ॥ १ ७ ८

[2] विद्यापति—देसिल वयना सब जन मिट्ठा आदि।

कबीर—संसकिरित है कूप जल भाषा बहता नीर।

तुलसी—"भाषा भणित मोर मति थोरी।"

"भाषाबद्ध करबि मैं सोई।"

मराठी एकनाथ—"माझी मराठी भाषा चोखडी।"

अब हम यह देखेगे कि कौन-सी अपभ्रंश काव्य-धाराएँ हिन्दी मे आई है।

प्राय अपभ्रंश के कवियो ने लोक प्रचलित कहानियो को लेकर उनमे मनोनुकूल परिवर्तन करके उन पर सुन्दर काव्य लिखे है। इन कहानियो को अपनाने का सबमे प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि इन परिचित कहानियो द्वारा उनके धार्मिक सिद्धान्तो का प्रचार भली भाँति हो सकता था। इसके साथ-ही-साथ कवि भी लोकप्रिय बन सकते थे। इन अत्यन्त लोकप्रिय चिरपरिचित घरेलू कहानियो को लेकर उनके आसपास धार्मिक वातावरण भी अपने सिद्धान्तो के अनुकूल इन कवियो ने उपस्थित किया है। कहानी के नायको को जैनधर्म का भक्त बना कर समस्त कथा को 'पचनमस्कारफल' या किसी व्रत से सम्बन्धित दृष्टान्त का रूप प्रदान किया है। बहुत सम्भव है कि पहले वे नायक धार्मिक वातावरण से पूर्ण स्वतन्त्र रहे हो, किन्तु जैन-कवियो ने उन्हें अपने रग मे रँग कर जैनगृहस्थो की पूजा-पाठ की सामग्री बना दिया। इसके साथ ही काव्य का रोचक पुट देकर उन्हे और भी मनोरजक बनाया और उन कथाओ का एक नया सस्करण करके महत्त्वपूर्ण भी बनाया। हम भविष्यदत्तकथा को ही यहाँ उदाहरण के रूप मे ले सकते हैं।

(१) भविष्यदत्त की कथा 'भविसयत्तकहा' नामक ग्रन्थके निर्माण होने के पूर्व प्रचलित थी और लोकप्रिय भी रही होगी।

(२) धनपाल ने उसे कुछ धार्मिक* रग देकर व काव्यानुकूल कुछ परिवर्तन करके और सुन्दर बनाया। वह धार्मिक वातावरण के कारण जैनघरो मे ग्राह्य हुई और काव्य सौन्दर्य के कारण औरो के भी पढने योग्य हुई।

(३) प्रेम और शृगार के दृश्यो को रखने मे और भी मनोरजक हुई।

(४) भाषा में निर्मित होने के कारण जनसाधारण मे अधिक प्रचार हुआ।

भविष्यदत्तकथा में से पात्रो के नामो को यदि निकाल दे एव कुछ थोडे से अन्य परिवर्तन कर दें और बचे हुए मानचित्र से रत्नसेन पद्मावती की कहानी की तुलना करे तो दोनो में कोई अन्तर नही प्रतीत होगा। मेरा अनुमान है कि 'पद्मावती' मे रत्नसेन और अलाउद्दीन आदि नामो के अतिरिक्त ऐतिहासिकता बहुत कम है। वह केवल एक कहानी है। जिस प्रकार का प्रेम-चित्रण भविष्यदत्तकथा मे है, ठीक उसी प्रकार का रत्नसेन पद्मावती की कथा मे है। दोनो कृतियो की कथाओ में समानता है। रत्नसेन की रानी पद्मिनी के हरण का अलाउद्दीन द्वारा प्रयत्न अत्यन्त अस्वाभाविक लगता है, भले ही वह ऐतिहासिक हो, किन्तु भविष्यदत्त की स्त्री का अपहरण उसके भाई बन्धुदत्त द्वारा अधिक स्वाभाविक है। सिंहल का भी उल्लेख दोनो कृतियो मे है। वह सिंहल कहाँ है, इसे जानने का प्रयास व्यर्थ-सा है। उस समय की कहानियो मे सिंहल का आना आवश्यक है। पद्मावती मे 'जायसी' ने यत्र-तत्र आध्यात्मिक सकेत रक्खे है, किन्तु भविष्यदत्तकथा को एक धार्मिक कथा का रूप ही दे दिया है। अत उस प्रकार के सकेतो को ढूढना निरर्थक है। ढूढने पर मिलना असम्भव नही है। 'जायसी' ने पद्मिनी की हार मान कर मृत्यु दिखाई है और इस प्रकार हरण करने से बचा दिया है, किन्तु भविष्यदत्तकथा मे बन्धुदत्त ने भविष्यदत्त की स्त्री का अपहरण किया है। पीछे घटनाचक्र के अनुकूल होने से उसे अपनी स्त्री वापिस मिल जाती है और बन्धुदत्त को दड मिलता है। इस प्रकार काव्य-न्याय का धनपाल ने निर्वाह किया है।

इसको हम यही छोड कर प्राकृत में लिखी एक अन्य जैन-कथा से हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य के आदर्शग्रन्थ 'पद्मावत' की कथा से समता करके देखेंगे, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि ये कहानियाँ जैनो द्वारा पहले ही काव्य-रचना के लिए अपनाई जा चुकी थीं और प्रेममार्गी सूफी-धारा उसी का एक परिवर्द्धित द्वितीय सस्करण है।

विक्रम की पन्द्रहवी शती की प्राकृत मे लिखी एक 'रयणसेहरी नरवइ कहा' कथा मिलती है। कहानी को पौषध सप्तमी अष्टमी व्रत के दृष्टान्त के रूप में रक्खा गया है। इस कथा मे हिन्दी काव्य 'पद्मावत' की सब बाते

---

*भविष्यदत्तकथा सूर्य पचमी व्रत के दृष्टान्त के रूप में कही गई है।

न्यूनाधिक रूप में मिल जाती है। 'जायसी' के रत्नसेन ही इस कथा के 'रत्नशेखर नरपति' है। इसके अतिरिक्त सिंहल का वर्णन, योग का उल्लेख, तोतापक्षी (यद्यपि उसका नाम हीरामन नही है—नामकरण सस्कार या तो जायसी ने किया होगा या कि कथा के किसी रचयिता ने), इन्द्रजाल आदि सब बातो का वर्णन है। पद्मावती के स्थान पर रानी का नाम रत्नावती है, लेकिन 'पद्मिनी' शब्द मिलता है। रत्नावती के मुख से ही इस प्रकार उसका प्रयोग हुआ है। रतनशेखर की शोभा पर मुग्ध होकर वह कहती है—

'हे नाह ! दूरदेसे ठिओ विहिअयम्मि धारिओसि मए।
सूर विणा समीहइ अहवा किं पउमिणी अन्न ॥

—रयणसेहरीकहा ८५ ॥

'जायसी' ने 'पद्मावती' नाम अच्छा समझा। अत उसे ही रक्खा। उस नाम से भी कथा प्रचलित रही होगी, ऐसा अनुमान करना अस्वाभाविक नहीं है। 'पद्मावत' मे 'पद्मिनी'-हरण के लिए अलाउद्दीन को उपस्थित करना निस्सन्देह ही 'जायसी' की नई सूझ है। वह ऐतिहासिक सत्य है, यह कहना थोडा कठिन है। रयणसेहरी कथा मे भी रानी का हरण हुआ है, लेकिन अन्त मे वह इन्द्रजाल सिद्ध होता है और इस प्रकार रानीहरण को इन्द्रजाल सिद्ध करके एक धार्मिक वातावरण मे कथा का अन्त किया है।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जैन साहित्य से इस प्रकार की अनेक काव्यमय आख्यायिकाओ के रूप हमारे प्रारम्भिक हिन्दी-कवियो को मिले और प्रेममार्गी कवियो ने उन पर काव्य लिख कर अच्छा मार्ग प्रस्तुत किया। आगे चलकर कई कारणो से वह धारा रुक गई।

दूसरी प्रधान धारा जैन-साहित्य मे 'उपदेश' की है। यह अधिक प्राचीन है। यह उपदेशात्मकता हमे भारतीय साहित्य मे सर्वत्र मिल सकती है, लेकिन जैन-साहित्य की उपदेशात्मकता गृहस्थ-जीवन के अधिक निकट आ गई है। भाषा और उसकी सरलता इसके प्रधान कारण है। वर्तमान 'साधुवर्ग' पर जैनसाधुओ और सन्यासियो का अधिक प्रभाव प्रतीत होता है। जो हो, हिन्दी-साहित्य मे इस उपदेश (रहस्यवाद मिश्रित) परम्परा के आदि प्रवर्तक कबीरदास है और उनकी शैली, शब्दावली का पूर्ववर्ती रूप जैन-रचनाओ मे हमें प्राप्त होता है। सिद्धो का भी उन पर पर्याप्त प्रभाव है, लेकिन उस पर विचार करना विषयान्तर होगा। यह कहना अनुचित और असगत न होगा कि हिन्दी की इस काव्यधारा पर भी जैन-साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पडा है। कुन्दकुन्दाचार्य, योगीन्दु देवसेन और मुनि रामसिंह इत्यादि कवियो की उपदेश-प्रधान शैली और सन्त साहित्य की शैली मे बहुत समानता है। जिस प्रकार घरेलू जीवन (कबीर ने प्राय उपमान सामान्य जीवन से लिये है—जुलाहो, रहट की घरी आदि) के दृश्य लेकर सन्त कवियो ने अपने उपदेशो और सिद्धान्तो को बहुत दूर तक जनता मे पहुँचाया, उसी प्रकार इन जैन-कवियो ने भी किया था। सिद्धो मे यह धारा किसी प्रकार कम व्याप्त नही थी और प्राचीन भी काफी थी। भक्ति के सब प्रधान अगो का वर्णन इसमें हमे मिलता है। सन्तो पर इसका प्रभाव अवश्य पडा है।

यह हम ऊपर देख चुके है कि लोक-जीवन के स्वाभाविक चित्र अपभ्रश काव्य में हमें बहुत अधिक सख्या में मिलते है। शृगार, (सयोग और वियोग), बालवर्णन एव अन्य गृहस्थ-जीवन के स्वाभाविक चित्रण प्राय प्राप्त होते है। 'सूरदास' के शृगार के चित्रो से समानता रखने वाले वर्णन और उनकी बाललीला की याद दिलाने वाले वर्णन भी अपभ्रश साहित्य में पाना कठिन नही है। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में उद्धृत पद्यो मे शृगार (विशेष कर वियोग—प्रोषित पतिका) के अनेक अच्छे उदाहरण है, जो सूरदास की गोपियो की याद दिला देते है। यहाँ दो-एक पद्य उद्धृत किये जा रहे है। एक पथिक दूसरे पथिक मे अपनी प्रेमिका के विषय में पूछ रहा है—

पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त।
असूसासेंहि कञ्चुआ तिन्तुव्वाण करन्त ॥

हेमचन्द्र—प्राकृत व्याकरण ८ ४३१.

दूसरा उदाहरण एक वियुक्त नायिका का दृश्य अंकित करता है—

हिअडा फुट्टि तडत्ति करि कालक्खेवें काइं।
देक्खउ हयविहि कहिठवइ पइ विणु दुक्ख-सयाइं ॥

—वही. ८. ३५७ ३.

एक बालवर्णन का चित्र भी यह दिखाने के लिए यहाँ उद्धृत करते हैं कि उसे पढ़ कर भक्त-कवियो के बाल-वर्णन की याद आ जाती है, समानता भले ही कम हो। ऋषभदेव की बाललीला का वर्णन है—

सेसवलीलिया कीलमत्तीलिया।
पहुणादाविया केण ण भाविया ॥

धूलीधूसरु ववगयकडिल्लु सहजायकविलकोतलु जडिल्लु।

घत्ता—हो हल्लरु जो जो सुहु सुअहि पइं पणवतउ भूयगणु।
णदइ रिज्झइ दुक्कियमलेण कासुवि मलिणु ण होइ मणु ॥

धूलीधूसरो कडिकिंकिणीसरो।
णिरुवमलीलउ कीलइ बालउ ॥

पुष्पदन्त—महापुराण-प्रथमखण्ड।

'हो हल्लरु' इत्यादि शब्दो को पढते समय 'हलराय दुलराय' आदि शब्दो की ओर ध्यान चला ही जाता है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार के वर्णनो की झलक सूरदास मे मिल जाती है, यह इसलिए कि दोनो ही लोक-जीवन के स्वाभाविक वातावरण से लिये गये है। अत सक्षेप में हम कह सकते है कि हिन्दी की सभी काव्य-पद्धतियो का स्पष्ट स्वरूप हमें जैन-कवियो द्वारा प्राप्त हुआ है।

अब हम थोडा छन्दो पर विचार करके इस चर्चा को समाप्त करेंगे। हिन्दी-साहित्य मे दोहा छन्द के दर्शन हमें सर्वप्रथम होते है। दोहा छद अपभ्रश का छन्द है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में भी एक दोहे के दर्शन होते है। उन अपभ्रश पद्यो की प्रामाणिकता के विषय मे कहने का यह उचित स्थल नही है। उस पर विचार करने की आवश्यकता अवश्य है। जो हो, जैन-कवियो द्वारा इस छन्द का प्रयोग सबसे पहले हुआ। उपदेश आदि के लिए यह छन्द बहुत लोकप्रिय हो गया। सन्त कवियो ने आगे चल कर इसे अपने उपदेशो का माध्यम बनाया। ऊपर हम दोहे का प्रयोग शृगार के लिए भी देख चुके है। अत बिहारी जैसे कवियो ने उसमे सफलतापूर्वक शृगार रचना भी की है।

दोहा-चौपाई के ढग की रचनाएँ भी अपभ्रश साहित्य में हमे पर्याप्त मिलती है। चौपाई के पश्चात् दोहे के स्थान पर 'घत्ता' का प्रयोग हुआ है। पउमचरिय, भविष्यदत्तकथा, जसहरचरिउ, णायकुमारचरिउ, करकडु-चरिउ, सुदर्शनचरिउ आदि ग्रन्थो में दोहा-चौपाई के ढग की छन्द-व्यवस्था ही है। इन ग्रन्थो में चौपाई के स्थान पर अन्य छन्दो का भी प्रयोग हुआ है, लेकिन 'घत्ता' का प्रयोग कडवक को पूरा करने के लिए अवश्य हुआ है। हिन्दी में जायसी के 'पद्मावत', तुलसीदास के 'मानस' में यही छन्द-व्यवस्था है, केवल दोहे ने 'घत्ता' का स्थान ले लिया है।

इनके अतिरिक्त अन्य कई मात्रिक छन्दो का प्रयोग भी हिन्दी में अपभ्रश द्वारा ही आया है। विद्यापति, सूरदास एव अन्य भक्त कवियो के पद पहेली बने हुए है, लेकिन अपभ्रश छन्दो पर विचार करने से वह परम्परा स्पष्ट हो जाती है। अपभ्रश कवि छन्द के दो चरणो को स्वतन्त्र पूर्ण चरण मान लेते है अर्थात् चौपाई के पूरे चार चरण लिखने की आवश्यकता वे नही समझते है। दो चरण से ही छन्द समाप्त कर देते है। कभी एक चरण ही रख देते है और उनको स्थायी या ध्रुवक के रूप में कुछ पक्तियो के बाद दुहराते होंगे। पदो की टेक या स्थायी का रूप इसी

में हमे मिलता है। उसके वाद ग्रौर छन्दो की पक्तियाँ रख कर पद या पूर्ण गीत वन जाता है। अपभ्रश मे सगीत की, लय की प्रधानता है, वर्णन स्वाभाविक रहता ही है। सगीत ग्रौर लय दोनो का अपभ्रश-कविता में सुन्दर विकास हुआ ग्रौर यही हिन्दी पदशैली में हमें मिलता है। जयदेव ग्रादि में वह सब ढूढने का प्रयास निष्फल है। जयदेव पर भी अपभ्रश का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। अपभ्रश के छन्द प्राय सगीत प्रधान है, वे ताल-गेय है। हिन्दी की पदशैली में भी यह सब है।

इस प्रकार हम देखते है कि जैन-साहित्य ने भावधारा, विषय, छन्द, शैली ग्रादि अनेक प्रकार के साहित्यिक उपकरण हिन्दी-साहित्य को प्रदान किये है। अभी तक वहुत कम जैन अपभ्रश साहित्य प्रकाश में ग्राया है। उसके अधिकाधिक प्रकाश में ग्राने पर यह प्रभाव ग्रौर भी स्पष्ट होगा।

शातिनिकेतन]
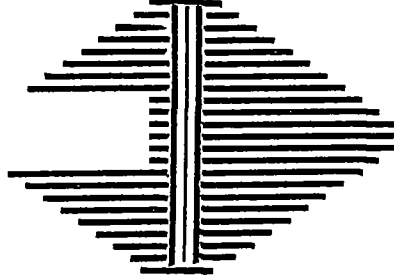
जैन-साहित्य प्रचार

मुनि न्यायविजय

लगभग अठारह वर्ष पहले की बात है। हम पूना मे चातुर्मास कर रहे थे। उस समय हमने ज्ञान पचमी (कार्तिक शुक्ला पचमी) के उपलक्ष मे ज्ञान-पूजा के निमित्त जैन-साहित्य के सभी विषय के ग्रन्थो को अच्छी तरह प्रदर्शिनी के रूप में रख कर जैन व जैनेतर जनता को जैन-साहित्य के दर्शन करने का अवसर दिया था। हमारा यह समारम्भ पूर्ण सफल हुआ। इस अवसर पर पूना के जैनेतर विद्वान व कुमारी जान्सन हेलन आदि आये थे। इन सब को जैन-साहित्य की इतनी विपुल सामग्री देख कर अति प्रसन्नता हुई। उस समय एक प्रोफेसर महाशय के कहे हुए शब्द हमे आज भी याद है। उन्होने कहा था, "जैन-साहित्य इतना अधिक है, यह तो हमें आज ही ज्ञात हुआ है। हमने वैदिक साहित्य खूब पढा है। हमारे लिए अब यह चर्वित चर्वण जैसा हो गया है। अब तो हम मे जैन-साहित्य पढने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। यहाँ जैसा प्रदर्शित किया गया है वैसा प्राचीन जैन-आगम-साहित्य, जैन-कथा-साहित्य, ज्योतिष विषयक जैन-साहित्य इत्यादि प्राचीन व अर्वाचीन साहित्य हमे मिल सके, ऐसा प्रवन्ध होना चाहिए।"

उन महानुभाव के ये शब्द हमारा ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट करते है कि जैन-साहित्य के प्रचार के लिए भगीरथ प्रयत्न करने की आवश्यकता है। जैन-साहित्य को विश्व के सम्मुख रखने का इस युग मे अच्छा अवसर है, पर इसके लिए जैन-साहित्य के (जैन आगम से लगा कर जैन-कथा-साहित्य पर्यन्त के) हर एक विषय के ग्रन्थो को नवीन सशोधन-पद्धति से सशोधित-सम्पादित करके सुन्दर रूप में मुद्रित करना अपेक्षित है। प्रत्येक ग्रन्थ के साथ उसमे प्रयुक्त जैन-पारिभाषिक शब्दो का परिचय एव उस ग्रन्थ का भाव राष्ट्र-भाषा हिन्दी एव अन्तर्राष्ट्रीय भाषा में दिया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक दृष्टि से भी उस ग्रन्थ का महत्त्व विस्तार से समझाया जाना चाहिए।

इस दिशा मे प्रयत्न करते समय मौलिक जैन-साहित्य के रूप मे जो आगम ग्रन्थ विद्यमान है, उनके आदर्श मुद्रण और प्रकाशन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। जो आगम ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है वे वर्तमान सशोधन-सम्पादन की दृष्टि से अपूर्ण प्रतीत होते है। इनके सुन्दर व सर्वांग-पूर्ण सस्करण प्रकाशित होने चाहिए। आगम के प्रकाशन के समय उसकी पचागी (भाष्य, निर्युक्ति, टीका आदि) को भी बिलकुल शुद्ध रूप मे प्रकाशित करना चाहिए और यथासम्भव उनके विषय में गम्भीर पर्यालोचन करना चाहिए। मुझे विश्वास है कि जैन-आगम-साहित्य के प्रत्येक पहलू पर जितना अधिक ध्यान दिया जायगा, उतना ही अधिक जैन-सस्कृति का मौलिक रूप प्रकट हो सकेगा।

जयधवला, महाधवला एव अन्य प्राकृत ग्रन्थो का भी इसी प्रकार आदर्श प्रकाशन होना चाहिए तथा सस्कृत एव प्रान्तीय भाषाओ में प्राप्त जैन-साहित्य सुचारु रूप से प्रकाशित होना चाहिए।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि किसी भी जैन-ग्रन्थ को प्रकाशित करते समय यह खयाल रखना चाहिए कि वह ग्रन्थ परम्परा से जैनधर्म को मानने वाले किसी एक समाज के लिए ही प्रकाशित नही किया जा रहा है। बल्कि जैनेतर जिज्ञासुओ की दृष्टि में रख कर ग्रन्थो का प्रकाशन होना चाहिए। भाव और भाषा इतने स्पष्ट और सरल होने चाहिए कि जैनेतर बन्धु को उसे समझने में कोई कठिनाई न हो। हम देखते है कि धर्मपालन की दृष्टि से भले ही न हो, पर एक मनन-योग्य साहित्य की दृष्टि से जैन-साहित्य की ओर न केवल जैनेतर भारतीय विद्वान ही आकृष्ट हुए है, प्रत्युत यूरोप और अमरीका के विद्वानो का ध्यान भी उधर गया है। उनके अध्ययन के लिए प्रामाणिक एव सुबोध सामग्री प्राप्त कराने की दिशा मे प्रयत्न होना आवश्यक है।

हाई स्कूल व कॉलेज के पाठ्य-क्रम में अर्ध-मागधी भाषा को स्थान दिया गया है और मद्रास, बंगाल आदि प्रान्तो में इस भाषा के अध्ययनकर्ता अच्छी सख्या मे है। इस कारण उनके अध्ययन के लिए उपयोगी हो सकें और उन्हे प्रेरणा दे सके, ऐसे जैन-ग्रन्थ समय-समय पर प्रकाशित किये जाने चाहिए और अल्प मूल्य मे जन-साधारण को सुलभ कराने का प्रबन्ध होना चाहिए।

जैन-साहित्य के कोष में इतनी विपुल सामग्री भरी पडी है कि वह साधारण व्यक्तियो से लेकर पडित तथा इतिहास, ज्योतिष एव भाषा-शास्त्र के अध्ययन करने वालो को बडी उपयोगी हो सकती है।

जैन-कथा-साहित्य अपने ढग का निराला साहित्य है। सस्कृत एव प्राकृत के विद्वानो का उससे खूब मनोरजन हो सकता है।

तर्क-साहित्य, दर्शन-साहित्य और न्याय-साहित्य की तो मानो जैन-साहित्य अमूल्य निधि है। स्याद्वाद, नय व सप्तभगी की निराली नीव पर खडा किया गया जैन-दर्शन का तर्क इतना गहरा जाता है कि वह मुक्ति के उपासक को अपूर्व रूप से प्रभावित कर देता है। इस विषय के सामान्य कोटि से लगा कर उच्चतम कोटि मे रक्खे जाने वाले अनेक ग्रन्थ है। जैन-दर्शन की सूक्ष्मता का स्पष्ट दर्शन इनमे होता है।

आत्म-दृष्टि या अन्तर्मुख-वृत्ति के इच्छुक के लिए जैन-तत्त्वज्ञान एव उपदेश विषयक इतना सुन्दर साहित्य उपलब्ध है कि उसमें निमग्न होने वाला अवश्यमेव निजानन्द का अनुभव करने लगता है। इस विषय के ऐसे अनेक ग्रन्थ है, जिनमे कठिन-से-कठिन मालूम होती आध्यात्मिक समस्या बडी ही सुगमता से समझाई गई है। परमाणुवाद का उल्लेख भी जैन-ग्रन्थो मे प्राप्त होता है। तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि को ध्यान में रखते हुए कर्मवाद के बारे में जो जैन-साहित्य प्राकृत एव सस्कृत भाषा मे रचा गया है, वह अपूर्व, अति सूक्ष्म एव अद्वितीय है। इस साहित्य को देखने पर जैन-दर्शन को नास्तिक-दर्शन कहने वालो को जैन-दर्शन की परम आस्तिकता का पूरा-पूरा अनुभव हो सकता है। ऐसा कहने में अत्युक्ति नही है कि जैन-दर्शन का कर्मवाद विषयक साहित्य ससार मे अपनी सानी नही रखता।

जैन-काव्य-साहित्य मे रामायण, महाभारत जैसे सरल कोटि के ग्रन्थो से लगा कर नैषध व कादम्बरी जैसे गूढ ग्रन्थ भी पर्याप्त सख्या में मिलते है। इसी प्रकार व्याकरण, कोष, अलकार, छन्द-शास्त्र आदि किसी विषय मे भी जैन-साहित्य पिछडा हुआ नही है।

जैन-आगम-साहित्य का तो कहना ही क्या! वह तो मानो उपर्युक्त सभी विषयो की साहित्य-गगा को जन्म देने वाला हिमालय है। उसमे सभी समा जाते है। उसमे सभी आविर्भूत होते है।

प्रश्न उठता है कि जब जैन-साहित्य इतना सर्वांगपूर्ण है तो फिर उसका इतना अल्प प्रचार क्यो? इसका उत्तर स्पष्ट है। तिजोरी मे पडे हुए हीरे का यदि कोई मूल्य न पूछे तो उसमें हीरे का या मूल्य न पूछने वाले का क्या दोष? दोष है उसे निरन्तर तिजोरी में मूद रखने वाले लोभी व्यक्ति का। ठीक यही हाल हमारे जैन-साहित्य का है। हमारी अन्ध सग्रह-शीलता, अज्ञता एव सकुचितता ने सारी दुनिया की सम्पत्ति रूप इस जैन-साहित्य को ससार की निगाह से ओझल कर रक्खा है, लेकिन सौभाग्य से विद्वानो का ध्यान अब इस ओर आकृष्ट हुआ है। अत उसके प्रचार मे पूरा-पूरा सहयोग देना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है।

जैन-साहित्य के प्रचार के बारे मे विचार करते समय ईसामसीह के मिशन का प्रचार करने के लिए हर एक भाषा मे छोटी-छोटी पुस्तकें तैयार करा कर अल्प मूल्य में बेचते हुए उपदेशक हमारी आँखो के सामने आते है। प्रचार का यह तरीका, उस मलिन अश को दूर करके, अपनाने लायक है। बिना लोक-भाषा अर्थात् जहाँ प्रचार किया जाय, वही की भाषा, का सहारा लिये किसी भी धर्म या मत का पूर्ण रूप से प्रचार नही हो सकता। इस बात की सत्यता तो स्वय अर्धमागधी भाषा के जैन-आगमो से ही प्रकट होती है। भगवान् महावीर स्वामी व भगवान् बुद्ध ने पडितो की सस्कृत भाषा को छोड कर अर्धमागधी व पाली भाषा को अपनाया। इसके पीछे यही भावना थी कि उनके उपदेशो को साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी समझ सके।

जैन-साहित्य के प्रचार का आयोजन करते समय हमे उन सस्थाओ का आदर्श अपने सम्मुख रखना चाहिए, जो लोक-कल्याण की भावना से ग्रन्थो का प्रकाशन करती है। जब तक निजी स्वार्थ को तिलाजलि देकर सत्साहित्य के प्रचार मे न जुटा जायगा तब तक कुछ भी नही हो सकता।

जैन-साहित्य इतना सर्वाङ्ग सुन्दर साहित्य है और जैन-समाज मे धन की कमी नही है। अगर समाज चाहे तो अल्प मूल्य क्या, विना मूल्य ही ग्रन्थो का वितरण कर सकता है। पर अभी समाज के साधन-सम्पन्न व्यक्तियो का ध्यान इस ओर नही गया। अब समय आ गया है कि इस दिशा मे भरसक प्रयत्न किया जाय। घोर हिंसा की पृष्ठ-भूमि में अहिंसा-प्रेरक साहित्य का जितना प्रचार किया जा सके, करना चाहिए।

इसके लिए हमे विद्वानो के सशोधन एव सम्पादन मडल, जैन-सस्कृति के केन्द्र रूप विद्यालय तथा आदर्श जैन-ग्रन्थालय भी जगह-जगह स्थापित कर देने चाहिए। जैन-साहित्य के किसी भी अश के अध्ययन के लिए व्यक्तियो को पूरी सुविधाएँ मिल सके, ऐसा प्रवन्ध होना चाहिए। छात्रवृत्ति, निवन्ध आयोजन, उपाधि-वितरण आदि द्वारा भी जैन-साहित्य के अध्येताओ की सहायता की जा सकती है। इस प्रकार का प्रवन्ध करना कठिन नहीं है, लेकिन ऐसा करने मे एक वात का ध्यान रक्खा जाय कि जो कुछ भी किया जाय वह इतना दृढता-पूर्वक किया जाय कि वरावर आगे चलता रहे।

इस वारे मे सवसे अधिक यह कठिनाई अनुभव होती है कि योग्य कार्यकर्ता, विद्वान एव प्रवन्धक पर्याप्त सख्या म नही मिल पाते। लेकिन इसकी व्यवस्था होना कठिन नही है, वशर्ते कि हम इस दिशा मे अग्रसर होने के लिए कटिवद्ध हो जायँ। सरकार की ओर से जिस प्रकार शिक्षक तैयार करने के लिए शिक्षण केन्द्र चलाये जाते हैं, उसी प्रकार की सस्थाए हम भी स्थापित कर सकते है।

त्रिपुटी]
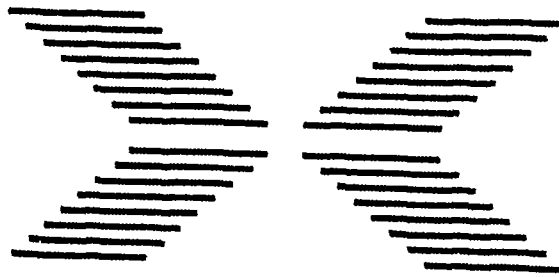
जैन-साहित्य का भौगोलिक महत्त्व

श्री अगरचन्द नाहटा

किसी भी देश का इतिहास जब तक उस देशान्तर्गत ग्राम-नगर भूमि, उसके शासक और वहाँ के निवासी, इन तीनों का यथार्थ चित्र अंकित न कर दे तब तक उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता। भारतीय इतिहास अभी तक शासकों के इतिहास के रूप में ही विशेषतया हमारे सामने आया है। अतः इसे एकांगी ही कह सकते हैं। हमारे इतिहास की इस कमी को पूर्ण करने की नितान्त आवश्यकता है। भारत के ग्राम और नगरों के इतिहास की जो महत्त्वपूर्ण विशाल सामग्री जैन-साहित्य में पाई जाती है उसकी ओर हमारे इतिहास-लेखकों का ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से प्रस्तुत निबन्ध लिखा जा रहा है।

प्राचीन काल से ही राजकीय इतिहास को अधिक महत्त्व देने के कारण उसके सम्बन्ध में जितनी सामग्री पाई जाती है, उतनी ग्राम, नगर एवं उसके निवासी जनसाधारण के इतिहास की नहीं पाई जाती। फिर भी भक्ति-प्रधान भारत में कई स्थानों के माहात्म्य धार्मिक दृष्टि से लिखे गये हैं। उनके आधार पर एवं भारतेतर यात्रियों के भ्रमण-वृत्तान्त आदि द्वारा कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। जैनधर्म भारत में फला-फूला एवं हजारों वर्षों से जैनमुनि इस देश के एक किनारे से दूसरे किनारे तक धर्म-प्रचार करते रहे हैं। अतः उनके साहित्य में भी भौगोलिक इतिहास की सामग्री अधिकाधिक पाई जाय, यह स्वाभाविक ही है। पर खेद है कि हमारे इतिहास-लेखकों ने उस ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया। इसलिए इस लेख में जैन-साहित्य के भौगोलिक महत्त्व की चर्चा की जा रही है।

जैन-साहित्य में सबसे प्राचीन साहित्य आगम-ग्रन्थ हैं। उनमें से ग्यारह अंग आदि कई ग्रन्थ तो भगवान् महावीर द्वारा कथित होने के कारण ढाई हजार वर्ष पूर्व के इतिहास के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इन आगमों में तत्कालीन धर्म, समाज-व्यवस्था, संस्कृति, कला-साहित्य, राजनैतिक हलचल और राजाओं के सम्बन्ध में बहुमूल्य सामग्री सुरक्षित है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसका अनुसन्धान करना परमावश्यक है। इन आगमों में जिन-जिन देश, नगर और ग्रामों का उल्लेख आया है, मैं यहाँ उन्हीं का संक्षिप्त परिचय करा कर मध्यकालीन एतद्विषयक जैन-साहित्य का परिचय दूंगा। मेरा यह प्रयास केवल दिशासूचन के रूप में ही समझना चाहिए। विशेष अध्ययन करने पर और भी बहुत-सी जानकारी प्राप्त होने की सम्भावना है। आशा है, विचारशील विद्वद्गण इससे लाभ उठा कर हमारे इतिहास की एक महान् कमी को शीघ्र ही पूर्ण करने में प्रयत्नशील होंगे।

प्राचीन जैनागमों में जैनवाङ्मय के चार प्रकार माने गये हैं—१ द्रव्यानुयोग (आत्मा, परमाणु आदि द्रव्यों की चर्चा) २ गणितानुयोग (भूगोल-खगोल और गणित) ३ चरणकरणानुयोग (आचार, विधिवाद, क्रियाकाण्ड के निरूपक शास्त्र) और ४ धर्मकथानुयोग (धार्मिक पुरुषों के चरित्र)। इनमें भूगोल-खगोल का विषय दूसरे अनुयोग में आता है। इस विषय के कई मौलिक ग्रन्थ भी हैं और कई ग्रन्थों में अन्य बातों के साथ भूगोल-खगोल की भी चर्चा की गई है। दोनों प्रकार के कतिपय ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

भगवतीसूत्र, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिषकरण्डक, द्वीपसागर-प्रज्ञप्ति, बृहत्संघयणी, लघुसंघयणी, बृहत् क्षेत्रसमास, लघुक्षेत्रसमास, तिलोयपन्नत्ति, मंडलप्रकरण, देवेन्द्र नरेन्द्र-प्रकरण, लोकनालिप्रकरण, जम्बूद्वीपसंघयणि, लोकप्रकाश आदि।

इन ग्रन्थों में पौराणिक ढंग से जैनभूगोल-खगोल की चर्चा है। मुनि दर्शनविजय जी ने अपने विश्वरचना-

प्रबन्ध' मे इन ग्रन्थो मे वर्णित बातो की तुलना जैनेतर पुराणो के साथ भी की है एव मुनि धर्मविजय जी ने 'जैन-भूगोल' के नाम से एक बृहद्ग्रन्थ भी प्रकाशित किया है।[1]

जैनागमो मे देशो के नाम

जैनागमो मे भगवतीसूत्र बहुत ही महत्त्वपूर्ण सूत्र है, जिसका अगसाहित्य मे पाँचवा स्थान आता है। इसके पन्द्रहवें शतक के गोशालक अध्ययन में भारत के सोलह प्रान्तो का नाम निर्देश पाया जाता है। यथा—

१ अग, २ वग, ३ मगध, ४ मलय, ५ मालव, ६ अच्छ, ७ वत्स, ८ कौत्स, ९ पाट, १० लाट, ११ वज्र, १२ मौली, १३ काशी, १४ कोशल, १५ अवाव और १६ सभुक्तर।

इसी सूत्र मे ३।७वें शतक एव नवे शतक के तैंतीसवे अध्ययन (देवानन्द के प्रसग) मे कई बार भारतेतर अनार्य देशो के नाम पाये जाते हैं। जैसे—

शवर, वर्बर, ढकण, भुत्तुअ, पल्ह और पुलिंद यह ६ नाम अनार्य जाति के सूचक है। इन जातियो के नाम देशसूचक ही प्रतीत होते है।

शक, यवन, चिलात, शवर, वर्बर इन्हे अनार्य या म्लेच्छ बतलाया गया है।

देवानन्द के वस्त्रप्रसग में चीनाशुक (चीन का रेशम) एव चिलात देश की दासियो का उल्लेख है। इसी प्रकार प्रीतिदान के प्रसग में पारसीक देश की दासियो का निर्देश पाया जाता है।

अनार्य देशो का विस्तृत विवरण सूत्रकृताग, प्रश्नव्याकरण एव प्रज्ञापनासूत्र में है—(१) सूत्रकृताग के पृ० १२२ में—

शक, यवन, शवर, वर्बर, काय, मुरुड, दुर्गोल (?) पक्वणक, आख्याक, हूण, रोमस, पारस, खस, खासिक, दुबिल, यल (?), बोस (?), बोक्कस, भिल्ल, अन्ध्र, पुलिंद, क्रौंच, भ्रमर, रुथ, कावोज, चीन, चुचुक, मालय (?) द्रमिल और कुलाक्ष यह सब अनार्य देश है।

(२) प्रश्न व्याकरण के पृ० १२४ में—

शक, यवन, वर्बर, शवर, काय, मुरुड, उद भडक, तित्तक, पक्वणिक, कुलाक्ष, गौड, सिंह (ल), पारस क्रौंच, अन्ध्र, द्राविड, विल्वल, पुलिन्द, अरोप, डोंब, पोक्कण, गन्धहारक, बहलीक, जल्ल, रोम, माष, वकुश, मलय, चुचुक, चूलिक (चोल[1]), कोकण, भेद, पह्लव, मालवा, महुरा, आभाषिक, अनक्क (अनर्क), चीन, ल्हासिक, खस, खासिय, नेहर, महाराष्ट्र, मौष्टिक, आरव, डोबिलक, कुहण, केकय, हुण, रोमक, रुरु, मरुक और किरात, यह सब अनार्य[2] देश हैं।

(३) प्रज्ञापना पृ० ५५—

शक, यवन, किरात, शवर, वर्बर, मुरुड, उट्ट, भडक, निम्नक, पक्वणिक, कुलाक्ष, गौंड, सिंहल, पारस, गोध, क्रौंच, अवड (?) द्रमिल, चिल्लल, पुलिंद, हार (?), औस, डोब, वोक्कण, अनक्क, अध्र, हारव, पहलीक, अव्वल, अम्बर, रोम, माष, वकुश, मलय, वधुक, सूयलि (?), कोकण, भेद, पह्लव, मालव, मग्गर (?), आभाषिक, कणवीर, ल्हासिक, खस, खासिक, नेहर, भूढ डोबिल, गलओस (?), प्रदोष, कर्कतक, हूण, रोमक, हूण, रोमक (?), नरु (मरु ?), मरुक और किरात, यह सब अनार्य हैं।

प्रज्ञापनासूत्र मे २५॥ आर्यदेशो के नाम और उनकी राजधानियो का उल्लेख इस प्रकार है '१ राजगृह (मगध), २ चपा (अग), ३ ताम्रलिप्ति (वग), ४ कचनपुर (कलिंग), ५ वाराणसी (काशी), ६ साकेत

---

[1] इसी ग्रन्थ के आधार पर 'जैन भूगोल' शीर्षक लेख लिख कर मुनि न्यायविजय जी ने सातवीं गुजराती साहित्य परिषद् के ग्रन्थ में प्रकाशित करवाया है।

[2] देखिए भगवतीसूत्र (प० बेचरदास जी दोशी द्वारा सम्पादित) भा० २, पृ० ५३।

(कोशल), ७ गजपुर (कुरु), ८ सौरिक (कुशावर्त), ९ कांपिल्य (पाचाल), १० अहिच्छत्र (जागल), ११ द्वारवती—द्वारिका (सौराष्ट्र), १२ मिथिला (विदेह), १३ कौशाम्वी (वत्स), १४ नदीपुर (शाडिल्य), १५ भद्दिलपुर (मलय), १६ वैराटपुर (वत्स, मत्स्य ?), १७ अच्छापुरी (वरण), १८ मृत्तिकावती (दशार्ण), १९ शौक्तिकावती (चेदि), २० वीतभय (सिंधसौवीर), २१ मथुरा (शूरसेन), २२ पापा (भग) २३ परावर्त्ता (मास), २४ श्रावस्ती (कुणाल), २५ कोटीवर्ष (लाट), २६ श्वेताविका (अर्ध केकय)।[1]

ज्ञाता धर्मकथा नामक छठें अगसूत्र मे भी मेघकुमार के प्रसग में निम्नोक्त देशो की दासियो का उल्लेख पाया जाता है :

वर्वर, द्रमिल्ल, सिंहल, अरब, पुलिंद, वहल, शवर, पारस, वकुसि, योनक, पल्हविक, इसिनिका, धोरुकिनी, लासिक, लकुसिक, पक्वणी, मुरुडि।[2]

इसी सूत्र के मल्लि अध्ययन में कोशल, अग, काशी, कुणाल, कुरु, पाचाल, विदेह, आदि देशो के नाम हैं।

इसी प्रकार उववाइ सूत्र मे अनेक देशो की दासियो का उल्लेख है।

विभिन्न ग्रन्थो मे नाम सग्रह करने का उद्देश्य है, उनके पाठान्तरो की ओर विद्वानो का ध्यान आकर्षित करना। इनमें से कई देश तो प्रसिद्ध हैं। अवन्ति देशो के वर्तमान नामादि पर प्रकाश डालने का विद्वानो से अनुरोध है।

मध्यकालीन साहित्य मे देशो के नाम

देशो की सख्या वढते-वढते ८४, जो कि प्रसिद्ध एव लोकप्रिय सख्या है, तक जा पहुँची। स० १२८५ के लगभग विनयचन्द्र रचित काव्य शिक्षाग्रन्थ मे ८४ देशो का उल्लेख है—

चतुरशीतिर्देशा —गौड—कान्यकुब्ज—कौल्लाक—कलिंग—अग—वग—कुरग—आचाल्य (?)—कामाक्ष—ओड्र—पुड्र—उडीश—मालव—लोहित—पश्चिम—काछ—वालम—सौराष्ट्र—कुकण—लाट—श्रीमाल—

---

[1] देखिए प० बेचरदास द्वारा अनुवादित 'भगवान महावीर नी धर्मकथाओ' पृ० २०७।

[2] जवूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र में भी इन देशो के नाम की सग्रहगाथा इस प्रकार पाई जाती है—

खुज्जा, चिल्लाइ, वीमणि, वडभीओ, वव्वरी, वउसियाओ। जोणिय, पल्ववियाओ, इसिणिया, वारू किणियाओ (१) लासिय, लउसिय, हामिली, सिंहल्लीतह अर्फवि पुलिंदीऊ। पक्वाणि वहलि मुरडी सबरी पारसियाओ (२)।

इसी ग्रन्थ में भरत चक्रवर्ती के दिग्विजय के अधिकार में भी सिंहल, वर्वर, आरव, रोम, अलसड, पिक्खुर, कालमुख, जोनक, चिलात आदि देशों एव वैताढ्य आदि पर्वतो का उल्लेख एव विविध भौगोलिक सामग्री पाई जाती है।

तत्त्वार्थ भाष्यवृत्ति के अध्याय ३ सूत्र पन्द्रहवें की व्याख्या में शक, यवन, किरात, काबोज, वाल्हीकादि को अनार्य बतलाया गया है।

प्रज्ञापना सूत्र के आधार से ही प्रवचन सारोद्धार के २७४-२७५वें अधिकार में प्राय उन्हीं २६ आर्य देशों, उनकी नगरियो एव म्लेच्छ देशों के नाम दिये हैं (गाथा १५८३ से ८५)। इसी प्रकार आवश्यकसूत्र में भी अनार्य देशों के नाम हैं।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने अपने त्रिसष्टिशलाका पुरुषचरित्र (पर्व २ सर्ग ४) में निम्नोक्त देशों के नाम दिये हैं —

द्राविड, अध्र, कलिंग, विदर्भ, महाराष्ट्र, कोकण, लाट, कच्छ, सोरठ, म्लेच्छ—सिंहल, बर्वर, टकण, कालमुख, जोनक, यवनद्वीप, कच्छदेश।

आदन, हावस, मुगदि, सुंघनगिरि, सीकोत्तर, चोलनार, पाडय, तालीउ, त्रिहूति, भोट, महाभोट, चीण, महाचीण, बगाल, खुरसाण, मगध, वच्छ, गाजणा।

अर्बुद—मेदपाट—मरुवरेंद्र—यमुना—गगा तीर—अतर्वेदि—मागध—मध्य कुरु—डाहल—कामरूप—कांची—अवती—पापातक—किरात—सौवीर—औसीर—वाकाण—उत्तरा पथ—गुर्जर—सिंधु—केकाण—नेपाल—टक्क—तुरुस्क—लाडकार—सिंघल—चौड—कोशल—पाडु—अन्ध्र—विंध्य—कर्णाट—द्रविण—श्री पर्वत—बर्बर—जर्जर—कीर—काश्मीर—हिमालय—लोहपुरुप—श्री राष्ट्र—दक्षिणापथ—विदर्भ—धाराउर—लाजी—तापी—महाराष्ट्र—आभीर—नर्मदातट—दी (द्वी) पदेशाश्चेति।

इसके पश्चात इस ग्रथ मे कई देश एव नगरो के ग्राम सख्यादि का भी निर्देश किया है। (देखें, पाटण भडार सूची पृ० ४८-४६)।

स० १४७८ मे माणिक्यसुन्दरसूरि रचित पृथ्वीचद्र चरित्र मे भगवान ऋषभदेव के ६८ पुत्रो के नाम से प्रसिद्ध हुए ६८ देशो के नाम की सूची इस प्रकार दी है—

काश्मीर, कीर, कावेर, काम्बोज, कमल, उत्कल, करहाट, कुरु, क्वाण, ऋथ, कौगक, कोशल, केशी, काश्त, कारुख, कच्छ, कर्नाट, कीकट, केकि, कौलगिरि, कामरू, कुकण, कुतल, कालिंग, करकूट, करकठ, केरल, खस, खर्पट, खेट, गौड, अग, गौण्य, गागक, चौड, चिल्लिर, चैत्य, जालधर, टकण, कोणियाण, गहल, तुग, ताज्जिक, तोमल, दशार्ण दडक, देवसम, नेपाल, नर्तक, पचाल, पल्लव, पुड्र, पाडु, प्रत्यगथ, अर्बुद, वभ्रु, बमीर, भट्टीय, माहिप्यक, महोदय, मुरुड, मुरल, मेद, मरु, मुद्गर, मकन, मल्लवर्त, महाराष्ट्र, यवन, रोम, शटक, लाट, ब्रह्मोत्तर, वह्मावर्त्त, ब्राह्मणावाहक, विदेह, वग, वैराट, वनवास, वनायुज, वाह्लीक, वल्लव, अवति, वह्नि, शक, सिंहल, सुम्ह, सूर्पंखु, सौवीर, सुराष्ट, सुरड, अस्मक, हूण, हर्मोक, हर्मोज, हस, हुहुक, हेरक

जैनागमो मे नगर एव ग्रामो का उल्लेख

जैनागमो मे देशो के नाम के अतिरिक्त उन देशो के मुख्य नगर एव ग्रामो का भी अच्छा वर्णन पाया जाता है। कई नगरो के वनखड उद्यान, यक्षमदिर आदि जहाँ कि जैनमुनि रहते थे, उनका भी वर्णन किया गया है। पूरी खोज करने पर इस विषय मे बहुत कुछ नवीन ज्ञातव्य मिल सकता है, यहाँ तो यथाज्ञात थोडे से नामो का सग्रह किया जा रहा है। कई नगरो के उल्लेखो मे तत्कालीन राजाओ[1] का भी उल्लेख है।

भगवतीसूत्र—

श्रावस्ती (कोष्टक चैत्य), कृतगला (छत्रपलाशचैत्य), ताम्रलिप्ति (वेभेल सन्निवेश), सुसुमारनगर (अशोक वनखण्ड), वाणिज्यग्राम (दूतिपलाशचैत्य), हस्तिनापुर (सहस्रादन उद्यान, शिवराजा, धारणी राणि शिविभद्रकुमार), कौशाम्बी (चन्द्रावतरणचैत्य—उदायी राजा, शतानिक का पुत्र—मृगावर्त राणी), वीतभयपत्तन (सिंधु-सौवीर देश—मृगवन उद्यान—उदायन राजा, प्रभावती रानी, अभिचीकुमार पुत्र, केशीकुमार—भानजा), उल्लुकतीर (जवूक चैत्य), राजगृह (गुणशील चैत्य, मडिकुक्षि चैत्य), चपानगरी (पूर्णभद्र चैत्य, अगमदिर, कौणिक राजा), वैशाली (कुडियायन चैत्य, चेटक राजा), ब्राह्मण कुड (बहुशालक चैत्य), क्षत्रियकुण्ड, तुगिया नगर (पुष्यवती चैत्य), आलभिका (सखवन, प्राप्तकाल चैत्य), उद्दण्डपुर (चन्द्रावतरण चैत्य) वाराणशी (काममहावन), काकदी नगर, मेढियाग्राम (साणकोष्टक चैत्य) कूर्मग्राम, अस्थिग्राम, कोलाकसन्निवेश (नालदा के पास) मोका नगरी (नदन चैत्य), नालदा (राजगृह के वाहर), सिद्धार्थग्राम, कर्मारग्राम, पणियभूमि, विशाला (बहुपुत्रिक चैत्य)।

उपरोक्त सभी ग्रामनगरो का निर्देश भगवतीसूत्र से सकलित किया गया है। इनके अतिरिक्त आचारागसूत्र मे लाटभूमि, वज्रभूमि, शुभ्रभूमि के नाम आते है। ज्ञातासूत्र में शुक्तिमती, हस्तिशीर्ष, मथुरा, कौडिन्यनगर,

---

[1] जैसे ठाणागसूत्र के ८वें स्थानक में १ वीरागक, २ वीरजस, ३ सजय, ४ ऐणेयक, ५ श्वेत, ६ शिव, ७ उदायन और ८ शख इन ८ राजाओं को तो भगवान महावीर ने दीक्षित किया लिखा है।

विराट नगर, कापिलनगर, (पाचालदेश) वाराणसी, द्वारिका, मिथिला, अहिच्छत्रा, कापिल्य, पाडुमथुरा, हृत्यकप्प, साकेतपुरी, इन नगरो के नामो के साथ सम्मेत, उज्जयत, शत्रुजय, नील पर्वत, वैभारगिरि आदि पर्वतो का भी निर्देश पाया जाता है। ७वे अग उपासक दशा में कपिलपुर, पोलासपुर, यह नाम उपरोक्त नामो के अतिरिक्त है।

अतगड दशासूत्र मे कुछ विशेष स्थलो के नाम निम्नोक्त आये है। राजगृह मे मुद्गरपाणि यक्ष का मदिर, पोलासपुर, भद्दिलपुर।

विपाक नामक ११वे अग मे विशेष नाम इस प्रकार है—मृगाग्राम, पुरिमताल, साभाजनी, पाटलिखड, सौरिकपुर, रोहीतक, वर्धमानपुर, वृषभपुर, वीरपुर, विजयपुर, सौगधिका, कनकपुर, महापुर, सुघोष।

रायपसेणइय नामक उपाग मे आमलकप्पा नगरी और सेयविया नगरी का नाम आता है। ठाणागसूत्र में गगा नदी में यमुना, सरयू, आदी, कौशी, मही, इन ५ नदियो के मिलने का एव सिंधु नदी मे सेद्रु, भावितस्ती, वभासा, ऐरावती और चन्द्रभागा इन पाँच नदियो के सम्मिलित होने का उल्लेख है।

समवायाग सूत्र मे ७ पर्वत एव १४ नदिया के नाम, गगासिंधु के उद्गम एव प्रपातस्थल (समवाय २५वाँ) आदि का वर्णन है।

भगवान महावीर के विहारस्थल के प्रसग से कल्पसूत्र मे पृष्टचपा, भद्रिका, पावा आदि का उल्लेख किया है। विहार के सब स्थानो का परिचय आधुनिक अन्वेषण के साथ मुनि कल्याणविजय जी ने अपने 'श्रमण भगवान महावीर' नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट में 'विहारस्थलनामकोष' के शीर्षक से दिया है। यहाँ लेख विस्तारभय से उसकी चर्चा नही की गई है। अत उक्त ग्रथ की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित कर रहा हूँ।

जैन-तीर्थों के इतिहास सबधी विशाल साहित्य

अपने से विशेष गुणवान एव शक्तिसम्पन्न व्यक्ति के प्रति मनुष्य की पूज्यबुद्धि का होना स्वाभाविक एव आवश्यक है। इसी भावना ने भक्तिमार्ग का विकास किया और क्रमश अवतारवाद, बहुदेववाद, मूर्तिपूजा आदि असख्य कल्पनाएँ एव विधिविधान प्रकाश में आते गये। तीर्थभावना का प्रचार भी इसी भक्तिवाद की देन है। जिस व्यक्ति के प्रति अपनी पूज्यबुद्धि होती है, उसके माता, पिता, वश, जन्म-स्थान, क्रीडास्थान, विहारस्थल जहाँ कहीं भी उनके जीवन की कोई विशेष घटनाएँ हुई हो एव उनकी वाणी, उनकी मूर्ति, आदि उस व्यक्ति के सबध की सभी बातो के प्रति आदर बढते-बढते पूजा का भाव दृढ होने लगता है और अपने पूज्य व्यक्ति का जहाँ जन्म हुआ हो, निवास रहा हो, उन्होने जहाँ रह कर साधना की हो, जहाँ निर्वाण एव सिद्धि प्राप्त की हो, उन सभी स्थानो को 'तीर्थ' कहा जाने लगता है। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय मे हम इसीलिए तीर्थों की यात्रा का महत्त्व पाते है। जैनधर्म में भी तीर्थकरो मे सबधित स्थानो को तीर्थ कहा गया है और उनकी यात्रा से भावना की शुद्धि एव वृद्धि होने के कारण उसका बडा भारी फल बतलाया गया है, क्योकि उन स्थानो का वातावरण बडा शान्त एव पवित्र होता है। वहाँ जाते ही उन तीर्थंकरो की पवित्र स्मृति चित्त में जाग्रत होती है। इससे चित्त को बडी शान्ति मिलती है। अतएव वहाँ उनके चरणचिह्न या मूर्ति की स्थापना की जाती है, जिससे उनकी स्मृति की जाग्रति में सहायता मिले। पीछे मे मूर्ति की प्राचीनता, भव्यता, प्रभाव, चमत्कार आदि के कारण कई अन्य स्थान भी, जहाँ तीर्थंकरो के जीवन का कोई सबध नही था, तीर्थ रूप माने जाने लगे। फलत आज छोटे-मोटे अनेक तीर्थ जैन-समाज मे प्रसिद्ध है। समय-समय पर जैन मुनि एव श्रावक वहाँ की यात्रा करते रहे है और उनका वर्णन लिखते रहे है। इसी कारण जैन तीर्थों सबधी ऐतिहासिक सामग्री भी बहुत विशाल रूप में पाई जाती है। यद्यपि जैनेतर तीर्थों के माहात्म्य का साहित्य भी बहुत विशाल है, तथापि उसमे ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव-सा ही पाया जाता है। इस दृष्टि से जैन साहित्य विशेष महत्त्व का है।

रास्ते की कठिनाइयो के कारण प्राचीन काल मे यात्रा आज जैसी सरल एव सुलभ नही थी। इमी कारण सैकडो और हजारो व्यक्तियो के सम्मिलित यात्री-सघ निकलते थे। उनके साथ साधु भी रहा करते थे। साधुओ का आचार ही पैदल चलना है। श्रावक लोग भी अधिकाश पैदल ही चलते थे। रास्ते मे छोटे-बडे ग्राम-नगरो मे ठहरना होता था और वहाँ के मदिरो के दर्शन किये जाते थे। विद्वान मुनि उस यात्री सघ का वर्णन करते समय मार्ग के ग्राम नगर तथा वहाँ के निवासियो का वर्णन भी लिखते थे। यह साहित्य भौगोलिक दृष्टि से जितना अधिक उपयोगी है, उतना अन्य कोई भी साहित्य नही है।

जैन तीर्थों सबधी साहित्य मे भारतीय ग्राम नगरो के इतिहास की अनमोल सामग्री भरी पडी है, पर इस ओर अभी तक हमारे इतिहास-लेखको का ध्यान नही गया। अत भारत के ग्राम नगरो का बहुत कुछ इतिहास अधकार में ही पडा है, जिसको प्रकाश मे लाने की परमावश्यकता है। जैन तीर्थों सबधी जितने साहित्य का पता चला है, उनकी सूची यहाँ दी जाती है।[1] अभी जैन भडारो की पूरी खोज नही हुई है और बहुत सा साहित्य नष्ट भी हो चुका है। अत इस सूची को काम चलाऊ ही समझना चाहिए। स्वतत्र शोध करने पर और भी बहुत-सा साहित्य मिलेगा।

तीर्थों की प्राचीनता एव विकास

मूल जैनागमो मे स्वर्ग में स्थित जिन-प्रतिमाओ, तीर्थकरो की पादाओ एव नदीश्वर द्वीप मे स्थित शाश्वत जिन-प्रतिमाओ की भक्ति एव पूजन का उल्लेख मिलता है, पर तीर्थ रूप में किसी स्थान का उल्लेख नही मिलता। अत तीर्थ-भावना का विकास पीछे से हुआ ज्ञात होता है। आगमो की निर्युक्तियो मे तीर्थ-भावना के सूत्र दृष्टिगोचर होते है। सर्वप्रथम आचाराग निर्युक्ति (भद्रबाहु रचित) मे कुछ स्थानो का नामोल्लेख आता है। यद्यपि वहाँ तीर्थ शब्द नही है, फिर भी उन स्थानो को महत्त्व दिया गया है—नमस्कार किया गया है। अत इसे तीर्थ-भावना का आदि सूत्र कहा जा सकता है। वह उल्लेख इस प्रकार है

अट्ठावय उज्जिते गयग्गपए य धम्म चक्केय
पासरहा वत्तणय चमरुप्पाय च वदामि ।४६॥

गजाग्रपदे—दशार्णकूटवर्तिनि तथा तक्षशिलाया धर्मचक्रे तथा अहिच्छत्राया पार्श्वनाथस्य धरणेन्द्र महिमा स्थाने।—आचाराग निर्युक्ति व वृत्ति पत्राक ४१८।

निर्युक्तियो के पश्चात् चूर्णि एव भाष्यो की रचना हुई। उनमे से निशीथचूर्णि मे तीर्थभूत कतिपय स्थानो का निर्देश इस प्रकार पाया जाता है—

"उत्तरावहे धम्मचक्क, मथुराए देवणिम्मिओथूमो। कोसलाए जियतसामि पडिमा, तित्थकराण वा जम्मभूमिओ। (निशीथचूर्णि पत्र २४३-२)।

जैन मदिरो की सख्या क्रमश बढने लगी। अत भाष्य एव चूर्णि मे अष्टमी, चतुर्दशी, आदि पर्वदिनो मे समस्त जैनमदिरो की वन्दना करने का विधान किया गया है और ऐसा न करने पर दड भी बतलाया गया है। यथा—

---

[1] जैनतीर्थों के सम्बन्ध में प्रकाशित ग्रन्थो की सूची परिशिष्ट में दी जा रही है। इससे तीर्थों की अधिकता एव एतद्विषयक सामग्री की विशालता का कुछ आभास हो जायगा। अप्रकाशित साहित्य का ढेर लगा पडा है। मेरे सग्रह में भी ५०० पृष्ठो की सामग्री सुरक्षित है, जिसे सम्पादन कर प्रकाशित करने का विचार है।

प्रकाशित साहित्य की सूची भी स्वतत्र पुस्तको की ही दी है। इनके अतिरिक्त जैन साहित्य सशोधक, जैनयुग, कॉन्फरेन्स हेरल्ड, जैनसत्यप्रकाश, पुरातत्त्व आदि अनेक पत्रो में प्राचीन रचनाए एव भ्रमणादि के लेख प्रकाशित हुए है।

निस्सकड मनिस्सकडे चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि।
वेल व चेइग्राणि व नाउ इक्किक्किया वा वि (भाष्य)
ग्रट्ठमी चउद्दसीसु चेइय सव्वाणि साहुणा सव्वे
वदेयव्वा नियमा ग्रवसेस तिहिसु जहसत्ति।
ए एव चेव ग्रट्ठमी मादीसु चेइयाइ साहुणो वा जे ग्रण्णाए
वसहीए ठिग्रा ते न वदति मास लहु। (व्यवहार भाष्य व चूर्णि)

महानिशीथ सूत्र में तीर्थयात्रा करने का स्पष्ट उल्लेख है—

"ग्रहन्नया गोयमा ते साहुणो त ग्रायरिय भणति जहाण जइ भयव तुम ग्राणावहि ताण ग्रम्हेहि तित्थयत्त करि (र) या चदप्पह सामिय वदिया धम्मचक्क गतूणमागच्छामो। (महानिशीथ—५-४३५)।

तीर्थों के इतिहास की सामग्री

जैन तीर्थों के ऐतिहासिक साधन दिगम्बर सम्प्रदाय की ग्रपेक्षा श्वेताम्बर समाज में वहुत ग्रधिक है। तीर्थों के सवध मे मौलिक रचनाग्रो का प्रारम्भ १३वी शताब्दी से होता है। गुजरात के महान् मत्रीश्वर वस्तुपाल, तेजपाल के कारित जिनालयो वा उनकी प्रतिमाग्रो के प्रमग को लेकर उसी समय 'ग्रावूरास' एव 'रेवतगिरि रासो' की रचना हुई। इसके पश्चात १४वी शताब्दी से ग्रव तक तीर्थमालाग्रो, चैत्यपरिपाटियो, सघवर्णन ग्रादि के रूप में भाषा एव सस्कृत के काव्य सैकडो की सख्या मे प्राप्त है। यहाँ उन सवकी सूची देना सभव नही है, पर उनपर सरसरी निगाह डाल ली जाती है, जिससे इस विशाल सामग्री का ग्राभास पाठको को हो जाय।

जैन तीर्थों के सवध मे सवसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जिनप्रभसूरि विरचित 'विविध तीर्थकल्प'[1] है, जिसके महत्त्व के सवध में मुनि जिनविजय उक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना के प्रारभ मे लिखते है—

"श्री जिनप्रभसूरि रचित 'कल्पप्रदीप' ग्रथवा विशेषतया प्रसिद्ध 'विविध तीर्थकल्प' नाम का यह ग्रन्थ जैन साहित्य की एक विशिष्ट वस्तु है। ऐतिहासिक ग्रौर भौगोलिक दोनो प्रकार के विषयो की दृष्टि से इस ग्रन्थ का वहुत कुछ महत्त्व है। जैन साहित्य मे ही नही, समस्त भारतीय साहित्य मे भी इस प्रकार का कोई दूसरा ग्रन्थ ग्रभी तक ज्ञात नही हुग्रा। यह ग्रन्थ विक्रम की १४वी शताब्दी मे, जैन धर्म के जितने पुरातन ग्रौर विद्यमान प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थस्थान थे, उनके सवध की प्राय एक प्रकार की गाइडवुक है। इनमे वर्णित उन-उन तीर्थों का सक्षिप्त रूप से स्थान-वर्णन भी है ग्रौर यथाज्ञात इतिहास भी।"

इस प्रकार का सग्रहग्रन्थ तो दूसरा नही है, पर कतिपय तीर्थों का इतिहास उपदेशसप्तति[2] (सोमधर्मगणिरचित र० स० १५०३)मे पाया जाता है। स० १३७१ के शत्रुजय उद्धार का विस्तृत वर्णन समरा रास एव नामि नदनोद्धार प्रवध[3] (कक्कसूरिरचित स० १३९३) मे पाया जाता है। शत्रुजय तीर्थ के कर्माशाहकारित 'जीर्णोद्धार' का सक्षिप्त वर्णन शत्रुजय तीर्थोद्धार प्रवध[4] में है। फुटकर प्रवधसग्रहो[5] में भी कई तीर्थों के प्रवन्ध प्राप्त होते है। लोकभाषा

---

[1] सिंघी-जैन-ग्रन्थमाला से प्रकाशित।
[2] श्री जैन ग्रात्मानन्द सभा से प्रकाशित।
[3] हेमचन्द्र जैनग्रन्थमाला से प्रकाशित।
[4] मुनि जिनविजय जी द्वारा सपादित, ग्रात्मानद सभा, भावनगर से प्रकाशित।
[5] सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित 'पुरातन प्रवध सग्रह'।

रचित तीर्थमालाओं चैत्य परिपाटियों की सख्या प्रचुर है, जिनमे कई तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इनमे से कई रचनाओं मे तो मार्ग के स्थानो का भी अच्छा वर्णन है। कइयो मे जैन मदिरो उनके निर्माताओ के उल्लेख के साथ उन-उन मदिरो की प्रतिमाओ की सख्या भी बतलाई गई है। साधारण रचनाओ मे से कइयो मे केवल तीर्थस्थानो का नाम-निर्देश एव कवि ने अपनी यात्रादि के समयादि का उल्लेख ही किया है। जैन तीर्थों मे शत्रुजय तीर्थ तीर्थाधिराज कहलाता है। इस तीर्थ के सबध मे सबसे अधिक सामग्री प्राप्त होती है। पौराणिक ढग से इस तीर्थ के माहात्म्य मे धनेश्वरसूरि जी रचित शत्रुजय माहात्म्य नामक विशाल ग्रन्थ पाया जाता है एव कई कल्प उपलब्ध है। इस तीर्थ के पश्चात आबू एव गिरिनार का नाम उल्लेखनीय है। जैन-तीर्थ भारत के चारो कोनो मे जैनो का निवास होने के कारण सर्वत्र फैले हुए है, पर मध्यकाल से अब तक गुजरात के आसपास का प्रदेश ही श्वेताम्बर जैनो का केन्द्र होने के कारण अन्य प्रान्तो के स्थानो सबधी सामग्री अपेक्षाकृत थोडी ही है।

मौलिक सामग्री के अतिरिक्त अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थो मे भी जैन तीर्थों के सबध मे बहुत सी महत्त्वपूर्ण बाते पाई जाती है। ऐसे ग्रन्थो मे पेथडरास, विमलप्रबध, विमलचरित्र, वस्तुपाल और तेजपाल के चरित्र, रास, समरा रास, प्रतापसिंह रास आदि मुख्य है। कतिपय आचार्यों के रास एव पट्टावलियोमे भी अच्छी ऐतिहासिक सामग्री पाई जाती है। विज्ञप्ति त्रिवेणी आदि विज्ञप्तिपत्र एव खरतर गुर्वावली जैसे ग्रन्थवृत्तान्त भी उल्लेखयोग्य है।

ग्राम एव नगरो के इतिहास के अन्य साधन

जीवन-चरित्र सबधी ग्रन्थो, काव्यो एव तीर्थस्थानो सबधी साहित्य के अतिरिक्त अन्य कई साधन भी जैन साहित्य मे है, जिनके द्वारा भारत के ग्राम एव नगरो का महत्त्वपूर्ण इतिहास सकलित किया जा सकता है। उनकी कुछ चर्चा कर देना भी यहा आवश्यक प्रतीत होता है। ऐसे साधनो मे नगर वर्णनात्मक गजले विशेषरूप से उल्लेखनीय है। हमारी खोज मे ऐसी पचासो गजलो की प्राप्ति हुई है, जिसे भारतीय साहित्य मे एक नवीन वस्तु ही कहा जा सकता है। इन गजलो मे एक-एक नगर का अलकारिक भाषा मे वर्णन होने के साथ साथ वहा के जैन-जैनेतर सभी दर्शनीय एव

तीर्थमालाओं में अपने यात्रा किए हुए या सुने हुए तीर्थों के नाम, उनका माहात्म्य, प्रतिमा आदि का वर्णन एव स्तुति होती है। ऐसी तीर्थमालाओ का प्रारभ भी १३वीं शताब्दी के लगभग से ही होता है। सिद्धसेन सूरि रचित सकलतीर्थस्तोत्र उपलब्ध तीर्थ स्तवनो में सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। इसकी ताडपत्रीय प्रति पाटण के भडार में उपलब्ध है। तीर्थमालाओ में सौभाग्यविजय और शीलविजय की तीर्थमालाएँ बहुत महत्त्व की हैं।

चैत्य परिपाटी में किसी ग्रामनगर के समस्त मदिरों की क्रमबद्ध यात्रा का (जिन-जिन तीर्थंकरो के जिनालय हों उन मदिरो के नाम, किस मोहल्ले में है उनका भी निर्देश एव किसी-किसी में प्रतिमाओ की सख्या की भी सूचना मिलती है) वर्णन किया जाता है। ऐसी चैत्य परिपाटियों में हेमहसगणि व रगसार रचित गिरनारचैत्यपरिपाटी, देवचन्द्र और खेमो आदि के रचित शत्रुजय चैत्य परिपाटी, हससोमरचित पूर्वदेश चैत्य परिपाटी, नगागणि की जालोर चैत्य परिपाटी लाधा एव विनय विजयजी रचित सूरत चैत्यपरिपाटी, जिन सुखसूरि आदि रचित जैसलमेर चैत्य परिपाटी, सिद्धसूर, ललितप्रभसूरि, हर्षविजय रचित पाटणचैत्य परिपाटी, डुगर रचित खभात चैत्य परिपाटी, जयहेमशि एव नगेन्द्र रचित चित्रकूट चैत्य परिपाटी, धर्मवर्धन विमलचारित्रादि रचित बीकानेर चैत्य परिपाटी, खेमराज रचित माडवगढ चैत्य परिपाटी, ज्ञानसागर रचित आबू चैत्य परिपाटी, अनतहसकृत इलाप्रकार चैत्य परिपाटी आदि अनेक रचनाएँ उपलब्ध हैं।

तीर्थमालाओ, चैत्य परिपाटियो आदि का एक सुन्दर सग्रह श्री विजयधर्मसूरि जी ने 'प्राचीन तीर्थमाला सग्रह' के नाम से प्रकाशित किया है। जैनयुग, जैनसत्यप्रकाश आदि पत्र एव कई ग्रन्थो में भी कई सुन्दर रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

उल्लेखनीय स्थानो का विवरण पाया जाता है। छोटे-छोटे दर्शनीय स्थानो का अन्यत्र कही भी इतिहास नही मिलता। उनका भी इनमे परिचय होने से उन स्थानो के समय, स्थान आदि का निर्णय करने के लिए महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती है। नगर वर्णनात्मक गजल साहित्य का निर्माण १७वी शताब्दी से होता है। उपलब्ध गजलो मे सबसे प्राचीन जटमल नाहररचित लाहौर गजल है। इसके पश्चात १८वी शताब्दी मे कवि खेतल ने उदयपुर (स० १७५७) एव चित्तौड (१७४८) की गजल, उदयचन्द्र ने बीकानेर गजल (१७६५), यति दुर्गादास ने मरोठ गजल (१७६५), लक्ष्मी चन्द्र ने आगरा गजल (१७८१), निहाल ने बगाल (१७८२ से ९५) गजल बनाई। अनन्तर १९वी शताब्दी में तो बीसो गजले जैन कवियो ने बनाई है, जिनका परिचय स्वतत्र लेखो में दिया जायगा।

ग्रामनगरो के अन्य ऐतिहासिक साधनो मे श्रीपूज्यो के दफ्तर,[1] आदेशपत्र,[2] समाचारपत्र, विज्ञप्तिपत्र, दूत-काव्य वशावलिए,[3] ऐतिहासिक काव्य (जैन आचार्यों, मुनियो और श्रावको की जीवनी के रूप में ग्रथित) पट्टावलियाँ, उत्कीर्ण लेख और प्रशस्तियाँ आदि मुख्य है। इनके द्वारा नगरो की ही नही, छोटे-छोटे ग्रामो की प्राचीनता, स्थान अवस्थिति, प्राचीन नाम व उसका रूप एव वहाँ के निवासियो का पता चल सकता है, जो कि अन्यत्र दुर्लभ है। सक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जैन साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व के साथ-साथ भौगोलिक महत्व भी बहुत है। अत प्राचीन भूगोल और इतिहास के प्रेमी विद्वानो को इस अमूल्य साहित्य से समुचित लाभ उठाना चाहिए, जिससे भारतीय साहित्य के एक अग की पूर्ति हो जाय।

---

[1] जैन साधुओ के आचार-विचार बडे ही कठोर है। उनका यथारीति पालन न कर सकने के कारण जैनेतर मठाधीशों की भाति श्वेताम्बर समाज में भी श्री पूज्य, दिगम्बर समाज में भट्टारक नाम से सबोधित जैन नेता-गच्छनायक सैकडों वर्षों से होते आये है। ये जहाँ-जहाँ पधारते थे, उनके अनुयायी श्रावक उनकी विविध प्रकार से भक्ति करते थे। अत ये अपने विहार (भ्रमण) की डायरी व आवश्यक घटनाओ के रेकार्डरूप दफ्तर बही लिखकर रखने लगे, जिनमें कब कौन से ग्रामनगर में गये, वहाँ किस श्रावक ने क्या भेंट किया, भक्ति की, किसे दीक्षा दी गई, कहाँ मदिरो की प्रतिष्ठा हुई, इत्यादि आवश्यक बातो को अपनी दफ्तर बहियो में लिख लेते थे। ऐसे दफ्तर इतिहास के अनमोल साधन है। पर खेद है इनमें से एक भी अभी तक प्रकाश में नहीं आया। हमें ऐसे ४-५ दफ्तर देखने का सुयोग मिला है, पर सकोचवश दफ्तर जिनके पास है वे प्राय बतलाते नहीं, न नकल या प्रतिलिपि ही करने देते है। आपसी फूट और अज्ञानतावश बहुत से दफ्तर अब नष्ट भी हो चुके हैं। फिर भी जितने बच पाये है, प्रयत्न कर प्राप्त किये जायें तो बहुत ही अच्छा हो।

[2] गच्छनेता अपने शिष्यादि को जहाँ-जहाँ जाकर धर्मप्रचार करने की आज्ञा पत्रों द्वारा देते थे ऐसे पत्रो को 'आदेशपत्र' कहते है। चातुर्मास के समय अपने अनुयायी समस्त मुनिमडल की सूची बनाई जाती, जिसमें किन-किन के चातुर्मास कहाँ है, लिखा जाता था। उस पत्र को विजयपट्टा, क्षेत्रादेश पट्टक कहा जाता है। पर्यूषण पर्व एव विहार आदि के समाचार श्रावकादिसघ को दिये जाते, उन्हें 'समाचार पत्र' कहा जा सकता है। ऐसे हजारो पत्र अज्ञानता से नष्ट हो चुके। इनमें से खरतर गच्छ के जितने पत्र हमें प्राप्त हो सके। हमने अपने 'अभय जैन ग्रन्थालय' में सगृहीत किये हैं। पत्रों का इतना विशाल सग्रह शायद ही कहीं हो। ऐसे आदेशपत्र एव क्षेत्रादेशपट्टक जैन साहित्य सशोधक एव जैन सत्यप्रकाश में थोड़े से प्रकाशित हुए है। अवशेष—नष्ट होते हुए इन ऐतिहासिक साधनभूत पत्रों का सग्रह एवं प्रकाशन परमावश्यक है।

[3] प्रत्येक जाति एव गोत्र की वशावलियाँ भाट, कुलगुरु आदि लिखते चले आ रहे है। फलत अनेक वशावलियाँ पाई जाती है, पर अभी तक वे सभी अधकार में पड़ी है। जैन जाति की वशावलि में केवल एक वशावलि जैन साहित्य सशोधक एव आत्माराम शताब्दी स्मारक ग्रन्थ में प्रकाशित हुई है।

सचित्र विज्ञप्ति-पत्र

भौगोलिक साहित्य के अतिरिक्त नगरों के चित्रमय दर्शन के लिये जैनाचार्यों को दिये गये विज्ञप्ति-पत्र भी बड़े महत्त्व के हैं। जिस नगर के श्रावक अपने पूज्य आचार्य को अपने यहाँ पधारने की विज्ञप्ति करते थे वे अपने नगर के प्रमुख स्थानों के चित्र भी विज्ञप्ति-पत्र में चित्रित करवा देते थे। इससे उस नगर के खास-खास स्थानों के समय एवं स्थल निर्णय के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ पाई जाती हैं। इन सचित्र विज्ञप्ति-पत्रों के सम्बन्ध में बड़ौदा राज्य ने प्रकाशित 'Ancient Vigyapti patras' नामक ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है। उक्त ग्रन्थ में निर्देशित पत्रों के अतिरिक्त हमारे संग्रह में उदयपुर का ७५ फुट लम्बा सचित्र विज्ञप्ति-पत्र एवं यहाँ के बड़े ज्ञान-भंडार में ६० फुट लम्बा बीकानेर का विज्ञप्ति-पत्र और बाबू पूर्णचन्द्र जी नाहर द्वारा संगृहीत ४ विज्ञप्ति-पत्र हमारे अवलोकन में आये हैं। चित्रकला, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक सभी दृष्टियों से जैनों के विज्ञप्ति-पत्र महत्त्वपूर्ण हैं।

जैन तीर्थ संबंधी प्रकाशित ग्रन्थ

प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य

	ग्रन्थों के नाम	कर्त्ता	संपादक	प्रकाशक	मूल्य
१	विविध तीर्थ कल्प	जिनप्रभसूरि (सं० १३६४ से ८९)	जिनविजय	सिंघी जैनग्रन्थमाला, बम्बई	४)
*२	(क) उपदेशसप्ततिका (ख) ,, ,, अनुवाद	सोमधर्म (सं० १५०३)	चतुरविजय	श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर।	२॥)
३	प्राचीन तीर्थमाला (२५ प्राचीन भाषा कृतियाँ)	विभिन्नकवि	विजयधर्मसूरि	यशोविजय ग्रन्थमाला, भावनगर।	२॥)
४	पाटण चैत्य परिपाटी	ललितप्रभसूरि हर्षविजय, हीरालाल, साधुचन्द्र	कल्याणविजय	हंसविजय जैन फ्री लाइब्रेरी, बड़ौदा	।=)
५	चारे दिशाना तीर्थोनी तीर्थमाला सार्थ	शीलविजय		जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर	।)
६	नाभिनंदनोद्धार प्रबंध सार्थ (सं० १३९३)	कक्कसूरि	भगवानदास	हेमचन्द्र जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद।	२)
७	शत्रुंजय तीर्थोद्धार प्रबंध	विवेकधीर	जिनविजय	श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर।	॥=)
८	तीर्थक्षेत्र कुल्पाक (हिं०)	जिनप्रभसूरि	बालचन्द्राचार्य	नेमचन्द्र गोलछा, हैदराबाद	॥)
९	,, (गु०)	,,	चन्दनसागर	झवेरी नवलचन्द, सूरत	
१०	घघाणी जैन तीर्थस्तोत्र	समयसुन्दर	-	जैनमंदिर घघाणी	=)
११	सूर्यपुर रासमाला	लाधाशाह, विनयविजयजी	-	मोतीचन्द मगनभाई, सूरत	॥)
१२	समेत सिखररास	जयविजय	-	लालचन्द मोतीचन्द, बड़ौदा	

*इसमें शत्रुंजय, आबू, भरोंच, जीरापल्ली, फलौदी, आरासण, कलिकुंड, अंतरीक्ष, स्तंभन आदि का वृत्त है।

श्वेताम्बर तीर्थ-परिचय

	ग्रन्थो के नाम	कर्ता		मूल्य
१	तीर्थमाला, अमोलक रत्न			=)
२	जैनतीर्थेनो नक्सो	चारित्रविजय	मफतलाल माणिकचद, वीरमगाम	॥)
३	जैनतीर्थ गाइड (जैन श्वेताम्बर तीर्थ प्रकाश)	मोहनलाल जती	लेखक	।)
४	जैन तीर्थमाला		जैन सस्ती वाचनमाला, भावनगर	॥)
५	जैन तीर्थमाला (शत्रुजय, गिरनार आदि का वर्णन)		दोशी कस्तूरचन्द बहालजी, लीवडी	६)
६	जैनतीर्थावलि प्रकाश			१॥)
७	जैन तीर्थो (सचित्र)			१॥)

दिगम्बर तीर्थ-परिचय

८	जैन तीर्थयात्रा विवरण	डाह्याभाई शिवलाल		।=)
९	यात्रादर्पण	ठाकुरदास झवेरी (बबई, स० १९७०)		
१०	जैनतीर्थयात्रा दर्शक	गेबीलालजी	किशोरलाल पाटणी, कलकत्ता	१॥)
११	जैनतीर्थ और उनकी यात्रा	कामताप्रसाद	अखिल भारत दिगम्वर जैन परिषद्	॥।)
१२ से १५	प्राचीनजैन स्मारक (५ भाग) श्वे० दि० तीर्थ समुच्चय रूप	ब्र० शीतल प्रसाद		

भ्रमण वृत्तात

१६	भावनगर समेतसिखर स्पेशल ट्रेन स्मरणाक		बडवा जैन मित्रमडल, भावनगर	
१७	प्रवासगाइड	स० तरुण	,, ,,	
१८	राजनगर समेतसिखर ट्रेन	मोहनलाल दीपचद वोहरा	कस्तूरचद खभात	।)
१९	प्रवास गाइड (श्री जैन श्वे० समेतसिखर स्पेशलट्रेन)	मिश्रीमल	जैन स्वयसेवक मडल, इन्दौर	।)
२०	पूर्व प्रान्तीय जैन श्वेताम्बर तीर्थ गाइड (२)		उदयपुर श्री सख	
२१	मारी सिन्ध यात्रा	विद्याविजय	विजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला, उज्जैन	२॥)
२२	मारी कच्छ यात्रा	,,	,, ,, ,,	॥)
२३	मेरी मेवाड यात्रा	,,	,, ,, ,,	≡)
२४	विहार वर्णन	जयतविजय	यशोविजय ग्रन्थमाला, भावनगर	१॥)
२५	विहारदर्शन	चारित्रविजय	चारित्रस्मारक ग्रन्थमाला, वीरमगाम	
२६	प्रियकर विहार दिग्दर्शन	प्रियकर विजय	सोमचन्द जेसिंग, म्हेसाणा	॥=)
२७	मेरी नेमाड यात्रा	यतीन्द्रविजय	सूर्यावन्नाजी भूति	

२८	यतीन्द्र विहार दिग्दर्शन भा० १-२-३-४	,,	सौधर्म गच्छीय सघ	
२९	बगाल विहार	पुण्यभिक्षु	स्थानक वासी जैनसघ, कलकत्ता	।)
३०	कच्छ गिरनार नी यात्रा		जैन सस्ती वाचनमाला	२॥)
३१.	तीर्थयात्रा दिग्दर्शन	दोशी मणिलाल नथुभाई	अहमदावाद	
३२	म्हारी यात्रा	भोगीलाल साकलचन्द, वोहरा	वडनगर	
३३	तीर्थयात्रा वर्णन	भगुभाई	फतेचन्द कारवारी, वम्वई	
३४	जैन तीर्थावलि प्रवास	लखमसी नेणसी	वम्वई	
३५	किताव जैनतीर्थ गाइड	शातिविजय (१९५५)	जैनसमाज, अहमदावाद	
३६	जैन तीर्थ यात्रा दीपक	फतेचन्द (१९७१)	देहली	
३७	जैन तीर्थ गाइड (भाग १)	मोतीलाल मगनलाल	अहमदावाद	
३८	चैत्य परिपाटी यात्रा (अहमदा-वाद, वडौदा, खभात, पाटण के मदिरो की सूची)		हसविजय लाइब्रेरी, अहमदावाद	

विभिन्न स्थानो के स्वतत्र इतिहास

	ग्रन्थ	कर्ता		मूल्य
१	शत्रुजयप्रकाश (पूर्वार्ध)	देवचन्द्रदामजी	जैन ऑफिस, भावनगर	१)
२	,, (उत्तरार्घ)	,,	,, ,,	१)
३	शत्रुजय तीर्थना १५वाँ उद्धारनु वर्णन	गाधी वल्लभदास	जैन आत्मानद सभा, भावनगर	=)
४	शत्रुजय तीर्थना १६वाँ उद्धारनु वर्णन	गाधी वल्लभदास	,, ,, ,,	।)
५	सिद्धाचलनु वर्तमानवर्णन	अमरचन्द वेचरदास	मोहनलाल	॥)
६	,, ,, ,,	,, ,,	देवचन्द अमरचन्द	॥)
७	सिद्धाचलनु तात्त्विक वर्णन	,, ,,	गुलावचन्द सामजी	।=)
८	महताव कुमारी जिनेन्द्र प्रासाद वर्णन	चौथमल चडालिया	पालीताणा	॥)
९	गिरनारनु इतिहास		जैन सस्ती वाचनमाला, भावनगर	१॥)
१०	,, माहात्म्य	दौलतचद पुरुषोत्तम	जैन सस्ती वाचनमाला, वम्वई	१॥)
११	,, तीर्थ परिचय	धुरधर विजय	श्री जैन साहित्यवर्घक सभा, सूरत	।)
१२	(क) आवू (गुजराती)	जयतविजय	कल्याणजी परमानद, देलवाडा	२॥)
	(ख) ,, (हिन्दी)	,,	,, ,, ,,	२॥)
१३	अचलराज आवू	धीरजलाल टोकरसी	ज्योतिकार्यालय, अहमदावाद	
१४	आवू जी तथा पच तीर्थानु वर्णन			
१५	आवू के जैन मदिरो के निर्माता	ललितविजय	आत्मानद जैनसभा, अम्वाला	॥)
१६.	ब्राह्मणवाडा	जयतविजय	विजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला, उज्जैन	।)

१७	देलवाडा	विजयेन्द्रसूरि	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला	
१८	,, मेवाड	ललितविजय	आत्म तिलक ग्रन्थ सोसायटी	）॥
१९	कोरटा तीर्थ का इतिहास	यतीन्द्रविजय	हजारीमल जोरजी	
२०	केशरियाजी तीर्थ का इतिहास	चन्दनमल नागोरी	सद्गुण प्रसारक मित्र मडल, छोटी सादडी	५)
२१	कापरडा तीर्थ का इतिहास	ज्ञानसुदर	जैन ज्ञान भडार, जोधपुर	।)
२२	श्री कापरडा जी तीर्थ	ललितविजय	उदयमल कल्याण, व्यावर	
२३	शखेश्वर महातीर्थ	जयतविजय	विजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला, उज्जैन	१।)
२४	पावागढ थी प्रगट थयेला जीरा-वल्ला पार्श्वनाथ	लालचन्द्र गाधी	अभयचन्द्र गाधी, भावनगर	१)
२५	प्रगटप्रभावी पार्श्वनाथ		जैन सस्ती वाचनमाला	१॥)
२६	चारूप नू अवलोकन	मगलचद लल्लूचन्द	पाटण	
२७	पाटण जैन मदिर नामावलि	मोहनलाल लल्लूभाई	पाटण	~)
२८	,, ,, ,,	,, ,, ,,	अष्टापद् धर्मशाला, पाटण	~)
२९	खभात नो प्राचीन जैन इतिहास	नर्मदा शकर भट्ट	आत्मानद शताब्दी स्मारक ग्रन्थमाला, बम्बई	१।)
३०	खभात नो इतिहास-चैत्य परि-पाटी	,,	स्तभ जैन तीर्थ मडल	१)
३१	पाटलिपुत्र का इतिहास	सूर्यमल यती	श्रीसघ, पटना	
३२	भीलडीया जी जैन तीर्थ	सिद्धिमुनि	मोहनलाल जैन लाइब्रेरी, अहमदाबाद	
३३	गोल नगरीय पार्श्वनाथ प्रतिष्ठा प्रवध	रेवतीराम जैन	कविशास्त्र सग्रह, जालौर	
३४	कदम्बगिरि तीर्थ	जिनदास धर्मदास पेढी		
३५	भोयणी नु मल्लिनाथ वर्णन	छोटूलाल	पोचाभाई मोतीचन्द	=)
३६	जैसलमेर जैन गाइड	फूलचन्द चोरडिया	अमृतलाल साराभाई	
३७	जैसलमेर मा चमत्कार	चदनमल नागोरी	सद्गुण प्रसारक मडल, छोटी सादडी	
३८	बीजापुर वृहत् वृत्तात	बुद्धिसागरसूरि	अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मडल	१।)
३९	सूर्यपुर नो स्वर्ण युग	केशरीचन्द्र झवेरी	मोतीचद मगनभाई, सूरत	१)
४०	सूरत चैत्य परिपाटी	,, ,,	,, ,, ,,	
४१	सूरत जैन डिरेक्टरी	,, ,,	,, ,, ,,	॥।)
४२	पावापुर तीर्थ का प्राचीन इति-हास	पूर्णचन्द्र नाहर	लेखक	=)
४३	Tirth Pavapuri (अल्वम)		लक्ष्मीचद सचेती	
४४	सम्मेत सिखर चित्रावलि	नाथमल चडालिया (स०१९११)	लेखक ही, कलकत्ता	२॥)
४५	शत्रुजय अलवम (१० चित्र)			।~)
४६	कमनीय कमलिनी (श्री शिखर जी की यात्रा)	झमकलाल रातडिया		
४७	वयान पारसनाथ पहाड	शातिविजय	हवासीलाल वानाचद	

४८	महातीर्थ रीरीसा पार्श्वनाथ वर्णन	गोवर्धन अमुलख	अहमदावाद	
४९	अहमदावाद नी शहर यात्रा		उजमबाई धर्मशाला, अहमदावाद	
५०	नाकोडा पार्श्वनाथ	यतीन्द्रविजय		
५१	इडरगढ़ ५२ जिनालय रिपोर्ट			
५२	अजारा पार्श्वनाथ	मणिलाल लालचद	सस्ती वाचनमाला	
५३	सखेश्वर पार्श्वनाथ	,, ,,	,, ,,	
५४	स्तभन पार्श्वनाथ	,, ,,	,, ,,	
५५	अहार	स०—यशपाल जैन	'मधुकर' कार्यालय, टीकमगढ	।=)
५६	पपौरा	स०—राजकुमार जैन	स० सि० धन्यकुमार जैन, कटनी	।=)
५७	वैशाली	विजयेन्द्र सूरि	यशोवि० ग्रथमाला, भावनगर	१)
५८	अचलगढ (सचित्र)	जयन्त विजय	,,	१।)
५९	हमीरगढ	,,	,,	।=)

विशिष्ट लेख (श्वेताम्बर)

	लेख	लेखक	कौन से पत्र अथवा ग्रथ में प्रकाशित	मूल्य
१	जालौर	कल्याणविजय	जैन रौप्याक	
२	भीमपल्ली और रामसेन	कल्याणविजय	जैन युग	
३	पालणपुर	कातिसागर	फार्वस सभा का त्रैमासिक पत्र	
४	हमारे तीर्थक्षेत्र	नाथूराम जी प्रेमी	'जैन साहित्य और इतिहास'	३)
५	दक्षिण के तीर्थक्षेत्र	नाथूराम जी प्रेमी	'जैन साहित्य और इतिहास'	

महात्म्यादि (दिगम्बर)

१	सम्मेतसिखर माहात्म्य	लोहाचार्य		
२	गिरनार माहात्म्य	वशीधर जैन	जैन ग्रन्थ कार्यालय, झासी	
३	अवधपरिचय		अवध प्रादेशिक दि० जैन परिषद् लखनऊ	२)

जैन प्रतिमा लेख-सग्रह (श्वेताम्बर)

१	जैन लेखसग्रह भाग १	स० पूर्णचन्द्रजी नाहर	कलकत्ता	५)
२	जैन लेखसग्रह भाग २	स० पूर्णचन्द्रजी नाहर	कलकत्ता	५)
३	जैन लेखसग्रह भाग ३	स० पूर्णचन्द्रजी नाहर	कलकत्ता	७)
४	प्राचीन जैन लेख सग्रह भाग १ (खारवेल शिलालेख)	जिनविजय	आत्मानद सभा	
५	प्राचीन जैन लेख सग्रह भाग २	जिनविजय	आत्मानद सभा	३।।)
६	अर्बुद प्राचीन जैन लेख सन्दोह	जयतविजय	विजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला	३)
७	जैन धातु प्रतिमा लेख सग्रह भाग १	बुद्धिसागरसूरि	अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मडल, पादरा	२)

८	जैन धातु प्रतिमा लेख सग्रह भाग २	बुद्धिसागर सुरि	अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मडल पादरा	३)
६	प्राचीन लेख सग्रह	विद्याविजय	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला	२)

दिगम्बर प्रतिमा लेख सग्रह

१	जैन शिलालेख सग्रह	हीरालाल जैन	माणिकचन्द्र दिगम्वर जैन ग्रन्यमाला	२)
२	प्रतिमा लेखसग्रह	कामताप्रसाद जैन	जैन सिद्धात भवन, आरा	॥)
३	जैन प्रतिमा, यत्र लेख सग्रह	छोटेलाल जैन	पुरातत्त्व अन्वेपणी परिपद्, कलकत्ता	

कलापूर्ण जैन शिल्प स्थापत्य की चित्रावलि

१	भारत मा जैन तीर्थो अने तेमनु शिल्पस्थापत्य	(स०—साराभाई नवाव)	लेखक, अहमदावाद	१५)

आवू के सुन्दर शिल्प-स्थापत्य के चित्र 'आवू' ग्रन्थ मे दिये गये है। शत्रुजय अलवम, तीर्थ पावापुरी, समेतसिखर चित्रावली, चित्रमय अचलगढ, सखेश्वर पार्श्वनाथ आदि ग्रन्थो मे भी चित्र प्रकाशित है।

बीकानेर]
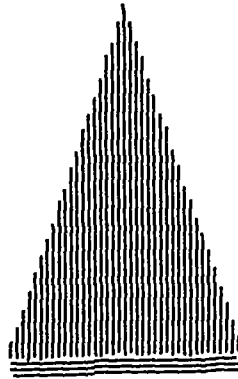
महाकवि रन्न का दुर्योधन

श्री के० भुजबली शास्त्री

मनुष्य किसी बात की सत्यता या असत्यता का निर्णय प्राय अपने उन विचारो के अनुसार ही कर बैठता है, जिनसे उसकी बुद्धि पहले से प्रभावित हो चुकती है, परन्तु वह अपने पूर्व सस्कार को एक ओर रखकर समालोच्य विषय पर जब तक निष्पक्ष रूप से विचार नही करता तब तक किसी यथार्थ निर्णय पर नही पहुँच सकता। प्राचीन कालीन किसी व्यक्ति के वास्तविक आचार-विचारादि जानने के लिए हमे तत्कालीन या बाद के प्रामाणिक साहित्य का ही आश्रय लेना पडता है। इस सिद्धान्तानुसार अभिमानधनी एव प्रतापी दुर्योधन या कौरव के आचार-विचारादि जानने के लिए हमे प्राचीन साहित्य की ही शरण लेनी पडती है। अधिकाश ग्रन्थ रचयिताओ ने द्रौपदी के वस्त्रापहरण आदि कुछ अनुचित घटनाओ को लेकर दुर्योधन को कलकी घोषित कर अपमानजनक शब्दो द्वारा उन पर आक्रमण किया है। हम भी दुर्योधन को दोषी मानते है। फिर भी इसके लिए उनके सारे मानवोचित गुणो को भुला देना समुचित नही कहा जा सकता। प्रत्येक मनुष्य मे गुण और दोष दोनो होते है। जिसमें दोषो का अत्यन्ताभाव है, वह मनुष्य नही है, देवता है। आखिर दुर्योधन भी मनुष्य ही था। जब हम किसी व्यक्ति की अखड जीवनी पर प्रकाश डालते है तब गुण और दोष दोनो को एक ही दृष्टि से देखना होता है। तुलनात्मक दृष्टि से इन दोनो के मनन करने के बाद उन गुण-दोषो की कमी-बेशी के लिहाज से ही हम उस व्यक्ति को गुणी या दोषी करार दे सकते है। इतना परिश्रम न उठाकर एक-दो गुण या दोषो को देखकर किसी के गुणी या दोषी होने का फैसला दे देना निष्पक्ष निर्णय नही कहा जा सकता। दुर्योधन भी रावण की तरह इसी पक्षपातपूर्ण निर्णय का शिकार किया जाकर लोगो की नजरो मे गिराया गया है।

प्रश्न उठ सकता है कि दुर्योधन में जब गुण भी थे तो महाभारत के बहुसख्यक लेखको ने उसे दोषी क्यो ठहराया? इसका उत्तर यही है कि एक तो हमारे भारतवर्ष का उस समय का वातावरण ही इस प्रकार का था। दूसरी बात यह कि हमारे पुरातन श्रद्धेय कवि बहुधा अनुकरणशील थे। इसलिए जो परपरा उनके सामने मौजूद थी उसी को कायम रखना वे अधिक पसन्द करते थे। इसका कारण यह भी था कि उन्हें इस बात का भय था कि पूर्व परपरा के विरुद्ध होने से उनकी कृतियाँ जनता मे सर्वमान्य नही हो सकेंगी। परपरा के कुछ विरुद्ध लिखने वाले 'रत्नाकर' जैसे कतिपय साहसी कवियो पर ऐसी आपत्ति आ भी चुकी है। साथ-ही-साथ भारतवर्ष सुप्राचीन काल से आचार के लिए प्रधान है। यह सब कुछ होते हुए भी जैन कवियो ने रावण की तरह[1] दुर्योधन का जीवन चित्रित करने मे जो बुद्धि एव साहस दिखलाया है, वह प्रशसनीय है। उन कृतियो में से केवल महाकवि रन्न के 'गदायुद्ध' में प्रतिपादित दुर्योधन पर प्रकाश डालना ही इस लेख का उद्देश्य है।

महाकवि रन्न कन्नड साहित्य मे एक ख्यातिप्राप्त कवि था। कविरत्न, कविचक्रवर्ती, कविकुजराकुश, उभय भाषाकवि आदि इसे कई उपाधियाँ प्राप्त थी। इसका जन्म ई० सन् ९४९ मे मुदुवोल नामक ग्राम मे हुआ था। यह वैश्य वर्ण का था और राज्यमान्य कवि था। राजा की ओर से सुवर्ण-दड, चवर, छत्र-हाथी आदि इसके साथ चलते थे। इसके गुरु का नाम अजितसेनाचार्य था। सुप्रसिद्ध जैन मत्री चाउडराय इसका पोषक था। इस समय इसके दो ग्रन्थ उपलब्ध है। एक 'अजितपुराण' और दूसरा 'साहस भीम' विजय या 'गदायुद्ध'। पहले ग्रथ मे दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का चरित्र बारह आश्वासो में वर्णित है। यह चम्पू ग्रथ है। यह पुराण ई० सन् ९९३ मे रचा गया था।

---

[1] 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग ६, किरण १ में प्रकाशित हमारा लेख।

दु ख हुआ है, उतना असह्य दु ख परम प्रिय कर्ण, दुश्शासन आदि के वियोग से भी नही हुआ था। 'पाडवो से विरोध छोड कर सधि कर लो,' इस वात को सुनने के लिए ही मानो ब्रह्म ने मुझे ये कान दिये है।'

दुर्योधन के व्यक्तित्व को और देखिये। वह कहता है कि कर्ण और दुश्शासन ये दोनो मेरे दो नेत्र या दो भुजाएँ कहे जाते थे। हा! इनके मरने के वाद भी मेरा जीना उचित है? दुश्शासन के शरीर को देखकर दुर्योधन कहता है कि तुमको मारने वाला अव भी जीवित है। उसको विना मारे मै जी रहा हूँ! क्या यही प्रेम का पुरस्कार है? आगे द्रोण आदि के शरीरो को देख कर दुर्योधन मुक्तकठ से उनके पराक्रम की प्रशसा कर स्वाभाविक गुरुभक्ति को व्यक्त करता हुआ उनके नाश में अपना दुर्नय तथा दुरदृष्ट ही कारण है कहकर पश्चात्ताप करता है। अनतर गुरुचरणो मे प्रणाम करके उन्हें प्रदक्षिणा देकर आगे वढता है। इसी प्रकार भीष्म के चरणो मे मस्तक रखकर उनसे भी क्षमा माँगता है। यहाँ पर दुर्योधन की असीम गुरुभक्ति देखिये। आगे शत्रुकुमार, अद्वितीय पराक्रमी वालक अभिमन्यु के साहस की मुक्तकठ से प्रशसा करता हुआ दुर्योधन हाथ जोडकर प्रार्थना करता है कि मुझे भी इसी प्रकार का वीर मरण प्राप्त हो। इसी का नाम गुणैकपक्षपातिता है।

उरुभग की असह्य पीडा मे मरणोन्मुख दुर्योधन को देखना कोमल हृदय वालो का काम नहीं है। इस चिंतामयी अवस्था मे भी वह अपने व्यक्तित्व को नही छोडता। दुर्योधन अश्वत्थामा मे कहता है कि प्राणो के निकल जाने के पूर्व पाडवो को मार कर उनके मस्तको को लाकर मुझे दिखलाओ। इससे शान्ति मे मेरे प्राण निकल जायेंगे। अश्वत्थामा भ्रातिवश पाडव समझ कर उपपाडवो के मस्तको को दुर्योधन के सामने लाकर रखता है। वह उन मस्तको को साव-धानी से देखकर वालहत्यारूपी महापातक के लिये वहुत ही दु खी होता है और इस असावधानतापूर्ण कार्य के लिये अश्वत्थामा को फटकारता है। वस्तुत दुर्योधन महानुभाव है। महाकवि रन्न ने उसे 'महानुभाव' ठीक ही लिखा है। इस प्रकार रन्न का दुर्योधन प्रारभ से अत तक हमारा लक्ष्य वन कर व्यक्तिवैशिष्ठ्य से हम लोगो के साथ अपनी आत्मीयता स्थापित करता है। उसके उदात्त गुणो को देख कर हम उसके दुर्गुणो को भूल जाते है।

महाभारत के दुर्योधन के मरण से हमें दु ख नही होता, पर रन्न के दुर्योधन के सवध मे ऐसी वात नही है। यहाँ दुर्योधन के मरण से हमे असीम सताप होता है। यथार्थत 'गदायुद्ध' का दुर्योधन सत्यव्रती, धैर्यशाली, वीराग्रेसर, दैवभक्त, स्नेही, गुरुजनविधेय और मृदुहृदयी है। 'महाभारत' का दुर्योधन पाडवो के भय से ही वैशपायन सरोवर मे जाकर छिपता है, रन्न का दुर्योधन केवल भीष्म के आग्रह से मत्रसिद्धि के निमित्त। इसमे तीर्थ-यात्रा के हेतु गये हुए वलराम तथा कृप, कृतवर्मादि की प्रतीक्षा भी एक थी। दुर्योधन के पूर्वकृत जघन्य कृत्यो को प्रयत्नपूर्वक छिपाकर उसके उदात्त गुणो को ही सर्वत्र व्यक्त करते हुए दुर्योधन के सवध मे पाठको के मन मे व्यसन, गौरव तथा पक्षपात पैदा कर देना रन्न जैसे महाकवि के लिए ही सभव है। वास्तव मे कवि ने इन कार्यों को अद्वितीय रूप मे सपन्न किया है। यह विशेषता महाभारत में नही मिलेगी। वहाँ पर दुर्योधन का दोषपुज ही हमारे समक्ष आकर खडा होता है।

महाभारत में हमें सर्वत्र आदि से लेकर अत तक भीम के साहस का ही वर्णन मिलेगा, पर यहाँ पर दुर्योधन के साहस के सामने भीम का साहस फीका पड जाता है। अन्यत्र व्यासादि महर्षियो ने भी दुर्योधन के सवध मे पक्षपात किया है। वहाँ के वर्णन को पढने से मालूम होता है कि भीम एक ही आघात से दुर्योधन को चकनाचूर कर डालेगा, पर यहाँ पर तो राज्यलक्ष्मी तक धर्मराय के पास जाने के लिए उत्सुक नही है। इन सवो को देख कर निश्चय हो जाता है कि दुर्योधन का अभिमान कोरा अभिमान नही है। गदाप्रहार के द्वारा दुर्योधन के उरो को भग करना भीम का अनुचित कार्य था। इतना ही नही, रक्त से आर्द्रीभूत, मरणासन्न चक्रवर्ती दुर्योधन के मुकुट को लात से मारना और भी नीच कृत्य था। हर्ष की वात है कि रन्न का दुर्योधन अत तक क्षात्रधर्म को पालता जाता है। वह किसी की भी शरण मे नही जाता।

दडनीति में प्रतिपादित कुटिल नीति तथा कपटयुद्ध राजाओ के लिए दोष नही है। फिर भी दुर्योधन अपने गदाघात से मूर्च्छित भीम को नही मारता। उलटा उसे सचेत करने की चेष्टा करता है। यह वास्तव मे उसकी धर्मयुद्धप्रियता का एक उदाहरण है। अगर दुर्योधन मे वडा भारी दोष था तो वह भरी सभा मे द्रौपदी का वस्त्रापहरण कराने की चेष्टा करना। यह दोष उसमे नही होता तो वह क्षत्रकुलालकार होता। 'गदायुद्ध' में भीष्म ने इस भाव को व्यक्त किया भी है। रन्न के भीम की अपेक्षा दुर्योधन में हमें अधिक अभिमान दिखाई देता है। न्यायत 'गदायुद्ध' का नायक भीम न होकर दुर्योधन होना चाहिए था। दुर्योधन कितना उदार है! रणक्षेत्र में वह अपने ही व्यक्तियो के लिए आँसू नही वहाता, वल्कि अभिमन्यु जैसे शत्रु वीरो के लिए भी। भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि महावीरो के साथ अपनी अपरिमित सेना निश्शेष होने पर भी कालदडसदृश अपनी प्रचड गदा को कन्धे पर रख कर रण-क्षेत्र की ओर वढने वाले एकाकी दुर्योधन का शौर्य एव साहस प्रशसनीय है। रण-क्षेत्र में द्रोण, दुश्शासन, कर्ण आदि अपने पक्ष के महावीरो के मृत शरीरो को देख कर भी दुर्योधन का मन तिलमात्र भी विचलित नही होता, प्रत्युत उद्विग्न होता है। उनके मरण से उत्पन्न अपार दु ख का प्रतिकार वीरोचित शस्त्र के द्वारा ही करने के लिए वह तैयार है। गुरु भीष्म की आज्ञा से वैशम्पायन सरोवर मे समय विताने वाला दुर्योधन भीम की अभिमानोक्तियो को न सह कर तुरन्त ही निर्भय हो वाहर निकलता है और उसके साथ लडने के लिए उत्साह से आगे वढता है।

निष्कलक न होता हुआ भी दुर्योधन पूर्ण कलकी भी नहीं था। उसके शील में अविचार अवश्य थे, फिर भी वह निश्शील नही था। वह गुणी था। साथ-ही-साथ उसकी महत्ता हम सभी को अपनी ओर आकृष्ट करने की शक्ति रखती थी। दुर्योधन मे छोटी-मोटी अभिलाषाएँ तो थी ही नही। वीर सदैव वीरत्व का उपासक होता है। स्वपक्षी या परपक्षी कोई भी हो, वह वीर को पूजता था। इसीलिए शत्रुकुमार अभिमन्यु को देख कर वह हाथ जोडता है। इससे यह भी व्यक्त होता है कि दुर्योधन दुस्साहसी नही था, अपितु अविश्रान्त पराक्रमी था। वह शत्रु के लिए निर्दयी और मित्र के लिए सहृदयी था। इन सव वातो को महाकवि रन्न ने भिन्न-भिन्न प्रकरणो में भले प्रकार दिखलाया है। रन्न का दुर्योधन दुर्योधन नही, वल्कि सुयोधन है। दुर्योधन जैसे महावीर के लिए मरण भूषण ही है। इसलिए उसके मरण के लिए चिन्तित होना भूल है।[1]

मूडबिद्री]

[1] 'रन्न कवि प्रशस्ति' के आधार पर।

अभिनव धर्मभूषण और उनकी 'न्यायदीपिका'

प० दरबारीलाल जैन कोठिया

जैन तार्किक अभिनव धर्मभूषण से कम विद्वान् परिचित है। प्रस्तुत लेख द्वारा उन्ही का परिचय कराया जाता है। उनको जानने के लिए जो कुछ साधन प्राप्त हैं वे यद्यपि पर्याप्त नही है—उनके माता-पितादि का क्या नाम था, जन्म और स्वर्गवास कब और कहाँ हुआ, आदि का उनमे कोई पता नही चलता है—फिर भी सौभाग्य और सन्तोष की बात है कि उपलब्ध साधनो से उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व, गुरुपरम्परा और समय का कुछ प्रामाणिक परिचय मिल जाता है। अत हम उन्ही शिलालेखो, ग्रन्थोल्लेखो आदि के आधार पर अभिनव धर्मभूषण के सम्बन्ध मे कुछ कह सकते है।

अभिनव तथा यतिविशेषण

अभिनव धर्मभूषण की एक ही रचना उपलब्ध है। वह है 'न्याय-दीपिका'। 'न्याय-दीपिका' के पहले और दूसरे प्रकाश के पुष्पिकावाक्यो मे 'यति' विशेषण तथा तीसरे प्रकाश के पुष्पिकावाक्य मे 'अभिनव' विशेषण इनके नाम के साथ पाये जाते है, जिससे मालूम होता है कि 'न्याय-दीपिका' के रचयिता प्रस्तुत धर्मभूषण 'अभिनव' और 'यति' दोनो कहलाते थे। जान पडता है कि अपने पूर्ववर्ती धर्मभूषणो मे अपने को व्यावृत्त करने के लिए 'अभिनव' विशेषण लगाया है, क्योकि प्राय ऐसा देखा जाता है कि एक नाम के अनेक व्यक्तियो मे अपने को पृथक करने के लिए कोई उपनाम रख लिया जाता है। अत 'अभिनव' न्याय-दीपिकाकार का एक व्यावर्त्तक विशेषण या उपनाम समझना चाहिए। जैनसाहित्य मे ऐसे और भी आचार्य हुए है, जो अपने नाम के साथ 'अभिनव' विशेषण लगाते हुए पाये जाते है। जैसे अभिनव पडिताचार्य[1] (शक स० १२३३), अभिनव श्रुतमुनि,[2] अभिनव गुणभद्र[3] और अभिनव पडितदेव[4] आदि। पूर्ववर्ती अपने नाम वालो से व्यावृत्ति के लिए 'अभिनव' विशेषण की यह एक परिपाटी है। 'यति' विशेषण तो स्पष्ट ही है, क्योकि वह मुनि[5] के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अभिनव धर्मभूषण अपने गुरु श्री वर्द्धमान भट्टारक के पट्ट के उत्तराधिकारी हुए थे और वे कुन्दकुन्दाचार्य की आम्नाय मे हुए है। इसलिए इस विशेषण के द्वारा यह भी निर्भ्रान्ति ज्ञात हो जाता है कि अभिनव धर्मभूषण दिगम्बर परम्परा के जैन मुनि थे और भट्टारक मुनि नाम से लोकविश्रुत थे।[6]

धर्मभूषण नाम के दूसरे विद्वान्

ऊपर कहा गया है कि अभिनव धर्मभूषण ने दूसरे पूर्ववर्ती धर्मभूषणो से भिन्नत्व स्थापित करने के लिए

---

[1] देखिए, शिलालेख न० ४२१

[2] देखिए, जैन शिलालेख स० पृ० २०१, शिलालेख १०५ (२४५)

[3] देखिए, 'सी० पी० एण्ड बरार कैटलाग' रा० ब० हीरालाल द्वारा सपादित।

[4] देखिए, जैन शिलालेख स० पृ० ३४५, शिलालेख न० ३६२ (२५७)

[5] 'ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुस्तापस सयतो व्रती।'—नाममाला (महाकवि धनञ्जय कृत)।

[6] "शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्मभूषणदेशिक।
भट्टारक मुनि श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जित ॥"—विजयनगर शिलालेख न० २

अपने नाम के साथ 'अभिनव' विशेषण लगाया है। अत यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैनपरम्परा में धर्मभूषण नाम के अनेक विद्वान् हो गये हैं। एक धर्मभूषण वे है, जो भट्टारक धर्मचन्द्र के पट्ट पर बैठे थे और जिनका उल्लेख बरार प्रान्त के मूर्तिलेखो में बहुलतया पाया जाता है।[1] ये मूर्तिलेख शक सवत् १५२२, १५३५, १५७२ और १५७७ के उत्कीर्ण हुए हैं, परन्तु ये धर्मभूषण न्यायदीपिकाकार के उत्तरकालीन हैं। दूसरे धर्मभूषण वे हैं, जिनके आदेशानुसार केशववर्णी ने अपनी गोम्मटसार की 'जीव तत्त्व प्रदीपिका' नामक टीका शक सवत् १२८१ (१३५९ ई०) में बनाई थी।[2] तीसरे धर्मभूषण वे हैं, जो अमरकीर्त्ति के गुरु थे तथा विजयनगर के शिलालेख न० २ मे उल्लिखित तीन धर्मभूषणो मे सर्वप्रथम जिनका उल्लेख है और जो सम्भवत विन्ध्यगिरि पर्वत के शिलालेख न० १११ (२७४) में भी अमरकीर्त्ति के गुरुरूप मे उल्लिखित है। यहाँ उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' भी कहा गया है। चौथे धर्मभूषण वे है, जो अमरकीर्त्ति के शिष्य और विजयनगर शिलालेख न० २ गत पहले धर्मभूषण के प्रशिष्य है एव सिंहनन्दी व्रती के सधर्मा हैं तथा विजयनगर के शिलालेख न० २ के ११वे पद्य मे दूसरे न० के धर्मभूषण के रूप में उल्लिखित हैं।

गुरु-परम्परा

अभिनव धर्मभूषण उपर्युक्त धर्मभूषणो से भिन्न हैं और जिनका उल्लेख उसी विजयनगर के शिलालेख न० २ में तीसरे नम्बर के धर्मभूषण के स्थान पर है तथा जिन्हे स्पष्टतया श्री वर्द्धमान भट्टारक का शिष्य बतलाया है। 'न्यायदीपिका' के अन्तिम पद्य[3] और अन्तिम (तीसरे प्रकाशगत) पुष्पिकावाक्य में[4] अपने गुरु का नाम न्यायदीपिकाकार ने स्वय श्री वर्द्धमान भट्टारक प्रकट किया है। मेरा अनुमान है कि मगलाचरण पद्य में भी उन्होने 'श्रीवर्द्धमान' पद के प्रयोग द्वारा वर्द्धमान तीर्थंकर और अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारक दोनो को स्मरण किया है, क्योकि अपने परापर गुरु का स्मरण करना सर्वथा उचित ही है। श्री धर्मभूषण अपने गुरु के अनन्य भक्त थे। वे 'न्याय-दीपिका' के उसी अन्तिम पद्य और पुष्पिका वाक्य में कहते हैं कि उन्हे अपने उक्त गुरु की कृपा से ही सरस्वती का प्रकर्ष (सारस्वतोदय) प्राप्त हुआ और उनके चरणो की स्नेहमयी भक्ति-सेवा से 'न्यायदीपिका' की पूर्णता हुई। अत मगलाचरण पद्य में अपने गुरु वर्द्धमान भट्टारक का भी उनके द्वारा स्मरण किया जाना सर्वथा सम्भव एव सगत है।

विजयनगर शिलालेख न० २ में,[5] जो शक सवत् १३०७ (ई० १३८५) में उत्कीर्ण हुआ था, अभिनव धर्मभूषण की इस प्रकार गुरुपरम्परा दी गई है—

मूलसङ्घ, नन्दिसङ्घ-बलात्कार गण के सारस्वतगच्छ में

पद्मनन्दी (कुन्दकुन्दाचार्य)
|
धर्मभूषण भट्टारक प्रथम
|
अमरकीर्ति आचार्य (जिनके शिष्यो के शिक्षक दीक्षक सिंहनन्दी व्रती थे)

---

[1] 'सहस्रनामाराधना' के कर्ता देवेन्द्रकीर्ति ने भी 'सहस्रनामाराधना' में इन दोनो विद्वानो का अपने गुरु और प्रगुरुरूप से उल्लेख किया है। देखिए, आरा से प्रकाशित प्रशस्ति स० पृ० ९४

[2] देखिए डा० ए० एन० उपाध्ये का 'गोम्मटसारकी जीवतत्त्व प्रदीपिका टीका' शीर्षक लेख 'अनेकान्त' वर्ष ४, कि० १ पृ० ११८

[3-4] देखिए, वीरसेवामन्दिर सरसावा से प्रकाशित और मेरे द्वारा सम्पादित 'न्यायदीपिका' पृ० १३२

[5] इस शिलालेख में कुल २८ पद्य हैं। उनमें प्रथम के १३ पद्यो में ही अभिनव धर्मभूषण की गुरु-परम्परा है। इसके आगे १५ पद्यों में राजवश का वर्णन है।

श्री धर्मभूषण भट्टारक द्वितीय (सिंहनन्दी व्रती के सधर्मा)
|
वर्द्धमान मुनीश्वर (सिंहनन्दी व्रती के चरणसेवक)
|
धर्मभूषण यति तृतीय (प्रस्तुत)

इसी प्रकार का एक शिलालेख[1] न० १११ (२७४) का है, जो विन्ध्यगिरि पर्वत के अखड वागिलु के पूर्व की ओर स्थित चट्टान पर खुदा हुआ है और जो शक स० १२९५ में उत्कीर्ण हुआ था। उसमे इस प्रकार परम्परा दी गई है—

मूलसङ्घ—बलात्कारगण

कीर्त्ति (वनवासिके)
|
देवेन्द्र विशालकीर्त्ति
|
शुभकीर्तिदेव भट्टारक
|
धर्मभूषणदेव[2] प्रथम
|
अमरकीर्त्ति आचार्य
|
धर्मभूषणदेव द्वितीय
|
वर्द्धमान स्वामी

इन दोनो लेखो को मिला कर ध्यानपूर्वक पढने पर विदित होता है कि प्रथम धर्मभूषण, अमरकीर्त्ति आचार्य, धर्मभूषण द्वितीय और वर्द्धमान ये चार विद्वान् सम्भवत दोनो के एक ही है। यदि हमारी यह मान्यता ठीक है तो यहाँ एक बात विचारणीय है। वह यह कि विन्ध्यगिरि के लेख (शक स० १२९५) में वर्द्धमान का तो उल्लेख है, पर उनके शिष्य (पट्ट के उत्तराधिकारी) तृतीय धर्मभूषण का उल्लेख नही है, जिससे जान पडता है उस समय तक तृतीय धर्मभूषण वर्द्धमान के पट्टाधिकारी नही बन सके होगे और इसलिए उक्त शिलालेख मे उनका उल्लेख नही आया, किन्तु इस शिलालेख के कोई बारह वर्ष बाद शक स० १३०७ (१३८५ ई०) मे उत्कीर्ण हुए विजयनगर के शिलालेख न० २ मे उनका (तृतीय धर्मभूषण का) स्पष्टतया नामोल्लेख है। अत यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि वे अपने गुरु वर्द्धमान के पट्टाधिकारी शक स० १२९५ से शक स० १३०७ मे किसी समय बन चुके थे। इस तरह अभिनव धर्मभूषण के साक्षात् गुरु श्री वर्द्धमान मुनीश्वर और प्रगुरु द्वितीय धर्मभूषण थे। अमरकीर्त्ति दादागुरु और प्रथम धर्मभूषण परदादागुरु थे और इसीसे हमारे विचारसे उन्होने अपने इन पूर्ववर्ती पूज्य प्रगुरु (द्वितीय धर्मभूषण) तथा परदादागुरु (प्रथम धर्मभूषण) से पश्चाद्वर्ती एव नया बतलाने के लिए अपने को अभिनव विशेषण से विशेषित किया जान पडता है। कुछ भी हो, यह अवश्य है कि वे अपने गुरु के प्रभावशाली और मुख्य शिष्य थे।

---

[1] देखिए, शिलालेख स० पृ० २२३

[2] प्रो० हीरालालजी ने इनकी निषद्या बनवाई जाने का समय शक सम्बत् १२९५ दिया है। देखिये, शिलालेख स० पृ० १३६

समय-विचार

यद्यपि अभिनव धर्मभूषण की निश्चित तिथि बताना कठिन है तथापि जो आधार प्राप्त है उनसे उनके समय का लगभग निश्चय हो जाता है।

विन्ध्यगिरि का जो शिलालेख प्राप्त है, वह शक स० १२९५ का उत्कीर्ण हुआ है। हम पहले बतला चुके हैं कि इसमें प्रथम और द्वितीय इन दो ही धर्मभूषणो का उल्लेख है और द्वितीय धर्मभूषण के शिष्य वर्द्धमान का अन्तिम रूप से उल्लेख है। तृतीय धर्मभूषण का उल्लेख उसमे नही पाया जाता। डा० हीरालालजी एम० ए० के उल्लेखानुसार द्वितीय धर्मभूषण की निषद्या (नि सही) शक स० १२९५ में बनवाई गई है। अत द्वितीय धर्मभूषण का अस्तित्व-समय शक स० १२९५ तक ही समझना चाहिए। हमारा अनुमान है कि केशववर्णी को अपनी गोम्मटसार की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका बनाने की प्रेरणा एव आदेश जिन धर्मभूषण से मिला उन धर्मभूषण को भी यही द्वितीय धर्मभूषण होना चाहिए, क्योकि इनके पट्ट का समय यदि पच्चीस वर्ष भी हो तो इनका पट्ट पर बैठने का समय शक स० १२७० के लगभग पहुँच जाता है। उस समय या उसके उपरान्त केशववर्णी को उपर्युक्त टीका के लिखने मे उनसे आदेश एव प्रेरणा मिलना असम्भव नही है। चूँकि केशववर्णी ने अपनी उक्त टीका शक स० १२८१ में पूर्ण की है, अत उस जैसी विशाल टीका को लिखने के लिए ग्यारह वर्ष का समय लगना भी आवश्यक एव सगत है। प्रथम व तृतीय धर्मभूषण केशववर्णी के टीकाप्रेरक प्रतीत नही होते, क्योकि तृतीय धर्मभूषण 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' के समाप्तिकाल (शक० १२८१) मे लगभग उन्नीस वर्ष बाद गुरुपट्ट के अधिकारी हुए जान पडते है और उस समय वे प्राय बीस वर्ष के होगे। अत 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' के रचनारम्भ समय में तो उनका अस्तित्व ही नही रहा होगा। तब वे केशववर्णी के टीका-प्रेरक कैसे हो सकते है ? प्रथम धर्मभूषण भी उनके टीका-प्रेरक सम्भव प्रतीत नही होते। कारण उनके पट्ट पर अमरकीर्त्ति और अमरकीर्त्ति के पट्ट पर द्वितीय धर्मभूषण (शक स० १२७०-१२९५) बैठे है। अत अमरकीर्त्ति का पट्ट-समय अनुमानत शक स० १२४५-१२७० और प्रथम धर्मभूषण का शक स० १२२०-१२४५ होता है। ऐसी हालत मे यह सम्भव नही है कि प्रथम धर्मभूषण शक स० १२२०-१२४५ में केशववर्णी को 'जीवतत्त्व-प्रदीपिका' के लिखने का आदेश दे और वे ६१ या ३६ वर्षो के दीर्घ समय में उसे पूर्ण करे। अतएव यही प्रतीत होता है कि द्वितीय धर्मभूषण (शक० १२७०-१२९५) ही केशववर्णी (शक० १२८१) के उक्त टीका के लिखने में प्रेरक रहे है।

पीछे हम यह निर्देश कर आये है कि तृतीय धर्मभूषण (प्रस्तुत अभिनव धर्मभूषण) शक स० १२९५ और शक स० १३०७ के मध्य में किसी समय अपने वर्द्धमान गुरु के पट्ट पर आसीन हुए है। अत यदि वे पट्ट पर बैठने के समय (करीब शक० १३०० मे) बीस वर्ष के हो, जैसा कि सम्भव है तो उनका जन्म-समय शक स० १२८० (१३५८ ई०) के लगभग होना चाहिए। विजयनगर साम्राज्य के स्वामी प्रथम देवराय और उनकी पत्नी भीमादेवी जिन वर्द्धमान गुरु के शिष्य धर्मभूषण के परम भक्त थे और जिन्हें अपना गुरु मानते थे तथा जिनसे प्रभावित होकर जैनधर्म की अतिशय प्रभावना में प्रवृत्त रहते थे वे यही अभिनव धर्मभूषण है। पद्मावती-बस्ती के एक लेख से ज्ञात होता है कि "राजाधिराज परमेश्वर देवराय प्रथम वर्द्धमान मुनि के शिष्य धर्मभूषण गुरु के, जो बडे विद्वान् थे, चरणो में नमस्कार किया करते थे।" इसी बात का समर्थन शक स० १४४० में अपने 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' को समाप्त करने वाले कवि वर्द्धमान मुनीन्द्र के इसी ग्रन्थगत निम्न श्लोक से भी होता है—

"राजाधिराजपरमेश्वरदेवरायभूपालमौलिलसदङ्घ्रिसरोजयुग्म ।
श्रीवर्द्धमानमुनिवल्लभमौढ्यमुख्य श्रीधर्मभूषणसुखी जयति क्षमाढ्य ॥"[1]

---

[1] आरा से प्रकाशित प्रशस्ति स० पृ० १२५ से उद्धृत।

यह प्रसिद्ध है कि विजयनगरनरेश प्रथम देवराय ही 'राजाधिराज परमेश्वर' की उपाधि से भूषित थे।[१] इनका राज्य-काल सम्भवत १४१८ ई० के पहले रहा है, क्योकि द्वितीय देवराय ई० १४१९ से १४४६ तक माने जाते है।[२] अत इन उल्लेखो से यह स्पष्ट है कि वर्द्धमान के शिष्य धर्मभूषण तृतीय (न्यायदीपिका के कर्ता) ही देवराय प्रथम द्वारा सम्मानित थे।[३] प्रथम अथवा द्वितीय धर्मभूषण नही, क्योकि वे वर्द्धमान के शिष्य नही थे। प्रथम धर्मभूषण तो शुभकीर्ति के और द्वितीय धर्मभूषण अमरकीर्ति के शिष्य थे। अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अभिनव धर्मभूषण देवराय प्रथम के समकालीन है अर्थात् उनका अन्तिमकाल ई० १४१८ होना चाहिए। यदि यह मान लिया जाय तो उनका जीवनकाल ई० १३५८ से १४१८ ई० तक समझना चाहिए। अभिनव धर्मभूषण जैसे प्रभावशाली विद्वान् जैनसाधु के लिए साठ वर्ष की उम्र पाना कोई ज्यादा नही है। हमारा अनुमान यह भी है कि वे देवराय द्वितीय[४] (१४१९-१४४६ ई०) और उनके श्रेष्ठि सकप्प के द्वारा भी प्रणुत रहे है[५]। हो सकता है कि ये अन्य धर्मभूषण हो। जो हो, इतना अवश्य है कि वे देवराय प्रथम के समकालीन निश्चित रूप से है।

'न्यायदीपिका' (पृ० २१) मे 'बालिशा' शब्दो के साथ सायण के सर्वदर्शनसग्रह से एक पक्ति उद्धृत की गई है। सायण का समय शक स० १३वी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है,[६] क्योकि शक स० १३१२ का उनका एक दानपत्र मिला है, जिससे वे इसी समय के विद्वान् ठहरते है। न्यायदीपिकाकार का 'बालिशा' पद का प्रयोग उन्हे सायण के समकालीन होने की ओर सकेत करता है। साथ ही दोनो विद्वान् निकट ही नही, एक ही जगह विजय-नगर के रहने वाले भी थे और एक दूसरे की प्रवृत्ति से भी परिचित जान पडते है। इसलिए यह सम्भव है कि अभि-नव धर्मभूषण और सायण समसामयिक होगे अथवा दस-पाँच वर्ष आगे-पीछे के। अत 'न्याय-दीपिका' के इस उल्लेख से भी पूर्वोक्त निर्धारित शक स० १२८० से१३४० या ई० १३५८ से १४१८ का समय ही सिद्ध होता है। अर्थात् ये ईसा की १४वी सदी के उत्तरार्ध और १५वी सदी के प्रथम पाद के विद्वान् है।

डा० के० बी० पाठक और प० जुगलकिशोर जी मुख्तार इन्हे शक स० १३०७ (ई० १३८५) का विद्वान् बतलाते है,[७] जो विजयनगर के शिलालेख न० २ के अनुसार सामान्यतया ठीक है, परन्तु उपर्युक्त विशेष विचार से ई० १४१८ तक इनकी उत्तरावधि निश्चित होती है। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण 'हिस्ट्री ऑफ दि मेडीवल स्कूल ऑफ इडियन लॉजिक' में इन्हे १६०० ई०का विद्वान् सूचित करते है, पर वह ठीक नही है, जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है। मुख्तार साहब ने भी उनके इस मत को गलत ठहराया है।[८]

[१-२] देखिए, डा० भास्कर आनन्द सालेतोर का 'मेडीवल जैनिज्म' पृ०३००-३०१, मालूम नहीं डा० सा० ने द्वितीय देवराय (१४१९ ई०-१४४६ ई०) की तरह प्रथम देवराय के समय का निर्देश क्यो नहीं किया।

[३] डा० सालेतोर दो ही धर्मभूषण मानते है और उनमें प्रथम का समय १३७८ ई० और दूसरे का ई० १४०३ बतलाते है तथा वे इस झमेले में पड गये है कि कौन से धर्मभूषण का सम्मान देवराय प्रथम के द्वारा हुआ था। (देखिए मेडीवल जैनिज्म पृ० ३००)। मालूम होता है कि उन्हें विजयनगर का पूर्वोक्त शिलालेख न० २ आदि प्राप्त नहीं हो सका, अन्यथा वे इस निष्कर्ष पर न पहुँचते।

[४] प्रशस्ति स० १४५ में इनका ई० १४२९-१४५१ दिया है।

[५] इसके लिए जैन सिद्धान्तभवन, आरा से प्रकाशित प्रशस्ति स० में परिचय कराये गये वर्द्धमान मुनीन्द्र का 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र' देखना चाहिए।

[६] देखो, सर्व-दर्शनसग्रह की प्रस्तावना पृ० ३२।

[७] स्वामी समन्तभद्र पृ० १२६

[८] 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १२६

व्यक्तित्व और कार्य

आचार्य धर्मभूषण के प्रभाव एव व्यक्तित्वसूचक जो उल्लेख मिलते है, उनसे मालूम होता है कि वे अपने समय के सबसे बडे प्रभावक और व्यक्तित्वशाली जैनगुरु थे। प्रथम देवराय, जिन्हे 'राजाधिराजपरमेश्वर' की उपाधि थी, धर्मभूषण के चरणो में मस्तक झुकाया करते थे।[1] पद्मावती बस्ती के शासनलेख में उन्हें बडा विद्वान् एव वक्ता प्रकट किया गया है। साथ मे मुनियो और राजाओ से पूजित बतलाया है।[2] इन्होने विजयनगर के राजघराने में जैनधर्म की अतिशय प्रभावना की है। हम तो समझते है कि इस राजघराने में जो जैनधर्म की महती प्रतिष्ठा हुई है उसका विशेष श्रेय इन्ही अभिनव धर्मभूषण जी को है, जिनकी विद्वत्ता और प्रभाव के सब कायल थे। इससे स्पष्ट है कि अभिनव धर्मभूषण असाधारण प्रभावशाली व्यक्ति थे।

जैनधर्म-प्रभावना उनके जीवन का विशेष उद्देश्य रहा, पर ग्रन्थरचनाकार्य में भी उन्होने अपनी शक्ति और विद्वत्ता का बहुत ही सुन्दर उपयोग किया है। आज हमे उनकी एक ही अमर रचना प्राप्त है और वह 'न्याय-दीपिका' है, जो जैनन्याय के वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है और ग्रन्थकार की धवलकीर्त्ति को अक्षुण्ण रक्खे हुए है। उनकी विद्वत्ता का प्रतिबिम्ब उसमें स्पष्टतया आलोकित हो रहा है। 'न्याय-दीपिका' छोटी-सी रचना होते हुए भी अत्यन्त विशद और महत्त्वपूर्ण कृति है और उसकी परिगणना जैनन्याय के प्रथम श्रेणी के ग्रन्थो में किये जाने के पूर्णत योग्य है। इसमें प्रमाण और नय का बहुत ही विशदता के साथ विवेचन किया गया है, जो उसके पाठक पर अपना प्रभाव डाले बिना नही रहता। अभिनव धर्मभूषण ने इसके सिवाय भी और कोई रचना की या नही, इसका कुछ भी पता नही चलता, पर 'न्यायदीपिका' में एक स्थल पर[3] 'कारुण्यकलिका' का इस प्रकार से उल्लेख किया है कि जिससे अनुमान होता है कि न्यायदीपिकाकार अपनी ही दूसरी रचना को देखने का वहाँ इगित कर रहे है। यदि सचमुच में यह ग्रन्थ भी न्यायदीपिकाकार की रचना है तो मालूम होता है कि वह 'न्यायदीपिका' से भी अधिक विशिष्ट एव महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होगा। अन्वेषको को इसका अवश्य ही पता चलाना चाहिए।

अभिनव धर्मभूषण के प्रभाव और कार्यक्षेत्र से यह भी मालूम होता है कि उन्होने कर्णाकदेश के उपर्युक्त विजय-नगर को ही अपनी जन्म-भूमि बनाई होगी और वही उनका शरीर-त्याग एव समाधि हुई होगी, क्योकि वे गुरु-परम्परा से चले आये विजयनगर के भट्टारकी पट्ट पर आसीन हुए थे। यदि यह ठीक है तो कहना होगा कि उनके जन्म और समाधि का स्थान भी विजयनगर है।

सरसावा]

[1-2] देखिए 'मेडीवल जैनिज्म', पृ० २९९

[3] 'प्रपञ्चितमेतदुपाधि निराकरण कारुण्यकलिकायामिति विरम्यते।'—न्यायदीपिका, पृ० १११ (वीर-सेवामन्दिर, सरसावा से प्रकाशित)।

'जैन-सिद्धान्त-भवन' के कुछ हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थ

श्री परमानन्द जैन

जैन हिन्दी साहित्य अत्यन्त विशाल और महत्त्वपूर्ण है। भाषा-विज्ञानियो को हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और विकास-क्रम अवगत करने के लिए जैन हिन्दी साहित्य का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है। हिन्दी भाषा की जननी अपभ्रंश भाषा मे जैनाचार्यो ने सहस्रो की सख्या मे ग्रन्थ-रचना कर हिन्दी साहित्य के भडार को समृद्धि-शाली बनाया है। पाश्चात्य विद्वान् डा० विन्टरनिज़, प्रो० जेकोबी तथा अन्य कई विद्वानो ने इस बात का जोरदार शब्दो मे समर्थन किया है कि भारतीय साहित्य की श्री-वृद्धि में जैन लेखको का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। कहा गया है कि भारतीय साहित्य का शायद ही कोई अङ्ग बचा हो, जिसमे जैनियो का विशिष्ट स्थान न रहा हो। श्री प्रो० जगन्नाथ शर्मा ने अपने 'अपभ्रंशदर्पण' में लिखा है[1]—"अपभ्रंश' भाषा मे प्रबन्ध काव्यो की भरमार है। अभी तक जो काव्य उपलब्ध हुए है, उनमे पाँच बडे-बडे प्रबन्ध-काव्य है। जैसे (१) भविसयत्तकहा (२) तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकार (३) आराधना (४) नेमिनाहचरिउ (५) वैरिसामिचरिउ। इनमे से भविसयत्तकहा बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। मालूम होता है कि हिन्दी के रामचरितमानस और पद्मावत जैसे जगत्प्रसिद्ध काव्यग्रन्थो का आदर्श ग्रन्थ यही है। इन काव्यो में बहुत-सी बातो में समता है।"

उपर्युक्त पक्तियो से स्पष्ट है कि जैन अपभ्रंश काव्य ग्रन्थो का तुलसी और जायसी जैसे हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवियो पर उल्लेखयोग्य प्रभाव पडा है। हमारे शास्त्रागारो मे सैकडो अप्रकाशित अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ रक्खे हुए है। यदि ये ग्रन्थ प्रकाश मे आ जायँ तो हिन्दी साहित्य पर नया प्रकाश पडे।

प्राचीन जैन हिन्दी साहित्य नवी और दसवी शताब्दी में पल्लवित और पुष्पित था। इस समय जैनाचार्यो ने अपभ्रंश के साथ-साथ प्राचीन हिन्दी में भी कई रचनाएँ लिखी है। वीरगाथाकाल मे अनेक जैन मुनियो ने वीररस और शान्तरस की कविताएँ डिंगल भाषा मे की। कई विद्वान् प्रसिद्ध ग्रन्थ खुमानरासो के रचयिता को भी जैन बतलाते है। जैन हिन्दी साहित्य के पद्य-ग्रन्थो के साथ-साथ गद्य ग्रन्थ भी पन्द्रहवी शताब्दी के पहले में ही मिलते है। पडित हेमराज द्वारा विरचित पचास्तिकाय एव प्रवचनसार की वचनिकाएँ, पाडे रामलाल जी कृत समयसार की बालबोध टीका एव पार्वतधर्मार्थी की बनाई गई समाधितन्त्र की वचनिका आदि प्राचीन ग्रन्थ है और महत्त्वपूर्ण है। जैन शास्त्रागारो मे अनेक हिन्दी भाषा के साहित्यिक ग्रन्थ सशोधको एव प्रकाशको की प्रतीक्षा कर रहे है। 'अनेकान्त' मे प्रकाशित सूची से पता चलता है कि पचायती जैनमन्दिर[2] (देहली) में २०२, सेठ कूचा[3] के जैनमन्दिर मे १३०, नये मन्दिर[4] (देहली) मे १४० एव अमरग्रन्थालय इन्दौर मे १६ हस्तलिखित जैन हिन्दी साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इन ग्रन्थो मे से अधिकाश ग्रन्थ अप्रकाशित है।

'श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा' में ३०२ हिन्दी साहित्य के हस्तलिखित ग्रन्थ है, जिनमे से मिथ्यात्वखडन, रूपचन्दशतक, चन्द्रशतक, हिन्दी नाममाला, ब्रह्माब्रह्मनिरूपण, पद्मपुराण छन्दोबद्ध, आनन्दश्रावक सन्धि, अजना-सुन्दरिरास, गर्जसिंह गुणमालचरित्र, सप्तव्यसनचरित्र, बुद्धिप्रकाश, होमविधान, बालकमुडनविधि, ब्रह्मबावनी, पुण्याश्रयकथा छन्दोबद्ध आदि ग्रन्थ तो विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण एव उल्लेखनीय है। प्रस्तुत निबन्ध मे हम उपर्युक्त ग्रन्थो का सक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न करेंगे।

---

[1] अपभ्रंशदर्पण पृ० २६।

[2] देखिए 'अनेकान्त' वर्ष ४, किरण १०।

[3] 'अनेकान्त' ४ किरण ८।

[4] 'अनेकान्त' वर्ष ४ किरण ६-७।

१ **मिथ्यात्व खडन नाटक**—इस ग्रन्थ में तेरह पन्थ की उत्पत्ति का सकारण विवेचन किया गया है। इस पन्थ की उत्पत्ति स० १६८३ मे बतलाई है। अनेक ग्रन्थो के प्रमाण देकर बीसपन्थी दि० आम्नाय की पुष्टि की गई है। ग्रन्थ की भाषा शिथिल है। एक स्थान पर लिखा है—

> **प्रथम चलो मत आगरे, श्रावक मिले कितेक।**
> **सोलस सै तिरासिये, गही कितेक मिलि टेक॥**
> **काहू पडित पै सुनै, कितै आध्यात्मिक ग्रन्थ।**
> **श्रावक क्रिया छाड के, चलन लगे मुनि पथ॥"**

इन पक्तियो से स्पष्ट है कि सर्वप्रथम आगरे के आसपास तेरह पन्थ की उत्पत्ति हुई थी। ग्रन्थ में आगे बतलाया है कि जयपुर और आगरे के कुछ पडितो ने मिल कर इस पन्थ को निकाला। बीसपन्थ की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार ने तेरहपन्थियो की क्रियाओ का खडन किया है तथा बीसपन्थी दिगम्बर आम्नाय को प्राचीन बतलाया है। ग्रन्थ मे २५१ पृष्ठ हैं। लिपि अस्पष्ट है, प्रति भी अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। यह प्रति स० १८७१ में लिखाई गई है।

२ **रूपचन्दशतक**—इसमें कविवर रूपचन्द ने सौ दोहो में नीति और वैराग्य का वर्णन किया है। ग्रन्थ की भाषा प्राञ्जल है। धार्मिक दोहो में भी साहित्यिक छटा का परिचय मिलता है। कविवर ने प्रारम्भ मे ससारी जीवो को सम्बोधन कर कहा है—

> **अपनो पद न विचार के, अहो जगत के राय।**
> **भव-वन छायक हो रहे, शिव पुर सुधि विसराय।**
> **भववन भरमत अहो तुम्हें, बीतो काल अनादि।**
> **अब किन घरहिं सवारई, कत दुख देखत वादि।**
> **परम अतीन्द्रिय सुख सुनो, तुमहि गयो सुलझाय।**
> **किञ्चित इन्द्रिय सुख लगे, विषयन रहे लुभाय।**
> **विषयन सेवते भये, तृष्णा तें न बुझाय।**
> **ज्यो जल खारा पीवतें, बाढ़े तृषाधिकाय॥**

इस प्रकार ग्रन्थ में हिन्दी भाषा-भाषियो के लिए अध्यात्म-रस का सागर भरा हुआ है।

३ **चन्द्रशतक**—यह सौ छन्दो में कवि चन्द्र का लिखा ग्रन्थ है। 'चन्द्र' यह कवि का उपनाम मालूम होता है। वास्तविक नाम का पता ग्रन्थ से नही लगता, पर जिस प्रति में चन्द्रशतक है, उसी प्रति में कुछ आगे कवि त्रिलोक-चन्द्र के फुटकर कवित्त लिखे हैं। सम्भव है, कवि का नाम त्रिलोकचन्द हो। साहित्यिक दृष्टि से चन्द्रशतक के कवित्त और सवैये महत्त्वपूर्ण है। इसमें कवि ने अध्यात्मज्ञान का वर्णन किया है। द्रव्य, गुण, पर्याय आदि तात्त्विक विषयो का वर्णन भी बहुत ही सुन्दर हुआ है। भाषा सानुप्रास और मधुर है। प्रत्येक सवैया पाठक को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। साधारण लोग भी ऐसे ग्रन्थो से गुण-गुणी, द्रव्य-पर्याय, आदि सूक्ष्म विषयो को सरलता से समझ सकते हैं। नमूने के लिए एक-दो पद्य उद्धृत किये जाते हैं—

> **गुन सदा गुनी माहि, गुन गुनी भिन्न नाहिं, भिन्न तो विभावता, स्वभाव सदा देखिये।**
> **सोई है स्वरूप आप, आप सो न है मिलाप, मोह के अभाव थै, स्वभाव शुद्ध पेखिये॥**
> **छहों द्रव्य सासते, अनादि के ही भिन्न-भिन्न, आपने स्वभाव सदा, ऐसी विधि लेखिये।**
> **पाँच जड़ रूप, भूप चेतन सरूप एक, जानपनो सारा चन्द, माथे यों विसेखिये॥**

देह दहे लू सहे दु ख सकट, मूढ महागति जाय अघोरे।
आप ही आप को ज्ञान बुझाय, लगी जो अनादि विषे विपदौरे॥
सो सुख दूर करें दु ख को, निज सादि महारस अमृत कौरे।
तेज कहै मुख से यहै, निज देखनहार तू देखन वौरे॥

कवि ने सज्जन और मूर्ख का भी सुन्दर वर्णन किया है। सज्जन के स्वभाव का वर्णन करते हुए लिखा है—

पर औगुन परिहरै, धरें गुनवत् गुण सोई।
चित कोमल नित रहें, झूठ जाके नहि कोई॥
सत्य वचन मुख कहें, आप गुन आप न वोलें।
सुगुरु-वचन परतीति, चित्त थें कवें न डोलें॥
वोलें सुवैन परिमिष्ट सुनि इष्टवैन सुनि सुखफरें।
कहें चन्द वसत जगफद में, ये स्वभाव सज्जन धरें॥
सज्जन गुन धर प्रीति रीति विपरीत निवारें।
सकल जीव हितकार सार निज भाव सवारें॥
दया, शील, सतोष, पोख, सुख सव विधि जानें।
सहज सुधा रस लवें, तजें माया अभिमाने॥
जानें सुभेद परभेद सव निज अभेद न्यारौ लखें।
कहें चन्द जहँ आनन्दअति जो शिव-सुख पावें अखें॥

पाठक देखेंगे कि उपर्युक्त सज्जन-स्वभाव का वर्णन कवि ने कितना स्वाभाविक किया है। भाषा मरस, सरल और मधुर है। कोमल कान्तपदावली सर्वत्र विद्यमान है। हिन्दी के प्रेमी पाठको को इस शतक मे प्राचीन हिन्दी विभक्तियो के अनेक रूप दृष्टिगोचर होगे। भाषा-विकास की दृष्टि से व्रजभाषा के सुन्दर प्रयोग हुए हैं। शब्दालकार प्राय सर्वत्र हैं। कही-कही अर्थालकारो का सुन्दर समन्वय भी हुआ है।

४ नाममालाभाषा—इसे कविवर देवीदास नें कवि धनञ्जय की नाममाला के आधार पर लिखा है। पुस्तक में मूल विषय के २३२ पद्य है और दो पद्य कवि के विषय मे हैं। कवि ने दोहरा, पद्धरि, चौपई छन्दो का प्रयोग अधिक किया है। पुस्तक सस्कृत अध्ययन करने वालों के साथ-साथ भाषा अध्ययन करने वालो के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगी। भाषा भी प्रौढ और प्राञ्जल मालूम होती है। दो नमूने इस प्रकार है—

'विपन गहन कान्तार वन, कानन कक्ष अरण्य।
अटवी दुर्ग सुनाम यह, भीलन को सुशरण्य॥
आनन्द, हर्ष, प्रमोद मुत, उत्सव प्रमद सन्तोष।
करुणा अनुकम्पा दया, अहल्लोक्ति अनुक्रोष॥

उपर्युक्त पद्यो से स्पष्ट है कि कवि ने सस्कृत-तत्सम शब्दो का व्यवहार अधिक किया है, पर व्रजभाषा के 'मुत' जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया है। ग्रन्थ में उसका रचनाकाल निम्न प्रकार दिया है—

सम्वत अष्टादश लिखो, जा ऊपर उनतीस।
वार्सो दे भादौं सुदि वीते चतुर्दशीस॥

ग्रन्थ की प्रति सुन्दर है। लिपि भी सुन्दर और सुवाच्य है।

५ **ब्रह्मबावनी**—इसमे कविवर निहालचन्द ने वैराग्य और अध्यात्मसम्बन्धी विषय बडे ही सुन्दर और मनोरजक ढग से समझाए है। सर्वत्र शब्दालकार की अनुपम छटा दिखाई देती है। भाषा भी भावमयी और प्रौढ मालूम पडती है।

ओकार मन्त्र का वर्णन कवि ने कितने अच्छे ढग से किया है—

सिद्धन कौं सिद्धि, ऋद्धि देहि सतन कौं महिमा महन्तन कौं देत छिनमाही हैं।
जोगी को जुगति हूँ मुकति देव, मुनिन कूँ भोगी कूँ भुगति गति मति उन पाँही है।।
चिन्तामनरतन, कल्पवृक्ष, कामधेनु सुख के समाज सव याकी परछाही हैं।
कहे मुनि हर्षचन्द निर्व देय ग्यान दृष्टि उँकारमत्र सम और मत्र नाहीं हैं।।

इस प्रकार कवि ने केवल वावन पद्यो मे ही अध्यात्म-रस के सागर को गागर में भर कर कमाल कर दिखाया है। कवि की भाषा सरस और परिमार्जित है। शब्दालकार की कला के तो वे अनुपम जडिया प्रतीत होते है। थोडे से ही पद्य उपदेश-कला के योग्य एव कण्ठस्थ करने लायक है और जैन हिन्दी कवियो की अनुपम कविता रूपी पुष्पमाला में पिरोने के लिए तो ये कुछ मूगे के दाने है।

६ **जलगालनविधि**—इसमें ३१ पद्य है। प्रति का कलेवर तीन पत्र है। प्रति से लेखक का परिचय प्राप्त नही होता, पर ३१वे पद्य के वाद इतना लिखा पाया जाता है—'भट्टारकशुभकीर्ति तस्सीष्यमेघकीर्ति लिखितम्।'

लेखक के मतानुसार ऊँच-नीच वर्ण वालो के कुँए पृथक्-पृथक् होने चाहिएँ। जहाँ स्मशान भूमि हो वहाँ का पानी नही लेना चाहिए। यथा—

नीर तीर जहँ होइ मसाण, सो तजि घाट भरु जल आणि।
धान जल जो रहि घट दोइ, सो जल चुनि अलगालु होइ।।

उपर्युक्त पद्य से स्पष्ट है कि ग्रन्थ की भाषा राजस्थानी है। रचना साधारण है।

७ **स्वरूपस्वानुभव**—यह हिन्दी का गद्य ग्रन्थ है। लिपि सुन्दर है। पृष्ठ १४ है। अन्त में अन्तराय कर्म का वर्णन है, पर इससे यह पता नही चलता कि ग्रन्थकार ने इतना ही ग्रन्थ लिखा है या यह ग्रन्थ अधूरा है! वीच-वीच में दस सुन्दर चित्र है। पहला चित्र दसो दिशाओ का है, फिर क्रम से आठो कर्मों के चित्र दिखलाये गये है, जिनसे उस समय की चित्रकला का अच्छा परिचय मिलता है। कला-प्रेमी अन्वेषक विद्वानो को इसे अवश्य देखना चाहिए। सम्भव है, उन्हें जैन चित्रकला के सम्वन्ध में अच्छी सामग्री मिल जाय। भाषा में सुन्दर सस्कृत, तत्सम शब्दो की वहुलता है। ग्रन्थकर्ता ने मोक्षद्वार, जीवद्वार, अजीवद्वार और ध्यानद्वार—इन द्वारो से स्वानुभाव का स्वरूप समझाया है।

८ **हरिवंशपुराण चौपईवन्द**—पृष्ठ १२८। प्रति जीर्णशीर्ण दशा में है। लिपि अस्पष्ट एव वीच मे मिट गई है। ग्रन्थ के कुछ पृष्ठ भी नष्ट हो गये है। ग्रन्थ से ग्रन्थकर्त्ता का कोई विशेष परिचय नही मिलता है, पर ग्रन्थ की प्रत्येक सन्धि के अन्त में "इतिश्री हरिवशपुरानसग्रहे भविमगलकरणे आचार्य जिनसेन विरचिते तस्योपदेशे चौपही श्री शालिवाहन क्रियते प्रथम नाम सन्धि।" लिखा है, जिससे प्रतीत होता है कि जिनसेनाचार्य कृत हरिवशपुराण के आधार पर कवि ने प्रकृत ग्रन्थ को चौपई छन्द मे लिखा है। ग्रन्थ मे २१ सन्धि है—भाषा, भाव तथा रचना साधारण है।

९ **यशोधरचरित**— पृष्ठ १०७, पद्य ८८७ और सन्धि ५ है। लिपि सुन्दर और सुवाच्य है। लेखक का नाम प० लक्ष्मीदास है। सकलकीर्ति विरचित सस्कृत यशोधरचरित तथा पद्मनाभ कायस्थकृत यशोधर के आधार पर यह ग्रन्थ वनाया गया है। ग्रन्थकार के अतिम लेख से जाना जाता है कि यह गन्थ सागानेर नगर मे राजा जयसिंह के राजत्वकाल मे लिखा गया है।

१० प्रश्नमाला--यह गद्यग्रन्थ है। लिपि स्वच्छ और प्रति सुन्दर दशा में है। पृष्ठ ३४ है। ग्रन्थ के आदि और अन्त में निम्नलिखित पद्य विद्यमान है—

आदि—आदि अन्त चौवीस लो, वन्दौ मन वच काय।
भव्यन को उपदेश दे, करो मगलाचार ॥१॥

अन्त—प्रश्नमाला पूरन भई, आदेश्वर गुनराय।
सम्यक्त सहित वाचत रहो, ज्ञान सुरति मन माह ॥

इन पद्यो के अतिरिक्त प्रस्तुत ग्रन्थ मे १२२ विविध धार्मिक प्रश्नो का उत्तर सरल एव सरस भाषा मे समझाया गया है। ये प्रश्न देवागनाओ से पूछे गये जिनमाता तथा श्रेणिक गौतम सवधी है। लेखक का परिचय गन्थ से नही मिलता है।

११ दशलक्षणधर्म—यह भी गद्यग्रन्थ है। पृष्ठ ४२ है। लिपि सुन्दर और सुवाच्य है। ग्रन्थकार प० सदासुख जी है। यह ग्रन्थ सुमतिभद्राचार्य विरचित सस्कृत प्राकृत दशलक्षण धर्म का सरस भाषानुवाद है। ग्रन्थ के प्रारभ में १२ पद्य है। फिर गद्य में १० धर्मों का सुन्दर, सरस एव मधुर विवेचन है, जो पर्युषण पर्व के समय पठनीय है।

१२ इष्टोपदेश—यह गद्यग्रन्थ है। केवल ४ पृष्ठ ही है। यह पूज्यपाद कृत इष्टोपदेश का मधुर भावात्मक मनोरजक अनुवाद है। लेखक का नाम धर्मदास क्षुल्लक है। यह मोक्षपद के पथिको का पाथेय है। भाषा और लिपि साधारण है।

१३ वुद्धिप्रकाश—कविवर ने इस गन्थ में धर्म, वैराग्य और नीति के विषयो का सुन्दर रूप से प्रतिपादन किया है। कर्म-सिद्धान्त जैसे कठिन विषयो की कविता करने मे ग्रन्थकार ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। दाता और सूम का कितना सरस और सरल सवाद इस ग्रन्थ मे कराया है—

सूम—कहे सूम सव सङ्ग भले, धर्मी सङ्ग न लाय।
ता सङ्ग तें घर धन सकल दान विषै ही जाय ॥

माल लेहें चोर के धर्‍यो घनें जावतें तै अगनि किमि लागि भूमि गाडी रज डारी है।
राजा किमि नेह रह्यो राकि की समानि होय, तन तो उघारो, खाय रोटी रज भारी है ॥
इत्यादिक में तो धनी चौकस राख्यो, खाय उघारी लाई लाज सव टारी है ॥
रूपै को रुपैया बडे घने कष्ट तें, कमायो यार दान कैसो दियो जाय काढौ बहुगारी है ॥

दाता—दाता कहे सुन रे सठा, चौंकस लाख कराय।
कै धन तज के तू वसै कै देखत धन जाय ॥

राखो न माल रहे किस ही पर लाख सयानै कोय करौ जी।
खोद खडा धन माहि धरचो भल ऊपर लें बहु भार भयो जी ॥
जाये तबै बहु सोच करौ भल रोष करौ निज पाय हरौ जी।
लाख उपाय करौ नर हे तातें भव्य यह द्रव्य दान करौ जी ॥

इस पद्य में कितने सुन्दर ढग से कृपण के स्वभाव का वर्णन किया गया है। ग्रन्थ का प्रारभ इन्दौर मे हुआ और इसकी समाप्ति माडलनगर (भेलसा) में हुई है। कवि का नाम हरिकृष्ण प्रतीत होता है। ग्रन्थ समाप्ति का काल ग्रन्थकार ने स्वय इस भाति लिखा है।

सम्वत अष्टादश शत जोयो और छवीस मिलावो सोयो।
मास जेठ वदि आठें सारी ग्रन्थ समापति को दिन धारी॥

अर्थात् स० १८२६ मे ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी को यह ग्रन्थ समाप्त हुआ।

१४ **चन्द्रप्रभ पुराण**—इन ग्रन्थ मे सोलह अधिकार और १८१ पृष्ठ हैं। कविवर ने यह ग्रन्थ गुणभद्राचार्य विरचित उत्तर पुराण के आधार पर हिन्दी के विविध छन्दो मे लिखा है। इसके श्लोकों की सख्या ३००० से अधिक है। कवि की कविता के नमूने इस भाति हैं —

एक दिना नृप सभा मझांरे, बैठे शक्र निहारे।
मंत्री आदि सकल उमराव, बैठे मानो निर्जर राव॥

पुत्र शोक का वर्णन—

मूर्च्छा पाय धरनि पर पर्यो, मानो चेतन ही निसरो।
अब कीनो शीतल उपचार, भयो चेत नृप करै पुकार।
हा! हा! कुंवर गयो तू काय, तो विन मो को कहूँ न सुहाय।
सिर छाती कूटे अकुलाय, सुनत सभा सब रुदन कराय॥

पुत्र-शोक का कितना स्वाभाविक चित्र कवि ने खींचा है, जिसे पढ कर हृदय द्रवित हो उठता है।

पुत्र न होने का वर्णन—

बिने देखि मन भया उदास, नैन नीर भर आयो जास।
जो मेरे सुत होतो ये कोय, केलि करत लखि अति सुख होय।
पुत्र विना सूनो ससार, पुत्र विना त्रिय पावे गार।
पुत्र विना सजन क्यो मिले, विना पुत्र कुल कैसे चले।
जैसे फूल विना मकरन्द, कमल-नैन सज्ञा दृग अन्ध।
पडित विना ज्यो सभा अपार, चन्द्र विना निशि ज्यो अँधियार॥

कवित्त

कमल विना जल, जल बिन सरवर, सरवर बिन पुर, पुर विन राय।
राय सचिव बिन, सचिव बिना बुधि, बुधि विवेक बिन को सोभा न पाय॥
विवेक विना क्रिया, क्रिया दया विन, दया दान विन, धन बिन दान।
धन विन पुरुष तया विन रामा, रामा विन सुत त्यो जग माहि॥

इन पद्यो मे कवि ने नारी हृदय के भावो को सजीव ढग से चित्रित किया है। ग्रन्थकार का नाम हीरासिंह प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ की रचना बडोत नगर मे हुई है। रचना काल—स० '१६१२ भादो कृष्ण त्रयोदशी।

१५ **श्री गुरूपदेश श्रावकाचार**—इस ग्रथ के रचयिता प० डालूराम हैं। ग्रन्थ की पत्र सख्या १८३ है और वह पद्यात्मक है, जिसमे ३६ सन्धियाँ हैं। प० डालूराम जी ने विविध ग्रन्थो का पर्यालोचन कर इस ग्रन्थ का निर्माण किया है। ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय प्रधानतया श्रावको का आचार है, किन्तु बीच-बीच मे श्रावको के चरित्र-सबधी अन्य विषयो का भी समावेश हुआ है, जिससे यह ग्रन्थ सर्वांगीण सुन्दर और सुपाठ्य हो गया है। ग्रन्थ के अन्दर दोहा, चौपाई, सवैया, पद्धरि, सोरठा, अडिल्ल, कुण्डलियाँ, आदि छन्दो का ललित भाषा मे प्रयोग हुआ है। कही कही द्रुतविलबित जैसे सस्कृत छन्द भी दृष्टिगोचर होते हैं। एक नमूना —

जिनके सुमति जागि, भोग सो भयो विरागी, परसङ्ग त्यागी, जे पुरुष त्रिभुवन सो।
रागादि भावन सों जिनकी रहन न्यारी कवहुं न मगन रहें धाम घन में॥
जे सदैव आपको विचारें सव अङ्ग सुधा तिनके विकलता न व्यापें कहू मन में।
तेई मोखमारग के साधक कहावें, जीव भावे रहो मन्दिर में, भावे रहो वन में॥

इस पद्य मे मोक्ष-साधक का कितना मनोहर और स्वाभाविक वर्णन है, जिसमे भाव और भाषा की पुट भी मन को आकर्षित करती है। ग्रन्थ ऐसे अनेक सुन्दर पद्यो मे पूर्ण है। ग्रन्थकार ने अपना परिचय भी इस ग्रन्थ में अति विस्तृत रूप से लिखा है। सवाई माधोपुर में आने का कारण दिखलाया है तथा वहाँ के जिन-मदिर, जैन समाज का जीवन और धार्मिक रुचि का अनूठा चित्र अकित किया है। राजा और प्रजा के गाढ प्रेम का दिग्दर्शन भी वढिया ढग से किया गया है। ग्रन्थ की लिपि सुन्दर और सुवाच्य है। प्रति भी अच्छी दशा मे सुरक्षित है।

१६ हनुमच्चरित्र—यह ग्रन्थ ब्र० रायमल्ल जी का रचा हुआ प्रतीत होता है। लेखक ने आचार्य अनन्त-कीर्ति द्वारा विरचित सस्कृत हनुमच्चरित्र का आधार लेकर इसका निर्माण किया है। पाँच परिच्छेदो मे विभक्त है। भाषा प्राचीन हिन्दी प्रतीत होती है। ग्रन्थ का प्राकृतिक वर्णन कितना स्वाभाविक और सजीव है—

सेमर महुआ तिन्दुक वेलु, वकायन कैथ करील।
चोच मोच नारग सुवग, नीवू जामुन वादाम तिलग॥
अमृतफल, कटहल और केलि, मण्डप चढि दाख की वेलि॥
वेर सुपारी कमरख घनी, न्योजा आम कनत विम्वनी॥

प्रस्तुत पद्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि का व्यावहारिक ज्ञान विशाल था तथा उसे विभिन्न प्रकार के वृक्षो का पूर्ण ज्ञान था। इसी के फलस्वरूप वाटिका के वृक्षो का ललित वर्णन कवि ने किया है।

कविराज ने वीच-वीच में सुन्दर नीति विषयक पद्य भी दिये है। यथा—

मित्र मित्र को करे विश्वास। मित्र विना नहिं पूरे आस।
वहुत आपदा आवे जवै। मित्र परीक्षा आवे तवै॥
धीरें पावे राजा राज। धीरे खेती उपजे नाज॥
वोवे वृक्ष धीरे फल खाय। धीरे मुनिवर मुक्तिहिं जाय॥

वीर वालक का ओजस्वी वर्णन देखिये—

वालक जव रवि उदय कराय।
अन्धकार सव जाय पलाय॥
वालक सिंह होय अति सूरो।
दन्ति घात करे चक चूरो॥
सघन वृक्ष वन अति विस्तारो।
रत्ती अग्नि करे दह छारो॥
जौ वालक क्षत्रिय को होय।
सूर स्वभाव न छाडे कोय॥

उपर्युक्त पद्या मे क्षत्रिय वालक को उपमाए वाल-रवि, सिंह-शावक, और एक अग्नि की चिनगारी से दी गई हैं। ये उपमाएँ कवि की अनोखी सूझ की द्योतक है। जैसे अग्नि की चिनगारी प्रारभ मे छोटी होती है, पर अरण्य

मे प्रवेश करते ही प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार ओजस्वी बालक आरभ में शूर-वीर होते हैं। अन्त मे ग्रन्थकार ने अपना परिचय इस भाति दिया है—

ब्रह्मराय मल वुधि कर हीन, हनुमच्चरित्र कियो परकाश।
तास शीश जिन चरणहि लीनो, क्रियावन्त मुनिवर को दास॥
भनियो सो मन धरि हर्ष, सोलह सौ सोलह शुभ वर्ष।
ऋतु वसन्त मास वैशाखे, नवमी तिथि अधियारो पाखे॥

इससे सिद्ध होता है कि ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ की स० १६१६ वैशाख वदी नवमी को रचना की है।

१७ बुद्धिविलास—इस ग्रन्थ के रचयिता प० वखतराम है। ग्रन्थ की प्रति साधारण तथा लिपि अच्छी है। ग्रन्थकार ने विशाल सस्कृत साहित्य का अध्ययन एव मनन कर इसको रचा है। रचना मौलिक तथा कही-कही पर साधारण है।

ग्रन्थ के प्रारभ मे कवि ने जयपुर के राजवश का इतिहास लिखा है। स० ११६१ में मुसलमानो ने जयपुर में राज्य किया है। इसके पूर्व कई हिन्दू राजवशो की नामावलि दी है। इतिहास-प्रेमियो को यह ग्रन्थ अवश्य देखना चाहिए। इसका वर्ण्य विषय विविध धार्मिक विषय, सघ, दिगवर पट्टावलि, भट्टारको तथा खडेलवाल जाति की उत्पत्ति आदि हैं। विस्तार १५२४ पद्यो में है। कविवर ने राजमहल का रोचक और मधुर चित्र खीचा है—

आगन फरि कले पर वात मनु रचे विरचि जु करि सयान।
है आव सलिल सम तिह वनाय, तह प्रगट परत प्रतिबिंव आय॥
कवहुँ मणिमन्दिर माभि जाय, तिय दूजी लखि प्यारी रिसाय।
तव मानवती लखि प्रिय हसाय, कर जोरि जोर लेहै वनाय॥

इस पद्य मे शब्दालकार तथा अर्थालकार की पुट है। इस ग्रन्थ को कविवर ने स० १८२७ के मगसिर मास की शुक्ला १२ वृहस्पतिवार के दिन समाप्त किया।

सवत अट्ठारह शतक ऊपर सत्ताइस, मास मागिसिर पषि सुकल तिथि द्वावसी तारीख।
नखत अस्वनी वार गुरु शुभ मुहुरत के मद्धि, ग्रन्थ अनूप रच्यो पढ़े है ताको सर्वसिद्ध।

इस प्रकार जैन हिन्दी साहित्य में अनक ग्रन्थ अप्रकाशित पडे हुए है। यदि इन्हें हिन्दी जगत के समक्ष रक्खा जाय तो हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से यह सामग्री वडी मूल्यवान होगी। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय तो अवगत होगा कि अपभ्रश और भक्तिकाल के साहित्य की अपूर्णता का मूल कारण जैन हिन्दी साहित्य के समुचित उपयोग का अभाव ही है।

आरा]

तृतीय नियम इसलिए बनाना पडा कि ग्रन्थमाला की वर्तमान पूँजी जो चन्दे से उपलब्ध हुई थी, कम थी और ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित ग्रन्थो को लागत मूल्य पर बेचने का निश्चय हुआ था। इसलिए कुछ और सहायता मिल सके, इस विचार से यह नियम रक्खा गया और इसका प्रभाव भी पडा। प्रारभ के अनेक प्रकाशन साधन-सम्पन्न बधुओ ने अपने चित्र देकर खरीदे और इस प्रकार ग्रन्थमाला को सहायता पहुँचाई। 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' की स्थापना का सक्षेप मे यही इतिहास है।

ग्रन्थमाला के प्रकाशन और उनकी उपयोगिता

इस ग्रन्थमाला द्वारा अबतक सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश भाषा के छोटे-बडे ब्यालीस ग्रथ प्रकाशित हो चुके है ? जैन वाड्मय के इन अमूल्य ग्रन्थो की शोध कर उन्हे सुसम्पादित और प्रकाशित करने का सर्वप्रथम श्रेय इस ग्रन्थमाला को ही प्राप्त है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थमाला के प्रारम्भिक प्रकाशन आधुनिक सम्पादन-पद्धति के अनुसार सम्पादित नही हुए है, तथापि अतिम छह ग्रन्थो का जो सर्वाङ्गपूर्ण सुन्दर सम्पादन हुआ है, वह बडे ही महत्त्व का है। यही कारण है कि बम्बई यूनिवर्सिटी ने इस माला के तीन ग्रन्थो के प्रकाशन में एक सहस्र रुपये की सहायता पहुँचा कर ग्रन्थमाला के गौरव की श्रीवृद्धि की है।

प्रारभिक प्रकाशन आधुनिक ग्रन्थ-सपादन शैली के अनुसार सम्पादित नही हो सके, उसके दो कारण थे। प्रथम तो प्रकाशनार्थ ग्रन्थो की विभिन्न पाण्डुलिपियाँ ही दुष्प्राप्य रही। फलत कई ग्रन्थो का सम्पादन केवल एक ही प्रति के आधार पर कराना पडा। दूसरे उस समय विद्वान् सम्पादन नवीन पद्धति से उतने परिचित नही थे। फिर भी ग्रन्थमाला के प्रकाशनो की महत्ता और उपयोगिता मे किसी प्रकार की कमी नही आने पाई। इस रूप में प्रकाशित होने पर भी वे मूल्यवान और महत्वपूर्ण होने के साथ सग्राह्य और उपादेय है। यहाँ हम ग्रन्थमाला के सम्पूर्ण प्रकाशनो का सक्षिप्त परिचय दे रहे है।

१. **लघीयस्त्रयादिसग्रह** : इसमें जैन-दर्शन-सबधी चार ग्रथ सगृहीत है —

(१) **भट्टाकलकदेवकृत लघीयस्त्रय** अभयचन्द्र सूरि-रचित तात्पर्यवृत्तिसहित। प्रमाण, न्याय आदि विषयक एक छोटा-सा प्रकरण।

(२) **भट्टाकलकदेव-कृतस्वरूप सबोधन** · आत्मा के स्वरूप के बारे मे पच्चीस श्लोक।

(३-४) **अनतकीर्तिकृत लघुसर्वज्ञसिद्धि और बृहत्सर्वज्ञसिद्धि** · सर्वज्ञता के जैन-सिद्धान्त का विश्लेषण।

इस ग्रथ का सशोधन स्व० पडित कल्लापा भरमाप्पा निटवे ने किया है। पृष्ठ सख्या २०४। मूल्य छ आना। प्रकाशन तिथि वि० स० १९७२।

२ **सागरधर्मामृतम्** . ग्रथकर्ता प० आशाधर, जो तेरहवी शताब्दी के महान लेखक थे। इस ग्रन्थ मे गृहस्थ के कर्तव्यो पर उन्होने प्रकाश डाला है। स्व० प० मनोहर लाल जी द्वारा सशोधित। श्री नाथूराम जी प्रेमी की आशाधर तथा उनकी रचनाओ के विषय में भूमिका भी है। पृ० २४६। मूल्य आठ आना। स० १९७२।

३. **विक्रान्तकौरवनाटकम् या सुलोचना नाटकम्** छ . अको में कुरुवशी जयकुमार और काशी के महाराज अकम्पन की पुत्री सुलोचना के पारस्परिक अनुराग और स्वयवर आदि का चित्रण है। ग्रथकार उभय भाषा कवि चक्रवर्ती हस्तिमल्ल है। पृष्ठ १६४। मूल्य छ आना स० १९७२। (अप्राप्य)।

४. **पार्श्वनाथ चरितम्** दसवी शताब्दी के महान् कवि और तर्कशास्त्री वादिराजसूरि कृत। इस काव्य-ग्रन्थ के बारह सर्गो में भगवान पार्श्वनाथ का जीवन-चरित है। सशोधन-कर्ता स्व० प० मनोहरलाल शास्त्री। पृष्ठ १९८। मूल्य आठ आना। स० १९७३।

५ **मैथिलीकल्याणनाटकम्** : पाँच अको का एक छोटा सा नाटक। लेखक हस्तिमल्ल। पृ० ९६। मूल्य चार आना। स० १९७२। सशोधक स्व० प० मनोहरलाल शास्त्री।

६. आराधनासार · (सटीक) मूलकर्ता देवसेन और टीकाकार रत्नकीर्तिदेव। सशोधक स्व० प० मनोहरलाल शास्त्री। इसमें जैन सिद्धान्त सम्मत दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य और तप इन चार आराधनाओ से सबधित सामग्री है। पृष्ठ १२८। मूल्य साढे चार आना। स० १९७३।

७. जिनदत्त चरितम् : नौ सर्गों में जिनदत्त का जीवन-चरित है। ग्रथकर्ता गुण भद्राचार्य। सशोधक प० मनोहरलाल शास्त्री। पृ० ९६। मूल्य साढे चार आना। स० १९७३। (अप्राप्य)

८ प्रद्युम्न चरितम् : आचार्य महासेन कृत प्रद्युम्न का जीवनचरित। सपादक प० मनोहरलाल शास्त्री और प० रामप्रसाद जी शास्त्री। पृ० २३०। मूल्य आठ आना। स० १९७३।

९ चारित्र्यसार · चामुण्डराय कृत। सशोधक प० इन्द्रलाल शास्त्री तथा उदयलाल काशलीवाल। गृहस्थ और साधु के चारित्र्य सबधी नियमो का इसमें उल्लेख है। पृ० १०४। मूल्य छ आना। स० १९७४। (अप्राप्य)।

१०. प्रमाण निर्णय ग्रन्थकर्ता वादिराजसूरि। यह ग्रन्थ जैनदर्शन से सबध रखने वाला है। इसमें जैनदर्शन सम्मत प्रमाणो की प्रबल युक्तियो के साथ प्रतिष्ठा की गई है। प० इन्द्रलाल शास्त्री और प० खूबचन्द्र जी शास्त्री ने इसका सशोधन किया है। पृ० सख्या ८०। स० १९७४। मूल्य पाँच आना। (अप्राप्य)।

११ आचारसार . वीरनन्दि आचार्य कृत। सपादक प० इन्द्रलाल शास्त्री और मनोहरलाल शास्त्री। पृष्ठ सख्या १००। मूल्य छ आना। (अप्राप्य)

१२ त्रिलोकसार ग्रन्थकर्ता श्रीमन्नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती और टीकाकार श्री माधवचन्द्र त्रैविद्य देव। इस ग्रन्थ मे तीनो लोको का जैन-सम्प्रदाय-मान्य विस्तृत विवेचन है। सशोधक प० मनोहरलाल शास्त्री। पृष्ठ सख्या ४५०। स० १९७५। मूल्य एक रुपया बारह आना। (अप्राप्य)

१३. तत्त्वानुशासनादिसग्रह : इसमें निम्नलिखित छोटे-बडे ग्रन्थ सगृहीत है—

१—नागसेन मुनि-कृत तत्वानुशासन।
२—पूज्यपाद स्वामिकृत इष्टोपदेश (आशाधर कृत टीकासहित)।
३—भट्टारक इन्द्रनन्दिकृत नीतिसार।
४—मोक्षपञ्चाशिका।
५—इन्द्रनन्दि आचार्य कृत श्रुतावतार।
६—सोमदेवकृत अध्यात्मतरगिणी (सटिप्पण)।
७—विद्यानन्दि-कृत पात्रकेशरिस्तोत्र (सटीक)।
८—वादिराज-कृत अध्यात्माष्टक।
९—अमितगतिसूरि-कृत द्वात्रिंशतिका।
१०—श्री चन्द्रकृत वैराग्य-मणिमाला।
११—श्री देवसेन कृत तत्त्वसार।
१२—ब्रह्म हेमचन्द्र कृत श्रुतस्कन्ध (प्राकृत)।
१३—ढाढसी गाथा (प्राकृत)।
१४—पद्मसिंह मुनि कृत ज्ञानसार (प्राकृत)। सशोधक प० मनोहरलाल शास्त्री। पृष्ठ सख्या १७६। स० १९७५। मूल्य चौदह आना। (अप्राप्य)।

१४. अनगारधर्मामृतम् (सटीकम्) · ग्रथकर्ता पडितप्रवर आशाधर। इस पर ग्रन्थकार ही की स्वोपज्ञ-भव्य कुमुदचन्द्रिका टीका है। सशोधक प० वशीधर जी न्यायतीर्थ और प० मनोहरलाल शास्त्री। इसमें मुनिधर्म का विस्तृत निरूपण है। पृष्ठ सख्या ६९२। स० १९७६। मूल्य साढे तीन रुपया। (अप्राप्य)

१५. युक्त्यनुशासनम् . ग्रन्थकर्ता स्वामी समन्तभद्र और टीकाकार स्वामी विद्यानन्दि। यह जैनदर्शन का

ग्रन्थ है। सशोधक प० इन्द्रलाल शास्त्री तथा प० श्री लाल शास्त्री। पृष्ठ सख्या १०२। स० १९७७। मूल्य पन्द्रह आना। (अप्राप्य)

१६. नयचक्रसंग्रह : ग्रथकर्ता देवसेन। सपादक प० वशीधर शास्त्री, शोलापुर। इसमें निम्नाकित तीन ग्रन्थ सगृहीत है—

(१) आलाप पद्धति, (२) लघुनय चक्रम, (३) बृहत् नयचक्रम्।

प्रत्येक ग्रन्थ में वस्तु-धर्म का कथन करने वाली समस्त सभावित शैलियों अर्थात् नयों का विवेचन है। पृष्ठ सख्या १८८। स० १९७७। मूल्य पन्द्रह आना। (अप्राप्य)

१७ षट्प्राभृतादिसग्रह : ग्रन्थकर्ता आचार्य कुन्दकुन्द। यह जैन सिद्धान्त से सबध रखनेवाला सग्रह ग्रन्थ है। इसमें निम्नलिखित प्राकृत ग्रन्थों का सग्रह है—

(१) दर्शन प्राभृत, (२) चारित्र प्राभृत, (३) सूत्र प्राभृत, (४) बोध प्राभृत, (५) भाव प्राभृत, (६) मोक्ष प्राभृत, (७) लिङ्ग प्राभृत, (८) शील प्राभृत, (९) रयणसार और (१०) द्वादशानुप्रेक्षा।

सशोधक प० पन्नालाल जी सोनी। पृष्ठ सख्या ४४२। स० १९७७। मूल्य तीन रुपया।

१८. प्रायश्चित्तसग्रह : इसमें जैन सम्प्रदाय सम्मत प्रायश्चित्तो का सकलन है। इसमे निम्नाकित ग्रन्थ सगृहीत है—

(१) छेदपिण्ड (इन्द्रनन्दियोगीन्द्र कृत) प्राकृत

(२) छेदशास्त्र या छेदनवति (प्राकृत)।

(३) गुरुदास कृत प्रायश्चित्तचूलिका (श्रीनन्दिगुरु कृत टीका सहित)।

(४) प्रायश्चित्तग्रथ भट्टाकलककृत।

सशोधक प० पन्नालाल जी सोनी। पृष्ठ सख्या १७२। मूल्य एक रुपया दो आना। स० १९७८। (अप्राप्य)

१९ मूलाचार: सटीक (पूर्वार्द्ध)—ग्रन्थकर्त्ता आचार्य वट्टकेर। इसमें सात अधिकारो द्वारा मुनियो के आचार का वर्णन है। सम्पादक प० पन्नालाल सोनी और प० गजाधरलाल शास्त्री। पृष्ठ सख्या ५१६। स० १९७७। मूल्य ढाई रुपया। (अप्राप्य)

२०. भावसग्रहादि : सैद्धान्तिक सग्रह-ग्रन्थ। सशोधक प० पन्नालाल सोनी। इसमे निम्नलिखित ग्रन्थ सगृहीत है-

(१) भावसग्रह (देवसेनसूरिकृत)

(२) भावसग्रह (वामदेवपडितकृत)

(३) भावत्रिभगी (श्रुतमुनिकृत) स० १९७८। पृष्ठ सख्या २८३, मूल्य सवा दो रुपया।

२१. सिद्धान्तसारादिसग्रह : यह भी एक सैद्धान्तिक सग्रह ग्रन्थ है। इसमे सस्कृत-प्राकृत भाषा निबद्ध निम्नलिखित छोटे-बडे पच्चीस ग्रथ और प्रकरण सगृहीत है—

१ जिनचन्द्राचार्यकृत सिद्धान्तसार प्राकृत (ज्ञानभूषणकृत भाष्य सहित)

२ श्रीयोगीन्द्रदेवकृत योगसार, (अपभ्रश)

३ अजितब्रह्मकृत कल्याणलोयणा (प्राकृत)।

४ योगीन्द्रदेवकृत अमृताशीति (सस्कृत)।

५ शिवकोटिकृत रत्नमाला (सस्कृत)।

६ श्रीमाघनन्दिकृत शास्त्रसारसमुच्चय।

७ प्रभाचन्द्राचार्यकृत अर्हत्प्रवचन।

८ आप्तस्वरूप।

९ वादिराजप्रणीत ज्ञानलोचनस्तोत्र।

१० विष्णुसेनमुनिकृत समवशरणस्तोत्र ।
११ विजयानन्दसूरिकृत सर्वज्ञस्तवन (सटीक) ।
१२ पार्श्वनाथसमस्यास्तोत्रम्
१३ श्रीगुणभद्रकृत चित्रबन्धस्तोत्र
१४ महर्षिस्तोत्र
१५ श्रीपद्मप्रभदेवकृत श्रीपार्श्वनाथस्तोत्र
१६ नेमिनाथस्तोत्र
१७ भानुकीर्तिकृत शखदेवाष्टक
१८ योगीन्द्रदेवकृत निजात्माष्टक (प्राकृत)
१९ अमितगतिकृत सामायिक पाठ या तत्त्वभावना
२० पद्मनन्दिविरचित धम्मरसायण (प्राकृत)
२१ कुलभद्रकृत सारसमुच्चय
२२ श्रीशुभचन्द्रकृत अगपण्णत्ती (प्राकृत)
२३ विबुधश्रीधरकृत श्रुतावतार
२४ शलाकानिक्षेपणनिष्कासनविवरण
२५ पडित आशाधरकृत कल्याणमाला

प० नाथूराम जी प्रेमी की कुछ ग्रन्थकर्त्ताओ पर भूमिका । सम्पादक प० पन्नालाल सोनी । पृष्ठ सख्या ३२४ । मूल्य डेढ रुपया । स० १९७९ ।

२२. नीतिवाक्यामृतम् (सटीकम्) : ग्रन्थकर्त्ता आचार्य सोमदेव । इस ग्रन्थ मे विशाल नीतिसागर का मन्थन करके सारभूत अमृत का सग्रह किया गया है । ग्रन्थ का प्रधान विषय राजनीति और सम्पूर्ण ग्रन्थ सूत्रबद्ध है । इसमें ३२ समुद्देश है और इस पर एक विशाल सस्कृत टीका है । सम्पादक प० पन्नालाल सोनी । पृष्ठ सख्या ४२६ । स० १९७९ । मूल्य पौने दो रुपया ।

२३. मूलाचार सटीक (उत्तरार्द्ध). ग्रन्थकर्त्ता आचार्य वट्टकेर । वसुनन्दिश्रमण की सस्कृत टीका सहित। इसमें मुनियो के आचार का विवेचन है । ग्रन्थ में पाँच अधिकार है । पृष्ठ सख्या ३३१ । स० १९८० । मूल्य डेढ रुपया ।

२४ रत्नकरण्डश्रावकाचार (सटीक) : ग्रन्थकर्त्ता स्वामी समन्तभद्र और टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र । इस ग्रन्थ मे गृहस्थ धर्म का विवेचन किया गया है । सम्पादक प० जुगलकिशोर जी मुख्तार । प्रारम्भ में मुख्तार साहब की ८४ पृष्ठो की भूमिका और २५२ पृष्ठो मे स्वामी समन्तभद्र का विस्तृत जीवन-परिचय है । ग्रन्थ सात परिच्छेदो में विभक्त है । स० १९८२ । मूल्य दो रुपया ।

२५. पचसग्रह : ग्रन्थकर्ता आचार्य अमितगति । इसमे कर्म-सिद्धान्त का विवेचन है । सशोधक साहित्य-रत्न प० दरबारीलाल जी । पृष्ठ सख्या २३९ । मूल्य तेरह आना ।

२६ लाटीसहिता : ग्रन्थकर्ता राजमल्ल । इसमे सात सर्गों में जैन सिद्धान्तों का उल्लेख है । सशोधक पडित दरबारीलाल जी । पृष्ठ सख्या १३० । स० १९८४ । मूल्य आठ आना ।

२७ पुरुदेवचम्पू . ग्रन्थकर्त्ता महाकवि अर्हद्दास । चम्पू ग्रन्थ है । १० स्तवको में भगवान् ऋषभदेव का जीवन-वृत्त है । सशोधक प० जिनदास शास्त्री । पृष्ठ सख्या २०६ । स० १९८५ । मूल्य बारह आना ।

२८ जैनशिलालेखसग्रह . इस ग्रन्थ में श्रवणबेलगोल के स्मारक, चन्द्रगिरि, विन्ध्यगिरि, श्रवणबेलगोल-नगर और उसके आसपास के महत्त्वपूर्ण शिलालेखो का हिन्दी अनुवाद सहित सग्रह है । सम्पादक प्रो० हीरालाल जी एम० ए०, एल-एल० बी० । पृष्ठ सख्या ४२७ । स० १९८४ । मूल्य दो रुपया ।

२९-३०-३१ पद्मचरितम् (तीन जिल्दो में) : ग्रन्थकर्त्ता आचार्य रविषेण। इसमें कवि ने जैन रामायण का रूप चित्रित किया है। २५ पर्व है। स० १९८५। सशोधक प० दरबारीलाल जी साहित्यरत्न। मूल्य तीनो भागो का साढे पाँच रुपया।

३२-३३. हरिवशपुराणम् (दो जिल्दों में) : ग्रन्थकर्त्ता पुन्नाटसघीय जिनसेनसूरि। इसमें हरिवश के महापुरुषो का पौराणिक पद्धति के अनुसार वर्णन है। सशोधक पडित दरबारीलाल जी न्यायतीर्थ। पृष्ठ सख्या ८०६। मूल्य साढे तीन रुपया।

३४. नीतिवाक्यामृतम् (परिशिष्ट भाग) : इसमे 'नीतिवाक्यामृत' की खडित टीका का अवशिष्ट अश है। पृष्ठ सख्या ७६। मूल्य चार आना।

३५. जम्बूस्वामिचरितम् अध्यात्मकमलमार्तण्डश्च ग्रन्थकर्त्ता पडित राजमल्ल। इसमें अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी का जीवनचरित है। सशोधक प० जगदीशचन्द्र शास्त्री एम० ए०। स० १९९३। पृष्ठ सख्या २६३। मूल्य डेढ रुपया।

३६ त्रिषष्ठिस्मृतिपुराण (मराठी टीका सहित) : मूल-ग्रन्थ-कर्त्ता प० आशाधर और मराठी-टीकाकार श्री मोतीलाल जैन। इसमे जैनपरम्परा के श्रेष्ठ महापुरुषो का सक्षिप्त परिचय है। पृष्ठ सख्या १६५, मूल्य आठ आना।

३७-४१-४२ महापुराणम् (तीन जिल्दो में) : ग्रन्थकार महाकवि पुष्पदन्त। यह अपभ्रश भाषा का पौराणिक ग्रन्थ है। डाक्टर पी० एल० वैद्य ने आधुनिक ग्रन्थ-सम्पादनशैली स सम्पादित किया है। इसमें ६३ शलाका पुरुषो का चरित है। पृष्ठ सख्या लगभग १६००। मूल्य २६ रुपया।

३८-३९. न्यायकुमुदचन्द्रोदय (दो जिल्दों में) : ग्रन्थकर्त्ता आचार्य प्रभाचन्द्र, जिन्होने भट्टाकलक के 'लघीयस्त्रय' पर विस्तृत भाष्य के रूप में इस ग्रन्थ की रचना की है। यह जैनन्याय का ग्रन्थ है। सम्पादक पडित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य और प्रस्तावना-लेखक प० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री। पृष्ठ सख्या ८०५ और प्रस्तावनाओ की पृष्ठ सख्या २००। स० १९९५। मूल्य साढे सोलह रुपया।

४०. वराङ्गचरितम् : महाकाव्य है। काव्यकार श्री जयसिंह नन्दि। इसमें राजकुमार वराङ्ग के जीवन का चित्रण है। सम्पादक डाक्टर ए० एन० उपाध्ये। पृष्ठ सख्या ३९५। प्रस्तावना पृष्ठ सख्या ८८। स० १९९५। मूल्य तीन रुपया।

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला के प्रकाशनो का यह सक्षिप्त परिचय है। जो महाशय इन ग्रन्थो से अधिक परिचित होना चाहते है और जैन-साहित्य के विद्यार्थी है, उन्हें ग्रन्थमाला के सम्पूर्ण प्रकाशनो को एक बार अवश्य पढना चाहिए।

प्रेमी जी और 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला'

सेठ माणिकचन्द्र की स्मृति में 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' के आयोजन का प्रस्ताव रख कर प्रेमी जी ने इस ग्रन्थमाला को जन्म ही नही दिया, बल्कि इसे अब तक सवर्द्धित और सरक्षित करके इसके कार्य को प्रगति दी और इसके गौरव की अभिवृद्धि भी की।

ग्रन्थमाला का प्रत्येक प्रकाशन प्रेमी जी की प्रतिभा और उनके पुण्य श्रमजल से प्रोक्षित है। अधिकाश ग्रन्थो के प्रारम्भ में जो महत्त्व की प्रस्तावनाएँ है, उन्हें प्रेमी जी ही ने लिखा है और उनमे जैन-इतिहास और शोध की जो सामग्री सचित है उसे देख कर कोई भी इतिहास-विशारद प्रेमी जी की प्रशसा किये विना नही रह सकता। जैन समाज में किये गये इतिहास और शोध सम्बन्धी कार्य के आदिरूप की झाँकी हमें इस ग्रन्थमाला के प्रकाशनो में ही दिखलाई पडती है।

पाठक आश्चर्य करेंगे कि इस प्रकार की उच्चकोटि की ग्रन्थमाला का न कोई स्वतन्त्र कार्यालय है और न कोई क्लर्क आदि। प्रकाशन सम्बन्धी व्यवस्था और पत्र-व्यवहार का कार्य प्रेमी जी अपनी दुकान की ओर से ही करते आ रहे हैं। माला के ग्रन्थो का स्टॉक पहले प्रेमी जी की दुकान मे ही रहता था, पर पुस्तको की सख्या बढ जाने तथा दुकान में स्थान को कमी पड जाने से अब वह हीराबाग की धर्मशाला मे रक्खा रहता है। जहाँ इस प्रकार की प्रगतिशील प्रकाशन-सस्थाओ की व्यवस्था के पीछे सैकडो रुपये मासिक व्यय हो जाते हैं, वहा प्रेमी जी ने इस मद में ग्रन्थमाला का कुछ भी व्यय नही होने दिया।

ग्रन्थमाला की इस प्रकार सर्वथा नि स्वार्थभाव से सेवा करते हुए भी प्रेमी जी को पडित-दल का विरोध सहन करना पडा। बात यह थी कि प्रेमी जी ग्रन्थमाला के ग्रन्थो के प्रारम्भ में जो खोजपूर्ण भूमिकाएँ लिखते थे उनमें कुछ तथ्य इस प्रकार के रहते थे, जिनसे तत्कालीन पडितदल की प्रचलित धारणाओ को ठेस पहुँचती थी और इस कारण वह न केवल उन्हे अग्राह्य समझता था, बल्कि समाचार-पत्रो द्वारा उनका विरोध भी किया करता था। यही नही, एक बार तो इस विरोध ने इतना उग्र रूप धारण किया कि परतवाडा (बरार) की जैन-विद्वत्परिपद् में यह प्रस्ताव पेश किया गया कि प्रेमी जी के पास से ग्रन्थमाला का कार्य छीन लेना चाहिए, क्योकि प्रेमी जी सुधारक है और अपने सुधारक विचारो का ग्रन्थो मे समावेश कर सकते है। परन्तु यह एक आश्चर्यजनक घटना थी कि इस प्रस्ताव का विरोध उस समय के पडितदल के नेता (स्वर्गीय) प० धन्नालाल जी ने किया और वह प्रस्ताव पास नही हो सका। प्रस्ताव के विरोध मे पडित जी ने कहा था—"प्रेमी जी चाहे जैसे विचारो के हो, परन्तु वह जान-बूझ कर ग्रन्थो में एक अक्षर भी न्यूनाधिक नही कर सकते। फिर तुम लोगो मे से कोई तैयार भी है, जो उस काम को उन-जैसे नि स्वार्थभाव से चला सके।"

ग्रन्थमाला की आर्थिक स्थिति

जैसा कि प्रारम्भ मे लिखा जा चुका है, ग्रन्थमाला के कार्य को चलाने के लिए सेठ माणिकचन्द्र जी की शोक-सभा के अवसर पर साढे चार हजार रुपये का चन्दा एकत्र हो गया था, परन्तु जब यह द्रव्यराशि पर्याप्त प्रतीत नहीं हुई तो जैन-समाज के अन्य साहित्य-प्रेमी श्रीमानो से सहायता ली गई। स्वर्गीय ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने भी इस ग्रन्थमाला को एक बार उल्लेखनीय सहायता दिलवाई और जीवनपर्यन्त ग्रन्थमाला की कुछ-न-कुछ सहायता कराते ही रहे। ग्रन्थ जब यथेष्ट सख्या मे प्रकाशित हो गये तब यह नियम बनाया गया कि कम-से-कम एक सौ एक रुपया देने वाले महानुभाव माला के स्थायी सदस्य समझे जायँ और उन्हे पूर्वप्रकाशित तथा आगामी प्रकाशित होने वाले समस्त ग्रन्थ भेट में दिये जायँ। इस प्रकार माला के सदस्य भी बढने लगे और सब प्रकार की सहायता से कुल बाईस सहस्र रुपया ग्रन्थमाला को प्राप्त हुआ, जो माला के प्रकाशन और सम्पादन आदि की व्यवस्था में लगाया गया। 'न्यायकुमुदचन्द्रोदय' तथा 'महापुराण' जैसे विशालकाय ग्रन्थो के प्रकाशन मे तो माला का समस्त रुपया समाप्त हो चुका था तथा उसे ऋण भी लेना पडा था, परन्तु अब वह ऋण चुक गया है और दो-एक ग्रन्थो के प्रकाशित होने योग्य रुपया भी सचित हो चुका है।

'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला'-जैसी प्राचीन और महत्त्वपूर्ण सस्था की इस प्रकार की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नही है। आशा है, जिनवाणी के भक्तो का ध्यान इस ओर आकर्षित होगा।

प्रेमी जी ने जिस अध्यवसाय, श्रम, प्रामाणिकता, कुशलता और नि स्वार्थभाव से 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' का कार्य सम्पादित किया है और इससे ग्रन्थमाला के गौरव की जो श्रीवृद्धि हुई है उसका उल्लेख जैन-साहित्य के प्रकाशन के इतिहास में सुवर्णाक्षरो में अकित रहेगा।

जब तक भारती के भव्य मन्दिर में 'माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला' का एक भी प्रकाशन विद्यमान है, सेठ माणिकचन्द्र अमर है, साथ ही प्रेमी जी भी।

काशी]

: ६ :

मराठी और गुजराती साहित्य

मराठी-साहित्य की कहानी

श्री० प्रभाकर माचवे एम० ए०

(१)

प्राचीन साहित्य

मराठी का प्राचीनतम आद्य कवि है मुकुन्दराज। इसके निश्चित काल के सम्बन्ध में पता नहीं चलता। साधारणत ज्ञानेश्वर से एक शती पहले (११८८ ईस्वी) के लगभग 'विवेकसिन्धु' और 'परमामृत' इन दो ग्रन्थो की रचना मुकुन्दराज ने की। 'ओवी' नामक मराठी के अपने अक्षरछन्द में अद्वैत-वेदान्त पर ये दोनो ग्रन्थ हैं। भाषाशैली उतनी प्राचीन नही जान पडती, जितनी ज्ञानेश्वरी की है। यह कवि नाथसम्प्रदाय का था। मछिन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गैनीनाथ आदि शिवभक्त, हठयोगी गुरुओ की परम्परा उत्तरभारत से महाराष्ट्र में आई। इसी नाथ-सम्प्रदाय से आगे चलकर महाराष्ट्र का 'वारकरी' (भागवत-धर्म) सम्प्रदाय निकला।

जिस प्रकार एक ओर नाथसाम्प्रदायिक प्राचीन काव्य मिलता है, उसी प्रकार दूसरी ओर महानुभाव-पन्थ नामक एक पन्थ धर्मजागृति का कार्य कर रहा था। यह साहित्य प्राचीन भाषा-शैली के अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'सकला' और 'सुन्दरी' नाम की साकेतिक लिपियो में यह साहित्य लिखा जाने के कारण कई शतियो तक इसके सार-तत्त्व से जनता अनभिज्ञ थी। राजवाडे, भावे, य० खु० देशपाडे, नेने आदि आधुनिक सशोधको के प्रयत्न से वह साहित्य अब सब के लिए उपलब्ध हो सका है। गोविन्द प्रभु इस सम्प्रदाय के मूल पुरुष थे (११८८ ईस्वी)। उनके शिष्य चक्रधर हुए। कृष्ण और दत्त को महानुभावीय मुख्य आराध्य देवता मानते थे। स्त्रियो-शूद्रो तक को वे सन्यास-दीक्षा देते थे। चक्रधर को थोडे से अवकाश में बहुत से शिष्य मिले। नागदेवाचार्य उनमें मुख्य थे। महानुभावियो की साहित्यिक-दार्शनिक कृतियो में 'सिद्धान्तसूत्रपाठ', जिसमें १६०९ सूत्र है और 'लीलाचरित्र' प्रमुख हैं। ये दोनो ग्रन्थ गद्य में हैं। इनके बाद 'साती ग्रन्थो' को पूज्य माना जाता है। ये पद्यबद्ध हैं। इनके नाम हैं—शिशुपालवध, एकादशस्कन्द, वत्सहरण, रुक्मिणी-स्वयवर, ज्ञानबोध, सह्याद्रिवर्णन, ऋद्धिपूरवर्णन। प्रथम चार कृष्णचरित को लेकर हैं। मराठी की आद्य कवियित्री महदम्बा चक्रधर के मुख्यशिष्य नागदेवाचार्य की चचेरी बहन थी। विवाह-प्रसग पर गाने योग्य कृष्ण-भक्ति-रस से भरे 'धवले' उसने लिखे हैं। 'धवले' अभग-छन्द के समान चार चरणो का अनियमित अक्षर-सख्या का छन्द है। इन धवलो से ऋतुकान्त कविता का मराठी में आरम्भ होता है। भावेव्यास नामक चक्रधर का दूसरा शिष्य प्रसिद्ध है। उसने 'पूजावसर' नामक चक्रधर का जीवनचरित लिखा है। महानुभाव-पन्थ की स्थापना से एक शताब्दी तक इसी पन्थ की काव्य-परम्परा साहित्य के इतिहास में सभी दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

१२९० ईस्वी में भगवद्गीता के अट्ठारह अध्यायो पर नौ हजार ओवियो में जो पद्यात्मक टीका मराठी-सन्त-कवियो की परम्परा के आद्यप्रणेता श्री ज्ञानेश्वर ने अपने 'ज्ञानेश्वरी' नामक ग्रन्थ द्वारा की, वह मराठी साहित्य के इतिहास की एक अपूर्व घटना है। गोदावरी नदी के किनारे आपेगाँव में विट्ठलपन्त को श्री पादस्वामी की कृपा से सन्यासोत्तर जो चार सन्तानें हुई उनके क्रमवार नाम हैं—निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्तावाई। ये सभी सन्त-कवि थे, किन्तु ज्ञानदेव उनमें सबसे अधिक विख्यात हुए। केवल २२ वर्ष वे जीवित रहे। ऐसी अल्पायु में दर्शन-शास्त्र से परिप्लुत और साहित्य-सौन्दर्य से विभूषित काव्य-ग्रन्थ मराठी में ही क्या, अन्य साहित्यो में

भी वहुत कम मिलेंगे। एक उदाहरण उनकी उत्तम रचना का यो है। काव्य की महत्ता वतलाते हुए ज्ञानेश्वर कहते है कि 'वह उस पानी के समान है, जो एक ओर तो आँख की पुतली तक को नही दुखाता और दूसरी ओर कठिन चट्टानो को भी तोडता हुआ वन्यारूप वहता है।' ज्ञानेश्वरी के साथ ही 'अमृतानुभव' तथा कुछ स्फुट अभग (पद) भी ज्ञानेश्वर ने लिखे। ज्ञानेश्वरी का हिन्दी और अग्रेजी अनुवाद अब हो गया है।

ज्ञानेश्वर के समय मे कई अन्य सन्त-कवि हुए। उनमे से अधिकाश ने तीर्थयात्रा के निमित्त भारत-भ्रमण किया और हिन्दी-पद्य मे भी रचनाएँ की। उनमें कई हरिजन कवि भी थे। यथा नामदेव दर्जी और उसकी दासी जनावाई, गोरा कुम्हार, सावता माली, विसोवा खेचर, नरहरी सुनार, वका महार, चोखा मेला, परमा भागवत, कान्होपात्रा (पतुरिया), सेना नाई, सजन कसाई इत्यादि। वारकरी सम्प्रदाय के प्रमुख आराध्य पढरपुर के पढरीनाथ थे। इस सम्प्रदाय मे भक्ति गुण प्रवान था। जातिभेद को कोई अवसर नही दिया जाता था। इस सन्तमालिका में साहित्य के इतिहास की दृष्टि से प्रमुख है नामदेव (१२७०-१३५० ईस्वी) और एकनाथ (१५३३-१५९९ ईस्वी)। नामदेव की रचना मुख्यत पदो के रूप में थी, सूर के समान। एकनाथ ने भागवत, भावार्थ रामायण, रुक्मिणी स्वयवर आदि ग्रन्थ लिखे है। इन दो कवियो के बीच एक-दो शतको में जो प्रमुख घटना हुई, वह थी मुसलमानो का दक्षिण मे प्रवेश। ये सब-के-सब हिन्दू-धर्म, मराठी सन्त और भाषा पर अत्याचार करने वाले नही थे। वहमनी राज्य के कुछ वादशाह और कुछ सुल्तान मराठी-प्रेमी थे। कई तो सन्तो के शिष्य भी वने। १५५५ ईस्वी मे इब्राहिम आदिलशाह ने वीजापूर दरवार में मराठी भाषा प्रचलित की, परन्तु ऐसे राजा थोडे थे। दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना थी चौदहवी-पन्द्रहवी शती में नृसिंह सरस्वती और जनार्दनस्वामी नामक दो साधुओ द्वारा 'दत्त' सम्प्रदाय का प्रचलन। गगाधर सरस्वती नामक उपरोक्त साधुओ के एक शिष्य का लिखा हुआ 'गुरुचरित्र' ग्रन्थ महाराष्ट्र में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ और अभी भी वडे-वूढो को वह कठस्थ है। पुराने घरो में उसका नित्य पाठ होता है।

ज्ञानेश्वरी के वाद प्राचीन मराठी साहित्य मे एकनाथ की भागवत की टीका वद्य और साहित्यिक गुणो में समतुल्य मानी जाती है। भागवती टीका में एकनाथ की एक वडी विशेपता थी सस्कृत मे मात्र मुट्ठीभर पडितो के लिए उपलब्ध वस्तु को जनता की, सर्वसाधारण की, लोकानुरजिनी और लोकोपयोगी वस्तु वनाना। 'सस्कृत वद्य, प्राकृत निंद्य। हे वोल काय होती शुद्ध।' यह एकनाथ 'का वचन का भाषा का सस्किरित' वाली प्रसिद्ध उक्ति की याद दिलाता है। ज्ञानेश्वर की रचना मे आभिजात्य (क्लासिकल) था, एकनाथ की रचना अधिक प्रासादिक और सर्वप्रिय हुई। ज्ञानेश्वर कई स्थलो पर कठिन और रहस्यवादी हैं, एकनाथ तुलसीदास की भाँति अर्थसुलभ, साधारणीकरण-युक्त तथा अपनी सरलता से अलकृत है। एकनाथ की परम्परा को नाथ-परम्परा कहते हैं, जिसमें मुख्य कवि हुए—दासोपन्त, (१५५१-१६१५ ईस्वी), त्र्यवकराज (१५८० ईस्वी के निकट), शिवकल्याण (१५६८-१६३८?), रमावल्लभदास आदि। दासोपन्त ने ४६ ग्रन्थ और सवा लाख 'ओवियाँ' (छन्दविशेप) लिखी। ज्ञानेश्वर पचायतन मे ज्ञानेश्वर चार भाई-वहन और नामदेव आते थे, वैसे ही एकनाथ पचायतन में, एकनाथ, दासोपन्त, रामजनार्दन, जनीजनार्दन और विठारेणुकानन्दन नामक कवि आते है। त्र्यवकराज का वालवोध ग्रन्थ वेदान्त पर और ओकारोपासना से सम्वद्ध है। शिवकल्याण ने नित्यानन्दैक्यदीपिका, रासपचाध्यायी, ब्रह्म-स्तुति, वेदस्तुति नामक ग्रन्थ लिखे है। रमावल्लभदास की गीता की 'चमत्कारी टीका' प्रसिद्ध है।

(२)

मध्यकाल का साहित्य

प्राचीन साहित्यिक परम्परा की अन्तिम शृखला के रूप में हम मुक्तेश्वर का स्मरण कर सकते है। निश्चित रूप से इनके जीवनचरित के विषय मे सामग्री नही मिलती, फिर भी अनुमान है कि आप एकनाथ के भाजे होगे।

आपका काल १६०० से १६५० ईस्वी के करीब रहा होगा। आपका प्रसिद्ध ग्रन्थ है महाभारत। यह सम्पूर्ण रूप मे उपलब्ध नही। केवल आदि, सभा, वन, विराट, सौप्तिक ये पाँच ही पर्व उपलब्ध है। मराठी प्राचीन साहित्य के इतिहासज्ञ और आलोचक स्व० पागारकर 'मुक्तेश्वर की वाणी में लोकोत्तरप्रसाद, दिव्य ओजस्विता और सृष्टि-सौन्दर्यवर्णन की अनुपम शोभा' पाते है। मुक्तेश्वर का भाषा, देश और धर्म का अभिमान और अनुराग अलौकिक था। मुक्तेश्वर की सबसे बडी विशेषता है आख्यानक कविता का आरम्भ। यदि सन्त-साहित्य के ज्ञानेश्वर भित्ति-चालक थे तो मुक्तेश्वर लौकिक साहित्य की नीव डालने वालो में मुख्य थे। मध्ययुग में आकर मराठी काव्य जो अधिक लोकोन्मुख होता चला, उसके सबसे प्रमुख सहायक थे तुकाराम और रामदास।

'सन्त तुकाराम' नामक चित्रपट से और हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित डॉ० ह० रा० दिवेकर की 'तुकाराम' सम्बन्धी पुस्तक से अधिक परिचित, सक्षिप्त इस सन्तकवि की जीवनकथा है। १६०८ ई० में तुकाराम और रामदास दोनो का जन्म हुआ। पूना के पास इन्द्रायनी नदी के किनारे देहू गाँव में तुकाराम बोल्होबा आंबिले का जन्म हुआ। इनकी जाति शूद्र (कुनबी) थी और बनिये का धन्धा इनका कुल करता था। सावजी कान्होबा तुकाराम के दो भाई थे। तुकाराम ने दो बार विवाह किया—पर न अपनी दूकान और न गिरस्ती वे ठीक तरह से चला सके। दृष्टि उनकी ईश्वरभक्ति की ओर थी। तिस पर अकाल आया। तुकाराम वैराग्य की ओर पूर्णत झुक गये।[1] तुकाराम ने अपनी सब रचना 'अभग' नामक भजनोपयोगी छन्द में की है। वह अधिकाश स्फुट है। नामदेव के समान ही भक्ति पर, आर्तता और उपालम्भ से भरी उनकी रचना है। परन्तु जहाँ नामदेव शुद्ध सन्त थे, तुकाराम ने कबीर के समान व्यावहारिक धर्म की दाम्भिकता को भी खूब आडे हाथो लिया है। कबीर की ही भाँति तुकाराम की रचनाएँ लोकोक्ति रूप बन गई है। वास्तविक जीवन के यथार्थ दृष्टात लेकर बडे-बडे नीति-तत्त्व सहजता से समझाने की उनकी कुशलता बहुत ही प्रशसनीय है। उनके जीवनकाल में उन्हे विरोधको का कम सामना न करना पडा। उनका निर्माणकाल १६५० ईस्वी माना जाता है।

देशस्थ-ब्राह्मणकुल मे, सूर्याजीपन्त कुलकर्णी के पुत्र रामदास, गोदानदी तीर पर जाबगाँव में जनमे। बचपन से वे काफी उद्धत थे। विवाह-प्रसग मे वे मडप से भाग गये। आगे चल कर आपकी शिवाजी राजा से भेट हुई और शिवाजी ने उन्हे गुरु माना, यह आख्यायिका प्रसिद्ध है। फिर तो आजीवन वे धर्मप्रचार करते रहे। उन्होने कई मठ स्थापित किये। रामभक्ति इनका मुख्य जीवनध्येय था। सतारा के पास 'परली' और 'चाफल' रामदास के प्रमुख स्थान थे। आपने अपना एक सम्प्रदाय चलाया। आपका सर्वोत्तम ग्रन्थ है 'दासबोध'। पहले सात दशक और बाद के तेरह दशको के बीच मे बहुत-सा रचना-कालान्तर बीता होगा, ऐसा माना जाता है। यह ग्रन्थ निवृत्तिवादी नही है, निर्गुणिए सन्तो की तरह यह ब्रह्म-माया की सूक्ष्म छानबीन में नही पडता। यह ग्रन्थ ओजस्वी भाषा मे पूर्णत प्रवृत्तिवादी है। इसका कारण तत्कालीन परिस्थिति थी। शिवाजी की राज्यस्थापना का वह काल था। मुस्लिम शासको से सीधा विरोध हिन्दू-जनता कर रही थी—उसमे धर्म एक प्रधान अस्त्र था। रामदास की वाणी ने उस अस्त्र को धार दी। रामदास की बानी अटपटी है। वह व्याकरण-दोष, भाषा-दोष, छन्द-दोष, काव्य-दोष किसी की चिन्ता न करती हुई बराबर ऊर्जस्वल वेग से बहती है। अजीब-अजीब नये शब्द-प्रयोग उसमें मिलते है। कई ग्रामीण शब्द भी उसमें चले आये है। परन्तु सम्पूर्णत लेने पर रामदास की रचना बहुत ही प्रभावशाली है। दासबोध में मूर्ख, पडित, कवि, भक्त, राजा सब के लक्षण गिनाये गये है। राजनीति पर उनका जो एक दशक है, जिसे मैने पूरा-का-पूरा 'आगामी कल' मे 'एक कार्यकर्ता को पत्र' नामक शीर्षक से शब्दश अनुवादित कर प्रकाशित किया है, वह एक अमर सत्य से प्रज्वलित रचना है। इस 'दासबोध' के अलावा 'मनाचे श्लो[क]' रामायण के 'सुन्दरकाड' और 'युद्धकाड', 'आनन्दवनभुवन' नामक महाराष्ट्र के भूप्रदेश-सौंदर्य-वर्णन

---

[1] देखिये—मेरा 'मर्मी तुकाराम' नामक लेख, विश्वमित्र मासिक सन् '४० में प्रकाशित।

ग्रन्थ, करुणाष्टक, पचीकरण, आरतियाँ, 'ओवियो' के १४ शतक आदि कई ग्रन्थ उनके प्रसिद्ध है। दासगीता नामक एक सस्कृत-काव्य-पद्य भी उन्होने लिखा था। सज्जनगड पर १६८१ ईस्वी मे आपने समाधि ली। आपकी शिष्य-परम्परा मे प्रमुख कवि—जयराम, रगनाथ, आनन्दमूर्ति, केशव ये चार स्वामी मिलाकर रामदास पचायतन पूरा होता है। ज्ञान-पचायतन, नाथपचायतन और दासपचायतन के साथ सन्त-कवियो की परम्परा सत्रहवी सदी में आकर समाप्त होती है और हिन्दी-साहित्य मे जिस प्रकार भक्तिकाल के पश्चात् रीति-काल आता है और उसका आरम्भिक रूप केशवदास जैसे भक्ति-रीति को मिलाने वाले कवियो में मिलता है, उसी प्रकार मराठी साहित्य मे भी भक्तिकाल से रीतिकाल की शृगारी-वीर-प्रवृत्तियो तक (मतिराम-भूषण जैसे 'लावणी-पोवाडे' लिखने वाले शाहीरो तक) सीधी रेखा नही मिलती—वह बीच-बीच में पडित-कवियो द्वारा खडित है। लालजी पेंडसे के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्य और समाजजीवन' (जिसमें मराठी साहित्य का इतिहास समाजवादी दृष्टिकोण से दिया गया है) मे इन तीन प्रकार के कवियो को, जिनके मुख्य रस थे भक्ति, शान्ति, शृगार-वीर आदि, बहुत ही सुन्दर ढग से तीन नामो मे सक्षिप्त किया गया है—सन्त-कवि, पन्त-कवि, तन्त-कवि। पन्त पडित का छोटा रूप है और ततु वाद्यो के साथ ('डफ', इकतारा आदि) गाने वाले होने से 'तन्त', या कहिए 'तन्त्र' अथवा 'रीति' की उनमे प्रधानता है, इस कारण मे 'तन्त'।

प्रत्येक साहित्य के इतिहास में सिद्धान्तो के उत्थान-पतन का लेखा अनिवार्य रूप से आता ही है। जो आदर्श एक युग मे पूजे जाते है, वे दूसरे युग मे निर्माल्यवत् बन जाते है और नये आदर्श उनका रिक्त स्थान ग्रहण करते है। इस एक के खडन मे से दूसरे के निर्माण के सक्रान्ति काल का साहित्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। आज तो ऐसे काल का अध्ययन इसलिए और भी आवश्यक है कि हमारा यानी भारतीय साहित्य भी ऐसे ही बौद्धिक अराजक, मत-मतान्तरो के मन्थन मे से गुजर रहा है। अग्रेजी साहित्य के इतिहास में ऐसे काल-खड को 'डिकेडेट' कहते है, जिसका शब्दश अर्थ होता है 'जीर्ण-शीर्ण या गलित'। 'जीवन' की उद्दाम तरल वेगमयी प्रवहमानता को यदि रूढ नियमो के और परिस्थितियो के कृत्रिम बन्धन से रोकने का प्रयत्न किया तो कुछ अवकाश के बाद उसमें की गतिमयता नष्ट होकर, एक विकृत स्थिरता—एक प्रकार की सडाध—एक प्रकार की साहित्य की आत्मा-भावना को गौणत्व देकर, उसके बाह्यवेष भाषा, टेकनीक (रीति) आदि से उलझने की प्रवृत्ति अनजाने ही साहित्य में घुस पडती है जो एक ओर अतिशय हानिकर तो दूसरी ओर एक अपरिहार्य बुराई के रूप मे लाभप्रद भी होती है। रामदास के पश्चात् वामन पडित और उनके पश्चाद्वर्ती कवियो का काल इसी प्रकार का था। सत-कविता जब एक भँवर मे पडी-सी जान पडी तब उसे झकझोर कर तुकाराम ने पुन उसमें सजीवता पैदा की। रामदास ने कविता की उन सजीव गति मे अतिरेक निर्मित कर पुन उसे विमूर्छा में जैसे डाल दिया। उसी विमूर्छन-काल का स्वप्न-रजन वामन पडित, रघुनाथ पडित और मोरोपत की सुघर, नक्कासी भरी, अति-अलकृत कविता मे हमे मिलता है। अग्रेजी साहित्य में भी रोमेटिक युग की आरभिक ताजगी कुम्हलाकर जब उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे ऐसी ही प्रवृत्ति चल पडी तब 'प्री-रैफेलाइट' कवियो की अलकरण-प्रियता स्विन्बर्न आदि मे अत्यधिक मात्रा में फूट पडी और हिन्दी मे भी बिहारी देव, पद्माकर के दोहे-कवित्तो में उस सुघराई के लिए सुघराई के वर्ण-चमत्कार के अतिरिक्त और है भी क्या? क्या 'निराला' की गीत-रचना में पुन छायावाद के अतिरेक की वैसी ही विमूर्छना, वैसी ही श्रान्ति और एकस्वरता (मोनोटोनी) नही मिलती? स्टीफैन स्पेडर का 'स्टिल सेंटर' मानो सभी ओर ऐसे साहित्यिक कालखडो मे अनुगुजित है। वामन पडित भी ऐसे ही शाब्दिक नक्कासी के लोभी कवि थे। निस्सशय उनकी रचना अतिशय नादमधुर है। जयदेव और विद्यापति की वह याद दिलाती है। परतु कही-न-कही ऐसा जान पडता है कि भाव भाषा मे खो गये है; भाषानुवर्ती भाव हो रहे है, जैसे कि महादेवी की उत्तरकालीन रचना मे। परन्तु मराठी साहित्य की कहानी के सिलसिले में मैं कुछ व्यक्तिगत मत सावेश कह गया, जिन्हें पाठक अप्रासगिक न मानेंगे, ऐसी आशा है।

वामन पडित शेषे नादेड गाँव का था। वह सस्कृत का उद्भट पडित था। उसका बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रथ है

'यथार्थदीपिका, जो कि ज्ञानेश्वरी की ही भाति गीता की टीका है। भावार्थदीपिका उस टीका की और टीका है। गर्जेद्रमोक्ष (रामदास के शिष्य रगनाथस्वामी द्वारा लोकप्रिय बनाये गये विषय पर भावप्रचुर रचना), सीतास्वयवर, कात्यायनीव्रत, वनसुधा और राधाविलास वामन पडित के अन्य भावप्रधान ग्रथ हैं। वामन पडित की कविता मे मराठी काव्य में विचार और भावना जैसे दो शैलियाँ ग्रहण करते हैं और सतो द्वारा परिचालित विचार भावना का मधुर ऐक्य मानो टूट जाता है। वामन पडित के समकालीन नागेश और विट्ठल ने श्लोक-शैली में सीतास्वयवर और रुक्मणी-स्वयवर काव्य रचे हैं। जयराम आनदतनय और रघुनाथ पडित (जिनके निश्चित काल के सबध में विद्वानो में मतभेद हैं) इसी प्रवृत्ति के उत्तरकालीन कवि हैं। रघुनाथ पडित का 'नल-दमयन्ती स्वयवराख्यान', नरोत्तमदास के 'सुदामा-चरित्र' की भाति रसयुक्त और प्रसगो का यथातथ्य चित्रण करने वाला अनेक छन्दो मे लिखा ग्रथ है। कचेश्वरवापा, निरजनमाधव, सामराज, श्रीधर, महीपति आदि अन्य कई कवियो के पश्चात् महत्वपूर्ण उल्लेखनीय कवि हैं मोरोपत (१७२९-१७९४ ईस्वी)।

मोरोपत रामचन्द्र पराडकर पन्हालगड पर जन्मे। केशव पाध्ये उनके गुरु थे। बाद मे पेशवाओ के समधी और साहूकार नाईक के घर आपने कथा-वाचकी की। कुछेक काल मुशी भी रहे। समग्र महाभारत, भागवत, रामायण आपने 'आर्या' वृत्त में मराठी में उतारे परतु रामायण, मत्ररामायण, आदि १०८ रामायण आपने लिखे थे, ऐसा कहा जाता है। युद्ध-प्रसग, सवादप्रेम, वात्सल्य और करुणरस के प्रसगो का वर्णन आपने बहुत ही कमाल के साथ किया है। रचना अधिकाश सस्कृतसमासप्रचुर है। आप अपने तुको के लिए बहुत ही प्रसिद्ध हैं। ईश्वरस्तुति पर पृथ्वीछन्द में 'केकावली' नामक काव्य आपकी स्वतत्र रचना है। पेशवाओ के राज्यकाल के उत्तरकाल में अन्य कई कवि हो गये, जिनमें से मुख्य-मुख्य नाम हैं—नारायण कवि दाजीबा जोशीराव, रामचन्द्र बडवे, रघुनाथ पत, कोशे, साहिरोबानाथ आँबिये आदि। इनमे अतिम कवि सिंधिया के दरबार मे थे। वह गोआ की ओर के रहने वाले थे और 'महदनुभवेश्वरी' नामक उनकी रचना रहस्यवादी है।

- जब पत-कवियो ने कविता को यात्रिक और इतिवृत्तात्मक बना डाला तब स्वाभाविक रूप से कविता के रचनाकारो में दो वर्ग निर्मित हो गये—एक तो बडे-बडे विद्वान, व्युत्पन्न सस्कृत पडित थे, दूसरी ओर थे जन-कवि। जनता का कवि वीरो की गाथा गाता सिपाहियो के मनोरजन के लिए शृगारपूर्ण नाट्यात्मक भावगीत भी लिखता। वह कभी-कभी पडित कवियो की नकल मे तुको का जाल बिछाता, दूसरी ओर भाषा की चिंता न करते हुए उर्दू के रग में इश्क की शायरी का जिक्र करता, नाजुकखयाली और बदिश मे उलझता, तो तीसरी ओर महाराष्ट्र की भूमि-गत और जाति-गत रीति-रिवाजो, लोकोक्तियो-वाक्यप्रचारो, रहन-सहन की वैशिष्ट्यपूर्ण पद्धति का हूबहू चित्रण करता। इस कारण से शाहीर कवियो के वीरश्रीपूर्ण 'पोवाडे' (आल्हा के ढग पर 'बैलेड्स') जहाँ एक ओर श्रवणीय हैं वहाँ दूसरी ओर उन्ही की शृगार से भरपूर, कभी-कभी तो अश्लील ऐसी 'लावणियाँ' (कजरी, होली जैसे गीत) चित्र-काव्य की सुन्दर प्रतिमाएँ हैं। शाहिरो ने मराठा-पेशवा राज्य के उत्तरकाल के रण-रग और रस-रग का यथार्थ प्रतिबिंब कविता मे उतार रक्खा है, बिना किसी लागलपेट के। ग्राम-गीतो की वह परपरा जो पडित कवियो के विद्वत्ता के ग्रीष्मातप में सूखती जा रही थी, उसे शाहिरो ने पुनर्जीवन दिया, पुन हराभरा किया।

अबतक उपलब्ध ऐतिहासिक गेय वीर-काव्य 'पोवाडे'—३०० हैं। शिवाकाल से साहू तक के सात पेशवे काल के डेढ-सौ और बाकी १८०० ईस्वी के बाद के। उनमें अज्ञानदास का 'अफजलखा-वध' और तुलसीदास का 'तानाजी मालुसरे' का पोवाडा बहुत प्रसिद्ध है। दोनो शिवाजी-कालीन हैं। दूसरे कालखड में पानीपत के सग्राम (१८१८ ईस्वी) और खाडी की लडाई को लेकर बहुत से पोवाडे हैं। ये शाहीर भाट-चारणो की भाति गुणीजनो के आश्रित थे। उत्तर पेशवाई के जो शाहीर प्रसिद्ध हैं, उनमें प्रमुख हैं—रामजोशी (१७५८-१८१२ ईस्वी), कीर्तनकार, अनतफदी (१७४४-?), होनाजी बाला, ग्वाला सगनभाऊ 'तमाशा' वाले (?-१८४०) शिकलगर मुसलमान, प्रभाकर दातार (१७५४-१८४३), परशराम दर्जी। विभिन्न जातियो के ये जन-कवि आधुनिक मराठी

कविता की नीव बनानेवालो मे मुख्य है। होनाजी की कविता मे उत्तान शृगार होने पर भी मधुरता खूब है। प्रभाकर की रचनाएँ सस्मरणीय है।

(३)

आधुनिक काल

१८१८ ईस्वी में पानीपत में पेशवा-राज्य का पूर्ण पराभव हुआ और महाराष्ट्र में ब्रिटिश-राज्य का सूत्रपात। ब्रिटिशो का पूर्ण परिचय होने से पहिले आरभिक सभ्रम, सनातनी विरोध, सुधारवादियो की सपूर्ण आग्लानुकरण की वृत्ति, परिपक्व राष्ट्रीय विरोध आदि कई अवस्थाओ मे से हमारे और ब्रिटिशो के सबध गुजरे। न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से वरन् इस सारी दुखान्त कथा की पूर्वपीठिका समझने की दृष्टि से न० चिं० केलकर की 'मराठे आणि इग्रज' पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आरभ में मराठी-भाषी अग्रेजी की ओर झुकने के बजाय एकानेक कारणो से मराठी की ओर झुके थे। १८१० ईस्वी में सीरामपुर में डॉ विलियम कॅरे ने मराठी-अग्रेजी कोष छपाया। उसी समय गणपत कृष्ण जी ने बबई मे प्रथम मुद्रणालय स्थापित किया। १८२० में बबई-प्रात अग्रेजो के हाथो मे आया। माउट स्टुअर्ट एल्फिन्स्टन बबई के गवर्नर बनाये गये। आपने शिक्षा का प्रसार किया। तन्निमित्त ग्रथानुवाद कराये। मोल्सवर्थ, कॅडी, जर्विस आदि अग्रेज और जगन्नाथ शकरशेट, सदाशिव काशिनाथ छत्रे, बालशास्त्री जाभेकर आदि विद्वान उस ग्रथोत्पादन-सस्था मे कार्य करते थे। व्याकरण, अकगणित, भूमिति, पदार्थविज्ञान आदि विषयो पर विपुल ग्रथरचना की गई। मराठी गद्य का और वैज्ञानिक साहित्य का इस प्रकार से आरभ हुआ। १८५६ में बबई विश्वविद्यालय की स्थापना तक यह अरुणोदय (रिनेसाँ) चलता रहा।

बबई विश्वविद्यालय की स्थापना से 'निबधमाला' नामक मासिक के उदय तक (१८५७ से १८७४ ईस्वी) का काल प्राचीन और नवीन के सघर्ष का काल है। एक ओर सस्कृत-ज्ञान-परपरा के शास्त्री-पडितजन, दूसरी ओर अग्रेजी विद्या और वाङ्मय के सपर्क में आये हुए नवीन विद्वान्। १८५६ तक का साहित्य अधिकाश शालेय (स्कूलोपयोगी) था, परतु अब साहित्यिको के मनो मे यह भावना काम करने लगी कि साहित्य का प्रचारात्मक और कलात्मक पक्ष भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। फलत जहाँ परशुरामपत, तात्या गोडबोले ने सस्कृत नाटको के अनुवाद किये थे, उसी परपरा को कृष्णशास्त्री राजवाडे ने आगे चलाया। गत वर्ष जाकर कही हिन्दी में कालिदास के समग्र नाटको के और काव्यप्रकाश जैसे ग्रथो के सस्कृत से हिंदी अनुवाद हिंदी में छपे है। मराठी में यह कार्य पचास वर्ष पूर्व हो चुका था। गणेशशास्त्री लेले ने भी बहुत से अनुवाद सस्कृत और अग्रेजी से किये। इस काल-खड के सबसे पसिद्ध लेखक है पिता-पुत्र, कृष्णशास्त्री और विष्णुशास्त्री चिपलूनकर। दोनो के आविर्भाव काल में पच्चीस वर्षों का अतर था, परतु दोनो का आदर्श एक था। कृष्णशास्त्री ने मिशनरियो के विरोध मे 'विचार-लहरी' पत्र १८५२ में शुरू किया। डॉ० जान्सन के रासेलस का अनुवाद और 'अनेकविद्यामूलतत्त्वसग्रह' नामक स्फुट लेखों का ग्रथ १८६१ में प्रकाशित किया। मेघदूत और जगन्नाथ पडित के करुणविलास के पद्यानुवाद, सुकरात की जीवनी आदि अन्य कई ग्रथ लिखे। उनका अधूरा कार्य दुगने जोश से उनके सुपुत्र विष्णुशास्त्री ने चलाया। न केवल उन्होने पिता के अधूरे लिखे हुए 'अरेबियन नाइट्स' (सहस्र-रजनी-चरित्र, अरबोपन्यास) का अनुवाद पूरा किया, अपितु अपनी 'निबधमाला' द्वारा मिशनरियो पर अपना शब्दशस्त्राघात और भी प्रखर रूप से व्यक्त किया। 'आमच्या देशाची स्थिति' नामक निबध सरकार ने जब्त कर लिया था और काग्रेस शासनकाल में उस पर के निर्बंध उठे। आप ही ने प्राचीन ऐतिहासिक साहित्य के प्रकाशनार्थ 'काव्योतिहाससग्रह' नामक मासिक, 'निबधमाला' नामक पत्रिका, 'चित्रशाला' और 'किताबखाना' नामक प्रकाशन सस्थाएँ और तिलक, आगरकर के सहकार्य से 'केसरी' और 'मराठा' नामक मराठी-अग्रेजी पत्रो का सूत्रपात किया। निबधमाला के कुल ८४ अक उपलब्ध है, जो कि पूरे विष्णुशास्त्री ने लिखे है। उनके अन्य साहित्य का सुन्दर सकलन

और संपादन नागपुर के इतिहासज्ञ और साहित्य-शिक्षक श्री० वनहट्टी जी ने 'विष्णुपदी' नामक ग्रंथ में किया है। विष्णुशास्त्री की भाषाशैली प्रौढ, रसमय और ओजपूर्ण है। प्रतिपक्षी का विरोध करते समय व्यंग-परिहास आदि अस्त्रों का उन्होंने बहुतायत में उपयोग किया है। यह प्रभावशाली लेखक केवल ३२ वर्ष जीवित रहा, परंतु भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समान ही वह युगनिर्माता लेखक माना जाता है।

अंग्रेजों के संपर्क में वैज्ञानिक शोध के विकास-युग में मुद्रणकला की प्रगति के साथ साहित्य के प्रचारात्मक अंग की परिपुष्टि के काल में मराठी साहित्य का प्रवाह अब वेग से आगे बढ़ा। गई अर्धशताब्दी में साहित्य का ऐसा कोई अंगविशेष नहीं है, जिसमें उसने पर्याप्त कार्य न किया हो। अब आगे के काल खंड में नामों से न चल कर प्रवृत्तियों के विचार से चलना उपयुक्त होगा, क्योंकि नाम तो इतने अधिक हैं कि सबका उल्लेख करना संभव नहीं हो सकता। अतः केवल प्रमुख नामों का ही उल्लेख करेंगे। विष्णुशास्त्री चिपलूनकर की युयुत्सु गद्य-शैली को निभाकर आगे पत्रकारिता की परंपरा चलाने वालों में प्रमुख हैं—

पत्र	पत्रकार
'सुधारक'	आगरकर
'केसरी'	बाल गंगाधर तिलक
'काल'	शि० म० परांजपे
'चाबुक'	अच्युत बलवंत कोल्हटकर

इन स्वर्गगत पत्रकारों के पश्चात् जीवितों में प्रमुख हैं। 'नवाकाल' के खाडिलकर, 'ज्ञानप्रकाश' के लिमये, 'चित्रा' के डॉ० ग० य० चिटनीस, 'महाराष्ट्र' के माडखोलकर, लोकमान्य के गाडगिल आदि।

आगरकर की मान्यता थी कि राजनैतिक आन्दोलन को गौण स्थान देकर समाज-सुधार पहिले से हो। तिलक बिलकुल इनसे उलटी बात कहते थे। परिणामतः दोनों में बहुत काल तक विवाद रहा। आगरकर दर्शनशास्त्र के प्रोफेसर थे और फर्ग्युसन कालिज के संस्थापक। आपका लेखन अधिकांश प्रतिपक्षी पर वार करने के हेतु से हुआ, परन्तु हिन्दू समाज की कुरीतियों को दूर करने में आपके लेखों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। तिलक 'गीतारहस्य', 'ओरायन', 'आर्क्टिक होम इन दी वेदाज' नामक ग्रंथों के लेखक के नाते साहित्य में जैसे प्रसिद्ध हैं, भारतीय राष्ट्रीयता संग्राम के एक सेनानी के नाते राजनैतिक क्षेत्र में अविस्मरणीय हैं। दोनों ने जो परंपरा पत्रसाहित्य में चलाई उसके अनुयायी आज भी साहित्य में मिल जावेंगे और उसमें यह युग तो समाचार-पत्र का साहित्य—युग ही माना जाता है।

गंभीर गद्य के अन्य क्षेत्रों में, यथा इतिहास संशोधनात्मक, जीवनी, कोश-रचनात्मक, समालोचनात्मक, वैज्ञानिक, राजनैतिक आदि मराठी ने तिलकोत्तर काल में पर्याप्त प्रगति की है। यदि जयचन्द्र विद्यालंकार और ओझा जी को हिंदी साहित्य नहीं भूलेगा तो गो० स० सरदेसाई, पारसनीस, खरे, राजवाडे आदि इतिहास-संशोधकों का कार्य भी मराठी में अद्वितीय है। जीवनी-साहित्य भी प्रचुर मात्रा में समृद्ध है। तिलक की केलकर लिखित जीवनी, धर्मानंद कोशांबी का निवेदन, कर्वे की आत्मकथा, लक्ष्मीबाई तिलक की 'स्मृति चित्रें', दा० न० शिखरे की 'गांधी जी की जीवनी' और अभी हाल में प्रकाशित और जब्त शि० ल० करंदीकर का 'सावरकर-चरित्र' इस विभाग के ऐसे ग्रन्थ जो किसी भी साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त करेंगे। कोश-साहित्य पर तो एक स्वतंत्र लेख इसी ग्रंथ में अन्यत्र है, दिया जा रहा है।

साहित्य-समालोचना संबंधी कुछ महत्त्वपूर्ण आधुनिक ग्रंथ निम्न कहे जा सकते हैं—

ग्रथ लेखक

१ प्रतिभासाधन—प्रो० ना० सी० फडके
२ छन्दो-रचना—डॉ० मा० त्रि० पटवर्धन
३ हास्यविनोदमीमासा—न० चि० केलकर
४ अभिनव काव्यप्रकाश—रा० श्री० जोग
५ सौंदर्यशोध व आनदबोध—रा० श्री० जोग
६ काव्यचर्चा—अनेक लेखक
७ वाड्मयीन महात्मता—वा० सी० मर्ढेकर
८ कलेची क्षितिजें—प्रभाकर पाध्ये
९ रसविमर्श—डॉ० के० ना० वाटवे
१० चरित्र, आत्मचरित्र, टीका—प्रो० जोशी और प्रभाकर माचवे

साहित्य के इतिहास मवधी कई ग्रथ प्रकाशित हो चुके है, फिर भी कोई एक पुस्तक ऐसी नही, जिसमे मराठी साहित्य का सपूर्ण इतिहास सक्षेप मे मिल जाय। वैसे मराठी वाड्मयाचा इतिहास (३ भाग)—ल० रा० पागारकर, अर्वाचीन मराठी—कुलकर्णी, पारसनीस, महाराष्ट्र-सारस्वत—वि० ल० भावे, अर्वाचीन मराठी वाड्मयसेवक—ग० दे० खानोलकर, मराठी साहित्य समालोचन—वि० ह० सरवटे आदि ग्रथ वहुमूल्य है और इन्हीं की सहायता से यह लेख लिखा गया है।

इनके अतिरिक्त मराठी साहित्य में गभीर गद्य के परिपुष्ट अग है राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षाशास्त्र तथा इतिहास सशोधन सबधी ग्रथ। इन सबका परिचय इस छोटे से लेख मे सभव नही। कुछ उल्लेखनीय ग्रथ है आधुनिक भारत—जावडेकर, लढाऊ राजकारण—करदीकर, पाकिस्तान—प्रभाकर पाध्ये, भारतीय समाजशास्त्र—डॉ० केलकर, ग्यानवाचे अर्थशास्त्र—गाडगील, अर्थशास्त्र की अनर्थ-शास्त्र—आचार्य जावडेकर। मनोविज्ञान व शिक्षणशास्त्र पर अठवले, मा० धो० कर्वे, वाडेकर, प्रो० फडके, कारखानीस आदि के ग्रथ वहुत उपयोगी है। इतिहाससशोधन के क्षेत्र में प्रो० राजवाडे, पारसनीस, डॉ० भाडारकर, काशीनाथ पत, लेले और गोविन्द सखाराम, सरदेसाई ये नाम स्वयप्रकाशी है। मराठी के गाधीवादी लेखको का परिचय एक स्वतत्र विषय होगा। फिर भी उनमे प्रमुख विनोवा, कालेलकर, आचार्य भागवत, सानेगुरुजी आदि है।

साहित्य के ललित अग (काव्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिकादि) का विशेष रूप से विकास हुआ है। इनका विस्तारपूर्वक विवेचन यहाँ अनुपयुक्त न होगा। नीचे मराठी के आधुनिक साहित्यप्रवाहो तथा प्रमुख लेखको और उनकी रचनाओ (जिनके नाम ब्रैकटो मे दिये जावेगे) का एक विहगम उल्लेख मात्र मै कर देना चाहता हूँ, जिससे हिंदी-भाषी पाठक मराठी-साहित्य की वर्तमान श्री-वृद्धि से परिचित हो सकें।

१ काव्य

प्रथमोत्थान

१८१८ ईस्वी तक मराठी कविता जो वहुत उन्नति पर थी धीरे-धीरे उसमें सामाजिक राजनैतिक परिपार्श्व के अनुसार पतनोन्मुखता दिखाई देने लगी। शाहीर कवि—जो कि जनता मे लोकप्रिय 'तमाशे' (एक प्रकार का काव्यपाठ) करते, वे उत्तान शृगार पर लावनियाँ अधिक लिखने लगे। 'पोवाडे'-रचना की प्रवृत्ति भी थी तो केवल अतीतोन्मुखी। राजनैतिक दृष्टि से यह वहुत आन्दोलनपूर्ण काल था। अस्थिर जीवन के कारण कविता मे किसी स्थिर प्रवृत्ति के दर्शन कम मिलते है। अग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् सन् १८८५ से मराठी की आधुनिक कविता का आरभ मान सकते है। जैसे उर्दू में हाली या हिंदी में भारतेंदु या गुजराती मे नर्मद, वैसे मराठी में

मे उनकी काव्यात्मक मनोवृत्ति का गहरा असर है। 'गोविंदाग्रज' के नाम से गडकरी ने कविता लिखी। उसमें वायरन जैसी उत्कट भावुकता, गहरी करुणा और गहरा शृगार मिलता है। 'राजहस माझा निजला', 'गुलाबी कोडे', 'मुरली', 'घुवड', 'दसरा', 'कवि अणि कैदी' आदि कई रचनाएँ अविस्मरणीय है। कही-कही ऊँची दार्शनिक उडान, कही प्रकृति का अत्यत सजीव वर्णन और कही मनोभावनाओ का सूक्ष्म हृदयस्पर्शी वर्णन आपकी कविताओ मे मिलता है। प्रेम निराशाजन्य कडुआहट भी कई गीतो में है। अनुप्रासो की बहुत सुन्दर छटा सर्वत्र पाई जाती है।

माधुर्यप्रधान मराठी कविता की इस दूसरी धारा के तीसरे अत्यन्त कोमल कवि है त्र्यवक बापू जी ठोवरे उर्फ 'बालकवि' (१८९०-१९१८)। आपने प्रकृति-प्रेम की ही अधिक रचनाएँ की है। इन्हे मराठी का सुमित्रानदन पत कह सकते है। 'सध्यातारक', 'निर्झर', 'पाऊस', 'फुलराणी', 'श्रावणमास', 'ताराराणी', 'काल अणि प्रेम' ये आपके विषय है। आप सौंदर्यवादी है और पत जिस प्रकार 'सुदरतर मे सुदरतम' सारी सृष्टि को देखते है, वैसे ही बालकवि भी 'आनदी आनद गडे', 'इकडे तिकडे चोहिकडे', सर्वत्र आनद के दर्शन करते है। भारत के विषय मे वे 'देहात मे एक रात' कविता में कहते है —

"हम्मालो का (कुलियो का) यदि कोई राष्ट्र है—तो वह हिंदभूमि है। हे मन, यह दैन्य, यह दौर्बल्य देखा नही जाता। हिंदभूमि की व्यथा सहन नही होती।"

एकनाथ पाडुरग रेंदालकर (१८८६-१९२०) मराठी मे मुक्तछद और अतुकान्त रचना के प्रथम प्रवर्तक है। आपकी रचना मे स्वाभाविकता विशेष है। 'रुक्मिणी पत्रिका', 'कृष्णा', 'वसत', 'उजाड मैदान', 'गिधाड' आदि आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ है। परतु 'प्रसाद' के आँसू की भाति आपकी रचनाओ मे करुणरस की एक अन्तर्धारा सतत प्रवहमान है। यदि माधुर्य ताँबे और गोविंदाग्रज मे मिलता है तो प्रसाद गुण बालकवि और रेंदालकर में। बचा हुआ ओजगुण बॉ० विनायक दामोदर सावरकर—जो अपने क्रान्तिकारी राजनैतिक जीवन के कारण भारत विख्यात है—की रचनाओ मे मिलता है। सावरकर के कवि को सावरकर का राजनैतिक व्यक्तित्व खा गया और मराठी साहित्य ने एक बहुत अच्छे महाकवि को खो दिया, यह खेद से कहना पडता है। 'रानफुले' और हाल मे प्रकाशित उनकी सपूर्ण रचनाओ मे—'युगातरीचा घोष', 'जगन्नाथचा रथोत्सव', 'माझे मृत्युपत्र', 'सागरा, प्राण तलमलला', 'सप्तर्षि' आपकी ऐसी रचनाएँ है जो विश्व साहित्य मे गर्व का स्थान प्राप्त कर सकती है। 'वैनायक' तथा 'कमला' नामक दो खडकाव्य भी आपने लिखे है। आपकी प्रतिभा 'क्लासिक' अथवा 'आभजात्य' लिये हुए है। आप 'महा-समर' नामक एक और काव्य लिख रहे थे। वह पता नही, अभी पूरा हुआ या नही।

प्रथमोत्थान मे जहाँ रूढियो के प्रति अनावश्यक मोह अथवा निर्भयता की अतिरेकपूर्ण वृत्ति प्रदर्शित हो रही थी, द्वितीयोत्थान में अग्रेजी रोमेंटिक कवियो की भाति एक प्रकार की ताजगी, प्रकृति के प्रति विशेष प्रेम, जातीयता तथा स्वदेशभक्ति के दर्शन होते है।

तृतीयोत्थान

तृतीयोत्थान में मुख्य हाथ पूना की 'रविकिरण मडल' नामक सात कवियो की एक मडली का रहा। उनमे प्रमुख कवि थे और है—डॉ० माधव त्र्यवक पटवर्धन उर्फ 'माधव जूलियन', यशवत दिनकर पेंढारकर उर्फ 'यशवत,' शकर केशव कानिटकर उर्फ 'गिरीश,' मायदेव, घाटे आदि। 'माधव जूलियन' फारसी के प्रोफेसर थे और छदशास्त्र पर आपने ववई विश्वविद्यालय से मराठी की पहली डाक्टरेट पाई। फारसी-पद्धति के कई छद आप मराठी में लाये—रुवाई, गजलो की कई किस्में आदि। उमर खय्याम की रुवाइयो का मूल फारसी से समश्लोकी तथा फिज्जेराल्ड के अग्रेजी अनुवाद से समश्लोकी अनुवाद मराठी में आपने प्रस्तुत किया। 'सुधारक' नामक एक व्यगपूर्ण खडकाव्य, 'विरहतरग' नामक प्रेम-प्रधान खडकाव्य, प्रगीत मुक्तको से भरा 'तुटलेले दुवे' नामक दूसरा खड-काव्य केवल 'सुनीतो' में ('सुनीत' अर्थात् अग्रेजी 'सानेट' या चतुर्दशक को मराठी मे रूढ किया हुआ शब्द)

'नकुलालकार' नामक एक व्यग काव्य के अलावा आपकी स्फुट कविता 'शलाका' 'गज्जलाजली', 'स्वप्नरजन' तथा उद्‌बोधन 'मधुमाधवी' म सगृहीत है। आपने उन्मुक्त प्रेम का समथन, सामाजिक दभ का परिस्फोट, राष्ट्रीय कर्तव्यो के प्रति तो किया ही, साथ ही अपनी कविता द्वारा मराठी मे एक नवीन शैली, एक नवीन भाषा-सपदा को, प्रचलित किया। रविकिरणमडल में आपकी मौलिकता सबसे अधिक प्रकाशमान थी। कई कविताओ के रेकार्ड भी बन गये है।

यशवत ने भी राष्ट्रीय और समाज-सुधार पर कई कविताएँ लिखी। 'वदीशाला' नामक एक खड-काव्य यरवदा के बच्चो की जेल पर और अपराधी बच्चो पर तथा 'जयमगला' बिल्हण के प्रेमप्रसग को लेकर लिखा। इनके अलावा हाल में बडौदा नरेश के राज्यारोहण प्रसग पर 'काव्यकिरीट'खडकाव्य लिखा, जिससे वे बडौदा के राजकवि नियुक्त हुए। परन्तु इन खड-काव्यो मे उनकी प्रतिभा इतनी नही चमक उठती जितनी कि गीत-काव्यात्मक फुटकर रचनाओ मे। 'यशोधन', 'यशवती', 'यशोनिधि' 'यशोगध', आदि आपके कई सग्रह प्रकाशित हुए है, जिनमे से 'आई', 'गुलामाचे गाह्राणे', 'नजराणा,' 'भैनरणी', थिगिथिगी चाल', 'घर', 'प्रेमाचीदौलत' आदि आपके कई गीत बहुत लोकप्रिय हुए है। कुछ रचनाएँ आपने ग्रामीण भाषा मे की है। बच्चो के मन का भी बहुत सुन्दर चित्रण कई कविताओ में किया गया है, यथा 'माल् नको गा', 'इदुकला', 'कल्याचा भात' आदि।

रविकिरणमडल के अन्य कवि इतने प्रसिद्ध नही हुए। 'गिरीश' (काचनगगा, फलभार, अभागी कमल, आवर्ता, सुधा) अवश्य अपने खड-काव्यो के कारण अधिक सफल कवि माने जाते है। रविकिरणमडल के सभी कवियो ने अधिकाश प्रेम-कविताएँ लिखी। स्वतत्र-प्रेम की प्रशसा उनकी रचनाओ मे मिली है, परतु जहां एक ओर उन्होने मराठी कविता म नये-नये विषयो पर रचनाएँ करने की यथार्थवादिता बढाई, वहा दूसरी ओर कविता को कुछ नई रूढियो मे बांध डाला। रविकिरणपरिपाटी मराठी मे भावगीत के रूप मे कई वर्षो तक ऐसी चलती रही कि उसकी प्रतिक्रिया में एक ओर माधवानुज, द० आ० तिवारी, टेंकाडे, वेहेरे आदि ने ओजपूर्ण ऐतिहासिक सग्राम-गीत गाना शुरू किये (जो स्पष्टत राष्ट्रीयता प्रचार मे भरे हुए अधिक थे, काव्य उनमे कम था) दूसरी ओर प्रि० प्र० के० अत्रे उर्फ केशवकुमार ने अपनी पैरोडियो की प्रथा चलाई, जो 'विडबन काव्य' के नाम से बहुत ही प्रचलित हुई। 'झेंडूची फुलें' नामक एक अकेले सग्रह ने मराठी कविता मे परिहासपूर्णता का वह प्रवाह बहा दिया कि एक दशक के अदर-अदर कविता एकदम उपेक्षित बन गई।

अब इधर महायुद्ध के कुछ पूर्व से कवियो म पुनर्चेतना जाग्रत हुई है। आ० रा० देशपाडे 'अनिल' इस नई काव्य-प्रेरणा के प्रधान उन्नायक है। कुसुमाग्रज (विशाखा), बोरकर (जीवनसगीत) पु० शि० रेगे, कारे, वसत, वैद्य, वसत बिघने, ना० घ० देशपांडे, राजा बढे, शरच्चद्र मुक्तिबोध आदि कई नये कवि आगे आ रहे है, जो कि मराठी के इस अनुर्वर प्रात को सवार रहे है। इनकी उज्ज्वल प्रतिभा का भविष्य अभी अनिर्णीत है।

२ नाटक

काव्य से जुडा हुआ साहित्य का दूसरा प्रधानाग है नाटक। सौभाग्य से मराठी का रगमच बहुत विकसित अवस्था में रहा है। हाल मे ही उसका शतसावत्सरिक उत्सव भी महाराष्ट्र में सर्वत्र मनाया गया। इस रगभूमि के विकास का श्रेय जैसे सफल अभिनेता, रसिक प्रेक्षक और उत्तम गायको को है, वैसे ही उच्च कोटि के नाटककारो को भी है। आधुनिक नाटक का आरभ वैसे ही पौराणिक ऐतिहासिक कथावस्तु को लेकर हुआ, जैसे अन्य भाषाओ में। सन् १८८२ के बाद पच्चीस वर्ष तक सगीत का रगमच पर बहुत विकास होता रहा। अण्णा किर्लोस्कर महाराष्ट्र मे रगभूमि को सर्वाधिक लोकप्रिय करने वाले नट-नाटककार के पश्चात् देवल को यह श्रेय देना चाहिए कि उन्होने नाटको को उनके प्राचीन केंचुल मे से बाहर निकाल कर खुली हवा में सामाजिक प्रश्नो की चर्चा मे सलग्न किया। वृद्धविवाह की प्रथा पर 'शारदा' नामक उनका नाटक बहुत ही लोकप्रिय रहा। श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने नाटको

में साहित्यिकता का सूत्रपात किया। आपके 'मूकनायक', 'प्रेमशोधन', 'मतिविकार' आदि नाटको ने अद्भुत रम्यता (रोमास) की नाटको मे अवतारणा की, परन्तु उनके नाटकों मे यथार्थ का निरूपण नही था। कृत्रिमता भी वहुत कुछ थी। कृष्णा जी प्रभाकर खाडिलकर ने 'कीचकवध' (जो सरकार द्वारा जब्त किया गया) से 'मेनका' तक अनेक पौराणिक-सामाजिक नाटक रचे, जिनमे 'मानापमान' (१९११ ई०) सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ। इतिहास अथवा पुराण की कथा लेकर उसे आधुनिक काल और समस्याओ पर घटित करने की खाडिलकर की शैली बहुत ही तीक्ष्ण और प्रभावशाली थी। माधव नारायण जोशी ने मराठी नाटको को सामाजिक यथार्थवाद सिखाया। परिहास के अवगुठन में तीव्र सामाजिक व्यग आपने लिखे, जिनमे सगीत विनोद, सगीत स्थानिक स्वराज्य अथवा म्युनिसिपै-लिटी और सगीत वह्राडचा पाटील बहुत प्रसिद्ध है।

नाटक के क्षेत्र में वैसे तो अनेकानेक प्रयोग हुए। शेक्सपीअर के अनुवादो (त्राटिका, झुझारराव) से लगा कर करेल कपेक की 'मदर' (आई) नाटिका और इब्सन 'डाल्स हाउस' (घरकुल) के अनुवादो तक कई चीजे यूरोपीय रगमच से मराठी मच ने ली। परन्तु प्रातीय भाषाओ मे से अन्य किसी भाषा के नाटक मराठी मे नही के बराबर अनुवादित हुए। हिंदी पर जिस प्रकार बगला की छाया स्पष्ट है, (डी० एल० राय की नाटको मे और शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय की उपन्यास में तथा रवीद्रनाथ की काव्य मे) मराठी मे वकिम, शरच्चन्द्र के अनुवाद तो हुए, परन्तु नाटको म कही भी बगाली का प्रभाव नही दिखाई देता। महायुद्धोत्तर मराठी नाटक के इतिहास मे तीन नामो का उल्लेख प्रमुख रूप से करना होगा। गडकरी, वरेरकर, अत्रे। गडकरी एक प्रकार से हिंदी के 'प्रसाद' थे। दोनो की प्रतिभा का स्वरूप रोमेंटिक था। दोनो की शैली काव्यात्मक थी। अतर था तो इतना ही कि जहाँ 'प्रसाद' ने बौद्ध कालीन ऐतिहासिक वातावरण का विशेष आश्रय लिया, गडकरी ने सामाजिक प्रसगो की और समस्याओ की ही विशेष विवेचना की। 'प्रेम सन्यास' मे विधवा विवाह का, 'पुण्यप्रभाव' मे सतीत्व के प्रताप का, 'एकच प्याला' मे शराब और उसके दुष्प-रिणाम का चित्र गडकरी ने उपस्थित किया। गडकरी के बाद वैसे तो कई नाटककार हुए, जिन्होने मराठी रगमच को उर्वर बनाया और इसका समस्त श्रेय केवल नाटकलेखको को ही नही, अपितु नट, गायक और उस मनोरजन में सक्रिय योग देने वाली जनता को भी दिया जाना चाहिए। फिर भी बाल गधर्व (नारायणराव राजहस नामक अभिनेता को स्व० लोकमान्य तिलक ने इस पदवी से विभूषित किया था) और उनकी कपनी द्वारा खेले गये आधुनिक राजनैतिक आशय से भरे पौराणिक कथानको वाले नाटको को विशेष श्रेय है। वीर वामनराव जोशी और सावरकर, अच्युत बलवत कोल्हटकर और टिपनीस तथा स० अ० शुक्ल आदि के ओजस्वी ऐतिहासिक नाटको ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की। इस क्षेत्र में नवयुग उपस्थित करने का समस्त श्रेय भार्गवराम विट्ठल उर्फ मामा वरेरकर को है। आपने इब्सन की शैली को अपनाकर एक नई नारी-सृष्टि निर्मित की। राष्ट्रीय जागरण मे जो सहयोग स्त्रियो से मिला उसका श्रेय मामा की 'सफ्रेजेट' नाटिकाओ को है। आपने मिल-मजदूरो के प्रश्न, मठो के और बुवाशाही (यानी गुरुडम चलानेवाले महन्तो के) प्रश्न, अछूतोद्धार और खद्दर के प्रश्न अपने नाटको द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया। स्पष्टत प्रचार उनके नाटको की आत्मा बन गई। नाटिका (एकाकी) सप्रदाय मराठी मे आप ही की प्रेरणा से लोकप्रिय बना। आप समय के साथ प्रगतिशील हुए और अभी हाल में 'सिगापुरातून' नामक नाटक में साम्यवादी विचारसरणि का भी उन्होने पोषण किया है।

जहाँ सामाजिक प्रश्नो की ओर रोमेंटिक और यथार्थवादी दृष्टिकोणो से गडकरी तथा वरेरकर ने मराठी रगमच को आकृष्ट किया, अत्रे ने एक बिलकुल नये ढग से (जिसे कुछ हद तक बर्नार्ड शा का ढग कहना चाहिए), प्रश्नो का परिहासात्मक पहलू उपस्थित किया। मा० ना० जोशी ने जो 'म्युन्सिपैलिटी' का घोर व्यग-चित्र अपने स्थानिक स्वराज्य में उपस्थित किया था, उसी को कुछ आगे बढाकर अत्रे ने अपने नाटको मे हास्य (परिस्थितिजन्य, शब्दजन्य तथा चरित्रजन्य), अतिरेक, समाजमीमासा, विचार प्रक्षोभन का एक विचित्र 'मिक्स्चर' मराठी मचपर प्रस्तुत किया, जिसे जनता ने वर्षों तक बहुत ही सराहा। 'साष्टाग नमस्कार' मे प्रत्येक पात्र एक-एक खब्त

(फ्रैंड) का पोषक है। उन खन्तो के 'उद्याचा ससार' मे वैवाहिक असतोष के 'लग्नाची वेडी' मे आधुनिक प्रेमविवाह के 'घरावाहेर' मे पुरानी नई गृह-व्यवस्था के सघर्ष के वहुत ही आकर्षक चित्र उपस्थित किये गये है। आचार्य अत्रे ने पैरोडियाँ लिखकर जो कमाल हासिल किया था, उसमें मचपर अपना 'अतिहसित' प्रदर्शित कर चार चाँद लगा दिये। वाद में वे सिनेमा के क्षेत्रो मे उतरे, वहाँ भी चमके, मगर इधर आकर नाट्यक्षेत्र से जैसे उन्होने सन्यास सा ले लिया है, जो दोनो मराठी नाटक के तथा अत्रे के हक मे ठीक नही हुआ। मराठी रगमच उनसे अभी भी वहुत अपेक्षा कर सकता है। आधुनिकतम प्रयोगो मे वर्तक अनत काणेकर, के० ना० काले का नाट्यमन्वतर-मडल, 'लिटिल थियेटर और इधर लोकनाट्य के जो नये सोवियत-पद्धति के प्रयोग चल रहे हैं, इन सभी सत्प्रयत्नो ने सिनेमा से पराजित रगभूमि को पुनरुज्जीवित और सप्राण वनाने मे योग दिया है।

नाटक के ही मिलसिले मे 'नाट्य-छटा' का भी उल्लेख गौरव से करना चाहिए, जो मराठी साहित्य की अपनी चीज़ है। स्व० 'दिवाकर' आदि लेखको ने इसे अपनाया। इसमे 'एकमुखी-भाषण' द्वारा सामाजिक विरोधो को स्पष्ट किया जाता है। एक प्रकार से यह शब्दो में लिखे हुए व्यग-चित्र ही समझिये। यद्यपि इस प्रकार के लेखन का चलन अव कम हो गया है तथापि यह एक अच्छा साहित्य-प्रकार है, जो हिंदी को भी अपनाना चाहिए।

३ उपन्यास—आख्यायिका आदि

मराठी उपन्यास का जन्म यात्रा-वृतान्तो मे मिलता है। मराठी का पहिला उपन्यास 'यमुनापर्यटन' (१८४१ ईस्वी के करीव) यद्यपि नाममात्र को सामाजिक है, तथापि उसकी रचना मनोरजनप्रधान ही अधिक है। अद्भुतरम्यता पर उनका अधिक ध्यान था। १८७० के करीव मराठी मे ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रथा चल पडी। फिर भी १८८५ के पश्चात् उल्लेखनीय उपन्यासकार हरिनारायण आप्टे है। हिंदी के प्रेमचद की ही भाति आपने मराठी मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ चित्र अकित किये। आदर्शोन्मुख यथार्थवाद उनका लक्ष्य था। दोनो को ही समाचार-पत्र की सी शैली में खडश लिखना पडा। अत दोनो की शैली मे कुछ अनावश्यक लम्वे और उवा देने वाले वर्णन मिलते है। आपकी प्रसिद्ध और ऐतिहासिक एव सामाजिक कादवरियो के नाम हैं—उष काल, सूर्योदय, सूर्यग्रहण, गडआलापण सिंह गेलामी, (यह चारो शिवा जी के राज्यकाल सवधी है) यशवतराव खरे, पण लक्षात कोण घेतो। नारायण हरि आप्टे नामक एक दूसरे उपन्यासकार ने भी इस युग में ऐसी उपन्यास आख्यायिकाएँ लिखी, जो कि आप्टे की शैली की अनुकृति पर कौटुविक जीवन से सवधित थी, किन्तु कम लोकप्रिय हुई।

उपन्यास के क्षेत्र मे दूसरा युग वामनमल्हार जोशी से आरम्भ होता है। आपने तीन-चार ही उपन्यास लिखे हैं, परन्तु सभी विचारप्रक्षोभक है। रागिणी, नलिनी, आश्रम-हरिणी, सुशीलेचा देव, इन्दुकाले और सरला भोले ये उनके मुख्य उपन्यास है। सव मे किसी दार्शनिक या नीतिशास्त्रीय समस्या की विवेचना प्रमुख है। डॉ० केतकर ने अपने उपन्यासो में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को प्राधान्य दिया और दोनो को ही मराठी के सामाजिक उपन्यास को विचार-क्षेत्र में आगे वढाने का श्रेय है। ऐतिहासिक उपन्यास इस काल मे भी नाथमाधव और हडप ने शिवाजी काल और पेशवाई को लेकर वहुत से लिखे और वे वहुत लोकप्रिय भी हुए। राखालदास वनर्जी के 'शशाक', 'करुणा', 'अग्निवर्षा' आदि के अनुवाद इसी काल मे हुए। श्री० शहा ने सम्राट् अशोक और छत्रसाल नामक दो प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित किये, जिनका अनुवाद हिन्दी मे प्रेमी जी ने प्रकाशित किया है।

अव उपन्यास केवल आगे घटना-प्रधान या विचार-प्रधान न रह कर जन-जन के जीवन की आकाक्षाओ और स्वप्नो का प्रतिनिधि वन गया। आगे जिन पाँच उपन्यासकारो का विस्तारपूर्वक विचार होगा, वे इसी प्रकार के लोकप्रिय और साहित्य के नवोत्थान के प्रतिनिधि उपन्यास लेखक है ना० सी० फडके, वि० स० खाडेकर, पु० य० देशपाडे, ग०

ग्र० माडखोलकर, विभावरी शिरूरकर। फडके उच्चवर्ग के पात्रो को चुनते है। उनके आरम्भिक उपन्यास अधिकाश रोमेंटिक है। प्रेम का त्रिकोण विभिन्न रूपो में व्यक्त हुआ है। परन्तु वर्णन की शैली बहुत सजीव और यथार्थवादी होने के कारण और भाषा का प्रवाह बहुत ऋजु और प्रसन्न होने से—जादूगर, दौलत, अटकेपार, आदि उनके आरम्भिक उपन्यास बहुत ही जनप्रिय बने। 'निरजन' से आगे 'शाकुन्तल' तक फडके ने अपने सामाजिक उपन्यासो की पार्श्वभूमि के रूप मे राजनैतिक आन्दोलनो और पक्षो की मतावलियो को लिया, यथा 'निरजन' और 'आशा' मे सन् ३० का सत्याग्रह, 'प्रतिज्ञा' मे राष्ट्रीय स्वयसेवक-सघ और हिन्दुत्वनिष्ठ राजकारण, 'समरभूमि' और 'उद्धार' में समाजवाद और साम्यवाद, शाकुन्तल मे ४२ का आन्दोलन, 'माझाधर्म' मे हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की समस्या। प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध मे आचार्य जावडकर से जो उनका लेखरूप लम्बा विवाद हुआ है, उसमे वे 'कला के लिए कला' वाले अपने पुराने उसूल से कुछ बदले हुए जान पडते है। फिर भी आनन्द-प्राधान्य उनकी रचनाओ मे मिलता है। इनसे बिलकुल उलटे वि० स० खाडेकर 'जीवन के लिए कला' मान कर चले। 'हृदयाची हाक', 'काचनमृग', 'दोनध्रुव' तक उनकी रचनाओ मे कोकण की प्राकृतिक पार्श्वभूमि पर काव्यमयी भाषा-शैली मे कृत्रिम कथानक-रचना मिलती है। परन्तु 'दोनध्रुव' के बाद 'उल्का' (जो उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है), 'हिरवा चाफा', 'दोनमने', 'रिकामा देव्हारा', 'क्रौंचवध' तक उनकी शैली सहजरम्यता ग्रहण करती जाती है और गाधीवाद तथा समाजवाद के मनोहर मिश्रण का आदर्श उनके उपन्यासो मे स्थल-स्थल पर व्यक्त हुआ है। माडखोलकर ने 'मुक्तात्मा' से आरम्भ कर प्रगतिशील उपन्यासकारो मे अपना कदम रक्खा। तब से उनके नवीनतम उपन्यास 'डाकबगला' और 'चदनवाडी' तक वे रोमास और राजनीति का ऐसा मजेदार मिलन अपने उपन्यासो मे उपस्थित करते रहे है कि कही आलोचको ने उनकी 'दुहेरी जीवन', 'नागकन्या' आदि रचनाओ को अश्लील कहा है तो कही 'काता', 'मुखवटे' आदि को डा० खरे के पदत्याग के प्रकरण पर लिखी प्रचारात्मक चीजे। उनकी 'नवेससार' और 'प्रमद्वरा' ('४२ के आन्दोलन पर लिखी दीर्घकथा) सरकार द्वारा जब्त किये गये दो उपन्यास है। आरम्भ से ही क्रातिकारी नायको और क्रातिकारी आन्दोलनो का बहुत निकटतम चित्रण करते रहने के कारण उनकी शैली में सुन्दर भावोत्कटता है, यद्यपि वर्णन कही-कही यथार्थ से अति यथार्थ पर उतर आते है। पु० य० देशपाडे माडखोलकर की ही भाँति नागपुर के है, परन्तु उनकी रचनाओ मे सार्वजनीनता अधिक है। 'बंधनाच्या पलीकडे'—नामक उनके विद्रोही उपन्यास ने एक समय महाराष्ट्र मे खलबली मचा दी थी। उत्तरोत्तर उनकी कला 'सुकलेले फूल' और 'सदाफुली' में बहुत ही विकसित होती गई। यद्यपि 'विशालजीवन', 'काली रानी' और 'नवे जग' मे कुछ दुरूहता उनकी शैली मे आ गई है और पहले का सा हलका फुलकापन जाकर वह भारी हो गई है, परन्तु मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-सूक्ष्मता-क्षमता भी उतनी ही बढती चली गई है। देशपाडे इस बात के दिशा-दर्शक है कि मराठी उपन्यास अब एक नई दिशा की ओर जा रहा है। वह खाडेकर के मानवतावाद और फडके-माडखोलकर के फैशनेबुल राजनैतिक उपन्यासो से अधिक गम्भीर वैचारिक क्षितिज की ओर बढ रहा है। जो कमाल पश्चिम मे काफ्का (पोलड का प्रतीकवादी उपन्यासकार) या अल्डस हक्स्ले, लारेंस या वूल्फ ने कर दिखाया—वह धीरे-धीरे पु० य० देशपाडे मराठी में प्रतिष्ठित करना चाह रहे है। इस दृष्टि से, विभावरी शिरूरकर नामक उपनाम के बुर्के मे छिपी, परन्तु आठ-दस वर्ष पूर्व मराठी-कथाक्षेत्र मे स्त्री का दृष्टि-कोण बहुत स्पष्टता और बुलदगी से व्यक्त करने वाली महिला के दो उपन्यास 'हिन्दोल्यावर', और 'विरलेले स्वप्न' उल्लेखनीय है। टूटती हुई कुटुम्ब-व्यवस्था के वे बहुत अच्छे चित्र है।

यहाँ अधिक विस्तार से उपन्यास पर लिखा नही जा सकता, परन्तु इस दिशा में मामा वरेरकर, गीता साने और कृष्णाबाई मोटे द्वारा चित्रित की हुई नई नारी, विद्रोही नायिका का चित्र भुलाया नही जा सकता। साने गुरु जी ने बच्चो के विकासशील मन पर 'श्याम', 'श्यामूकी माँ', भारतीय सस्कृति सम्बन्धी 'आस्तिक' और 'क्राति', 'पुनर्जन्म' आदि राष्ट्रीयता-प्रचारक बहुत लोकप्रिय उपन्यास लिखे है। श्री० दिघे ने महाराष्ट्र के ग्रामजीवन के सुन्दर चित्र 'पाणकला' और 'सराई' मे उपस्थित किये है। मर्ढेकर, माधवमनोहर, रघुवीर सामत और श० वा० शास्त्री

ने इस दिशा में बहुत अच्छे मनोवैज्ञानिक उपन्यासो के प्रयोग किये है। यह विभाग मराठी के आधुनिक साहित्य मे सर्वाधिक परिपुष्ट है। इस सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक चर्चा मैने 'हस' (१९३५) मे 'तीन मराठी उपन्यासकार' और 'साहित्य-सन्देश' के उपन्यास-विशेषाक मे 'मराठी के राजनैतिक उपन्यास' तथा 'औपन्यासिक मनोवैज्ञानिकता के प्रथम लेखक में की है।

आख्यायिका के क्षेत्र मे पूर्वोक्त सभी उपन्यासकारो ने (पु० य० देशपाडे का अपवाद छोड कर) अपनी लेखनी सफलतापूर्वक चलाई है। इस क्षेत्र में अगणित लेखक आधुनिक काल मे प्रसिद्ध है। फिर भी कुछ प्रमुख लघुकथा-लेखको के नाम यहाँ देना अनुचित न होगा वि० सी० गुर्जर, दिवाकर कृष्ण, प्र० श्री० कोल्हटकर, कुमार रघुवीर, वोकील, दौंडकर, लक्ष्मणराव सर देसाई, मुक्तावाई लेले, य० गो० जोशी, वामन चोरघडे, ठोकल, अनन्त काणेकर शामराव ओक आदि। आख्यायिका के विषय और तत्र (टेकनीक) में भी पर्याप्त सुधार और प्रगति होती गई। वि० स० खाडेकर ने 'रूपक-कथा' नामक खलील जिब्रान और ईसप के दृष्टान्तो जैसी काव्यमयी छोटी-छोटी कथाएँ बहु-प्रचलित की। उसी प्रकार से लघुतम कथाएँ भी बहुत सी लिखी गई, जिनमें व्यग को प्रधानता दी गई है। चरित्रप्रधान, वातावरणप्रधान कहानियाँ घटनाप्रधान कहानियो से अधिक प्रचलित है। छोटी-छोटी कहानियाँ, जिनमें मोपासा की भाँति मानव-प्रकृति के कुछ वर्णित स्थलो का अकन हो या ओ० हेनरी की भाँति सहसापरिवर्ती अन्त से कोई चमत्कार घटित हो, या रूसी कथाकारो की भाँति वास्तविक जीवन की विषमता का कटु-कठोर चित्रण हो—मराठी मे अधिक प्रचलित है। इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए सरस्वती-प्रेस से प्रकाशित गल्पससारमाला के मराठीविभाग की भूमिका पठनीय है।

यहाँ तक सक्षेप मे मैंने ढाई करोड मराठी-भाषियो के साहित्य के विकास और विस्तार की गत पाँच-छ शताब्दियो की कहानी प्रस्तुत की है। मेरा उद्देश्य मुख्यत मराठी न जानने वालो को मराठी साहित्य की बहुविध प्रगति से परिचित कराना मात्र है। अत कई स्थलो पर अधिक सूक्ष्म विवरण चाह कर भी नही दे पाया। स्थल-मर्यादा का ध्यान रखने से मोटी-मोटी रेखाओ मे स्थूल चित्र से ही सन्तोष मान लिया है। नागरी-प्रचारिणी-सभा के अर्द्ध-शताब्दी महोत्सव के प्रसग पर गत पचास वर्षों का मराठी-साहित्य का विस्तारपूर्वक इतिहास मैंने सभा की आज्ञा से लिखा था। वह अभी अप्रकाशित रूप मे सभा के पास है। यदि अवसर मिला तो हिन्दी, बगला, गुजराती और मराठी साहित्य का तुलनात्मक इतिहास पुस्तक रूप मे हिन्दी-भाषियो के लिए लिखने की मेरी इच्छा है।

उज्जैन]
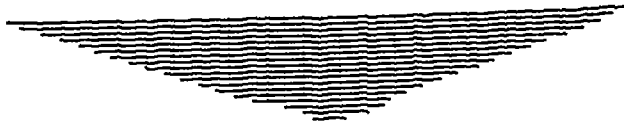
मराठी में जैन-साहित्य और साहित्यिक

श्री रावजी नेमचद शहा

१—आदि तीर्थंकर का आदिधर्म

जैनधर्म सबसे उपेक्षित धर्म है। जैनदर्शन, सस्कृति और इतिहास के सम्बन्ध में भयानक गलतफहमियाँ जनता मे फैली हुई है। प्रख्यात विद्वान तक इस धर्म के सम्बन्ध में कई प्रकार के कुतर्क करते दिखाई देते है।

भगवज्जिनसेनकृत महापुराण मे—"युगादिपुरुष प्रोक्ता युगादौ प्रभविष्णव" जो है ऐसे वृषभदेव महाप्रतापी और महाप्रज्ञावान हुए है, ऐसा उल्लेख है। सर्वज्ञता जिससे प्राप्त हो ऐसा सन्मार्ग-रत्नत्रयपथ बतलाने वाले वीतरागी आद्य धर्मोपदेष्य ऋषभ तीर्थंकर ने तत्कालीन और बाद की जनता को सुसस्कृत जीवनपद्धति और जीवनदृष्टिकोण बताया। इसीसे 'आदिसुविधकर्तार', 'अर्हत्', 'आदिब्रह्म' आदि सार्थक नामाभिधानो से कवीद्र ने उनकी स्तुति की है।

मोहेनजोदडो मे प्राप्त पाँच हजार वर्ष पूर्व के अवशेषो मे ऋषभ तीर्थंकर के कायोत्सर्ग अवस्था की नग्न मूर्तियाँ निलिपित मिली है। उनपर ऋषभ के बोधचिह्न भी है। रा० ब० रामप्रसाद चन्दा के अनुसार ये मूर्तियाँ ऋषभतीर्थंकरो की ही है। औद्योगिक युग के वुद्धिप्रधान आचारादि धर्म का प्रारम्भ इसी प्रथम तीर्थंकर ने किया। इसी कारण इस कालखड को 'कृतयुग' नाम से पुकारा जाता है।

विद्यावारिधि बै० चपतराय जी का कथन है—"जैन कालगणना की दृष्टि से ऋषभ प्राचीनो मे प्राचीनतम है। किसी भी धर्म को व्यवस्थित रूप प्राप्त होने से भी पहले के काल में वे हो गये।" न्यायमूर्ति रानडेकर ने ऋषभदेव की प्राचीनता के सम्बन्ध मे कहा है—"ब्राह्मणधर्म-वैदिकमत-अस्तित्व मे आने से पूर्व जैनधर्म प्रचलित था, यह आजकल के ऐतिह्य सशोधन से निश्चित होता है। जैन प्रथम हिन्दुधर्मी थे। बाद में उन्होने उस धर्म को ग्रहण किया, यह कथन भ्रमपूर्ण है।"

मथुरा के पहाडो मे ऋषभमूर्ति, गुजरात, काठियावाड, मारवाड आदि प्रान्तो के मन्दिरो में प्राचीन काल की मूर्तियाँ और उन पर खुदे प्राचीन लेखो से उसी प्रकार जैन-अजैन वाड्मय के लेखन मे भी इस धर्म की प्राचीनता निष्पक्ष सत्यभक्त सशोधको को जँची है। सैकडो विश्वसनीय प्रमाणो से ऋषभदेव ही जैनधर्म के इस काल के प्रथम सस्थापक थे, ऐसा दिखाई देता है। नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और अन्तिम चौबीसवे महावीर आदि ने आदितीर्थंकर ऋषभप्रणीत जिनधर्म का ही प्रसार किया।

२—जैनदर्शन की विशेषताएँ

विश्व के विभिन्न राष्ट्रो और समाजो की सस्कृतियाँ ज्ञानोपासना तथा ज्ञानसवर्धन की कसौटी पर ही परखी जाती है, यह निर्विवाद सत्य है। उस कसौटी पर कसने से बुद्धि-प्रधान जैनदर्शन हमें वैज्ञानिक जान पडता है। पूर्व सूरियो ने आत्मानात्मविचार—जीव-अजीव सृष्टि का ऐसा गहरा तर्कपूर्ण विवेचन किया है कि आज के वैज्ञानिक सशोधन की कसौटी पर भी वह पूर्णत खरा उतरता है। परमात्मपदप्राप्ति ही मानव का उच्चतम अन्तिम साध्य है। यदि आत्मा बहिरात्मावृत्ति छोड कर अन्तरात्मा का ज्ञान प्राप्त करे तो इस साध्य को उपलब्ध कर सकता है। डॉ० प० ल० वैद्य के शब्दो मे—"हेय, उपाय और उपेय इन तीन प्रकारो से आत्मस्वरूप का विवेचन पूज्यपाद के समाधिशतक में जितनी सुन्दरता से हुआ है उतना शायद ही अन्यत्र मिल सके। डॉ० एस० के० दे तथा प० नाथूराम

जी प्रेमी ने भी यही अभिप्राय भिन्न शब्दों में व्यक्त किया है। प्रबुद्धात्मा ही सर्वज्ञता प्राप्त कर सकती है। सर्वज्ञता से अधिक श्रेष्ठ, मंगलदायक और आनन्द पद पर दूसरी कौन सी वस्तु है? इसी सर्वज्ञता के कारण तुष्टि, पुष्टि तथा शान्ति का लाभ सब कर सकते हैं। इस पृथ्वी पर दैवी सम्पदा का साम्राज्य अवतरित होकर, उच्चतम ज्ञानानन्द तथा कलाविलास में निमग्न होकर अलौकिक अनिर्वचनीय सात्त्विक आनन्द में सब सहभागी हो सकेंगे। इस कारण ज्ञान की महत्ता का जैनदार्शनिकों ने मुक्तकंठ से वर्णन किया है। जो आत्मतत्त्व 'बोधरूपम्' है वही आनन्द-दायक है, वही ज्ञानमय और मोक्षदायक भी है। ऐसे स्वाभाविक ज्ञानस्वभाव में तन्मय होना ही परमात्मपद है। अमितगति आचार्य कहते हैं—"ज्ञान विना नास्त्यहितान्निवृत्ति स्ततः प्रवृत्तिर्न हिते जनानाम्।" ज्ञान की महत्ता का वर्णन करने वाले ज्ञानार्णव जैसे सैकड़ों ग्रन्थ जैन मुनियों ने लिखे हैं।

आत्मा की अमरता भी विवेकवादी के दृष्टिकोण से न्यायशास्त्र के अनुसार जैनाचार्यों ने अपने सिद्धान्त तथा पौराणिक ग्रन्थों में सप्रमाण सिद्ध की है। सम्पूर्ण प्राणीमात्र का कल्याण करना ही जैनधर्म है और उसीके लिए तीर्थंकरों ने तथा आचार्यों ने अपना जीवन बिताया। उन्होंने आत्मतत्त्व पहचान कर उससे तन्मय होने का तथा श्रेय-अभ्युदय के मार्ग से मोक्ष की ओर जाने का उपदेश दिया।

जैनधर्म की सबसे बड़ी विशेषता है चारों पुरुषार्थों की सिद्धि। इस सिद्धि का उपाय मनुष्यों के हाथ में है। अपनी दुष्कृति का, क्रियाशून्यता का फल स्वयं हमें ही भोगना चाहिए। उसका दोष भी पूर्णतः हमें ही है। भगवन्त पर या भाग्य पर दोष मढ़ना जैनधर्म सम्मत नहीं। पूजा की मिथ्या टीमटाम इस धर्म ने नहीं रची। नदी, बरगद, तुलसी, नाग आदि की पूजा करना धर्म का परिहास करना है। यह सब मिथ्यापूजा है—यही इस उदारधर्म ने प्रतिपादित किया। मानताएँ लेना स्वार्थपूर्ण तथा निर्बोध व्यक्तियों का मार्ग है, यही इस धर्म ने सिद्ध किया। भाग्य को कोसने की वृत्ति दुर्बलता की द्योतक है। इससे आत्मबल तो नहीं बढ़ता, उलटे आलस्यादि दुर्गुणों को महत्त्व मिलता है—यही उपदेश इस धर्म ने किया है। इस धर्म में सृष्टिकर्तृत्व ईश्वर को नहीं दिया गया। इसी कारण ईश्वर की दशा अनुकम्पनीय और हास्यास्पद नहीं हुई और उसकी सर्वशक्तिमत्ता अबाधित रही।

जैनधर्म का प्रमुख सिद्धान्त है—अनेकांत। प्रो० हर्मन जैकोबी के अनुसार—"The Jainas believe the स्याद्वाद to be the key to the solution of all metaphysical questions" अर्थात्—"जैनों का विश्वास है कि स्याद्वाद समस्त आध्यात्मिक प्रश्नों के समाधान की कुंजी है।" महान वैज्ञानिक आइन्स्टाइन का सापेक्षतावाद इसी स्याद्वाद की भाँति है। डॉ० भाडारकर जैसे विख्यात पंडित ने आक्षेप किया है कि शंकराचार्य ने स्याद्वाद पूरी तरह न समझ कर उसकी आलोचना की।

"Ahimsa is the fulfilment of life Killing the least is living the best" अर्थात्—"अहिंसा जीवन की परिपूर्णता है। जो जितनी कम हिंसा करेगा, उसका जीवन उतना ही उत्कृष्ट होगा।" इन दो सूत्रों से अहिंसा की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। अहिंसा से अमाप धैर्य उत्पन्न हो सकता है। जिसमें त्याग, धैर्य, पराक्रम, संयम ये गुण हों, वही सच्चा महावीर है। जैनसंस्कृति ने ऐसे वीर और वीरांगनाएँ उत्पन्न की हैं। सत्य-क्षमा आदि दश धर्मों का विवेचन सद्भावनापोषक है। वह मनुष्यता निर्मित करने वाला है। कर्मसिद्धांत सम्बन्धी जो विवेचन जैनागमों में मिलता है, वह किसी भी सत्यभक्त को जँचेगा ही। सम्पत्ति के असमान बँटवारे के विरोध में परिग्रह प्रमाण का मन्त्र बता कर एक ओर टॉल्स्टॉयमत और दूसरी ओर समाजसत्तावाद के सारतत्त्वों को इस धर्म में कुछ अंशों में मान्यता दी गई है।

३—प्राचीन जैन-साहित्य

डॉ० प० ल० वैद्य के कथनानुसार—"प्राचीन जैन साहित्य गुणसंभार तथा संख्या-समृद्धि की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैनधर्म-संस्कृति तथा जागतिक ज्ञानवृद्धि के हेतु से इस प्राचीन साहित्य का प्रकाशन कर उसे सबके

लिये उपलब्ध करा देना आवश्यक है।" इसी प्रकार के विधान अन्य प्राच्य-पाश्चात्य सशोधको ने किये है। प्रो० हीरालाल कापडिया ने जैन ग्रन्थ-सूची के बारह भाग सम्पादित किये है। उसी प्रकार प्रो० वेलणकर ने 'जिन रत्नकोश' के दो भाग, लगभग सवा सौ स्थान के जैन-ग्रथ भाडारादि तथा जैन-अजैन पडितो की सहायता से १९४४ ईस्वी मे प्रकाशित किये। ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक विभाग मे—दर्शन, न्याय, व्याकरण, काव्य, वैद्यक, ज्योतिष, खगोल, भूगोल, नाटक, चम्पू, साहित्य, भौतिकविज्ञान आदि विषयो पर जैनसाहित्यिको के सहस्रविध ग्रन्थ मिलते है। ये सब रचनाए महावीरोत्तर काल की है। जैनो के अन्तिम तीर्थंकर की निर्वाणप्राप्ति के पश्चात् मानवी-बुद्धि की धारणाशक्ति दिन-ब-दिन कम होती गई। महावीर के प्रमुख शिष्य गौतमगणधर ने अगपूर्व ग्रन्थ की रचना की। उन्होने वह श्रुत-आगम सुधर्मस्वामी को सिखाया। यही सुधर्मस्वामी ग्यारह ग्रन्थो के रचयिता है। उनके पश्चात् अगपाठी मुनि हो गये। वीर निर्वाणकाल के पश्चात् करीब सात सौ बरस तक वाक्परम्परा और पाठान्तर से ही यह श्रुतज्ञान चिरस्थायी किया गया। इसके पश्चात् लेखनकला का उदय हुआ। गुरुपरम्परा से श्रवण किये हुए और मुखोद्गत धर्मशास्त्र महाकवियो ने पहले ताम्रपट, फिर भूर्ज-पत्र, ताडपत्र आदि पर, अन्त मे कई शतियो के बाद कागज पर लिखना आरम्भ किया।

श्री भूतवलि मुनि ने प्रथम षट्खडशास्त्रो की रचना की। यह रचना ज्येष्ठ शुक्ल पचमी को लिपिबद्ध की। तभी से इस शास्त्र की अवतारणा हुई। उसी दिन के उपलक्ष मे अभी भी श्रुत पचमी नामक ज्ञानोत्सव मनाया जाता है। उसके उपरान्त के काल खड मे जैनसाहित्य-आगम, दर्शन, काव्य, कथा आदि कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, समन्त-भद्र, अमृतचन्द्रसूरि, जिनसेन, गुणभद्र, पूज्यपाद, भट्ट अकलक से लगा कर पडित तोडरमल, आशाधर, गोपालदास तथा नाथूराम प्रेमी तक के सभी जैनसाहित्य धुरन्धरो ने रचा है। उपर्युक्त तालिका दिगम्बरपन्थीय लेखको की है। श्वेताम्बरियो मे भी स्थूलभद्र, कलिकालसर्वज्ञ, हेमचन्द्र, आत्माराम, शतावधानी महात्मा रायचन्द्र आदि दिग्गज वाग्वीरो ने चिरतन स्वरूप का अनमोल साहित्य रचा है।

४—मराठी में जैन-साहित्य

श्रवणबेलगुल के गोम्मटेश्वर की—बाहुबलि की—जगद्विख्यात मूर्ति के चरणकमलो के एक ओर शिल्पित जो प्रसिद्ध शिलालेख है, वह मराठी का आद्य शिलालेख है। इस विशाल मूर्ति की ऊँचाई ५७ फीट है। ऐसा शिल्पकार्य भारतवर्ष मे अन्यत्र नही मिलेगा। नागरी शिलालेख के पहले लेख मे—'श्री चामुडराजे करवियले' (अर्थात् श्री चामुडराज द्वारा बनाया गया) यही अक्षर है। इनमे केवल श्री ही दो फीट ऊँची है। लेख की ऊँचाई मूर्ति की ऊँचाई के अनुसार ही है। नागरी लिपि के दूसरे मराठी लेख मे—"श्री गगराजे सुत्ताले" (अर्थात् श्री गगराज ने इस मूर्ति का कटघरा बनाया) ऐसा उल्लेख है। इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना का और चामुडराय के शिलालेख का काल ९८३ ईस्वी है। वीरमार्तड चामुडराज तथा गगराज जैनधर्म के बडे प्रवर्त्तक तथा प्रभावक हो गये। इसी के नीचे द्राविडी शिलालेख मे इसी आशय का लेख कन्नड तथा तमिल भाषा मे भी खोदा गया है।

मराठी के जैनसाहित्यिको मे प्रथम बाल ब्रह्मचारी हिराचन्द अमोलिक फलटणकर नामक साधुवर्य का गौरवपूर्ण उल्लेख करना चाहिए। उन्ही के साथ ब्रह्मचारी महतिसागर तथा कवीन्द्रसेवक इन दो त्यागियो का उल्लेख करना पडता है। हिराचन्द जैनो के आद्यपुराणकार है। आपका 'जैन रामायण' नामक काव्यग्रन्थ प्रसाद-पूर्ण है। वह आबालवृद्ध में लोकप्रिय है। इस प्रतिभासम्पन्न पडित ने 'नलचरित्र' भी लिखा है। इसके सिवा अन्य फुटकर पद्यरचना द्वारा जैनियो की अन्धश्रद्धा तथा मूर्खताएँ नष्ट की है। तत्कालीन जैन समाज मे कुरूढियो का बोलबाला था। हिराबुवा ने अपनी पूरी आयु उन्हें दूर करने मे तथा सम्यग्ज्ञान का साहित्य द्वारा तथा प्रवचन द्वारा प्रचार करने में बिताई। उनके समग्र ग्रन्थो के तथा रामायणादि ग्रन्थो के पुनर्मुद्रण की आवश्यकता है। ब्र० महतिसागर के अभग उपदेशपूर्ण है। उनमे व्यावहारिक दृष्टान्त, उपमा इत्यादि होने से वे अत्यन्त

प्रभावपूर्ण और मनोरजक जान पडते है। यह अभग और महतिसागर का चरित श्री सखाराम नेमचद ने प्रकाशित किया है।

अब बीसवी सदी के आद्य जैन साहित्योद्धारक दानवीर हीराचन्द नेमचन्द के ग्रन्थो की चर्चा की जाती है। आपने जैनमाहित्य का मराठी तथा हिन्दी भाषा में प्रसार करने के लिए १८८५ ईस्वी में 'जैनबोधक' नामक मासिक चलाया। उसके द्वारा जैनागमो का मराठी में सुबोध अनुवाद कर जैनधर्म का प्रसार किया जाय, ऐसा भी सचालको का हेतु था। धार्मिक ग्रन्थ छापने का विरोध कर तत्कालीन जैनपडितो ने जैनमाहित्य की बड़ी हानि की है। इस विरोध की परवा न कर, बम्बई के प्रसिद्ध सेठ माणिकचन्द पानाचन्द तथा हीराचन्द नेमचन्द ने जो वैचारिक सुधार किया, उसी का फल यह है कि मराठी तथा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ मे जैनसाहित्य विशाल परिमाण में प्रकाशित हो रहा है। हिराचन्द ने समन्तभद्राचार्यकृत 'रत्नकरडश्रावकाचार' का मराठी में सुबोध यथातथ्य अनुवाद किया। इसमें १५० श्लोक है। उन पर प० सदासुखदास की हिन्दी विवेचनात्मक टीका भी है। इसीमे श्रावकाचार भी दिये है। इस ग्रथ को जैनियो मे बहुत मान्यता दी जाती है। इस ग्रथ से धर्म तथा नीतिशास्त्र के मुख्य-मुख्य तत्त्वो का ज्ञान होकर सद्भावनाओ का सचार होता है। आचार्य के श्रावकाचार का अनुवाद मराठी में कर उन्होने मराठी-कवियो पर बडा उपकार किया है। 'षोडशकारणभावना' नामक अनुवाद भी उपदेशयुक्त बना है। इसके सिवा पार्श्वनाथचरित्र तथा महावीरचरित्र नामक दो छोटे-छोटे चरित्र भी लिखे है। उनमें तत्कालीन तीर्थकरो की पूर्वभवावलि दी है। उसी से पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता आदि के सम्बन्ध में सदेह दूर होते है। यह चरित्र सशोधनात्मक, अद्यतन जानकारी का अन्वेषण कर नवीन पद्धति से तथा स्वतन्त्र रीति से सागोपाग अध्ययन के उपरान्त लिखे गये होते तो अधिक उत्तम होता। 'भट्टारक चर्चा' नामक निबन्ध म जैनजगद्गुरु भट्टारक निरिच्छ तथा विद्वान हो यह आगम-सम्मत होने पर आजकल के बहुत से भट्टारक लोभीवृत्ति के स्वार्थ से लिप्त होते है—अत उन्हे धर्मगुरु न माना जाय इस प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। 'पात्रदान तथा नवविधाभक्ति' नामक लघुनिबन्ध भी उन्होने लिखा है। वे तेरापन्थी थे। 'क्या वेश्यानृत्य मे तेरापन्थी मे बाधा होगी ?' नामक निबन्ध में अपने अनुभव और विचारो का सार ग्रथित किया है। 'अहिंसापरमोधर्म' नामक निबन्ध तथा अन्य धर्म-ग्रन्थ भी उन्होने मराठी के ही समान हिन्दी तथा गुजराती मे अनूदित कर प्रकाशित किये। उनके 'जैनकथासग्रह' (१९०७ ईस्वी) मे २४ पौराणिक कथाएँ है। यह ग्रन्थ विश्व के कथासाहित्य मे स्थान पा सकता है। जैनकथा-साहित्य कितना ऊँचा है, इस सम्बन्ध मे डॉ० जान हर्टले जैसे जर्मन सशोधक कहते है—"सर्वसुगम, स्वाभाविक तथा चित्ताकर्षक पद्धति से कथानिवेदन करने का गुण जैनग्रन्थकारो में मुख्यत प्राप्त होता है।" सेठ जी ने जैनकथाओ का अनुवाद लालित्यपूर्ण रीति से किया है। 'जैनधर्म-परिचय' नामक सन् १९०१ में दिया हुआ व्याख्यान पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ है, जिसकी हिन्दी, गुजराती, अग्रेज़ी आवृत्तियाँ हुई है। शासनदेवतापूजन, पापपुण्य के कारण, निर्माल्यचर्चा आदि अन्य निबन्ध आपने लिखे है।

उनके सच्छिष्य प० कल्लप्पा निटवे द्वारा अनुवादित भगवज्जिनसेनाचार्य कृत 'महापुराण-आदिपुराण' एक बहुत मूल्यवान ग्रथ है। निटवे जी का सस्कृत प्राकृत भाषा पर अधिकार, काव्यमर्मज्ञता तथा भाषान्तरपटुता उनके सुन्दर मराठी अनुवाद मे दिखाई देती है। भाडारकर की सशोधन सस्था द्वारा जैसे महाभारत की विवेचना-पूर्ण आवृत्ति प्रकाशित हो रही है, जैन आदि पुराण की भी वैसी आवृत्ति यदि निकल सके तो बहुत अच्छा हो। इसी आदिपुराण की 'महापुराणामृत' नामक सक्षिप्त स्वतत्र रचना प्रस्तुत लेखक ने प्रकाशित की है। निटवे जी ने उपदेशरत्नमाला, देवागमस्तोत्र, आप्तमीमासा, प० आशाधरकृत सागारधर्मामृत, पचास्तिकाय, समयसार, प्रश्नोत्तर माणिक्यमाला, सम्यक्त्व कौमुदी, जैनधर्मामृतसार, कुदकुदाचार्य कृत रयणसार, अमितगति श्रावकाचार, जीवधरचरित्र (क्षत्र चूडामणि ग्रथ का अनुवाद) आदि अनेक ग्रथो के मराठी अनुवाद प्रस्तुत किये है। इन ग्रथो में से अनेको में जैनसिद्धान्त, आचारधर्म, आत्मानात्मविचार, सृष्टिकर्तृत्व की अत्यत तर्कयुक्त मीमासा व विवेचना मिलती है।

जीवनराज गौतमचन्द दोशी का साहित्य उल्लेखनीय है। भगवद्गीता के समान महत्वपूर्ण श्री उमास्वामी कृत 'तत्त्वार्थसूत्र' अथवा 'मोक्षशास्त्र' नामक दशाध्यायी सस्कृत ग्रथ का मराठी मे प्रसन्न शैली में उत्तम अनुवाद आपने किया है। महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारजा की ककुबाई ग्रथमाला से इसी की अगली तीन आवृत्तियाँ प्रकाशित हुई है। इस ग्रथ का अग्रेजी अनुवाद बै० जुगमदरलाल और ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने किया है (सन् १९२०)। इसी ग्रथ का अनुवाद और टीका जर्मन भाषा मे हरमन जैकोबी साहब ने की है। इस ग्रथ पर देवनदी उर्फ पूज्यपादाचार्य का सर्वार्थसिद्धि नामक टीकात्मक ग्रथ प० क० निटवे ने प्रकाशित किया है, जिसे बबई विश्वविद्यालय ने एम० ए० और बी० ए० के पाठ्यक्रम मे सन्निहित किया है। इसी जैन सिद्धान्तात्मक सूत्रमय ग्रथ पर विभिन्न चालीस आचार्यो ने टीकाएँ लिखी है। आचार्यवर्य गुणभद्र ने 'आत्मानुशासन' नामक मार्मिक अनुवाद प्रस्तुत किया है। इसमें काव्य और दर्शन का मधुर समन्वय हमे मिलता है। जिनसेन और गुणभद्र आदि कवीन्द्रो की योग्यता कालिदास के समान है। 'हरिवशपुराण' नामक ग्रथ का अनुवाद मराठी में कर जीवराजभाई ने पर्याप्त यश सपादन किया है। सस्कृत तथा मराठी दोनो भाषाओ पर अनुवादकर्ता का प्रभुत्व होने के कारण यह अनुवाद पढते समय मूलग्रथ का ही रसास्वाद पाठको को होता है। 'सार्वधर्म', 'जैन सिद्वात प्रवेशिका' भी प० गोपालदास के ग्रथो के अनुवाद है। इनमे से प्रथम मे जैन धर्म का विश्वकल्याणोपकारित्व तथा दूसरे मे जैनागम के पारिभाषिक शब्दो की यथार्थ व्याख्या दी गई है। इनके अनुवाद किये हुए 'सार्वधर्म' तथा बाज-पार्टील के 'भट्टारक' नामक निबध दक्षिण-महाराष्ट्र जैन सभा ने प्रकाशित किये है। ब्रह्मचारी जी की यह साहित्यसेवा उनकी साहित्यभक्ति के अनुरूप है। जिनवाणी प्रकाशन के लिए आपका किया हुआ त्याग अत्यत सराहनीय है। परतु आपके ब्रह्मचारी होने के पश्चात् आपकी साहित्यसेवा स्थगित हो गई, यह देखकर हम सभी साहित्यरसिको को खेद होता है।

धर्मवीर रावजी सखाराम दोशी ने जैनवाचनपाठमाला (भाग १-४) और कीर्तनोपयोगी आख्यानादिको का अनुवाद मराठी मे किया है। आपने सौ से अधिक सस्कृत ग्रथों को मराठी पहनावा दे कर प्रकाशित किया, यह बात आपके जैन साहित्य के प्रति अनुपम प्रेम को व्यक्त करती है। हीराचद नेमचद की विदुषी कन्या ककुबाई ने दशलाक्षणिक धर्म, समयसारकलश, तत्त्वसार, मृत्युमहोत्सव, सल्लेखना आदि ग्रथो का सरस तथा सुबोध मराठी अनुवाद कर आपने अपनी वैराग्यशील वृत्ति का परिचय दिया है। इन सभी ग्रथो में नीति, धर्म, त्याग तथा निवृत्तिमार्ग को प्रधानता देकर विवेचन किया गया है।

कविवर्य प० जिनदास के अनुवादित ग्रथ है—स्वयभूस्तोत्र, श्रीपात्र केसरीस्तोत्र, श्री शातिनाथपुराण, श्री वरागचरित्र, सुकुमारचरित, सावयधम्मदोहा, सारसमुच्चय, प्रभाचदाचार्य कृत दशभक्ति आदि।

श्री नानचद वालचद गाधी, उस्मानाबाद नामक विद्वान कवि ने द्रव्यसग्रह, श्रावकप्रतिक्रमण, रविवारव्रतकथा इत्यादि काव्य रचनाएँ की है। उनके बधु तथा प्रसिद्ध साहित्यिक श्री नेमचद वालचद वकील ने गोमटसार जैसे कर्म-सिद्धात का सूक्ष्म विवेचन करने वाले गहन ग्रथ का सुबोध अनुवाद कर जैन-अजैन पाठको को उपकृत किया है। आप ब्र० शीतलप्रसाद जी के शिष्य है। सात वर्षों की गुरुसेवा के पश्चात् आपने इन ग्रथो की रचना की। इन ग्रथो के अलावा "ईश्वर कुछ करता है क्या ?", गुणस्थान चर्चा, सुभाषितावली, सामयिक पाठ, सज्जनचित्तवलय, पद्मनदिपचविशत इत्यादि ग्रथो से आपके विस्तृत व्यापक अध्ययन का परिचय प्राप्त होता है। जैनेतिहाससार के भी वे ही सचालक है। उसमे आपके कई मार्मिक एव विद्वत्तापूर्ण लेख प्रकाशित हुए है। उस्मानाबाद के उत्साही तरुण जैन साहित्योद्धारक कवि श्रीमान् मोतीचद हीराचद गांधी उर्फ 'अज्ञात' की 'साधुशिक्षा' प्रथम कलात्मक काव्य रचना है। अनतर बृहत्कथा कोश, त्रिषष्ठिस्मृति, आत्मसिद्धि, सज्जनचित्तवलय, नामक साहित्य कृतियाँ आप ही की है। निरपेक्ष, उदात्त हेतु से किये गये आपके जिनवाणी प्रकाशन के लिए आपकी जितनी प्रशसा की जाय, थोडी ही है। आपका महावीर चरित्र के विषय मे साधार जानकारी एकत्र करने का कार्य चल रहा है। आपकी यह स्वतत्र रचना चरित्रग्रथो मे उच्च कोटि का स्थान ग्रहण करेगी। इस पुस्तक की भूमिकाएँ देशभक्त अण्णासाहब लट्ठे एम० ए० तथा

डॉ० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० ने लिखी है। जागतिक साहित्य में जिसे स्थान प्राप्त है ऐसे कुरल काव्य का सरस अनुवाद भी आपने मराठी में किया है। इस ग्रंथ की भूमिका में प्रो० चक्रवर्ती ने जैनधर्म की प्राचीनता दरसा कर अन्तिम तीर्थंकर वीरप्रभु से कुंदकुंदाचार्य तक का उद्बोधक, उज्ज्वल तथा प्रभावपूर्ण इतिहास वर्णित किया है। 'पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय' नामक ग्रंथ का मराठी अनुवाद कर इन्हीं 'अज्ञात' कवि ने मराठी काव्य साहित्य को बहुत बड़ी देन दी है। आर्यावृत्त में यह काव्य रचा गया है। इस पुस्तक की ३४ पृष्ठों की एक भूमिका अहिंसा माहात्म्य पर प्रस्तुत लेखक ने लिखी है।

श्री हीराचंद अमीचंद शहा ने जैन कथा साहित्य के सुमन चुनकर 'जैनकथा सुमनावली' नामक ग्रंथ लिखा है। पौराणिक कालीन सुसंस्कृत जैन समाज के कथा साहित्य का समाज-विज्ञान की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। आपकी दूसरी कलाकृति है 'यशोधर चरित्र'।

सुरस ग्रंथमाला नामक प्रसिद्ध लोकप्रिय प्रकाशन के कारण विख्यात श्री तात्याराव नेमिनाथ पागल ने गुण-भद्राचार्य कृत उत्तरपुराण पर अत्यंत परिश्रमपूर्वक दीर्घ अध्ययन से 'तीर्थंकरों के चरित्र' मराठी में लिखे हैं। इस ग्रंथ से जैन तथा अजैन समाज की प्राचीन संस्कृति पर बहुत प्रकाश पड़ा है। आपका सन् १९१३ में पूना की वसंत-व्याख्यानमाला में दिया हुआ जैन धर्म संबंधी व्याख्यान १९२१ में श्री दी० आ० बीडकर ने प्रकाशित किया है। सभा के अध्यक्ष 'आनंद' के संस्थापक वा० गो० आप्टे का भाषण तथा आप्टे के शंका समाधानार्थ श्री हिराचंद नेमिचंद द्वारा दिये हुए प्रत्युत्तर आदि सब इसी ग्रंथ में समाविष्ट हैं। आपने अपनी माला में जैनेतिहास पर कुछ पुस्तिकाएँ तथा कुछ उपन्यास भी लिखे। पागल जी के पिता भी अच्छे लेखक और कवि थे। आपकी रत्नत्रयमार्गप्रदीप, पद्मावली तथा अभंग आदि पुस्तकें लोकप्रिय हुई हैं।

सुरस ग्रंथमाला के कुछ उपन्यास श्री मोतिचंद गुलाबचंद व्होरा ने लिखे हैं। यहीं पर जैन साहित्यिकों में प्रमुखरूप से चमकने वाले प्रतिभासंपन्न उपन्यासकार श्री बालचंद नानाचंद शहा मोर्डीतिवकर का उल्लेख विशेष रूप से किया जाता है। आपके सम्राट् अशोक, छत्रसाल तथा उषा नामक उपन्यास प्रौढ-प्रांजल शैली के कारण तथा चित्ताकर्षक, सालंकृत भाषा के लिए प्रख्यात हैं। 'सम्राट् अशोक' उपन्यास एम० ए० मराठी के पाठ्यक्रम में दूसरी बार रखने समय निष्पक्ष, रसिक आलोचक प्रा० पगु ने इस उपन्यास की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। (इन उपन्यासों के अनुवाद प्रेमी जी ने हिंदी में उपलब्ध करा दिये—स०) तीन उपन्यास तथा 'प्रणयी युवराज' नामक एक नाटक लिखकर श्री शहा ने साहित्यसंन्यास क्यों ले लिया, यह एक ऐसी पहेली है, जिसका उत्तर समझ में नहीं आता।

यशस्वी पत्रकार के रूप में विख्यात श्री वालचंद रामचंद कोठारी का 'गीतारहस्य' पर आलोचनात्मक प्रबंध उल्लेखनीय है। इस छोटे से आलोचनात्मक निबंध में कोठारी की विवेचनात्मक और प्रखर बुद्धि का परिचय मिलता है। इनके अलावा 'धर्मामृतरसायन' नामक अनुवादित जैनधर्म संबंधी पुस्तिका में भी उनकी भाषापटुता के दर्शन होते हैं।

पं० नाना नाग ने तत्त्वार्थ सूत्रों का मराठी अनुवाद करके तथा पंच परमेष्ठी गुण जैसे बहुत सी उपयोगी पुस्तिकाएँ प्रकाशित करके जैनधर्म तथा जैन साहित्य के प्रति प्रेम व्यक्त किया है। उसी प्रकार श्री वालचंद कस्तुरचंद वारशिवकर ने अनेक जैनग्रंथ प्रकाशित किये हैं।

श्री कृष्णा जी नारायण जोशी ने धर्मपरीक्षा, द्रव्यसंग्रह, विक्रमकविकृत नेमिदूत काव्य तथा धर्मशर्माभ्युदय काव्य का मराठी अनुवाद कर जिनवाणी की सेवा की है। धर्मपरीक्षा में पुराणों की कुछ कथाएँ कैसी हास्यास्पद तथा अश्रद्धेय हैं, इस बात का बहुत मार्मिक विवेचन मिलता है।

पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भट्टारक नामक निबंध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर संशोधित करके परिश्रमपूर्वक लिखा है। उसका अनुवाद श्री वा० ज० पाटील ने किया है। कुंद-कुंदाचार्य कृत 'षट्पाहुड' केवल-चंद हिराचंद कोठारी बुबकर ने प्रकाशित किया। निस्वार्थी प्रकाशक श्री वालचंद कस्तुरचंद उस्मानाबाद ने उपर्युक्त कृ० ना० जोशी द्वारा अनुवादित ग्रंथ तथा आचार्य सकलकीर्तिकृत सुभाषितावली तथा मल्लिषेणाचार्यकृत

सज्जनचित्त वल्लभ और पद्मनंदिपंचविंशति मूल संस्कृत तथा मराठी अनुवाद सहित प्रकाशित किये हैं। भट्ट अकलंक विरचित रत्नत्रयसार का मराठी अनुवाद ब्र० सहदेवी ब्र० धर्मप्पा चाखाडे नामक लेखिका ने किया है। प० कालचद जिनदत्त उपाध्याय ने द्वादशानुप्रेक्षा अध्यात्म-विषय के उच्चकोटि के ग्रंथ 'परमात्म-प्रकाश' तथा कन्नड ग्रंथ भारतेशवैभव का अनुवाद करके मराठी को भूषित किया है।

'जैनधर्म की उदारता' नामक स्वतंत्र ग्रंथ की रचना, प्रख्यात कवि दत्तात्रेय रणदेव के सुपुत्र श्री प्रभाकर ने की और वह कर्मवीर वाला साहेब थावते सागली नामक धार्मिक उदारवी ने प्रकाशित की। इस ग्रंथ में जैनागम के अनुसार जातिभेदादि कृत्रिम बंधन न मान कर पहिले कई विवाह हुए, उनके उदाहरण देकर जैन धर्म का दृष्टिकोण कैसा विशाल और समतावादी था इसका सुन्दर विवेचन किया गया है। कूपमडूकवृत्ति के पाठको पर इस ग्रंथ का बहुत अच्छा प्रभाव पडेगा।

श्री बदप्पा जिनप्पा हाडोले नामक प्रगतिशील वृत्ति के लेखक बै० चपतराय जी के 'जैनधर्म की प्राचीनता' नामक आंग्लभाषा के विद्वत्ताप्रचुर तथा ऐतिहासिक जानकारी से परिपूर्ण ग्रंथ का अनुवाद कर मराठी साहित्य को सज्जित किया है।

जैनो मे प्रसिद्ध इतिहास लेखक श्री वा० भु० पाटील है। आपने दक्षिण भारत, जैन और जैन धर्म का संक्षिप्त इतिहास (सन् १९३८) आदि ग्रंथ नवीन शैली मे लिखे है। ग्रंथ लेखक के गुरु और भूतपूर्व अर्थमंत्री श्री अण्णासाहब लठ्ठे ने अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका मे 'राजनीति, साहित्य, दर्शन आदि विषयो मे जैनधर्म ने क्या कार्य किया है, संस्कृत प्राकृत कन्नड, आदि भाषाओ मे जैनधर्मानुयायियो ने कितने बडे परिश्रम किये है, यह सब इस ग्रंथ को पढकर समझ मे आता है' ऐसा अभिमत दिया है। उपर्युक्त पुस्तक तथा भगवान महावीर का महावीरत्व' नामक प्रबंध उनके अध्ययन का साक्षी है। श्री पाटील का विस्तृत ज्ञान, सूक्ष्म अवलोकन स्वतंत्र विचारशैली तथा मननशील वृत्ति आदि गुण उनके ग्रंथ से स्पष्ट होते है। आजतक जैनो का इतिहास अजैन लेखको ने बहुत विकृत रूप मे जनता के सामने रक्खा है। उनके लिए उत्तर रूप मे पाटील का इतिहास बहुत उपयुक्त है। आपने समतभद्र के श्रावकाचार के आधार पर एक आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित किया है, वह भी बहुत लोकप्रिय हुआ है। उस ग्रंथ मे अनेक प्रचलित प्रश्नो तथा रूढियो पर पाडित्यपूर्ण तथा निर्भीक विवेचन मिलता है। इस ग्रंथ मे जैन धर्म की ग्राहकता, उदारता, स्पृश्यास्पृश्यता जाति, दया समता, बधुत्व आदि बातो का विचार किया गया है। विचार-पद्धति तुलनात्मक और सोपपत्तिक है।

प्रस्तुत लेखक ने भी निम्नलिखित रचनाएँ की है

(१) 'जैनधर्मादर्श' (सन् १९१०)।

(२) अमितगति आचार्य कृत सामायिक पाठ (मराठी अनुवाद) तथा अन्य दो सामायिक पाठो का सविस्तर अनुवाद।

(३) पूज्यपाद देवनन्दि कृत समाधिशतक (मराठी अनुवाद—प० प्रभाचद की टीका सहित) प्रथम आवृत्ति (१९११) तथा तीसरी आवृत्ति (१९३८)। दूसरी आवृत्ति मे डॉ० प० ल० वैद्य की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना है।

(४) श्री जिनसेनाचार्यकृत आदिपुराण के आधार पर स्वतंत्र रीति मे रचित 'महापुराणामृत।'

(५) भगवान जिनसेन तथा गुणभद्र के चरित्र। यह चरित्र प० नाथूराम प्रेमी के 'जैनहितैषी' में विद्वद्रत्नमाला नामक लेखो का अनुवाद है। इन दोनो ही चरित्रो में आत्मज्ञानी कवीद्र की दोनो कृतियो से उद्धरण देकर उनका विश्वसाहित्यिको में स्थान निर्धारित किया गया है।

(६) 'जैन धर्म पर अनाक्षिप्त विधान तथा उनका निरसन (१९३८)। इस ग्रंथ की भूमिका जैन इतिहासकार वा० भु० पाटील ने लिखी है।

(७) 'जैनदर्शन की तुलनात्मक विशेषताएँ'।

(८) "ऋषभदेव ही जैन धर्म के संस्थापक" (प्रबंध)। चंपतराय जी के अंग्रेजी ग्रंथ के आधार पर लिखा हुआ प्रबंध।

(९) "ओरियंटल लिटरेरी डाइजेस्ट मासिक का विहगमावलोकन", "महाकवि पुष्पदंत के अपभ्रंश भाषा के आदि पुराण ग्रंथ का परीक्षण", "अपभ्रंश भाषा के सुभाषित", "जैनधर्म तथा सुधारणा", "साहित्यक्षेत्र में सोलापुर प्रांत का कार्य", "भगवान महावीर की जनमान्यता", "विश्वोद्धारक तथा जैन धर्म संरक्षक महावीर" "चिंतामणराव वैद्य के जैनधर्म पर आक्षेप और उनका निरसन", "जैनधर्म—आस्तिक या नास्तिक ?" आदि स्फुट लेख।

इनके सिवा 'जैन धर्म का इतिहास' नामक ७०० पृष्ठों का ग्रंथ तथा 'महावीर और टाल्स्टाय' नामक ग्रंथ अप्रकाशित है।

श्री० ग० य० नाद्रे ने रा० स० दोशी तथा आचार्य शांति सागर के चरित्र प्रकाशित किये है। सन् १९३७ में श्री वीरग्रंथमाला नामक एक प्रसिद्ध संस्था जैनियो के ख्यातनामा कवि अप्पा साहेब भाऊ मगदुम 'वीरानुयायी' ने स्थापित की है। आजतक इस ग्रंथमाला से २० पुस्तकें प्रकाशित हुई है।

सौ० कांताबाई बालचंद जी० ए० ने 'श्रमण नारद' नामक कथा का अनुवाद प्रेमीजी की मराठी कथा से किया है। यह कथा 'सत्यवादी' मे १९३९ में मराठी में प्रकाशित हुई। अहमदाबाद के रामकृष्ण मिशन के उदार प्रकाशक श्री ठाकारे इसे जल्दी ही प्रकाशित करने वाले है।

जैनो की सुप्रसिद्ध कवयित्री सौ० सुलोचनाबाई भोकरे की 'जैन महाराष्ट्र लेखिका' तथा 'दक्षिण महाराष्ट्र जैन सभा का इतिहास' नामक दो पुस्तकें संदर्भ ग्रंथ के रूप मे उपयोगी है। आपकी कविताएँ प्रसादपूर्ण है। आपकी काव्यसंपत्ति की प्रशंसा साधुदास ने की है।

रा० मिसीकर नरेंद्रनाथ जयवंत की 'बालबोधिनी' तथा 'जैन सिद्धान्तप्रवेशिका' उसी प्रकार दा० बा० पाटील का 'तत्त्वार्थसूत्रप्रकाशिनी' नामक ग्रंथ कठिन विषय को सुगमता से समझाने वाले ग्रंथो के उत्तम उदाहरण है, दे० भ० अण्णा बाबा जो लट्ठे ने दो पुस्तकें अंग्रेजी में लिखी है—एक कै० शाहु छत्रपती, कोल्हापुर की जीवनी, दूसरी जैनिज्म।

कविवर्य तथा श्रेष्ठ उपन्यासकार कै० दत्तात्रय भिमाजी रणदिवे की साहित्यसेवा बृहत्महाराष्ट्र में विख्यात है। उन्होंने चार स्वतंत्र तथा बीस अनुवादित उपन्यास, दो प्रहसन, एक कीर्तन तथा बारह खंडकाव्य लिखे है। जिनमे से गजकुमार, चरितसुधार, निलीचरित्र, आर्यारत्नकरंडक, अभिनव काव्यमाला में श्री केळकर द्वारा संपादित होकर छपे हैं तथा कविता भाग १ उनके सुपुत्र प्रभाकर ने प्रकाशित किया है। दूसरा भाग भी वे जल्दी ही प्रकाशित करेंगे।

चाँदवड की महाराष्ट्र-जैन-साहित्य प्रकाशन समिति ने "भारतीय प्रभावी पुरुष" नामक चरित्रात्मक ग्रंथ मे श्रावक शांतिदास, हरिविजय जी सूरि तथा तेईसवे पार्श्वनाथ तीर्थकर की तीन जीवनियाँ सुन्दर शैली में प्रकाशित कर मराठी साहित्य मे नवीन योगदान किया है। र० दा० मेहता तथा शा० खे० शाह नामक दो उदीयमान लेखक भी महाराष्ट्र को जैन संस्कृति का परिचय करा रहे है।

कुन्थुसागर ग्रंथमाला मे (१) लघुबोधामृतसार (२) लघुज्ञानामृतसार तथा आचार्य कुन्थुसागर विरचित सुधर्मोपदेशामृतसार (प्रश्नोत्तर रूप में) संस्कृत से मराठी मे अनुवादित होकर प्रकाशित होने चाहिए।

काव्यप्रांगण में सोलापुर के माणिक तथा शांतिनाथ कटके नामक दो बंधुओ ने अच्छा नाम पाया है। उन्होंने मराठी मे जैनपूजन की पद्यात्मक पुस्तक प्रकाशित की है। यह पुस्तक भक्तो के उपयोग की है।

इस निबंध मे मराठी के जैन साहित्य तथा साहित्यकारो का परिचय वाङ्मयोद्यान मे इतस्तत विहार करने वाले भ्रमर की वृत्ति से किया गया है। यदि इसमें किन्ही बडे ग्रंथकारो का अथवा कलाकृतियो का नामनिर्देश रह गया हो तो उसके लिए वे क्षमा करें।

शोलापुर]

मराठी साहित्य में हास्य-रस

श्री के० ना० डागे एम० ए०

महाराष्ट्रीयो मे विनोद-बुद्धि विशेष रूप मे है। अग्रेजी साहित्य मे परिचित होने के बहुत पहिले से उनमें परिहास-वृत्ति जाग्रत थी। 'पहिले शिखर, फिर नीव' का वेदान्तपूर्ण विनोद व्यक्त करने वाला मन कवि एकनाथ, 'पहिले लोगे तभी दोगे क्या है भगवान' कहने वाले नामदेव और 'अच्छी भेट हुई—एक ठग से दूसरे ठग की' कहने वाला तुकाराम इसके उदाहरण हैं। मोरोपत ने अपनी 'केकावली' मे गाभीर्य छोडकर 'का ललता अललता' मे बच्चो की सी तुतलाहट ग्रहण की है। लोकगीतो मे गोपियो की हास्यपूर्ण उक्तियो मे, कीर्तनकारो के हास्यपूर्ण चुटकुलो में, लावनियाँ गाने वालो की प्रख्यात छेकापन्हुतियो मे, घर-घरमे पहेली-बुझौवल के रूप मे 'उखाणो' मे वह हास्य फैला हुआ है।

यदि मायाब्रह्म का विचार करने वाले वेदाभ्यासी जड गुरुजनो मे विनोदप्रियता इस सीमा तक है तो अग्रेजी साहित्य के सपर्क मे आते ही यह परिहासबुद्धि विशेष रूप से फूली-फली हो तो उसमें आश्चर्य क्या ? इस पीढी के पहिले की पीढी मे पूर्व अनुवादित हास्य पर ही विशेष ध्यान गया था। शेक्सपीयर और गोल्डस्मिथ के नाटक, बीरबल की कहानियाँ, उत्तर रामचरित-मृच्छकटिक आदि के अनुवाद बहु प्रचलित थे। इसके पश्चात् स्वतत्र प्रज्ञा के हास्य की रचनाएँ होने लगी—गडकरी के नाटक मे भुलक्कड 'गोकुल की गवाही' 'पण्भानिका का वादा' विदूषक मैत्रेय-शकारादि के श्लेषो से अबतक यानी अत्रे की प्रसिद्ध 'पैरोडी'—'धोबी, कब आओगे लौट !' या वामन मल्हार जोशी के काव्यशास्त्रविनोद तथा मामा वरेरकर के सुन्दर सवादो तक इस हास्य ने अनेक रूप धारण किये है। आज के हमारे समाजजीवन में तो इस विनोदप्रियता के दर्शन सर्वत्र होते है कहानियो मे, चित्रपटो मे, पत्र-पत्रिकाओ मे, चार महाराष्ट्रीयो की गप्पो की बैठक मे। सकट सहने की आदत, कष्टमय जीवन मे भी हँसमुख रहने का स्वभाव, ओजस्वी आशावाद, बुद्धिप्रधान जीवन मे आनन्द मानने की टेव, स्वस्थ शरीर और आलोचनात्मक वृत्ति आदि गुणो के विचित्र समन्वय के कारण महाराष्ट्र के हाड-मास मे हास्य भरा हुआ है। गवाह बनने वाले नापित गायको से लगाकर इतिहाससशोधन और साहित्यसम्मेलन जैसे गभीर प्रसगो तक हास्यप्रियता इनके जीवन मे रमी हुई है। जब दूसरे लोग जीवन की विषमताओ को बुरा-भला कहते हैं, उसके नाम से रोते हैं, महाराष्ट्रीय हँस-खेलकर उनको भुलाने का प्रयत्न करते है। यह उनकी स्वभाव-गत विशेषता है।

आधुनिक साहित्य में हास्ययुग का आरभ श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर के 'सुदामा के तदुल' से होता है। 'पानी के दुर्भिक्ष्य' में कोल्हटकर कहते हैं—"श्राद्ध के तर्पण मे पानी का मितव्यय होने लगा। शुद्धोदक का कार्य पूजन-विधि में केवल अक्षताओ से होने लगा। पानी पीते समय 'हाँ, पानी नही, जरा मदिरा पी रहा हूँ' ऐसे असत्यविधान करने लगे। पानी की दुकान खुलने लगी—उनमें जो प्रामाणिक थी वही शुद्ध पानी मिलता। अन्य दूकानो मे तो पानी में दूध मिलाकर दिया जाता"। कोल्हटकर के हास्य निबधो मे लोकभ्रमो का निरसन और सामाजिक रूढियो पर प्रहार मिलते हैं। उदाहरणार्थ विवाह में दहेज की प्रथा के सबध में वे कहते हैं—'महारानी विक्टोरिया की जीवनी जबसे मैंने पढी, उनकी अलौकिकता के विषय में मेरी श्रद्धा बढती ही चली गई। वह श्रद्धा यहाँ तक बढी कि मुझमे उनके चेहरे की मुद्राओ का सग्रह करने का शौक बहुत बढा। रानी साहिबा तो नही रही, कम से कम उनकी रौप्य प्रतिमाओ का वियोग न हो, इसी भावना से मैं अपने पुत्र के लिए दहेज स्वीकार करूँगा।' ज्योतिष सम्मेलन के अध्यक्षपद से दिये भाषणो में भी उन्होने अपनी विनोदप्रियता नहीं छोडी।

साहित्यसम्राट् न० चि० केलकर तो विनोद के अवतार हैं। आपने 'हास्यविनोदमीमासा' नामक समालोचनात्मक ग्रथ लिखा है। साथ ही कई सुन्दर निबधो मे अपनी परिहास-प्रियता का परिचय दिया है। अपने ही जीवन की घटनाएँ, मानो हँसते-खेलते हुए वे कह रहे हो—ऐसी सहज-मनोरम उनकी शैली है। 'विलायत की सफर' में वे कहते हैं—'हिमाच्छादित आल्पसपर्वत का शिखर ऐसा जान पडता है जैसे खिचडी पर गरी का चूर बिछा दिया है। इससे मुझे खिचडी खाने की इच्छा हुई है, ऐसा न समझे।' हाउस ऑफ कामन्स का वर्णन देते हुए वे लिखते हैं——'मन्त्रिमडल जहाँ बैठता है उस कोने में अधेरा था। जिस साम्राज्य पर सूर्य कभी अस्त नही होता उसका कारोबार ऐसे ही अँधेरे मे चलता है।' "गीता के बहुत बडे प्रेमी एक वकील गीताराव थे, जिन्हे दुख हुआ तो उसे वे 'विषादयोग' कहते, बीडी पीते हुए आरामकुर्सी पर पैर फैलाकर आँखे मूद कर पडे रहने को 'ध्यानयोग' कहते। जब कोई मुद्दई रुपये ला देता और वे उसे गिनते तो उसे 'साख्ययोग' कहते। हजामत करने बैठते तो उसे 'सन्यासयोग' कहते। 'कान्फिडेन्शियल' कोई बात आती तो उसे वे 'राजगुह्ययोग' कहते।"

गडकरी उर्फ 'बालकराम' ने तो अपने लेख, काव्य और नाटको मे हास्य को खूब बिखेरा है। ककण (एक नाटक का पात्र) याद किया हुआ भाषण कहता है कि 'तुम्हारे सौंदर्य का वर्णन हजार जिह्वावाला ब्रह्मा और चार मुँहवाला शेषनाग भी नही कर सकता। तुम्हारे नख भ्रमरो से, चरण प्रवाल से, गति कदलीस्तभ-सी और कटि हाथी के समान है। शायद कही कुछ भूल हो रही है।' उनका 'कवियो का कारखाना' और 'ठकीचे लग्न' बहुत प्रसिद्ध विनोदी निबध है।

औचित्य का पूरा ध्यान रखकर, साहित्य का पवित्र उद्देश्य न बिगाडते हुए उच्चकोटि का हास्य वा०म० जोशी के साहित्य मे मिलता है। उनके उपन्यासो में यह विनोद-बुद्धि सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर परिलक्षित होती है। 'ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' पर भय्यासाहब (एक पात्र जो कि डाक्टर है) कहते हैं—'मैने कई व्यक्तियो का हृद्देश आपरेशन के समय छुरी से काट कर बहुत बारीकी से देखा है, परन्तु वहाँ कही ईश्वर नामक चीज दिखाई नही दी।' 'रागिणी' नामक उपन्यास मे इस प्रकार के काव्यशास्त्रविनोद के कई सुन्दर प्रसग मिलते है। 'सुशीलेचा देव' में एक पात्र को लत है कि वह बारबार कहता है—'स्पेसर कहता है कि—।'

ऐसे अभिजात और अक्षर (क्लासिकल) विनोद का युग अब बीत गया। अब वह सर्वगामी, सर्वकल, सार्वत्रिक और सार्वजनीन बन गया है। पहिले जो शब्दनिष्ठ विनोद बहुत प्रचलित था, उसका स्थान अब प्रसगनिष्ठ और वातावरणनिष्ठ विनोद ने ले लिया है। कुएँ की भाति गहराई हास्य मे से चाहे कम हो गई हो, परतु सरोवर की भाति प्रसार उसमें बढा है। अब हास्य ने नाना प्रकार के आकार और रूप ग्रहण कर लिये हैं—उपहास, विडबन, उपरोध, व्यगचित्र, अतिशयोक्ति, व्याजोक्ति आदि। 'साधनानामनेकता' इस विभाग मे प्रत्यक्ष दिखाई देती है। प्रा० ना० सी० फडके कॉलेज-कुमार और कुमारियो के जीवन के चित्रकार तथा उसी वर्ग के प्रिय लेखक है। उनके उपन्यासो और सभापणो में भी यह सूक्ष्म हास्य-छटाएँ बिखरी हुई है। वि० स० खाडेकर का विनोद अधिकाश उपमारूपक दृष्टान्तो पर निर्भर है। 'उल्का' उपन्यास मे लडकी का नाम क्या रक्खा जाय इस सबध मे चर्चा चल रही है—

'तारा नाम क्यो नही रखते! एक चन्द्र का हाथ पकड कर भाग गई, दूसरी ने सुग्रीव से विवाह कर लिया।'

'परतु हरिश्चन्द्र की तारा तो पति के साथ स्वय भी क्रयित हुई।'

'तारा तो स्थिर रहने वाली है। अपनी लडकी कुछ आदोलनमयी होनी चाहिए।'

'तो उसे उल्का ही क्यो नही कहते!'

खाडेकर-साहित्य में इस प्रकार के श्लेष और हास्यपूर्ण सभाषण इतने अधिक है कि यह ऊपर का दृष्टात तो केवल सिंधु मे से बिंदु दिखाने के समान है। इस विनोद की गहन साहित्यिकता को और भी जनप्रिय बनाने का श्रेय है प्रि० अत्रे को। कई बार उनका विनोद श्लीलता की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। परतु मराठी साहित्य मे कविता की पैरोडी (विडबन) की प्रथा उन्होने अपने 'झेडूची फुले' से बढाई और उसके हास्य के कारण ही महाराष्ट्र

की रगभूमि आज जीवित अवस्था मे है। उनके हास्य के कुछ उदाहरण देखिये—'विवाह का शारदा-कानून जैसा विनोदी कानून और कोई नही होगा। गुनाह हो जाने के बाद यह कानून किसी रियासती पुलिस की भाति वहाँ अँग-डाइयाँ लेता हुआ जम्हाइयाँ भरते हुए आता है। बहुत बार आता भी नही। चार महीने चतुर्भुज होने के (जेल जाने के) बाद अगर चाहे तो आदमी एक अनजान लडकी से जनम भर के लिए चतुर्भुज (विवाहित) हो सकता है, तो इतना साहस कोई भी आर्यपुरुष करने के लिए उद्यत होगा!' 'कविजनो का क्या कहिये। उनकी कल्पनाशक्ति इतनी उर्वरा है कि उनमे से कोई तो हिमालय के शिखर पर बैठ कर भी 'एक प्लेट आइसक्रीम' खाने की इच्छा व्यक्त कर सकता है।' गडकरी की 'अरुण' नामक वीररस की उत्प्रेक्षाओ मे परिपूर्ण काव्य पर अत्रे ने एक हास्यरस की उत्प्रेक्षाओ से भरी पैरोडी लिखी है, वैसे ही माधव ज्यूलियन के 'तू' और 'मैं'!' की भी।

य० गो० जोशी के लिखे हुए 'इटर व्यू' (मुलाकातें) हास्य से भरे-पूरे है। वाल्टेयर का युग अब मराठी मे दूर नही। 'पुनर्भेट' नामक उनके कहानी-सग्रहो म 'जय मग्नेशिया' म एक देशभक्त शुद्ध स्वदेशी औषधि के पुरस्कार मे मग्नेशिया का भी कैसे बहिष्कार करता है, इसका वर्णन है, 'इतिहास के प्रश्नपत्र' मे आधुनिक शिक्षाप्रणाली पर बहुत गहरा व्यग है, 'ग्यानबा तुकाराम और टेकनीक' म आधुनिक लेखको की टेकनीक-प्रियता का परिहास है। ऐसे ही और भी कई उदाहरण मिल सकेंगे। स्वतत्र हास्यनिबध लिखने की परपरा क० लिमये, चि० वि० जोशी, शाम-राव ओक, वि० मा० दी० पटवर्धन आदि लेखको ने चलाई। ना० धो० ताम्हनकर का 'दाजी' अविस्मरणीय है। बाल-साहित्य और बोलपटो मे भी हास्यरस के दर्शन अब हमे पर्याप्त और प्रचुर मात्रा मे मिलने लगे है।

मन्दसौर]

मराठी का कोश-साहित्य

श्री प्रा० वा० ना० मुडी
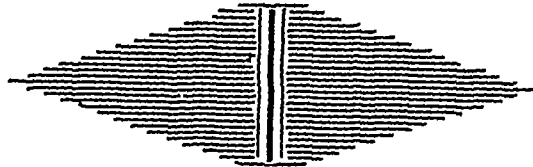
वैदिक वाड्मय के अध्ययनार्थ जैसे निघटु, वैसे ही होमर आदि के अध्ययन के लिए 'ग्लासरीज़' की रचनाएँ ईसा पूर्व ७००-८०० के आसपास हुई। कोश निर्माण की यह वृत्ति इतनी पुरानी है। केवल सस्कृत के ही कोश लें तो आफ्रेट की सूची के अनुसार तीन सौ से अधिक प्राचीन सस्कृत-कोश उपलब्ध है। कोश-निर्माण अत्यत कष्टमय और शुष्क कार्य है, तथापि साहित्य के रसास्वादन के लिए वह अत्यत उपादेय वस्तु है। साहित्य का वह एक प्रधान अग है। साहित्य को लोकगगा के प्रवल प्रवाह मे अक्षररूप मे टिकाये रखने का श्रेय सर्वांगत इन कोशो को है। यह मान भी लें कि पहिले मनुष्य फिर नियमन, पहिले नदी, फिर घाट, उसी प्रकार से पहिले भाषा फिर कोश का निर्माण होता है—तो भी उनका मूल्य कम नही किया जा सकता।

अमरकोशादि सस्कृत कोशो का आदर्श सामने रखकर मराठी के आरभिक कोश बने। 'महानुभाव' पथ के साहित्य का क्षेत्र अभी हाल मे ही खुला है और उसमे अभी सशोधन चल रहे है। महानुभावियो ने पद्य के समान गद्य मे भी वैद्यक-ज्योतिप-व्याकरण-स्मरणिका आदि ग्रथ लिखे थे। कुछ महानुभावो ने सकेतलिपि का बोध कराने वाले एक ग्रथ की रचना की। यही मराठी का प्राचीनतम कोश है। श्री राजवाडे ने ज्ञानेश्वर आदि सत कवियो को सहज-सुगम बनाने के लिए यादवकाल के कुछ कोश देखे। उन कोशो में और भी प्राचीन कोशो का उल्लेख है, ऐसा कहा जाता है। परतु ये सब कोश अभी तक अनुपलब्ध ही है। इस आरभिक कोशोल्लेख के पश्चात् शिवा जी के समय के 'राज्यव्यवहारकोश' तक कोई कोश नही मिलता। यह मध्यम-काल धार्मिकता और श्रद्धा का होने के कारण सभव है कि वैज्ञानिक विवेचन को सहायता देनेवाले कोश जैसे साहित्य की इस काल में आवश्यकता विशेष न रही हो। शिवाजी की राजव्यवहार कुशलवुद्धि को ऐसे एक कोश की आवश्यकता जान पडी होगी, परतु उनकी प्रेरणा से बने इस कोश के पश्चात् एक सदी तक कोई कोश नहीं बना। पेशवाई के अतिम दिनो मे अग्रेजी कोशो की प्रेरणा से कोशरचना आरभ हो गई। अग्रेजो ने पराजित राष्ट्र की सभी अच्छाइयो को आत्मसात् करने के हेतु भारतीय भाषा और सस्कृति का अध्ययन आरभ किया। मिशनरी इस कार्य मे सर्वप्रथम अग्रसर हुआ। कलकत्ता के पास सीरामपुर मिशन के 'शिलाप्रेस' पर मराठी का व्याकरण छापा गया। १८१० में मोडी लिपि मे मराठी-अग्रेजी कोश बनाया गया। प० विद्यानाथ अथवा वैजनाथ शर्मा नामक नागपुर के भोसले के कलकत्ता निवासी वकील ने इसे तैयार किया। आधुनिक मराठी साहित्य मे अग्रेजी के ससर्ग से निर्मित यह प्रथम कोश है। डॉ० विलियम केरी ने अपना धर्महित और देशहित चाहे साध्य किया हो, परतु मराठी भाषा उनकी ऋणी रहेगी। उनकी ही प्रेरणा से मुद्रित ग्रथों की सख्या मराठी मे बढने लगी। उपरोल्लिखित प्रथम कोश के १४ वर्ष बाद १८२४ ईस्वी में कर्नल केनेडी ने एक कोश बनाया। अभी भी कोश-निर्माण मे दृष्टि केवल सुविधा की ही थी। भारतीय महाराष्ट्रीय और आग्लमिशनरियो के बीच मे परस्पर व्यवहार कैसे अधिक सुगमता से हो सकेंगे, यही प्रधान उद्देश्य इन कोशो का था। सभव है कि शिवा जी काल और अग्रेजो के अभ्युदय-काल के बीच मे भी कुछ कोश बने हो, जो मराठी-फारसी, फारसी-मराठी, मराठी-पोर्चुगीज़, पोर्चुगीज-मराठी इत्यादि रूप मे हो और जो राजदरबारो मे दुभाषिये के काम आते रहे हो और उनकी ही सहायता से ये मुद्रित कोश बनते रहे हो। परतु इन कोशो को असतोषजनक मान कर ई० १८२९ मे पूर्णत भारतीय विद्वानो की समिति द्वारा निर्मित एक कोश रचा गया। इस समिति मे प० छत्रवे, फडके, जोशी, शुक्ल और परशराम पत गोडबोले प्रमुख थे। यह कोश पहले

के कोशो से आकार-गुणो में अधिक विस्तृत और उत्तम है। १८३१ में मोल्सवर्थ ने एक नवीन शब्दकोश बनाया, जो उसके पूर्व के सभी कोशो से अधिक वैज्ञानिक और शब्दो के चुनाव, सख्या, अर्थ आदि सभी दृष्टियो में बेहतर है। अभी भी मोलसवर्थ का यह कोश प्रमाणभूत माना जाता है। परिश्रमपूर्वक, विवेचकबुद्धि से वह बनाया गया था। मेजर क्याडी ने इसी कोश की दूसरी आवृत्ति मे वे दोष सुधार दिये, जो पहले सस्करण में रह गये थे।

इनके बाद के कोश इस प्रकार थे—गीर्वाण लघुकोश (ज० वि० ओक—१८३७), सस्कृत प्राकृत कोश (अनतशास्त्री तलेकर—१८५३, और माधव चन्द्रोबा—१८७०), हसकोश (र० भ० गोडबोले—१८५३), विग्रहकोश—धातुत्पत्तिकोश (ब० शा० म० गोपालशास्त्री घाटे—शिलाल्लिखित—१८६७), सस्कृत-महाराष्ट्र धातुकोश (विष्णु परशराम पडित—१८६५), बाबा पदम जी और वा० गो० आप्टे के कोश—१८६३, रत्नकोश—वा० भ० बीडकर—१८६६, नवीन किंवा सुपरकोश—र० भ० गोडबोले—१८७०, सस्कृत-प्राकृत कोश—ना० आ० गोडबोले—१८७२, आदि कोश निबधमाला युग तक लिखे गये।

इसके पश्चात् कोशसाहित्य के दृष्टिकोण में विचित्र परिवर्तन होने लगा। कोशनिर्माण की ओर जिस वैज्ञानिक दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति पाश्चात्यो ने प्रचलित की उसका ससर्ग इधर भी बढा। पहले की सकुचित दृष्टि दूर होकर उसे व्यापक रूप मिलने लगा। इस बात का प्रमाण जनार्दन हरी आठले और राव जी केशव सावारे का दुर्भाग्य से अधूरा पडा हुआ विश्वकोश है। पहिले लेखक के कोश का नाम विद्यामाला (१८७८) और दूसरे लेखक के कोश का नाम विद्याकल्पतरु है। लो० तिलक के एक सहाध्यायी माधवराव नाम जोशी ने भी एक विस्तृत कोशरचना का सूत्रपात किया था। वह प्रयत्न उनके असामयिक निधन से अपूर्ण रहा। शुद्ध मराठी कोश (वि० रा० बापट और वा० वि० पडित—१८९१) से केवल शब्दार्थ न देते हुए कुछ अधिक जानकारी देने का प्रयत्न होने लगा ये कोश है स्थल नामकोश (गो० वा० वैद्य और वा० व० भरकरे—१८९६), ऐतिहासिक स्थल सूची (गो० का० चांदारेकर), अपभ्रष्टशब्दचद्रिका (प्र० रा० पडित—१८७९), व्युत्पत्तिप्रदीप (गो० श० बापट—१९०८)।

अब कोश साहित्य के अन्य क्षेत्र भी खुलने लगे और भारतवर्ष के प्राचीन ऐतिहासिक चरित्रकोश (र० भा० गोडबोले), राजकोश (अ० सी० काकेले), वाक्यप्रचार और कहावतो का कोश (सोलकर, देशपाडे-तारलेकर, ऊर्ने, आपटे, वि० वा० भिडे), सख्यावाचक दुर्बोधशक कोश (रघुनाथ देवमी मुले) के साथ-साथ अन्य भाषाओ के कोश भी बनने लगे, यथा पोर्चुगीज-मराठी (सूर्याजी आनदराव राजादिक्ष दलवी), कन्नड-मराठी (ना० मो० खरे), बगाली-मराठी (वा० गो० आपटे), फारसी-मराठी (माधवराव पटवर्धन, आदा चांदोरकर), हिंदी-मराठी (न० त० कातगडे उर्फ मुडलिक और वैशपायन) 'ट्वेंटिएथ सेंचुरी' अग्रेजी-मराठी डिक्शनरी (श्री० रानडे), अमर-कोश का मराठी भाषातर। मराठी शब्द रत्नाकर (वा० गो० आपटे) और शब्दसिद्धिनिबध (आठवले, आगाशे) कोश साहित्य के प्रधान स्तभ माने गये है।

कोश-साहित्य की दृष्टि अब अधिक व्यापक होने लगी। ज्ञान की सीमाएँ ज्यो-ज्यो बढने लगी, इस ओर माँग भी बढती गई। डॉ० केतकर का महाराष्ट्र ज्ञानकोश इसी माँग की पूर्ति है। डॉ० केतकर के कोश की तुलना में भारतीय साहित्य की अन्य भाषाओ में विरले ही ग्रथ होगे। वि० च० भिडे का १७ खडो का शब्दकोश, सरस्वतीकोश, सिद्धेश्वरशास्त्री चित्राव का वैदिक साहित्य का अध्ययन सुलभ बनाने की दृष्टि से चरित्र-कोश, ग० र० मुजुमदार का व्यायाम-ज्ञानकोश—ग र भिडे का पाँच खडो मे 'व्यवहारज्ञानकोश', इनके अलावा वनस्पतिकोश, वैज्ञानिक शब्दकोश, समाजी शासन शब्दसग्रह, वाङ्मय सूची, पारिभाषिक शब्दकोश, रसकोश आदि कई अभिनव ग्रथ इस दिशा मे मिलते है। हाल में मानसशास्त्रशब्दकोश प्रा० वाडेकर ने प्रकाशित किया है। इस प्रकार से कोश साहित्य का महावृक्ष बहुत दूर-दूर तक फैलता जा रहा है।

ग्वालियर]

रासयुग के गुजराती-साहित्य की झलक

श्री केशवराम काशीराम शास्त्री

विक्रम की पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम पचीस वर्षों में गुर्जर भाषा के आदि-कवि का गौरव प्राप्त करने का सौभाग्य पाने वाले जूनागढ़ के नागर कवि नरसिंह मेहता ने अपनी ओर से एक विशिष्ट प्रकार की काव्यधारा प्रवाहित की। उससे पहिले गुजराती भाषा में कुछ भी साहित्य नहीं था, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। पिछले तीस-पैंतीस वर्षों में इस विषय में जो कुछ संशोधन हुए हैं, उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि भारतवर्ष में अन्य सहोदरा भाषाओं के साहित्य का जब तक प्रारंभ भी न हुआ था, गुजरात में भाषा बहुत संस्कार पा चुकी थी। गौर्जर अपभ्रंश के संरक्षक आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश का व्याकरण देते हुए हम जो लोकसाहित्य का परिचय दिया है उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इस भूमि में विपुल साहित्य का सृजन हो चुका था। संभवतः उस समय वह अस्त-व्यस्त रहा होगा। अपभ्रंश साहित्य तो बड़े परिमाण में ग्रंथों में आ गया था, पर उसमें केवल गुजराती भाषा ही प्रयुक्त हुई है, ऐसा कहने के लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण नहीं है। वह तो भारतवर्ष में ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी पर्यंत राष्ट्र-भाषा के रूप में स्वीकृत सामान्य अपभ्रंश के साहित्य का एक अंश है, ऐसा कहना अधिक उपयुक्त है। जब भोज के 'सरस्वती कंठाभरण' की रचना हुई तब हमें अपने साहित्य को असली रूप में देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गुजरात देश की भी अपनी निजी भाषा थी, इस बात के अभी तक प्राप्त प्रमाणों में प्राचीनतम प्रमाण यही ग्रंथ है। भोज का "अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः" (स० कं० २-१३) यह मधुर कटाक्ष यहाँ के लोकसाहित्य की अस्पष्ट स्मृति कराता है, यद्यपि भोज के उल्लिखित उदाहरणों में हम प्रान्तीय भेद को स्पष्ट करने के लिए कुछ भी नहीं मिलता। इस प्रकार का लाभ तो हमें सर्वप्रथम आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा ही मिला। अपभ्रंश का व्याकरण देते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने लोक-साहित्य में से चुन-चुन कर अनेक दोहे हमारे लिए एकत्र कर दिये हैं। सबसे पहिले उनमें हमें इस देश की रसिकता का स्वाद मिलता है। एक प्रभावशाली चित्र देखिये—

> वायसु उड्डावन्तिए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
> अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥ (८-४-३५२)

विरहिणी मुख कर काँटा हो गई है। विरह के कारण वह मंगल-सूचक कौवे को उड़ाने जाती है[1] और उसकी दुबली कलाई में से आधी चूड़ियाँ निकल पड़ती हैं। इतने में वह अपने प्रियतम को आता देखती है और इस हर्षावेग से उसका शरीर प्रफुल्लित हो जाता है। आनंद के उद्रेक से उसकी दुबली कलाइयाँ रक्त से इतनी भर उठती है कि शेष चूड़ियाँ कलाई में न समा सकने के कारण तड़ातड़ टूट जाती हैं।

> बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास।
> तुह जलि महु पुणु वल्लहइ बिहु वि न पूरिअ आस॥ (८-४-३८३)

हे पपीहे! तू 'पिउपिउ' चिल्लाते-चिल्लाते हताश हो गया है, किन्तु जल ने तेरी आशा पूरी नहीं की। मेरे प्रियतम ने भी मेरी आशा पूर्ण नहीं की है।

---

[1] जब गृह-प्रांगण में कौवा बोलता है तो उस दिन किसी अतिथि के आने की संभावना की जाती है। गुजरात की इसी मान्यता की ओर यहाँ संकेत है—लेखक।

पिय संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व ।
मइ विन्नि वि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व ॥ (८-४-४१८)

प्रियतम साथ होते है तो आनदोल्लास के कारण नीद नही आती । साथ नही होते तो विरह-दु ख के कारण आँख नही लगती । इस प्रकार मिलन और विछोह दोनो प्रसगो मे मेरी नीद चली गई है ।

ऐसे अनेको शृगार, वीर, करुण आदि रस के सारगर्भित उदाहरण आचार्य हेमचद्र ने दिये है । इन्हें देखने से अनुमान होता है कि इस लोक में कितना विपुल साहित्य बिखरा हुआ पडा है । इस प्रकार का साहित्य निरतर बढता हो गया है । साहित्य के ग्रथो मे उसका अधिकाश सम्मिलित नही हुआ है, पर इस प्रदेश मे वह अभी तक व्याप्त है । श्री झवेरचद मेघाणी आदि लोक-साहित्य के प्रेमियो ने उसे पर्याप्त परिमाण मे सगृहीत करके इस देश की रसिकता, वीरता आदि का हमे स्पष्ट परिचय दिया है ।

एक ओर रसिकता-पूर्ण लोक-साहित्य पनपा तो दूसरी ओर अन्य प्रकार का साहित्य भी फला-फूला । अनेक साहित्यकारो ने हैम-युग मे साहित्य-सृजन किया, पर उसमे हमे भाषा के असली रूप का आभास नही मिलता । यह चीज तो हमे रासयुग के साहित्यकारो की रचनाओ मे ही दिखाई देती है । स० १२४१ मे निर्मित वीररस से पूर्ण शालिभद्र सूरिकृत "भरतेश्वर बाहुबलिरास" नामक रास-काव्य अभी तक ज्ञात-कृतियो में प्राचीनतम कृति है, जिसमें इस देश की बोली असली स्वरूप मे हमे मिलती है ।

जोईय मरह नरिंद कटक मूछह वल घल्लइ,
कुण बाहूबलि जे उ वरव मइ सिउ वल बुल्लइ ।
जइ गिरिकदरि विचरि वीर पइसतु न छूटइ,
जइ थली जगलि जाइ किम्हइ तु सरइ अपूटइ ॥१३०॥

इस देश का साहित्यकार भी यहाँ अपनी मूछो पर ताव देता जान पडता है । रासयुग के लगभग ढाई सौ वर्ष के पश्चात् जैन कवियो ने रास, फागु, बारमासी, धवलगीत, कक्का इत्यादि अनेक प्रकार का समृद्ध साहित्य इस देश को भेट किया । इसमे से प्रकाशित तो बहुत कम हुआ है । अभी तो कई सौ की सख्या मे पाडुलिपियाँ भडारो मे दबी-छुपी पडी है । फिर भी जो कुछ प्रकाशित हुआ है उससे रासयुग की भव्यता का परिचय मिलता है ।

रासयुग की कविता धार्मिक परिधि मे बधी हुई है । अत प्रथम दृष्टि मे उसमे हमे धार्मिकता का ही आभास होता है, पर उसका सूक्ष्म अध्ययन करने पर धार्मिक तत्त्व तो केवल कथा-वस्तु तक ही सीमित दीख पडता है । उस कथा-वस्तु की गोद में वास्तविक कवित्व ओत-प्रोत दिखाई पडता है । नेमिनाथ और राजिमती को लक्ष्य करके लिखे गये भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक काव्यो में हमे असली काव्य के दर्शन होते है ।

बारमासी विरह की महत्त्वपूर्ण काव्य-कृति होती है । यह चीज रासयुग मे पनपी है । चौदहवी सदी के पूर्वार्ध मे 'नेमिनाथ-चतुष्पदिका' नामक बारमासी-काव्य विनयचन्द्र सूरि नामक एक जैन साधु ने तैयार किया था । निर्दोष विप्रलम्भ शृगार का ऐसा काव्य हमारी भाषा मे तो शायद अपूर्व है । उसकी भाषा की समृद्धि भी सम्मान की वस्तु है ।

श्रावणि सरवणि कडुय मेहु गज्जइ विरहि रिझिज्झइ देहु ।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव नेमिहि विणु सहि सहियइ केम ॥२॥

सावन की बौछार गिरती है, कटु मेघ गर्जन करता है, विरह के कारण शरीर क्षीण होता है, राक्षसी जैसी विद्युत चमकती है । हे सखि ! नेमि के बिना यह सब कैसे सहा जाय ?

फागु मे वसन्त-क्रीडा का वर्णन मिलता है । यह भी रासयुग की बारमासी जैसी दूसरी आकर्षक वस्तु है ।

राजशेखर ने चौदहवी सदी के सन्धिकाल में 'नेमिनाथ फागु' नामक फागु-काव्य का निर्माण किया था। इसमें भी, नायक और नायिका नेमिनाथ व राजिमती हैं। कवि उसमे पूर्ण रूप से चमक उठता है—

राइमए सम तिहु भुवणि अवर न अत्थइ नारे।
मोहणविल्लि नवल्लडीय उप्पनीय ससारे ॥७॥

अह सामल कोमल केशपास किरि मोरकलाउ।
अद्धचद समु भालु मयणु पोसइ भडवाउ।
वकुडियालीय भुंहडियहें भरि भुवणु भमाडइ।
लाडी लोयण लह कुडलइ सुर सग्गह पाडइ ॥८॥
किरि सिसिबिंब कपोल कन्नहिंडोल फुरता।
नासावसा गरुडचंचु दाडिमफल वता।
अहरपवाल तिरेह कठु राजलसर रूडउ।
जाणु वीणु रणरणइ जाणु कोइल टह कडलउ ॥९॥

सरस तरल भुयवल्लरिय सिहण पीणघणतुंग।
उदरदेसि लकाउलि य सोहइ तिवल-तुरग ॥१०॥

अह कोमल विमल नियंबबिंब किरि गंगा पुलिणा।
करि कर ऊरि हरिण जघ पल्लव कर चरणा॥
मलपति चालति वेलडीय हसला हरावइ।
सझारागु अकालि बालु नह किरणि करावइ ॥११॥

तीन लोक में राजिमती जैसी स्त्री नही है, मानो ससार में अद्भुत मोहन बेल प्रकट हुई है। उसके श्याम रग के कोमल केश मानो मयूर के पिच्छ कलाप हैं। अर्ध-चन्द्र जैसा उसका ललाट बलवान चरणो वाले कामदेव का पोषण करता है। उसकी तिरछी भौंएँ ससार को उन्मत्त बनाती है और आँखो के मधुर सकेतो से वह स्वर्ग के देवो को भी आकृष्ट कर लेती हैं। उसके कपोल कान रूपी झूले पर झूलते हुए चन्द्रमा के बिम्ब जैसे है। नाक गरुड की चचु जैसी और दाँत अनार के दाने जैसे। उसके ओष्ठ प्रवाल जैसे लाल और कठ सुन्दर है, मानो वीणा बोल रही हो या कोयल गा रही हो। भुजाएँ सीधी व चपल हैं, स्तन पीन घन और तुग है। उसके उदर प्रदेश में तीन रेखाएँ शोभा देती है। गगा के किनारो जैसे कोमल विमल नितम्ब है। जघाएँ हाथी की सूड जैसी, घुटनो का प्रदेश मृग जैसा व हाथ-पाँव पल्लव जैसे हैं। मदभरी चाल से चलती हुई लता जैसी वह हसो को परा-जित करती है और वह बाला अपने नखो की किरणो से सन्ध्या का रग जमाती है।

मानो मदभरी चलती हुई उस बाला की भाँति गुजराती-कविता भी आगे बढ़ती चली जाती है।

अहमदाबाद]

ऐतिहासिक महत्त्व की एक प्रशस्ति

श्री साराभाई मणिलाल नवाब

मेरे सग्रह मे सवत् १४७३ की श्री स्तम्भनीर्थ (खम्भात) मे धर्मघोपसूरि विरचित 'कालिकाचार्य कथा' की तेरह पृष्ठ की एक हस्तलिखित प्रति है। उसके नवे पृष्ठ की आठवी पक्ति से तेरहवें पृष्ठ तक अड़तालीस श्लोक की एक सुन्दर प्रशस्ति है। उसके पैतालीसवे श्लोक मे प्रति लिखवाने तथा उसे चित्रित कराने के वर्ष का और जहाँ वह लिखी गई थी उस नगर का उल्लेख है। सैंतालीसवें श्लोक मे उस प्रति के लेखक सोमसिंह और उसके लिए पाँच चित्र बनाने वाले चित्रकार देईयाक का नाम भी दिया हुआ है। चित्रकार का नामोल्लेख इस प्रति की विशेषता है।

इस प्रशस्ति में श्वेताम्बरीय जैनतीर्थ जैसे शत्रुञ्जय, गिरनार, आबू, अन्तरीक्ष जी, जीरावला और कुल्पाक का उल्लेख है, जो जैनतीर्थों के इतिहास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जैन-भडारो मे सुरक्षित हजारो ग्रन्थो मे से शायद ही किसी ग्रन्थ के अन्त मे ऐसी सुन्दर एव विस्तृत प्रशस्ति मिलती हो। अत बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री से परिपूर्ण इस प्रशस्ति को हम यहाँ मूलरूप मे उसके अनुवाद सहित देते है और आशा करते है कि पाठको के लिए वह लाभदायक सिद्ध होगी।

मूल प्रशस्ति इस प्रकार है—

प्रशस्तिः

पदत्रयी यस्य विभोरशेपतो विष्णोरिव व्याप जगत्त्रयीमिमाम्।
सद्भूतवस्तुस्थितिदेशक सता श्रीवर्द्धमान. शिवतातिरस्तु ॥१॥

गुणमणि लसदब्धिर्लब्धि लक्ष्मीनिधानं
गणधरगणमुख्य शिष्यलक्षप्रधानम्।
शम-दमकृतरगो गौतम श्रीगणेश
किसश(किश)लयतु शिवश्रीसगम शाश्वत व ॥२॥

विद्वन्मन कमलकोमलचक्रवाले
या खेलति प्रतिकल किल हसिकेव।
ता शारदा सकलशास्त्रसमुद्रसान्द्र—
पारप्रदा प्रणमता वरदा च वन्दे ॥३॥

भू भू (भू)ल्लब्धप्रतिष्ठे श्रितसुजनकृतोऽनन्तपापापहारे
प्रेङ्खच्छाखाविशेषे विपुलपरिलसत्सर्वपर्वाभिरामे।
उकेशाऽऽह्वानवशे समजनि सुकृती व्यक्तमुक्तायमान
श्रीमान् धीनाऽभिधान सुगुणगणनिधिर्नायक आद्यधुर्य ॥४॥

तस्याऽङ्गजोऽजनि जगत्त्रयजातकीर्त्ति—
र्भोजाऽभिध सुकृतसततिमूर्त्तमूर्त्ति।
तस्याऽपि याचककदम्बकदत्तवित्त—
लक्षश्च लक्ष इति पुत्र उदारचित्त ॥५॥

तस्याङ्गजः पोपटनामधेयः समस्तलोकाद्भुतभागधेयः ।
पत्न्योऽभवन् खीमसिरिश्च मुख्या ताश्च पाल्हूरिति चास्यतिस्रः ॥६॥

तासां क्रमेण गुणगौरवशालिनोऽमी
पुत्रास्त्रयः समभवन् गुरुकीर्त्तिभाजः ।
गाङ्गाऽह्वयोऽत्र प्रथमः प्रथितो द्वितीयः
श्रीकामदेव इति चाथ च वामदेवः ॥७॥

गाङ्गाऽऽख्यस्य जननी जज्ञे गुणश्रीरिति नामतः ।
कपूराईरिति ख्याता कामदेवस्य वल्लभा ॥८॥

गाङ्गाऽऽख्यस्य बभूव भूरिविभवः मधेशराजाऽह्वयः ।
पूर्वः पुत्रवरः प्रसिद्धमहिमा नायूस्तथा चापरः ।
राजा संघपतिर्वसन् सुरगिरौ भूपालमान्यो व्यधा—
ज्ञानापुण्यपरम्परा गुरुतरा श्रीसंघभक्त्यादिकाः ॥९॥

श्रीशत्रुञ्जय-रैवतक्षितिवर-श्रीअर्बुद-श्रीपुर—
श्री जिरावलि-फुल्यपाकप्रमुखश्रीतीर्थयात्रा मुदा ।
कालेऽत्राऽपि कलौ कराल ललिते चक्रे स संघाधिपो
वर्षन्नर्थिजने घनाघन इव द्रव्याणि पानीयवद् ॥१०॥

एवं विधैस्तैर्वि(वि)धोत्सवव्रजै
श्रीशासनं जैनमिदं स संघपः ।
उद्योतयामास तथा यथा स्फुर—
त्करप्रसारैर्गगनाङ्गणं रविः ॥११॥

इतश्च—

ऊकेशाऽह्वे विशदजननेऽजायत श्राद्धवर्यो
धन्यो मान्यो निखिलविदुषां जैत्रसिंहो धनीशः ।
श्रेयः श्रीमांस्तदनु च जयात् सिंहनामा प्रभावा—
दासीद् दासीकृत खलकुलस्तस्य पुत्रः पवित्रः ॥१२॥

तस्यापि पुत्रो श्रितजैनधर्मो लक्ष्मीधराऽऽख्योऽभवदद्भुत श्रीः ।
अमुष्य पत्नी च समस्ति नाम्ना रूपी मनोहारिगुणाम्बुकूपी ॥१३॥

हरराज-देवराजौ खीमराजस्तथाऽपरः ।
इति त्रयस्तयो पुत्राः पवित्राः पुण्यतोऽभवन् ॥१४॥

हरराजस्य जायाऽस्ति नाम्ना हांसलदेरिति ।
चन्द्रोज्ज्वलकलाशीला धर्मकर्मसु कर्मठा ॥१५॥

नाम्ना नरपति पूर्वं पुण्यपालो द्वितीयकः ।
तृतीयो वीरपालाऽऽख्यस्तुर्यः महत्तराजकः ॥१६॥

पञ्चमो दशराजश्च पञ्चेति तनयास्तयोः ।
आसते भूरिभाग्याऽऽढ्या देमाईर्दुहिता तथा ॥१७॥ युग्मम् ॥

राजाऽभिघस्याजनि सघपस्य
सधर्मिणी धर्मपरायणेयम् ।
यथैव लक्ष्मी पुरुषोत्तमस्य
हरे शचीवाऽथ हरस्य गौरी ॥१८॥

सारङ्ग प्रथमोऽर्थिना सुरतरुप्रख्यो द्वितीयस्तथा—
वार्योदार्यरमा निरस्तघनद श्रीरत्नसिंहाऽभिघः ।
तार्तीयीक-तुरीयकौ च सहदे-श्रीतूकदेवाऽऽह्वयौ
चत्वारश्चतुरा जयन्ति तनया एते तयोर्विश्रुता ॥१९॥

तील्हाई पल्हाई-रयणाईनामका च लीलाई ।
सन्त्येताश्च चतस्र पुत्र्य पात्र गुणश्रेणे ॥२०॥

सघेशो नूनराजो जगति विजयते कामदेवस्य पुत्र
सर्वत्रामात्रसर्पन्निजविमलयश पूर्णविश्वत्रयीक ।
पुत्री पात्र गुणाना जयति च झबकू शम्भुशीर्षस्यगङ्गा
रङ्गत्तुङ्गत्तरङ्गस्नपितसितकरोज्ज्वलत्यतुल्यस्वशीला ॥२१॥

नूनाऽऽह्वसघाधिपते समस्ति प्रिया जयश्रीरिति धर्मनिष्णा ।
आस्ते महादेव इति प्रसिद्ध. सुतस्तयोर्भूरि रमासमृद्ध ॥२२॥

पुत्रीद्वय च कन्हाई सोनाईरिति चापरा ।
महादेवाङ्गज साधुरुरवधीर सुधीवर. ॥२३॥ युग्मम् ॥

एतावता निजकुटुम्बयुतेन तेन नूनाऽऽह्वसघपतिना वसताऽमराद्रौ
श्रीअन्तरिक्षमुखतीर्थं विचित्रयात्रा मुख्या [ ] कृता विविधपुण्यपरम्परास्ता ॥२४॥

इतश्च—

श्रीमद्दक्षिणदेशसघसहितो नूनाऽऽह्वय सघप ।
श्रीशत्रुञ्जय-रैवता-ऽर्बुदगिरि-श्रीतीर्थयात्राचिकी ।
प्राचालीन्महता महेन मतिमान् श्रीगूर्जरात्रा प्रति
श्रीमच्छासनकानन प्रतिपद दानाम्बुभि सिञ्चयन् ॥२५॥

यात्राया यस्य जात्योत्तरल तरचलद्वाजिराजिप्रभूत—
प्रोत्सर्पत्पृष्ठवाह्यप्रकर रथभरोद्धूतधूलीकलापे ।
व्याप्ताऽऽकाशाऽवकाशे स्थगितरुचिरवौ रात्रिकल्पा दिवासीद् ।
रात्रिश्चासीद् दिवेव प्रसरति परितो दीपिकाना प्रकाशे ॥२६॥

दिङ्मातङ्गास्तुरङ्गप्लवनपरिचलद् भूभरोद्भुग्नशीर्षा
शेषेक्ष्मा पीठभार सकलमपि ददु सोऽपि कूर्माधिराजे ।
तद्भाराद् भङ्गुराङ्ग स च पुनरभवद् (त्) कुञ्जितस्वाङ्ग इत्थ ।
यत्र श्रीतीर्थयात्रा प्रति चलति समेऽमी विमुक्ताऽधिकारा ॥२७॥

यात्राक्षणे यस्य रजोभिरुद्धुतैर्लेभेऽन्वयो निर्जरसिन्धुपङ्कजै ।
श्रीतीर्थिकस्नात्र जलप्रवाहै समुच्छलद्भि. स्थलवारिजैश्च ॥२८॥

तत्र च—

स्फूर्जद गूर्जरमण्डलाधिपसुरत्राणेन सन्मानित
श्रीयात्राफरमाणदानविधिना चीरप्रदानैस्तदा ।
भव्याद्यैश्च तदीयशाखिभिरपि श्रीतीर्थयात्रा श्रसौ
जीरापल्लिमुखा व्यधाप्यत पुरो भूत्वा महाप्रीतित ॥२९॥

दुष्टेऽस्मिन्नपि दुष्षमाह्व समये श्रीतीर्थयात्रा इति
द्रव्योत्सर्जनविस्तरेण महताऽनेनाऽऽदरात् कुर्वता ।
क्ष्मापाला-ऽऽम्रकुमारपालनृपति-श्रीवस्तुपालादय.
सर्वेऽपि स्मृतिगोचर विरचिताश्चित्रैश्चरित्रै स्वकै ॥३०॥

विधाय यात्राः सकला श्रथाऽय श्रीपत्तनाऽऽह्वानपुरे समागात् ।
श्रीशासन जैनमिद प्रभावयन् प्रभूतलक्ष्मीव्ययतोऽर्थिना व्रजे ॥३१॥

तत्राऽय चन्द्रगण पुष्करसूरकल्पा
श्री सोमसुन्दर गुरुप्रवरा गणेशा ।
सघेश्वरेण विनता विहिता च गुर्व्वी
प्रोद्दीपना जिनमतस्य महोत्सवौघै ॥३२॥

श्रीस्तम्भतीर्थ-पुरपत्तनतीर्थ सार्थ—
कर्णावती प्रमुख भूरि पुरेष्वनेन ।
सघ समश्च सकल मुनिमण्डल च
स्फूर्जद्दुकूलवसनै परिधाप्यतेऽस्म ॥३३॥

इतश्च—

सघाधीशो राजमल्लस्य पत्नी देमाई सा तीर्थयात्रामुखानि ।
कुर्वाणा श्रीपुण्यकृत्यानि नाना तेने ह्युद्यापनादीनि तत्र ॥३४॥

श्रीदानशील प्रमुखान सङ्ख्यान् गुणोत्कराश्चन्द्रकलोज्ज्वलास्तान् ।
क कोविद श्लाघयितु समर्थस्तस्याश्च सघाधिपराजपत्न्या ॥३५॥

तथाहि—

निरीक्ष्य शील विमल यदीय स्वत शशाङ्क किल खिद्यमान ।
एकैकयाऽय कलया प्रहीयते दिने दिने तामपकर्त्तुमक्षम ॥३६॥

श्रीसघभक्ति-गुरु-पुस्तकलेखनाऽऽदि—
श्रीतीर्थ सार्थ करण प्रमुखाणि हर्षाद् ।
पुण्यानि या प्रतिदिन कुरुते स्वकीय—
द्रव्यव्ययाद् बहुविधान्यपि याऽपराणि ॥३७॥

श्रीपौषधाऽवश्यकमुख्यधर्म्य कर्माणि कर्माष्टक भेदनानि ।
धर्मामृतोद्भावितसप्तधातु र्यतिन्तनोति प्रवरप्रमोदात् ॥३८॥

क्षेत्रेषु सप्तस्वपि भव्यभावाद्(त्) स्वद्रव्यबीज विपुल मुदेति ।
या वापयामास परत्र लोके संख्याऽतिगश्रीभरवृद्धिहेतो. ॥३९॥

तत्रैवाऽयो पत्तने श्रीगुरूणा तेषा भव्यप्रार्थितस्वस्तरूणाम् ।
देमाई' सा श्राविकावर्गमुख्याऽश्रौषीद् (त्)हर्षाद् देशनावाणिमित्यम् ॥४०॥

तथाहि—

न ते नरा दुर्गतिमाप्नुवन्ति न मूकता नैव जडस्वभावम् ।
न चान्धता बुद्धिविहीनता च ये लेखयन्तीह जिनस्य वाक्यम् ॥४१॥

लेखयन्ति नरा धन्या ये जिनाऽऽगमपुस्तकम् ।
ते सर्ववाङ्मय ज्ञात्वा सिद्धि यान्ति न सशय ॥४२॥

पठति पाठयते पठतामसौ वसन-भोजन-पुस्तक-वस्तुभि ।
प्रतिदिन कुरुते य उपग्रह स इह सर्व विदेव भवेन्नर' ॥४३॥
विशेषत. श्रीजिनवीरभाषित श्रीकल्पसिद्धान्तमम् समुद्यता ।
ये लेखयन्तीह भवन्ति ते ध्रुव महोदयाऽऽनन्दरमानिरन्तरम् ॥४४॥
निशम्य तेषामिति देशनागिर चिर किरन्तीमुदयं महैनसाम् ।
विशेपत पुस्तकलेखनादिके श्रीधर्मकृत्येऽजनि सा परायणा ॥४५॥

श्रीस्तम्भतीर्थनगरे प्रवरे ततश्च श्रीकण्ठनेत्र-मुनि-विश्वमिते च वर्षे । (१४७३) ।
श्रेय'श्रियेबहुतरद्रविणव्ययेन
श्रीकल्पपुस्तकमिमं समलीलिखत् सा ॥४६॥
यावद् विभर्त्ति धरणीं शिरसा फणीन्द्रो
यावच्च चन्द्रतरणी उदितोऽत्र विश्वे ।
तावद् विशारदवरैरतिवाच्यमानाः
श्रीकल्पपुस्तकवरो जयतादिहैष ॥४७॥
लिखित सोमसिंहेन देईयाकेन चित्रित ।
आकल्प नन्दतादेष श्रीकल्प सप्रशस्तिक. ॥४८॥
इति श्रीकल्पप्रशस्ति. समाप्ता ॥छ॥

अनुवाद

जिस परमेश्वर की पदत्रयी (उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यरूप) ने विष्णु की भाँति तीनो लोक को व्याप्त कर दिया है, वह यथार्थ वस्तु स्वरूप का उपदेश देनेवाले श्री महावीर स्वामी सज्जनो के लिए कल्याण की वृद्धि करने वाले हो ॥१॥

गुणरूपी रत्नो के लिए लहराते हुए समुद्र के समान, लब्धिरूप लक्ष्मी के भडार तुल्य, गणाधीशो के समुदाय के नायक, लाख शिष्यो के प्रधान, शम-दम में जिन्हें आसक्ति है, ऐसे सम्पत्ति भडार के स्वामी श्री गौतमस्वामी कल्याण (मोक्ष)रूप-लक्ष्मी के सयोग को सनातन करो ॥२॥

जो पडितो के मनरूपी कमल की कोमल पखुडियो में और प्रत्येक कला में हसिनी के समान खेलती है, उस समस्त शास्त्ररूपी समुद्र एव वन को पार कराने वाली और प्रणाम करने वालो को वरदान देने वाली सरस्वती को मैं प्रणाम करता हूँ ॥३॥

राजाओं से जिसे सम्मान प्राप्त हुआ है और जो सज्जनों को आश्रय देने वाला और अनन्त पाप का हरण करने वाला है, जिसकी ध्वजाएँ फहरा रही है, जो अनेक विशाल पर्वों से सुशोभित है, ऐसे ऊकेश नामक वंश मे चमकते मोती के समान सद्गुणों के समूहों का भंडार श्रावकों में अग्रणी और पुण्यशाली श्रीमान धीना नामक महान पुरुष हुआ ॥४॥

तीन लोक मे जिसकी कीर्ति व्याप्त हुई और जो पुण्य कार्यों की साक्षात मूर्तिरूप है, ऐसा भोजा नामक उसका पुत्र हुआ। उसे भी भिक्षुकों के समुदाय को लाखों का दान देने वाला उदार-हृदय लक्ष नाम का पुत्र प्राप्त हुआ ॥५॥

उसके सारे संसार में अद्भुत सौभाग्यशाली पोपट (खोखट) नाम का पुत्र हुआ। उसके तीन स्त्रियाँ थीं—(१) खीमसिरि (मुख्य पत्नी), (२) तारु और (३) पाल्हु ॥६॥

गुण के गौरव से शोभायमान और अत्यन्त कीर्तिवान उनके तीन पुत्र हुए। (१) गाँगा, (२) कामदेव और (३) वामदेव ॥७॥

गाँगा के गुणश्री नाम की पत्नी थी और कामदेव की पत्नी का नाम कर्पूराई था ॥८॥

गाँगा के बड़ा ही वैभवशाली और प्रसिद्ध एवं महिमावान संघपति राजा नाम का पहला श्रेष्ठ पुत्र हुआ और दूसरा पुत्र नाथु नाम का हुआ। देवगिरि में रहने वाला राजाओं का मान्य यह संघपति राजा श्रीसंघ की भक्ति आदि अनेक प्रकार के पुण्य-कार्य करता था ॥९॥

इस घोर कलियुग में भी भिक्षुकों में वारीश के सदृश धन को पानी के समान बहाने वाले उस संघपति ने श्री शत्रुञ्जय, गिरनार, आबू, अन्तरीक्ष जी, जीरावला जी, कुलपाक जी आदि प्रमुख तीर्थों की यात्रा आनन्दपूर्वक की थी ॥१०॥

इस प्रकार के अनेकों उत्सवों के द्वारा उस संघपति ने जैन शासन को ऐसे प्रकाशमान किया जैसे सूर्य अपनी चमकती किरणों को फैलाकर आकाशमंडल को प्रकाशित करता है ॥११॥

और—

ऊकेश नामक निर्मल वंश मे श्रावकों का प्रधान समस्त पंडितों का मान्य धन्यवाद का पात्र जैत्रसिंह नाम का धनिकों में अगुआ हुआ। उसके पश्चात् अपने प्रभाव से समस्त खलपुरुषों के समूह को दास बनाने वाला जयसिंह नाम का पवित्र पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१२॥

उसके अद्भुत लक्ष्मी वाला जैन धर्मानुयायी लक्ष्मीधर नाम का पुत्र पैदा हुआ। उसकी पत्नी मनोहरगुण-रूपी जल के कूप के समान रूपी नाम की थी ॥१३॥

पुण्य संयोग से उनके हरराज, देवराज और खेमराज नाम के तीन पुत्र उत्पन्न हुए ॥१४॥

हरराज के धर्म-कर्म में निपुण, चन्द्र की उज्ज्वल कला जैसी शीलव्रत वाली हाँसलदे नाम की पत्नी थी ॥१५॥

उसके नरपति, पुण्यपाल, वीरपाल, सहसराज और दशराज नामक पाँच बड़े भाग्यशाली पुत्र हुए और देमाई नाम की एक कन्या हुई ॥१६, १७॥

देमाई संघपति राजा की धर्मपरायणा पत्नी थी, विष्णु की लक्ष्मी, इन्द्र की शची अथवा महादेव की पार्वती के सदृश ॥१८॥

उनके माँगने वाले के लिए कल्पवृक्ष के समान (१) सारंग नाम का, (२) जिसने अविरल औदार्यरूप लक्ष्मी से कुबेर को परास्त किया है, ऐसा रत्नसिंह नाम का, (३) सहदेव और (४) श्री तूकदेव नाम के प्रख्यात चार चतुर पुत्र हुए ॥१९॥

और उनके (१) तील्हाई, (२) पल्हाई, (३) रयणाई और (४) लीलाई नाम की गुणों के समूह की भाजन चार पुत्रियाँ थीं ॥२०॥

चारो ओर निर्मर्याद फैलते हुए अपने निर्मल यश से जिसने तीनो लोको को भर दिया है ऐसा सघपति नूनराज नाम का कामदेव का पुत्र ससार मे जय पाता है, और कामदेव की झवकू नामक गुणवती और महादेव के मस्तक पर रही हुई गगा नदी के उछलते हुए वडे-वडे तरगो से धुले हुए चन्द की उज्ज्वलता के जैसा जिसका चरित्र है, ऐसी पुत्री जय पाती है ॥२१॥

सघपति नूना के धर्मपरायणा जयश्री नामक पत्नी थी। उनके वहुत लक्ष्मी वाला प्रसिद्ध महादेव नामक पुत्र और (१) कन्हाई और (२) सोनाई नामक दो पुत्रियाँ थी। महादेव के वुद्धिमानो मे श्रेष्ठ अश्वधीर नामक साधुचरित पुत्र था ॥२२, २३॥

इस प्रकार अपने कुटुम्व के साथ देवगिरि (दौलतावाद) रहते हुए सघपति नूना ने अनेक प्रकार के पुण्य की परम्परा रूप श्री अन्तरीक्ष आदि तीर्थों की अद्‌भुत यात्राएँ की ॥२४॥

और—

श्री शत्रुञ्जय, गिरनार, आवू तीर्थ आदि की यात्रा के इच्छुक वुद्धिमान सघपति नूना ने कदम-कदम पर दानरूपी जल से जैन-शासन रूपी वन को सीचते हुए दक्षिण देश के सघ के साथ वडी सजधज से गुजरात की ओर प्रयाण किया ॥२५॥

जिसकी यात्रा मे उत्तम और अतीव आँखो के चलन से एव रथो के समूह से उछली हुई धूल के समूह से आकाशमार्ग व्याप्त होने के कारण सूर्य अदृश्य हो जाने से दिवस रात्रि जैसा हो गया और दीपको का प्रकाश चारो ओर फैल जाने से रात्रि दिवस जैसी हो गई ॥२६॥

अश्वो की दौड से कम्पायमान पृथ्वी के भार से जिनके सिर टूट गये है, ऐसे दिग्गजो ने पृथ्वी का समग्र भार शेषनाग को दे दिया, शेषनाग ने कच्छपराज को दे दिया वह भी उस भार से शरीरभग्न हो जाने से सकुचित अग वाला हो गया। इस प्रकार सवके तीर्थयात्रा को जाते समय इन सव ने अपना अधिकार छोड दिया ॥२७॥

जिसके यात्रा के समय उडे हुए धूल कणो से व उछलते हुए श्री तीर्थंकर प्रभु के स्नान के जल के प्रवाह से स्वर्गलोक के कमल और मर्त्यलोक के कमलो का मिलान हो गया ॥२८॥

उस समय—

दैदीप्यमान गूर्जर-मडल के स्वामी सुलतान से यात्रा के फरमान और पोषाक के दान के द्वारा सम्मानित किये गये और उसकी जाति के भव्यजनो से भी सम्मानित किये गये उस सघपति ने अगुआ वन कर जीरावला आदि मुख्य तीर्थों की यात्राएँ की ॥२९॥

दुषम नामक इस दुष्ट समय मे भी द्रव्य का वडा भारी त्याग करके इस प्रकार भावनापूर्वक तीर्थयात्राओ को करने वाले इस (सघपति) ने अपने अद्‌भुत चरित्र से आम्र राजा, महाराजा कुमारपाल, वस्तुपाल आदि सव को याद दिलाया है ॥३०॥

माँगने वालो के समूह में पुष्कल धन का व्यय करके भी जैनशासन की प्रभावना करता हुआ यह (सघपति) सव यात्राएँ करके श्रीपत्तन नामक नगर में आया ॥३१॥

वहाँ पर सघपति ने चन्द्रगण रूप कमल के लिए सूर्य समान गणाधीश श्री सोमसुन्दर नाम के वडे गुरु का वन्दन किया और वडे-वडे उत्सवो के समूह से जिनमत की वडी भारी प्रभावना की ॥३२॥

श्री स्तम्भतीर्थ, (खम्भात) पाटन, अन्य तीर्थ और कर्णावती (वर्तमान अहमदावाद) आदि अनेक नगरो में इसने समस्त सघ को और समस्त मुनिमडल को उत्तम वस्त्र पहनाये ॥३३॥

और—

सघपति राजमल्ल की पत्नी देमाई ने भी वहाँ तीर्थयात्रा के प्रमुख पुण्यकार्य करते हुए मनोहर उद्यापन आदि किये ॥३४॥

सघपति राजमल्ल की उस पत्नी के चन्द्र की कला जैसे उज्ज्वल दानशील इत्यादि असख्य उत्तम गुणो की प्रशसा करने में कौन पडित समर्थ है ? ॥३५॥

और—

जिसका निर्मल चरित्र देख कर उसे भ्रष्ट करने में असमर्थ चन्द्र स्वय खेदपूर्वक प्रतिदिन एक-एक कला से क्षीण होता जाता है ॥३६॥

जो अपने धन के व्यय से सघभक्ति, गुरु-सेवा, ग्रन्थो का लिखवाना, तीर्थों का पर्य्यटन, इत्यादि पुण्यकार्य हर्ष-पूर्वक करती थी तथा अन्य अनेक प्रकार के पुनीत कार्यों में सलग्न रहती थी, जो बडे आनन्द से अष्टकर्म के नाश करने वाले पौषध, आवश्यक प्रमुख धर्म-कृत्य और शरीर की सातो धातुओ में धर्मामृत का सिचन करती थी, जो परलोक में अगणित धन प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने द्रव्य रूपी बीज को विपुल परिमाण में उत्तम भावना पर्वक आनन्द से सातो क्षेत्रो में बोती थी, उस श्राविका वर्ग में श्रेष्ठ देमाई (श्राविका) ने वही पाटण में भव्यो के लिए कल्पवृक्ष रूपी उन गुरु का इस प्रकार धर्मोपदेश सुना ॥३७-४०॥

जैसे कि—

जो मनुष्य इस ससार में जिनागम लिखवाते है, वे दुर्गति को प्राप्त नही होते, न मूकता को, न जडता को और न अन्धेपन को, न बुद्धिहीनता को ॥४१॥

जो धन्यपुरुष जैनागम लिखवाते है वे सर्वशास्त्र को जान कर मोक्षमार्ग को प्राप्त करते है, इसमे सन्देह नही ॥४२॥

जो मनुष्य सर्वदा पढता है, पढाता है और पढने वाले की पुस्तक इत्यादि चीजो से सहायता करता है, वह यहाँ सर्वज्ञ ही होता है ॥४३॥

विशेषकर जो उद्यमशील मनुष्य श्री वीर भगवान द्वारा कहे गये कल्पसूत्र के सिद्धान्त ग्रन्थ लिखवाते है वे अवश्य ही आनन्द स्वरूपी लक्ष्मी के समीपवर्ती होते है ॥४४॥

इनकी इस प्रकार की उपदेशवाणी को सुन कर चिरकालीन महापाप के उदय को काटती हुई वह आगमलेखन आदि धर्म-कृत्यो में विशेष रूप से आसक्त हुई ॥४५॥

पश्चात् श्रीस्तम्भ तीर्थ (खम्भात) नामक श्रेष्ठ नगर में सवत् १४३७ की साल में बहुत से धन का व्यय करके कल्याण रूपी लक्ष्मी के लिए देमाई ने कल्पसूत्र का ग्रन्थ लिखवाया ॥४६॥

जब तक शेषनाग सिर पर पृथ्वी को धारण करता है और जब तक सूर्य-चन्द्र ससार में उदित होते है तब तक श्रेष्ठ पडितो द्वारा पढा जाने वाला कल्पसूत्र का यह श्रेष्ठ ग्रन्थ जय पायेगा ॥४७॥

सोमसिंह द्वारा लिखित और देईयाक द्वारा चित्रित प्रशस्तियुक्त यह कल्पसूत्र युगपर्य्यन्त वृद्धिगन्त हो ॥४८॥

कल्पसूत्र की प्रशस्ति समाप्त

अहमदाबाद]

चौदहवीं सदी का गुजरात का राजमार्ग

श्री धीरजलाल धनजीभाई शाह बी० ए०

दिल्ली में अपना प्रभुत्व स्थापित करके अलाउद्दीन खिलजी ने धीरे-धीरे अपने राज्य का विस्तार करना प्रारभ किया। विक्रम् सवत् १३६९ तक सारा गुजरात उसके अधीन हो गया। इसी साल उसने जैनो के परम पवित्र तीर्थ शत्रुञ्जय के ऊपर धावा बोल दिया और मूलनायक श्री आदीश्वर प्रभु की मूर्ति को उसकी सेना ने खडित कर दिया। इन ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख तत्कालीन 'समरारासु' और 'नाभिनन्दन जिनोद्धार-प्रबन्ध' में मिलता है।

'रास' और 'प्रबन्ध' में कथा-वस्तु एक ही है। उकेश वश की पाँचवी पीढी में प्रह्लादनपुर (पालनपुर) में सल्लक्षण नामक एक जैन गृहस्थ रहता था। उनके प्रपौत्र देशल ने पाटण में स्थिर होकर धन व प्रतिष्ठा प्राप्त की। उनके तीन पुत्र थे—सहजपाल, साहणपाल और समरसिंह। शत्रुञ्जय पर्वत की मूर्ति के खंडित होने का समाचार पाकर समरसिंह को वडा दुख हुआ और उकेश गच्छ के आचार्य सिद्धसूरि के उपदेश से उक्त मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने की तीव्र लालसा उनमें उत्पन्न हुई। पत जीर्णोद्धार के लिए पाटण के सूबे की आज्ञा प्राप्त कर उसने आरासण पर्वत में से सगमर्मर की एक वडी शिला मँगवाई और उसमें से एक विशाल प्रतिमा का निर्माण कराया। तदनन्तर पाटण से एक विराट् सघ निकाल कर विक्रम सवत् १३७१ में शत्रुञ्जय के मन्दिर का जीर्णोद्धार करा कर नवीन मूर्ति की प्रतिष्ठा की। वहाँ से गिरनार आदि स्थानो में होता हुआ सघ पाटण लौट आया।

रास-साहित्य मे 'समरारासु'[1] की अनेक प्रकार की विशेषताएँ है। उसके रचयिता निवृतगच्छ के श्री अम्बदेव-सूरि समरसिंह के समकालीन थे। इतना ही नही, वल्कि समरसिंह के सघ में सम्मिलित हुए अनेक आचार्यो मे से वे भी एक थे। इस दृष्टि से भी यह 'रास' उपयोगी है। इसके अतिरिक्त उस समय की भाषा, सामाजिक व राजनैतिक परिस्थिति का उल्लेख उसमे मिलता है। यह ग्रन्थ प्राचीन गुजराती भाषा मे लिखा गया है।

'नाभिनन्दन जिनोद्धार पबन्ध' भी ऐतिहासिक दृष्टि से वहुत महत्त्वपूर्ण है। उसके रचयिता श्री कक्कसूरि भी समरसिंह के समकालीन थे और सघ मे वह भी सम्मिलित हुए थे। 'समरारासु' का रचनाकाल हमें ज्ञात नही है, पर ऐसा अनुमान होता है कि विक्रम सवत् १३७१के आसपास उसका निर्माण हुआ होगा, क्योकि शत्रुञ्जय के जीर्णोद्धार के समय ग्रन्थकार वहाँ मौजूद थे। 'नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध' की रचना विक्रम सवत् १३९३ मे हुई। शत्रुञ्जय के उद्धार के पश्चात् लगभग वीस वर्ष के भीतर की कृति होने के कारण उसमें सामाजिक एव राजकीय दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी सामग्री मिल सकती है। 'प्रबन्ध' मे २३४४ श्लोक हैं और उसके पाँच प्रस्तावो में से प्रथम व अन्तिम प्रस्ताव गुजरात के इतिहास और भूगोल के विषय मे अच्छा प्रकाश डालते हैं।

नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध मे उस समय के समूचे गुजरात का वहुत ही सजीव चित्र मिलता है। थोडे-से शब्दो मे लेखक ने उस प्रदेश का वडा ही सुन्दर चित्र अकित कर दिया है। उस वर्णन में थोडी-वहुत कवि की कल्पना भी हो सकती है, फिर भी गुजरात का यथार्थ स्वरूप हमारे समक्ष आ ही जाता है।

उकेश वश के वेसहकुल की चौथी पीढी मे सल्लक्षण नाम का एक व्यक्ति उत्पन्न हुआ था। वह मारवाड के विराटपुर नगर की अपनी दुकान पर वैठा करता था। सयोग से गुजरात का एक सार्थवाहक अनेक किराणे लेकर उस नगर में आया। वाजार में होता हुआ जब वह जा रहा था तो सल्लक्षण ने कुतूहल से पूछा "आप किस देश से

---

[1] देखिये 'प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह' भाग १, पृष्ठ २७।

आये है और आपका वह देश कितना गुणवान व समृद्धिवान है ? उस देश के सर्वश्रेष्ठ नगर का विस्तृत वर्णन मुझे सुनाइए।"

सार्थपति ने कहा "हे महाबुद्धिमान, मैं गुजरात से आ रहा हूँ। वास्तव मे यदि मेरे मुख में एक हजार जिह्वा हो तभी मैं उस देश के गुणो का वर्णन कर सकता हूँ। फिर भी वहाँ के गुणो का सक्षेप मे वर्णन करता हूँ।"

और सार्थपति गुजरात का निम्न शब्दो में चित्र खीचता है—

"गुजरात देश की भूमि हर प्रकार की धान्य-सम्पत्ति पैदा करने में समर्थ है। वहाँ बहुत-से पर्वत है। कुएँ जल से भरपूर हैं। इसी कारण उस भूमि मे जल का अभाव नही। वहाँ नारगी, मौसम्बी, जामुन, नीम, कदम, केल, सँजना, कैंत, करौंदे, चिरौंजी, पीलु, आम, सीताफल, बहेडा, खजूर, दाख, गन्ना, मालती, खस, जूही आदि अनेक प्रकार के फल-फूल व लताएँ हैं। आपके सामने मैं कितने वृक्षो के नाम गिनाऊँ ? सक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि ससार मे जितने फल-फूल वाले वृक्ष हो सकते है वे सब उस देश में विद्यमान हैं। इतना ही नही, उस देश की भूमि में एक ऐसा गुण है जिससे गेहूँ, ज्वार, बाजरा, उरद, मूग, अरहर, धान सब तरह के अन्न पैदा होते है। वहाँ के निवासी समुद्र-तट पर थोडा-सा व्यापार करके बहुत-सा धन कमा लेते है। वहाँ सुपारी के टुकडे और नागरबेल के पान मनुष्यो के मलीन मुख को रगीन बना देते है। प्याऊ, कुएँ, तालाब और अन्न क्षेत्र आदि स्थलो मे ठहरने वाले कोई भी यात्री अपने साथ खाने-पीने की सामग्री नही रखते। वहाँ बटोहियो को चलने के लिए सघन वृक्षो की पक्ति मिलती है। इससे सूर्य का ताप कभी नही सताता। उस देश में शत्रुञ्जय, गिरनार आदि अनेक तीर्थ स्थित है, जो अपने उपासक भव्य जीवो को मोक्षपद प्राप्त कराते है। सोमनाथ, ब्रह्मस्थान, मूलस्थान तथा सूर्यतीर्थ आदि लौकिक तीर्थ भी वहाँ है। उस प्रदेश मे सब लोग गहरे लाल रग के और रेशम के वस्त्र धारण करते है। वहाँ मनुष्यो के उपकार सदाचार व मिष्ट सम्भाषण से विद्वान पुरुष प्रसन्न होते है। यही कारण है कि उस देश को 'विवेकबृहस्पति' की उपाधि दी गई है। सचमुच ससार मे जितने भी देश है, उनमें से कोई भी उसकी समता नही कर सकता। स्वर्ग तो मैने देखा नही। इसलिए उसके साथ इस प्रदेश की तुलना नही कर सकता। वहाँ के छोटे-छोटे ग्राम भी अतुल वैभवयुक्त होने के कारण नगरो के समान है और नगरो की गिनती तो मै आपके सामने कर ही नही सकता, क्योकि स्तम्भतीर्थ आदि स्वर्ग जैसे असख्य नगर उस भूमि मे है। वहाँ पर प्रह्लादनपुर नाम का एक नगर है। मेरा अनुमान है कि स्वर्गलोक मे भी उसके जैसा शायद ही कोई नगर हो। चूकि उस नगर में धनोपार्जन के अनेक साधन मिल जाते हैं, इसलिए लोग उसे 'स्थल वेलाकूल' (जमीन का बन्दरगाह) के नाम से भी विभूषित करते है।"[1]

यह वर्णन सुन कर व्यापारी सल्लक्षण का चित्त प्रह्लादनपुर (पालणपुर) जाने के लिए चचल हो उठा और वह थोडे ही दिनो में वहाँ पहुँच गया।

इस सक्षिप्त वर्णन मे कवि ने गुजरात के बारे मे अनेक बातो का उल्लेख किया है। उस प्रदेश की धान्य-सम्पत्ति, वनवैभव, भूमि की उर्वरता आदि का तो पता चलता ही है, साथ ही यह भी मालूम होता है कि गुजराती लोग समुद्र के किनारो से व्यवसाय करते थे। जगह-जगह पर प्याऊ, कुएँ, तालाब और अन्नक्षेत्र थे और वहाँ का महामार्ग कैसा था। यात्री सघन वृक्षो की पक्ति के नीचे चलते थे। इसलिए उन्हें सूर्य का ताप नही सताता था। इससे स्पष्ट है कि मार्ग के दोनो ओर लम्बे-लम्बे छायादार वृक्ष रहे होगे और वह महामार्ग आबू से लेकर सौराष्ट्र तक की भूमि को सुशोभित करता चला जाता रहा होगा। इस महामार्ग की वास्तविक स्थिति का उल्लेख भी 'समरारासु' और 'प्रबन्ध' में मिलता है। सम्भवत यही मार्ग राजमार्ग होगा और प्रतिदिन सैकडो की सख्या में मनुष्य और वाहन उसके ऊपर शान्तिपूर्वक चले जाते होगे।

शत्रुञ्जय तीर्थ के उद्धार का निश्चय करके समरसिंह ने पाटण के सूबे अलपखान से उसके लिए आज्ञा प्राप्त

---

[1] देखिये 'नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध', प्रस्ताव २, श्लोक ३७-६३।

की और मूर्ति के लिए त्रिसगमपुर नगर के राजा महीपाल देव से आरासण की खदान से 'फलही' (विराट शिला) मँगवाई। यह शिला उपर्युक्त राजमार्ग से होकर ही शत्रुञ्जय पहुँची। सबसे पहले यह शिला खेराल नामक नगर में गई और वहाँ से भाँडु होकर पाटण पहुँची।

शिला में से मूर्ति तैयार हो जाने का समाचार शत्रुञ्जय से मिलने पर समरसिंह ने अपने पिता जी के साथ बडा भारी सघ निकाला, जिसमें अनेक साधू, साध्वी, श्रावक व श्राविकाएँ सम्मिलित हुई। यह सघ पाटण से रवाना होकर आगे बढता हुआ अनुक्रम से शखारिका, सेरिसा, क्षेत्रपुर (सरखेज), धवलक्कपुर (धोलका), पिप्पलाली (पिपराली) होता हुआ शत्रुञ्जय पहुँचा।

'समरारासु' में महामार्ग में आये ग्रामो का निर्देश इस प्रकार है—

"सेरीसे पूजियउ पासु, कलिकालिहिं सकलो,
सिरखेजि थाइउ धवलकए सघु आविउ सयलो।
धधूकउ अतिक्रमिउ ताम लोलियाणइ पहुतो,
नेमिभुवणि उछवु करिउ, पिपलालीय पत्तो। (भाषा ६ . ५)
पालीताणइ नयरे सघ भयलि प्रवेसु। (भाषा ७ : १)

शत्रुञ्जय तीर्थ का उद्धार कर और मूल प्रतिमा की प्रतिष्ठा करके सघ सौराष्ट्र देश में प्रभासपाटण तक गया। वहाँ से शत्रुञ्जय वापस होकर पाटण लौट आया। वापसी मे इन ग्रामो का उल्लेख मिलता है—अमरावती (अमरेली), तेजपालपुर, गिरनार, वामनपुरी (वथली), देवपत्तन (प्रभासपाटन), कोडीनार, द्वीपवेलाकूल (दीवबन्दर), शत्रुञ्जय, पाटलापुर (पाटडी), शखेश्वरपुर, हारीज, सोइला-गाम और पाटण।

'समरारासु' में भी इसी मार्ग का निर्देश है—

"सोरठदेस सघु सचरिउ मा० चउडे रयणि विहाइ
आदिभक्तु अमरेलीयह मा० आविउ देसल जाउ" (भाषा ६ १-२)
"ठामि ठामि उच्छव हुअई मा० गढि जूनइ सपत्तु" (भाषा ६. ३)
"तेजि अगजिउ तेजलपुरे मा० पूरिउ सख आणदु" (भाषा ६ ४)
"वउणथली चेत्र प्रवाडि करे मा० तलहटी य गढमाहि,
ऊजलि उपरि चालिया ए मा० चउव्विह सघमाहि।
दामोदरु हरि पचमउ मा० कालमेघो क्षेत्रपालु,
सुवनरेहा नदी तहिं वहए मा० तरुवरतणउ झमालु॥" (भाषा ६ . ५)
"देवपटणि देवालउ आवइ सघह सरवो सरु पूरावई" (भाषा १० · २)
"कोडिनारि निवासण देवी अविक अबारामि नमेवी
दीवि वेलाउलि आवियउ ए।" (भाषा १० . ६)

वहाँ से शत्रुञ्जय होता हुआ सघ पाटण आने के लिए रवाना हुआ—

"पिपलालीय लोलियणे पुरे राजलोकु रजेई
छडे पयाणे सचरए राणपुरे, राणपुरे राणपुरे पहुचेई
वढवाणि न विलवु किउ जिमिउ करीरे गामि
मडलि होइउ पाडलए नमियऊ ए नमियऊ ए नमियऊ नेमि सु जीवतसामि
सखेसर सफलीयकरणु पूजिउ पास जिणिंदो" (भाषा १२ : ४-५)

'समरारासु' व 'नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्ध' के आधार से संघ के मार्ग में आये ग्रामों को क्रमबद्ध लिया जाय तो यह राजमार्ग निम्न ग्रामों में से होता हुआ चला जाता है

आगमण से सेरालु, भाडु, पाटण, शखारिका (?), सेरिसा, क्षेत्रपुर (सरखेज), धवलक्कनगर (धोलका), धंधूकउ (धंधूका), लोलियाणु, पिप्पलाली (पिपराल), शत्रुञ्जय (पालीताणा)।

वहां से चउड (?), अमरावली (अमरेली), तेजपालपुर (तेजलपुर), जूनागढ, वामनपुरी (वथली), देवपट्टन (प्रभासपाटण), कोडीनार, दीवबन्दर और शत्रुञ्जय।

शत्रुञ्जय से वापस लौटते समय समरसिंह ने दूसरा बड़ा मार्ग पसन्द किया। अर्थात् शत्रुञ्जय से पिप्पलाली (पिपरालु), लोलियाणु, राणपुर, वढवाणि (वढवाण), पाटलापुर (पाटडी), शंखेश्वरपुर (शंखेश्वर), हारिज, मोड़लागाम और पाटण।

चौदहवीं सदी का यह राजमार्ग था, ऐसा हम निःसंकोच कह सकते हैं।

अहमदाबाद]
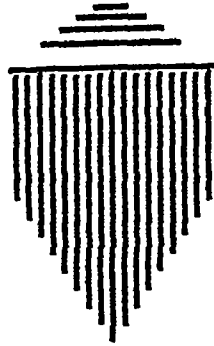
नल-दवदन्ती-चरित्र

[अज्ञात कविकृत सोलहवीं शताब्दी का प्राचीन गुर्जर काव्य]

सपादक—प्रो० भोगीलाल जयचन्दभाई सांडेसरा एम० ए०

नल-दमयन्ती के सुप्रसिद्ध कथानक का सक्षिप्त वर्णन एक छोटे से प्राचीन गुजराती काव्य के रूप में हमें प्राप्त हुआ है। पाटन-निवासी प० अमृतलाल मोहनलाल भोजक के सग्रह के एक हस्तलिखित गुटके में यह काव्य है और उसके १०५ से १०७ तक के पृष्ठो में वह लिखा हुआ है। काव्य के अत में प्रतिलिपि करने की तिथि नही है, पर गुटके के अन्य काव्यो के अत में तिथियाँ दी हुई है। उनसे पता चलता है कि गुटके के सव काव्यो की प्रतिलिपि सवत् १५४८ से १५६० के बीच की गई है। अत यह मानना उचित प्रतीत होता है कि उक्त 'नल-दवदन्ती-चरित्र' की प्रतिलिपि भी उसी काल में हुई होगी।

काव्य के अत में उसके रचयिता का नाम नही है और न रचना सवत्। पाटण के सागर के उपाश्रय-भडार मे इस काव्य की तीन पृष्ठ की एक हस्तलिखित प्रति है, जिसके अत मे लेखन सवत् १५३९ दिया है।[1] अत यह काव्य सवत् १५३९ से पहले का है, यह निश्चित है। उसके रचनाकाल की पूर्वमर्यादा निश्चित करने का कोई साधन नही है, किन्तु उसकी भाषा के स्वरूप से ऐसा प्रतीत होता है कि उसका निर्माण विक्रम की सोलहवी शताब्दी में हुआ होगा।

इस काव्य के रचयिता जैन है। गुजरात की जैन व जैनेतर जनता मे नल-दमयन्ती की कथा अत्यत लोकप्रिय है। अनेको कवियो ने इस कथानक के आधार पर काव्यो की रचना की है। जैनेतर कवियो मे विक्रम की सोलहवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे भालण ने और उत्तरार्ध में नाकर ने एव अठारहवी शताब्दी मे प्रेमानन्द ने तद्विषयक काव्यग्रन्थ तैयार किये है। उनमें प्रेमानन्द कृत नलाख्यान तो अपने विशिष्ट काव्य गुणो के कारण गुजरात के साहित्य-मर्मज्ञो तथा सामान्य जन-समाज में अपूर्व लोकप्रियता का भाजन हो गया है।

जैन कवियो मे प्रस्तुत काव्य के अज्ञात रचयिता के अतिरिक्त ऋषिवर्द्धन सूरि ने सवत् १५१२ में 'नल दवदन्ती रास—नलराज चउपई', वाचक नयसुन्दर ने सवत् १६६५ में 'नल दमयन्ती रास', वाचक मेघराज ने सवत् १६६४ में 'नलदमयन्ती रास', वाचक समयसुन्दर ने सवत् १६७३ में 'नल दवदन्ती रास' और पालनपुर के श्रीमाली जाति के वणिक वासण सुत भीम ने सवत् १६२७ में नलाख्यान की रचना की है। इन सब रचनाओ मे भी प्राचीनता की दृष्टि से उक्त काव्य सबसे पुराना है। यद्यपि काव्य की दृष्टि से यह बिल्कुल सामान्य कृति है, पर भाषा और शैली के विचार से इसका प्रकाशन निस्सदेह लाभदायक सिद्ध होगा। इसकी हस्तलिखित प्रति के उपयोग की अनुमति के लिए हम प० अमृतलाल भोजक के आभारी है।

मूल काव्य इस प्रकार है

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

सरसति सामणि सगुरु पाय हीयडइ समरेवि,
कर जोडी सासण देवि अविक पणमेवि,
नल-दववती तणु रास भावइ पभणेई,

---

[1] देखिये उस प्रति की पुष्पिका—"इति श्री नलदमयन्ती रास. समाप्त॥ सवत् १५३९ वर्षे लिखित ॥ प० समयरत्नगणि शिष्य हेमसमयगणि लिषत ॥

एकमना थई भवीय लोक विगतइ निसणेइ ,
निषध नगर छइ निषधराय सुर सुदरि राणी, ५
शीयल सोभागइ आगली ए नलराय वषाणी,
नल-कुवर बे अछइ पुत्र, गुणवन्त भणीजइ,
नल-कुवरना रूप वन्न कुण ऊपम दीजइ,
कुडिनपुरि छइ भीमराय, भुज प्राणइ भीम,
को सीमाडउ तेह तणी नवि चापइ सीम, १०
अति प्रीतइ गहगहीय गेलि राणी पुष्पदती,
माय ताय मन मोहती ए बेटी दवदती,
सोभागइ सोहामणी ए सवि विद्या जाणइ,
सहस जीभ हुइ मुखहमाहि तउ रूप वखाणइ,
प्रतिमा शाति जिणेस तणी सिद्धायक आपीय, १५
दवदतीना मनमाहि जिणधर्म्म स थापीय,
भीमरायु वर कारणिइ ए सयवर मडावइ,
हसइ तेडिउ नलहराय परणेवा आवइ,
लाख अग्यारह राय माहि रूपइ मन मोहइ,
गहगण तारा माहि जेम पूनमि ससि सोहइ; २०
पच रूप करी देवराय वरमडपि आवइ,
दवदतीना मनह माहि एकइ नवि भावइ,
दवदतीना मनह माहि निरमल मति सूधी,
वरमाला वेगिइ करी ए नलकठ जि दीधी,
नल परणीनइ चिंतवइ ए दवदती राणी, २५
'सवि बहिनर तुह्मे साभलु, ए सवि सहीय समाणी,
गय भवि भगतिइ अति सभागि मइ मुनि वहिराव्या,
साहमीय वच्छल सघ सहित मइ गुरु पहिराव्या;
बधणि बांध्या जीवडा ए कइ मइ म्हेलाव्या,
बालक मायनइ मेलव्याए, कय दव उल्हवीआ, ३०
कइ जिण पूजिया त्रिणि काल दिनप्रति मइ भगति,
वारे व्रत किइ नियमसहित मइ पालिया शक्तिइ;
कइ गुरु देव ज द्रव्य मइ ए रूडइ प्रतिपालउ,
सवि अभक्ष मइ परिहरिया ए समकित अजुआलिउ,
भूखिया तरस्या सार करी, कइ मइ तप कीधउ,' ३५
नल परणीनइ चिंतवइ ए, 'माण सफल लीधउ';
हरषिउ भीम नरेसु राय जोसी तेडावइ,
मडपि माहि सोनातणी ए चउरी बधावइ;
सासू पूषइ माहरइ ए वर आविउ जाम,
रगिइ जोसी समइ समइ वरतावइ ताम, ४०

प्रीति सरिसूं वरवहू ए कसार आरोगइ,
अणू अ सी डाढडी य गलइ ए तेणइ गधि सजोगिइ,
लाधा लाष तुरीय, सहिस गयमर मदि माता,
मणि माणिक सोवन्न असष्य, सउ गाम वसतां,
सवि पहिर्या, सवि ऊढीआ ए वर जान चलावइ, ४५

सघ देश लगइ भीमराय वउलावा आवइ,
भणइ भीम, 'दवदती, वछि, नलसिउ नेह पाले,
सइयणि, धोबणि, अघम जाति मालणि सग टाले;
जोणइ प्रिय परुसीइ ए ते वात म करजे,
सुषि दुषि आविया प्रिय तणइ ए तू पाय अणसरजे, ५०

वउलावी वलिउ भीमराय कुंडनपुरि पुहुतु,
नल पुहुतु दवदती सहित निषधइं गहिगहिउ,
(ढाल वीवाहलानु)

नियरि पुरि हुइ वधामणा ए, वर नितु नितु आवइ भेटणा ए,
आढण पाणी छाडती ए, दवदती मदिर प्रापती ए;
नव लख सोना सिउ नमइ ए, तीणइ सासूनइ वहूयर अति गमइ ए, ५५

पाय पडती द्रव्य परखती ए, तीणइ गोत्रनी नारि सवि हरपती ए;
पुत्रवती प्रियसिउ मिलीए, 'वहू, जीवजे कोडि दीवालडी ए !'
दस दिन हूइं दसाईया ए, तीणइ मायताय बिहु हरषीआ ए;
निषघ भणइ, 'नल कहिउ कीजइ, राजनउ भार जउ उद्धरीजइ,
व्रत लेसिउ अम्हिइ सहीइ ए, तप करिवउ वन कासगि रही ए; ६०

बलि करी राज सो आपीउ ए, नल राजनइ भार सउ थापीउ ए,
देइ सीखामण निषघ तात, 'वत्स, वेसि सउ नरवर, म करि घात;
सात विसन तइ टालिवा ए, छ दरसिणि रूडी परि पालवा ए,
राषेय राज रूडी परिइ ए, नवइ करि कोइ रखे पीडीइ ए,
गुरुजन तइ न विलोपिवा ए, जिणमदिर आघाट आरोपिवा ए, ६५

देइ सीखामण चालीउ ए, नल राजनउ भार स आपीउ ए,
कूवर वुद्धि कूडी करइ ए, नलना पग भगतइ अणसरइ ए,
आराघइ एक कापडी ए, कूवरनइ विद्या सापडीइ ए,
कूवर कहइ, 'नल, कहिउ य कीजइ, एह अथिर लच्छी तणु भोग लीजइ,
आलि माहिइ भव काईं गमु ए ? हिव सार पासे सरिसा रमउ ए', ७०

रमतला राज हरावीउ ए, दववतीय विसन नवारीउ ए,
हारि आगलि साभलइ नहीं ए, दववतीय तु पाछी रही ए,
कूवरि सहूइ हरावीउ ए, दवदतीय सूय करावीउ ए,
दवदती जीती देवरि ए; कूवर कहइ, 'जाउ अतेउरि ए,
एक रथ मुहते अपावीउ ए, नल दवदती सरिसउ चलावीउ ए, ७५

प्रकृति-कन्या

[कलाकार—श्री सुधीर खास्तगीर]

मारगि चोरे रथ हरउ ए, नल नारिसिउ पालउ साचरिउ ए
प्रिय पूठिइ पाली पलइ ए, त्रपा भूपइ दवदती टलविलइ ए
कहु, 'प्रिय पीहर केतलइ ए ?' 'इणि वढि वीसामउ तेतलइ ए'
दवदती य पुढइ साथरइ ए, नल ऊढणउ ऊपरि पाथरइ ए.
चीतवइ नल, 'नारिसिउ ए, हिव सासरइ सइ मुहि जाइसिउ ए ? ८०
सूती अवला एकली ए, जउ दोहिलउ होसइ तु मूकिसउ ए'
चोर चोरी पाछउ रहिउ ए, नलिइ पीहरनउ मारग कहिउ ए,
पाछिली रातइ नीसरइ ए, दवदती य समणडउ अणसरइ ए.
फल पाती थई आकली ए, जागी तउ प्रिय-सारथि टली ए.

(सामानु वन्ननउ ढाल)

दवदती पुहवइ पडइ, सपी अगज मोडइ रे, ८५
मोडइं नइ त्रोडइ हार हीआ तणु ए.
वरह दावानल आकुली, सपी 'प्रिय प्रिय' भापइ रे,
भापइ नइ दापइ, 'कत, किहा गयु ए ?
वनदेव, तुम्ह वीनवउ, सवा नलवर दापउ रे,
दापउ नइ भापउ कत किहा गउ ए ? ९०
चद सूरिज साचू कहु मोरउ जीवन जाणउ रे,
जाणउ नइ आणउ वर. वेगिइ करी ए
रूप सोभागइ आगलु, सुरकन्या कइ लीवउ रे,
लीघउ नइ दीघउ दाघ हीइ घणु ए.
कइ वनि दाधा दव घणा, सर फोडीय पाल रे ? ९५
पालइ नइ डालि मोडी तरूयर तणी ए ?
रपि सताप्या कइ घणा, कइ मइ दीघा छइ आल रे ?
आल नइ वालक माय विछाहीया ए ?
नल वाल्हा विण हे सपी, किम यौवन जासिइ रे ?
जासइ नइ थासिइ अग अगारूआ ए १००
नर नइ नारी जोडि करी, सखी, सृष्ट नीपाइ रे,
पाइ नइ भाइ काइ करी एकली ए ?
किस्या उलभा दैव दिउ ? सपी मूं क्रम छइ कूडूं रे,
कूडउ नइ रूडउ शील न पालीउ ए
एक वर्रि मोरी वीनतडी सुणि सुदर लाडण रे, १०५
लाडण नइ माडण नारि न नाहलू ए.
धणी विहूणी धरणि ढली, सखी मुपि मूकती सास रे
सास नइ आस टली जीवहु तणी ए
पीहरि पुहुती प्रिय तणी मइ वाहर जउ करवी रे,
वाहर नइ थाहर अने थिमूं नहीं ए. ११०

बाघ सिंघ चित्तर घणा, भूइ बीहती चालइ रे,
चालइ नइ सालइ वरसारस घणु ए.
नइ नाला पूरइ वहइ, पटुलडी भीजइ रे,
भीजइ नइ खीजइ चींकण लपसणइ ए
तापस परि तप छट्ठ करी प्रतिबोध्या छइ तापस रे, ११५

तापस नइ पाय सवे मइ निरजणिया ए
चन्द्रयशा मासी मिली, सखी अचलपुरि पुहुती रे,
पुहुती नइ वहिती कुडिनपुरि गइ ए
भीमराय षोलइ लेइ अग अतिघणु जोइ रे,
जोइ नइ रोइ , नलगुण साभरइ ए १२०

'तात, जो आवु नल घणी, मूं जीवी छइ काज रे,
काज नइ आज ज दूत ज मोकलु ए.'

(हिव धुवुल)

जव छाडी नल साचरिउ, दव परजलउ नाग
काढता करि अहि डसिउ, सूका छइ हाथ नइ पाग
बीला वे तस आपीया तालिक कीउ पसाउ. १२५

समसमापुरि तिणि मूकीउ, तिहा छइ रथपूर्ण राउ.
नित विनोद कउतिग करइ, हुडिक नामइ सिद्ध;
सूरिज 'परस केलवइ अभिनवु दा 'प्रसिद्ध.
हरिमित्र बडूउ तिहा गउ, मिलिउ ते हुउ सूयार,
लाष सोना तिणि आपीउ अनइ एकाउलि हार. १३०

हूंडिक तेडेवा कारणि सयवर कूडउ रचीउ;
अश्वरिदय हुडउ जपइ, रिथपूर्ण त्रिहु पुहुरे जाइ.
रिथपूर्ण मोलीयडउ पडिउ, 'कूवडा, रथ हवइ राखे'.
'पचवीस जोयण ते छाडिउ, रथिपूर्ण, वात म करिये.'
अश्वरिदये हुडउ जपइ, सख्या नल नइ दीधी. १३५

राजह लेवा कारणि नलनूं काज ते सीधु,
भीमइ ऋतिपर्ण रायुनइ भलउ प्रवेस ते दीधउ.

(ढाल)

कर जोडी अवला वीनवइ, 'विरह-दवानल काइ तू दहिइ ?
दासी तह्मारी हू छु नाथ, दुषि सागर पड ता दइ हाथ,
सुपुरिसनु नही ए आचार, छाडइ जे निरधार; १४०

नारि तणा नीसासा पडइ, घणा जन्म ते नर रडवडइ.'
रूप प्रगट करइ नल वर राउ, दमयती नइ मनि उच्छाह.
भीमराय रलीआइत थउ, निषधइ नयरि राजा नल गयु
नलराय जीतू प्रथवीराज, कूबर कीधु जेणइ युवराज;
घवल मगल परि घरि उच्छाह, नलह नरिंद हूउ पहुवी नाह. १४५

साते खेत्र धन वावरइ, दुखीआ पीडचा नइ ऊधरइ,
निकरा करिया ते सघला लोक, पृथवी वर्त्तिउ पुण्यश्लोक.
बार घडी जिणइ उघउ लीध, बार बरस तीणइ वरहु कीध,
पुत्र राजि बइसारी करी, नल-दवदती संयम वरी.
क्षमा सरीसा वे तप करइ, अष्ट कर्म सवेगइ तरइ. १५०

देवलोकि वेहू सुरवरइ, सयल सघनइ आणद करइ.
भणइ, भणावइ, जे साभलिइ, अष्ट महा सधि तेह घरि फलइ,
जे भणेसइ नर नइ नारि, नव नधि तेह तणइ घर बारि
इति नलदवदती चरित्र समाप्त ॥ भुवनवल्लभगणि[2] लषित ॥

अहमदावाद]

---

[1] इस जगह मूल प्रति का किनारा घिस जाने से एकाध अक्षर लुप्त होगया मालूम होता है ।

[2] प्रतिलिपिकर्त्ता का नाम पीछे से किसी ने मिटाने का प्रयत्न किया है । फिर भी कोशिश करने पर वह पढ़ा जाता है ।

: ७ :

बुन्देलखण्ड

ओरछा का किला

बुन्देलखण्ड

स्वर्गीय मुन्शी अजमेरीजी

चदेलों का राज्य रहा चिरकाल जहाँ पर,
हुए वीर नृप गण्ड, मदन परमाल जहाँ पर,
बढा विपुल वल विभव वने गढ दुर्गम दुर्जय,
मंदिर महल मनोज्ञ सरोवर अनुपम अक्षय,
वही शौर्य्य सम्पत्तिमयी कमनीय भूमि है।
यह भारत का हृदय रुचिर रमणीय भूमि है।।

आल्हा ऊदल सदृश वीर जिसने उपजाये,
जिनके साके देश विदेशो ने भी गाये,
वही जुझौती जिसे बुंदेलो ने अपनाया,
इससे नाम बुंदेलखण्ड फिर जिसने पाया,
पुरावृत्त मे पूर्ण परम प्रख्यात भूमि है।
यह इतिहास-प्रसिद्ध शौर्य्य संघात भूमि है।।

यमुना उत्तर और नर्मदा दक्षिण अञ्चल,
पूर्व ओर है टोंस पश्चिमाञ्चल में चम्वल,
उर पर केन धसान वेतवा सिंध वही है,
विकट विन्ध्य की शैल-श्रेणियाँ फैल रही हैं,
विविध सुदृश्यावली अटल आनन्द-भूमि है।
प्रकृतिच्छटा वुंदेलखण्ड स्वच्छन्द भूमि है।।

अडे उच्च गिरि और सघन वन लहराते है,
खडे खेत निज छटा छवीली छहराते है,
जरख, तेंदुए, रीछ, वाघ स्वच्छन्द विचरते,
शूकर, साँवर, रोझ, हिरन, चीतल है चरते,
आखेटक के लिए सदा जो भेट भूमि है।
अति उदण्ड वुन्देलखण्ड आखेट-भूमि है।।

गढ गवालियर सुदृढ़ कोट नामी कालिंजर,
दुर्गम दुर्ग कुडार कठिन कनहागढ़ नरवर,
छोटे मोटे और सैकडो दुर्ग खडे है,
मानो उस प्राचीन कीर्ति के स्तम्भ गड़े है,
दुर्ग-मालिकामयी वीर्य दृढ़ अङ्ग-भूमि है।
अरि-दर्पघ्न वुंदेलखण्ड रण रङ्ग-भूमि है।।

हुए यहाँ पर भूप भारतीचन्द बुँदेला,
शेरशाह को समर सुलाया कर रण-खेला,
मधुकरशाह महीप जिन्होंने तिलक न छोड़ा,
अकबरशाह समक्ष हुक्म शाही को तोड़ा,
यह वीरों की रही अनोखी आन भूमि है।
वीर-प्रसू बुँदेलखण्ड वर बान भूमि है॥

दानवीर वृसिंह देव ने तुला दान में,
इक्यासी मन स्वर्ण दे दिया एक आन में,
जिसकी वह मधुपुरी साक्ष्य अब भी देती है,
नहीं अन्य नृप नाम तुल्यता में लेती है,
ऐसे दानी जने यही वह दान-भूमि है।
सत्वमयी बुंदेलखण्ड सन्मान-भूमि है॥

कवि ने कहा "नरेन्द्र, गौड़वाने की गायें,
हल में जुत कर विकल बिलपती है अवलायें।"
पार्थिव प्रबल पहाड़सिंह सज सुन्दर वारण,
चढ़ दौड़े ले चमू किया गौ-कष्ट निवारण,
गौ-द्विज-पालक रही सदा जो भूमि है।
सत्यमूर्ति बुंदेलखण्ड सत्कर्मभूमि है॥

हुए यहीं हिंदुवान पूज्य हरदौल बुँदेला,
पिया हलाहल न की भ्रातृ-इच्छा-अवहेला,
पुजते है वे देवरूप प्रत्येक ग्राम में,
है लोगो की भक्ति भाव हरदौल नाम में,
यही हमारी हरी भरी हर देव भूमि है।
वदनीय बुंदेलखण्ड नर देव भूमि है॥

थे चम्पत विख्यात हुए सुत छत्रसाल-से,
शत्रु जनों के लिये सिद्ध जो हुए काल-से,
जिन्हें देखकर वीर उपासक कविवर भूषण,
भूल गये थे शिवाबावनी के आभूषण,
यह स्वतंत्रता-सिद्ध-हेतु कटिबद्ध भूमि है।
सङ्गरार्थ बुंदेलखण्ड सन्नद्ध भूमि है॥

यहाँ वीर महाराज देव से जङ्ग जोड़ना,
काल सर्प की पूँछ पकड़ कर था मरोड़ना,
मानी प्रान अमान बान पर बिगड पडे थे,
वना राछरा शूर सुभट जिस भांति लड़े थे,
रजपूती में रँगी सदा जो सुभट भूमि है।
वीर्यमयी बुंदेलखण्ड यह विकट भूमि है॥

लक्ष्मीवाई हुई यहाँ झाँसी की रानी,
जिनकी वह विख्यात वीरता सब ने मानी,
महाराष्ट्र का रक्त यहाँ का था वह पानी,
छोड गया ससार मध्य जो कीर्ति-कहानी,
अवला सवला बने, यही वह नीर-भूमि है।
वीराङ्गना बुदेलखण्ड वर वीर-भूमि है॥

तुलसी, केशव, लाल, विहारी, श्रीपति, गिरधर,
रसनिधि, रायप्रवीन, भजन, ठाकुर, पदमाकर,
कविता-मदिर-कलश सुकवि कितने उपजाये,
कौन गिनावे नाम जाँय किससे गुण गाये,
यह कमनीया काव्य-कला की नित्य भूमि है।
सदा सरस बुदेलखण्ड साहित्य-भूमि है॥

ग्राम-गीत ग्रामीण यहाँ मिल कर गाते है,
सावन, सैरे, फाग, भजन उनको भाते है,
ठाकुरद्वारे यहाँ अधिकता से छवि छाजें,
मन्दिर के अनुरूप जहाँ सङ्गीत-समाजें,
यह हरिकीर्तनमयी प्रसिद्ध पुनीत भूमि है।
स्वर-सङ्कुलित बुदेलखण्ड सङ्गीत-भूमि है॥

यहाँ समय अनुसार सभी रस हम पाते हैं,
वन, उपवन, बूटियाँ, फूल, फल उपजाते हैं,
गिरि-वन-भूमि-प्रदत्त द्रव्य मिलते मनमाने,
गुप्त प्रकट हैं यहाँ हेम हीरो की खानें,
यह स्वतन्त्र महिपाल-वृन्दमय मान्य भूमि है।
वसुन्धरा वुन्देलखण्ड धन-धान्य-भूमि है॥

यहाँ सेउडा सिंघ मध्य सनकुआ जहाँ है,
वह विस्तृत ह्रद स्वत सुनिर्मित हुआ जहाँ है,
इधर दुर्ग उत्तुङ्ग उधर बिन्ध्याचल ऊपर,
वर्षा में वह दृश्य विलक्षण है इस भूपर,
सनकादिक की तीव्र तपस्या-स्थली भूमि है।
भव्य दृश्य बुदेलखण्ड वह भली भूमि है॥

चित्रकूट गिरि यहाँ जहाँ प्रकृतिप्रभुताद्भुत,
वनवासी श्रीराम रहे सीता-लक्ष्मण-युत,
हुआ जनकजा-स्नान-नीर से जो अति पावन,
जिसे लक्ष्य कर रचा गया धाराधर-धावन,
यह प्रभु-पद-रजमयी पुनीत प्रणम्य भूमि है।
रमे राम बुदेलखण्ड वह रम्य भूमि है॥

यहाँ ओरछा राम अयोध्या से चल आये,
और उनाव प्रसिद्ध जहाँ बालाजी छाये,
वह खजुराहो तथा देवगढ अति विचित्र हैं,
त्यो सोनागिरि तीर्थ जैनियों का पवित्र है,
तीर्थमयी जो सकल साधना-साध्य-भूमि है।
अति आस्तिक बुदेलखण्ड आराध्य भूमि है॥

चिरगाँव]
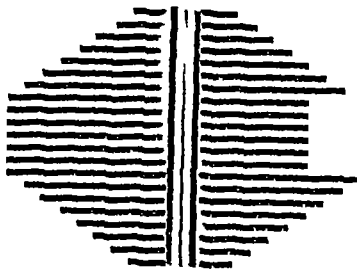
बुन्देलखण्ड के इतिहास की कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री

श्री रघुवीरसिह एम्० ए०, डी०लिट्०

यह देख कर किसे खेद न होगा कि अब तक बुन्देलखण्ड का कोई भी अच्छा प्रामाणिक इतिहास नही लिखा गया है। गोरेलाल तिवारी कृत 'बुन्देलखण्ड का सक्षिप्त इतिहास' इस कमी को पूरी करने का सर्व-प्रथम प्रयत्न था। अतएव ऐसे प्रारभिक प्रयत्न में जो त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक है, वे सब उक्त ग्रथ में पाई जाती है। सच पूछा जाय तो हजारो वर्षो का ठीक-ठीक क्रमवद्ध इतिहास लिखना किसी भी एक इतिहासकार के बूते की बात नही है, विशेपतया जब कि उस इतिहासकार को प्रत्येक काल के लिए पूरी-पूरी खोज और आवश्यक गभीर अध्ययन करना पडे। बुन्देलखण्ड परिषद् ने बुन्देलखण्ड का इतिहास लिखने का प्रस्ताव पास किया है, परन्तु उक्त आयोजन को प्रारभ करने मे समय लगेगा। प० बनारसीदास जी चतुर्वेदी उस युग के स्वप्न देखते है जब बुन्देलखड के सब प्रसिद्ध महत्वपूर्ण व्यक्तियो की सुन्दर प्रामाणिक जीवनियाँ लिखी जा चुकी होगी, परन्तु अभी तक किसी ने छत्रसाल बुन्देला का भी प्रामाणिक सम्पूर्ण जीवन-चरित लिखने का विचार नहीं किया है। दूरदेशी बगाली और मलयालम भाषा के उपन्यासकारो ने छत्रसाल की जीवन-घटनाओ को लेकर अनेकानेक ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना की है, लेकिन प्रामाणिक इतिहास और जीवनियो के अभाव मे वे कई एक भद्दी गलतियाँ भी कर बैठे है।

अकबर के शासनकाल से ही बुन्देलखण्ड का मुगल साम्राज्य के साथ पूरा-पूरा सबध स्थापित हो गया था, परन्तु औरगजेब के गद्दी पर बैठने के बाद मुग़ल साम्राज्य एव बुन्देलो मे जो विरोध उत्पन्न हुआ, वह छत्रसाल बुन्देला की मृत्यु तक निरन्तर चलता ही रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि इन अस्सी वर्षो का बुन्देलखण्ड का इतिहास मुग़ल साम्राज्य के इतिहास के साथ इतना सम्बद्ध हो गया है कि एक के अध्ययन के बिना दूसरे का ज्ञान पूरा नही हो सकता। यही कारण है कि बुन्देलखण्ड के तत्कालीन इतिहास की प्रचुर सामग्री मुगल साम्राज्य के इतिहास सबधी आधार-ग्रथो में हमें प्राप्त होती है। बुन्देलखड एव मराठो के इतिहासकार अपने चरित्र-नायक या प्रान्त-विशेष का इतिहास लिखने मे प्राय उनके विरोधी मुग़लो से सम्बद्ध ऐतिहासिक सामग्री की पूर्ण उपेक्षा करते है, किन्तु यह प्रवृत्ति ऐतिहासिक शोध की दृष्टि से उचित नही है।

औरगजेब एव उसके उत्तराधिकारियो के शासनकाल-सबधी ऐसी ऐतिहासिक सामग्री हमे प्राप्त है कि उनसे बुन्देलखण्ड के तत्कालीन इतिहास पर बहुत-कुछ प्रकाश पडता है एव उसकी सहायता से बुन्देलखड में होनेवाली घटनाओ का ठीक-ठीक क्रमवद्ध इतिहास लिखा जा सकता है। बुन्देलखड का तत्कालीन इतिहास लिखते समय इस ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग करना अत्यावश्यक है। यह सारी सामग्री विशेपतया फारसी भाषा में ही प्राप्य है।

१—मुगलकालीन अखबारात एव पत्र-सग्रह

इस सामग्री में सर्व प्रथम आते है मुगल दरबार मे लिखे गये 'अख़बारात-इ-दरबार-इ-मुअल्ला।' औरगजेब के समय में दिन भर में जब-जब दरबार होता था, वहाँ अखबार-नवीस उपस्थित रहते थे, जिनका कार्य यही होता था कि दरबार मे बादशाह की सेवा मे अर्ज किए गए साम्राज्य-शासन के वृतान्त, सुदूर प्रान्तो के हालात एव इसी प्रकार की सारी बाते और उन पर बादशाह द्वारा दिए गए हुक्मो का पूरा-पूरा ब्योरा लिखें। इन अखबारात की नकलें प्राय सारे प्रधान उमरा एव नवाब प्राप्त कर लेते थे। औरगजेब के शासनकाल के ऐसे अखबारात का एक बहुत बडा सग्रह जयपुर राज्य के सग्रह में प्राप्त था। इस सग्रह मे से कुछ बडल कर्नल टॉड अपने साथ लेगया और ये अखबारात आजकल लदन की रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी के सग्रह में सुरक्षित है।

लदन मे प्राप्य इन सब अखबारात की नकलें सर यदुनाथ सरकार ने करवाई थी और अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑव औरगजेब' (जिल्द १-५) लिखते समय उन्होने इन अखबारात का पूरा प्रयोग किया था। सर यदुनाथ सरकार के सग्रह में प्राप्य इन सब अखबारात की नकलें मैंने अपने निजी पुस्तकालय के लिए भी करवाई है।

कर्नल टॉड अखबारात के सब बडल नही ले जा सका। कई एक आज भी जयपुर-राज्य के सग्रह में विद्यमान है। बरसो के प्रयत्न के बाद मुझे इन बाकी रहे अखबारात की भी बहुत-सी नकलें जयपुर-राज्य की कृपा तथा सहयोग से प्राप्त हुई है। इस प्रकार औरगजेब के शासनकाल के प्राय सब प्राप्य अखबारात का सग्रह हमारे पुस्तकालय में हो गया है। हजारो पृष्ठो में सगृहीत ये अखबारात बुन्देलखण्ड के तत्कालीन इतिहास पर बहुत प्रकाश डालते है। सब महत्वपूर्ण घटनाओ का उल्लेख हमें वहाँ मिलता है। छत्रसाल के विद्रोह, उसकी भाग-दौड, उसके हमलो, लूट-मार और युद्धो का विस्तृत वर्णन और उल्लेख इन अखबारात मे यत्र-तत्र आता है।

जयपुर-राज्य मे प्राप्य अखबारात का यह सग्रह औरगजेब की मृत्यु के साथ ही समाप्त नही हो जाता है, अपितु उसके उत्तराधिकारियो के समय में फर्रुखशियर के अतिम दिनो तक के अखबारात भी हमें वहाँ प्राप्त होते है। औरगजेब के उत्तराधिकारियो के काल के इन अखबारात की नकलें कोई तीन हजार पृष्ठो में हुई है। इन अखबारात का अध्ययन करने से हमे ज्ञात होता है कि इन दस बरसो में छत्रसाल प्राय मुगलो के साथ सहयोग ही करते रहे।

इन अखबारात के अतिरिक्त हमें जयपुर-राज्य के सग्रह से कई एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पत्र—**'हस्ब-उल-हुक्म'**—आदि भी प्राप्त हुए है। उनसे भी इस काल के बुन्देलखण्ड के इतिहास की कई एक महत्वपूर्ण परन्तु अब तक अज्ञात घटनाओ का पता चलता है। इस प्रकार के पत्रो आदि की कई नकले पहिले सर यदुनाथ सरकार ने प्राप्त की थी, जो मोटी-मोटी इक्कीस जिल्दो में सगृहीत है। पिछले बरसो मे इस प्रकार की और भी नई सामग्री प्राप्त हुई है, जिनकी नकले उसी प्रकार की दस और जिल्दो मे समाप्त हुई।

राजस्थानी या पुरानी हिंदी में लिखे गए कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पत्र भी जयपुर-राज्य के सग्रह में हमे मिले है। इन पत्रो में जहाँ हमे शिवाजी की दिल्ली-यात्रा, वहाँ औरगजेब के दरबार मे उनका उपस्थित होना तथा दिल्ली से चुपके-से भाग खडे होने का विशद विवरण प्राप्त होता है। छत्रसाल की बुन्देलखण्ड मे धूमधाम का उल्लेख भी हम यत्र-तत्र पाते है। छ मोटी-मोटी जिल्दो में ये राजस्थानी पत्र सगृहीत है।

अखबारात तथा जयपुर-राज्य से प्राप्त इन पत्र-सग्रहो के अतिरिक्त औरगजेब के शासनकाल के अन्य पत्र-सग्रह भी हमे मिलते है, जिनमे से कुछ में तो प्रधानतया औरगजेब द्वारा लिखे हुए पत्र ही है। औरगजेब की गणना ससार के सुप्रसिद्ध पत्र-लेखको में की जानी चाहिए। अपने विशाल साम्राज्य के दूरस्थ प्रान्तो और प्रदेशो के शासको तथा सूबेदारो अथवा विभिन्न चढाइयो पर जाने वाले सेनापतियो को छोटी-छोटी बातो पर भी वह विस्तृत आदेश देता था। इस कारण औरगजेब के पत्रो मे हमें तत्कालीन घटनाओ का बहुत ही प्रामाणिक वर्णन मिलता है। औरगजेब के पत्रो के कई एक सग्रह हमें मिलते है। दो सग्रह **'अहकाम-इ-आलमगीरी'** तथा **'रुक्कात-इ-आलमगीरी'** नाम से छपकर प्रकाशित भी हुए है। परन्तु तीन महत्वपूर्ण सग्रह अभी तक दुष्प्राप्य है एव उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी भारत के कुछ पुस्तकालयो मे ही देखने को मिलती है। ये तीन सग्रह है—**'आदाब-इ-आलमगीरी'**, इनायतुल्ला खाँ द्वारा सगृहीत **'अहकाम-इ-आलमगीरी'** और **'कालिमात-इ-तैय्यिबात'**। इन तीनो सग्रहो की नकले हमारे निजी सग्रह मे विद्यमान है। चम्पतराय तथा छत्रसाल की जीवनियो के लेखको को चाहिए कि इन पत्रसग्रहो का सूक्ष्म अध्ययन कर उनसे अत्यावश्यक ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त करें।

२—मुहम्मद बगश और बुन्देलखण्ड

छत्रसाल बुन्देला के जीवन के अन्तिम दस-बारह वर्ष मुहम्मद बगश का सामना करते हुए ही बीते। मुहम्मद बगश को सन् १७१९ ई० में पहली बार बुन्देलखड में जागीर मिली थी। तब से बुन्देलखण्ड मे इस विरोध एव युद्ध का

प्रारभ होता है। तत्कालीन ऐतिहासिक फारसी ग्रथो में बगश के युद्धो का पर्याप्त विवरण मिलता है। बंगश द्वारा लिखे गए पत्रो का एक वृहत् सग्रह 'खाजिस्ता-इ-कलाम' शीर्षक प्राप्य है। पिछले मुगलो के सुप्रसिद्ध इतिहासकार विलियम इर्विन ने उक्त फारसी ग्रथो के आधार पर बगश के घराने का विस्तृत इतिहास लिखा था, जिसमें बुन्देलखड में घटने वाली तत्कालीन घटनाओ का प्रामाणिक वर्णन दिया है। इर्विन कृत यह ग्रथ 'हिस्ट्री ऑव बगश नवाब्ज' कलकत्ता की एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में सन् १८७८-१८७९ ई० में प्रकाशित हुआ था और उसके अलग रिप्रिंट्स भी तब प्राप्य थे। परन्तु आज यह पुस्तक अलभ्य है। बुन्देलखण्ड के इतिहास के लिए यह ग्रथ बहुत ही महत्व-पूर्ण है। यदि कोई परिश्रमी इतिहासकार 'खाजिस्ता-इ-कलाम' का पूर्ण अध्ययन कर सके तो उससे बुन्देलखण्ड सबधी कई एक छोटी-छोटी, पर महत्वपूर्ण बातो पर बहुत-कुछ जानकारी प्राप्त हो सकेगी। इस फारसी ग्रन्थ की केवल एक ही प्रति का अब तक पता लगा है और वह इडिया आफ़िस लाइब्रेरी, लदन में सुरक्षित है। उसकी एक नकल हमने निजी पुस्तकालय के लिए करवाई थी और वह प्राप्य है।

३—मराठे और बुन्देलखण्ड

सन् १६७०-७१ ई० के जाडे में छत्रसाल बुन्देला दक्षिण में जाकर शिवाजी से मिला था, परन्तु उसके बाद कोई पचास-पचपन वर्ष तक मराठो का बुन्देलखण्ड के साथ कोई विशेष सबध नही रहा। सन् १७१५ ई० में तो जब सवाई जयसिंह मालवा पर आक्रमण करने वाले मराठो का सामना करने को बढा तब छत्रसाल जयसिंह के साथ थे और पिलसुद के युद्ध में उन्होने मराठो को बुरी तरह से हराया था। किन्तु सन् १७२८ ई० के अन्तिम महीनो में बाजीराव ने बुन्देलखण्ड पर चढाई की और बगश का सामना करने में छत्रसाल की सहायता की। मराठो की बुन्देल-खण्ड पर चढ़ाई एव वहाँ उनकी कार्यवाही का विस्तृत विवरण हमें मराठी ग्रथो में देखने को मिलता है। तत्कालीन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पत्रो के कई सग्रह प्रकाशित हुए है, जिनका अध्ययन किए बिना बुन्देलखण्ड का इतिहास सपूर्ण नहीं हो सकता। बुन्देलखण्ड के प्रति मराठो की नीति, छत्रसाल के प्रति पेशवा बाजीराव की भावना आदि को लेकर अनेकानेक दन्तकथाएँ और कपोलकल्पित कहानियाँ बुन्देलखण्ड मे प्रचलित है। मराठी ऐतिहासिक पत्रो के पूर्ण अध्ययन के बाद इनमें से कितनी मिथ्या साबित होगी, यह सरलतापूर्वक नही कहा जा सकता, परन्तु मेरा विश्वास है कि मराठी भाषा में प्राप्य इस सामग्री के पूर्ण अध्ययन के अनन्तर मराठो की नीति के सबध में हमें अपने पुराने विश्वास एव विचार बहुत-कुछ बदलने पडेंगे।

मराठो के इतिहास से सम्बद्ध जितनी सामग्री मराठी भाषा-भाषियो ने प्रकाशित की है, उसे देखकर आश्चर्य-चकित हो जाना पडता है। ऐतिहासिक खोज के लिए जिस तत्परता, लगन और निस्वार्थता के साथ महाराष्ट्र के विद्वानो ने प्रयत्न किया और जिन-जिन कठिनाइयो को सहन करते हुए वे निरन्तर अपने कार्य में लगे रहे, वह अन्य प्रान्त-वासियो के लिए अनुकरणीय आदर्श है। पेशवा के दफ्तर में प्राप्य सामग्री की कुछ जिल्दें बीसवी शताब्दी के प्रारभ में वाड, पारसनिस आदि इतिहास-प्रेमियो ने प्रकाशित की थी। शेष सामग्री की देख-भाल कर सर देसाई जी के सपादन में कोई पैंतालीस जिल्दे बबई की प्रान्तीय सरकार ने प्रकाशित करवाई है। इन जिल्दो में बुन्देलखण्ड में मराठो की कार्यवाही, उनकी नीति तथा उनकी विभिन्न चढाइयो आदि सबधी सैकडो पत्र प्रकाशित हुए। गोरेलाल तिवारी-कृत इतिहास के प्रकाशित होने के बाद ही यह सामग्री प्रकाश मे आई थी। अत वे इससे लाभ नही उठा सके।

राजवाडे द्वारा सपादित 'मराठ्यांच इतिहासांची साधनेन' की कुछ जिल्दो में भी यत्र-तत्र बुन्देलखण्ड के इति-हास से सम्बद्ध पत्र प्रकाशित हुए हैं। पारसनिस-कृत 'श्री ब्रह्मेन्द्र स्वामी चरित्र' में भी बाजीराव की बुन्देलखण्ड पर चढाई सबधी कई पत्र छपे है। उसी प्रकार 'इतिहास-सग्रह' माला में 'ऐतिहासिक किरकोल प्रकरणें' शीर्षक ग्रथ में पारसनिस ने अलीबहादुर का सन् १७९० ई० तक का पत्र-व्यवहार प्रकाशित किया है। खरे द्वारा सपादित 'ऐति-हासिक पत्र सग्रह' की चौदह जिल्दो में भी यत्र-तत्र बुन्देलखण्ड-सबधी उल्लेख ढूढ़ निकालने होगे। महादजी

सिन्धिया के पत्र-व्यवहार के भी तीन विभिन्न सग्रह अवतक प्रकाशित हुए हैं। 'वकील-इ-मुतलक' की हैसियत से उनका समस्त उत्तरी भारत से सबध रहा है। उनके पत्रो मे भी बुन्देलखण्ड के मामलो का उल्लेख मिलता है। हिम्मत-बहादुर और अली बहादुर का सिंधिया के साथ-ही-साथ बुन्देलखण्ड के साथ अभिन्न सबध रहा है।

अत मे गुलगुले दफ्तर का उल्लेख किये बिना नही रह सकते। मराठो के वकीलो का यह घराना सन् १७३८ ई० से कोटा मे वस गया और इस प्रदेश-सबधी सारा कारबार करता रहा। गुलगुले घराने के इस दफ्तर मे भी बुन्देलखण्ड-सबधी बहुत-सी उपयोगी सामग्री प्राप्त हो सकती है। ग्वालियर के सरदार आनन्दराव भाऊ साहब फालके इस दफ्तर को क्रमश प्रकाशित कर रहे है। इस दफ्तर के सब पत्रो की नकले हमारे निजी सग्रह में भी विद्यमान है।

मराठी भाषा मे प्रकाशित एव प्राप्य इस अगाध ऐतिहासिक सामग्री का पूर्ण अध्ययन किए बिना अठारहवी शताब्दी का बुन्देलखण्ड का इतिहास नही लिखा जा सकता। यह आवश्यक है कि बुन्देलखण्ड के इतिहास के विद्यार्थी मराठी भाषा का अध्ययन कर इस सामग्री की भलीभाति छानबीन कर इस प्रदेश के तत्कालीन इतिहास को पूर्णतया क्रमबद्ध रूप मे समुपस्थित करे।

४—फारसी अखबार (१७७९-१८१८ ई०) और उनका महत्व

मराठी भाषा मे लिखे गए पत्र एव अन्य सामग्री का ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, परतु ज्यो-ज्यो मराठो का राज्य विशृखलित होने लगा और जैसे-जैसे मराठा सरदार अधिक शक्तिशाली होकर अर्द्ध स्वतत्र स्वाधीन शासक बनने लगे, पूना भेजे जानेवाले पत्रो की सख्या कम होने लगी। उन सुदूर प्रदेशो की ओर ध्यान भी प्राय कम दिया जाता था। उत्तरी भारत में उस समय प्रत्येक महत्वपूर्ण राजनैतिक केन्द्र में आसपास के स्थानो से प्राप्त खबरो को एकत्रित कर अखबार तैयार कर दूर-दूर प्रदेशो में भेजने की प्रथा चल निकली थी। सन् १७७५ ई० के बाद ऐसे अखबारो का महत्व बढ गया था। यही कारण था कि उन दिनो इन अखबारो के सग्रह तैयार किए जाने लगे थे। ये अखबार सन् १८१८ ई० के अत तक प्रचलित रहे और मालवा, राजपूताना तथा इन प्रदेशो मे अग्रेजो की स्थापना होने के बाद ही इनका अत हुआ। ऐसे अखबारो के छोटे-मोटे कोई पद्रह-बीस सग्रह हमे युरोपीय पुस्तकालयो के हस्तलिखित ग्रथो के सग्रहो मे मिलते है। ये अखबार फारसी मे लिखे जाते थे। अबतक अखबारो के जो सग्रह प्राप्त हुए हैं, वे सन् १७७९ ई० के बाद के है और सन् १८१८ ई० के अत तक मिलते है। कोई चालीस वर्षों के इस लबे काल में यत्रतत्र कई बरस ऐसे भी निकले हैं, जिनके कोई भी अखबार अब तक प्राप्त नही हो सके है, जैसे १७८८-१७९२, १७९८-१८०३, १८०६-१८०८ ई०। प्राप्य अखबार कोई दस हजार हस्तलिखित पृष्ठो में जाकर सपूर्ण हुए है। अब तक जितने भी ऐसे अखबार-सग्रहो का पता लगा है, उन सब की नकले की जाकर हमारे निजी सग्रह में सुरक्षित रक्खी गई हैं।

इसी प्रकार के फारसी अखबारो का एक बहुत बडा सग्रह पूना के एलियनेशन आफिस मे सुरक्षित है। इस सग्रह मे कुल मिलाकर कोई छ-सात हजार फारसी अखबार हैं। यद्यपि इनमे से कुछ अखबार ईसा की अठारहवी शताब्दी के भी है, तथापि इस सग्रह मे प्रधानतया सब अखबार सन् १८०५ ई० के बाद के ही है। सन् १८१८ ई० से बाद के कोई अखबार नही मिलते। इन सब अखबारो के फोटो हमारे सग्रह मे विद्यमान है।

ये अखबार जो उत्तरी भारत के महत्वपूर्ण केन्द्रो या उत्तरी भारत से सम्बद्ध महत्वपूर्ण व्यक्तियो के केम्पो से लिखे जाते थे, उन सब में उत्तरी भारत के प्राय सब प्रदेशो से प्राप्त सारी महत्वपूर्ण खबरे लिखी जाती थी। बुन्देलखण्ड यो तो पेशवा के अधिकार में समझा जाता था, परन्तु सिन्धिया, होलकर एव भोसले आदि सरदारो को भी बुन्देलखण्ड के मामलो में बहुत दिलचस्पी थी। अतएव इन अखबारो में बुन्देलखण्ड के मामलो का यत्र-तत्र उल्लेख होना स्वाभाविक ही है। अठारहवी शताब्दी के अंतिम बीस वर्षों का इतिहास लिखने में इन अखबारो से पर्याप्त सामग्री प्राप्त होगी।

औरगजेब के सिंहासनारूढ होने के साथ ही वुन्देलखड का एक महत्वपूर्ण काल प्रारभ हुआ और सन् १८१८ ई० तक यह परिवर्तन-काल चलता ही रहा। यद्यपि इस काल की पिछली शताब्दी वहुत ही गौरवपूर्ण न थी, फिर भी ऐतिहासिक घटनाओ एव निरतर होनेवाले परिवर्तनो के कारण ही इस काल का महत्व वना रहा और इस निकट भूत का इतिहास ठीक-ठीक समझे विना इस प्रदेश के भावी राजनैतिक मार्ग को सरलता-पूर्वक निश्चित करना सभव नही। वुन्देलखण्ड प्रान्त की आज की राजनैतिक परिस्थिति का स्वरूप इन्ही एक सौ सत्तर वर्षों के इसी परिवर्तन-काल में निश्चित हुआ था और आज वुन्देलखण्ड के सम्मुख समुपस्थित होनेवाली कई एक कठिनाइयो अथवा विरोधो का वीजारोपण इन्ही वरसो मे हुआ था। यह सत्य है कि सन् १८१८ ई० के वाद इधर कोई सवा सौ वर्ष वीत चुके है, जगद्व्यापी महत्वपूर्ण घटनाओ, नवीन राजनैतिक और आर्थिक प्रवृत्तियो के फलस्वरूप अव परिस्थिति मे वहुत ही फेरफार हो गया है, सारा वातावरण ही पूर्णतया वदल गया है, किन्तु फिर भी आज जो-जो कठिनाइयाँ उठ रही है, वे उसी परिवर्तन-युग की देन है और उनको सुलझाने के लिए यह अत्यावश्यक है कि उन कठिनाइयो को ठीक तरह समझ कर उनको समूल नष्ट किया जाय। उस परिवर्तन-काल के प्रामाणिक इतिहास का अध्ययन इस ओर वहुत ही सहायक हो सकता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वुन्देलखण्ड के इतिहासकार यह न सोच ले कि इस लेख मे तत्कालीन सारी ऐतिहासिक सामग्री की विवेचना की जा चुकी है। पूर्वोक्त सामग्री के अतिरिक्त और भी वहुत सी ऐसी सामग्री है, जो सुलभ है या जिसका वुन्देलखण्ड के इतिहास से इतना सीधा सवध है कि उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। वुन्देलखण्ड मे भी अभी तक स्थानीय ऐतिहासिक सामग्री की पूरी-पूरी खोज नही हुई है, जिसके विना काम नही चलेगा। इस स्थानीय सामग्री की सहायता से ही हमे स्थानीय महत्व की ऐतिहासिक घटनाओ आदि का पूर्णरूपेण पता लगेगा।

इस लेख मे तो केवल उस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री की कुछ विवेचना की गई है, जो प्राय सुलभ नही है और न जिसका वुन्देलखण्ड के इतिहास से कोई सीधा सवध ही दीख पडता है। अतएव वुन्देलखण्ड के इतिहासकारो का उसकी ओर आसानी से ध्यान आकर्षित न होगा। यह यथास्थान वताया ही जा चुका है कि यो तो यह सामग्री सुलभ-साध्य न थी, किंतु वहुत सी सामग्री की नकले हमारे निजी सग्रहालय मे सुरक्षित है। वे अव इतिहासकारो को सुलभता से प्राप्त हो सकती है। वुन्देलखण्ड के इस काल के इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्वानो से मेरा विशेष आग्रह होगा कि वे इस सामग्री का पूर्ण उपयोग करे।

वुन्देलखण्ड जैसे प्रदेश के इतिहास की सामग्री एकत्रित करना कोई सरल काम नही। यह प्रान्त शताब्दियो मे खण्ड-खण्ड में विभक्त ही रहा है। जव कभी भी एकता स्थापित हुई, वह वहुत काल के लिए स्थायी न रही। राजनैतिक दृष्टि से या शासन के लिए भी इस प्रदेश का सगठन नही हुआ तथा इस प्रदेश के इतिहास की सामग्री एकत्र करने अथवा उसकी प्रान्तीय एकता को देखते हुए उस सामग्री का अध्ययन करने की ओर अव तक विशेष ध्यान नही दिया गया है। गुजरात एव मालवा जैसे प्रदेशो की राजनैतिक एकता शताब्दियो तक अक्षुण्ण वनी रही। उन प्रान्तो मे भी, इस राजनैतिक एकता का अन्त होते ही, ऐतिहासिक सामग्री के अध्ययन का अभाव तथा उस सामग्री के सचित न किए जाने की प्रवृत्ति चल पडी है। उन्ही कठिनाइयो का वुन्देलखण्ड के समान सर्वदा विभक्त रहने वाले प्रान्त के इतिहास के लिए वहुत अधिक मात्रा मे अनुभव होना स्वाभाविक ही है। आशा की जाती है कि इन कठिनाइयो का सामना करते हुए वुन्देलखण्ड के इतिहासकार इस युग का वृहत् क्रमवद्ध इतिहास लिखकर भारतीय इतिहास की एक वडी कमी को पूरा करेगे।

सीतामऊ]

बुन्देलखण्ड के दर्शनीय स्थान

[ऐतिहासिक, प्राकृतिक और धार्मिक]

१. प्रथम भाग

श्री राधाचरण गोस्वामी एम्० ए०

'बुन्देलखण्ड' नाम कोई तीन-चार सौ वर्ष से प्रयोग में आया है। इसके प्रथम इस प्रदेश का नाम जिजाक-भुक्ति, जीजभुक्ति या जिझौति रहा है, जो यजुर्होति का अपभ्रश है। इस छोटे से प्रदेश में ऐतिहासिक दृष्टि से ससार को वहुत कुछ भेंट करने की सामग्री विद्यमान है, पर प्राय वनस्थली है और अगम्य दुरूह गम्य स्थान है। शताब्दियो से अदूरदर्शी शासको के द्वारा शासित रहने के कारण यह अमूल्य सामग्री नष्ट हो चुकी है। समय और मनुष्य के आघात-प्रत्याघात से जो कुछ शेष है, वह न केवल इस छोटे प्रदेश को, अपितु समस्त भारतवर्ष को विश्वकला और दर्शन की गैलरी में उच्च स्थान दिलाने के लिए पर्याप्त है।

(१) ऐतिहासिक स्थान •

१ देवगढ़—झासी से ववई जाने वाली लाइन पर जाखलौन स्टेशन से नौ मील पर जगल के वीच वेतवा नदी के कूल पर स्थित है। यहाँ पर हिंदू और जैन मदिरो का समूह है। इनमें विष्णु-मदिर कला की दृष्टि से विख्यात है। यह चतुर्थ शताब्दी के अतिम भाग से लेकर पाँचवी के प्रारभ के समय का माना जाता है। रायवहादुर दयाराम साहनी ने वहाँ पर १९१७ ई० मे शिलालेख देखा था, जिसमे लिखा था कि 'भगवत् गोविन्द ने केशवपुर से अधिपति देव के चरणो मे इस स्तभ का दान किया था।' यह गोविन्द सम्राट् चन्द्रगुप्त के पुत्र परम भागवत गोविन्द जान पडते है। विष्णु मदिर का विशद वर्णन इस ग्रथ मे अन्यत्र हुआ है।

२ खजुराहो—झासी-मानिकपुर रेल की लाइन पर हरपालपुर या महोवा से छत्तरपुर जाना पडता है। वह कई मार्गों का जकशन है। छत्तरपुर राज की वही राजधानी है। इसी के अन्तर्गत राजनगर तहसील मे चन्देल-कालीन उत्कृष्ट शिल्पकला से पूर्ण मदिरो का समूह खजुराहो मे है। छत्तरपुर से सतना वाली सडक पर वीस मील चलकर वमीठा पुलिस थाना है। वहाँ से राजनगर को, जो दस मील है, मार्ग जाता है। सातवें मील पर खजुराहो है। मोटर हरपालपुर से छत्तरपुर (तैंतीस मील) और वहाँ से खजुराहो होती हुई राजनगर जाती है। यह भी सुविधा है कि उसी समय राजनगर से वह वापिस आती है। हमारे इस छोटे से प्रदेश मे खजुराहो के मदिरो की उन्नत कला की कल्पना स्वय देखकर ही की जा सकती है। चित्रो के खजुराहो और प्रत्यक्ष में वडा अन्तर है। खजुराहो की कला उस युग की है, जव हिंदू-सभ्यता चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। सुख, सम्पदा और समृद्धि ने शासको और नागरिको को विलासप्रिय वना दिया था। यहाँ के मदिरो मे देवगढ़ के मदिर के समान सुरुचि तो है, पर सयम नही। नारी के विलासप्रिय सौंदर्य की विविध भावभगी मदिर के अदर और वाहरी शिलाखडो, द्वारो, तोरणो, स्तभो और शिखरो पर सभी जगह अकित है। प्रत्येक मूर्ति और अभिप्राय (motif) के चित्रण में कलाकारो ने [illegible] किया है। पत्थर की मूर्तियाँ दर्शको को मोहित कर देती है। प्रधान मदिर ये है

(अ) **मातगेश्वर**—शिव का मदिर है। इसमें वडा भारी शिवलिंग चबूतरे पर स्थित है, जिसके चारो ओर कलामय स्तभ हैं। उन पर ऊपर की शिखर की छत उलटे कमल की तरह वनी है।

(ब) इसके निकट **लक्ष्मणजी का मदिर** है। लक्ष्मण जी के हाथ कटे हुए हैं। मूर्ति श्वेत पाषाण की अति सुन्दर है और विजयनगर के राजाओ का सा मुकुट पहिने है। इस मदिर की ऊँची जगती के चारो कोनो पर छोटे-छोटे मदिर हैं। उनमे एक में सरस्वती की-सी मूर्ति मालूम पडती है, जो वडी सुन्दर, सौम्य और भावपूर्ण है।

(स) इसी के उपरान्त कुछ दूरी पर एक मदिर है, जो **भरतजी का मदिर** कहलाता है। भगवतदयाल जी ने इसे सूर्य का मदिर माना है। उन्होने एक ग्यारह शिरवाली विष्णु की मूर्ति का भी उल्लेख किया है।

(द) एक दूसरा **शिव का मदिर** है। यह भी सुन्दर है। इसमें शिलालेख है। सवत् १०५६ वि० का यह माना जाता है। इसमें नानुक से धग पर्यन्त नरेशो की वशावलि है। धग के द्वारा मदिर निर्माण करने का वर्णन है। धग ने नीलम के शिवलिंग की मूर्ति की स्थापना की थी। दूसरा शिलालेख इस मदिर का नही, वैद्यनाथ मदिर का है, जो ध्वस हो चुका है। सवत् १०५८ विक्रम का। इसमे किसी कोक्कल द्वारा ग्राम-निर्माण का उल्लेख है।

इस मदिर के सामने **नदी की मूर्ति** छोटे से मदिर मे है। इसको भूल से स्व० भगवतदयालजी ने मसाले की वनी माना है। वास्तव में एक जगह उसका पैर का मसाला उखड गया है। नीचे पत्थर निकल आया है। उससे प्रकट है कि वह पालिश अधिक गहरी नही। भीतर पत्थर है। मौर्यकालीन पालिश की तरह की पालिश है।

(इ) **देवी का मदिर**, जो काली का कहलाता है। मूर्ति की अब भी पूजा होती है।

(क) **खजरिया महादेव**—यह सवसे वडा शिव जी का मदिर है। मदिरो के पीछे की ओर है। मूर्तियो की हर जगह भरमार है।

(ख) **बाराह की मूर्ति**—जिसमें सहस्रो देवता वने हैं। पालिश सुन्दर है।

(ग) **हनुमान की एक विशाल मूर्ति** सवसे पहले सडक के पास ही स्थित है। इसमें एक लेख होना कहा जाता है, जो ६२२ ई० का माना जाता है। यह खजुराहो में मिले लेखो में सवसे प्राचीन है।

(घ) एक जगह मूर्तियो को एक घेरे में रख दिया गया है। इसमे एक **नागकन्या की मूर्ति** विलक्षण है। यह मदिर चदेल-काल के है, जव कि यशोवर्मन और धग का यहाँ पर राज्य था। यशोवर्मन का राज्य काश्मीर से नर्मदा तक फैला था और धग का भी वडा विस्तृत राज्य था। धग की सेना भटिंडा के राजा जयपाल के साथ थी, जव वह सुवुक्तगीन से लडा था और फिर महमूद गज़नी ने इस जिझौति प्रान्त पर १००८ या ६ में हमला किया। उस समय अनन्दपाल (जयपाल का पुत्र) राज्य करता था। युद्ध हुआ। हिंदुओ की सेना जीत ही चुकी थी कि अनन्दपाल का हाथी विगड गया, सेना में गडवड मच गई। वह हाथी फिर ठीक नही हुआ। इस समय कालिंजर का राजा गन्ड था। चन्देल देश की धार्मिक राजधानी खजुराहो, सामरिक कालिंजर और शासनिक महोवा थी। कन्नौज के राजा ने १०१६ ई० में वारहवें आक्रमण पर महमूद का शासन स्वीकार किया। गन्ड ने अपने पुत्र विद्याधर को देशद्रोही के विरुद्ध युद्ध करने के लिए भेजा। महमूद फिर वदला लेने आया। हमीरपुर गजेटियर में लिखा है कि धग लाखो सेना के होते रात को उठकर भाग गया। सन् १०२२ ई० मे महमूद फिर आया। कालिंजर पर, कहते हैं, धग ने कायरता दिखाई और सव कुछ देकर पद्रह किलो पर शासन रहने को महमूद से अभिषेक लिया।

३. कालिंजर, अजयगढ, मनियागढ, मरफा, वारीगढ, मौदहा, गढ और मैहर या काल्पी इन आठ गढो के चन्देल जनश्रुति के आधार पर स्वामी थे। इनमें कालिंजर व अजयगढ प्रसिद्ध है।

(अ) **कालिजर**—चन्द्रब्रह्मा ने करीव ६०० वर्ष हुए, चन्देल राज्य स्थापित करके कालिंजर व महोवा वसाया। वाँदा से नरैनी २२ मील, पक्की सडक फिर कच्ची पडती है। नरैनी तक लारी चल ती है। पहाड के ऊपर कालिंजर का किला स्थित है। वहाँ पहुँचने को कई दरवाजे पडते हैं, जिनका मुस्लिम काल में नाम परिवर्तन

हुआ है। कहा जाता है जब भगवान महादेव ने हलाहल पान किया और नीलकण्ठ हो गये तब इसी स्थान पर निवास किया। सीताराम के आने की भी कथा सुरक्षित है। 'सीता सेज' एक स्थान का नाम है।

पहाड पर 'स्वर्गारोहार्ण' जलाशय है। उसमें गर्मियो में स्वच्छ शीतल जल मिलता है। पहले **नीलकठ महादेव का विशाल मदिर था।** उसके टूटे खभे विशालता की स्मृति के स्मारक है। वहाँ के पुजारी चन्देल क्षत्रिय है। हजारो मूर्तियाँ और भी खुदी हुई है। स्वर्गीय कु० महेन्द्रपाल जी के अनुसार वहा हजारो लेख है।

इस गढ़ का इतिहास भारतीय इतिहास मे विशेष स्थान रखता है। १२०२ ई० में कुतुबुद्दीन ने यहाँ पर आक्रमण किया। परमाल को हराया। १५३० ई० मे हुमायू ने चढाई की। दो वर्ष निरतर युद्ध के बाद सफल हुए। फिर १५५४ ई० मे शेरशाह चढ आया। युद्ध में घायल होकर भागा और मारा गया। रामचन्द्र बघेल का कुछ दिन अधिकार रहा। फिर सम्राट् अकबर के हाथ आया। और राजा बीरबल को जागीर मे मिला। पन्ना के महाराज छत्रशाल ने इसे मुसलमानो से जीता और अपने पुत्र हृदयशाह को जागीर मे दिया। इसी वश में अमानसिंह और हिंदूपति हुए। हिंदूपति ने अमानसिंह को मरवाया। गृहकलह का लाभ उठाकर बेनी हजूरी और कायमजी चौबे ने अधिकार किया। फिर १८१२ ई० मे अग्रेजो के हाथ आया।

इस गढ के प्रत्येक पाषाण मे, वहाँ की मूर्तियो में, भग्न मदिरो मे और टूटे हुए शिलालेखो में पुरातन भारत के समुज्ज्वल इतिहास की मूल्यवान सामग्री है।

(ब) **अजयगढ़**—अजयगढ अब भी एक अलग राज्य है। अजयगढ उसी की राजधानी है। उसका किला पहाड पर है। वह अजयपाल का बनवाया है। एक के बाद एक फाटक पार करने पडते है। पाँच फाटक पार कर दर्शक वहाँ पहुँचता है। वहाँ पर पहाड को काट कर दो कुण्ड बने है और पहाड खभो पर स्थित है। यह कुण्ड **गगा-यमुना** कहलाते है। जल सदा रहता है। **रगमहल** वहाँ के दर्शनीय है। इनमे अच्छी कला है। **भूतेश्वर** के दर्शनो को परकोटा के नीचे-नीचे जाना पडता है। वहाँ भी दो कुण्ड है और शिलाओ से पानी टपकता रहता है। यहाँ **भूतेश्वर की गुफा** है।

इनके अतिरिक्त **गज** (गाजरगढ), **नचनौरा, चौमुखनाथ** भी प्रधान प्राचीन स्थान वहाँ है। शिलालेख भी है।

४ **दतिया के पुराने महल**—दतिया झासी के उत्तर मे जी० आई० पी० की बडी लाइन पर स्टेशन है। वहाँ पर राजधानी के समीप ही **लाला के ताल** पर स्थित महाराज वीरसिंह देव प्रथम ओरछा नरेश का बनाया महल है। वह ठीक चौकोर है। सात मजिल का है। चारो कोनो पर चार गुम्बद है और इस चौकोर भवन के मध्य में एक भवन पाँच मजिल का है, जिसमे प्रत्येक मजिल पर चारो ओर से आने-जाने को मार्ग-से बने है। उस पर पाँचवाँ गुम्बद है। हिंदू कला और पारसीक हिंदू कला के शुद्ध और कलापूर्ण सम्मिश्रण का अद्भुत उदाहरण है। उसे कुछ ऐतिहासिको ने ईसा के क्रास के आधार पर बना कह कर पश्चिमीय कला से प्रभावित होना बताया था, पर भारतप्रेमी कलाकार स्व० डॉ० हेवेल ने इसे स्वस्तिक के आधार पर बना बताया है। उनका कथन है कि यह मध्ययुग की सर्वोत्तम कृति है। इसमें भी **रगमहल** है और उसमे तत्कालीन चित्रकारी है, जिससे वेष-भूषा का पता लगता है।

५. **ओरछा**—ओरछा स्टेशन झासी-मानिकपुर लाइन पर है। वहाँ से लगभग तीन मील पर ओरछा राज्य की पुरानी राजधानी है। बेतवा के तीर पर बने हुए राजप्रासाद, **रामराजा का मदिर, जहाँगीरी महल, लक्ष्मी-मदिर, वीरसिंह नरेश (प्रथम) की समाधि और चतुर्भुजजी का मदिर** दर्शनीय है। दतिया के पुराने महल की प्रणाली का वीरसिंहदेव का महल है। मदिर भी तभी के है। अब ओरछा की राजधानी टीकमगढ़ है। ओरछा राज्य बुन्देलखण्ड का सबसे पुराना राज्य है। रामराजा के मदिर में भगवान रघुनाथ जी की मूर्ति विराजमान है। नाभाजी कथित भक्तमाल में उल्लेख है कि उसे श्री अयोध्या जी से महारानी ओरछा लाई थी। प्रत्येक पुष्य नक्षत्र में वह चलते थे। इस तरह सालो में आये। महारानी जी जब वृद्ध हुईं, उन्हें सेवा करने में कष्ट होने लगा तो वे विराज गये। भक्त और
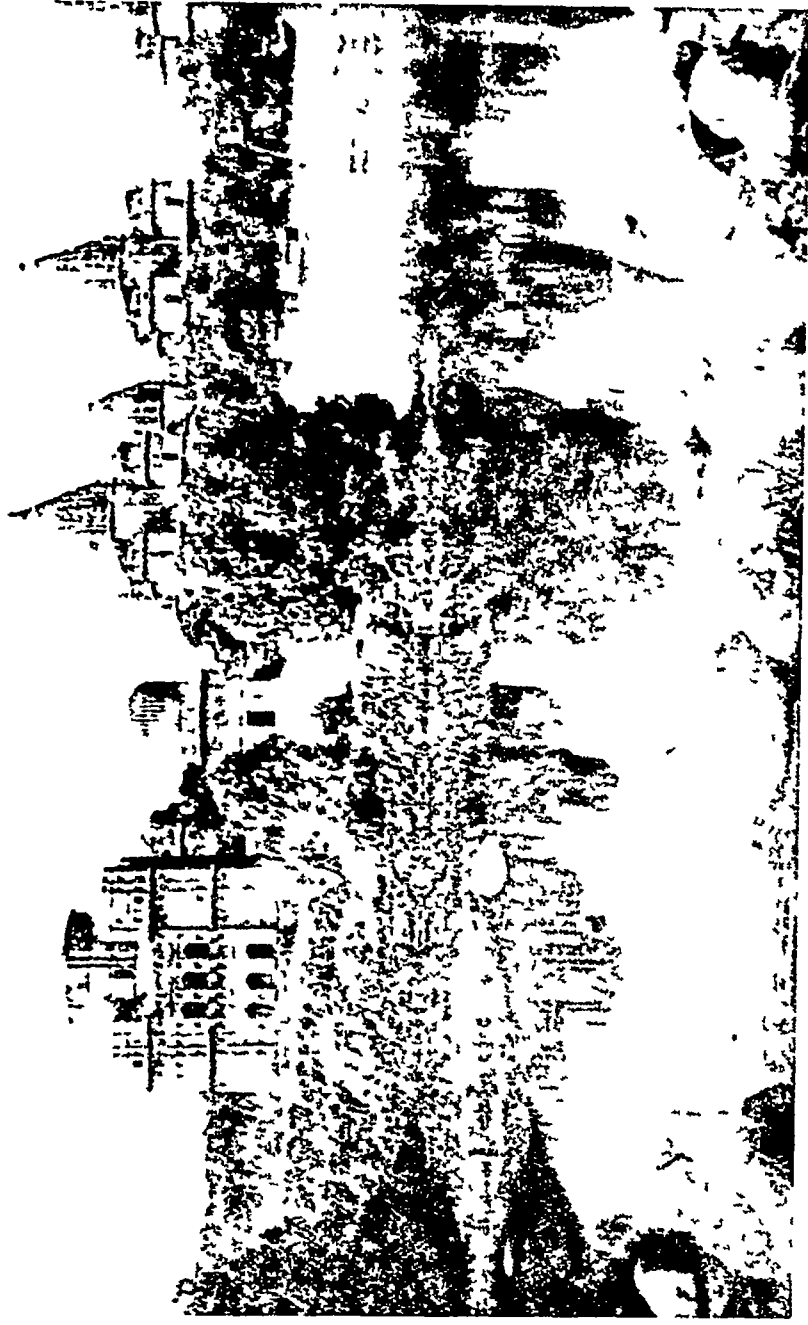
ओरछा में वेत्रवती

[वाईं ओर वीरसिंह देव प्रथम की समाधि है

भगवान की दया की सुन्दरगाथा है। स्थान प्राकृतिक दृश्यो से सुशोभित है। वेतवा (वेत्रवती) की छटा दर्शनीय है। ऊँचे-ऊँचे कगारो पर घने वृक्ष है। लतिकाएँ जल का स्पर्श करती है। वनस्थली में वन्य पशुओ का बाहुल्य है और सरिता में यहाँ-वहाँ द्वीप वने है। सारस और वगुला क्रीडा करते रहते है।

६ (क) **महोबा**—यह चन्देल काल का पुराना स्थान झाँसी-मानिकपुर रेल की लाइन पर ब्रिटिश भारत में है। चन्देलकाल के वडे-वडे **तडाग, आल्हाऊदल की वारादरी, कीर्तिसागर**, जिसकी प्रशसा आल्हाचरित मे वर्णित है, वहाँ की पुरातन स्मृतियो को सजीव करते है।

(ख) **राठ व कुल पहाड**—मे भी पुरातन-स्थान तथा **वेलाताल** और **विजयनगरताल** दर्शनीय है। यहाँ पर दर्जनो मन्दिर, मठ, स्मारक, प्रकृति की गोद मे विखरे पडे है। जहाँ भी शिलालेख होता है, हमारे अशिक्षित ग्रामीण और शिक्षित नागरिक भी उसे वीजक समझते है, जिसमे गुप्त धन की प्राप्ति का साधन लिखा मानते है। अत वे नष्ट कर दिये जाते है और इस प्रकार इस देश का अमूल्य धन नष्ट हो जाता है।

(२) हिन्दू तीर्थ

१ **चित्रकूट**—झाँसी मानिकपुर रेल लाइन पर चित्रकूट स्टेशन है। कर्वी मे उतरना अधिक सुविधाजनक होता है। हिन्दुओ का यह तीर्थ सारे भारत में प्रसिद्ध है।

प्रधान दर्शनीय स्थल

(अ) **बाँकेसिद्ध**—सिद्धपुर ग्राम के पास प्रपात है। झरने का जल दो कुण्डो मे एकत्र होता है।

(व) **कोटितीर्थ**—पर्वत मे दो मील पर है। कोटि मुनियो ने यहाँ तप किया था। यहाँ धर्मशाला भी है।

(स) **देवागना**—प्रपात है। मन्दिर है।

(द) **हनुमानधारा**—सव प्रपातो से रमणीक है। हनूमान जी की मूर्ति पर जल गिरता है।

(इ) **प्रमोदवन**—उद्यान के प्रकार का वन है।

(क) **सिरसावन**—वन है।

(ख) **जानकीकुण्ड**—सिरसावन से एक मील है। पयस्विनी सरिता की शाखा मन्दाकिनी यहाँ पथरीली भूमि पर वहती है।

(ग) **अनुरूपाजी**—महर्षि अत्रि और उनकी पत्नी का स्थान है। घना जगल है।

(घ) **स्फटिकशिला**—वडी भारी पत्थर की शिला पहाड पर है। रामायण मे इसका वर्णन है।

(ङ) **गुप्तगोदावरी**—चौवेपुर से दो मील है। चित्रकूट स्टेशन से दस मील। गुप्तगोदावरी एक नदी है। पता नही कहाँ से पहाडो के भीतर-भीतर वहती हुई वह यहाँ आकर दर्शन देती है। प्रवेश करने को गुफा में जाना पडता है। और भी गुफाएँ है।

(च) **रामसैय्या**—भगवान राम सीता की शैल-सैय्या है।

(छ) **भरतकूप**—भरतकूप स्टेशन से निकट है। भरत जी ने अत्रि ऋषि की आज्ञानुसार सब स्थानो का जल यहाँ डाला था।

२ **बालाजी**—दतिया व झाँसी के पास दतिया राज्य के अतर्गत उन्नाव तहसील में पहूज नदी के किनारे है। यहाँ सूर्य देवता के मन्त्र की पूजा होती है। हजारो नर-नारी पूजा करते है। चर्मरोग पीडित हिन्दू और अहिन्दू यहाँ आकर निरोग होने की भिक्षा माँगते है। दतिया मे यात्रा से लौटती हुई रमणियो को गाते सुना है—

बालाजी बिरोबर देव नैय्याँ, देवता नैय्याँ। बालाजी

३ **मैहर की शारदा देवी**—पुरातन स्थान है। मैहर, मानिकपुर कटनी लाइन पर मैहर राज्य की राजधानी है। इस स्थान की बडी पूजा होती है।

४ **पन्ना के प्राणनाथ**—हिन्दुओ मे एक 'धामी' मत है, जिसे प्राणनाथी भी कहते है। पन्ना इसका प्रधान केन्द्र है। गुजरात, पजाब, काठियावाड सभी जगह हजारो शिष्य है। मन्दिर के गुम्वज पर सोना लिपटा है। पुस्तक की पूजा होती है, जिसमे पुराण और कुरान का मिश्रण कहा जाता है। प्राणनाथ महाराज छत्रशाल के गुरु थे। कहते है, द्रव्य की कमी के कारण उन्होने वरदान दिया था कि जहाँ तक घोडे पर चढे जाओगे, हीरा की भूमि हो जायगी। अब भी उसी से लगी भूमि मे विजावर व चरखारी राज्य मे हीरा निकलता है।

५ **कुण्डेश्वर**—टीकमगढ से ललितपुर की सडक पर चार मील पर है। 'मधुकर'-कार्यालय यही है। जमडार नामक नदी में वर्तमान ओरछा नरेश के पितामह ने बाँध लगवा कर एक मनोरम प्रपात का निर्माण कराया था, जो आज भी अपने अनुपम सौन्दर्य मे दर्शक को मुग्ध कर लेता है। प्रपात के निकट एक वडी कोठी तथा कुछ दूर पर दूसरी कोठी व उपवन है। प्रकृति का कमनीय स्थान है। शिवलिग नूतन प्रणाली के मन्दिर में स्थापित है। मूर्ति प्राचीन है। यहाँ पर हर साल मेला लगता है।

६ **जटाशकर**—छतरपुर राज्य में विजावर निकट है। आसपास विजावर राज्य है। दो प्रपात है और सुन्दर छोटे-छोटे कुण्ड। उनके जल मे चर्मरोग शोधन की शक्ति है। शिवजी का स्थान है। पुरातन है। बुन्देलखण्ड मे इसकी बडी मानता है।

७ **भीमकुण्ड**—विजावर राज्य मे विजावर से बीस मील दक्षिण की ओर है। पहाड मे गुहा है, जो १६५× ८५ फुट है। बीच में कोई पत्थर के खम्भे नही है। उसमे जाने को अच्छा सोपान है। अगाध जल भरा है। सौ फुट तक स्पष्ट दिखाई देता है। जल बडा हल्का और स्वास्थ्यप्रद है। सक्रान्ति को मेला लगता है। उसके कारण यहाँ पर सक्रान्ति को ही 'बुडकी' कहते है।

(३) जैन-तीर्थ

बुन्देलखण्ड में, विशेषकर विजावर राज्य में, जैन-मतावलम्बी बहुत बडी सख्या में है। प्रतीत होता है कि जब हिन्दुओ ने जैनो के साथ सद्व्यवहार नही किया तो वे इधर जगलो मे आ गये। अथवा यह उनके वशज है, जो बहुत काल से यही थे और आठवी शताब्दी के पुनरुत्थान से अप्रभावित रहे।

(क) **सोनागिरि**—दतियाराज्य मे जी० आई० पी० का स्टेशन है। वहाँ पर पुराने और नये मन्दिरो का पर्वत पर बाहुल्य है। धर्मशाला है। सहस्रो जैनयात्री प्रति वर्ष श्रद्धाजलि समर्पित करने आते है।

(ख) **द्रोणगिरि**—(सैधया) विजावर राज्य मे छतरपुर सागर रोड पर मलहरा से पूर्व की ओर छ मील पर है। चन्द्रभागा सरिता, जिसका वर्तमान नाम 'काठन' है, अनवरत प्रवाहित रहती है। एक पर्वत को घेर लिया है। एक ओर से एक शाखा दूसरी ओर से दूसरी आ मिलती है। अद्भुत प्राकृतिक दृश्य है। पर्वत पर जैन मन्दिर है। नीचे जागीरदार साहब की गढी, धर्मशाला और पाठशाला है। बयालीस ग्रामो के प्रशस्त प्रदेश को इधर 'दौन' कहते है, जो द्रोण का अपभ्रश है। द्रोणाचार्य को यह गुरुदक्षिणा में मिला था। उनकी यह भूमि है। यदि यह सत्य है तो द्रोणगिरि के पुरातन होने में सन्देह नही।

(ग) **पपौरा**—ओरछा राज्य की वर्तमान राजधानी टीकमगढ से तीन मील पूर्व की ओर है। दिगम्बर जैनो के ७५ मन्दिर है। मीलो से दीखते है। यहाँ पर १३वी से अब तक भिन्न-भिन्न शताब्दियो के शिलालेख मिलते है। अलग-अलग प्रकार की प्रस्तरकला के अच्छे उदाहरण है।

(घ) **अहार**—ओरछा राज्य में है। शान्तिनाथ की यहाँ अठारह फुट की वडी ही मनोज्ञ मूर्ति है। परमर्द्धिदेव चन्देल नरेश के काल में स० १२३७ वि० मे वह स्थापित हुई थी। मूर्ति दर्शनीय है। वहाँ पर ढाई-तीन सौ छोटी-बडी मूर्तियो का सग्रह है। प्राकृतिक छटा अद्भुत है।

(ङ) अन्य जैन तीर्थ—नयनगिरि, चन्देरी, देवगढ, कुण्डलपुर, पवा, बालाबेट, बजरंगगढ, पराई, सेरीन तथा खजुराहा आदि है।

(४) अन्य दर्शनीय स्थान

१ **विजावर के दर्शनीय स्थान**—*विजावर वन प्रधान देशी राज्य है। यहाँ प्रकृति ने अपरिमित वरदान दिया है।*

(क) **करैय्या के पाण्डव**—पाँच सतत् प्रवाहित सरिताएँ एकत्र होकर एक पहाड़ी-शृंखला से टकराती है। उसे पार न कर सकने पर अन्दर समा जाती है। फिर कई मील के बाद निकलती है। दृश्य अनुपम है।

(ख) **सलैय्या के पाण्डव**—पर्वत पर प्रकृति के बिलकुल गोल कटे हुए कूप है। उनमे अगाध जल रहता है। फिर जल लोप सा हो जाता है। अनतर एक प्रपात बन कर गिरता, बहता और लुप्त होता है। एक पेड की जड मे जल निरन्तर बहता है और केतकी, केला को पानी देता है।

(ग) **घोघरा**—एक प्रपात है। फिर दूसरा प्रपात है, उससे झरना बहता है। उसकी कगार में गुहा है। वहाँ प्राचीन चित्रकारी है। कही बूंद-बूंद पानी टपकता है। कही पर्वत के शीर्ष पर अज्ञात स्थान से आने वाले जल का छोटा कुण्ड है। कही पर चन्देलकाल के पापाण के बँधे बाँधो के तडाग है, जहाँ पक्षी क्रीडा करते है। सागौन, तेंदू, अचार, महुआ और सेजे के जगल है। उनमे तेंदुआ, रीछ, साभर, चीतल स्वच्छन्द विचरण करते है। एक ओर धसान और दूसरी ओर केन बहती है।

२ **झाँसी का बेतवा का बाँध**—छतरपुर पन्ना के मार्ग मे बमीठा मे बारह मील पर दर्शनीय स्थल है।

३ **महेवा**—छत्रसाल महाराज की समाधि और उनकी महारानी की समाधि का स्थान ओरछा राज्य की जतारा तहसील मे है।

४ **बरुआसागर**—प्राकृतिक दृश्यो के लिए अक्षय कोष है। वहाँ के किला, तालाब, प्रपात, गुप्त झरना और उपवन दर्शनीय है।

५ **जगम्मनपुर का पचनदा**—यहाँ पर पाँच नदियो का सगम कजौसा ग्राम पर होता है। अति रमणीक स्थान है।

६ **गढ़कुडार**—श्रीयुत वृन्दावनलाल जी वर्मा के 'गढकुडार' उपन्यास के पात्रो के क्रीडास्थल का आधार, बुन्देलो के पूर्व के खगार (खड्गहारा) का मुख्य स्थान। पुराना गढ झाँसी के निकट है।

७ **पन्ना के अन्य स्थान—बृहस्पतिकुंड झरना, हीरो की खदान, बल्देव जी का मन्दिर।**

८ **सामरिक गढ़**—सामरिक दृष्टि से झाँसी, दतिया राज्यान्तर्गत सेंउडा और समथर के मध्यकालीन गढ़ बहुत कुछ अच्छी दशा मे अब भी विद्यमान है। दर्शनीय है। झाँसी का किला केवल शिवरात्रि को जनता के लिए खोला जाता है।

यह है हमारा बुन्देलखण्ड, जहाँ प्रागैतिहासिक युग मे आर्य-अनार्य जातियो मे सघर्ष हुआ और भगवान रामचन्द्र के वनगमन के विशिष्ट स्थान अब भी श्रद्धालु नर-नारियो के तीर्थ बने है। यही के प्रबल-प्रतापी, प्रचड चेदि-नरेश शिशुपाल ने महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ मे विप्लव खडा कर दिया था और भगवान श्रीकृष्ण को उसे समाप्त करना पडा था। इसी भूमि मे गुप्तकालीन देवगढ और चन्देलकालीन खजुराहो के अतिरिक्त मौर्य, कण्व, शुग, कुशानकाल के स्मारक भी टीलो और वनो मे विद्यमान होगे। उत्तुग पर्वतमालाओ, सघन वनो, निरन्तर *निर्मल जल-वाहिनी सरिताओ, पर्वतीय वर्षाकालीन अल्प जीवी झरनो, भिन्न-भिन्न वर्ण-रस प्रभाव वाली भूमियो* के इस प्रदेश मे बहुत कुछ दर्शनीय है, जो मध्य युग की सभ्यता और सस्कृति को सुरक्षित रख सका है।[1]

विजावर]

---

[1] इस लेख के लिखने में कतिपय लेखो से सहायता ली गई है। उनके लेखकों का हम आभार मानते है।

२. द्वितीय भाग

श्री शिवसहाय चतुर्वेदी

प्रथम भाग के लेखक महोदय ने दक्षिण बुन्देलखण्ड के अग्रेजी जिलो के ऐतिहासिक तथा दर्शनीय स्थानो का वर्णन लिख देने की हमे अनुमति प्रदान की है। अतएव यहाँ उनका सक्षिप्त वर्णन दिया जाता है।

एरन—सागर ज़िले के बीना जकशन से नैऋत्य कोण पर ६ मील और खुरई स्टेशन से बारह मील वायव्य कोण पर बीना नदी के किनारे बसा है। बीना नदी इसे तीन ओर से घेरे हुए है। सौन्दर्य दर्शनीय है। सागर ज़िले का यह सबसे प्राचीन और ऐतिहासिक स्थान है। आज से लगभग पन्द्रह-सोलह सौ वर्ष पहले सम्राट समुद्रगुप्त इस स्थान के सौन्दर्य से इतने प्रभावित हुए कि उन्होने एरन को अपना 'स्वभोग-नगर' बनाया। प्राचीन खडहरो से मालूम होता है कि पहले यह बहुत बडा नगर रहा होगा।

यहाँ पर चतुर्थ शताब्दी का एक खडावशेष विष्णुमन्दिर है। विष्णु भगवान की विशाल मूर्ति अब भी विद्यमान है। मन्दिर के प्रागण मे सैतालीस फुट ऊँचा पत्थर का एक विजय-स्तम्भ है। इसके शिरोभाग के चारो कोनो पर चार सिंह बने हुए है और मध्य भाग मे एक दूसरे से पीठ मिलाये दो स्त्री-मूर्तियाँ खडी है। स्तम्भ की कारीगरी कलापूर्ण है। इस स्तम्भ पर लिखा है—"सन् ४८४ ई० मे बुधगुप्त के राज्य मे मातृविष्णु और धन्यविष्णु दो भाइयो ने जनार्दन के हेतु खडा किया।"[1] विष्णुमूर्ति के पास एक बहुत ही सुन्दर और विशाल वाराह मूर्ति है। यह ग्यारह फुट ऊँची और साढे पन्द्रह फुट लम्बी है। इसके वक्षस्थल पर भी एक शिलालेख है जिससे मालूम होता है कि धन्यगुप्त ने इसे हूण राजा तोरमाणशाह के राज्य के प्रथम वर्ष मे बनवाया था।[1]

धामौनी—विन्ध्याचल पर्वत की ऊँची टेकडी, पार्वत्य शोभा-युक्त विशालकोट, रम्य वनस्थली, केतकी फूलो की मोहक-महक और खुदे हुए शिलाखडो पर बहने वाले सुन्दर निर्झरो की छटा एव कल-कल निनाद सहज ही धामौनी की छाप हृदय पर डाल देते है। यह वही धामौनी है, जो बादशाह जहाँगीर के समय उन्नति की चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। हाथियो का बाजार भी उस समय यही भरता था। बादशाह औरगजेब ने सन् १६७६ ई० में यहाँ एक मसजिद बनवाई, जो **'औरगजेब की मसजिद'** के नाम से प्रसिद्ध है। **सेसाई** और **इशाकपुर** दो गाँव अब भी मसजिद की तेल-बत्ती के खर्चे को लगे है। सम्राट अकबर के प्रसिद्ध वज़ीर अबुलफ़ज़ल को जन्म देने का सौभाग्य इसी भूमि को प्राप्त हुआ था। उनके गुरु **बालजतीशाह** और **मस्तानशाहबली** के मकबरे अब भी उनकी स्मृति गाथा गा रहे है।

यह सुन्दर नगरी अब खडहरो में परिणत हो गई है। मडला के राजा सूरतशाह का बनवाया किला अब खडहर के रूप मे खडा है। चारो ओर की १५ फुट चौडी और ५० फुट ऊँची दीवारो का कोट और चारो कोनो की चार सुदृढ बुर्जें और ५२ एकड की अन्तस्थली वाला मजबूत किला है। इसमें एक मील की दूरी के ताल से नल द्वारा पानी लेने का प्रबन्ध था। इस दुर्ग को ओरछा नरेश श्री वीरसिंह जू देव प्रथम ने अपने अधिकार में कर लिया था। धामौनी की सैकडो मसजिदो, कबरो और महलो के ध्वसावशेष आज भी मौजूद है। यह स्थान सागर से २८ मील उत्तर की ओर बडा तहसील मे झाँसी की पुरानी सडक पर है।

विनायका—सागर ज़िले के अन्तर्गत बडा से १० मील पश्चिम में है। नगर और बाकरई नदी के बीच के मैदान मे १७-१८वी सदी के कई सुन्दर स्मारक बने हुए है। यहाँ २० फुट ऊँचा पत्थर का विजय-स्तम्भ भी है। स्तम्भ का शिरोभाग चौकोण और सुन्दर कारीगरी से परिपूर्ण है। इन विजय स्तम्भो को लोग इस तरफ **भीमगदा** कहते है।

---

[1] देखिए, रायबहादुर हीरालाल कृत 'सागर-सरोज' हिन्दी गजेटियर।

स्तम्भ के पास प्रस्तर-निर्मित एक भव्य मन्दिर है। इसे मढी कहते हैं। इसके दरवाजो और खम्भो का प्रत्येक पत्थर सुन्दर कारीगरी, बेलबूटो और देवी-देवताओ की मूर्तियो से सुसज्जित है। यह मढी ही यहाँ की सर्वश्रेष्ठ, दर्शनीय इमारत है। विजय स्तम्भ से एक फर्लांग दूर **महावीरजी का मंदिर** है। मूर्ति ७ फुट ऊँची और अपने ढग की निराली ही है। **महिषासुरमर्दिनी का मन्दिर** यहाँ से एक फर्लांग दक्षिण मे है। मन्दिर बहुत बडा और सुन्दर है। मूर्ति सफेद सगमर्मर की बनी है और तीन फुट ऊँची है।

यह गाँव १५वीं सदी में गढा मडला के गोड राजाओ ने बसाया था। पश्चात् ओरछा नरेश वीरसिंह जू देव प्रथम ने इसे गोडो से छीन लिया और सम्भवत इस नगर की विजय-स्मृति में ही सत्रहवी सदी के प्रारम्भ में उन्होने उक्त विजय-स्तम्भ का निर्माण कराया।

खिमलासा—सागर से ४१ मील दूर खुरई तहसील में ऐतिहासिक स्थानो में से एक है। किसी राजपूत और मुसलमान के सम्मिलित प्रयास का बनवाया हुआ पुराना क़िला भी यहाँ पर है। इसके भीतर शीशमहल दर्शनीय है। इसमें दर्पण जडे थे। कुछ अब भी मौजूद हैं। शीशमहल के अतिरिक्त **पजपीर की दरगाह** भी है, जिसमें लगी हुई पत्थर की जाली विशेष कलापूर्ण है। प्राचीनकाल में अनूपसिंह ने जब इस पर हमला किया तब इसके चारो ओर पत्थर की एक दीवार बना दी गई थी, जो अब कुछ-कुछ गिर गई है। यहाँ पर शिलालेख भी कई हैं। किले के सिवाय खिमलासे मे **सतीचौरो** की भी बहुतायत है। उनमें से ५१ में तिथि-सवतो के साथ-साथ भिन्न-भिन्न सतियो और बादशाहो के नाम भी अकित हैं। औरगजेब के समय की बनवाई एक **ईदगाह** है। मसजिद है। पूरा-का-पूरा खिमलासा पत्थरो का बना हुआ है।

यहाँ पर प्राचीन काल में सस्कृत के शिक्षण का बडा प्रचार था। अठारहवी सदी मे स्वय पचाग बना कर निर्वाह करने वाली विदुषी **अचलोबाई** यही रहती थीं। खिमलासे के स्मृति-चिह्न ऐतिहासिक दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण और देखने योग्य हैं।

राहतगढ—यहाँ पर एक विस्तृत किला है, जो ऊँचे स्थान पर बना हुआ है। इसमे बडी-बडी २६ बुर्जे हैं। बहुतेरी तो रहने के काम मे लाई जाती थी। क़िले के हृदयाचल में ६६ एकड भूमि है। इसमें पहले महल, मन्दिर और बाज़ार बने हुए थे। **'बादल महल'** सबसे ऊँचा है। इसे गढा मडला के राजगोडो का बनवाया बतलाते हैं। अन्य स्थल **जोगनबुर्ज** है। इस पर से प्राणदण्ड वाले कैदियो को बीना नदी की चट्टानो पर ढकेल दिया जाता था। लगभग तीन मील की दूरी पर नदी का ५० फुट ऊँचा प्रपात भी है।

गढपहरा—मैदान से एकदम ऊँचे उठने वाले शिखर पर दांगी राजाओ का बनवाया एक किला है। शीशमहल भी है, जिसमें रग-बिरगे कांच जडे हुए थे। किला जीर्णावस्था में है। किले के उत्तर मे टौरिया के नीचे **मोतीताल** नामक छोटा-सा तालाब है। गढ से सटा हुआ **हनुमान जी का मन्दिर** है। आषाढ मास के प्रत्येक मगलवार को छोटा-सा मेला भरता है।

गढ़ाकोटा की धौरहर—छत्रसाल के लडके हृदयशाह ने गाँव से दो-ढाई मील दूर रमना मे १३ फुट लम्बी और उतनी ही चौडी तथा १०० फुट ऊँची धौरहर बनवाई थी। कहते हैं कि इस पर से उसकी रानी सागर के दीप देखा करती थी।

कुडलपुर—हटा तहसील मे हिंडोरिया-पटेरा सडक पर दमोह से २३ मील की दूरी पर जैनियो का तीर्थ-स्थान है। एक पहाडी पर २०-२५ जैन-मन्दिर बने हैं। कुछ पहाडी के नीचे हैं। इनमे वर्द्धमान महावीर का मन्दिर सबसे पुराना है। मूर्ति की ऊँचाई बारह फुट है। मन्दिर के द्वार पर एक शिलालेख है, जिससे पता चलता है कि ढाई सौ वर्ष पूर्व (सन् १७००) कुडलपुर का नाम मन्दिर-टीला था। यहाँ जैनियो का मेला भरता है।

पहाडी के नीचे एक तालाब के किनारे दो मन्दिर हिन्दुओ के हैं। ये जैन मन्दिरो की अपेक्षा बहुत पहले बनाये गये थे।

बाँदकपुर—दमोह से ९ मील पूर्व में जी० आई० पी० का एक स्टेशन है। यहाँ पर जागेश्वर महादेव का प्रसिद्ध मन्दिर है। प्रति वर्ष वसन्त पचमी को वडा मेला भरता है। सामने पार्वती जी का मन्दिर है। महादेव और पार्वती के मन्दिरो में झडे लगे है। कहते है, जिस वर्ष सवा लाख काँवर चढ जाती है उस वर्ष वसन्त पचमी को दोनो झडे झुक कर आपस मे मिल जाते है। इस प्रान्त के प्रति वर्ष हजारो श्रद्धालु नर-नारी काँवर मे नर्मदा जी का जल भर कर जागेश्वर महादेव को चढाने ले जाते है। पास ही मे एक वावडी है, जिसे इमरती कहते है। मन्दिर का प्रवन्ध वाला जी दीवान के खानदान वालो के सुपुर्द है। मन्दिर की आमदनी का चतुर्थ भाग पुजारी को दिया जाता है। शेष दीवान के वशजो को मिलता है। वहुत दूर-दूर मे यात्री आते है।

मृगनाथ—यह स्थान सागर-करेली रोड पर ५४-५५वें मील पर झिराघाटी से पाँच-छ मील पूर्व को है। विन्ध्या के ऊँचे पहाड एक मैदान को तीन ओर से घेरे हुए है। पहाडो के नीचे एक वावडी है, जिसके पास धर्मशाला-सी बनी है। वावडी के आगे पर्वत की चोटी की ओर लगभग एक मील ऊपर चढने पर एक वडी गुफा सामने आती है। इसे **मृगनाथ की गुफा** कहते है। किसी समय इस गुहा में मृगनाथ नाम के सिद्ध पुरुष रहते थे। वहुतेरे मनुष्य मृगनाथ की गुफा के पास अपना मृगी रोग दूर करने के लिए मानता मनाने आते है।

मदन-महल—गोडराजा मदनसिंह की विभूति मदन-महल जवलपुर के इसी नाम के स्टेशन से लगभग दो मील दूर दक्षिण मे है। यह महल विन्ध्या की टेकडी पर काले शिला-प्रस्तरो के वीच, सघन वृक्ष-कुजो से भरी भूमि पर एक ही अनगढ चट्टान पर वना हुआ है। सामने घुडशाला आदि है।

यहाँ की चट्टानो की शोभा विशेष उल्लेखनीय है। वडे-वडे आकार-प्रकार की विशाल शिलाएँ एक के ऊपर एक तुलनात्मक रूप से वहुत ही छोटे आधार पर सधी हुई है।

गुप्तेश्वर—मदन-महल (जवलपुर) स्टेशन से डेढ-दो मील दक्षिण-पूर्व तथा मदन-महल से लगभग एक मील पूर्व विन्ध्या की टेकडियो में विशालकाय काले शिलाखडो के वीच गुप्तेश्वर महादेव का एक रमणीय देवालय है। यह टेकडी काट कर ही वनाया गया है। मन्दिर अशत छतदार और उत्तराभिमुख है। एक वडी शिला को काट कर उसी का शिवलिंग निर्मित किया गया है। मूर्ति के पीछे वहुत ही छोटा जल-स्रोत भी सदा वहता रहता है।

सामने सभामडप है। फर्श और दीवारो पर फ्लोर-टाइल्स लगे हुए है। एक कुआँ और एक वावडी है। दोनो का पानी दूधिया रग का है।

भेडाघाट—धुआँधार—जवलपुर से नौ मील की दूरी पर है। नर्मदा का सर्वोत्तम रम्य रूप है। नर्मदा के जल-प्रपातो का शिरमौर है। रेवा की महान जलराशि यहाँ चालीस फुट की ऊँचाई से एक अथाह जलकुड में गिरती है। जलकणो के वादल के वादल उठते है, जिससे कुड से दूर-दूर तक धुंआ सा छाया दीखता है। साथ ही बादलो के गर्जन-सा जोर-शोर सुनाई देता है। थोडे और नीचे की ओर सगमरमर की गगनचुम्वी चट्टानें है, जिनकी शोभा पूर्णिमा की रात्रि को वडी ही मोहक होती है।

वुन्देलखड का मध्यप्रान्तीय विभाग भी समग्र वुन्देलखड की भाँति ऐतिहासिक एव प्राकृतिक स्थलो से परिपूर्ण है। सव का उल्लेख इस लेख में करना असम्भव है।

देवरी]

बुन्देलखण्ड की पावन भूमि

स्व० 'रसिकेन्द्र'

उर्वरा भव्य धरा है यहाँ की, छिपे पडे रत्न यहाँ अलबेले ,
मुण्ड चढे यही चण्डिका पै, उठ रुण्ड लडे है यहीं असि ले ले ।
खण्ड बुन्देल की कीर्ति अखण्ड, बना गये वीर प्रचण्ड बुँदेले ,
झेल के सकट खेल के जान पै, खेल यहीं तलवार से खेले ॥१॥
शाह भी टीका मिटा न सके, हुई ऐसे नृपाल के भाल की झाकी ,
युद्ध के पडितो के बल-मडित की भुजदण्ड विशाल की झाकी ।
पाई यहीं पर धर्म-धुरीण प्रवीण गुणी प्रणपाल की झाकी ,
है जगती जगती में कला, करके कमला-करवाल की झाकी ॥२॥
आते रहे भगवान समीप ही, ध्यानियो का यहाँ ध्यान प्रसिद्ध है ,
पुत्र भी दण्ड से त्राण न पा सका, शासकों का नय-ज्ञान प्रसिद्ध है ।
हीरक-सी मिसरी है जहाँ, वहाँ व्यास का जन्म स्थान प्रसिद्ध है ,
वश चदेल की आन प्रसिद्ध है, ऊदल का घमासान प्रसिद्ध है ॥३॥
स्वर्ण-तुला चढ वीरसिंहजू देव ने दान की आन लचा दी ,
कध पै पालकी ले छत्रसाल ने, सत्कवि-मान की धूम मचा दी ।
राग में माधुरी आ गई, 'ईसुरी' ने अनुराग की फाग रचा दी ,
काव्य-कलाधर केशव ने, कविता की कला को स-ओज जचा दी ॥४॥
स्वर्ग में सादर पा रहा आज भी, भावुक मानसो का अभिनन्दन ,
दर्शन देते रहे जिसको तन धार प्रसन्न हो मारुति-नन्दन ।
पावन-प्रेम का पाठ पढा दिया, प्राण-प्रिया ने किया पद-वन्दन ,
प्राप्त हुई तुलसी को रसायन, रामकथा का यहीं घिस चन्दन ॥५॥
पाये गये हरदौल यहीं, विष टक्कर से नहीं डोलने वाले ,
सन्त, प्रधान, महान यहीं हुए, ज्ञान-कपाट के खोलने वाले ।
मृत्यु से जो डर खाते न थे, मिले सत्य ही सत्य के बोलने वाले ,
भाव-विहारी बिहारी यही हुए, स्वर्ण से दोहरे तोलने वाले ॥६॥
अचल में हरिताभ लिये तने, वेत्रवती के वितान को देखा ,
गूँज पहूज की कान में गूँजती, पचनदी के मिलान को देखा ।
कृत्रिम-रत्न-प्रदायिनी केन की, शान को देखा, धसान को देखा ,
द्वार में भानुजा के सजे निर्मल, नीलम-वेश-विधान को देखा ॥७॥
राम रमे वनवास में आकर, है गिरि की गुरुता को बढाया ;
पादप-पुज ने दे फल-फूल, किया शुभ स्वागत है मनभाया ।
राम लला की कला ने यहीं, अचला वन के है प्रताप दिखाया ,
जीवन धन्य हुआ 'रसिकेन्द्र' का, पावन-भूमि में जन्म है पाया ॥८॥

उरई]

प्रेमीजी की जन्म-भूमि देवरी

श्री शिवसहाय चतुर्वेदी

सागर ज़िले की रहली तहसील मे सागर से चालीस मील दक्षिण की ओर सागर-करेली रोड पर देवरी स्थित है। इसी स्थान को श्री नाथूराम जी प्रेमी को सवत् १९३८ मे जन्म देने का सौभाग्य मिला। यहीं के हिन्दी मिडिल स्कूल मे 1 जनवरी १८८९ ई० को प्रेमी जी का विद्यारम्भ हुआ। स्कूल के दाखिल-खारिज रजिस्टर मे उनका सीरियल नम्बर ६०६ है। सन् १८९८ मे पाठकीय परीक्षा (टीन क्लास) पास करने के पश्चात् उनका नाम स्कूल से खारिज हो गया।

प्राचीन और वर्तमान रूप

'सुखचैन' नामक नदी वस्ती के वीच मे होकर वहती है। उसके दक्षिणी किनारे पर गोंड राजाओ का वनवाया हुआ एक किला है, जो अव खडहर मात्र रह गया है। इसी किले के पत्थर निकाल कर सन् १८६६ ई० मे नदी का पुल वांधा गया था। देवरी से नर्मदा नदी का 'ब्रह्माण घाट' पक्की सडक पर दक्षिण की ओर सत्ताईस मील और करेली स्टेशन पैंतीस मील दूर है। यहाँ का भूभाग समुद्र तट से १४०८ फुट ऊँचा है। पानी वरसने का औसत ५०" है।

देवरी पहले एक वडा नगर था। सन् १८१३ ई० मे इस नगर की जन-सख्या तीस हज़ार थी। इसी साल गढाकोटा के राजा मर्दनसिंह के भाई ज़ालमसिंह ने कुछ फौज इकट्ठी करके देवरी घेर ली। उसी समय अकस्मात् नगर मे आग लग गई। कहते है कि आग ज़ालमसिंह के सैनिको ने लगाई थी। जो हो, दैव दुर्विपाक से उसी समय ज़ोर की हवा चलने लगी। देखते-देखते नगर जल कर भस्म हो गया। नगर के चारो ओर फौज का घेरा था। लोगो को भागने का अवकाश कम ही मिला। वडी मुश्किल से पाँच-छ हज़ार आदमी वच सके। शेष सव जल मरे। कहा जाता है कि आग लगने के दिन जालमसिंह के सिपाहियो ने एक आदमी को मार डाला था, जो हूँका घराने का गहोई वैश्य था। आदमी की मृत्यु होने पर उसकी साध्वीपत्नी अपने पति के शव के साथ सती होने स्मशान जा रही थी कि कुछ लोगो ने उसके सती होने की दृढता पर सन्देह करके उपहास किया। इस पर वह रुष्ट होकर वोली, "मेरा उपहास क्या करते हो! देखो, चार घटे के भीतर क्या होता है?" कहते हैं, उसी दिन चार घटे के भीतर देवरी जल कर भस्म हो गई।

सोलहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे देवरी नगर गढा-मडले के गौंड राजाओ के अधीन था। गौडो में सग्रामसिंह प्रतापी राजा हुआ। उसने अपने वाहुवल से वावन गढ जीते, जिन मे से दस सागर ज़िले में थे। धामौनी, गढाकोटा, राहतगढ, गढपहरा, रहली, रानगिर, इटावा, खिमलासा, खुरई, शाहगढ और देवरी। सग्रामसिंह ने पचास वर्ष राज्य किया। इसने अपने नाम के सोने के सिक्के चलाये। सग्रामसिंह १५३० के लगभग मर गया। उसके मरने पर इन गढो पर इनके वशजो का अधिकार वना रहा। १७३२ ई० में सागर का अधिकाश भाग पूना के पेशवाओ के अधिकार मे आ गया और सम्भवत सन् १७५३ में देवरी इलाका भी उनके अधीन हो गया।

सन् १७६७ ई० मे वाला जी वाजीराव पेशवा ने अपने एक सरदार श्रीमन्त धोडू दत्तात्रय को दक्षिण की विजय से प्रसन्न होकर देवरी पचमहाल जागीर में दी थी। ये श्रीमन्त नाय गाँव-नासिक के निवासी थे। जागीर मिलते ही देवरी आ कर रहने लगे और यहाँ के राजा वन गये। धोडू के पुत्रो ने अपने को सिन्धिया सरकार का आश्रित वना लिया। १८२५ मे अँगरेज़ सरकार ने श्रीमन्त रामचन्द्र राव से देवरी का इलाका ले लिया और इसके बदले

ग्वालियर के सिन्धिया से उन्हें इसी ज़िले का पिठौरिया इलाक़ा दिला दिया। श्रीमन्त के वशज ग्राज भी पिठौरिया में रहते है। सन् १८२५ में देवरी में अँगरेज़ी ग्रमलदारी प्रारम्भ हुई। इस समय मेजर हार्डी कब्ज़ा करने ग्राये थे। उनको इस तहसील के प्रबन्ध के लिए, जो हाल ही में अँगरेज़ी राज्य में मिलाई गई थी, एक स्थानीय सुयोग्य और अनुभवी आदमी की आवश्यकता थी। उनके विशेष आग्रह पर इन पक्तियो के लेखक के पूर्वज, जो पुराने राजा श्रीमन्त के समय के तहसीलदार थे, प० राव साहब चौबे देवरी तहसील के अँगरेज़ी अमलदारी के सर्व-प्रथम तहसीलदार और त्र्यम्बक राव नामक एक महाराष्ट्र सज्जन नायब तहसीलदार बनाये गये। इस तहसील मे गौर-झामर, नाहरमौदेवरी, चाँवरपाठा और तेंदूखेडा परगने शामिल थे। इसका विस्तार दक्षिण में नर्मदा नदी तक था, परन्तु कुछ समय पश्चात् नरसिंहपुर के अँगरेज़ी राज्य में आ जाने के कारण तहसीलो में परिवर्त्तन हुआ और देवरी रहली तहसील में शामिल कर दी गई। सन् १८५७ मे गदर के समय सिंहपुर के गौंड ज़मींदार दुर्जनसिंह ने देवरी के किले पर अधिकार कर लिया था, परन्तु उसे किला छोड कर शीघ्र भागना पडा।[1]

सन् १९४१ ई० की मनुष्य-गणना के अनुसार देवरी की जन-सख्या आठ हज़ार के करीब है। जन-सख्या के हिसाब से सागर और दमोह को छोड कर देवरी इस जिले का सबसे बडा कस्बा है।

सन् १८६७ ई० में यहाँ म्युनिसिपैलिटी कायम की गई थी। वर्त्तमान समय मे इसकी सालाना आमदनी पच्चीस-तीस हज़ार रुपया है। यहाँ म्युनिसिपैलिटी के दो मिडिल स्कूल है। एक हिन्दी का, दूसरा अँगरेज़ी का। एक सरकारी कन्याशाला भी है।

इन शिक्षणसस्थाओ के अतिरिक्त यहाँ पर पुलिस स्टेशन, सिटी पुलिस चौकी, डाकखाना, अस्पताल, ढोर-अस्पताल, वन-विभाग, पडाव, सराय औरविश्राम-बँगला (रेस्ट हाउस) भी है। पहले यहाँ रजिस्ट्री और तार आफिस भी थे, परन्तु अब टूट गये है। एक छोटा बाज़ार भी प्रतिदिन भरता है। साप्ताहिक बाज़ार शुक्रवार के दिन लगता है, जिसमें गल्ले और मवेशियो की अधिक बिक्री होती है। सागर-करेली में रेल्वे लाइन निकलने के पहले यहाँ का व्यापार बहुत बढा-चढा था। अब भी यहाँ बहुत व्यापार होता है। सरोते यहाँ के प्रसिद्ध है। देवरी पहले राज-स्थान रहा है। इस कारण यहाँ वैश्य, महाजन, व्यापारी, लुहार, बढई, तेली, तम्बोली, कोरी, कुस्टा, कुम्हार, सुनार, कँसेरे, तमेरे, रगरेज़, छीपा, कचेरे (काँच की चूडियाँ बनाने वाले), लखेरे, कुन्देरे (लकडी के खिलौने बनाने वाले), मोची, चित्रकार, जमौदी, (गाने वाले), कडेरे (बारूद आतिशबाज़ी बनाने वाले), माली, धोबी, नाई, ढीमर आदि सभी जातियो के लोग रहते है। कपडे के रोज़गार के अभाव के कारण यहाँ के बहु-सख्यक कोरी अहमदाबाद और इन्दौर में जा बसे है।

प्रेमीजी का घर

बस्ती के बीच से जो सडक गुज़रती है, उसी के पश्चिम की ओर लगभग ढाई फर्लांग की दूरी पर प्रेमीजी का घर है। यह उनकी पैतृक-भूमि है। प्रेमीजी के छोटे भाई नन्हेलाल जी ने उस घर को फिर से बनवा लिया है और वही उसमें रहते है। प्रेमीजी तो वर्ष दो वर्ष मे कभी आते है।

समारोह और महापुरुषो का आगमन

देवरी में समय-समय पर अनेक उत्सव होते रहते है और महापुरुषो का आगमन। सन् १९०१ से लेकर कई वर्षो तक 'मीर'-मडल-कवि-समाज के जल्सो की धूम रहती थी। बाहर के विद्वान् भी उनमे सम्मिलित होते थे।

प्रति वर्ष दशहरे के अवसर पर यहाँ रामलीला या कृष्णलीला हुआ करती थी। सभी वर्ग के लोग उसमें भाग लेते थे। महत्त्व की बात यह है कि रामलीला मे मुसलमान प्रेमपूर्वक सम्मिलित होते थे और ताज़ियो में हिन्दू

---

[1] 'सागर गजेटियर'।

योग देते थे। यह सन् १९०३-४ के पहले की बात है। उसके बाद समय ने पलटा खाया और हिन्दू-मुसलिम एकता की बात स्वप्न हो गई।

सन् १९०५ ई० मे लार्ड कर्जन द्वारा वग-भग और उसके विरोध में बगाल से स्वदेशी और बॉयकाट का आन्दोलन उठने के पूर्व देवरी मे स्वदेशी वस्तु-प्रचार का आन्दोलन जोर पकड गया था। सभाओ तथा जातीय पचायतो द्वारा स्वदेशी वस्तुओ के व्यवहार करने, देवरी के बुने स्वदेशी वस्त्र पहनने और देशी शक्कर खाने की प्रतिज्ञा कराई जाती थी। इस हल-चल का अपूर्व प्रभाव पडा। देवरी के बाजार में बाहर की शक्कर ढूढे न मिलती थी। हलवाई तो स्वदेशी शक्कर की मिठाई बनाने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध थे ही। अधिकाश लोग देवरी के बने कपडे पहिनने लगे थे। यहाँ उत्तम रेशम किनारी के धोती जोडे, साडियाँ, कुरते और कोटो के बढिया-बढिया कपडे बुने जाने लगे थे। इन सब कामो के मुख्य प्रवर्त्तक स्थानीय मालगुज़ार लाला भवानीप्रसाद जी थे। गाँव के सभी लोगो की इनसे पूर्ण सहानुभूति थी। श्री सैयद अमीर अली 'मीर' स्वदेशी आन्दोलन में विशेष क्रियात्मक भाग लेते थे। वे अपनी दूकान द्वारा देवरी की बनी स्वदेशी वस्तुएँ बेचते थे। उन्होने कपडा बुनना भी सीख लिया था। लाला भवानीप्रसाद जी और श्री नाथूराम जी प्रेमी आदि कुछ सज्जनो के प्रयत्न से बम्बई से 'शिवाजी हेण्ड लूम' मँगाई गई और उससे तथा कुछ यहाँ के बने करघो से कपडा बुनने का एक व्यवस्थित कारखाना खोला गया। देवरी के कुछ कोरी मीर साहब के साथ वस्त्र बुनने की कला में विशेष दक्षता प्राप्त करने के लिए बम्बई भेजे गये। हेण्ड-लूम आ जाने पर यहाँ बडे अर्ज़ के कपडे सुगमता से बुने जाने लगे। आज भी यहाँ कई किस्म के अच्छे कपडे तैयार होते हैं। चालीस नम्बर के सूत के नामी जोडे, रेशमी किनारी की साडियाँ और अनेक प्रकार के चौखाने बुने जाते हैं। पटी (स्त्रियो के लँहगा बनाने का लाल रग का धारीदार कपडा, जिसके नीचे चौडी किनार रहती है।) यहाँ खूब तैयार होता है। सन् १९०९-१० में इन कामो की ओट में सरकार को राजविद्रोह की गन्ध आने लगी। फलतः श्री लाला भवानीप्रसाद, प० लक्ष्मण राव, प० श्रीराम दामले आदि छ सात आदमियो पर ताज़ीरात हिन्द के अन्तर्गत १२४ अ के मामले चलाये गये और उनसे दो-दो हज़ार रुपयो की ज़मानतें तलब की गई। दमनचक्र ज़ोर पकड गया। 'मीर' साहब बाहर चले गये। प्रेमीजी पहले ही बम्बई जा चुके थे। अत कार्य शिथिल पड गया।

सन् १९२० मे नागपुर-काग्रेस के प्रचार-कार्य तथा चन्दे के लिए श्री माधव राव जी सप्रे, प० विष्णुदत्त जी शुक्ल और बैरिस्टर अभ्यकर देवरी पधारे और उनके भाषण हुए। काग्रेस के पश्चात् महात्मा गाँधी के असहयोग आन्दोलन ने ज़ोर पकडा। देवरी मे भी काग्रेस की प्रवृत्तियाँ चल पडी। सन् १९१८ से १९३३-३४ तक देवरी की प्रत्येक राजनैतिक तथा सार्वजनिक हलचल में इन पक्तियो के लेखक का हाथ रहा है।

सन् १९३३ के दिसम्बर की पहली तारीख देवरी के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगी। उस दिन महात्मा गाधी देवरी पधारे। शुक्रवार बाज़ार के मैदान में सभा की आयोजना की गई। हज़ारो नर-नारी महात्मा जी के दर्शन करने और उनका भाषण सुनने के लिए इकट्ठे हुए। पूर्वाह्न मे दस बजे महात्मा जी का आगमन हुआ और दो बजे सभा हुई। भाषण के पश्चात् महात्मा जी को थैलियाँ और मानपत्र भेंट किया गया। 'हरिजन-सेवक' में महात्मा जी ने देवरी के सुप्रबन्ध और मानपत्र की प्रशसा की थी।

सन् १९४१-४२ में महात्मा जी के युद्ध-विरोधी आन्दोलन के समय देवरी सत्याग्रहियो की राजनैतिक हलचलो का प्रसिद्ध अखाडा रहा। बहुत से आदमियो ने जेल-यात्रा की।

साहित्यिक सेवा

साहित्यिक क्षेत्र में भी देवरी की सेवाएँ कभी भुलाई नही जा सकती। स्व० सैयद अमीर अली 'मीर' तथा मीर-मडल के कवियो ने, जिनमे प० कन्हैयालाल जी 'लालविनीत', मुशी खैराती खाँ 'खान', गोरे लाल जी 'मजुसुशील',

कामताप्रसाद 'वीरकवि', फदालीरामजी स्वर्णकार 'नूतन', नाथूराम जी 'प्रेमी', बुद्धिलाल जी 'श्रावक', प० लक्ष्मीदत्त जी 'लालप्रताप', वारेलाल जी 'हूँका' प्रभृति विद्वानो के नाम उल्लेखयोग्य है, हिन्दी-साहित्य की प्रशसनीय सेवा की है। श्री नाथूराम जी 'प्रेमी' की व्यापक और ठोस सेवाओ से तो हिन्दी-जगत् भलीभाँति परिचित ही है। उनके सुपुत्र हेमचन्द्र भी प्रतिभाशाली युवक थे और उनसे बडी आशाएँ थी, लेकिन अल्पायु में ही वे स्वर्गवासी हो गये। इन पक्तियो के लेखक से भी साहित्य की थोडी-बहुत सेवा बन पडी है। देवरी की उर्वर भूमि अनेको 'मोर' और 'प्रेम' उत्पन्न करे, ऐसी कामना है।

देवरी]

बुन्देलखण्ड की पत्र-पत्रि एँ

श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'

हमारे देश में आज विभिन्न प्रान्तो से अनेकानेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही है। प्रस्तुत लेख मे हम केवल बुन्देलखड के पत्रो पर ही सक्षिप्त प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे। समय-समय पर बुन्देलखड से जो पत्र प्रकाशित हुए और समाप्त हो गये, उन सब का क्रमागत उल्लेख कर सकना सम्भव नही। कारण, कितने ही पत्रो का आज न तो कही कोई इतिहास ही प्राप्य है और न उनका विवरण जानने वालो का ही अस्तित्व है, लेकिन आज के युग में हमें अपनी पत्र-पत्रिकाओ का लेखा-जोखा रखना अत्यन्त आवश्यक है, ताकि विस्मृति के गर्भ मे वे भी वैसे ही विलीन न हो जायँ, जैसे कि पहले हो गए है।

बुन्देलखड मे पत्र-पत्रिकाओ के प्रकाशन का सर्वाधिक श्रेय जबलपुर को ही दिया जा सकता है। वहाँ से समय-समय पर अनेक पत्र निकले और अपने क्षेत्र में उनकी सेवाएँ पर्याप्त उल्लेखनीय रही। लेकिन हम देखते है कि हमारे प्रान्त में अन्य प्रान्तो की पत्र-पत्रिकाएँ तो सहज ही मे अपना प्रचार कर लेती है, ग्राहको के रूप में जनता का सहयोग प्राप्त कर लेती है और उत्तरोत्तर उन्नत होने का मार्ग बना लेती हैं, लेकिन अपने ही प्रान्त के पत्रो को अपनाना और उन्हे उन्नत करना मानो यहाँ के निवासियो ने सीखा ही नही। छिन्दवाडा से इन पक्तियो के लेखक के सम्पादकत्व में 'स्काउट-मित्र' नामक जिस मासिक पत्र का प्रकाशन श्री रामेश्वर दयाल जी वर्मा ने प्रारम्भ किया था, उसके सिलसिले में हमने अनुभव किया कि हमारे प्रान्तवासी केवल उन पत्रो को ही अपनाने के अभ्यस्त है जो प्रारम्भ से ही भारी-भरकम और ऊँचे दर्जे के हो। वे कदाचित् यह नही जानते कि दूसरे प्रान्तो के जिन पत्रो के वे आज ग्राहक है, प्रारम्भ में वे भी क्षीणकाय और साधनहीन थे और अत्यन्त साधारण कलेवर लेकर प्रकाशित हुए थे। यदि हमारे प्रान्त-वासी अपने प्रान्त के पत्रो को अपनाने की उदारता दिखावे तो कोई कारण नही कि यहा पत्र-पत्रिकाओ को अकाल ही काल-कवलित हो जाना पडे। खेद की बात है कि इसी त्रुटि के कारण हमारे प्रान्त के अनेको ऐसे पत्र कुछ दिन ही चल कर खत्म हो गये, जो कुछ ही समय में भारत के सर्वश्रेष्ठ पत्रो की श्रेणी मे गिने जा सकते थे। जबलपुर से अभी तक निम्नलिखित ग्यारह पत्रो का प्रकाशन समय-समय पर किया गया, लेकिन उनमें से आज दो-एक के अतिरिक्त किसी का भी अस्तित्व नही रहा।

१—**'शारदा-विनोद'**—सेठ श्री गोविन्ददास जी की प्रेरणा से जून १९१५ मे इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया गया था। इसके सम्पादक थे मध्यप्रान्त के सुप्रसिद्ध राष्ट्रकर्मी प० नर्मदाप्रसाद जी मिश्र। छोटी-छोटी कहानियो का यह सुन्दर मासिक पत्र था। वार्षिक मूल्य था डेढ रुपया। कुल सत्रह अक इसके निकले। शारदा-भवन-पुस्तकालय, जबलपुर द्वारा इसका प्रकाशन हुआ था।

२—**'छात्र-सहोदर'**—मध्यप्रान्त के सुप्रसिद्ध विद्वान् और इतिहासकार स्वर्गीय प० रघुवरप्रसाद जी द्विवेदी और राष्ट्रकवि श्रीयुत नरसिंहदास जी अग्रवाल 'दास' के सम्पादकत्व में यह पाक्षिक पत्र प्रकाशित होता था। छात्रो के लिए उपादेय सामग्री से पूर्ण रहता था। लेकिन कुछ समय बाद वह भी बन्द हो गया।

३—**'श्री शारदा'**—हिन्दी-ससार के श्रेष्ठ मासिक पत्रो में 'श्री शारदा' का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। हिन्दी के धुरन्धर लेखको का सहयोग इसे प्राप्त था। इसकी सी गहन और गम्भीर सामग्री आज के कितने ही श्रेष्ठ मासिक पत्रो में खोजने पर भी न मिलेगी। मध्यप्रान्त के साहित्य में इस पत्रिका की सेवाएँ अपना सानी नही रखती। इसके सम्पादक थे प० नर्मदाप्रसाद जी मिश्र। सेठ गोविन्ददास जी के तत्वावधान में यह पत्रिका राष्ट्रीय हिन्दी मन्दिर, जबलपुर द्वारा प्रकाशित होती थी। इसका वार्षिक मूल्य पाँच रुपया था।

वुन्देलखण्ड का एक ग्रामीण मेला

'श्री शारदा' का प्रथमांक २१ मार्च सन् १९२० को प्रकाशित हुआ था। लगभग तीस अंक प्रकाशित होने के बाद प० नर्मदाप्रसाद जी मिश्र ने इसके सम्पादकत्त्व से अवकाश ग्रहण कर लिया। आपके हट जाने पर पंडित द्वारकाप्रसाद जी मिश्र इसके सम्पादक नियुक्त हुए, लेकिन मिश्र जी के सम्पादकत्त्व में यह पत्रिका मासिक न रह कर त्रैमासिक हो गई और तीन-चार अंक निकल कर बन्द हो गई।

४—'लोकमत'—सेठ गोविन्ददास जी के तत्त्वावधान में इसका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। पंडित द्वारका-प्रसाद जी मिश्र इसके प्रधान सम्पादक थे। इसके प्रकाशन से हिन्दी के दैनिक पत्रो मे तहलका मच गया। कलकत्ते का दैनिक 'विश्वमित्र' आज जिस बृहत् रूप में प्रकाशित होता है, 'लोकमत' ऐसे ही विशाल रूप में सोलह पृष्ठ का भारी कलेवर लेकर प्रतिदिन प्रकाशित होता था। यह राष्ट्रीय जागरण का प्रबल समर्थक था। 'विन्ध्य-शिखर से' शीर्षक स्तम्भ की सामग्री पढ़ने के लिए जनता लालायित रहती थी। इस स्तम्भ मे हास्य का पुट देते हुए राजनैतिक हलचलो का जो खाका खीचा जाता था, वह आज भी हिन्दी के किसी दैनिक अथवा साप्ताहिक मे दुर्लभ है। इस पत्र के सम्पादकीय विभाग मे भारत के विभिन्न प्रान्तो के लगभग एक दर्जन प्रतिभाशाली पत्रकार काम करते थे। इन पंक्तियो के लेखक को भी पत्रकार-कला का प्रारम्भिक पाठ पढने का सौभाग्य इसी दैनिक पत्र के सम्पादकीय विभाग मे प्राप्त हुआ था। लेकिन मध्यप्रान्त की अनुर्वर भूमि पर ऐसा अप्रतिम दैनिक भी जीवित न रह सका। प्रान्त के लिए यह लज्जा-जनक बात है। सन् १९३१ के राष्ट्रीय आन्दोलन में मिश्र जी और बाबू साहब के जेल चले जाने पर महीनो तक साँसें लेने के बाद 'लोकमत' का प्रकाशन बन्द हो गया।

५—'प्रेमा'—'श्री शारदा' के बाद 'प्रेमा' का प्रकाशन हुआ। सन् १९३१ मे वह श्रीयुत रामानुजलाल जी श्रीवास्तव के सम्पादकत्त्व में निकली। प्रारम्भ में कुछ समय तक श्रीवास्तव जी के साथ-साथ श्री परिपूर्णानन्द जी वर्मा भी इसके सम्पादक थे और अन्तिम समय में मध्यप्रान्त के सुपरिचित कवि और 'उमरखैय्याम' के अनुवादक प० केशवप्रसाद जी पाठक इसका सम्पादन करते थे।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखकों की रचनाओ से जहाँ 'प्रेमा' का कलेवर अलंकृत रहता था, वहाँ प्रान्त के उदीयमान कवियो और लेखको की कृतियों को भी इसमें यथेष्ट स्थान दिया जाता था। इसमें सन्देह नही कि जबलपुर के अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारो के निर्माण में 'प्रेमा' का बड़ा हाथ रहा।

काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित नौ रसो पर एक-एक उपादेय विशेषांक निकालने की दिशा में 'प्रेमा' का प्रयत्न स्तुत्य था। लेकिन हास्य, शृंगार और करुणरस के भी विशेषांक पारंगत साहित्यिको के सम्पादकत्त्व में प्रकाशित करने के बाद 'प्रेमा' का प्रकाशन भी बन्द हो गया।

श्रीवास्तव जी ने 'प्रेमा' के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया था, लेकिन प्रान्त इस मासिक पत्रिका को भी जीवित न रख सका।

६—'पतित-बंधु'—श्री वियोगी हरि जी और श्री नाथूराम जी शुक्ल के सम्पादकत्त्व में हरिजन-आन्दोलन के समर्थन में 'पतित-बन्धु' का साप्ताहिक प्रकाशन भी काफी समय तक होता रहा। श्री व्यौहार राजेन्द्रसिंह जी का सहयोग इसे प्राप्त था। लेकिन 'चार दिनो की चाँदनी, फेर अँधेरी रात' वाली उक्ति इसके साथ भी चरितार्थ होकर ही रही।

७—'सारथी'—प० द्वारकाप्रसाद मिश्र के सम्पादकत्त्व में सन् १९४२ में इस साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया गया था। हिन्दी के श्रेष्ठ साप्ताहिको में इसकी गणना होती थी, लेकिन अगस्त १९४२ के आन्दोलन में मिश्र जी के जेल चले जाने पर श्री रामानुजलाल जी श्रीवास्तव ने कुछ महीनो तक इसका सम्पादन-भार ग्रहण कर उसे जीवित रखने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु परिस्थितियो ने उनका साथ नही दिया और यह साप्ताहिक भी बन्द हो गया।

८—'कर्मवीर'—हिन्दी साप्ताहिक 'कर्मवीर' जो आजकल प० माखनलाल जी चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में खडवा से प्रकाशित हो रहा है, प्रारम्भ में—शायद १९१९ मे—जवलपुर से ही प्रकाशित होता था। उस समय भी चतुर्वेदी जी ही इसके सम्पादक थे। कुछ समय के वाद चतुर्वेदी जी इस पत्र को अपना निजी पत्र वना कर खडवा ले गये और आज तक वही से इसे प्रकाशित कर रहे है। लेकिन किसी समय राष्ट्रीयता का शखनाद करने वाला 'कर्मवीर' आज अपने प्राचीन महत्त्व को खो वैठा है।

९—'शुभचितक'—सन् १९३७ में विजयदशमी के अवसर पर इस पत्र का प्रकाशन साप्ताहिक के रूप में प्रारम्भ किया गया था। इसके सम्पादक थे जवलपुर के सुप्रसिद्ध कथाकार स्वर्गीय श्री मगलप्रसाद जी विश्वकर्मा। लगभग तीन वर्ष तक विश्वकर्मा जी ने इसका सम्पादन योग्यता-पूर्वक किया। उनके निधन के वाद श्री नाथूराम जी शुक्ल कुछ समय तक इसके सम्पादक रहे, लेकिन इसके सचालक श्री वालगोविन्द गुप्त से मतभेद हो जाने के कारण शुक्ल जी ने उसे छोड दिया। इसके वाद से अव तक श्री वालगोविन्द गुप्त का नाम सम्पादक की हैसियत मे प्रकाशित हो रहा है। अव यह पत्र अर्द्ध साप्ताहिक के रूप मे निकलता है।

१०—'शक्ति'—श्री नाथूराम शुक्ल के सम्पादकत्व में साप्ताहिक 'शक्ति' भी पिछले कई वर्षो से प्रकाशित हो रही है, लेकिन जवलपुर के वाहर लोग इसे जानते भी नही। हिन्दू-महासभा के उद्देश्यो का समर्थन ही इसकी नीति है।

११—'महावीर'—सन् १९३९ मे इन पक्तियो के लेखक के ही सम्पादकत्व में इस वालोपयोगी मासिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। इसके सचालक थे श्री भुवनेन्द्र 'विश्व', जिनकी 'सरल जैन-ग्रन्थ-माला', जवलपुर के जैन-समाज मे अपना विशेष महत्त्व रखती है। लगभग एक वर्ष तक इसका प्रकाशन सफलता-पूर्वक हुआ। वाद मे सम्पादक और सचालक में मतभेद हो जाने के कारण इसके दो-चार अक स्वय सचालक महोदय ने अपने ही सम्पादकत्व में प्रकाशित किये, लेकिन पत्र को वह जीवित न रख सके।

१२—'मधुकर'—जवलपुर के वाद पत्र-पत्रिकाओ के प्रकाशन का जहाँ तक सम्वन्ध है, ओरछा राज्य की राजधानी टीकमगढ का नाम उल्लेखनीय है। हिन्दी के यशस्वी पत्रकार प० वनारसीदास जी चतुर्वेदी 'विशाल भारत' का सम्पादन छोड कर टीकमगढ आये और श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद् के तत्त्वावधान में टीकमगढ से 'मधुकर' नामक पाक्षिक पत्र का अक्तूवर १९४० से प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्र ने वुन्देलखड के प्राचीन और वर्तमान रूप को प्रकाश मे लाने का सफलता-पूर्वक उद्योग किया है। श्री चतुर्वेदी जी ने समय-समय पर अनेक आन्दोलन चलाये है और उनमे सफलता भी प्राप्त की है। 'मधुकर' द्वारा भी उन्होने कुछ आन्दोलन चलाये है जिनमें प्रमुख वुन्देलखण्ड-प्रान्त-निर्माण तथा जनपद-आन्दोलन है। यह पत्र चार वर्ष तक वुन्देलखण्ड तक सीमित रहा। अव इसका क्षेत्र व्यापक हो गया है।

१३—'लोकवार्त्ता'—'लोकवार्त्ता-परिषद्' टीकमगढ के तत्त्वावधान मे हिन्दी के सुपरिचित लेखक श्री कृष्णानन्द गुप्त के सम्पादकत्व में जून १९४४ में इसका प्रथमाक प्रकाशित हुआ था। पत्रिका त्रैमासिक है। देश के विभिन्न प्रान्तो की लोक-वार्त्ताओ पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से इस पत्रिका ने जिस दिशा में कदम वढाया है, वह वाछनीय और स्तुत्य है। पत्रिका का क्षेत्र अभी वुन्देलखण्ड तक ही सीमित है, लेकिन आगे चल कर इसका क्षेत्र व्यापक होने की आशा है।

इन पत्रो के अतिरिक्त दमोह से **'ग्राम-राम'** नामक मासिक पत्र का प्रकाशन हुआ, लेकिन कुछ समय के वाद वह भी वन्द हो गया। श्री शरसौदे जी ने भी 'मोहनी' और 'पैसा' नाम के मासिक पाक्षिक पत्रो का प्रकाशन किया, किन्तु ये पत्र कुछ ही अक प्रकाशित कर वन्द हो गए।

झाँसी से **'स्वतन्त्र'** साप्ताहिक और **'जागरण'** दैनिक प्रकाशित होते है और कभी-कभी **'स्वाधीन'** के भी दर्शन हो जाते है।

बुन्देलखण्ड में पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का सर्वप्रथम प्रयास सम्भवत सागर से ही प्रारम्भ हुआ था। सन् १८९२ ई० मे प० नारायणराव बालकृष्ण नाखरे ने आलकाट-प्रेस स्थापित करके सर्वप्रथम 'विचार-वाहन' नामक मासिक पत्र निकाला था। यह पत्र थियोसोफी मत का प्रवर्तक था। कुछ वर्ष चलने के पश्चात् बन्द हो गया। इसके कुछ वर्ष बाद अनुमानत सन् १९०० ई० में नाखरे जी ने सागर से दूसरा पत्र—'प्रभात' निकाला। यह भी मासिक था। धार्मिक और सामाजिक विषयो पर इसमें लेख निकला करते थे। दो साल चल कर नाखरे जी की बीमारी के कारण कुछ समय के लिए बन्द हो गया। दो वर्ष पश्चात् उसका प्रकाशन पुन प्रारम्भ हुआ और फिर दो-तीन वर्ष तक चलता रहा।

नाखरे जी के उक्त प्रयत्न के पश्चात् सागर मे एक सुदीर्घ समय तक पूर्ण सन्नाटा रहा। बीच में किसी भी पत्र-पत्रिका का जन्म नही हुआ। एक लम्बी निद्रा के पश्चात् सन् १९२३ से फिर कुछ पत्रो का निकलना प्रारम्भ हुआ, किन्तु खेद है उनमे से एक भी पत्र स्थायी न हो सका। नीचे इन पत्रो का सक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

१४—**'उदय'**—(साप्ताहिक) श्री देवेन्द्रनाथ मुकुर्जी के सम्पादकत्त्व में सन् १९२३ मे निकला। यह पत्र राष्ट्र-निर्माण, शिक्षाप्रचार तथा हिन्दूसगठन का प्रबल समर्थक था। लगभग दो वर्ष चल कर कर्जदार हो जाने के कारण अस्त हो गया।

१५—**'दैनिक प्रकाश'**—सम्पादक—मास्टर बलदेवप्रसाद। सन् १९२३ में जब कि नागपुर में राष्ट्रीय झडा-सत्याग्रह चल रहा था। इस पत्र ने इस प्रान्त में काफी जाग्रति उत्पन्न की थी। झडा-सत्याग्रह के सम्बन्ध मे जेल अधिकारियो की इस पत्र ने कुछ सवाद-दाताओं के सवाद के आधार पर टीका की थी। जेल अधिकारियो ने पत्र और सम्पादक पर मान-हानि का दावा किया। परिणाम-स्वरूप पत्र को अपनी प्रकाश की किरणें समेट कर सदा के लिए बन्द हो जाना पडा।

१६—**'समालोचक'** (साप्ताहिक) सचालक—स्वर्गीय पन्नालाल राघेलीय। सम्पादक भाई अब्दुलगनी। यह पत्र भी सन् १९२३ मे निकला और तीन साल चला। पत्र हिन्दू-मुस्लिम-एकता का हामी था। स्वर्गीय गणेशशकर विद्यार्थी—सम्पादक 'प्रताप', प० माखनलाल चतुर्वेदी—सम्पादक 'कर्मवीर' और कर्मवीर प० सुन्दरलाल जी ने इस पत्र की नीति की यथेष्ट प्रशसा की थी। जब देश मे खुले आम हिन्दू-मुस्लिम-दगा हो रहे थे, उस समय सागर के इस पत्र ने इन दगो की कडी टीका की थी। पत्र बन्द होने का कारण सम्पादक का जबलपुर चला जाना और वहाँ से 'हिन्दुस्थान' पत्र निकालना था। **'हिन्दुस्थान'** अपने यौवन-काल में फल-फूल रहा था कि अकस्मात् मेरठ-षड्यन्त्र के मामले मे पत्र और सम्पादक की तलाशी हुई और उसमे कुछ आपत्तिजनक पत्र पकडे गये। घटना-चक्र में फँस कर पत्र बन्द हो गया।

१७—**'स्वदेश'**—सन् १९२८ में साधुवर प० केशवरामचन्द्र खाडेकर के सम्पादकत्त्व में निकला और सन् १९३० में देशव्यापी सत्याग्रह छिड जाने पर सम्पादक के जेल चले जाने और पत्र में काफी घाटा होने के कारण बन्द हो गया।

१८—**'देहाती दुनिया'**—साप्ताहिक। सम्पादक—भाई अब्दुलगनी। यह पत्र सन् १९३७ से देहात की जनता में जाग्रति करने और उन्हें कृषि-सम्बन्धी परामर्श देने के लिए अपना काम करता रहा। सन् १९४२ के आन्दोलन में सम्पादक के गिरफ्तार हो जाने पर बन्द हो गया।

१९—**'बच्चो की दुनिया'** (पाक्षिक)। सम्पादक—मास्टर बल्देवप्रसाद। सन् १९३८-३९ में निकला। सन् १९४२ में सम्पादक के जेल जाने तथा कागज के अभाव में बन्द हो गया।

उक्त पत्रो के अतिरिक्त कई एक स्थानो से कुछ छोटे-मोटे पत्र निकलते हैं। जैसे, हमीरपुर से 'पुकार', कौंच से 'वीरेन्द्र' तथा उरई से 'आनन्द'। इस पिछडे प्रान्त में जन-जाग्रति का कार्य करने के लिए प्रभावशाली पत्रो के प्रकाशन की आवश्यकता है। यह निर्विवाद सत्य है कि राजनैतिक, सामाजिक तथा शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति

उत्पन्न करने में पत्र वडे लाभदायक मिद्ध होगे। अत कुछ ऊँचे दर्जे के पत्र निकालने की दिशा में हमे शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिए।

जानकारी के अभाव में, सम्भव है, कुछ पत्रो के नाम छूट गये हो। लेखक क्षमा-प्रार्थी है।

नोट—डा० रामकुमार जी वर्मा द्वारा हमें निम्नलिखित पत्र-पत्रिकाओ के विवरण और प्राप्त हुए है।

—सम्पादक

१ हितकारिणी—यह मासिक पत्रिका जवलपुर से हितकारिणी मभा की ओर से प्रकाशित होती थी और इसके सपादक थे स्वर्गीय श्री रघुवरप्रसाद जी द्विवेदी। इस पत्रिका ने शिक्षा के प्रसार और मगठन करने में अभूतपूर्व कार्य किया। वीस वर्षो से अधिक इस पत्रिका ने मध्यप्रात मे साहित्यिक प्रेरणाएँ भी प्रदान की और शिक्षको और विद्यार्थियो को चरित्रवल की शिक्षा दी।

२ शिक्षामृत—यह मासिक पत्रिका नरसिंहपुर से 'हिन्दी साहित्य प्रसारक कार्यालय' से श्री नाथूराम रेपा के निरीक्षण और श्री आनन्दिप्रसाद श्रीवास्तव के सम्पादकत्व मे सन् १६२० से प्रकाशित होना आरभ हुई। यह ५ वर्षो तक प्रात और उसके वाहर शिक्षा और साहित्य की समस्याओ पर प्रकाश डालती रही। इसमें कविताएँ उच्चकोटि की होती थी और भारत के प्राचीन गौरव से सवध रखने वाले चरित्रो पर अच्छी कविताएँ लिखी जाती थी।

३ विंध्यभूमि—पन्ना, बुन्देलखण्ड से यह त्रैमासिक पत्र बुन्देलखण्ड के साहित्यिक और ऐतिहासिक वैभव से सवध रखता है। यह जून सन् १६४५ से प्रकाशित हुआ। इसमे साहित्यिक सुरुचि से सम्पन्न सुन्दर लेखो का सग्रह रहता है। इसके सम्पादक है श्री हरिराम मिश्र, एम० ए०, एल-एल० वी, वी० टी०।

४ जयहिन्द—श्री गोविन्ददास जी के निर्देशन मे जवलपुर से एक दैनिक पत्र के रूप मे प्रकाशित हुआ। इसमें प्रमुखत राजनैतिक विपयो की ही चर्चा रहती है। साहित्यिक समारोहो के विवरण देने मे भी इस पत्र मे विशेष ध्यान रक्खा जाता है। इस पत्र का प्रकाशन इसी वर्ष (१६४६) से प्रारभ हुआ है।

उषा-विहार

[कुण्डेश्वर के निकट जामनेर की छटा

बुन्देलखण्ड का एक महान् संगीतज्ञ

[उस्ताद आदिलखां]

श्री वृन्दावनलाल वर्मा एडवोकेट

(१)

"है तो जरा पगला, पर उसके गले में सरस्वती विराजमान है।" प० गोपालराव घाणेकर ने एक दिन मुझसे कहा।

प० गोपालराव वयोवृद्ध थे। मैं उन्हें 'काका' कहा करता था। सितार बहुत अच्छा बजाते थे। गाते भी बहुत अच्छा थे। दमे के रोगी होने पर भी ख्याल मे बडी सुरीली गमकें लगाते थे। मैं उनका सितार सुनने प्राय जाया करता था। एक दिन उन्होने उस्ताद आदिलखाँ के गायन की प्रशसा करते हुए उक्त शब्द कहे थे।

उसी दिन मे आदिलखाँ का गाना सुनने के लिए मेरा मन लालायित हो उठा। उन्ही दिनो अगस्त की उजली दुपहरी मे एक दिन मैं डॉक्टर सरयूप्रसाद के यहाँ गपशप के लिए जा बैठा। छुट्टी थी। वह बैठकबाज थे और गाने-बजाने के बडे शौकीन। उसी समय उनके यहाँ एक नवागन्तुक बडी तेजी से आया। मूँछ मुडे चेहरे पर श्रमकण सवेरे की हरियाली पर ओस की बूदो की तरह मोतियो जैसे झिलमिला रहे थे। शरीर का बारीक सफेद कुर्ता पसीने से भीग गया था। नजाकत के साथ सारग की तान छेडता हुआ वह व्यक्ति आया और बैठते ही बातचीत आरम्भ कर दी। "डॉक्टर साहब !" वह बोला, "कलकत्ते गया था। एक बगाली बाबू ने कई दिन रोक रक्खा। कई बैठकें हुईं।" चेहरे से लडकपन, अल्हडपन और सरलता टपक रही थी और आँखो से प्रतिभा। मुझे सन्देह हुआ कि शायद यह आदिलखाँ हो, परन्तु ऐसा लटका-सा और अल्हड कही इतना महान् सगीतज्ञ हो सकता है ! यह तो कोई चलतू गवैया होगा। मैंने डॉक्टर साहब से सकेत में प्रश्न किया।

उन्होने आश्चर्य के साथ उत्तर दिया, "इनको नही जानते ? आदिलखाँ हैं। प्रसिद्ध गवैये !"

मैंने क्षमा-याचना की वृत्ति बना कर कहा, "कभी पहले देखा नही। इसलिए पहचान नही पाया। तारीफ आपकी प० गोपालराव जी से अवश्य सुनी है।"

आदिलखाँ ने पूछा, "आप कौन हैं ?"

डॉक्टर साहब ने मेरा परिचय दे दिया।

आदिलखाँ बोले, "प० गोपालराव जी बहुत जानकार हैं। बडे सुरीले हैं।"

फिर उन्होने सारग की तानो से उस कमरे को भर-सा दिया। कोई बाजा साथ के लिए न था, परन्तु जान पडता था मानो आदिलखाँ के स्वर और गले को बाजो की अपेक्षा ही नही। इससे और अधिक परिचय उस दिन मेरा और उनका नहीं हुआ।

कुछ ही समय उपरान्त गोपाल की बगिया मे, जहाँ अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन पन्द्रह वर्ष पूर्व हुआ था, गायनवादन की बैठक हुई। एक प्रसिद्ध पखावजी और आदिलखाँ का मुक़ाबला था। बीच-बीच मे मुझे ऐसा भान होता था कि पखावजी का अनुचित पक्ष किया जा रहा है। जब बैठक समाप्त हुई तो लोग अपने पक्षपात को प्रकट करने लगे। मैंने प्रतिवाद किया और आदिलखाँ की जो कारीगरी ताल के सम्बन्ध में मेरी समझ में आई, अपने प्रतिवाद के प्रतिपादन मे लोगो के सामने पेश की। वहाँ से हम लोग चले तो आदिलखाँ साथ थे। मार्ग मे बातचीत होने लगी। आदिलखाँ ने पूछा, "आपने सगीत किससे सीखा ?"

मैने उत्तर दिया, "किसी से नही। भारतखडे की पुस्तको से।"

"अजी, पुस्तको से सगीत नही आता।"

"क्या करता ? मन भरने योग्य गुरू न मिलने के कारण पुस्तको का ही सहारा लेना पडा।"

"किसी दिन मै अपना गाना सुनाऊँगा।"

यह बात आज से बाईस वर्ष पहले की है। तब से उस्ताद आदिलखाँ के साथ मेरा सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढता चला गया और अब तो वह मेरे छोटे भाई के बराबर है।

(२)

सन् १९२५ के नवम्बर की बात है। चिरगाँव से एक बरात ललितपुर गई। बरात मे भाई श्री मैथिलीशरण गुप्त, स्वर्गीय मुशी अजमेरी जी तथा प्रसिद्ध सगीतज्ञ श्री लक्ष्मणदास मुनीम (हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के सगीत के प्रोफेसर) और बनारस के विख्यात शहनाई बजानेवाले थे। मै आदिलखाँ को एक दिवस उपरान्त झाँसी से ले पहुँचा। सवेरे का समय था। बनारस की शहनाई बज रही थी। शहनाई वाले झूम-झूम कर टोडी की तानें ले रहे थे। उस्ताद आदिलखाँ को चिरगाँव के सभी बराती जानते थे, परन्तु मुनीम जी और शहनाई वाले उनकी ख्याति से थोडे ही परिचित थे। मैने और उस्ताद ने उनको पहले-पहल ही देखा था। हम लोग एक ओर को बैठ गए। अभी शहनाई समाप्त नही हुई थी कि आदिलखाँ ने मेरे कान में कहा, "अच्छी बजाते है, पर मेरी भी टोडी होनी चाहिए।"

शहनाई के समाप्त होते ही मैने उस्ताद से गवाने का अनुरोध किया। भाई मैथिलीशरण जी तथा मु० अजमेरी जी उस्ताद का गाना सुन चुके थे। उनका अनुमोदन होते ही आदिलखाँ का गाना आरम्भ हो गया। उस्ताद ने विलासखानी टोडी छेडी और ऐसा गाया कि हम लोग तो क्या, शहनाई वाले और प्रोफेसर लक्ष्मणदास मुनीम भी मुग्ध हो गये। ग्यारह बज गये। कोई उठना नही चाहता था, परन्तु स्नान इत्यादि से निवृत्त होना था। इसलिए बैठक दोपहर के लिए स्थगित कर दी गई।

दुपहरी की बैठक में सारग गाने के लिए आग्रह हुआ।

उस्ताद ने पूछा, "कौन सा सारग गाऊँ ? सारग नौ प्रकार के है। जिस सारग का हुकुम हो, उसी को सुनाऊँ।'

मुनीम जी ने प्रस्ताव किया, "पहले शुद्ध सारग सुनाइए।"

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि यह राग तानो और मीड मसक की गुजाइश रखते हुए भी अच्छे गवैयो की कारीगरो की परीक्षा की कसौटी है। उस्ताद ने मुस्करा कर कहा, "बहुत अच्छा।"

मुनीम जी ने हारमोनियम लिया। वह इसके पारगत थे। आदिलखाँ ने शुद्ध सारग ऐसी चतुराई के साथ गाया कि श्रोता मन्त्रमुग्ध-से हो गये। मुझको ऐसा भान हुआ मानो गर्मियो के दिन हो। लू चल रही हो। कोकिलाएँ प्रमत्त होकर शोर कर रही हो। मुझ समेत कई श्रोताओ को पसीना आ गया। शुद्ध सारग के समाप्त होते ही मुनीम जी ने कहा, "मै पैंतीस वर्ष से हारमोनियम पर परिश्रम कर रहा हूँ और अनेक बडे-बडे गवैयो को सुना है, परन्तु जैसा सारग आज सुना वैसा पहले कभी नही सुना।"

उस्ताद ने कहा, "अजी, मैं किस योग्य हूँ।"

उस्ताद की कोई जितनी प्रशसा करे वह उतने ही नम्र हो जाते है, वास्तविक रूप में, परन्तु यदि कोई उनके स्वाभिमान को चोट पहुँचाये तो उसकी मुसीबत ही आई समझिए।

सन् १९२७-२८ की बात होगी। ग्वालियर से एक मराठे सज्जन तबला बजाने वाले आए। उनको अपने ताल-ज्ञान का और तबला बजाने का बहुत अभिमान था। तबला वह बजाते भी बहुत अच्छा थे। मेरे घर बैठक हुई। जगह छोटी थी, फिर भी झाँसी के लगभग सभी जानकार और सगीतप्रेमी आ गए। तबला वाले मराठा सज्जन को आदिलखाँ के गायन का साथ करना था। मराठा सज्जन अपने शास्त्र के आचार्य थे और उन्होने अनेक

वडे-वडे उस्तादो के कठिन गायन के साथ तवला वजाया था। उनको अपने फन पर नाज़ था। प० गोपालराव भी वैठक में थे। मैं उनके पास ही था। एक और सज्जन ने, जिन्होने मराठे आचार्य का तवला सुना था, उनके ताल की तारीफ की। इस पर मराठे सज्जन ने नम्रता तो प्रकट की नही, ज़रा दम्भ के साथ वोले, "मैंने श्री कृष्णराव पडित के साथ वजाया है। उन्होने मेरा लोहा माना। और भी वहुत-से वडे-वडे उस्तादो के साथ वजाया है और उनको हराया है। आज उस्ताद आदिलखाँ की उस्तादी की परख करनी है।"

आदिलखाँ पहले ज़रा मुस्कराए। फिर उनकी त्यौरी वदली, होठ फडके और दवे। एक क्षण उपरान्त गला सयत करके वोले, "देखिए राव साहव, उस्तादो की जगह सदा से खाली है। इसलिए इतनी वडी वात नही कहनी चाहिए। आज जो यहाँ इतने लोग है, आनन्द के लिए इकट्ठे हुए है। झगडा-फसाद सुनने के लिए नही। इसलिए मज़े को क्यो किरकिरा करते हो ?"

राव साहव न माने। कहने लगे "यह तो अखाडा है, उस्ताद! लोगो को मुठभेड में ही आनन्द प्राप्त होगा।"

"तव हो।" उस्ताद ने चिनौती स्वीकार करते हुए कहा, "शुरू करिए।" उस्ताद ने तम्बूरा लिया। ध्रुवपदाङ्ग ख्याल का आरम्भ किया। इस प्रकार का ख्याल केवल उस्ताद का घराना गाता है। इनके पिता स्वर्गीय विलासखाँ वहुत वडे गवैये थे और पितामह उस्ताद मिट्ठूखाँ का देहान्त उस समय के धौलपूर नरेश के दरवार में एक प्रतिद्वन्द्वता में तान लेते-लेते हुआ था। मिट्ठूखाँ के पिता पुरदिलखाँ और पुरदिलखाँ के पिता केसरखाँ तथा केसरखाँ के पिता मदनखाँ सव अपने ज़माने के नामी गवैये थे। इस घराने का ख्याल ध्रुवपद के अङ्ग से उठता है और उत्तरोत्तर तेज़ सजीव ख्याल का रूप धारण करता चला जाता है। यह परिपाटी और किसी गवैये मे, श्री ओकारनाथ और फैयाज़खाँ को छोड कर, नही है। अन्य गवैयो के ख्याल की मनोहरता शुरू से ही लय की अति द्रुतगति की कारीगरी मे विलीन हो जाती है। वे आरम्भ से ही ताने लेने लगते है और ख्याल के कण नही भरते। इसीलिए अनेक ध्रुवपदिये इस परिपाटी को नापसन्द करते है और यहाँ तक कह देते है कि ख्यालिये तो वेसुरे होते है। परन्तु आदिलखाँ के घराने की परिपाटी इस दोप से सर्वथा मुक्त है। आरम्भ मे उनका ख्याल ध्रुवपद-सा जान पडता है। स्वर सीधे और सच्चे लगते है। कुछ क्षण उपरान्त गमकें पिरोई जाती है और फिर शनै-शनै क्रमागत अलकार भरे जाते है। इसके पश्चात् तव, लय द्रुत और अति द्रुत की जाती है।

उस्ताद आदिलखाँ ने उस रात अपने घराने की परिपाटी का एक ख्याल उसी सहज ढग से प्रारम्भ किया। परन्तु एक अन्तर के साथ—लय इतनी विलम्वित कर दी कि ताल का पता ही नही लग रहा था!

थोडी देर तक तवले के उक्त आचार्य ने परनो और टुकडो में अपने अज्ञान को छिपाया, परन्तु यह करामात वहुत देर तक नही चल सकती थी। आदिलखाँ ने टोक कर कहा, "सम पकडिए, सम।"

सम कहाँ से पकडते! तवलिये की समझ मे ताल ही नही आया था। उस्ताद हँसे और उन्होने अपने हाथ की ताली से ताल देना शुरू किया। वोले, "अव तो समझिए। हाथ से ताल देता जा रहा हूँ।" परन्तु लय इतनी अधिक विलम्वित थी कि तवलिया न तो ताल को समझ सका और न 'खाली' 'भरी' को। सम तो अव भी उससे कोसो दूर था।

झखमार कर, खीझ कर, लज्जित होकर तवला-शास्त्री ने तवला वजाना वन्द कर दिया। कठावरोध हो गया। हाथ जोड कर उस्ताद से वोला, "मै माफी चाहता हूँ। मैं नही जानता था कि आप इतने वडे उस्ताद है। यह ताल मैंने कभी नही वजाया। ब्रह्मताल, लक्ष्मीताल इत्यादि तो वहुत वजाए है, परन्तु यह ताल नही। इसीलिए चूक गया।"

उस्ताद को यकायक हँसी आई। तम्बूरा रख कर और गम्भीर होकर वोले, "वहुत सीधा ताल है। आप उसे प्राय वजाते है।"

तवलिया ने आश्चर्य से कहा, "ऍं!"

उस्ताद बोले, "जी हाँ, परन्तु घमड नही करना चाहिए। बुजुर्ग घमड को बुरा कह गए है। जो लोग उनकी बात को नही मानते, मुँह की खाते है। गवैये के गले का साथ भला तबला बजाने वाले का हाथ कैसे कर सकता है? आपका दोष नही, दोष घमड का है।"

प० गोपालराव ने भी फटकारा। तबलिया बिलकुल ढल चुका था। उसी नम्रता के साथ उसने पूछा, "उस्ताद, मै अब भी बहुत कोशिश करने पर ताल नही समझा। बतलाइए, कौन-सा ताल था? आप कहते है कि मै इसको प्राय बजाता हूँ। मै कहता हूँ कि मैने इसको पहले कभी बजाया ही नही।"

उस्ताद ने तम्बूरा हाथ मे लिया। बोले, "बजाओ। तिताला है।"

'तिताला!" अचानक अनेक कठो से निकल पडा। "तिताला!" आश्चर्य मे डूब कर तबलिये ने भी कहा। बोला, "देखू!"

उस्ताद ने उसी विलम्बित लय मे उसी ख्याल को फिर गाया। अब तबलिये ने अच्छी तरह उनका साथ दिया।

एक बार भूतपूर्व इन्दौर नरेश (श्री तुकोजीराव होलकर) ने उस्ताद आदिलखाँ को उनके तालज्ञान के पुरस्कार मे पाँच सौ रुपये भेंट किये थे।

उस्ताद के गायन का एक चमत्कार मैने स्वय एक बार अनुभव किया। रात का समय था। हम तीन-चार आदमी घर बैठे थे। उनमे से एक गायनवादन के प्रेमी होते हुए भी जानते कुछ नही थे। मैने उस्ताद से देश गाने के लिए प्रार्थना की। उन्होने उस रात देश इतना बढिया गाया कि न तो उनसे ही कभी ऐसा सुना और न किसी और गवैये से। बात यो हुई। देश मे तीव्र निषाद का स्वर भी लगता है। उस्ताद ने उस रात तीव्र निषाद इतना सम्पूर्ण, इतना सजग और इतना सजीव गाया कि हम लोग सब एकदम बिना किसी भी प्रयास के यकायक "ओह" चीख कर अपने आसनो से उठ गए और वैसी ही "ओह" उस्ताद के भी मुँह से निकल पडी। फिर उसी प्रकार की निषाद लगाने के लिए उनसे कहा, परन्तु प्रयत्न करने पर भी वह सफल नही हुए।

मुझको लगभग एक युग पहले कविता करने का व्यसन था। उसमे अपने को नितान्त असफल समझ कर छन्दोभग और रसविपर्यय का प्रयास सदा के लिए त्याग दिया, परन्तु दो-एक कविताएँ कही लिखी पडी थी। उस्ताद को मालूम हो गया। "बडे भैया!" एक दिन बोले, "इनको मै याद करूँगा और गाऊँगा।"

मैने विनय की, "गए-गुजरे खडहरो को आप क्यो आबाद करने जा रहे है?" तुरन्त उत्तर दिया, "एक गवरमटी मुहकमा खडहरो की मरम्मत के लिए भी है। वह क्यो? उस मुहकमे को तुडवा दो तो मानूगा, नही तो नही।"

उस्ताद हिन्दी नही जानते। थोडी सी, बहुत थोडी, उर्दू जानते है। मैने अपनी दो कविताएँ उनको उर्दू मे लिखवा दी। सन्ध्या को वह उन्हे याद करके आ गए। एक को बसन्तमुखारी राग मे बिठलाया और दूसरी को देश मे। इन दोनो कविताओ को वह प्रत्येक बडी बैठक मे अवश्य गाते है। उनको वे बहुत प्रिय है, क्योकि वे उनके 'बडे भैया' की है।

एक दिन स्वर्गीय श्री गणेशशकर विद्यार्थी (प्रताप, कानपुर) झाँसी मे राजनैतिक प्रसग पर बातचीत कर रहे थे। विद्यार्थी जी जब-कभी झाँसी आते थे, राजनैतिक मतभेद होते हुए भी ठहरते मेरे घर पर ही थे। उसी समय उस्ताद आदिलखाँ आ गए। विद्यार्थी जी उनको नही जानते थे, पर आदिलखाँ उनसे परिचित थे। उस्ताद इतने बेतकल्लुफ है कि परिचय इत्यादि सरीखी परिपाटियो मे न तो विश्वास रखते है और न उन पर अपना समय ही खर्च करते है।

बैठते ही बोले, "यह शायद विद्यार्थी जी है! कानपुर वाले।"

विद्यार्थी जी ने भी बेतकल्लुफी के साथ पूछा, "आप कौन है?"

मैने दोनो प्रश्नो का उत्तर एक साथ ही दिया, "यह मेरे मित्र प्रसिद्ध नेता श्री गणेशशकर विद्यार्थी और यह प्रसिद्ध गायनाचार्य उस्ताद आदिलखाँ।"

गणेश जी को सगीत पर परिश्रम करने का समय और अवकाश न मिला था, परन्तु मैंने उस्ताद से गाना सुनाने के लिए कहा। उस्ताद ने तुरन्त बिना बाजे-बाजे के एक ख्याल सुनाया। गणेश जी उस्ताद की कारीगरी पर अचम्भे मे भर आए। बोले, "उस्ताद, आप निस्सन्देह इस कला के बहुत बडे कारीगर है। आपके गले मे मशीन-सी लगी जान पडती है, पर गाना आपका इतना मुश्किल है कि साधारण जनता नही समझ सकती। इसको इतना सरल बनाइए कि मामूली आदमी भी समझ सके।"

उस्ताद बडे हाज़िर-जवाब है। तुरन्त बोले, "जनाब, आप नेता है, बहुत बडे नेता है। एम० ए०, बी० ए० पास वाले लोगो के मज़मून समझने के लिए जनता को कुछ पढना पडता है या नही ? तब हमारी नाद-विद्या को समझने के लिए भी पहले लोगो को कुछ सीखना चाहिए।"

उस्ताद की पढाई-लिखाई की बात हुई। स्वय परिचय दिया, "मैने तो सरस्वती जी की पूजा की है। पढा-लिखा कुछ नही। छुटपन में बकरियाँ चराता था और एक पैसे में पाँच चीजें गाकर सुना देता था। डड पेलता था। एक पैसे की आशा पर सौ डड पेल कर दिखला देता था।"

विद्यार्थी जी बहुत हँसे।

(३)

बहुत-से विद्वानो मे एक कसर होती है। वे ठीक तौर पर विद्यादान नही कर सकते। ठोकपीट कर अपने विद्यार्थियो को तैयार करते है और फिर भी अपनी बात नही समझा पाते। उस्ताद आदिलखाँ मे उनकी महान् विद्वत्ता के साथ यह महान् गुण भी है कि वह सहज ही अपने विद्यार्थियो को पूरा विद्यादान करते है। डाटते-फटकारते है और यदाकदा चाँटे भी लगा देते है, परन्तु छोटे-से-छोटे लडके-लडकियो को भी इतनी शीघ्रता के साथ इस कठिन विषय को इतनी आसानी से समझा देते है कि आश्चर्य होता है। और पुरस्कार के लिए कोई हठ नही करते। जो मिल जाय, उस पर सन्तोष करते है। बिना बुलाए कभी किसी राजा या नवाब के यहाँ भी नही जाते। प्रयाग मे एक महती सगीत कान्फ्रेंस हुई। उस्ताद बुलाए गए। श्री पटवर्धन, श्री ओकारनाथ, श्री नारायणराव व्यास प्रभृति भी उस बैठक मे आए थे। उस्ताद को स्वर्णपदक मिला। सब बडे-बडे गवैयो ने उनकी सराहना की। प्रयाग की सगीत समिति के सयोजक प्रयाग-विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर थे। उन्होंने उस्ताद को अपने यहाँ गाने के लिए बुलवाया। उस्ताद के ठहरने का प्रबन्ध मैंने प्रयाग के एक अपने वकील मित्र के यहाँ किया था। उस्ताद ने उत्तर भेजा, "मैं ऐसे नही आ सकता। जिनका मैं मेहमान हूँ, उनको लिखिए। वह इजाज़त देंगे तो आऊँगा, नहीं तो नही।" सगीत-समिति के सयोजक इस पर कुढ गए। उस्ताद ने बिलकुल परवाह नही की।

झाँसी मे एक सगीतसम्मेलन सन् १९४० मे हुआ। यहाँ भी उनको स्वर्णपदक मिला। पुरस्कार की बात हुई। बोले, "या तो पुरस्कार की बात बिलकुल न करो, क्योकि झाँसी का हूँ, पर यदि बात करोगे तो जो बाहर वालो को दिया है, वही मै लूगा। कम लेने मे मेरा अपमान है।" विवाद हुआ। मेरे लिए पचायत कर देने का प्रस्ताव उस्ताद के सामने आया। तुरन्त बोले, "बडे भैया कह दे कि पास से कुछ चन्दा सगीत सम्मेलन को दे दो तो आपसे कुछ भी न लेकर गाँठ का और दे दूगा।" उनका कहना ठीक था। मैंने पचायत कर दी और उनको सन्तोष हो गया।

उस्ताद का राजनैतिक मत भी है। गवरमट को बहुत प्रबल मानते हुए भी वह राष्ट्रवादी है और हिन्दू-मुस्लिम समस्या उपस्थित होते ही निष्पक्ष राय देते है। कितने भी मुसलमानो की मजलिस हो और कही भी हो, यदि हिन्दुओ की कोई भी मुसलमान, चाहे वह कितना ही बडा क्यो न हो, अनुचित निन्दा करे तो उस्ताद आदिलखाँ बिगड पडते है और घोर प्रतिवाद करते है और न्याय-पक्ष की वकालत करते है। हिम्मत के इतने पूरे है कि यदि हज़ार की भी बैठक में कोई उनके किसी मित्र की बुराई करे तो तुरन्त उसका विरोध और अपने मित्र का समर्थन करते है। मैंने स्वय उनको कहते सुना है, "यह बुज़दिली है। जिनकी बुराई पीठ पीछे कर रहे हो, उनके मुँह पर करो तब जानू।"

जिन्ना साहव (मि० मुहम्मद अली जिना) हिन्दुओ और मुसलमानो को दो राष्ट्र कहते है। उस्ताद कहते है कि हम में और हिन्दुओ मे मजहव के सिवाय और क्या फर्क है ?

कुछ वर्ष हुए मेरी भान्जी का विवाह खडवा में हुआ। प्रसिद्ध साहित्यिक और नेता व्योहार राजेन्द्रसिंह (जवलपुर) के पुत्र इस विवाह के वर थे। विवाह में शामिल होने के लिए मेरे वहनोई श्री श्यामाचरणराय ने (वह भी एक विख्यात लेखक है) उस्ताद को निमन्त्रण दिया। उस्ताद मुझसे पहले ही खडवा पहुँच गए। जव वरात विदा हो गई तो उस्ताद झाँसी आने लगे और श्री राय के पास विदा माँगने गए। उन्होने मुझसे पहले ही उस्ताद की विदाई के सम्वन्ध मे वातचीत कर ली थी। मैने श्री राय से कह दिया था कि जो जाने, दे दे। उस्ताद वहुत सन्तोपी है। श्री राय ने वहुत सकोच के साथ उस्ताद से अपने प्रस्ताव का प्राक्कथन किया। उस्ताद समझ गए और वोले, "राय साहव, कह डालिए, आप जो कहना चाहते हो।"

श्री राय ने पचास-साठ रुपये के नोट वहुत नम्रता के साथ उस्ताद की ओर वढाए। और भी अधिक नम्रता के साथ उस्ताद ने कहा, "क्या यह विवाह मेरी भान्जी का नही था ? इस अवसर पर आपका पैसा लेकर कैसे मुँह दिखलाऊँगा ?"

श्री राय चुप रह गए। चलते समय उस्ताद मेरी वहन के पास गए। उस्ताद ने उनके पैर छुए और दो रुपये भेट करते हुए हाथ जोड कर वोले, "वहिन जी, मै तुम्हारा गरीव भाई हूँ। मेरी यह छोटी-सी भेट मजूर करो।"

मेरी वहिन ने तुरन्त भेंट लेकर कहा, "भैया आदिल, ये दो रुपये दो सौ रुपयो से वढ कर है।" फिर वहिन ने उस्ताद की चादर में कलेवा की मोटी-सी पोटली वाँधी और हल्दी-चावल का तिलक लगाया। उस्ताद ने फिर पैर छुए और अभिमान के साथ उस तिलक को झाँसी तक लगाए आए।

(४)

उस्ताद को झाँसी वहुत प्रिय है और वुन्देलखड से वडा स्नेह है। झाँसी मे इनके निजी मकान भी है, परन्तु पिता और पितामह के घर धौलपुर में है। इनके और पहले पुरखे गोहद (ग्वालियर राज्य) मे रहते थे। गोहद राजदरवार मे वे गायकी करते थे। गोहद के ग्वालियर के अधीन हो जाने पर वे गोहदनरेश के साथ धौलपुर चले आए। आप गोहद को, चम्वल इस पार होने के कारण, वुन्देलखड मे ही मानते हैं। इसलिए अपने को वुन्देलखडी कहने मे गौरव अनुभव करते है। झाँसी के वाहर वहुत दिन के लिए कभी नही टिकते। भोपाल मे ढाई सौ रुपये मासिक पर जूनागढ़ की वेगम साहवा के यहाँ नौकरी मिली। केवल चौदह दिन यह नौकरी की। जहाँ वैठते थे वहाँ होकर उनके वडे-वडे कर्मचारी निकलते थे। कोई कहता था कि भैरवी गाइए, कोई कहता था, ईमन सुनाइए। एकाध मिनिट के वाद वह शौकीन वहाँ से चल देता और उस्ताद कुढ़ कर अपना तम्वूरा रख देते। सलामें जुदी करनी पडती थी। एक रात उस्ताद विना चौदह दिन का अपना वेतन लिये गाँठ का टिकिट लेकर झाँसी चले आये।

दिल्ली रेडियो पर गाने के लिए वुलाए गए। कई वार गाया। स्वभावत वहुत अच्छा, परन्तु वहाँ के अधिकारी घर पर गाना सुनना चाहते थे और ग्रामोफोन मे भरना। उस्ताद ने दोनो प्रस्तावो से इनकार कर दिया और रेडियो को धता वतलाई। वहुत थोडा पढा-लिखा होने पर भी यह कलाकार हिन्दी-हिन्दुस्तानी के झगडे को जानता है। उसकी स्पष्ट राय है कि जो भाषा रेडियो पर वोली जाती है वह "मेरी भी समझ मे नही आती।"

तुलसीदास के प्रति उस्ताद की वडी श्रद्धा है। यदि तुलसीदास के साथ किसी आधुनिक कवि की कोई तुलना करता है तो वे वेधडक कह देते है, "वको मत। कहाँ राजा भोज, कहाँ भुजवा तेली।"

वुन्देलखड मे हाल ही मे ईसुरी नाम का एक कवि हुआ है। इसकी चार कडी की फागें वहुत प्रसिद्ध है। अपढ किसान, गाडीवान, मल्लाह और मजदूर से लेकर राजा और महाकवियो तक की ईसुरी पर प्रीति है। इसकी फागें ठेठ वुन्देलखडी में है। उस्ताद इन फागो को वडी मधुरता और लगन के साथ गाते है। वुन्देलखड में गायन की

एक परिपाटी है जो 'लेद' कहलाती है। लेद गाने के आरम्भ में ख्याल जान पडती है और धीरे-धीरे दादरे में परिवर्तित हो जाती है। वहुत ही मनोमोहक है। उस्ताद इस परिपाटी के भी आचार्य है।

उस्ताद कभी-कभी दो सतरो की कविता का कठिन प्रयास भी करते है और जैसे-वने-तैसे "आदिल मियाँ की बिनती सुन लो" प्रक्षिप्त करते है और मुझसे पूछते है, "भैया, इसमे अगन अक्षर तो नही है ?" मै हमेशा उनसे कह देता हूँ, "इसमे सारे के सारे अगन अक्षर ही है।" तव वह हँस देते है। लोगो से मजाक करना-करवाना उनको वहुत प्रिय है और वह कभी वुरा नही मानते। प० तुलसीदास शर्मा और प० दत्तात्रेय रघुनाथ घाणेकर फोटोग्राफर (प० गोपालराव के भतीजे) इनके वडे मित्र है। इनको सदा झखाते रहते है और ये उनको हैरान करते रहते है। एक वार इन लोगो ने इनकी आँख पर आक्षेप किया। 'काना' तक कह दिया। शर्मा जी ने तो एक वार एक काने भिखारी को तुलना करने के लिए सामने खडा भी कर दिया। उस्ताद वहुत हँसे और वोले, "मै सव को एक आँख से देखता हूँ।" फोटोग्राफर मित्र से कहा, "मेरा फोटू खीचो तो जैसी मेरी एक आँख है, वैसी ही वनाना।" धुनी ऐसे है कि कई एक वार सिर के, चेहरे के और भौंहो तक के वाल मुडवा दिये। सिगरेट वहुत पीते थे। एक दिन आश्चर्यपूर्ण समाचार सुनाया, "भैया, मैने सिगरिट पीना छोड दिया है। अव कभी नही पिऊँगा, चाहे आप ही हजार रुपये क्यों न दें।" मैने कहा, "क्यो न हो उस्ताद, आप ऐसे ही दृढप्रतिज्ञ है।" फिर उन्होने सारे शहर में दिन भर अपने सिगरेट-वीडी छोडने का ढिंढोरा पीट डाला। दूसरे दिन सवेरे मुझको मिले। वही शान, वही गुमान। "अव कभी सिगरिट नही पिऊँगा।" मैने कैंची मारका सिगरेट की एक डिविया पहले से मँगा रक्खी थी। एक सिगरेट निकाल कर पेश की। वोले, "हरगिज नही। चाहे कुछ हो जाय, प्रण नही तोडूगा।" मै तो जानता था। मैने दियासलाई जलाई। सिगरेट वढा कर कहा, "अच्छी है। आप इसको पसन्द भी करते है।"

"आपके इतना कहने पर नाही नही कर सकता। लाइए।" उस्ताद ने हँसते हुए कहा और पूरी डिब्बी उसी दिन खतम कर दी।

(५)

उस्ताद का व्यावहारिक सगीतज्ञान विलक्षण है। चाहे जौनसा वाजा सिखला सकते है, वजाते यद्यपि वह केवल सितार ही है। स्वर और ताल पर उनका अद्भुत अधिकार है। डेढसौ-दोसौ राग-रागिनियाँ जानते है। उनमें से कुछ राग तो वह अकेले में स्वान्त सुखाय ही गाते है। दुर्गा, भोपाली, दरवारी कान्हडा, विलासखानी टोडी, ललित, वसन्त, कामोद, छायानट, पट, वहार, केदारा, देश, विहाग, पूरिया इत्यादि उनके विशेष प्रिय राग है। वह सहज ही एक-एक वोल की सैकडो नई तानें लेते है और वनाते चले जाते है। एक राग के समाप्त होते ही किसी भी राग की फरमायश को तुरन्त पूरा करते है। पचास-पचास रागो तक की रागमाला वना कर सुना देते है।

उनसे राग की प्रार्थना करते ही वह तिताला, झप, सूरफाग, चौताला या इकताले में गायन प्रारम्भ कर देते है और तानें भी स्वभावत इसी ताल के विस्तार मे भरते चले जाते है। यदि कोई उनसे कहे कि तिताला में गाए जाने वाले उन्ही वोलो को झप या और किसी ताल में विस्तृत या सकुचित कर दीजिए तो वह सहज ही ऐसा कर देंगे और सम्पूर्ण तानें, गमक इत्यादि उसी ताल और उसकी परनो के विस्तार में भर देंगे और समग्र तानो की वर्णमाला —सरगम— गले के आलाप की तेजी के साम्य पर वना देंगे। यह कारीगरी भारतवर्ष के वहुत थोडे गवैये कर सकते है। मेरी समझ मे भारतवर्ष के दस-वीस ऊँचे गायको में इनकी गिनती है। उनके सगीत-ज्ञान की गहराई उनके मधुर गायन से कानो को पवित्र करने पर ही अनुमान की जा सकती है।

उस्ताद आदिलखाँ का गला वहुत मीठा है। इतना मीठा कि पुरुष-गायको में श्री फैयाजखाँ, श्री ओकारनाथ, श्री पटवर्द्धन, श्री रतनजनकर और नारायणराव व्यास ही उन्नीस-वीस के अनुपात में होगे। व्यास जी की अपेक्षा मै उस्ताद आदिलखाँ को अधिक मीठा समझता हूँ।

सच्चे यह इतने हैं कि मेरे एक बार प्रश्न करने पर कि श्री रतनजनकर की बाबत उनकी क्या राय है, वह बिना किसी सकोच के बोले, "वह बीस है, मैं उन्नीस हूँ। भैया, मैं झूठ नही बोलूगा।"

हमारा यह महान् गवैया, विशाल कलाकार बुन्देलखड का गौरवगर्व इस समय पैंतालीस वर्ष का है। ईश्वर इनको चिरायु करे और इनको इतनी सामर्थ्य दे कि वह अपने जैसे और कलाकार उत्पन्न करे और इस देश की कला-निधि को समृद्ध करे।

झाँसी]

वर वन्दनीय बुन्देलखण्ड

स्व० घासीराम 'व्यास'

१

जाके शीश जमुन डुलावै चौंर मोद मान,
नर्मदा पखारै पाद-पद्म पुण्य पेखी है।
कटि कलकेन किंकिणी-सी कलधौत कांति,
वेतवा विशाल मुक्त-माल सम लेखी है।।
'व्यास' कहै सोहै सीस-फूल सम पुष्पावति,
पायजेव पावन पयस्विनी परेखी है।
ए हो शशि! सांची कहौ, सांची कहौ, सांची कहौ,
दिव्य भूमि ऐसी दुनी और कहूँ देखी है।।

२

चित्रकूट, ओरछो, कालिंजर, उनाव तीर्थ,
पन्ना, खजुराहो जहाँ कीर्ति झुकि झूमी है।
जमुन, पहूज, सिंधु, वेतवा, धसान, केन,
मदाकिनि पयस्विनी प्रेम पाय घूमी है।।
पचम वृसिंह, राव चपतरा, छत्रशाल,
लाला हरदौल भाव चाव चित चूमी है।
अमर अनन्दनीय असुर निकन्दनीय,
वन्दनीय विश्व में बुंदेल-खड भूमी है।।

३

लखन, विदेहजा समेत वनवासी राम,
वास कियो ह्याई सोच शांति सरसाय लेहु।
पाई सुख शरण अज्ञात-वास कीन्हो यहाँ,
पाडवन प्रेमसौं प्रभाव उर छाय लेहु।।
पाँय ना पिराने होंहि भ्रम-भ्रम लोक-लोक,
पलक विसार श्रम, चित विरमाय लेहु।
ए हो शशि! परम पुनीत पुण्य-भूमि यह,
नैनन निहार नेकु हिय सियराय लेहु।।

४

नैंसुक खनत निकसत पुज हीरन के,
जग-मग होति ज्योति जागत विभावरी।
हिम है न आतप न पंकिल प्रदेश जाहि,
विरचि विरचि करैं सुरुचि धराधरी ॥
आंधी कौ न ऊधम न उल्का-पात घात भूमि—
कप की भराभरी न बाढ़ की तराभरी।
कीरति अखड धन्य धन्य श्री बुंदेलखण्ड,
ऐसौ कौन देश करै रावरी बरावरी ॥

५

बांकुरे बुंदेलन के खगन के खेल देख,
ससक सकाय शत्रु होत रन बौना से।
धन्य भूमि जहाँ वीर आनत न शक मन,
तत्र से, न मत्र से, न जादू से, न टौना से ॥
छीने छत्र म्लेच्छन मलीने कर लीने यश,
कीने काम कठिन अनेक अनहौना से।
जाके सुत हौना सुठिलौना मृग-राजन कौं,
हँस-हँस बांध लेत मजु मृगछौना से ॥

६

सुख-भूमि यहै, वहै नित्य जहाँ,
नदियाँ नव नेह के नीरन की।
उपमा नहिं आवत है लखि कें,
सुखमा कल केन के तीरन की ॥
हरसावै हियो हरवारन कौ,
सरसावै सुगध समीरन की।
वर वैभव का कहैं हीरन सौं—
जहाँ छोहरीं खेलै अहीरन की ॥

मऊरानीपुर]

विन्ध्यखण्ड के वन

डा० रघुनार्थासह

वुन्देलखड की सीमा के सम्वन्ध में जव हम विचार करते है तो हमारी दृष्टि के सामने सहसा वह मानचित्र ग्रा जाता है, जिसे राजनैतिक रूप में वुन्देलखड कहते है। इस भू-खड की ये सीमाएँ ग्रठारहवी सदी के मध्य या पूर्व काल में शासको ने ग्रपनी सुविवा या नीति के दृष्टिकोण से रची है ग्रौर इस भू-खड के इतिहास पर भी दृष्टि डालें तो प्रतीत होता है कि वुन्देलखड की राजनैतिक सीमाएँ निरन्तर वदलती रही है। राजनैतिक सीमाग्रो के ग्रतिरिक्त प्रत्येक प्रदेश की दो सीमाएँ ग्रौर होती है। इनमें एक तो सास्कृतिक है ग्रौर दूसरी प्राकृतिक। सास्कृतिक रूप में वुन्देलखड कहाँ तक एक माना जा मकता है, इम पर प्रस्तुत लेख में विचार करना सम्भव नही, परन्तु यह निर्विवाद वात है कि वुन्देलखड प्राकृतिक रूप में सदा एक ही रहा है।

वुन्देलखड का सही नाम प्राकृतिक दृष्टि से विन्ध्यखड है, ग्रर्थात् विन्ध्य पर्वत का देश। यह देश भारतवर्ष के मध्य भाग में है। इमका देशान्तर ७८-८२, ग्रक्षाश २६-२३ के लगभग है ग्रौर कर्करेखा इसके निचले मध्य भाग मे ने जाती है। चार मरिताएँ इसकी सीमाएँ मानी जा सकती है—चम्वल पश्चिम में, यमुना उत्तर मे, टोस पूर्व में ग्रौर नर्मदा दक्षिण मे। इस भूभाग का ढाल दक्षिण से उत्तर की ग्रोर है। नर्मदा के उत्तरी कूल पर महादेव ग्रौर मैकाल श्रेणियो तथा ग्रमरकटक से ग्रारम्भ होकर यमुना के दक्षिणी कूल पर पहुँचता है। वीच-वीच मे कई छोटी-वडी पर्वतश्रेणियाँ है। इनका नाम सस्कृत में 'विन्ध्याटवी' है। उच्चतम पृष्ठ-भाग ममुद्र की सतह से तीन हजार फुट ऊँचा है ग्रौर ढाल के उत्तरी ग्रन्तिम छोर पर लगभग पाँच सौ फुट रह जाता है। यही कारण है कि विन्ध्यखड की सरिताएँ उत्तरोन्मुखी है।

विन्ध्यखड का भूभाग प्राचीन चट्टानो का देश है। भूगर्भ शास्त्र वताता है कि ये चट्टानें पृथ्वी की प्राचीनतम चट्टाने है। जिन दिनो वर्तमान मारवाड ग्रौर कच्छ की मरुभूमि पर समुद्र लहराता था ग्रौर गगा की भूमि, विहार ग्रौर वगाल भीषण दलदलो से ग्राच्छादित थे उन दिनो भी हमारा यह भूभाग वहुत कुछ लगभग ऐसा ही रहा होगा। भारत के ग्रति प्राचीन पृष्ठ-भाग में इसकी गणना है।

एक युग था जव कि पृथ्वी के भूभाग पर वन ही वन था। मानव-समुदाय ज्यो-ज्यो वढने लगा, वह ग्रपने स्वार्थ के लिए वनो का नाश करने लगा। धीरे-धीरे मानव की ग्रावश्यकताएँ भी वढने लगी। इसे लकडी ग्रादि के ग्रतिरिक्त खेती के लिए भूमि की ग्रावश्यकता हुई। परिणामत वन घटने लगे। वनो का यह नाश ग्रनवरत गति से मानव के हाथो से हो रहा है। वह पृथ्वी के पृष्ठ-भाग को ग्र-वनी करने में लगा हुग्रा है। जहाँ-जहाँ मानव वढे ग्रौर उन्नतिशील हुए वहाँ-वहाँ वनो का नामनिशान तक न रह सका। इसके उदाहरण ढूढने के लिए हमें दूर न जाना होगा। उत्तर-पश्चिमी पजाव को लीजिए। जहाँ इम समय सूखी ग्रौर नगी पहाडियाँ दिखाई देती है वहाँ ग्राज से कुछ सौ वर्ष पहले वन थे। सिकन्दर ने जव सिन्वु के कूलो पर डेरे डाले थे उन दिनो वहाँ सघन वन थे। वर्तमान मुलतान ग्रौर सिन्वु की उपत्यका वनो से भरी पडी थी। महमूद गजनी की चढाइयो के वर्णन में कावुल से कालिंजर तक वह जहाँ पहुँचा, उसे वन मिले। हमारे पडोस की वृजभूमि में भी वहुत से वन थे। जहाँ गोपाल गाएँ चराते थे, ग्रव वनो के ग्रभाव में वृन्दावन मे धूल उडती है ग्रौर महावन में करील खडे है। गगा के दुग्रावे, सरयू के ग्रचल ग्रौर विहार में ग्रभी-ग्रभी एक सौ वर्ष पहले तक जहाँ वन थे, वहाँ मुर्दे जलाने को लकडी मिलने में कठिनाई हो रही है। सच तो यह है कि मानव से वढ कर वन का शत्रु ग्रौर कोई नही है।

राजनैतिक रूप से क्षतविक्षत और आर्थिक दृष्टि से पिछडे हुए विन्ध्यखड की एक ही सम्पदा है और वह है वन। इसीके सहारे सरिताएँ वहती है। प्राकृतिक सौन्दर्य दिखाई देता है और अधिकाश निवासी जीविका उपार्जन करते है। इस देश की निधि, ऋद्धि-सिद्धि और लक्ष्मी जो कुछ है, उसका श्रेय यहाँ के वन और वृक्षराजि को है।

विन्ध्यखड के वनो को वनविज्ञानवेत्ता पतझड वाले मानसूनी वन (Deciduous) मानते है। ये वन वर्ष मे सात-आठ मास तक हरे रहते है और बसन्त तथा ग्रीष्म मे इनके पत्ते झड जाते तथा छोटे-छोटे क्षुप (पौधे) सूख जाते है, परन्तु यह विश्वास करने के लिए प्रमाण है कि पहले यहाँ सदा हरे (Ever-green) वन रहे होगे, जैसे कि आजकल अराकान, ब्रह्मदेश आदि मे है। हमारे यहाँ सदा हरे वृक्षो मे जामुन, कदम्ब और अशोक शेष है, परन्तु ये वही पनपते है, जहाँ कि पानी की सुविधा हो। सदा हरे वनो के लिए ६०" वर्षा प्रतिवर्ष होनी आवश्यक है। पहले हमारे यहाँ ऐसी वर्षा होती थी। आज से तीन सौ वर्ष पूर्व तक विन्ध्यखड के वन बहुत विस्तीर्ण और सघन थे। सम्राट अकवर चन्देरी, भेलसा और भोपाल के आसपास हाथियो का शिकार खेलने आया था।

विन्ध्यखड के वर्तमान वन प्राकृतिक वन है और अब जहाँ कही है, उनमे अधिकाश इस देश की सरिताओ के अचलो मे है। वात यह है कि वन और सरिता परस्पर आश्रित है। जहाँ वन होगा, वहाँ पानी होगा। जहाँ पानी होगा, वहाँ वन होगा। वन और पानी का यह सम्बन्ध एक रोचक विषय है। जहाँ वन होता है, वहाँ वायुमडल मे नमी (आर्द्रता) अधिक रहती है। वर्षा के वादल जहाँ का वायुमडल आर्द्र पाते है वहाँ थमते और वरसने लगते है। इन्ही मानसूनी बादलो का एक अच्छा भाग मारवाड को पार कर हमारे यहाँ आता और वरसता है, परन्तु मारवाड सूखा रह जाता है। कारण कि एक तो मारवाड मे पर्वत नही और दूसरे वन नही। बादल थमे तो किस तरह?

वन के पास के वायुमडल मे नमी का कारण यह है कि जितना पानी वर्षा मे वरसता है उसका अधिकाश भाग वन की भूमि, वृक्षो की जडो और पत्तो आदि में रह जाता है। वनाच्छादित भूमि से सूर्य का प्रखरताप जितने समय मे वहाँ के जल का बीस या पच्चीस प्रतिशत सोख पाता है, उतने ही समय मे वनहीन भूमि का ८० प्रतिशत के लगभग सोख लेता है। वृक्षो का शीर्ष-भाग सूर्य की किरणो की प्रखरता झेल लेता है और नीचे के पानी को बचा लेता है। यह पानी भूमि को आर्द्र रखता है। विशेष जल धीरे-धीरे स्रोतो और नालो के रूप मे बह-बह कर सरिताओ को सूखने से बचाता है। पत्तो की आर्द्रता तथा भूमि, स्रोतो और नालो की आर्द्रता हवा में नमी पैदा करती और वहाँ के तापमान को अपने अनुकूल बना कर बादलो के बरसने मे सहायक होती है।

यही कारण है कि वनो में और वन के आसपास वर्षा अधिक होती है और नदी-नाले अधिक समय तक बहते है। कुओ मे कम निचाई पर पानी मिलता है और भूमि प्राकृतिक रूप मे उपजाऊ रहती है। वृक्षो से गिरे पत्ते, टहनियाँ और सूखे पदुप आदि सड कर भूमि को अच्छी बनाते है।

वन की स्थिति नदियो और नालो पर एक प्रकार का नियन्त्रण रखती है। वर्षा की बौछार वन के शीर्ष-भाग पर पडती है और बहुत धीमे-धीमे भूमि पर वर्षा का जल आता है। ऐसा जल तीव्र वेग से नही बह पाता और नाले तथा ऐसी नदियाँ अपेक्षाकृत मथर गति से बहती है। वन की स्थिति भूमि को न कटने देने मे सहायक होती है। जहाँ नदी के किनारे वन या वृक्षराजि होगी वहाँ नदी का पूर आसपास की भूमि को ऐसा न काट सकेगा, जैसा कि वन-हीन नदी का पूर काट देता है। इसका उदाहरण चम्बल और जमुना के कूल है। ये नदियाँ जहाँ वन-वृक्षहीन प्रदेश में बहती है वहाँ इन्होने आसपास की भूमि काट-काट कर मीलो तक गढे कर दिए है, जिन्हें 'भरका' कहते है। वहाँ की उपजाऊ भूमि तो ये नदियाँ बहा ले गई, परन्तु यदि इनके कूलो पर वन होते तो नदी की धारा का पहला वेग वृक्षो के तने और मूल सहते और पानी को ऐसी मनमानी करने का अवसर न मिलता।

जिन पहाडियो के वन साफ कर दिए गए उनकी दशा देखें। वर्षा की बौछारें पहाडी की मिट्टी और ककरी को नीचे बहा ले जाती है। घुली मिट्टी तो पानी के साथ आगे बढ जाती है, परन्तु ककरी पहाडी के नीचे की भूमि पर जमती जाती है। पाँच-दस वर्षों मे ही नीचे की उपजाऊ भूमि राँकड हो जाती है और पहाडी अधिक नग्न होती

बरी घाट

[मधुवन मे जामनेर का जल-प्रपात

जाती है। वनो का प्रभाव आसपास के तापमान पर अच्छा होता है। परीक्षणो से यह पाया है कि वही या वैसा ही वनहीन स्थान अधिक सर्द और गर्म हो जाता है। वन-भूमि पर शीत का प्रभाव लगभग ४ से ६ डिग्री कम होता है और ग्रीष्म मे ६ से ८ डिग्री तक कम होता है। अर्थात् वनहीन भूभाग यदि शीत मे ६०° तक होता तो वन भूमि होने पर ६४ या ६६ होता और ग्रीष्म में ९० होता तो वनभूमि होने पर ८२ या ८४ ही रहता। शीत और ऊष्णता की प्रखरता को कम करने की शक्ति वनो में है। बात यह है कि एक तो वनो के कारण वायु में नमी रहती है। दूसरे शीत या ग्रीष्म की प्रखरता वनो के शीर्ष-भाग पर टकरा कर मन्द पड जाती है। उत्तर भारत तथा मध्य भारत के कुछ नगरो को वनहीन प्रदेश के नगर और वनवेष्टित देश के नगरो में बांट कर अध्ययन किया जावे तो परिणाम यो मिलेगा—

१—वनहीन प्रदेश के नगर

नगर का नाम	समुद्र सतह से ऊचाई (फुटो में)	जनवरी का औसत तापमान	जून का औसत तापमान	वर्षा इचों में (वार्षिक)
बनारस	२६२	६०°	९०°	४०
आगरा	५५५	६०°	९३-९४°	२६
मेरठ	७३८	५६°	९०°	२९
दिल्ली	७१८	५७°	९१°	२७
बीकानेर	७०१	५९°	९५°	११

२—वनभूमि के नगर

माडला	२५०	६८	८५	७८
रायपुर	९७०	६७	८६	५०
जबलपुर	१३२७	६१	८५	५५

बनारस और माडला एक सी स्थिति मे है, परन्तु तापमान और वर्षा के अन्तर का कारण वन है। यदि आगरा के पास थोडी बहुत वृक्षावलियाँ न हो तो वह बीकानेर की सी स्थिति में आ सकता है।

भारतवर्ष के वन वृक्षो से और वनस्पतियो से जितने सम्पन्न है उतने समस्त ससार के और देशो के वन नही हैं। हमारे देश के वनो मे २५०० से अधिक जातियो के तो केवल वृक्ष ही हैं। लताएँ और क्षुप आदि अलग रहे, जब कि इग्लैंड में केवल चालीस प्रकार के वृक्ष है और अमेरिका जैसे महाद्वीप में करीब तीन सौ। ज्यो-ज्यो खोज होती जा रही है, हमारी यह सम्पदा और प्रकाश में आती जा रही है, परन्तु इतने वृक्षो में काम में लाए जाने वाले वृक्ष उँगलियो पर गिनने योग्य है। विन्ध्यखड के वन भी ऐसे ही सम्पन्न है। यहाँ सदा हरे वृक्षो से लगा कर अर्ध मरुस्थल के वृक्ष जैसे नीम, बबूल आदि पाए जाते है, परन्तु सागौन, साजा, महुआ, आम, जामुन, अशोक, बबूल, तेदू, अचार, हल्दिया, तिन्स आदि मुख्य है। लताएँ और क्षुप अनगिनती है। वन-उपज से कितनी वस्तुएँ काम मे लाई जाती और बनाई जाती है, इसका अनुमान करना भी सहज नही है। हमें पग-पग पर वन-उपज से बनी वस्तुओ की आवश्यकता और महत्त्व का अनुभव होता है।

विन्ध्यदेश के वनवृक्षो में सबसे अधिक काम आने वाला और अनेक दृष्टियो से सर्वोत्तम वृक्ष सागौन है। सागौन मे अधिक मजबूत और सुन्दर वृक्ष और भी है, परन्तु यह उन वृक्षो मे सर्वोत्तम है, जो कि प्रचुर मात्रा मे मिलते है। विन्ध्यदेश में इसके प्राकृतिक वन भरे पडे है। सबसे अच्छा सागौन ब्रह्मदेश और मलाबार का माना जाता है, परन्तु विन्ध्यप्रान्त के सागौन में कुछ कमी होने पर भी रग और रेशे की दृष्टि से ब्रह्मदेश के सागौन से अधिक सुहावना होता है। अन्य वृक्ष धामन, सेजा, शीशम, जामुन, महुआ, तिन्स, तेदू, हल्दीया आदि भी महत्त्वपूर्ण है।

लकडी की उपादेयता निश्चित करने मे लकडी की रचना, आकार, लम्बाई-चौड़ाई, वजन, शक्ति, सख्ती, लचक, सफाई, टिकाऊपन, रग, दाने, रेशे और मशीन या औजार से काम करने में आसानी आदि बातो पर विचार

करना होता है। अभी हमारे देश में वनो की उपज को सावधानी से काम में लाने की ओर न तो सरकार का ही ध्यान है और न जनता का। एक वृक्ष वन में काटा जाता है तो यहाँ उसका केवल ३० प्रतिशत भाग काम मे आने योग्य ठहरता है, जब कि जर्मनी, नार्वे, स्वीडन, और कनाडा मे ७० से ९० प्रतिशत तक को काम मे ले आते है। पेड मे से हमारे यहाँ—

१५% वन में ठूठ के रूप में छोड दिया जाता है।
१०% छाल और पत्ते फेंक दिए जाते है।
१०% कुल्हाडे और करवत के कारण वेकार निकल जाता है।
२०% टहनियाँ और चिराई मे टेढा निकला हुआ अनावश्यक अश।
५% लकडी को पक्का करने मे हानि।
१०% लकडी का दोषपूर्ण भाग।
७०%

अव यदि सावधानी से उपयोग किया जावे तो छाल, बुरादे और पत्तो से स्पिरिट या पावर अल्कोहल (Power Alcohol), टहनियो से होल्डर, पेन्सिले, टेढे-मेढे अश से औज़ारो के हत्ते, वेट आदि वन सकते है।

लकडी के अतिरिक्त और भी वहुत सी वस्तुएँ हमे वनो से मिलती है। सर्वप्रथम घास, जिसे चराई के काम मे लिया जाता है और कागज़ वनता है। कई घासो से सुगन्धित और औषधोपयोगी तेल निकलते है। विन्ध्यखड मे लगभग ४० प्रकार के वाँस पाये जाते है, जिनसे चटाइयाँ, टोकनी आदि वस्तुएँ वनती है। कई वृक्षो से हमे गोंद, कतीरा, राल आदि मिलते है। महुए के फूलो से शराव और फलो से चिकना सफेद तेल निकलता है। घोट, ववूल की छाल आदि से चमडे की रगाई होती है और दवाइयो की तो गिनती ही नही। शहद, मोम, लाख, कोसे से जगली रेशम, वन-जीवो के सीग, चमडे आदि अनेको पदार्थ है।

स्पष्ट है कि हमारे जीवन, उन्नति, आवश्यकताओ की पूर्ति, वर्षा, भूमि की उपजाऊ शक्ति आदि के लिए वनो का अस्तित्व किस प्रकार अनिवार्य है, परन्तु इसे हम अपना दुर्भाग्य ही कहेगे कि हमारे वन अभी तक उपेक्षित ही नही, वरन् केवल सहार के ही पात्र हो रहे है। आज से साठ-सत्तर वर्ष पूर्व सरकार का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ और वनविभाग की सृष्टि हुई। इस विभाग के द्वारा वहुत कुछ लाभ हुआ, परन्तु रचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो लगभग कुछ नही के वरावर काम हुआ है। फिर पिछले और हाल के महायुद्ध मे तो वनो की अपार हानि हुई है और इस हानि की पूर्तिहेतु कुछ नही हो सका। यह काम केवल शासकगण का ही नही है। जनता और सार्वजनिक सस्थाओ के लिए भी विचारणीय है। वनो का नाश हमे कहाँ ले जा रहा है, इसके अनेक ज्वलन्त उदाहरण है। पूर्वी पजाव के वन गत पचास वर्षों मे कट गये। परिणामत नदियो और नालो ने उपजाऊ मिट्टी वहा दी और भूमि बजर हो चली। अव वहाँ वन लगाए जा रहे है। दिल्ली से इटावा तक जमुना के दोनो कूलो के वन गत सौ वर्षो में साफ हो गए। अव पश्चिम से उठी हवाएँ मारवाड से अन्धड के रूप मे आती है और जहाँ थमती है, वहाँ मारवाडी रेत गिरा जाती है। रेत का इस तरह गिरना गत पचास-साठ वर्षों से चालू है। अव इस प्रदेश की भूमि पर तीन-तीन इच मोटी रेत की सतह जम गई है। वह भूमि पूर्वापेक्षा ऊर्वरा नही रही। यदि दिल्ली से इटावा तक जमुना के दक्षिणी छोर पर चार या छ मील चौडी वनरेखा होती तो ये अन्धड जहाँ-के-तहाँ रह जाते। वर्षा भी काफी होती और जमुना तथा चम्वल और उनकी सहायक नदी-नालो से भूमि न कटती। जहाँ सरकार के लिए ये प्रश्न विचारणीय और करने योग्य है, वहाँ प्रत्येक गृहस्थ और नागरिक का भी कर्तव्य है कि वह अपने अधिकार की भूमि में लगे पेडो की रक्षा करे, नए पेड लगावे और उनका पालन-पोषण करे। वन ही राष्ट्रीय धन है और इसकी रक्षा सरकार और प्रत्येक नागरिक को करनी चाहिए।

टीकमगढ़]

बुन्देली लोक-गीत

१

गीतों पर एक दृष्टि

श्री गौरीशकर द्विवेदी

सुकवि और वीर-प्रसविनी वुन्देलखड की रमणीय भूमि को प्रकृति ने उदारता-पूर्वक अनोखी छटा प्रदान की है। ऊँची-नीची विन्ध्याचल-पर्वत की शृखला-वद्ध श्रेणियाँ, सघन वन-कुज, कल-कल निनाद करती हुई सरिताएँ और गाँव-गाँव लहराते हुए सरोवर आदि ऐसे उपक्रम है, जिनकी मनोहरता से मानव-हृदय अपने आप आनन्द-विभोर हो जाता है। यहाँ की भूमि में ही कवित्व-गुण प्रदान करने की प्राकृतिक शक्ति विद्यमान है।

वुन्देलखड का अतीत वडा ही गौरवमय रहा है। आदिकवि वाल्मीकि, कृष्ण द्वैपायन वेद व्यास, वीर मित्रोदय ग्रन्थ के प्रणेता मित्र मिश्र, तुलसी, केशव, विहारी, लाल और पद्माकर जैसे सस्कृत और हिन्दी-साहित्य-ससार के श्रेष्ठतम कवियो को प्रसूत करने का सौभाग्य वुन्देलखड की ही भूमि को प्राप्त है।

वुन्देलखड का अधिकाश प्राचीन साहित्य अभी गाँव-गाँव और घर-घर मे वस्तो ही में बँधा पडा है। उससे हम परिचित नही। यही कारण है कि उसको प्रकाश में लाने का हमारा सम्मिलित उद्योग नही होने पाता।

जन-साधारण में भी ऐसे-ऐसे मनोहर गीत प्रचलित है, जिनको सुनकर तवियत फडक उठती है। ये गीत पीढी-दर-पीढी हमारे प्रान्त में प्रचलित है और यह हमारा सौभाग्य है कि हमारे ग्राम-वासी इस अमूल्य धरोहर को वश-परम्परा से सुरक्षित रखते चले आ रहे है। उनके नवीन सस्करणो के लिए स्याही और काग़ज़ वाछनीय नही, उनकी मधुरता ही जन-साधारण को अपनी ओर आकर्षित किये विना नही रहती और वे उनकी अमूल्य निधि है, जिन्हें शिक्षित समुदाय निरक्षर भट्टाचार्य कृषक, ग्रामीण आदि कह कर पुकारता है।

उन गीतो में वाक्य-विन्यास, शव्दो की गठन और भावो की प्रौढता खोजने का ग्रामीण वन्धुओ को अवसर नही। गीतो की आलोचना और प्रत्यालोचना से भी उन्हें सरोकार नही। वे तो उनमें तन्मयता प्राप्त करते है और इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त करते है, जितनी शिक्षित समुदाय शायद ही अपनी उत्तमोत्तम कही जाने वाली कविताओ में प्राप्त कर पाता होगा।

तन्मयता के अतिरिक्त सामाजिक जीवन का भी सच्चा प्रतिविम्व हमें ग्राम-गीतो ही मे मिला करता है। नई स्फूर्ति, नए भाव और सवसे अधिक नग्न सत्य को सीधी-सादी सरल भाषा में हम ग्राम-गीतो ही में पा सकते है।

ग्राम-गीतो की विजय का यह स्पष्ट चिह्न है कि शिक्षित समुदाय उनकी ओर उत्सुकतापूर्वक अग्रसर हो रहा है। यह हमारी मातृ-भाषा के लिए कितने ही दृष्टिकोणो से हितकर ही है। वैसे तो समूचा भारतवर्ष ग्रामो का देश है और उसमें सर्वत्र ग्राम-गीतो की प्रचुरता है, किन्तु वुन्देलखड के गीत सरलता, सरसता और मिठास के कारण अपना एक विशेष स्थान रखते है। उदाहरणार्थ कुछ गीत यहाँ दिये जाते है।

शिक्षित समुदाय को वर्ष और महीनो में कभी कवि-सम्मेलन का सुअवसर प्राप्त होता होगा, किन्तु ग्राम-जीवन का प्रभात गीत-मय ही होता है। ऊषा से भी कुछ पूर्व स्त्रियाँ चक्की पीसते हुए ऋतु के अनुकूल कितने ही गीत गाती है। प्रत्येक अवसर पर वे उनको अपने सुख-दुख का साथी वनाती है। एक घर से वारामासी की ध्वनि सुनाई दे रही है—

चैत चितै चहुँ ओर चितै मैं हारी ;
बैसाख न लागी आँख बिना गिरधारी ।
जेठ जलै अति पवन अग्नि अधिकारी ,
असढा में बोली मोर सोर भओ भारी ।
साउन में बरसै मेउ जिमी हरयानी ,
भदवाँ की रात डर लगै भिकी अँधयारी ।
क्वार में करें करार अधिक गिरधारी ,
कातिक में आये ना स्याम सोच भये भारी ।
अगना में भओ अंदेश मोय दुख भारी ,
पूषा म परत तुषार भीज गई सारी ।
माव मिले नँदलाल देख छबि हारी ,
फागुन में पूरन काम भये सुख भारी ।

दूसरे घर से भी दो कठो से मिल कर दूसरी बारामासी सुनाई पड रही है—

चैत मास जब लागे सजनी बिछुरे कुँअर कन्हाई,
कौन उपाय करौं या ब्रज में घर अगना ना सुहाई,

थोडा आगे बढने पर एक ओर से बिलवाई गीत भी सुन पडा—

रथ ठाँडे करौ रघुवीर,
तुमारे सगै रे चलो बनवासा कौं ।
तुमारे काये के रथला बने,
काये के डरे हैं बुनाव ,
चन्दन के रथला बने हैं,
और रेसम के डरे हैं बुनाव ।
तुमारे को जौ रथ पै बैठियो,
को जौ है हाँकनहार ,
रानी सीता जी रथ पै बैठियो,
राजा राम जी हाँकनहार ।

गाँव के छोर पर एक ओर से यह बिलवाई भी सुन पडी—

अनबोलें रहो ना जाय,
ननद बाई वीरन तुमारे अनबोला
गइया दुआवन तुम जइयौ,
उतै बछडा कौ दइयौ छोर ॥ अनबोलें ॥
भुजाई मोरी ! बीरन हमारे तब बोलें ।

ग्रीष्म ऋतु की प्रखरता में जब नागरिक समुदाय बिजली के पखो और बर्फ के पानी मे भी ऊबता हुआ-सा जान पडता है, उन दिनो भी गाँवो मे कितने ही गीतो द्वारा समय व्यतीत हुआ करता है। अकती, दिनरी, बिलवाई आदि कितने ही प्रकार के गीत भिन्न-भिन्न अवसरो पर गाये जाते हैं। नगर के निवासी भले ही सावन के आने का भली प्रकार स्वागत न कर सकें, किन्तु गाँवो में उसकी उपेक्षा न होगी, घर-घर दिनरी और राछरे हो रहे हैं—

जतारा (ओरछा राज्य) के सरोवर का एक दृश्य
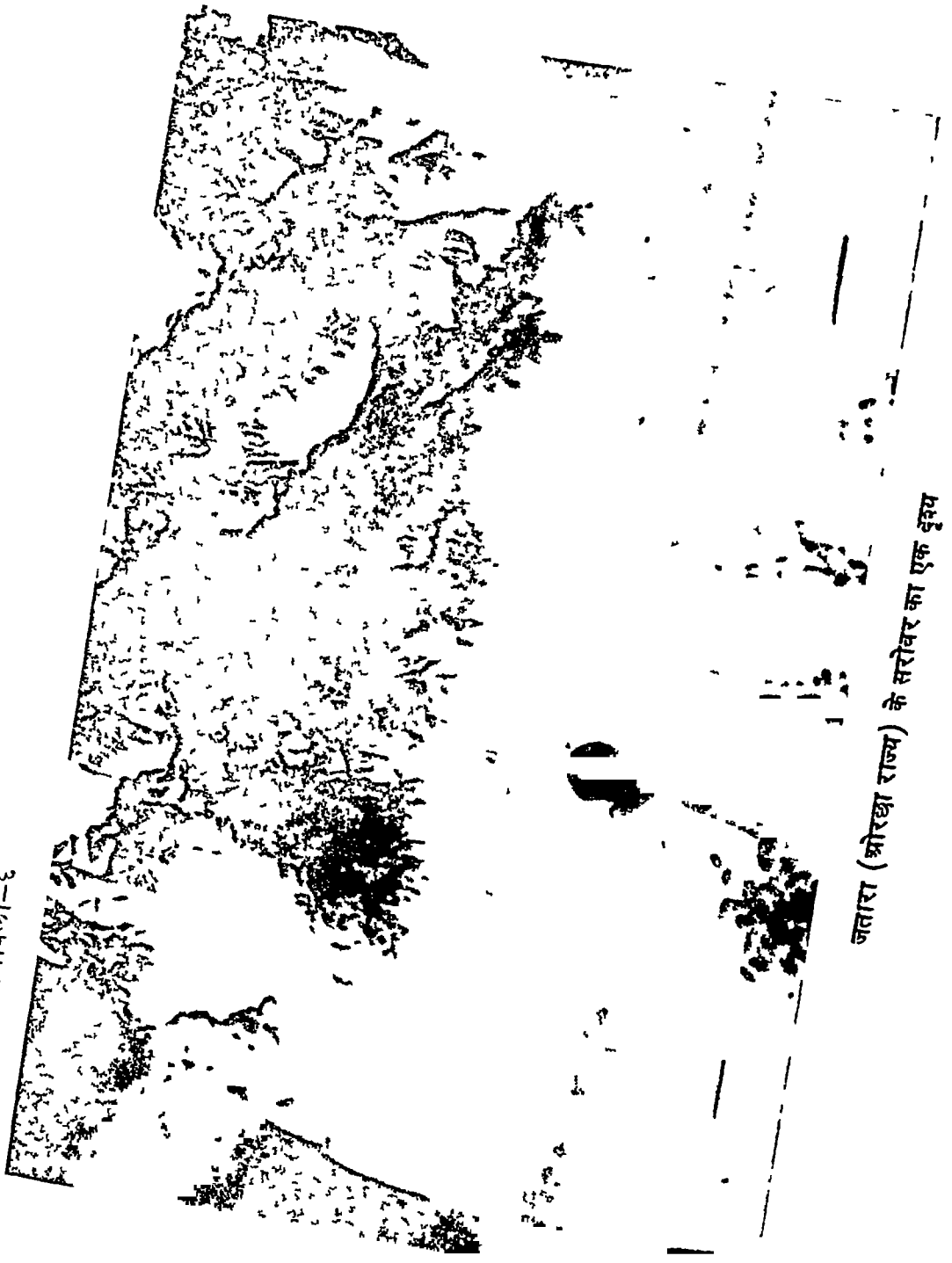
साउन कजरियाँ जवई जे वेहैं,
अपनी वहिन को ल्याव लिवाय।
गुउवाँ पिसाय माई करौ कलेवा,
अपनी वहिन लिवावे जाँय;
कहाँ वँधे मोरे उडन वछेरा,
कहाँ टँगी तरवार। अपनी०।
सारन वँधे भईया उडन वछेरा,
घुल्लन टँगी तरवार।
कहाँ धरी भैया जीना पलेंचा,
कहाँ धरी पोशाक,
खिरकिन टँगी तोरे जीना पलेंचा,
उतई धरी पोशाक। अपनी०।

× ×

ऊँचे अटा चढ़ हेरें वैना,
मोरे भैया लिवऊआ आये;
माई की वेटी बिसर गई,
वावुल की गई सुध भूल।
जाय जौ कइयौ उन वैन के जेठ सें,
तुमरे सारे छिके पैले पार,
छिके, छिके उनै रैन दो,
उन सारे को दियौ लौटाय,
जाय जौ कइयौ उन वैन के देउर सें,
तुमरे सारे छिके पैले पार;
छिके छिके उनें रोन दो,
उन सारे को दियौं लौटाय;
जाय जौ कइयौ उन हमरे वैनेउ सें,
तुमरे सारे छिके घर आव;
कौना सहर के वढ़ई वुला लये,
काना की नाव डराव;
झाँसी सहर के वढ़ई वुला लये,
दतिया की नाव डराव;
जाय जौ कइयौ उन हमरे राजा सें,
अपने सारन कौं डेरा दिवाउ;
सारन जौ वाँधौ उडन वछेरा,
घुल्लन टाँगौ तरवार,
सुनौ मोरी सासो वीरन आये,
उने कहा रचौं जेउनार;

× ×

मेंहदी रचाते समय भी इन्ही दिनो जो गीत गाया जाता है, उसे भी देखिए—

काँहाँ से माँदी आई हो सौदागिरलाल,
काँहाँ धरी बिकाय माउदी राचनू मोरे लाल,
अग्गम में माउदी आई हो सौदागिरलाल,
पच्छिम धरी बिकाय माउदी राचनू मोरे लाल,
कायें सें माँदी वाँटियौ सौदागिरलाल,
काये सें लइयौ पोछ, माउदी राचनू मोरे लाल;
सिल लोडा घर वाँटियौ, सौदागिरलाल,
लियौ कचुरलन पौंछ माउदी राचनू मोरे लाल;
कौनें रचाई दोई छींगुरी सौदागिरलाल,
कौनें रचाये दोई हात, माउदी राचनू मोरे लाल,
देउरा रचाई दोई छींगुरी सौदागिरलाल,
भौजी रचाये दोई हात माउदी राचनू मोरे लाल,
भौजी की रच केवली परीं, सौदागिरलाल,
देवरा की रच भई लाल, माउदी राचनू मोरे लाल;
कियै बताई दोई छींगुरी, सौदागिरलाल,
कियै बताये दोऊ हात, माउदी राचनू मोरे लाल;
देवरा बताई अपने भाई कों, सौदागिरलाल,
कियै बताऊँ दोऊ हाथ, माउदी राचनू मोरे लाल,

× × ×

कुछ पक्तियाँ इन्ही दिनो गाये जाने वाले मँगादा गीत की भी देखिये —

साउन मइना नीकौ लगै, गेंउडे भई हरयाल,
साउन में भुंजरियाँ बै दियौ, भादौ में दियौ सिराय,
ऐसो है भैया कोऊ धरमी, बहिनन को लियो है वुलाय,
आसों के साउना घर के करौ, आगे के दे है खिलाय;
सोनें की नादें दूध भरी सो भुंजरियाँ लेव सिराय,
कै जैहे तला की पार पै, कै जैहे भुंजरियाँ सूक,
धरीं भुजरियाँ मानिक चौक में, वीरा धरीं लुलाय,
कैसी बहिन हटै परीं, बर वट लेत पिरान,
आसों के सउना जूझ के हैं, आगे के दे है कराय,

× × ×

इन्ही दिनो टेसू, मामूलिया, हरजू झिझिया और नारे सुअटा के गीतो मे आनन्द-विभोर होकर जब वच्चो की टोली की टोली एक स्वर से गाती है—

टेसू आये बाउन वीर,
हात लिये सोने का तीर,

उस समय एक वार फिर वयोवृद्धो में भी वचपन की लहर दौड जाती है ।

लडकियो के उल्लासमय मधुर स्वर मे जिन्होने मामूलिया और हरजू के गीतो की निम्नलिखित पक्तियाँ ही सुन ली होगी, वे विना आकर्षित हुए न रहे होगे—

मामुलिया के आये लिवौआ,
झमक चली मोरी मामुलिया
× ×

उठो मोरे हर जू भये भुनसारे,
गौअन के पट खोलो सकारे,
उठकें कनैया प्यारे गइयाँ दोईं,
झपट राधका दुहनी दीनी,
काये की दातुन काये कौ लोटा,
काये कौ नीर भर ल्याईं जसोदा;
अज्जाझारे की दातुन सोने कौ लोटा,
सो जमुना जल भर ल्याईं जसोदा।

छोटी-छोटी लडकियो ने लीप-पोत कर अपने देवता की पूजा के लिए कितने सुन्दर उपचार किये है। देखिए, रग-विरगे वेल-बूटो और फूलो से सुशोभित चौक पूरे गये है, जाति-पाँत का भेद-भाव भुला कर सव कन्याएँ आज एक सूत्र में आवद्ध हो तन्मयता से गा रही है—

हेमाचल जू की कुँअरें लडायतें नारे सुअटा,
सो गौरावाई नेरा तोरा नैयो वेटी नौ दिना नारे सुअटा,
उगई न हो बारे चँदा,
हम घर हो लिपना पुतना;
सास न हो दे दे घरिया,
ननद न हो चढ़े अटरिया,
जी के फूल, तिली के दाने, चन्दा उगे वडे भुनसारे
× ×

कार्तिक मास का पवित्र महीना आ गया है। देखिए, गाँव-गाँव प्रात काल ही से स्त्रियाँ सरोवर की ओर भगवान् कृष्ण की आराधना के निमित्त किस उल्लास से जा रही है और हिल-मिल कर कितने चाव और भक्ति-भाव से वे गा रही है—

सखी री मै तो भई न व्रज की मोर।
काँहाँ रहती काहा चुनती काना करती किलोल,
बन में राती बन फल खाती बनई में करती किलोल,
उड उड पख गिरें धरनी में, बीनें जुगलकिसोर,
मोर पख कौ मुकुट बनाऔ, बाँदें नन्दकिसोर,
सखी री में तो भईन व्रज की मोर।
× ×

गिरधारी मोरो वारौ, गिर न परै।
एक हात पर्वत लयें ठाँडो, दूजे हात कें मुकट समारो,
लयें लकुटिया फिरें जसोदा, सो तन तन सब कोउ देउ सहारौ;
× ×

हमें छोड कां जाओ ब्रजवासी ।

जो तुम हमें छोड हरि जैहौ,
तज डारौं प्रान, गरे डारौं फाँसी,
मोर मुकुट हरि कें अधिक विराजै,
सो कलियन बीच बिहारी जू की झाँकी;
नैनन सुरमा हरि कें अधिक विराजै,
सो भौंयन बीच बिहारी जू की झाँकी,
कानन कुण्डल हरि कें अधिक विराजै,
सो मोतिन बीच बिहारी जू की झाँकी,
मुख भर बिरियाँ हरि के अधिक बिराजै,
सो ओठन बीच बिहारी जू की झाँकी,

× ×

इन चरनन परकम्मा देऊँ, छाया गोबरधन की;
चिन्ता कब जैहै जा मन की, दुविधा कब जैहै जा मन की ।
जब नँदरानी गरभ सें हू है, आस पुजै मोरे मन की,
जब मोरो कान्ह कलेऊ माँगै, दध माखन सें रोटी;
जब मोरो कान्ह झँगुलिया माँगै, रतन जटित की टोपी,
जब मोरो कान्ह खिलौना माँगै, चन्द सूरज की जोटी;

× ×

फागुन का मस्त महीना तो बुन्देलखड मे गीत-मय ही हो जाया करता है । रात-रात भर चौकडियाऊ साखी की फाग, स्वाँग और ईसुरी की फागें गाँव-गाँव मे होती है । दिन भर कार्यों मे व्यस्त रहने वाला कृषक-समुदाय उन दिनो कितनी तन्मयता प्राप्त करता है, इसे भुक्त-भोगी ही अनुभव कर सकते है ।

फाग साखी की

हर घोडा ब्रह्मा खुरी और बासुकि जीन पलान;
चन्द्र सुरज पावर भये, चढ भये चतुर सुजान ।
भजन बिन देइया सुफल होने नइयाँ,
हो चढ़ भये चतुर सुजान, भजन बिन देइया सुफल होने नइयाँ;

(२)

आग लगी बन जल गये, जल गये चन्दन रूख,
उड जा पछी डार से, जिन जलौ हमारे साथ;
पछी फेर जनम होने नइयाँ,
जिन जलौ हमारे साथ, पछी फेर जनम होने नइयाँ,

× ×

आग लगी दरयाव में, धुआँ न परगट होय,
कि दिल जाने आपनो, जा पर बीती होय,
काऊ की लगन कोई का जाने,

(३)

उठौ पिया अव भोर भये, चकई वोली ताल;
मुख विरियाँ फीकीं परीं, सियरी मोतिन माल,
पिया उठ जागौ कमल विगसन लागे;

× ×

गोऊँ हते सो उड गये, भुस लै गई अघवार;
त्याई में टलवा गये, वाज गये खग वार,
हमारे बाकी में लिखा देउ पैजना,
वाज गये खगवार, हमारे बाकी में लिखा देउ पैंजना।

(४)

दतिया में हतिया पजे, और पन्ना में हीरा जवार,
टीकमगढ़ सूरा पजे, रे जिनकी वेडी वहे तलवार,
दुश्मन पास कभऊँ नई आवै हो,
बेडी वहे तलवार, दुश्मन पास कभऊँ नई आवै हो।

फाग छदयाऊ

भागीरथ ने तप कियौ, ब्रह्मा ने वर दीन;
गङ्गा ल्याये स्वर्ग सें, लये पाप सब छीन।
जग के अघ काटन कौं आई, जय श्री गङ्गामाई।
गऊ मुख से धार, है निकरी अपार,
तिन लई निहार, नर सुखकारी;
आई हरद्वार, सब फोरत पहार,
भम्रौ जै जैकार, अघ कर छारी॥ भज लो गङ्गामाई॥

यो तो वुन्देलखड मे कितनी ही प्रकार की फागें और गीत गाये जाते हैं, किन्तु ईसुरी की फागो की सर्वप्रियता सर्वत्र ही है। स्थानाभाव के कारण उनका पूर्ण परिचय दे मकना यहाँ सम्भव नही। उदाहरणार्थ दो-तीन फागें दी जा रही हैं—

मन होत तुमें देखत रइये,
छिन छोड अलग ना कउँ जइये।
मौन स्वभाव, साँवली मूरत,
इन अँखियन विच धर लइये,
जब मिल जात नैन नैनन सो,
वेह धरे को फल पइये।
'ईसुर' कात दरस के लानें,
खिरकिन में ढूँकत रइये।

× ×

प्रीति-पन्थ के पथिको की दशा का मजीव चित्रण निम्न गीतो में रसास्वादन कीजिए—

जब सें भयी प्रीत की पीरा,
खुसी नईं जौं जीरा,

कूरा, माटी, भश्रो फिरत है, इतै उतै मन हीरा;
कमती श्रा गई रकत मांस में, बही ब्रगन सें नीरा;
फूंकत जात बिरह की श्रागी, सूकत जात सरीरा,
श्रोई नीम में मानत 'ईसुर', श्रोई नीम को कीरा।

× ×

फिरतन परे पाँव में फोरा,
सग न छोड़ों तोरा;
घर घर श्रलख जगावत जाकें, टँगो कँदा पै झोरा;
मारी मारी इत उत जावै, गलियन कैसो रोरा,
नइँ रव माँस, रकत देही में, भये सूक कें डोरा,
कसकत नइँ 'ईसुरी' तनकउँ, निठुर यार है मोरा।

× ×

विरहिणी नायिका के मुँह से आप कहलाते है कि वैरिन वर्षा ऋतु आ गई है। हमारी भलाई तो इसी मे है कि उसके द्वारा प्रशसित उपादानो का हम त्याग ही करें। यथा—

हम पै बैरिन बरसा आई,
हमें, बचा लेव माई;
चढ़ कें अटा, घटा ना देखें, पटा देव श्रगनाई;
बारादरी दौरियन में हो, पवन न जावे पाई;
जे द्रुम कटा, छटा फुलबगियाँ, हटा देव हरयाई;
पिय जस गाय सुनाव न 'ईसुर', जो जिय चाव भलाई;

× ×

मोरे मन की हरन मुनैयाँ,
श्राज दिखानी नैयाँ;
कै कऊँ हुये लाल के सङ्गै, पकरी पिंजरा मइयाँ,
पत्तन पत्तन ढूंड फिरे है, बैठी कौन डरैयाँ;
कात 'ईसुरी' इनके लानें, टोरीं सरग तरैयाँ।

× ×

मनुष्य-शरीर की असारता को लक्ष्य करके उन्होने कहा है—

बखरी रईयत है भारे की,
दई पिया प्यारे की;
कच्ची भींत उठी माँटी की, छाई फूस चारे की;
बे बदेज बडी बेबाडा, जेई में दस द्वारे की;
किवार किवरिया एकौ नइयाँ, बिना कुची तारे की;
'ईसुर' चाये निकारौ जिदनाँ, हमें कौन ड्वारे की;

× ×

इन गीतो के सम्बन्ध मे जितना भी लिखा जाय, थोडा है। हर्ष है कि इनके सास्कृतिक और वैज्ञानिक विश्लेषणता के लिए शिक्षित समुदाय उद्योग कर रहा है। इससे हमारा और हमारी मातृभाषा हिन्दी का हित ही होगा, ऐसी आशा है।

झासी]

कुण्डेश्वर का जल-प्रपात

२

सात बुन्देली लोकगीत

श्री देवेंद्र सत्यार्थी

बुन्देलखड मे पुरानी टेरी (टीकमगढ) के नन्हे धोबी के मुख से मधुर और करुण स्वरो मे 'धनसिंह का गीत' सुन कर बुन्देलखड के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ मेरी आँखो में फिर गया था। मैं यह सोचता रह गया था कि आखिर यह कुँवर धनसिंह थे कौन, जिनकी याद मे एक धोबी की नही, समस्त बुन्देलखड की आँखो में आँसू आ जाते है ? इस गीत का लोक-कवि बताता है कि धनसिंह ने छींकते हुए पलान कसा था और मना किये जाने की भी परवा न करते हुए घोडे पर सवार हो गया था। रास्ते मे उसके बाईं ओर टिटहरी बोल उठी थी और दाईं ओर गीदड चिल्लाने लगा था। यहाँ हम किसी एक व्यक्ति या परिवार के नही, बल्कि समूचे बुन्देलखड के पुरातन अपशकुनो का परिचय पा लेते है। जहाँ तक गीत के साहित्यिक मूल्य का सम्बन्ध है, घर लौट आने पर धनसिंह के घोडे का यह उत्तर कि उसका स्वामी धोखे मे मारा गया और इसमे उसका कुछ अपराध नही, बहुत प्रभावकारी है।

एक और बुन्देली लोकगीत मे बैलो के गुण-दोष आदि की परख का बहुत सुन्दरता से वर्णन किया गया है। जहाँ तक इसकी सगीतक गतिविधि का सम्बन्ध है, इसे हम बडी आसानी से एक प्रथम श्रेणी का नृत्य-गीत कह सकते है। मुझे पता चला कि यह 'छन्दियाऊ फाग' कहलाता है।

पाण्डोरी में गौरिया चमारिन से मिला 'मानो गूजरी का गीत' मुगलकालीन बुन्देलखड के इतिहास पर प्रकाश डालता है। उत्तर भारत के दूसरे प्रान्तों मे भी इससे मिलते-जुलते गीत मिले है। हर कही मुगल के इश्क को ठुकराया गया है। भारतीय नारी मुगल सिपाही को खरी-खरी सुनाती है।

माता के भजनो में एक ऐसी चीज मिली है, जिसे हम अहिंसा का विजय-गान कह सकते है। यह गीत टीकमगढ मे न्होनी दुलइया गुसाइन से लिखा गया था। 'कविता-कौमुदी'[1] मे भी इससे मिलता-जुलता एक गीत मौजूद है, जिससे पता चलता है कि यह कथा उत्तर भारत की किसी पुरातन कथा की ओर सकेत करती है।

टीकमगढ जेल में हलकी ब्राह्मणी से सुना हुआ एक 'सोहर' इस समय मेरे सामने है। जिस मधुर और जादू-भरी लय में हलकी ने यह गीत गाकर सुनाया था, वह अपूर्व था। उसका यह गीत मेरी आत्मा में सदा गूजता रहेगा। जब किसी परिवार मे माता की कोख से पुत्र का जन्म होता है तो सारे गाँव मे हर्ष की लहर दौड जाती है। जन्म से पहले के नौ महीनो में समय-समय पर स्त्री की मानसिक दशा का चित्रण 'सोहर' की विशेषता है।

एक गीत मे गडरियो की भाँवर का सजीव चित्र अकित है। टीकमगढ जेल के समीप एक वृद्ध गडरिये से वह गीत प्राप्त हुआ था।

अन्त मे एक और गीत की चर्चा करना आवश्यक है। पुरानी टेरी की जमुनियाँ बरेठन, जिसने वह 'दादरो' लिखाया था, डरती थी कि कही उसका गीत उसके लिए सजा का कारण न बन जाय। यह इसी युग की रचना है, जिससे न केवल यह पता चलता है कि अभी तक लोक-प्रतिभा की कोख बाँझ नही हुई है, बल्कि यह भी ज्ञात होता है कि एक नये प्रकार का व्यग्य, जो विशेषत बदलती हुई राजनैतिक परिस्थितियो पर कडी चोट करता है, गहरी जड पकड रहा है।

नीचे वे सात गीत दिये जा रहे है, जिनका ज़िक्र ऊपर किया गया है—

---

[1] ग्रामगीत पृष्ठ ७७७

१—धनसिंह का गीत

तोरी मत कौनें हरी धर्नासिघ, तोरी, मत कौनें हरी ?

छीकत बछेरा पलानियों,[1] बरजत भये असवार
जातन मारौं गौर खाँ, गढ़ एरछ के मैदान
तोरी मत कौनें हरी धर्नासिघ, तोरी मत कौनें हरी ?

माता पकरें फेंटरी[2], बैन[3], घोडे की बाग
रानी बोले धर्नासिह की, मोए कौन की करके जात
तोरी मत कौने हरी धर्नासिघ, तोरी मत कौने हरी ?

माता खाँ गारी[4] दई, बैंदुल[5] खाँ दयो ललकार
'बैठी जो रहियो रानी सतखण्डा, मोतिन से[6] भरा देऊँ माँग !'
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिघ, तोरी मत कौने हरी ?

डेरी[7] बोली टीटही[8] दाइनी[9] बोली सिहार[10]
सिर के सामें[11] तीतर बोले, 'पर भू में[12] मरन काएँ जात ?'[13]
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिघ, तोरी मत कौने हरी ?

कोऊ जो मेले ढेरी ढेरा, कोऊ जिल्ला के बाग
जा मेले धर्नासिघ जू, जा ठठे कसब[14] के पाल[15]
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिघ, तोरी मत कौने हरी ?

पैले मते भये ओरछें,[16] दूजे बरुआ के मैदान
तीजे मते भये पाल में, सो मर गये कुंवर धर्नासिघ
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिघ, तोरी मत कौने हरी ?

भागन लगे भागेलुआ, उड रई गुलाबी धर
रानी देखे धर्नासिह की, घोरो आ गओ उबीनी पीठ[17]
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिघ, तोरी मत कौने हरी ?

काटौं बछेरा तोरी बजखुरी[18], मेटौं कनक और दार[19]
मेरे स्वामी जुझवाय कै, तै आय बँधो घुरसार
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिघ, तोरी मत कौने हरी ?

'काय खौं काटो, रानी, बजखुरी, काय मेटौ कनक औ दार ?
दगा जो होगै पाल में[20] मो पै होनेईं न पाए असवार[21]
तोरी मत कौने हरी, धर्नासिघ, तोरी[22] मत कौने हरी ?

---

[1] पलानकसा [2] कमरबन्द [3] बटन [4] गालियाँ [5] बहन [6] मोतियों से [7] बाइं ओर [8] टिटिहर [9] दांई ओर [10] सियार [11] सामने [12] पराई भूमि पर [13] मरने के लिये क्यों जाते हो ? [14] एक वर्ग विशेष [15] तम्बू [16] पहली सलाह ओरछे में हुई । [17] घोडा खाली पीठ के साथ आ गया । [18] हे बछेरे, तेरे खुरियो के ऊपरी भाग काट डालूं । [19] गेहूँ और दाल (दाना) देना बन्द कर दूं । [20] तम्बू में धोखा हुआ । [21] वे मुझ पर सवार ही न हो पाए थे । [22] धर्नासिह, तेरी बुद्धि किस ने हर ली ?

२—अरे जात बजारें, छैला !

अरे जात बजारें, छैला !
मोरे जात बजारें, छैला लाल !
सो लैन अनोखे बैला,
मोरे जात बजारें, छैला लाल !
कन्त बजारें जात हो, कामन कह कर जोर
एक अरज सुन लीजियो, कन्त मानियो मोर—
लीला है रंग
अति जबर जंग
औगन न अंग
एकऊ वा के
रोमा मुलाम
पतरो है चाम
चाहे लगें दाम
कितने हु वा के
सो लिइए असल पुखैला
मोरे जात बजारें, छैला, लाल !
भौंरा रंग बाकुंडा चंचल
ओछे कानन खैला
मोरे जात बजारें छैला, लाल !
हंसा से बैल
न लिइए छैल
न दिइए पैल
अगरे वा के
कजरा की शान
लै लिइए जान
दै दिइए दाम
चित में दै के
पुठी उतार घींच पतरी को
न लिइए बिगरैला
सो ओछे कानन खैला
मोरे जात बजारे छैला, लाल !
करिया के दन्त
जिन गिनौ, कन्त
हठ चलौ अन्त
मानो बिनती

सींगन के बीच
भौंयन दुबीच -
भौंरी हो बीच
सो हुइयै असल परैला
मोरे जात बजारें छैला, लाल !
लैन अनोखे बैला
मोरे जात बजारें छैला, लाल !

३—मानो गूजरी

काहांना सें मुगला चले, री मानो, काहाना लेत मिलान
पच्छम से मुगला चले, री मानो, अगम लेत मिलान
ऊँचे चढ के मानो हेरिओ, कोई लग गए मुगल बजार
हुक्म जो पाऊँ रानी सास को, मैं तो देखि आऊँ मुगल बजार
मुगला को का देखना, री मानो, मुगला मुगद गवार
सास की हटकी मैं न मानों मैं तो देखि आऊँ मुगल बजार
जो तुम देखन जात हो, री मानो, कर लौ सोरहो सिंगार
तेल की पटियाँ पार लईं मानो सिंदरन भर लई माँग
माथे बीजा अत बनो मानो बन्दिअन की छब नियार
चलीं चलीं मानो हुना गईं रे कोई गई कुम्हरा के पास
अरे अरे भइया कुम्हरा के रे, एक मटकी हमें गढ़ देउ
एक मटकिया का गढ़ूँ री मानो मटकी गढों दो-चार
एक मटकिया ऐसी गढो रे भइया जा में दहिया बनै और दूध
अरे अरे भइया कुम्हरा के तुम कर दौ मटकिया के मोल
पाँच टका की जाकी बौनी है, री मानो लाख टका को मोल
पाँच टका धरनी धरे, कुम्हरा के, मटकी लई उठाय
दहियो-दूध जा में भर लियो, री मानो, देख आयो मुगल बजार
चली चली री मानो हुना गयो रे कोई गई मुगल के पास
पहली टेर मानो मारियो—रे कोई दहिया लेत कै दूध
दही दूध के गरजी नहीं रे मानो घघटा कर दौ मोल
दूजी टेर मानो मारियो रे कोई मुगल लई पछिआय
लौट आयो मानो बदल आयो रे मोरी रनियाँ देखें आयो
रनियाँ को का देखना रे मुगला ऐसी रैतीं मोरि गुबरारि
लौट आयो मानो बदल आयो मेरे कुँवरन देखें जायो
कुँवरन को का देखना, रे मुगला, मेरे रैते ऐसे गुलाम
लौट आयो मानो बदल आयो मेरे हतिया देखें जायो
हतियन को का देखना रे मुगला मेरी भूरी भैंस को मोल
घुंघटा खोलत दस मरे रे मुगला बिन्दिया देख पचास

मुगला सींक जब मरे रे जब तनिक उघरि गई पीठ !
सोउत चन्द्रावल ओधके—रे तेरी व्याही मुगल लै जाय
मुगला मारे गरद करे रे बिन ने लोथें लगा दईं पार
रक्तन की नदियाँ बहीं, रे बिन ने लोथें लगा दईं पार !

४—सुरहिन

दिन की ऊँघन किरन की फूटन, सुरहिन बन को जाय हो माँ
इक बन चालीं सुरहिन दुज बन चालीं, तिज बन पौंची जाय हो माँ
कजली बन माँ चन्दन हरो बिरछा, जाँ सुरहिन मो डारो हो माँ
इक मो घालो सुरहिन दुज मो घालो, तिज मो सिंघा गुँजार हो माँ
अब की चूक वगस वारे सिंघा, घर बछरा नादान हो माँ
को तोरो सुरहिन लाग-लगनियाँ, को तोरो होत जमान हो माँ
चन्दा सुरज मोरे लाग लगनियाँ, वनसपति होत जमान हो माँ
चन्दा सुरज दोइ ऊँगें अथैवें, वनसपति झर जाय हो माँ
धरती के बासक मोरे लाग लगनियाँ, धरती होत जमान हो माँ
इक बन चालीं सुरहिन दुज बन चालीं, तिज बन बगर रम्हानी हो माँ
बन की हेरीं सुरहिन टगरन आईं, बछरे राम्ह सुनाई हो माँ
आयो आयो बछरा पीलो मेरो दुधुआ, सिंघा बचन हार आई हो माँ
हारे दुधुआ न पियों मोरी माता, चलो तुमारे सग हो माँ
आँगे आँगे बछरा पीछें पीछें सुरहिन, दोऊ मिल बन को जाँय हो माँ
इक बन चालीं सुरहिन दुज बन चालीं, तिज बन पौंची जाय हो माँ
उठ उठ हेरे बन के सिंघा सुरहिन आज न आईं हो माँ
बोल की बाँदी बचन की साँची, एक सें गईं दो से आई हो माँ
पैंलो ममइयाँ हमईं को भख लो, पीछे हमाईं माय हो माँ
कोने भनेजा तोय सिख-बुध दीनीं, कोन लगो गुर कान हो माँ
देवी जालपा सिख बुध दीनीं, वीर लगर लगे कान हो माँ
जो कजली बन तेरो भनेजा, छुटक चरो मैदान हो माँ
सौ गऊ आगें सौ गऊ पाँछे, होइयो बगर के साँढ़ हो माँ

५—सोहर

जेठानी के भए नन्दलाल, कहो तो पिया देख आवें महाराज
सासू की हटकी न मानी, सखिन सग तिग चलीं महाराज
पिया की हटकी न मानी, सखिन सग तिग चलीं महाराज
सासू ने डारी पिडियाँ, ननद आदर करें महाराज
लै सुनी बिछिअन खनकार, जिजी ने लाला ढापलए महाराज
इतनी के सुनतन देखत देओरानी भग आईं महाराज
मनईं मन कर सोच मनईं मन रो रईं, महाराज
चलो लाला हाट बजार, ललन मोल लै दिओ महाराज

कैसी भौजी मूरख अजान, ललन मोल न मिलें महाराज
गऊअन के करो भौजी दान, कन्यअन के करो विआउ हो महाराज
जमना के करो असनान चरइअन चुन डारो महाराज
लग गए पैले मास तो दूजे लागियो महाराज
तीजे मास जब लागे तो चौथे लागियो महाराज
चौथे मास जब लागे, जिमिरिअन मन चले महाराज
पाँचए मास जब लागे, नरगिअन मन चले महाराज
लग गए छटएँ मास, बिहिअन पै मन चले महाराज
लग गए सातएँ मास तो निब्बू पै मन चले महाराज
लग गए आठएँ मास तो सदाफल मन चले महाराज
हो गए नौ दस मास. ललन न्होंने हो परे महाराज
दिओरनियाँ के भए न्होंने लाल कहो तो पिया देख आवें महाराज
राजा की हटकी न मानी सखिन सग लिग चलीं महाराज
सासू ने डारी पिढियाँ, ननद आदर करे महाराज
सुनि बिछिअन ठनकार. दिओरानी ने लाल दे दये महाराज
तुम ल्हौरी हम जेठी, उदिना को बुरा जिन मानिओं महाराज

६—एक गडरियाई भाँवर

आडर दीनी गाडर दीनी
डला भर ऊन दीनी
बम्मन मार पटा धर दीनी
रूपें की धरी सोने की माल
राँहट चले पानी ढरे
निम थे औलाद बढे
कओ पचो भावरें परी कै नईं ?

७—दादरो

अँगरेजी परी, गोरी, गम खानें !
काहाँ बनी चौकी काहाँ बने थाने
काहाँ जो बन गए बे जेरखाने
अँगरेजी परी, गोरी, गम खानें !
अँगीत बनी चौकी, पछीत बने थाने
बाकी देरी पै बनगए जेरखाने
अँगरेजी परी, गोरी, गम खानें !

बुन्देलखड अपने सम्बन्ध मे अपनी भाषा में क्या कहता है ? किन-किन उत्सवो से उसे दिलचस्पी है ? उसके रीति-रिवाजो का वास्तविक महत्त्व क्या है ? समाज के विविध स्तरो के भीतर से आती हुई उसकी आवाज़ हमारे लिए क्या सन्देश रखती है ? इन प्रश्नो के उत्तर पाने के लिए बुन्देली लोकवार्ता का सचय तथा अध्ययन करना आव-श्यक है। लोकगीत का वास्तविक महत्त्व बुन्देली लोकवार्ता की पृष्ठ-भूमि मे ही समझा जा सकता है ।

बुन्देलखण्ड के कवि

श्री गौरीशङ्कर द्विवेदी 'शङ्कर'

(१)

शस्य श्यामला, शीतल जननी,
कविवर-वीर-विभूति प्रसविनी,
है बुन्देलखण्ड की धरिणी,

धरणीतल में धन्य
कहाँ है, कोई ऐसी अन्य ?

(२)

अग्रगण्य है अति शुचिता में,
सरस सरलता में, मृदुता में,
सहिष्णुता में, सहृदयता में,

वीर-बुदेल-प्रदेश
यही है, अनुमप जिसका वेश।

(३)

कर्त्ता अष्टादश पुरान के,
लेखक भारत के विधान के,
अधिपति विपुल पवित्र ज्ञान के,

वल, तप, तेज निधान
यहीं थे, वेद व्यास भगवान्।

(४)

वालमीकि वसुधा के भूषण,
कृष्णदत्त कविकुल के पूषण,
मित्र मिश्र ने किया निरूपण,

ऐसा ग्रंथ-विशेष
पुज रहा, है जो देश-विदेश।

(५)

मधुकुरशाह भक्ति-रस रूरे,
इन्द्रजीत, बिक्रम बल पूरे,
छत्रसाल नरपति रण शूरे,
वर-बुंदेल-अवतस
हुए है कवि-कुल-मानस-हस।

(६)

तुलसीदास ज्ञान-गुण-सागर,
व्यास, गोप, बलभद्र, जवाहर,
केशवदास कवीन्द्र कलाधर,
भाषा प्रथमाचार्य
हुए थे, इसी भूमि में आर्य।

(७)

सुकवि बिहारीदास गुणाकर,
हरिसेवक, रसनिधि, कवि ठाकुर,
पचम, पुरुषोत्तम, पद्माकर,
कवि कल्याण अनन्य
हुई है, जिनसे वसुधा धन्य।

(८)

विष्णु, सुदर्शन, श्रीपति, मण्डन,
खड्गराय, गङ्गाधर, खण्डन,
किङ्कर, कुजकुंअर, कवि कुदन,
मोहन मिश्र, ब्रजेश
यहीं थे, रसिक, प्रताप, हृदेश।

(९)

हसराज, हरिकेश, हरीजन,
फेरन, करन, कृष्ण कवि, सज्जन,
मान, खुमान, भान वदीजन,
लोने, खेम, उदेश
हुए है, भौन, बोध, रतनेश।

(१०)

कोविद, कृष्णदास, कवि कारे,
दिग्गज, रतन, लाल प्रण वारे,
अवुज, काली, नदकुमारे,
नवलसिंह पजनेस
हुए थे, मचित, द्विज अवधेस।

(११)

'प्रेम', 'व्यास', 'रसिकेन्द्र', गुणाकर,
'लाल विनीत' 'मीर' से कविवर,
काव्य-कला-कमनीय विवाकर,
अमर कर गये नाम
प्रान्त यह है गुणियो का धाम।

× ×

(१२)

वीर पुरुष ऐसे है जाये,
वसुधा ने जिनके गुण गाये,
विश्व-वद्य इसने उपजाये,
अगणित कवि शिरमौर,
गिनाएँ 'शङ्कर' कितने और।

(१३)

जग जीवन वे सफल कर गये,
अमर हुए है, यदपि मर गये,
भव्य-भारती-कोष भर गये,
कविता-कामिनि-कांत
यहीं थे, है ऐसा यह प्रात।

झासी]

अहार और उसकी मूर्तियाँ

श्री यशपाल जैन बी० ए०, एल-एल० बी०

पुरातत्व की दृष्टि मे बुन्देलखण्ड एक बहुत ही समृद्ध प्रात है। स्थान-स्थान पर ऐसी सामग्री पाई जाती है, जो पुरातत्वज्ञो के लिए बडी महत्वपूर्ण है। पुरातत्व-विभाग के युक्तप्रातीय सर्किल के सुपरिंटेण्डेण्ट श्री माधवस्वरूप जी 'वत्स' तथा डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल के साथ हमें देवगढ के गुप्तकालीन विष्णुमदिर के देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्होने वारीकी के साथ जब उक्त मदिर की विशेषताएँ समझाई तो हम आश्चर्यचकित रह गये कि उस छोटे-से मदिर मे कितनी मूल्यवान सामग्री मौजूद है। इसी प्रकार खजुराहा, चदेरी, महोवा, कालजर, साची आदि स्थान है, जिनके वर्तमान रूप को देखकर हम कल्पना कर सकते है कि किसी ज़माने मे वे कितने गौरवशाली रहे होगे। ऐसे स्थानो मे से कई एक तो प्रकाश मे आ चुके है, लेकिन कुछ ऐसे भी है, जिनकी ओर अभी तक विशेष ध्यान नही दिया गया। अहार एक ऐसा ही स्थान है। ओरछा राज्य की राजधानी टीकमगढ से बारह मील पूर्व में वह स्थित है। वहाँ की प्राकृतिक सुषमा को देख कर प्राचीन तपोवनो का स्मरण हो आता है, लेकिन अहार का महत्व केवल उसके प्राकृतिक सौंदर्य के कारण ही नही, वल्कि वहाँ की मूर्तियो के कारण है। ये मूर्तियाँ बडी ही मनोज्ञ और भव्य है। अहार ग्राम के दो-ढाई मील इधर से ही मूर्तियाँ यत्रतत्र पडी मिलने लगती है। मदन-सागर के बाँध पर, जिसके निकट ही अहार के मदिर है, एक विशाल मदिर के भग्नावशेष दिखाई देते है। जिन पत्थरो से उस मदिर का निर्माण हुआ था, उनमे से बहुत से आज भी वहाँ अस्त-व्यस्त अवस्था मे पडे हुए है। उनकी कारीगरी का अवलोकन कर मन आनद से भर उठता है। इधर-उधर पहाडियो की चोटियो पर भी बहुत से मदिरो के अवशेष मिलते है। कहा जाता है कि प्राचीन काल मे यहाँ लगभग डेढ सौ मदिरो का समुदाय था और भगवान शान्तिनाथ की प्रतिमा के आसन पर उत्कीर्ण शिलालेख से पता चलता है कि किसी समय वहाँ एक विशाल घेरे में 'मदनसागरपुर' नामक नगर वसा था। इधर-उधर परकोटो के जो चिह्न मिलते है, उनसे उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है।

अहार मे इस समय ढाई-तीन सौ प्रतिमाओ का सग्रह है, जिनमे से अधिकाश खण्डित है। किसी का हाथ गायब है तो किसी का पैर, किसी का सिर तो किसी का धड, लेकिन जो अग उपलब्ध है, उन्हे देखने पर उनके निर्माताओ की कला-प्रियता तथा कार्य-पटुता का अनुमान लग जाता है। इन मूर्तियो को प्राचीन वास्तु-कला का उत्कृष्ट नमूना कहा जा सकता है। किसी के मुखमण्डल पर अनुपम हास्य है तो किसी के गभीरता। किसी भी प्रतिमा को देख लीजिये। उसकी सुडौलता मे कही वाल भर का भी अतर नही मिलेगा। आज के मशीन-युग में तो सब कुछ सभव है, लेकिन तनिक उस युग की कल्पना कीजिये, जब मशीने नही थी और सारा काम इनेगिने दस्ती औज़ारो की मदद से होता था। ज़रा हाथ डिगा अथवा छैनी इधर-उधर हुई कि बना-बनाया खेल बिगडा। सभी प्रतिमाओ की पालिश आज आठ सौ वर्ष बाद भी ज्यो-की-त्यो चमकती है।

अहार क्षेत्र के अहाते मे इस समय तीन मदिर है। उनमें से दो तो हाल के ही बने हुए है। तीसरा प्राचीन है। बाहर से देखने में वह बहुत मामूली-सा जान पडता है। उसके अदर बाईस फुट की शिला पर अठारह फुट की भगवान शान्तिनाथ की मूर्ति है। बाएँ पार्श्व मे ग्यारह फुट की कुन्थुनाथ भगवान की प्रतिमा है। कहा जाता है कि उसी के अनुरूप दाएँ पार्श्व में अरहनाथ भगवान की प्रतिमा थी, जिसका अब कोई पता नही चलता। प्रस्तुत प्रतिमाएँ अत्यन्त भव्य है। उनके मुखमण्डल की तेजस्विता और भव्यता को देख कर हमे अद्भुत आनद और शाति प्राप्त हुई। श्रद्धेय नाथूराम जी प्रेमी का कथन था कि उन्होने जैनियो के बहुत से तीर्थ देखे है और भगवान शातिनाथ

अहार का एक दृश्य

भगवान शांतिनाथ की मूर्ति

की इस प्रतिमा से भी विशाल प्रतिमाएँ देखी है, लेकिन इस जैसी भव्य, सौम्य और सुन्दर मूर्ति उन्होने अब तक नही देखी। "इस महान शिल्पी ने सुप्रसिद्ध गोम्मटेश्वर की मूर्ति के निर्माता की कला-प्रतिभा को भी अपने से पीछे छोड दिया है। इस मूर्ति का सौष्ठव और अग-प्रत्यग की रचना हमारे सम्मुख एक जीवित सौन्दर्य-मूर्ति को खडी कर देती है।"[1]

इस प्रतिमा का शिलालेख सुरक्षित है। यह लेख लगभग दो फुट चार इच की लम्बाई और नौ इच की चौडाई में है। नौ पक्तियाँ है। इस शिलालेख से मूर्ति का निर्माण कराने वाले श्रेष्ठि का पता तो चलता ही है, साथ ही शिल्पकार का भी। अन्य कई बातो की भी जानकारी होती है। पूरा लेख इस प्रकार है —

पक्ति १

ॐ नमो वीतरागाय ॥ ग्रहपतिवंशसरोरुहसहस्ररश्मि सहस्रकूटं य । वाणपुरे व्यधितासीत् श्रीमानि

पक्ति २

ह देवपाल इति ॥१॥ श्रीरत्नपाल इति तत्तनयो वरेण्य. पुण्यैकमूर्तिरभवद्वसुहाटिकाया। कीर्तिर्जगत्रय

पक्ति ३

परिभ्रमणश्रमार्त्ता यस्य स्थिराजनि जिनायतनच्छलेन ॥ २ ॥ एकस्तावदनूनवुद्धिनिधिना श्रीशान्तिचैत्याल

पक्ति ४

यो दिष्टचानन्दपुरे पर परनरानन्दप्रद श्रीमता। येन श्रीमदनेशसागरपुरे तज्जन्मनो निर्म्मिमे। सोयं श्रेष्ठिवरिष्ठगल्हण इति श्रीरल्हणाख्याद्

पक्ति ५

भूत ॥ ३ ॥ तस्मादजायत कुलाम्बरपूर्णचन्द्र श्रीजाहडस्तदनुजोदयचन्द्रनामा। एक· परोपकृतिहेतुकृताव-तारो धर्म्मात्मक· पुनरमो

पक्ति ६

घसुदानसार ॥ ४ ॥ ताभ्यामशेषदुरितौघशमैकहेतु निर्मापित भुवनभूषणभूतमेतद्। श्रीशान्तिचैत्यमति नित्यसुखप्रदा

पक्ति ७

तृ मुक्तिश्रियो वदनवीक्षणलोलुपाभ्याम् ॥५॥ सवत् १२३७ मार्ग सुदि ३ शुक्रे श्रीमत्परमर्द्धिदेवविजयराज्ये।

पक्ति ८

चन्द्रभास्करसमुद्रतारका यावदत्र जनचित्तहारका। धर्म्मकारिकृतशुद्धकीर्त्तन तावदेव जयतात् सुकीर्त्तनम् ॥६॥

पक्ति ९

वाल्हणस्य सुत· श्रीमान् रूपकारो महामतिः। पापटो वास्तुशास्त्रज्ञस्तेन विम्व सुनिर्मितम् ॥ ७ ॥

अनुवाद

वीतरागके लिये नमस्कार (है)।

श्लोक १—जिन्होने वानपुरमें एक सहस्रकूट चैत्यालय बनवाया, वे ग्रहपति-वश रूपी कमलो (को प्रफुल्लित करने) के लिये सूर्यके समान श्रीमान् देवपाल यहाँ (इस नगरमें) हुए।

---

[1] 'अहार' पुस्तक में प्रेमीजी का लेख, पृष्ठ २४

श्लोक २–उनके रत्नपाल नामक एक श्रेष्ठ पुत्र हुए, जो वसुहाटिकामें पवित्रताकी एक (प्रधान) मूर्ति थे, जिनकी कीर्ति तीनो लोकोमे परिभ्रमण करनेके श्रमसे थककर इस जिनायतनके बहाने ठहर गई।

श्लोक ३–श्री रल्हणके, श्रेष्ठियोमें प्रमुख, श्रीमान् गल्हणका जन्म हुआ जो समग्र बुद्धिके निधान थे और जिन्होने नन्दपुरमे श्रीशान्तिनाथ भगवान्का एक चैत्यालय बनवाया था, और इतर सभी लोगोको आनन्द देनेवाला दूसरा चैत्यालय अपने जन्मस्थान श्रीमदनेशसागरपुरमे भी बनवाया था।

श्लोक ४–उनसे कुलरूपी आकाशके लिये पूर्ण चन्द्रके समान श्री जाहड उत्पन्न हुए। उनके छोटे भाई उदयचन्द्र थे। उनका जन्म मुख्यतासे परोपकारके लिये हुआ था। वे धर्मात्मा और अमोघ दानी थे।

श्लोक ५–मुक्ति-रूपी लक्ष्मीके मुखावलोकनके लिये लोलुप उन दोनो भाइयोने समस्त पापोंके क्षयका कारण, पृथ्वीका भूषण-स्वरूप और शाश्वतिक महान् आनन्दको देनेवाला श्री शान्तिनाथ भगवानका यह प्रतिविम्ब निर्मापित किया।

सवत् १२३७ अगहन सुदी ३, शुक्रवार, श्रीमान् परमर्द्धिदेवके विजय राज्यमें।

श्लोक ६–इस लोकमें जब तक चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र और तारागण मनुष्योके चित्तोका हरण करते है तब तक धर्म्मकारीका रचा हुआ सुकीर्तिमय यह सुकीर्तन विजयी रहे।

श्लोक ७–वाल्हणके पुत्र महामतिशाली मूर्त्ति-निर्माता और वास्तुशास्त्रके ज्ञाता श्रीमान् पापट हुए। उन्होने इस प्रतिविम्बकी सुन्दर रचना की।

इस शिला-लेख से कई महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। प्रथम पक्ति मे बानपुर का उल्लेख आया है। यह स्थान टीकमगढ से अठारह मील पश्चिम में अब भी विद्यमान है। तीसरी पक्ति के 'मदनेशसागरपुर' पद से ज्ञात होता है कि उस समय इस स्थान का 'मदनेशसागरपुर' नाम रहा होगा। अहार के तालाब को आज भी 'मदनसागर' कहते हैं। सातवी पक्ति से मालूम होता है कि अगहन सुदी तीज, सवत् १२३७, शुक्रवार को परमर्द्धिदेव के राज्य में शिल्पशास्त्र के ज्ञाता पापट नामक शिल्पकार ने इसका निर्माण किया था।

मूर्ति पर बहुत बढिया पालिश हो रही है। आठ सौ वर्ष बाद भी उसकी चमक मे कोई अन्तर नही आया।

अहार मे जितनी मूर्तियाँ हैं, उनमें से अधिकाश के आसन पर शिला-लेख हैं, जिनसे जैनो के अनेक अन्वयो का पता चलता है। इतने अन्वयो का वहाँ पाया जाना इस बात का सूचक है कि प्राचीन समय में यह स्थान अत्यन्त समृद्ध रहा होगा।

ये सब मूर्तियाँ पुरातत्व और इतिहास की दृष्टि से बहुत ही मूल्यवान हैं। उनकी सुरक्षा के लिए वहाँ पर एक सग्रहालय का निर्माण हो रहा है। अब आवश्यकता इस बात की है कि अहार तथा उसके निकटवर्ती ग्रामो की भूमि की विधिवत् खुदाई हो। इसमे लेशमात्र सन्देह नही कि वहाँ पर बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होगी। सग्रहालय की नीव जिस समय खुद रही थी उस समय स्फटिक की एक मूर्ति का अत्यन्त मनोज्ञ सिर प्राप्त हुआ। खुदाई होने पर और भी बहुत-सी चीजें मिलेगी। अब भी जब तालाब का पानी कम हो जाता है, उसमें कभी-कभी मूर्तियाँ निकल आती है। इस प्रकार की कई मूर्तियो का उद्धार हुआ है।

अहार मे तपोवन बनने की क्षमता है, लेकिन उसके लिए भगवान शान्तिनाथ की मूर्ति के निर्माता पापट जैसे महापुरुषो और उनकी जैसी वर्षों की तपस्या चाहिये। उस मूर्तिकार की यह अनुपम कला-कृति मानो आज भी कह रही है, "महान कार्य के लिए समान साधना की आवश्यकता होती है।

टीकमगढ़]
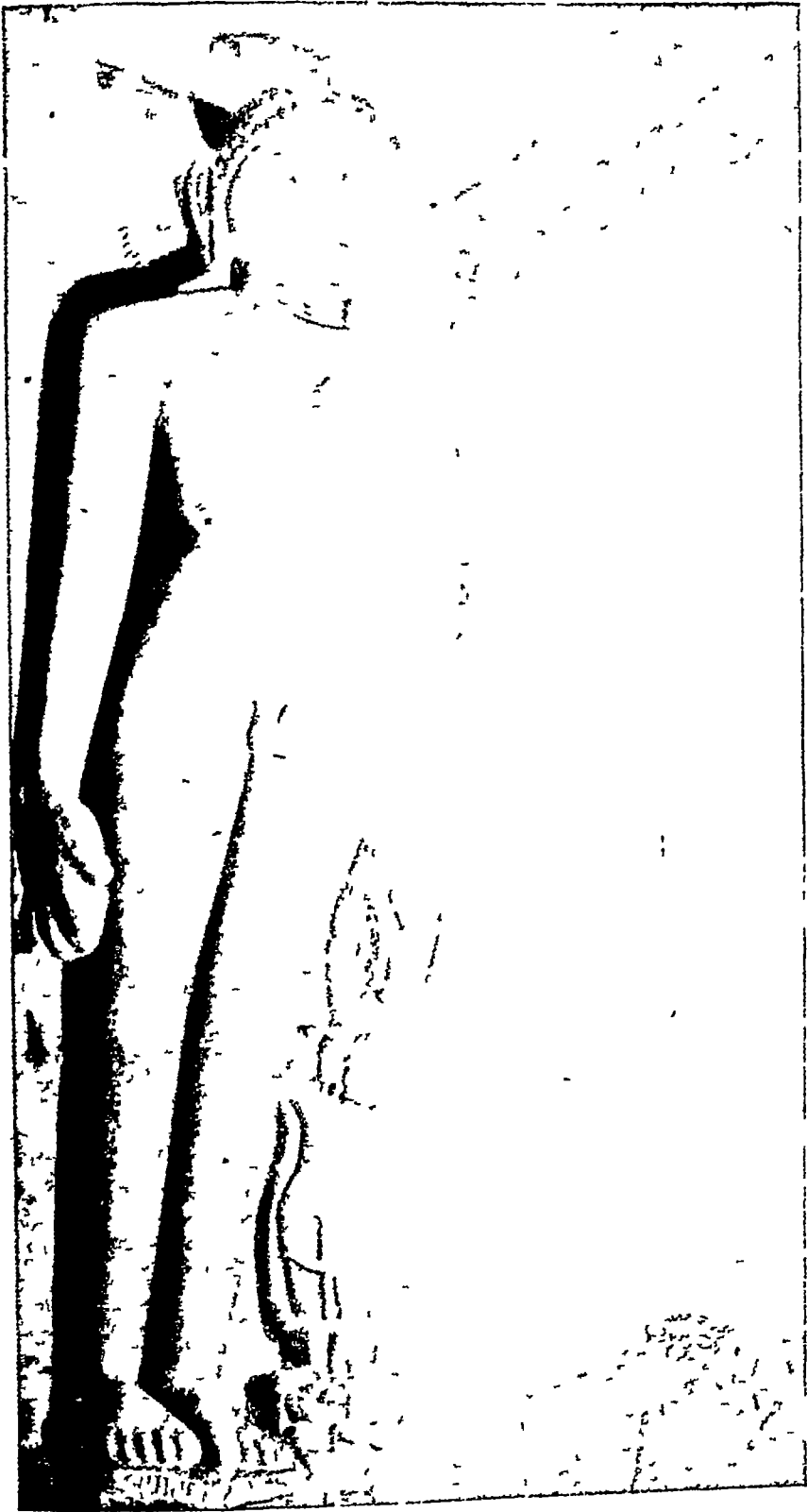
कुयुनाथ भगवान की मूर्ति

: ८ :

समाज-सेवा
और
नारी-जगत्

जैन संस्कृति में सेवा-भाव

जैन-मुनि श्री अमरचन्द्र उपाध्याय

जैन सस्कृति की आधारशिला प्रधानतया निवृत्ति है। अत उसमें त्याग और वैराग्य तथा तप और तितिक्षा आदि पर जितना अधिक ज़ोर दिया गया है, उतना और किसी नियम विशेष या सिद्धान्त विशेष पर नही। परन्तु जैन धर्म की निवृत्ति साधक को जन-सेवा की ओर अधिक-से-अधिक आकर्षित करने के लिए है। जैन धर्म का आदर्श ही यह है कि प्रत्येक प्राणी एक दूसरे की सेवा करे, सहायता करे और जैसी भी अपनी योग्यता हो, उसी के अनुसार दूसरो के काम आये। जैन धर्म में जीवात्मा का लक्षण[1] ही सामाजिक माना गया है, वैयक्तिक नही। प्रत्येक सासारिक प्राणी अपने सीमित अश में अपूर्ण है, उसकी पूर्णता आसपास के समाज मे और सघ मे है। यही कारण है कि जैन सस्कृति का जितना अधिक झुकाव आध्यात्मिक साधना के प्रति है, उतना ही ग्राम-नगर और राष्ट्र के प्रति भी है। ग्राम-नगर और राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यो को जैन साहित्य मे धर्म[2] का रूप दिया है और भगवान् महावीर ने अपने धर्म प्रवचनो में ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म को बहुत ऊँचा स्थान दिया है। उन्होने आध्यात्मिक क्रिया-काण्ड प्रधान जैनधर्म की साधना का स्थान ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म के बाद ही रक्खा है, पहले नही। एक सभ्य नागरिक एव देशभक्त ही सच्चा जैन हो सकता है, दूसरा नही। उक्त विवेचन के विद्यमान रहते यह कैसे कहा जा सकता है कि जैनधर्म एकान्त निवृत्ति प्रधान है अथवा उसका एकमात्र उद्देश्य परलोक ही है, यह लोक नही।

जैन गृहस्थ जब प्रात काल उठता है तो वह तीन सकल्पो का चिंतन[3] करता है। उनमे सबसे पहिला यही सकल्प है कि मै अपने धन का जन-समाज की सेवा के लिए कब त्याग करूँगा। वह दिन धन्य होगा, जब मेरे सग्रह का उपयोग जन-समाज के लिए होगा, दीन-दुखितो के लिए होगा। भगवान महावीर का यह घोष हमारी निद्रा भग करने के लिए पर्याप्त है—"असविभागी न हु तस्स मोक्खो।"[4] अर्थात्—मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने सग्रह के उपभोग का अधिकारी केवल अपने आप को ही न समझे, प्रत्युत अपने आस-पास के साथियो को भी अपने बराबर का अधिकारी माने। जो मनुष्य अपने साधनो का स्वय ही उपभोग करता है, उसमें से दूसरो की सेवा के लिए कुछ भी अर्पण नही करना चाहता है, उसको कभी भी मोक्ष प्राप्त नही हो सकता।"

जैन धर्म में माने गये मूल आठ कर्मो मे मोहनीय कर्म का स्थान बडा ही भयकर है। आत्मा का जितना अधिक पतन मोहनीय के द्वारा होता है, उतना और किसी कर्म से नही। मोहनीय के सबसे अन्तिम उग्ररूप को महामोहनीय कहते है। उसके तीस भेदो में से पच्चीसवाँ भेद यह है[5]—यदि आपका साथी बीमार है या किसी और सकट मे पडा हुआ है, आप उसकी सहायता या सेवा करने मे समर्थ है, फिर भी सेवा न करें और यह विचार करे कि इसने कभी मेरा काम तो किया नही, मै ही इसका काम क्यो करूँ ? कष्ट पाता है तो पाये अपनी बला से, मुझे क्या ?" भगवान महावीर ने अपने चम्पापुर के धर्म प्रवचन में स्पष्ट ही यह कहा है—"जो मनुष्य इस प्रकार अपने कर्त्तव्य के प्रति उदासीन होता है, वह धर्म से सर्वथा पतित हो जाता है। उक्त पाप के कारण वह सत्तर कोटाकोटि सागर तक चिरकाल जन्म-मरण के चक्र मे उलझा रहेगा, सत्य के प्रति अभिमुख न हो सकेगा।"

---

[1] परस्परो पग्रहो जीवानाम्—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र।

[2] स्थानाग सूत्र, दशमस्थान।

[3] स्थानाग सूत्र, ३, ४, २१

[4] दशवैकालिक सूत्र, ६, २, २३

[5] दशाश्रुत स्कन्ध—नवम दशा।

गृहस्थ ही नही, साधु-समाज को भी इस सिद्धान्त का बडी कठोरता से पालन करना पडता है। भगवान महावीर ने कहा है—"यदि कोई साधू अपने बीमार या सकटापन्न साथी को छोड कर तपश्चरण करने लग जाता है, शास्त्र-चिंतन में सलग्न हो जाता है या और किसी अपनी व्यक्तिगत साधना में लग जाता है तो वह अपराधी है, सघ मे रहने योग्य नही है। उसे एक सौ बीस उपवासो का प्रायश्चित लेना पडेगा, अन्यथा उसकी शुद्धि नही हो सकती।" इतना ही नही, एक गाँव मे साथी साधू बीमार पडा हो और दूसरा साधू जानता हुआ भी गाँव से बाहर-ही-बाहर दूसरे गाँव में चला जाय, रोगी की सेवा के लिए गाँव में न जाय तो वह भी महान पापी है[1], उग्रदण्ड का अधिकारी है। भगवान महावीर का कहना है कि सेवा स्वय बडा भारी तप है।[2] अत जब भी कभी सेवा करने का अवसर मिले तो नही छोडना चाहिए। सच्चा जैन वह है, जो सेवा करने के लिए सदा आर्तों की, दीन-दु खितो की, पतितो एव दलितो की खोज में रहता है।[3]

'स्थानाग-सूत्र' में भगवान महावीर की आठ महान् शिक्षाएँ बडी प्रसिद्ध है। उसमे पाँचवी शिक्षा यह है— **"असगिहीय परिजणस्स सगिण्हयाए अब्भुट्ठेयव्व भवइ।"**[4] अर्थात्—जो अनाश्रित है, निराधार है, कही भी जीवन-यापन के लिए उचित स्थान नही पा रहा है, उसे तुम आश्रय दो, सहारा दो, जीवन-यात्रा के लिए यथोचित प्रवन्ध करो। जैन गृहस्थ का द्वार प्रत्येक असहाय के लिए खुला हुआ है।[5] वहाँ किसी जाति, कुल, देश या धर्म के भेद के विना मानवमात्र के लिए जगह है।

एक बात और भी बडे महत्त्व की है। इस बात ने तो सेवा का स्थान बहुत ही ऊँचा कर दिया है। जैन धर्म में सबसे बडा और ऊँचा पद तीर्थंकर का माना गया है। तीर्थंकर होने का अर्थ यह है कि वह जैन-समाज का पूजनीय महापुरुष देव बन जाता है। भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर दोनो तीर्थंकर है। भगवान महावीर ने अपने जीवन के अन्तिम प्रवचन में सेवा का महत्त्व बताते हुए कहा है—**"वेयावच्चेण तित्थयर नाम गोत्त कम्म निवघइ।"**[6] अर्थात्—वैयावृत्त करने से—सेवा करने से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है। साधारण जन-समाज मे सेवा का आकर्षण पैदा करने के लिए भगवान महावीर का यह आदर्श प्रवचन कितना महान् है।

आचार्य लक्ष्मीवल्लभ ने भगवान महावीर और गौतम का एक सुन्दर सवाद हमारे सामने रक्खा है। सवाद मे भगवान महावीर ने दु खितो की सेवा को अपनी सेवा की अपेक्षा भी अधिक महत्त्व दिया है। सवाद का विस्तृत एव स्पष्ट रूप इस प्रकार है —

श्री इन्द्रभूति गौतम ने जो भगवान महावीर के सब से बडे गणधर थे, भगवान महावीर से पूछा—भगवन्! एक सज्जन दिन-रात आपकी सेवा करता है, आपकी पूजा-भक्ति करता है। फलत उसे दूसरे दु खितो की सेवा के लिए अवकाश नही। दूसरा सज्जन दु खितो की सेवा करता है, सहायता करता है, फलत उसे आपकी सेवा के लिए अवकाश नही। भन्ते! दोनो में से आपकी ओर से धन्यवाद का पात्र कौन है और दोनो में श्रेष्ठ कौन है?

भगवान महावीर ने बडे रहस्यभरे ढग से उत्तर दिया—गौतम! जो दीन दु खितो की सेवा करता है, वह श्रेष्ठ है। वही मेरे धन्यवाद का पात्र है।[7]

---

[1] निशीथ सूत्र।
[2] उत्तराध्ययन, तपोमार्ग अध्ययन।
[3] औपपातिक।
[4] स्थानाग सूत्र, ८, ६१
[5] भगवती सूत्र।
[6] उत्तराध्ययन २६, ४३
[7] उत्तराध्ययन, सर्वार्थसिद्धि, परिषह अध्ययन।

गौतम विचार मे पड गये कि यह क्या ? भगवान की सेवा के सामने अपने ही दुष्कर्मो से दु खित पापात्माओ की सेवा का क्या महत्त्व ? धन्यवाद तो भगवान के सेवक को मिलना चाहिए। गौतम ने जिज्ञासाभरे स्वर से पूछा—भन्ते ! यह कैसे ? दु खितो की सेवा की अपेक्षा तो आपकी सेवा का अधिक महत्व होना चाहिए ? कहाँ सर्वथा पवित्रात्मा आप भगवान् और कहाँ वे पामर प्राणी !

भगवान ने उत्तर दिया—मेरी सेवा, मेरी आज्ञा के पालन करने में ही तो है ! इसके अतिरिक्त अपनी व्यक्तिगत सेवा के लिए तो मेरे पास कोई स्थान ही नही है। मेरी सबसे बडी आज्ञा यही है कि दु खित जन-समाज की सेवा की जाय, उसे सुख-शान्ति पहुँचाई जाय। अत दु खितो की सेवा करने वाला मेरी आज्ञा का पालक है। गौतम ! इसलिए मै कहता हूँ कि दु खितो की सेवा करने वाला ही धन्य है, श्रेष्ठ है, मेरी सेवा करने वाला नही। मेरा सेवक सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्तिगत मोह में अधिक फँसा हुआ है।

यह आदर्श है नरसेवा में नारायण सेवा का, जन-सेवा में भगवान की सेवा का। जैन सस्कृति के अन्तिम प्रकाशमान सूर्य भगवान महावीर हैं। उनका यह प्रवचन सेवा के महत्त्व के लिए सबसे बडा ज्वलन्त प्रमाण है।

भगवान महावीर दीक्षित होना चाहते हैं, किन्तु अपनी सपत्ति का गरीब प्रजा के हित के लिए उपयोग करते हैं और एक वर्ष तक मुनि-दीक्षा लेने के विचार को लबा करते हैं। एक वर्ष में अरबो की सपत्ति जन-सेवा के लिए अर्पित कर देते है और मानव-जाति की आध्यात्मिक उन्नति करने से पहिले उसकी भौतिक उन्नति करने मे सलग्न रहते हैं।[1] दीक्षा लेने के पश्चात् भी उनके हृदय में दया का असीम प्रवाह तरगित रहता है। फलस्वरूप एक गरीब ब्राह्मण के दु ख से दयार्द्र हो उठते हैं और उसे अपना एकमात्र आवरण वस्त्र भी दे डालते हैं।[2]

जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त भी सेवा के क्षेत्र में पीछे नही रहे है। उनके प्रजाहित के कार्य सर्वत सुप्रसिद्ध हैं। सम्राट् सप्रति की सेवा भी कुछ कम नही है। जैन इतिहास का साधारण-से-साधारण विद्यार्थी भी जान सकता है कि सम्राट् के हृदय में जनसेवा की भावना किस प्रकार कूट-कूट कर भरी हुई थी और किस प्रकार उन्होने उसे कार्य रूप में परिणत कर जैन सस्कृति के गौरव की रक्षा की। महाराजा कलिग, चक्रवर्ती खारवेल और गुर्जर नरेश कुमारपाल भी सेवा के क्षेत्र में जैन सस्कृति की मर्यादा को बराबर सुरक्षित रखते रहे हैं। मध्यकाल में जगडूशाह, पेथड और भामाशाह जैसे धनकुबेर जन-समाज के कल्याण के लिए अपने सर्वस्व की आहुति दे डालते है और स्वय कगाल हो जाते है।

जैन समाज ने जन-समाज की क्या सेवा की है। इसके लिए सुदूर इतिहास को अलग रहने दीजिये, केवल गुजरात, मारवाड, मेवाड या कर्नाटक आदि प्रान्तो का एक बार भ्रमण करिये, इधर उधर खडहरो के रूप में पडे हुए ईंट-पत्थरो पर नजर डालिये, पहाडो की चट्टानो के शिलालेख पढिये, जहाँ-तहाँ देहात में फैले हुए जन-प्रवाद सुनिये। आपको मालूम हो जायगा कि जैन सस्कृति क्या है ? उसके साथ जन-सेवा का कितना अधिक घनिष्ठ सबध है ? जहाँ तक मै समझ पाया हूँ, सस्कृति व्यक्ति की नही होती, समाज की होती है और समाज की सस्कृति का यह अर्थ है कि समाज अधिक-से-अधिक सेवा की भावना से ओत-प्रोत हो, उसमें द्वेष नही, प्रेम हो, द्वैत नही, अद्वैत हो, एक रग-ढग हो, एक रहन-सहन हो, एक परिवार हो। सस्कृति का यह विशाल आदर्श जैन सस्कृति में पूर्णतया घट रहा है। इसके लिए इसका गौरवपूर्ण उज्ज्वल भूतकाल पद-पद पर साक्षी है। मै आशा करता हूँ, आज का पिछडा हुआ जैन-समाज भी अपने महान् अतीत के गौरव की रक्षा करेगा और भारत की वर्त्तमान विकट परिस्थिति में बिना जाति, धर्म, कुल या देश के भेदभाव के दरिद्रनारायण मात्र की सेवा में अग्रणी भाग लेगा।

---

[1] आचाराग, महावीर जीवन।

[2] आचार्य हेमचन्द्र कृत महावीर चरित्र।

ज-सेवा

महात्मा भगवानदीन

प्रेमी जी का अभिनन्दन मैं उनकी मनलगती कह कर करूँ या अपनी मनलगती ? वे खरे प्रकाशक रह चुके है और औरो की मनलगती सुनने के अभ्यस्त है। उसको औरो तक पहुँचाने मे उन्हें आनन्द आता रहा है। इसलिए मैं अपनी मनलगती ही कहूँगा।

आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम—हस्तिनापुर) का सर्वेसर्वा होने पर भी अनेक वन्धनो में जकडे होने से मुझे अपनी जान से प्यारे ब्रह्मचारियो को वह सिखाना पडता था और सीखने देना पडता था, जिसे मैं जी से नही चाहता था। मेरे अध्यापकों में एक से ज्यादा ऐसे थे, जिन्हें मेरी तरह उस बात के सिखाने में दुख होता था, जिसे वे ठीक नही समझते थे। उस तकलीफ ने समाज-सेवा के सबध में मेरे मन में एक जवर्दस्त क्रान्ति पैदा कर दी और मुझे साफ-साफ दिखाई देने लगा कि समाज-सेवा और समाज-दासत्व दो अलग-अलग चीजे हैं। समाज-सेवा से समाज ऊँचा उठता और समाज-दासत्व से समाज का पतन होता है। आत्म-विकास, आत्म-प्रकाश, मौलिकता और नवसर्जन से समाज-सेवा होती है। लीक-लीक चलने से समाज की दासता हो सकती है, सेवा नही! व्यक्ति के सुख में ही समाज का सुख है, समाज के सुख में व्यक्ति का सुख नही और समाज का भी नही! आज जिस सुख को सुख मान कर समाज सुखी हो रहा है, वह सुख नही, सुखाभास है, सुख की छाया है, झूठा सुख है। सुख क्या है, वह कैसे मिलेगा, समाज सुखी कैसे होगा, यह जान लेना ही समाज-सेवा है। इसलिए उसी पर कुछ कह-सुन लू और इस नाते लिख कर भी थोडी समाज-सेवा कर लू।

खेती-युग मे दुख रहा तो रहा, मशीन-युग में क्यो ? खाने के लिए विस्कुट के कारखाने, पहनने के लिए कपडे की मिलें, सैर-सपाटे के लिए मोटर, रेलें, हवाई जहाज, वीमारी से वचने के लिए पेटेंट दवाएँ, बूढे से जवान बनन के लिए ग्लेड चिकित्सा, कानो के लिए रेडियो, आँखो के लिए सिनेमा, नाक के लिए सस्ते सेन्ट, जीभ के लिए चाकलेट, लाइमजूस, क्रीम, देह के लिए मुलायम गद्दे, यहाँ तक कि मन के लिए भी किसी बात का टोटा नही—गुदगुदाने वाली कहानियाँ, हँसाने वाले निवध, अचरज मे डालने वाली जासूसी कहानियाँ, रुलाने वाले उपन्यास, उभारने वाली वक्तृताएँ, सभी कुछ तो है।

रुपया ?—

रुपये का क्या टोटा! उन्तीस रुपये कुछ आने में एक लाख के रुपये वाले नोट तैयार हो जाते है और वे उन्तीस रुपये भी कागज के हो तो काम चल सकता है। सरकार बाजीगर की तरह घर-घर में अगर चाहे तो रुपयो का ढेर लगा सकती है। बाजीगर की हाथ की सफाई से सरकार की सफाई कई गुनी बढी-चढी है।

मतलव यह कि यह युग खपत से कही ज्यादा पैदावार का युग है, सुख की वाढ का युग है, चीजो की भर-मार का युग है, जी दुखाने का नही, आँसू बहाने का नही, रोने-चिल्लाने का नही।

है! फिर यह कौन रोता है ? क्यो रोता है ? किसलिए रोता है ? रोने का नाटक तो नही करता ? अगर सचमुच रोता है तो विस्कुट, कपडे और रुपयो की वाढ में डूब कर दम घुटने से ही रोता होगा!

सुख मोटा होकर ही काम का हो सके, यह नही, वह वढिया भी होना चाहिए। हलवा गालियो के साथ मीठा नही लगता। मुफ्त में पाये ओवरकोट से जाडा नही जाता, वे पैसे की सवारी में मजा नही आता, सुख का सुख भोगने की ताकत विदेशी राज्य ने रगड दी, विदेशी व्यापार ने पकड ली, विदेशी तालीम ने जकड दी, विदेशी वेश-भूषा से लजा गई और विदेशी बोली से मुरझा गई।

खाने का लुत्फ वनाने के तरीको पर निर्भर है, कपडे की खूवसूरती उसके काट में है, आमदनी का सुख इसमें है कि वह कैसे कमाई गई है।

पाँच वार खाकर, घटे-घटे वाद कपडे वदल कर, कई कमरे वाले मकान में रह कर, सुख नही मिलता। सुख के लिए ऐसा काम चाहिए, जिसके द्वारा मैं यह वता सकू कि मैं क्या हूँ ? जिनके लिए काम करूँ, वे माँ-वाप, वे सवधी भी चाहिए। मेरी मर्जी की तालीम न मिली तो सव सुख वेकार, मेरी मर्जी का समाज न मिला तो सव सुख भार।

इस वाढ-युग के मुकावले में पहले युग का नाम आप सूखा-युग रख लीजिए, पर उस युग में ये सव चीजें मिल जाती थी। आजकल कारखाने चीजें वनाने मे जुटे हैं। सरकार परमाणु वम वनाने में। सुख उपजाने की किसी को फुरसत नही। चीजो की भरमार से और एटम वम की दहाड से सुख की परछाई देखने को मिलेगी, सुख नही।

हलवाई की तविअत मिठाई से ऊव जाती है यानी उसे सुख की जगह दुख देने लगती है। रेल का गार्ड रेल की सवारी को आफत समझता है। खपत से उपज कुछ कम हो तो सुख मिले। खपत की वरावर हो तो हर्ज नही, पर खपत से ज्यादा हो तो दुख ही होगा।

डाक-वावू को यह पता नही कि उसके कितने वच्चे है, जहाज के कप्तान को यह पता नही कि उसके माँ-वाप भी है और उसका विवाह भी हो गया है, जुलाहे को पता नही कि वह तरह-तरह के वेल-वूटे भी बना सकता है। सुख जिसका नाम है वह कही रह ही नही गया। खाओ-पहिनो-दौडो। सुख से कोई सरोकार नही। फटफटिया की फट-फट, धुँआ-गाडी की भक-भक, हवाई जहाजो की खर-खर, मिलो की घर-घर। वाहर चैन कहाँ! पखे की सर-सर, टाइपराइटर की क्लिक-क्लिक, स्टोव की शू-शू, रेडियो की रूँ-रूँ, घर में आराम कहाँ! छव्वे होने चले थे, दुवे रह गये। सुख की खोज में गाँठ का सुख भी गँवा वैठे। वह मिलेगा, इसमें शक है।

सुख लोगो को आजकल कभी मिलता नही। इसलिए वे उसे भूल गये, अगर वह आये तो उसे पहचान भी नही सकते। भीतर का सुख और वाहर का सुख दोनो ही भूल गये।

सुख उस हालत का नाम है, जिसमें हम आजाद हो, कोई हमे हमारी मर्जी के खिलाफ न सताए, न भूखो मारे, न जाडा-गर्मी सहने को कहे। इतना ही नहीं, हमारी मर्जी के खिलाफ न हमे खिलाए, न पहिनाये, और न सैर कराये। सुख वीच की अवस्था में है, खीचतान में नही। मर्जी से किये सव कामो में सुख है—वर्फ में गलने में, आग मे जलने में, डूवने में और ऊवने में भी। वेवात की मेहनत में भी सुख नही। लगन और उद्देश्य विना किसी काम में सुख नहीं। सुख एक हालत तो है, पर है वह तन-मन-मस्तक तीनो की। भूखो मर कर सुख न मिलेगा और पाषाण हृदय होकर भी नहीं। पेट भरी वकरी भेडिये के पास वाँधने से दुवली हो जाती है तो राम भजन करने वाला सत भी भूखा रह कर दुवला हो जावेगा।

सुख की पहेली का एक ही हल है। धर्म से कमाए और मौज करे (धर्म अर्थ काम)। धर्म से कमाने का अर्थ है खपत के अनुसार पैदा करना। कमाने में मौज करने की योग्यता गँवा वैठना वुद्धिमानी नही है। इतना थकने से फायदा, कि खा भी न सको? थककर भूखे ही सो जाओ? पैसे से वेचैनी तो देह भी नही चाहती, पर यहाँ तो मन और मस्तक विक रहे हैं। तन-मन और मस्तक सभी विक गये तो सुख कौन भोगेगा?

विको मत, विकना गुलामी है। गुलामी में सुख कहाँ? दुख मे मीठा कडुवा हो जाता है। कपडा देह का भार हो जाता है। तमाशा काटने को दौडता है। सवारी खीचती नही, घसीटती-सी मालूम होती है।

वना वनाया खाने मे खाने भर का मजा। वना कर खाने में दो मजे—एक वनाने का और एक खाने का। मिलो में चीजें वनती हैं। तुम्हारे लिए नही वनती। घर मे चीजें वनती हैं। वे तुम्हारे लिए वनती हे। तुम्हारी रुचि का ध्यान रखकर वनाई जाती है। तुम्हारे स्वास्थ्य का भी ध्यान रक्खा जाता है। अपनी चीज़ अपने आप वनी कुछ और ही होती है।

सभी तो वनी-वनाई काम मे ला रहे हैं?

लाने दो, वे पास खडे सुख को पहिचानते ही नही । अपनायें कैसे । तुम पहिचान गये हो, अपनाओ । उसके अपनाने से सोना, स्वास्थ्य, सुख तीनो हाथ आयेंगे । सुख से सुख और उस सुख से और सुख मिलेगा । सुख तुम में से फूट कर निकलने लगेगा । धीरे-धीरे मव तुम्हारे रास्ते पर आ जायेंगे, उन्होने अव तक सुख देखा ही नही । अव देखने को मिलेगा तो फिर क्यो न अपनायेंगे ?

श्रम से सुख है, मेहनत में मौज है । श्रम विका सुख गया । मेहनत विकी, मौज गई । पैसा आया वह न खाया जाता है न पहिना जाता है । चीजे मोल लेते फिरो । भागे-भागे फिरो, जमीदार के पास, वजाज के पाम, वनिये के पाम, सिनेमाघरो में, स्कूलो मे । लो, खराव चीजे और दो दुगने दाम । कभी सस्ता रोता था वार-वार, आज अकरा रोता है हजार वार ।

सुख चाहते हो तो वडा न सही, छोटा सा ही घर वनाओ । चर्खा खरीदो, चाहे महँगा ही मिले । कर्घा लगाओ, चाहे घर की छोटो सी कोठरी भी घिर जाये । जरूरी औजार खरीदो, चाहे एक दिन भूखा मरना पडे । खेत जोतो—वोओ, चाहे खून पसीना एक हो जाये । गाय-घोडा रक्खो, चाहे रात को नीद न ले सको ।

विक्री की चीज न वनो । विगड जाओगे । अगर विकना ही है तो काम की उपज को विको । सुख पाओगे ।

खाने भर के लिए पैदा करो, थोडा ज्यादा हो जाय तो उसके वदले में उन्ही चीजो को लो, जो सचमुच तुम्हारे लिये जरूरी है और जिन्हें तुम पैदा करना नही जानते ।

कमाना और वेचना, कमाना और गँवाना है । कमाना और खाना, कमाना और सुख पाना है ।

काम के लिए काम करने में सुख कहाँ ? अपनो के लिए और अपने लिये काम करने मे सुख है । सुख की चीजे वनाने में सुख नही । अपने सुख की चीजे वनाने में सुख है । जव भी तुम पैसो से अपने को वेचते हो, अपनी भलमनसियत को भी साथ वेच देते हो । उसी के साथ सच्ची भली जिंदगी भी चली जाती है । मन और मस्तक सव विक जाते है । तुम न विकोगे, ये सव भी न विकेंगे । भलमन्सी की वुनियादी जरूरतें यानी कुटिया, जमीन, चर्खा, कर्घा वगैरह वनी रहेगी तो तुम भी वने रहोगे और सुख भी पाते रहोगे । सुख भलो के पास ही रहता है, वुरो के पास नही । जो वुरो के पास है वह सुख नही है, सुख की छाया है ।

गाडी में जुत कर वैल घास-दाना पा सकता है, कुछ मोटा भी हो सकता है, सुखी नही हो सकता । सुखी होने के लिए उसे घास-दाना जुटाना पडेगा, यानी निर्द्वन्द होकर जगल मे फिर कर घास खाना होगा । तुम पैसा कमा रोटी-कपडा जुटा लो, सुख-सन्तोप नही पा सकते । रोटी-कपडा कमाने से मिलेगा, पैसा कमाने से नही ।

रोटी न कमा कर पैसा कमाने मे एक और ऐव है । घर तीन-तेरह हो जाता है । घर जुटाने वाले माता-पिता और अविवाहित वच्चे अलग-अलग हो जाते है । वाप दफ्तर चल देता है और अगर माँ पढी-लिखी हुई तो वह स्कूल चल देती है, वालक घर में सनाथ होते हुए अनाथ हो जाते है । यह कोई घर है ? वासना के नाते जोडा झमेला है । वह वासना कुछ कुदरती तौर पर और कुछ दफ्तरो के वोझ से पिचपिचा कर ऐसी वेकार-सी रह गई है, जैसे वकरी के गले में लटकते हुए थन ।

घर को घर वनाने के लिए उसे कमाई की सस्था वनाना होगा । वह कोरी खपत की कोठरी न रह कर उपज का कारखाना वनेगी । आदमी मुँह से खाता है तो उसे हाथ से कमाना भी चाहिए । इसी तरह एक कुटुम्व को एक आदमी वन जाना चाहिए, कोई खेत जोत-वो रहा है, कोई कात रहा है, कोई वुन रहा है, कोई खाना वना रहा है, कोई मकान चिन रहा है, कोई कुछ, और कोई कुछ । इधर-उधर मारे-मारे फिरने से यह जीवन सच्चा सुख देने वाला होगा ।

आज भी गाँव शहर से ज्यादा सुखी है । वे अपना दूध पैदा कर लेते है, मक्खन वना लेते है, रुई उगा लेते है, सब्जी वो लेते है, अनाज तैयार कर लेते है और सवसे वडी वात तो यह कि घर को वीरान नही होने देते । शहर

वाले ये सब चीजें पैसे से खरीदते हैं, घर बारह बाट कर गले में गुलामी का तौक डाले सुबह-सुबह खरगोश की चाल जाते हैं और शाम को कछुए की चाल घिसटते-घिसटते घर आते हैं।

वृक्ष का अपना कोई सुख नही होता, जडो का नीचे तक जाना और खुराक खीचने के लिए काफी मजबूत होना, पीड का डालियो और पत्तों के बोझ को सभाले रखने के लिए काफी मोटा होना और रस ऊपर ले जाने के लिए पूरा योग्य होना, डालों का मुलायम होना और पत्तो का हरा-भरा होना इत्यादि ही पेड का सुख है। ठीक इसी तरह समाज का अपना कोई सुख नही। वह समाज सुखी है, जिसके बच्चे, जवान, बूढे, औरत-मर्द सुखी है, भरे-बदन है, हँसते चेहरे है, ऊँची पेशानी है, खातिरदारी के नमूने है, समझदारी के पुतले है, आदमी की शकल में फरिश्ते है। ऐसे ही मनुष्यो की जिन्दगी के लिए देवता तरसते है।

जिस्म बनाने के लिए खाना, कपडा और मकान चाहिए। जी हाँ, चाहिए, पर उन चीजो के जुटाने मे अगर आपने देह को थका मारा तो वे सुख न देकर आपको काटेगे, खसोटेगे, रुला देगे। मेहनत से आप ये चीजें जुटाइये, पर ऐसी मेहनत से, जिसमें लगकर आपका जिस्म फूल उठे, आपका मन उमग उठे, आपका जी लग सके, आपका दिमाग ताजगी पा सके, आपकी आत्मा चैन माने और जिस काम मे आप अपने को दिखा रहे हो कि आप क्या है, जिस काम मे आपका आत्म-विकास न हो, आपका आत्म-प्रकाश न हो, उसे कभी न करना। वह काम नही, बेगार है। बदले मे ढेरो रुपये मिले तो भी न करना। असल मे जी न लगने वाले कामो मे लगकर जी मर जाता है। मरे जी, मरी तबियतें सुख का आनन्द कैसे ले सकती है?

दोस्तो, समाज को सुखी बनाने के लिए अपना वक्त जाया न करो। वह सुखी न होगा। वह मशीन है। वह जानदार नही है। वह तुम सब का मिल कर एक नाम है। तुम अपने को सुखी बनाओ, वह सुखी है।

यह नही हो रहा।

जैसे बहुत खाने मे सुख नही होता, भूखो मरने से भी सुख नही मिलता, वैसे ही बहुत कमाने से सुख नही मिलता और न बिलकुल बेकार रहने मे। जो बेहद कमा रहे है, वे बिलकुल सुखी नही। वे असल में कमा ही नही रहे। उनके लिए और कमा रहे है और जो और कमा रहे है वे यो सुखी नही है कि वे अपने लिए नही कमा रहे। यो समाज में कोई सुखी नही है और इसी वजह से समाज मे कही पहाड और कही खाई बन गई है। समतल भूमि नाम को नही रही। समता मे सुख है। समता का नाम ही समाज है। अगर समता का नाम समाज नही है तो उस समता को पैदा करने के लिए ही उसका जन्म होता है। समता होने तक समाज चैन नही लेता। चैन पा भी नही सकता।

खाना, कपडा, मकान दुख पाये बिना मिल सकते है, जरूर मिल सकते है, बिला शक मिल सकते है और अगर नही मिल सकते तो सुख भी नही मिल सकता। फिर समाज का ढाचा बेकार। उसका पैदा होना बेसूद, उसकी हस्ती निकम्मी। अगर आराम की निहायत जरूरी चीजे जुटाने मे भी हमें अपने पर शक है तो सुख हमारे पास न फटकेगा। फिर तो हम मोहताज से भी गयेबीते है। फिर बच्चे के माने अनाथ। जवान के माने टुकरखोर, और बूढे के माने जीते-जी-मुर्दा।

साँस लेकर खून की खूराक हवा, हम हमेशा से खीचते आये है, खीच रहे है और खीचते रहेंगे। फिर हाथ-पाँव हिलाने से जिस्म की खूराक रोटी, कपडा, मकान क्यो न पायेगे? हम पाते तो रहे है, पर पा नहीं रहे है। कोशिश करने से पा सकते है और पाते रहेंगे। हवा हम खुद खीचते है, अनाज और कपास भी हम खुद उगायेंगे। मकान भी आप बनायेंगे।

हमने अब तक धन ढूढा, धन ही हाथ आया। अब सुख को खोज करेगे और उसे ढूँढ निकालेंगे।

जर, जमीन, जबर्दस्ती की मेहनत और जरा सख्त इन्तजामी से पैसा कमाया जाता है तो चार बीघे जमीन से चार घडी सुबह-शाम जुट जाने से, चर्खे जैसी मशीनो के बल से और चतुराई की चाँदनी जितनी चिनगारी से चैन और सुख भी पाया जा सकता है।

नये युग मे नये अर्थ-शास्त्र से काम चलेगा, पुराने से नही।

चार बीघे जमीन का दूसरा नाम है घर-बार। घर वह जिसमे हम रहते है। घरबार वह, जिसमें हम सुख से रहते हैं, यानी उसमें हम कमा-खा भी लेते है।

आदमी, भूचर थलचर प्राणी है। वह हवा में भले ही उड ले और सागर में भले ही तैर ले, पर जीता जमीन से है और मर कर उसी में मिल जाता है। वह जमीन से ही जियेगा और यह ही उसका जीने का तरीका ठीक माना जायगा। जमीन उसे जो चाहे करने देगी और जी चाहे जैसे रहने देगी। उसे हर तरह आज़ाद कर देगी। वह ज़मीन से हट कर ज़बर मे ज़ेर हो जायेगा। आज़ादी खोकर गुलामी बुला लेगा। आजादी के साथ सुख का अत हो जावेगा। दुख आ जुटेगा और वह देवता से कोरा चुपाया रह जायेगा।

जब हमारे पास ज़मीन थी हम सुखी थे और हमने वेद रच डाले। दशरथ और जनक हल चलाते थे, कौरव और पाडव खेत जोतते-बोते थे। वे आज भी जीवित है और हमें पाठ दे रहे है। सुख ज़मीन में है और वही से मिलेगा।

जिस दिन तुमने जमीन लेकर फावडा उठाया, उसी दिन तुम्हारा सुख तुम्हारे सामने हरी-हरी खेती बन कर लहराया और जिस दिन उसी खेती से लगी अपनी छोटी सी कुटिया मे बैठ कर चर्खा चलाते-चलाते तुमने वेद से भी ऊँची ज्ञान की तान छेडी कि सुख अप्सरा का रूप रख तुम्हारे सामने नाचने लगेगा। फिर किस सेठ की मजाल है जो तुमसे आकर कहे कि आओ, मेरी मिल मे काम करना या मेरी मिल के मैनेजर बनना। कौन राजनेता तुमको सिपाही बनाने या वज़ारत की कुर्सी पर बिठाने की सोचेगा? और कौन सेनापति तुमको फौज में भर्ती होने के लिए ललकारेगा? ये सब तो तुम्हारे सामने दुज़ानू हो (दडवत कर) सुख की भीख मागेगे। सच्चा गायक हुक्म पाकर राग नही छेडता, सच्चा चित्रकार रुपयो की खातिर चित्र नही बनाता। गायक गाता है, अपनी लहर में आकर। चित्रकार चित्र बनाता अपनी मौज मे आकर। ठीक इसी तरह तुम भी वह करो, जो तुम्हारा जी चाहे, जिसमें तुम खिल उठो, जिसमें तुम कुछ पैदा कर दिखाओ, जिसमे तुम कुछ बना कर दे जाओ। ऐसा करने पर सुख तुम्हारे सामने हाथ बाँधे खडा रहेगा।

आजकल 'मेहनत बचाओ', 'वक्त बचाओ' की आवाज़ चारो ओर से आ रही है। मेहनत बचाने वाली और वक्त बचाने वाली मशीने आयेदिन गढी जा रही है। परम पवित्र श्रम को कुत्ते की तरह दुर्दुराया जा रहा है। समय जिसकी हद नही, उसके कम हो जाने का भूत सवार है। एक ओर समय के निस्सीम होने पर व्याख्यान दिया जा रहा है और दूसरी ओर गाडी छूट जाने के डर से व्याख्यान अधूरा छोडकर भागा जा रहा है। यह क्या! एक ओर श्रम की महत्ता पर बडे-बडे भाषण हो रहे है, दूसरी ओर उसी से बच कर भागने की तरकीबे सोची जा रही है। खूब! काम के बारे में लोगो का कहना, है "काम करना पडता है, करना चाहिए नही।" उन्ही का खेल के बारे में कथन है, "खेलने को जी चाहता है, पर वक्त ही नही मिलता।" इन विचारो मे लोगो का क्या दोष? समाज का दोष है। हर एक से वह काम लिया जा रहा है, जिसे वह करना नही चाहता और वह भी इतना लिया जाता है कि उसे काम नाम मे नफरत हो जाती है। उसको सचमुच खेल में सुख मिलता-सा मालूम होता है।

काम में खेल की अपेक्षा हज़ार गुना सुख है, पर उस सुख को तो समाज ने मिलो को भेट चढा दिया। आदमी को मशीन बना दिया। मशीन सुख कैसे भोगे?

माली को, किसान को, कुम्हार को, चमार को, जुलाहे को, दरज़ी को, बढई को, मूर्तिकार को, चित्रकार को, उनकी प्यारी-प्यारी पत्नियाँ रोज़ खाना खाने के लिए खुशामद करती देखी जाती है। वे काम से हटाये नही हटते। कभी-कभी तो इतने तल्लीन पाये जाते है कि वे सच्चे जी से अपनी पत्नियो से कह बैठते है, "क्या सचमुच हमने अभी खाना नही खाया?" यह सुन उनकी सहधर्मिणी मुस्करा देती है और उनके हाथ से काम के औज़ार लेकर उन्हें प्यार से खाना खिलाने ले जाती है सुख यहाँ है। यह सुख दफ्तर के बाबू को कहाँ? मिल के मालिक को कहाँ? सिपाही को कहाँ? उनकी बीवियाँ तो बाट जोहते-जोहते थक जाती है। एक रोज़ नही, रोज़ यही होता है।

मुहब्बत इस वेहद इन्तज़ार की रगड से गरमा जाती है और आग की चिनगारियाँ उगलने लगती है। इसका दोष बीवी को न लगा कर समाज को ही लगाना चाहिए। कुम्हारिन, चमारिन वगैरह अपनी आँखो अपने पतियो को कुछ पैदा करते देखती है, कुछ बनाते देखती है, कुछ उगलते देखती है, कुछ उमगते देखती है, कुछ आनद पाते देखती है, पर सेठो की औरतें इन्तज़ार मे सिर्फ घटियाँ गिनती है और अगर देखती है तो यह देखती है कि उनके पति घिसटते-घिसटते चले आ रहे है, या पाँव के पहिये लुडकाते आ रहे है, या मोटर में बैठ ओघते आ रहे है। वे उनकी दया के पात्र रह जाते है, मुहब्बत के नही। कुम्हार का चेहरा काम के बाद चमकेगा, वज़ीर का मुरझावेगा। कुम्हार के जी में होगी कि थोडी देर और काम करता, वज़ीर के जी में होगी कि जरा जल्दी ही छुट्टी मिल जाती तो अच्छा होता। अदर होता है, वही बाहर चमकता है। जो चमकता है, उसी हिसाब से स्वागत मिलता है।

जिसे काम मे सुख नही, वही उसे खेल में ढूढेगा। वहाँ वह उसको मिल भी जायेगा। उसके लिये तो काम से बचना ही सुख है वह काम से तो किसी तरह बच जाता है, पर काम की चिंता से नही बच पाता। खेल मे भी जी से नही लग पाता। वहाँ से भी सुख के लिहाज़ से खाली हाथ ही लौटता है।

'काम के घटे कम करो'—यह शोर मच रहा है—और यह प्रलय के दिन तक मचता रहेगा। काम आठ घटे की बजाय आध घटे का भी कर दिया जाये तब भी सुख न मिलेगा। ऊपर नीचे हाथ किये जाने मे आध घटे में ही तबियत ऊब जायेगी। पाँच मिनट को भी मशीन बनने मे सुख नही। एक मिनट की गुलामी दिन भर का खून चूस लेती है। काम के घटे कम करने से काम न चलेगा। काम को बदलना होगा। काम अभी तक साधन बना हुआ है। उसे साधन और साध्य दोनो बनना होगा।

चार मील सर पर दूध रख, बाज़ार पहुँच, हलवाई को बेच और बदले मे रबडी खाने मे वह सुख नही है, जो घर पर उसी दूध की रबडी बना कर खाने मे है। साधन को साध्य में बदलते ही सुख मिल सकेगा और वही सच्चा सुख होगा।

बिना समझे-सोचे पहिया घुमाये जाना, हथौडा चलाये जाना, तार काटे जाना, कागज़ उठाये जाना, उजड्डपन या पागलपन के काम है। इनको मिल-मालिक भला और समझदारी का काम बताते है और नाज, तरकारी और फल उगाने के शानदार काम को बेअक्ली और नासमझी का बताते है। खूब ! किया उन्होने दोनो मे से एक नही।

पेट भरने के लिए मेहनत की जाती है। यह सच है, पर इसमे एक-चौथाई सचाई है। तीन-चौथाई सचाई इसमें है कि हम मेहनत इसलिए करते है कि हम जीते रहें और आनन्द के साथ जिन्दगी बिता सकें और गुलामी का गलीज धब्बा अपनी ज़िन्दगी की चादर पर न लगने दें। हम पेट भरने के लिए हलवा बनाये, यह ठीक है, पर हम ही उसको खायें-खिलावें, यह सवा ठीक है, और हम ही उसके बनाने का आनन्द ले, यह डेढ ठीक है। मेहनत हमारी, उपज हमारी, तजुरबा हमारा। तब सच्चा सुख भी हमारा।

जानवर रस्सी से बधता है, यानी जगह से बधता है। शेर भी माँद मे रह कर जगह से बधता है। और आदमी ? वह घर मे रह कर जगह से बधता है और दस बजे दफ्तर जाकर वक्त से बँधता है। वाह रे प्राणी श्रेष्ठ ! चिडिया फुदकती फिरती है और खाती फिरती है। उसे ९-१०-११ बजने से कोई सरोकार नही। आदमी के अद्धे, पौने बजते है, मिनटो का हिसाब रक्खा जाता है। सिकडो की कीमत आँकी जाती है और कहा यह जाता है कि उसने जगह (Space) और वक्त (Time) दोनो पर काबू पा लिया है। हमे तो ऐसा जँचता है कि वह दोनो के काबू मे आ गया है।

और लीजिये। हमें बाप-दादो की इज्ज़त रखना है और नाती-पोतो के लिए धन छोड जाना है, यानी स्वर्गवासियो को सुख पहुँचाना है और उनको जिन्होने अभी जन्म भी नही लिया। तब हम बीच वालो को सुख कैसे मिल सकता है ?

अगले-पिछलो को भूल जाना, जानवर बनना नही है, सच्चा आदमी बनना है। हमारे सुखी रहने मे, हमारे पिछले सुखी और हमारे अगले सुखी। सुखी ही सुखी सन्तान छोड जाते है और सुखी देख कर ही स्वर्गीय सुखी होते है। वेमतलब की मेहनत मे समय खर्च करना गुनाह है। वक्त पूजी है। उसे काम में खर्च करना चाहिए और ऐसे काम में जो अपने काम का हो।

सुख भोगने की ताकत को ज़ाया करने वाले कामो मे लगा कर जो वक्त जाता है, उस कमी को न गाना पूरा कर सकता है, न खेल, न बजाना पूरा कर सकता है, न तमाशा और न कोई और चीज़।

कपडा खतम कर धब्बा छुडाना, धब्बा छुडाना नही कहलाता। ठीक इसी तरह आदमी को निकाल कर वक्त बचाना, वक्त बचाना नही हो सकता। मिलें यही कर रही है। सौ आदमी की जगह दस और दस की जगह एक से काम लेकर निन्यानवे को वेकार कर रही है। काम में लगे एक को भी सुख से वचित कर रही है। यो सौ के सौ का सुख हडप करती जा रही है।

मिल और मशीन एक चीज़ नही। मिल आदमी के सुख को खाती है और मशीन आदमी को सुख पहुँचाती है। मशीन सुख से जनमी है, मिल शरारत से। चर्खा मशीन है, कोल्हू मशीन है, चाक मशीन है, सीने की मशीन मशीन है। मशीनें घर को आवाद करती है, मिलें वरवाद करती है। मशीन कुछ सिखाती है, मिल कुछ भुलाती है। मशीन सेवा करती है, मिल सेवा लेती है। मशीन पैदा करती है, मिल पैदा करवाती है। मशीन समाज का ढाँचा बनाती है, मिल उसी को ढाती है। मशीन चरित्र बनाती है, मिल उसको धूल मे मिलाती है। मशीन गाती है, मिल चिल्लाती है। मशीन धर्मपत्नी की तरह घर में आकर बसती है, मिलें वेश्या की तरह अपने घर बुलाती है और खून चूस कर निकाल वाहर करती है। मशीन चलाने में मन हिलोरें लेता है, मिल में काम करने में मन चकराने लगता है, जी घवराने लगता है। मशीनें पुरानी है। हमसे हिलमिल गई है। मिलें नई है और कर्कश स्वभाव की है। मशीनें हमारे कहने मे रहती है, मिले हमारी एक नही सुनती। मतलब यह कि मशीन और मिल का कोई मुकावला नही। एक देवी, दूसरी राक्षसी है।

मशीनो की पैदावार का ठीक-ठीक बटवारा होता है। मिलो का न होता है, और न हो सकता है और अगर मार-पीट कर ठीक कर दिया जाय तो तरह-तरह की दुर्गंध फैलेगी, वेकारी फैलेगी, वदकारी फैलेगी, बीमारी फैलेगी और न जाने क्या-क्या।

मशीन पर लगाया हुआ पैसा घी-दूध में वदल जाता है, मिलो पर लगाया हुआ पैसा लाठी, तलवार, वदूक, वम वन जाता है।

एक का सुख जिसमें है, सवका सुख उसमें है। एक को भुला कर सव के सुख की सोचना सव के दुख की सोचना है। मिले सैकडो का जी दुखा कर शायद ही किसी एक को झूठा सुख दे सकती हो। झूठा सुख यो कि वे मुफ्त का रुपया देती है और काफी से ज्यादा धन से ऊवा देती है। ऊवने में सुख कहाँ?

ऊपर वताये तरीको से सुख मिल सकता है, पर उस सुख को वुद्धि के जरिये वहुत वढाया जा सकता है। ज्ञान वाहिरी आराम को अन्दर ले जाकर कोने-कोने में पहुँचा देता है। अनुभव, विद्या, हिम्मत वगैरह से ज्ञान कुछ ऊँची चीज है। वही अपनी चीज़ है। और चीज़े उससे वहुत नीची है। ज्ञानी आत्म-सुख खोकर जिस्मानी आराम नही चाहेगा। भेडिये की तरह कुत्ते के पट्टे पर उसकी नजर फौरन पहुँचती है। उसको यह पता रहता है कि आदमी को कहाँ, किस तरह, किस रास्ते पहुँचना है। जो यह नही जानता वह आदमियत को नही जानता और फिर वह आदमी कैसा? समझ में नहीं आता, दुनिया धन कमाने मे धीरज खोकर अपने को धी-मान कैसे जाने हुए है! वह धन की धुन मे पागल वनी हुई है और उसी पागलपन का नाम उसने वुद्धिमानी रख छोडा है। खूव! उसने सारे सन्त-महन्तो को महलो में ला विठाया है, गदी गलियो मे मदिर वना कर न जाने वे उनको क्या सिद्ध करना चाहते है! ज्ञान मे दुनिया इतनी दूर हट गई है कि उसके हमेशा साथ रहने वाला सुख उसकी पहचान में नही आता। सुख का

रूप वनाये असन्तोप उसे लुभाये फिरता है और घुमाये फिरता है। हिरन की तरह लू की लपटो को पानी मान कर दुनिया उसके पीछे-पीछे दौडी चली जा रही है। तुम बुद्धिमानी के साथ सुख कमाने में लगो। उसे असतोष के पीछे दौडने दो।

कितना ही मूरख क्यो न हो, 'क्यों' और 'कैसे' को अपनाने से बुद्धिमान वन सकता है। अनुभव मे वडी पाठशाला और कौन हो सकती है ? हाँ, दुनिया की लीक छोड कर अपने रास्ते थोडी देर भटक कर ही सीधा रास्ता मिलेगा। ध्यान रहे, आदमी को लीक-लीक चलने मे कम-से-कम बुद्धि लगानी पडती है, पर वह लीक सुखपुरी को नही जाती। वह लीक असतोप नगर को जाती है। उस ओर जाने की उसे पीढियो से आदत पडी है। दूसरे रास्ते में ज्यादा-से-ज्यादा बुद्धि लगानी पडती है, ज्यादा-से-ज्यादा ज़ोर लगाना पडता है, वहाँ कोई पग-डडी वनी हुई नही है। हर एक को अपनी वनानी पडती है। हाँ, उस रास्ते चल कर जल्दी ही ज्ञान-नगर दीखने लगता है और फिर हिम्मत वँध जाती है। कम ही लोग आदत छोड उस रास्ते पर पडते हैं, पर पडते ज़रूर है। जो पडते है, वे ही ज्ञान-नगर पहुँचते है और उसके चिर-सायी सुख को पाते है।

सुख चाहते सव हैं। वहुत पा भी जाते है, पर थोडे ही उसे भोग पाते है। सुख ज्ञान के विना भोगा नहीं जा सकता। असतोष नगर की ओर जो वहुत वढ चुके हैं वे सुन कर भी नही सुनते और जान कर भी नही जानते। उन्हें भेद भी कैसे वताया जाय, क्योकि वे भेद जानने की इच्छा ही नही रखते। भगवान बुद्ध पर उसका राजा वाप तरस खा सकता था, पाँव छू सकता था, वढिया माल खिला सकता था, पर भेद पूछने की उसे कव सूझ सकती थी। सेठ को स्वप्न भी आयेगा तो यह आयेगा कि अमुक साधु विना कुटी का है। उसकी कुटी वना दी जाय। उसे स्वप्न यह नहीं आ सकता कि वह साधु सुख का भेद जानता है और वह भेद उससे पूछा जाय।

ज्ञानी कहलाने वाले लोग वाज़ार की चीज़ वने हुए हैं। अखवार उठाओ और जी चाहे जितने मँगा लो। जो वाज़ार की चीज वनता है, वह ज्ञानी नही हैं! वह क्या है, यह पूछना वेकार है और वताना भी वेकार है।

पैदा हुए, वढे, समझ आई, दुख-सुख भोगा, वच्चे पैदा किये, वूढे हुए और मर गये। यह है जिन्दगी। एक के लिये और सव के लिये। इसमें सुख कहाँ ? सुखी वह है, जिसने यह समझ लिया कि कैसे जीयें ? क्यो जीयें ? पर यह कौन सोचता है ? और किसे ठीक जवाव मिलता है ? मुसलमान के लिये यह वात क़ुरानशरीफ सोच देता है और हिन्दू के लिये वेद भगवान। फिर लोग क्यो सोचें ? कभी कोई सोचने वाला पैदा हो जाता है, पर उसका सोचा उसके काम का। तुम्हारे किस काम का। वह तुमको सोचने की कहता है। तुम उसका सोचा अपने ऊपर थोप लेते हो। थोपने से तुम्हारा अपना ज्ञान थुप जाता है। सोचने की ताकत जाती रहती है। इस तरह दुनिया वही-की-वही वनी रहती है। पुजारी पूजा करता रहता है, सिपाही लडता रहता है, सेठ पैसा कमाता रहता है, नाई-धोवी सेवा करता रहता है। सोचने का रास्ता वद हो जाता है, रूढि रोग रुके-का-रुका रह जाता है। रूढि रोग से अच्छा होना चमत्कार ही समझना चाहिये। रूढियो मे खोट निकालने लगना और भी वडा चमत्कार है और उन्हें सुख के रास्ते के काँटे वता देना सवसे वडा चमत्कार है। जिन्दगी की अलिफ-वे-ते, यानी आ-ई, यही से शुरू होती है।

धर्म भले ही किसी बुद्धिमान की सूझ हो, पर हिन्दू जाति, मुसलमान जाति, ईसाई जाति, जैन जाति, सिख जाति, किसी समझदार की सूझ नही है। यह आप उगने वाली घास की तरह उठ खडी हुई हैं। इनकी खाद है—कायरता, जगलीपन, उल्टी-सीधी वातें, उजड्डपन, दव्वूपन वगैरह। आलस के पानी से यह खूव फलती-फूलती है।

रिवाजो की जड में, फिर वे चाहे कैसे ही हो, मूर्खता और डर के सिवाय कुछ न मिलेगा। जव किसी को इस वात का पता चल जाता है तो वह उस रिवाज को फौरन तोड डालता है और अपनी समझ से काम लेने लगता है।

आज ही नही, सदा से ज्ञान पर शक (संदेह) होता आया है। कुछ धर्म पुस्तक तो उसको शैतान की चीज़ मानती हैं। जो धर्मपुस्तक ऐसा नही वताती उसके अनुयायी ज्ञान की खिल्ली उडाते है और खुले कहते है कि ज्ञानी दुराचारी हो सकता है और अज्ञानी भला, पर याद रहे सुखी जीवन ज्ञानी ही विता सकता है, अज्ञानी कदापि नही।

ज्ञानी वेगुनाह हो सकता है, भला नही। भला बनने के लिये अक्ल चाहिये। वह अज्ञानी के पास कहाँ ? ईंट, पत्थर निष्पाप हैं, मदिर के भगवान भी निष्पाप है, पर वे कुछ भलाई नही कर सकते।

सब एक बराबर ज्ञान लेकर नही पैदा होते। हीरा भी पत्थर है और सगमरमर भी पत्थर, पर सगमरमर घिसने पर हीरा जैसा नही चमक सकता। पढने-लिखने से समझ नही बढती। हाँ, पहिले से ही समझ होती है तो पढने-लिखने से चमक उठती है। यो सैकडो पढे-लिखे रूढियो मे फँस जाते है, वे दया के पात्र हैं। और क्या कहा जाय ?

आजकल की दुनिया अक्षर और अको की हो रही है, यानी बी० ए० एम० ओ० की या लखपतियो-करोडपतियो की, समझदारो की नही। वह सुखी जीवन में और जीवन सुख के साधनो में कोई अन्तर करना ही नही जानती। दुनिया मे समझदार नही, ऐसी बात नही है। वे है, और काफी तादाद में है, पर वे भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और विदुर आदि की तरह अक्षरो और अको को विक गये हैं। जो दो-एक बचे है, वे सस्थाएँ खोल कर अपने जाल मे आप फँस गये हैं और उन्ही के यानी अक्षरो और अको में हो गये है। अपनी औलाद की खातिर और मनुष्य-समाज की खातिर वे उस गुलामी से निकले तो दुनिया बदले और दुनिया सुखी हो। याद रहे, दुनिया समझदारो की नकल करती है, अक्षरो और अको की नही। हमेशा से ऐसा होता आया है और होता रहेगा।

दुनिया असच की ओर दौडी चली जा रही है। कोशिश करने से विलकुल सम्भव है कि वह सच की ओर चल पडे।

दुनिया बुराई मे फँस रही है। जोर लगाने से निकल सकती है और भलाई मे लग सकती है।

दुनिया दिन-पर-दिन भौंडी होती जा रही है। कोशिश करने से शायद सुगढ हो जाय।

सत्य, शिव, सुन्दर के लिये भी क्या दासता न छोडेगी ?

पैसा रोके हुये है।

समझदारो को वह कैसे रोकेगा ? वे ऐसी अर्थनीति गढ सकते है, जिससे उन्हे मनचाहा काम मिलने लगे और पराधीन भी न रहें। रोटी-कपडे ही से तो काम नही चलता। आत्मानद भी तो चाहिए। विना उस आनद के सुख के साधनो में डूव कर भी सुख न पा सकोगे।

समाज की सेवा इसी मे है कि वर्तमान अर्थनीति का जाल तोड डाला जाय। ज्ञानियो को नाक रगडना छोडना ही होगा और इस जिम्मेदारी को ओढना ही होगा। इस विष के घडे को फोडना ही होगा। अपने को बचाना अपनी सन्तान को बचाना है। मनुष्य-समाज को बचाना है। वह कुरूपी दुनिया तुम्हारे हाथो ही सुखिया बन सकती है। और किसी के बूते सुखिया न बनेगी।

पैसा ठीकरा है। वह तुम्हें क्यो रोके ?

पापी पेट रोक रहा है।

पापी पेट ने समझदारो को कभी नही रोका। उनका जिस्म कमजोर नही होता। वे भूख लगने पर खाते है। वे काम करते है और खेलते जाते हैं। वे थोडा खाते है और बहुत बार नही खाते। वे धीरे-धीरे खाते है। वे कुदरती चीजे खाते हैं। जरूरत पडने पर हाथ की बनी भी खा लेते है। वे घर पर खाते है। वे बीमार क्यो होगे और क्यो कमजोर ?

जिस्म तुम्हारा घोडा है। वह तुम्हें क्यो रोकेगा। वह तो तुम्हें आगे, और आगे, ले चलने के लिये तैयार खडा है।

समाज रोक रहा है।

वह क्या रोकेगा ? वह घास की तरह उग खडा हुआ जजाल है। वह सूख चुका है। उसमें अब दम कहाँ ? उसमें रिवाजो के वट है सही, पर वे जली रस्सी की तरह देखने भर के है। अँगुली लगाते विखर जायेंगे।

समाज समझदारो को अपने रास्ते जाने देता है।

धर्म रोकता है।

धर्म आगे ढकेला करता है, रोका नही करता और अगर वह रोकता है तो धर्म नही है। धर्म के रूप मे कोई रूढि या रिवाज है। जो रोकता है, वह धर्म नहीं होता। वह होता है 'धर्म का डर'। धर्म खुद तोडखानी चीज़ नही। वह तो बडी लुभावनी चीज़ है, पर धर्म के नाम पर चली रस्में बेहद डरावनी होती है। अगर डराती है तो वे। अगर रोकती है तो वे। उस डर को भगाने में समझ बडी मददगार साबित होगी।

डर हम में है नही। वह हम में पैदा हो जाता है या पैदा करा दिया जाता है। जो डर हम मे है, वह बडे काम की चीज़ है। वह इतना ही है जितना जानवरो मे। जिन कारणो से जानवर डरते है, उन्ही कारणो से हम भी। उतना डर तो हमे खतरे मे बचाता है और खतरे को बरबाद करने की ताकत देता है। अचानक बदूक की आवाज़ से हम आज तक उछल पडते है। हमारी हमेशा की जानी-पहचानी बिजली की चमक हमको आज भी डरा देती है। इतना डर तो काम की चीज़ है, पर जब हम भूत-प्रेत से डरने लगें, नास्तिकता से डरने लगें, नर्क से डरने लगे, मौत से डरने लगे, प्रलय से डरने लगे, तब समझना चाहिये कि हमारा डर बीमारी मे बदल गया। उसके इलाज की जरूरत है। तिल्ली और जिगर तो काम की चीजें है, पर बडी तिल्ली और बडा जिगर बीमारियाँ है। बडा डर भी बीमारी है। मामूली डर हमारी हिफाज़त करता है, बढा हुआ डर हमारा खून चूसता है। हमें मिट्टी मे मिला देता है। मिट्टी में मिलने से पहिले हम उसे ही क्यो न मिट्टी मे मिला दें। भूत-प्रेत आदि है नही। हमने खयाल से बना लिये है। जैसे हम अँधेरे मे रोज़ ही तरह-तरह की शकलें बना लेते है।

डरपोक को धर्म हिम्मत देता है, तसल्ली देता है, बच भागने को गली निकाल देता है। जिन्हें अपने आप सोचना नही आता, धर्म उनके बडे काम की चीज़ है। सोचने वाले ना-समझदारो के लिए ही तो सोच कर रख गये है। सोचने समझने वालो के लिये धर्म जाल है, धोका है, छल है। धर्म आये दिन की गुत्थियो को नही सुलझा सकता, कभी-कभी और उलझा देता है। धर्म टाल-मटोल का अभ्यस्त है और टालमटोल मे नई उलझनें खडा कर देता है।

सुखी बनने और समाज को सुखी बनाने के लिये यह बिलकुल ज़रूरी है कि हमारे लिये औरो के सोचे धर्म को हम अपने मे से निकाल बाहर करें—उसकी रस्में, उसकी आदतें, उसकी छूत-छात, उसका नर्क-स्वर्ग, उसकी तिलक छाप, उसकी दाढी-चोटी उसका धोती-पाजामा, एक न बचने दें। सचाई, भलाई और सुन्दरता की खोज में इन सब को लेकर एक कदम भी आगे नही बढा जा सकता।

माँ बच्चे के लिये हौवा गढती है। बच्चा डरता है। माँ नही डरती। माँ क्यो डरे। वह तो उसका गढा हुआ है। महापुरुष एक ऐसी ही चीज हमारे लिये गढ जाते है। हम डरते है, वे नही डरते। जो दिखाई-सुनाई नही देता, सो समझ में नही आता, जो सब कही और कही नही बताया जाता, ऐसे एक का डर हम में बिठा दिया जाता है। धर्म साधारण ज्ञान और विज्ञान की तरह सवाल-पर-सवाल पैदा करने में काफी होशियार है, पर जवाब देने या हल सोच निकालने मे बहुत ही कम होशियार। वह होनी बातो को छोड अनहोनी मे जा दाखिल होता है। धर्म की इस आदत से आम आदमियो को बडे टोटे में रहना पडता है। वे जाने अनजाने अपनी अजानकारी को कबूल करना छोड बैठते है। इस ज़रा-सी, पर बडी भूल से आगे की तरक्की रुक जाती है। समझदार अपनी अजानकारी जानता भी है और औरो को भी कह देता है। समझदारी की बढवारी में अजानकारी भी बढती है, पर इससे समझदार घबराता नही। खोज मे निकला आदमी बीहड जगलो से घबराये तो आगे कैसे बढे? समझदार अपने मन में उठे सवालो का काम-चलाऊ जवाब सोच लेता है, वे जवाब काम-चलाऊ ही होते है, पक्के नही। पक्केपन की मोहर तो वह उन पर तब लगाता है जब वे तजुरबे की कसौटी पर ठीक उतरते है।

जो जितना ज्यादा रूढिवादी होगा, वह उतना ही ज्यादा धर्मात्मा होगा, उतना ही ज्यादा अजानकार होगा, उतना ही ज्यादा उसे अपनी जानकारी पर भरोसा होगा। वह स्वर्ग को ऐसे बतायेगा, मानो वह अभी वहाँ से होकर आ रहा है। वह ईश्वर को ऐसे समझायेगा, मानो वह उसे ऐसे देख रहा है, जैसे हम उसे।

नासमझी से समझदारी की तरफ चलने का पहला कदम है 'शका करना'। शका करना ही समझना है, अपनी नासमझी की गहराई शका के फीते से नापी जाती है। यह नापना ही समझदारी है। 'ईश्वर है' यह कह कर सचाई की खोज से भागना है। अपनी नासमझी से इन्कार करना है।

कितना सच्चा और कितना समझदार था वह, जो मरते दम तक यही कहता रहा, "यह भी ईश्वर नही," "यह भी ईश्वर नही", "यह भी ईश्वर नही" (नेति, नेति, नेति) उसकी तरह तुम भी खोज मे मिटा दो अपने आपको, पर अजानकारी को मत छिपाओ। 'मै नही जानता' कहना जिसको नही आता, वह सच्चा नही वन सकता। समाज-सेवक तो वन ही नही सकता।

आस्तिकता के लिये अपनी वोली मे लफ्ज है 'हैपन।'[१] जो यह कहता है कि मुझमें अजानकारी है, वही आस्तिक है। जो यह कहता है, "मैं नही जानता कि ईश्वर है" वही आस्तिक है। जो यह नही जानता, "ईश्वर है" और कहता है कि "ईश्वर है" वह नास्तिक है।

क्यो ?

"जो नही जानता कि ईश्वर है" यह वाक्य यो भी कहा जा सकता है कि जो जानता है कि ईश्वर नही है। "नही है"—यही नास्तिकता है।

मन की ज़मीन में वेजा-डर का जितना ज्यादा खाद होगा, धर्म का वीज उतनी ही जल्दी उसमें जड पकडेगा और फले-फूलेगा ?

महा-सत्ता यानी वडी ताकत से चाहे हम इन्कार न भी करें, पर वडी शखसियत से तो इन्कार कर ही सकते है। व्यक्तित्व व्यक्ति की इन्द्री और मन का योगफल ही तो है। इनके विना व्यक्तित्व कुछ रह ही नही जाता। अव कोई अनन्तगुण वाली शक्ति व्यक्ति नही हो सकती।

मनका स्वभाव है वह डर कर शेखी मारने लगता है। कहने लगता है। "मै अजर हूँ, अमर हूँ, और न जाने क्या क्या हूँ।" धर्म की डीगो की जड में भी अहकार मिल सकता है। जीवन आप ही एक वडी पवित्र चीज़ है। तुम वैसा मान कर आगे क्यो नही वढते ? धर्म तुम्हारे मार्ग में क्यो आडे आवे ?

आत्मा को अजर-अमर कह कर धर्म चिंता में पड गया कि वह इतना समय कहाँ वितायेगा। इसलिए उसको मजवूर होकर नर्क-स्वर्ग रचने पडे, पर इन दोनो ने दुनिया का कुछ भला न किया। धर्म के लिये आये दिन के झगडो ने इनको सिद्ध किया है या असिद्ध, यह वे ही जानें। हिंदू मुसलमान लडकर हिंदू स्वर्ग चले जाते है और मुसलमान जिन्नत। नर्क दोज़ख किसके लिये ? हिंदू मुसलमान लडकर हिंदू मुसलमानो को नर्क भेज देते है और मुसलमान हिंदुओ को दोज़ख। फिर स्वर्ग, जिन्नत किसके लिये ?

फिर एक धर्म दूसरे की वातें काटता है। एक का नैतिक विधान दूसरे को मजूर नही। कहना यही होगा कि ठीक विधान किसी को भी नहीं मालूम।

असल में कुछ सवाल निहायत ज़रूरी है और कुछ निहायत ज़रूरी से मालूम होते है, पर विलकुल ग़ैरज़रूरी है। दुनिया ज़रूरी सवालो को छोड कर ग़ैर ज़रूरी के पीछे पड गई है। इस लिये सुख से दूर पड गई है और समाज-सेवा की जगह समाज की दासता में लग गई है। अपना नुकसान करती है और समाज का।

खाने पहनने का सवाल सवसे ज़रूरी है ('भूखे भजन न होय गुपाला')। इनको तो हल करना ही होगा। न हम वग़ैर खाये रह सकते है, न वग़ैर पहने। रहने को मकान भी चाहिये। इसके वगैर भी काम नही चलता। इनके विना जी ही नही सकते। सुख की बात तो एक ओर। जीवन नही तो धर्म कहाँ ?

ज़रूरी से लगने वाले ग़ैर ज़रूरी सवाल है—

---

[१] 'है' की भाववाचक सज्ञा।

पुनर्जन्म, ईश्वर, स्वर्ग-नर्क इत्यादि। इनके हल करने की विरले ही कोशिश करते हैं और वह भी कभी-कभी। कोई-कोई इन सवालों को बहुत जरूरी समझते हैं, पर वे समझते ही हैं। कुछ करते नहीं हैं।

ईश्वर को कोई माने या न माने, आग उसे जरूर जलायेगी पानी उसे जरूर डुबायेगा। कोई ईश्वर को माने या न माने, पानी उसकी प्यास जरूर बुझायेगा। आग उसकी रोटी जरूर पकायेगी। हाँ, धर्म के ठेकेदार मानने पर भले ही न माननेवालों को कुछ मजा दें। अब अगर न मानने वाले का समाज से कोई आर्थिक नाता नहीं है तो समाज का धर्म उसका क्या रोक लेगा? और वह क्यों रुकेगा?

रह गया धर्म यानी सच्चा कर्तव्य। वह तो तुम्हारा तुम्हारे साथ है और हमेशा साथ रहेगा। रह गया धर्म, यानी सच्चा ज्ञान। वह तो तुम्हारा तुम्हारे साथ है और हमेशा रहेगा। रह गया धर्म यानी सच्ची लगन। उसे तुमसे कौन छीनेगा? यह धर्म रोकता नहीं।

धर्म वही जो हमें सुखी करे, हमें बाँधे नहीं, हमें रोके नहीं।

अब आपकी तसल्ली हो गई होगी और समाज-सेवा के मैदान में कूदने की सारी दिक्कतें भी खत्म हो चुकी होंगी और आप हर तरह यह समझ गये होंगे कि व्यक्ति जैसे अपने पैरों पर खड़ा होता जायगा और जैसे-जैसे वह अपने खाने-पहनने और रहने के लिये दूसरों पर निर्भर रहना छोड़ता जायेगा, वैसे-वैसे ही वह सुखी होता जायेगा और समाज को सुखी बनाता जायेगा।

उसके पास ऐसी चीजें ही नहीं होंगी, जिनके लिये उसे सरकार की जरूरत पड़े। हाँ, वह समाज की कुढंगी रचना के कारण कुछ दिनों सरकारी टैक्स से न बच सकेगा, पर इस से उसके सुख में ज्यादा बाधा न पड़ेगी, लेकिन जब उसकी देखा-देखी और भी वैसा करने लगेंगे तो उसकी यह दिक्कत भी कम होकर बिलकुल मिट जायेगी।

बड़ी-बड़ी संस्थाओं का हम तजुरबा कर चुके, तरह-तरह की सरकारें बना चुके, तरह-तरह के धर्मों की स्थापना कर चुके, पर व्यक्ति को कोई सुखी न बना सका। देखने के लिये आजाद, पर हर तरह गुलाम।

बस अपने को पूरा स्वस्थ्य रखने में, सब तरह प्रसन्न रहने में, भला और समझदार बनने में, अपने नियम बना कर आजाद रहने में और अपने ऊपर पूरा क़ाबू रखने में ही अपनों की, अपनी और समाज की सेवा है।

दिल्ली]
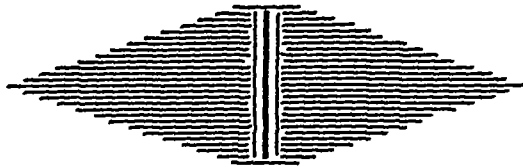
संस्कृति का मार्ग—समाज-सेवा

श्री भगवानदास केला

भिन्न-भिन्न विद्वानो ने सस्कृति की अलग-अलग परिभाषाएँ और व्याख्याएँ की है। सक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जो बाते या गुण मनुष्य को मनुष्य बनाते है और पशु से ऊँचा उठाते है, वे सस्कृति के अग है। उनके समूह को सस्कृति कहते है।

ममता, प्यार और सहानुभूति आदि एक सीमा तक पशुओ मे भी पाई जाती है, पर आदमी से आशा की जाती है कि वह इन गुणो का उपयोग दूर-दूर तक के क्षेत्र मे करे। अपने परिवार, भाईबदो, रिश्तेदारो या जाने-पहिचाने लोगो से ही नही, अपने धर्म और जातिवालो से ही नहीं, अपने देश या अपने रग के लोगो से ही नही—सबसे, गैर धर्म और दूसरी जाति तथा पराये आदमियो से और हाँ, शत्रु तक से भी अपनेपन का परिचय दे, अपनो का-सा व्यवहार करे। जितना अधिक आदमी यह कर सकता है, उतना ही वह अधिक सुसस्कृत है।

सुसस्कृत होने का उपाय शिक्षा (लिखने-पढने का ज्ञान) नही है। हाँ, शिक्षा से हमे अपनी सस्कृति का विकास करने में मदद मिल सकती है। सस्कृति के लिए हमें धन की इतनी आवश्यकता नही है। हाँ, धन के सदुपयोग मे हम अपनी सस्कृति का परिचय दे सकते है। सस्कृति के लिए शारीरिक बल भी विशेष रूप से प्राप्त करना अनिवार्य नही है। हाँ, स्वास्थ्य की रक्षा करने से हमारी सस्कृति के रास्ते मे एक बडी बाधा दूर हो जाती है। सस्कृति के लिए आवश्यकता है कि हम मे सहानुभूति, उदारता, परोपकार की भावना इतनी विकसित हो जाय कि हम इन्हें रोजमर्रा के, हर घडी के, काम में अमल मे लावे। ऐसा करना हमारा स्वभाव ही बन जाय। हम दूसरो के दुख को अपना दुख मानने लगें और उसे दूर करने के लिए स्वय कष्ट उठाने को तैयार रहें। हमारा हृदय मानव-सेवा के वास्ते बेचैन हो। हम सब प्राणियो में अपनी आत्मा का अनुभव करें। सक्षेप में सुसस्कृत बनने के लिए आदमी को समाज-सेवा में लगना चाहिए। यही जीवन का ध्येय हो।

जिन महानुभावो ने सेवा-व्रती होकर लोक-सेवा में जीवन बिता कर महान आदर्श उपस्थित किया है, वे धन्य है। लेकिन खास तौर से सेवा-कार्य में लगने वाले, सेवा-कार्य को ही अपना धन्धा बना लेने वाले आदमियो की सख्या किसी देश या समाज में, कुल मिला कर, थोडी-सी ही हो सकती है। ज्यादातर आदमियो के लिए यह व्यावहारिक नही है। साधारण लोगो के लिए तो यही उपाय है कि वे जो भी काम-धन्धा करें, उसी को सेवा-भाव से करें।

उदाहरणार्थ एक लेखक किताब लिखता है। अगर उसके सामने केवल पैसा पैदा करने का ही ध्येय है तो वह वैसी ही किताब लिखेगा, जिसके ग्राहक अधिक-से-अधिक हो, चाहे उससे लोगो मे साम्प्रदायिक भेदभाव बढे, चाहे युवको और युवतियो के विचारो में चचलता और उत्तेजना पैदा हो और वे भोग-विलास के शिकार बनें या चाहे उससे ठगी-मक्कारी आदि के ढगो की जानकारी हो। इसके विरुद्ध यदि लेखक सेवा-भाव से काम करता है तो वह पाठको की रुचि सुधारने की कोशिश करेगा, उनके सामने अच्छे आदर्श रक्खेगा, वह बहुत परिश्रम से निश्चित किये हुए विज्ञान आदि के उपयोगी सिद्धान्तो का प्रचार करेगा। ऐसा करने से चाहे उसकी पुस्तक की माँग कम हो और इसलिए उसे आमदनी कम हो, यहाँ तक कि उसे अपना गुजारा करना भी कठिन हो।

इसी तरह एक डाक्टर (या वैद्य) का विचार करें। लोभी डाक्टर को अपनी आमदनी की चिंता रहती है। मरीज को जल्दी अच्छा करने की ओर उसका लक्ष्य नही रहता। वह चाहता है कि किसी तरह मरीज मेरा इलाज बहुत दिन तक करता रहे और मुझे फीस मिलती रहे। लेकिन जब डाक्टर सेवा-भाव से काम करेगा तो वह मरीज

को जल्दी-से-जल्दी तन्दुरुस्त करने की कोशिश करेगा और समय-समय पर ऐसे आदमियो को भी अपनी कीमती सलाह और दवाई तक देगा, जो वेचारे अपनी गरीबी के कारण किसी तरह की फीस नही दे सकते।

अब कारखाने वाले की वात लीजिये। जब उसका उद्देश्य केवल रुपया कमाना है तो वह ग्राहको की आँखो मे धूल झोकने की कोशिश करेगा, घटिया माल को वढिया वताएगा और तरह-तरह की चालाकी करके खूब मुनाफा पैदा करेगा, यहाँ तक कि जनता को नुकसान पहुँचाने वाली और उसका धन वरवाद करने वाली चीजे वनाने और उनका प्रचार करने में तनिक भी सकोच न करेगा। लेकिन अगर कारखाने वाले में सेवा-भाव है तो वह हमेशा समाज के हित का विचार करेगा। ऐसी ही चीजें वनाएगा जो लोगो के लिए वहुत उपयोगी और टिकाऊ हो। वह वढिया माल वनाएगा और मामूली नफे से वेचेगा।

इसी तरह दूसरे कामो के वारे में भी विचार किया जा सकता है। सेवा-भाव होने से हमारी कार्य-पद्धति ही वदल जायगी और हाँ, चाहे हमारी आमदनी कम रहे, हमारे मन में आनन्द रहेगा। हमे यह सन्तोष रहेगा कि हम अपने भाई-वहिनो के प्रति अपने कर्त्तव्य का भरसक पालन कर रहे हैं। इससे हमे शान्ति और सुख मिलेगा। अच्छा हो, हर नवयुक अपने पथ-प्रदर्शन के लिए प्रति सप्ताह किसी खास आदर्श का विशेष रूप से अभ्यास करे और कुछ सिद्धान्त वाक्यो को सुन्दर और मोटे अक्षरो मे लिख कर अपने काम करने के कमरे में लगा ले, जिससे समय-समय पर उनकी ओर ध्यान जाता रहे। आदर्श या सिद्धान्त-वाक्यो के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१ लोक-सेवा ही पूजा है।

२ दूसरो से ऐसा व्यवहार करो, जैसा हम चाहते है कि दूसरे हम से करें।

३ अगर धन गया तो कुछ नही गया, अगर स्वास्थ्य गया तो कुछ गया, अगर सदाचार गया तो सव कुछ गया।

४ दूसरो को ठगने वाला अपनी अवनति पहिले करता है।

यह तो व्यक्तियो की वात हुई। इसी तरह हर परिवार या सस्था को अपना उद्देश्य वहुत सोच-समझ कर स्थिर करना चाहिए। यही नही, हर जाति या राष्ट्र को भी अपने सामने मानव-सेवा का निश्चित लक्ष्य रखना चाहिए। सवको इस वात की कोशिश करनी चाहिए कि उसका हर सदस्य अच्छे-अच्छे गुणो वाला हो।—सच्चा, ईमानदार, मेहनती, स्वावलवी और लोक-सेवी। किसी देश या राष्ट्र की सभ्यता और सस्कृति की पहचान ही यह है कि उसके आदमी कितने योग्य और सेवा-भावी है।

राष्ट्रो को सोचना चाहिए कि इस समय ससार में पूजीवाद और साम्राज्यवाद का भयकर जोर है। हरेक सभ्य देश हिंसा-काण्ड मे दूसरो से वाजी मार ले जाना चाहता है। ऐसे समय क्या मानवता की सेवा के लिए कुछ राष्ट्र अहिंसा और प्रेम का आदर्श रखने वाले न हो? क्या सभ्य और उन्नत कहे जाने वाले राष्ट्रो मे कुछ ऐसे न मिलेंगे, जो स्वय निस्वार्थ भाव से काम करें और दूसरो से स्वार्थ-त्याग करने की अपील करें? क्या कुछ राष्ट्र यह आदर्श न अपनायेंगे कि पूजीवाद का अत करो, साम्राज्यवाद को छोडो, ससार का हर एक देश और जाति स्वतत्र हो, कोई किसी भी वहाने से दूसरो को अपने अधीन न करे और दूसरो का शोषण न करे? आज दिन मानव-सन्तान वर्ण-भेद और जाति-भेद से घोर कष्ट पा रही है। राष्ट्रो का आदर्श वाक्य होना चाहिए—वर्ण-भेद दूर करो, जाति-भेद मिटाओ, काला आदमी और पीला आदमी भी उसी प्रभु की सन्तान है, जिसकी सन्तान गोरा या भूरा आदमी है। सव आपस मे भाई-भाई हैं। भेद-भाव मिटाओ और सवसे प्रेम करो। सवकी सेवा करो सेवा ही उन्नति, विकास, सभ्यता और सस्कृति का मार्ग है।

प्रयाग]

स -सेवा आदर्श

श्री अजितप्रसाद

श्री तत्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र (अध्याय ५ सूत्र २१) मे आचार्य श्रीमद् उमास्वामी ने कहा है, **"परस्परो-पग्नहोजीवानाम् ।"** समस्त देहस्थ ससारी जीवो का व्यावहारिक गुण, तद्भव-स्वभाव, पर्याय-बुद्धि, कर्त्तव्य, उनके अस्तित्व का ध्येय, उनके जीवन का उद्देश्य यही है कि एक दूसरे का उपकार करें।

'तत्वार्थसूत्र' की सर्वार्थसिद्धि टीका में इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है—**"स्वामी भृत्य, आचार्य-शिष्य, इत्येवमादिभावेति वृत्तिः परस्परोपग्नहो, स्वामी तावद्वित्त-त्यागादिना भृत्यानामुपकारे वर्तते । भृत्याश्च हितप्रतिपादनेनाहितप्रतिषेधेन च । आचार्य उभयलोक फलप्रदोपदेशदर्शनेन, तदुपदेशविहितक्रियानुष्ठापनेन च शिष्याणामनुग्रहे वर्तते । शिष्या अपि तदानुकूल्यवृत्या आचार्याणामुपकाराधिकारे ।"**

श्री जुगमन्दरलाल जैनी ने इस सूत्र की अंग्रेजी में टीका लिखी है— "The function of (mundane) souls is to support each other We all depend upon one another. The peasant provides corn, the weaver clothes, and so on."

श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, अर्थप्रकाशिका आदि अन्य टीकाओ मे भी इसी प्रकार इस सूत्र का अर्थ किया है। जैनमुनि उपाध्याय श्रीमद् आत्माराम महाराज द्वारा सगृहीत 'तत्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय' मे भी ऐसी ही व्याख्या पाई जाती है। शास्त्री प० सुखलाल सघवी ने तत्त्वार्थ सूत्र-विवेचन में लिखा है—"परस्पर के कार्य मे निमित्त होना यह जीवो का उपकार है। एक जीव हित या अहित द्वारा दूसरे जीव का उपकार करता है। मालिक पैसा देकर नौकर का उपकार करता है और नौकर हित या अहित की बात कहकर या करके मालिक पर उपकार करता है। आचार्य सत्कर्म का उपदेश करके उसके अनुष्ठान द्वारा शिष्य का उपकार करता है और शिष्य अनुकूल प्रवृत्ति द्वारा आचार्य का उपकार करता है।" तत्त्वार्थ सूत्र के आधार पर समाज-सेवा प्राणी-मात्र का धर्म है।

प्रस्तुत प्रकरण में समाज-सेवा का क्षेत्र मनुष्य-समाज-सेवा तक सीमित समझा गया है। महाकवि आचार्य श्री रविषेण प्रणीत महापुराण जैनागमानुसार आधुनिक अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के प्रारभ मे कर्मभूमि की रचना श्री ऋषभदेव तीर्थंकर के समय में हुई। भगवान् ऋषभदेव युगादि पुरुष थे। श्रीमद् भागवत् पुराण मे ऋषि वेदव्यास ने उनको नाभिराजा और मरुदेवी के पुत्र ऋषभावतार माना है और यह भी कहा है कि विष्णु भगवान के इस अवतार ने अपने सौ पुत्रो मे से ज्येष्ठतम पुत्र भरत चक्रवर्ति को राज्य सिंहासनारूढ करके दिगम्बरीय दीक्षा और दुर्द्धर तपश्चरण के प्रभाव से परमधाम की प्राप्ति की।

कालचक्र और ससार-रचना तो अनादि और अनन्त है, फिर भी काल के उतार-चढाव के निमित्त से जगत् का रूप ऐसा बदलता रहता है कि एक अपेक्षा से, पर्यायार्थिक नयसे जगत् की उत्पत्ति और सहार भी कहा जा सकता है। चौथे काल के पहिले योगभूमि की रचना इस मर्त्यलोक में थी, जिसकी रूप-रेखा उस समय स्वर्गीय जीवन से कुछ ही कम थी। उस समय के मनुष्यो की समस्त आवश्यकताएँ कल्पवृक्षो द्वारा पूरी हो जाती थी। उनको जन्म-मरण, इष्टवियोग-अनिष्टसयोग, आधि-व्याधि, जरा-रोग, विषाद-दारिद्रय आदि दु खो का अनुभव तो दूर, उनकी कल्पना भी नही होती थी। योगभूमि का समय बीत जाने पर कर्म-भूमि का प्रारभ हुआ।

समाज-सगठन या समाज-सेवा का आयोजन आदिपुरुष श्री ऋषभदेव ने किया, उनके पुत्र भरत चक्रवर्ति के राज्य में समाज-सेवा का क्षेत्र विस्तीर्ण हुआ और उत्तरोत्तर व्यापक ही होता गया।

मनुष्य का गर्भ से शरीरात तक समस्त जीवन-व्यवहार समाज-सेवा ही तो है। पूर्वाचार्यो ने भारतीय समाज का जीवनक्रम धर्म का अग बना दिया है। तीर्थंकर भगवान के गर्भ कल्याणक के समय से माता की सेवा मे देवागना लगी रहती हैं। गर्भकाल के आचार-विचार का प्रभाव गर्भस्थ जीव पर पडता ही है। अत माता-पिता का कर्त्तव्य है कि स्वत अपने आचार-विचार-शुद्धि का ध्यान रक्खे। महाभारत का कथन है कि एक समय जब अभिमन्यु गर्भ में था, अर्जुन सुभद्रा को शत्रु के चक्रव्यूह में किस प्रकार प्रवेश किया जाता है, यह बतला रहे थे कि सुभद्रा को नींद आ गई और चक्रव्यूह से बाहर निकलने की तरकीब न सुन पाई। महाभारत युद्ध में एक अवसर पर जब वीर अर्जुन अन्य स्थान पर लड रहे थे, कुमार अभिमन्यु गर्भ-समय-प्राप्त-ज्ञान के बल से कौरवोका चक्रव्यूह भेद कर उसमें घुस गये, किन्तु बाहर न निकल सके और धोखे में फँस कर मारे गये।

स्वर्गीय मोहम्मद हुसैन आजाद रचित 'भारतीय कहानियाँ' नामक पुस्तक में लिखा है कि जब अकबर गर्भ में था, एक दिन उसकी माता अपने तलुए में सुई गोद कर सुरमा भरकर फूल बना रही थी। हुमायू के कारण पूछने पर उसने उत्तर दिया कि मैं चाहती हूँ कि मेरे पुत्र के तलुए में ऐसा ही फूल हो। कहा जाता है कि जब अकबर पैदा हुआ तो वैसा ही फूल उसके तलुए में था।

अकलक-निकलक की कथा तो प्रसिद्ध ही है कि माता-पिता के सदाचार का प्रभाव उन बालकों पर ऐसा पडा कि जब माता-पिता ने अष्टाह्निक पर्व मे आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य व्रत लिए तो इन बालको ने भी ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण कर लिया और जब इनके विवाह का प्रस्ताव हुआ तो इन्होने कह दिया कि हम तो ब्रह्मचर्य-व्रत अगीकार कर चुके। बाल-ब्रह्मचारी रह कर, निकलक ने धर्मार्थ प्राणो का बलिदान किया और अकलक की उमर जिन-धर्म-प्रचार मे ही व्यतीत हुई।

जन्म दिन से आठ वर्ष तक शिशु-पालन, शिक्षण माता-पिता द्वारा होता है। माता-पिता के अच्छे-बुरे, आचार-विचार, क्रिया-वर्त्ताव का गहरा प्रभाव बच्चे पर पडता है। माता-पिता की बोलचाल बच्चा बिना सिखाए सीख जाता है। वह उसकी मातृभाषा कहलाती है। असभ्य शब्द, गाली, सभ्यवाक्य, कटुवचन, मीठा बोल, व्यगात्मक प्रयोग, हितकर सीधी बोलचाल, प्रहारात्मक उच्च स्वर मे या जल्दी-जल्दी बोलना, अथवा धीरे-धीरे स्पष्ट मन्द स्वर में, मीठे प्यारे शब्दो में बात करने की आदत, नम्रता या उद्दण्डता, बच्चा माता-पिता से बिना सिखाये स्वत सीख जाता है। उसी को सस्कार, आदत अथवा अभ्यास कहते हैं। यह देखा जाता है कि कुछ बच्चे माता-पिता तथा कौटुम्बिक गुरुजनो को प्रात ही प्रणाम करते हैं। उनके सामने विनय-पूर्वक उठते-बैठते हैं। आदर-श्रद्धा-सहित व्यवहार करते है, चरण छूते हैं, आते देख कर खडे हो जाते है, स्वय नीचा आसन ग्रहण करते हैं, विनय भाव से बैठते हैं और शिक्षा ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत कुछ बच्चे विस्तर से रोते, शोर मचाते उठते है, आपस में लडते-झगडते, गाली-गलौज, छोटी-छोटी बातो पर छीना-झपटी, मारपीट करते रहते हैं। मुँह उठाये चले आते हैं, ऊँचे स्थान पर आ बैठते है, या लेट जाते है, गुरुजनो की शिक्षा या कथन ध्यान से नही सुनते और न मानते हैं। कुछ को तो यह कुटेव पड जाती है कि अपने लिए सदैव 'हम' शब्द का प्रयोग करते हैं और अन्य अपने बराबर या बडो को अनादर भाव मे सबोधन करते हैं। हमेशा चिल्लाकर बोलते हैं। अपने छोटे भाई-बहनो से भी छीना-झपटी, लडाई-झगडा, कटुवचन व्यवहार करते हैं। उन बच्चो के ये बुरे सस्कार और कुटेव उमर भर उनके लिये हानिकारक और कष्टोपकारक होते हैं। माता-पिता का धर्म है कि आत्म-सयम करें, ताकि बच्चे उनका अनुसरण करें। बच्चो को धमकाना, मारना-पीटना, बुरा कहना, गाली देना, भयभीत करना, लालच देना, धोखा देना, उनसे झूठ बोलना, कदापि किसी परिस्थिति में भी उचित या क्षम्य नही। "लालयेत् पच वर्षाणि, दश वर्षाणि ताडयेत्" की कहावत ठीक एव अनुकरणीय नहीं है। वह चाहे चाणक्य नीति हो, किन्तु धार्मिक नीति नहीं हो सकती। यदि बच्चे से भूल हो जाय, नुकसान हो जाय तो उसे समझा देना चाहिए। बच्चे की माँग सदैव पूरी करनी चाहिए। धोखा देकर टालना ठीक नहीं। प्राय देखा जाता है कि यदि बच्चा कोई चीज माँगता है तो उसको यह कहकर टाल

दिया जाता है कि "कल ला देंगे।" दूसरे दिन जब उसकी आशा पूरी नही होती और फिर कल का वहाना किया जाता है तो उसके विश्वास को ठेस लगती है और फिर भी उसकी आशा पूरी न होने पर वह समझ जाता है कि मुझे धोखा दिया गया है। उसका विश्वास उठ जाता है और वह मान लेता है कि धोखा देना, झूठ वोलना ही ठीक है।

प्राचीन भारत मे आठ वरस की उमर से ग्रामीण और नागरिक, सभी को, प्राथमिक श्रेणी की धार्मिक और लौकिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती थी। वालक-वालिका सवको लिखना-पढना और जीवन-निर्वाह का काम रोज़गार, दूकानदारी, वाणिज्य, असि, मसि, कृषि सिखलाना समाज का और राज्य का धार्मिक कर्त्तव्य था। शिक्षा वाजारू विकाऊ वस्तु न थी। गुरु दानरूप शिक्षा प्रदान करता था और शिष्य विनयपूर्वक शिक्षा ग्रहण कर चुकने पर अपनी शक्ति के अनुसार गुरु-दक्षिणा रूप भेट समर्पण करता था।

प्राचीन भारत इतिहास मे नालदा विश्व-विद्यालय विख्यात विद्या-केन्द्र था। चीन देश के दो विद्वान् वहाँ आये, वरसो रहे, विद्या-अध्ययन किया और पन्द्रह वरस के आत्म-अनुभव से वहाँ का विस्तीर्ण वृत्तान्त लिखा। उसी कथन के आधार पर सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी ने, अपनी पुस्तक "Ancient Indian Education" मे नालदा का ऐतिहासिक वर्णन लिखा है। उस पुस्तक से सक्षिप्त उद्धरण जनवरी १९४० के "Aryan Path" मे प्रकाशित हुआ। १३०० वरस गुजरे। तव नालदा में ८५०० विद्यार्थी और पन्द्रह सौ अध्यापक निवास करते थे। भारत के विविध प्रान्तो के रहने वाले तो उनमें थे ही, परन्तु चीन, जापान, कोरिया, मगोलिया, वुखारा, तातार देश से आये हुए विद्यार्थी भी वहाँ शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। सौ-सौ विविध विपयो पर हर रोज विवेचन होता था और रात दिन अध्यापको और प्रौढ शिष्यो में पारस्परिक चर्चा रहती थी। किसी को भोजन, वस्त्र आदि किसी आवश्यक वस्तु की चिंता न थी। विद्यार्थियो से किसी रूप में फीस नही ली जाती थी। राज्य ने कई सौ ग्राम नालदा विश्वविद्यालय को समर्पण कर दिये थे। सैकडो मन अनाज, घी, दूध आदि प्रति दिवस वहाँ पहुँचा दिया जाता था। नालदा के स्नातको का दुनिया भर में अपूर्व सत्कार होता था। ऐसे उच्चतम विद्याकेन्द्र मे भरती हो जाना आसान काम न था। प्रार्थी की वैयिक्तिक योग्यता की कडी परीक्षा करके १०० में २० प्रार्थी ही प्रविष्ट होने में सफल होते थे। वहाँ किसी प्रकार की सिफारिश या प्रलोभन से काम नही चलता था। नालदा की गगन-स्पर्शी विहार-श्रेणियो के भग्नावशेष पावापुरी के पास अव भी मौजूद है। उस समय की ईंट डेढ फुट लवी और एक फुट चौडी होती थी। नालदा के विशाल शास्त्र-भडार के लिखित ग्रन्थ कही-कही नैपाल और तिव्वत के ग्रन्थागारो में मिल जाते हैं।

पूर्व मे नालदा और पश्चिम मे तक्षशिला नाम की लोकविख्यात विद्यापीठ थी। तक्षशिला के भी भग्नावशेष विद्यमान है। वहाँ का अदाजा भी नालदा के सक्षिप्त वर्णन से लगाया जा सकता है।

वैदिक काल की शिक्षण-पद्धति का वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् (प्रथम खण्ड, अध्याय ११) से विदित होता है। उपनयन सस्कार के समय कहा जाता था, "तू आज से ब्रह्मचारी हो गया, आचार्याधीन होकर वेदाध्ययन कर।" उस दिन से शिक्षा की सम्पूर्णता तक वह गुरुकुल मे ही रहता था। सामान्यतया इसकी अवधि वारह वरस होती थी, किन्तु ब्रह्मचारी की वैयिक्तिक योग्यतानुसार घट-वढ जाती थी। गुरु का अन्तिम आदेश यह होता था, "सच वोलो, धर्माचरण करो, स्वाध्याय करते रहो, सदाचार का पालन करो, ऐहिक स्वार्थाधीन होकर परमार्थ को न भूलो।"

डाक्टर देवेन्द्रचन्द्रदास गुप्त अध्यापक कलकत्ता यूनिवर्सिटी रचित 'शिक्षा की जैन पद्धति' ('Jain system of Education') में लिखा है—जैन साधु सघ के विहार धार्मिक तथा साहित्य, कला, व्यायाम आदि सास्कृतिक शिक्षा प्रदानार्थ मगध से गुजरात और विजयनगर से कौशल तक फैले हुए थे। भिन्न धर्मानुयायी और समस्त श्रेणी के विद्यार्थी, विविध कार्य-कला-शिक्षा प्राप्ति के अर्थ उनमे प्रविष्ट हो सकते थे। आठ वरस की उमर से वालक-वालिका एक साथ शिक्षा पाते थे। विद्यार्थी की रुचि का भले प्रकार अंदाजा करके यथोचित शिक्षा दी जाती थी। प्रजा की उन्नति और उसके जीवन को सुखी वनाने के लिये राज्य की ओर से काफी सहयोग दिया जाता था। विद्यार्थी

शिक्षा और जीवन निर्वाहार्थ व्यवसाय साथ-साथ प्राप्त करते थे। धार्मिक शिक्षा में अध्यात्म, भक्ति, चित्त-नियन्त्रण, क्रिया-काड और दैनिक क्रिया-क्रम, सव कुछ गर्भित होता था।

उस जमाने में पढाई की फीस नही लगती थी। अध्यापक, उपाध्याय नौकरी नही करते थे। अपनी विद्या को वस्त्र-भोजन-प्राप्ति धनोपार्जन का साधन नही बनाते थे। वैद्य भिपगाचार्य फीस या दवाई के मुँहमाँगे दाम नही लेते थे। रोगी का इलाज करना वे धार्मिक कर्तव्य समझते थे। वकालत करने का रिवाज यूनान से चला है। वकील फीस नही लेते थे और अव तक यह प्रथा चली आती है कि वैरिस्टर को जो कुछ दिया जाता है वह फीस नही, वल्कि 'समर्पण' कहा जाता है। वह व्यापारिक मामला नही है, सम्मानित भेट है। उसके लिए कचहरी मे नालिश नही हो सकती।

धर्म के नाम पर प्रजा-प्रतिष्ठा आदि धर्मानुष्ठान कराने की फीस चुका कर लेना तो वडा ही निंद्य कर्म समझा जाता था। प्रजा धन-धान्य-सम्पन्न, स्वस्थ, सुखी, सदाचारी और धर्मनिष्ठ थी।

इस प्रकार समाज-सेवा या प्रजा-पालन राजा का धर्म था। खेती की उपज का केवल एक नियमित निश्चित भाग समाज सेवार्थ लिया जाता था। उर्वरा वसुन्धरा की देन में राजा-प्रजा यथोचित रीति से भागीदार होते थे। महाकवि कालिदास ने 'रघुवश' (प्रथम सर्ग श्लोक १६) में कहा है—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो वलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रस रवि ॥ १८॥

अर्थात्—(राजा दिलीप) प्रजा के हितार्थ ही कर ग्रहण करते थे। जैसे सूरज पृथ्वी से जल खीच कर हजार गुणा वापिस कर देता है।

शकुन्तला नाटक के पाँचवे अक में लिखा है—

भानुसकृद्युक्त तुरगएव
रात्रिन्दिव गन्धवह प्रयाति।
शेष. सदैवाहित भूमिभार
षष्ठाश वृत्तेरपि धर्म एष ॥

अर्थात्—सूर्य एक वार घोडे जोत कर वरावर चलता रहता है, हवा रात दिन वहती है, शेषनाग निरन्तर पृथ्वी का भार वहन करता है, (जो राजा) छठा हिस्सा लेकर अपनी गुजर करता है, उसका धार्मिक (कर्त्तव्य) यही है (कि निरन्तर समाज-सेवा करता रहे)।

हिन्दू साम्राज्य में राज्य-कर पैदावार का छठा भाग था। मरहठो के राज्य मे वह चौथा हिस्सा हो गया, मुगल-साम्राज्य में तीसरा भाग निश्चित किया गया। अव भी देशी रियासतो मे वटाई की प्रथा जारी है।

गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली रूप समाजसेवा का ऊपर जिकर हो चुका है। उस प्रथा की छाया मुगल साम्राज्य में सरकारी दारूल-उलूम और ग्रामो और शहरो की गली-गली में मकतवो की सूरत मे मौजूद रही। शुरू अंग्रेजी राज्य में सरकारी स्कूल इस मतलव से खुले कि सरकारी काम चलाने के लिए पढे-लिखे नौकरो की जरूरत पूरी हो सके। स्कूल जाने के लिए प्रलोभन दिये गये। पिता जी से मैंने सुना है कि हर वालक को पुस्तक, लिखने का सामान स्कूल से दिया जाता था, फीस कुछ नही ली जाती थी, पारितोषिक और छात्रवृत्ति उदारता से दी जाती थी, पढ जाने पर वेतन अच्छा मिलता था। किन्तु दिनोदिन सख्ती वढती गई। मेरे पढाई के जमाने में एम्० ए० तक फीस केवल तीन रुपये और कानून पढने की फीस एक रुपया मासिक थी। मुझे पन्द्रह रुपये छात्रवृत्ति रूप मिलते थे और वहुमूल्य अंग्रेजी कोष आदि पुस्तकें इनाम मे मिलती थीं। अव तो स्थिति ही कुछ और हो गई है। परिणाम यह कि पुरानी शिक्षण-पद्धति घटती और मिटती चली गई। ठोस विद्वता का स्थान पुस्तको ने ले लिया। किन्तु भारत की गुरुकुल शिक्षा-पद्धति विदेशो ने ग्रहण की।

गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के विनाश और अग्रेजी पढाई के फल-रूप भारतवासियो के दैनिक जीवन-व्यवहार में गहरा उलट-फेर हो गया। समाज-सेवा का आदर्श उठ गया। शिक्षित वर्ग का सत्कार घटता गया। अध्यात्म ज्ञान, चारित्रशुद्धि, सदाचारिता का लोप-सा होता गया। विलासिता, इन्द्रियभोग की लोलुपता, ईर्ष्या, छीना-झपटी आदि दुर्गुणो का प्रभाव बढता गया। विद्योपार्जन ऐहिक जीवन-निर्वाह का साधन बन गया।

ऐसी परिस्थिति में कुछ देशहितैषियो ने प्राचीन गुरुकुल प्रणाली को फिर से जारी करने का विचार किया। आर्यसमाज ने कागडी (हरिद्वार) में गुरुकुल की स्थापना की। महात्मा मुशीराम (स्वामी श्रद्धानद) ने अपना जीवन उसके लिए समर्पण किया, समाज ने लाखो रुपया दान दिया। किन्तु समाज के प्रतिष्ठाप्राप्त लोगो ने अपने बच्चो को वहाँ नही भेजा और इसी त्रुटि के कारण गुरुकुल कागडी भारतवर्ष की आदर्श सर्वोच्च शिक्षा सस्था न बन सकी।

मई १६११ में जैन-समाज ने हस्तिनापुर (मेरठ) में ऋषभ ब्रह्माचर्याश्रम की स्थापना की। इसके लिए महात्मा भगवानदीन तथा ब्रह्मचारी गेंदन लालजी ने आत्मसमर्पण किया। समाज ने भी आवश्यकतानुसार पर्याप्त दान दिया। परन्तु दुर्भाग्यवश चार वर्ष बाद, १६१५, में ही कुछ पारस्परिक वैमनस्य ऐसे बढ गये कि इस आश्रम के सभी सस्थापको और मुख्य कार्यकर्ताओ को एक-एक करके आश्रम छोडना पडा। नाम के वास्ते तो ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम अब भी चौरासी (मथुरा) में चल रहा है, किन्तु जिस उद्देश्य से वह स्थापित किया गया था उसकी गन्ध भी वहाँ नही है।

गुजरावाला, (पजाब), पचकूला (अम्बाला) व्यावर (राजपूताना) स्थानो पर जैन गुरुकुल वर्षो से चल रहे है मगर उनमें भी समाज के प्रतिष्ठा प्राप्त उच्च घरो के बालक प्रविष्ट नही होते और गुरुकुल स्थापना का वास्तविक उद्देश्य पूरा नही हो पाता।

महात्मा गाँधी के शब्दो मे "समाज सेवा का उद्देश्य मनुष्यमात्र का सर्वोदय, जगत का उत्थान है। जॉन रस्किन ने 'सर्वोदय' ('Unto this last') मे लिखा है कि थोडो को दु ख देकर बहुतो को सुख पहुँचाने की नीति समाज-सेवा का आदर्श नही है। चाणक्य राजनीति जैसी है। नैतिक नियमो को पूर्णतया पालने में ही मनुष्य का कल्याण है। नौकर और मालिक, वैद्य और रोगी, अन्याय पीडित मनुष्य और उसके वकील, कारखानो के मालिक और श्रमजीवी मनुष्यो के बीच धन का नही, प्रेम का बन्धन होना चाहिए।" नीतिमान समाज-सेवी पुरुष ही देश का धन है। अन्यान्योपार्जित धन का परिणाम दु ख ही है। भोग-विलास और दूसरो को नीचा दिखाने, दबाने, दास बनाने में धन खर्च करने से गरीबी बढती है।

जैन कवि द्यानतराय जी ने भी 'आकिंचन धर्म-पूजा' में कहा है, "बहुधन बुरा हू भला कहिये लीन पर उपकार सों।"

समाज-सेवा का मूलमन्त्र यह है, "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।" जो बात आप खुद नही पसन्द करते, वैसा व्यवहार दूसरे के साथ भी मत करिए। फारसी में भी कहा है, "हरचे बरखुद न पसदी, बाबी गरा हम मपसन्द।" अग्रेजी की कहावत है "Do to others as you wish that they should do unto you." अर्थात्—लेने-देने की तराजू एक ही होनी चाहिए। आजकल समाज-सेवा-भाव के अभाव में लेने के बाट-तराजू एक और देने के दूसरे है। अपने पराए के लिए नियम विरोधात्मक बनाये जाते है। जगत् की शान्ति चाहने वाला समाज-सेवक अपनी आवश्यकता के लिए समाज से कम-से-कम लेता है और उसके बदले मे समाज को अपनी शक्तिभर अधिक-से-अधिक देता है। समाज-सेवा करके उसको आनन्द होता है। वह समाज-शोषण को पाप समझता है।

जैन धर्मानुयायी का तो सारा धर्म ही जैसा प्रारभ में कहा गया है, परोपकार पर खडा हुआ है। गृहस्थ, व्रती-अव्रती, श्रावक, ब्रह्मचारी, ऐलक, मुनि सभी को समाज-सेवा-धर्म का पालन पूर्ण शक्ति से करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझ लेना चाहिए। जैनधर्मानुसार प्रवृत्ति से विश्व-शान्ति स्थायी और पूर्णरूपेण स्थापित हो सकती है। किन्तु ऐसा नही हो रहा है। जैनी जैनधर्म के मूल सिद्धान्त से विपरीत मार्ग पर चल रहे है। जैनधर्म के सिद्धान्त पुस्तको और 'जैन हितैषी' समाचार-पत्र द्वारा श्री पडित नाथूराम प्रेमी ने समझाए, और अब भी वे इसी प्रयत्न मे लगे

हैं। किन्तु मिथ्यात्व का अनादि सबध, अज्ञान मोह की प्रबलता जैनो को सीधे रास्ते पर, समाज-सेवा की सीधी सडक पर आने से रोक रही है। श्रावक के षट् आवश्यक कर्म रूढि मात्र, दिखावे, मन समझाने और आत्मवचना के तौर पर किये जाते हैं। श्रावकों के दान की प्रणाली का प्रवाह रेतीले, बजर मैदानो में हो रहा है। धर्म-प्रभावना के नाम पर जो द्रव्य खर्च होता है, उसका सदुपयोग नही होता। धर्म की हसी होती है। जैन रथोत्सव के अवसरो पर कही तो सरकारी रोक लगा दी जाती है, कही बाजार में दूकानें बन्द हो जाती हैं और कलकत्ता जैसे लबे और तडक-भडक के जलूस पर भी मैंने देखा है कि अजैन जनता पर जैनत्व का प्रभाव अथवा महत्व अकित नही होता। जनता केवल तमाशे के तौर पर जलूस देखने को उसी भाव से जमा होती है, जैसे वह किसी सेठ की बरात, किसी राजा की सवारी, किसी हाकिम या किसी फौजी पलटन के जलूस को देखने कौतूहलवश एकत्र हो जाती है। कहने को दिगम्बर-श्वेताम्बर रथोत्सव सम्मिलित होता है। वास्तव में आगे श्वेताम्बरीय जुलूस निकल जाता है, तब तक दिगम्बरीय जुलूस एक नाके पर रुका रहता है। दोनो के बीच में काफी फासला होता है। अच्छा होता यदि श्वेताम्बर-दिगम्बर मूर्ति एक ही रथ मे विराजमान होती। दिगम्बर-श्वेताम्बरी उपदेशक भजन-टोलियाँ मिली-जुली चलती, उपदेशी भजन स्पष्ट स्वर मे जनता को सुनाये-समझाये जाते और दोनो सम्प्रदाय के बाजे, झडियाँ, पालकियाँ और भक्त-जनसमूह आदि ऐसे मिले-जुले होते कि अजैन जगत् को दोनो मे भेद प्रतीत न हो पाता। दोनो जुलूस एक ही स्थान पर पहुँचते और दोनों सम्प्रदाय के पडितो के व्याख्यान, प्रीति-भोज सम्मिलित होते।

उन स्थानो में जहाँ पर्याप्त सख्या मे जिनालय मौजूद हैं, नये मदिर बनवाने, उनको सजाने और नई मूर्तियो की प्रतिष्ठा कराने का शौक भी बहुत बढता जा रहा है, जिसमें जैन-समाज का लाखो रुपया खर्च हो जाता है और परिणाम यह होता है कि समाज में भेद-भाव बढ जाता है। लोग मदिरो में भी ममकार बुद्धि लगा लेते हैं। अपने-अपने मोहल्ले, अपनी-अपनी पार्टी, अपने-अपने दलके मदिर अलग हो जाते हैं। समाज सगठन का ह्रास हो जाता है।

रेल की सस्ती सवारी के कारण तीर्थ-यात्रा का शौक भी बढ गया है। वास्तव मे तीर्थयात्रा के नाम से नगरो की सैर, क्रय-विक्रय-व्यापार, विवाहादि सबध आदि ऐहिक कार्य मुख्यतया किये जाते हैं और भावो की विशुद्धता, वैराग्य का प्रभाव, निवृत्ति मार्ग की ओर झुकाव तो विरले ही मनुष्यो को प्राप्त होता है। मदिरो मे और सस्थाओ में जो दान दिया जाता है, उसका बदला नामवरी हासिल करके अपनी शोहरत फैला कर प्राप्त कर लिया जाता है। उन दान से पुण्यप्राप्ति या कर्म-निर्जरा समझना भुलावे मे पडना है। स्थानीय पाठशाला, पुस्तकालय, वाच-नालय, औषधालय, चिकित्सालय, विद्यालय, अनाथालय, धर्मशाला आदि सस्था स्थापित कर के भी लोग स्वार्थ साधन करते हैं। थोडे दिनो की ऐहिक ख्याति प्राप्त करते हैं। इन विविध सस्थाओ में साम्प्रदायिक, स्थानीय, जातीय, आत्मीय, अहकार, ममकार का विशेष पुट रहता है। उनके समुचित प्रबध की तरफ बहुत कम लक्ष्य दिया जाता है। ऐसी कोई विरली ही सस्था होगी, जिसमे दलबदी, अधिकार प्राप्ति की भावना के दोष प्रवेश नही कर गए हैं। दिगम्बरीय समाज मे भी तीन सस्था, महासभा, परिषद्, सघ नाम से पृथक्-पृथक् काम कर रही हैं। वास्तविक समाज-सेवा के भाव को लिए हुए जैन-समाज यदि केन्द्रीय सगठन करके समाज-सेवा भाव से प्रेरित, आत्मसमर्पण करने वाले कार्यकर्ता निर्वाचित करके प्रान्तीय, स्थानीय समाजोद्धार और धर्म-प्रचार का कार्य प्रारभ कर दे तो समाज के कितने ही मनुष्यो को उच्चगोत्र और शायद तीर्थंकर कर्म का बध भी हो जावे, क्योंकि तीर्थंकर-कर्म जगत-हितकर भावना का ही फल है। साधु, उपाध्याय, आचार्य, केवली, तीर्थंकर, जगत का उत्कृष्ट और अमित उपकार करते हैं और निस्पृह होकर ऐसा करते हैं। यह सब समाज-सेवा ही तो है।

गृहस्थ श्रावक के षट् आवश्यक कर्मों में दान भी है। दान समाज-सेवा ही का पर्यायवाची शब्द है। दान का अर्थ है—पर-उपकार। अन्य का भला करना। प्रत्येक अवस्था में दान देना मनुष्य का कर्तव्य, और मुख्य कर्तव्य है।

दान समझ कर ही करना चाहिए। पात्र और वस्तु के भेद से दान का फल भला और बुरा दोनों प्रकार का हो सकता है। हिंसा का उपकरण, छुरी, कटारी, तलवार, बदूक दान मे या उधार मागी देना या बेचना अशुभ

कर्म-बध का ही कारण होगा। व्याध, वधिक, बूचड, चिडीमार को या लडाई के चलाने के लिए धन या उपकरण या सिपाही व्याज पर, या दान मे, या किसी भी प्रलोभन या भय के वश होकर देना पापवध का ही कारण होगा।

आजकल दान देना भी श्रावक जीवन में एक प्रथापूर्ति, रूढिपालन, वहम, मिथ्यात्व रूप रह गया है। जैनी भाई बेटा होने, बीमारी दूर होने, मुकदमा जीतने की अभिलाषा से, व्यापार वृद्धि के प्रलोभन आदि ऐहिक स्वार्थ साधनार्थ धर्म-स्थानो मे घी, केसर, छतर, स्वस्तिका, सोना-चाँदी द्रव्य चढाते है। नवीन मदिर शहरो में बनवाते है, जहाँ काफी जैन मदिर मौजूद है। बिम्व प्रतिष्ठा कराते, गजरथ निकलवाते, रथोत्सव करवाते है और बहुधा स्त्रियाँ मरण समय पर अपना जेवर मदिरो में दान कर जाती है। ये लोग समझते है कि इस प्रकार के दान से उन्होने पुण्यप्राप्ति की। यह तो केवल भ्रम है, आत्मप्रवचना है। सस्थाओ में विना समझे, सस्था की सुव्यवस्था की जाँच किये विना दान देना व्यर्थ ही होता है। सच्ची समाज-सेवा उस दान से होती है, जिसके फलस्वरूप दु खी, दरिद्री, सहधर्मी, सदाचारी बन्धुवर्ग को आवश्यकीय सहायता मिले। धार्मिक या लौकिक लाभदायक शिक्षा का प्रसार हो। प्राचीन जैन मूर्तियो, शिलालेखो, स्तूपो, अतिशयक्षेत्रो की सुव्यवस्था तथा सुप्रबध हो। जैन धर्म की वास्तविक प्रभावना हो, अजैन जनता पर जैन धर्म के सिद्धान्तो का प्रभाव पडे और जैन धर्म में उन्हें श्रद्धा उत्पन्न हो। ऐसे केन्द्रीय शिक्षणालय, गुरुकुल, उदासीनाश्रम स्थापित किये जावे, जहाँ रह कर दीक्षित ब्रह्मचारी वालक सदाचार और प्रौढ ज्ञान की प्राप्ति करें। जहाँ के व्युत्पन्न उत्तीर्ण विद्यार्थी धनिक वर्ग के तुच्छ सेवक वन कर उदर-पालन, धन-सग्रह, या कुछ सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने को ही अपना जीवनोद्देश्य न समझें। सच्चे मुनि तो निरन्तर सदुपदेश देकर उत्कृष्ट दान करते रहते है। उपाध्याय और आचार्य भी सदा धर्मोपदेश और आत्मानुभव का मार्ग बतलाकर महान दान करते रहते है। अर्हन्त भी तो दिव्यध्वनि से क्षणिक दान देते रहते है।

सक्षेपत मनुष्य जीवन गृहस्थ अवस्था से व्रती, श्रावक, क्षुल्लक, ऐलक, मुनि, साधु, उपाध्याय, अर्हन्त अवस्था तक वरावर समाज-सेवा में रत रहते है। सिद्धप्राप्ति तक समाज-सेवा मनुष्य का भारी जन्मसिद्ध अधिकार और परम कर्त्तव्य है। इससे आत्मलाभ और परोपकार एक साथ दोनो सधते है। युद्ध, वैमनस्य, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मायाचारी, छीना-झपटी का समूल नाश होता है। ससार में शान्ति-सुख का प्रसार, विस्तार और सचालन होता है। "वसुधैव कुटुम्बकम" की कहावत चरितार्थ हो जाती है और ससार स्वर्ग वन जाता है।

सक्षेप में समाज-सेवक मनुष्य की पहचान यह है कि वह समाज से कम-से-कम ले और समाज को अधिक-से-अधिक दे। जैन साधु का लक्षण यह है कि वह ऐसा आहार भी नही ग्रहण करता है जो उसके निमित्त से बनाया गया हो, या जो दया भाव से दिया जाता हो। जैन-साधु भिक्षु नही है। उसको आहार की भी चाह नही है। वह कर्म-नाश के लिए तपश्चरण करने के अर्थ और आत्मघात के पाप से बचने के लिए जो कोई भव्य जीव भक्तिवश, सत्कार-पूर्वक, निर्दोष भोजन में से, जो उसने अपने कुटुम्ब के वास्ते बनाया है, मुनि को भक्तिसहित समर्पण करे तो खडे-खडे अपने हाथ में लेकर दिन मे एक वार ग्रहण कर लेता है। साधु ऐसे स्थान में भी नही ठहरता, जो उसके लिए तैयार या खाली कराया गया हो।

शौचार्थ जल और शरीर स्थिति के लिए शुद्ध अल्प भोजन के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु औषधि आदि भी जैन-साधु ग्रहण नही करेगा और वह सदा प्रत्येक क्षण प्रत्येक जीव को अभयदान, ज्ञानदान, उपदेश दान देता और अपने साक्षात निर्दोष दैनिक चरित्र से मोक्ष-मार्ग प्रदर्शन करता रहता है। यह समाज-सेवा का आदर्श है। प्रत्येक गृहस्थ श्रावक इस आदर्श को सदैव सामने रखता हुआ, अपनी पूरी शक्ति, साहस, उदारता से अपने जीवन निर्वाह के लिए समाज से कम-से-कम लेकर समाज को अधिक से अधिक देता रहे।

श्रद्धेय पडित नाथूराम प्रेमीजी ने अपने आदर्श जीवन से समाज-सेवा का आदर्श जैन श्रावक के लिए उपस्थित कर दिया है।

लखनऊ]

जैन-स   के बीसवीं सदी के प्रमुख आंदोलन

श्री परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ

जैन-समाज का भूत-काल कितना आन्दोलनमय रहा है, यह तो हम नही जानते, किन्तु वीसवी शताब्दी में जो खास-खास आन्दोलन हुए है, उन्ही में से कुछ का उल्लेख हम इस लेख मे करेंगे। वहुत समय से हमारी यह इच्छा रही है कि जैन-समाज का वीसवी सदी का एक प्रामाणिक इतिहास लिखा जाय, लेकिन खेद है कि हमारी वह इच्छा अभी तक पूर्ण नही हो सकी। वस्तुत इस इतिहास को वे ही भलीभाँति लिख सकते है, जिनकी आँखो के आगे जैन-समाज के ये पैंतालीस-पचास वर्ष वीते हो। इतना ही नही, वल्कि जिन्होने इन दिनो में समाज के आन्दोलनो मे स्वय भाग लिया हो।

हमारी दृष्टि में इस सवध मे सवसे अधिकारी व्यक्ति वा० सूरजभान जी वकील थे। वे वीसवी सदी के जैन-समाज के सभी आन्दोलनो के दृष्टा थे और अनेक आन्दोलनो के जन्मदाता भी। उन्होने उस युग में, जव कि सुधार का नाम लेना भी कठिन था, ऐसे-ऐसे आन्दोलन किये जिनके सवध मे आज भी—इस विकास-युग में वडे-वडे सुधारक वगलें झाँकने लगते है। स्व० वावू सूरजभान जी जैन-समाज के आन्दोलन-भवन की नींव की ईंट थे। वे उच्चकोटि के लेखक भी थे। यदि उनके द्वारा जैन-समाज का वीसवी शताब्दी का इतिहास लिखा गया होता तो वह समाज के लिए अपूर्व चीज होती, किन्तु समाज का यह दुर्भाग्य है कि लाखो रुपये का प्रति वर्ष दान होने पर भी इस ओर कोई प्रयत्न न हो सका और आन्दोलनो के आचार्य वावू सूरजभान जी चले गये।

अव हमारी दृष्टि श्रद्धेय प० नाथूराम जी प्रेमी की ओर जाती है। इस कार्य को अव वही कर सकते है क्योकि उन्होने भी वा० सूरजभान जी की भाँति जैन-समाज के इस युग के सभी आन्दोलन देखे है और उनमे से अधिकाश में स्वय भाग भी लिया है। कई आन्दोलनो के वे सृष्टा भी है।

इधर के पचास वर्षों मे जैन-समाज मे कई आन्दोलन हुए है, जिनमें से कुछेक का परिचय यहाँ दिया जाता है।

(१) छापेखाने का आदोलन

इस शताब्दी का जैन-समाज का यह प्रारभिक एव प्रमुख आन्दोलन था। जव जैन-ग्रथो की छपाई शुरू हुई तो जैन-समाज में तहलका मच गया। उसके विरोध में वडे-वडे आन्दोलन हुए। जैन-पुस्तको के प्रकाशको का वहिष्कार हुआ। उस समय छपी हुई जैन-पुस्तको को स्पर्श करने में पाप माना जाता था और उन्हें मदिरो में ले जाने की सख्त मनाई थी। इसके पक्ष-विपक्ष में कई वर्ष तक आन्दोलन चलते रहे। स्व० वावू सूरजभान जी, स्व० वा० ज्योतिप्रसाद जी, प० चद्रसेन जी वैद्य तथा उनके कुछ साथी जैन-पुस्तकें छपा-छपा कर प्रचारित कर रहे थे और जैन-समाज का वहुभाग उनसे सख्त नाराज था। उनका वहिष्कार किया गया और जैन-धर्म के विघातक के रूप में उन्हें देखा गया।

धीरे-धीरे विरोध कम होता गया। फलत जहाँ पहले पूजा-पाठो का छपाना भी पाप माना जाता था, वहाँ वडे-वडे आगम-ग्रथ भी छपने लगे। यहाँ तक कि 'जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी' सस्था की स्थापना हुई, जिसके द्वारा गोमट्टसार और राजवार्तिक आदि वीसियो ग्रथ छपे तथा उनका सम्पादन, अनुवाद आदि उन पडितो ने किया, जो छापे के विरोधी थे। अव तो धवल-जयधवल आदि महान आगम-ग्रथ भी छप गये है। यद्यपि अव भी कुछ नगरो के किसी-किसी मदिर में छपा हुआ शास्त्र रखने अथवा उसको गादी पर रख कर वचनिका करने की मुमानियत है,

तथापि यह केवल निष्प्राण रूढि ही रह गई है। अब तो सभी छपे हुए शास्त्रो को चाव से पढते है और उनकी उपयोगिता को अनुभव करते है। जिन्होने छापे का प्रारभिक विरोध अपनी आँखो से नही देखा, वे आज कल्पना भी नही कर सकते कि उसका रूप कितना उग्र था। उस समय ऐसा माना जाता था कि छापे का यह आन्दोलन जैन-धर्म को इस या उस पार पहुँचा देगा।

(२)दस्साओ का पूजाधिकार

दस्सा-पूजा का आन्दोलन भी बहुत पुराना है। स्व० प० गोपालदास जी वरैया इसके प्रधान आन्दोलन-कर्त्ताओ मे मे थे। जिस जमाने मे उन्होने इस आन्दोलन को प्रारभ किया था, दस्सा-पूजाधिकार का नाम लेना भी भयकर पाप समझा जाता था। गुरु गोपालदास जी का समाज में बडा ऊँचा स्थान था। वर्तमान समय में जितने भी पडित दिखाई देते है, वे सब प० गोपालदास जी के ऋणी है और वे उन्हें अपना गुरु या 'गुरुणागुरु' स्वीकार करते है। ऐसे प्रकाण्ड सिद्धान्तज्ञ विद्वान ने जब देखा कि जैन-धर्म की उदारता को कुचल कर अदूरदर्शी समाज एक बडे समुदाय—दस्साओ—को पूजा से रोकती है और उन्हें अपने जन्मसिद्ध अधिकार का उपभोग नही करने देती तो उन्होने उसके विरोध में आन्दोलन किया और सरेआम घोषणा की कि दस्साओ को पूजन का उतना ही अधिकार है, जितना कि दस्सेतरो को।

गुरु जी की इस घोषणा से भोली-भाली जैन-समाज तिलमिला उठी। उसे उसमें धर्म डूबता दिखाई देने लगा। पण्डितो तथा धर्मशास्त्रो से अनभिज्ञ सेठ लोगो ने जैन-सिद्धान्त के मर्मज्ञ गुरू जी का विरोध किया, किन्तु उसका परिणाम यह हुआ कि यह आन्दोलन बहुत व्यापक बन गया।

यह झगडा जैन-पण्डितो और श्रीमानो के हाथो से निकल कर अदालत में पहुँचा। जैन-समाज का करीब एक लाख रुपया बर्बाद हुआ और अन्त में जैन-धर्म के सामान्य सिद्धान्तो से भी अनभिज्ञ न्यायाधीशो ने फैसला दिया कि चूकि रिवाज नही है, इसलिए दस्साओ को पूजा का अधिकार नही है।

इस निर्णय के बावजूद भी आन्दोलन खत्म नही हुआ, क्योकि यह फैसला रिवाज को लक्ष्य करके दिया गया था और रिवाज तो मूढ जनता के द्वारा भी प्रचलित होते है। रिवाज का तभी महत्व होता है, जब उसके पीछे तर्क सिद्धान्त या आगम का बल हो, लेकिन दुख है कि रूढि-भक्त जैन-समाज ने जैनागम की आज्ञा की चिन्ता न करके अपनी स्थिति-पालकता के वशीभूत होकर दस्साओ को पूजा करने से रोका और वह रोक आज भी पूर्णतया नही हटी है। कुछ वर्ष पूर्व अ० भा० दिगम्बर जैन-परिषद् ने इस आन्दोलन को अपने हाथ में लिया था और उसके आदेशानुसार कुछ कार्यकर्त्ताओ ने उत्तर-भारत के कई नगरो का भ्रमण करके सुधार की प्रेरणा की, जिसके परिणामस्वरूप कई स्थानो पर दस्साओ ने पूजा प्रारभ कर दी।

दस्साओ के पूजाधिकार के सिलसिले में अनेक मुकदमे अदालतो मे लडे गये और कई स्थानो पर सिर-फुटौवल तक हुई। तग आकर कई दस्सा-परिवार दिगम्बर जैन-धर्म का त्याग करके केवल इसलिए श्वेताम्बर हो गए कि उन्हें दिगम्बर-समाज पूजाधिकार देने के लिए तैयार नही था।

आन्दोलन के परिणामस्वरूप समाज की मनोवृत्ति में कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है; लेकिन अभी इस दिशा में प्रयत्न आवश्यक है।

(३) अतर्जातीय विवाह

पिछले दो आन्दोलनो की भाँति एक और आन्दोलन चला, जिसे विजातीय अथवा अन्तर्जातीय विवाह-आन्दोलन कहा जाता है। यद्यपि यह आन्दोलन इस शताब्दी के प्रारभ से ही चल रहा है, तथापि इसने अधिक ज़ोर आज से लगभग बीस वर्ष पूर्व तब पकडा जब प० दरबारीलाल जी न्यायतीर्थ ने इसे अपने हाथ में लिया। प० दर-

बारीलाल जी सिद्धहस्त लेखक है। करीब पाँच वर्ष तक इसी विषय को लेकर पडित जी लिखते रहे। उनके लेखो के कारण स्थितिपालक पण्डितो में खलबली मच गई और उन्होंने विरोध में कई लेख लिखे, लेकिन उनका विशेष परिणाम नही निकला।

जैन-समाज के कई पत्रो ने इस आन्दोलन में भाग लिया। कुछ ने पक्ष में लिखा, कुछ ने विपक्ष में। समाज ने दोनो प्रकार के लेखो को पढा और तुलना करके अधिकाश बुद्धिजीवी जनता अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष में हो गई। उसी समय हमने 'विजातीय मीमासा' पुस्तक लिखी थी, जिसमे अपने पक्ष को युक्ति और आगम-प्रमाणो से सिद्ध किया था।

अन्तर्जातीय विवाह की सगति और उपयोगिता को देख कर अनेक लोगो ने इसे क्रियात्मक रूप में परिणत कर दिया। जैन-समाज में धीरे-धीरे अन्तर्जातीय विवाह होने लगे। गुजरात प्रान्त के दिगम्बर जैनो की प्राय सभी उपजातियो में अन्तर्जातीय विवाह होने लगे। अधिकाश मुनिराजो ने वहाँ अन्तर्जातीय विवाह करने वालो के हाथ से आहार ग्रहण किया और वहाँ किसी प्रकार की धार्मिक या सामाजिक रोक नही रही। अ० भा० दिगम्बर जैन-परिषद् ने इस आन्दोलन को पर्याप्त मात्रा में गति दी। यदि परिषद् के अग्रगण्य नेता और प्रमुख कार्यकर्त्ता स्वय अपनी सतान का अन्तर्जातीय विवाह करने का आग्रह रखते तो यह आन्दोलन और भी अधिक सफल सिद्ध होता। फिर भी गत बीस वर्ष के अल्प काल में यह आन्दोलन आशातीत सफल हुआ है।

(४) जाली ग्रथों का विरोध

स्वामी समन्तभद्र ने शास्त्र का लक्षण करते हुए बताया है कि जो आप्त के द्वारा कहा गया हो और जिसका खडन न किया जा सके और जो पूर्वापर विरोध रहित हो, वह शास्त्र है। किन्तु दुर्भाग्य से पवित्र जैन-शास्त्रो के नाम पर कुछ स्वार्थी पक्षपाती भट्टारको ने पूर्वाचार्यो के नाम से अथवा अपने ही नाम से अनेक जाली ग्रथो की रचना कर डाली और वे धर्मश्रद्धा या आगमश्रद्धा के नाम पर चलने भी लगे। इसी श्रद्धावश कई सौ वर्ष तक लोगो ने यह नही सोचा कि जो बातें हमारे जैनधर्म सिद्धान्तो के साथ मेल नही खाती, वे जिन ग्रथो मे है, वे हमारे शास्त्र क्योकर हो सकते है ?

ऐसी स्थिति मे यह साहस कौन कर सकता था कि धर्म-ग्रथो के आसन पर आरूढ उन ग्रथो को जाली कह दे अथवा उनके बारे में आशका प्रकट करे। यदि कभी कोई दबे शब्दो में शका करता भी तो उसे 'जिन बच में शका न धार' वाली पक्ति सुनाकर चुप कर दिया जाता। किन्तु इस प्रकार के जाली ग्रथ कब तक चल सकते थे! श्रद्धेय प० नाथूराम जी प्रेमी का 'जैन-हितैषी' पत्र निकलना प्रारभ हुआ। उसमें स्वतत्र और विचारपूर्ण लेख आने लगे। कुछ लेखको ने साहस किया और जाली ग्रथो के विरोध में लिखना प्रारभ कर दिया। जैन-समाज में तहलका मच गया। कट्टरपथी घबरा गये। उन्हें ऐसा लगा कि अब जैनागम का नाश हुआ! समालोचको के विरुद्ध लेख लिखे जाने लगे, सभाएँ होने लगी और उनका बहिष्कार किया जाने लगा। ज्यो-ज्यो उनका विरोध हुआ, समीक्षको का साहस बढता गया, जिसके परिणामस्वरूप जाली ग्रथो के विरुद्ध बीसों लेख लिखे गये। उनमें से माननीय श्री प्रेमी जी और महान समालोचक-परीक्षक प० जुगलकिशोर जी मुख्तार का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है।

श्रद्धेय प्रेमी जी ने करीब २० वर्ष पूर्व लिखा था—"वर्षा का जल जिस शुद्ध रूप में बरसता है, उस रूप में नहीं रहता। आकाश के नीचे उतरते-उतरते और जलाशयो में पहुँचते-पहुँचते वह विकृत हो जाता है। फिर भी जो वस्तु-तत्व के मर्मज्ञ है . उन्हें उन सब विकृतियो से पृथक वास्तविक जल का पता लगाने में देर नही लगती। बेचारे सरल प्रकृति के लोग इस बात की कल्पना भी नही कर सकते कि धूर्त लोग आचार्य भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, भगवज्जिनसेन आदि बडे-बडे पूज्य मुनिराजो के नाम से भी ग्रथ बनाकर प्रचलित कर सकते है।"

हर्ष और सौभाग्य की बात है कि माननीय प० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने अपनी पैनी बुद्धि और तीक्ष्ण लेखनी से ऐसे बनावटी-जाली ग्रथो के विरोध में आज से करीब तीस वर्ष पूर्व तब आन्दोलन खड़ा किया था, जब लोग

'बाबा वाक्य प्रमाण' को ही महत्व देते थे। श्री मुख्तार साहब ने सोमसेन त्रिवर्णाचार, धर्मपरीक्षा (श्वेताम्बर), अकलक प्रतिष्ठा-पाठ, और पूज्यपाद-उपासकाचार के विरोध मे युक्त्यागम सगत बीसो लेख लिखे, (जो 'ग्रथ-परीक्षा' तीसरा भाग के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए) जिनसे समाज की आँखें खुल गई। इससे भी पूर्व उन्होने 'ग्रथ-परीक्षा' के दो भाग लिखे थे, और 'जैनाचार्यों का शासन भेद' आदि पर लेख लिखे थे तथा करीब बारह वर्ष पूर्व 'सूर्य प्रकाश' ग्रथ के खडन मे 'सूर्यप्रकाश परीक्षा' लिखी थी। आपके उन लेखो और पुस्तको ने जैन-समाज का बडा उपकार किया और समाज की अन्धश्रद्धा मिटाकर उसे सत्पथ दिखाया।

इसमे कोई सन्देह नही कि जिस सोमसेन 'त्रिवर्णाचार' की जिनवाणी की भाँति पूजा हो रही थी, वह श्री मुख्तार साहब के लेखो और समीक्षा पुस्तको (ग्रथपरीक्षा भाग ३) से घृणास्पद माना जाने लगा। यह हाल उन सभी ग्रथो का हुआ, जिनके विरोध में मुख्तार साहब ने कुछ भी लिखा है।

अभी-अभी कुछ मुनियो एव भट्टारकीय परम्परा वाले जैन साधुओ द्वारा पुन नन तथा उनसे मिलते-जुलते जाली ग्रथो का प्रचार प्रारभ हुआ था। स्व० मुनि सुधर्मसागर जी का इसमे काफी हाथ रहा है। उन्होने 'सूर्य-प्रकाश' और 'चर्चासागर' का प्रचार किया, 'दान-विचार' और 'सुधर्मश्रावकाचार' नामक ग्रथो की रचना की, उन्हें छपाया और प्रचारित किया, किन्तु जब उनका डट कर विरोध हुआ, समीक्षाएँ लिखी गई तो समाज के नेत्र खुले और उन जाली ग्रथो के प्रति घोर घृणा हो गई।

क्षुल्लक ज्ञानसागर जी (स्व० मुनि सुधर्मसागर जी) ने 'सूर्यप्रकाश' जैसे मिथ्यात्वपोषक ग्रथ को आचार्य नेमिचन्द्रकृत बताने का अतिसाहस किया। उसका अनुवाद किया और छपवा कर उसे प्रचारित किया। श्री मुख्तार साहब ने उस के विरोध में कई लेख लिख कर उसे बिल्कुल जाली, मिथ्यात्व-पूर्ण और जैनत्व का नाशक सिद्ध कर दिया। चर्चासागर, दानविचार, और सुधर्मश्रावकाचार आदि ग्रन्थो की समीक्षाएँ हमने लिखी थी, जिन्हें लेकर कई वर्ष तक जैन-पत्रो में चर्चा चलती रही।

हमारी पुस्तक 'चर्चासागर-समीक्षा' की भूमिका में प० नाथूराम जी प्रेमी ने लिखा था, "हमारा विश्वास है कि स्वर्गीय प० बनारसीदास जी और प० टोडरमल जी आदि ने जो सद्विवेक ज्ञान की ज्योति प्रकट की थी, वह सर्वथा बुझ नही गई है—हजारो-लाखो धर्मप्रेमियो के हृदय में वह आज भी प्रकाशमान है—और इसलिए हमे यह आशा करनी चाहिए कि मलिनीकृत और निर्मल जिन-शासन के भेद को समझने में उन्हे अधिक कठिनाई नही पडेगी।"

और भी बहुत से मिथ्यात्वपोषक ग्रथ रचे गये, जिनका इस शताब्दी में खूब विरोध हुआ।

दिल्ली]

ऋग्वेद में सूर्या का विवाह

श्री धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

ऋग्वेद हिन्दुओ का धार्मिक ग्रथ है अथवा आर्य सभ्यता की प्राचीनतम गाथा, दोनो ही दशाओ मे यह मानना पडेगा कि उसमें हमारी सभ्यता का उद्गम स्रोत विद्यमान है। पुरातत्त्व के विद्वानो के लिये मानव-विकास की पहेली को समझने की दृष्टि से ऋग्वेद का अध्ययन आवश्यक है ही, पर हमारे लिये तो वह अनिवार्य है, क्योकि हमारे राष्ट्रीय जीवन का मूलरूप उसमें मौजूद है, जिसका समझना न केवल हमारे समाज के नव निर्माण में सहायक होगा, प्रत्युत वह हमारे जीवन के लिए नवीन स्फूर्ति का सतत श्रोत भी होगा।

हमारे पारिवारिक और सामाजिक जीवन का आधार विवाह की प्रथा है। इस प्रथा के विषय में जो कुछ भी परिचय हमें ऋग्वेद मे मिलता है वह हमारे लिये कितना रुचिकर और उपयोगी होगा, यह कहने की आवश्यकता नही। ऋग्वेद-जैसे विस्तृत ग्रथ में बिखरी हुई विवाह-सबधी जितनी बातें हैं, उन सब का सचय कर उन्हें व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना महान् कार्य है। यह लेख विवाह-सबधी मुख्य सूक्त—'सूर्यासूक्त' (मण्डल १०, सू० ८५)—के अध्ययन तक ही सीमित है। उस सूक्त से, जहाँ तक उसका अर्थ इस समय तक समझा जा सका है, विवाह-प्रथा के विषय में हमें जो परिचय मिलता है, वही इस लेख मे दिखाया जायगा। ऋग्वेद आर्यों या भारत-यूरोपीय (Indo-European) परिवार का ही नहीं, प्रत्युत सारी मानव-जाति का सब से प्राचीन ग्रथ निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाता है। इसलिए उसमें सूर्या के विवाह का वर्णन मानव-जाति के इतिहास में विवाह का सबसे पुराना वर्णन है और इस दृष्टि से वह हमारे लिये अत्यन्त रोचक है। उस प्रागैतिहासिक काल मे जो विवाह-प्रथा की झलक दिखाई देती है, आज तक भी हिन्दुओ के विवाह में वही प्रथा लगभग उसी रूप मे विद्यमान है। सच तो यह है कि सूर्या आर्य-जाति की आदि वधू है और आज भी प्रत्येक आर्यवधू, जो विवाह-मण्डप मे आती है, सूर्या का ही रूप है, मानो बार-बार 'सूर्या' ही हमारे सामने आती है। युगान्तरकारी राजनैतिक परिवर्तनो के बीच भी हिन्दुओ ने अपनी सामाजिक प्रथाओ को अक्षुण्ण रक्खा है, इसका इससे बडा प्रमाण और क्या मिल सकता है?

ऋग्वेद में सूर्या का विवाह प्राकृतिक जगत मे होने वाली एक घटना का आलकारिक रूप है,[1] जैसा कि हम आगे देखेंगे। वस्तुत ऋग्वेद के अधिकाश देवता प्राकृतिक घटनाओ की पुरुषविध (Anthropomorphic) कल्पना के रूप में है, यह बात प्राय सभी वैदिक विद्वान् स्वीकार करते हैं[2]। आलङ्कारिक होते हुए भी उस में जो विवाह सम्बन्धी वर्णन है और विशेषकर विवाह के विषय में प्रतिज्ञा-सूचक मन्त्र है उनमें से अधिकाश गृह्य-सूत्रो में दी हुई विवाह की पद्धति में लिये गये है,[3] और वे आज तक हिन्दुओ की विवाह-पद्धति में प्रचलित हैं[4]। इन ऋचाओ में विवाह के सबध में जैसे हृदय-स्पर्शी उदात्त भाव हैं, वैसे ससार की किसी भी विवाह-पद्धति में मिलना कठिन है।

---

[1] Winternitz Indian literature Vol I P 107

[2] Macdonell. Sanskrit Literature p 67 " Process of Personification by which natural phenomena developed into gods"

[3] पारस्कर गृह्यसूत्र काण्ड १, कण्डिका ३-८।

[4] ऋषि दयानन्दः संस्कारविधि विवाह प्रकरण। तथा षोडश सस्कार-पद्धति गोविन्द प्रसाद शास्त्री रचित (सनातन धर्मरीत्या)—विवाह प्रकरण।

यदि इस समय हमारी विवाह-पद्धति की गौरव-गभीरता उतनी प्रभावोत्पादक नही तो इसका कारण सभवत यह है कि अनेक प्रकार की विधियो के विस्तृत जजाल में, जो कि आधुनिक समय में नीरस, निरर्थक और वहुधा हास्यास्पद-सी प्रतीत होती है, इन ऋचाओ का सरल सौंदर्य विलकुल दब जाता है। यदि समयानुसार प्रभावोत्पादक और सरल विवाह-पद्धति तैयार की जाँय तो इन ऋचाओ की उदात्त, ओजस्वी और सजीव भावना में विवाह का सर्वोत्कृष्ट आदर्श मिलेगा।

सूर्यासूक्त मे हमे विवाह-पद्धति का परिपूर्ण चित्र नही मिलता, परन्तु फिर भी उस दिशा में इस सूक्त से जो परिचय प्राप्त होता है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सूर्यासूक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल का ८५वाँ सूक्त है। इसमें ४१ ऋचाए है। इस प्रकार यह ऋग्वेद के वडे सूक्तो मे से है। इस सूक्त की ऋषि भी स्वय सूर्या है। यह कहने की आवश्यकता नही कि ऋग्वेद के और भी अनेक सूक्तो की ऋषि स्त्रियाँ है। इस सूक्त के देवता, जो कि विषयसूचक होते है, विभिन्न है। पहले पाँच मत्रो में सूर्या के पति सोम का वर्णन है। इसलिए उनका देवता सोम है। अगले ११ मत्रो में विवाह का वर्णन है। अत उनका देवता विवाह ही है। इसी प्रकार अगली ऋचाओ में भी विवाह-सवधी आशीर्वाद, वस्त्र आदि का वर्णन है। इसलिए उन-उन विषयो को ही इस सूक्त का देवता कहा जायगा। इस सूक्त की ऋचाओ का क्रम, पूर्वापर भाव अभी तक स्पष्ट समझ में नही आ सका है। यह कहना अप्रासगिक न होगा कि किसी वैदिक विद्वान द्वारा इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूक्त के विशिष्ट अध्ययन का पता लेखक को नही मिला है। पूर्वापर भाव स्पष्ट न होने से हमें मत्रो पर विचार करने मे सूक्त का क्रम छोडना पडा है। अनेक ऋचाओ का आशय अभी तक स्पष्ट नहीं है। इसलिए केवल ऐसी ऋचाओ पर ही इस लेख में विचार किया जायगा, जो स्पष्ट रूप से विवाह-पद्धति के विषय में प्रकाश डालती है।

सवसे पहले सूर्या के विवाह के अलकार की आधारभूत प्राकृतिक घटना का समझना आवश्यक है, क्योकि जो विद्वान ऋग्वेद को प्राचीन युग की गाथा के रूप में ऐतिहासिक दृष्टि से देखते है, वे भी इस सूक्त में ऐतिहासिक गाथा न मान कर इसे प्राकृतिक घटना का ही आलकारिक वर्णन स्वीकार करते है। यहाँ 'सूर्या' सूर्य या सविता की पुत्री है। वहुतो के विचार मे यह सविता की पुत्री 'उषा' है, परन्तु वस्तुत यह प्रतीत होता है कि सूर्य की किरणें ही सूर्य की पुत्री 'सूर्या' के रूप में है। 'सोम' ऋग्वेद मे साधारणतया उस वनस्पति के लिये आया है, जिससे सोमरस निकाला जाता था, परन्तु यह सोम वनस्पतियो का राजा है और चन्द्रमा को भी वनस्पतियो का राजा माना गया है। इसलिये 'सोम' शब्द चन्द्रमा के लिये भी ऋग्वेद में तथा वाद के साहित्य मे आने लगा है। इस सूक्त में भी सोम शब्द चन्द्रमा के लिये है, यह सूक्त के प्रथम पाँच मत्रो में ही स्पष्ट कर दिया गया है। प्रश्न यह है कि चन्द्रमा का सूर्य की किरणो के साथ विवाह का क्या अर्थ है ? सभी जानते है कि चन्द्रमा सूर्य की किरणो द्वारा ही चमकता है। वैज्ञानिक वताते है कि चन्द्रमा वुझे हुए कोयले का एक वडा पिण्ड माना गया है। सूर्य की किरणो से सयुक्त होकर वह चमक उठता है, प्रकाशक और आह्लादक होता है और कवियो की कल्पना मे वह अमृत से भरा हुआ सुधासमुद्र वन जाता है। यही घटना चन्द्रमा से सूर्य की किरणो का विवाह है। कितनी हृदयङ्गम कल्पना है! इसमें कितना महत्त्वपूर्ण सत्य विद्यमान है! मनुष्य का जीवन कोयले का ढेर है, नीरस है, अन्धकारमय है, निर्जीव है, किन्तु स्त्री का सयोग उसे सरस वनाता है, प्रकाश देता है और सजीव कर देता है। स्त्री पुरुष के जीवन की ज्योति है।

सूक्त के मत्रो पर विचार करने से पूर्व यह वतला देना आवश्यक है कि ऋग्वेद की नारी आधुनिक हिन्दू समाज की नारी के समान निर्वल, दलित और व्यक्तित्वहीन नही, प्रत्युत वह गौरवशालिनी गृह की स्वामिनी है। वह वशिनी[1] सारे घर को वश में करने वाली है। इतना ही नही वह घर की 'सम्राज्ञी'[2] है। इससे अधिक गौरवपूर्ण अधिकार-

---

[1] ऋग्वेद १०।८५।२६।

[2] ऋग्वेद १०।८५।४६।

सूचक शब्द क्या हो सकता है ? हमारी सस्कृति मे यह भावना चली आती है कि स्त्री ही घर है—'गृहिणी गृहमुच्यते' इस भावना का स्रोत भी ऋग्वेद का यह मत्र ही है—'जायेदस्तम्'[1] (जाया+इत्+अस्तम्) अर्थात् स्त्री ही घर है। ऋग्वेद मे स्त्री का यह स्वरूप आधुनिक आलोचको की भावना से मेल नही खाता, क्योकि समझा जाता है कि वैदिक आर्यों का समाज पितृतन्त्र (Patriarchic) परिवार से वना था, जिसके अनुसार स्त्री का पद हीन है। इसके विपरीत भारत मे आर्यों से पहले विद्यमान द्राविड सभ्यता का परिवार मातृतन्त्र (Matriarchic) था, जिसमें स्त्री का स्थान पुरुप से अधिक गौरवपूर्ण है। आर्य एक स्थान पर न रहने वाले साहसप्रिय विजेता थे। इसलिये उनके समुदाय में स्त्रियो का पद उतना गौरवशाली नही हो सकता था, परन्तु द्राविड सभ्यता स्थिर जीवन की पोषक नागरिक सभ्यता थी। अत उसमे स्त्री का पद उच्च होना स्वाभाविक था। इस दृष्टि से आधुनिक हिन्दू समाज में, जो कि वैदिक आर्यो तया द्राविड जाति की सस्कृति का सम्मिश्रण है, स्त्रियो का पद वैदिक सस्कृति से कुछ उच्चतर ही होना चाहिए था, परन्तु वास्तविक स्थिति इससे ठीक उल्टी है। किन-किन सस्कृतियो के सपर्क से किन-किन परिस्थितियो मे भारतीय नारी का सामाजिक पद उन्नत और अवनत हुआ है, यह इतिहास के विद्यार्थियो के लिये एक जटिल समस्या है, जिसका आलोचनात्मक अध्ययन होना चाहिए।

स्त्री का पद गौरवपूर्ण होते हुए भी वैदिक सस्कृति मे इस प्राकृतिक तथ्य को स्वीकार किया गया है कि स्त्री पुरुप के द्वारा रक्षा और आश्रय की उपेक्षा रखती है। विवाह से पूर्व कन्या माता-पिता के आश्रय में रहने के साथ-साथ विशेपकर अपने भाई के सरक्षण में रहती है, यह वैदिक सस्कृति के 'भ्राता' शब्द की विशेष भावना है। 'भ्राता' शब्द का धात्त्वर्थ न केवल सस्कृत मे, प्रत्युत भारत-यूरोपीय परिवार की सभी भाषाओ में (रक्षा करने वाला) अर्थात् वहिन का रक्षक है। इस प्रकार 'भ्रातृत्व' का प्रवृत्ति निमित्तक मूल अर्थ वहिन की दृष्टि से ही है। दो सगे भाइयो के वीच 'भाई' शब्द का प्रयोग गौण रूप से ही हो सकता है। उसका मौलिक प्रयोग तो वहिन की दृष्टि से होता है। इसी लिये भाई के द्वारा वहिन की रक्षा का भाव हमारी सस्कृति मे ओतप्रोत है और वह मनुष्य की उदात्ततम भावनाओ मे गिना जाता है। इसी दृष्टि से भाई वहिन का स्नेह अत्यन्त निष्काम और मधुरतम है तथा भाई का वहिन के प्रति कर्तव्य अति वीरोचित भावना मे भरपूर है। पजावी भाषा में भाई के लिए 'वीर' शब्द का प्रयोग कितना सारगर्भित है। इस प्रकार ऋग्वेद की नारी जहाँ वर्तमान हिन्दू स्त्री के समान गौरवहीन और व्यक्तित्वहीन नही है, वहाँ आधुनिक पश्चिम की नारी के समान पुरुप की रक्षा और छाया से पृथक् स्वच्छन्द विचरने वाली स्त्री भी नही है।

विवाह के सवध मे पति का चुनाव एक मौलिक प्रश्न है। यह चुनाव भी न तो वर्तमान हिन्दू समाज के समान है, जिसमे कन्या और वर का कोई हाथ ही नही और न पश्चिम के समान है, जिसमें युवक और युवती ही सर्वेसर्वा है और स्वय ही अपने लिए साथी ढूढते है। ऋग्वेद के चुनाव मे तीन अश स्पष्ट दिखाई देते है—

(१) वर वधू का पारस्परिक चुनाव, विशेपकर कन्या का अपनी इच्छापूर्वक पति को चुनना।

(२) माता-पिता और बन्धुओ द्वारा चुनाव मे सहयोग, प्रयत्न और अनुमति।

(३) सार्वजनिक अनुमति अर्थात् साधारण पडोसी जनता द्वारा उस सवध की स्वीकृति।

इन तीन वातो पर प्रकाश डालने वाले सूर्यासूक्त के दो महत्त्वपूर्ण मन्त्र निम्नलिखित है

यदश्विना पृच्छमानावयात त्रिचक्रेण वहतु सूर्याया।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन् पुत्रः पितराववृणीत पूषा॥
(ऋ० १०।८५।१४)

---

[1] ऋग्वेद १०।५३।४।

सोमो　　वधूयुरभवदश्विवास्तामुभा　　वरा।
सूर्यां यत्पत्ये शसर्ती मनसा सविता ददात्॥
(ऋ० १०।८५।९)

अर्थात्—

(अ) जिस समय हे अश्विन्! तुम सूर्या के विवाह का प्रस्ताव करते हुए तीन चक्रवाले रथ मे आये, सब देवो ने तुम्हारे प्रस्ताव पर अनुमति दी और पुत्र पूषा (?) ने तुमको पिता के रूप में चुना।

(आ) उस समय सोम वधुयु (वधू को चाहने वाला वर) था और दोनो अश्विन् वर (यहाँ वर दूसरे अर्थ में है जैसा कि नीचे स्पष्ट किया जायगा) थे, जब कि मन से पति को चाहती हुई सूर्या को (उसके पिता) सविता ने (सोम के लिये) दिया।

इन मत्रो से निम्नलिखित बाते स्पष्ट होती हैं—

(१) इस विवाह में 'सूर्या' वधू है और सोम 'वधूयु' अर्थात् वधू को चाहने वाला या वरने वाला है। यहाँ 'वधूयु' शब्द प्रचलित 'वर' के अर्थ में है।

(२) दोनो अश्विन वर हैं। यह स्पष्ट है कि यहाँ वर शब्द प्रचलित अर्थ से भिन्न अर्थ में है। यहाँ 'वर' का अर्थ विवाह करने वाला नही है, बल्कि विवाह करने वाले वधूयु के लिये कन्या का चुनने वाला, ढूढने वाला, विवाह का प्रस्ताव लेकर जाने वाला और विवाह को निश्चय कराने वाला 'वर' है। दोनो 'अश्विन्' वर है, क्योकि वे सोम के लिए कन्या को चुनते हैं। विवाह का प्रस्ताव लेकर जाते है। पाश्चात्य व्यवहार में उनको वर का मुख्य आदमी कहा जा सकता है।

(३) अश्विन् जिस विवाह का प्रस्ताव लेकर जाते है, जो चुनाव उन्होने किया है, उस पर सब देव (सब जनता) जो परिवार से सम्बद्ध है, अपनी अनुमति देते है।

(४) दोनो अश्विनो के प्रस्ताव करने पर सूर्या का पिता सविता उसे स्वीकार करता है।

(५) परन्तु पिता की अनुमति तभी सभव हो सकी जब कि वधू सूर्या ने सोम को इच्छापूर्वक पति स्वीकार किया है (पत्ये शसती मनसा)।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चुनाव में तीन अश है—कन्या के द्वारा चुनाव, माता-पिता की स्वीकृति और जनता की अनुमति। यहाँ पूर्वोक्त १४वें मन्त्र के अन्तिम पद—'पुत्र पितराववृणीत् पूषा' का कुछ विवेचन करना अप्रासगिक न होगा। शब्दार्थ तो यही होगा कि "पुत्र पूषा ने तुम अश्विनो को पिता के रूप में चुना"। इसका क्या मतलब हो सकता है? इस पर सायण चुप है, पर ग्रिफिथ लिखता है, 'पूषा' सूर्य है। उसने अश्विनो को पिता इसलिए माना कि उन्होने उसकी लडकी के विवाह का प्रबध किया, परन्तु यह बिलकुल अयुक्त मालूम पडता है, क्योकि अश्विन्, जैसा ऊपर कहा गया है, 'सोम' की तरफ के मुख्य पुरुष है। उसको लडकी का पिता सविता अपना बन्धु या भाई चुन सकता है, न कि पिता, क्यो कि सविता सोम का श्वशुर पितृस्थानीय है। वह सोम के पक्षके व्यक्ति को यदि वह (सोम का) पितृस्थानीय भी हो तो उसे 'भाई' चुन सकता है, न कि पिता। वस्तुत सायण, ग्रिफिथ, या अन्य टीकाकारो को इसका अर्थ स्पष्ट नही हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ 'पूषा' शब्द सोम के लिये है, जिसका कारण कोई भी वैदिक कल्पना हो सकती है, जो कि स्पष्ट नही है। चाहे किसी विशेष दृष्टि से हो, पर है यह 'पूषा' शब्द सोम के लिये। जब 'अश्विन्' सोम के लिये कन्या ढूंढने चलते है तो यह स्वाभाविक है कि सोम उन अश्विनो को अपना पिता चुने। 'पूषा' शब्द इस सूक्त में सविता के लिये नही हो सकता, बल्कि सोम के लिये ही है। यह बात इस सूक्त के २६वे मत्र से भी स्पष्ट होती है। २६वें मत्र का पहिला भाग इस प्रकार है—

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्रवहता रथेन॥ (ऋ० १०।८५।२६)

हे सूर्या (वधू) पूषा हाथ पकड़ कर तुमको यहाँ से ले जाये और दोनों अश्विन् तुमको (पति के घर) रथ से पहुँचायें।

यह तो इस सूक्त में स्पष्ट हो जाता है कि सूर्या को रथ पर बैठा कर ले जाना अश्विनों का काम है, परन्तु 'सूर्या' को हाथ पकड़ कर ले जाने वाला 'पूषा' सोम ही हो सकता है, न कि सूर्या का पिता सविता। कुछ भी हो, 'पूषा' का वास्तविक अर्थ इस सूक्त में विचारणीय है। कन्या के द्वारा स्वेच्छापूर्वक वर के चुनाव की बात ऋग्वेद में दूसरी जगह और भी स्पष्ट और कुछ अधिक जोरदार शब्दों में पाई जाती है। ऋग्वेद के १०वें मण्डल के २१वें सूक्त का मन्त्र है—

भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा
स्वयं सा मित्रं वनुते जनेचित् ॥ ऋ० १०।२१।१२

जो मंगलस्वरूपा सुन्दर वधू है, वह मनुष्यों में अपने 'मित्र' (साथी पति) को स्वयं चुनती है। यहाँ पर 'स्वयं वनुते' यह बहुत ही स्पष्ट है।

पति के चुनाव के बाद प्रश्न आता है विवाह की तिथि के निर्णय का। इस विषय में सूर्यासूक्त का १३वाँ मन्त्र इस प्रकार है —

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्यो: पर्युह्यते ॥१०।८५।१३

सूर्या का विवाह संबंधी दहेज (वहतु) जो सविता ने दिया, पहिले ही भेजा गया, अघा (मघा) नक्षत्रों में अर्थात् (माघ मास में) गायें चलने के लिये ताडित की जाती हैं और अर्जुनी नक्षत्रों में (फाल्गुनी मास में) विवाह के बाद वधू को ले जाया जाता है।

इस मन्त्र से निम्न बातें हमारे सामने आती हैं —

(१) विवाह में कन्या का पिता[1] दहेज देता है और वह दहेज विवाह से पहिले ही भेज दिया जाता है। दहेज के विषय में अधिक विचार आगे किया जायगा।

(२) 'अघासु हन्यन्ते गाव:' इसका अर्थ सायण करता है कि माघ मास में दहेज में दी हुई गायें सोम के घर जाने को ताडित की जाती हैं, अर्थात् प्रेरित की जाती हैं। परन्तु 'राथ' (Roth) के अनुसार एक मास पूर्व होने वाले विवाह संबंधी भोज के लिये गायें मारी जाती हैं, ऐसा अर्थ है। यहाँ पहिले भाग में स्पष्ट रूप से दहेज की चर्चा है और यह बात मानी हुई है कि दहेज की मुख्य वस्तु गायें थीं, जो प्रथा जामाता को गोदान देने के रूप में आजतक विद्यमान है। इसलिए सायण का अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

(३) गायें माघ के मास में भेजी जाती हैं और विवाह उसके बाद फाल्गुन मास में होता है। फाल्गुन मास ही विवाह का समय था, या केवल सूर्या के विवाह में ही फाल्गुन मास है, यह बात विचारणीय है।

ऊपर दहेज की चर्चा आई है। ऋग्वेद में दहेज विवाह का आवश्यक अंग प्रतीत होता है। यद्यपि आजकल दहेज की प्रथा हिन्दू समाज के लिए अभिशाप रूप हो रही है, तथापि यह याद रखना चाहिये कि दहेज की प्रथा की मौलिक भावना कन्याओं के संबंध में उच्च नैतिक आदर्श को प्रकट करती है। संसार की उन प्राचीन जातियों में, जहाँ नैतिक आदर्शों का विकास नहीं हुआ था, प्रायः कन्या के विवाह में धन लेने की या दूसरे शब्दों में कन्या को बेचने की प्रथा पाई जाती है। दहेज की प्रथा ठीक उसका उल्टा रूप है।[2]

---

[1] दहेज देने का संबंध विशेषकर भाई के साथ है, ऐसा ऋग्वेद के १।१०९।२ मन्त्र से प्रतीत होता है।

[2] कुछ आलोचकों का विचार है कि दहेज की प्रथा के साथ-साथ उससे विपरीत इस प्रथा की भी झलक ऋग्वेद में मिलती है कि वर की ओर से कन्या के माता-पिता को धन दिया जाय।

मुख्य दहेज 'गौ' का है, जो पहिले ही भेज दिया जाता था, जैसा कि ऊपर आया है, परन्तु उसके सिवाय अन्य दहेज का भी वर्णन सूर्यासूक्त के ७वें मन्त्र मे है —

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात् सूर्या पतिम् ॥ (ऋ० १०।८५।११)

चित्ति (विचार या देवता विशेष) उसका तकिया था और चक्षु ही नेत्रो में लगाने का अञ्जन या उबटन था। द्युलोक और भूमि ही सूर्या का कोष था, जब कि वह पति के घर गई।

इस मन्त्र में तो आलकारिक वर्णन होने से दहेज की वस्तुएँ काल्पनिक हैं, पर यह प्रकट होता है कि (१) तकिया या तकिया से उपलक्षित बिस्तर (पलग आदि) तथा (२) शृगार सामग्री और (३) बहुत सा धन दहेज में दिया जाता था। दहेज का बहुत कुछ यही रूप अभी तक चला आ रहा है।

विवाह के समय जिस प्रकार वर के मुख्य कार्यकर्ता पुरुष अश्विन् हैं, उसी प्रकार कन्या की सहेलियाँ भी होती थी, जो विवाह-सस्कार में सहायता देती थी —

रैभ्यासीदनुदेवी नाराशसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् ॥ (ऋ० १०।८५।६)

रैभी (ऋचा) उसकी सहेली (अनुदेयी) नाराशसी (ऋचा) उसको पति-घर ले जाने वाली (न्योचनी) थी और सूर्या की सुन्दर वेशभूषा गाथा ने सजाई थी।

सूर्या के विषय में तो सहेलियाँ ऋचाओ के रूप में काल्पनिक हैं, परन्तु सहेलियो का असली रूप क्या था? सायण के अनुसार 'अनुदेवी' का अर्थ है वह सहेली, जो वधू के साथ जाती है और 'न्योचनी' जो कि सेविका के रूप मे वधू के साथ मे भेजी जाती है, परन्तु इन सब का वास्तविक रूप अभी तक अस्पष्ट ही है।

इसके बाद सस्कार के समय पुरोहित क्या आदेश देता था और वर-वधू का वाग्दान किस रूप में होता था, इस पर सूर्यासूक्त क्या प्रकाश डालता है, यह देखना चाहिए।

सूर्यासूक्त का पहिला मत्र है —

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रित. ॥ (ऋ० १०।८५।१)

सत्य के द्वारा पृथिवी ठहरी हुई है और सत्य के द्वारा ही सूर्य ने आकाश को सभाल रक्खा है। प्रकृति के अटल सत्य नियम से आदित्य ठहरे हुए हैं और उसी से आकाश मे चन्द्रमा स्थित है।

विवाह-सस्कार और दाम्पत्य जीवन की भूमिका में क्या इससे सुन्दर भाव रक्खे जा सकते है? सारा जगत 'सत्य' पर ठहरा हुआ है और वह सत्य ही दाम्पत्य जीवन का आधार है। मानव के अन्दर भगवान का दिव्य रूप सत्य साधना ही है। जीवन भर के लिये किसी को अपना साथी चुनना मानव-जीवन की सबसे पवित्र और सबसे महत्त्वपूर्ण सत्य प्रतिज्ञा है। यह 'सत्य' ही दो हृदयो के ग्रन्थि-बन्धन का आधार है। उस सत्य को साक्षी बना कर विवाह-सस्कार का प्रारभ होता है। यह विचित्र सी बात है कि गृह्यसूत्रो में इस महत्त्वपूर्ण मन्त्र को विवाह-सस्कार में स्थान नही दिया। वस्तुत यह एक बडी भूल हुई है। विवाह सस्कार की प्रस्तावना में इस वैदिक ऋचा के द्वारा उच्च मधुर स्वर मे 'सत्य' का आवाहन कितना प्रभावोत्पादक होता होगा।

इसके बाद विवाह-सस्कार का प्रारभ होता है, जिसका मुख्य रूप पुरोहित की घोषणा है, जो इस सूक्त के विशेषकर चार मन्त्रो (२४-२७) मे है। ये चारो मन्त्र अत्यन्त सारगर्भित भावो से भरे हुए हैं। यहाँ यह कह देना अनावश्यक न होगा कि इस सूक्त के सारे मन्त्रो का सबध विशेषकर कन्या से ही है, क्योकि विवाह-सस्कार की

मुख्य पात्र कन्या है, वर उतना नही, क्योकि विवाह-सस्कार के द्वारा कन्या अपना व्यक्तित्व वर के व्यक्तित्व में मिलाती है। मन्त्र निम्नलिखित है —

प्रत्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशा द्येन त्वाऽबध्नात् सविता सुशेव ।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टा त्वा सह पत्या दधामि ॥ (ऋ० १०।८५।२४)

हे सूर्ये, मै तुम्हें उस वरुण के पाश से छुडाता हूँ, जिससे सुखद सविता ने तुम्हें बाँध रक्खा था। मै तुमको जो अक्षत (सर्वथा अदूषित) हो, इस सत्य प्रतिज्ञा (ऋत) की वेदी पर पुण्य कर्म-युक्त जगत में जाने के लिये पति के साथ जोडता हूँ।

वह वरुण (सत्य धर्म के अधिष्ठाता देव) का बन्धन, जिससे कन्या पिता के घर बँधी हुई है, कौमार जीवन का व्रत है। विवाह के समय तक कन्या 'अरिष्टा' है, उसका पवित्र कौमार्य अक्षत है। सत्य की वेदी पर उसे पति के साथ पुरोहित ने जोडा है, पुण्य कर्मों के जगत में (सुकृतस्य लोके) जाने के लिये, क्योकि पुण्य का सचय ही दाम्पत्य जीवन का आदर्श है।

प्रेतो मुञ्चामि नामुत सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रा सुभगासति ॥

(ऋ० १०।८५।२५)

मै (पुरोहित) इस कन्या को इधर से (पितृकुल से) छुडाता हूँ, उधर से जोडता हूँ, जिससे कि हे वर्षक इन्द्र, यह कन्या पुत्रवाली और भाग्यशाली हो।

इस प्रकार कन्या पितृकुल से छूटकर दृढता के साथ पतिकुल में जुड जाती है।

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्रवहता रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्व विदथमावदासि ॥

(ऋ० १०।८५।२६)

पूषा तुम को हाथ पकड कर यहाँ से ले जाये और दोनो अश्विन् तुम को (पति के घर) रथ में पहुँचाएँ। तुम पति के घर जाओ, जिससे उनके घर की स्वामिनी होकर और सारे घर को वश मे कर (वशिनी) अपने अधिकार (विदथ) की घोषणा करो।

पति के घर में पत्नी की मर्यादा और स्थिति क्या है, इस बात को यह मन्त्र बताता है। इस मन्त्र के तीन शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। (१) 'गृहपत्नी' (घर की स्वामिनी) (२) 'वशिनी' (सब घर को वश मे रखने वाली) (३) 'विदथमावदासि' शासन अधिकार की घोषणा करने वाली (विदथ=शासन)। सायण ने 'वशिनी' का अर्थ किया है, सब घर के लोगो को वश में लाने वाली अथवा पति के वश में रहने वाली। यह स्पष्ट है कि 'वशिनी' का पिछला अर्थ वश में रहने वाली बिलकुल असगत है और सायण ने अपने काल की परिस्थिति के अनुसार यो ही कर डाला है।

अगला मन्त्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है —

इह प्रिय प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्व ससृजस्वाधा जिव्री विदथमावदाथ ॥

(ऋ० १०।८५।२७)

इस पतिकुल में तुम्हारा प्रिय सुख-सौभाग्य सन्तानो के साथ समृद्ध हो। इस घर मे तुम गृहपतित्व सबधी कर्तव्य के प्रति सजग रहो। इस पति के साथ अपने शरीर (व्यक्तित्व) को जोड कर एक कर दो और फिर दोनो एक होकर वृद्ध होने तक अपने अधिकार का पालन करो।

मन्त्र के पहिले भाग मे सन्तानो के साथ समृद्ध होने और अपने गृह-स्वामिनी होने के कर्तव्य और अधिकार के विषय में जागरूक रहने का आदेश है। मन्त्र के दूसरे भाग मे गृहस्थ जीवन के चरमनिष्कर्ष को रख दिया है। पति के साथ अपने शरीर को जोडना भौतिक अर्थ मे नही, किन्तु आत्मिक अर्थ मे है। (हमारे प्राचीन साहित्य में आत्मा और शरीर दोनो शब्द एक दूसरे के लिये आ जाते है)। इस प्रकार पति-पत्नी एक हो जाते है और उनके लिये उसके साथ ही सम्मिलित द्विवचन का प्रयोग बुढापे तक अधिकार-पालन के विषय मे आ जाता है। जब पुरोहित ने दोनो को एक कर दिया तब वह कह सकता है —

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त मया पत्या जरदष्टिर्यथास'।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्य त्वादुर्गार्हपत्याय देवा ॥(ऋ० १०।८५।३६)

मै सौभाग्य के लिये तेरा हाथ ग्रहण करता हूँ, जिससे कि तू मुझ पति के साथ वृद्धावस्था तक पहुचे। भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि इन देवो ने मुझे गृहस्थ जीवन के कर्तव्य-पालन के लिये तुझे दिया है।

यहाँ पर एक बात महत्त्वपूर्ण है। 'सौभाग्य' (सोहाग) जो स्त्री के लिये सब से बडे गौरव के रूप में हमारी सारी पिछली सस्कृति में माना गया है, इस मन्त्र के अनुसार पति के लिये भी अपेक्षित है। पति को भी पत्नी के द्वारा अपना सौभाग्य (सोहाग) चाहिये। इस लिये वैदिक सस्कृति के अनुसार यह 'सोहाग' दुतरफा है, एकतरफा नही। इसके बाद दोनो दम्पत्ति मिल कर प्रार्थना करते है —

समञ्जन्तु विश्वे देवा समापो हृदयानि नौ।
स मातरिश्वा सधाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥
(ऋ० १०।८५।४७)

सारे देव हम दोनो के हृदयो को जोड कर एक कर दे और जल के देवता जल के समान हमारे हृदयो को जोड दे। मातरिश्वा, धाता और देष्ट्री[1] (देवी) हम दोनो के हृदयो को मिलाएँ।

यह इस सूक्त का अन्तिम मन्त्र है। इसके सिवाय कई आशीर्वादात्मक मन्त्र है जो कम महत्त्वपूर्ण नही है और परिस्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालते है। निम्नलिखित मन्त्र में पुरोहित जनता से आशीर्वाद देने के लिए प्रार्थना करता है —

सुमङ्गलीरिय वधूरिमा समेत पश्यत्।
सौभाग्यमस्यै दत्वा याथास्त विपरेतन॥
(ऋ० १०।८५।३३)

अच्छे मगलो से युक्त यह वधू है। आओ सब इसको देखो और इसे सौभाग्य (का आशीर्वाद) देकर फिर अपने अपने घरो को लौट जाओ।

इस सूक्त के ४२वें मन्त्र मे बहुत सुन्दर आशीर्वाद है, जो सभवत सारी जनता की ओर से है —

इहैवस्त मा वियौष्ट विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रै र्नप्तृभि र्मोदमानौ स्वेगृहे॥
(ऋ० १०।८५।४२)

तुम दोनो यही बने रहो। कभी परस्पर वियुक्त मत होओ और पूरी (मनुष्य जीवन की) आयु को प्राप्त होओ—पुत्रो और नातियो के साथ खेलते हुए और अपने घर में आनन्द मनाते हुए।

पुत्रो और नातियो के साथ खेलना वृद्धावस्था का सबसे बडा सौभाग्य है। इसके सिवाय इसी ८५वे सूक्त मे

---

[1] देष्ट्री—उपदेश देने वाली; वेद की एक देवी जो केवल यहाँ ही आई है। सायण के अनुसार देष्ट्री—'दात्री फलानाम्' फल देने वाली, सरस्वती।

चार और मन्त्र (४३-४६) आशीर्वादात्मक हैं, जो सायण के अनुसार उस समय बोले जाते हैं, जब वर वधू सहित अपने घर आकर यज्ञ करता है। वे मन्त्र इस तरह हैं —

आन प्रजा जनयतु प्रजापति राजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गली. पतिलोकमाविश शन्नो भव द्विपदेश चतुष्पदे॥
(ऋ० १०।८५।४३)

अघोर चक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्य सुमना सुवर्चा।
वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदेशं चतुष्पदे॥
(ऋ० १०।८५।४४)

इमां त्वमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रां सुभगां कृणु।
देशास्या पुत्रानाधेहि पतिमेकादश कृधि॥
(ऋ० १०।८५।४५)

सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वा भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥
(ऋ० १०।८५।४६)

प्रजापति हमें सन्तान दें। अर्यमा वृद्धावस्था तक मिलाये रक्खें, अमगलो से सर्वथा रहित (हे वधू) तुम पति के घर में प्रवेश करो और घर के द्विपदो और चतुष्पदो के प्रति, अर्थात् मनुष्यो और पशुओ के प्रति कल्याणमयी होओ ॥४३॥

तुम्हारे नेत्र कभी रोषपूर्ण न होवें, तुम पति का अनिष्ट न सोचो। पशुओ के प्रति (भी) कल्याणमयी तुम 'सुवर्चा' अर्थात् ओजस्विनी पर साथ ही 'सुमना' मधुर स्वभाव वाली होओ, वीरो को जन्म देने वाली, देवताओ की पूजा करने वाली, प्रसन्न स्वभाव वाली, मनुष्यो और पशुओ के प्रति कल्याणमयी होओ ॥४४॥

हे वर्षक इन्द्र, इसको सुन्दर पुत्रो से युक्त सौभाग्य वाली बनाओ। उसके दश पुत्र हो और पति ग्यारहवाँ ॥४५॥

हे वधू, तुम श्वशुर के ऊपर सम्राज्ञी होओ, और सास के ऊपर भी सम्राज्ञी। ननद पर सम्राज्ञी और अपने देवरो के ऊपर भी।

इन चारो मन्त्रो से वैदिक गार्हस्थ्य जीवन की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। गृहिणी सच्चे अर्थों में घर की स्वामिनी है। शासन करने के लिये उसका 'सुवर्चा' ओजस्विनी होना आवश्यक है, पर साथ ही उसे 'सुमना' प्रसन्न मधुर स्वभाव का भी होना चाहिए। अतएव ४३ और ४४वें मन्त्र का ध्रुवपद है कि "हे गृहिणी, मनुष्यो और पशुओ के प्रति कल्याणमयी होओ।"

इस प्रकार विवाह-सस्कार-सबधी सभी मुख्य-मुख्य मन्त्रो पर दृष्टिपात किया गया है। यह कह देना आवश्यक है कि इस सूक्त के तीन अग हम बिना विचार किए छोड देते हैं, क्योकि उनके लिए न तो इस लेख में जगह है और न उन बातो पर अभी तक पर्याप्त प्रकाश ही पड सका है। वे अश निम्नलिखित हैं —

(१) सूर्या का रथ पर बैठ कर पति के घर जाना, इसका वर्णन इस सूक्त के १२, २० और ३२वे मन्त्र में है।

(२) सूर्या रूप वधू का सोम, गन्धर्व और अग्नि के द्वारा मनुष्य पति को पाना और विशेषकर विश्वावसु गन्धर्व का इस विषय में कार्य (२१-३२, ३८-४१ मन्त्रो में)।

(३) वधू के वस्त्रो के सबध में कृत्या का वर्णन, जो कि अभी तक बिल्कुल अस्पष्ट है (२८-३१, ३४, ३५ मन्त्रो में)।

मेरठ]

भारतीय नारी की वर्त समस्याएँ

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय

पिछले पच्चीस वर्षों मे भारतीय नारी जगत में जो जाग्रति हुई है, वह वडे महत्व की है। यह जाग्रति कुछ अश में ससार की गतिविधि के परिवर्तन से और कुछ अश मे भारतीय जनता में राजनैतिक उत्तेजना के कारण, जिसका नारी-समाज के उत्थान में काफी हाथ है, हुई है। देश के स्वतन्त्रता-युद्ध ने स्त्रियो के उत्थान के लिये अच्छा अवसर प्रदान किया है। देश की निरतर पुकार ने महिलाओ को अध-विश्वास की चहारदीवारी से वाहर निकाल कर उनके लिए वहुत काल से अवरुद्ध उन नये द्वारो को खोल दिया, जिनमें उनके विचार और कर्म का क्षेत्र वहुत विशाल है। भारतीय नारियो ने भी इस अवसर को पाकर अपनी तत्परता दिखा दी। उन्होंने यह प्रदर्शित कर दिया कि वे किसी भी दायित्व को सफलतापूर्वक वहन कर सकती हैं। वे सव प्रकार के दमन तथा मृत्यु तक का अडिग धैर्य के साथ स्वागत करने को तैयार हो गई। अत यह अवश्यभावी था कि जिन नारियो ने स्वातन्त्र्य सग्राम मे भाग लिया, उन्हें विजय में भी यथोचित भाग प्राप्त हो। इस क्षेत्र में काग्रेस के द्वारा मौलिक अधिकार मवधी प्रस्ताव-योजना में पुरुषो और स्त्रियो को समानाधिकार का भागी घोषित किया गया। इस दिशा में यह पहली महत्त्वपूर्ण वात थी। फिर देश की पुर्ननिमाण-योजना-समिति में स्त्रियो की भी एक उपसमिति वनाई गई, जिसके द्वारा वे अपनी विशेष समस्याओ तथा भविष्य की स्थिति पर विचार प्रकट करे। यह उन्नति के क्षेत्र में एक दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसके वाद एक अन्य तर्क-सम्मत प्रस्ताव यह रक्खा गया कि स्त्रियो की एक विशेष उपसमिति वनाई जाय जो इस योजना को कार्यान्वित करे, क्योकि देश के उत्थान मे स्त्रियो का वैसा ही भाग है, जैसा पुरुषो का, और जव तक स्त्रियो को राष्ट्रीय क्षेत्र मे वरावर भाग नही दिया जाता तव तक यथेष्ट प्रयोजन की सिद्धि असभव है। राष्ट्र-निर्माण-योजना-समिति की रिपोर्ट में कहा गया कि "इस निर्माण-योजना पर न केवल आर्थिक दृष्टियो से ही विचार करना आवश्यक है, अपितु सास्कृतिक तथा आध्यात्मिक भावना और जीवन मे मानवता का ममावेश भी आवश्यक वाते हैं।" इससे स्पष्ट है कि गृहस्थी की सँकडी चहारदीवारी से वाहर का विशाल जीवन विना स्त्री के अपूर्ण है। गांधी जी ने इस वात को 'हरिजन' के एक अक में इस प्रकार प्रकट किया है, "मेरा निजी विचार यह है कि जिस प्रकार मूलत स्त्री और पुरुष एक ही हैं, उनकी समस्याएँ भी एक होनी चाहिए। दोनो में एक ही आत्मा है, दोनो एक-सा जीवन-यापन करते हैं, दोनो एक-से ही विचार रखते हैं। एक दूसरे का पूरक है। विना एक दूसरे की सहायता के उनमे से किसी का जीवन पूर्ण नही हो सकता स्त्री और पुरुष दोनो के लिए जिस सस्कृति और साधारण गुणो की आवश्यकता है, वह प्राय एक से ही हैं स्त्री पुरुष की सगिनी है और उसके समान ही मानविक शक्ति रखती है। उसे अधिकार है कि वह पुरुष के छोटे-से-छोटे कर्म मे भाग ले और पुरुष के साथ-साथ वह भी स्वतन्त्रता में समानरूपेण अधिकार भागिनी हो। कठोर रीतियो के वधन में जकडे हुए महा अनाडी और क्षुद्र पुरुष भी स्त्रियो के ऊपर अपनी उस श्रेष्ठता का दभ भरते हैं, जिसके लिये वे सर्वथा अयोग्य है और जो उन्हें कदापि न मिलनी चाहिए। हमारी स्त्रियो की वर्तमान दशा के कारण हमारे वहुत से उत्थान-कार्य रुक जाते हैं, हमारे वहुत से प्रयत्नो का यथेष्ट फल नही प्राप्त होता। स्त्री और पुरुष एक महान् युगल है, प्रत्येक को दूसरे की सहायता की आवश्यकता है, जिससे एक के विना दूसरे का जीवन युक्तिसगत नही कहा जा सकता। ऊपर के कथनो से यह परिणाम निर्विवाद निकलता है कि कोई भी वात जिससे दोनो मे से किसी एक की स्थिति के ऊपर धक्का पहुँचेगा, परिणामत दोनो के लिये वरावर नाशकारी होगी।"

समाज केवल उस घरेलू जीवन का एक विकसित रूप है, जिसके ऊपर समाज की स्थिति निर्भर है। घरेलू जीवन की भाति समाज के भी बडे कार्यों में स्त्री-पुरुष का सहयोग अवश्यभावी है। यह सहयोग वास्तव में तभी प्राप्त हो सकता है जब स्त्री को पुरुष के साथ राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा कानून-व्यवस्था के क्षेत्रो में समान अधिकार प्राप्त हो।

किंतु भारत की वर्तमान वास्तविक स्थिति इससे बहुत भिन्न है। बहुत समय से भारतीय नारी आर्थिक दृष्टि से दूसरे के अधीन समझी गई है। उसके विविध कार्यों का आर्थिक मूल्य कुछ नही आँका गया है, यद्यपि अपनी अनेक सेवाओ, प्रयत्नो, परिश्रम तथा सहानुभूतिमय प्रभाव के द्वारा यह घरेलू जीवन के चलाने में पुरुष के तुल्य ही योग देती है। पुरुष ही कुटुम्ब का प्रधान और जीविका चलाने वाला माना जाता है और इससे वही सर्वेसर्वा होता है। गृहिणी का परिश्रम, जो लगातार घटो गृहस्थी के लिए जीतोड उद्यम करती है, महत्त्वहीन समझा जाता है, मानो उसका श्रम पुरुष की तुलना में बिलकुल नगण्य है। यह पुराना ख्याल कि केवल पुरुष ही आर्थिक नेता है और स्त्री केवल उसकी पिछलगी है, बिलकुल भुला देना चाहिए। अब यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि स्त्री भी (सर बेवरिज के शब्दो में) "बिना वेतन पानेवाली परिचारिका" है। पुरुष और सारे समाज को यह झूठी बात मस्तिष्क से निकाल देनी चाहिए कि पुरुष स्त्री का भरण-पोषण करता है, क्योकि इसी विचार से हमारे समाज में अनेक भ्रात धारणाओ की सृष्टि होगई है। यदि स्त्री के विषय मे वास्तविक तथ्य को स्वीकार कर लिया जाय तो सपत्ति पर उसका निजी अधिकार अवश्य सिद्ध होगा। ऐसा होने से स्त्री को आर्थिक स्वतन्त्रता की भी प्राप्ति होगी, क्योकि फिर वह कमानेवाली तथा परिवार का पोषण करने वाली समझी जाने लगेगी।

आज हमे अपने समाज मे दोहरी प्रणाली देख कर परेशानी होती है। इस प्रणाली के द्वारा, जो कठोर एकागी तथा अनैतिक कानूनो के जरिये पुष्टि पा रही है, हमारे दैनिक जीवन का हनन हो रहा है। स्त्री के ऊपर आज पतिव्रत धर्म का बोझ लाद दिया गया है, जब कि पुरुष को बहु-विवाह का अधिकार है। यह बहुत आवश्यक है कि इस प्रकार का बधन हटा दिया जाय और स्त्री-पुरुष दोनो के लिये विवाह-सबधी एक-सा ही नियम हो। अनुभव से ज्ञात हुआ है कि एक-पत्नी-विवाह सबसे अच्छा है, परन्तु यदि कोई गभीर और आवश्यक समस्या उपस्थित हो जाय तो विवाह-विच्छेद का भी अधिकार होना चाहिए। यह बडे आश्चर्य की बात है कि कानून दो पागल या रोगी व्यक्तियो को बिना एक-दूसरे की राय के आपस मे विवाह करने का अधिकार देता है। इसके द्वारा समाज के प्रति घोर अन्याय किया जाता है। परतु यदि दो विचारशील व्यक्ति, जिन्हें अपने अधिकारो का पूरा ज्ञान है, दोनो के हित की दृष्टि से विशेष कारणवश सबध-विच्छेद करना चाहे, तो कानून उन्हें ऐसा करने से रोकता है और इस प्रकार वे एक विचित्र परिस्थिति में रहने को बाध्य किये जाते हैं। सिविल-मैरिज कानून के अनुसार विच्छेद का अधिकार है, परतु उस कानून के भी नियम अनुचित रूप से जटिल बना दिये गये हैं। वर्तमान दशा मे सबध-विच्छेद के लिये लोगो को अनेक प्रकार के झूठे मामले, जैसे धर्म-परिवर्तन आदि, पेश करने पडते हैं। सबध-विच्छेद को लागू न करने से या उसमें इतनी अडचनें लगाने से यह आशा करना कि इससे वैवाहिक बधन अवश्यमेव सुखप्रद होगा एक दुराग्रह मात्र है। स्त्री और पुरुष के लिये चरित्र सबधी पृथक्-पृथक् नियम बना कर समाज के धर्म को पालन करने का सारा भार स्त्री पर ही डाल दिया गया है और पुरुष को स्वतन्त्रता दे दी गई है कि वह चरित्र-दुर्बल या व्यभिचारी होते हुए भी क्षम्य है। समाज को यह अच्छी प्रकार से समझ लेना चाहिए कि दो जानवरो के द्वारा खीचे जाने वाली गाडी का यदि सारा बोझ एक ही जानवर पर लाद दिया जाय तो वह गाडी ठीक प्रकार से आगे न बढ सकेगी। इसलिये यह अतीव आवश्यक है कि हमारे समाज के सारे नियम और उपनियम एक ही आधार पर निर्मित किये जाँय। कानून और रीति-रिवाज किसी समाज विशेष की आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर यथानुकूल बनाये जाते है। जब इन कानूनो का यह उद्देश्य होता है कि उनके द्वारा समाज ठीक ढग से चलता रहे और उसमें अधिक-से-अधिक शान्ति और सुख का सचार हो तब ये कानून समाज के लिये बडे लाभप्रद होते है। देश-कालानुसार इन कानूनों में परिवर्तन करना अवश्य-

भावी होता है। विवाह-सस्कार की उत्पत्ति मनुष्य की सबसे बडी आवश्यकता की पूर्ति के लिये हुई है तथा वह सामाजिक जीवन के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व्यावहारिक सस्था है। विवाह सस्कार का मूल स्त्री और पुरुष का पारस्परिक प्रेम है, न कि उनका एक दूसरे के प्रति विराग। इसमें सम्मान और अनुग्रह वाछनीय है, न कि बल-प्रदर्शन। जिस वैवाहिक सबध में प्रेम या सम्मान नही है उसका ऊपरी दिखाऊ गँठबधन समाज के लिये कोई शक्ति नही प्रदान कर सकता। वह तो केवल एक ऐसी स्थिति उपस्थित करता है, जिसमें पति का पत्नी के ऊपर वैसा ही अधिकार रहता है, जैसा कि एक विदेशी शासक का किसी उपनिवेश के ऊपर रहता है। और जब समाज इस प्रकार पुरुषो के अविच्छिन्न अधिकारो द्वारा शासित होता रहता है तब पत्नियो के ऊपर पतियो का वैसे ही साम्पत्तिक अधिकार जारी रहता है, जैसे किसी ज़मीदार का अपनी ज़मीन के ऊपर। गाँधी जी ने इस समस्या पर निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं—"कुटुम्ब में शान्ति का होना बहुत आवश्यक है, किन्तु वह इतने ही तक नही समाप्त हो जाती। वैवाहिक सबध होने पर नियमानुकूल आचरण उतना ही आवश्यक है, जितना किसी अन्य सस्था में। वैवाहिक जीवन का अभिप्राय एक-दूसरे की सुख-समृद्धि को बढाने के साथ-साथ मनुष्य-जाति की सेवा करना भी है। जब पति-पत्नी में से कोई एक आचरण के नियमो को तोडता है, तो दूसरे को अधिकार हो जाता है कि वह वैवाहिक बधन को तोड दे। यह विच्छेद नैतिक होता है, न कि दैहिक पत्नी या पति उक्त दशा में इसलिए अलग हो जाते है कि वे अपने उस कर्तव्य का पालन कर सकें, जिसके लिये वे विवाह-सबध मे जुडे थे। हिंदू-शास्त्रो में पति और पत्नी को समान अधिकार वाले कहा गया है, परन्तु समय के फेर से अब हिंदू समाज में अनेक बुराइयो की सृष्टि हो गई है।"

इन बुराइयो मे सबसे अधिक बर्बर पर्दे की प्रथा है, जिसके द्वारा स्त्रियो को पिंजडे मे बद-सा कर दिया जाता है और यह ढोग प्रदर्शित किया जाता है कि इससे समाज मे उनकी लज्जा की रक्षा होती है। यहाँ गाँधी जी का एक कथन फिर उद्धृत करना उचित होगा—"लज्जा या सच्चरित्रता कोई ऐसी वस्तु नही जो एकदम से पैदा कर दी जाय। यह कोई ऐसी वस्तु नही है जो किसी को पर्दे की दीवार के भीतर बिठाकर उसमे उत्पन्न कर दी जाय। इसकी उत्पत्ति आत्मा के भीतर से होती है और वही सच्चरित्रता वास्तविक है जो सभी प्रकार के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष लोभ का सवरण कर सके। पुरुषो को इस योग्य बनना चाहिये कि वे अपनी स्त्रियो पर वैसे ही विश्वास कर सकें जिस प्रकार स्त्रियाँ पुरुषो पर विश्वास रखने के लिये बाध्य रक्खी जाती है।"

दूसरी बडी बुराई स्त्रियो में शिक्षा का अभाव है, जिसके कारण वे बिलकुल असमर्थ रहती है और उन्हे पुरुषो की नितात अधीनता मे रहना पडता है। यह बात बहुत ज़रूरी है कि जहाँ आवश्यक प्रारभिक शिक्षा का प्रबध है वहाँ लडको के साथ लडकियो की भी शिक्षा की व्यवस्था हो। शिक्षा के होने से स्त्रियाँ अपने में आत्मनिर्भरता तथा स्वतत्रता का अनुभव करेंगी और वे इस योग्य हो सकेंगी कि बडे कार्यों और व्यवसायों के लिये भी वे अपने को दक्ष कर सकें। आज उचित शिक्षा के अभाव से अपनी शारीरिक और मानसिक दुर्बलता के कारण स्त्रियो का एक बहुत बडा समुदाय उस विशाल कार्य-क्षेत्र में भाग लेने से वचित है, जो उनके लिये खुला हुआ है।

मातृत्व का भार, जो नारी का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है, दुर्भाग्यवश उसकी दासता का हेतु बना दिया गया है। न तो समाज ने और न राज्य ने इस बात पर समुचित विचार किया है कि माता के प्रति उनका क्या उत्तरदायित्व है। आज लाखो माताओ को बिना उनकी किसी रक्षा का प्रबध किये हुए, इस बडे कष्ट को वहन करना पडता है, जिसमें उनका तथा उनके गर्भजात शिशु का जीवन खतरे से खाली नही रहता। सहस्रो नारियाँ थोडी सी जीविका के लिये अपने बच्चो को बिना किसी रक्षा का प्रबध हुए राम भरोसे घर पर छोड कर सारे दिन बाहर काम करती है। जिन देशो में मातृत्व का महत्त्व समझा जाता है वहाँ प्रत्येक स्त्री के लिये बिना उसकी आर्थिक स्थिति का विचार किये, गर्भ के समय तथा बच्चा उत्पन्न होने के बाद सभी हालतो में, अच्छे-से-अच्छे डाक्टरी इलाज का प्रबध खास अस्पतालो में किया जाता है। बच्चों के लिये शिक्षित दाइयो तथा शिशु-शालाओ आदि की व्यवस्था की जाती है।

महिला-समाज की उन्नति का तात्पर्य यह नही है कि स्त्री और पुरुष के लिये एक समान ढाँचा गढ दिया जाय

ग्रौर दोनो को एक ही सतह पर स्थिर कर दिया जाय, किंतु इस उन्नति का उद्देश्य जीवन को समृद्ध ग्रौर वहुमुखी वनाना है ग्रौर स्त्री-पुरुष में ऐसी भावनाएँ उत्पन्न कर देना है कि वे एक-दूसरे के व्यक्तित्व का गौरव समझ कर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करें। ऐसी भावना के द्वारा समाज निश्चय ही सवल ग्रौर समृद्ध वन सकेगा।

इस समय महिला-वर्ग की सभी सस्थाग्रो के सामने प्रमुख कार्य यह है कि वे निर्माण-योजना को कार्यन्वित कर ग्रपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करें। विना राजनैतिक स्वतन्त्रता के ग्रन्य सारी वातें ग्रर्थहीन है, परन्तु साथ-ही-साथ जब तक सामाजिक ग्रौर ग्रार्थिक क्षेत्रो में स्त्री-पुरुष के समानाधिकार नही निश्चित होते तव तक राजनैतिक स्वातन्त्र्य से भी यथेष्ट प्रयोजन की सिद्धि नही हो सकती। दोनो का गहरा ग्रन्योन्याश्रय सवध है। राजनैतिक ग्रौर सामाजिक क्षेत्रो में उन्नति प्राप्त करने के लिये गाँधीजी की निर्माण-योजना वडी ही व्यावहारिक ग्रौर लाभप्रद सिद्ध होगी। इसके द्वारा भारतीय महिलाग्रो को ग्रपना सगठन करने में, सामाजिक कार्यों के लिये ग्रपने को शिक्षित करने में, सूत ग्रादि कातने की घरेलू दस्तकारियो में, जन-साधारण के विचार-सवर्धन में तथा नारी-वर्ग को ग्रात्म-निर्भर बना सकने के प्रयत्नो में वडी सहायता मिलेगी।
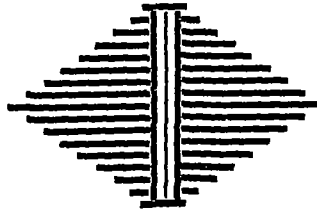
भारतीय नारी की बौद्धिक देन

श्री सत्यवती मल्लिक

सीता और सावित्री-सी सती-साध्वियो तथा भारतीय नारी के वीरतापूर्ण चरित्र की विमल गाथा, जहाँ इतिहास के पन्नो में स्वर्णाक्षरो से अकित हुई है, वहाँ साहित्य, कला एव विज्ञान आदि के क्षेत्र मे उनकी गणना प्रच्छन्नाकाश में प्राय लुप्त, तारिकाओ-सी ही रही है।

फलयुक्त वृक्ष की भाति, जिसकी विनत डालियाँ, पत्ते, फल आदि सब मूल को आच्छादित किये रहते है, मातृत्व एव पत्नीत्व के आँचल तले निज व्यक्तित्व को ढके रखने में ही नारी ने अपना गौरव माना है।

चारित्रिक विकास के साथ-ही-साथ नारी के बौद्धिक विकास-सबधी उदाहरणो को भी भावी सतति के लाभ तथा समाज-निर्माण के निमित्त प्रकाश में लाने की कितनी आवश्यकता है, चिरकाल तक जाने क्यो हमारे विद्वानो और इतिहासकारो ने इसकी उपेक्षा की !

यद्यपि न केवल स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार रस मे लीन और झूम पडने की क्षमता रखने, अपितु ज्योतिष, गणित, दर्शन, कला, विज्ञान, चिकित्सा आदि जहाँ भी बौद्धिक चेतना अथवा व्यक्तिगत विकास का सबध है, युगान्तर से बाह्य प्राचीरो द्वारा घिर कर भी इस वदिनि की मुक्त आतरिक निर्झरिणी को बाँध रखने की सामर्थ्य किसमे हुई है ?

लीलावती, गार्गी, वाचकन्वी और पूर्व मीमासा जैसे कठिन विषय में भाग लेने वाली कास्कृतस्नी की लेखिका कास्कृतस्ना, चिकित्सा में रुसा और चित्रकला में माणकू-सी पारगत प्राचीन विदुषियो के नाम वर्तमान युग के लिये कितने महत्वपूर्ण है।

इधर साहित्य मे हिन्दी, बगला, मराठी, गुजराती, तामिल तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओ के अतिरिक्त केवल सस्कृत ही मे शान्तिमय वैदिक काल से मध्यकालीन भक्तियुग तथा आधुनिक डावाडोल युग तक स्त्रियो द्वारा विरचित व्यापक सृष्टि पर स्वतत्र रूप से हिन्दी में मौलिक ग्रन्थ लिखे जाने की माँग है। वस्तुत सस्कृत साहित्य ही ऐसा पूर्ण भडार है, जिसके यत्र-तत्र छिन्न-भिन्न बिखरे पृष्ठो मे हमारे किसी भी सास्कृतिक पक्ष को मूर्तरूप से खडा कर देने की चमत्कारिक क्षमता है।

उपरोक्त गुरुतर कार्य के अनुसन्धान का श्रेय कलकत्ता विश्वविद्यालय के आचार्य डा० जितेन्द्र विमल चौधरी को है, जिन्होने कुछ ही वर्ष पूर्व पाँच-छ भाग मे 'सस्कृत-साहित्य में महिलाओ का दान' (The contribution of women to sanskrit literature) नामक सीरीज प्रकाशित की थी। भारतीय नारी-समाज उनका चिर-ऋणी रहेगा। सस्कृत लेखिकाओ और कवियित्रो के सबध में डा० चौधरी का परिचयात्मक लेख इसी विभाग मे अन्यत्र दिया जा रहा है। वैदिक, प्राकृत और पाली भाषा की प्रमुख कवियित्रियो का सक्षिप्त उल्लेख, जो चौधरी महोदय के लेख में नही है, प्रस्तुत लेख में अभिप्रेत है।

साहित्य यदि युग का प्रतिबिम्ब और जीवन की प्रत्यालोचन है तो पलभर तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था एव स्थिति की ओर झाकना अनिवार्य होगा।

राग उत्तरोत्तर भले ही बेसुरा होता चला गया हो, किन्तु आलाप हमारे पूर्वजो ने सभी स्वर साधकर ही लिया था। विशेषतया समाज के वाम अग को प्रत्येक पहलू से उन्नत एव विकासोन्मुख करने में ही जीवन-कला का मुख्य रहस्य है। इसके वे कैसे ज्ञाता थे, यह विभिन्न समय की निम्न भावनाओ द्वारा प्रकट है।

(१) समारोह-विशेष पर दम्पति कामना करते है—हमारे यहाँ पण्डिता और चिरायु कन्या उत्पन्न हो।

"अथ य इच्छद्दुहिता में पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति ।"

(वृहद्वारण्यक उपनिषद १, ४, १७)

(२) "कुछ स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा कहीं अधिक सच्चरित्र और विद्वता में श्रेष्ठ होती है"—भगवान बुद्ध

"इत्थीपि हि एकच्ची या सेय्यो पोसा, जनाधिप मेघावती सीलावती · ।"

(३) 'ललित विस्तार' में कुमार सिद्धार्थ गाथा लिखने वाली और कवियित्री कन्या की भावी वधू के रूप में कामना करते है ·

"सा गाथ-लेख-लिखिते गुण अर्थ-युक्ता
या कन्य ईदृश भवेन्मम ता वरे था ।"

(ललित विस्तार अ० १२ पृ० १५८)

(४) पुरुषो की भाति ही स्त्रियाँ भी कवित्रियाँ हो सकती है । काव्य प्रतिभा नर-नारी के भेद मे सर्वथा पृथक नैसर्गिक वस्तु है, जैसा कि राजपुत्रियो, राज कर्मचारिणियो, मन्त्रि-दुहिताओ और वेश्याओ तक को प्राय शास्त्र में प्रवीण वृद्धिमती और [illegible]ज्ञ देखते-सुनते है । (काव्य मीमासा पृ० ५३) ।

"पुरुषवद्योषि[illegible]भवेयु. । सस्कारो ह्यात्मनि समवैति, न स्त्रैण पौरुष वा विभागमपेक्षते । श्रूयन्ते दृश्यन्ते च रा[illegible]मात्य-दुहितरो गणिका कौतुकि-भार्याश्च शास्त्र-प्रहत-बुद्धय कवयश्च ।"

शिक्षा एव स्[illegible]में कैसा सुन्दर सरल विभाजन था ! प्रथम वे ब्रह्मवादिनी कन्याएँ स्वेच्छा से वेदाध्ययन, दर्शन, ज्य[illegible]न्यो की शिक्षा के हेतु आजीवन ब्रह्मचारिणी रह कर आचार्या और उपाध्याया के पद को सुशोभित [illegible] गार्गी, ब्रह्मवादिनी, आत्रेयी, मैत्रेयी आदि के नाम इसमें विशेष उल्लेखनीय है, जिनके मानसिक स्तर की गहराई इस भावना से अधिक क्या होगी—

"येनाहं नामृतास्या किं तेन, (अति प्रभुतेनापि वित्तेन) कुर्यामिति ।" अर्थात्—जिससे अमृतत्व को प्राप्त न कर सकूँ, ऐसे राशि-राशि धन-वैभव का क्या करूँ ?

दूसरी वहुसख्यक 'सद्योद्वाहा' साधारण समाज की उन्नति की दृष्टि से कम-से-कम सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था तक पठन-पाठन व ललित कलाओ द्वारा उनकी अभिरुचि एव सृजनात्मक शक्तियो को परिष्कृत करने का भरपूर प्रयत्न किया जाता था। कुलीन घरो की स्त्रियाँ, कन्याएँ राज-दरवारो में प्राय नृत्य, सगीत-अभिनय आदि का प्रदर्शन किया करती थीं । घरो को आनन्द का केन्द्र वनाने के हेतु वे विविध कलाओ और शिल्प से पूर्ण परिचित तथा विनोद-कौतुक में पटु होती थीं । युद्ध, राजनीति, कृषि, यन्त्र एव अस्त्र-शस्त्र आदि के निर्माण तक में समान रूप से भाग लेने के कारण आर्थिक वन्धनो से मुक्त होती थीं और इसी से सम्मान की पात्र समझी जाती थी । अपने-अपने निजी विषय की भली भाति ज्ञाता होने और जीवन के विस्तृत क्षेत्र मे कार्य करने के कारण ही उनकी लेखनी प्रत्येक विषय में प्रसूता थी । इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण हाल ही में प्रकाशित हुए 'कौमुदी महोत्सव' नामक नाटक से मिला है, जिसकी लेखिका 'श्री किशोरिका विजैनिका गुप्तकालीन एक राजकर्मचारिणी थी । यह नाटक विशेषतया राजनैतिक दृष्टिकोण से ही लिखा और उस समय खेला गया था ।

फिर मानव-सस्कृति को ऊचे धरातल पर आसीन करने के लिये सर्वगुण-सम्पन्न और विवेकशील कन्या स्वयवर द्वारा मनोनुकूल पति वरण करने में स्वतत्र थी ।

"ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दिते पतिम "

रूढिवाद अथवा जातिभेद की कोई अडचन नही थी, यहाँ तक कि एक स्थान पर पिता अपनी कन्या से प्रश्न करता है —

"एषा चतुर्णा वर्णाना पुत्रि कोऽपि—मतस्तव ।" (कथा-सरित-सागर ५३, १०४)

अर्थात्—"यह चारो वर्ण तुम्हारे सामने है । इनमें से किसके लिये तुम्हारी इच्छा है ?"

ऐसे उन्मुक्त एव स्वस्थ वायुमडल की आदि नारी यदि अमर वेदमत्रो की दृष्टा हुई हो तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है, यद्यपि ससार के अन्य किसी भी धार्मिक व प्राचीन ग्रथो को ऐसा श्रेय प्राप्त नही।

श्रवणनुक्रमणिका के अनुसार बीस और सायुनायिक के कथन से २६ ऋग्वेद की स्रष्टा ऋषि स्त्रियाँ है। इससे सर्व सहमत न हो तो भी लोपामुद्रा, घोषा, विश्वारा, सिक्ता, नीवावरी म० १, १७६, म० २८, म० ६१, म० ८१ ११ २० और ३६ ४० की निर्विवाद सृष्टा है ही।

रात्रि, यमी, अपाला, शची, इन्द्राणी, अदिति, दक्षिणा, सूर्या, उर्वशी, श्रद्धा, रोमासा, गोधा, श्रमा, शाश्वती, जिन्होने प्रेम, वीरता, वात्सल्यता, सौंदर्य आदि के विभिन्न क्षेत्रो में उच्च कोटि के भावो की सृष्टि की है, सायण और सायुनायिक सरीखे महापडितो की सम्मति में काल्पनिक नाम होते हुए भी प्रामाणिक है।

वेद की इन ऋचाओ में, रात्रि, अग्नि आदि प्राकृतिक विषयो की अभिव्यक्ति अति सुन्दर है। विभिन्न प्रकृति नारियो के अनन्यतम कोमल भाव जहाँ-तहाँ अनेक रूपो मे वेगपूर्वक झर पडे है। सस्कृत, पाली, प्राकृत कवियित्रियो की अपेक्षा वैदिक कवियित्रियाँ कही अधिक सुघड कलाकार है।

प्राकृत की कवियित्रिया

अनुलक्ष्मी, असुलवी, अवन्तीसुन्दरी, माधवी, प्रात रेवा, रोहा, शशिप्र , प्राचीत्यै, आदि प्रकृत भाषा की मुख्य कवियित्रियाँ है। इनके द्वारा रचित सोलह श्लोको की काव्यधर्मी क्षमता स्द सस्कृत काल की स्त्रियो की भाति ही जीवनदायिनी, प्रेम सगीत, आनन्द-व्यथा, आशा-निराशा और उमग विकास का है। अभिव्यक्ति अनूठे ढग की है और जीवन, प्रेम, सौदर्य के प्रति अनन्त प्यास है।

(थेरी गाथा) पाली की कवियित्रिया

१ अञ्ञतराथेरी, २ मुक्ता, ३ पुण्णा, ४ तिस्सा, ५ अञ्ञतरा तिस्सा, ६ धीरा, ७ अञ्ञतरा धीरा, ८ मित्ता, ९ भद्रा, १० उपसमा, ११ मुत्ता, १२ धम्म दिन्ना, १३ विसाखा, १४ सुमना, १५ उत्तरा, १६ सुमना (वुड्ढपव्वजिता) १७ धम्मा, १८ सङ्घा, १९ नन्दा, २० जेन्ती, २१ अञ्ञतराथेरी, २२ अड्ढकासी, २३ चित्ता, २४ मेत्तिका, २५ मित्ता, २६ अभयमाता, २७ अभत्थेरी, २८ सामा, २९ अञ्ञतरा सामा, ३० उत्तमा, ३१ अञ्ञतरा उत्तमा, ३२ दन्तिका, ३३ उब्बिरी, ३४ सुक्का, ३५ सेला, ३६ सोमा, ३७ भद्दा कापिलानी, ३८ अञ्ञतरा भिक्खुणी अपञ्जाता, ३९ विमला पुराण गणिका, ४० सीहा, ४१ नन्दा, ४२ नन्दुत्त रायेरी, ४३ मित्तकाली, ४४ सकुला, ४५ सोणा, ४६ भद्दा पुराण-निगण्ठी, ४७ पटाचारा, ४८ तिंसमत्ता थेरी भिक्खुणियो, ४९ चन्दा, ५० पञ्चसता पटाचारा, ५१ वासिट्ठि, ५२ खेमा, ५३ सुजाता, ५४ अनोपमा, ५५ महापजापती गोतमी, ५६ गुत्ता, ५७ विजया, ५८ उत्तरा, ५९ चाला, ६० उपचाला, ६१ सीसूपचाला, ६२ वड्ढमाता, ६३ किसागोतमी, ६४ उप्पलवण्णा, ६५ पुण्णिका, ६६ अम्बपाली, ६७ रोहिणी, ६८ चापा, ६९ सुन्दरी, ७० सुभा कम्मारधीता, ७१ सुभा जीवकम्बवनिका, ७२ इसिदासी, ७३ सुमेधा॥

उपरोक्त ७३ विदुषियाँ पाली भाषा की स्रष्टा है। यह साहित्य ५२२ श्लोको मे "थेरीगाथा" नाम से खुदक निकाय की पन्द्रह पुस्तको मे से एक है। इसका स्वतन्त्र अनुवाद अग्रेजी में 'Psalms of sisters' और बगला में 'थेरीगाथा' के नाम से भिक्षु शीलभद्र द्वारा हो चुका है।

जातक ग्रन्थो एव अन्य बौद्ध साहित्य मे, जहाँ अनेक स्थलो पर नारी के प्रति सर्वथा अवाछनीय मनोवृत्ति का उल्लेख है, वहाँ 'थेरीगाथा' का उच्च विशिष्ट साहित्य एक विस्मय एव गौरव की वस्तु है। इससे भी अधिक आश्चर्य यह कि भगवान बुद्ध ही सर्व प्रथम ऐसे महापुरुष है, जिन्होने उस युग की करुणापात्र नारी को घर के सकुचित वृत्त से बाहर ससार की सेवा और शान्ति के निमित्त सन्यास की अनुमति देकर एक नया मार्ग खोला।

पद्मांजलि

[कलाकार—श्री सुधीर खास्तगीर

इस दीक्षा की गाथा निम्न है —सिद्धार्थ गौतम के बुद्धत्व प्राप्त करने के उपरान्त महाराज शुद्धोधन जब स्वर्गगत हुए तो उनकी पत्नी (रानी महामाया की छोटी बहन अर्थात् गौतम की विमाता व मौसी) प्रजापति गौतमी शोककातर हो भगवान बुद्ध के पास गई, जो उन दिनो नन्दन-वन में निवास करते थे और ससार-त्याग की अनुमति चाही, किन्तु उस समय बुद्ध ने उनकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी।

पुन शाक्य वश की पाँच सौ नारियो ने गौतमी से इसी अभिप्राय से चलने को कहा। तब गौतमी केशोच्छादन करवा, काषाय वस्त्र धारण कर, उन पाँच सहस्र स्त्रियो को ले बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द की सहायता ले दुवारा भगवान के समीप गई। दुख, क्लेश, क्षोभ से विह्वल उनकी जीवन-कथाएँ सुन अन्तत भगवान बुद्ध को अनुरोध स्वीकार करना पडा और गौतमी तथा वे पाँच सौ नारियाँ एक साथ अभिषिक्त हुई। बुद्धवचनो से प्रभावित यह भिक्षुणीसघ उत्तरोत्तर ग्राम, नगर, राजप्रासाद की वधुओ, कुलीन स्त्रियो एव कन्याओ की सख्या से वर्धित होता चला गया। इन्ही मे से जिन विदुषियो का अन्तर स्वकथारूप मे जिस करुण छन्द द्वारा झर पडा, वह 'थेरीगाथा' कहलाया।

किन्तु जीवन, सौन्दर्य, प्रेम-समर्पण आदि की जो उत्कट तृषा, वैदिक, प्राकृत तथा सस्कृत कवियित्रियो मे मिलती है, थेरीयाँ इसके सर्वथा प्रतिकूल है, जो स्वाभाविक ही है। वे ग्रहत्यागिनि है। सासारिक इच्छाएँ ही उनके दुख का मूल है। विश्व के चिर क्रन्दन और गहन भयानकता का उन्होने अत्यन्त सूक्ष्म और अन्तर्मुख हो स्पर्श किया है। निर्वाण-पद ही अब केवल उनके एकाकी मानस-पट का आलोक है। सक्षेप मे दोनो धाराओ का निरूपण इस प्रकार कर सकते है। एक उत्सुकता एव उमग से पूर्ण है तो दूसरी गम्भीर और शात, एक जीवित है तो दूसरी परिपक्व, एक भौतिक जगत से परे की ओर नितान्तमुख है तो दूसरी विवेकशीला की दृष्टि में ऐहिक जगत से सर्वथा हेय है, यदि एक उपमा अलकारों आदि की सौन्दर्य-पूर्ण रस-माधुरी है तो दूसरी ठोस, सरल, सयमित भाषा मे कटु सत्य।

इनका स्पष्टीकरण दोनो ओर की रस धाराओ का किंचित आस्वादन किये विना न हो सकेगा।

प्राकृत

[दूतीं प्रति नायिकोक्ति]

जह जह वाएइ पिओ तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे।
वल्ली वलेइ अङ्गं सहाव-थद्धे वि रुक्खम्मि॥

[ससिप्पहाए]

यथा यथा वादयति प्रियस्तथा तथा नृत्यामि चञ्चले प्रेम्णि।
वल्ली वलयत्यङ्गं स्वभाव स्तब्धेऽपि वृक्षे॥

[शशिप्रभा]

"जैसे-जैसे प्रियतम की लय ध्वनि वजती है, वैसे ही मैं चचल प्रेमिका नृत्य करती हूँ। प्रेम भले ही उसका सदिग्ध हो, किन्तु वृक्ष यदि निश्चल सीधा खडा रहे तो लता का स्वभाव उसके चारो ओर लिपटना ही है।"

सस्कृत

[दूतीं प्रति स्वावस्था-कथनम्]

गते प्रेमाबन्धे हृदय-बहु-मानेऽपि गलिते
निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुर
तथा चैवोत्प्रेक्ष्य प्रिय-सखि गता स्ताश्च दिवसान्
न जाने को हेतुर्दलति शतधा यत्र हृदयम्॥

विज्जाकाया [शिखरिणी]

जव प्रेम का वधन ही टूट गया, जव हमारे हृदयो मे एक दूसरे के प्रति सद्भाव ही नही रहा और जिस समय वह मेरे सामने से एक अजनवी की भाति चला गया तव हे सखी ! क्यो नही अतीत के दिनो की स्मृति मे मेरा हृदय सौ-सौ टुकडे हो गया ?

विज्जिका की प्रतिभा के विषय मे राजशेखर तथा धनदेव आदि कवियोंने उसे कालिदास के वाद स्थान दिया है और उसे साक्षात् सरस्वती स्वीकार किया है।

विरहिणी प्रति सख्युक्ति ।

कृशा केनासि त्व प्रकृतिरियमङ्गस्य ननु मे
मला धूम्रा कस्माद् गुरु-जन-गृहे पाचकतया।
स्मरस्यस्मान कच्चिन्नहि नहि नहीत्येवमगमत्
स्मरोत्कम्प वाला मम हृदि निपत्य प्ररुदिता ॥

"मारुलाया" । [शिखरिणी]

"तुम क्षीण क्यो हो रही हो ?"
"शरीर ही ऐसा है।"
"धूल धूसरित क्यो हो रही हो ?"
"गुरुजनो की सेवा के लिए निरन्तर पाकशाला मे लगे रहने से।"
"क्या हमे पहचानती हो ?"
"नही ! नही ! नही !" कह पुन स्मृति से कांपती हुई वाला मेरे वक्ष पर सिर झुका कर रोने लगी।"

"कच" ।

किं चारु-चन्दन-लता-कलिता भुजङ्गय
किं यत्र-यत्र-पद्म मधु सचलिता नु भङ्गय.।
किं वाननेन्दु-जित-राकदु-रुचो विवालय
किं भान्ति गुर्जर-वर-प्रमदा-कचालय ॥

"पद्मावत्या" [वसन्त-तिलकम्]

"चन्दन तरु को नागिनियो ने लपेट रक्खा है या मधुपूरित कमल को भौंरो के समूह ने ढक लिया है या कि राहु के समान यह भँवरे चन्द्रमा को ग्रसना चाहते है। अरे, तो नही ! क्या यह गुजराती रमणी की सुन्दर मुख छवि है ?"

वाहुकण्ठ, तिलक आदि पर जहाँ प्रसिद्ध पण्डिता पद्मावती ने अति अनुराग-पूर्ण शैली मे लिखा है, ठीक उन्ही भावो का दूसरी दिशा मे अम्वपाली थेरी का वर्णन देखिये—

[पाली]

"कालका भमरवण्ण सदिसा वेल्लितग्गा मम मुद्धजा अहु।
ते जराय साण वाकसदिसा सच्च वादि वचनम नञ्चथा ॥
वासितो व सुरभिकरण्डको पुप्फपूर मयुत्तमङ्गम्।
त नराय सस लोम गन्धिक सच्च वादिवचनम नञ्चथा ॥" इत्यादि

[थेरीगाथा श्लोक २२५ से २७० तक]

"किसी समय भँवरे से कृष्ण वर्ण घने केश-पाश और सघन उपवन सी यही मेरी वेणी, पुष्पाभरणो तथा उज्ज्वल स्वर्णालकारो से सुरभित एव सुशोभित हुआ करती थी, जो आज जरावस्था मे श्वेत गन्धपूर्ण, बिखरी हुई जीर्ण वल्कलो-सी झर रही है। गाढ नील मणियो से समुज्ज्वल, ज्योति-पूर्ण नेत्र आज शोभा-विहीन है।

नव-यौवन के समय सुदीर्घ नासिका, कर्णद्वय और कदली मुकुल के सदृश पूर्व की दन्त-पक्ति क्रमश ढुलकती और भग्न होती जा रही है।

वनवासिनी कोकिला के सदृश मेरा मधुर स्वर और सुचक्षिण शख की भाति सुघड ग्रीवा आज कम्पित है।

स्वर्ण-मण्डित उगलियाँ, हस्त द्वय आज अशक्त एव मेरे उन्नत स्तन आज रस-विहीन ढुलकते चर्म मात्र है।

स्वर्ण नपुरो मे सुशोभित पैरो और झकृत कटि प्रदेश की गति आज कैसी श्री-विहीन है!

आज वही स्वर्ण-मजित पलको के समान परम कान्तिमयी रूपवान सुखधाम देह, आज जर्जरित और दु खो का आगार बनी है। सत्यवादी जनो के वाक्य वृथा नही होते! किन्तु इसी चरम वैराग्य द्वारा जो शान्ति, जिस अलौकिक परम पद की प्राप्ति उन्होने की, उसे कितनी गहराई से सुन्दरी राजकन्या नन्दा अभिव्यक्त करती है—

"तस्मा तस्सा मे अप्प मत्ताय विचिनन्तिया योनि सो।
यथा भूत अय कायो दिट्ठो सत्तर बाहिरो॥
अथ निब्बिन्द इ काये अज्झतञ्च विरज्ज इ।
अप्पयत्ता विसयुत्ता उपसन्तम्हि॥"

प्रबल जिज्ञासा उत्पन्न होने पर अदम्य उत्साह-पूर्वक मैने उत्पत्ति के कारण और देह के बाह्य अन्तर दोनो स्वरूपो को सम्यक् दृष्टि से देख लिया।

इस देह के विषय मे मुझे और चिन्ता शेष नही। मै अब सपूर्ण रूप से राग-मुक्त हूँ। लक्ष्यबोध, अनासक्त और शान्तचित्त हो निर्वाण-पद की शान्ति का उपभोग कर रही हूँ।

(रोहिणी)

श्रम, शील, अनालस, श्रेष्ठ कार्यो मे मग्न, तृषा द्वेषहीन आज मै व्रती हूँ, वृद्ध हूँ। इससे पूर्व मै नाम मात्र की ब्राह्मण थी, आज सत्य ही ब्राह्मण हूँ। तीनो विद्याओ, (प्रकृतज्ञ, वेदज्ञ, और ब्राह्मणत्व) को पाकर आह! आज मै स्नातिका हूँ।

मेरा हृदय आज आकुलता-शून्य, चित्त निर्मल और शान्ति-पूर्ण है।

ऐसे-ऐसे उल्लसित वाक्यो से यह 'थेरी गाथाएँ' भरी पडी है।

सत्य और सौन्दर्य के इस गहन क्षेत्र में से कौन-सा शिव-पथ है, यहाँ मन्तव्य नही। उक्त विस्तृत उपलब्ध साहित्य द्वारा भारतीय नारी के अन्तर की अद्भुत झलक ससार की प्राचीन भाषाओ मे एक अद्वितीय वस्तु है।

अन्य किसी भी देश की प्राचीन स्त्रियो की सृजनता इन नाटक, इतिहास, दर्शन, ज्योतिष, गणित, आलेखन आदि की विदुषियो की सीमा तक नही पहुँच सकी। इतना भी कम गौरवपूर्ण नही है।

नई दिल्ली]

संस्कृत-साहित्य में महिलाओं का दान

डा० यतीन्द्रविमल चौधरी

वर्तमान युग मे महिलाओ की प्रगति के वारे मे यो तो सभी सचेष्ट है, परन्तु महिलाएँ विशेषरूप से सचेष्ट है। वे शिक्षा, दीक्षा एव सव विषयो मे ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श को प्राप्त करना चाहती हैं और इसके लिये कितनी ही महिलाओ ने काफी यत्न भी किया है। उन्होने सिर्फ ऊँची शिक्षा ही नही प्राप्त की है, वल्कि नाना विषयो के ग्रन्थो की रचयित्री होने का श्रेय भी उन्हे प्राप्त है। स्त्री-शिक्षा का उच्च आदर्श हिन्दुस्तान मे कोई नया नही है। वैदिक युग से ही भारतीय महिलाएँ इस आदर्श से अनुप्राणित होती आ रही है। वैदिक युग मे महिलाओ ने सव तरह से सामाजिक जीवन मे जो उच्च स्थान प्राप्त किया था, उसके वारे मे कुछ-न-कुछ प्राय सभी लोग जानते है। इस छोटे-से-लेख मे वर्तमान युग की महिलाओ के विषय में कुछ वतलाने की कोई चेष्टा हम नहीं करेगे। अतीत काल मे भी स्त्रियाँ सिर्फ उच्च शिक्षिता ही नही थी, वल्कि वे वहुत से ग्रन्थो की रचयित्री भी थी। सम्भव है कि इसका इतिहास भी किसी को मालूम न हो।

इन सव सस्कृत ग्रन्थो की हस्त-लिखित पोथियाँ भारत के विभिन्न स्थानो—पुस्तकालयो, व्यक्ति-विशेषो के हाथो, मठो और मन्दिरो—मे विक्षिप्त रूप से छिपी पडी है। इनमे से कितनी ही काल-स्रोत से नष्ट-भ्रष्ट भी हो गई हैं। इसके अलावा कुछ पोथियाँ भारत के वाहर भी चली गई है। फिर भी काव्य, पुराण, स्मृति, तन्त्र आदि विषयो में खोज करने से उनके जो पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ प्राप्त हुए है, उनका भी कुछ कम मूल्य नही है। इन ग्रन्थो से ही प्राचीन-कालीन भारतीय महिलाओ की वहुमुखी प्रतिभा का कुछ-कुछ आभास हम पाते है। सस्कृतसाहित्य मे भारतीय नारियो का जो दान अवशिष्ट है, उससे भी इस साहित्य मे एक नवीन शाखा की सृष्टि की जा सकती है, जो आज तक अज्ञात ही पडी हुई है। काफी अनुसन्धान के वाद भारतीय महिलाओ की जो सस्कृत-रचनाएँ हम सग्रह कर सके है, उन्हें भी हम क्रमश प्रकाशित करेगे। उनके कितने ही ग्रन्थो का सक्षिप्त विवरण यहाँ हम देगे।

दृश्य-काव्य—नाटक आदि

महापण्डित घनश्याम की सुन्दरी और कमला नामक दो विदुषी पत्नियो ने कवि राजशेखर के प्रसिद्ध 'विद्धशाल-भजिका' पर एक अत्यन्त सुन्दर और पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी है। इस टीका का नाम है 'सुन्दरीकमला' या 'चमत्कारी-तरगिणी'। उनके पति घनश्याम ने भी इसी 'विद्धशालभजिका' पर 'प्राणप्रतिष्ठा' नामक एक सक्षिप्त टीका लिखी है। सुन्दरी और कमला की बोधशक्ति अपूर्व, भाषा शुद्ध और विचारदक्षता अतुलनीय है। उन्होने पहले के टीकाकारो की समालोचना ही नही की है, वल्कि कालिदास, भवभूति, अमरसिंह, विशाखदत्त आदि महा-मनस्वियो की कठोर आलोचना करने से भी वे विचलित नही हुई है। यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि वहुत-सी जगहो में उनकी आलोचना उपयुक्त भी है। उक्त टीका मे कितने ही स्थलो पर अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होने अलकार-ग्रन्थ, अभिधान, व्याकरण आदि से प्रमाण उद्धृत किए है। इन ग्रन्थो का अधिकाश भाग वहुत पहले दुनिया से लुप्त हो गया है।

श्राव्य-काव्य और महाकाव्य आदि

श्राव्य-काव्य में महिलाओ के दान के सम्वन्ध में जो कुछ पाया गया है, उसे दो हिस्सो मे वाँटा जा सकता है—(१) विभिन्न विषयो पर छोटी-छोटी कविताएँ और (२) सम्पूर्ण काव्य।

(१) घोषा, विश्ववाला, अपाला आदि वैदिक ऋषियों की स्त्रियों और प्राकृत और पालि भाषाओं की कवयित्रियों के बारे में यहाँ हम कुछ नहीं कहेंगे। उनका उल्लेख इसी ग्रंथ में अन्यत्र हुआ है। इनके अतिरिक्त भी बहुत-सी ऐसी कवयित्रियों के नाम हमें प्राप्त हुए हैं, जिन्होंने संस्कृत में कविताएँ लिखी हैं। राजशेखर, धनददेव आदि जैसे प्रसिद्ध साहित्य महारथियों ने भी उनका काफी गुणगान किया है। ऐसी महिलाओं में से आज कितनों के सिर्फ नाम ही मिलते हैं। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि उनके सुसज्जित काव्योद्यान की जरा-सी भी झाँकी हमें आज नहीं मिलती। उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—कामलीला, कनकवल्ली, ललितांगी, मधुरांगी, सुनन्दा, विमलांगी, प्रभुदेवी, लाटी, विजयांका इत्यादि। जिनकी छोटी-मोटी कविताएँ पाई गई उनमें से कितनों के नाम हैं—भावदेवी, गौरी, इन्दुलेखा, केरली, कुटला, लक्ष्मी, मदालसा, मधुरवर्णी, मदिरेक्षणा, मारुला, मोरिका, नागम्मा, पद्मावती, फल्गुहस्तिनी, चन्द्रकान्ता भिक्षुणी, प्रियम्वदा, सरस्वती, सरस्वतीकुटुम्बदुहिता, शीलाभट्टारिका, सीता, सुभद्रा, त्रिभुवनसरस्वती, चण्डालविद्या, विद्यावती, विज्जा, विकटनितम्बा आदि। इनमें से हमें किसी-किसी की तीस-तीस कविताएँ मिली हैं और किसी-किसी की सिर्फ दो-चार। ये कविताएँ विविध विषयों पर लिखी गई हैं—जैसे, देवस्तुति, दर्शन, धर्म, प्रेम इत्यादि का वर्णन, अंग-प्रत्यंग-वर्णन, पशु-पक्षी-वर्णन आदि। इनके भाव और भाषा मधुर हैं एवं छन्द और अलंकारों की छटा की कमी नहीं है। उनकी और भी कितनी ही कविताएँ थीं, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु आज ये सब दो-चार इधर-उधर बिखरे हुए फूलों की तरह नाना दिशाओं को सुवासित कर रही हैं। उनमें से बहुतों ने ईस्वी सन् नवीं और दसवीं शताब्दियों से पूर्व भारत को अलंकृत किया था।

(२) हमें भारतीय महिलाओं के कितने ही सम्पूर्ण काव्य भी प्राप्त हुए हैं।

(क) संग्रामसिंह की माता अमरसिंह की पटरानी देव-कुमारिका ने 'वैद्यनाथ-प्रसाद-प्रशस्ति' लिखी है। वैद्यनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा के समय यह प्रशस्ति लिखी गई थी और यह मन्दिर में खुदी हुई है। यह ऐतिहासिक प्रशस्ति राजमाता-कृत है या नहीं, इस विषय में संदेह की काफी गुंजाइश है। ईस्वी सन् की अठारहवीं शताब्दी में राजपूताने में उनका जन्म हुआ था।

(ख) रानी गंगादेवी-कृत 'मधुरा-विजय' या 'वीर-कम्पराय-चरित' है। वे विजयनगर के सम्राट् वीर कम्पन की रानी थीं। ईस्वी सन् की चौदहवीं शताब्दी के मध्य में अपने पति के मदुरा (मधुरा) विजय के उपलक्ष में उन्होंने उक्त ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ चौदहवीं शताब्दी के दक्षिण-भारत के ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण है।

(ग) तांजोर के राजा रघुनाथ नायक की सभा-कवयित्री मधुरानी-कृत 'रामायण-काव्य' है। वे ईस्वी सन् की सत्रहवीं शताब्दी में हुई थीं। यह ग्रन्थ रघुनाथ-कृत तेलगू रामायण के आधार पर संस्कृत में लिखा गया है।

(घ) उपर्युक्त रघुनाथ नायक की एक दूसरी सभा-कवयित्री रामभद्राम्बा-कृत 'रघुनाथाभ्युदय-महाकाव्य' है। इस महाकाव्य में रघुनाथ राजा के रूप, गुण और विजय की कहानियों का वर्णन किया गया है। इससे हम लोग तांजोर के तत्कालीन कितने ही ऐतिहासिक तथ्यों को जान सकते हैं।

(ङ) विजयनगर के सम्राट् अच्युतदेवराय की सभा कवयित्री तिरुमलम्बा-कृत 'वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू' है। उन्होंने ईस्वी सन् की सोलहवीं शताब्दी के मध्य में इस ग्रन्थ की रचना की। इसके प्रथम भाग में अच्युतदेवराय की वंशावली, उनके पिता की विजय-कहानी और उनके बाल-काल का इतिहास आदि का वर्णन है तथा उत्तरार्द्ध में अच्युतदेवराय का वरदाम्बिका के साथ परिणय और उनके पुत्र चिनवेंकटराय के जन्म आदि का वर्णन है। इसमें इतिहास की अपेक्षा कवित्व की ही मात्रा अधिक है।

आधुनिक सस्कृत-कवियित्रियाँ

यद्यपि आजकल सस्कृत का पठन-पाठन वहुत कम हो गया है, फिर भी अभी भारतीय महिलाएँ सस्कृत मे काव्य इत्यादि की रचना करती है, इसके अनेक प्रमाण पाये जाते है—जैसे मलावार की लक्ष्मीरानी-कृत सम्पूर्ण काव्य 'सन्तान गोपालन'। इस सम्वन्ध में और भी कितने ही नाम लिए जा सकते है, जैसे—अनसूया कमलावाई वापटे, वालाम्विका, हनुमाम्वा, ज्ञानसुन्दरी, कामाक्षी, मन्दमय धाटी, आलमेलम्मा, राधाप्रिया, रमावाई, श्री देवी वाला-राज्ञी, सोनामणीदेवी, सुन्दरवल्ली, त्रिवेणी इत्यादि।

पौराणिक कर्म-पद्धति

मण्डलीक नृपति की कन्या हरसिह राजा की महारानी वीनयागी ईस्वी सन् की तेरहवी या चौदहवी शताब्दी मे गुजरात की शोभा वढाती थी। श्रुति, स्मृति और पुराण की वे प्रगाढ पण्डिता थी। 'द्वारका-माहात्म्य' नामक उनकी पुस्तक सिर्फ कई एक विशिष्ट आदमियो की धार्मिक क्रिया की सहायता के लिए ही नही लिखी गई है, वल्कि सव जातियो और वर्णो की धर्म-क्रिया सुचारु रूप से सम्पादित करने के लिए उन्होने इस ग्रन्थ की रचना वहुत देशो और तीर्थों के भ्रमण मे ज्ञान प्राप्त करने के वाद की थी। इससे यह वात प्रमाणित होती है कि धर्म-सक्रान्त विषयो पर—खासकर लौकिक आचार के विधान के सम्वन्ध मे—केवल वैदिक युग मे ही स्त्रियो का अधिकार था, यह वात नही। उसके वाद के युगो में भी स्त्रियाँ देश के धर्म-सक्रान्त विविध विपयो पर सुव्यवस्था कर गई है और आचार-विचार तथा क्रिया-कलाप आदि विषयो पर नाना प्रकार के पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थो की रचना कर गई है।

स्मृति-शास्त्र

स्मार्त नारियो के वीच विश्वासदेवी और लक्ष्मीदेवी पायगुण्ड के नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। ईस्वी सन् की पन्द्रहवी शताब्दी मे विश्वासदेवी मिथिला के राजसिंहासन की शोभा वढाती थी। वे पद्मसिह की पटरानी थी। उनके राजत्व के अवसान के साथ उनका राज भवसिह के पुत्र हरसिह के हाथ मे चला जा रहा था। वे अत्यन्त धर्मपरायणा थी। गगा के प्रति उनकी वहुत ज्यादा आसक्ति थी, इसलिए उन्होने गगा पर एक विस्तृत पुस्तक की रचना की, जिसका नाम 'गगा-पद्यावली' है। गगा से सम्वन्ध रखने वाले जितने भी प्रकार के धर्म, क्रिया-कर्म इत्यादि सम्भव है—जैसे, दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, स्नान, गगा के तीर पर वास, श्राद्ध इत्यादि—सभी विपयो पर श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, ज्योतिष इत्यादि ग्रन्थो से अपने मत की पुष्टि मे उद्धरण देकर उन्होने अधिकार-पूर्वक प्रकाश डाला है। स्मृति के कठोर नियमो के अनुसार आत्म-नियोग करने मे वे जरा भी विचलित नही हुई। उन्होने पहले के सभी स्मार्तो के मतो की विवेचना करके अपने मत का नि सदिग्ध भाव से प्रचार किया है। स्मृति-तत्त्व-सम्वन्धी उनकी वोध-शक्ति अपूर्व और विश्लेषण-शक्ति अनुपम थी। इस पुस्तक ने परवर्ती स्मार्त-मण्डली का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया था। फलस्वरूप मित्र मिश्र, स्मार्त-भट्टाचार्य रघुनन्दन, वाचस्पति मिश्र इत्यादि सभी स्मार्त-शिरोमणियोने इस ग्रन्थ के मत का श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है और उसको सव जगह माना है। इतनी युक्ति और पाण्डित्यपूर्ण पुस्तक एक भारतीय महिला कैसे लिख सकती है, ऐसी शका भी किसी-किसी सम्मानित व्यक्ति ने की है। उनके विचार से यह पुस्तक विद्यापति-कृत है। परन्तु उक्त पुस्तक में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि यह विश्वासदेवी की लिखी हुई है और विद्यापति ने इसके लिये प्रमाण सग्रह करने मे थोडी-सी मदद दी है। सिर्फ इसलिए यह मान लेना कि यह पुस्तक विश्वासदेवी-कृत नही है, अत्यन्त अयुक्तिपूर्ण है।

लक्ष्मीदेवी पायगुण्ड सुप्रसिद्ध वैयाकरण वैद्यनाथ पायगण्ड की सहधर्मिणी थी। वे अठारहवी शताब्दी मे जीवित थी। अपनी 'कालमाधव-लक्ष्मी' नामक टीका के द्वितीय अध्याय के शेष मे उन्होने लिखा है कि सन् १७९२-

९३ मे इस टीका के लिखने के पहले तेरह दिन का पक्ष हुआ था, जो हमेशा नही होता । लक्ष्मीदेवी एक असाधारण विदुषी रमणी थी । विज्ञानेश्वर-कृत 'याज्ञवल्क-स्मृति-टीका-मिताक्षरा' पर उन्होने 'मिताक्षरा-व्याख्यान' नामक टोका लिखी है । माधवाचार्य-रचित 'कालमाधव' नामक सुप्रसिद्ध स्मृति-ग्रन्थ पर भी उन्होने बहुत ही सुन्दर टीका लिखी है और उसका नामकरण उन्होने अपने नाम के अनुसार 'कालमाधवलक्ष्मी' किया है । लक्ष्मी पूर्ण सरस्वती ही थी । उनकी हर एक पक्ति मे अगणित शास्त्रो का ज्ञान प्रकट रूप से विद्यमान है । उन्होने वैदिक साहित्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र, महाभारत, प्राचीन और नवीन स्मृति, पुराण और उपपुराण, ज्योतिष और विशेषत व्याकरण आदि के अगविशेष को यथास्थान उद्धृत करके उनकी व्याख्या अपने मत के प्रतिपादन मे जिस निपुणता के साथ की है, उसे देख कर हम लोगो को आश्चर्यचकित हो जाना पडता है । माधवाचार्य प्रगाढ विद्वान और अपने सिद्धान्त-निरूपण मे अकाट्य युक्ति देने में सिद्धहस्त थे । माधवाचार्य-रचित ग्रन्थ पर टीका करना असीम साहस का कार्य है । किन्तु लक्ष्मीदेवी की टीका देखने से ज्ञात होता है कि मौलिक तत्त्वो के अनुसन्धान और विश्लेषण करने में अनेक स्थानो मे वे माधवाचार्य से भी आगे बढ गई है । माधव जहाँ पर अस्पष्ट है, वहाँ पर लक्ष्मी सुस्पष्ट, जिन पर माधव ने कुछ नही कहा है, उन पर लक्ष्मी ने अपनी नारी-सुलभ सरलता और सौजन्यपूर्वक प्रकाश डाला है । लक्ष्मी के समान सरस्वती की पुत्रियाँ कम ही है । 'कालमाधव-लक्ष्मी' के सस्करण के प्रथम खण्ड में और दो टीकाएँ साथ-ही-साथ दी हुई है । उनमे से एक टीका 'कालमाधव-लक्ष्मी' से पहले स्वय माधवाचार्य के नाम पर चलती थी । देखा गया है कि उक्त टीका के हिसाब से लक्ष्मी की टीका सर्वोत्कृष्ट है । दूसरी दो टीकाएँ 'कालमाधव' पर ठीक टीकाएँ नही है । सिर्फ लक्ष्मी ने ही समूचे ग्रन्थ पर सुचारु रूप से टीका की है । उन्ही के कल्याण, धैर्य और ज्ञान के समुद्र से जगत के कल्याण के लिए 'कालमाधव-लक्ष्मी' टीका निकली है, जो भारत की विशिष्ट निधि है ।

तत्रशास्त्र

सुप्रसिद्ध तात्रिक प्रेमनिधि की पत्नी प्राणमजरी शिक्षा-दीक्षा आदि सब प्रकार से अपने पति की अनुवर्तिनी थी । अठारहवी सदी के प्रथम भाग में उनका जन्म कुमायू मे हुआ था । उनकी 'तत्रराज-तत्र' की टीका का प्रथम परिच्छेद ही बचा हुआ है । बहुत सम्भव है कि उन्होने अवशिष्ट परिच्छेदो की भी टीका की हो, पर कालक्रम से अब वह लुप्त हो गई है । टीका का जितना अश प्राप्त और प्रकाशित हुआ है, उससे प्रमाणित होता है कि उन्होने और भी कितने ही ग्रन्थो की रचना की थी । 'तत्रराज-तत्र' की टीका का नाम 'सुदर्शन' है । उन्होने अपने पुत्र सुदर्शन की मृत्यु के बाद उसे अमरत्व प्रदान करने के खयाल से 'अविनाशी सुदर्शन' नामक टीका की रचना की । इसमे उन्होने तत्रशास्त्र-सम्बन्धी अपनी प्रगाढ निपुणता प्रदर्शित की है । 'तत्र-राजतत्र' की प्रथम कविता की पाँच प्रकार की व्याख्या उनके विशेष पाण्डित्य का द्योतक है । उन्होने अपने पूर्ववर्ती 'मनोरमा' के रचयिता सुभगनाथ आदि टीकाकारो और दूसरे तात्रिको तथा शास्त्रो के मत उद्धृत किए है । कही-कही तो उन्होने अपने मत के प्रतिपादन में उन मतो का समर्थन और कही-कही खण्डन भी किया है । उन्होने तत्रशास्त्र के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विचारो पर अपने विचार प्रकट किए है और तत्रशास्त्र के विभिन्न मतो का खडन करके अपने मत का प्रतिपादन किया है । इस प्रकार की विदुषी होने पर भी उन्होने अभीष्ट देवता हैहयनाथ से अपने ग्रन्थ सम्पादन के कल्याणार्थ वर न माँग कर अपने पति की शुभकामना का ही वर माँगा था । तत्रशास्त्र अत्यन्त जटिल है । उस पर इस प्रकार पाण्डित्यपूर्ण प्रकाश डालना सर्वथा प्रशसनीय है ।

युग-युग से भारतीय महिलाएँ जो ज्ञान-दीप जलाती आ रही है उसके आलोक का अनुसरण कर वर्तमान युग की महिलाएँ भी ज्ञान की अधिकारिणी हो सकती है । इस प्रकार ज्ञान के आलोक का वितरण कर वे देश का कल्याण करेंगी, इसमे सन्देह नही ।

कलकत्ता]

भारतीय गृहों का अलंकरण

श्री जयलाल मेहता

घर को आकर्षक तथा शान्ति-प्रद बनाये रखना नारी का एक गुण है। उसकी उपस्थिति ही मानो घर की वाह्य शोभा का हेतु है और घर के अदर माता या पत्नी के रूप मे अपने आदर्श के प्रति सच्ची भक्ति-भावना रखते हुए उसका सचरण एक अनुपम सौंदर्य का बोधक है। भारतीय सस्कृति मे ठीक ही नारी को 'गृह-लक्ष्मी' अर्थात् गृह की अधिष्ठात्री देवी का विरुद अर्पित किया गया है। भारतीय महिला ने इसके बदले मे घर को एक आदर्श रूप प्रदान करके उसके लिये उसने अपना सपूर्ण व्यक्तित्व ही समर्पित कर दिया है।

भारतीय समाज के द्वारा नारी को गृहलक्ष्मीत्व का जो उपयुक्त सम्मान दिया गया है उससे वह अपने दायित्व पर पूरी लगन के साथ सलग्न है। यही मुख्य मनोवैज्ञानिक तथ्य है, जिसके कारण हमारे अतर्गृह सौंदर्य तथा आनद के प्रतिरूप बने हुए है। केवल इसी आतरिक भावना के होने पर अनेक प्रकार के फर्नीचर, दरवाजा पर लटकने वाले विविध झाड-फनूस आदि अनावश्यक प्रतीत होंगे। साफ-सुथरा फर्श, उस पर एक सादी चटाई और आस-पास कुछ सुन्दर पुष्पो की सुगन्ध—केवल इतनी ही वस्तुओ से मानव-निकेतन का एक रमणीक चित्र उपस्थित किया जा सकता है।

अतर्गृह का इस प्रकार का नितात सादा रूप किसी वैरागी महात्मा के लिये नही है। यह सौंदर्य का वह निखरा हुआ रूप है, जिसे जापानी तथा चीनी लोगो ने भी, जो ससार मे सबसे अधिक सौंदर्य-प्रेमी विख्यात है, अपनाया है। इनके सर्वोत्तम सजे हुए कमरो का अर्थ है—एक साफ चटाई का फर्श, सुन्दर वर्णावली या किसी प्राकृतिक दृश्य से युक्त एक लटकती हुई तसवीर, भली प्रकार से की हुई पुष्प-रचना तथा (यदि सभव हुआ तो) एक छोटी काठ की मेज। बस इतना ही काफी है। यहाँ तक कि धनिक वर्ग के भी घरो की सजावट ऐसी ही रहती है। केवल उनमे प्रयुक्त वस्तुएँ अधिक कीमती होती हैं। घरो की सजावट करते समय स्थान की पवित्रता का बडा ध्यान रक्खा जाता है और उसे अधिक वस्तुओ की भरमार करके विरूप नही बना दिया जाता। आजकल के फैशन को, जिसमे वैभव-प्रदर्शन के लिए कमरो को अलकरण से बोझिल कर दिया जाता है, वे लोग भद्दा समझते है।

चीन और जापान मे घरो को इस प्रकार सुन्दर बनाने का उतना श्रेय वहाँ के महिला-समाज को नही दिया जाता, जितना हम उसे भारत मे देते है। यहाँ तो हम स्त्री को गृहलक्ष्मी तक का पद समर्पित करते है। उक्त देशो मे स्त्री का स्थान गौण है। अत उसकी उपस्थिति घर के वातावरण मे प्रभावपूर्ण नही होती। इसके प्रतिकूल घर मे उसका सचरण मानो उस सुन्दर सजे हुए स्थान मे किसी आपत्ति का सूचक होता है।

उपर्युक्त बात हमारे इस कथन की सत्यता को ही प्रमाणित करती है कि जब तक नारी को पूर्ण सहायता तथा सच्ची लगन के साथ अपने दायित्व को सभालने के लिए तत्पर नही किया जाता तब तक घरो को चाहे जितना साज-शृगार से भर दिया जाय, उनमे अभीष्ट सौंदर्य नही लाया जा सकता।

प्राचीन हिंदू समाज-सुधारको ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया था। उन्होने हमारे गार्हस्थ्य जीवन तथा उससे सबधित सामाजिक उपागो को एक ओर तो कुटुब के आदर्श पुरुष के और दूसरी ओर आदर्श नारी के जिम्मे रखकर इस दिशा मे यथेष्ट साफल्य प्राप्त कर लिया था। समय की गति मे हम जीवन की विभिन्न गति-विधियो को अपनाने लगे और धीरे-धीरे अपने आदर्श मार्ग से च्युत हो गये। आज पुरुष नारी को उसके अधिकारपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने मे असफल है। साथ ही नारी भी घर की चहारदीवारी के प्रतिबध मे रह कर

जीवन-यापन करने मे इकार करती है । जिस आधुनिक यथार्थवाद का हमें बडा घमड है, उसने परिस्थिति को और भी विकृत कर दिया है । आजकल पति और पत्नी का जीवन अधिकार और माँग का जीवन है, न कि 'कर्तव्य और त्याग' का । ऐसी दशा मे गार्हस्थ्य जीवन मे समन्वय की आशा करना कहाँ तक सगत है !

आज हमारे घरो की सजावट की क्या हालत है ? वह या तो क्षोभ पैदा करने वाली होती है, या उसमें सजावट का केवल दभ होता है । न तो सौंदर्य का कोई उपयुक्त स्वरूप हमारे सामने है और न हममें सुन्दर वातावरण उत्पन्न करने की कोई उत्कठा ही है । हम सौंदर्य की भावना की अपेक्षा सम्मान के भाव का अधिक आदर करते है । उम्दापन या आवश्यकता से अधिक न होने का विचार हमारे लिये उतना ग्राह्य नही, जितना कि मार्गहीन दिखावा । वास्तविकता की अपेक्षा हम तडक-भडक को पसद करते है । सुहावना शान्तिभाव हमे उतना प्रिय नहीं लगता, जितना कि भडकीले रगो का साज ।

आधुनिक घरो की सजावट मे, केवल वैभव-प्रदर्शन दृष्टिगोचर होता है । सोफे, रेडियो, दरियाँ, कार्डबोर्ड, दरवाजो तथा दीवालो में लटकने वाले झाड-फानूश आदि शृगार के उपकरण होते है । इस अव्यवस्थित अलकरण में न तो सयम की भावना रहती है, न सौंदर्य का ही समन्वय मिलता है । यथासभव कीमती वस्तुओ का प्रदर्शन ही सुन्दर समझा जाता है ।

हमे यह मानना पडेगा कि आधुनिक सभ्यता की दृष्टि से अपने को प्रतिष्ठित जताने के लिए हम बिना सोचे-विचारे यूरोपीय ढग की रहन-सहन का अनुकरण कर रहे है । वास्तव मे रहन-सहन का रूप अधिकाश मे देश की भौगोलिक स्थितियो पर अवलम्बित है । जो बात ठडी जलवायु के लिए आवश्यक है, वह गर्म के लिये नही । जिस प्रकार के रहन-सहन की आवश्यकता पहाडी प्रदेश के लिए उपयुक्त है, वैसी खुले तथा लबे-चौडे मैदान के लिए नही । फिर जो बातें किसी एक व्यक्ति के मनोनुकूल हो सकती है, वे दूसरे के नही । यूरोप की जलवायु के लिये दरी बिछे हुए बद कमरे, गद्दीदार कुर्सियाँ तथा गर्म कपडे आवश्यक होते है, परन्तु ये सब बातें हमारे देश मे, जो यूरोप की अपेक्षा कही गर्म है, क्यो अपनाई जायँ ? एक यूरोप के निवासी को ऊँचे पर बैठ कर अपने पैर नीचे लटकाने मे सहूलियत होती है, परन्तु कोई जरूरत नहीं कि हिंदुस्तानी भी इसकी नकल करें और फर्श पर पालथी मार कर बैठने की अपनी आदत छोड दे । यूरोप के व्यक्ति को आग के समीप बैठना भला मालूम पडता है । क्या हम भी इसको देखकर अपने कमरो मे अँगीठी जलाने का एक स्थान यूरोप के ढग की तरह बनावे ? कपडो का जो रग गोरे लोगो के लिए बर्फीली जगह और कुहरे वाले मौसम मे उपयुक्त होता है वह भूरे या काले रग वाले मनुष्यो के लिये, जो हरे-भरे तथा धूप वाले स्थानो में रहते है, आवश्यक नही हो सकता । दूसरो की नकल कर लेने मे ही शोभा नही आ जाती । इससे तो नकल करनेवाले के शौक का छिछलापन प्रकट होता है ।

भारतीय जलवायु के लिये खुला हुआ फर्श का होना जरूरी है । गद्दीदार कुर्सियो का रखना बुरा शौक है । स्प्रिगदार कुर्सियो का प्रयोग स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डालने वाला है । उनके स्थान पर काठ या बेत की कुर्सियो का, जिनके ऊपर अलग से गद्दियाँ रखी गई हो, व्यवहार करना ठीक है । यूरोप के ढग की सोफा वाली कुर्सी की बनावट अप्राकृतिक होती है । उसे कुछ चौडा बनना चाहिए, जिसमे बैठने वाला अपने पैर कूलो की सीध में फैला कर बैठ सके । दुपहली सोफा-कुर्सी अनावश्यक जँचती है । कुर्सियो की अपेक्षा फर्श पर पालथी मार कर बैठना अधिक अच्छा है और इसे सम्मानप्रद मानना चाहिए ।

रगो का चुनाव प्राकृतिक आवश्यकताओ तथा लोगो के शारीरिक रूपरग के अनुकूल होना चाहिए । भारतीयो के लिए लाल या पीले रग, जिनमे एकाध काली चित्तियाँ बनी हो अधिक उपयुक्त है । हलके पीले तथा सफेद रग भी, जिनके किनारे कुछ काले या गहरे हो, व्यवहार मे लाये जा सकते है । यदि नीला रग पसद है तो वह इतना ही नीला हो, जितना आसमान का रग है । काले रग के साथ गहरे नीले रग का प्रयोग भयावना लगता है । हर रग निलाई की अपेक्षा पिलाई लिये हुए होने चाहिए । हमारे चारो ओर पत्तियो की हरियाली बहुत देखने को मिलती

है। इसी रग को घर के अदर भी दिखाना अच्छा नही। लाल और नीले रगो का साथ-साथ प्रदर्शन हमारे लिये ठीक नही जँचता। इन दोनो रगो का सम्मिलित प्रभाव दर्शक को डरावना लगता है। रगो के सबध मे हमे यह गुर ध्यान मे रखना चाहिए कि एक साथ तीन रगो से अधिक का प्रयोग करना ठीक नही।

बैठने के लिये कमरे की सजावट तथा रगो की बावत इतना कह कर अब हम सौन्दर्य की अन्य छोटा-मोटा बातो पर प्रकाश डालेंगे। उदाहरणार्थ पत्थर की मूर्तियाँ, चित्र, फोटो, गमले, लैंप-स्टैंड तथा काँसे के प्याले आदि। इन सबध में एक आवश्यक बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि कमरे मे जो कुछ वस्तुएँ रक्खी जाँय वे किसी-न-किसी प्रयोजन को सिद्ध करती हो—जैसे पुष्प-पात्र, धूप-दान, लैम्प-स्टैंड तथा कागज दबाने के लिये प्रयुक्त वस्तुएँ। ऐसी वस्तुएँ जो किसी तत्कालीन प्रयोजन के लिये नही रक्खी जाती, किंतु जिनका कुछ निजी उद्देश्य होता है, जैसे अच्छे चित्र, मूर्तियाँ या भावात्मक फोटो आदि, उन्हें वे कभी-कभी और क्रमवार (एक को निकाल कर दूसरी) प्रदर्शित करना चाहिये। उनके प्रदर्शन का आधार-पृष्ठ देश कालानुसार उपयुक्त भाव होना चाहिए। तभी उन वस्तुओ का वास्तविक लाभ उठाया जा सकता है और वे प्रभावोत्पादक हो सकती है।

घर को पवित्रता के भाव से भरने के लिये दूसरी आवश्यक बात है फर्श की सजावट। प्रत्येक भारतीय घर में त्यौहारो या धार्मिक सस्कारो आदि के समय पर फर्श पर अल्पना या रगोली की जाती है। ऐसे आँगनो या फर्शो को सजाना, जिन पर जूतो की चरमर हुआ करती है और जली हुई सिगरटो के टुकडे फेंके जाते है, केवल बर्बरता है। अपनी सास्कृतिक पवित्रता के नियमो का पालन हमें दृढता के साथ करना होगा, नही तो वह केवल दिखाऊ और अस्वाभाविक हो जायगी।

अब हम फूलो की सजावट को लेते है। इस सबध मे हम जो बात जापान या यूरोप मे पाते है या जिसकी नकल हमारे भारतीय घरो मे देखी जाती है वह सतोषजनक नही है। फूलो को उनके डठल सहित काट कर कमरो के भीतर गमलो मे लगाना असगत जँचता है, जब कि प्रकृति ने विस्तृत भू-क्षेत्र तथा सूर्य की प्रचुर प्रभा प्रदान की है, जो फूलो को स्वाभाविक रूप से विकसित होने में सहायक हो सकती है। इसका अर्थ यह नही कि घर में बगीचा खडा किया जाय। इसका केवल यह अभिप्राय है कि कुछ स्थायी फूलो के पौधे या लताएँ, जो मीठी सुगन्ध तथा सुन्दर रग की हो, खिडकियो के आसपास लगा दी जाँय। भारत मे चमेली, मालती, शेफाली, मोतिया और अपराजिता आदि के पुष्प काफी पसन्द किये जाते है। कमरो के अदर केवल कुछ चुने हुए पूर्ण विकसित फूलो को लाकर उन्हे निर्मल जल से भरी हुई एक बडी तश्तरी में तैराना बहुत सुहावना प्रतीत होगा। जल के ऊपर तैरते हुए पुष्पो का दर्शन देखने वाले की थकान को दूर करने वाला होता है, विशेषत गर्मी की ऋतु मे।

यदि ठठलो के सहित फूल सजाये ही जाँय तो वे जापानियो के ढग से हो। वे एक समय केवल एक या दो डठल-युक्त उत्तमोत्तम फूलो को कमरे के एक ही स्थान पर सजाते है। इस प्रकार उन फूलो का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हो जाता है और उसका आनद लिया जा सकता है। फूलो का पूरा गुच्छा किसी बर्तन के भीतर रख कर उसका प्रदर्शन करना सजावट का अच्छा तरीका नही कहा जा सकता।

खजूर-जैसे पौधो को कमरे के अदर रखना बिलकुल असगत है। यदि ये पेड अच्छे लगते ही हो तो उन्हे घर के बाहर आसपास उनके विशाल रूप में ही क्यो न देखा जाय ?

आधुनिक विज्ञान के अनेक चमत्कार—बिजली की रोशनी, पखे, रेडियो आदि—अब भी साधारण भारतीयो की पहुँच से बाहर है। हममे से जिनको ये साधन प्राप्त है उन्हे बिजली के तारो के सबध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि वे इस प्रकार से दीवालो मे फिट किये जाँय कि दृष्टि में कम पडे। बिजली की रोशनी को स्क्रीन से ढँक देना चाहिये, जिससे आँखो मे चकाचौंध न पैदा हो। वास्तव मे रोशनी को पर्दे से ढँकना स्वय एक कला है। इसके द्वारा अनेक भाति के प्रभाव उत्पन्न किये जा सकते है ? इतना होते हुए भी पर्दे से ढँकी हुई बिजली की रोशनी कृत्रिम ही है और हम उसकी तुलना उगते या डूबते हुए सूर्य की प्रभा से या चाँदनी रात से कदापि नही कर सकते ?

रेडियो का खर्च अभी इतना अधिक है कि वह आम जनता की पहुँच से बाहर है। उसके स्थान पर कमरे के भीतर खिडकी के पास कुछ मरकडे के टुकडो को या पतली, पोली लकडियो को टाँग कर सगीत का मद स्वर सुना जा सकता है। खिडकी मे से जो हवा आवेगी उससे वे हिल-डुल कर एक दूसरे से लगेगी और इस प्रकार एक धीमा मृदु स्वर उत्पन्न होगा।

ऊपर अतर्गृह की सजावट का जो वर्णन किया गया है वह सब प्रकार के कमरो में लागू हो सकता है, केवल उसमें वैयक्तिक रुचि विशेष होगी।

हमने ऊपर यह बताया है कि घर को सुख-शान्तिमय बनाने के लिये स्त्री-पुरुष में एक मनोवैज्ञानिक अनुकूलता का होना आवश्यक है। इसके बाद अपनी नकल करने वाली आदत को कोसते हुए हमने यह बताया कि भारतीय जलवायु तथा लोगो के रुचि के अनुकूल कमरो की कैसी सजावट यहाँ वाछनीय है। अब हम एक दूसरी आवश्यक बात का कथन करेंगे और वह है अपने हाथो अपना काम करना।

घर की देखभाल और उसकी सजावट करना प्रतिदिन अपने व्यक्तित्व का एक नया चित्र उपस्थित करने के समान है। नौकरो या किसी अन्य व्यक्ति के ऊपर यह काम छोड देना ठीक नही है। दूसरे के भरोसे बैठ कर न केवल हम अपने को मौलिक रचना के आनद से वचित रखते है, अपितु हम उस वातावरण को भी खो देते है, जिसकी हम भविष्य के लिए प्रतीक्षा किये रहते है। गृहस्वामिनी तथा गृहस्वामी का तथा उसी प्रकार उनके बच्चो का यह एक आवश्यक गुण होना चाहिए कि वे घर पर अपने ही हाथो से कार्य करते रहें। हमारी दास-मनोवृत्ति ने ही हमे ऐसा बना दिया है कि हम अपने हाथो से अपना काम करना घृणित और अप्रतिष्ठित समझते है।

घर को सजाने के सबध में एक अन्य महत्वपूर्ण बात सफाई का होना जरूरी है। साफ-सुथरी वस्तुएँ, चाहे वे भली प्रकार सजा कर न भी रक्खी गई हो, सुन्दर लगती है।

अतिम बात, जो कम महत्व की नही है, वैयक्तिक सजावट की है। चलते-फिरते हुए लोग भी घर के वातावरण का अभिन्न अग है। 'शृगार' स्वय ही एक अपरिहार्य विषय है। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि घर पर रहने के समय आवश्यक साफ-सुथरी तथा घरेलू कार्यों के लिए उपयुक्त वेश-भूषा ही यथेष्ट है, जो एक सुव्यवस्थित गृह की महत्ता के अनुकूल होगी।

घरो को सुन्दर-सुहावने बनाये रखना सदा से ही भारतीय ललना-समाज का एक अनुपम गुण रहा है। खेद है कि विपरीत समय के आ पडने से बहुतो का अपनी पुरातन सस्कृति से विच्छेद हो गया है। आधुनिक सभ्यता की क्षणिक चमक-दमक वाली वस्तुओ के लोभ में पडकर बहुत सी भारतीय नारियो का अपनेपन से विश्वास उठ गया है। यह सब होते हुए अब भी कितनी ही महिलाएँ है, जिन्होंने असाधारण कठिनाइयो और प्रलोभनो का सवरण कर भारतीय गृह के सौदर्य को स्थिर रक्खा है और यह उन्ही के महान् त्याग का फल है कि पुरुषो की उदासीनता और अवहेलना के होते हुए भी हमारी सास्कृतिक निधि का रक्षण हो सका है तथा उसका सवर्धन भी हो रहा है। घरो के भीतर ऐसी गृहलक्ष्मियो की उपस्थिति ही उन घरो की शोभा और सजावट के लिए अलम् है।

दिल्ली]

धर्मसेविका प्राचीन जैन देवियाँ

ब्र० चदाबाई जैन

कुटुम्ब ही समाज और देश की नीव है। नैतिक, आर्थिक और धार्मिक दृष्टि से कुटुम्ब का समाज में विशेष महत्व है। कटुम्ब के सदस्य पुरुष एव स्त्रियाँ इन दोनो वर्गों का आपस मे इतना घनिष्ट सवध है कि एक दूसरे को अन्योन्याश्रित समझा जाता है। अथवा यो कहना चाहिये कि ये दोनो वर्ग एक दूसरे के पूरक है। एक के विना दूसरे का काम चलना कठिन ही नही, वल्कि असभव है। यही कारण है कि दोनो का सदा मे सर्वत्र समान भाग रहा है।

समाज एव राष्ट्र में पुरुष वर्ग का काम अपने जीवन मे सघर्ष के द्वारा अर्जन करना है, महिलाओ का काम उसे सुरक्षित रखना है। इस प्रकार पुरुष का कर्मक्षेत्र बाहर का एव महिलाओ का भीतर का है। पुरुष वहिर्जगत के स्वामी है तो महिला अन्तर्जगत की स्वामिनी, लेकिन ये दोनो जगत परस्पर दो नही, एक और अभिन्न है। इसलिए एक का उत्कर्ष एव अपकर्ष दूसरे का उत्कर्ष एव अपकर्ष है। पुरुष वर्ग मे यदि कोई कमजोरी अथवा त्रुटि आई तो उसका प्रभाव महिला वर्ग पर पडे विना नही रह सकता। इसी प्रकार महिला वर्ग के गुण-दोष पुरुष वर्ग को प्रभावित किये विना नही रह सकते। लाला लाजपतराय ने लिखा है, 'स्त्रियो का प्रश्न पुरुषो का प्रश्न है, क्योकि दोनो का एक दूसरे पर असर पडता है। चाहे भूतकाल हो या भविष्य,-पुरुषो की उन्नति वहुत कुछ स्त्रियो की उन्नति पर निर्भर है।"

स्त्री-पुरुषो के कार्य का विभाजन उनके स्वभाव-गुण के अनुसार किया गया है। सवल पुरुषो के हाथ भारी कार्यो को सौंपा गया और चूकि महिलाओ का स्वभाव सहज एव मृदु होता है, अत उसीके अनुरूप कार्य उन्हे दिये जाते हैं। शारीरिक वनावट के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि स्त्री में हृदय की प्रधानता है और पुरुष मे मस्तिष्क की। वैज्ञानिको का मत है कि स्त्री के हृदय मे गुण अधिक होते है। उसमे पुरुष की अपेक्षा प्रेम, दया, श्रद्धा, महानुभूति, क्षमा, त्याग, सेवा, कोमलता एव सौजन्यता आदि गुण विशेष रूप से पाये जाते है। स्त्री का हृदय नैसर्गिक श्रद्धालु होता है। गुणवान व्यक्ति को देखकर उसे वडा आनन्द प्राप्त होता है। इसी आनन्द का दूसरा नाम श्रद्धा है। यह श्रद्धा कई प्रकार की होती है। जीवनोन्नति के प्रारभ मे स्त्री की श्रद्धा सकुचित रहती है। वह अपने पति, पुत्र, पिता, भाई और वहिन पर भी रागात्मक रूप से श्रद्धा करती है। इस अवस्था मे श्रद्धा और प्रेम इतने मिल जाते है कि उनका पृथक्करण करना कठिन हो जाता है, परन्तु जव यही श्रद्धा वढते-बढते व्यापक रूप धारण कर लेती है तव धार्मिक श्रद्धा के रूप में परिणत हो जाती हैं। इस परिणमन में विशेष समय नही लगता। इसलिए किशोरावस्था से लेकर जीवनावसान तक स्त्री के हृदय मे धार्मिक श्रद्धा की मदाकिनी प्रवाहित होती रहती है। इसी श्रद्धा के कारण महिलाओ ने प्राचीन काल से लेकर अव तक अनेक प्रकार से धर्म की सेवा की है। प्रस्तुत निवध मे प्राचीन धर्म-सेविका देवियो के सवध मे प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

प्राचीन शिलालेखो एव चित्रो से पता चलता है कि जैन श्राविकाओ का प्रभाव तत्कालीन समाज पर था। इन धर्म-सेविकाओ ने अपने त्याग से जैन-समाज मे प्रभावशाली स्थान वना लिया था। उस समय की अनेक जैन देवियो ने अपनी उदारता एव आत्मोत्सर्ग द्वारा जैनधर्म की पर्याप्त सेवा की है। श्रवण वेलगोल के शिलालेखो मे अनेक श्राविका एव आर्यिकाओ का उल्लेख है, जिन्होने तन, मन, धन से जैनधर्म के उत्थान के लिये अनेक विपत्तियो का सामना करते हुए भी प्रयत्न किया था। यद्यपि आज वे भूतल पर नही है, तथापि उनकी कीर्ति-गाथा जैन महिलाओ को स्मरण दिला

रही है कि उन्होने माता, बहिन और पत्नी के रूप मे जो जैन धर्म का वीज-वपन किया था, वह पल्लवित और पुष्पित होकर पुरुष-वर्ग को अक्षुण्ण शीतल छाया अनन्तकाल तक प्रदान करता रहेगा।

ईस्वी पूर्व छठवी शताब्दी मे जैनधर्म का अभ्युत्थान करने वाली इक्ष्वाकुवशीय महाराज चेटक की राज्ञी भद्रा, चद्रवशीय महाराज शतानीक की धर्मपत्नी मृगावती, महाराज उदयन की सम्राज्ञी वासवदत्ता, सूर्यवशीय महाराज दशरथ की पत्नी सुप्रभा, उदयन महाराज की पत्नी प्रभावती, महाराज प्रसेनजित की पत्नी मल्लिका एव महाराज दधिवाहन की पत्नी अभया हुई है। इन देवियो ने अपने त्याग एव शौर्य के द्वारा जैनधर्म की विजयपताका फहराई थी। इन्होने अपने द्रव्य से अनेक जिनालयो का निर्माण कराया था तथा उनकी समुचित व्यवस्था करने के लिये राज्य की ओर से भी सहायता का प्रबध किया गया था। महारानी मल्लिका एव अभया के सबध मे कहा जाता है कि इन देवियो के प्रभाव से ही प्रभावित होकर महाराज प्रसेनजित एव दधिवाहन जैन धर्म के दृढ श्रद्धालु हुए थे। महाराज प्रसेनजित ने श्रावस्ती के जैनो को जो सम्मान प्रदान किया था, इसका भी प्रधान कारण महारानी की प्रेरणा ही थी। इनके सबध मे एक स्थान पर लिखा है कि यह देवी परम जिनभक्ता और साधु-सेविका थी। सामायिक करने मे इतनी लीन हो जाती थी कि इसे तन-बदन की सुधि भी नही रहती थी। इसका मुख अत्यन्त तेजस्वी और कान्तिमान था। विधर्मी भी इसके दर्शन से जैनधर्म के प्रति श्रद्धालु हो जाते थे।

ईस्वी पूर्व ५वी और ४थी शताब्दी मे इक्ष्वाकुवशीय महाराज पद्म की पत्नी धनवती, मौर्यवशीय चन्द्रगुप्त की पत्नी सुपमा एव सिद्धसेन की धर्मपत्नी सुप्रभा के नाम विशेष उल्लेखयोग्य है। ये देवियाँ जैनधर्म की श्रद्धालु एव भक्ता थी।

महाराज यम उड्रदेश के राजा थे। इन्होने सुधर्म स्वामी से दीक्षा ली थी। इन्ही के साथ महारानी धनवती ने भी श्राविका के व्रत ग्रहण किये थे। धनवती ने जैनधर्म के प्रसार के लिये कई उत्सव भी किये थे। यह जैनधर्म की परम श्रद्धालु और प्रचारिका थी। इसके सबध मे कहा जाता है कि इसके प्रभाव से केवल इसका ही कुटुम्ब जैनधर्मानुयायी नही हुआ था, बल्कि उड्रदेश की समस्त प्रजा जैनधर्मानुयायिनी बन गई थी। इसी प्रकार महारानी सुभद्रा ने भी जैनधर्म की उन्नति मे पूर्ण सहयोग प्रदान किया था। प्राचीन जैन इतिहास के पन्ने उलटने पर ईस्वी सन् से २०० वर्ष पूर्व सम्राट् ऐल खारवेल की पत्नी भूसीसिह यशा बडी धर्मात्मा हुई है। इस दम्पत्ति युगल ने भुवनेश्वर के पास खण्डगिरि और उदयगिरि पर जैन मुनियो के रहने के लिये अनेक गुफाएँ बनवाई और दोनो ही मुनियो की सेवा-सुश्रूषा करते रहे। सिहयशा ने जैनधर्म की प्रभावना के लिये एक बडा भारी उत्सव भी किया था।

ईस्वी पूर्व ४थी शताब्दी से लेकर ईस्वी सन् की ६वी शताब्दी तक के इतिहास मे सिर्फ गगवश की महिलाओ की सेवा का ही उल्लेख मिलता है। यह वश दक्षिण भारत के प्राचीन और प्रमुख राजवशो मे से था। आन्ध्र-वश के शक्तिहीन हो जाने पर गगवश के राजाओ ने दक्षिण भारत की राजनीति मे उग्र रूप से भाग लिया था। इस वश के राजाओ की राजधानी मैसूर थी। इस वश के अधिकाश राजा जैन-धर्मानुयायी थे। राजाओ के साथ गग-वश की रानियो ने भी जैन धर्म की उन्नति के लिये अनेक उपाय किये। ये रानियाँ मन्दिरो की व्यवस्था करती, नये मन्दिर और तालाब बनवाती एव धर्म-कार्यो के लिये दान की व्यवस्था करती थी। इस राज्य के मूल सस्थापक ददिग और उनकी भार्या कम्पिला के धार्मिक कार्यों के सबध मे कहा गया है कि इस दम्पत्ति-युगल ने अनेक जैन-मन्दिर बनवाये थे। इस काल मे मन्दिरो का बडा भारी महत्त्व था। मन्दिर केवल भक्तो की पूजा के स्थान ही नही थे, बल्कि जैन धर्म के प्रसार एव उन्नति के सच्चे प्रतीक होते थे। प्रत्येक मन्दिर के साथ एक आचार्य रहता था, जो निरन्तर धर्म-प्रचार और उसके उत्कर्ष का ध्यान रखता था। वास्तव मे उस काल मे जैन मन्दिर ही जैन धर्म के साहित्य, सस्कृति, कला एव सास्कृतिक शक्ति के पुनीत आश्रम थे। इसलिए जैनदेवियो ने अनेक जिनालय निर्माण करा कर जैन धर्म की उन्नति मे भाग लिया था।

श्रवण वेलगोल के शक स० ६२२ के शिलालेखो मे आदेयरेनाडु मे चितूर के मौनीगुरु की शिष्या नागमति,

पेरुमाल् गुरु की शिष्या धण्णेकुत्तारे, विगुरवि, नमिलूरसघ की प्रभावती, मयूरसघ की अध्यापिका दमितावती, इसी सघ की सौंदर्या आर्य्या नाम की आर्यिका एव व्रत शिलादि सम्पन्न शशिमति-गन्ति के समाधिमरण धारण करने का उल्लेख मिलता है। इन देवियो ने श्राविका के व्रतों का अच्छी तरह पालन किया था। अन्तिम जीवन में ससार से विरक्त होकर कटवप्र पर्वत पर समाधि ग्रहण कर ली थी। सौन्दर्या आर्या के सवध मे शिलालेख न० २६ (१०८) में लिखा है कि उसने उत्साह के साथ आत्म-सयम-सहित समाधि व्रत का पालन किया और सहज ही अनुपम सुरलोक का मार्ग ग्रहण किया।

इसके अनन्तर जैनवर्म के धार्मिक विकास के इतिहास में पल्लवाधिराज मरुवर्मा की पुत्री और निर्गुन्द देश के राजा परमगूल की रानी कदाच्छि का नाम आता है। इसने श्रीपुर मे 'लोकतिलक' जिनालय वनवाया था। इस जिनालय की सुव्यवस्था के लिये श्रीपुरुष राजा ने अपनी भार्या की प्रेरणा एव परमगूल की प्रार्थना से निर्गुन्द देश में स्थित पूनल्लि नामक ग्राम दान मे दिया था। ऐतिहासिक जैनधर्म-सेविका जैनमहिलाओं में इस देवी का प्रमुख स्थान है। इसके सवध मे कहा जाता है कि "यह सदा पुण्य कार्यों मे आगे रहती थी। इसने कई उत्सव और जागरण भी किये थे।" इसका पता ७७६ ईस्वी की एक राजाज्ञा मे चलता है कि इस काल मे कदाच्छि पूर्ण वयस्क थी। साथ ही यह भी मालूम होता है कि इस देवी का केवल अपने ही परिवार पर प्रभाव नही था, वल्कि गगराज परिवार पर भी था।

इसके वाद प्रमुख जैन महिलाओ में जाक्कियव्वे का नाम आता है। श्रवण वेलगोल के शिलालेख न० ४८६ (४००) से पता चलता है कि यह देवी शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्या थी और इसने एक मूर्ति की स्थापना कराई थी। इसकी व्यवस्था के लिए गोविन्द वाडि की भूमि दान की थी। इस देवी के पति का नाम सत्तरस नागार्जुन था। यह राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय के समय मे हुई थी। सन् ९११ मे सत्तरस नागार्जुन जो नागखण्ड ७० का शासक था, मर गया था। राजा ने उसके स्थान पर उसकी पत्नी को नियुक्त किया था। इस कथन से सिद्ध होता है कि जाक्कियव्वे राज्य-कार्य सचालन में भी निपुण था। इसके सवध में कहा गया है[1] कि "This lady who was skilled in ability for good government faithful to the Jinendra Sasan and rejoicing in her beauty"

अर्थात्—"यह राज्यकार्य में निपुण, जिनेन्द्र के शासन के प्रति आज्ञाकारिणी और लावण्यवती थी।" स्त्री होने पर भी इसने अपने अपूर्व साहस और गाम्भीर्य के साथ जैन शासन और राज्य शासन की रक्षा की थी। अन्तिम समय में यह व्याधिग्रस्त हो गई। इसलिये इसने पुत्री को राज्य सौंप कर वन्दणिके नामक ग्राम की वसदि मे सल्लेखना धारण की थी।

इस शताब्दी मे एक और जैनमहिला के उल्लेखनीय कार्य आते है, जिसका नाम अतिमव्वे था। इस देवी के पिता का नाम सेनापति मल्लय्य, पति का नाम नागदेव और पुत्र का नाम पडेवल तैल था। अतिमव्वे का जैन नारियो में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहा जाता है कि इस देवी ने अपने व्यय से पोन्नकृत शान्तिपुराण की एक हजार प्रतियाँ और डेढ हजार सोने और जवाहिरात की मूर्तियाँ तैयार कराई थी। अनेक धर्म-सेविकाओ की तुलना अतिमव्वे से की गई है।

दसवी शताब्दी के अन्तिम भाग मे वीरवर चामुण्डराय की माता कालल देवी एक वडी धर्म-प्रचारिका हुई है। 'भुजवल-चरित' से पता लगता है कि इस देवी ने जव जैनाचार्य जिनसेन के मुख से गोम्मट देव की मूर्ति की प्रशसा सुनी तो प्रतिज्ञा की कि जव तक गोम्मट देव के दर्शन न करूँगी, दूध नही पीऊँगी। जव चामुण्डराय को अपनी पत्नी अजितादेवी के मुख से अपनी माता का यह सवाद मालूम हुआ तो मातृभक्त पुत्र ने माता को गोम्मटदेव के दर्शन कराने के लिये पोदेनपुर को प्रस्थान किया। मार्ग में उन्होने श्रवण वेलगोल की चन्द्रगुप्त वस्ति मे पार्श्वनाथ के दर्शन किये

---

[1] विशेष जानकारी के लिए देखिए 'मेडीवल जैनिज्म' पृ० १५६।

और भद्रबाहु के चरणो की वन्दना की। उसी रात को पद्मावती देवी ने कालल देवी को स्वप्न दिया की कुक्कुट सर्पो के कारण पोदेनपुर की वन्दना तुम्हारे लिये असम्भव है, पर तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न होकर गोम्मटदेव तुम्हे यही बडी पहाडी पर दर्शन देगे। दर्शन देने का प्रकार यह है कि तुम्हारा पुत्र शुद्ध होकर इस छोटी पहाडी पैर से एक स्वर्णवाण छोडे तो भगवान के दर्शन होगे। प्रात काल होने पर चामुण्ड ने माता के आज्ञानुसार नित्यकर्म मे निपट कर शुद्ध हो स्नान-पूजन कर छोटी पहाडी की एक शिला पर अवस्थित हो दक्षिण दिशा की ओर मुह कर एक वाण छोडा जो विन्ध्यगिरि के मस्तक पर की शिला में लगा। वाण के लगते ही गोम्मटस्वामी का मस्तक दृष्टिगोचर हुआ। फिर जैनगुरु ने हीरे की छेनी और मोती के हथौडे मे ज्यो ही शिला पर प्रहार किया, शिला के पाषाणखण्ड अलग हो गये और गोम्मटदेव की प्रतिमा निकल आई। इसके बाद माता की आज्ञा मे वीरवर चामुण्डराय ने दुग्धाभिषेक किया।

इस पौराणिक घटना मे कुछ तथ्य हो या नही, पर इतना निर्विवाद सिद्ध है कि चामुण्डराय ने अपनी माता कालल देवी की आज्ञा और प्रेरणा से ही श्रवण वेलगोल में ही गोम्मटेश्वर की मूर्ति स्थापित की थी। इस देवी ने जैन-धर्म के प्रचार के लिये कई उत्सव भी किये थे। चामुण्डराय के जैनधर्म का पक्का श्रद्धानी होने का प्रधान कारण इस देवी की स्नेहमयी गोद एव बाल्यकालीन उपदेश ही था।

दसवी, ग्यारहवी और बारहवी शताब्दी मे अनेक जैन महिलाओ ने जैनधर्म की सेवा की है। इस काल मे दक्षिण में राजघरानो की देवियो के अतिरिक्त साधारण महिलाओ ने भी अपने त्याग एव सेवा का अच्छा परिचय दिया है। दसवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे पाम्बव्वे नाम की एक अत्यन्त धर्मशीला महिला हो गई है। इसके पति का नाम पडियर दोरपय्य था। यह उनकी पत्नी वनाई गई है। यह नाणव्वे कन्ति नामक धर्माचार्य की शिष्या थी। इसके सबध में लिखा हुआ मिलता है—"Pambabbe having made her head bold (by plucking cut the hair), performed penance for thirty years, and observing the five vows expired in A D. 971."

अर्थात्—पाम्बव्वे केशलुञ्च कर तीस वर्ष तक महान् तपश्चरण करती रही और अत मे पचव्रतो का पालन करते हुए ९७१ ई० मे शरीर-त्याग किया।

ग्यारहवी शताब्दी में शम्भूदेव और अकव्वे के पुत्र चन्द्रमौलि की भार्या अचलदेवी अत्यन्त धार्मिक महिला हुई है। यह चन्द्रमौलि वीरवल्लालदेव का मन्त्री था। अचलदेवी के पिता का नाम सोवण नायक और माता का नाम वाचव्वे था। यह नयकीर्त्ति के शिष्य वालचन्द्र की शिष्या थी। नयकीर्ति सिद्धान्तदेव मूलसघ, देशीयगण पुस्तकगच्छ कुन्दकुन्दान्वयके गुणचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। नयकीर्ति के शिष्यो मे भानुकीर्ति, प्रभाचन्द्र, माघनन्दी, पद्मनन्दी, वालचन्द्र और नेमिचन्द्र मुख्य थे। अचलदेवी का दूसरा नाम आचियक्क बताया गया है। इसने अक्कनवस्ति (जिनमन्दिर) का निर्माण कराया था। चन्द्रमौलि ने अपनी भार्या अचलदेवी की प्रेरणा से होयसल नरेश वीर-वल्लाल से बम्मेयनहल्लि नामक ग्राम उपर्युक्त जिनमन्दिर की व्यवस्था के लिए माँगा था। राजा ने धर्म-मार्ग का उद्योत समझ कर उक्त ग्राम दान मे दिया था। इसी अचलदेवी की प्रार्थना से वीरवल्लाल नृप ने वेक्क नामक ग्राम गोम्मटनाथ के पूजन के हेतु दान मे दे दिया। इस धर्मात्मा देवी के सम्बन्ध मे एक स्थान पर कहा गया है कि यह साक्षात् धर्ममूर्ति थी। इसने धर्म-मार्ग की प्रभावना के लिए कई उत्सव किये थे। इन उत्सवो में यह रात्रि-जागरण करती रही थी।

इसके अनन्तर इसी शताब्दी मे पद्मावती वक्क का नाम धर्मसेविकाओ मे आता है। यह देवी अभयचन्द्र की गृहस्थ शिष्या थी। सन् १७०८ मे अभयचन्द्र का देहावसान होने पर इसने उस वसादि का निर्माण-कार्य पूर्ण किया था, जिसका प्रारम्भ अभयचन्द्र ने किया था। इस देवी ने देवमन्दिर की चहारदीवारी भी वनवा दी थी। अपने समय की लब्ध-प्रतिष्ठ सेविका यह देवी थी। इसी देवी की समकालीन कोगाल्व की माता पोचव्वरसि ने एक वसादि का निर्माण कराया था। इस वसादि में इसने अपने गुरु गुणसेन पडित की मूर्त्ति स्थापित की थी। सन्

१०५८ में उस वसादि के निर्वाह के लिए भूमि-दान भी किया था। इसने अपने जीवन-काल मे अनेक धार्मिक उत्सव किये थे।

कदम्बराज कीर्त्तिदेव की प्रथम पाणिगृहीता पत्नी मालल देवी का भी धर्मप्रचारिका जैन महिलाओ मे ऊँचा स्थान है। इसने सन् १०७७ मे कुप्पटूर में पद्मनदी सिद्धान्तिदेव के द्वारा पार्श्वदेव चैत्यालय का निर्माण कराया था। इस देवी ने जिनालय के तैयार होने पर एक बडा उत्सव किया था तथा इस उत्सव मे सभी ब्राह्मणो को आमन्त्रित किया था और उनकी पूजा कर उन्हे धन-मानादि द्वारा सन्तुष्ट किया था। इसलिए इस जिनालय का नाम उन्ही आमन्त्रित ब्राह्मणो से ब्रह्मजिनालय रखवाया था। यह जिनालय एडेनाडु नामक सुन्दर स्थान पर था। इसके सम्वन्ध मे उल्लेख है—"This sage belonged to the Mula Sangha and the Tintrinika gaccha This Tinaloya she obtained from the king Siddoni the most beautiful place in Edenad."

इसके अनन्तर इसी शताब्दी की जैन महिलाओ मे सान्तर परिवार की जैनधर्माराधिका चट्टल देवी का नाम विशेष उल्लेखयोग्य है। यह देवी रक्कम गग की पौत्री थी। इसका विवाह पल्लवराज काडुवेट्टी से हुआ था। असमय मे ही इसके पति और पुत्र का स्वर्गवास हो गया था। इसके वाद इसने अपनी छोटी वहन के तैल, गोग्गिप, ओडुग और वर्म इन चार पुत्रो को अपना मातृस्नेह समर्पित किया। इन्ही की सहायता से सान्तरो की राजधानी पोम्बुर्च्चपुर म जिनालयो का निर्माण किया। इन जिनालयो मे एक पचकूट या पचवसादि है जो 'ऊर्वितिलकम्' के नाम से प्रसिद्ध है। इस परोपकारी देवी ने तालाव, कुएँ, मन्दिर तथा घाटो का भी निर्माण कराया। यह आहार, ज्ञान, औषधि और अभय इन चारो प्रकार के दानो से जनता की सेवा करती थी। इसके सम्वन्ध मे कहा गया है कि यह लावण्यवती, स्नेह की मधु धारा और परोपकार की साक्षात् मूर्त्ति थी। इसने जैनधर्म के प्रचार और प्रसार मे पूर्ण सहयोग प्रदान किया था।

श्रवण वेलगोल के शिलालेख न० २२६ (१३७) से पता लगता है कि इसी शताब्दी मे पोयसल सेट्टि और नेमि सेट्टि की माताओ—मात्रिकव्वे और शान्तिकव्वे—ने जिनमन्दिर और नन्दीश्वर निर्माण करा कर भानुकीर्ति मुनि से दीक्षा ली थी। ये दोनो देविया जैनधर्म को प्रचारिका थी। इन्होने अपने समय मे जैनधर्म का अच्छा प्रसार किया था। साधारण धर्मसेवी महिलाओ मे श्रीमती गन्ती का नाम भी मिलता है। इस देवी के गुरु दिवाकर नन्दी मुनीन्द्र वताये गये है। श्रवण वेलगोल के शिलालेख न० १३६ (३५१) से पता चलता है कि माड्कव्वे गन्ती न श्रीमती गन्ती के स्मरणार्थ उक्त लख लिखवाया था। लेख के प्रारम्भ मे वताया गया है कि देशीय गण कुन्दकुन्दान्वय के दिवाकर नन्दी और उनकी शिष्या श्रीमती गन्ती का स्मारक है। इस प्रकार अनेक साधारण महिलाएँ जैनधर्म की सेवा करती रही।

ग्यारहवी शताब्दी मे राजपरिवार को देवियो में गग महादेवी को जैनधर्म प्रचारिकाओ मे अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त है। यह भुजवल गग हेम्माडि मान्धाता भूप को पत्नी थो। इस देवी का दूसरा नाम पट्टदमहादेवी भी मिलता है। यह देवी जिन-चरणारविन्दो मे लुब्धभ्रमरी थी।

ग्यारहवी शताब्दी मे शान्तलदेवी की माता माचिकव्वे भी वडी धर्मात्मा एव धर्मसेवी हुई है। इसका सक्षिप्त वशपरिचय मिलता है कि दण्डाधीश नागवर्म और उनकी भार्या चन्दिकव्वे के पुत्र प्रतापी वलदेव दण्डनायक और उनकी भार्या वाचिकव्वे मे माचिकव्वे की उत्पत्ति हुई थी। यह वचपन मे ही वडी धर्मात्मा और रूपवती थी। इसका विवाह मारसिङ्गय्य युवक से हुआ था। इसका पति शैव धर्मानुयायी था, लेकिन यह पक्की जैन थी। इसके गुरुओ का नाम प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव, वर्द्धमानदेव और रविचन्द्रदेव था। श्रवण वेलगोल के शिलालेख न० ५३ (१४३) से प्रकट होता है कि इसने वेलगोल में आकर एक मास के अनशन व्रत के पश्चात् गुरुओ की साक्षि-पूर्वक सन्यास ग्रहण किया था। इस धर्मात्मा देवी की पुत्री महारानी शान्तलदेवी हुई। यह प्रारम्भ से ही माता के समान

धर्मात्मा, रूपवती और विदुषी थी। इसका विवाह होयसलवशी महाराज विष्णुवर्द्धन के साथ हुआ था। इसके सम्वन्ध मे कहा गया है कि यह जैन धर्मावलम्बिनी, धर्मपरायणा और प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव की शिष्या थीं। श्रवण वेलगोल के शिलालेख न० ५६ (१३२) में वताया गया है कि "विष्णुवर्द्धन की पट्टरानी शान्तलदेवी-जो पातिव्रत, धर्मपरायणता और भक्ति मे रुक्मिणी, सत्यभामा, सीता-जैसी देवियो के समान थी—ने सवतिगन्धवारणवस्ति निर्माण कराकर अभिषेक के लिए एक तालाव वनवाया और उसके साथ एक गाँव का दान मन्दिर के लिए प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव को कर दिया।" एक दूसरे शिलालेख मे यह भी कहा गया है कि इस देवी ने विष्णुवर्द्धन नरेश की अनुमति से और भी कई छोटे-छोटे ग्राम दान किये थे। इन ग्रामो का दान भी मूलसघ, देशीयगण, पुस्तकगच्छ के मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के शिष्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव के लिए किये जाने का उल्लेख है। जैन महिलाओ के इतिहास में इस देवी का नाम चिरस्थायी है। इसने सन् ११२३ मे श्रवण वेलगोल में जिनेन्द्र भगवान् की एक प्रतिमा स्थापित की, जो शान्ति जिनेन्द्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसने भक्ति, दया, दान, धर्मशीलता और सौजन्यता आदि गुणो से अपूर्व ख्याति प्राप्त की थी। अन्तिम जीवन मे शान्तलदेवी विषयभोगों से विरक्त होकर कई महीनो तक अनशन और ऊनोदर व्रतो को धारण करती रही थी। सन् ११३१ में शिवगगे नामक स्थान मे सल्लेखना धारण कर शरीर त्याग किया था।

शान्तलदेवी की पुत्री हरियव्वरसि ने अनेक धार्मिक कार्य किये थे। इसने सन् ११२९ में कोडागिनाद के हन्तिपूर नामक स्थान मे एक वडा भारी जिनमन्दिर वनवाया था तथा इसके गोपुर की चोटियो मे हीरा, रत्न एव जवाहिरात आदि अमूल्य मणि-माणिक्य लगवाये थे। इस चैत्यालय के निर्वाह के लिए वहुत सी भूमि दान की है। इसके सम्वन्ध मे एक स्थान पर कहा गया है कि "हरिपव्वरसि की ख्याति तत्कालीन धार्मिको में थी, मदसुन्दरी जैनधर्म की अत्यन्त अनुरागिणी थी, भगवान् जिनेन्द्र का पूजन प्रतिदिन करती थी, साधु और मुनियो को आहार दानादि भी देती थी।"

विष्णुचन्द्र नरेश के वडे भाई वलदेव की भार्या जवक्कणव्वे की जैनधर्म में अत्यन्त श्रद्धा थी। श्रवण वेलगोल के शिलालेख न० ४३ (११७) मे वताया गया है कि देवी नित्य प्रति जिनेन्द्रदेव का पूजन करती थी।

यह चारित्र्यशील, दान, सत्य आदि गुणो के कारण विख्यात थी। यह गुरु के चरणो मे रात-दिन अर्हंत् गुणगान, पूजन, भजन, स्वाध्याय आदि में निरत रहती थी। इसने 'मोक्षतिलक' व्रत करके एक प्रस्तरखड मे एक जिनदेवता की प्रतिमा खुदवाई थी और वेलगोल में उसकी प्रतिष्ठा भी कराई थी। इस प्रतिष्ठा का समय अनुमानत ११२० ई० है।

जैन महिलाओ के इतिहास मे नागले भी उल्लेखयोग्य विदुषी, धर्मसेविका महिला है। इसके पुत्र का नाम वूचिराज या वूचड मिलता है। यह अपनी माता के स्नेहमय उपदेश के कारण शक स० १०३७ में वैशाख सुदी १० रविवार को सर्वपरिग्रह का त्याग कर स्वर्गगामी हुआ था। इसकी धर्मात्मा पुत्री देमति या देवमति थी। यह राजसम्मानित चामुण्ड नामक वणिक् की भार्या थी। इसके सम्वन्ध में उल्लेख है—

आहार त्रिजगज्जनाय विभय भीताय दिव्यौषधम्।
व्याधिव्यापदुमेतदीनमुखिने श्रोत्रे च शास्त्रागमम्।
एवं देवमतिस्सदैव ददती प्रप्रक्षये स्वायुषा—
मर्हद्देवमतिं विधाय विधिना दिव्या वधू प्रोदभू
आसीत्परक्षोभकर प्रतापा शेषावनी पाल कृता दरस्य।
चामुण्डनाम्नो वणिज प्रियास्त्री मुख्यासती या भुविदेवमतीति ॥

इन श्लोको से स्पष्ट है कि देवमति आहार, औषधि, ज्ञान और अभय, इन चारो दानो को वितीर्ण करती

थी। इसका समस्त जीवन दान-पुण्यादि पवित्र कार्यों में व्यतीत हुआ था। अन्त में शक स० १०४२ फाल्गुण वदी ११ गुरुवार को सन्यासविधि से शरीर त्याग किया था। इसी समय मार और माकणव्वे के पुत्र एचि की भार्या पोचिकब्वे वडी धर्मात्मा और जैनधर्म की प्रचारक हुई है। इसने अनेक धार्मिक कार्य किये थे। वेल्गोल मे जैन-मन्दिर वनवाने में भी इसका उल्लेख मिलता है। शक स० १०४३ आषाढ सुदी ५ सोमवार को इस धर्मवती महिला का स्वर्गवास हो जाने पर उसके प्रतापी पुत्र महासामन्ताधिपति महाप्रचण्ड दण्डनायक विष्णुवर्द्धन महाराज के मन्त्री गगराज ने अपनी माता के चिरस्मरणार्थ एक निवद्या का निर्माण कराया था।

एक अन्य जैनधर्म की सेविका तैल नृपति की कन्या और विक्रमादित्य सान्तर की वडी वहन सान्तर राजकुमारी का उल्लेख मिलता है। यह अपने धार्मिक कार्यों के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थी। लेखो मे इस महिला की प्रशसा की गई है। इसने शासन देवते का एक मास में निर्माण कराया था। पम्पादेवी वडी धर्मशीला थी। यह नित्यप्रति शास्त्रोक्त विधि से जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करती थी। यह अष्टविधार्चने, महाभिषेकम् और चतुर्भक्ति को सम्पन्न करना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य समझती थी। ऊर्वितिलकम् के उत्तरी पट्टशाला के निर्माण में इस देवी का पूर्ण हाथ था।

अनेकान्त मत की प्रचारिका जैन महिलाओ के इतिहास में जैन सेनापति गगराज की पत्नी लक्ष्मीमती का नाम भी नही भुलाया जा सकता है। श्रवण वेलगोल के शिलालेख न० ४८ (१२८) से पता लगता है कि यह देवी दान, क्षमा, शील और व्रत आदि मे पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। इस लेख में इसके दान की प्रशसा की गई है। इस महिला ने सन् १११८ में श्रवण वेलगोल मे एक जिनालय का निर्माण कराया था। इसके अतिरिक्त इसने अनेक जिनमन्दिरो का निर्माण कराया था। गगराज ने इन जिनालयो की व्यवस्था के लिए भूमि-दान किया था। यह देवी असहाय और दु खियो की अन्न वस्त्र से सहायता करती थी। इसी कारण इसे उदारता की खान कहा गया है। एक लेख में कहा गया है कि "क्या ससार की कोई दूसरी महिला निपुणता, सौन्दर्य और ईश्वर-भक्ति मे गगराज की पत्नी लक्ष्मीपाम्बिके की समानता कर सकती है? सन् ११२१ में लक्ष्मीमती ने समाधि लेकर शरीर त्याग किया था।

सुग्गियब्बरसि, कनकियब्बरसि, वोपव्वे और शान्तियक्क महिलाओ की धर्म-सेवा के सम्वन्ध में भी कई उल्लेख मिलते है। इन देवियो ने भी जैनधर्म की पर्याप्त सेवा की थी। श्रवण वेलगोल के शिलालेखो में इच्छादेवी एचव्वे, एचलदेवी, कमलदेवी, कालव्वे केलियदेवी, गुज्जवे, गुणमतियब्वे, गगायी, चन्दले, गौरश्री, चागल देवी, जानकी जोगव्वे, देवीरम्मणि, धनाश्री, पद्मलदेवी, (डुल्लभार्या) यशस्वती, लोकाविका (डुल्ल की माता) शान्तल देवी, (वूचिराज की भार्या) सोमश्री एव सुप्रभा आदि अनेक जैनधर्मसेवी महिलाओ का उल्लेख मिलता है। इन देवियो ने स्वपर-कल्याणार्थ अनेक धार्मिक कार्य किये थे।

दक्षिण भारत के अतिरिक्त उत्तर भारत में भी दो-चार धर्म-सेविकाएँ ११वी, १२वी और १३वी शताब्दी में हुई है। सुप्रसिद्ध 'कवि कालिदास' आशाधर जी की पत्नी पद्मावती ने बुलडाना ज़िले के मेहकर (मेघकर) नामक ग्राम के वालाजी के मन्दिर में जैन मूर्त्तियो की प्रतिष्ठादि की थी, यह एक खण्डित मूर्त्ति के लेख से स्पष्ट सिद्ध होता है। राजपूताने की जैन महिलाओ मे पोरवाडवशी तेजपाल की भार्या सुहडादेवी, शीशोदिया वश की रानी जयतल्ल देवी एव जैन राजा आशाशाह की माता का नाम विशेष उल्लेखयोग्य मिलता है।

चौहानवश की रानियो ने भी उस वश के राजाओ के समान जैनधर्म की सेवा की थी। इस वश का शासन विक्रम सवत् की १३वी शताब्दी में था। इस वश के राजा कीर्त्तिपाल की पत्नी महिवलदेवी का नाम विशेष उल्लेख-योग्य मिलता है। इस देवी ने शान्तिनाथ भगवान का उत्सव मनाने के लिए भूमिदान की थी। इसने धर्म-प्रभावना के लिए कई उत्सव भी किये थे।

इसी वंश में होने वाले पृथ्वीराज द्वितीय और सोमेश्वर ने अपनी महारानियो की प्रेरणा से विजौलिया के जैनमन्दिर को दान दिया था तथा मन्दिर के स्थायी प्रबन्ध के लिए राज्य की ओर से वार्षिक भी दिया जाता था।

परिवार (?) वंश में भी उल्लेखयोग्य धारावश की पत्नी शृंगारदेवी हुई हैं। इस देवी ने झालोनी के शान्तिनाथ मन्दिर के लिए पर्याप्त दान दिया था तथा धर्म के प्रसार के लिए और भी अनेक कार्य किये थे।

इस प्रकार उत्तर और दक्षिण दोनो ही प्रान्तो की महिलाओ ने जैनधर्म की उन्नति के लिये अनेक कार्य किये। उत्तर में केवल बड़े घरानो की महिलाओ ने ही जैनधर्म के प्रचार और प्रसार में योग दिया, पर दक्षिण में सर्वसाधारण महिलाओ ने भी जैनधर्म की उन्नति में योग-दान किया।

आरा]

काश्मीरी कवियित्रियाँ

कुमारी प्रेमलता कौल एम्० ए०

काश्मीरी कविता का आस्वादन कराने के पूर्व काश्मीरी भाषा के सम्बन्ध मे कुछ बातें निवेदन कर देना आवश्यक है। यद्यपि स्थानाभाव के कारण काश्मीरी भाषा के क्रमिक विकास का सविस्तर वर्णन सम्भव नही, तथापि थोडा-सा दिग्दर्शन तो करा ही सकती हूँ।

यह सर्वमान्य है कि काश्मीर की प्राचीनतम भाषा सस्कृत थी। जिस प्रकार बोलचाल की भाषा में समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं, काश्मीरी भाषा भी बदलती रही है। उसमे रूसी और तिब्बती भाषा के आज भी कुछ चिह्न मिलते हैं। जब से मुसलमानो के आक्रमण होने प्रारम्भ हुए तब से तो बोलचाल की भाषा में बहुत ही परिवर्तन होने लगे। जैसा कि ऊपर निवेदन किया जा चुका है, काश्मीर की भाषा तो सस्कृत थी। बाहर से आई फारसी। यद्यपि काश्मीर-वासियो ने इस नई भाषा से दूर रहने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु फिर भी वह उन पर लादी जाने लगी। मुसलमानो ने फारसी को राज्य-भाषा बनाया। आपस का सम्पर्क आवश्यक था। परिणाम-स्वरूप दोनो भाषाओ के शब्द विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त होने लगे। काश्मीर वाले फारसी का और मुसलमान सस्कृत का शुद्ध उच्चारण नही कर सकते थे। नतीजा यह हुआ कि एक ऐसी भाषा बन गई, जिसमें फारसी और सस्कृत के अपभ्रश शब्दो का इस्तैमाल होने लगा। इस नवीन भाषा का व्याकरण दस प्रतिशत सस्कृत व्याकरण है, किन्तु इसमें चार ऐसे स्वर आ गये हैं, जो न सस्कृत वर्णमाला में हैं और न फारसी में। इनका कुछ सम्बन्ध रूसी भाषा से अवश्य पाया जाता है। हम उन्हें अपने ही स्वर-अक्षरो में कुछ चिह्न लगा कर सूचित करते हैं।

आजकल की काश्मीरी भाषा में उर्दू, फारसी, हिन्दी, सस्कृत और अग्रेजी के शब्द प्रयुक्त होते हैं। फारसी के अतिरिक्त यहाँ देवनागरी से मिलती-जुलती 'शारदा' नामक लिपि भी पाई जाती है, जिसका प्रयोग कुछ प्राचीन हिन्दू ही करते हैं और इसका स्थानिक प्रयोग ज्योतिष तक ही सीमित है। कोई उल्लेखयोग्य साहित्य उसमें उपलब्ध नही है।

इस समय जो काश्मीरी साहित्य मिलता है, उसे देखने से पता चलता है कि इस प्रदेश में अनेक कवि हुए हैं, जिन्होंने साहित्य की अच्छी सेवा की है। प्रस्तुत लेख में केवल कवियित्रियों पर ही प्रकाश डालूगी।

काश्मीरी कवियित्रियो में सबसे पहला स्थान ललितेश्वरी देवी उपनाम 'ललीश्वरीदेवी' का है। इनकी रचनाएँ बहुत ही प्रभावशाली हैं और इनकी वाणी में अद्भुत ओज है।

उनका जन्म काश्मीर के एक गाँव मे हुआ था। बडी होने पर पद्मपुर[1] में एक ब्राह्मण से इनका विवाह हुआ। जब ये ससुराल पहुँची तो इन्हें अपनी आध्यात्मिक उन्नति मे अनेक बाधाओ का सामना करना पडा। इनकी सास का व्यवहार इनके प्रति बडा कटु था। फिर भी सब कुछ सहन करती हुई वे अपने मार्ग पर अग्रसर होती गई। इनके बारे मे अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं, लेकिन विस्तार-भय से उनका उल्लेख करना सम्भव नही।

ललितेश्वरी का शास्त्रीय अध्ययन कितना था, इसका ठीक पता नही, लेकिन वेदान्त के सिद्धान्तो को उन्होने गहराई से हृदयगम कर लिया था। जैसा कि उनकी रचनाओ से विदित होता है, ब्रह्म-ज्ञान को उन्होने व्यक्तिगत् साधना का विषय बनाया। हर स्थान पर 'बटा' (ब्राह्मण) कह कर वे जनता को सम्बोधित करती हैं। कर्मकाण्ड की उलझनो का कबीर की भाँति इन्होने विरोध किया और साधना का सहज पथ ग्रहण करने की प्रेरणा की।

---

[1] आधुनिक पाम्पुर (केसर-भूमि)।

इनकी वाणी के कतिपय दृष्टान्त इनकी प्रवृत्ति को स्पष्टतया व्यक्त कर देते हैं। इनकी वाणी पर सस्कृत आचार्यो की छाप है। वे लिखती हैं—

अन्दर आसिय न्यबर छोडुम
पवनन रगन करनम सथ
ध्यान किञ दिए जगि कीवल जोनुम
रग गव सगस मीलिय क्यथ

अन्दर होते हुए भी मैंने उसे (ब्रह्म को) बाहर ढूढा। पवन ने मेरी नसो को तसल्ली दी और ध्यान से मैंने सारे ससार में केवल एक परमात्मा को जाना। यह सारा प्रपच (रंग) ब्रह्म में लीन हो गया।

वे फिर कहती हैं—

ओंकार यलि लय ओनुम
वुहिय कुरूम पनुन पान
श्य वत त्रोविथ त सयमार्ग रूटुम
त्यलि ललि वोचुस प्रकाशस्थान ॥

ओंकार को जब मैंने अपने आप में लय कर लिया, अपने शरीर को भस्म किया और छ रास्तो को छोड कर सातवें अर्थात् सत्य के रास्ते को ग्रहण किया, तब मैं—ललीश्वरी—प्रकाश के स्थान पर पहुँची।

इस पद्याश में सत्य का सहज पथ दिखाई देता है। ब्रह्म को अपने में लय करके सत पथ पर चलने का वे आदेश देती हैं।

फिर कहती हैं—

ओर ति पानय योर ति पानय
पानय पनस छु न मेलान
पूयम अच्यस न मुलेह दानिय
सुइ हा मालि चय आश्चर जान ॥३॥

उधर भी आप ही हैं और इधर भी आप ही हैं, किन्तु आप अपने को ही नही मिलता। इसमे जरा भी नही नमा सकता। हे तात! इस आश्चर्य पर तू विचार कर।

यहाँ अपने आपको पहचानने का प्रयत्न है। कहती हैं कि आत्मा ही ब्रह्म होते हुए माया का परदा पडा रहने से मिलता नही। आगे चलकर कहती हैं—

अछान आय त गछुन गछे
पकुन गछे दिन क्योह राथ
योरय आय तूर्य गछुन गछे
कॅंह न त कॅंह न त कॅंह न त क्याह ?

अनादि से हम आये हैं और अनन्त मे हमे जाना है। दिन और रात हमे इसी की ओर चलते रहना चाहिए। जहाँ से हम आये हैं, वही हमे जाना है। कुछ नही, कुछ नही, कुछ नही। यह ससार कुछ नही।

गुरू की श्रेष्ठता बताते हुए कहती है—

गुरु शब्दस युस यछ पछ मरे
ज्ञान वहिग रटि च्यथ तोरगस
इन्द्रय शोमरथि अनन्द करे
अद कुस मरियत मारन कस ॥५॥

गुरू के शब्द पर जो विश्वास धरे, ज्ञान रूपी लगाम से चित्त रूपी घोडे (तोरग—फारसी शब्द) को रोके और जो इन्द्रियो का शमन करके आनन्द पाये तो भला कौन मरे और किस को मारे ?

वे कबीर की भाँति गुरू पर अधिक विश्वास करती जान पडती है। गुरू पर इतनी आस्था है कि उनकी कृपा से परमानन्द तक मिल सकता है और फिर गीता के अनुसार कोई किसी को मार नही सकता, न कोई मरता है। ठीक भी है जब परमानन्द प्राप्त कर लिया तो फिर मरने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। वे निरन्तर अपने आपको पहचानने का प्रयत्न करती जान पडती है। कहती है—

छाडान लूसुम पानिय पानस
छ्यपिथ ज्ञानस वोत न कहं
लय करमस वाचस मय खानस
वर्य वर्य प्याल त च्यवान न कह ॥६॥

अपने आपको ढूढ़ते-ढूढते मै तो हार गई। उस गुप्त ज्ञान तक कोई न पहुँचा, पर जब मैने अपने आपको उसमें लय कर दिया तो मै ऐसे अमृत धाम में पहुँची, जहाँ प्याले तो भरे पडे है, पर पीता कोई भी नही।

अपने आपको पहचान कर "मैं" और "तू" के भेद-भाव को मिटा देना चाहती है। कहती है—

नाथ ! न पान न पर जोनुम
सदा हि बुदुम अकुय देह
च्य बो बो च्य म्युल न जोनुम
च कुस बो क्वस छुह सन्देह ॥७॥

नाथ, न मैंने अपने को जाना, न पराये को। सदा शरीर की एकता को दृष्टि मे रक्खा। "तू—मै" और "मै—तू" का एकात्म मैने नही अनुभव किया। तू कौन है ? मै कौन हूँ ? यही तो मेरे मन में सन्देह है। वे "मैं" और "तू" के भेद-भाव को मिटा देना चाहती है। सारे ब्रह्माण्ड को ब्रह्ममय देखते हुए कहती है—

गगन चय भूतल चय
चय दयन त पवन त राथ
अर्घ चन्दुन पोष पो ञ्न चय
चय सकल तय लगजि कस ॥८॥

आकाश तू ही है। पृथ्वी भी तू ही है। दिन, पवन और रात भी तू ही है। अर्घ, चन्दन, फूल और जल भी तू ही है। तू ही सब कुछ है। फिर भला तुझ पर चढाये क्या ?

ससार की प्रत्येक वस्तु में वे प्रभु का दर्शन करती है। इसी प्रकार एक स्थान पर और भी कहती है—

दीव वटा दीवर वटा
हेरि बोन छु एक वाट
पूज कस करख हूत वटा
कर मनस त पवनस सघाठ ॥९॥

देव (मूर्ति) भी पत्थर का ही है। देवालय भी पत्थर का ही है। ऊपर से नीचे तक एक ही वस्तु, अर्थात् पत्थर ही पत्थर है। हे मूर्ख ब्राह्मण, तू किस को पूजेगा ? तू मन और आत्मा (पवनस) को एक कर। इसी प्रकार के भाव कबीर ने भी व्यक्त किये है—

पाथर पूजे हरि मिले तो मै पूजूँ पहार।
घर की चाकी पूजिए पीस खाय ससार ॥

मूर्ति-पूजा का कबीर ने खडन किया है। ललितेश्वरी के लिए भी मूर्ति एक पत्थर के टुकडे से अधिक अस्तित्व नही रखती। वे ज्ञान पर ही अधिक ज़ोर देती है। बुद्धि को प्रकाशमान करना उन्हें अभीष्ट है और ज्ञान द्वारा आत्म साक्षात्कार करना उन्हें अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। जगत को नश्वर मान, सासारिक बातो को मिथ्या समझ कर कहती है—

कुस बव तय क्वस माजि
कमी लाजि बाजी वठ
कांल्य गछ्क कुह न बव कुह नो माजि
ज़ानिय कव लानिय बोजी वठ ॥१०॥

कौन है बाप ? और कौन है माँ ? किस ने तेरे साथ प्रेम किया ? समय आने पर तू तो चला जायेगा। न तेरा कोई पिता होगा, न कोई माता होगी। यह सब कुछ जानते हुए भी तू क्यो प्रेम बढाता है ?

ललितेश्वरी के और भी बहुत से पद्य यहाँ दिये जा सकते है, किन्तु पाठक इतने ही से उनके विचारो की सूक्ष्मता का अनुमान कर सकते है। अन्त में उनकी चार पक्तियाँ और देना उचित समझती हूँ, जिनसे विदित होता है कि वे योग की क्रियाओ से भी पूर्णतया परिचित थी। वे कहती है—

ढाद शान्त मण्डल यस देवस थजय
नासिक पवन अनाहत रव
स यस कल्पन अन्तिह चलिय
स्वयम् देव त अर्चन कस ॥११॥

ब्रह्मरन्ध्र को जिसने शिव का स्थान जाना, प्राणवायु के (प्रवाह) साथ-साथ जिसने अनाहत को सुना और जिस की वासनाएँ अन्दर-ही-अन्दर मिट गई, वह तो स्वय ही देव है, शिव रूप है, फिर पूजा काहे की ?

इनके पश्चात् विशेष उल्लेखनीय कवियित्री है 'हब्ब खातून'। कहा जाता है कि वे अकबर के समय में काश्मीर के गवर्नर की पत्नी थीं। वे अत्यन्त रूपवती थीं। जब अकबर ने उनको देखा तो उनके पति से कहा कि यह स्त्री मुझे दे दो। उसने देने से इन्कार किया और खातून स्वय भी बादशाह के हरम में जाने को राज़ी न हुई। इस पर बादशाह ने क्रोधित हो कर उनके पति को कत्ल करवा दिया। इस पर हब्ब खातून अपने पति की याद में घर छोड कर वैरागी हो गई और इसी प्रकार सारी आयु बिता दी। इनकी रचनाएँ बहुत कम उपलब्ध है, किन्तु जो कुछ भी है, प्रेम से भरी हुई है, चाहे उसे आध्यात्मिक प्रेम कहें, या भौतिक। हब्ब खातून तथा इनकी समकालीन अथवा बाद की कवियित्रियो पर फारसी साहित्य तथा कल्पना का अधिक प्रभाव है। फारसी एव उर्दू के कवियो मे विरह की व्याकुलता और चिर मिलन की साध हर समय बनी रहती है। यही बात हब्ब खातून की रचनाओ में पाई भी जाती है। वे कहती है—

१

लति थवनम दऽद फिराक़
कति लुगसय रसय
मस छी रऽव यऽर करनस
मच व फलवान ॥१॥

लति (अपने आपको सम्बोधित करती है), मेरे उस (प्रेमी) निष्ठुर ने मुझे विरह की वेदना ही दी है। न जाने उसका मन कहाँ रमा है ? उस प्रीतम ने मेरी मस्ती को छिन्न-भिन्न कर दिया और मैं बावली हो कर मारी-मारी फिर रही हूँ।

२

सील मुचरित हाल वावहस
कीन म्योन पर्याह छुसय
म्य छु तहन्जी मनिकामन
सुछ वे परवाय
लद न ति खाक रोयस
वद न वे कसय
मस छीरऽव यार करनस

मै अपना दिल खोल कर अपनी दशा दिखाऊँ और बताऊँ कि मुझे क्या दु ख है। मै तो उसी की मनोकाक्षा करती रहती हूँ, किन्तु वह निष्ठुर मेरी तनिक भी सुधि नही लेता। फिर उसकी निष्ठुरता पर अपने शरीर मे खाक न मलू ? क्या मै निराश हो कर न रोऊँ ? उस प्रीतम ने मुझे बहुत निराश कर दिया है।

३

ननि कथ वन मनसूरन
कनि लय हसय
मनि मज सुई नार गुडनम
हुनि हुनि झम रेह
तनि मुचरित हाल वावहस
तनि तन लागहसय

बचारे मन्सूर ने सत्य बाते कही तो उसे पत्थर मारे गये। मेरे मन मे भी वही अग्नि प्रज्वलित हो रही है और धीमी-धीमी लौ उठ रही है। मै अपना दिल खोल कर दिखाती, तुम्हारे शरीर से अपना शरीर लगाती। तब तुम्हें मालूम होता कि मेरे अन्दर कैसी ज्वाला है ?

४

द्रुद हरकी प्याल बरसय मसय
या त दुपनम च त दामा
न त दामा चाव
वोजि नय दपम रोजि महशर
म्योन दावा छुसय

मै सुरा के प्याले भरूँगी। उस (प्रीतम) से एक घूट पीने को प्रार्थना करूँगी अथवा कहूँगी कि तुम नही पीते तो मुझी को एक घूट पिला दो। यदि वह मेरी प्रार्थना न सुनेगे तो कहूँगी कि प्रलय के दिन मैं दावेदार बनूँगी।

इन रचनाओ पर फारसी का प्रभाव होना कोई आश्चर्यजनक बात नही, क्योकि समय का प्रभाव पडना आवश्यक ही था।

इसके पश्चात् एक कवियित्री का नाम और आता है। उनका अपना नाम तो विख्यात नही। वे पति के नाम से ही जानी जाती है। वे मुशी भवानीदास की स्त्री थी। यह अपने समय की अच्छी कवियित्री थी। चरखा इनकी विशेष प्रिय चीज थी। इन्होने जितनी भी कविताएँ की, अधिकाश चरखा कातते हुए ही की। कहती है—

अरनि रग गोम आवन हिए
कर इये दर्शुन दिए
कन्द आरूद नावद मुतय
फन्द अकीय सु गोम कुतय
खन्द करनम वुपरन थिए—कर इए

मेरा रग अरनि फूल (पीला फूल) के समान हो गया है। वह (प्रीतम) कब आकर दर्शन देगा ? मैं कितने मीठे पदार्थों से उसका स्वागत करने बैठी हूँ। वह मुझे धोखा देकर न जाने कहाँ चला गया और मुझे दूसरो के सामने लज्जित कर गया। वह कब आकर दर्शन देगा ?

२

आम ताव कोताह गजस
श्याम सुन्दर पामन लजस
नाम पैग़ाम कुसनिय—
कर इये दर्शुन दिए

मैं उसके विरह की अग्नि कहाँ तक सहूँ ! हे श्यामसुन्दर ! मेरी सखियाँ मुझे ताने देती हैं। मेरा सन्देश तुम तक कौन ले जायेगा ?

३

मुक्त पुरसे पोंवुर वशन
सोख्तगी झम न तम सजमशान
छुक लदग दवा दिए—करइए

मैं उसकी चादर मे मोती से शिल्पकारी करूँगी, किन्तु उसकी कठोरता भुलाये नही भूलती। मेरी पीडा की वही दवा कर सकता है और केवल उसके दर्शनो से ही मेरी पीडा दूर हो सकती है।

वे सौतो से विशेप चिढती थी, ऐसा प्रतीत होता है। एक स्थान पर कहती है—

स्वन छुम गेलान कुनि छुम न मेलान
पर जन सत छुम खेलानी
अश्क नाव सूर गव परवत शैलन
अश्क चूर फुर वलवीरनी
अश्क नार हनि हनि तनि छुम तेलान
पर जन सत छुम खेलानी

मेरी सौतें मेरा परिहास करती है और वह निष्ठुर प्रीतम दूसरी स्त्रियो के साथ रगरेलियाँ मना रहा है। मुझे कही भी नही मिलता। प्रेम की अग्नि मे मैं भस्म हो चुकी हूँ। मुझे पर्वत भी सूखे दिखाई देते हैं।[1] यह प्रेम का चोर बडे-बडे वीरो के घर में भी डाका डाल देता है। यह प्रेम की आँच धीरे-धीरे मेरे शरीर को भस्म कर रही है। पर वह निष्ठुर प्रीतम कहीं मिलता ही नही। अन्य स्त्रियो ही में मस्त है।

---

[1] काश्मीर में पर्वत का सूखा होना अशुभ-सूचक है, क्योकि यहाँ कोई पर्वत सूखा नहीं है।

एक बार चरखा कातते हुए चरखे को ही सम्बोधित करके कहती है—

गूँ गूँ मव कर हां इन्वरो
कन्यर्यन त फुलला मलयो
योनि छु नरल त कल्म छु परान
इल्म वान लगयो हा, इन्वरो.

हे चरखे ! तू 'गूँ गूँ' शब्द न निकाल । मैं तेरी गुच्छियों में इत्र लगाऊँगी । तेरे गले में माल (योनि—यज्ञोपवीत का धागा) है और तू कलमा (सत्य) पढ़ता है । हे चरखे, तू बडा ही पण्डित है ।

इसके अतिरिक्त इनकी रचनाए कम ही उपलब्ध है । कोई सग्रह नही छपा ।

कुछ फुटकर पद्य हमको इधर-उधर से कुछ मनुष्यो की ज़बानी मिलते है, जो कि कवियित्री के ही कहे हुए प्रसिद्ध है, परन्तु इस सम्बन्ध में अधिकतर निर्माताओ के नाम ज्ञात नहीं है । अनेक पद्य बहुत सुन्दर और ऊँचे दरजे के है, परन्तु खेद है कि अभी तक उनका प्रामाणिक सग्रह नही हो सका है । उदाहरण के लिए निचला पद्य देखिए—

यार छुम करान असवनि हिलय
विलन्य बोव्यम मारस पान
वाव वित मवनन मुछनस शिलय
छाय जन लूसस पत लारान
वात न ज़मीनस पिलय
विलनय बोव्यम मारस पान.

मेरा प्रीतम मुझसे हजारों बहाने बनाता है । यदि वह मेरी प्रार्थना को न सुनेगा तो मैं प्राण त्याग दूंगी । मुझे वचन देकर मेरे प्रीतम ने मुझे ककड की भाँति फेंक दिया (भुला दिया) । किन्तु मैं तो छाया की भाँति उसके साथ ही रहूँगी । यदि पृथ्वी पर उसे न पा सकी तो आकाश तक उसे पकडने जाऊँगी । यदि वह मेरी प्रार्थना नही सुनेगा तो मै अपने प्राण त्याग दूगी ।

एक और सन्त स्त्री का उल्लेख आवश्यक है । इनका नाम रूपभवानी था । कहा जाता है कि यह भक्त थी और बहुधा प्रश्नोत्तर में ही इनकी तीव्र बुद्धि का परिचय मिलता है । इनकी रचनाएँ बहुत कम लोगो में प्रचलित है । कारण कि इनके विचार कट्टर आध्यात्मिक है और जनता इन विचारो को आसानी से समझ नही पाती । एक छोटी-सी कथा इनके बारे में प्रचलित है । कहते है कि एक बार किसी ने इनसे प्रश्न किया कि आपके कुरते का क्या रग है ? इन्होने झट उत्तर दिया—"ज़ाग——सुरठ—मजेठ ।" ये तीनो शब्द तीन रगो के नाम भी है और इनके भावात्मक अर्थ भी निकलते है

(१) ज़ाग—काही रग . भावार्थ—देख ।
(२) सुरठ—रग विशेष . भावार्थ—उसे (प्रभु को) पकड ।
(३) मजेठ—मजीठ रग : भावार्थ—व्यर्थ के आडम्बरो में न पड ।

इस प्रकार इन्होने तीनो रगो के नाम भी लिये और यह भी कहा कि "जाग कर ईश्वर को देखने का प्रयत्न करो और व्यर्थ के आडम्बरो को छोड दो ।" इस एक ही वाक्य से इनकी तीव्र बुद्धि का अच्छा परिचय मिलता है

इस लेख में अन्य कवियित्रियो के बारे में कुछ लिखना सम्भव नहीं, क्योंकि काश्मीरी साहित्य लेखबद्ध न होने के कारण उसके निर्माताओं के विषय में प्रामाणिक और विस्तृत जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है हमें यह देख कर बहुत ही खेद होता है कि इस प्रदेश के साहित्य-प्रेमी इस प्रकार की उत्कृष्ट रचनाओ के सग्रह और सरक्षण की ओर ध्यान नही देते । यदि प्रयत्न किया जाय तो बहुत सी मूल्यवान सामग्री प्राप्त हो सकती है ।

श्रीनगर]

: ९ :

विविध

कौटिल्य-कालीन रसायन

श्री० सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०

जिन व्यक्तियो ने किसी भी भाषा मे मुद्राराक्षस नामक नाटक पढा है, वे चन्द्रगुप्त और चाणक्य के नाम से परिचित है। चाणक्य का ही नाम विष्णुगुप्त या कौटिल्य है। कामन्दक ने अपने 'नीतिसार' के प्रारम्भ में विष्णुगुप्त के सम्बन्ध मे ये शब्द लिखे है—

यस्याभिचार वज्रेण वज्रज्वलन तेजस।
पपात मूलत. श्रीमान्सुपर्वा नन्द पर्वत ॥
एकाकी मन्त्रशक्त्या यश्शक्त्या शक्ति धरोमप।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥
नीतिशास्त्रामृत धीमानर्थशास्त्र महोदधे.।
समुद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥
दर्शनात्तस्य सुदृशो विद्याना पारदृश्वन।
यत्किञ्चिदुपदेक्ष्याम राजविद्या विदा मतम् ॥

कौटिल्य अर्थशास्त्र के कुछ उद्धरण दण्डि के 'दशकुमार चरित्र' में भी पाये जाते है। विष्णुगुप्त के सम्बन्ध में इसके ये वाक्य महत्त्व के है—

अधीष्व तावद्दण्डनीतिम् इयमिदानीमाचार्य विष्णुगुप्तेन मौर्य्यार्थे षड्भिश्श्लोक सहस्रैस्संक्षिप्ता सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्तकार्यक्षमेति ॥

इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र ६००० श्लोक का है। यह आश्चर्य की बात है कि इतना बडा ग्रन्थ पुरातत्त्ववेत्ताओ और विद्वानो की दृष्टि मे इतने दिनो छिपा कैसे रहा ? हमारे देश मे पाश्चात्य पद्धति पर प्राच्य ग्रन्थो के अनुशीलन का काम सर विलियम जोन्स के समय से विशेष आरम्भ हुआ, पर इस बीसवी शताब्दी को ही इस बात का श्रेय है कि यह लुप्तप्राय ग्रन्थ हमको फिर से मिल सका। इस ग्रन्थ के कुछ उद्धरण मेधातिथि और कुल्लूक की टीका मे पाये जाते है, पर साधारणत यह धारणा थी कि समस्त ग्रन्थ लुप्त हो गया है। ४० वर्ष लगभग की बात है कि मैसूर राज्य की ओरियटल लायब्रेरी को तजोर के पडित ने एक हस्तलिखित प्रति इस ग्रन्थ की दी, साथ में इसकी टीका की एक खडित प्रति भी थी। उक्त पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री श्याम शास्त्री ने अत्यन्त परिश्रम से इस पुस्तक की प्रामाणिकता सिद्ध की, और "इडियन एटिक्वेरी" पत्रिका मे सन् १९०५ से यह ग्रन्थ मुद्रित होने लगा। मैसूर राज्य के अनुग्रह से सन् १९०९ में पूर्ण ग्रन्थ छप कर प्रकाशित हुआ। सन् १९१५ में श्री श्याम शास्त्री द्वारा किया गया अनुवाद भी छपा। पजाब ओरियटल सीरीज मे प्रो० जॉली के सम्पादन मे और ट्रावनकोर राज्य की सरक्षता मे प्रकाशित होने वाली सस्कृत-सीरीज में स्वर्गीय महामहोपाध्याय प० गणपति शास्त्री के सम्पादकत्व में इसके दो सस्करण और निकले। इधर हिन्दी में भी इस अर्थ-शास्त्र के दो अनुवाद (प० गगाप्रसाद शास्त्रीकृत महाभारत कार्यालय दिल्ली से एव प्रो० उदयवीर शास्त्रीकृत मेहरचन्द्र, लक्ष्मणदास लाहौर से) छपे है। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होते ही प्राच्य-साहित्यज्ञो में एक क्रान्ति-सी आ गई, और कौटिल्य के सम्बन्ध में अनेक समालोचनात्मक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए।

कौटिल्य का यह अर्थशास्त्र ईसा से ३२१ से ३०० वर्ष पूर्व के बीच में लिखा गया होगा। पर यह निश्चय है कि यह अर्थशास्त्र अपनी परम्परा का पहला ग्रन्थ नही है। इस अर्थशास्त्र में पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों का उल्लेख है जैसे विशालाक्ष (१।८।३), पराशर (१।८।७), पिशुन (१।८।१२), बाहुदन्ती पुत्र (१।८।२७), कौणपदन्त (१।८।१६), वातव्याधि (१।८।२३), कात्यायन (५।५।५३), कणिङ्क भारद्वाज (५।५।५४), चारायण (५।५।५५), घोटमुख (५।५।५६), किंजल्क (५।५।५७), पिशुनपुत्र (५।५।५६)। इनके अतिरिक्त मानवो, बार्हस्पत्यो, औशनसो और आम्भीयो का भी उल्लेख है। स्पष्टत अर्थशास्त्र की परम्परा हमारे देश में बहुत पुरानी है। अर्थवेद को वेद का एक उपवेद माना जाता रहा है। खेद का विषय है कि जिन आचार्यों का उल्लेख यहाँ किया गया है उनके ग्रन्थ हमें इस समय उपलब्ध नहीं है।

अर्थशास्त्र की परिभाषा कौटिल्य ने स्वय अपने ग्रन्थ के अन्तिम अधिकरण में कर दी है—**मनुष्याणां वृत्तिरर्थ। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थ। तस्या पृथिव्या लाभपालनोपाय शास्त्रमर्थशास्त्रमिति।** इस प्रकार मनुष्यो की वृत्ति को और मनुष्यो से युक्त भूमि को भी अर्थ कहते हैं। ऐसी भूमि की प्राप्ति और उसके पालन के उपायो का उल्लेख जिस शास्त्र मे हो उसे अर्थशास्त्र कहेंगे। इस अर्थशास्त्र का उद्देश्य भी कौटिल्य के शब्दो में इस प्रकार है—

धर्ममर्थं च कामं च प्रवर्त्तयति पाति च।
अधर्मानर्थ विद्वेषानिदं शास्त्र निहन्ति च॥

अर्थात्—यह शास्त्र धर्म, अर्थ एव काम को प्रोत्साहित करता है और इन तीनो की रक्षा करता है और अर्थ-विद्वेषी अधर्मो का नाश भी करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में १५ अधिकरण, १५० अध्याय, एक सौ अस्सी प्रकरण और लगभग ६ सहस्र श्लोक हैं। इतने बडे ग्रन्थ में अर्थ सम्बन्धी लगभग सभी विषयो का समावेश हो गया है।

मेरी धारणा यह है कि मनुष्यवती पृथिवी के लाभ और पालन का सम्बन्ध रसायन विद्या से भी घनिष्ट है और मुझे कौटिल्य के अर्थशास्त्र का पारायण करते समय बडा सन्तोष इस बात से हुआ कि इस ग्रन्थ में रासायनिक विषयो की अवहेलना तो दूर, उनका अच्छा समावेश किया गया है। भारतीय रसायन का एक सुन्दर इतिहास आचार्य सर प्रफुल्लचन्द्र राय ने सन् १९०२ मे लिखा था जिसमे तन्त्र और आयुर्वेद के ग्रन्थो के आधार पर विषयो का प्रतिपादन किया गया था। सर प्रफुल्ल को उस समय कौटिल्य के इस अमूल्य ग्रन्थ का पता न था। यह ठीक है कि रसायन विद्या का सम्बन्ध आयुर्वेद से भी विशेष है, पर इतना ही नही, इसका विशेष सम्बन्ध तो राष्ट्र की सम्पत्ति की प्राप्ति, उसकी वृद्धि और रासायनिक द्रव्यो के सर्वतोन्मुखी उपयोग से है। भारतीय रसायन के इतिहास में कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित सामग्री बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित परमाणुवाद और साख्य का विकासवाद भारतीय रसायन के शास्त्रीय दृष्टिकोण का अभिभावक बना। पचभूतो का शास्त्रीय विवेचन विज्ञानभिक्षु के योगवार्त्तिक तक में किया गया। सुश्रुत ने अपने शारीर स्थान मे प्रत्येक महाभूत में अन्य महाभूतो के समावेश का भी उल्लेख किया है—**अन्योऽन्यानुप्रविष्टानि सर्वान्येतानि निर्दिशेत्।** चरक और सुश्रुत दोनो ने अपने सूत्र-स्थानो में पार्थिव तत्त्व के अन्तर्गत अनेक धातुओ और रासायनिक पदार्थो का उल्लेख किया है—

पार्थिवा सुवर्ण रजत मणिमुक्तामन शिलामृत्कपालादय। सुवर्णस्य इह पार्थिवत्वमेवाङ्गीक्रियते गुरुत्व काठिन्य स्थैर्य्यादिहेतुभि। सूत्रे आदि ग्रहणात् लोहमलसिकता सुधा हरिताल लवण गैरिक रसाञ्जन प्रभृतीनाम्॥

चरक और सुश्रुत इतने प्रसिद्ध ग्रन्थ है कि उनके उल्लेख की यहाँ कोई आवश्यकता नही, चरक और सुश्रुत की भी अपनी परम्परा पुरानी है। वर्त्तमान समय में प्राप्त चरक और सुश्रुत लगभग १८०० से १४०० वर्ष पुराने (ईसा की पहली शताब्दी से ५वी शताब्दी तक के) है। कहा जाता है कि आत्रेय पुनर्वसु के शिष्य अग्निवेश ने जो

ग्रन्थ लिखा था उसके आश्रय पर चरक ने अपने ग्रन्थ का सम्पादन किया और चरक के मूल ग्रन्थ को दृढबल ने जो रूप दिया वह आधुनिक चरक सहिता है। इसी प्रकार सुश्रुत धन्वन्तरि का शिष्य था जिसने वृद्ध सुश्रुत ग्रन्थ का आयोजन किया, पर जो सुश्रुत हमे प्राप्त है वह नागार्जुन द्वारा सम्पादित हुआ है। सम्भवत नागार्जुन दृढवल से पूर्व का व्यक्ति है, इसलिए इस समय प्राप्त सुश्रुत दृढवल के सम्पादित चरक से पहले का है, पर फिर भी मूल चरक सहिता वृद्ध सुश्रुत से पूर्व की मानी जाती है। साधारणत यह विश्वास किया जाता है कि सुश्रुत का नागार्जुन वही है जिसे सिद्ध नागार्जुन भी कहते है और जो लोहशास्त्र का रचयिता भी था, और दार्शनिक के रूप में जिसने बौद्धो के माध्यमिक सम्प्रदाय की माध्यमिक सूत्रवृत्ति भी लिखी।

कहा जाता है कि धातुविद्या अर्थात् लोहशास्त्र का सबसे प्रमुख आचार्य पतजलि है। सम्भवत पतजलि ने ही विड् का आविष्कार किया (विड् शोरे और नमक के अम्लो का मिश्रण है जिसमें सोना भी घुल जाता है)। पतजलि का मूलग्रन्थ लोहशास्त्र आजकल अप्राप्य है, पर परावर्त्ती ग्रन्थो में इसके ग्रन्थ के जो उद्धरण पाये जाते है उनसे इस ग्रन्थ की श्रेष्ठता स्पष्ट व्यक्त होती है। नागार्जुन ने पारे के अनेक यौगिको का आविष्कार किया और धातुशास्त्र में भी नागार्जुन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह कहना कठिन है कि नागार्जुन पहले हुआ या पतजलि पर आगे के लोहशास्त्रो पर दोनो का ही अमिट प्रभाव रहा है। नागार्जुन के ग्रन्थ रसरत्नाकर में (१) राजावर्त्त, गन्धक, रसक, दरद, माक्षिक, विमल, हेम, तार आदि के शोधन, (२) वैक्रान्त, रसक, विमल, दरद आदि सत्त्वो का उल्लेख, (३) माक्षिकसत्त्वपातन, अभ्रकाविद्रुतपातन, चारण-जारण आदि विधियो का विवरण, एव (४) शिलायन्त्र, भूधरयन्त्र, पातनयन्त्र, घोरणयन्त्र, जालिकायन्त्र आदि अनेक यन्त्रो का प्रतिपादन—ये सब विषय ऐसे है जो रसायन-शास्त्र के विद्यार्थी को आज भी आकर्षित कर सकते है। भारतीय रसायन के इतिहास के विद्यार्थी को जिस ग्रन्थ ने आजतक विशेष प्रभावित किया है वह वैद्यपति सिंहगुप्त के पुत्र वाग्भटाचार्य का रसरत्नसमुच्चय है। आचार्य सर प्रफुल्ल ने अपने भारतीय रसायन के इतिहास के पहले भाग में इसका विशेष उल्लेख किया है।

रसायन शास्त्र का क्षेत्र बडा विशद है। सभवत कोई भी शास्त्र ऐसा नही है जिसमें रसायन से कुछ न सहायता न मिलती हो। यह प्रसन्नता की बात है कि कौटिल्य ने अपने सर्वांगपूर्ण अर्थशास्त्र मे ऐसे विषयो की मीमासा की है जिनका सम्बन्ध रसायन से भी है। यह ठीक है कि यह ग्रन्थ रसायनशास्त्र का ग्रन्थ नही, पर इससे कौटिल्य के समय की रासायनिक प्रवृत्तियो पर अच्छा प्रकाश पडता है। कुछ ऐसे रासायनिक विषयो की भी इसमें चर्चा है जिनके सम्बन्ध के अन्य प्राचीन ग्रन्थ हमे इस समय उपलब्ध नही है। कौटिल्य के इस ग्रन्थ का रचनाकाल पूर्ण निश्चित है और इसकी प्राचीनता में सन्देह नही है। सुश्रुत, चरक और नागार्जुन के मूलग्रन्थो का रचनाकाल उतना निर्भ्रान्त नही है जितना कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र का। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ के आधार पर निश्चित की गई रासायनिक प्रवृत्तियाँ हमारे इतिहास में एक विशेष महत्त्व रखती है। यह ग्रन्थ इस देश की रासायनिक परम्परा को इतिहास में इतनी प्राचीनता तक ले जाता है जितना कि यूनान और अरब वालो के ग्रन्थ नही। इस दृष्टि से इसका महत्त्व और भी अधिक है। चाणक्य प्लैटो (४२७-३४७ ई० से पूर्व) और अरस्तू (३८४-३२२ ई० से० पू०) के समकक्ष समय का है। यद्यपि हमारे देश का यूनानियो से सम्पर्क आरम्भ हो गया था, फिर भी मेरी आस्था यह है कि चाणक्य का यह सम्पूर्ण ग्रन्थ अपने देश की पूर्वागत परम्परा पर अधिक निर्भर है, यूनानियो का प्रभाव इस पर कम है। इसमें जिन आचार्यों का उल्लेख है वे भी इसी देश के थे। यूनानियो का अभी इतना दृढ प्रभाव इस देश पर नही हो पाया था कि हम यह कह सके कि अर्थशास्त्र में वर्णित रासायनिक प्रवृत्तियो को यूनानी सस्कृति का आश्रय प्राप्त हो गया था।

यह तो सम्भव नही है कि इस लेख में कौटिल्यकालीन समस्त रासायनिक प्रवृत्तियो की विस्तृत मीमासा की जा सके। सक्षेपत इस ग्रन्थ में निम्न विषय ऐसे है जिनमे आजकल के रसायनज्ञो के लिए कौतूहल की सामग्री विद्यमान है।

(१) भवन निर्माण की सामग्री (१।२०।६-१६)
(२) विष परीक्षण (१।२१।१०-२२), (४।७।८,१२,१३)
(३) खनिज (२।६।४, २।१२।१-७, १२-१८)
(४) मौक्तिक (२।११।२-५)
(५) मणि (२।११।२६-३७)
(६) हीरा (२।११।३८-४२)
(७) मूगा (२।११।४३)
(८) चन्दन, अगर आदि सुगन्ध काष्ठ (२।११।४४-७६)
(९) चर्म (२।११।७७-१०१)
(१०) ऊन (२।११।१०२-१११), पत्रोर्णा (२।११।११२-१२०)
(११) धातुनिर्माण (२।१२।८-११)
(१२) धातुमिश्रण और पणनिर्माण (२।१२।२५-३३)
(१३) स्वर्णशोधन और अक्षशाला (२।१३।१-६५), स्वर्ण अपहरण (२।१४।१९-६१)
(१४) तेल (२।१५।१४, ४९-५१)
(१५) बीजो की रक्षा (२।२४।३३)
(१६) सुरानिर्माण (२।२५।१७-३४)
(१७) घी-दूध (२।२९।३४)
(१८) (क) प्राणहर पदार्थ और धूमयोग (१४।१।५-१४),
(ख) नेत्रघ्न पदार्थ (१४।१।१५, १६)
(ग) मदनयोग (१४।१।१७, १८)
(घ) मूकबधिरकरयोग (१४।१।२५)
(ङ) विषूचिका कर योग (१४।१।२४)
(च) ज्वर कर योग (१४।१।२५)
(छ) दशयोग (१४।१।३१-३३)
(ज) जलाशय भ्रष्टयोग (१४।१।३४-३६)
(झ) अग्नियोग (१४।१।३९।४२)
(ञ) नेत्रमोहन (१४।१।४३)
(ट) क्षुद्योग (१४।२।१-५)
(ठ) श्वेतीकरणयोग (१४।२।६-९)
(ड) रोमश्वेतीकरणयोग (१४।२।१०-१३, १४)
(ढ) कुष्ठयोग (१४।२।१५-१८)
(ण) श्यामीकरणयोग (१४।२।१९-२१)
(त) गात्रप्रज्वालनयोग (१४।२।२२-२३)
(थ) विविधज्वलनप्रयोग (१४।२।२४-३०)
(द) अगारगमनप्रयोग (१४।२।३१-३३)
(ध) विविधयोग (१४।२।३४-४८)
(न) रात्रि दृष्टि और विविध अजन (१४।३।१-१८) (अन्तर्धान योग)
(प) विषप्रतीकारयोग (१४।४।१-९)

लोहाध्यक्षस्ताम्रसीस त्रपु वैकृन्तकारकूटवृत्तकसताललोहकर्मान्तान्कारयेत् ॥२।१२।२५॥

लक्षणाध्यक्षश्चतुर्भाग ताम्र रूप्यरूप तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनानामन्यतम माषबीजयुक्त कारयेत् पणमर्धपण पादमष्टभागमिति ॥ २।१२।२७ ॥

लोहाध्यक्ष तो समस्त धातु विभाग का अध्यक्ष होता था और लक्षणाध्यक्ष (mint master) सिक्के बनाने के विभाग पर शासन करता था। एक पण मे ११ माष चाँदी, ४ माष ताँबा और १ माष लोहा, सीसा, राँगा, अजनादि होता था।

यह महत्त्व की बात है कि कौटिल्य के समय मे क्षार व्यवसाय भी राज्य के नियन्त्रण मे रहता था। खन्यध्यक्ष इस विभाग का अधिकारी था।

खन्यध्यक्ष शङ्खवज्रमणिमुक्ता प्रवालक्षारकर्मान्तान्कारयेत् ॥ २।१२।३४ ॥

रत्नो की परीक्षा

शुक्रनीतिसार के अनुसार वज्र (हीरा), मोती, मूगा, इन्द्रनील, वैडूर्य, पुखराज, पाची (पन्ना) और माणिक्य ये नौ महारत्न है। रत्नो में वज्र श्रेष्ठतम, माणिक्य, पाची और मोती श्रेष्ठ और इन्द्रनील, पुखराज, वैडूर्य मध्यम, एव गोमेद और मूगा अधम बताये गये है। कौटिल्य ने इन रत्नों की विस्तृत विवेचना की है (२।११।२९-३३) जिसका उल्लेख करना यहाँ सम्भव नही है।

मणि—कौट, मौलेयक, पार-समुद्रक (३ भेद)।

माणिक्य—सौगन्धिक, पद्मराग, अनवद्यराग, पारिजात पुष्पक, बालसूर्यक (५ भेद)।

वैडूर्य—उत्पलवर्ण, शिरीषपुष्पक, उदकवर्ण, वशराग, शुकपत्रवर्ण, पुष्यराग, गोमूत्रक, गोमेदक (८ भेद)।

इन्द्रनील—नीलावलीय, इन्द्रनील, कलायपुष्पक, महानील, जाम्बवाभ, जीमूतप्रभ, नन्दक, स्रवन्मध्य (८ भेद)।

स्फटिक—शुद्ध, मूलाटवर्ण, शीतवृष्टि (चन्द्रकान्त), सूर्यकान्त (४ भेद)

इसी प्रकार मणियो के १८ अवान्तर भेद है और ६ भेद हीरे के है।

वर्तमान मणि-विज्ञान (Crystallo graphy) मे मणियों के आकृति-निरीक्षण पर विशेष बल दिया गया है। यह सन्तोष की बात है कि कौटिल्य ने भी इस ओर सकेत किया है—

षडश्रुश्चतुरश्रो वृत्तो वा तीव्र राग सस्थानवानच्छ स्निग्धो गुरुरर्चिष्मानन्तर्गतप्रभ प्रभानुलेपी चेति मणिगुणा ॥ २।११।३४ ॥

मणियो के गुणो का परीक्षण करते समय चतुरश्र आदिक परीक्षण (geometrical), गुरुत्व (density), एव अर्चिष्मान् अन्तर्गत प्रभ, और प्रभानुलेपी आदि प्रकाश सम्बन्धी (optical) गुणो का ध्यान रखना चाहिए। आजकल भी मणिपरीक्षण की बहुधा यही विधियाँ है।

हीरे के सम्बन्ध में भी कहा है कि अच्छा हीरा समकोटिक (regular) होना चाहिए, अप्रशस्त हीरा नष्टकोण होता है—

नष्टकोण निरश्रिपार्श्वापवृत्त चाप्रशस्तम् ॥ २।११।४२ ॥

सुवर्ण और उसका शोधन

कौटिल्य ने सुवर्ण के आठ भेद बताये है—

जाम्बूनद, शातकुम्भ, हाटक, वैणव, भृगशुक्तिज, जातरूप, रसविद्धमाकरोद्गत, च सुवर्णम् ॥ २।१३।३ ॥
ये भेद उत्पत्ति स्थान की दृष्टि से है। सुवर्ण शोधन की विधियो मे निम्न मुख्य है—

(१) चतुर्गुणेन सीसेन शोधयेत्—सीसा मिला कर गलाना।
(२) शुष्कपटलैर्ध्मापयेत्—कडो के साथ पिघलाना।
(३) तैलगोमये निषेचयेत्—तेल और गोबर की भावना देना।
(४) गण्डिकासु कुट्टयेत्—घन पर कूटना।
(५) कन्दली वज्रकन्दकल्के वा निषेचयेत्—कन्दली लता और वज्रकन्द के कल्क की भावना देना।
(३।१३।८-१२)

सीसा मिलाकर शोधन की विधि आजकल भी प्रचलित है। चाँदी के साथ तो यह बहुत काम आती है (cupellation or Parkes process)। कौटिल्य ने चाँदी के शोधन के सम्बन्ध मे भी इसका उल्लेख किया है—**तत्सीस चतुर्भागेन शोधयेत् (२।१३।१६)।**

कौटिल्य के ग्रन्थ मे तांबे और चांदी पर सोना चढाने (goldplating) का भी उल्लेख किया है। इस क्रिया को त्वष्टृकर्म कहते है—**त्वष्टृकर्मण शुल्वभाण्ड सम सुवर्णेन सयूहयेत् (२।१३।४६)**
इस कृत्य की एक विधि इस प्रकार है—

चतुर्भागसुवर्णं वा वालुका हिंगुलकस्य रसेन चूर्णेन वा वासयेत्।(२।१३।५१)

अर्थात् तांबे या चांदी के आभूषण का चतुर्थांश सोना लेकर वालुका के रस और शिगरफ के चूर्ण के साथ उस पर सोने का पानी चढा दे।

चाँदी साफ करने का काम कई प्रकार की मूषाओ (crucibles) में किया जाता था—(१) मिट्टी और हड्डी से बनी (अस्थि तुत्थ), (२) सीसा मिली मिट्टी से बनी—सीस तुत्थ, (३) शुष्क शर्करा मिली मिट्टी की (शुष्क तुत्थ), (४) शुद्ध मिट्टी की (कपाल तुत्थ), (५) गोबर मिली मिट्टी की (गोमय तुत्थ)। (२।१३।५४)

रसरत्नसमुच्चय मे मूषाओ का जो विवरण है उससे यह कही अधिक अच्छा है—विशेषतया अस्थि तुत्थ और सीस तुत्थ की दृष्टि से—

मृत्तिका पाण्डुरस्थूला शर्करा शोणपाण्डुरा।
चिराध्मानसहा साहि मूषार्थमतिशस्यते॥
तदभावे हि वाल्मीकी कौलाली व समीर्यते॥
या मृत्तिका दग्धतुषैं शणेन शिखित्रकैर्वा हय लद्दिना च।
लोहेन दण्डेन च कुट्टिता सा साधारणी स्यात् खलु मूषकार्यम्॥
(रसरत्नसमु० १०।५-६)

आजकल के युग मे मिट्टी, पोर्सलेन, सिलिका, निकेल और प्लैटिनम की मूषाओ का अधिक प्रचार है।

यह भी महत्त्व की बात है कि कौटिल्य ने सोना अपहरण करने के ५ ढगो का उल्लेख किया है—

तुलाविषममपसारण विस्रावण पेटको पिंकश्चेति हरणोपाया॥ २।१४।१६॥

अर्थात् (१) डडी मारना (तुला विषम), (२) त्रिपुटक (२ भाग चाँदी में १ भाग ताँवा) मिला कर सोना हर लेना (त्रिपुटकापसारण), शुल्कापसारण (केवल ताँवा मिला कर), वेल्लकापसारण (चाँदी-लोहा मिला कर), हेमापसारण (ताँवा-सोना का मिश्रण मिला कर), (३) आँख बचा कर सोने के पत्रो के स्थान पर चाँदी के पत्र बदल देना विस्रावण कहलाता है। (४) पेटक पत्र चढाते समय की चालाकी से सम्बन्ध रखता है। पत्र तीन प्रकार के चढाये जाते है—सयूह्य (गाढे पत्र), अवलेप्य (पतले) और सघात्य (कडियाँ जोडने वाले) (२।१४।३१)। (५) अनेक प्रकार की भरतू चीजे भर देना पिंक कहाता है (filling materials)।

पुराने आभूषणो से स्वर्ण चुराने के परिकुट्टन, अवच्छेदन, उल्लेखन और परिमर्दन ये चार प्रकार हैं। रसायनज्ञो की दृष्टि से परिमर्दन विशेष महत्त्व का है—

हरिताल मनःशिलाहिङ्गुलकचूर्णानामन्यतमेन कुरुविन्द चूर्णेन वा वस्त्र समूह्याथ परिमृद्नन्ति तत्परिमर्दनम्
॥ २।१४।५४ ॥

इस प्रक्रिया में हरिताल (orpiment), मन शिला (realgar), और हिंगुल (cinnabar) से रगडने का विधान है। सखिया और पारे के साथ सोने का छीज जाना यह साधारण बात है। कौटिल्य ने जिस कुरुविन्द चूर्ण का उल्लेख किया है, वह क्या है इसका पता नही।

सुगन्धित द्रव्य

कौटिल्य अर्थशास्त्र के दूसरे अधिकरण मे सुगन्धित काष्ठो का उल्लेख किया गया है। इन द्रव्यो म चन्दन विशेष है। चन्दन के उत्पत्ति स्थान के अनुसार १६ भेद है—सातन, गोशीर्षक, हरिचन्दन, तार्णस, ग्रामेरुक, दैवसभय, जावक, जोगक, तौरूप, मालेयक, कुचन्दन, कालपर्वतक, कोशकारपर्वतक, शीतोदकीय, नागपर्वतक और शाकल। इन चन्दनों मे ६ प्रकार के रग और ६ प्रकार की गन्ध होती है। अच्छा चन्दन निम्न गुणो वाला होना है—

लघुस्निग्धमश्यान सर्पिस्नेहलेपि गन्ध सुख त्वगनुसार्यनुल्वणमविराग्युष्णसह दाह ग्राहि सुखस्पर्शनमिति चन्दनगुणा ॥ (२।११।६०)

अर्थात् अच्छा चन्दन थोडा सा चिकना, बहुत दिनो मे सूखने वाला, घृत के समान चिकना, देह में लिपटने वाला, सुखकारी गन्ध से युक्त, त्वचा मे शीतलता देने वाला, फटा सा दीखने वाला, वर्णविकार से रहित, गर्मी सहने वाला और सुखस्पर्शी होना चाहिए।

इसी प्रकार का वर्णन अगर, तैलपर्णिक, भद्रश्रीय (कपूर) और कालेयक (दारुहल्दी या पीला चन्दन) का भी दिया गया है। मुझे आशा थी कि कौटिल्य ने चन्दन के तेल का भी कही उल्लेख किया होता, पर मेरे देखने मे नही आया। इत्रो का विवरण भी कही नही मिलता है यह आश्चर्य की बात है।

कौटिल्य ने चार प्रकार के स्नेहो, घृतादि, का उल्लेख किया है—

सर्पिस्तैलवसामज्जान स्नेहा ॥ २।१५।१४ ॥

घृत, तेल, वसा और मज्जा। यह भी लिखा है कि अलसी से तेल का छठा भाग तैयार होना है, नीमकुश, आम की गुठली और कपित्थ से पाँचवाँ भाग, तिलकुसुम्भ (कुसूम), मधूक (महुआ) और इगुदी से चौथाई भाग तेल प्राप्त होता है (२।१५।४६-५१)। यह आश्चर्य की बात है कि इस स्थल पर सरसो, तिल, बिनौला, नीम, नारियल आदि के तेलो का उल्लेख क्यो नही किया।

घृतो का उल्लेख करते समय कौटिल्य ने यह लिखा है—

क्षीरद्रोणे गवा घृतप्रस्थ ॥ पञ्चभागाधिको महिषीणाम् ॥ द्विभागाधिकोऽजावीनाम् ॥
(२।२६।३४-३६)

अर्थात् गाय के १ द्रोण दूध मे १ प्रस्थ घी निकलता है, भैंस के इतने ही दूध मे ५ गुना अधिक घी और भेड-बकरी के दूध में एक द्रोण मे दो प्रस्थ। गुप्तकाल में ४ प्रस्थ का १ आढक और ४ आढक का एक द्रोण माना जाता था अर्थात् १ द्रोण में १६ प्रस्थ होते है। इस दृष्टि से गाय के एक सेर दूध मे १ छटाँक घी निकलता है। यह बात तो ठीक मालूम होती है। पर भैंस के एक सेर दूध से ५ छटाँक घी निकलता होगा इसमे सन्देह है। हाँ, सिद्धान्त रूप से चाणक्य के निम्न दो सूत्र महत्त्व के है—**मन्थो वा सर्वेषा प्रमाणम्** अर्थात् मथ कर देख लो कि कितना घी निकलता है, वही प्रमाण है। और **भूमि तृणोदक विशेषाद्धि क्षीर घृत वृद्धिर्भवति ॥** (२।२६।३७-३८) अर्थात् भूमि, तृण और जल के अनुसार दूध मे घी की मात्रा की कमी या वृद्धि होती रहती है।

चर्म और ऊन

कौटिल्य की दृष्टि मे **चर्मणा मृदु स्निग्ध बहुल रोम च श्रेष्ठम्** (२।११।१०१) अर्थात् श्रेष्ठ चर्म वह है जो मृदु, स्निग्ध और अधिक रोम वाला हो। स्थानादि भेद से चर्म की अनेक जातियो का विवरण दिया गया है जैसे—कान्तनावक, प्रैयक, विसी, महाविसी, श्यामिका, कालिका, कदर्ल, चन्द्रोत्तरा, शाकुला, सामूर, चीनसी, सामूली, सातिना, नलतूला और वृत्तपुच्छा। इन चमडो के रग और माप का वर्णन भी दिया गया है (२।११।७७-१०१)। मुझे आशा थी कि कच्चे चमडे को किस प्रकार पकाये इसका भी कही उल्लेख मिले पर यह पूर्ण न हुई। रसायन-शास्त्र की दृष्टि से यह उल्लेख अधिक महत्त्व-पूर्ण होता।

कौटिल्य ने ऊन के सम्बन्ध मे लिखा है कि **पिच्छलमार्द्रमिव च सूक्ष्म मृदु च श्रेष्ठम्॥** अर्थात् चिकना, गोल सा प्रतीत होने वाला सूक्ष्म और कोमल ऊन अच्छा माना जाता है। ऊन से बने अनेक वस्त्रो का भी उल्लेख है (२।११।१०२-१११)। इसी प्रकार एक सूत्र मे काशिक और पौड्रक रेशमी वस्त्र का निर्देश है। इससे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण निर्देश पत्रोर्णो का है। इनके तीन भेद है—मागधिक, पौड्रिक और सौवर्ण कुड्यक। ये ऊनें नागवृक्ष, लिकुच, वकुल और वट वृक्ष पर होती है। सम्भवत ये ऊनें इन वृक्षो पर रहने वाले कीटो द्वारा तैयार की जाती है। कौशेय, चीनपट्ट और चीनभूमिजा (चायना सिल्क) का भी निर्देश महत्त्व का है (२।११।११६)।

विषपरीक्षण

कूटनीति ग्रस्त राष्ट्रो मे शत्रुओ पर विषप्रयोग करना साधारण घटना हो जाती है। अपने पक्ष का व्यक्ति जब सहसा अस्वाभाविक अवस्था मे प्राणत्याग करता है, तब यह सन्देह हो जाता है कि उस पर किसी ने विषप्रयोग तो नही किया। कौटिल्य कहते है कि—

श्याव पाणि पाद दन्तनख शिथिलमासरोमचर्माण फेनोपदिग्धमुख विषहत विद्यात् ॥ ४।७।८ ॥

अर्थात् जिसके हाथ, पैर, दाँत, नख काले पड गये हो, मास, रोम और चर्म ढीली पड गई हो, मुह झागो से भरा हो, उसे विष से मारा समझो। फिर लिखते है कि विषहतस्य भोजनशेष पयोभि परीक्षेत्—अर्थात् उस विषहत व्यक्ति का शेष भोजन दूध से जाँचो (४।७।१२)। पोस्ट मार्टेम परीक्षा (शव-परीक्षा) की जावे—

हृदयादुद्धृत्याग्नौ प्रक्षिप्त चिटचिटायदिन्द्रधनुर्वर्णं वा विषयुक्त विद्यात् ॥ ४।७।१३ ॥

अर्थात् मरे हुए व्यक्ति का हृदय अग्नि मे डाला जाय। यदि उसमे चटचट शब्द और इन्द्र धनुष का रग निकले तो उसे विषयुक्त समझे। आजकल भी ताँबे और सखिये के विष की पहचान ज्वाला का रग देख कर भी की जाती है। ज्वाला मे कैसा रग किस प्रकार के लवणो मे आता है इसका विस्तृत निश्चय आधुनिक रसायनशास्त्र में हो चुका है।

पहले अधिकरण के २१वे अध्याय मे कौटिल्य ने विषपरीक्षण के विविध प्रकारो का उल्लेख किया है। इन प्रकारो मे ज्वालापरीक्षण और धूम्रपरीक्षण विशेष महत्त्व के है।

अग्नेर्ज्वालाधूम नीलता शब्द स्फोटन च विषयुक्तस्य वयसा विपत्तिश्च। (१।२१।१०)

अर्थात् यदि भोजन में विष मिला हो तो अग्नि मे उसकी लपट नीली और धुआँ भी नीला निकलेगा। अग्नि मे चटचट शब्द भी होगा। यदि पक्षी उसे खायेगा तो वह उसी समय तडफडाने लगेगा। हम जानते है कि ताँबे के लवण ज्वाला को हरा-नीला मिश्रित रग प्रदान करते है और सीसा, सखिया (आरसेनिक) और आञ्जन (एटीमनी) के लवण ज्वाला को हलका नीला रग देते है। सामान्य विषो में बहुधा इन्ही लवणो का प्रयोग होता है। कौटिल्य के विषपरीक्षण का यह प्रकार रसायन की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है।

एक और प्रकार विशेषतया उल्लेखनीय है यद्यपि हम निश्चय रूप मे इसकी रासायनिक व्याख्या को समझने में असमर्थ है—

रसस्य मध्ये नीला राजी, पयस्ताम्रा, मद्यतोययो काली, दध्न श्यामा च मधुन श्वेता ॥ १।२१।१५ ॥

अर्थात् विषयुक्त भोजन के रस में नीली धारी, दूध में लाल, मद्य और जल मे काली, दही मे श्याम और मधु मे सफेद धारी विष की पहचान है।

इस सम्वन्ध मे कौटिल्य का यह सामान्य विवरण महत्त्व का है—

स्नेह राग गौरव प्रभाव वर्ण स्पर्श वधश्चेति विषयुक्तलिंगानि ॥ २२ ॥

अर्थात् विष मिले पदार्थ मे उनकी स्वाभाविक स्निग्धता, रगत, उनका प्रभाव, वर्ण और स्पर्श ये नष्ट हो जाते है और इनके आधार पर विष का परीक्षण हो सकता है। कौटिल्य ने इस सम्वन्ध मे और भी कई वाते लिखी है जैसे भोजन में विष हो तो वे शीघ्र शुष्क हो जायँगे, क्वाथ का सा उनका आकार हो जायगा, विकृत प्रकार का झाग निकलेगा इत्यादि। इन सव का हम विस्तृत वर्णन देने मे यहाँ असमर्थ है।

सुरा का निर्माण

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे सुराध्यक्ष के कर्त्तव्यो का विशेष उल्लेख किया है और पानागारो या मदिरालयो की नियन्त्रित व्यवस्था की है।

सुरा के ६ भेद वताये गये है—मेदक, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु। (१) एक द्रोण जल, आवे आढक चावल और तीन प्रस्थ किण्व मिलाकर मेदक सुरा तैयार की जाती है। (२) १२ आढक चावल की पिट्ठी, ५ प्रस्थ किण्व या पुत्रक वृक्ष की त्वचा और फल से प्रसन्ना वनती है। (३) कैथे के रस, गुड की राव और मधु से आसव वनता है। (४) चिकित्सक अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने प्रमाण से जो वनावे वह अरिष्ट होगा—मेदकारिष्ट, प्रसन्नारिष्ट आदि। (५) मेढासीगी (मेष शृग) की त्वचा का क्वाथ, गुड, पीपल, मिरच और त्रिफला के योग से मैरेय सुरा वनती है। (६) द्राक्षो से मधु सुरा तैयार होती है। (२।२५।१७-२५)

सुरा वनाने में किण्वो का प्रयोग विशेष महत्त्व का है। आजकल तो किण्व रसायन रसायनशास्त्र का एक स्वतन्त्र मुख्य अग समझा जाता है। यह हर्ष की वात है कि चाणक्य ने किण्व-वन्ध की विधि भी दी है—

मापकलनीद्रोणमाम सिद्ध वा त्रिभागाधिक तण्डुल मोरटादीना कार्पिक भागयुक्त किण्व वन्ध ॥ २।२५।२६ ॥

माष (उडद) की कलनी या उसका आटा, तडुलो की पिट्ठी, और मोरटादि औषधियो के सयोग होने पर किण्ववन्ध तैयार होता है। प्रसन्ना-सुरा के किण्व बनाने में पाठा, लोध्र, इलायची, वालुक, मुलहठी, केसर, दारुहल्दी, मिरच, पीपल आदि पदार्थ और मिलाये जाते है। इसी प्रकार अन्य किण्व-वन्धो का भी विवरण है।

बीजो की रक्षा

कौटिल्य की दृष्टि वडी व्यापक थी। उसने अपने अर्थशास्त्र मे वहुत सी छोटी-छोटी वातो तक का वर्णन दिया है जैसे धोवियो को कपडो की धुलाई किस प्रकार दी जाय इत्यादि। इसी प्रकार वीजो की रक्षा के भी उसने कुछ उपाय वताये है। कृषिशास्त्र में दूसरी फसल तक वीजो के सुरक्षित रखने के अनेक विधानो का आजकल उल्लेख किया जाता है। अनेक रासायनिक द्रव्यो का भी उपयोग करते है।

कृषिकर्म के अध्यक्ष को सीताध्यक्ष कहते है। इसके अधिकार मे राष्ट्र की खेती की देख-भाल रहती है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे इसका उल्लेख कर दिया है कि कैसी ऋतु मे कौन से वीज वोने चाहिए, और कैसे खेत को कितना पानी मिलना चाहिए। खेत को खाद किस प्रकार की मिलनी चाहिए, इसके उल्लेख का अभाव कुछ

चढ़ता है। सम्भवत उस समय भूमि इतनी उर्वरा रही हो कि उसमे खाद देने का प्रश्न ही न उठता हो। बीजो के अकुरित होने पर गीली मछली की खाद और स्नुही के दूध से सिंचित करने का विधान अवश्य दिया है।

प्ररूढाश्चा शुष्का कटु मत्स्याश्च स्नुहि क्षीरेण वापयेत् ॥ २।२४।३४ ॥

कौटिल्य का कथन है कि धान के बीजो को रात मे ओस मे और दिन मे धूप मे सात दिन तक रखना चाहिए। इसी प्रकार कोशीधान्य (उडद, मूग आदि) भी ओस और धूप मे रक्खे जायँ। ईख आदि काण्ड बीजो को मधु, घृत, सूकरवसा और गोबर मे लपेट कर रक्खे। कन्दो को काट-काट कर मधु और घृत मे रक्खे, अस्थिबीजो को (गुठली वालो को) गोबर मे लपेट कर और शाखी वृक्षो के बीजो को (आम कटहलादि) गोबर या गो-अस्थि से खाने के बाद गड्ढे मे फेंके। (२।२४।३३॥)

युद्ध मे गैसो का प्रयोग

कहा जाता है कि २२ अप्रैल सन् १९१५ को गत युरोपीय महासमर मे जर्मन-आर्मियो ने पहली बार क्लोरीन गैस का प्रयोग शत्रुसेना को कष्ट पहुँचाने के लिए किया था। १९ दिसम्बर को उसी वर्ष जर्मनो ने फॉसजीन नामक दूसरी गैस का प्रयोग किया। इसी वर्ष अश्रु-गैस (Lachrymators) जाइलील ब्रोमाइड का भी उपयोग किया गया।

जर्मनो ने अपनी सेना को अदृष्ट रखने के लिए धुओं के बादल (Camouflage gas) भी छोडे। मस्टर्ड गैस और लेविसाइट नामक विषैली और त्वचाघातक गैसो के प्रयोग भी १९१६ मे हुए। डाइफीनाइल क्लोर आर्सीन नामक पदार्थ से छीके इतनी आती है कि सेना के सिपाही छीको के मारे हैरान हो जाते है (Sneezing gas)। गैसयुद्ध इस युग का एक भीषण आविष्कार समझा जाता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे शत्रुसेना को पीडा पहुँचाने के अनेक योग दिये गये है। १४वें अधिकरण का पहला अध्याय इस दृष्टि से महत्त्व का है। इस विषय मे रुचि रखने वाले व्यक्ति को यह समस्त अध्याय पढना चाहिए।

लिखा है कि चित्रभेक, कौण्डिन्यक, कृकण, शतपदी (कनखजूरा) आदि का चूर्ण भिलावा और बावची के रस मे मिला कर खिलाये या इनका धुआँ दे तो शीघ्र मृत्यु होती है। सद्य प्राणहरमेतेषा वा धूम ॥ १४।१।१५ ॥

शतकर्दमोच्चिदिङ्ग करवीर कटुतुम्बीमत्स्यधूमो मदनकोद्रवपलालेन हस्तिकर्ण पलाशपलालेन वा प्रवातानुवाते प्रणीतो यावच्चरति तावन्मारयति ॥ १४।१।१० ॥

अर्थात् शतावरी, कपूर, उच्चिदिंग, कनेर, कटु तुम्बी, और मत्स्य का धुआँ, धतूरा, कोदो, पलाल आदि के साथ हवा के रुख पर उडाया जावे तो वह जहाँ तक जावेगा वही तक लोगो को मार देगा।

इसी प्रकार पूतिकोटमत्स्य, कटुतुम्ब, इन्द्रगोप आदि के चूर्ण बकरे के सीग या खुर के साथ जलाये जायँ तो उनका उठा धूम्र अन्धा करने वाला होता है—"अन्धी करो धूमः" १४।१।११। इसी प्रकार अन्य अन्धीकर धूम भी है। (१२, १३)।

"नेत्रघ्न" धूम का सुन्दर उल्लेख निम्न सूत्र मे है—कालीकुष्ठनडशतावरी मूल सर्पप्रचलाककृकण पञ्चकुष्ठचूर्णं वा धूम पूर्व कल्पे नार्द्रशुष्क पलालेन वा प्रणीत सग्रामावतरणावस्कन्दन सकुलेषु कृततेजनोदकाक्षि प्रतीकारं प्रणीत सर्वप्राणिना नेत्रघ्न ॥ १४।१।१५ ॥

इस योग द्वारा बनाये गये धुएँ में विशेषता यह है कि यह सग्राम के समय उतरने, और बलात्कार आक्रमण की भीड के समय मे प्रयोग किया जाता है, और सभी के नेत्रो को नष्ट कर देता है। फलत इस धुएँ के प्रयोग करने वाले के नेत्र भी तो नष्ट हो जायँगे जो वाछनीय नही है। इसलिए प्रणीता के लिए यह आवश्यक है कि वह तेजनोदक (१४।४।१) से अपने नेत्र की रक्षा करे। यह प्रतीकार रस मानो आजकल के गैसमास्को (Gas masks) का काम करता है। कुछ विषो के प्रतीकार रसो का उल्लेख इसी अधिकरण के चौथे अध्याय में दिया गया है।

रोगोत्पादक योग

ऐसा कहा जाता है कि ऐसा विचार था कि इस महायुद्ध में रोग फैलाने वाले अनेक कृमियो का प्रयोग किया जायगा। नागरिको के जलाशयो मे ये कृमि प्रविष्ट होकर नगरवासियो को पीडा पहुँचायेगे। आश्चर्य की बात है कि कौटिल्य के इस ग्रन्थ मे रोगोत्पादक योगो का भी वर्णन है—

१ कृकलासगृह गोलिका योग कुष्ठकर।

२ दूषीविष मदनकोद्रव चूर्णमुपजिह्विका योग मातृवाहकाञ्जलिकारप्रचलाक भेकाक्षि पीलुक योगो विषूचिकाकर।

३ पञ्चकुष्ठक कौण्डिन्यकराजवृक्षमधुपुष्प मधुयोगो ज्वरकर। ((१।१४।२०-३०)

इसी प्रकार उन्मादकर, मूकबधिरकर, प्रमेहकर आदि अनेक योगो का वर्णन है।

यह कहना तो कठिन है कि अर्थशास्त्र मे दिये गये योग विश्वसनीय है या नही। जब तक इन पर फिर मे प्रयोग न कर लिये जायँ, तब तक कुछ निश्चय रूप से नही कहा जा सकता। पर इतना तो स्पष्ट है कि ग्रन्थकार का लक्ष्य कितना सर्वतोन्मुखी है। रसायनशास्त्र का उपयोग जीवन के कितने विशद क्षेत्रों में किया जा सकता है यह भी स्पष्ट है। साथ ही यह भी असन्दिग्ध है कि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ आज भी वैसी ही है जैसी कौटिल्य के समय में थी।

प्रयाग]
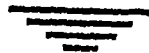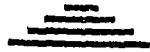
जैन-गणित की महत्ता

श्री नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, साहित्यरत्न

भगवान् महावीर की वाणी प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगो मे विभाजित है। करणानुयोग मे अलौकिक और लौकिक गणित-शास्त्र सम्बन्धी तत्त्वो का स्पष्टीकरण किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध मे केवल लौकिक गणित पर ही प्रकाश डाला जायगा। लौकिक जैन गणित की मौलिकता और महत्ता के सम्बन्ध मे अनेक विद्वानो ने अपने विचार प्रकट किये हैं। भारतीय गणितशास्त्र पर दृष्टिपात करते हुए डा० हीरालाल कापडिया ने 'गणित तिलक' की भूमिका में लिखा है—

"In this connection it may be added that the Indians in general and the Jainas in particular have not been behind any nation in paying due attention to *this subject This is borne out by Ganita Sārasangraha (V I 15) of Mahāvīrā-*chārya (850 A. D) of the Southern School of Mathematics Therein he points out the usefulness of Mathematics or 'the science of calculation' regarding the study of various subjects like music, logic, drama, medicine, architecture, cookery, prosody, grammar, poetics, economics, erotics etc"

इन पक्तियो से स्पष्ट है कि जैनाचार्यो ने केवल धार्मिकोन्नति में ही जैन गणित का उपयोग नही किया, बल्कि अनेक व्यावहारिक समस्याओ को सुलझाने के लिए इस शास्त्र का प्रणयन किया है। भारतीय गणित के विकास एव प्रचार में जैनाचार्यो का प्रधान हाथ रहा है। जिस समय गणित का प्रारम्भिक रूप था उस समय जैनो ने अनेक बीजगणित एव मैन्स्यूरेशन सम्बन्धी समस्याओ को हल किया था।

डा० जी० थीबो (Dr G Thibaut) साहब ने जैन गणित की प्रशसा करते हुए अपने "Astronomie, Astrologie and Mathematik" शीर्षक निबन्ध में सूर्यप्रज्ञप्ति के सम्बन्ध में लिखा है—

"This work must have been composed before the Greeks came to India, as there is no trace of Greek influence in it"

इससे स्पष्ट है कि जैन गणित का विकास ग्रीको के आगमन के पूर्व ही हो गया था। आपने आगे चल कर इसी निबन्ध मे बतलाया है कि जैन गणित और जैन ज्योतिष ईस्वी सन् से ५०० वर्ष पूर्व अकुरित ही नही, अपितु पल्लवित और पुष्पित भी थे।

प्रो० वेवर (Weber) ने इडियन एन्टीक्वैरी नामक पत्र में अपने एक निबन्ध में बतलाया है कि जैनो का 'सूर्यप्रज्ञप्ति' नामक ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गणित-ग्रन्थ है। वेदाङ्ग ज्योतिष के समान केवल धार्मिक कृत्यो के सम्पादन के लिए ही इसकी रचना नही हुई है, बल्कि इसके द्वारा ज्योतिष की अनेक समस्याओ को सुलझा कर जैनाचार्यो ने अपनी प्रखर प्रतिभा का परिचय दिया है।

मेथिक सोसाइटी के जरनल में डा० श्यामशास्त्री, प्रो० एम० विन्टरनिट्ज, प्रो० एच० बी० ग्लासेनप और डा० सुकुमाररजनदास ने जैन गणित की अनेक विशेषताएँ स्वीकार की है। डा० बी० दत्त ने कलकत्ता मैथेमेटिकल सोसाइटी से प्रकाशित बीसवें बुलेटीन मे अपने निबन्ध "on Mahāvīra's solutions of Rational Triangles and quadrilaterals" में मुख्य रूप से महावीराचार्य के त्रिकोण और चतुर्भुज के गणित का विश्लेषण किया है। आपने इसमें त्रिभुज और चतुर्भुज के गणित की अनेक विशेषताएँ बतलाई है।

हमें जैनागमो में यत्र-तत्र बिखरे हुए गणितसूत्र मिलते है। इन सूत्रो मे से कितने ही सूत्र अपनी निजी विशेषता के साथ वासनागत सूक्ष्मता भी रखते है। प्राचीन जैन गणितसूत्रो में ऐसे भी कई नियम है, जिन्हे हिन्दू गणितज्ञ १४वीं और १५वीं शताब्दी के बाद व्यवहार में लाये है। गणितशास्त्र के सख्या-सम्बन्धी इतिहास के ऊपर दृष्टिपात करने से यह भलीभाँति अवगत हो जाता है कि प्राचीन भारत में सख्या लिखने के अनेक कायदे थे—जैसे वस्तुओ के नाम, वर्णमाला के नाम, डेसिम ढग के सख्या नाम, महावरो के सक्षिप्त नाम। और भी कई प्रकार के विशेष चिह्नो द्वारा सख्याएँ लिखी जाती थीं[1]। जैन गणित के फुटकर नियमो में उपर्युक्त नियमो के अतिरिक्त दाशमिक क्रम के अनुसार सख्या लिखने का भी प्रकार मिलता है। जैन-गणित-ग्रन्थो में अक्षर सख्या की रीति के अनुसार दशमलव और पूर्व सख्याएँ भी लिखी हुई मिलती है। इन सख्याओ का स्थान-मान बाई ओर से लिया गया है। श्रीधराचार्य की ज्योतिर्ज्ञान विधि में आर्यभट के सख्याक्रम से भिन्न सख्याक्रम लिया गया है। इस ग्रन्थ में प्राय अब तक उपलब्ध सभी सख्याक्रम लिखे हुए मिलते है। हमें वराहमिहिर-विरचित बृहत्सहिता की भट्टोत्पली टीका मे भद्रबाहु की सूर्यप्रज्ञप्ति-टीका के कुछ अवतरण मिले है, जिनमें गणित सम्बन्धी सूक्ष्मताओ के साथ सख्या लिखने के सभी व्यवहार काम मे लाये गये है। भट्टोत्पल ने ऋषिपुत्र, भद्रबाहु और गर्ग (वृद्ध गर्ग) इन तीन जैनाचार्यों के पर्याप्त वचन उद्धृत किये है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भट्टोत्पल के समय में जैन गणित बहुत प्रसिद्ध रहा था, अन्यथा वे इन आचार्यो का इतने विस्तार के साथ स्वपक्ष की पुष्टि के लिए उल्लेख नहीं करते। अनुयोग द्वार के १४२वे सूत्र में दशमलव क्रम के अनुसार सख्या लिखी हुई मिलती है। जैन शास्त्रो मे जो कोडाकोडी का कथन किया गया है वह वार्गिकक्रम से सख्याएँ लिखने के क्रम का द्योतक है। जैनाचार्यों ने सख्याओ के २९ स्थान तक बतलाये है। १ का स्थान नहीं माना है, क्योकि १ सख्या नहीं है। अनुयोग द्वार के १४६वे सूत्र में इसीको स्पष्ट करते हुए लिखा है—"से किं त गणणासखा ? एक्को गणण न उवइ, दुप्पभिइ सखा"। इसका तात्पर्य यह है कि जब हम एक बर्तन या वस्तु को देखते है तो सिर्फ एक वस्तु या एक बर्तन ऐसा ही व्यवहार होता है, गणना नहीं होती। इसीको कालावारिन हेमचन्द्र ने लिखा है—"Thus the Jainas begin with Two and end, of course, with the highest possible type of infinity"

जैन गणितशास्त्र की महानता के द्योतक फुटकर गणितसूत्रो के अतिरिक्त स्वतन्त्र भी कई गणित-ग्रन्थ है। त्रैलोक्यप्रकाश, गणितशास्त्र (श्रेष्ठचन्द्र), गणित साठसौ (महिमोदय), गतिसार, गणितसूत्र (महावीराचार्य), लीलावती कन्नड (कवि राजकुजर), लीलावती कन्नड (आचार्य नेमिचन्द्र) एव गणितसार (श्रीधर) आदि ग्रन्थ प्रधान है। अभी हाल में ही श्रीधराचार्य का जो गणितसार उपलब्ध हुआ है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पहले मुझे यह सन्देह था कि यह कही अजैन ग्रन्थ तो नहीं है, पर इधर जो प्रमाण उपलब्ध हुए है उनके आधार से यह सन्देह बहुत कुछ दूर हो गया है। एक सबसे मजबूत प्रमाण तो यह है कि महावीराचार्य के गणितसार में "धन धनर्णयोर्वर्गो मूले स्वर्णे तयो क्रमात्। ऋण स्वरूपतोऽवर्गो यतस्तस्मान्न तत्पदम्"—यह श्लोक श्री धराचार्य के गणितशास्त्र का है। इससे यह जैनाचार्य महावीराचार्य से पूर्ववर्त्ती प्रतीत होते है। श्रीपति के गणिततिलक पर सिंहतिलक सूरि ने एक वृत्ति लिखी है। इस वृत्ति मे श्रीधर के गणितशास्त्र के अनेक उद्धरण दिये गये है। इस वृत्ति की लेखन-शैली जैन गणित के अनुसार है, क्योकि सूरि जी ने जैन गणितो के उद्धरणो को अपनी वृत्ति मे दूध-पानी की तरह मिला दिया है। जो हो, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैनो मे श्रीधर के गणितशास्त्र की पठन-पाठन प्रणाली अवश्य रही थी। श्रीधराचार्य की ज्योतिर्ज्ञानविधि को देखने से भी यही प्रतीत होता है कि इन दोनो ग्रन्थो के कर्ता एक ही है। इस गणितशास्त्र के पाटीगणित, त्रिशतिका और गणितसार भी नाम बताये गये है। इसमे अभिन्न गुणन, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न-समच्छेद, भागजाति, प्रभागजाति, भागानुबन्ध, भागमातृ-

---

[1] सख्या सम्बन्धी विशेष इतिहास जानने के लिए देखिये 'गणित का इतिहास' प्रथम भाग, पृ० २-५४।

जाति, त्रैराशिक, पंचराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, भाण्ड-प्रतिभाण्ड, मिश्रव्यवहार, भाव्यकव्यवहार, एकपत्री-करण, सुवर्णगणित, प्रक्षेपकगणित, समक्रयविक्रयगणित, श्रेणीव्यवहार, क्षेत्रव्यवहार एवं छायाव्यवहार के गणित उदाहरण सहित बतलाये गये हैं। सुधाकर द्विवेदी जैसे प्रकाण्ड गणितज्ञ ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"भास्करेणाऽस्यानेके प्रकारास्तस्करवदपहृता। अहो अस्य सुप्रसिद्धस्य भास्करादितोऽपि प्राचीनस्य विदुषो ऽस्यकृतिदर्शनमन्तरा ममये महान् संशय। प्राचीना एकशास्त्रमात्रैकवेदिनो नाऽऽसन् ते च बहुश्रुता बहुविषयवेत्तार आसन्नत्र न संशय।"

इससे स्पष्ट है कि यह गणितज्ञ भास्कराचार्य के पूर्ववर्ती प्रकाण्ड विद्वान् थे। स्वतन्त्र रचनाओं के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने अनेक अजैन गणित ग्रन्थों पर वृत्तियाँ भी लिखी हैं। सिंहतिलक सूरि ने लीलावती के ऊपर भी एक बडी वृत्ति लिखी है। इनकी एकाध स्वतन्त्र रचना भी गणित सम्बन्धी होनी चाहिए।

लौकिक जैन गणित को अंकगणित, रेखागणित और बीजगणित इन तीन भागों में विभक्त कर विचार करने की चेष्टा की जायगी।

जैन अंकगणित—इसमें प्रधानतया अंक सम्बन्धी जोड, बाकी, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल इन आठ परिकर्मों का समावेश होता है। भारतीय गणित में उक्त आठ परिकर्मों का प्रणयन जैनाचार्यों का अति प्राचीन है। आर्यभट, ब्रह्मगुप्त और भास्कर आदि जैनेतर गणितज्ञों ने भी उपर्युक्त परिकर्माष्टकों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय किया है, किन्तु जैनाचार्यों के परिकर्मों में अनेक विशेषताएँ हैं। गणितसारसंग्रह की अंग्रेजी भूमिका में डेविड यूजीन स्मिथ (David Eugene Smith) लिखते हैं—

"The shadow problems, primitive cases of trigonometry and gnomonics, suggest a similarity among these three great writers, and yet those of Mahāvīrācārya are much better than the one to be found in either Brahmagupta or Bhāskara"

इन पंक्तियों में विद्वान् लेखक ने महावीराचार्य की विशेषता को स्वीकार किया है। महावीराचार्य ने वर्ग करने की अनेक रीतियाँ बतलाई हैं। इनमें निम्न मौलिक और उल्लेखनीय है—"अन्त्य[1] अंक का वर्ग करके रखना, फिर जिसका वर्ग किया है उसी अंक को दूना करके शेष अंकों से गुणा करके रखना, फिर जिसका वर्ग किया है उसी अंक को दूना कर शेष अंकों से गुणा कर एक अंक आगे हटा कर रखना। इस प्रकार अन्त तक वर्ग करके जोड देने से इष्टराशि का वर्ग हो जाता है।" उदाहरण के लिए १३२ का वर्ग करना है—

(१²)=	१				
१×२=२,२×३=		६			
१×२=२,२×२=			४		
(३²)=			९		
३×२=६,६×२=			१	२	
(२²)=					४
	१	७	४	२	४

[1] कृत्वान्त्यकृतिं हन्याच्छेषपदैर्द्विगुणमन्त्यमुत्सार्य।
शेषानुत्सार्यैवं करणीयो विधिरयं वर्गे॥
यहाँ अन्त्य अक्षर से तात्पर्य इकाई दहाई से है, प्रथम, द्वितीय अंक से नहीं—परिकर्म व्यवहार श्लो० ३१

इस वर्ग करने के नियम मे उपपत्ति (वासना) अन्तर्निहित है, क्योकि $अ^2=(क+ग)^2=(क+ग)(क+ग)=क\,(क+ग)+ग(क+ग)=क^2+क\,ग+क\,ग+ग^2=क^2+२क\,ग+ग^2$। उपर्युक्त राशि में अन्त्य अक्षर (क) का वर्ग करके वर्गित अक्षर (क) को दूना कर आगे वाले अक्षर (ग) से गुणा किया गया है तथा आदि अक्षर (ग) का वर्ग करके सब को जोड दिया है। इस प्रकार उपर्युक्त सूत्र में बीजगणित गत वासना भी सन्निबद्ध है। महावीराचार्य के उत्तरवर्ती गणितज्ञो पर इस सूत्र का अत्यन्त प्रभाव पडा है। इसी प्रकार "अन्त्यौजादपहृतक्कृतिमूलेन" इत्यादि वर्गमूल निकालने वाला सूत्र भी जैनाचार्य की निजी विशेषता है। यद्यपि आजकल गुणा, भाग के भय से गणितज्ञ लोग इस सूत्र को काम मे नही लाते है, तथापि बीजगणित में इसके बिना काम नही चल सकता। घन और घनमूल निकालने वाले सूत्रो में वासना सम्बन्धी निम्न विशेषता पाई जाती है—

$अ\;अ\;अ=अ(अ+व)\,(अ-व)+व^2\,(अ-व)+व^3=अ^3$। इस नियम मे बीजगणित मे घनमूल निकालने में बहुत सरलता रहती है। आज वैज्ञानिक युग में जिस फारमूला (formula) को बहुत परिश्रम के बाद गणितज्ञो ने पाया है, उसीको जैन गणितज्ञ सैकडो वर्ष पहले से जानते थे। वर्तमान मे जिन वर्ग और घन सम्बन्धी बातो की गूढ समस्याओ को केवल बीजगणित द्वारा सुलझाया जाता है उन्ही को जैनाचार्यो ने अकगणित द्वारा सरलता-पूर्वक हल किया है। इनके अतिरिक्त जैन अकगणित मे साधारण और दशमलव भिन्न के परिकर्माष्टक, साधारण और मिश्र व्यवहार गणित, महत्तम और लघुत्तम समापवर्तक, साधारण और चक्रवृद्धि व्याज, समानुपात, ऐकिक नियम, त्रैराशिक, पचराशिक, सप्तराशिक, समय और दूरी सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी दिये गये है। जैन अकगणित मे गच्छ, चय, आद्य और सर्वधन सख्या आनयन सम्बन्धी सूत्रो की वासनागत सूक्ष्मता गणितज्ञो के लिए अत्यन्त मनोरजक और आनन्दप्रद है। तिलोयपण्णत्ति मे सकलित धन लाने वाले सूत्र[1-2] निम्न प्रकार बनाये है —

(१) पद के वर्ग को चय से गुणा करके उसमें दुगुने पद से गुणित मुख को जोड देने पर जो राशि उत्पन्न हो उसमें से चय से गुणित पद प्रमाण को घटा कर शेष को आधा कर देने पर प्राप्त हुई राशि के प्रमाण सकलित धन होता है।

(२) पद का वर्ग कर उसमे से पद के प्रमाण को कम करके अवशिष्ट राशि को चय के प्रमाण से गुणा करना चाहिए। पश्चात् उसमें पद से गुणित आद्य को मिलाकर और फिर उसका आधा कर प्राप्तराशि मे मुख के अर्द्धभाग से गुणित पद के मिला देने पर सकलित धन का प्रमाण निकलता है।

गणित—पद ५, चय ४ और मुख ८ है। प्रथम नियमानुसार सकलित धन $=(५)^2=२५,\ २५\times ४=१००,\ ५\times २=१०,\ १०\times ८=८०,\ (१००+८०)=१८०,\ ५\times ४=२०,\ (१८०-२०)=१६०,\ १६०-२=८०$

द्वितीय नियमानुसार सकलित धन $=(५)^2=२५,\ २५-५=२०,\ २०\times ४=८०,\ ५\times ८=४०,\ (८०+४०)=१२०-२=६०,\ ८-२=४,\ ४\times ५=२०,\ (२०+६०)=८०$। उपर्युक्त दोनो ही नियम सरल और महत्त्वपूर्ण है। आर्यभट, ब्रह्मगुप्त और भास्कर जैसे गणितज्ञ भी श्रेढी-व्यवहार के चक्र मे पडकर इन सरल नियमो को नही पा सके है। वस्तुत गच्छ, चय, आद्य और सर्वधन सम्बन्धी प्रक्रिया जैनाचार्यो की अत्यन्त मौलिक है। अकगणित के नियमो मे अर्द्धच्छेद सम्बन्धी सिद्धान्त (formula) महत्वपूर्ण और मौलिक है। प्राचीन

---

[1] पदवग्ग चयपहद दुगुणिगच्छेण गुणिदमुहजुत्तम्।
वड्ढिहदपदविहीण दलिद जाणिज्ज सकलिदम्॥

—तिलोयपण्णत्ति, पृ० ६२

[2] 'पदवग्ग पदरहिद' इत्यादि।

—तिलोयपण्णत्ति, पृ० ६३

जैनेतर गणितज्ञों ने इन जटिल सिद्धान्तों के ऊपर विचार भी नहीं किया है। आधुनिक गणितज्ञ अर्द्धच्छेद प्रक्रिया को लघुरिक्थ (Logarithm) के अन्तर्गत मानते हैं, पर इस गणित के लिए एक अंक टेबुल साथ रखनी पड़ती है, तभी अर्द्धच्छेदों से राशि का ज्ञान कर सकते हैं। परन्तु जैनाचार्यों ने बिना बीजगणित का आश्रय लिये अंकों द्वारा ही अर्द्धच्छेदों से राशि[1] का ज्ञान किया है। (१) देयराशि—परिवर्तित राशि (Substituted) के अर्द्धच्छेदों का इष्टराशि के अर्द्धच्छेदों में भाग देने पर जो लब्ध आवे उनका अभीष्ट अर्द्धच्छेद राशि में भाग देने से जो लब्ध आये, उतनी ही जगह इष्ट राशि को रख कर परस्पर गुणा करने से अर्द्धच्छेदों से राशि का ज्ञान हो जाता है। उदाहरण—देयराशि (२) इसकी अर्द्धच्छेदराशि १, इष्ट राशि १६, इसकी अर्द्धच्छेद राशि ४, अभीष्ट अर्द्धच्छेद राशि ८—इन अर्द्धच्छेदों से राशि निकालनी है। ४÷१=४, ८÷४=२, १६×१६=२५६ राशि आठ अर्द्धच्छेदों की है।

अर्द्धच्छेद के गणित से निम्न सिद्धान्त और भी महत्त्वपूर्ण निकलते हैं

* $क^{२} \times क^{४} = क^{६}$, $क^{म} \times क^{न} = क^{म+न}$ गुण्य राशि के अर्द्धच्छेदों को गुणाकार राशि के अर्द्धच्छेदों में जोड़ देनेपर गुणनफलराशि के अर्द्धच्छेद आ जाते हैं। उपर्युक्त सिद्धान्त इसी अर्थ का द्योतक है। अंकगणित के अनुसार १६ गुण्यराशि, ६४ गुणाकार राशि और गुणनफल राशि १०२४ है। १६ गुण्यराशि=$(२)^{४}$, गुणाकार ६४=$(२)^{६}$, $(२)^{४} \times (२)^{६} = (२)^{१०}$=गुणनफल राशि १०२४=$(२)^{१०}$

† $क^{६} \div क^{२} = क^{४}$, $क^{म} \div क^{न} = क^{म-न}$। भाज्य राशि के अर्द्धच्छेदों में से भाजक राशि के अर्द्धच्छेदों को घटाने से भागफल राशि के अर्द्धच्छेद होते हैं। अंकगणित के अनुसार भाज्य राशि २५६, भाजक ४ और भागफल ६४ है। २५६ भाज्यराशि=$(२)^{८}$, भाजक $(२)^{२}$, $(२)^{८} \div (२)^{२} = (२)^{६}$, भागफल राशि ६४=$(२) = (२)^{६}$

‡ $(क^{म})^{न} = क^{म \cdot न}$, इस सिद्धान्त को जैनाचार्यों ने अर्द्धच्छेद के गणित में लिखा है कि विरलनराशि—विभाजितराशि (Distributed number) को देयराशि—परिवर्तित राशि (substituted number) के अर्द्धच्छेदों के साथ गुणा करने से जो राशि आती है वह उत्पन्न (resulting number) के अर्द्धच्छेदों के बराबर होती है। न्यास—विभाजितराशि ४, परिवर्तितराशि १६, उत्पन्नराशि ६५५३६ है। परिवर्तितराशि १६=$(२)^{४}$, $(२^{४})^{४} = (२)^{१६}$, उत्पन्नराशि ६५५३६=$(२)^{१६}$

§ $(क)^{२} \times (क)^{४} = क^{८}$, विरलन—विभाजित राशि के अर्द्धच्छेदों को देयराशि के अर्द्धच्छेदों के अर्द्धच्छेद में जोड़ने से उत्पन्न राशि की वर्गशलाका का प्रमाण आता है। विभाजितराशि ४, परिवर्तितराशि १६ और उत्पन्न-राशि ६५५३६ है। विभाजितराशि ४=$(२)^{२}$, परिवर्तितराशि १६, $(२^{२}) = (२)^{४}$, ६५५३६ उत्पन्नराशि=$(४^{२})^{४}$।

---

[1] दिण्णच्छेदेणवहिदइट्ठच्छेदेहिं पयदविरलण भजिदे।
लद्धमिदइट्ठरासीणण्णोण्णहदीए होदि पयद घणम्॥
—गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा नं० २१४

* गुणयारद्धच्छेदा गुणिज्जमाणस्स अद्धछेदजुदा।
लद्धस्सद्धच्छेदा अहियस्स छेदणा णत्थि॥—त्रिलोकसार गाथा न० १०५

† भज्जस्सद्धच्छेदा हारद्धच्छेदणाहिं परिहीणा।
अद्धच्छेदसलागा लद्धस्स हवति सव्वत्थ॥—त्रिलोकसार गाथा न० १०६

‡ विरलिज्जमाणरासिं दिण्णस्सद्धच्छिदीहिं संगुणिदे।
अद्धच्छेदा होंति दु सव्वत्थुप्पण्णरासिस्स॥—त्रिलोकसार गाथा नं० १०७

§ विरलिदरासिच्छेदा दिण्णद्धच्छेदछेदसं मिलिदा।
वग्गसलागपमाण होंति समुप्पण्णरासिस्स॥—त्रिलोकसार गाथा न० १०८

उत्तराध्ययन सूत्र मे द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, षष्ठम और द्वादशम वर्गात्मक शक्तियो (powers) के लिए वर्ग, घन, वर्ग-वर्ग, घन-वर्ग और घन-वर्ग-वर्ग शब्दो का प्रयोग मिलता है। अनुयोगद्वार सूत्र १४२वें के अनुसार $(क)^{२}$, $(क^{२})^{२}$ $क^{४}$, $(क^{४})^{२}$, $(क^{४})^{४}$ इत्यादि वर्गात्मक शक्तियो का विश्लेषण होता है। इसी प्रकार वर्ग-मूलात्मक $क^{१/२}$, $क^{१/४}$, $क^{१/न}$ इत्यादि शक्तियो का उल्लेख भी जैनगणित में किया गया है। गणितसार सग्रह में विचित्र कुट्टीकार एक गणित का प्रकार आया है, यह सिद्धान्त अक गणित को दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके अनुसार वीजगणित के वडे-वडे प्रश्न सुलझाये जा सकते है। अन्य भारतीय गणितज्ञो ने जिन प्रश्नो को चक्रवाल और वर्ग प्रकृति के नियमो से निकाला है, वे प्रश्न इस विचित्र कुट्टीकार की रीति से हल किये जा सकते है। अकगणित मे जहाँ कोई भी कायदा काम नही करता, वहाँ कुट्टीकार से काम सरलतापूर्वक निकाला जा सकता है। फुटकर गणति में त्रिलोक-सारान्तर्गत १४ धाराओ का गणित उच्चकोटि का है, इस गणित पर से अनेक वीजगणित सबधी सिद्धान्त निकाले जा सकते है।[१] सक्षेप मे जैन अकगणित की विशेषता वीजगणित सम्वन्धी सिद्धान्तो के सन्निवेष की है, प्रत्येक परिकर्म सूत्र से अनेक महत्त्वपूर्ण वीजगणित के सिद्धान्त निकलते है।

जैन रेखागणित—यो तो जैन अकगणित और रेखागणित आपस मे वहुत कुछ मिले हुए है, पर तो भी जैन रेखागणित मे कई मौलिक वाते है। उपलब्ध जैन रेखागणित के अध्ययन से यही मालूम होता है कि जैनाचार्यो ने मैन्स्यूरेशन की ही प्रधानता रक्खी है, रेखाओ की नही। तत्त्वार्थसूत्र के मूलसूत्रो में वलय, वृत्त, विष्कम्भ एव क्षेत्र-फल आदि मैन्स्यूरेशन सम्वन्धी वातो की चर्चा सूत्र रूप से की गई है। इसके टीका ग्रन्थ भाष्य और राजवार्तिक मे ज्या, चाप, वाण, परिधि, विष्कम्भ, विस्तार, वाहु एव धनुष आदि विभिन्न मैन्स्यूरेशन के अगो का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। भगवतीसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति, एव त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति मे त्रिभुज, चतुर्भुज, आयत, वृत्त और परिमण्डल (दीर्घवृत्त) का विवेचन किया है। इन क्षेत्रो के प्रतर और घन ये दो भेद वताकर अनुयोगद्वार सूत्र में इनके सम्वन्ध में वडी सूक्ष्म चर्चा की गई है। सूर्यप्रज्ञप्ति मे समचतुरस्र, विषमचतुरस्र, समचतुष्कोण, विषम-चतुष्कोण, समचक्रवाल, विषमचक्रवाल, चक्रार्धचक्रवाल और चक्राकार इन आठ भेदो के द्वारा चतुर्भुज के सम्वन्ध में सूक्ष्म विचार किया गया है। इस विवेचन से पता लगता है कि प्राचीनकाल में भी जैनाचार्यो ने रखागणित के सम्वन्ध में कितना सूक्ष्म विश्लेषण किया है।

गणितसार सग्रह मे त्रिभुजो के कई भेद वतलाये गये है तथा उनके भुज, कोटि, कर्ण और क्षेत्रफल भी निम्न प्रकार निकाले गये है।
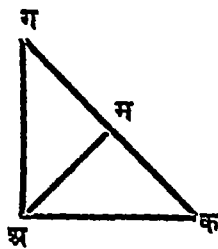
अ क ग त्रिभुज मे अ क, अ ग भुज और कोटि है, क ग कर्ण है तथा $<$ क अ ग समकोण है, अ समकोण विन्दु से क ग कर्ण के ऊपर अ म लम्ब गिराया गया है।

$अक^{२} = कग \cdot कम$, $अग^{२} = कग \cdot गम$ $\therefore$ $अक^{२} + अग^{२} = कग \cdot कम + कग \cdot गम =$ $कग\,(कम + गम) = कग \cdot कग = कग^{२}$, $\sqrt{कग^{२}} = \sqrt{अक^{२} + अग^{२}} = \sqrt{भु^{२} + को^{२}} = \sqrt{क^{२}}$, $\sqrt{क^{२} - भु^{२}} = \sqrt{को^{२}}$, $\sqrt{क^{२} - को^{२}} = \sqrt{भु^{२}}$

[१] देखिये—'श्री नेमिचन्द्राचार्य का गणित' शीर्षक निवन्ध जैनदर्शन व ४, अ० १-२ में।

क्षेत्रफल—

अ इ उ त्रिभुज मे छोटी भुज=भु, वडी भुज=भु, भूमि=भू

अ क=लम्व, छोटी आवाधा इक= $\frac{\text{भू}^{२} - (\text{भु}^{२} - \text{भु}^{२})}{\text{२ भू}}$

$$\text{ल}^{२} = \text{भु}^{२} - \left\{\frac{\text{भू} - (\text{भु} - \text{भु})}{\text{२ भू}}\right\}^{२}$$

$$= \left\{\text{भु} + \left(\frac{\text{भू}^{२} - (\text{भु}^{२} - \text{भु})}{\text{२ भू}}\right)\right\} \times \left\{\text{भु} - \left(\frac{\text{भु}^{२} - (\text{भु}^{२} - \text{भु})}{\text{२ भू}}\right)\right\}$$

$$= \left(\frac{\text{२ भू भु} + \text{भू}^{२} + \text{भु}^{२} - \text{भुं}^{२}}{\text{२ भू}}\right) \times \left(\frac{\text{२भू भु} - \text{भू} + \text{भ} - \text{भु}^{२}}{\text{२ भू}}\right)$$

$$= \left(\frac{(\text{भू} + \text{भु})^{२} - \text{भु}^{२}}{\text{२ भू}}\right) \times \left(\frac{\text{भु} - (\text{भू} - \text{भू})^{२}}{\text{२ भू}}\right)$$

$$= \frac{(\text{भू} + \text{भु} + \text{भुं}) \times (\text{भू} + \text{भु} - \text{भुं})}{\text{२ भू}} \times \frac{(\text{भु} + \text{भू} - \text{भु}) \times (\text{भु} + \text{भू} - \text{भू})}{\text{२ भू}}$$

$$= \frac{(\text{भू} + \text{भु} + \text{भुं})}{\text{२}} \times \frac{(\text{भू} + \text{भु} - \text{भुं})}{\text{२}} \times \frac{(\text{भू} + \text{भुं} - \text{भु})}{\text{२}} \times \frac{(\text{भु} + \text{भुं} - \text{भू})}{\text{२}}$$

$$= \frac{(\text{भू} + \text{भु} + \text{भुं})}{\text{२}} \times \left(\frac{\text{भू} + \text{भु} + \text{भुं}}{\text{२}} - \text{भुं}\right) \times \left(\frac{\text{भू} + \text{भुं} + \text{भु}}{\text{२}} - \text{भु}\right) \times \left(\frac{\text{भु} + \text{भु} + \text{भ}}{\text{२}} - \text{भू}\right)$$

इसका वर्गमूल त्रिभुज का क्षेत्रफल होगा। यो तो उपर्युक्त नियम[1] को प्राय सभी गणितज्ञो ने कुछ इधर-उधर करके माना है, पर वासनागत सूक्ष्मता और सरलता जैनाचार्य को महत्त्वपूर्ण है।

वृत्तक्षेत्र के सम्वन्ध मे प्राचीन गणित में जितना कार्य जैनाचार्यों का मिलता है उतना अन्य लोगो का नही। आजकल की खोज में वृत्त की जिन गूढ गुत्थियो को मुश्किल से गणितज्ञ सुलझा रहे हैं, उन्ही को जैनाचार्यों ने सक्षेप मे सरलता-पूर्वक अको का आधार लेकर समझाया है। वृत्त के सम्वन्ध में जैनाचार्यों का प्रधान कार्य अन्त वृत्त, परिवृत्त, वाह्यवृत्त, सूत्रीव्यास, वलयव्यास, समकोणाक्ष, केन्द्र, परिधि, चाप, ज्या, वाण, तिर्यक् तथा कोणीय नियामक, परिवलयव्यास, दीर्घवृत्त, सूत्रीस्तम्भ, वृत्ताधारवेलन, चापीयत्रिकोणानुपात, कोटिस्पर्श, स्पर्शरेखा, क्षेत्रफल और घनफल के विषय मे मिलता है।[2]

---

[1] त्रिभुजचतुर्भुजवाहुप्रतिबाहुसमासदलहत गणितम्।
नेमेर्भुजयुत्यर्धं व्यासगुण तत्फलार्धमिह वलिन्दो ॥
—गणितसारसग्रह-क्षेत्राध्याय श्लो० ७

[2] वृत्त सम्वन्धी इन गणितो की जानकारी के लिए देखिये—

'तिलोयपण्णत्ती' गाथा न० २५२१, २५२५, २५६१, २५६२, २५६३, २६१७, २६१६, २८१५ से २६१५ तक। 'त्रिलोकसार' गाथा न० ३०६, ३१०, ३१५, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६६ गणितसार एव गणित शास्त्र का क्षेत्राध्याय। 'आचार्य नेमिचन्द्र और ज्योतिषशास्त्र' शीर्षक निबन्ध भास्कर, भाग ६, किरण २ एवं 'आचार्य नेमिचन्द्र का गणित' शीर्षक निबन्ध जैनदर्शन वर्ष ४, अक १-२

जैन वीजगणित—जैन अकगणित के करणसूत्रो के साथ वीजगणित सम्वन्धी सिद्धान्त (formulas) व्याप्त रूप से मिलते हैं। जैनाचार्यों ने अपनी प्रखर प्रतिभा से अकगणित के करणसूत्रो के साथ बीज गणित के नियमो को इस प्रकार मिला दिया है कि गणित के साधारण प्रेमी भी वीजक्रिया से साधारणतया परिचित हो सकते हैं। जैन वीज गणित में एक वर्ण समीकरण, अनेक वर्ण समीकरण, करणी, कल्पित राशियाँ, समानान्तर, गुणोत्तर, व्युत्क्रम, समानान्तर श्रेणियो, क्रम सचय, घाताङ्क और लघुगुणको के सिद्धान्त तथा द्विपद सिद्धान्त आदि वीजक्रियाएँ हैं। उपर्युक्त वीजगणित के सिद्धान्त धवलाटीका, त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति, लोकविभाग, अनुयोगद्वारसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, गणितसारसग्रह और त्रिलोकसार आदि ग्रन्थो में फुटकर रूप से मिलते हैं। धवला में वडी सख्याओ को सूक्ष्मता से व्यक्त करने के लिए घाताङ्क नियम (वर्ग-सवर्ग) का कथन किया गया है। वीजक्रिया जन्य घाताङ्क का सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मौलिक है। डाक्टर अवधेशनारायण धवला की चतुर्थ जिल्द की अग्रेज़ी भूमिका मे लिखते हैं कि—

"The theory of the indices as described in the Dhavala is somewhat different from what is found in the mathematical works This theory is certainly primitive and is earlier than 500 A D The fundamental ideas seem to be those of (i) the square, (ii) the cube, (iii) the successive square, (iv) the successive cube, (v) the raising of a number to its own power, (vi) the square root, (vii) the cube root, (viii) the successive square root, (ix) the successive cube root etc"

घाताङ्क सिद्धान्त के अनुसार $अ^{१/२}$ को अ के घन का प्रथम वर्गमूल माना जायगा। धवला के सिद्धातो के अनुसार उत्तरोत्तर वर्ग और घनमूल निम्न प्रकार सिद्ध होते हैं—

अ का प्रथम वर्ग अर्थात् $(अ)^{२}=अ^{२}$

,, द्वितीय वर्ग ,, $(अ^{२})^{२}=अ^{४}=अ^{२^{२}}$

,, तृतीय वर्ग ,, $(अ^{२})^{३}=अ^{६}=अ^{२^{३}}$

,, चतुर्थ वर्ग ,, $(अ^{२})^{४}=अ^{८}=अ^{२^{४}}$

,, पचम वर्ग ,, $(अ^{२})^{५}=अ^{१०}=अ^{२^{५}}$

,, छठवाँ वर्ग ,, $(अ^{२})^{६}=अ^{१२}=अ^{२^{६}}$

इसी प्रकार $अ^{२}$ का दृष्टाङ्क वर्ग $=(अ^{२})^{६}=अ^{२६}$

घाताङ्क[1] के अनुसार (१) $\frac{क}{अ}, \frac{व}{अ}=\frac{क}{अ}+व$ (२) $\frac{म}{अ}\Big/\frac{न}{अ}=\frac{म}{अ}-न$ (३) $\left(\frac{म}{अ}\right)^{न}=अ^{मन}$

वीजगणित के एक वर्ण समीकरण सिद्धान्त के आविष्कर्त्ता अनेक विद्वानो ने जैनाचार्य श्रीधर को माना है। यद्यपि इनका नियम परिष्कृत एव सर्वव्यापी नही है, फिर भी प्राचीनता के खयाल से महत्त्वपूर्ण है। श्रीधराचार्य के नियमानुसार एक अज्ञात राशि का मान निम्न प्रकार निकाला जाता है —

---

[1] छट्ठवग्गस्स उवरि सत्तमवग्गस्स हेट्ठदोत्ति वुत्ते अत्थवत्तीण जोदत्ति　　धवलाटीका, जिल्द ३, पृ० २५३

क $व^2$ + ख व = ग। इस गणित मे क, ख, ग ये ज्ञात राशियाँ और व अज्ञातराशि है। क्रिया मे श्रीधराचार्य ने समगुणन और भजन का नियम निकाल कर इस प्रकार रूपान्तर किया है—$व^2 + \frac{ख}{क} व = \frac{ग}{क}$। दोनो राशियो में सम जोड देने से भी समत्व रहेगा।

$$\therefore \sqrt{व^2 + \frac{ख}{क} व + \frac{ख^2}{४क^2}} = \sqrt{\frac{ग}{क} + \frac{ख^2}{४क^2}} = \sqrt{\frac{ख^2 + ४गक}{४क^2}}$$

$$= व + \frac{ख}{२क} = \sqrt{\frac{ख^2 + ४गक}{४क^2}}$$ { यहाँ दोनो पक्षो मे $\frac{ख}{२क}$ घटा दिया तो

$$व = \frac{ख}{-२क} + \frac{\sqrt{ख + ४गक}}{२क} = ख + \frac{\sqrt{ख^2 + ४गक}}{२क},$$

इस प्रकार जैनाचार्यों ने अज्ञातराशियो का मान निकाला है। गणितसारसग्रह में अनेक बीज गणित सम्वन्धी सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ उदाहरणार्थ मूलधन, व्याज, मिश्रधन और समय निकालने के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण नियम (formulas) दिये जाते हैं। मूलधन = स, मिश्रधन = म, समय = ट, व्याज = ई

१—(1) $स = \dfrac{म}{\dfrac{१ + ई \times ट \times ई}{ट + स}}$ { म = स × आ ; आ = म − स

(11) $स = \dfrac{म}{\dfrac{ट \times ई}{ट \times स} + १}$

(111) आ = अनेक प्रकार के मूलधन

२—आ $= \dfrac{म}{\dfrac{स \times ट}{ई \times स} + १}$ { म = आ + ट

(1) $स = \sqrt{म^2 - \dfrac{स \times ट}{ई} \times ४ \times आ + - म}$ / २ { म = स + ट

(11) $\dfrac{स_१ \times ट_१ \times म}{ट_१ \times ट_१ + स_२ \times ट_२ + स_३ \times ट_३ +} = आ_१$

(111) $\dfrac{स_२ \times ट_२ \times म}{स_१ \times ट_१ + २स \times ट_२ + स_३ \times ट_३ +} = आ_२$

$म = आ_१ + आ_२ + आ_३ +$

व्याज के लिए नियम (formula) —

३—(1) $\dfrac{म}{\dfrac{आ_१}{ट_१} + \dfrac{आ_२}{ट_२} + \dfrac{आ_३}{ट_३} +} \times \dfrac{आ_१}{ट_१} = स_१$

$$(ii)\ \frac{म}{\frac{आ_1}{ट_1}+\frac{आ_2}{ट_2}+\frac{आ_3}{ट_3}+} \times \frac{आ_2}{ट_2} = स_2$$

$$म = स_1 + स_2 + स_3 +$$

समय निकालने के लिए नियम (formula) —

$$४—(i)\ \frac{म}{\frac{आ_1}{स_1}+\frac{आ_2}{स_2}+\frac{आ_3}{स_3}} \times \frac{आ_1}{स_1} = ट_1 \quad \{म = ट_1 + ट_2 + ट_3 +$$

$$(ii)\ \sqrt{\frac{स \times ट}{ट} \times म + \left(\frac{स \times २}{२ \times ट}\right)^२} - \frac{स \times ट}{२ \times ट} = ई = स$$

$$५—\ \frac{म \times ट}{\frac{स_1 \times ट_1}{ई_1} + \frac{स_2 \times ट_2}{ई_2} +} = आ$$

जैन गणित मे भिन्न सम्बन्धी बीजगणित की क्रियाएँ महत्त्वपूर्ण और नवीन है। मुझे भिन्न (fraction) के सम्बन्ध में शेषमूल, भागशेष, मूलावशेष और शेष जाति के ऐसे कई नियम मिले है जो मेरी बुद्धि अनुसार प्राचीन और आधुनिक गणित में महत्त्वपूर्ण है। नमूने के लिए शेषमूल[1] का नियम नीचे दिया जाता है—
स = कुल सख्या, सं = स के वर्गमूल से गुणितराशि, व = भाजितराशि, अ = अवशेष ज्ञातराशि।

$$(i)\quad स = \left\{ \frac{\frac{सं}{२}}{१-व} + \sqrt{\frac{अ}{१-व} + \left(\frac{\frac{सं}{२}}{१-व}\right)} \right\}^२$$

$$(ii)\quad स - व स = \left\{ \frac{सं}{२} + \sqrt{\left(\frac{सं}{२}\right)^२ + अ} \right\}$$

$$(iii)\quad स = \left\{ \frac{सं - व}{२} + \sqrt{\left(\frac{सं-व}{२}\right)^२ + अ\ व} \right\}^२ - व$$

$$(iv)\quad स = \left\{ \frac{सं + \sqrt{सं^२ + \frac{४ अ}{व}}}{२} \right\}^२ \times व$$

धवलाटीका मे भी भिन्नो की अनेक मौलिक प्रक्रियाएँ है, सम्भवत ये प्रक्रियाएँ अन्यत्र नही मिलती है। उदाहरणार्थ कुछ नीचे दी जाती है—

$$१ - \frac{न}{न \pm (न/प)} = न \mp \frac{न}{प \pm १}$$

एक दी सख्या मे दो भाजको का भाग देने से परिणाम निम्न प्रकार आता है—

$$\frac{म}{द \pm दं} = \frac{कं}{(कं/क) \pm १} \quad अथवा = \frac{क}{१ \pm (क/कं)}$$

---

[1] मूलार्धाग्रे छिन्द्यावशेषैनैकेन युक्तमूलकृते।
दृश्यस्य पद सपद वर्गितमिह मूलजातौ स्वम्॥

—गणितसारसग्रह प्रकीर्णकाध्याय श्लो० ३३

यदि $\frac{म}{द} = क$, और $\frac{म'}{द} = क'$, तो $द\,(क - क') + म' = म$

यदि $\frac{अ}{व} = क$, तो $= \frac{अ}{व + \frac{व}{न}} = क - \frac{क}{न + १}$ तथा $\frac{अ}{व - \frac{व}{न}} = क + \frac{क}{न - १}$,

इस प्रकार अनेक भिन्न सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण नियम दिये गये है। समीकरणो के प्रकरण में भी ऐसे कई नियम है जिनके द्वारा अधिक गुणा भाग के चक्र मे विना पडे ही सरलता पूर्वक समीकरण (Equation) हल किये जा सकते है।

आरा]
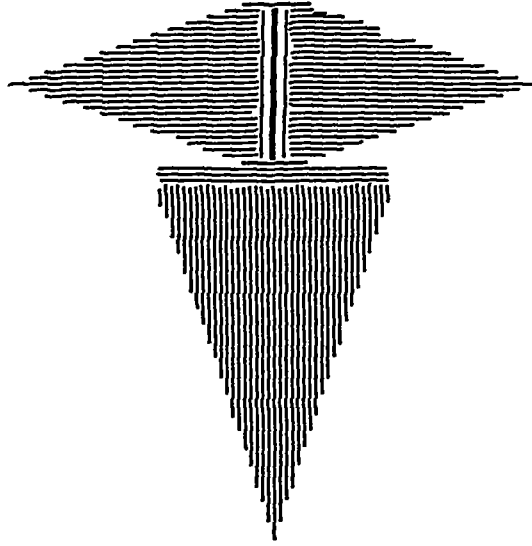
विश्व-मानव गांधी

श्री काशिनाथ त्रिवेदी

"A leader of his people, unsupported by any outward authority, a politician, whose success rests not upon craft, nor mastery of technical devices, but simply on the convincing power of his personality, a victorian fighter who has always scorned the use of force, a man of wisdom and humility, armed with resolve and inflexible consistency, who has devoted all his strength to the uplifting of his people and the betterment of their lot, a man who has confronted the brutality of Europe with the dignity of the simple human being, and thus at all times risen superior

Generations to come, it may be, will scarce believe that such a one as this ever in flesh and blood walked upon this earth"—*A Einstein*

गाधी जी की ७५वी वर्षगाँठ पर लिखे गये विश्वविख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन के ये वचन गाधी जी के समग्र व्यक्तित्व को वडी खूवी के साथ नपी-तुली, किन्तु सारगर्भित भापा मे व्यक्त करते है। आज जव कि सारी मानवता सत्रस्त भाव से कराह रही है और अपने निस्तार का कोई एक निश्चित उपाय उसके वस का नही रहा है, अकेले गाधी जी का ही व्यक्तित्व ऐसा है, जो उसे आश्वस्त कर रहा है। चारो ओर फैली हुई घनी निराशा के घोर अन्धकार में वही प्रकाश की एक ऐसी किरण है, जो मनुष्य को आशा के साथ जाने का वल और निश्चय दे रही है। आज विश्व की समूची मानवता की, जो मानव की ही पशुता, पैशाचिकता और वर्वरता से घिर कर जकड गई है, आकुल हो उठी है, निरुपाय और निस्तेज हो गई है। यदि कही से मुक्ति का कोई सन्देश मिलता है, आशा, विश्वास, श्रद्धा और निष्ठा का कोई जीता-जागता प्रतीक उसके सामने खडा होता है, दु ख, दैन्य, दारिद्रय, दास्य और अन्याय-अत्याचार का अटल भाव से प्रतीकार करने की प्रचण्ड शान्त शक्ति का कोई स्रोत कहीं उसे नज़र आता है तो वह है परतन्त्र और पराधीन भारत के इस सर्वथा स्वतन्त्र और स्व-अधीन महामानव गाधी में!

गाधी जी के विश्वव्यापी प्रभाव का और उनकी प्रचड शक्ति का रहस्य भी इसी मे है कि वे स्वय स्वतन्त्र और स्वाधीन है। दूसरा कोई तन्त्र, दूसरी कोई अधीनता उन पर न लद सकती है, न लादी जा सकती है। उनकी अपनी सत्ता ससार की सभी सत्ताओ से परे है और श्रेष्ठ है। इसीलिए आज वे समूचे विश्व के आराध्य वने हुए है और बडी-से-वडी भौतिक सत्ताएँ भी उनके सामने हतप्रभ है। यो देखा जाय, तो उनके पास वाहर की कोई सत्ता नही—सेना नही, शस्त्रास्त्र नही, कोष नही, शासन के कोई अधिकार नही—फिर भी वे है कि देश के करोडो नर-नारियो पर और विश्व के असख्य विचारशील नागरिको पर उनकी अखड सत्ता व्याप्त है। किसी सम्राट् के शासनादेश की उपेक्षा और अवहेला हो सकती है, लोगो ने की है, करते है और करेंगे, पर गाधी के आदेश की यह परिणति नही। वह तो एक प्रसाद है, एक सौभाग्य, जो ललक के साथ लिया जाता है और विनम्र भाव से, कृतार्थता के साथ, शिरोधार्य होता है। उसकी इष्टता मे, उसकी कल्याणकारिता में, किसी को कोई सन्देह नही।

स्वतन्त्रता और स्वाधीनता! मानव की परिपूर्णता के लिए, उसके सम्यक् विकास और उत्थान के लिए, इन दोनो की उतनी ही ज़रूरत है, जितनी जीवन के लिए प्राणो की और प्राण के लिए श्वासोच्छ्वास की। विना

स्वातन्त्र्य और स्वाधीनता के मनुष्य अपनी शक्तियो का सम्पूर्ण विकास कर ही नही सकता। जन्म के क्षण से लेकर मृत्यु के क्षण तक मनुष्य के लिए स्वतन्त्रता और स्वाधीनता की आवश्यकता स्वय-सिद्ध है। और फिर भी हम देखते हैं कि आज की दुनिया में मानव-मात्र के लिए यही दो चीजें हैं, जो अधिक-से-अधिक दुर्लभ हैं। मनुष्य का स्वार्थ और उसकी लिप्सा कुछ इतनी बढ गई है कि उसने स्वस्थ मानव-जीवन की मूलभूत आवश्यकताओ को भुला दिया है और वह अपने निकट के स्वार्थ मे इतना डूब गया है कि दूर की चीज़, जो शाश्वत और सर्वकल्याणकारी है, उसे दीखती ही नही। अपने सकुचित स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य स्वय बन्धनो मे बँधता है और अपने आसपास भी बन्धनो का मजबूत जाल फैला देता है। ससार में आज सर्वत्र यही मूढ दृश्य दिखाई दे रहा है। निर्मल आर्ष दृष्टि दुर्लभ हो गई है। विश्व-कल्याण की भावना मानो विला गई है। एक का हित दूसरे का अहित बन गया है, एक की हानि, दूसरे का लाभ। शोषण, उत्पीडन, दमन, और सर्वसहार के भीषण शस्त्रास्त्रो से सज्ज होकर मनुष्य आज इतना बर्बर और उन्नत हो उठा है कि उसको इस मार्ग से हटाना कठिन हो रहा है। बार-बार पछाडे खाकर भी वह सँभलता नही, उसे होश नही आता। ससार आज ऐसे ही कठिन परिस्थिति में से गुज़र रहा है। वह पथभ्रष्ट होकर सर्वनाश की ओर दौडा चला जा रहा है। किसी की हिम्मत नही होती कि इस उन्मत्त को हाथ पकड कर रोके, इसके होश की दवा करे और इसे सही रास्ता दिखाये—उस रास्ते इसे चला दे। सब आपाधापी में पडे है। अपनी चिन्ता को छोड विश्व की चिन्ता कौन करे?

विश्व की चिन्ता तो वही कर सकता है, जिसे अपनी कोई चिन्ता नही, जिसने अपना सब कुछ जगन्नियन्ता को सौंप रक्खा है और जो नितान्त निस्पृह भाव से उसकी सृष्टि की सेवा में लीन हो गया है। हम भारतीयो का यह एक परम सौभाग्य है कि हमारे देश में, आज के दिन हमारा अपना एक महामानव अपने सर्वस्व का त्याग करके निरन्तर विश्वकल्याण की चिन्ता मे रत रहता है और अपने सिरजनहार से सदा, सोते-जागते, उठते-बैठते, यह मनाता रहता है कि दुनिया में कोई दु खी न हो, कोई रोगी न हो, किसी की कोई क्षति न हो, सब सुख, समृद्धि और सन्तोष का जीवन बिताये, सब ऊर्ध्वगामी बने, सब कल्याण-कामी बनें।

सर्वेऽत्र सुखिन' सन्तु सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वेभद्राणिपश्यन्तु माकश्चिद्दु ख माप्नुयात्॥

वह नही चाहता कि विश्व की सारी सम्पदा उसे प्राप्त हो, विश्व का साम्राज्य उसके अधीन हो। वह अपने लिए न स्वर्ग चाहता है, न मोक्ष चाहता है। उसकी तो अपनी एक ही कामना है—जो दीन हैं, दुखी है, दलित हैं, पीडित है, परतन्त्र और पराधीन है, उनके सब दु ख दूर हो, उनकी पीडाएँ टले, उनका शोषण-दमन बन्द हो, उनके पारतन्त्र्य का नाश हो, उनकी पराधीनता मिटे।

नत्वह कामये राज्य न स्वर्ग नाऽपुनर्भवम्।
कामये दु'खतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्।

भयाकुल, परवश और सत्रस्त ससार को निर्भय, स्वतन्त्र और सुखी बनाना ही गाधी जी के जीवन का एक-मात्र ध्येय है। मानव-ससार की पीडा और व्यथा को जितना वे समझते और अनुभव करते है, उतना शायद ही कोई करता हो। यही कारण है कि उन्होने एक निपुण चिकित्सक की भाँति विश्व को उसके भयानक रोग की अमोघ औषधि दी है और उसकी अमोघता के प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। जीवन के समग्र व्यापार में अहिंसा का पालन ही वह अमोघ औषधि है, जिसके सेवन से विश्व-शरीर के समस्त रोगो का निवारण हो सकता है। इसी अहिंसा की एकात उपासना मे से गाधीजी को उन ग्यारह व्रतो की उपलब्धि हुई है, जिनके बिना जीवन में अहिंसा की शुद्धतम सिद्धि सम्भव नही

"अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असग्रह
शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्रभयवर्जन।
सर्वधर्मीसमानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना
ही एकादश सेवावीं नम्रत्वे व्रतनिश्चये॥

नम्रता के साथ और व्रत के निश्चय के साथ इन ग्यारह व्रतो का आजीवन पालन ही मनुष्य को उसके सव दुःखो से मुक्त कर सकता है।

आज सारे ससार में हिंसा की ही विभीषिका छाई हुई है। जहाँ-तहाँ मानव दानव वन कर जीवन मे जितना कुछ सरक्षणीय है, इष्ट है, पवित्र है, उपासनीय है, उस सव को उन्मत्त भाव से नष्ट करने में लगा है। क्षणिक सुखो की आराधना ही मानो उसका जीवन-ध्येय वन गया है। ऐश्वर्य और भोग की अतृप्त लालसा ने उसे निरकुश वना दिया है। जीवन के शाश्वत मूल्यो को वह भूल गया है। उसने नये मूल्यो की, जो सर्वथा मिथ्या है, सृष्टि की है और उनकी प्रतिष्ठा को वढाने में कोई कसर नही रक्खी। यही कारण है कि आज की दुनिया मे अहिंसा की जगह हिंसा की प्रतिष्ठा वढ गई है, सत्य का स्थान मोहक असत्य ने ले लिया है, अपने स्वार्थ के लिए, अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने के लिए मनुष्य आज सत्य का सवसे पहले वध करता है। पिछले महायुद्ध का सारा इतिहास डके की चोट यही सिद्ध कर रहा है। हमारे अपने देश मे सन् '४२ के वाद जो कुछ हुआ, उसमें शासको की ओर से असत्य को ही सत्य सिद्ध करने की अनहद चेष्टा रही। सफेद को काला और काले को सफेद दिखाने की यह कसरत कितनी व्यर्थ थी, कितनी हास्यास्पद, सो तो आज सारी दुनिया जान गई है, फिर भी शासको ने इसी का सहारा लिया, क्योकि उनका सकुचित स्वार्थ उन्हें ऐसा करने के लिए वाध्य कर रहा था। आज भी देश मे और दुनिया मे इसी असत्य की प्रतिष्ठा वढाने के अनेक सगठित प्रयत्न हो रहे हैं। ऐसी दशा में गाधी जी की ही एक आवाज है, जो निरन्तर उच्च स्वर से सारे ससार को कह रही है कि हिंसा से हिंसा को और असत्य से असत्य को नही हराया जा सकता। यही कारण है कि उन्होने सदियो की गुलामी से सत्रस्त भारतवर्ष को सत्य और अहिंसा का नया प्राणवान् सन्देश दिया है। और उनके इस सन्देश का ही यह प्रताप है कि सदियो से सोया हुआ और अपने को भूला हुआ भारत पिछले पच्चीस वर्षो में सजग भाव से जाग उठा है और उसने अपने को—अपनी आत्मा को—पा लिया है। अव ससार की कोई शक्ति उसको स्वाधीनता के पथ से डिगा नही सकती।

जहाँ सत्य और अहिंसा है, वहाँ अस्तेय तो है ही। जो सत्य का उपासक है और अहिंसा का व्रती है, वह चोर कैसे हो सकता है? चोरी को वह कैसे प्रश्रय दे सकता है? और चोर कौन है? वही, जो दूसरो की कमाई पर जीता है, जो खुद हाथ-पैर नही हिलाता और दूसरो से अपना सव काम करवा कर उनसे मनमाना फायदा उठाता है, जो ग़रीबो और असहायो का शोषण करके अपनी अमीरी पर नाज़ करता है, जो धनकुबेर होकर भी अपनी ज़रूरतो के लिए अपने सेवको का गुलाम है, जो झूठ-फरेव से और धोखाधडी से भोले-भाले निरीह लोगो को लूट कर अपना स्वार्थ सीधा करता है और राज व समाज मे झूठी प्रतिष्ठा पा जाता है। गीता के शब्दो में ये सव पाप कमाने और पाप खाने वाले है, जिनकी असल मे समाज के वीच कोई प्रतिष्ठा नही होनी चाहिए। प्रतिष्ठा की यह जो विकृति आज नज़र आती है, उसका एक ही कारण है—कुशासन। शासन चाहे अपनो का हो, चाहे परायो का, जव वह सुशासन मिटकर कुशासन का रूप धारण कर लेता है तो लोक-जीवन पर उसका ऐसा ही अवाछनीय प्रभाव पडता है। आज के हमारे चोर वाज़ार और काले वाज़ार इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है। आज तो शासन का आधार ही गलत हो गया है। शासन का लक्ष्य आज प्रजा का सवर्द्धन, सगोपन, और सपोषण नही रहा। शासन तो आज लूट पर उतारू है। शोषण, उत्पीडन, दमन इसके हथियार है और वह निरकुश भाव से प्रजा पर सव का प्रयोग कर रहा है। शासन की इस उच्छृङ्खलता को रोकने का एक ही उपाय है, और वह है, समाज के वीच अस्तेय की अखड प्रतिष्ठा।

जव प्रजा स्थूल और सूक्ष्म, सव प्रकार की चोरी से घृणा करने लगेगी, व्रतपूर्वक उससे मुँह मोड लेगी, तो राजा को, शासकको, शासनसत्ता को विवश भाव से प्रजा के अनुकूल वनना पडेगा। पुरानी उक्ति है, 'यथा राजा तथा प्रजा'। आज हमें इस उक्ति को वदलना है। नये युग की नई उक्ति होगी 'यथा प्रजा तथा राजा।' और जव राजा ही न रहेंगे, तव तो 'यथा प्रजा, तथा प्रजा' की उक्ति ही सर्वमान्य हो जायगी। जव उद्बुद्ध प्रजा स्वय अपना शासन करेगी तो वहुत सोच-समझ कर ही करेगी और तव वह अयथार्थ को यथार्थ की, अयोग्य को योग्य की और मिथ्या को सत्य की प्रतिष्ठा कभी न देगी। यही गाधी जी का स्वप्न है और इसीलिए वे समाज में और राज में अस्तेय को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। उनका यह सदेश अकेले भारत के लिये नही, अखिल विश्व के लिये है। आज उसकी भाषा में दुनिया के जो देश सभ्य और सम्पन्न माने जाते हैं, वे ही छद्मवेश में चोरी के सवसे वडे पृष्ठपोषक हैं। अपने अधीन देशो का सर्वस्वापहरण करने में जिस कूट वुद्धि और कुटिल नीति से वे काम लेते हैं, ससार के इतिहास मे उसकी कोई मिसाल नही। इस सर्वव्यापी स्तेय भावना का प्रतिकार करके विश्व में अस्तेय की प्रतिष्ठा वढाने के लिए अस्तेय के व्रतधारियो की एक सेना का सगठन जरूरी है। गाधी जी आज इसी की साधना में निरत है।

जहाँ सत्य है, अहिसा है और अस्तेय है, वहाँ ब्रह्मचर्य को आना ही है। गाधी जी लिखते हैं "ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की—सत्य की—शोध में चर्या, अर्थात् तत्सम्वन्धी आचार। इस मूल अर्थ से सर्वेन्द्रिय-सयम का विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेन्द्रिय-सयम के अधूरे अर्थ को तो हमें भूल ही जाना चाहिए।" वे आगे और लिखते हैं "जिसने सत्य का आश्रय लिया, जो उसकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे, तो व्यभिचारी वन जाय। फिर विकार की आराधना तो की ही कैसे जा सकती है? जिसके सारे कर्म एक सत्य के दर्शन के लिए ही हैं, वह सन्तान उत्पन्न करने या घर-गिरस्ती चलाने में पड ही कैसे सकता है? भोग-विलास द्वारा किसी को सत्य प्राप्त होने की आज तक एक भी मिसाल हमारे पास नही है। अहिंसा के पालन को लें, तो उसका पूरा-पूरा पालन भी ब्रह्मचर्य के विना असाध्य है। अहिंसा अर्थात् सर्वव्यापी प्रेम। जिस पुरुप ने एक स्त्री को या स्त्री ने एक पुरुप को अपना प्रेम सौंप दिया उसके पास दूसरे के लिए क्या वच गया? इसका अर्थ ही यह हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सव वाद को।' पतिव्रता स्त्री पुरुप के लिए और पत्नीव्रती पुरुष स्त्री के लिए सर्वस्व होमने को तैयार होगा, इससे यह स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेम का पालन हो ही नहीं सकता। वह सारी सृष्टि को अपना कुटुम्व वना ही नहीं सकता, क्योंकि उसके पास उसका अपना माना हुआ एक कुटुम्व मौजूद है या तैयार हो रहा है। जितनी उसकी वृद्धि, उतना ही सर्वव्यापी प्रेम मे विक्षेप होगा। सारे जगत् में हम यही होता हुआ देख रहे हैं। इसलिए अहिंसाव्रत का पालन करने वाला विवाह के वन्धन मे नही पड सकता, विवाह के वाहर के विकार की तो वात ही क्या?"

यह है गाधी जी की कल्पना का ब्रह्मचर्य! ब्रह्म की अर्थात् सत्य की शोध में जीवन का यह सकल्प, यह व्रत, कितना उदात्त है, कितना भव्य! देश-काल की कोई सीमा इसे वाँध नही सकती। मानव-जीवन का यह शाश्वत और सनातन धर्म है, जिसके भरोसे दुनिया आज तक टिकी है। गाधीजी स्वभाव से गगनविहारी हैं। असीम की, अनन्त की, अखड और अविभाज्य उपासना उनका जीवन-ध्येय है। वे अपने को अद्वैतवादी कहते हैं और उनके अद्वैत मे सारा ब्रह्माड समाया हुआ है। अणु-परमाणु से लेकर जड-चेतन, स्थावर-जगम, सभी कुछ उनकी चिन्ता का, उपासना का विषय है। वे सव का हित, सव का उत्कर्ष चाहते हैं। सव के कल्याण के लिए अपनी अशेष शक्तियो का विनियोग उनके जीवन की प्रखर साधना रही है। उनके लिए सव कोई अपने हैं, पराया कोई नहीं। जिस परम सत्य की शोध मे उनके जीवन का क्षण-क्षण वीतता है, उसी ने उनको अजातशत्रु वनाया है। वे अपने कट्टर-से-कट्टर विरोधी को भी अपना शत्रु नही मानते। उसके प्रति मन मे किसी तरह का कोई शत्रुभाव नही रखते। मनुष्य की मूलभूत अच्छाई में उनकी श्रद्धा अविचलित है, इसीलिए दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्ति को भी वे अपना वन्धु और

मित्र समझते है और अपनी ओर से सदा बन्धुत्व का ही उपहार उसे देते हैं—वह चाहे उसे ग्रहण करे, चाहे ठुकराये। इस विषय मे अनासक्ति ही गाधी जी का नियम है। भगवान् कृष्ण के इस वचन में उनकी श्रद्धा कभी डिगी नही—"न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति" अर्थात् जो कुछ भी कल्याण-भावना से किया जाता है, वह कभी दुर्गति को प्राप्त नही होता। और कल्याण-भावना तो गांधी जी के रोम-रोम में रमी है।

अपने जीवन के ये पिछले चालीस वर्ष गाधी जी ने अखड ब्रह्मचर्य के साथ विताये है। उनके ब्रह्मचर्य में जडता, प्रमाद, स्वार्थ, सकुचितता, अहमन्यता और कट्टर धर्मान्धता को कोई स्थान नहीं। यो दुनिया मे आज नामधारी ब्रह्मचारियो की कमी नही है। सभी देशो में, सभी खडो में, वे पाये जाते है, पर उनमें गाधी जी-सा प्रतापी, प्रखर व्रतधारी, निरन्तर विकासमान ब्रह्मचारी आज कहाँ है? और गाधी जी का यह ब्रह्मचर्य भी किसको समर्पित है? जनता-जनार्दन को, दरिद्रनारायण को, विश्व की दुर्वल, दलित मानवता को! उसी को ऊपर उठाने, उसीको सुखी बनाने के लिए ब्रह्मचारी गाधी आज सौ नहीं, सवा सौ वर्ष जीना चाहता है। पिछले पचास वर्षों की तीव्र और उग्र तपस्या ने यद्यपि शरीर को जर्जर बना दिया है, फिर भी गाधी जी जीवन से निराश नहीं, जीवन के सघर्षों से हताश नहीं। जीवन उनको आज भी कमनीय मालूम होता है। वे उससे उकताये नही, ऊबे नहीं। जैसे-जैसे वे उमर में वढते जाते है, जीवन का मर्म उनके सामने खुलता जाता है और वे जीवन के अलौकिक उपासक वनते जाते है। यो हमारे देश में और दुनिया में १००, १२५, १५० साल की लम्वी उमर पाने वाले स्त्री-पुरुष दुर्लभ नही है। पर उनमें और गाधी जी में एक मौलिक भेद है। गाधी जी ने अपने लिए जीना छोड दिया है। वे आज विश्व-मानव की कोटि को पहुँचे है, विश्व के गुरुपद को प्राप्त हुए है, सो यो ही नही हो गये। विश्व के लिए जीना ही उनके जीवन की एकमात्र साध रही है और इसीलिए मानव-जीवन में उन्होने नये अर्थों और नई भावनाओं के साथ ब्रह्मचर्य को प्रतिष्ठित किया है। उनकी व्याख्या का ब्रह्मचारी साधारण कोटि का मानव नही रह सकता। उसे तो निरन्तर उन्नत होना है और मानव-विकास की चरमसीमा तक पहुँचना है।

पराधीन भारत के लिए उसका ब्रह्मचर्य, उसका सत्य, सत्य के लिए उसकी चर्या, सव कुछ स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयत्नो में समा जाता है। आज तो स्वतन्त्रता ही उसकी आराधना का एकमात्र लक्ष्य हो सकता है; स्वतन्त्रता रूपी सत्य का साक्षात्कार किये विना वह परम सत्य की शोध में एक डग भी आगे नही वढ़ सकता। यही कारण है कि गाधीजी-जैसो को आज देश की स्वतन्त्रता के महान् यज्ञ का अध्वर्यु वनना पडा है। उनके जीवन का यह एक दर्शन है। अनुभव से उन्होने इसे जाना-माना है कि जव तक मनुष्य अपने तई स्वतन्त्र नही, वह सत्य की सम्पूर्ण साधना कर ही नही सकता। जिसके चारो ओर वन्धनो का जाल विछा है, जो अपने आप में जकडा पडा है, जिसे न हिलने-डुलने की स्वतन्त्रता है, न वोलने-वतलाने की, जिसके कदम-कदम पर रुकावटो के पहाड अडे है, वह सत्य की शोध में कैसे लीन होगा? कैसे उसे सत्य के दर्शन हो सकेंगे? और वाहर के वन्धनो के साथ-साथ अपने अन्दर के वन्धनो से भी तो मुक्ति पाना आवश्यक है। दोनों स्वतन्त्रताएँ साथ-साथ चलनी चाहिएँ, अन्यथा काम वन ही नही सकता, शोध पूरी हो ही नहीं सकती। यो कहने को आज दुनिया में कई देश हैं, जो स्वतन्त्र कहे जाते है, वाहर की कोई सत्ता उन पर हावी नही, फिर भी वे सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र तो नही हैं, उनकी आत्मा अनेक वन्धनो से जकडी हुई है, विकारा से ग्रस्त है। स्वार्थ उनका आसुरी वन गया है और महत्त्वाकाक्षाओ ने हद छोड दी है। वे आज ससार के लिए अभिशाप वन गये हैं। उनकी वह तथाकथित स्वतन्त्रता ससार के लिए तारक नही, मारक वन रही है। यह स्वतन्त्रता का वडा कुत्सित रूप है, भयावना और घिनौना! हमें इससे वचना है। इस मृगजल से सावधान रहना है और इसका एक ही उपाय है कि हम अन्तर्वाह्य स्वतन्त्रता की सच्चे दिल से उपासना करें। एक-दो की इक्की-दुक्की उपासना से सारे विश्व की इस विभीषिका का अन्त नहीं हो सकता। करोडो को एक साथ सामूहिक रूप से ऊपर उठना होगा और निर्मल स्वतन्त्रता की उपासना में लगना पडगा। यह कैसे हो? जीवन में स्वार्थ को गौण और परमार्थ को प्रधान पद देने से ही इसका रास्ता खुल सकता है। छोटे-वडे, अमीर-गरीव,

विवाहित-अविवाहित सभीको इस रास्ते धीर-धीर गति से जाना है। सत्य किसी एक की बपौती नहीं। वह सब का है और सब को उसकी उपलब्धि करनी है। बालब्रह्मचारी ही सत्यान्वेषक बने और बाल-बच्चों वाला गृहस्थ सत्य से विमुख रहे, ऐसा कोई नियम नहीं। ब्रह्मचारी, गृही, वनी, सन्यासी सभी सत्य के अधिकारी है और सब को उसका साक्षात्कार होना चाहिए। इसीलिए गांधी जी कहते है "तब जो विवाह कर चुके है, उनकी क्या गति ? उन्हें सत्य की प्राप्ति कभी न होगी ? वे कभी सर्वार्पण नही कर सकते ? हमने इसका रास्ता निकाला ही है—विवाहित अविवाहित-सा हो जाय। इस बारे मे इससे बढकर मुझे दूसरी बात मालूम नहीं। इस स्थिति का आनन्द जिसने लूटा है, वह गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोग की सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुष का एक- दूसरे को भाई-बहन मानने लग जाना सारे झगडो से मुक्त हो जाना है। ससार भर की सारी स्त्रियाँ बहने है, माताये है लडकियाँ है—यह विचार ही मनुष्य को एकदम ऊँचा ले जाने वाला है। उसे बन्धन से मुक्त कर देने वाला हो जाता है। इसमे पति-पत्नी कुछ खोते नही, उलटे अपनी पूजी बढाते है, कुटुम्ब बढाते है। प्रेम भी विकार रूपी मैल को निकाल डालने से बढता ही है। विकार के चले जाने मे एक-दूसरे की सेवा भी अधिक अच्छी हो सकती है, एक दूसरे के बीच कलह के अवसर कम होते है। **जहाँ स्वार्थी, एकागी प्रेम है, वहाँ कलह के लिए ज्यादा गुजाइश है।"**

'जहाँ स्वार्थी, एकागी प्रेम है, वहाँ कलह के लिए ज्यादा गुजाइश है', इस एक वाक्य में गाधी जी ने अपने समय की मानवता को अमर सन्देश दिया है। मानव-जीवन के सभी क्षेत्रो मे आज कलह नाम की जिस चीज ने ताडव मचा रक्खा है, यह स्वार्थ ही उसका एकमात्र सूत्रधार है और इसकी विभीषिका का कोई अन्त नही। घर मे, समाज मे, राष्ट्र मे और विश्व मे आज सर्वत्र इसी की तूती बोलती है और छोटे-बडे, अमीर-गरीब, ऊँच-नीच, पढे-अनपढे सभी इसके पीछे पागल है—इसकी मोहिनी से मुग्ध। इसीके कारण आज का हमारा पारिवारिक जीवन छिन्न-विच्छिन्न हो गया है, समाज ने उच्छृङ्खलता धारण करली है, राष्ट्रो ने आसुरी भाव को अपना लिया है और विश्व की शान्ति, उसका ऐक्य सकट मे पड गया है। विज्ञान ने यद्यपि दुनिया को एक कर दिया है, पर स्वार्थ अब भी उसे खड-खड किये हुए है और उसने विज्ञान को भी अपना चाकर बना लिया है। बडे-बडे वैज्ञानिक आज स्वार्थ के शिकार होकर राष्ट्र-राष्ट्र के बीच शत्रुता की खाई को चौडा करने मे लगे है और शुद्ध, सात्विक, सर्व-हित-कारी विज्ञान की उपासना मे कोसो दूर जा पडे है। ऐसे समय एक महान् वैज्ञानिक की-सी सूझ-बूझ के साथ गाधी जी विश्व को नि स्वार्थ और सर्वव्यापी प्रेम का पावन सन्देश सुना कर उसे सच्चे मार्ग पर लाने और चलाने की कोशिश मे लगे है। विश्व की मानवता को गाधी जी की यह एक अनमोल देन है।

नि स्वार्थ और सर्वव्यापी प्रेम की इस अलौकिक उपासना ने ही गाधी जी को अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य की भावना के साथ-साथ अस्वाद, अपरिग्रह, शरीरश्रम, निर्भयता, सर्वधर्मसमभाव, स्वदेशी और अस्पृश्यता-निवारण का व्रती बनाया है और उनकी इस युगानुयुग-व्यापिनी, अविचल, और सतत व्रतनिष्ठा ने देश के लाखो उद्बुद्ध नर-नारियो को वैसा व्रती जीवन बिताने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है। यही नही, दूर-पास के विदेशो मे भी अनेको ऐसे है, जो इस क्षेत्र मे गाधी जी को अपना गुरु मानते है और उनके बताये जीवन-पथ पर चल कर अपने को धन्य अनुभव करते है। इनमे विश्वविख्यात वैज्ञानिक, विचारक, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, धर्मगुरु, महन्त, सन्त, समाज सुधारक, लोकनेता, लोक-सेवक, पडित-अपडित, अमीर-गरीब, स्वाधीन-पराधीन, सभी शामिल हैं। सब समान भाव से गाधी जी के प्रति अनुरक्त है और कृतज्ञ भाव से उनका पदानुसरण करने में व्यस्त।

गाधी जी के इस विराट् व्यक्तित्व का क्या कारण है ? उनमे विश्व-मानव का यह ऐसा अलौकिक विकास कैसे हुआ ? वे विश्व-पुरुष की कोटि को कैसे पहुँचे ? इन सब का एक ही उत्तर है शून्यता। अपने को मिटा कर शून्य बना लेने की एक अद्भुत कला गाधी जी ने अपने अन्दर विकसित की है। शून्य की उनकी यह नि सीम उपासना ही आज उनको ससार की सर्वश्रेष्ठ विभूति बनाये हुए है। इस शून्यता ने ही उनकी महानता को इतना

उन्नत किया है। यो देखा जाय तो वे कहीं कुछ भी नहीं है। फिर भी उनका व्यक्तित्व इतना व्यापक हो गया है कि वे सबके सब कुछ बन बैठे है। कहने को वे काग्रेस के चवन्नी सदस्य भी नही, पर काग्रेस सारी उनमें समा गई है—उनके बिना काग्रेस एक डग आगे नहीं बढा पाती। यो वे स्वय अपने को किसी का प्रतिनिधि नहीं मानते, पर ससार की दृष्टि में आज अकेले वे ही सारे भारत के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि है। जहाँ भी, जब कभी भी, किसी राजनैतिक या साम्प्रदायिक या अन्य किसी गुत्थी को सुलझाने का प्रश्न आता है, गाधी को आगे होना पडता है। उनके बिना पत्ता नही हिलता। किसी महान् राष्ट्र के जीवन में एक व्यक्ति की यह ऐसी अनिवार्यता अद्भुत है। इतिहास में इसकी कोई मिसाल नही।

इसीके कारण कुछ लोग भ्रमवश गाधी जी को भारत का निरकुश तानाशाह कहते है और उनकी तानाशाही की जी भर कर निन्दा करते है। पर गांधी में तानाशाही की तो बू भी नही है। तानाशाही का सारा इतिहास कहता है कि उसकी जड में हिंसा भरी है। बिना हिंसा के वह कहीं टिकी, बढ़ी और पनपी ही नही। और गाधी जी तो हिंसा के परम विरोधी है। वे तो जड-चेतन सब को परमात्मा की पवित्र कृति मानते है और अत्यन्त कोमल भाव से सब की रक्षा में सलग्न रहते है। जिसके लिए चीटी तक अवध्य है, जो उसमें भी अपने प्रभु के दर्शन करता है, वह प्रचलित अर्थ में तानाशाह कैसे हो सकता है? जो मानवता को जिलाने और तारने आया है, वह तानाशाह कैसा? जो हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि गाधी जी की विश्वव्यापी लोकप्रियता ने उनके कई स्वार्थान्ध विरोधियो और आलोचको को मूढ बना दिया है और वे अपने तरकश के हर तीर से गाधी को नीचे गिराने की, अपनी सतह पर लाने की कोशिश में लगे है। पर गाधी इन सब बातो से इतना ऊपर है कि उस तक ये कभी पहुँच ही नहीं पातीं।

गाधी जी ने मानवता को कभी खड-खड करके नही देखा। अपने समय के वे सबसे बडे समन्वयकारी व्यक्ति है। जोडना उनके जीवन का लक्ष्य है। तोड-फोड से उन्हें कोई रुचि नही। हाँ, जोडने के लिए जितनी तोड-फोड़ जरूरी है, उतनी तो वे नि शक भाव से करते ही आये है। इसमें उनके पैर कभी पीछे नहीं पडे। इस दृष्टि से देखें तो गाधी जी के जैसा कोई विध्वसक भी नही। पर उनका विध्वस भी सृजनात्मक होता है। विध्वस के लिए विध्वंस से उन्हे कोई मतलब नही, बल्कि वे उसके घोर विरोधी है। यह गाधी जी की ही प्रखर तपस्या का प्रताप है कि आज भारत का नाम विश्व के बडे-बडे देशो के नाम के साथ सम्मानपूर्वक लिया जाता है। यो विश्व के साथ भारत को जोडने में गाधी जी को यहाँ का बहुत-कुछ तोडना भी पडा है। हिन्दुस्तान के सार्वजनिक जीवन में गाधी जी के आगमन से पहले यहाँ का सामाजिक जीवन अनेक तग कोठरियो में बन्द पडा था और इधर की हवा उधर पहुँच नहीं पाती थी। राष्ट्र के जीवन मे बारह कनौजिये और तेरह चूल्हे वाली मसल चरितार्थ हो रही थी। जात-पाँत, धर्म-सम्प्रदाय, ऊँच-नीच, छूत-अछूत, अमीर-ग़रीब, पढ-अनपढ की अनेक अभेद्य दीवारें भारत की मानवता को सैकडो खडो में विभक्त किये हुए थी और किसी का किसी से कोई जीवित सम्पर्क नही था। सब एक-दूसरे के अभावों-अभियोगो के उदासीन दर्शक बने हुए थे। राष्ट्र का जीवन एक जगह बँध गया था और सडने लगा था। उसमें प्रवाह की ताजगी नहीं रह गई थी। गाधी जी ने दक्षिण अफ्रीका से हिन्दुस्तान आते ही इस असह्य परिस्थिति को भाँप लिया और वे एक दिन की भी देर किये बिना इसके प्रतीकार के यत्न में लग गये। उन्होने अपनी आर्षदृष्टि के सहारे भारत की सारी मानवता को उसके समग्र रूप मे देखा-परखा और वे उसके सामूहिक उत्थान के लिए सचेष्ट हो गये। उनकी इसी भगीरथ चेष्टा ने राष्ट्र को अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह के महान् अस्त्र दिये और दिया वह चौदह-पन्द्रह प्रकार का रचनात्मक कार्यक्रम, जिसकी अमोघ शक्ति ने बेसुध भारत को सुध-बुध से भर दिया और उसकी बिखरी ताकत को इकट्ठा करके इतना मजबूत बिना दिया कि अब ससार की कोई उद्दड से उद्दंड शक्ति भी उसका सामना नही कर सकती। आज काश्मीर से कन्याकुमारी तक और द्वारिका से डिबरूगढ़ तक सारा भारत एक तार बन गया है, चालीस करोड नर-नारी एक साथ सुख में और दु ख में, हानि और लाभ में, एक-सा स्पन्दन अनुभव करने लगे है, धर्म, मत, पन्थ, जात-पाँत, प्रान्त, पक्ष, भाषा आदि की जो दीवारें एक को दूसरे से अलग किये

हुए थी, वे वहुत कुछ ढह गई है और रही-सही जल्दी ही ढह जाने को है। इस सब के कारण देश एक प्रचड शक्ति से भर उठा है और चूकि वह शक्ति शान्त अहिंसा की स्निग्ध शीतल शक्ति है, सारा ससार उसकी ओर वडे कुतूहल के साथ आश्चर्य-विमुग्ध भाव से देख रहा है। ससार की साम्राज्यवादिनी शक्तियाँ इस नई शक्ति के विकास को भय और विस्मय के साथ देख रही हैं और अपने भविष्य के विषय में चिन्तित हो उठी है। यह सब इन पच्चीस वर्षों में हुआ है और इसका अधिकाश श्रेय गाधी जी के दूरदर्शितापूर्ण नेतृत्व को और उनकी एकान्त ध्येयनिष्ठा को है। इससे पहले देश की सारी शक्तियाँ विखरी हुई थी और उनको एक सूत्र में पिरो कर अप्रतिहत शक्ति से अभिषिक्त करने वाला कोई नेतृत्व देश के सामने नही था। साम्राज्यवाद के चगुल से छूटने की छुटपुट कोशिशें देश में जहाँ-तहाँ अवश्य होती थी, लेकिन उनके पीछे सारे देश की शक्ति का सगठित वल न होने से वे या तो असफल हो जाती थी या शासको द्वारा निर्दयतापूर्वक विफल कर दी जाती थी। देश सामूहिक रूप से आगे नही वढ पाता था। वहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा की त्रिसूत्री ने देश में नवचेतन का सचार अवश्य किया, किन्तु उससे स्वातन्त्र्य युद्ध के लिये देश की शक्तियो का समुचित सगठन नही हो पाया. गाधी जी ने देश की इस कमी को तीव्रता के साथ अनुभव किया और देश में छाई हुई निराशा, जडता और भीरुता का नाश करने के लिए उन्होने देश के एक ओर अहिंसक सत्याग्रह का सन्देश सुनाया और दूसरी ओर जनता को स्वावलम्वी वनाने के लिए, उसमें फैली हुई व्यापक जडता, आलस्य और परमुखापेक्षिता का नाश करने के लिए, उन्होने रचनात्मक कार्य का विगुल वजाया। देश की मूलभूत दुर्वलताओ को उन्होने समग्र रूप से देखा और उनका प्रतिकार करने के लिए साम्प्रदायिक एकता, अस्पृश्यता-निवारण, मद्यनिषेध, खादी, ग्रामोद्योग, ग्राम-आरोग्य, गोसेवा, नई या वुनियादी तालीम, प्रौढ-शिक्षण, स्त्रियो की उन्नति, आरोग्य और स्वच्छता की शिक्षा, राष्ट्रभाषा-प्रचार, स्वभाषा-प्रेम, आर्थिक समानता, आदिवासियो की सेवा, किसानो, मज़दूरो और विद्यार्थियो का सगठन आदि के रूप में देश के सामने एक ऐसा व्यापक कार्य-क्रम रक्खा कि देश की उद्वुद्ध शक्तियाँ उसका सहारा पाकर राष्ट्रनिर्माण के इस भौतिक काम मे तन-मन-धन के साथ एकाग्र भाव से जुट गई और देखते-देखते देश का नकशा वदलने मे सफल हुई। अनेक अखिल-भारतीय सस्थाओ का सगठन हुआ—चर्खा-सघ, ग्रामोद्योग-सघ, तालीमी-सघ, हरिजन-सेवक-सघ, गोसेवा-सघ, कस्तूरवा स्मारक निधि आदि के रूप में देशव्यापी पैमाने पर राष्ट्रनिर्माण का काम शुरू हुआ और कार्यकर्त्ताओ की एक मँजी हुई सेना इनके पोषण-सवर्धन में जुट गई। जहाँ-तहाँ यह रचनात्मक काम जम कर हुआ, वहाँ-वहाँ सर्वसाधारण जनता में एक नया प्राण प्रस्फुटित हो उठा और जनता नये आदर्श की सिद्धि में प्राणपण से जुट गई। निराशा, जडता और भीरुता का स्थान अदम्य आशावाद ने ले लिया। लोग सजग हो गये। उनका स्वाभिमान प्रवल हो उठा। वे साम्राज्यवाद के आतक-चिह्नो से भयभीत रहना भूल गये और फाँसी, जेल, वन्दूक, तोप, मशीनगन, ज़मीन-जायदाद की ज़व्ती, जुर्माना, जुल्म, ज़्यादती, सव का अटल भाव से निर्भयता-पूर्वक सामना करने लगे। जो लोग खाकी पोशाक और कोट-पैंट-टोप से भडकते थे, उन्हें देख कर सहम उठते थे, वे ही खादी की पोशाक में सज्ज होकर आज खाकी वालो के लिए खतरे की चीज़ वन गये हैं और दूर से दूर देहात में भी अव खाकी वालो का ग्राम-जनता पर वह पुराना आतक नहीं रह गया। लोग अव डट कर इनकी ज्यादतियो का सामना करते हैं और इनकी चुनौतियो का मुँहतोड जवाव देते हैं। सदियो से सोये हुए देश की जनता का पाव सदी में, पच्चीस वरस के अन्दर, यो उठ खडा होना और अपने शासको का शान्त भाव से धीरता-वीरतापूर्वक सामना करना, इस युग का एक चमत्कार ही है और इस चमत्कार के कर्त्ता हैं गाधी जी।

गाधी जी का जीवन आदि से अव तक चमत्कारो का जीवन रहा है। चमत्कारो की एक लडी-सी, एक परम्परा-सी, उनके जीवन में उतर आई है। और ये सव चमत्कार काल्पनिक या हवाई नही, वल्कि इस जग के प्रत्यक्ष और प्रमाणित चमत्कार है। कोई इनकी सचाई से इनकार नही कर सकता, इनकी वास्तविकता के विषय मे सदिग्ध नही रह सकता। दक्षिण अफ्रीका से इन चमत्कारो का श्रीगणेश हुआ और भारत में ये अपनी पराकाष्ठा को पहुँचे।

आज भी इनकी परम्परा टूटी नही है। एक काले कुली बैरिस्टर का विदेश मे विरोधी, विद्वेषी और मदान्ध लोगो के बीच न्याय और सत्य के लिए अकेले अविचल भाव से जूझना, स्थापित सत्ता और स्वार्थ के विरुद्ध शान्त सत्याग्रह के शस्त्र का सफलता-पूर्वक प्रयोग करना, अपने हज़ारो-लाखो देशवासियो मे स्वाभिमान की प्रखर भावना उत्पन्न करना, बच्चो, बूढो नौजवानो और स्त्रियो तक को अहिंसक सेना का सैनिक बना कर उन्हें त्याग, बलिदान और कष्ट सहन के लिए तैयार करना, कोई मामूली चमत्कार न था। सारी दुनिया इस शान्त-क्रान्ति के समाचारो से थर्रा उठी थी और हिन्दुस्तान में तो इसने एक नई ही चेतना उत्पन्न कर दी थी। सारा देश इस नई क्रान्ति के द्रष्टा का उल्लासपूर्वक जय-जयकार कर उठा और कल का बैरिस्टर गाधी आज का कर्मवीर गाधी बन गया! और सन् १९१४ में गाधी जी त्याग और तप के प्रतीक बनकर दक्षिण अफ्रीका मे हिन्दुस्तान आये। आते ही वीरमगाम का प्रश्न हाथ मे लिया और विजयी बने। फिर सन् १७ मे उन्होने चम्पारन के निलहे गोरो के अत्याचारो की बाते सुनी और वे उनका प्रतिकार करने के लिए अकेले वहाँ जा बसे! उनका जाना सफल हुआ। निलहो का अत्याचार मिटा। चम्पारन वालो ने सुख की साँस ली। देश को अत्याचारी का सामना करने के लिए एक नया और अनूठा हथियार मिला। सन् १८ मे गुजरात मे अहमदाबाद के मज़दूरो को न्याय दिलाने का सवाल खडा हुआ। गाधी जी ने उनका नेतृत्व सँभाला। उनकी टेक को निबाहने के लिए स्वय उपवास किये। मज़दूर डटे रहे। मालिक झुके। झगडा निपटा। अहमदाबाद में अहिंसक रीति से मज़दूरो की सेवा का सूत्रपात हुआ और आज अहमदाबाद का मज़दूर-सघ देश के ही नही, दुनिया के मज़दूर-सघो में अपने ढग का एक ही है। और अब तो सारे देश मे वह अपनी शाखा-प्रशाखाओ के साथ हिन्दुस्तान मज़दूर सेवक सघ की छाया तले फैलता चला जा रहा है। अहमदाबाद के बाद उसी साल गुजरात के खेडा ज़िले मे वहाँ के किसानो का लगान सम्बन्धी सवाल उठा। गाधी जी किसानो के नेता बने। उन्होने लगान-बन्दी की सलाह दी। लोग डट गये। सरकार ने दमन शुरू किया। लोग नही झुके। सरकार को झुकना पडा। झगडा मिट गया। गाधी जी का अस्त्र अमोघ सिद्ध हुआ। सारे देश में उसका डका बज गया और फिर तुरन्त ही एक साल बाद १९१९ में काले कानून का ज़माना आया। रौलट एक्ट बना। गाधी जी ने उसके विरोध मे देशव्यापी सत्याग्रह सगठित किया। सारे देश ने विरोध मे उपवास रक्खा, प्रार्थना की, हडतालें हुई, सभाओ मे विरोध प्रस्ताव पास हुए। सविनय कानून भग का सूत्रपात हुआ। और इन्ही दिनो अमृतसर का जलियाँ वाला बाग शहीदो के खून मे नहा लिया। सारा पजाब सरकारी आतक-लीला का नग्न-क्षेत्र बन गया। देश इस चोट से तिलमिला उठा। गाधी जी सहम उठे। उन्होने अपनी हिमालय-सी भूल कबूल की और अपने सत्याग्रह-अस्त्र को लौटा लिया। सन् '२० में दूसरा देशव्यापी अहिंसक असहयोग का आन्दोलन शुरू हुआ। 'यग इडिया' और 'नवजीवन' के लेखो ने देश में नया प्राण फूक दिया। खिलाफत के सिलसिले मे देश ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के अनूठे दृश्य देखे। असहयोग का ज्वार आया। नौकरो ने नौकरियाँ छोडी। विद्यार्थियो ने स्कूलो और कॉलेजो से सम्बन्ध तोडा। वकीलो ने वकालत छोडी। सरकारी उपाधियो का बहिष्कार हुआ। कोर्ट, कचहरी, कॉलेज, कौन्सिल सब सूने नज़र आने लगे। विदेशी वस्त्रो का बायकाट बढा। होलियाँ जली। गाधी जी ने बारडोली में लगान-बन्दी का ऐलान किया कि इतने में चौरीचौरा का वह भीषणकाड घटित हो गया और गाधी जी ने इस सत्याग्रह को भी रोक दिया। वे गिरफ्तार हुए और उनको छ साल की सज़ा हुई। फिर सन् चौबीस में त्रावणकोर राज्य के अछूतो को न्याय दिलाने के लिए वायकोम सत्याग्रह हुआ। शुरू में सरकार ने सनातनियो का साथ दिया। पर अन्त मे वह झुकी और अछूतो को अपने अधिकार मिले। सन् '२७ मे मद्रास वालो ने जनरल नील के पुतले को हटाने के लिए सत्याग्रह शुरू किया। गाधी जी उसके समर्थक बने। कुछ दिनो बाद उनकी सलाह से वह खतम कर दिया गया और सन् ३७ में काग्रेस मन्त्रिमण्डल ने नील के पुतले को हटाकर उसकी पूर्ति की। सन् २८ मे विजयी बारडोली का मशहूर सत्याग्रह शुरू हुआ। सरदार वल्लभभाई पटेल ने उसका नेतृत्व किया। गाधी जी उनके समर्थक रहे। सरकार और किसानो के बीच जोरो का सघर्ष शुरू हो गया। सरकार ने दमन करने मे कसर

न की, जनता ने सहन करने मे कमी न रक्खी। आखिर सरकार को जाँच कमीशन वैठाना पडा और कमीशन ने जनता की माँग को उचित वताया। जनता की जीत हुई। सरकार फिर हारी। फिर सन् ३० का ज़माना आया। रावी के तट पर ३१ दिसम्वर १९२९ की रात को देश सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा कर चुका था। इस सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए गाधी जी ने देश को फिर जगाया। सत्याग्रह का विगुल वजा। गाधी जी १२ मार्च १९३० के दिन स्वतन्त्रता का वरण करने निकल पडे। दोसौ मील पैदल चलकर अपने अस्सी साथियो के साथ दाँडी पहुँचे। वहाँ उन्होने खुल्लमखुल्ला नमक का कानून तोडा और देश भर में नमक-सत्याग्रह की धूम मच गई। एक तरफ निहत्थी जनता के उमडते हुए जोश का ज्वार था और दूसरी तरफ दमन और उत्पीडन के लिए अधीर हुई सरकार का पशुवल जनता के इस जोश को कुचलने मे लगाया। लाखो जेल गये। हज़ारो घायल हुए। सैकडो शहीद वने। देश मे एक तूफान खडा हो गया। सरकार चौंकी। डरी। उसने समझौते का हाथ वढाया। गाधी-इरविन समझौता हुआ और गाधी जी देश के प्रतिनिधि वन कर लन्दन की गोलमेज़ परिषद् में शामिल हुए। भारत की निहत्थी जनता की यह सबसे वडी नैतिक विजय थी। इसने भारत का नाम ससार में चमका दिया। २८ दिसम्वर '३१ को गाधी जी विलायत से लौटे और सरकार की हठधर्मी के कारण ३१ दिसम्वर को उन्हें फिर देशव्यापी सत्याग्रह की घोषणा करनी पडी। ४ जनवरी '३२ को सरकार ने गाधी जी को गिरफ्तार कर लिया और देश में सत्याग्रह दावानल की तरह भडक उठा। सरकार भी अपने पशुवल के साथ सन्नद्ध हो गई और सघर्ष तीव्र हो उठा। आखिर मई '३३ मे गाधी जी ने सामूहिक सत्याग्रह को स्थगित किया और उसकी जगह व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाया। जुलाई '३४ के वाद यह भी समाप्त हुआ। देश ने वहुत सहा था, वहुत खोया था। उसे ज़रा सुस्ताने की, सँभलने की ज़रूरत थी। गाधी जी ने इस ज़रूरत को महसूस किया और देश को ज़रा दम लेने का मौका दिया। इसके बाद १९३९ मे दूसरा महायुद्ध शुरु हुआ और '४० के अक्तूवर मे गाधी जी ने देश को फिर व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए पुकारा। उनकी पुकार पर देश के तीस हज़ार सत्याग्रहियो ने जेल-यात्रा की और सरकार सोच में पड गई। १९४१ के दिसम्वर में उसने आम रिहाई कर दी और काग्रेस ने फिर सत्याग्रह नही छेडा। इस तरह भिडन्त पर भिडन्त होती रही। जनता दिन-दूनी रात चौगुनी शक्तिसम्पन्न होती गई। उसका आत्मविश्वास वढा। उसके तप-तेज में वृद्धि हुई और वह भीषण सत्वपरीक्षा के लिए तैयार वनी। इस बीच ससार में अनेक उथल-पुथल हुईं। जर्मनी ने रूस तक धावा वोला। जापान ने पर्ल हॉर्वर से लेकर ब्रह्मा तक के सव देशो पर अपना झडा गाड दिया। साम्राज्य-शाही के होश गुम हो गये। सरकार सिटपिटाई। उसने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भेजा। उनकी वात किसी के गले नही उतरी। देश मे और देश के वाहर भारतवासियो की स्थिति उत्तरोत्तर विकट होने लगी। सरकारी दमन शुरू हो गया। शोषण-उत्पीडन की अवधि हो गई। काग्रेस यह सव चुपचाप देख न सकी। गाधी जी से रहा न गया। उन्होने देश को नये सघर्ष के लिए तैयार किया और 'भारत छोडो' के नारे से सारा देश गूज उठा। ८ अगस्त '४२ को 'भारत छोडो' का वह प्रसिद्ध प्रस्ताव पास हुआ और ९ अगस्त के दिन सरकार की वर्वरता देश में सर्वत्र खुल कर खेली। नेता सव वन्द कर दिये गये। दमन की चक्की चल पडी। देश का नया खून इस विभीषिका के लिए तैयार न था। वह इस चुनौती का मुकावला करने को तैयार हो गया और तीन साल तक विना हारे, विना थके, विना डरे, वरावर मुकावला करता रहा। देश ने रावण-राज्य और कंस-राज्य के प्रत्यक्ष दर्शन किये। वगावत की एक प्रचड आँधी ने देश को ओर-छोर से झकझोर दिया। दुनिया दहल उठी। सरकार को खुद अपनी करतूतो पर शरम आने लगी। गाधी जी इस वार भी नही झुके। उन्होने इक्कीस दिन का उपवास करके देश और दुनिया की सोई हुई चेतना को जगाने का पावन प्रयास किया, सरकार के आसुरी भाव को हततेज किया, अपने महादेव और अपनी वा को खो कर भी वे अविजेय वने रहे, उनकी नीलकठता ने देश मे उनके प्रति अनुरक्ति और भक्ति की एक प्रचड लहर उत्पन्न कर दी, सरकार ने वहुत चाहा कि लोग गाधी को भूले, पर उसके सव हथकडे वेकार सावित हुए और आखिर उसे परास्त होना पडा। उसने गाधी को जेल से छोडा। काग्रेस की कार्यसमिति को वन्धनमुक्त किया और

उसके सामने सहयोग का हाथ बढाया। बाद में डेलीगेशन मिशन आया और वह भी अपने उद्देश्य में असफल होकर लौट गया, फिर भी देश के शासन की बागडोर भारतीयो के हाथ में सौंपने की प्रयत्न जारी रहा और अन्तत उसमें सफलता मिल कर ही रही। आज काग्रेस अपनी समस्त शक्ति के साथ देश की एकमात्र प्रिय और प्रतिनिधिसस्था बनी है और लाखो-करोडो उसके इशारे पर अपना सर्वस्व होमने को तैयार है! यह सब चमत्कार किसका है? गाधी जी का।

आज से तीस बरस पहले किसने सोचा था कि सन् '४६ का भारत इतना महान, इतना शक्ति-सम्पन्न, इतना सजग, इतना सगठित, इतना सघर्षप्रिय, इतना धीर-वीर और उदात्त बन जायगा! लेकिन आज वह ऐसा है और उसको ऐसा बनाने में गाधी जी की अलौकिक शक्ति ने अद्भुत काम किया है। अभी भी उनका मिशन सर्वांश मे पूरा नही हुआ है, उन्हें सर्वत्र शतप्रतिशत सफलता नही मिलती है, कई बार उनको पीछे भी हटना पड जाता है, पर वे कभी पराजित नही हुए। उनकी अहिंसा, उनका सत्याग्रह पराजय को जानता नही। उनकी तथाकथित हार भी वास्तव मे जीत ही होती है और जनता का बल उससे बढता है, घटता नही। यह उनके शस्त्र की विलक्षणता है और सदा रहेगी।

गाधी जी के बारे में अब तक हमने बहुत तरह से सोचा। उनके जीवन के अनेक पहलुओ को देखा। अन्त में हमें यही कहना है कि उनमे मर्यादा पुरुषोत्तम राम की मर्यादाशीलता, योगेश्वर कृष्ण की योगनिष्ठा, अहिंसावतार बुद्ध की प्रखर अहिंसा, महावीर स्वामी की निस्पृह दिगम्बरता, ईसा की पावनता और परदुखकातरता, एव पैगम्बर साहब की त्याग-वैराग्य-भरी सादगी और फकीरी ने एक साथ सामूहिक रूप से निवास किया है। उनमें मानवता अपने चरम उत्कर्ष को पहुँची है। वे अवतारो के भी अवतार-से है और आज के विश्व में पुरुषोत्तम भाव मे विश्व-मानव के प्रतीक। आइये, हम सब अपने इस महामानव को विनम्र भाव से प्रणाम करें और परमात्मा से प्रार्थना करे कि वह अभी युगो तक इस देश और दुनिया के लिए हमारे बीच अपनी सम्पूर्ण शक्ति और विभूति के साथ जीने का बल-सबल दे!

बडवानी]

एक निर्माण

[शिल्पगुरु श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की शिल्प-साधना]

श्री कांति घोष

"कलाकार बनने में छ महीने से अधिक की आवश्यकता नही, बशर्ते कि शिक्षार्थी मे कला-प्रतिभा हो।" भारतीय पुनर्जागरण के आचार्य श्री अवनीन्द्रनाथ ने कला-भवन के विद्यार्थियो—अपने शिष्य के शिष्यो—के साथ बातचीत करते हुए ये वाक्य कहे। उस समय वे अपने पिछले जमाने के स्वानुभव का स्मरण कर रहे थे। "अध्यापक अपने विद्यार्थियो के काम में दखल दे, इसमें मुझे आस्था नही है। अध्यापक को केवल राह दिखानी चाहिए, अपने विद्यार्थियो को हठात् किसी ओर विनियुक्त करने का प्रयत्न न करना चाहिए। ऐसा करना बडा घातक सिद्ध होगा। उसे अपने विचारो और कार्य-पद्धति को विद्यार्थियो पर लादना नही चाहिये। विद्यार्थियो को अपने ही ढग से शक्ति विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।" अवनी बाबू ने स्वय भी श्री नन्दलाल और अपने अन्य शिष्यो के साथ इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया था, जिसका परिणाम आज सारी दुनिया जानती है। "लेकिन विद्यार्थियो को ऐसा आभास रहना चाहिए कि गलती होने पर उसे सँभालने के लिए उनके पीछे कोई और है। इसका आश्वासन स्वय अध्यापक की ओर से मिलना चाहिए।"

उन्हे स्मरण हो आया कि किस प्रकार बहुत पहले, जब वे नवयुवक ही थे, उनके चाचा कवि ने बच्चो के लिए कहानी लिखने की सलाह देते हुए कहा था—"जैसे (कहानी) कहते हो, वैसे ही लिखो।" उन्होने यह भी कहा था, "इन कहानियो को सुघड बनाने मे यदि जरूरत हुई तो मै सहायता दूगा।" पहली कहानी लिखी गई—'शकुन्तला कथा'। रवि काका ने सारी कथा ध्यान-पूर्वक देखी। एक सस्कृत श्लोक पर उनकी सम्पादकीय क़लम रुकी और फिर बेरोक आगे बढ गई। कहानी सफल सिद्ध हुई और यह सफलता एक ऐसे स्थान से प्रमाणित हुई, जिससे उन्हें अपनी शक्ति पर भरोसा करने मे सहायता मिली। उन्हें आत्म-विश्वास हुआ और तब से अवनी बाबू की कलम से एक के बाद एक कहानी—निबन्ध और कविता भी—निकलते गये, जिनका बगाली-साहित्य में अप्रतिम स्थान है।

तो भी उनकी कला-शिक्षा बहुत सरल न थी। उन दिनो 'भारतीय कला' नाम की कोई वस्तु ही नही थी। अजन्ता यदि कल्पना नही तो स्मृति का विषय ही था। दक्षिण से श्री रविवर्मा कलकत्ता आर्ट-स्टुडियो से मिलकर ग्राम्य अभिरुचि को मुग्ध करने वाली शैली द्वारा भारत की कला-क्षुधा को शान्त करने का श्रेय प्राप्त कर रहे थे। यह शैली भारतीयता से विमुख थी। इसी समय अवनी बाबू ने शिक्षण प्राप्त करने का निश्चय किया। उनका ध्यान उस समय प्रचलित युरोपीय कला की ओर आकर्षित हुआ। इसके सिवाय और कोई रास्ता ही न था।

दो यूरोपियन अध्यापको ने, एक के बाद एक, उन्हें जीवित मॉडल का अकन और तैल चित्र-विधान का अपना सम्पूर्ण ज्ञान दिया। उसके बाद उन्हें शरीर-विज्ञान के अध्ययन की सलाह दी गई। लेकिन एक बहुत असामान्य अनुभव के बाद उन्हें यह छोड देना पडा। अनुशीलन के लिए लाई गई मनुष्य की खोपडी से उन्हें बडा विचलित और विभीषिका-पूर्ण अनुभव हुआ। उसकी प्रतिक्रिया के कारण वे अस्वस्थ हो गए और कुछ समय के लिए उन्हें अभ्यास छोड देना पडा। अन्त में एक प्रसिद्ध नॉर्वेजियन आया, जिससे उन्होने रग-चित्र (Water colour) की कला सीखी।

चित्राधार (Easal) और रग-पेटी को झोले में डाले प्राकृतिक दृश्यो की खोज में उन्होने मुगेर तथा अन्य स्थानो की यात्रा की। परिणामत उन्हें यूरोपियन कला में विशेष प्रवीणता प्राप्त हुई।

शिक्षा तो पूर्ण हुई, लेकिन उनकी तूलिका ने कभी विश्राम नही लिया। चित्र बनते जाते थे और उन्हें प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती जाती थी, पर वे सन्तुष्ट नहीं थे। निराशा उनके मन में घर करने लगी। "मैं बेचैन हो उठा था। अपने हृदय में मुझे एक व्याकुलता का अनुभव होता था, लेकिन मैं उसका स्पष्ट निरूपण नहीं कर पाता था। विस्मय-विमूढ होकर मैं कहता—आगे क्या हो ?" सम्भवत यह सर्जक प्रवृत्ति ही थी, जो अपने को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त माध्यम ढूढ़ रही थी। लगभग इसी समय उनके हाथ में कला के दो नमूने आ पडे, जिन्होंने उनके अवरुद्ध मार्ग को खोल दिया। क्रमश उनमें से एक तो मध्यकालीन यूरोपीय शैली में चित्रित 'आइरिश मैलॉडी' का चारो ओर से भूषित चित्र-सग्रह था और दूसरा सुनहले-रुपहले रगों से मडित उत्तर मुगलकालीन शैली में अंकित दिल्ली का चित्र-सम्पुट। उन्हें यह जान कर आनन्द के साथ आश्चर्य भी हुआ कि दोनों के अपने विधानों के निर्वाह में आधारभूत प्रभेद कोई नही था। उन्होंने इस नव प्राप्त विधान को आजमाने के लिए भारतीय विषय खोजने प्रारंभ किये। श्री रवीन्द्रनाथ के अनुरोध से वे विद्यापति और चण्डीदास के वैष्णव गीतों को अकित करने लगे। पहला चित्र, जिसमें अभिसार को जाती हुई राधा को प्रदर्शित किया गया था, असफल रहा। उसका निर्वाह सदोष था और अनजाने ही उसमें यूरोपियन प्रभाव झलक आया था। "मैंने चित्र को ताले में बन्द कर दिया, लेकिन मन में कहा कि प्रयत्न करता रहूँगा।" एक प्रवीण भारतीय कारीगर को उन्होंने चित्रसज्जा-विधान सीखने के लिए बुलाया। उसके बाद काम सरल हो गया। उन्होंने वैष्णव पदावली को समाप्त कर 'बेतालपचीसी' हाथ में ली और फिर बुद्ध-चित्रावली तथा अन्य चित्रों को पूरा किया। सर्जन-प्रवृत्ति को निकलने के लिए एक राह मिल गई और अवनी बाबू को भारतीय पुनर्जागरण मे श्रद्धा प्राप्त हुई।

इस शिल्प-स्वामी के जीवन में यह समय सबसे अधिक उपलब्धिपूर्ण था। "मैं कैसे बताऊँ कि उस सारे समय मे मैं क्या अनुभव करता था। मैं चित्रों से भरपूर रहता था, ऐसा ही कुछ कह सकता हूँ। चित्रों ने मेरी सम्पूर्ण सत्ता को अधिकृत कर लिया था। मै केवल अपनी आँखें बन्द करता कि चित्र मेरे मन के सामने उतराने लगते—आकृति, रेखा, रग, छाया सम्पूर्ण रूप में। मै हाथ में तूली उठा लेता और जैसे चित्र स्वय बनते जाते।" सर्जन के उन दिनो में भी छिद्रान्वेषी समालोचकों का अभाव नही था। एक प्रसिद्ध वैष्णव प्रकाशक राधाकृष्ण चित्रावली को देखने के लिए आये। चित्रों को देख कर उन्होंने स्पष्ट रूप से निराशा प्रकट की। क्या यह राधा है ? क्या शिल्पी उसे जरा अधिक मासल और कोमल नही बना सकता था ? "यह सुन कर मैं आश्चर्य से स्तम्भित रह गया, लेकिन एक क्षण के लिए ही। ये वचन मुझ पर कोई प्रभाव नही छोड गये।" कुछ समय में सब यूरोपियन प्रभावों से पूरी तरह मुक्त होकर वे अपने ढग से सावधानी के साथ चित्र बनाते गये। "ओह, वे भी दिन थे !"

लेकिन वे दिन भी सहसा समाप्त हो गये। शिल्पी के जीवन में एक बडा विषाद का अवसर आया। सारे परिवार की लाडली, उनकी दस बरस की लड़की कुछ समय से कलकत्ते में फैली महामारी में अवसन्न हो गई। उसकी मृत्यु से उन्हें बडा आघात पहुँचा। मन को किसी प्रकार समाधान ही नही मिलता था। बाह्य-उपचारों से कोई भी लाभ नही हुआ। लाभ हुआ तो श्री० हैवल की सलाह से। हैवल उन्हे उनके चाचा श्री सत्येन्द्रनाथ के घर पहली बार मिले। उन्होंने कहा, "अपने काम को हाथ में उठा लो। यही एकमात्र दवा है।" सयोग ने ही इन दो समान-धर्मी आत्माओं को मिलाया था। यह सम्मिलन, जैसा कि हम आगे देखेंगे, भारत के सास्कृतिक दृष्टिकोण में हलचल मचाने वाला सिद्ध हुआ। आगे जाकर हैवल के विषय में वे अपने छात्रों से कहा करते थे, "उन्होंने मुझे उठा लिया और घड दिया। उनके प्रति मेरे मन में हमेशा गुरु जैसा आदर-भाव रहा है ? कभी-कभी वे विनोद में मुझे अपना सहकर्मी और कभी शिष्य कहा करते थे। सचमुच वे मुझसे अपने भाई-सा स्नेह करते थे। तुम जानते हो, नन्दलाल के प्रति मेरा कितना गहरा स्नेह है, लेकिन हैवल का स्नेह उससे भी अधिक गभीर था।"

श्री हैवल ने अवनी बाबू से कला-शाला का उपाध्यक्ष होने को कहा, जिसे अवनी बाबू ने अस्वीकार कर दिया। उन जैसे शिल्पी को सरकारी सस्था चला कर क्या करना था ! इसके सिवाय पढ़ाने की भी बात थी और

नृत्यमत्ता

[कलाकार—श्री सुधीर खास्तगीर

प्रारम्भ कैसे करें, यह भी प्रश्न था और फिर हुक्के के बग़ैर वे काम कैसे करते ? पर हैवल ने युक्ति निकाल ही ली। सारी व्यवस्था अवनी बाबू की इच्छानुसार हो गई और आखिर उन्हें यह पद स्वीकार करने के लिए मना ही लिया गया।

पद-स्वीकार के पहले दिन ही हैवल उन्हें शाला से सम्बन्धित आर्ट-गैलरी के निरीक्षण के लिये ले गए। हैवल ने पिछले कुछ वर्षों में इकट्ठे हुए कूड़े-करकट को—पुराने यूरोपियन कलाकारों की तीसरे दर्जे की कृतियों को—हटा कर उनके स्थान में मुग़ल शैली के कुछ मौलिक नमूने लगवा कर गैलरी को साफ करवा दिया था। इन नमूनों में एक सारस का छोटा-सा चित्र था, जिसने अवनी बाबू का ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्होंने पहले आँखों से और फिर आतशी शीशे से उसकी परीक्षा की। उस चित्र के रूप-विधान और अङ्गोपाङ्गों के रचना-विन्यास की उत्कृष्टता से वे चकित रह गए। अन्य नमूनों की भी उन्होंने परीक्षा की और इन मध्य-कालीन चित्रों की उदात्तता, रेखाकन और रंगों द्वारा प्रकट होने वाली सांस्कृतिक स्वमताग्रहता से वे मुग्ध हो गये। इन चित्रों द्वारा उन पर पड़ा प्रभाव श्री हैवल के लिए अप्रत्याशित नहीं था। अवनी बाबू को तो इन चित्रों ने एक सन्देश दिया। "तब मैं पहले-पहल हृदयगम कर सका कि मध्ययुगीन भारतीय शिल्प में कैसी निधियाँ छिपी हुई हैं। मुझे मालूम हो गया कि इनके मूलहेतु—शृंगार भाव (Emotional element)—में क्या कमी थी और उसे ही पूर्ण करने का मैंने निश्चय किया। यही मेरा ध्येय है, ऐसा मुझे अनुभव हुआ।"

काम उन्होंने जहा छोड़ा था, वहीं से उठा लिया। इस काल का प्रथम चित्र मुग़ल-शैली पर बना था। चित्र का विषय था अन्तिम पुकार के लिए तैयार शाहजहाँ अपने कैदखाने की खिड़की की जाली से दूर—ताज को अनिमेष आँखों से निहार रहे हैं। उनकी अनुगत प्यारी लड़की जहाँनारा फर्श पर नीरव बैठी है। चित्र को दिल्ली दरबार और कांग्रेस प्रदर्शनी में भी दिखाया गया। उत्कृष्टतम कला-कृति के रूप में इसका समादर हुआ। समालोचकों ने इसमें खूब रस लिया और चित्र-कला से अनभिज्ञ लोग भी इसकी उदात्त करुणा से आर्द्र हो गए। "इसमें क्या आश्चर्य है कि मैंने अपनी आत्मा की पुकार इस चित्र में रख दी है।" उनकी आत्मा अब भी अपनी लड़की के लिए क्रन्दन कर रही थी। उन्होंने यह महान् दुःख रूपी मूल्य ही इस महान् कृति के लिए दिया था।

इसके बाद ही श्री हैवल ने संस्था की अवधानता में भारतीय चित्रों की प्रदर्शनी की आयोजना की। इसी प्रदर्शनी के सिलसिले में एक दिलचस्प घटना हुई। प्रदर्शन के नमूनों में बहुत से अवनी बाबू के स्टुडियो से आये थे। इनमें से एक पर चित्रों के प्रसिद्ध सग्राहक लॉर्ड कर्जन की आँख लग गई। हैवल ने अपने सहकर्मी को यह चित्र वाइसराय को भेंट नहीं देने दिया, बल्कि उसे क़ीमत लेकर बेचा। मूल्य यद्यपि उचित ही था, फिर भी लार्ड कर्जन को यह ठीक न लगा। लॉर्ड कर्जन खूब धनवान थे। फिर भी अपने व्यक्तिगत खर्च पर बहुत कठोर दृष्टि रखते थे। परिणाम यह हुआ कि वाइसराय ने सौदा करने का निश्चय किया, लेकिन हैवल जरा भी विचलित न हुए। बहुत सभव है कि हैवल इन चित्रों में से किसी को भी, किसी व्यक्तिगत सग्रह में, भारत से बाहर नहीं जाने देना चाहते हों। आखिर अवनी बाबू ने सम्पूर्ण चित्रावली श्री हैवल को गुरुदक्षिणा के रूप में अर्पण कर दी। हैवल शिष्य की श्रद्धाजली को पाकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने इन चित्रों को आर्ट-गैलरी में स्थिर रूप से प्रदर्शन के लिए रखवा दिया।

तबतक नव्य-प्राच्य-स्कूल (Neo-Oriental school) अपने पथ पर भली प्रकार अग्रसर हो चुका था। इस शिल्पस्वामी के चारों ओर शिक्षार्थी जुटने लगे। अवनी बाबू स्वय अपने विद्यार्थियों को चुनते थे और उनकी आँखों ने शिल्पियों को चुनने में कभी धोखा नहीं खाया। सर्वप्रथम श्री सुरेन्द्र गागुली आये, जो एक विरल प्रतिभासम्पन्न युवक थे। अकाल मृत्यु के कारण वे बीच में ही मुरझा गये। उनके बाद श्री नन्दलाल आये, जो इस समय अवनी बाबू के शिष्यों में सबसे अधिक प्रिय हैं और जिन्हें भावी सन्तति के लिए नवज्योति ले जाने का एकान्त श्रेय प्राप्त हुआ है। श्री असितकुमार हल्दार भी अपनी चतुर्मुखी दक्षता के साथ आये। इन लोगों को अपने

पास बिठाकर श्री अवनीन्द्र चित्र बनाते हुए विचित्र माध्यमो द्वारा परीक्षा करके पढाई और कला-चर्या द्वारा दिन भर काम में जुटे रहते थे। स्वदेशी आन्दोलन के प्रारंभिक दिनो मे अवनी बाबू ने अपने चाचा श्री रवीन्द्रनाथ के पथ-प्रदर्शन में सच्चे हृदय से काम किया। अन्त में उचित कारण से ही उन्होने अपने को आन्दोलन से अलग कर लिया। तो भी उन्होंने स्वदेशी भावना का त्याग नही किया था। अपने नये स्कूल मे उन्होने ऐसे माध्यम की स्थापना की, जिससे भारत के सास्कृतिक पहलू का सम्बन्ध है। आर्ट-स्टूडियो में उन्ही दिनो हावी हुए भारतीय देवी-देवताओ के अशुद्ध रूप से वे घबरा उठे। उन्होने अपने शिष्यो को इस विषय मे सामान्य जनता की अभिरुचि को शिक्षित करने का आदेश दिया। शिष्यो को रामायण और महाभारत के पात्रो से परिचित करवाने के लिए एक पडित की नियुक्ति की गई और सारे देश में पौराणिक आख्यानो का निरूपण करने वाले विविध मूर्तिस्वरूपो की बडे अध्यवसाय के साथ खोज प्रारभ हुई। शिष्यो द्वारा इस सरणी पर तैयार किये गये चित्रो ने जन-सामान्य को उन दिनो इतना प्रोत्साहित किया कि जिसकी स्वप्न में भी कल्पना न थी। निस्सन्देह सामान्य जनता चित्रो के गुणो को समझने मे असमर्थ थी तो भी उसने अनुभव किया कि आखिर 'अपनी' कहने लायक वस्तु उसे मिल गई और जिसमे उसकी आत्म-प्रतिष्ठा का पुन उद्धार हो गया। अवनी बाबू द्वारा प्राचीन शिल्प-सम्प्रदाय के विषय में लिखी पुस्तको और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे दिये गये लेखो ने भी इस विषय की अच्छी भूमिका तैयार कर दी थी। चारो ओर से आशीर्वादो की वर्षा के साथ विशिष्ट जनो के आश्रय में प्राच्य कला समिति (Oriental Art Society) की स्थापना हुई। शिल्पस्वामी के शब्दो में कहे तो "कोश के पन्नो में निरुद्ध भारतीयकला अब हरेक के मुँह में बस गई।" लगभग इन्ही दिनो अवनी बाबू की शिल्प-प्रवृत्ति एक नई दिशा की ओर मुडी। बाहर से तो यह नवीन ही मालूम होती थी, पर वस्तुत यह प्रवृत्ति भारतीय परम्परा को जीवन के हरेक क्षेत्र मे लाने के सुसगत विकास रूप ही थी। वे हरेक वस्तु को 'स्व-देशीय' बनाना चाहते थे। और ऐसा क्यो न हो ? शिक्षित वर्ग की आदतें भद्दे ढग से अपनाई गई पाश्चात्य सस्कृति को अपने ऊपर लादने के कारण इतनी बदल गई थी कि यह अद्भुत मिश्रण पहचाना भी नही जाता था। अवनी बाबू ने इन सब को बदलने का निश्चय किया। राजसी ठाठ-बाट वाले ठाकुरो के महलो से पुराना कीमती यूरोपीय फर्नीचर एकदम बाहर कर दिया गया और उसके स्थान पर भारतीय रीतिरिवाजो और प्राकृतिक अवस्थाओ के अनुकूल सिद्ध होने वाले स्वय अपने ही निरीक्षण मे बनवाये फर्नीचर के विभिन्न नमूने लगवाये। स्थापत्य के नमूने, भवन और रगशाला की सज्जा-वेशभूषा, चित्रो के फ्रेम छोटे से लेकर बडे तक किसी की उपेक्षा किये बिना सब पर उन्होने व्यक्तिगत ध्यान दिया। नवजाग्रत भारतीय सौन्दर्य-ज्ञान को आत्मज्ञान के यथार्थ पक्ष पर प्रवृत्त करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। भारत के विभिन्न स्थलो पर अच्छे पदो पर प्रतिष्ठित उनके शिष्यो ने उनके द्वारा इस दिशा मे दिखाये गये पथ का श्रद्धा और निष्ठा के साथ अनुसरण किया।

वास्तव में इस शिल्प-स्वामी की सबसे बडी देन ही यही है कि उन्होने अपने सम्प्रदाय को आगे ले जाने वाले एक शिल्पी-मण्डल का सर्जन किया। इन कलाकारो में से कुछ ने (उदाहरण के लिए दो का ही नाम लेते है श्री नन्दलाल और श्री असितकुमार हल्दार ने) कला-स्वामी का पद अधिकार-पूर्वक ही पाया है। अवनी बाबू की शिक्षण-पद्धति उन्ही के शब्दो में यह है "किसी वस्तु को दूसरे पर लादने की जरूरत नही। सनातन-काल से चले आये पाठो को सिखाने से भी कोई लाभ नही। केवल उनके पथ की बाधाओ को हटा दो, जिससे उन की प्रतिभा को निर्बाध होकर खिलने का अवसर मिल सके।" लेकिन इसके लिए प्रतिभा का होना आवश्यक है, साथ ही चतुर्मुखी सस्कारिता भी जरूरी है। इन थोडे से शिल्पकारो को भारत के शिल्प-आन्दोलन का श्रेय प्राप्त है। अपनी शिक्षण-पद्धति को समझाने के लिए अवनी बाबू स्वय एक कथा कहा करते है कि किस प्रकार जब उन्हे नन्द बाबू का 'उमा का परिताप' नामक चित्र, जो तभी से बडा प्रसिद्ध हो गया, दिखाया गया तो उन्होंने चित्र में थोडे से परिवर्त्तन सुझाये, लेकिन घर जाने पर वे बेचैन हो गये। वे स्वय कहते है, "मैं सारी रात सो नही सका।" दिन उगते ही अपने शिष्य के स्टुडियो में दौडे गये और अन्त मे चित्र को खराब होने से बचाया। उन्होने स्वीकार किया है कि यथासमय ही उन्हें अपनी

ग़लती का भान हो गया था। "नन्दलाल की कल्पना के बीच में पडने वाला मैं कौन हूँ। नन्दलाल ने उग्रतप-निरता उमा की कल्पना की थी। इसीलिए उसका रग-विवान कठोर होना ही चाहिए था। उसे मैं अपने सुझावो से खराव कर रहा था।"

उन्होंने अपने शिष्यो को सारे हिन्दुस्तान में इवर-उवर विखरे हुए प्राचीन चित्रो, मूर्तियों और स्थापत्य के स्मारको का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस अनुशीलन का हेतु था कि उन्हे प्रेरणा मिले। इसे कभी आत्मप्रकटीकरण में वाधक सिद्ध होने नही दिया गया। अपने शिष्यो को कला के नये प्रदेश जीतने में उन्होने कभी अनुत्साहित नही किया। उन्होंने स्वय पाश्चात्य प्रभाव से हट कर भारतीय शैली को पूर्ण रूप से अपनाया था। तो भी वे "यूरोपियन अथवा प्राचीन भारतीय कला के वन्वन को न मानने वाली वर्त्तमान स्वस्थ मानस-गति में विक्षेप करना नही चाहते थे", जैसा कि भारतीय कला के एक यूरोपियन अभ्यासी ने यथार्थ ही कहा है। वे इसीलिए अपने शिष्यो को इतनी स्वतन्त्रता दे सके, क्योकि उन्हें विकासोन्मुख कलियो मे, इतने समृद्ध रूप में प्रकट हुई पुनरुज्जीवित भारतीय कला की प्रसुप्त शक्ति में सम्पूर्ण विश्वास और श्रद्धा" थी। भारतीय गुरु की यह परिपाटी विश्व-भारती-कला-भवन के केन्द्र में, जिसका सचालन उनके प्रवान शिष्य श्री नन्दलाल वसु निष्ठा-पूर्वक कर रहे है, खूब पनप रही है।

यह तो हुआ प्रेरक और मार्गदर्शक अवनी वावू के विषय में। शिल्पी अवनी वावू ने अपनी प्रेरणा को रूप देने में, उन्ही के अपने शब्दो में "एक के वाद एक असफलता" का सामना किया है। "हृदय की व्यथा से मैंने क्या-क्या दुख नहीं सहा है, और अब भी सह रहा हूँ।" पर यह सभी कलाकारो के भाग्य मे होता है। जैसे आत्मा शरीर से अवरुद्ध है, उसी प्रकार प्रेरणा अपूर्णता से आवद्ध है। केवल एक या दो वार पूर्णता से होने वाले इस परमानन्द का उन्हे अनुभव हुआ है। वे कहते है, "चित्रावली को अकित करते समय पहली वार मुझे इस आनन्द का अनुभव हुआ था। मुझ में और चित्र के विषय में पूर्ण एकात्मता सध गई थी। कृष्ण की वाललीला जैसे मेरे मन की आँखो के सामने हो रही हो। मेरी तूलिका स्वय चलने लगती और चित्र सम्पूर्ण रेखा और रगो मे चित्रित होते जाते।" दूसरी वार जव वे अपनी स्वर्गीया माता के, जिनके प्रति अवनी वावू की अनन्त भक्ति थी, मुख को याद करने का प्रयत्न कर रहे थे तव उन्हें इसी प्रकार का अनुभव हुआ था। "यह दृष्टिकोण पहले तो ज़रा धुँधला सा था और माँ का मुख मुझे वादलो से घिरे अस्तोन्मुख सूर्य-सा लगा। इसके वाद मुखाकृति धीरे-धीरे इतनी स्पष्ट हो गई कि अङ्ग-प्रत्यङ्ग के साथ उद्भासित हो उठी। फिर मुखाकृति मेरे मन पर अपनी स्थिर छाप छोड कर धीरे-धीरे विलीन हो गई। मेरे किये गये मुखो के अध्ययन में चित्रो में सवसे अच्छा निरूपण इसका ही है।" ऐसे अनुभव इने-गिने लोगो के लिए भी दुर्लभ होते है।

अवनी वावू की उमर इस समय सत्तर से भी अधिक है। वे अव नये क्षेत्र में काम में तत्पर है। सर्जन की प्रेरणा उनमें विद्यमान है, नही तो उनका शरीर निष्प्राण हो गया होता। निस्सन्देह वे जीवन से अवकाश ग्रहण कर चुके है, लेकिन रहते है अपने सर्जन के अन्त पुर में ही। वाहर की वैठक अव उजड गई है। समालोचको की चर्चाएँ वन्द हो गई है। अतिथि-अभ्यागत विदा ले चुके है, उत्सव समाप्त हो गया है और वत्तियाँ वुझ गई है। अन्त पुर में जहाँ किसी का भी प्रवेश नहीं है—वे कला की देवी के साथ खेल रहे है। उपहार है खिलौने, लेकिन वे इतने वहु-मूल्य है कि समालोचको अथवा अतिथियो के लिए स्तुति या आश्चर्य-मुग्ध होने के लिए वाहर की वैठक मे नही भेजे जाते।

"माँ की गोद में वापिस जाने की तैयारी का समय आ पहुँचा है और इसलिए मैं एक वार फिर वालक वन कर खेलना चाहता हूँ।" अथवा नन्दवावू के शब्दो मे "अव वे दूरवीन के तालो को उलटा कर देखने मे व्यस्त है।" कुछ भी हो, भगवान् करे उनकी दृष्टि (Vision) कभी धुँधली न हो और खेल निरतर चलता रहे।

(अनुवादक—श्री शकरदेव विद्यालकार)

अभिनन्दनीय प्रेमी जी

श्री जुगलकिशोर मुख्तार

मुझे यह जानकर बडी प्रसन्नता है कि श्रीमान् पडित नाथूराम जी प्रेमी को अभिनन्दन-ग्रथ भेंट किया जा रहा है। प्रेमी जी ने समाज और देश की जो सेवाएँ की है, उनके लिए वे अवश्य ही अभिनन्दन के योग्य है। अभिनन्दन का यह कार्य बहुत पहले ही हो जाना चाहिए था, परन्तु जब भी समाज अपने सेवको को पहचाने और उनकी कद्र करना जाने तभी अच्छा है। प्रेमी जी इस अभिनन्दन को पाकर कोई बडे नही हो जावेगे—वे तो बडे कार्य करने के कारण स्वत बडे है—परन्तु समाज और हिन्दी-जगत उनकी सेवाओ के ऋण से कुछ उऋण होकर ऊँचा जरूर उठ जायगा। साथ ही अभिनन्दन-ग्रथ में जिस साहित्य का सृजन और सकलन किया गया है उसके द्वारा वह अपने ही व्यक्तियो की उत्तरोत्तर सेवा करने में भी प्रवृत्त होगा। इस तरह यह अभिनन्दन एक ओर प्रेमीजी का अभिनन्दन है तो दूसरी ओर समाज और हिन्दी-जगत् की सेवा का प्रबल साधन है और इसलिए इससे 'एक पन्थ दो काज' वाली कहावत बडे ही सुन्दर रूप में चरितार्थ होती है। प्रेमी जी का वास्तविक अभिनन्दन तो उनकी सेवाओ का अनुसरण है, उनकी निर्दोष कार्य-पद्धति को अपनाना है, अथवा उन गुणो को अपने मे स्थान देना है, जिनके कारण वे अभिनन्दनीय बने है।

प्रेमी जी के साथ मेरा कोई चालीस वर्ष का परिचय है। इस अर्से में उनके मेरे पास करीब सात सौ पत्र आए है और लगभग इतने ही पत्र मेरे उनके पास गए है। ये सब पत्र प्राय जैन-साहित्य, जैन-इतिहास और जैन-समाज की चिन्ताओं, उनके उत्थान-पतन की चर्चाओ, अनुसधान कार्यो और सुधारयोजनाओ आदि से परिपूर्ण है। इन पर से चालीस वर्ष की सामाजिक प्रगति का सच्चा इतिहास तैयार हो सकता है। सच्चे इतिहास के लिए व्यक्तिगत पत्र बडी ही काम की चीज होते हैं।

सन् १६०७ में जब मै साप्ताहिक 'जैन-गजट' का सम्पादन करता था तब प्रेमी जी 'जैनमित्र', बम्बई के आफिस में क्लर्क थे। भाई शीतलप्रसाद जी (जो बाद को ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी के नाम से प्रसिद्ध हुए) के पत्र से यह मालूम करके कि प्रेमी जी ने 'जैनमित्र' की क्लर्की से इस्तीफा दे दिया है, मैंने अक्तूबर सन् १६०७ के प्रथम सप्ताह में प्रेमी जी को एक पत्र लिखा था और उसके द्वारा उन्हें 'जैनगजट' आफिस, देवबन्द में हेड क्लर्की पर आने की प्रेरणा की थी, परन्तु उस वक्त उन्होने बम्बई छोडना नही चाहा और वे तब से बम्बई में ही बने हुए है।

८ जनवरी सन् १६०८ के 'जैनगजट' में मैंने 'जैनमित्र' की, उसके एक आपत्तिजनक एव आक्षेपपरक लेख के कारण, कडी आलोचना की, जिससे प्रेमी जी उद्विग्न हो उठे और उन्होने उसे पढते ही १० जनवरी सन् १६०८ को एक पत्र लिखा, जिससे जान पडा कि प्रेमी जी का सम्बन्ध 'जैनमित्र' से बना हुआ है। समालोचना की प्रत्यालोचना न करके प्रेमी जी ने इस पत्र के द्वारा प्रेम का हाथ बढाया और लिखा—"जबसे 'जैनगजट' आपके हाथ में आया है, 'जैनमित्र' बराबर उसकी प्रशसा किया करता है और उसकी इच्छा भी आपसे कोई विरोध करने की नही है। · · जो हो गया सो हो गया। हमारा समाज उन्नत नहीं है, अविद्या बहुत है, इसलिए आपके विरोध से हानि की शका की जाती है। नही तो आपको इतना कष्ट नही दिया जाता। आप हमारे धार्मिक बन्धु है और आपका तथा हमारा दोनो का ध्येय एक है। इसलिए इस तरह शत्रुता उत्पन्न करने की कोशिश न कीजिए। 'जैनमित्र' से मेरा सम्बन्ध है। इसलिए आपको यह पत्र लिखना पडा।" इस पत्र का अभिनन्दन किया गया और १५ जनवरी को ही प्रेमपूर्ण शब्दो में उनके पत्र का उत्तर दे दिया गया। इन दोनो पत्रो के आदान-प्रदान से ही प्रेमी जी के और मेरे बीच मित्रता का प्रारम्भ हुआ, जो उत्तरोत्तर बढती ही गई और जिससे सामाजिक सेवाकार्यो में एक को दूसरे का सहयोग बराबर प्राप्त होता रहा और एक दूसरे पर अपने दुख-सुख को भी प्रकट करता रहा है।

इसी मित्रता के फलस्वरूप प्रेमी जी के अनुरोध पर मेरा सन् १६२७ और १६२८ में दो वार बम्बई जाना हुआ और उन्ही के पास महीना दो-दो महीना ठहरना हुआ। प्रेमी जी भी मुझसे मिलने के लिए दो-एक वार सरसावा पधारे। अपनी सख्त वीमारी के अवसर पर प्रेमी जी ने जो वसीयतनामा (will) लिखा था। उसमें मुझे भी अपना ट्रस्टी बनाया था तथा अपने पुत्र हेमचन्द्र की शिक्षा का भार मेरे सुपुर्द किया था, जिसकी नौवत नही आई। अपने प्रिय पत्र 'जैनहितैषी' का सम्पादन-भार भी वे मेरे ऊपर रख चुके है, जिसका निर्वाह मुझसे दो वर्ष तक हो सका। उसके वाद से वह पत्र वन्द ही चला जाता है। इनके अलावा उन्होने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' की प्रस्तावना लिख देने का मुझसे अनुरोध किया और मैंने कोई दो वर्ष का समय लगा कर रत्नकरण्ड की प्रस्तावना ही नही लिखी, वल्कि उसके कर्ता स्वामी समन्तभद्र का इतिहास भी लिख कर उन्हें दे दिया। यह इतिहास जव प्रेमी जी को समर्पित किया गया और उसके समर्पण-पत्र में उनकी प्रस्तावना लिख देने की प्रेरणा का उल्लेख करने तथा उन्हे इतिहास को पाने का अधिकारी वतलाने के अनन्तर यह लिखा गया कि—"आपकी समाज-सेवा, साहित्यसेवा, इतिहासप्रीति, सत्यरुचि और गुणज्ञता भी सव मिलकर मुझे इस वात के लिए प्रेरित कर रही है कि मै अपनी इस पवित्र और प्यारी कृति को आपकी भेंट करूँ। अत मै आपके करकमलो में इसे सादर समर्पित करता हूँ। आशा है, आप स्वय इससे लाभ उठाते हुए दूसरो को भी यथेष्ट लाभ पहुँचाने का यत्न करेंगे," साथ ही एक पत्र द्वारा इतिहास पर उनकी सम्मति माँगी गई और कही कोई सशोधन की जरूरत हो तो उसे सूचना-पूर्वक कर देने की प्रेरणा भी की गई, तव इस सव के उत्तर मे प्रेमी जी ने जिन शब्दो का व्यवहार किया है, उनसे उनका सौजन्य टपकता है। १५ मार्च सन् १६२५ के पत्र में उन्होने लिखा

"मै अपनी वर्तमान स्थिति मे भला उस (इतिहास) में सशोधन क्या कर सकता हूँ और सम्मति ही क्या दे सकता हूँ। इतना मै जानता हूँ कि आप जो लिखते है वह सुचिन्तित और प्रामाणिक होता है। उसमें इतनी गुजाइश ही आप नही छोडते है कि दूसरा कोई कुछ कह सके। इसमें सन्देह नही कि आपने यह प्रस्तावना और इतिहास लिख कर जैन-समाज मे वह काम किया है, जो अव तक किसी ने नही किया था और न अभी जल्दी कोई कर ही सकेगा। मूर्ख जैन-समाज भले ही इसकी कदर न करे, परन्तु विद्वान आपके परिश्रम की सहस्र मुख से प्रशसा करेंगे। आपने इसमे अपना जीवन ही लगा दिया है। इतना परिश्रम करना सबके लिए सहज नही है। मै चाहता हूँ कि कोई विद्वान् इसका माराश अग्रेजी पत्रो मे प्रकाशित कराये। वावू हीरालाल जी को मै इस विषय में लिखूगा। इडियन एटिक्वेरी वाले इसे अवश्य ही प्रकाशित कर देंगे।

"क्या आप मुझे इस योग्य समझते है कि आपकी विद्वन्मान्य होने वाली यह रचना मुझे भेंट की जाय? अयोग्यो के लिए ऐसी चीजें सम्मान का नही, कभी-कभी लज्जा का कारण वन जाती है, इसका भी आपने कभी विचार किया है? मै आपको अपना वहुत ही प्यारा भाई समझता हूँ और ऐसा कि जिसके लिए मै हमेशा मित्रो मे गर्व किया करता हूँ। जैनियो में ऐसा है ही कौन, जिसके लेख किसी को गर्व के साथ दिखाये जा सके?"

इस तरह पत्रो पर से प्रेमी जी की प्रकृति, परिणति और हृदयस्थिति का कितना ही पता चलता है।

नि सन्देह प्रेमी जी प्रेम और सौजन्य की मूर्ति है। उनका 'प्रेमी' उपनाम विल्कुल सार्थक है। मैंने उनके पास रह कर उन्हे निकट से भी देखा है और उनके व्यवहार को सरल तथा निष्कपट पाया है। उनका आतिथ्य-सत्कार सदा ही सराहनीय रहा है और हृदय परोपकार तथा सहयोग की भावना से पूर्ण जान पडा है। उन्होने साहित्य के निर्माण और प्रकाशन-द्वारा देश और समाज की ठोस सेवाएँ की है और वे अपने ही पुरुषार्थ तथा ईमानदारी के साथ किये गए परिश्रम के वल पर इतने वडे वने है तथा इस रुतवे को प्राप्त हुए है। अत अभिनन्दन के इस शुभ अवसर पर मै उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पण करता हूँ।

सरसावा]

प्रेमी जी

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

आज से अट्ठाईस वर्ष पहले प्रेमी जी के दर्शन इन्दौर में हुए थे। स्थान का मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं, शायद लाला जगमदिरलाल जी जज साहब की कोठी पर हम दोनों मिले थे। इन्दौर में महात्मा गान्धी जी के सभापतित्त्व में सन् १९१८ में हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ था, उसी के आसपास का समय था। प्रेमी जी की ग्रन्थ-माला की उन दिनो काफी प्रसिद्धि हो चुकी थी और प्रारम्भ में ही उसके बारह सौ स्थायी ग्राहक बन गये थे। उन दिनो भी, मेरे हृदय में यह आकाक्षा थी कि 'हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय' से मेरी किसी पुस्तक का प्रकाशन हो, पर प्रमादवश मै अपनी कोई पुस्तक उनकी ग्रन्था-माला में आज तक नही छपा सका। सुना है, जैन-शास्त्रो में सोलह प्रकार का प्रमाद बतलाया है। सत्रहवें प्रकार के प्रमाद (साहित्यिक प्रमाद) का प्रेमी जी को पता ही नही। इसलिए पच्चीस वर्ष तक वे इसी उम्मेद में रहे कि शायद उनकी ग्रन्थ-माला के लिए मै कुछ लिख सकूगा।

प्रेमी जी का यह बडा भारी गुण है कि वे दूसरों की त्रुटि के प्रति सदा क्षमाशील रहते है। अनेक साहित्यिकों ने उनके साथ घोर दुर्व्यवहार किया है, पर उनके प्रति भी वे कोई द्वेष-भाव नही रखते।

प्रेमी जी के जीवन का एक दर्शन-शास्त्र है। उसे हम सक्षेप में यो कह सकते है—खूब डट कर परिश्रम करना, अपनी शक्ति के अनुसार कार्य हाथ में लेना, अपने वित्त के अनुसार दूसरो की सेवा करना और सब के प्रति सद्भाव रखना। यदि एक वाक्य में कहे तो यो कह सकते है कि प्रेमी जी सच्चे साधक है।

पिछले अट्ठाईस वर्षों में प्रेमी जी से बीसियो बार मिलने का मौका मिला है। सन् १९२१ में तो कई महीने बम्बई में उनके निकट रहने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था और विचार-परिवर्तन के पचासो ही अवसर मुझे प्राप्त हुए है। प्रेमी जी को कई बार कठोर चिट्ठियाँ मैने लिखीं, कई दफा वाद-विवाद में कटु आलोचना भी की और अनेक बार चाय के नशे में उनके घटे पर घटे बर्बाद किये, पर इन अट्ठाईस वर्षों में मैने प्रेमी जी को कभी अपने ऊपर नाराज़ या उद्विग्न नहीं पाया! क्या मजाल कि एक भी कठोर शब्द कभी उनकी क़लम से निकला हो अथवा कभी भूल कर भी उन्होंने अपने पत्र में कोई कटुता आने दी हो! अपनी भाषा और भावों पर ऐसा स्वाभाविक नियंत्रण केवल साधक लोग ही कर सकते है, हाँ, कृत्रिम नियत्रण की बात दूसरी है। वह तो व्यापारी लोग भी कर ले जाते है। प्रेमी जी के आत्म-सयम का आधार उनकी सच्ची धार्मिकता है, जब कि व्यापारियों के सयम की नीव स्वार्थ पर होती है।

प्रेमी जी का प्रथम पत्र

प्रेमी जी का प्रथम पत्र, जो मेरे पास सुरक्षित है, आसोज बदी १२, सवत् १९७६ का है। सत्ताईस वर्ष पूर्व के इस पत्र को मै यहाँ कृतज्ञता-स्वरूप ज्यों-का-त्यो उद्धृत कर रहा हूँ·

प्रिय महाशय,

तीन-चार दिन पहले मै महात्मा गाधी जी से मिला था। आपको मालूम होगा कि उन्होने गुजराती में 'नवजीवन' नाम का पत्र निकाला है और अब वे हिन्दी में भी 'नवजीवन' को निकालना चाहते है। इसके लिए उन्हें एक हिन्दी-सम्पादक की आवश्यकता है। मुझे उन्होने आज्ञा दी कि एक अच्छे सम्पादक की मै खोज कर दूँ। परसो उनके 'नवजीवन' के प्रबधकर्ता स्वामी आनन्दानन्द जी से भी मेरी भेंट हुई। मैने आपका जिक्र किया तो उन्होने मेरी सूचना को बहुत ही उपयुक्त समझा। उन्होने आपकी लिखी हुई 'प्रवासी भारतवासी' आदि पुस्तकें पढ़ी है।

"क्या आप इस कार्य को करना पसन्द करेंगे ? वेतन आप जो चाहेंगे, वह मिल सकेगा। इसके लिए कोई विवाद न होगा।

"मेरी समझ में आपके रहने से पत्र की दशा अच्छी हो जायगी और आपको भी अपने विचार प्रकट करने का उपयुक्त क्षेत्र मिल जायगा। गाधी जी के पास रहने का सुयोग अनायास प्राप्त होगा।

"पत्र का आफिस अहमदाबाद में या बम्बई में रहेगा।

"गुजराती की १५ हजार प्रतियाँ निकलती हैं। हिन्दी की भी इतनी ही या इससे भी अधिक निकलेंगी।

"पत्रोत्तर शीघ्र दीजिए।

भवदीय

नाथूराम

यद्यपि पत्र का प्रारम्भ 'प्रिय महाशय' और अन्त 'भवदीय' से हुआ है, तथापि उसने प्रेमी जी की आत्मीयता स्पष्टतया प्रकट होती है। प्रेमी जी जानते थे कि राजकुमार कालेज इन्दौर की नौकरी के कारण मुझे अपने साहित्यिक व्यक्तित्व को विकसित करने का मौक़ा नहीं मिल रहा था। इसलिए उन्होने महात्मा जी के हिन्दी-'नवजीवन' के लिए मेरी सिफारिश करके मेरे लिए विचारों को प्रकट करने का उपयुक्त क्षेत्र तलाश कर दिया था। खेद की बात है कि मैं उस समय 'नवजीवन' में नहीं जा सका। मैं गुजराती बिल्कुल नहीं जानता था। इसलिए मैंने उस कार्य के लिए प्रयत्न भी नहीं किया। आगे चलकर बन्धुवर हरिभाऊ जी ने, जो गुजराती और मराठी दोनो के ही अच्छे ज्ञाता रहे हैं, बड़ी योग्यता-पूर्वक हिन्दी 'नवजीवन' का सम्पादन किया। शायद मेरी मुक्ति की काललब्धि नहीं हुई थी। प्रेमी जी के उक्त पत्र के साल भर बाद दीनबन्धु ऐंड्रूज के आदेश पर मैंने वह नौकरी छोड दी और उनके सवा साल बाद महात्मा जी के आदेशानुसार मैं बम्बई पहुँच गया, जहाँ कई महीने तक प्रेमी जी के सत्सग का सुअवसर मिला।

आत्मीयता के साथ उपयोगी परामर्श देने का गुण मैंने प्रेमी जी में प्रथम परिचय से ही पाया था और फिर बम्बई में तो उन्हीं की छत्रछाया मे रहा। कच्चा दूध अमुक मुसलमान की दूकान पर अच्छा मिलता है, दलिया वहाँ से लिया करो, टहलने का नियम बम्बई में अनिवार्य है, भोजन की व्यवस्था इस ढग से करो और अमुक महाशय से सावधान रहना, क्योंकि वे उधार के रुपये आमदनी के खाते में लिखते हैं। इत्यादि कितने ही उपदेश उन्होंने मुझे दिये थे। यही नहीं, मेरी भोजन-सम्बन्धी असाध्य व्यवस्था को देखकर मुझे एक अन्नपूर्णा-कुकर भी खरिदवा दिया था। यदि अपने बम्बई-प्रवास से मैं सकुशल ही नहीं, तन्दुरुस्त भी लौट सका तो उसका श्रेय प्रेमी जी को ही है।

बम्बई में मैंने प्रेमी जी को नित्यप्रति ग्यारह-बारह घटे परिश्रम करते देखा था। सवेरे सात से बारह बजे तक और फिर एक से छै तक और तत्पश्चात् रात में भी घटे दो घटे काम करना उनके लिए नित्य का नियम था। उनकी कठोर साधना को देखकर आश्चर्य होता था। अपने ऊपर वे कम-से-कम खर्च करते थे। घोडा-गाडी में भी बैठते हुए प्रेमी जी को मैंने कभी नहीं देखा, मोटर की बात तो बहुत दूर रही। बम्बई के चालीस वर्ष के प्रवास के बाद भी बम्बई के अनेक भाग ऐसे होगे, जहाँ प्रेमी जी अब तक नहीं गये। प्रात काल के समय घर से टहलने के लिए समुद्र-तट तक और तत्पश्चात् घर से दूकान और दूकान से घर, बस प्रेमी जी की दौड इसी दायरे मे सीमित थी, और कभी-कभी तो टहलने का नियम भी टूट जाता था। अनेक बार प्रेमी जी का यह आदेश मुझे भी मिला था, "चौबेजी, आज मुझे तो दुकान का बहुत-सा काम है। इसलिए आज हेम ही आपके साथ जायगा।"

प्रेमी जी प्रत्येक पत्र का उत्तर अपने हाथ से लिखते थे (इस नियम का वे अब तक पालन करते रहे हैं), प्रूफ़ स्वय ही देखते थे, अनुवादो की भाषा को मूल से मिलाकर उनका सशोधन करते थे और आने-जाने वालो से बातचीत भी करते थे। बम्बई पधारने वाले साहित्यिको का आतिथ्य तो मानो उन्हीं के हिस्से में आया था। मैंने उन्हें सप्ताह

के सातो दिन और महीनों के तीसों दिन बिना किसी उद्विग्नता के काम करते देखा था। उम्र में और अकल में भी छोटे होने पर भी मैं उन दिनो प्रेमी जी का मजाक उडाया करता था, "आप भी क्या तेली के बैल की तरह लगे रहते है, घर से दूकान और दूकान से घर! इस चक्कर से कभी बाहिर ही नहीं निकलते।" पर उस परिश्रमशीलता का मूल्य मैं आगे चल कर आँक पाया, जब मैंने देखा कि उसी के कारण प्रेमी जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रकाशक बन गये, उसी की वजह से बीसियों लेखको की रचनाएँ शुद्ध छप सकीं, उन्हें हिन्दी-जगत में प्रतिष्ठा मिल सकी और मातृभाषा के भडार में अनेक उपयोगी ग्रन्थो की वृद्धि हो सकी।

प्रेमी जी प्रारम्भ से ही मितभाषी रहे हैं और बातून आदमियों से उनकी अक़ल बहुत चकराती है। हमारी कभी खतम न होने वाली—'हितोपदेश' के दमनक दमनक के किस्सो की तरह प्रासगिक अथवा अप्रासगिक विस्तार से श्रोता के मगज को चाट जाने वाली—बातो को सुनकर वे अनेक बार चकित, स्तब्ध और स्तम्भित रह गये हैं और एकाध बार बडे दबे शब्दो में उन्होने हमारे मित्रों से कहा भी है, "चौबे जी इतनी बातें कैसे कर लेते हैं, हमें तो इसी पर आश्चर्य होता है।"

प्रेमी जी के विषय में लिखते हुए हम इस बातपर खास तौर पर जोर देना चाहते हैं कि अत्यन्त साधारण स्थिति से उन्होने अपने आपको ऊँचा उठाया है। आज का युग जन-साधारण का युग है और प्रेमी जी साधारण-जन के प्रतिनिधि के रूप में वन्दनीय हैं।

प्रेमी जी को व्यापार में जो सफलता मिली है, उसका मूल्य हमारी निगाह में बहुत ही कम है, बल्कि नगण्य है। स्व० रामानन्द चट्टोपाध्याय ने हमसे कहा था, "यह असभव है कि कोई भी व्यक्ति दूसरो का शोषण किये बिना लखपती बन जाय।" जब अर्थ-सग्रह के मूल में ही दोष विद्यमान है तो प्रेमी जी इस अपराध से बरी नहीं हो सकते। पर हमें यहाँ उनकी आलोचना नही करनी, बल्कि अपनी रुचि की बात कहनी है। हमारे लिए आकर्षण की वस्तु प्रेमी जी का सघर्षमय जीवन ही है। जरा कल्पना कीजिए, प्रेमी जी के पिता जी टूडेमोदी घोडे पर नमक-गुड वगैरह सामान लेकर देहात में बेचने गये हुए हे और दिन भर मेहनत करके चार-पाँच आने पैसे कमा कर लाते हैं। घर के आदमी अत्यन्त दरिद्र अवस्था में है। जो लोग मोदी जी से कर्ज ले गये थे, वे देने का नाम नही लेते। रूखा-सूखा जो कुछ मिल जाता है, उसी से सब घर पेट भर लेता है। इस अवस्था मे भी यदि कोई संकटग्रस्त आदमी उधार माँगने आता है तो मोदी जी के मुँह से 'ना' नही निकलती। इस कारण वे क़र्जदार भी हो गये थे। स्व० हेमचन्द्र ने लिखा था

"एक बार की बात है कि घर में दाल-चावल पक कर तैयार हुए थे और सब खाने को बैठने वाले ही थे कि साहूकार कुडकी लेकर आया। उसने वसूली में चूल्हे पर का पीतल का बर्तन भी माँग लिया। उससे कहा गया कि भाई, थोडी देर ठहर, हमें खाना खा लेने दे, फिर बर्तन ले जाना, पर उसने कुछ न सुना। बर्तन वहीं राख में उडेल दिये। खाना सब नीचे राख में मिल गया और वह बर्तन लेकर चलता बना। सारे कुटुम्ब को उस दिन फ़ाका करना पडा।"

तत्पश्चात् हम प्रेमी जी को देहाती मदरसे में मास्टरी करते हुए देखते है, जहाँ उनका वेतन छः-सात रुपये मासिक था। उनमें से वे तीन रुपये में अपना काम चलाते थे और चार रुपये घर भेज देते थे। उनकी इस बात से हमें अपने पूज्य पिता जी की किफ़ायतशारी की याद आ जाती है। वे पचास वर्ष तक देहाती स्कूलो में मुदर्रिस रहे, और उनका औसत वेतन दस रुपये मासिक रहा।

दरअसल प्रेमी जी हमारे पिता जी की पीढी के पुरुष हैं, जो परिश्रम तथा सयम में विश्वास रखती थी और जिसकी प्रशसनीय मितव्ययिता से लाभ उठाने वाले मनचले लोग उसी मितव्ययिता को कजूसी के नाम से पुकारते हैं! जहाँ प्रेमी जी एक-एक पैसा बचाने की ओर ध्यान देते हैं वहाँ समय पड़ने पर सैकडो रुपये दान करने में भी वे

नही हिचकिचाते। अपनी किफायतशारी के कारण ही वे स्वाभिमान की रक्षा कर सके है। यही नही, कितने ही लेखकों को भी उनके स्वाभिमान की रक्षा करने में वे सहायक हुए है।

प्रेमी जी का सम्पूर्ण जीवन सघर्ष करते ही बीता है और जब उनके आराम के दिन आये तब घोर दैवी दुर्घटना ने उनके सारे मनसूबो पर पानी फेर दिया! दैव की गति कोई नही जानता! ईश्वर ऐसा दुख किसी को भी न दे। उक्त वज्रपात का समाचार प्रेमी जी ने हमें इन शब्दो में भेजा था

"मेरा भाग्य फूट गया और परसो रात को १२ बजे प्यारे हेमचन्द्र का जीवन-दीप बुझ गया। अब सब ओर अन्धकार के सिवाय और कुछ नही दिखलाई देता। कोई भी उपाय कारगर नहीं हुआ। बहू का न थमने वाला आक्रन्दन छाती फाड रहा है। उसे कैसे समझाऊँ, समझ मे नही आता। रोते-रोते उसे गश आ जाते है। विधि की लीला है कि मैं साठ वर्ष का बूढा बैठा रहा और जवान बेटा चला गया। जो बात कल्पना मे भी न थी, वह हो गई। ऐसा लगता है कि यह कोई स्वप्न है, जो शायद झूठ निकल जाय।"

आज से दस वर्ष पहले यही वज्रपात हमारे स्व र्गीय पिता जी पर हुआ था। हमारे अनुज रामनारायण चतुर्वेदी का देहान्त ६ अक्टूबर सन् १९३६ को कलकत्ते मे हुआ था। अपने पिता जी की स्थिति की कल्पना करके हम प्रेमीजी की घोर यातना का कुछ-कुछ अन्दाज़ लगा सके।

जर्मनी के महाकवि गेटे की निम्नलिखित कविता चिरस्मरणीय है

"Who never ate his bread in sorrow
Who never spent the midnight hours
Weeping and waiting for the morrow
He knows you not, ye heavenly powers"

अर्थात्—"ए दैवी-शक्तियो! वे मनुष्य तुम्हें जान ही नही सकते, जिन्हें दुखपूर्ण समय मे भोजन करने का दुर्भाग्य प्राप्त नहीं हुआ तथा जिन्होने रोते हुए और प्रात काल की प्रतीक्षा करते हुए राते नहीं काटी।"

जिनके जीवन की धारा बिना किसी रुकावट के सीधे-सादे ढङ्ग पर बहती रहती है, जिनको अपने जीवन में कभी भयकर दुखो का सामना नही करना पडता, वे प्रेमी जी की हृदय-वेदना की कल्पना भी नही कर सकते।

समान अपराधी

एक बात मे प्रेमी जी और हम समानरूप से मुजरिम है। जो अपराध हमसे बन पडा था, वही प्रेमी जी से। हमारे स्वर्गीय अनुज रामनारायण ने प० पद्मसिंह जी से कई बार शिकायत की थी

"दादा दुनिया भर के लेख छापते है, पर हमे प्रोत्साहन नही देते।" यही शिकायत हेमचन्द को अपने दादा (पिता जी) से रही। प्रेमी जी ने अपने सस्मरणो मे लिखा था

"यो तो वह अपनी मनमानी करने वाला अवाध्य पुत्र था, परन्तु भीतर से मुझे प्राणो से भी अधिक चाहता था। पिछली बीमारी के समय जब डा० करोडे के यहाँ दमे का इजैक्शन लेने बाँदरा गया तब मेरे शरीर में खून न रहा था। डाक्टर ने कहा कि किसी जवान के खून की जरूरत है। हेम ने तत्काल अपनी बाँह बढा दी और मेरे रोकते-रोकते अपने शरीर का आधा पौंड रक्त हँसते-हँसते दे दिया! मेरे लिए वह सब कुछ करने को सदा तैयार था।

"अब जब हेम नही रहा तब सोचता हूँ तो मेरे अपराधो की परम्परा सामने आकर खडी हो जाती है और पश्चात्ताप के मारे हृदय दग्ध होने लगता है। मेरा सबसे बडा अपराध यह है कि मैं उसकी योग्यता का मूल्य ठीक नही आँक सका और उसको आगे बढने से उत्साहित न करके उल्टा रोकता रहा। हमेशा यही कहता रहा, "अभी और ठहरो। अपना ज्ञान और भी परिपक्व हो जाने दो। यह तुमने ठीक नही लिखा। इसमें

ये दोष मालूम होते हैं ।" इससे उसे बडा दुख होता था और कभी-कभी तो वह अत्यन्त निराश हो जाता था। एक बार तो उसने अपना लिखा हुआ एक विस्तृत निबंध मेरे सामने ही उठा कर सडक पर फेंक दिया था और फफक-फफक कर रोने लगा था। उस अपराध की या गलती की गुरुता अब मालूम होती है। काश उस समय मैंने उसे उत्साहित किया होता और आगे बढने दिया होता! अब तक तो उसके द्वारा न जाने कितना साहित्य निर्माण हो गया होता।"

जो पछतावा प्रेमी जी को है, वही मुझे भी। इस गुरुतम अपराधो का प्रायश्चित्त भी एक ही है। वह यह कि हम लोग प्रतिभाशाली युवको को निरन्तर प्रोत्साहन देते रहें।

प्रेमी जी ने अपने परिश्रम से सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश इत्यादि भाषाओ की जो योग्यता प्राप्त की है और साहित्यिक तथा ऐतिहासिक अन्वेषण-कार्य में उनकी जो गति है, उनके बारे में कुछ भी लिखना हमारे लिए अनधिकार चेष्टा होगी। मनुष्यता की दृष्टि से हमें उनके चरित्र मे जो गुण अपने इस अट्ठाईस वर्ष-व्यापी परिचय मे दीख पडे हैं उन्ही पर एक सरसरी निगाह इस लेख में डाली गई है। डट कर मेहनत करने की जो आदत उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में ही डाली थी वही उन्हे अब तक सम्हाले हुई है। अपने हिस्से मे आये हुए कार्य को ईमानदारी से पूरा करने का गुण कितने कम बुद्धिजीवियो में पाया जाता है! अशुद्धियो से उन्हे कितनी घृणा है, इसका एक करुणोत्पादक दृष्टान्त उस समय हमारे सम्मुख आया था, जब हम स्वर्गीय हेमचन्द्र विषयक सस्मरणात्मक पुस्तक बम्बई में छपवा रहे थे। दूसरे किसी भी भावुक व्यक्ति से वह काम न बन सकता, जो प्रेमी जी ने किया। प्रेमी जी बडी सावधानी से उस पुस्तक के प्रूफ पढते थे। पढते-पढते हृदय द्रवित हो जाता, पुरानी बातें याद हो आती, कभी न पुरने वाला घाव असह्य टीस देने लगता, थोडी देर के लिए प्रूफ छोड देते और फिर उसी कठोर कर्तव्य का पालन करते!

वृद्ध पिता के इकलौते युवक पुत्र के सस्मरण-ग्रथ के प्रूफ देखना! कैसा घोर सतापयुक्त साधनामय जीवन है महाप्राण प्रेमी जी का!

बाल्यावस्था की वह दरिद्रता, स्व० पिता जी की वह परिश्रमशीलता, कुडकी कराने वाले साहूकार की वह हृदयहीनता, छ-सात रुपये की वह मुदर्रिसी और बबई-प्रवास के वे चालीस वर्ष, जिनमे सुख-दुख, गार्हस्थिक आनद और दैवी दुर्घटनाओ के बीच वह अद्भुत आत्म-नियन्त्रण, बुन्देलखण्ड के एक निर्धन ग्रामीण बालक का अखिल भारत के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी प्रकाशक के रूप में आत्मनिर्माण—निस्सदेह साधक प्रेमी जी के जीवन मे प्रभावोत्पादक फिल्म के लिए पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। उस साधक को शतश प्रणाम!

टीकमगढ]
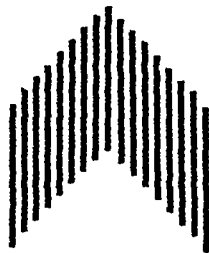
चित्र-परिचय

१—श्रद्धांजलि

इस मनोहारी चित्र के निर्माता श्री सुधीर खास्तगीर है। इसमें चेहरे से तन्मयता और श्रद्धा के भाव स्पष्ट झलकते हैं। पद्म के रूप में मानो हृदय की समूची श्रद्धा अंजलि मे भर कर आराध्य के चरणों में अर्पित की जा रही है।

२—पोशित भृत्तिका

(कलाकार—श्री सुधीर खास्तगीर)

यह यौवन की छटा !
घटा पावस की !
कर में कंज,
कलश में जल,
चरण शिथिल
सुयौवन-भार से।
खींच दी है दृष्टि पल में

भृत्तिके !
किस सुमोहन-मंत्र ने ?
दृष्टि-बंधन में बँधी
हे बन्दिनी !
खोलती यों
लाज-बंधन
आज तुम !

३—सित्तन्नवासल की नृत्यमुग्धा अप्सरा

दक्षिण की पुदुकोट्टै रियासत में सित्तन्नवासल (जैन सिद्धाना वास) गुफा अजन्ता की प्रसिद्ध गुफाओं की तरह भित्तिचित्रों से अलंकृत है। ये चित्र लगभग सातवीं शती के हैं और राजा महेन्द्र वर्मन् पल्लव के समकालीन कहे जाते हैं।

कला की दृष्टि से चित्र बहुत उत्कृष्ट हैं। इनमें भी पद्म-वन का चित्र और देवनृत्य करती हुई एक अप्सरा का चित्र तो बहुत ही सुन्दर है।

नृत्यमुग्धा अप्सरा के प्रस्तुत चित्र में रेखाओं का कौशल और भाव-व्यंजना कला की चरमसीमा को प्रकट करते हैं। पूर्व मध्यकाल के जीवन में जो प्राणमय उल्लास था, जिसने कुमारिल और शंकर जैसे कर्माध्यक्ष राष्ट्र-निर्माताओं को जन्म दिया और जो एलोरा के कैलास मंदिर में प्रकट हुआ, उसकी अर्जित शक्ति इस चित्र के रेखा-कर्म में भी स्पष्ट झलकती है। आनन्द के कारण शरीर और मन की अनूठी भावोद्रेकता नाचती हुई देवांगना के रूप में प्रकट की गई है।

४—देवगढ का विष्णु-मंदिर

यह मंदिर गुप्त-काल की रमणीय कलाकृति है। इसके शिला-पट्टों पर जो शिल्प की शोभा है, उसमें रसज्ञ दर्शक सौन्दर्य के लोक में उठ कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। चित्र, शिल्प, भाषा, वेष, आभरण आदि जीवन के सभी अंगों में सुरुचि और संयम के साथ सुन्दरता की उपासना को तत्कालीन मानव ने अपना ध्येय कल्पित किया है। कलामय सौंदर्य के अतिरिक्त इस विष्णुमंदिर की एक विशेषता और है, जिसके कारण भारतीय मूर्तिकला में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। राम और कृष्ण के जीवन की कथाओं का चित्रण भारतीय कला में सर्वप्रथम देवगढ के विष्णुमंदिर में ही पाया गया है। ३८० ई-४२५ ई० के बीच में इस मंदिर का निर्माण अनुमानतः सम्राट् चन्द्रगुप्त के पुत्र भागवत गोविन्द गुप्त की सत्प्रेरणा से कराया गया था।

५—विष्णु-मदिर का प्रवेश द्वार

विष्णुमदिर की शोभा की खान उसका पश्चिमाभिमुखी यह प्रवेश-द्वार है। उसका चौखटा ११'-२" ऊँचा और १०'-६" चौडा है। इस चौखटे में जो प्रवेश-मार्ग है, वह ६'-११" ऊँचा और ३'-४½" चौडा है। चारो ओर का शेष भाग अत्यन्त सुन्दर अभिप्राय (Motif) और मूर्तियो से सजा हुआ है। उपासको के लिए देवमदिर मे जो सुन्दरता की परमनिधि देव-प्रतिमा थी, उसकी छवि का पूर्ण सकेत इस द्वार की शोभा मे अकित किया गया है। विशुद्ध कला की दृष्टि से द्वार पर उत्कीर्ण पत्रहावली एव उसके पार्श्व-स्तभो पर चित्रित उपासक स्त्री-पुरुषो की मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर है। गुप्त-कालीन मानव के हृदय में सौंदर्य की जो साधना थी, उसकी यथेष्ट अभिव्यक्ति इस मदिर के द्वार पर मिलती है।

६—शेषशायी विष्णु

यह मूर्ति काफी बडे आकार के लाल पत्थर पर (विष्णुमदिर की दक्षिण की दीवार पर) खुदी हुई है। अनन्त या शेष पर विष्णु लेटे हुए है। लक्ष्मी की गोद में उनका एक पैर है। उनका एक हाथ उनके दाहिने पैर पर रक्खा हुआ है और दूसरा मस्तक को सहारा दिये हुए है। उनके नाभि-कमल पर प्रजापति विराजमान है। ऊपर महादेव, इन्द्र आदि देवता अपने-अपने वाहनो पर बैठे है। नीचे पाण्डवो समेत द्रौपदी दिखाई गई है। कुछ व्यक्तियो की राय मे ये पाँच आयुध-धारी वीर पुरुष है। सभी मूर्तियो की चेष्टाएँ बडी स्वाभाविक है। लक्ष्मी चरण चाप रही है। उनकी कोमल उँगलियो के दवाव से चरण की मासपेशी दब रही है। वस्त्रो की एक-एक सिकुडन स्पष्ट है।

७—नर-नारायण-तपश्चर्या

विष्णुमदिर की दीवार में पूर्व की ओर लगे इस शिला-पट्ट पर बदरिकाश्रम में नर-नारायण की तपस्या का सुन्दर दृश्य अकित है। तापस वेषधारी नरनारायण जटाजूट बाँधे और मृगचर्म पहिने हुए है।

८—गजेन्द्र-मोक्ष

विष्णुमदिर के उत्तर की ओर के इस शिलापट्ट पर गजेन्द्रमोक्ष का दृश्य अकित है। पद्मवन के भीतर एक हाथी को दो नागो ने अपने कुण्डलो में जकड रक्खा है। उसकी सहायता के लिए गरुड पर चढ कर चतुर्भुजी विष्णु बडे सम्भ्रम से पधारे है। यहाँ अभी तक ग्रह या मगर की मूर्ति का इस कथा के साथ सबध नही दीख पडता, क्योकि गज का ग्राह करने वाले नाग और नागी है।

९—प्रकृति-कन्या

(कलाकार—श्री सुधीर खास्तगीर)

इतनी ममता!
ममतामयि!
खग छोड मुक्त-
नभ की उडान,
पखों का सुख
औ' मधुर तान,
सब खिच आये
हो मत्र-मुग्ध
करने को तव
मुख-सुधा पान!
लो, कोकिल, शुक, सारिका सभी
खिच आए
अचरज यह महान्!

१०-१६—बुन्देलखण्ड-चित्रावली

अ—ओरछा का किला

ओरछा का यह किला भारत के प्रसिद्ध किलो में से एक है। इसके अधिकाश भागो का निर्माण ओरछा के प्रतापी नरेश वीरसिंहदेव प्रथम ने करवाया था। किले के भीतर कई इमारतें भारतीय वास्तु-कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनमे प्रमुख राजमहल और जहाँगीर-महल है। राजमहल तीन मजिल का है। इसमे कही भी काष्ठ का प्रयोग नही हुआ है। महाराज वीरसिंह प्रथम की यह कला-कृति वास्तव में वडी सुन्दर है। जहाँगीर महल मे पत्थर की कारीगरी दर्शनीय है। यह किला वेत्रवती के तट पर वना हुआ है। भीतरी भाग की तरह इसका वाहरी भाग भी कितना चित्ताकर्षक है।

आ—ओरछा में वेत्रवती

ओरछा का महत्व उसके भव्य प्रासादो के कारण तो है ही, साथ ही वहाँ का वेत्रवती का प्राकृतिक सौंदर्य भी वडा ही मोहक है। वेत्रवती को 'कली गगा' (कलियुग की गगा) कहा गया है। बुन्देलखण्ड की प्रमुख नदियो में से यह एक है।

ओरछा में इसके तट पर अनेक प्रतापी ओरछा नरेशो की समाधियाँ (छतरियाँ) वनी हुई है। चित्र में वाई ओर वीरसिंह देव प्रथम की समाधि है, जो यहाँ के वडे यशस्वी राजा हुए है। इमारतें वनवाने का इन्हें वडा शौक था और वहुत से किलो का इन्होने निर्माण कराया था। दतिया के महल, ओरछा, वल्देवगढ, जतारा, दिगौडा आदि के किले इन्ही के वनवाये हुए है।

इ—वुन्देलखण्ड का एक ग्रामीण मेला

प्रस्तुत चित्र कुण्डेश्वर के मेले का है। यह स्थान टीकमगढ से चार मील के फासले पर ललितपुर जाने वाली सडक पर स्थित है। यहाँ पर जमडार नामक नदी के किनारे प्रतिवर्ष शिवरात्रि के अवसर पर पद्रह दिन तक मेला लगा करता है। दूर-दूर के दुकानदार आते है। सहस्रो नर-नारी एकत्र होते है। वुन्देलखण्ड की एक झलक इस मेले में मिल जाती है। इस मेले को इस प्रात का प्रतिनिधि-मेला कहा जा सकता है।

ई—उषा-विहार

कुण्डेश्वर से लगभग दो मील पर जमडार और जामनेर नदियो का सगम है। कुण्डेश्वर पर जमडार की दो शाखाएँ हो जाती है और ये दोनो करीब मील डेढ मील के अन्तर से जामनेर में जाकर मिलती है। इन शाखाओ तथा जामनेर के सहयोग से एक द्वीप का निर्माण होता है, जिसपर घना जगल है। इसका नाम 'मधुवन' रक्खा गया है। इसी 'मधुवन' में जामनेर के कई सुन्दर दृश्य है। प्रस्तुत चित्र में जामनेर मथर गति से बहती दिखाई देती है। उनके दोनो किनारो पर घने वृक्ष है, जिनका प्रतिविम्ब पानी में वडा भला लगता है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का कथन था कि इसे देख कर काश्मीर का स्मरण हो आता है। वाणासुर की पुत्री उषा के, जिसका मदिर थोडी ही दूर पर इसी नदी के किनारे वना हुआ है, नाम पर इस स्थान का नामकरण हुआ है।

उ—बरी-घाट

इस चित्र में जामनेर का जल-प्रपात दिखाई देता है। जामनेर की पूरी धारा को एक चट्टान ने रोककर भव्य प्रपातो का निर्माण किया है। लगभग दो महीने के लिए ये प्रपात वद हो जाते है। वाणासुर जिस ग्राम में निवास करता था, उस वानपुर ग्राम को यही होकर रास्ता है। यहाँ की प्राकृतिक छटा दर्शनीय है।

ऊ—जतारा के सरोवर का एक दृश्य

ओरछा-राज्य में लगभग नौ सौ तालाव है। कई तालाव तो वहुत बडे है। प्रस्तुत चित्र मे जिस तालाव का दृश्य दिखाया गया है, वह राज्य के बडे तालावो में से एक है। इसके किनारे पर जतारा का विशाल किला है। उसके ऊपर चढ कर देखने से तालाब का दृश्य वडा सुन्दर दिखाई देता है। इस तालाव के जल से काफी भूमि की सिंचाई होती है।

ए—कुण्डेश्वर का जल-प्रपात

इस चित्र में जमडार नदी से निर्मित जल-प्रपात का दृश्य उपस्थित किया है। वर्तमान ओरछा-नरेश के पितामह ने लाखो की लागत से इस प्रपात तथा इसकी निकटवर्ती कोठी का निर्माण कराया था। वडा ही मनोरम दृश्य है। इसके नजदीक शिव जी का सगमरमर का मदिर है। यह स्थान वुन्देलखण्ड का तीर्थ माना जाता है। कहा जाता है कि वाणासुर की कन्या उषा यहाँ आकर शिव जी पर जल चढाया करती थी। प्राकृतिक एव धार्मिक दृष्टि से यह स्थान वडा महत्व-पूर्ण है।

१७—अहार का एक दृश्य

बुन्देलखण्ड का यह गौरवशाली तीर्थ अहार ओरछा-राज्य की राजधानी टीकमगढ से लगभग १२ मील पूर्व में स्थित है। ग्यारहवी-वारहवी शताब्दी की ढाई-तीन सौ प्रतिमाओ का वहाँ पर सग्रह है। भगवान शातिनाथ की मूर्ति के शिलालेख से पता चलता है कि प्राचीन काल मे वहाँ पर 'मदनेशसागरपुर' नामक नगर था, जो कई मील के घेरे मे वसा था।

इस समय वहाँ पर दो मदिर और एक मेरु है तथा पाठशाला और क्षेत्र के कुछ कमरे। प्रस्तुत चित्र में दोनो मदिर दिखाई देते है। दाई ओर का मदिर प्राचीन है और उसमे शातिनाथ भगवान की अठारह फुट की अत्यन्त भव्य और मनोज्ञ मूर्ति है। दूसरा मदिर उतना पुराना नही है।

प्रतिमाओ को व्यवस्थित रूप से प्रतिष्ठित करने के लिए वहाँ पर एक सग्रहालय का निर्माण हो रहा है। उपलव्ध मूर्तियो में ६८ फीसदी पर शिला-लेख है, जिनसे इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण वातो का पता चलता है। अहार प्राकृतिक सौंदर्य का भण्डार है।

१८—भगवान शातिनाथ की मूर्ति

भगवान शातिनाथ की इस अठारह फुट की प्रतिमा के कारण अहार का गौरव कई गुना वढ गया है। इस भव्य मूर्ति का निर्माण सम्वत् १२३७ मे पापट नामक मूर्तिकार ने किया था। इसके आसन पर जो शिला-लेख दिया हुआ है, वह एतिहासिक दृष्टि से वडा महत्त्वपूर्ण है। उससे पता चलता है कि यह प्रतिमा चन्देल नरेश परमर्द्धिदेव के राज्यकाल में तैयार हुई थी। श्री नाथूराम जी प्रेमी का कथन है कि इस जैसी भव्य, सौम्य और सुन्दर प्रतिमा उन्होने आजतक नही देखी। महान् शिल्पी पापट ने सुप्रसिद्ध गोम्मटेश्वर की मूर्ति के निर्माता की कला-प्रतिभा को भी अपने से पीछे छोड दिया है। इस मूर्ति का सौष्ठव और अग-प्रत्यग की रचना दर्शको के सम्मुख एक जीवित सौंदर्य मूर्ति को खडी कर देती है। इतनी विशाल प्रतिमा को इतना सर्वाङ्ग सुन्दर वनाने का काम पापट जैसा कला-विशेषज्ञ और साधक ही कर सकता था।

१९—कुथुनाथ भगवान की मूर्ति

यह मूर्ति शातिनाथ भगवान के वाएँ पार्श्व मे है और ग्यारह फुट की है। इसका रचना-काल भी वही है। यद्यपि इस मूर्ति की नासिका और ओष्ट खडित है, तथापि उसका सौंदर्य आज भी वड़ा आकर्षक बना हुआ है। वडी

मूर्ति की भाति इसके भी अग-प्र निर्दोष हैं। इमके आसन पर एक बडा मार्मिक लेख उत्कीर्ण है, जिससे पता चलतानिवन के कारण एक शोकमग्न श्रेष्ठि ने इसका निर्माण कराया था।

ये मूर्तियाँ बुन्देलखण्ड का का गौरव हैं। निस्सदेह प्रकाश में आने पर कला-प्रेमी ससार इनकी ओर आकृष्ट हुए ि

ाञ्जलि

सुधीर खास्तगीर)

पद्मलोचन	मूर्त्तिवत् आह्वान में।
कर-पद्म में	आज पलकों में जडित
पद्माञ्जली	मृदु स्वप्न को—
अर्घ्य देती,	बाँधती हो तापसी,—
शीश नत	तुम कौन से ?
शुभ ध्यान	पर, जगत् के सामने
साधना साक	मत खोलना
आराधना ज	ध्यान की पलकें,
सिमिट कर	अधर ये मौन के।

नृत्य-मत्ता

। सुधीर खास्तगीर)

(१)

चित्र-से हो खींचती	फैलाती मधुर ?
चित्र-से हो खीं	देह-वल्ली डोलती है
यों शून्य में	आज यों—
देवता के हेतु !	किस नवल ऋतुराज की
आज मतवाला से	मधु-वात में ?
कल्पना का जा	

२)

नृत्य-मत्ते !	शून्य भी सकुल
छा गया भू-लोक	सु-यौवन-भार से।
लो, तुम्हारा	स्वर्ग में है खिल रहा सखि, मौन-सा
नृत्य माया-जाल-न	मृदुल कर-जलजात किस सकोच में ?

नोट—श्री सुधीर खास्तगीर के रिचय के लिए हम श्री भगवती प्रसाद चदोला तथा देवगढ के चित्रों के परिचय के लिदेवशरण अग्रवाल तथा श्री कृष्णानद गुप्त के आभारी हैं।